पाणिनीयाऽष्टाध्यायीव्याख्याभूता
श्रीमद्वामन-जयादित्यविरचिता

काशिकावृत्तिः

'सोमलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगिविषयैरुपबृंहिता काशिकास्थ-सूत्र-वार्त्तिकेष्टि-फिट्सूत्र-गणसूत्र-परिभाषोणादिसूत्र-कारिको-दाहरण-प्रत्युदाहरणाद्यभूतपूर्वसूचीभिरलङ्कृता

प. ईश्वरचन्द्र

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
१०७

पाणिनीयाऽष्टाध्यायीव्याख्याभूता

श्रीमद्वामन-जयादित्यविरचिता

काशिकावृत्तिः

'सोमलेखा'-हिन्दीव्याख्यायुताऽनेकोपयोगिविषयैरुपबृंहिता काशिकास्थ-सूत्र-वार्त्तिकेष्टि-फिट्सूत्र-गणसूत्र-परिभाषोणादिसूत्र-कारिको-दाहरण-प्रत्युदाहरणाद्यभूतपूर्वसूचीभिरलङ्कृता

द्वितीयो भागः

[चतुर्थपञ्चमषष्ठाऽध्यायात्मकः]

व्याख्याकारः

प. ईश्वरचन्द्रः

हरियाणाप्रदेशीय-भिवानीमण्डलान्तर्गत-
भिवानीनगरस्थ-राजकीय-स्नातकोत्तर-महाविद्यालयीय-
संस्कृत-विभागाऽध्यक्षः



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

प्रथम संस्करण संस्करण 2005 ई.

प्रथम भाग 325.00 • द्वितीय भाग 375.00
तृतीय भाग 325.00 • सम्पूर्ण (1-3 भाग) 1000.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263, 2333371



चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404

मुद्रक
ए.के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIWAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
107

KĀŚIKĀVṚTTI

A COMMENTARY ON PĀṆINI'S AṢṬĀDHYĀYĪ

OF

VĀMANA & JAYĀDITYA

with 'Somalekhā' Hindi commentary and other valuable explanations and various indices i.e. Sūtra, Vārtika, Iṣṭi, Phiṭsūtra, Gaṇasūtra, Paribhāṣā, Uṇādisūtra, Kārikā and Examples

Part 2
[Adhyāyas 4-6]

By
Pt. Ishwar Chandra
Head, Dept. of Sanskrit
Govt. (P.G.) College, Bhiwani (Haryana)



CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Publishers :

© CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

(Oriental Publishers & Distributors)

38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar

Post Box No. 2113

Delhi 110007

Tel. # 23956391

First Edition 2005

Also can be had from :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 1129

Varanasi 221001

Tel. # 2335263, 2333371



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Chowk (Behind to Bank of Baroda Building)

Post Box No. 1069

Varanasi 221001

Tel. # 2420404

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्वामन-जयादित्यविरचिता

पाणिनीयाष्टाध्यायीसूत्रवृत्तिः

काशिका



अथ

चतुर्थाऽध्यायस्य प्रथमः पादः

(1251) ङ्याप्प्रातिपदिकात् *1* (182)

अधिकारोऽयम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेर्ङ्याप्प्रातिपदिकादित्येवं तद्वेदितव्यम्। स्वादिषु कप्पर्यन्तेषु प्रकृतिरधिक्रियते। 'ङी' इति ङीब्ङीष्ङीनां सामान्येन ग्रहणं, टाब्डाप्चापामाबिति। प्रातिपदिकमुक्तमर्थवत् (1.2.45), कृत्तद्धितसमासाश्चेति (1.2.46)। तेषां समाहारनिर्देशो ङ्याप्प्रातिपदिकादिति। यद्यपि च प्रत्ययपरत्वेन पारिशेष्यादियमेव प्रकृतिर्लभ्यते, तथापि वृद्धावृद्धावर्णस्वरद्व्यज्लक्षणप्रत्ययविधौ तत्सम्प्रत्ययार्थं ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणं कर्त्तव्यम् (म० भा०), इतरथा हि समर्थविशेषणमेतत् स्यात्। अथ ङ्याब्ग्रहणं किम्, न; प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति (व्या० प० 25) इत्येव सिद्धम्? नैतदस्ति। स्वरूपविधिविषये परिभाषेयं प्रातिपदिकस्वरूपग्रहणे सति लिङ्गविशिष्टग्रहणं भवतीति। तथाच 'युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः' (2.1.67) इति ज्ञापकमस्यास्तादृशमेव। किञ्च तदन्तात्तद्धितविधानार्थं ङ्याब्ग्रहणम्—कालितरा, हरिणितरा, खट्वातरा, मालातरा इति। विप्रतिषेधाद्धि तद्धितबलीयस्त्वं स्यात् (म० भा०)।

अर्थ—यह अधिकार है। यहाँ से लेकर आगे पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक जो-जो कहा जायेगा, वह सब ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों से होते हैं। 'ङी' के द्वारा ङीप्, ङीष् व ङीन् का सामान्य रूप से ग्रहण होता है। तदन्तविधि होकर 'ङी' का अर्थ हुआ—ङीप्, ङीष् व ङीन् है अन्त में जिसके। इसी प्रकार 'आप्' के द्वारा चाप्, डाप् व टाप् का सामान्यतया ग्रहण होता है। पूर्ववत् तदन्तविधि होकर 'आप्' का अर्थ हुआ—टाप्, चाप् व डाप् है अन्त में जिसके। 'अर्थवदधातुरप्रत्यय०' तथा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' के द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा कही गई है। यहाँ 'ङ्याप्प्राति०' में समाहार द्वन्द्व है।

यद्यपि०—यद्यपि प्रत्ययपरत्व रूप के द्वारा पारिशेष्यात् यह प्रकृति (ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक रूप) ही प्राप्त होती है। तथापि वृद्ध, अवृद्ध, अवर्ण, स्वर, द्व्यच् लक्षण की प्रत्यय की विधि में उस प्रकृति का ज्ञान कराने के लिए ङी, आप् तथा प्रातिपदिक का ग्रहण करना चाहिए; अन्यथा यह समर्थ का विशेषण वचन बन जाएगा।

अथ०—अब शंका होती है कि सूत्र में 'ङ्याप्' पद का ग्रहण व्यर्थ है। 'प्रातिपदिक' का ग्रहण करने से लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण हो जाता है। इससे ही सिद्ध हो सकता था। (समा०) ऐसा नहीं है। यह परिभाषा स्वरूपविधि विषय में प्रवृत्त होती है। भाव यह है कि प्रातिपदिक के स्वरूप का ग्रहण होने पर लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण होता है। इसमें 'युवा खलतिपलितवलिन०' सूत्र ज्ञापक है।

तद्धितान्त से ही हो और आप् प्रत्यय करने के लिए भी हो तथा आप् का ग्रहण है। यथा—

कालितरा, हरिणितरा। खट्वातरा, मालातरा।

काल ङीष् तरप्—जनपदशब्दात् क्षत्रिय०, तरप्, घरूपकल्प० से ह्रस्व हुआ।

विप्रतिषेध से तद्धित प्रत्यय की बलवत्ता हो जाती है।

(1252) स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् *2* (183)

ङ्याप्प्रातिपदिकात् (4.1.1) इत्यधिकृतम्। ङ्याप्प्रातिपदिकात् स्वादयः प्रत्यया भवन्ति। उकारादयोऽनुबन्धा यथायोगमुच्चारणविशेषणार्थाः। औटष्टकारः 'सुट्' इति प्रत्याहारग्रहणार्थः। पकारः 'सुप्' इति प्रत्याहारार्थः। संख्याकर्मादयश्च स्वादीनामर्थाः शास्त्रान्तरेण विहितास्तेन सहास्यैकवाक्यता। ङ्यन्तात्तावत्–कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। ङीब्ङीष्ङीनां क्रमेणोदाहरणम्–कुमारी, कुमार्यौ, कुमार्यः। कुमारीम्, कुमार्यौ, कुमारीः। कुमार्या, कुमारीभ्याम्, कुमारीभिः। कुमार्यै, कुमारीभ्याम्, कुमारीभ्यः। कुमार्याः, कुमारीभ्याम्, कुमारीभ्यः। कुमार्याः, कुमार्योः, कुमारीणाम्। कुमार्याम्, कुमार्योः, कुमारीषु। एवं गौरी, शार्ङ्गरवी चोदाहार्यम्। आपः खल्वपि–खट्वा, बहुराजा, कारीषगन्ध्या। टाब्डाप्चापां क्रमेणोदाहरणम्–खट्वा, खट्वे, खट्वाः। खट्वाम्, खट्वे, खट्वाः। खट्वया, खट्वाभ्याम्, खट्वाभिः। खट्वायै, खट्वाभ्याम्, खट्वाभ्यः। खट्वायाः,खट्वाभ्याम्, खट्वाभ्यः। खट्वायाः, खट्वयोः, खट्वानाम्। खट्वायाम् खट्वयोः, खट्वासु। एवं बहुराजाकारीषगन्ध्ये चोहादार्ये। एवं प्रातिपदिकात्–दृषद्, दृषदौ, दृषदः। दृषदम्, दृषदौ, दृषदः। दृषदा, दृषद्भ्याम्, दृषद्भिः। दृषदे, दृषद्भ्याम्, दृषद्भ्यः। दृषदः, दृषद्भ्याम्, दृषद्भ्यः। दृषदः, दृषदोः, दृषदाम्। दृषदि, दृषदोः, दृषत्सु।

अर्थ—ङ्यन्त से, आबन्त से तथा प्रातिपदिकसंज्ञक शब्द से पर सु आदि इक्कीस प्रत्यय होते हैं। इनमें उकार आदि अनुबन्ध तथा यथायोग्य उच्चारणार्थ जानने चाहिए। 'सुप्' में पकार प्रत्याहार के लिए है। संख्या तथा कर्म आदि सु आदि प्रत्ययों के अर्थ हैं, उनके साथ इसकी एकवाक्यता है।

विशेष—सु—उकार की इत् सञ्ज्ञा है। 'अर्वणस्त्रसावनञः' सूत्र में 'असौ' पद के कारण 'सु' का निषेध होता है। यदि उकार अनुबन्ध नहीं करते तो 'असौ' के स्थान पर 'असि' पाठ होता। उस दशा में एक महान् दोष यह प्रसक्त होता कि सकारादि प्रत्ययों में उक्त निषेध प्रवृत्त होकर सुप् (सप्तमी बहुवचन) में भी निषेध होकर अनिष्ट रूप बना देता। अतः उकार अनुबन्ध किया गया है।

जस् के 'स्' की इत् सञ्ज्ञा का 'न विभक्तौ०' से निषेध होता है। 'ज्' की 'चुटू' से इत् सञ्ज्ञा। जस् और शस् में क्रमशः ज् और श् अनुबन्धों का प्रयोजन परस्पर भेद के लिये है। फलतः 'दीर्घाज्जसि च' तथा 'तस्माच्छसो नः पुंसि' आदि होते हैं।

अम् में 'म्' की इत् सञ्ज्ञा का निषेध होता है।

औट् में 'ट्' की इत् सञ्ज्ञा। 'ट्' अनुबन्ध 'सुट्' प्रत्याहार के लिये है।

शस् के 'स्' की,'भ्याम्' के 'म्' की, भिस् के 'स्' की, 'भ्यस्' के 'स्' की, 'ओस्' के 'स्' की, 'आम्' के 'म्' की तथा ङस् के 'स्' की इत् सञ्ज्ञा का निषेध पूर्ववत् होता है।

'शस्' के 'श्' की, 'ङे' के ङ् की, 'ङसि' के 'ङ्' की, 'ङस्' के 'ङ्' की तथा 'ङि' के 'ङ्' की इत् सञ्ज्ञा 'लशक्वतद्धिते' से होती है। यहाँ 'ङ्' अनुबन्ध 'तीयस्य ङित्सु वा' (वा०) तथा 'घेर्ङिति' आदि की प्रवृत्ति के लिये है।

ङस् व ङसि में भेद करने के लिये 'ङसि' में 'इ' अनुबन्ध अधिक जोड़ा गया है।

'टा' के 'ट्' की 'चुटू' से इत् सञ्ज्ञा होती है। 'ट्' अनुबन्ध 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' में ग्रहण के लिये है। 'ङसि' के तथा 'ङि' के इकार की 'उपदेशेऽज०' से इत् सञ्ज्ञा होती है।

'सुप्' के 'प्' की 'हलन्त्यम्' से इत् सञ्ज्ञा होती है। 'प्' अनुबन्ध 'सुप्' प्रत्याहार के लिये है। 'सु' से लेकर 'सुप्' के 'प्' पर्यन्त 'सुप्' प्रत्याहार सिद्ध होता है, जो इन इक्कीस प्रत्ययों का बोधक है।

इन इक्कीस प्रत्ययों के सात त्रिक बनते हैं।

इन त्रिकों की क्रमशः प्रथमा आदि सञ्ज्ञायें है। यथा—

प्रथमा—सु, औ, जस्।
द्वितीया—अम्, औट्, शस्।
तृतीया—टा, भ्याम्, भिस्।
चतुर्थी—ङे, भ्यास्, भ्यस्।
पञ्चमी—ङसि, भ्यास्, भ्यस्।
षष्ठी—ङस्, ओस्, आम्।
सप्तमी—ङि, ओस्, सुप्।

प्रत्येक त्रिक के प्रत्यय यथासंख्य एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। यथा—

सु—प्रथमा विभक्ति एकवचन,
औ—प्रथमा विभक्ति द्विवचन,
जस्—प्रथमा विभक्ति बहुवचन,
अम्—द्वितीया विभक्ति एकवचन

इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये।

इन इक्कीस प्रत्ययों का प्रयोग तथा इनके सम्बन्ध में होने वाले कार्यों को आगे शास्त्र में यथास्थान दिखाया जायेगा। यथा—

(क) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः।
(ख) अमि पूर्वः।
(ग) तस्माच्छसो नः पुंसि।
(घ) ङेर्यः।
(ङ) टाङसिङसामिनात्स्याः।
(च) ओसि च।

इसी प्रकार अन्य कार्यों के बारे में भी जानना चाहिये।

उदा०—(क) ङ्यन्तात्—

(1) कुमारी
कुमार ङीप्—स्त्रियाम्, वयसि प्रथमे,
कुमारी—प्रातिपदिक संज्ञा,
कुमारी सु—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, स्वौजसमौट्०,
कुमारी—हल्ङ्याब्भ्यो०।

(2) गौरी
गौर ङीष्—षिद्गौरादिभ्यश्च,
गौरी सु—पूर्ववत्,
गौरी—हल्ङ्याब्भ्यो०।

(3) शार्ङ्गरवी
शार्ङ्गरव ङीन्—शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्,
शार्ङ्गरवी सु—सु,
शार्ङ्गरवी—पूर्ववत्,

यहाँ केवल 'सु' के उदाहरण दिखाये गये हैं। शेष प्रत्ययों के रूप मूल में देखें।

(ख) आबन्तात्—

(4) खट्वा
खट्वा—टाप् हुआ,
खट्वा सु—सु,
खट्वा—सुलुक्।

(5) बहुराजा
बहुराजन् डाप्—चुटू, टिलोप,
बहुराजा सु—सु,
बहुराजा—सुलुक्।

(6) कारीषगन्ध्या
करीषगन्ध इ → करीषगन्धि अण् → कारीषगन्ध ष्यङ् → कारीषगन्ध्य चाप् → कारीषगन्ध्या सु → कारीषगन्ध्या।

इसी प्रकार शेष प्रत्ययों में भी रूप बनते हैं। इन्हें मूल में देखें।

(ग) प्रातिपदिकात्—

(7) दृषद्
दृषद् सु—सु हुआ,
दृषद्—सुलुक्।

शेष रूप मूल में देखें।

(1253) स्त्रियाम् *3* (453)

अधिकारोऽयम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः स्त्रियामित्येवं तद्वेदितव्यम्। ङ्याप्प्रातिपदिकादिति (4.1.1) सर्वाऽधिकारेऽपि प्रातिपदिकमात्रमत्र प्रकरणे सम्बध्यते ङ्यापोरनेनैव विधानात्। स्त्रियामित्युच्यते, केयं स्त्री नाम? सामान्यविशेषाः स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव बहुप्रकारा व्यक्तयः। क्वचिदाश्रयविशेषाभावादुपदेशव्यङ्ग्या एव भवन्ति, यथा-ब्राह्मणत्वादयः। स्त्रीत्वं च प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थविशेषणं चेत्युभयथापि युज्यते। स्त्रियामभिधेयायां स्त्रियां वा यत्प्रातिपदिकं वर्त्तत इति। वक्ष्यति-'अजाद्यतष्टाप्' (4.1.4)-अजा, देवदत्ता। स्त्रियामिति किम्? अजः। देवदत्तः।

अर्थ—यह अधिकार 4.1.82 तक है। यहाँ से आगे जो कहा जायेगा, वह स्त्रीलिङ्ग में होता है—ऐसा जानना चाहिए। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इस सम्पूर्ण पद का अधिकार होने पर भी इस प्रकरण में 'प्रातिपदिकात्' केवल इसी का सम्बन्ध है। 'स्त्रीलिङ्ग में हो'—ऐसा कहा गया है। यह स्त्रीलिङ्ग किसे कहते हैं? सामान्य और विशेष स्त्रीत्व व गोत्व आदि अनेक प्रकार के व्यक्तिवाचक हैं।

क्वचिदा०—कहीं पर आश्रयविशेष के अभाव से उपदेश के द्वारा व्यञ्जित होते हैं। यथा—ब्राह्मणत्व आदि। स्त्रीत्व प्रत्यय का अर्थ तथा प्रकृति के अर्थ का विशेषण—इस प्रकार दोनों प्रकार से प्रयुक्त होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में तथा स्त्रीत्व में जो वर्तमान प्रातिपदिक, उससे यथोक्त कार्य होता है। यथा—

उदा० (1) अजा
अज टाप्—अजाद्यतष्टाप्,
अजा सु—सु हुआ,

अजा—सुलुक्।

(2) देवदत्ता

देवदत्त टाप्—पूर्ववत्,

देवदत्ता—सु, लुक्।

स्त्रियाम् अर्थात् स्त्रीत्व की विवक्षा में ही होता है—

(3) अजः

यहाँ टाप् नहीं हुआ।

(1254) अजाद्यतष्टाप् *4* (454)

अजादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽकारान्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां टाप् प्रत्ययो भवति। पकारः सामान्यग्रहणार्थः। टकारः सामान्यग्रहणविघातार्थः। अजा। एडका। कोकिला। चटका। अश्वा। खट्वा। देवदत्ता। तपरकरणं तत्कालार्थम्। शुभंयाः (ऋ० 4.8.6)। कीलालपाः ब्राह्मणी (ऋ० 10.91.14)। 'हल्ङ्याब्भ्यः' (6.1.68) इति सुलोपः स्यात्। अजादिग्रहणं तु क्वचिज्जातिलक्षणे ङीषि प्राप्ते (4.1.63), क्वचित्तु पुंयोगलक्षणे (4.1.48), क्वचित्तु पुष्पफलोत्तरपदलक्षणे (4.1.64), क्वचित्तु वयोलक्षणे ङीपि (4.1.20), क्वचिट्टिल्लक्षणे (4.1.15)। हलन्तानां त्वप्राप्त एव कस्मिंश्चिदाब् विधीयते। *शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः* (म०भा०) इति पठ्यते। तस्यायमर्थः–शूद्रशब्दष्टापमुत्पादयति जातिश्चेद्भवति। शूद्रा। पुंयोगे ङीषैव भवितव्यम्–शूद्रस्य भार्या शूद्री। महत्पूर्वस्य प्रतिषेधः–महाशूद्री (म०भा०)। महाशूद्रशब्दो ह्याभीरजातिवचनः, तत्र तदन्तविधिना टाप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते। ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न (व्या० प० 89) इति कथं तदन्तविधिः? एतदेव ज्ञापकं भवति–अस्मिन् प्रकरणे तदन्तविधिरिति, तेन अतिधीवरी, अतिपीवरी, अतिभवती, अतिमहती इति भवति। अजा, एडका, चटका, अश्वा, मूषिकेति जातिः। बाला, होडा, पाका, वत्सा, मन्दा, विलातेति वयः। पूर्वापहाणा, अवरापहाणा। टित्, निपातनाण्णत्वम्। *सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्* (ग०सू० 37)। सम्फला। भस्त्रफला। अजिनफला। शणफला। पिण्डफला। त्रिफला–*द्विगौ* (ग०सू० 38)। बहुव्रीहौ–त्रिफली संहतिः। *सत्प्राकाण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्* (ग०सू० 39)। सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। काण्डपुष्पा। प्रान्तपुष्पा। शतपुष्पा। एकपुष्पा। 'पाककर्ण' (4.1.64) इति ङीषोऽपवादः। *शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः* (ग०सू० 40)। क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा–हलन्ताः। ज्येष्ठा, कनिष्ठा मध्यमा–पुंयोगः। कोकिला जातिः। *मूलान्नञः* (ग०सू० 41)। अमूला।

अर्थ—अजादि गणपठित शब्दों से तथा अदन्त (= जिसके अन्त में ह्रस्व अकार है) प्रातिपदिक के वाच्य स्त्रीत्व की विवक्षा में उनका द्योतन करने पर उनसे पर टाप् प्रत्यय होता है। 'प्' अनुबन्ध स्वरसामान्य के ग्रहण के लिए है। 'ट्' अनुबन्ध सामान्य के ग्रहण के विघात के लिए है; ताकि 'आप्' के द्वारा 'टाप्' का भी ग्रहण हो सके।

उदा०—(1) अजा

अज टाप्—अकः सवर्णे दीर्घः,

अजा—सु, सुलुक्।

(2) एडका

एडक टाप्—पूर्ववत्,

एडका—विभक्तिकार्य।

(3) कोकिला

कोकिल टाप्।

(4) चटका

चटक टाप्।

(5) अश्वा

अश्व टाप्।

(6) खट्वा (पूर्ववत्)।

(7) देवदत्ता (पूर्ववत्)।

तपर०—'अतः' पद में तत्काल की संज्ञा के लिए तपरकरण किया गया है।

(8) शुभंयाः

(9) कीलालपाः ब्राह्मणी।

दोनों स्थलों पर सुलुक् नहीं हुआ।

अजादि०—कहीं जातिलक्षण से ङीष् प्राप्त होने पर, कहीं पुंयोगलक्षण से ङीप् प्राप्त होने पर, कहीं पुष्प व फल के उत्तरपद रहते ङीप् प्राप्त होने पर टाप् हो जाय—इसीलिए अजादि गण का पाठ है। हलन्त शब्दों के प्राप्त न रहते 'आप्' का विधान किया जा रहा है। महत् शब्द पूर्व में हो तो शूद्र शब्द से जाति अर्थ में टाप् होता है। यथा—

(10) शूद्रा

शूद्र टाप्—जाति अर्थ में,

शूद्रा—विभक्तिकार्य। शूद्र जाति में उत्पन्न स्त्री।

पुंयोग से ङीष् ही होता है। यथा—

(11) शूद्री

शूद्रस्य भार्या।

महत् शब्द पूर्व में हो तो टाप् नहीं होता है। यथा—

(12) महाशूद्री

महाशूद्र ङीप्—टाप् नहीं हुआ।

'महाशूद्र' शब्द का अर्थ आभीर जाति है। वहाँ तदन्तविधि के द्वारा प्राप्त टाप् का निषेध किया गया है। ग्रहणवान् प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती। तब तदन्तविधि कैसे हुई ? इससे ज्ञापित होता है कि इस प्रकरण में तदन्तविधि होती है। यथा—

(13) अतिधीवरी

अतिधीवन् ङीप् → अतिधीवरी—विभक्तिकार्य।

(14) अतिपीवरी (पूर्ववत्)।

(15) अतिभवती

अतिभवत् ङीप्।

अजा आदि जातिवाची हैं। बाला आदि वय:वाची हैं। पूर्वापहाणा व अपरापहाणा में निपातन से णत्व हुआ है।

सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्—सम्, भस्त्र, अजिन, शण व पिण्ड शब्दों से उत्तर फल शब्द से टाप् होता है —

(16) सम्फला

सम्फल टाप्।

(17) भस्त्रफला।

पूर्ववत् टाप्।

(18) अजिनफला

पूर्ववत् टाप्।

(19) शणफला

पूर्ववत् टप्।

(20) पिण्डफला

पूर्ववत् टाप्।

(21) त्रिफला

त्रयाणां फलानां समाहारः—त्रिफल टाप्, विभक्तिकार्य होकर रूप बना।

बहुव्रीहि समास में—त्रिफली।

सत्प्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्—सत्, प्राक्, काण्ड, प्रान्त, शत तथा एक शब्दों से उत्तर 'पुष्प' शब्द से टाप् होता है—

(22) सत्पुष्पा

सत्पुष्प टाप्—विभक्तिकार्य।

(23) प्राक्पुष्पा

प्राक्पुष्प टाप्—पूर्ववत्।

(24) काण्डपुष्पा

काण्डपुष्प टाप्।

(25) प्रान्तपुष्पा

प्रान्तपुष्प टाप्।

(26) शतपुष्पा

शतपुष्प टाप्।

(27) एकपुष्पा

एकपुष्प टाप्।

'पाककर्णा' यह ङीष् का अपवाद है।

(28) क्रुञ्चा

क्रुञ्च टाप्—विभक्तिकार्य।

(29) उष्णिहा

उष्णिह् टाप्।

(30) देवविशा

देवविश् टाप्।

(31) ज्येष्ठा

ज्येष्ठ टाप्।

(32) कनिष्ठा

कनिष्ठ टाप्।

(33) मध्यमा

मध्यम टाप्।

(34) कोकिला

कोकिल टाप्।

(35) अमूला

नञ्पूर्वक मूल शब्द से टाप् हुआ।

(1255) ऋन्नेभ्यो ङीप् *5* (306)

ऋकारान्तेभ्यो नकारान्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। ङकारः सामान्यग्रहणार्थः। कर्त्री। हर्त्री। दण्डिनी। छत्रिणी।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में ऋदन्त और नकारान्त शब्दों से ङीप् होता है। 'ङ्' अनुबन्धसामान्य के ग्रहण के लिए है तथा 'प्' अनुबन्धसामान्य के ग्रहण के विघात के लिए है। नकार में अकार मुखसुखार्थ है।

उदा० कर्त्री
कर्तृ—'कृ' से 'तृच्' हुआ।
कर्तृ ङीप्—अनुबन्धलोप, इको यणचि,
कर्त्री—सु, सुलुक्

(2) हर्त्री
हर्तृ ङीप्—पूर्ववत्।

(3) दण्डिनी
दण्ड इनि → दण्डिन्
दण्डिन् ङीप्—विभक्तिकार्य।

(5) छत्रिणी
छत्रिन् ङीप्—णत्व, विभक्तिकार्य।

(1256) उगितश्च *6* (455)

उग् इद्यत्र सम्भवति यथाकथञ्चित् तदुगिच्छब्दरूपम्, तदन्तात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। भवती। अतिभवती। पचन्ती। यजन्ती। * धातोरुगितः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। उखास्रत्, पर्णध्वत् ब्राह्मणी। *अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्* (म०भा०)। प्राची। प्रतीची। उदीची।

अर्थ—जहाँ इत्संज्ञक 'उक्' वर्ण सम्भव है, वह उगित् शब्द रूप कहलाता है। वह है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय होता है। उक् प्रत्याहार में तीन वर्ण होते हैं—उ, ऋ, ऌ।

उगिदन्त शब्द दो प्रकार के हैं—

(क) प्रातिपदिक—'भवतु' सर्वनाम शब्द है। इसका उकार इत्सञ्ज्ञक है। अतः उगित् प्रातिपदिक है।

(ख) प्रत्यय—शतृ, वसु आदि प्रत्यय उगित् हैं। इनके क्रमशः ऋकार व उकार की इत्सञ्ज्ञा है।

जिस शब्द के अन्त में उगित् प्रातिपदिक या प्रत्यय हो, उस शब्द से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) भवती
भवत्—'भू डवतु' से
भवत् ङीप्—उगित् होने से 'ङीप्' हुआ,
भवती—विभक्तिकार्य।

(2) अतिभवती
अतिभवत्—ङीप्, विभक्तिकार्य।

(3) पचन्ती
पच् शतृ → पचत्—लट् के अर्थ में शतृ, शप्।
पचत् ङीप्—'शप्श्यनोर्नित्यम्' से नुम्,
पचन्ती—विभक्तिकार्य।

(4) दीव्यन्ती
दिव् श्यन् शतृ—दिवादिभ्यः श्यन्,
दीव्यन्ती—विभक्तिकार्य।

धातोरुगितः प्रतिषेधो वक्तव्यः—उगित् धातु से टाप् नहीं होता है—

(5) उखास्रत्

उखास्रंसु से यह शब्द निष्पन्न है। स्रंसु उगित् धातु है। यहाँ प्राप्त ङीप् का निषेध हो गया है।

(6) पर्णध्वत् (पूर्ववत्)।

अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम्—अञ्च् धातु है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द से ङीप् होता है—

(7) प्राची
प्र अञ्चु क्विप्—सर्वापहारलोप, उपधाभूत नकार का लोप, 'अनिदितां हलः०', अञ्चु धातु उगित् है, अतः ङीप् का निषेध नहीं हुआ,
प्राची—विभक्तिकार्य।

(8) प्रतीची
प्रति अञ्चु क्विप्—पूर्ववत्, ङीप् हुआ।
प्रतीची—विभक्तिकार्य।

(9) उदीची
उद् अञ्चु क्विप्—पूर्ववत्
उदीच् ङीप्—विभक्तिकार्य।

(1257) वनो र च *7* (456)

वन्नन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति रेफश्चा-

न्तादेशः। धीवरी। पीवरी। शर्वरी। परलोकदृश्वरी। 'ऋन्नेभ्यः' इत्येव ङीपि सिद्धे तत्सन्नियोगेन रेफविधानार्थं वचनम्। * वनो न हशः *। प्राप्तौ ङीबावुभावपि प्रतिषिद्ध्येते। सहयुध्वा ब्राह्मणी।

अर्थ—वन् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से पर ङीप् प्रत्यय तथा रेफ अन्तादेश होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) धीवरी
ध्यै क्वनिप् — धीवन्
धीवर् ङीप्—विभक्तिकार्य।

(2) पीवरी
पीवन् ङीप्—पूर्ववत्।

(3) शर्वरी (पूर्ववत्)।
(4) परलोकदृश्वरी
परलोकदृश्वन्

ऋन्नेभ्य०—यहाँ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' के द्वारा ङीप् सिद्ध होने पर भी प्रकृत सूत्र के द्वारा के रेफ का विधान किया गया है।

वनो न हशः—यदि हश् वर्ण, तदन्त धातु से जो वन् प्रत्यय हुआ हो, उस वन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् नहीं होता, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

(5) सहयुध्वा ब्राह्मणी
यहाँ ङीप् नहीं हुआ।

(1258) पादोऽन्यतरस्याम् *8* (457)

पाद इति कृतसमासान्तः पादशब्दो निर्दिश्यते। पादन्तात्प्रातिपदिकादन्यतरस्यां स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। द्विपात्, द्विपदी। त्रिपात्, त्रिपदी। चतुष्पाद्, चतुष्पदी।

अर्थ—'पाद्' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीप् होता है।

उदा० (1) द्विपदी
द्वौ पादौ यस्य सः—समास हुआ,
द्विपाद् ङीप्—भसंज्ञा, 'पादः पत्' से पदादेश,
द्विपदी—विभक्तिकार्य।

(2) द्विपात्
पक्ष में ङीप् नहीं हुआ। सु हुआ।

(3) त्रिपदी
'द्विपदी' की तरह।

(4) त्रिपात्
पक्ष में ङीप् नहीं हुआ।

(5) चतुष्पदी
चत्वारः पादा यस्य सः—पूर्ववत् ङीप्।

(6) चतुष्पात्
पक्ष में ङीप् नहीं हुआ।

(1259) टाबृचि *9* (458)

पाद इत्येव। ऋचीत्यभिधेयनिर्देशः। ऋचि वाच्यायां पादन्तात्प्रातिपदिकात् स्त्रियां टाप् प्रत्ययो भवति। ङीपोऽपवादः। द्विपदा ऋक्। त्रिपदा ऋक्। चतुष्पदा ऋक्। ऋचीति किम्? द्विपदी देवदत्ता।

अर्थ—पाद् शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् होता है, ऋचा वाच्य हो तो। यह ङीप् का अपवाद है।

उदा० (1) द्विपदा ऋक्
द्विपत् टाप्—ङीप् प्राप्त था,
द्विपदा सु—सु,
द्विपदा—सुलुक्।

(2) त्रिपदा ऋक्
'द्विपदा' की तरह।

ऋची० अर्थात् ऋचा वाच्य हो तो टाप् प्रत्यय होता है—

(3) द्विपदी देवदत्ता
यहाँ ऋचा वाच्य नहीं है। अतः टाप् नहीं हुआ।

(1260) न षट्स्वस्रादिभ्यः *10* (308)

षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रीप्रत्ययो न भवति। यो यतः प्राप्नोति स सर्वः प्रतिषिद्ध्यते। पञ्च ब्राह्मण्यः। सप्त। नव। दश। स्वस्रादिभ्यः-स्वसा, दुहिता, ननान्दा, याता, माता, तिस्रः, चतस्रः। षट्संज्ञानामन्ते लुप्ते टाबुत्पत्तिः कस्मान्न स्यात्। प्रत्याहाराच्चापा सिद्धं दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ (म०भा०)।

अर्थ—षट्संज्ञक प्रातिपदिक से तथा स्वसृ आदि प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में यथाविहित प्रत्यय नहीं होता। 'ष्णान्ताः षट्' से षकारान्त व नकारान्त संख्यावाची शब्दों की षट्संज्ञा होती है।

उदा० (1) पञ्च ब्राह्मण्यः

पञ्चन्—'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से निषेध हुआ,

पञ्चन् जस्—'षड्भ्यो लुक्' से जस् का लुक्,

पञ्चन्—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य

पञ्च—रूप बना।

(2) सप्त

सप्तन् जस्—पूर्ववत्,

सप्तन्—नकारलोप।

(3) नव

नवन् जस्—पूर्ववत्,

नवन्—नकारलोप।

(4) दश

'पञ्च' की तरह।

स्वस्रादिगण में निम्नलिखित शब्द हैं—

(5) स्वसा

स्वसृ सु—'ऋन्नेभ्यो ङीप्' स ङीप् प्राप्त हुआ, निषेध हुआ, सु हुआ,

स्वसा—गुण, उपधावृद्धि, सुलुक्।

(6) दुहिता

'स्वसा' की तरह।

(7) ननान्दा

'स्वसा' की तरह।

(8) याता (पूर्ववत्)।

(9) माता (पूर्ववत्)।

(10) तिस्रः

तिसृ—प्राप्त ङीप् का निषेध,

तिसृ जस्—अचि र ऋतः,

तिस्रः—विसर्ग।

(11) चतस्रः

चतसृ जस्—पूर्ववत्।

षट्सञ्ज्ञा०—प्रकृत सूत्र के द्वारा षट्संज्ञक (पञ्चन् आदि) से 'ङीप्' प्रत्यय का निषेध हो जाने पर तथा उसके अन्त्य नकार का लोप हो जाने पर इनसे 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् प्राप्त होता है। ध्यातव्य है कि 'नलोपः सुप्स्वर०' (8.2.8) से नलोप सिद्ध भी है।

(समा०) 'सु' से लेकर 'आङि चापः' (7.3.104) के पकारपर्यन्त सुप् प्रत्याहार माना गया है। फलतः 'टाप्' का सुब्विधि में समावेश हो जाता है। तब नलोप के असिद्ध होने से टाप् प्राप्त नहीं होता।

इस समाधान में एक दोष प्रसक्त होता है—बहूनि चर्माणि यस्याः सा—इस विग्रह की दशा में 'बहुचर्मक' शब्द से 'टाप्' होने पर 'प्रत्ययस्थात्०' से इत्त्व करके 'बहुचर्मिका' शब्द बनता है। यदि 'टाप्' को पूर्ववत् सुब्विधि मान लिया जायेगा तो यहाँ नलोप असिद्ध हो जायेगा। तब 'प्रत्ययस्थात्०' से इत्त्व नहीं हो पायेगा। कारण कि यहाँ ककार से पूर्व अकार नहीं, नकार है। इसका समाधान यह है कि 'न षट्स्व०' सूत्र से ङीप् व टाप् दोनों का निषेध होता है।

(1261) मनः *11* (459)

मन्नन्तात्प्रातिपदिकान्ङीप् प्रत्ययो न भवति। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (4.1.5) इति ङीप् प्राप्तो 'मनः' इति सूत्रेण प्रतिषिद्ध्यते। दामा, दामानौ, दामानः। पामा, पामानौ, पामानः। अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति (व्या०प० 129)–सीमा, सीमानौ, सीमानः। अतिमहिमा, अमिमहिमानौ, अतिमहिमानः।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में मन्नन्त से ङीप् नहीं होता। मन् चाहे प्रत्यय हो अथवा न हो—दोनों अवस्थाओं में इसका ग्रहण होता है। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से प्राप्त ङीप् का इससे निषेध हो जाता है।

उदा० (1) दामा

दा मनिन्—आतो मनिन्क्वनिप्०'

दामन् सु—ङीप् का निषेध, सु,

दामान्—सुलुक्, उपधावृद्धि,

दामा—नकारलोप।

(2) दामानौ

दामन् औ।

(3) दामानः

दामन् जस्।

(4) पामा

पामन् 'दामा' की तरह।

(5) पामानौ।

(6) पामानः।

अनिन०—अन्, इन्, अस् और मन्—इनका जिनमें ग्रहण होता है वे अर्थवान् तथा अनर्थक दोनों प्रकार के शब्दों से तदन्त विधि कराते हैं।

(7) सीमा
सीमन् सु।

(8) सीमानौ
सीमन् औ।

(9) सीमानः
सीमन् जस्।

(10) अतिमहिमा
अति महत् इमनिच् → अतिमहिमन्—शेष पूर्ववत्।

(11) अतिमहिमानौ।
(12) अमिमहिमानः।

(1262) अनो बहुव्रीहेः *12* (460)

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति। अनुपधालोपी बहुव्रीहिरिहोदाहरणम्, उपधालोपिनो हि विकल्पं वक्ष्यति। सुपर्वा, सुपर्वाणौ, सुपर्वाणः। सुचर्मा, सुचर्माणौ सुचर्माणः। बहुव्रीहेरिति किम्? अतिक्रान्ता राजानमतिराजी।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में 'अन्' है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहि से ङीप् नहीं होता। जिसकी उपधा का लोप नहीं होता है, वह बहुव्रीहि इसका उदाहरण होता है। उपधालोप का विकल्प आगे कहा जायेगा।

उदा० (1) सुपर्वा

शोभनानि पर्वाणि यस्याः सा—इस अर्थ में 'सुपर्वन्' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। 'सु' होकर रूप बनता है।

(2) सुपर्वाणौ
सुपर्वन् औ—पूर्ववत्।

(3) सुपर्वाणः (पूर्ववत्)।

(4) सुशर्मा
सुशर्मन्—पूर्ववत्।

(5) सुशर्माणौ

(6) सुशर्माणः

बहुव्रीहेः अर्थात् बहुव्रीहि से ही ङीप् का निषेध होता है—

(7) अतिराज्ञी

अतिक्रान्ता राजानम्—यहाँ अतिराजन् अन्नन्त है, परन्तु बहुव्रीहि नहीं है, प्रादि तत्पुरुष है। समासान्त विधि के अनित्य होने से 'राजाहःसखिभ्य०' से टच् नहीं हुआ। अतः ङीप् का निषेध नहीं हुआ।

(1263) डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् *13* (461)

डाप् प्रत्ययो भवति उभाभ्याम्-मन्नन्तात्प्रातिपदिकादन्नन्ताच्च बहुव्रीहेरन्यतरस्याम्। पामा, पामे, पामाः। सीमा, सीमे, सीमाः। न च भवति—पामानः, सीमानः। बहुव्रीहौ-बहुराजा, बहुराजे, बहुराजाः। बहुतक्षा, बहुतक्षे, बहुतक्षाः। न च भवति—बहुराजानः, बहुतक्षाणः। अन्यतरस्यांग्रहणं किमर्थम्? बहुव्रीहौ 'वनो र च' (4.1.7) इत्यस्यापि विकल्पो यथा स्यात्-बहुधीवा, बहुधीवरी, बहुमीवा, बहुपीवरी।

अर्थ—मन् है अन्त में जिसके तथा अन् है अन्त में जिसके—दोनों प्रकार के बहुव्रीहि से 'डाप्' प्रत्यय विकल्प से होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। डकार और पकार की इत्संज्ञा होती है। डित् करण का फल है—भसंज्ञक अंग के टि का लोप।

उदा० **(क) मन्नन्ते**—

(1) पामा
पामन् डाप्—पाक्षिक डाप् हुआ,
पाम् आ—अनुबन्धलोप, टिलोप,
पामा—विभक्तिकार्य।

(2) पामे
पामन् डाप् → पामा औ—शी आदेश।
पामा ई → पामे।

(3) पामानौ
डाप् अभावपक्ष में रूप बना।

(4) पामाः
पामन् डाप् → पामा जस् → पामाः।

(5) पामानः
डाप् अभाव पक्ष।

(6) सीमा (पूर्ववत्)।

(ख) बहुव्रीहौ—

(7) बहुराजा
बहुराजन् डाप्—'पामा' की तरह।

(8) बहुराजे

(9) बहुराजाः

(10) बहुराजानः

डाप् अभाव पक्ष में।

(11) बहुतक्षा
बहुतक्षन् डाप्—'पामा' की तरह।

(12) बहुतक्षाणः
डाप् अभाव पक्ष में।

अन्यतरस्यां०—'अन्यतरस्याम्' पद का ग्रहण किसलिए किया गया है ? ताकि बहुव्रीहि में 'वनो र च' इसका भी विकल्प हो जाय।

(13) बहुधीवा
बहुधीवन् डाप्—टिलोप, विभक्तिकार्य।

(14) बहुधीवरी
पक्ष में ङीप् तथा रेफ अन्तादेश हो गया।

(15) बहुपीवा
'बहुधीवा' की तरह।

(16) बहुपीवरी
डाप् अभाव पक्ष में ङीप् हुआ।

(1264) अनुपसर्जनात् *14* (469)

अधिकारोऽयम्। उत्तरसूत्रेषूपसर्जनप्रतिषेधं करोति। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनुपसर्जनादित्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'टिड्ढाणञ्' (4.1.15) इति ङीप्-कुरुचरी, मद्रचरी। अनुपसर्जनादिति किम्? बहुकुरुचरा, बहुमद्रचरा मथुरा। जातेरिति (4.1.63) ङीष्-कुक्कुटी, शूकरी। अनुपसर्जनादिति किम्? बहुकुक्कुटा, बहुशूकरा मथुरा। कथं पुनरुपसर्जनात्प्रत्ययप्रसङ्गः? तदन्तविधिना। ज्ञापितं चैतत्-अस्त्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति। तथा च प्रधानेन तदन्तविधिर्भवति-कुम्भकारी, नगरकारी। न चाणिति कृद्ग्रहणम्, तद्धितोऽप्यणस्ति।

अर्थ—यह अधिकार है, जो 'दैवयज्ञिशौचि०' (4.1.81) तक चलता है। यहाँ से आगे स्त्रीत्व की विवक्षा में जो-जो प्रत्यय कहे जायेंगे, वे अनुपसर्जन अर्थात् प्रधान प्रातिपदिक से होते हैं। आगे 'टिड्ढाण्०' से ङीप् कहा जायेगा।

उदा० (1) कुरुचरी

(2) मद्रचरी

दोनों की सिद्धि सूत्र पर देखें।

अनुपसर्जना०—अर्थात् **अनुपसर्जन** प्रातिपदिक से यथायोग्य प्रत्यय होते हैं—

(3) बहुकुरुचरा
यहाँ चर् से 'ट' हुआ है, परन्तु 'कुरुचर' प्रातिपदिक उपसर्जन होने से 'टिड्ढाऽण्०' से ङीप् नहीं हुआ।

(4) बहुमद्रचरा (पूर्ववत्)।

जाते० अर्थात् **जातिवाची** से ही यथायोग्य प्रत्यय होते हैं—

(5) कुक्कुटी
(6) शूकरी
दोनों स्थलों पर 'जातेरस्त्रीविषया०' से ङीप् हुआ है।।

(7) बहुकुक्कुटा
यहाँ कुक्कुट उपसर्जनभूत प्रातिपदिक है। अतः यथाप्राप्त ङीष् नहीं हुआ।

(8) बहुशूकरा (पूर्ववत्)।

कथं पुन०—उपसर्जनभूत प्रातिपदिक से प्रत्यय किस प्रकार होता है ? तदन्तविधि के द्वारा होता है। इससे ज्ञापित होता है कि इस प्रकरण में तदन्तविधि होती है तथा प्रधान से तदन्तविधि होती है।

(9) कुम्भकारी
कुम्भकार ङीप्—टिड्ढाऽण्० से ङीप्, विभक्तिकार्य।

(10) नगरकारी
नगरकार ङीप्।

केवल कृत् अण् का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु तद्धित अण् का भी ग्रहण होता है।

(1265) टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः *15* (470)

अतः इति सर्वत्रानुवर्त्तते, तत् सति सम्भवे विशेषणं भवति। टिदादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। टापोऽपवादः। टितस्तावत्-कुरुचरी, मद्रचरी। इह कस्मान्न भवति-पचमाना, यजमाना? द्व्यनुबन्धकत्वाल्लटः। ल्युडादिषु कथम्? टित्करणसामर्थ्यात्। इतरत्र तु टेरेत्वं फलम्। पठिता विद्येति? आगम-

टित्त्वमनिमित्तम्, 'ट्युट्युलौ तुट् च्' (4.3.23) इति लिङ्गात्। ढ–सौपर्णेयी, वैनतेयी। निरनुबन्धको ढशब्दः स्त्रियां नास्तीति निरनुबन्धकपरिभाषा न प्रवर्तते (म० भा०)। अण्–कुम्भकारी, नगरकारी, औपगवी। णेऽपि क्वचिदणकृतं कार्यं भवति–चौरी, तापसी। दाण्डा, मौष्टेत्यत्र न भवति। अञ्–औत्सी, औदपानी। 'शार्ङ्गरवाद्यञः' (4.1.73) इति पुनरञो ग्रहणं जातिलक्षणं ङीषं बाधितुम्। द्वयसच्–ऊरुद्वयसी, जानुद्वयसी। दघ्नच्–उरुदघ्नी, जानुदघ्नी। मात्रच्–ऊरुमात्री, जानुमात्री। तयप्–पञ्चतयी, दशतयी। ठक्–आक्षिकी, शालाकिकी। ठञ्–लावणिकी। ठक्ठञोर्भेदेन ग्रहणं ठनादिनिवृत्त्यर्थम्। कञ्–यादृशी, तादृशी। क्वरप्–इत्वरी, नश्वरी। ख्युन्–आढ्यङ्करणी, सुभगङ्करणी। *नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्* (म० भा०)। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। याष्टीकी। तरुणी। तलुनी।

अर्थ—टित् प्रत्यय, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् तथा क्वरप्—ये प्रत्यय जिनके अन्त में हैं, ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। यह टाप् का अपवाद है।

उदा० (क) टितः—

(1) कुरुचरी
कुरुषु चरतीति—'चरेष्टः' से 'ट' हुआ, ङीप्,
कुरुचरी सु—भसंज्ञा, 'यस्येति च' से अकारलोप, सु,
कुरुचरी—सुलुक्।

(2) मद्रचरी
मद्रचर ङीप्—पूर्ववत्।

(3) पचमाना
पच् लट् → पच् शानच्—लट् टित् है, इसके स्थान पर शानच् हुआ है, जो स्थानिवद्भाव से टित् हुआ, तब ङीप् प्राप्त हुआ, परन्तु लट् में दो अनुबन्ध होने से ङीप् नहीं हुआ,
पचमाना—टाप्, विभक्तिकार्य।

(4) यजमाना (पूर्ववत्)।

ल्युट् आदि में भी कैसे नहीं होता ? टित् करणसामर्थ्य से यहाँ नहीं होता है। अन्यत्र तो लट् को टित् करने का फल टि को एकार आदेश करना ही है।

(5) पठिता
पठ् इट् तृच्—यहाँ इट् टित् है। अतः ङीप् प्राप्त था, परन्तु आगम का टित् होना कोई कारण नहीं माना जाता है। द्र०—ट्युट्युलौ तुट् च। इसमें 'सायंचिरं०' सूत्र में तुट् को टित् करने पर भी ट्यु व ट्युल् प्रत्ययों को पुनः टित् करना ज्ञापक है। यदि आगम (तुट्) के टित् करण से ङीप् के प्रति टित्त्व सम्भव होता तो ट्यु व ट्युल् को टित्करण व्यर्थ हो जाता है। टित् चाहे प्रत्यय हो, चाहे अप्रत्यय—दोनों दशाओं में ङीप् होता है। यथा—

(6) नदी
नदट् ङीप्—पचादिगण में नदट् प्रातिपदिक का पाठ है, यह टित् है, ङीप् हुआ,
नदी—विभक्तिकार्य।

(7) देवी
देवट् ङीप्

(8) चोरी
चोरट् ङीप्।

(9) स्तनधयी
स्तन धेट्—यहाँ धाजतु टित् है, ङीप् हुआ,
स्तनधयी—विभक्तिकार्य।

(ख) ढ—

(10) सौपर्णेयी
सुपर्णी ढक्—'चुटू' से ढकार की इत्संज्ञा हुई,
सौपर्णेय ङीप्—ङीप्, विभक्तिकार्य।

(11) वैनतेयी
विनता ढक्—पूर्ववत् ङीप् आदि।

स्त्रीलिङ्ग में विना अनुबन्ध वाला 'ढ' शब्द नहीं है, अतः निरनुबन्धक परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है।

(ग) अण्—

(12) कुम्भकारी
कुम्भकार ङीप्—टिड्ढाऽण्० से ङीप्
कुम्भकारी—विभक्तिकार्य।

(13) नगरकारी
नगरकार ङीप्—पूर्ववत्।

(14) औपगवी
उपगोरपत्यम्—अण् हुआ,
औपगव ङीप्—पूर्ववत्।

ण प्रत्यय होने पर भी कहीं-कहीं अण्-आश्रित कार्य होता है—

(15) चौरी
चोर ण → चौर—यहाँ 'ण' हुआ है, ङीप् व सु हुआ।

(16) तापसी
तपस् ण—पूर्ववत् सभी कार्य।

(17) दाण्डा
दण्ड ण → दाण्ड—यहाँ ङीप् नहीं हुआ, टाप् हुआ।

(18) मौष्टा
मुष्टि ण्—पूर्ववत् टाप्।

(घ) अञ्—
(19) औत्सी
उत्स अञ् → औत्स—तत्र भवः, उत्सादिभ्योऽञ्,
औत्स ङीप्—ङीप्, विभक्तिकार्य।

(20) औदपानी
उदपान → औदपान—अण्,
औदपान ङीप्—विभक्तिकार्य।

(ङ) द्वयसच्—
(21) ऊरूद्वयसी
ऊरू प्रमाणमस्याः—यहाँ 'प्रमाणे द्वयसज्द०' से 'द्वयसच्' हुआ,
ऊरूद्वयस्—शेष पूर्ववत्।

(22) जानुद्वयसी (पूर्ववत्)।

(च) दघ्नच्—
(23) ऊरुदघ्नी
यहाँ 'प्रमाणे द्वयसज्द०' से 'दघ्नच्' हुआ है।
(24) जानुदघ्नी (पूर्ववत्)।

(25) ऊरुमात्री
पूर्ववत् सभी कार्य।

(26) जानुमात्री
पूर्ववत् सभी कार्य।

(ज) तयप्—
(27) पञ्चतयी
पञ्च अवयवा अस्याः—इस अर्थ में 'तयप्' हुआ।

(28) दशतयी
पूर्ववत् सभी कार्य।

(झ) ठक्—
(29) आक्षिकी
अक्ष ठक्—'तेन दीव्यतिखनति०' से ठक्,
आक्षिकी—ङीप्, सु।

(30) शालाकिकी
शलाका ठक्—शेष पूर्ववत्।

(ञ) ठञ्—
(31) लावणिकी
लवण ठञ्—'तदस्य पण्यम्' से 'ठञ्' हुआ।
ठक् और ठञ् का निर्देश होने से ठन् आदि की निवृत्ति हो जाती है।

(ट) कञ्—
(32) यादृशी
यद् दृश् कञ्—'त्यदादिषु दृशोऽना०' से 'कञ्' हुआ,
यादृश ङीप्—शेष पूर्ववत्।

(33) तादृशी
'यादृशी' की तरह।

(ठ) क्वरप्—
(34) इत्वरी
इ क्वरप्—'इणनश्जिसर्त्तिभ्य०' से 'क्वरप्' हुआ, तुक्,
इत्वर ङीप्—पूर्ववत्।

(35) नश्वरी
नश् क्वरप्—पूर्ववत् सभी कार्य।

(ड) ख्युन्—
(36) आढ्यङ्करणी
अनाढ्यम् आढ्यं कुर्वन्ति अनया—ख्युन् हुआ,
आढ्यङ्करण ङीप्—पूर्ववत्।

(37) सुभगङ्करणी
पूर्ववत् ख्युन्, ङीप्, सु आदि।

नञ्स्नञीकक्०—नञ्प्रत्ययान्त, स्नञ्प्रत्ययान्त, ईकक् प्रत्ययान्त, तरुण शब्द तथा तलुन शब्दों से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

(38) स्त्रैणी
स्त्री नञ्—'स्त्रीपुंसाभ्यां०' से 'नञ्' हुआ,
स्त्रैण ङीप्—ङीप्, विभक्तिकार्य।

(39) पौंस्नी
पुंस् स्नञ्—पूर्ववत् सभी कार्य,

पौंस्न ङीप्—पूर्ववत्।

(40) शाक्तीकी

शक्ति ईकक्—'तदस्य प्रहरणम्'।

(41) याष्टीकी

यष्टिः प्रहरणमस्य—पूर्ववत् 'ईकक्' हुआ,

याष्टीक ङीप्—पूर्ववत्।

(42) तरुणी

तरुण—'वयस्य प्रथमे' (वा०) से ङीप् प्राप्त हुआ, गौरादि गण में पाठ होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् प्राप्त हुआ, तब प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा ङीप् हुआ।

(43) तलुनी

तलुन—पूर्ववत् सभी कार्य,

तलुन ङीप्—ङीप्, सु।

(1266) यञश्च *16* (471)

ङीबित्येव। यञन्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। गार्गी। वात्सी। *अपत्यग्रहणं कर्त्तव्यम्*। इह मा भूत्–'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्'–द्वैप्या। पृथग्योगकरण-मुत्तरार्थम्।

अर्थ—यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) गार्गी

गर्गस्य गोत्राऽपत्यं स्त्री—इस अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' हुआ,

गार्ग्य ङीप्—यस्येति च, हलस्तद्धितस्य। अकारलोप तथा यकारलोप दोनों आभीय कार्य हैं, अतः 'असिद्धवदत्राभात्' के आश्रय से यकारलोप की दृष्टि में अकारलोप असिद्ध रहता है, अतः यकार का उपधात्व अक्षुण्ण रहता है,

गार्गी—विभक्तिकार्य।

(2) वात्सी

पूर्ववत् ङीप् आदि हुआ।

अपत्यग्रहणं कर्त्तव्यम्—अपत्याऽधिकार में पठित यञ् प्रत्यय से ही ङीप् होता है। अतः निम्नलिखित में ङीप् नहीं हुआ—

(3) द्वैप्या

द्वीपे भवा—'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' से 'यञ्' हुआ, जो अपत्याधिकार में पठित नहीं है, अतः ङीप् नहीं हुआ।

प्रकृत सूत्र का पृथक् पाठ उत्तरवर्ती शास्त्र के लिए है।

(1267) प्राचां ष्फ तद्धितः *17* (473)

यञ इत्येव। प्राचामाचार्याणां मतेन स्त्रियां ष्फः प्रत्ययो भवति, स च तद्धितसंज्ञः। षकारो ङीषर्थः। प्रत्ययद्वयेनेह स्त्रीत्वं व्यज्यते। तद्धितग्रहणं प्रातिपदिकसंज्ञार्थम्। गार्ग्यायणी। वात्स्यायनी। अन्येषाम्–गार्गी, वात्सी। सर्वत्र-ग्रहणमुत्तरसूत्रादिहापकृष्यते बाधकबाधनार्थम्। आवट्यात् (4.1.75) चापं वक्ष्यति, तमपि बाधित्वा प्राचां ष्फ एव यथा स्यात्–आवट्यायनी।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में यञ् प्रत्ययान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से 'ष्फ' प्रत्यय विकल्प से होता है तथा उसकी तद्धितसंज्ञा होती है। 'षः प्रत्ययस्य' के द्वारा षकार की इत्संज्ञा होती है। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् करने के लिए प्रत्यय को षित् किया गया है। 'ष्फ' की तद्धित संज्ञा करने का फल है—प्रातिपदिक संज्ञा करना। यहाँ दो प्रत्ययों के द्वारा स्त्रीत्व व्यञ्जित होता है।

उदा० (1) गार्ग्यायणी

गर्गस्य गोत्राऽपत्यम्—'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' हुआ,

गार्ग्य ष्फ—'आयनेयीनीयियः०' से 'आयन्' हुआ,

गार्ग्य आयन ङीष्—अकारलोप, प्रातिपदिक संज्ञा, 'षिद्गौरादि०' से ङीष्,

गार्ग्यायणी—णत्व, सु आदि।

(2) गार्गी

पक्ष में 'ष्फ' नहीं हुआ।

(3) वात्स्यायनी

'गार्ग्यायणी' की तरह।

(4) वात्सी

पक्ष में 'ष्फ' नहीं हुआ।

सर्वत्र०—बाधक के बाध के लिए उत्तरसूत्र (4.1.18) से 'सर्वत्र' पद का अपकर्षण होता है। यथा—

(5) आवट्यायनी

आवट्या—चाप् प्राप्त हुआ, उसका बाध करके प्रकृत सूत्र से 'ष्फ' होकर,

आवट्यायनी—शेष पूर्ववत्।

(1268) सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः *18* (476)

यञ इत्येव। पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम्। सर्वत्र लोहितादिभ्यः कतपर्यन्तेभ्यो (4.1.105) यञन्तेभ्यः

स्त्रियां ष्फः प्रत्ययो भवति । कतशब्दः स्वतन्त्रं यत्प्रातिपदिकं तदवधित्वेन परिगृह्यते–कपिशब्दात्परः कपिकतेति, न प्रातिपदिकावयवः कुरुकतेति । लौहित्यायनी । शांसित्यायनी । बाभ्रव्यायणी ।

कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते ।
पूर्वोत्तरौ तदन्तादी ष्फाणौ तत्र प्रयोजनम् ॥
(म० भा०)

प्रातिपदिकेष्वन्यथा पाठः स एवं व्यवस्थापयितव्य इति मन्यते । कतन्तेभ्य इति बहुव्रीहितत्पुरुषयोरेकशेषः । तथा 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' (4.2.111) इति । तत्र तत्पुरुषवृत्त्या संगृहीतो मध्यपाती शकलशब्दो यञन्तः प्रत्ययद्वयमपि प्रतिपद्यते–शाकल्यायनी, शाकल्यस्येमे छात्राः शाकलाः (म० भा०) ।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में अनुपसर्जन यञ् प्रत्ययान्त लोहित से लेकर कतपर्यन्त प्रातिपदिकों से सभी आचार्यों के मत में 'ष्फ' प्रत्यय होता है तथा उसकी तद्धितसंज्ञा होती है। लोहितादि गण का गर्गादि गण के अन्तर्गत पाठ है। अतः 'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' होता है।

उदा० (1) लौहित्यायनी
लोहितस्याऽपत्यम्—'यञ्' हुआ,
लौहित्य ष्फ—ष्फ हुआ,
लौहित्यायन ङीष्—'गार्ग्यायणी' की तरह।
(2) शांसित्यायनी (पूर्ववत्)।
(3) बाभ्रव्यायणी (पूर्ववत्)।

कण्वात्तु०—(गर्गादि गण के अन्तर्गत लोहितादि गण में) 'शकल' शब्द का पाठ 'कण्व' शब्द से पूर्व तथा 'शकल' शब्द से पश्चात् (कत, शकल, कण्व—इस प्रकार) करना चाहिए। पूर्वगण और उत्तरगण को तदन्त व तदादि होता है अर्थात् जो कतपर्यन्त हैं, वे शकलपर्यन्त हैं तथा जो कण्वादि हैं, वे शकलादि हैं। इस पाठ का प्रयोजन 'ष्फ' (प्रस्तुत सूत्र) तथा 'अण्' (कण्वादिभ्यो-) प्रत्यय करना है।

प्रातिपदिके०—प्रातिपदिकों का (गर्गादि गण में) अन्य प्रकार (अर्थात् कपि, कत, कुरुकत, अनडुह, कण्व, शकल—इस प्रकार) उपलब्ध होता है। उसे पूर्वोक्त रीति से (अर्थात् कत, शकल, कण्व—इस प्रकार) व्यवस्थित करना चाहिए। 'कतन्तेभ्यः' इस पद में बहुव्रीहि और तत्पुरुष का एकशेष है।[1]

1. कतोऽन्तो यस्य स इति बहुव्रीहिः। कतस्यान्त इति तत्पुरुषः। 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इति पररूपम्।

कतन्तश्च कतन्तश्च—कतन्तः। (तत्पुरुष के कारण प्रकृत सूत्र से 'ष्फ' होकर 'शाकल्यायनी' बनता है)। 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' में भी पूर्ववत् एकशेष है। (द्र०—कण्व आदिर्येषाम्। कण्वस्य आदिः) एकशेष मान लेने पर तत्पुरुष वृत्ति से संगृहीत मध्यवर्त्ती शकल शब्द यञन्त होकर दोनों प्रत्ययों ('ष्फ' और 'अण्') को प्राप्त करता है। यथा—

(क) शाकल्यायनी
(ख) शाकल्येमे छात्राः—शाकलाः।

(1269) कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च *19* (477)

कौरव्य, माण्डूक-इत्येताभ्यां स्त्रियां ष्फः प्रत्ययो भवति। कुर्वादिभ्यो ण्ये (4.1.151) कृते 'ढक्च मण्डूकात्' (4.1.119) इत्यणि च। यथाक्रमं टाब्ङीपोरपवादः। कौरव्यायणी। माण्डूकायनी। कथं कौरवी सेना? तस्येदं (4.3.120) विवक्षायामणि कृते भविष्यति। *कौरव्यमाण्डूकयोरासुरेरुपसंख्यानम्* (म० भा०)। आसुरायणी। शैषिकेष्वर्थेषु 'इञश्च' (4.2.112) इत्यणि प्राप्ते छप्रत्यय इष्यते–आसुरीयः कल्पः (म० भा०)।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में अनुपसर्जन कौरव्य और माण्डूक प्रातिपदिकों से 'ष्फ' प्रत्यय होता है तथा उसकी तद्धितसंज्ञा होती है। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' से 'ण्य' होकर 'कौरव्य' बनता है। इससे 'टाप्' प्राप्त था। 'ढक्च मण्डूकात्' से अण् होकर 'माण्डूक' बनता है। इससे 'टिड्ढाऽण्०' से 'ङीप्' प्राप्त था।

उदा० (1) कौरव्यायणी
कुरु ण्य—'कुरुदादिभ्यो ण्यः से 'ण्य',
कुरो य—चुटू, ओर्गुणः,
कौरव्य—आदिवृद्धि, वान्तो यि प्रत्यये,
कौरव्यायणी—ष्फ, ङीप्, सु।
(2) माण्डूकायनी
मण्डूक अण् → माण्डूक ष्फ → माण्डूकायन—ढक् च मण्डूकात्,
माण्डूकायनी—शेष पूर्ववत्।
(3) कौरवी
कुरु अण्—'तस्येदम्' से 'अण्' हुआ,
कौरव ङीप्—विभक्तिकार्य।

कौरव्यमाण्डूकयोरासुरेरुपसङ्ख्यानम्—कौरव्य और माण्डूक से अतिरिक्त 'आसुरि' शब्द से भी 'ष्फ' होता है। यथा—

(4) आसुरायणी
असुर इञ्—तस्याऽपत्यम्, अत इञ्,
आसुरि ष्फः → आसुरायण—पूर्ववत्,
आसुरायणी—ङीप्, सु।

(5) आसुरीयः कल्पः
असुर छ—शैषिक अर्थों में 'इञश्च' से 'अण्' प्राप्त हुआ, तब 'छ' होकर रूप बनता है।
आसुरीयः—सु।

(1270) वयसि प्रथमे *20* (478)

कालकृतशरीरावस्था यौवनादिर्वयः। प्रथमे वयसि यत्प्रातिपदिकं श्रुत्या वर्तते ततः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। कुमारी। किशोरी। वर्करी। प्रथम इति किम्? स्थविरा, वृद्धा। अत इत्येव-शिशुः। *वयस्यचरम इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। वधूटी। चिरण्टी। द्वितीयवयोवचनावेतौ। प्राप्तयौवना स्त्र्यभिधीयते। कथं कन्या? 'कन्यायाः कनीन च' (4.1.116) इति ज्ञापकात्। उत्तानशया, लोहितपादिकेति नैता वयःश्रुतयः।

अर्थ—काल के आधार पर शरीर की जो यौवन आदि अवस्था है, उसे 'वयस' कहते हैं। प्रथम अवस्था वाच्य होने पर अनुपसर्जन अदन्त प्रातिपदिक से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) कुमारी
कुमार ङीप्—यस्येति च,
कुमारी—विभक्तिकार्य।

(2) किशोरी
किशोर ङीप्—पूर्ववत्।

(3) वर्करी (पूर्ववत्)।

प्रथमे अर्थात् **प्रथम अवस्था** वाच्य होने पर ही ङीप् होता है—

(4) स्थविरा
'स्थविरा' प्रथम अवस्था नहीं है, अतः ङीप् नहीं हुआ।

(5) वृद्धा
पूर्ववत् ङीप् नहीं हुआ।

अत इत्येव—यहाँ 'अतः' पद का अनुवर्तन है। अतः ह्रस्व अकारान्त वयोवाची से ही ङीप् होता है—

(6) शिशुः
'शिशु' अदन्त नहीं है। अतः ङीप् नहीं हुआ।

वयस्यचरम इति वक्तव्यम्—अन्त्य वयोवाची शब्द को छोड़कर शेष वयोवाची शब्द से ङीप् होता है—

(7) वधूटी
वधूट ङीप्।

(8) चिरण्टी
चिरण्ट ङीप्।

(9) कन्या
'कन्यायाः कनीन च' सूत्र ज्ञापक है। इस वचनसामर्थ्य से 'कन्या' शब्द से 'टाप्' होता है।

(10) उत्तानशया
यहाँ वयोवाची नहीं है। अतः ङीप् नहीं हुआ।

(11) लोहितपादिका
ङीप् नहीं हुआ।

(1271) द्विगोः *21* (479)

द्विगुसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। पञ्चपूली। दशपूली। कथं त्रिफला? अजादिषु दृश्यते।

अर्थ—अनुपसर्जन अदन्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) पञ्चपूली
पञ्चानां पूलानां समाहारः—'पञ्चपूल' शब्द से 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' (वा०) से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत सूत्र से ङीप् हुआ।

(2) दशपूली
'पञ्चपूली' की तरह।

(3) त्रिफला
अजादि गण में पाठ होने से ङीप् नहीं हुआ, टाप् हुआ।

(1272) अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि *22* (480)

पूर्वेण ङीप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते। अपरिमाणान्ताद् द्विगोर्बिस्ताचितकम्बल्यान्ताच्च तद्धितलुकि सति ङीप् प्रत्ययो न भवति। बिस्तादीनां परिमाणार्थं ग्रहणम्। सर्वतो मानं परिमाणम्। अपरिमाणान्तात्तावत्-पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा, दशाश्वा। कालः संख्या च न परिमाणम्-द्विवर्षा,

त्रिवर्षा। द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीता द्विशता, त्रिशता। बिस्तादिभ्यः-द्विबिस्ता, त्रिबिस्ता, द्व्याचिता, त्र्याचिता। द्विकम्बल्या, त्रिकम्बल्या। अपरिमाणेति किम्? द्व्याढकी, त्र्याढकी। तद्धितलुकीति किम्? समाहारे-पञ्चाश्वी, दशाश्वी।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा प्राप्त ङीप् का निषेध किया जा रहा है। परिमाण नहीं है अन्त में जिसके; बिस्ता, आचित व कम्बल्य शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे अनुपसर्जन अदन्त व द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् नहीं होता है, यदि तद्धित का लुक् हो। बिस्त आदि का ग्रहण परिमाण के लिए है।

उदा० (क) अपरिमाणान्तात्—

(1) पञ्चाश्वा
पञ्चभिरश्वैः क्रीता—समास हुआ,
पञ्चाश्व ठक्—'अध्यर्धपूर्व द्विगो०' से तद्धित का लुक्,
पञ्चाश्व टाप्—प्राप्त ङीप् का निषेध,
पञ्चाश्वा—विभक्तिकार्य।

(2) दशाश्वा
'पञ्चाश्वा' की तरह।
काल और संख्या परिमाण नहीं है।

(3) द्विवर्षा
ङीप् नहीं हुआ।

(4) त्रिवर्षा
ङीप् नहीं हुआ।

(5) द्विशता
द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीता—टाप् हुआ।

(6) त्रिशता—पूर्ववत् टाप्।

(ख) बिस्तादिभ्यः—

(7) द्विबिस्ता
द्वौ बिस्तौ पचति—समास हुआ,
द्विबिस्त ठक्—'सम्भवत्यवहरति' से 'ठक्',
द्विबिस्ता—ठक् का लुक्, ङीप् का निषेध, टाप्, सु।

(8) त्रिबिस्ता (पूर्ववत्)।
(9) द्व्याचिता (पूर्ववत्)।
(10) त्र्याचिता (पूर्ववत्)।
(11) द्विकम्बल्या (पूर्ववत्)।
(12) त्रिकम्बल्या (पूर्ववत्)।

अपरिमाणे० अर्थात् परिमाण नहीं है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् नहीं होता है—

(13) द्व्याढकी
द्वौ आढकौ पचति—समास, आढकाचित०, द्विगोः ष्ठञ्,
द्व्याढकी—'आढक' परिमाणवाची है, अतः ङीप् का निषेध नहीं हुआ।

(14) त्र्याढकी (पूर्ववत्)।

तद्धित० अर्थात् तद्धित का लुक् हो तो ङीप् का निषेध होता है—

(15) पञ्चाश्वी
यहाँ समाहार अर्थ में समास हुआ। तद्धित का लुक् नहीं हुआ; अतः ङीप् का निषेध भी नहीं हुआ।

(16) दशाश्वी (पूर्ववत्)।

(1273) काण्डान्तात् क्षेत्रे *23* (481)

काण्डशब्दान्ताद् द्विगोस्तद्धितलुकि सति क्षेत्रे वाच्ये ङीप् प्रत्ययो न भवति। द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः क्षेत्रभक्तेः, 'प्रमाणे द्वयसच्' (5.2.37) इति विहितस्य तद्धितस्य 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' (5.2.37) इति लुकि कृते-द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः, त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। काण्डशब्दस्यापरिमाणवाचित्वात् पूर्वेणैव प्रतिषेधे सिद्धे क्षेत्रे नियमार्थं वचनम्, इह मा भूत्-द्विकाण्डी रज्जुः, त्रिकाण्डी रज्जुरिति। प्रमाणविशेषः काण्डम्।

अर्थ—काण्ड शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे अनुपसर्जन व द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् नहीं होता है, यदि 'क्षेत्र' अर्थ वाच्य हो तथा तद्धित प्रत्यय का लुक् हो।

उदा० (1) द्विकाण्डा
द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः—'प्रमाणे द्वयस०' से प्रत्यय हुआ,
'प्रमाणे लो वक्तव्यः' 5.2.37 (वा०) से लुक् हुआ,
द्विकाण्डा—'द्विगोः' से ङीप् प्राप्त हुआ, निषेध हो गया, अदन्तलक्षण टाप् हुआ।

त्रिकाण्ड शब्द के अपरिमाणवाची होने से पूर्वसूत्र के द्वारा प्रतिषेध के सिद्ध होने पर नियम किया जा रहा है। अतः निम्नलिखित में निषेध नहीं होता है—

(2) द्विकाण्डी रज्जुः
ङीप् हुआ।

(3) त्रिकाण्डी रज्जुः
ङीप् हुआ।

(1274) पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम् *24* (482)

द्विगोस्तद्धितलुकीत्येव। प्रमाणे यः पुरुषशब्दस्तदन्ताद् द्विगोस्तद्धितलुकि सति अन्यतरस्यां न ङीप् प्रत्ययो भवति। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः परिखायाः द्विपुरुषा, द्विपुरुषी। त्रिपुरुषा, त्रिपुरुषी। अपरिमाणान्तत्वान्नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम्। प्रमाण इति किम्? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता द्विपुरुषा, त्रिपुरुषा। तद्धितलुकीत्येव, समाहारे–द्विपुरुषी। त्रिपुरुषी।

अर्थ—'प्रमाण' अर्थ गम्यमान रहते, जिसके अन्त में पुरुष शब्द है, ऐसे अनुपसर्जन व द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय का निषेध विकल्प से होता है, यदि तद्धित प्रत्यय का लुक् हो।

निषेधपक्ष में टाप् तथा निषेध अभावपक्ष में ङीप् होता है।

उदा० (1) द्विपुरुषी
द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः—समास हुआ, तद्धित का लुक् हुआ,
द्विपुरुषं ङीप्—निषेध अभाव पक्ष।

(2) द्विपुरुषा
निषेधपक्ष।

(3) त्रिपुरुषी (पूर्ववत्)।
(4) त्रिपुरुषा (पूर्ववत्)।

अपरिमाणान्त होने से निषेध के नित्य प्राप्त होने से विकल्प कहा गया है।

प्रमाणे अर्थात् **'प्रमाण'** अर्थ गम्यमान रहते ङीप् का निषेध विकल्प से होता है—

(5) द्विपुरुषा
द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता—प्रमाण अर्थ वाच्य नहीं है, अपितु क्रीत अर्थ वाच्य है, अतः निषेध नित्य हुआ,
द्विपुरुषा—अदन्तलक्षण टाप् हुआ।

(6) त्रिपुरुषा (पूर्ववत्)।

तद्धितलुकि० अर्थात् तद्धित प्रत्यय का लुक् हो तो ङीप् का निषेध विकल्प से होता है—

(7) द्विपुरुषी
यहाँ समाहार अर्थ में समास हुआ, तद्धित प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ। अतः निषेध नहीं हुआ।

3 का०द्वि०

(1275) बहुव्रीहेरूधसो ङीष् *25* (484)

ऊधस्शब्दान्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। 'ऊधसोऽनङ्' (5.4.131) इति समासान्ते कृते, 'अनो बहुव्रीहेः' (4.1.12) इति ङीप्प्रतिषेधयोः प्राप्तयोरिदमुच्यते। घटोध्नी। कुण्डोध्नी। बहुव्रीहेरिति किम्? प्राप्ता ऊधः प्राप्तोधाः। 'अन उपधालोपिनः' (4.1.28) इत्यस्यापि ङीपोऽयमुत्तरत्रानुवृत्तेर्बाधक इष्यते। समासान्तश्च स्त्रियामेव, इह न भवति–महोधाः पर्जन्य इति।

अर्थ—ऊधस् शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहिसंज्ञक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है।

'ऊधसोऽनङ्' से समासान्त प्रत्यय कर देने पर 'अनो बहुव्रीहेः' से ङीप् का प्रतिषेध तथा 'डाबुभाभ्याम्' से पाक्षिक डाप् के प्राप्त होने पर ङीष् किया गया है।

उदा० (1) घटोध्नी
घट इवोधोऽस्याः—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास,
घण्डोधस् → घटोधनङ्—ऊधसोऽनङ्, ङिच्च, अतो गुणे,
घटोध्नी—ङीष्, विभक्तिकार्य।

(2) कुण्डोध्नी (पूर्ववत्)।

बहुव्रीहे०—बहुव्रीहिसंज्ञक प्रातिपदिक से ही ङीष् होता है—

(3) प्राप्तोधाः
प्राप्तोधः—यहाँ बहुव्रीहि समास नहीं है। अतः ङीष् नहीं हुआ।
प्राप्त ऊधस् सु—विभक्तिकार्य।

स्त्रीत्व की विवक्षा में ही समासान्त होता है। अतः यहाँ नहीं होता है।

(4) महोधाः
ङीष् नहीं हुआ।

(1276) संख्याव्ययादेर्ङीप् *26* (485)

पूर्वेण ङीष् प्राप्ते ङीब्विधीयते। संख्यादेरव्ययादेश्च बहुव्रीहेरूधःशब्दान्तात् ङीप् प्रत्ययो भवति। संख्यादेस्तावत्–द्व्यूध्नी, त्र्यूध्नी। अव्ययादेः–अत्यूध्नी, निरूध्नी। आदिग्रहणं किम्? द्विविधोध्नी, त्रिविधोध्नीत्यत्रापि यथा स्यात्।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा ङीष् प्राप्त होने पर ङीप् कहा जा रहा है। संख्या या अव्यय है आदि में जिसके तथा ऊधस् शब्द

है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहिसंज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) द्व्यूध्नी
द्वे ऊधसी यस्या:—समास हुआ,
द्वि ऊधन्—अनङ् आदेश, अकारलोप
द्व्यूध्नी—ङीप्, सु।

(2) त्र्यूध्नी (पूर्ववत्)।
(3) अत्यूध्नी
अतिगतमूधो यस्या:—अत्यूध्नी।
(4) निरूध्नी (पूर्ववत्)।

आदि० अर्थात् आदि में संख्या हो तो ङीप् होता है—

द्विविधोध्नी, त्रिविधोध्नी में भी ङीप् हो जाता है।

(1277) दामहायनान्ताच्च *27* (486)

ऊधस इति निवृत्तम्। संख्याग्रहणमनुवर्त्तते, नाव्ययग्रहणम्। संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामशब्दान्ताद्धायनशब्दान्ताच्च स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। दामान्तात् डाप्प्रतिषेधविकल्पेषु (4.1.12,13,28) प्राप्तेषु नित्यार्थं वचनम्–द्विदाम्नी, त्रिदाम्नी। हायनान्तादपि टापि प्राप्ते–द्विहायनी, त्रिहायणी, चतुर्हायणी। *हायनो वयसि स्मृतः* (म० भा०)। तेनेह न भवति–द्विहायना शाला, त्रिहायना, चतुर्हायना। णत्वमपि 'त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य' इति वयस्येव स्मर्यते।

अर्थ—संख्यावाची शब्द है आदि में जिसके तथा दामन् या हायन् शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहिसंज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) द्विदाम्नी
द्वे दाम्नी यस्या:—समास हुआ,
द्विदामन्—'अनो बहुव्रीहे:' से ङीप् का निषेध, 'डाबुभाभ्यां०' से पाक्षिक डाप्, 'अन उपधालोपिनो०' से पाक्षिक ङीप् की प्राप्ति, नित्य ङीप्,
द्विदाम्न् ङीप्—अकारलोप,
द्विदाम्नी—विभक्तिकार्य।

(2) त्रिदाम्नी (पूर्ववत्)।
(3) द्विहायनी।
(4) त्रिहायनी।
(5) चतुर्हायणी।

हायनो वयसि स्मृतः—अवस्था अर्थ में ही 'हायन' शब्द विवक्षित है। अत: निम्नलिखित में नहीं हुआ—

(6) द्विहायना शाला।
(7) त्रिहायना शाला।
(8) चतुर्हायना शाला।

अवस्था अर्थ में ही 'त्रि' तथा 'चतुर्' शब्दों से उत्तर 'हायन' शब्द में णत्व होता है।

(1278) अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् *28* (462)

बहुव्रीहेरित्येव। अन्नन्तो यो बहुव्रीहिरुपधालोपी तस्मादन्यतरस्यां ङीप् प्रत्ययो भवति। ङीपा मुक्ते डाप्प्रतिषेधौ भवतः। किमर्थं तर्हीदमुच्यते? ननु सिद्ध एव डाप्प्रतिषेधङीपः? अनुपधालोपिनो ङीप्प्रतिषेधार्थं वचनम्। बहुराजा, बहुराज्ञी, बहुराजे। बहुतक्षा, बहुतक्ष्णी, बहुतक्षे। अन इति किम्? बहुमत्स्या। उपधालोपिन इति किम्? सुपर्वा, सुपर्वे, सुपर्वाः। सुपर्वाणौ, सुपर्वाणः। डाप्प्रतिषेधावेवात्र भवतः।

अर्थ—जिसकी उपधा का लोप होता हो, ऐसे अन् अन्त वाले बहुव्रीहिसंज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् विकल्प से होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

ङीप् के द्वारा मुक्त होने पर डाप् प्रत्यय और प्रतिषेध होते हैं। तब यह किसलिए कहा जाता है। डाप्, प्रतिषेध व ङीप् सिद्ध ही हैं। जिसकी उपधा का लोप नहीं होता, उससे ङीप् के निषेध के लिए विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) बहुराज्ञी सभा
बहवो राजानोऽस्यां—समास,
बहुराजन्—पाक्षिक ङीप्, यचि भम्, अल्लोपोऽनः,
बहुराज्न् ङीप्—स्तोः श्चुना श्चुः,
बहुराज्ञी—विभक्तिकार्य।

(2) बहुराजा
पक्ष में 'डाबुभाभ्यां०' से 'डाप्' हुआ। 'टे:' से टिलोप हुआ।

(3) बहुतक्ष्णी
बहु तक्षन् ङीप्—पूर्ववत् सभी कार्य।

(4) बहुतक्षा
'डाप्' हुआ।

अनः अर्थात् अन्नन्त शब्द से ही ङीप् होता है—

(5) बहुमत्स्या

बहु मत्स्य—अन्नन्त शब्द नहीं है, 'सूर्यतिष्याऽगस्त्य०' से उपधालोप, ङीप् नहीं हुआ।

बहुमत्स्या—टाप् हुआ, विभक्तिकार्य।

उपधालोपिनः अर्थात् उपधा का लोप हुआ है जिसका, ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् होता है—

(6) सुपर्वा

यहां अन्नन्त है, बहुव्रीहि संज्ञा है, परन्तु 'न संयोगाद्वमन्तात्' से उपधालोप का निषेध होता है। अतः ङीप' नहीं हुआ। डाप्' हुआ। टिलोप होकर 'सुपर्व् आ' बनता है। विभक्तिकार्य होकर 'सुपर्वा' बनता है।

'डाप्' अभाव पक्ष में सुपर्वन् सु → सुपर्वा।
यहाँ डाप् तथा प्रतिषेध ही होते हैं।

(1279) नित्यं संज्ञाछन्दसोः *29* (487)

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनः संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं ङीप् प्रत्ययो भवति। विकल्पस्यापवादः। सुराज्ञी, अतिराज्ञी नाम ग्रामः। छन्दसि–गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी, द्विदाम्नी, एकमूर्ध्नी (अथ० 8.9.15), समानमूर्ध्नी (तै० सं० 4.3.11.4)।

अर्थ—वेद में तथा संज्ञा के विषय में अन् अन्त वाले, उपधालोपी तथा बहुव्रीहिसंज्ञक प्रातिपदिक से नित्य ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। यह विकल्प का अपवाद है।

उदा० (1) सुराज्ञी
शोभना राजानो यस्यां सा—समास हुआ,
सुराजन् ङीप् → सुराज्ञी—अकारलोप, श्चुत्व, सु (संज्ञा में)।

(2) अतिराज्ञी (पूर्ववत् संज्ञा में)।

(3) पञ्चदाम्नी
पञ्च दामानि यस्याः—समास हुआ,
पञ्चदाम्नी—ङीप्, अकारलोप आदि पूर्ववत् (वेद में)।

(4) एकदाम्नी (पूर्ववत्)।

(5) द्विदाम्नी (पूर्ववत्)।

(6) एकमूर्ध्नी (पूर्ववत्)।

(7) समानमूर्ध्नी (पूर्ववत्)।

(1280) केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्य-कृतसुमङ्गलभेषजाच्च *30* (488)

संज्ञाछन्दसोः (4.1.29) इत्येव। केवलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः संज्ञायां छन्दसि विषये स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। केवली (पै० 16.20.1)। केवलेति भाषायाम्। मामकी (पै० 1.6.8)। मामिकेति भाषायाम्। मित्रावरुणयोर्भागधेयीः (तै०सं० 1.3.12.1)। भागधेयेति भाषायाम्। पापी त्वियम् (मै० 4.2.14)। पापेति भाषायाम्। उतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये (ऋ० 1.32.13)। अपरेति भाषायाम्। समानी (ऋ० 10.191.3), प्रवाणी। समानेति भाषायाम्। आर्यकृती (मै० 1.8.3)। आर्यकृतेति भाषायाम्। सुमङ्गली (ऋ० 10.85.33)। सुमङ्गलेति भाषायाम्। भेषजी (तै०सं० 4.5.10.1)। भेषजेति भाषायाम्।

अर्थ—वेद में तथा संज्ञा के विषय में केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्यकृत, सुमङ्गल और भेषज्—इन प्रातिपदिकों से ङीप् होता है।

उदा० (1) केवली (पै०सं० 16.20.01)
केवल ङीप्—(वेद तथा संज्ञा में)।

(2) मामकी (पै०सं० 1.6.8)
मामक ङीप्।
लोक में 'मामिका' बनता है।

(3) भागधेयी (तै०सं० 1.3.12.1)
लोक में 'भागधेया' बनता है।

(4) पापी (मै०4.2.14)
पाप ङीप्
'पापा' लोक में।

(5) अपरी (ऋ० 1.32.13)
अपर ङीप्।
'अपरा' लोक में।

(6) समानी (ऋ० 10.191.3)
समान ङीप्।
'समाना' लोक में।

(7) आर्यकृती (मै० 1.8.3)
आर्यकृत ङीप्।
'आर्यकृता' लोक में।

(8) सुमङ्गली (शौ०सं० 2.19.2)
सुमङ्गल ङीप्।
'सुमङ्गला' लोक में।

(9) भेषजी (तै०सं० 4.5.10.1)
भेषज ङीप्।
'भेषजा' लोक में।

(1281) रात्रेश्चाजसौ *31* (3445)

जस्विषयादन्यत्र संज्ञायां छन्दसि च रात्रिशब्दान् ङीप् प्रत्ययो भवति। या रात्री सृष्टा। रात्रीभिः (ऋ० 10.10.9)। अजसादिष्विति किम्? यास्ता रात्रयः। *अजसादिष्विति वक्तव्यम्* (म०भा०)। रात्रिं सहोषित्वा (म० भा०)। कथं 'तिमिरपटलैरवगुण्ठिताश्च रात्र्यः'? ङीषयं बह्वादिलक्षणः, तत्र हि पठ्यते *कृदिकारादक्तिनः* (ग० सू० 50), *सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके* (ग०सू० 51) इति।

अर्थ—वेद में तथा संज्ञा के विषय में 'रात्रि' शब्द से ङीप् होता है, जस् के विषय को छोड़कर स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) रात्रीभिः (ऋ० 10.10.9)
रात्रि ङीप्—'यस्येति च' से इकारलोप,
रात्री भिस्—विसर्ग।

अजसा अर्थात् जस् विभक्ति को छोड़कर ङीप् होता है—

(2) रात्रयः
रात्रि जस्—जस् विभक्ति होने से ङीप् नहीं हुआ।

अजसादिष्विति वक्तव्यम् अर्थात् जस् आदि विभक्तियों को छोड़कर 'रात्रि' शब्द से ङीप् होता है—

(3) रात्रिम्
रात्रि अम्—ङीप् नहीं हुआ।

(4) रात्र्यः
यहाँ बह्वादिलक्षण ङीष् हुआ है। जस् में यणादेश होकर रूप बनता है।

(1282) अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् *32* (489)

प्रकृतिर्निपात्यते, नुगागमस्तु विधीयते। अन्तर्वत्पतिवतोर्नुग्भवति ङीप् च प्रत्ययः, स तु नकारान्तत्वादेव सिद्धः। निपातनसामर्थ्याच्च विशेषे वृत्तिर्भवति। अन्तर्वत्पतिवदिति गर्भभर्तृसंयोगे। इह तु न भवति-अन्तरस्यां शालायां विद्यते, पतिमती पृथिवी (म०भा०)। अन्तर्वदिति मतुब्निपात्यते, वत्वं सिद्धम्। पतिवदिति वत्वं निपात्यते, मतुप् सिद्धः। अन्तर्वत्नी गर्भिणी। पतिवत्नी जीवत्पतिः।

अन्तर्वत्पतिवतोस्तु मतुब्वत्वे निपातनात्।
गर्भिण्यां जीवपत्यां च वा छन्दसि तु नुग्विधिः॥
(म०भा०)

सान्तर्वत्नी देवानुपैत् (म०भा०)। सान्तर्वती देवानुपैत् (म०भा०)। पतिवत्नी तरुणवत्सा (म०भा०)। पतिवती तरुणवत्सा (म०भा०)।

अर्थ—प्रकृति का निपातन किया गया है। नुक् आगम का विधान किया गया है। स्त्रीत्व की विवक्षा में अन्तर्वत् तथा पतिवत् शब्दों से ङीप् प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को नुक् आगम होता है।

अन्तर्वत् व पतिवत् शब्द गर्भ व भर्त्ता के संयोग में ही होते हैं।

उदा० (1) अन्तर्वत्नी
यहाँ मतुप् का निपातन है तथा 'मादुपधायाश्च०' से वत्व सिद्ध है, नुक् हुआ।

(2) पतिवत्नी
यहाँ वत्व का निपातन है तथा मतुप् सिद्ध है।

अन्तर्वत्पतिवतोस्तु०—कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अन्तर्वत् तथा पतिवत् में क्रमशः मतुप् व वत्व का निपातन होता है। गर्भिणी तथा जीवत्पति—इन अर्थों में ये शब्द प्रयुक्त हैं। इनमें नुग्विधि होती है तथा वेद में नुग्विधि विकल्प से होती है—

(3) अन्तर्वत्नी, अन्तर्वती।
(4) पतिवत्नी, पतिवती।

(1283) पत्युर्नो यज्ञसंयोगे *33* (490)

पतिशब्दस्य नकारादेशः स्त्रियां विधीयते, ङीप् प्रत्ययस्तु नकारान्तत्वादेव सिद्धः, यज्ञसंयोगे। यज्ञेन संयोगः यज्ञसंयोगः, तत्साधनत्वात्फलग्रहीतृत्वाद्वा यजमानस्य पत्नी। पत्नि! वाचं यच्छ। यज्ञसंयोगे इति किम्? ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी। कथं वृषलस्य पत्नी? उपमानाद्भविष्यति।

अर्थ—यज्ञसंयोग गम्यमान हो तो 'पति' शब्द को नकार अन्तादेश होता है। नकार अन्तादेश करने पर 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् सिद्ध ही है।

उदा०—(1) पत्नी
पति → पत्न् ङीप् → पत्नी—विभक्तिकार्य।

यज्ञसंयोगे अर्थात् यज्ञ का संयोग गम्यमान हो तो पति शब्द को नकार अन्तादेश होता है—

(2) ग्रामस्य पतिरियम् ।
यहाँ ङीप् नहीं हुआ।

(3) वृषलस्य पत्नी
उपमान से नकार अन्तादेश हुआ।

(1284) विभाषा सपूर्वस्य *34* (491)

पत्युर्न इति वर्त्तते । पतिशब्दान्तस्य प्रातिपदिकस्य सपूर्वस्यानुपर्जनस्य स्त्रियां विभाषा नकारादेशो भवति, ङीप् तु लभ्यत एव । वृद्धपतिः । वृद्धपत्नी । स्थूलपतिः । स्थूलपत्नी । अप्राप्तविभाषेयम्, अयज्ञसंयोगत्वात् । सपूर्वस्येति किम् ? पतिरियं ब्राह्मणी ग्रामस्य ।

अर्थ—पूर्व पद से युक्त पति शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से नकार अन्तादेश विकल्प से होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) वृद्धपत्नी
वृद्धः पतिरस्याः—विकल्प से नकार अन्तादेश हुआ, नकार अन्तादेशपक्ष में,
वृद्धपत्नी—ङीप्, सु।

(2) वृद्धपतिः
पक्ष में नकार अन्तादेश नहीं हुआ।

(3) स्थूलपत्नी
नकार अन्तादेश।

(4) स्थूलपतिः
अन्तादेश अभावपक्ष।

अप्राप्त०—यज्ञसंयोग अर्थ गम्यमान न होने से अन्तादेश प्राप्त नहीं था। यहाँ विकल्प कहा गया है। अतः अप्राप्त विभाषा हुई।

सपूर्व०—पूर्व पद से युक्त पति शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से अन्तादेश होता है।

(5) पतिरियं ब्राह्मणी ग्रामस्य
यहाँ अन्तादेश नहीं हुआ।

(1285) नित्यं सपत्न्यादिषु *35* (492)

सपत्न्यादिषु नित्यं पत्युर्नकारादेशो भवति, ङीप् तु लभ्यत एव । पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते वचनम् । नित्यग्रहणं विस्पष्टार्थम् । समानः पतिरस्याः सपत्नी । एकपत्नी । समानादिष्विति वक्तव्ये समानस्य सभावार्थं वचनम् । समान । एक । वीर । पिण्ड । भ्रातृ । पुत्र । *दासाच्छन्दसि* ।

अर्थ—'सपत्नी' आदि शब्दों में नकार अन्तादेश नित्य होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा विकल्प प्राप्त होने पर नित्य विधान किया जा रहा है। सूत्र में नित्य शब्द का ग्रहण स्पष्टता के लिए है।

उदा०—(1) सपत्नी
समानः पतिरस्याः—निपातन से 'स' आदेश, अन्तादेश,
सपत्नी—ङीप्, सु।

(2) एकपत्नी
एकः पतिरस्याः—पूर्ववत्।
समान आदि—ऐसा कहे जाने पर 'समान' शब्द को 'स' आदेश होता है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1286) पूतक्रतोरै च *36* (493)

पूतक्रतुशब्दस्य स्त्रियामैकारश्चान्तादेशो भवति ङीप् च प्रत्ययः । पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी (म० भा०) । त्रय एते योगाः (4.1.36-38) पुंयोगप्रकरणे (4.1.48) द्रष्टव्याः । यया हि पूताः क्रतवः पूतक्रतुः सा भवति (म० भा०) ।

अर्थ—अनुपसर्जन पूतक्रतु प्रातिपदिक से ऐकार अन्तादेश तथा ङीप् प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) पूतक्रतायी
पूतक्रतोः स्त्री—स्त्रीत्व की विवक्षा में,
पूतक्रतै ङीप्—आयादेश,
पूतक्रतायी—सु।
ये तीन योग पुंयोगप्रकरण में दृष्टिगोचर होते हैं।

(1287) वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः *37* (494)

वृषाकप्यादीनामुदात्त ऐकारादेशो भवति स्त्रियां ङीप् च प्रत्ययः । वृषाकपिशब्दो मध्योदात्त उदात्तत्वं प्रयोजयति । अग्न्यादिषु पुनरन्तोदात्तेषु स्थानिवद्भावादेव सिद्धम् । वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी (ऋ० 10.86.13) । अग्नायी (ऋ० 1.22.12) । कुसितायी । कुसीदायी । पुंयोग इत्येव-वृषाकपिः स्त्री ।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में वृषाकपि, अग्नि, कुसित तथा कुसीद—इन अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय तथा उदात्त ऐकार अन्तादेश होता है।

उदा०—(1) वृषाकपायी
वृषाकपेः स्त्री—यहाँ मध्योदात्त को उदात्त हुआ, ऐकार अन्तादेश, ङीप्,
वृषाकपै ई—विभक्तिकार्य।

(2) अग्नायी
अग्नेः स्त्री—अग्नि आदि अन्तोदात्तों में स्थानिवद्भाव से सिद्ध ही है,
अग्नै ङीप्—शेष पूर्ववत्।

(3) कुसितायी
कुसितै ङीप्—पूर्ववत्।

पुंयोग से ही ऐकार अन्तादेश होता है। यथा—

(4) वृषाकपिः स्त्री
यहाँ नहीं हुआ।

(1288) मनोरौ वा *38* (495)

ऐ, उदात्त इति च वर्त्तते। मनुशब्दात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति औकारश्चान्तादेशः, ऐकारश्चोदात्तः। वाग्रहणेन द्वावपि विकल्प्येते, तेन त्रैरूप्यं भवति–मनोः स्त्री मनायी (काठ०सं० 30.1), मनावी (मै०सं० 1.8), मनुः (मै० 1.8)। मनुशब्द आद्युदात्तः।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में 'मनु' शब्द से विकल्प से ङीप् प्रत्यय, औकार अन्तादेश तथा ऐकार अन्तादेश होता है और वह ऐकार उदात्त होता है।

'वा' का ग्रहण करने से दोनों का विकल्प होता है। तब तीन रूप बनते हैं।

उदा० (1) मनायी
मनोः स्त्रीः—ऐकार अन्तादेश,
मनायी—ङीप्, सु।

(2) मनावी
पक्ष में औकार अन्तादेश हुआ।

(3) मनुः
पक्ष में ङीप् नहीं हुआ।

(1289) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः *39* (496)

वेति वर्त्तते। वर्णवाचिनः प्रातिपदिकादनुदात्तान्तात्तकारोपधाद्वा ङीप् प्रत्ययो भवति, तकारस्य नकारादेशो भवति। एतां, एनी (ऋ० 1.144.6)। श्येतां, श्येनीं। हरिता, हरिणी। सर्व एते आद्युदात्ताः, 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' (फि०सू० 2.10) इति वचनात्। वर्णादिति किम्? प्रहृता, प्ररुता। गतिस्वरेणाद्युदात्तः (6.2.49)। अनुदात्तादिति किम्? श्वेता (फि०सू० 1.21)। घृतादित्वादन्तोदात्तः। तोपधादिति किम्? अन्यतो ङीष् वक्ष्यति। अत इत्येव-शितिर्ब्राह्मणी। *पिशङ्गादुपसंख्यानम्* (म० भा०)। पिशङ्गी। *असितपलितयोः प्रतिषेधः* (म० भा०)। असिता। पलिता। *तयोश्छन्दसि क्नमित्येके*। असिक्नी (शौ०अथर्व० 1.23.1)। पलिक्नी (ऋ० 5.2.4)। भाषायामपीष्यते-गतो गणस्तूर्णमसिक्निकानाम्।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में वर्णवाची अनुदात्तान्त, तकारोपध (= जिसकी उपधा में तकार है) प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है तथा तकार के स्थान पर नकार आदेश होता है।

उदा० (1) एनी
एत ङीप्—नकार अन्तादेश, सु आदि।

(2) एता
एत टाप्—सु आदि।

(3) श्येनी
श्येत ङीप्—पूर्ववत्।

(4) श्येता
श्येत टाप्।

(5) हरिणी
हरित ङीप्।

(6) हरिता
हरित टाप्।

ये सभी आद्युदात्त हैं। द्र०—'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्'।

वर्णात्०—अर्थात् वर्णवाची से ही ङीप् व नकार अन्तादेश होता है—

(7) प्रहृता
नकार अन्तादेश नहीं हुआ।

(8) प्ररुता

नकार अन्तादेश नहीं हुआ।

गतिस्वर से आद्युदात्त हुआ।

अनुदात्त० अर्थात् अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से नकार अन्तादेश होता है—

(9) श्वेता

अन्त में अनुदात्त नहीं है। अतः अन्तादेश नहीं हुआ।

घृतादि गण में होने से अन्तोदात्त है।

तोपधा० अर्थात् **तकारोपध** प्रातिपदिक को अन्तादेश होता है—

(10) कल्माषी

कल्माष—तकारोपध नहीं है, अन्तादेश नहीं हुआ, 'अन्यतो ङीष्' से ङीष् होता है।

अत० अर्थात् अदन्त प्रातिपदिक से अन्तादेश होता है—

(11) शितिर्ब्राह्मणी

'शिति', 'वर्णानां तणतिनि०' फिट् सूत्र से अनुदात्तान्त है, यह तकारोपध भी है, परन्तु अदन्त नहीं है। अतः ङीप् नहीं हुआ। टाप् भी नहीं हुआ।

पिशङ्गादुपसङ्ख्यानम्—पिशङ्ग शब्द से ङीप् होता है—

(12) पिशङ्गी

पिशङ्ग ङीप्।

असितपलितयोः प्रतिषेधः—स्त्रीत्व की विवक्षा में असित और पलित शब्दों से ङीप व नकार अन्तादेश नहीं होते हैं—

(13) असिता

असित टाप्—अदन्तलक्षण टाप् हुआ।

(14) पलिता

टाप् पूर्ववत्।

छन्दसि क्नमित्येके—वेद के विषय में असित और पलित को 'क्न' अन्तादेश होता है—

(15) असिक्नी (शौ०सं० 1.23.1)

असित → असिक्न ङीप्—विभक्तिकार्य।

(16) पलिक्नी (ऋ० 5.2.4)

पूर्ववत्।

लोक में भी 'क्न' आदेश देखा जाता है—गतो गणस्तूर्णमसिक्निकानाम्।

(1290) अन्यतो ङीष् *40* (497)

वेति निवृत्तम्, वर्णादनुदात्तादिति वर्त्तते, तोपधापेक्षमन्यत्वम्। वर्णवाचिनः प्रातिपदिकादनुदात्तान्तात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। स्वरे विशेषः। सा॒रङ्गी॑। क॒ल्मा॒षी॑। श॒ब॒ली॑। वर्णादित्येव–खट्वा॑। अनुदात्तादित्येव–कृ॒ष्णा, क॒पि॒ला।

अर्थ—जो तकारोपध नहीं है ऐसे वर्णवाची, अनुदात्तान्त, अदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से ङीष् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। ङीप् और ङीष् में स्वर का अन्तर है।

उदा० (1) सारङ्गी

तकारोपध नहीं है, वर्णवाची है, अनुदात्तान्त है, अदन्त है, अनुपसर्जन है, अतः ङीष् हुआ।

(2) कल्माषी

कल्माष ङीष्।

(3) शबली

शबल ङीष्।

वर्णादि० अर्थात् वर्णवाची से ही ङीष् होता है—

(4) खट्वा

यहाँ ङीष् नहीं हुआ।

अनुदात्ता० अर्थात् अनुदात्त से ही ङीष् होता है—

(5) कृष्णा

ङीष् नहीं हुआ।

(6) कपिला

ङीष् नहीं हुआ।

(1291) षिद्गौरादिभ्यश्च *41* (498)

ङीषनुवर्त्तते। षिद्भ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। 'शिल्पिनि ष्वुन्' (3.1.145)– नर्त्तकी, खनकी, रजकी। गौरादिभ्यः–गौरी, मत्सी। गौर। मत्स्य। मनुष्य। शृङ्ग। हय। गवय। मुकय। ऋष्य। पुट। द्रुण। द्रोण। हरिण। कण। पटर। उकण। आमलक। कुवल। बदर। बिम्ब। तर्कार। शर्कार। पुष्कर। शिखण्ड। सुषम। सलन्द। गडुज। आनन्द। सृपाट। सृगेठ। आढक। शष्कुल। सूर्म। सुब। सूर्य। पूष। मूष। घातक। सकलूक। सल्लक। मालक। मालत। साल्वक। वेतस। अतस। पृस।

मह । मठ । छेद । श्वन् । तक्षन् । अनडुही । अनड्वाही । *एषणः करणे* (ग०सू० 42) । देह । काकादन । गवादन । तेजन । रजन । लवण । पान । मेध । गौतम । आयस्थूण । भौरि । भौलिकि । भौलिङ्गि । औद्गाहमानि । आलिङ्गि । आपिच्छिक । आरट । टोट । नट । नाट । मूलाट । शातन । पातन । पावन । आस्तरण । अधिकरण । एत । अधिकार । आग्रहायणी । प्रत्यवरोहिणी । सेवन । *सुमङ्गलात्संज्ञायाम्* (ग०सू० 43) । सुन्दर । मण्डल । पट । पिण्ड । विटक । कुर्द । गूर्द । पाण्ट । लोफाण्ट । कन्दर । कन्दल । तरुण । तलुन । बृहत् । महत्। सौधर्म। *रोहिणी नक्षत्रे* (ग०सू० 44)। *रेवती नक्षत्रे* (ग०सू० 45) । विकल । निष्फल । पुष्कल । *कटाच्छ्रोणिवचने* (ग०सू० 46) । *पिप्पल्यादयश्च* (ग० सू० 47) । पिप्पली । हरीतकी । कोशातकी । शमी । करीरी । पृथिवी । क्रोष्टी । मातामह । पितामह । माता-महपितामहयोः 'मातरि षिच्च' (4.2.36) इति षित्वादेव सिद्धे ज्ञापनार्थं वचनम्–अनित्यः षिल्लक्षणो ङीषिति; तेन दंष्ट्रेत्युपपन्नं भवति ।

अर्थ—षित् (= जिसका षकार इत् है) तथा गौरादि गणपठित अनुपसर्जन प्रातिपदिक से ङीष् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में ।

उदा० (1) नर्त्तकी
नृत् ष्वुन्—'शिल्पिनि ष्वुन्' से 'ष्वुन्'—
नर्त्तक ङीष्—विभक्तिकार्य ।

(2) खनकी
खनक ङीष् ।

(3) रजकी
रजक ङीष्

(4) गौरी
गौरादि गण में पाठ है । अतः ङीष् हुआ ।
शेष उदाहरण मूल में देखें ।

(5) अनड्वाही
अनुडुह् ङीष्—पाक्षिक 'आम्' आदेश,
अनड्वाही—सु ।

(6) अनडुही
आम् अभाव पक्ष ।

मातामह०—महाभाष्य में एक वार्तिक (मातरि षिच्च) प्राप्त होती है । इससे ज्ञापित होता है कि षित् को मान कर होने वाला ङीष् अनित्य है; अन्यथा प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'मातृ' शब्द से होने वाले डामहच् को षित्करण व्यर्थ हो जाता । कारण कि मातामह का पाठ गौरादि गण में होने से ङीष् स्वतः सिद्ध है ।

(1292) जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकाल-नीलकुशकामुककबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमा-श्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनाऽयोविकार-मैथुनेच्छाकेशवेशेषु *42* (500)

जानपदादिभ्य एकादशभ्यः प्रातिपदिकेभ्य एकादशसु वृत्त्यादिष्वर्थेषु यथासंख्यं ङीष् प्रत्ययो भवति । जानपदी भवति वृत्तिश्चेत् । जानपदी अन्या । स्वरे विशेषः । उत्सादिपाठादञि कृते ङीप्याद्युदात्तत्वं भवति । कुण्डी भवति । अमत्रं चेत्, कुण्डाऽन्या । गोणी भवत्यावपनं चेत्, गोणान्या । स्थली भवति, अकृत्रिमा चेत्, स्थलान्या । भाजी भवति, श्राणा चेत्, पक्वेत्यर्थः । भाजाऽन्या । नागी भवति, स्थौल्यं चेत्, नागाऽन्या । नागशब्दो गुणशब्दो गुणवचनः स्थौल्ये ङीषमुत्पादयति, अन्यत्र गुण एव टापम् । जातिवचनात्तु जातिलक्षणो ङीषेव भवति–नागी । काली भवति, वर्णश्चेत्, कालाऽन्या । नीली भवति अनाच्छादनं चेत्, नीलाऽन्या । न च सर्वस्मिन्ननाच्छादन इष्यते, किं तर्हि ? *नीलादोषधौ प्राणिनि च* (म०भा०) । नीली ओषधिः, नीली गौः, नीली वडवा (म०भा०) । *संज्ञायां वा* (म०भा०) । नीली, नीला । कुशी भवत्ययोविकारश्चेत्, कुशान्या । कामुकी भवति मैथुनेच्छा चेत्, कामुकान्या । मैथुनेच्छावती भण्यते, नेच्छामात्रम् । कबरी भवति केशवेशश्चेत्, कबराऽन्या ।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में जानपद, कुण्ड, गोण, स्थल, भाज, नाग, काल, नील, कुश, कामुक तथा कबर—इन अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके वृत्ति, अमत्र, आवपन, अकृत्रिमा, श्राणा, स्थौल्य, वर्ण, अनाच्छादन, अयोविकार, मैथुनेच्छा तथा केशवेश—इन अर्थों में ङीष् प्रत्यय होता है ।

उदा० (1) जानपदी
जनपद ङीष्—'वृत्ति' अर्थ में ।
अन्य अर्थ में भी 'जानपदी'[1] बनता है, परन्तु यह आद्युदात्त होता है ।

1. जनपद अञ् (उत्सादिभ्योऽञ्) → जानपद ङीप् ।

(2) कुण्डी
कुण्ड ङीष्—अमत्र अर्थ में।
अन्य अर्थ में टाप् होता है—कुण्डा।

(3) गोणी
गोण ङीष्—आवपन अर्थ।

(4) स्थली
स्थल ङीष्—अकृत्रिमा अर्थ।
अन्य अर्थ में—'स्थला'।

(5) भाजी
भाज ङीष्—श्राणा अर्थ।

(6) नागी
नाग ङीष्—स्थौल्य अर्थ।
अन्यत्र—'नागा'।

(7) काली
काल ङीष्—वर्ण अर्थ में।
अन्यत्र—'काला'।

(8) नीली
नील ङीष्—अनाच्छादन अर्थ में।
ओषधि व प्राणी अर्थ में ङीष् होता है। यथा—
नीली ओषधिः। नीली गौः।
संज्ञा के विषय में विकल्प से ङीष् होता है—
नीली, नीला।

(9) कुशी
कुश ङीष्—अयोविकार अर्थ में।

(10) कामुकी
मैथुनेच्छा अर्थ में।
अन्यत्र—कामुका।

(11) कबरी
केशवेश अर्थ में।
अन्यत्र—'कबरा'।

(1293) शोणात् प्राचाम् *43* (501)

शोणशब्दात्प्राचामाचार्याणां मतेन स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। शोणी, शोणा वडवा।

अर्थ—प्राचीन आचार्यों के मत में अनुपसर्जन शोण प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् होता है। पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् होता है।

उदा० (1) शोणी
शोण ङीष्।

(2) शोणा
शोण टाप्।

(1294) वोतो गुणवचनात् *44* (502)

गुणमुक्तवान् गुणवचनः। गुणवचनात्प्रातिपदिकाद् उकारान्तात् स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति। पटुः, पट्वी। मृदुः, मृद्वी। उत इति किम्? शुचिरियं ब्राह्मणी। गुणवचनादिति किम्? आखुः। *वसुशब्दाद् गुणवचनाद् ङीबाद्युदात्तार्थम्* (म० भा०)। वस्वी। *खरुसंयोगोपधात्प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। खरुरियं ब्राह्मणी। पाण्डुरियं ब्राह्मणी (म० भा०)।

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥
(म० भा०)

अर्थ—ह्रस्व उकारान्त गुणवाची प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है। तकार तपरकरण के लिए है।

उदा० (1) पट्वी
पटु ङीष्। विभक्तिकार्य।

(2) पटुः
पक्ष में ङीष् नहीं हुआ।

(3) मृद्वी
मृदु ङीष्।

(4) मृदुः (पूर्ववत्)।

उतः अर्थात् ह्रस्व उकारान्त से पाक्षिक ङीष् होता है—

(5) शुचिरियम्।
'शुचि' गुणवाची है, परन्तु ह्रस्व उकारान्त नहीं है। अतः ङीष् नहीं हुआ।

गुणवच० अर्थात् गुणवाची प्रातिपदिक से ङीष् होता है—

(6) आखुः
यह ह्रस्व उकारान्त है, परन्तु गुणवाची नहीं है। अतः ङीष् नहीं हुआ।

वसुशब्दाद् गुणवचनात् ङीबाद्युदात्तार्थम्—'वसु' गुणवाची शब्द से ङीप् आदि उदात्त के लिए होता है—

(7) वस्वी (पूर्ववत्)।

खरुसंयोगोपधात् प्रतिषेधो वक्तव्यः—खरु प्रातिपदिक तथा संयोगोपध (= जिसकी उपधा में संयोग है) प्रातिपदिक से ङीष् नहीं होता है—

(8) खरुरियम्
ङीष् नहीं हुआ।

(9) पाण्डुरियम्
उपधा में संयोग है। ङीष् नहीं हुआ।

सत्त्वे निविशते—(गुण की परिभाषा इस प्रकार है) गुण द्रव्य में रहता है, उससे (अर्थात् द्रव्य से) पृथक् है। (वह) भिन्नजातीय है। (गुण) उत्पाद्य है तथा अनुत्पाद्य है। (इस प्रकार) गुण सत्त्वप्रकृति से भिन्न है।

(1295) बह्वादिभ्यश्च *45* (503)

बहु इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति। बहुः, बह्वी। बहु। पद्धति। अङ्कति। अञ्चति। अंहति। वंहति। शकटि। *शक्तिः शस्त्रे* (ग०सू० 48)। शारि। वारि। गति। अहि। कपि। मुनि। यष्टि। *इतः प्राण्यङ्गात्* (ग०सू० 49)। *कृदिकारादक्तिनः* (ग०सू० 50)। *सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके* (ग०सू० 51)। चण्ड। अराल। कमल। कृपाण। विकट। विशाल। विशङ्कट। भरुज। ध्वज। *चन्द्रभागान्नद्याम्* (ग०सू० 52)। कल्याण। उदार। पुराण। अहन्। बहुशब्दो गुणवचन एव, तस्येह पाठ उत्तरार्थः।

अर्थ—बह्वादि गणपठित अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) बह्वी
बहु ङीष्—विभक्तिकार्य।

(2) बहुः
पक्ष में ङीष् नहीं हुआ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

इतः प्राण्यङ्गात्—प्राणी के अंगवाची इकारान्त प्रातिपदिक से ङीष् विकल्प से होता है—

(3) धमनी।

(4) धमनिः—ङीष् नहीं हुआ।

कृदिकारादक्तिनः—कृत् का जो इकार, तदन्त प्रातिपदिक से ङीष् विकल्प से होता है, परन्तु क्तिन् से ङीष् नहीं होता—

(5) रात्री
रात्रि ङीष्—सवर्णदीर्घ, सु।

(6) रात्रिः
ङीष् नहीं हुआ।

सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके—कुछ आचार्यों के मत में क्तिन् वाची जो प्रत्यय, तदन्त सभी प्रातिपदिकों से ङीष् विकल्प से होता है—

(7) शकटी
ङीष् हुआ।

(8) शकटिः
ङीष् नहीं हुआ।

चन्द्रभागान्नद्याम्—नदी अर्थ में चन्द्रभाग शब्द से ङीष् होता है—

(9) चन्द्रभागी नदी
ङीष्, सु।

(1296) नित्यं छन्दसि *46* (3446)

बह्वादिभ्यश्छन्दसि विषये नित्यं स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वीषु हित्वा प्रपिबन्। बह्वी नाम औषधी भवति। नित्यग्रहणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—वेद के विषय में बह्वादि गणपठित अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से नित्य ङीष् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) बह्वी
बहु ङीष्—विभक्तिकार्य।

(1297) भुवश्च *47* (3447)

छन्दसि विषये स्त्रियां भुवो नित्यं ङीष् प्रत्ययो भवति। वि॒भ्वी (ऋ० 5.38.1) च। प्र॒भ्वी (ऋ० 1.188.5) च। शम्भ्वी च। इह कस्मान्न भवति–स्वयम्भूः? उत (4.1.44) इति तपरकरणमनुवर्त्तते। ह्रस्वादेवेयं पञ्चमी। 'भुव' इति सौत्रो निर्देशः।

अर्थ—वेद के विषय में 'भु' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से नित्य ङीष् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) विभ्वी (ऋ० 5.38.1)
विभु ङीष्—सु आदि।

(2) प्रश्वी (ऋ०1.188.5)
पूर्ववत्।

उत इति—'उतः' में तकार तपरकरण के लिए है। ह्रस्व उकार (भु) से पञ्चमी हुई है। 'भुवः' यह सौत्र निर्देश है।

(1298) पुंयोगादाख्यायाम् *48* (504)

पुंसा योगः पुंयोगः। पुंयोगाद्धेतोर्यत्प्रातिपदिकं स्त्रियां वर्त्तते पुंस आख्याभूतं तस्मात् ङीष् प्रत्ययो भवति। गणकस्य स्त्री गणकी। महामात्री। प्रष्ठी। प्रचरी। पुंसि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य सम्भवात् पुंशब्दा एते, तद्योगात्स्त्रियां वर्त्तन्ते। पुंयोगादिति किम्? देवदत्ता, यज्ञदत्ता। आख्याग्रहणं किम्? परिसृष्टा, प्रजाता। पुंयोगादेते शब्दाः स्त्रियां वर्तन्ते, न तु पुमांसमाचक्षते। *गोपालिकादीनां प्रतिषेधः* (म०भा०)। गोपालकस्य स्त्री गोपालिका। *सूर्याद्देवतायां चाब्वक्तव्यः* (म०भा०)। सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। देवतायामिति किम्? सूरी।

अर्थ—पुरुष के साथ सम्बन्ध के कारण पुँवाचक अदन्त शब्द से ङीष् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

यह प्रत्यय पति-पत्नीभाव दर्शाने के लिए होता है।

उदा० (1) गणकी
गणकस्य स्त्री—ङीष् हुआ,
गणकी—सु।

(2) महामात्री (पूर्ववत्)।
(3) प्रष्ठी
प्रष्ठ ङीष्—पूर्ववत्।

(4) प्रचरी
प्रचर ङीष्।

पुंसि—पुँल्लिंग में शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के सम्भव होने से ये पुँल्लिंग शब्द हैं, उनके योग्य से स्त्रीलिङ्ग में प्रत्यय होता है।

पुंयोगात् अर्थात् **पुरुष के साथ सम्बन्ध के कारण** ही ङीष् प्रत्यय होता है—

(5) देवदत्ता
पुंयोग नहीं है, किसी स्त्री का नाम है। ङीष् नहीं हुआ।

(6) यज्ञदत्ता (पूर्ववत्)।

आख्याग्र० अर्थात् पुंवाची शब्द से ही ङीष् होता है—

(7) परिसृष्टा
पुंयोग तो है, परन्त पुंवाची शब्द प्रयुक्त नहीं है। अतः ङीष् नहीं हुआ।

(8) प्रजाता (पूर्ववत्)।

पुंयोग के कारण इन शब्दों का स्त्रीलिंग में प्रयोग होता है।

गोपालिकादीनां प्रतिषेधः—गोपालिका आदि शब्दों में ङीष् नहीं होता है—

(9) गोपालिका
गोपालकस्य स्त्री—पुंयोग से प्राप्त ङीष् का निषेध हुआ,
गोपालक टाप्—अदन्तलक्षण टाप्, सु।

सूर्याद्देवतायां चाब्वक्तव्यः—देवता अर्थ में सूर्य शब्द से चाप् होता है—

(10) सूर्या
सूर्यस्य स्त्री देवता—ङीष् नहीं हुआ।
देवताया० अर्थात् **देवता अर्थ में ही चाप् होता है।**

(11) सूरी
सूर्यस्य पत्नी मानुषी → सूर्य ङीष्—चाप् नहीं हुआ,
सूर् इ—अकारलोप, 'सूर्यतिष्य०' से यकारलोप,
सूरी—सु।

(1299) इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् *49* (505)

इन्द्रादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति, आनुक्चागमः। येषामत्र पुंयोग एवेष्यते तेषामानुगागममात्रं विधीयते, प्रत्ययस्तु पूर्वेणैव सिद्धः। अन्येषां तूभयं विधीयते। इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी। *हिमारण्ययोर्महत्त्वे* (म०भा०)। महद्धिमं हिमानी। महदरण्यमरण्यानी। *यवाद्दोषे* (म०भा०) दुष्टो यवो यवानी। *यवनाल्लिप्याम्* (म०भा०) यवनानां लिपिर्यवनानी। *उपाध्यायमातुलाभ्यां वा* (म०भा०)। उपाध्यायी, उपाध्यायानी। मातुली, मातुलानी। *आचार्यादणत्वं च* (म०भा०)। आचार्यानी। आचार्या। *अर्यक्षत्रियाभ्यां वा* (म०भा०)। अर्याणी, अर्या। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया। विना पुंयोगेन स्वार्थ एवायं विधिः। पुंयोगे तु ङीषैव भवितव्यम्–अर्यी, क्षत्रियी। *मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च* (म०भा०)। रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ (ऋ० 10.102.2)।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् आगम होते हैं। उकार व ककार की इत्संज्ञा होती है। ङीष् प्रत्यय पुंयोग की दशा में पूर्वसूत्र से ही सिद्ध था, आनुक् आगम पुंयोग में ही होता है। अन्य प्रातिपदिकों से दोनों होते हैं।

उदा० (1) इन्द्राणी
इन्द्रस्य पत्नी → इन्द्र आनुक् ङीष्—ङीष् व आनुक्,
इन्द्रानी → इन्द्राणी—अट्कुप्वाङ्नुम्० से णत्व,
इन्द्राणी—सु।

(2) वरुणानी
वरुणस्य भार्या—पूर्ववत्।

(3) भवानी
भवस्य पत्नी।

(4) शर्वाणी
शर्वस्य पत्नी।

(5) रुद्राणी
रुद्रस्य पत्नी।

(6) मृडानी
मृडस्य पत्नी।

हिमारण्ययोर्महत्त्वे—महत्व अर्थ में हिम और अरण्य शब्दों से ङीष् व आनुक् होते हैं—

(7) हिमानी
महद् हिमम्।

(8) अरण्यानी
महत् अरण्यम्।

यवाद् दोषे—दोष अर्थ में 'यव' शब्द से ङीष् व आनुक् होते हैं—

(9) यवानी
दुष्टो यवः।

यवनाल्लिप्याम्—लिपिविशेष के वाच्य होने पर 'यवन' से ङीष् तथा आनुक् होते हैं—

(10) यवनानी
यवनानां लिपिः—पूर्ववत्।

उपाध्यायमातुलाभ्यां वा—मातुल और उपाध्याय शब्दों से ङीष् प्रत्यय होता है तथा विकल्प से आनुक् होता है—

(11) मातुलानी
ङीष् व आनुक्।

(12) मातुली
आनुक् का अभाव, ङीष्।

(13) उपाध्यायानी
ङीष् व आनुक्।

(14) उपाध्यायी
आनुक् का अभाव, ङीष्।

आचार्यादणत्वं च—आचार्य शब्द से विहित आनुक् के नकार को णत्व नहीं होता है—

(15) आचार्यानी
आचार्यस्य पत्नी।

(16) आचार्या—पक्ष में

अर्यक्षत्रियाभ्यां वा—अर्य और क्षत्रिय शब्दों से विकल्प से ङीष् होता है—

(17) अर्याणी
ङीष् व आनुक्।

(18) अर्या
टाप् हुआ।

(19) क्षत्रियाणी
पूर्ववत् ङीष् व आनुक्।

(20) क्षत्रिया
टाप्।

(21) क्षत्रियी
पुंयोग में।

(22) अर्यी
पुंयोग में।

मुद्गलाच्छन्दसि लिच्च—वेद के विषय में मुद्गल शब्द से ङीष् प्रत्यय व आनुक् आगम होते है तथा लिद्वत् होते हैं—

(23) मुद्गलानी (ऋ०10.102.2)
मुद्गल आनुक् ङीष्—लित् होने से उदात्त हुआ।

(1300) क्रीतात् करणपूर्वात् *50* (506)

करणं पूर्वमस्मिन्निति करणपूर्वं प्रातिपदिकम्। क्रीत-

शब्दान्तात् प्रातिपदिकात्करणपूर्वात्स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। वस्त्रेण क्रीयते सा वस्त्रक्रीती। वसनक्रीती। करणपूर्वादिति किम्? सुक्रीता, दुष्क्रीता। इह कस्मान्न भवति–

'सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।' इति?

टाबन्तेन समासः, अत इति चानुवर्त्तते। *गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः* (म०भा०) इति, बहुलं तदुच्यते–'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' (2.1.32) इति।

अर्थ—अन्त में है जिसके 'क्रीत' शब्द तथा करणवाची शब्द है पूर्वपद में जिसके, ऐसे अदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा०—(1) वस्त्रक्रीती
वस्त्रैः क्रीयते (अथवा क्रीता)—ङीष्,
वस्त्रक्रीती सु—विभक्तिकार्य।

(2) वसनक्रीती (पूर्ववत्)।

करणपूर्व० अर्थात् पूर्वपद में है करणवाची शब्द जिसके, ऐसे शब्द से ङीष् होता है—

(3) सुक्रीता
'क्रीत' शब्द अन्त में है, परन्तु पूर्वपद में करणवाची शब्द नहीं है। अतः ङीष् नहीं हुआ। टाप् हुआ।

(4) दुष्क्रीता
पूर्ववत् टाप्।

(5) धनक्रीता

यहाँ ङीष् नहीं हुआ। यहाँ 'अतः' पद का अनुवर्त्तन है। यहाँ 'क्रीत' शब्द से सुप् की उत्पति से पूर्व ही 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इस परिभाषा के द्वारा 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्र के द्वारा समास होता है। चूँकि समासविधायक सूत्र में 'बहुलम्' पद का न्यास है। अतः पूर्वोक्त परिभाषा का क्वचित् आश्रयण नहीं होता है।

फलतः 'सह सुपा' के अधिकार में समास होकर 'क्रीत' शब्द से सुबुत्पत्ति से पूर्व स्त्री प्रत्यय हुआ। तब धन टा क्रीता सु— इस अलौकिक विग्रह में सुप् लुक् हुआ। धन क्रीता सु— धनक्रीता।

(1301) क्तादल्पाख्यायाम् *51* (507)

करणपूर्वादित्येव। करणपूर्वात्प्रातिपदिकात् क्तान्तादल्पाख्यायां ङीष् प्रत्ययो भवति। अल्पाख्यायामिति समुदायोपाधिः। अभ्रविलिप्ती द्यौः। सूपविलिप्ती पात्री। अल्पसूपेत्यर्थः। अल्पाख्यायामिति किम्? चन्दनानुलिप्ता ब्राह्मणी।

अर्थ—जिसके पूर्व पद में करणवाची शब्द है तथा अन्त में क्तान्त पद है, ऐसे अदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है, यदि 'अल्प' अर्थ हो।

उदा० (1) अभ्रविलिप्ती
अभ्रेण विलिप्ती—ङीष् हुआ, विभक्तिकार्य।

(2) सूपविलिप्ती (पूर्ववत्)।

अल्पाख्या० अर्थात् अल्प अर्थ में ही ङीष् होता है—

(3) चन्दनानुलिप्ता

यहाँ करणवाची 'चन्दन' शब्द है, अन्त में क्तान्त है; परन्तु अल्प अर्थ गम्यमान नहीं है। अतः ङीष् नहीं हुआ। टाप् हुआ।

(1302) बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् *52* (508)

क्तादित्येव। बहुव्रीहिर्योऽन्तोदात्तस्तस्मात्स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। स्वाङ्गपूर्वपदो बहुव्रीहिरिहोदाहरणम्। अस्वाङ्गपूर्वपदाद्विकल्पं (4.1.53) वक्ष्यति। शङ्खभिन्नी। ऊरुभिन्नी। गलकोत्कृत्ती। केशलूनी। बहुव्रीहेरिति किम्। पादपतिता। *अन्तोदात्तज्जातप्रतिषेधः* (म० भा०)। दन्तजाता। स्तनजाता। *पाणिगृहीत्यादीनामर्थविशेषे* (म०भा०)। पाणिगृहीती भार्या। यस्यास्तु कथञ्चित्पाणिर्गृह्यते पाणिगृहीता सा भवति। *अबहुनञ्सुकालसुखादिपूर्वादिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। बहुकृता। नञ्–अकृता। सु–सुकृता। काल–मासजाता, संवत्सरजाता। सुखादि–सुखजाता, दुःखजाता। 'जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात्' (6.2.170) इत्येवमादिना बहुव्रीहेरन्तोदात्तत्वम्।

अर्थ—बहुव्रीहिसंज्ञक क्तप्रत्ययान्त अन्तोदात्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होता है। स्वांग के पूर्वपद रहते जो बहुव्रीहि, वह उदाहरण होता है। स्वांग से भिन्न शब्द के पूर्वपद में रहते विकल्प कहा जायेगा।

उदा० (1) शङ्खभिन्नी
शङ्खं भिन्नम् अस्याः—समास हुआ, ङीष् हुआ,
शङ्खभिन्न ङीष्—पूर्ववत्,
शङ्खभिन्नी—विभक्तिलोप।

(2) ऊरुभिन्नी (पूर्ववत्)।
(3) गलकोत्कृत्ती (पूर्ववत्)।
(4) केशलूनी (पूर्ववत्)।

बहुव्रीहे० अर्थात् बहुव्रीहिसंज्ञक शब्द से ङीष् होता है—

(5) पादपतिता
पादाभ्यां पतिता—बहुव्रीहि नहीं है, अतः ङीष् नहीं हुआ।

अन्तोदात्ताज्जातप्रतिषेधः अर्थात् 'जात' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे अन्तोदात्त शब्द से ङीष् नहीं होता है—

(6) दन्तजाता
जाता दन्ता यस्याः सा—समास हुआ, ङीष् नहीं हुआ।

(7) स्तनजाता (पूर्ववत्)।

पाणिगृहीत्यादिनामर्थविशेषे—अर्थविशेष में पाणिगृहीती आदि में ङीष् होता है—

(8) पाणिगृहीती
ङीष् हुआ।

यदि विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया गया हो तो उस स्त्री को 'पाणिगृहीती' कहते हैं।

अबहुनञ्सुकालसुखादिपूर्वा०—जिसके पूर्वपद में बहु, नञ्, सु, काल तथा सुख आदि शब्द नहीं है, ऐसे बहुव्रीहिसंज्ञक अन्तोदात्त क्तप्रत्ययान्त अदन्त प्रातिपदिक से ङीष् होता है—

(9) बहुकृता
बहूनि कृतान्यनया—ङीष् नहीं हुआ।

(10) अकृता
न कृतमनया।

(11) सुकृता
शोभनं कृतमनया।

(12) मासजाता
मासो जातोऽस्याः।

(13) संवत्सरजाता (पूर्ववत्)।
(14) सुखजाता
सुखं जातमनया।

(15) दुःखजाता (पूर्ववत्)।

जाति, काल व सुख आदि से बहुव्रीहि की अन्तोदात्तता होती है।

(1303) अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा *53* (509)

अन्तोदात्तात्, क्तान्तादित्यनुवर्त्तते। अस्वाङ्गपूर्वपदादन्तोदात्तात् क्तान्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। शार्ङ्गजग्धी, शार्ङ्गजग्धा। पलाण्डुभक्षिती, पलाण्डुभक्षिता। सुरापीती, सुरापीता। अस्वाङ्गपूर्वपदादिति किम्? शङ्खभिन्नी, ऊरुभिन्नी। अन्तोदात्तादित्येव-वस्त्रच्छन्ना, वसनच्छन्ना। *बहुलं संज्ञाछन्दसोरिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। प्रवृद्धविलूनी। प्रवृद्धविलूना। प्रवृद्धा चासौ विलूना चेति। नायं बहुव्रीहिः।

अर्थ—स्वाङ्गवाची नहीं है पूर्वपद में जिसके तथा उत्तरपद में है क्तप्रत्ययान्त शब्द जिसके, ऐसे बहुव्रीहिसंज्ञक अन्तोदात्त प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है।

उदा० (1) शार्ङ्गजग्धी
शार्ङ्गं जग्धमनया—शार्ङ्ग शब्द स्वांगवाची नहीं है, ङीष् हुआ, शार्ङ्गजग्धी—विभक्तिकार्य।

(2) शार्ङ्गजग्धा
पक्ष में ङीष् नहीं हुआ।

(3) पलाण्डुभक्षिती
पूर्ववत् ङीष्।

(4) पलाण्डुभक्षिता
पक्ष में टाप् नहीं हुआ।

(5) सुरापीती
ङीष् हुआ।

(6) सुरापीता
टाप् हुआ।

अस्वाङ्ग अर्थात् स्वांग नहीं है पूर्वपद में, ऐसे प्रातिपदिक से पाक्षिक ङीष् होता है—

(7) शङ्खभिन्नी
नित्य ङीष् हुआ।

(8) ऊरुभिन्नी
नित्य ङीष् हुआ।

अन्तोदात्तात्० अर्थात् अन्तोदात्त प्रातिपदिक से पाक्षिक ङीष् होता है—

(9) वस्त्रच्छन्ना

वस्त्रं छन्नं यया—बहुव्रीहि समास है, अदन्त प्रातिपदिक है, उत्तरपद में क्तप्रत्ययान्त 'छन्न' है, पूर्वपद में स्वाङ्गवाची शब्द नहीं है, 'छन्न' शब्द अन्तोदात्त नहीं है,

वस्त्रच्छन्ना—ङीष् नहीं हुआ, टाप् हुआ।

बहुलं—संज्ञा और वेद के विषय में प्रकृत सूत्र का कार्य बहुलता से प्रसक्त होता है—

(10) प्रवृद्धविलूनी
पाक्षिक ङीष् हुआ।

(11) प्रवृद्धविलूना
पक्ष में टाप् हुआ।

(1304) स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् *54* (510)

बहुव्रीहेः, क्तान्तादन्तोदात्तादिति सर्वं निवृत्तम्। वाग्रहण-मनुवर्तते। स्वाङ्गं यदुपसर्जनमसंयोगोपधं तदन्तात् प्रातिपदिकात्स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। अतिक्रान्ता केशान् अतिकेशी, अतिकेशा माला (म० भा०)। स्वाङ्गादिति किम्? बहुयवा। उपसर्जनादिति किम्? अशिखा। असंयोगोपधादिति किम्? सुगुल्फा, सुपार्श्वा। *अङ्गगात्रकण्ठेभ्य इति वक्तव्यम्*। मृद्वङ्गा, मृद्वङ्गी। सुगात्री, सुगात्रा। स्निग्धकण्ठी, स्निग्धकण्ठा।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तस्य चेत्तत्तथायुतम्॥
(म० भा०)

अर्थ—असंयोगोपध (= जिसकी उपधा में संयोग न हो) उपसर्जन, स्वाङ्गवाची जो शब्द, तदन्त अदन्त प्रातिपदिक से ङीष् विकल्प से होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

'स्वाङ्ग' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। काशिका में इसका लक्षण निम्नलिखित कारिका में निबद्ध किया गया है।

(क) अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्—

(1) जो द्रव (तरल) न हो—'कफ़' व 'स्वेद' तरल है। अतः स्वाङ्ग नहीं है।

(2) जो दृश्य हो—'ज्ञान' दृश्य न होने से स्वाङ्ग नहीं होता।

(3) प्राणियों में स्थित हो—केश, मुख, स्तन, पाणि, नयन इत्यादि।

(4) विकार से उत्पन्न न हो—शोफ (=सूजन) विकारज है। अतः 'स्वाङ्ग' नहीं है।

जहाँ उपर्युक्त चारो विशेषण घटित होते हैं, उसे 'स्वाङ्ग' कहा जाता है।

(ख) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च—यह 'स्वाङ्ग' का दूसरा लक्षण है—

(1) चाहे वर्त्तमान में प्राणियों में स्थित न हो, परन्तु
(2) प्राणियों में देखा अवश्य गया हो। यथा—
सुकेशी सुकेशा वा रथ्या (= सुन्दर केशों वाली गली)।

यद्यपि गली में पड़े हुये केश सम्प्रति प्राणी में स्थित नहीं हैं, तदपि वे पूर्वकाल में प्राणियों में स्थित अवश्य थे। अतः इन्हें 'स्वाङ्ग' कहा जायेगा।

(ग) तेन चेत् तत् तथायुतम्—

अर्थात् जैसा यह 'स्वाङ्ग' प्राणी में स्थित होता है यदि वैसा अन्यत्र स्थित हो तो—उसे 'स्वाङ्ग' कहा जाता है। यथा—किसी प्रतिमा का हाथ, स्तन इत्यादि हुआ।

उदा० (1) चन्द्रमुखी
चन्द्र इव मुखं यस्याः—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास, 'मुख' स्वाङ्गवाची शब्द है, इसके उपधा में संयोग नहीं है, उपसर्जन व अदन्त है, ङीष् हुआ,
चन्द्रमुखी—विभक्तिकार्य।

(2) चन्द्रमुखा
पक्ष में टाप् हुआ।

(3) अतिकेशी
अतिक्रान्ता केशान्—'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' (वा०) से समास। ङीष्। फलतः सुस्तना, प्रतिमा प्रयोग सिद्ध होता है।

(4) अतिकेशा
पक्ष में टाप् हुआ।

स्वाङ्गात् अर्थात् स्वाङ्गवाची शब्द, तदन्त से पाक्षिक ङीष् होता है—

(5) बहुयवा
ङीष् नहीं हुआ। बहवो यवा यस्याः सा।

उपसर्जना० अर्थात् उपसर्जन शब्द से ही ङीष् होता है—

(6) अशिखा

न शिखा—तत्पुरुष समास है, ङीष् नहीं हुआ।

असंयोगो अर्थात् जिसके उपधा में संयोग नहीं है, ऐसे प्रातिपदिक से पाक्षिक ङीष् होता है—

(7) सुगुल्फा

गुल्फ—इसके उपधा में संयोग (ल्फ्) है। अतः ङीष् नहीं हुआ।

(8) सुपार्श्वा

पूर्ववत् टाप् हुआ।

अङ्गगात्र०—अंग, गात्र व कण्ठ—ये शब्द जिस अदन्त प्रातिपदिक के अन्त में हों, उस प्रातिपदिक से भी पाक्षिक ङीष् होता है—

(9) मृद्वङ्गी

मृदूनि अङ्गानि यस्याः या—ङीष् हुआ।

(10) मृद्वङ्गा

पक्ष में टाप् हुआ।

(11) सुगात्री

पूर्ववत् ङीष् हुआ।

(12) सुगात्रा

टाप् हुआ।

(13) स्निग्धकण्ठी

ङीष् हुआ।

(14) स्निग्धकण्ठा

टाप् हुआ।

(1305) नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च *55* (511)

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादित्येव। बह्वज्लक्षणे संयोगोपधलक्षणे च प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम्। सहनञ्विद्यमानलक्षणस्तु प्रतिषेधो भवत्येव। नासिकाद्यन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति। तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका। तिलोदरी, तिलोदरा। बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा। दीर्घजङ्घी, दीर्घजङ्घा। समदन्ती, समदन्ता। चारुकर्णी, चारुकर्णा। तीक्ष्णशृङ्गी, तीक्ष्णशृङ्गा। *पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। कल्याणपुच्छी, कल्याणपुच्छा। *कबरमणिविषशरेभ्यो नित्यम्* (म०भा०)। कबरपुच्छी। मणिपुच्छी। विषपुच्छी। शरपुच्छी। *उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च* (म०भा०)। उलूकपक्षी सेना। उलूकपुच्छी शाला।

अर्थ—नासिका, उदर, ओष्ठ, जंघा, दन्त, कर्ण और शृङ्ग—ये स्वांगवाची उपसर्जन शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। पक्ष में टाप् होता है।

उदा० (1) तुङ्गनासिकी

तुङ्गे नासिके यस्याः सा—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास, 'नासिका' को उपसर्जनह्रस्व हुआ,

तुङ्गनासिक—पुँवद्भाव, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्ज०' से पाक्षिक ङीष्, 'न क्रोडादिबह्व०' से निषेध, प्रकृत सूत्र से पाक्षिक ङीष्,

तुङ्गनासिकी—सु।

(2) तुङ्गनासिका

पक्ष में—टाप्।

(3) तिलोदरी

पूर्ववत् समास आदि, 'न क्रोडादिबह्वच०' से ङीष् का निषेध, तब पाक्षिक ङीष् हुआ।

(4) तिलोदरा

पक्ष में—टाप्।

(5) बिम्बोष्ठी

'ओष्ठ' शब्द के संयोगोपध होने से पाक्षिक ङीष् प्राप्त नहीं था।

(6) बिम्बोष्ठा

पक्ष में—टाप्।

(7) बिम्बोष्ठी

'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' (वा०) से पाक्षिक पररूप होता है। पक्ष में वृद्धि होती है।

(8) बिम्बौष्ठा

वृद्धि, टाप्।

(9) दीर्घजङ्घी

दीर्घे जङ्घे यस्याः सा—पुँवद्भाव, उपसर्जन ह्रस्व, ङीष्।

(10) दीर्घजङ्घा

टाप्।

(11) समदन्ती

ङीष्। समा दन्ता यस्याः सा। 'दन्त' शब्द संयोगोपध है।

(12) समदन्ता
टाप्।

(13) चारुकर्णी
चारू कर्णौ यस्याः सा—'कर्ण' शब्द संयोगोपध है।

(14) चारुकर्णा
पक्ष में टाप्।

(15) तीक्ष्णशृङ्गी
पूर्ववत् ङीष्।

(16) तीक्ष्णशृङ्गा
पूर्ववत् टाप्।

पुच्छाश्चेति वक्तव्यम्—पुच्छ शब्द से पाक्षिक ङीष् होता है—

(17) कल्याणपुच्छी
ङीष् हुआ।

(18) कल्याणपुच्छा
टाप् हुआ।

कबरमणिविषशरेभ्यो नित्यम्—कबर, मणि, विष तथा शर शब्दों से उत्तर जो पुच्छ शब्द, तदन्त प्रातिपदिक से नित्य ङीष् होता है—

(19) कबरपुच्छी
ङीष् हुआ।

(20) मणिपुच्छी
ङीष् हुआ।

(21) विषपुच्छी
ङीष् हुआ।

(22) शरपुच्छी
ङीष् हुआ।

उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च—उपमानवाची उत्तरपद में स्थित पक्ष व पुच्छ शब्द से नित्य ङीष् होता है—

(23) उलूकपुच्छी
ङीष् हुआ।

(24) उलूकपुच्छी
ङीष् हुआ।

(1306) न क्रोडादिबह्वच *56* (512)

'स्वाङ्गात्' इति ङीष् प्राप्तः प्रतिषिध्यते। क्रोडाद्यन्ताद् बह्वजन्ताच्च प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो न भवति। कल्याणक्रोडा। कल्याणखुरा। कल्याणोखा। कल्याणबाला। कल्याणशफा। कल्याणगुदा। कल्याणघोणा। कल्याणनखा। कल्याणमुखा। क्रोडादिराकृतिगणः। सुभगा। सुगला। बह्वचः खल्वपि–पृथुजघना, महाललाटा।

अर्थ—क्रोडादि गणपठित उपसर्जनसंज्ञक स्वांगवाची जो शब्द तथा दो से अधिक अच् वाला स्वांगवाची उपसर्जनसंज्ञक जो शब्द, तदन्त अदन्त प्रातिपदिक से ङीष् नहीं होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) कल्याणक्रोडा
कल्याणी क्रोडा यस्याः सा—अदन्तलक्षण टाप् हुआ।

(2) कल्याणखुरा
पूर्ववत् टाप्।

(3) कल्याणोखा
पूर्ववत् टाप्।

(4) कल्याणबाला (पूर्ववत्)।
(5) कल्याणशफा (पूर्ववत्)।
(6) कल्याणगुदा (पूर्ववत्)।

(7) कल्याणघोणा
पूर्ववत् टाप्।

(8) कल्याणमुखा
पूर्ववत् टाप्।

(9) सुभगा
पूर्ववत् टाप्।

(10) सुगला
पूर्ववत् टाप्।

(11) पृथुजघना
'जघन' बह्वच् है।

(12) महाललाटा
'ललाट' बह्वच् है।

(1307) सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च *57* (513)

'स्वाङ्गाच्चोपसर्जननात्' (4.1.54) इति 'नासिकोदरौष्ठजङ्घ' (4.1.55) इति च प्राप्तो ङीष्प्रतिषिध्यते। सह, नञ्, विद्यमान–इत्येवंपूर्वात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो न भवति। सकेशा। अकेशा। विद्यमानकेशा। सनासिका। अनासिका। विद्यमाननासिका।

अर्थ—सह, नञ् तथा विद्यमान—ये शब्द पूर्वपद में विद्यमान हों तथा स्वाङ्गवाची उपसर्जन शब्द उत्तरपद में हों तो ऐसे प्रातिपदिक से ङीष् नहीं होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) सकेशा

सह केशा यस्याः—'तेन सहेति तुल्य०' से समास, 'वोपसर्जनस्य' से 'सह' को 'स' आदेश, 'स्वाङ्गाच्चोप०' से पाक्षिक ङीष् प्राप्त हुआ, निषेध हुआ,

सकेशा—टाप् तथा सु।

(2) अकेशा

अविद्यमानाः केशा यस्याः सा—'नञ्' तथा 'अस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा' 2.2.24 (वा०) से समास,

अकेशा—पूर्ववत् टाप्।

(3) विद्यमानकेशा

विद्यमानाः केशा यस्याः सा—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास।

(4) सनासिका (पूर्ववत्)।

(5) अनासिका (पूर्ववत्)।

(6) विद्यमाननासिका (पूर्ववत्)।

(1308) नखमुखात् संज्ञायाम् *58* (514)

नखमुखान्तात् प्रातिपदिकात् संज्ञायां स्त्रियां विषये ङीष् प्रत्ययो न भवति। शूर्पणखा। वज्रणखा। गौरमुखा। कालमुखा। संज्ञायामिति किम्? ताम्रनखी कन्या, चन्द्रमुखी।

अर्थ—उपसर्जनसंज्ञक व स्वांगवाची 'नख' शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से संज्ञा गम्यमान हो तो ङीष् नहीं होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा०—(1) शूर्पणखा

शूर्पाणीव नखानि यस्याः—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्ज०' से ङीष् प्राप्त, ङीष् का निषेध, 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञाया०' से णत्व, टाप्, सु।

(2) वज्रणखा (पूर्ववत्)।

(3) गौरमुखा

गौरं मुखं यस्याः—ङीष् का निषेध, टाप् तथा विभक्तिकार्य होकर।

(4) कालमुखा (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा गम्यमान हो तो ङीष् नहीं होता है—

(5) ताम्रनखी

यहाँ संज्ञा गम्यमान नहीं है, अपि‌ु यह एक विशेषण है। अतः ङीष् का निषेध नहीं हुआ।

(6) चन्द्रमुखी (पूर्ववत्)।

(1309) दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि *59* (3448)

दीर्घजिह्वी इति छन्दसि (ऐ०ब्रा० 8.4) विषये निपात्यते। संयोगोपधत्वादप्राप्तो ङीष् विधीयते। दीर्घजिह्वी वै देवानां हव्यमवालेट् (मै०सं० 3.10.6)। चकारः संज्ञानुकर्षणार्थः। दीर्घजिह्वीति निपातनं नित्यार्थम्।

अर्थ—वेद के विषय में ङीष् प्रत्ययान्त 'दीर्घजिह्वी' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) दीर्घजिह्वी (मै०सं०3.10.6)

दीर्घा जिह्वा यस्याः—समास हुआ,

दीर्घजिह्व—उपसर्जन को ह्रस्वत्व, पुंवद्भाव, 'जिह्व' शब्द के संयोगोपध होने से ङीष् प्राप्त नहीं था, निपातन से ङीष् हुआ।

(1310) दिक्पूर्वपदान्ङीप् *60* (515)

'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' (4.1.54) इत्येवमादिविधिप्रतिषेधविषयः सर्वोऽप्यपेक्ष्यते। यत्र ङीष् विहितस्तत्र तदपवादः। दिक्पूर्वपदात्प्रातिपदिकाद् ङीप् प्रत्ययो भवति। स्वरे विशेषः। प्राङ्मुखी, प्राङ्मुखा। प्राङ्नासिकी, प्राङ्नासिका। इह न भवति-प्राग्गुल्फा, प्राक्क्रोडा, प्राग्जघनेति।

अर्थ—दिक्वाची शब्द है पूर्वपद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। ङीप् व ङीष् में स्वर का भेद है। इसमें 'स्वाङ्गाच्चोप०' इत्यादि सूत्रों के द्वारा प्राप्त विधि एवं निषेध सभी की अपेक्षा है।

उदा०—(1) प्राङ्मुखी

यहाँ ङीप् हुआ। विभक्तिकार्य। परसवर्ण आदि कार्य।

(2) प्राङ्मुखा

पक्ष में टाप्।

(3) प्राङ्नासिकी

ङीप् हुआ।

(4) प्राङ्नासिका

पक्ष में टाप्।

(5) प्राग्गुल्फा

'स्वाङ्गाच्चोपसर्ज०' से 'गुल्फ' के संयोगोपध होने से ङीप् का निषेध हुआ। तब टाप् हुआ।

(6) प्राक्क्रोडा
'न क्रोडादि०' के द्वारा ङीष् का निषेध होकर सामान्य टाप् प्रत्यय होता है।

(7) प्रागुजघना
'जघन' शब्द के 'बह्वच्' होने से 'न क्रोडादिबह्वच्०' के द्वारा निषेध, टाप् हुआ।

(1311) वाहः *61* (516)

ङीषेव स्वर्यते, न ङीप्। वहेरयं ण्विप्रत्ययान्तस्य निर्देशः। सामर्थ्यात्तदन्तविधेर्विज्ञानम्। वाहन्तात्प्रातिदिकात्स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। दित्यौही (तै०सं० 4.7.10.1)। प्रष्ठौही।

अर्थ—'वाह' है अन्त में जिसके, ऐसे अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् होता है, वेद के विषय में। 'वहश्च' से 'ण्वि' प्रत्यय करके 'वाहः' ऐसा निर्देश किया गया है।

उदा० (1) दित्यौही (वा.सं०18.16)
दित्यं वहतीति—कर्मण्यण्, वहश्च,
दित्यवह् ण्वि—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षण०, अत उपधायाः, प्रातिपदिक संज्ञा, ङीष्, यचि भम्, भस्य,
दित्य ऊठ् ह ई—वाह ऊठ्,
दित्यौह ई—एत्येधत्यूठ०';
दित्यौही—विभक्तिकार्य।

(2) प्रष्ठौही (वा०सं०18.27)
पूर्ववत्।

(1312) सख्यशिश्वीति भाषायाम् *62* (517)

सखी, अशिश्वी-इत्येतौ शब्दौ ङीषन्तौ भाषायां निपात्येते। सखीयं मे ब्राह्मणी। नास्याः शिशुरस्तीति अशिश्वी। भाषायामिति किम्? सखा सप्तपदी भव (आश्व०गृ० 1.7.19)। अशिशुमिव मामयं शिशुरभिमन्यते।

अर्थ—लोक में सखी और अशिश्वी शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) सखी
सखि ङीष्—भसंज्ञा, इकारलोप, सु।

(2) अशिश्वी
अविद्यमानः शिशुर्यस्याः—बहुव्रीहि समास, ङीष्, इको यणचि, अशिश्वी—सु।

(1313) जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् *63* (518)

जातिवाचि यत्प्रातिपदिकं न च स्त्रियामेव नियतमस्त्रीविषयमयकारोपधं च तस्मात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति।

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥
(म०भा०)

कुक्कुटी। सूकरी। मयूरी। ब्राह्मणी। वृषली। नाडायनी। चारायणी। कठी। बह्वृची। जातेरिति किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयादिति किम्? मक्षिका। अयकारोपधादिति किम्? क्षत्रिया। *योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमत्स्यमनुष्याणामप्रतिषेधः* (म०भा०)। हयी। गवयी। मुकयी। मत्सी। मनुषी।

अर्थ—जातिवाची प्रातिपदिक जो स्त्रीलिंग में ही नियत रूप से स्त्रीविषय न हो तथा जिसके उपधा में यकार न हो, ऐसे शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

आकृतिग्रहणा०—आकार अर्थात् अवयवसन्निवेश से व्यक्त होने वाली को 'जाति' कहा जाता है। परन्तु वह जाति सभी लिंगों में दृष्टिगोचर नहीं होती है।

एक व्यक्ति में कह देने से (अन्य में कथन के विना भी) जाति समझ ली जाती है। चरण के साथ गोत्र अर्थात् गोत्र और चरण—ये दोनों भी जातिकार्य को प्राप्त करते हैं।

इनके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

उदा०—(1) कुक्कुटी
कुक्कुट ङीप्—अकारलोप। सु।

(2) सूकरी
सूकर ङीप्—पूर्ववत्।

(3) ब्राह्मणी (पूर्ववत्)।
(4) वृषली (पूर्ववत्)।
(5) नाडायनी (पूर्ववत्)।
(6) चारायणी (पूर्ववत्)।
(7) कठी
कठ ङीप्।
(8) बह्वृची
बह्वृच ङीप्।

जातेः अर्थात् जातिवाची से ङीष् होता है—

(9) मुण्डा

मुण्ड टाप्—'मुण्ड' जातिवाचक नहीं है, ङीष् नहीं हुआ,
मुण्डा—टाप्, सु।

अस्त्री० अर्थात् जो नित्य स्त्रीलिङ्ग न हो, ऐसे प्रातिपदिक से ङीष् होता है—

(10) मक्षिका
मक्षिका—यह नित्य स्त्रीलिंग है, अतः ङीष् नहीं हुआ।

(11) बलाका (पूर्ववत्)।

अयकारो० अर्थात् यकार नहीं है उपधा में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ङीष् होता है—

(12) क्षत्रिया

क्षत्रिय—'क्षत्रिय' शब्द जातिवाचक है, नित्य स्त्रीलिंग नहीं है, परन्तु यकारोपध है। अतः ङीष् नहीं हुआ।

योपधप्रतिषेधे०—हय, गवय, मुकय, मत्स्य तथा मनुष्य — इनकी उपधा में यकार होने पर भी ङीष् होता है—

(13) हयी
हय ङीष्।

(14) गवयी (पूर्ववत्)।
(15) मुकयी
मुकय ङीष्।

(16) मत्सी
मत्स्य ङीष्—अकारलोप 'मत्स्यस्य ङ्याम्०' (वा०) से यकारलोप, मत्स् ई → मत्सी—विभक्तिकार्य।

(17) मनुषी
मनुष्य ङीष्—'हलस्तद्धितस्य' से यकारलोप।

(1314) पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलबालोत्तरपदाच्च *64* (519)

पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। स्त्रीविषयत्वादेतेषां पूर्वेणाप्राप्तः प्रत्ययो विधीयते। ओदनपाकी। शङ्कुकर्णी। शालपर्णी। शङ्खपुष्पी। दासीफली। दर्भमूली। गोबाली। पुष्पफलमूलोत्तरपदात्तु यतो नेष्यते तदजादिषु पठ्यते—'सत्प्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्' (ग०सू० 53), 'सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्' (ग० सू० 54), 'मूलान्नञः' (ग०सू० 55) इति।

अर्थ—पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल तथा बाल—ये शब्द हैं उत्तरपद में जिसके, ऐसे जातिवाचक प्रातिपदिक से ङीष् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) ओदनपाकी
ओदनस्य पाक इव पाको यस्याः—ङीष् हुआ,
ओदनपाकी—सु।

(2) शङ्कुकर्णी
शङ्कुरिव कर्णौ यस्याः—ङीष् हुआ,
शङ्कुकर्णी—सु।

(3) शालपर्णी (पूर्ववत्)।
(4) शङ्खपुष्पी (पूर्ववत्)।
(5) दासीफली
दासीफल ङीष्—ङीष् हुआ,
दासीफली—सु।
(6) दर्भमूली
दर्भमूल ङीष्—पूर्ववत्,
दर्भमूली—सु।
(7) गोबाली (पूर्ववत्)।

पुष्प०—जिन प्रातिपदिकों से उत्तर पुष्प, फल तथा मूल शब्द हैं तथा ङीष् अपेक्षित नहीं है, उनका अजादिगण में पाठ है। यथा—

सत्प्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात् (गणसूत्र) 4.1.4
सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात् (गणसूत्र) 4.1.4
मूलान्नञः (गणसूत्र) 4.1.4

(1315) इतो मनुष्यजातेः *65* (520)

इकारान्तात्प्रातिपदिकान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। अवन्ती। कुन्ती। दाक्षी। प्लाक्षी। इत इति किम्? विद्, दरत्। मनुष्यग्रहणं किम्? तित्तिरिः। जातेरिति वर्त्तमाने पुनर्जातिग्रहणं योपधादपि यथा स्यात्— औदमेया। *इञ उपसंख्यानमजात्यर्थम्* (म०भा०)। सौतङ्गमी। मौनचित्ती। सुतङ्गमादिभ्यश्चातुरर्थिक इञ् न जातिः।

अर्थ—मनुष्य जातिवाची, ह्रस्व इकारान्त, अनुपसर्जन प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) अवन्ती
अवन्ति—मनुष्य जातिवाची है, ह्रस्व इकारान्त है, अनुपसर्जन है, अतः ङीष् हुआ,

अवन्ती—सु।

(2) कुन्ती (पूर्ववत्)।

(3) दाक्षी
दक्षस्याऽपत्यं स्त्री—इस अर्थ में,
दक्ष इञ्—अत इञ्,
दाक्षि ङीष्—ङीष् हुआ,
दाक्षी—सु।

(4) प्लाक्षी (पूर्ववत्)।

इतः अर्थात् इदन्त प्रातिपदिक से ही ङीष् होता है—

(5) विट्
विशोऽपत्यम्—विश् इदन्त नहीं है, ङीष् नहीं हुआ, विभक्ति-कार्य।

(6) दरत् (पूर्ववत्)।

मनुष्य०—अर्थात् मनुष्य-जातिवाची प्रातिपदिक से ङीष् होता है—

(7) तित्तिरिः
यहाँ ङीष् नहीं हुआ।

जाते०—प्रकृत सूत्र में 'जातेः' पद का अनुवर्तन होने पर भी यहाँ पुनः 'जातेः' पद का न्यास ज्ञापित करता है कि मनुष्य जातिवाची शब्द (चाहे यकारोपध भी हो) से सर्वथा ङीष् होता है। यथा—

उदमेयस्याऽपत्यं स्त्री—औदमेयी। उदमेय इञ् औदमेयि ङीष्-औदमेयी (विभक्तिकार्य)

इञ उप०—इञ् प्रत्ययान्त से ङीष् होता है—

(8) सौतङ्गमी
'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ, ङीष्, सु आदि हुआ।

(9) मौनचित्ती (पूर्ववत्)।
यहाँ चातुरर्थिक 'इञ्' हुआ है।

(1316) ऊङुतः *66* (521)

मनुष्यजातेरिति वर्त्तते। उकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनः प्रातिपदिकात्स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। कुरूः। ब्रह्मबन्धूः। वीरबन्धूः। ङकारो 'नोङ्धात्वोः' (6.1.175) इति विशेषणार्थः। दीर्घोच्चारणं कपो बाधनार्थम्। अयोपधा-दित्येतदत्रापेक्ष्यते-अध्वर्युर्ब्राह्मणी। *अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। अलाबूः। कर्कन्धूः। अप्राणिग्रहणं किम्? कृकवाकुः। अरज्ज्वादीनामिति किम्? रज्जुः, हनुः।

अर्थ—जिसके उपधा में यकार नहीं हैं, ऐसे मनुष्य जातिवाची ह्रस्व उकारान्त प्रातिपदिक से 'ऊङ्' प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) कुरूः
कुरु ऊङ्—'तद्धिताः' के अधिकार में 'ऊङ्' का पाठ न होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्याऽपि ग्रहणम्' परिभाषा के बल पर प्रातिपदिक संज्ञा,
कुरूः—सु।

(2) ब्रह्मबन्धूः (पूर्ववत्)।

ऊङ् के ङकार की इत् सञ्ज्ञा होती है। 'ङ्' अनुबन्ध का प्रयोजन यह है कि 'नोङ्धात्वोः' (6.1.169) में इस ऊङ् का ग्रहण होता है। यदि 'ङ्' अनुबन्ध न होता तो इस सूत्र में प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित 'ऊ' प्रत्यय के साथ अन्य ऊकारों का भी ग्रहण हो जाता।

ह्रस्व उकारान्त प्रातिपदिक से पर 'ऊङ्' प्रत्यय करने पर सवर्णदीर्घ होकर दीर्घान्त रूप बनते हैं। ये दीर्घान्त रुप तो 'ऊङ्' के स्थान 'उङ्' प्रत्यय के विधान करने पर भी सम्भव थे। तब मात्रालाघव भी होता; परन्तु आचार्य ने 'ऊङ्' प्रत्यय में दीर्घ ऊकार का ग्रहण 'श्वश्रू' शब्द के लिये किया है। यथा—

श्वशुरस्य स्त्री—श्वश्रूः।

दीर्घ ऊकार ग्रहण का दूसरा प्रयोजन समासान्त कप् का बाध भी है।

अयोपधा० यकार उपधा वाले प्रातिपदिक से नहीं होता है—

(3) अध्वर्युर्ब्राह्मणी
यहाँ ऊङ् नहीं हुआ।

अप्राणि०—प्राणीतर जातिवाची उदन्त प्रातिपदिक से ऊङ् होता है, परन्तु रज्जु आदि शब्दों से नहीं होता—

(4) अलाबूः
ऊङ् हो गया।

(5) कर्कन्धूः
ऊङ् हो गया।

अप्राणि०—अर्थात् प्राणीतर जातिवाची से ऊङ् होता है—

(6) कृकवाकुः
यह प्राणिविशेष की जाति है। अतः ऊङ् नहीं हुआ।

अरज्ज्वा० अर्थात् रज्जु आदि को छोड़कर ऊङ् होता है—

(7) रज्जुः
यहाँ नहीं हुआ।

(8) हनुः
यहाँ नहीं हुआ।

(1317) बाह्वन्तात् संज्ञायाम् *67* (522)

बाहुशब्दान्तात्प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। भद्रबाहूः। जालबाहूः। संज्ञायामिति किम्? वृत्तौ बाहू यस्याः सा वृत्तबाहूः।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में 'बाहु' है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'ऊङ्' प्रत्यय होता है यदि संज्ञा गम्यमान हो।

उदा०—(1) भद्रबाहूः
भद्रबाहु ऊङ्—सु हुआ।

(2) जालबाहूः (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा गम्यमान हो तो 'ऊङ्' होता है—

(3) वृत्तबाहूः
वृत्तौ बाहू अस्याः—समास, विभक्तिकार्य।

(1318) पङ्गोश्च *68* (523)

पङ्गुशब्दात्स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। पङ्गूः। *श्वशुरस्योकाराकारयोर्लोपश्च वक्तव्यः*। श्वश्रूः।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में अनुपसर्जन 'पंगु' शब्द से 'ऊङ्' होता है।

उदा०—(1) पङ्गूः
पङ्गु ऊङ्—सु आदि।

श्वशुर०—'श्वशुर' शब्द से ऊङ् प्रत्यय तथा प्रातिपदिक के उकार व अन्त्य अकार का लोप होता है—

(2) श्वश्रूः
श्वशुरस्य स्त्री → श्वश् र् ऊ → श्वश्रूः—सु हुआ।

(1319) ऊरूत्तरपदादौपम्ये *69* (524)

ऊरूत्तरपदात्प्रातिपदिकादौपम्ये गम्यमाने स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। कदलीस्तम्भोरूः। नागनासोरूः। करभोरूः। औपम्य इति किम्? वृत्तोरुः स्त्री।

अर्थ—पूर्वपद में है उपमानवाची शब्द जिसके तथा 'ऊरु' शब्द है उत्तर पद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'ऊङ्' प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) कदलीस्तम्भोरूः
कदलीस्तम्भोरु ऊङ्—सु आदि

(2) नागनासोरूः (पूर्ववत्)।
(3) करभोरूः (पूर्ववत्)।

औपम्ये०—पूर्वपद में उपमावाची शब्द हो तो 'ऊङ्' होता है—

(4) वृत्तोरुः स्त्री
वृत्तौ ऊरू यस्याः—'ऊङ्' नहीं हुआ।

(1320) संहितशफलक्षणवामादेश्च *70* (525)

संहित, शफ, लक्षण, वाम-इत्येवमादेः प्रातिपदिकादूरूत्तरपदात्स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। अनौपम्यार्थ आरम्भः। संहितोरूः। शफोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः। *सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। सहितोरूः। सहोरूः।

अर्थ—संहित, शफ, लक्षण और वाम—ये शब्द हैं पूर्वपद में जिसके तथा 'ऊरु' शब्द है उत्तर पद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'ऊङ्' प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) संहितोरूः
संहितौ ऊरू यस्याः—ऊङ् हुआ।
संहितोरूः—सु।

(2) शफोरूः
शफौ ऊरू यस्याः।

(3) लक्षणोरूः (पूर्ववत्)।
(4) वामोरूः (पूर्ववत्)।

सहितसहा०—सहित और सह शब्दों से उत्तरवर्ती 'ऊरु' शब्द, ऐसे प्रातिपदिक से 'ऊङ्' होता है—

(5) सहितोरूः (पूर्ववत्)।
(6) सहोरूः (पूर्ववत्)।

(1321) कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि *71* (3449)

कद्रुशब्दात्कमण्डलुशब्दाच्च छन्दसि विषये स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। कद्रूश्च वै सुपर्णी च (तै०सं० 6.1.6)। मा स्म कमण्डलूं शूद्राय दद्यात्। छन्दसीति किम्? कद्रुः, कमण्डलुः। *गुग्गुलुमधुजतुपतयालूनामिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। गुग्गुलूः (अथ० 4.37.3)। मधूः (अथ० 7.56.2)। जतूः (मै० 3.14.6)। पतयालूः (अथ० 7.115.2)।

अर्थ—वेद के विषय में कद्रु और कमण्डलु शब्दों से 'ऊङ्' होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा०—(1) कद्रूः (तै०सं०6.1.6.1)
कद्रु ऊङ्—सु।

(2) कमण्डलूः (पूर्ववत्)।

छन्दसि अर्थात् वेद में ही 'ऊङ्' होता है—

(3) कद्रुः
लोक में।

(4) कमण्डलुः
लोक में।

गुग्गुलु०—गुग्गलु, मधु, जतु तथा पतयालु—इनसे 'ऊङ्' होता है—

(5) गुग्गुलूः (शौ०सं०4.37.3)
ऊङ् हुआ।

(6) मधूः (शौ०सं०7.56.2)
ऊङ् हुआ।

(7) जतूः (मै०सं०3.14.6)
पूर्ववत्।

(8) पतयालूः (शौ०सं०7.115.2)
पूर्ववत्।

(1322) संज्ञायाम् *72* (526)

कद्रुकमण्डलुशब्दाभ्यां संज्ञायां विषये स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। अच्छन्दोऽर्थं वचनम्। कद्रूः। कमण्डलूः। संज्ञायामिति किम्? कद्रुः, कमण्डलुः।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान हो तो लोक में कद्रु व कमण्डलु शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ऊङ्' होता है।

उदा० (1) कद्रूः
कद्रु ऊङ्

(2) कमण्डलूः (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा गम्यमान हो तो 'ऊङ्' होता है—

(3) कद्रुः
ऊङ् नहीं हुआ।

(4) कमण्डलुः (पूर्ववत्)।

(1323) शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् *73* (527)

शार्ङ्गरवादिभ्योऽञन्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीन् प्रत्ययो भवति। शार्ङ्गरवी। कापटवी। अञन्तेभ्यः–बैदी, और्वी। जातिग्रहणं चेहानुवर्त्तते, तेन जातिलक्षणो ङीषनेन बाध्यते, न पुंयोगलक्षणः। बैदस्य स्त्री बैदी। शार्ङ्गरव। कापटव। गौगुलव। ब्राह्मण। गौतम–एतेऽणन्ताः। कामण्डलेय। ब्राह्मकृतेय। आनिचेय। आनिधेय। आशोकेय–एते ढगन्ताः। वात्स्यायन। मौञ्जायन–एतौ फगन्तौ जातिः। कैकसेयो ढगन्तः। काव्यशैव्यौ ञ्यङन्तौ। एहि, पर्येहि–कृदिकारान्तौ। आश्मरथ्यो यञन्तः। औदपानः। उदपानशब्दः शुण्डिकाद्यणन्तः प्रयोजयति। अराल। चण्डाल। वतण्ड–जातिः। *भोगवद्गौरिमतोः संज्ञायां घादिषु नित्यं ह्रस्वार्थम्* (ग०सू० 56)। *नृनरयोर्वृद्धिश्च* (ग०सू० 57)। अत्र यथायोगं ङीबादिषु प्राप्तेषु ङीन् विधीयते।

अर्थ—शार्ङ्गरवादि गण में पठित प्रातिपदिकों से तथा अञ्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से ङीन् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) शार्ङ्गरवी
शार्ङ्गरव ङीन्—जातिलक्षण ङीष् का बोध होता है, अकार-लोप,
शार्ङ्गरवी—सु।

(2) कापटवी (पूर्ववत्)।

(3) बैदी
बिद अञ् → बैद ङीन्—सु आदि।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

भोगवद्०—भोगवत् तथा गौरिमत् से ङीन् होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो।

(4) भोगवती
ङीन्, सु।

(5) गौरिमती (पूर्ववत्)।

घादिषु॰—घ आदियों में ह्रस्वत्व के लिए नित्य ङीन् होता है।

नृनरयो॰—'नृ' तथा 'नर' इन जातिवाचक प्रातिपदिकों से ङीन् प्रत्यय स्त्रीत्व की विवक्षा में होता है तथा प्रकृति से वृद्धि आदेश होता है—

(6) नारी

नृ ङीन्—'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से प्राप्त 'ङीष्' का बाध होकर 'ङीन्' हुआ।

नार् ई—विभक्तिकार्य।

नर ङीन्—'जातरस्त्रीविष॰' से प्राप्त 'ङीष्' का बाध होकर ङीन् हुआ।[1]

विशेष—पूर्वशास्त्र से अनुवृत्त 'जातेः' पद का सम्बन्ध निम्न दोनों पदों से करना चाहिये—

(क) जातेः शार्ङ्गरवादि (भ्यः) अर्थात् शार्ङ्गरवादि गणपठित जातिवाचक प्रतिपदिकों से····।

यहाँ ङीन् प्रत्यय जातिलक्षण ङीष् का ही बाध करेगा, पुंयोग में विहित ङीष् का बाध नहीं करेगा। यथा—

शार्ङ्गरव ङीन्—शार्ङ्गरवी (प्रकृत सूत्र)।

(ख) अञः अतः जातेः अर्थात् अञन्त का जो अत्, तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिक से····।

काशिका आदि ग्रन्थों में 'शार्ङ्गरवाद्यञः' को एक समस्त पद मानकर इसे पञ्चम्यन्त स्वीकार किया गया है। काशिकाकार के अनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार है—

शार्ङ्गरवादिभ्योऽञन्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीन् प्रत्ययो भवति अर्थात् शार्ङ्गरवादि गणपठित प्रातिपदिकों से तथा अञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीन् होता है। काशिकाकार-प्रातिपादित अर्थ में एक महान् दोष प्रसक्त होता है। देखिये—

शूरसेनस्याऽपत्यं स्त्री—शूरसेनी (=शूरसेन की कन्या)। यहाँ 'जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्' से अपत्य अर्थ में अञ् होकर 'अतश्च' से उस प्रत्यय का लुक हो जाता है। तब 'शूरसेन' प्रातिपदिक बनता है। अब काशिका-प्रतिपादित अर्थ के द्वारा प्रत्ययलक्षण का आश्रय मानकर सूत्रार्थ किया जाता है तो 'शूरसेन' में अञ् का अकार न होने से ङीन् बाधित हो जाता है। ध्यान रहे कि वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणत्व भी नहीं होता है। अब ङीन् नहीं हुआ तो 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' से ङीष् हुआ—शूरसेनी।

(1324) यङश्चाप् *74* (528)

यङन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां चाप् प्रत्ययो भवति। ञ्यङः ष्यङश्च सामान्यग्रहणमेतत्। आम्बष्ठ्या। सौवीर्या। कौसल्या। ष्यङ्-कारीषगन्ध्या, वाराह्या, बालाक्या। *षाच्च यञः* (म॰भा॰)। षात्परो यो यञ् तदन्ताच्चाप् वक्तव्यः। शार्कराक्ष्या। पौतिमाष्या। गौकक्ष्या। उत्तरसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन वा भविष्यति।

अर्थ—स्त्रीत्व की विवक्षा में यङ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'चाप्' होता है। यङ् के द्वारा ञ्यङ् तथा ष्यङ् प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

उदा॰ (1) आम्बष्ठ्या
आम्बष्ठ ञ्यङ्—वृद्धिर्यस्य॰, वृद्धेत्कोसल॰,
आम्बष्ठ्य आ—यस्येति च, चाप्, चुटू, हलन्त्यम्,
आम्बष्ठ्या—सु।

(2) सौवीर्या
सुवीर ञ्यङ्—पूर्ववत्,
सौवीर्य चाप्—सु।

(3) कौसल्या
कोसल ञ्यङ्—पूर्ववत्।

(4) कारीषगन्ध्या
करीषगन्धि अण्→कारीषगन्ध ष्यङ्—अणिञो॰
कारीषगन्ध्य चाप्—पूर्ववत्।

(5) वाराह्या
वराह ष्यङ्—पूर्ववत्।

(6) बालाक्या
बलाका ष्यङ्—पूर्ववत्।

षाच्च यञः—षकार से उत्तर जो यञ् प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से चाप् होता है—

(7) शार्कराक्ष्या
शर्कराक्षि यञ्—अपत्य अर्थ में,

1. 'यस्येति च' से अकारलोप तथा 'नृनरयोर्वृद्धिः' से वृद्धि आदेश युगतप् प्राप्त होते हैं। तब "वार्णादाङ्गं बलीयः' से प्रथमतः अकारलोप हुआ।

शार्कराक्ष्य चाप्—चाप्, सु।

(8) पौतिमाष्या

पूतिमाष यञ्—पूर्ववत्

(9) गौकक्ष्या

गोकक्ष यञ्—पूर्ववत्।

अगले सूत्र में चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है।

(1325) आवट्याच्च *75* (529)

अवटशब्दो गर्गादिः। तस्माद्यञि कृते ङीपि प्राप्ते वचनमेतत्। आवट्याच्च स्त्रियां चाप् प्रत्ययो भवति। आवट्या। प्राचां ष्फ एव, सर्वत्र ग्रहणात्। आवट्यायनी।

अर्थ—उपसर्जन आवट्य शब्द से चाप् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) आवट्या

अवट—गर्गादिगण में पाठ होने से 'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' हुआ, आदिवृद्धि,

आवट्य—'यञश्च' से ङीप् प्राप्त था, चाप् हुआ।

आवट्या—सु।

आवट्यायनी

'प्राचां ष्फः०' से 'ष्फ' होकर स्त्रीलिङ्ग में रूप बना।

(1326) तद्धिताः *76* (530)

अधिकारोऽयम्। आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेर्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्धितसंज्ञास्ते वेदितव्याः। वक्ष्यति–'यूनस्तिः' (4.1.77) युवतिः। बहुवचनमनुक्ततद्धितपरिग्रहार्थम्–'पृथिव्या ञाञौ' (4.1.85), 'अग्रादिपश्चाड्डिमच्' (4.3.23) इत्येवमादि लभ्यं भवति। तद्धितप्रदेशाः–'कृत्तद्धितसमासाश्च' (1.2.46) इत्येवमादयः।

अर्थ—इसका अधिकार है। पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक इस सूत्र से आगे जो कहा जायेगा, उसकी तद्धित संज्ञा जाननी चाहिये। आगे कहा जायेगा—'यूनस्तिः' आदि। 'तद्धिताः' इस पद में बहुवचन का निर्देश अनुक्त तद्धित के ग्रहण के लिए है। 'पृथिव्या ञाञौ' तथा 'अग्रादिपश्चाड्' इत्यादि का ग्रहण होता है।

(1327) यूनस्तिः *77* (531)

युवन्शब्दात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां तिः प्रत्ययो भवति, स च तद्धितसंज्ञो भवति। ङीपोऽपवादः। युवतिः।

अर्थ—'युवन्' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ति' प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय की तद्धित संज्ञा होती है।

उदा० (1) युवतिः

युवन् ति—'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से प्राप्त ङीप् का बाध होकर 'ति' हुआ, स्वादिष्वसर्व०, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, कृत्तद्धितसमासाश्च।

युवतिः—सु।

(1328) अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे *78* (1198)

गोत्रे यावणिञौ विहितावनार्षौ तदन्तयोः प्रातिपदिकयोर्गुरूपोत्तयो स्त्रियां ष्यङादेशो भवति। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (व्या०प० 106) इत्यणिञोरेव विज्ञायते, न तु समुदायस्य। ङकारः सामान्यग्रहणार्थः। षकारस्तदविघातार्थः–'यङश्चाप्' (4.1.74) इति। उत्तमशब्दः स्वभावात् त्रिप्रभृतीनामन्त्यमक्षरमाह। उत्तमस्य समीपमुपोत्तमम्, गुरुः उपोत्तमं यस्य तद्गुरूपोत्तमं प्रातिपदिकम्। करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः, कुमुदगन्धिः, 'तस्यापत्यम्' (4.1.92) इत्यण्, तस्य ष्यङादेशः–कारीषगन्ध्या, कौमुदगन्ध्या। वराहस्यापत्यम्, 'अत इञ्' (4.1.95) वाराहिः, तस्य ष्यङादेशः–वाराह्या, बालाक्या। अणिञोरिति किम्? ऋतभागस्यापत्यम्, बिदादित्वादञ्, आर्त्तभागी। गुरूपोत्तमादिकं सर्वमस्तीति न त्वणिञौ। 'टिड्ढाणञ्' (4.1.15) इति ङीबेव भवति। अनार्षयोरिति किम्? वासिष्ठी, वैश्वामित्री। गुरूपोत्तमयोरिति किम्? औपगवी, कापटवी। गोत्र इति किम्? 'तत्र जाताः' (4.3.25)–आहिच्छत्री, कान्यकुब्जी।

अर्थ—गोत्र अर्थ में विहित ऋष्यपत्य से भिन्न जो अण् और इञ् प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक तथा उपोत्तम है गुरुसंज्ञक जिसका, ऐसे प्रातिपदिक से ष्यङ् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा के द्वारा अण् और इञ् का ही ज्ञान होता है, समुदाय का नहीं। ष्यङ् में ङकार सामान्य के ग्रहण के लिए है। षकार अनुबन्ध उसके विघात के लिए है। यथा—यङश्चाप्।

उत्तम०—तीन या तीन वर्णों से अधिक वर्ण वाले शब्द का अन्तिम अक्षर 'उत्तम' कहलाता है। 'उत्तम' वर्ण से पूर्व वर्ण को 'उपोत्तम' कहते हैं। जिसका उपोत्तम वर्ण गुरुसंज्ञक हो उसे ष्यङ् होता है।

उदा० (1) कारीषगन्ध्या
करीषस्येव गन्धोऽस्य—इस अर्थ में समास हुआ,
करीषगन्धि—'तस्याऽपत्यम्' से 'अण्', ष्यङ् आदेश।
कारीषगन्ध्य चाप्—यङश्चाप्।
कारीषगन्ध्या—सु।

(2) कौमुदगन्ध्या (पूर्ववत्)।

(3) वाराह्या
वराहस्याऽपत्यम्—प्रत्यय हुआ, अत इञ्,
वाराहि → वाराह्य चाप्—ष्यङ् आदेश, चाप् सु।

(4) बालाक्या (पूर्ववत्)।

अणिञो० अर्थात् अण् और इञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से ष्यङ् आदेश होता है—

(5) आर्त्तभागी
ऋतभागस्याऽपत्यम्—बिदादिभ्योऽञ्,
आर्त्तभाग ङीप्—टिड्ढाऽण् से ङीप्,
आर्त्तभागी—सु।

अनार्षयो० अर्थात् ऋष्यपत्य को छोड़कर शेष प्रातिपदिक से ष्यङ् होता है—

(6) वासिष्ठी
वसिष्ठस्याऽपत्यं स्त्री—ऋष्यपत्य होने से ष्यङ् नहीं हुआ,
वसिष्ठ अण् → वासिष्ठ ङीप्—पूर्ववत्,
वासिष्ठी—सु।

गुरूपोत्तम० अर्थात् गुरुसंज्ञक उपोत्तम हो तो प्रातिपदक को ष्यङ् आदेश होता है—

(7) औपगवी
उपगोरपत्यम् → औपगव—उपोत्तम 'व्' है, इसकी गुरुसंज्ञा नहीं होने से ष्यङ् नहीं हुआ, ङीप् होकर रूप बना।

(8) कापटवी (पूर्ववत्)।

गोत्रे० अर्थात् गोत्र अर्थ में ही ष्यङ् आदेश होता है—

(9) अहिच्छत्री
अहिच्छत्र—'तत्र जाता' अर्थ में प्रत्यय हुआ, गोत्र अर्थ में न होने से ष्यङ् नहीं हुआ।

(10) कान्यकुब्जी (पूर्ववत्)।

(1329) गोत्रावयवात् *79* (1199)

अणिञोरित्येव। गोत्रावयवाः गोत्राभिमताः कुलाख्याः पुणिकभुणिकमुखरप्रभृतयः, ततो गोत्रे विहितयोरणिञोः स्त्रियां ष्यङादेशो भवति। अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भः। पौणिक्या। भौणिक्या। मौखर्या। येषां त्वनन्तरापत्येऽपीष्यते–दैवदत्त्या याज्ञदत्येति, ते क्रौड्यादिषु द्रष्टव्याः।

अर्थ—गोत्ररूप से लोक में प्रसिद्ध कुलसंज्ञक जो शब्द, उससे गोत्र अर्थ में विहित ऋष्यपत्य से भिन्न अण् व इञ् प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से ष्यङ् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में।

उदा० (1) पौणिक्या
पुणिकस्याऽपत्यं स्त्री—इस अर्थ में,
पुणिक इञ् → पौणिकि—अत इञ्,
पौणिक्य चाप्—ष्यङ्, चाप्,
पौणिक्या—सु।

(2) मौखर्या (पूर्ववत्)।

जिनका अनन्तराऽपत्य अर्थ में इष्ट है, वे क्रोड़ी आदि में द्रष्टव्य हैं। यथा—

(3) दैवदत्त्या

(4) याज्ञदत्त्या (पूर्ववत्)।

(1330) क्रौड्यादिभ्यश्च *80* (1200)

क्रौडि इत्येवमादिभ्यश्च स्त्रियां ष्यङ् प्रत्ययो भवति। अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भः, अनणिञर्थश्च। क्रौड्या। लाड्या। क्रौडि। लाडि। व्याडि। आपिशलि। आपक्षिति। चौपयत। चैटयत। शैकयत। बैल्वयत। वैकल्पयत। सौधातकि। *सूत युवत्याम्* (ग०सू० 58)। *भोज क्षत्त्रिये* (ग०सू० 59)। भौरिकि। भौलिकि। शाल्मलि। शालास्थलि। कापिष्ठलि। गौलक्ष्य। गौकक्ष्य।

अर्थ—गोत्र अर्थ में वर्तमान क्रोडी आदि गणपठित प्रातिपदिकों से ष्यङ् प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। जो उपोत्तम गुरुसंज्ञक है, उसके लिए तथा जो अणप्रत्ययान्त है, उसके लिए विधान किया गया है।

उदा० (1) क्रौड्या
क्रौडि—गोत्र अर्थ में इञ् प्रत्ययान्त शब्द है, उपोत्तम की गुरु संज्ञा न होने से ष्यङ् प्राप्त नहीं है,
क्रौड्या—चाप्, सु।

(2) लाड्या (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1331) दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् *81* (1201)

दैवयज्ञि, शौचिवृक्षि, सात्यमुग्रि, काण्ठेविद्धि–इत्येतेषामन्यतरस्यां ष्यङ् प्रत्ययो भवति। इञन्ता एते, गोत्रग्रहणं च नानुवर्त्तते। तेन उभयत्र विभाषेयम्। गोत्रे पूर्वेण नित्यः ष्यङादेशः प्राप्तो विकल्प्यते। अगोत्रे त्वन्तरेऽपत्ये पक्षे विधीयते। तेन मुक्ते 'इतो मनुष्यजातेः' (4.1.65) इति ङीषेव भवति–दैवयज्ञ्या, दैवयज्ञी। शौचिवृक्ष्या, शौचिवृक्षी। सात्यमुग्र्या, सात्यमुग्री। काण्ठेविद्ध्या, काण्ठेविद्धी।

अर्थ—दैवयज्ञि, शौचिवृक्षि, सात्यमुग्रि तथा काण्ठेविद्धि—इन शब्दों से विकल्प से ष्यङ् होता है, स्त्रीत्व की विवक्षा में। ये शब्द इञन्त हैं। 'गोत्रे' पद का अनुवर्त्तन नहीं है। अत: उभयत्र विभाषा हुई।

उदा० (1) दैवयज्ञ्या
दैवयज्ञि → दैवयज्ञ्य—ष्यङ्,
दैवयज्ञ्या—चाप्, सु।

(2) दैवयज्ञी
पक्ष में 'इतो मनुष्यजातेः' से 'ङीष्' हुआ।

(3) शौचिवृक्ष्या
पूर्ववत् ष्यङ्, चाप्।

(4) शौचिवृक्षी
पक्ष में ङीष् हुआ।

(5) सात्यमुग्र्या
ष्यङ्, चाप्।

(6) सात्यमुग्री
पक्ष में ङीष्।

(7) काण्ठेविद्ध्या
ष्यङ्, चाप्।

(8) काण्ठेविद्धी
पक्ष में ङीष्।

(1332) समर्थानां प्रथमाद्वा *82* (1072)

त्रयमप्यधिक्रियते–समर्थानामिति प्रथमादिति च वेति च, स्वार्थिकप्रत्ययावधिश्चायमधिकारः 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (5.3.1) इति यावत्। स्वार्थिकेषु ह्यस्योपयोगो नास्ति, विकल्पोऽपि तत्रानवस्थितः। केचिन्नित्यमेव भवन्ति। लक्षणवाक्यानि–'तस्यापत्यम्' (4.1.92), 'तेन रक्तं रागात्' (4.2.1), 'तत्र भवः' (4.3.53) इत्येवमादीनि भविष्यन्ति। तेषु सामर्थ्ये सति प्रथमनिर्दिष्टादेव विकल्पेन प्रत्ययो भवतीति वेदितव्यम्। समर्थानामिति निर्धारणे षष्ठी। समर्थानां मध्ये प्रथमः प्रत्ययप्रकृतित्वेन निर्धार्यते। तस्येति सामान्यं विशेषलक्षणार्थम्, तदीयं प्राथम्यं विशेषाणां विज्ञायते। उपगोरपत्यम् औपगवः। समर्थानामिति किम्? कम्बलमुपगोः, अपत्यं देवदत्तस्य। प्रथमादिति किम्? षष्ठ्यन्ताद्यथा स्यात् प्रथमान्तान्मा भूत्। वाग्रहणं किम्? वाक्यमपि यथा स्यात्–उपगोरपत्यमिति। यद्येवं समासवृत्तिस्तद्धितवृत्त्या बाध्येत–उपगवपत्यमिति? नैष दोषः। पूर्वसूत्रादन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तते, तेनैतदपि भविष्यति।

अर्थ—समर्थानाम्, प्रथमात्, वा—इन तीनों पक्षों का अधिकार है। यहाँ से लेकर 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (5.3.1) पर्यन्त यह अधिकार चलता है। स्वार्थिक प्रत्ययों में इसका उपयोग नहीं है। वहाँ विकल्प भी अवस्थित नहीं है। कुछ नित्य ही होते हैं। 'तस्याऽपत्यम्' आदि लक्षणवाक्य हैं। इन अर्थों में सामर्थ्य होने पर प्रथम निर्दिष्ट से विकल्प से यथाविहित प्रत्यय होता है—ऐसा जानना चाहिए।

समर्थाना०—'समर्थानाम्' पद में निर्धारण में षष्ठी हुई है। समर्थ पदों में जो प्रत्यय-प्रकृति के द्वारा प्रथम निर्धारित किया जाता हैं, उसी का यहाँ प्रथमतया ग्रहण किया जाता है। यथा—उपगोरपत्यम्—औपगवः।

समर्थाना० अर्थात् समर्थ पद से यथाविहित प्रत्यय होता है—

(1) कम्बलम् उपगोः अपत्यं देवदत्तस्य

यहाँ 'कम्बलम्' और 'उपगोः' के मध्य सामर्थ्य है। इसी प्रकार 'अपत्यम्' तथा 'देवदत्तस्य' के मध्य सामर्थ्य है। 'उपगोः' तथा 'अपत्यम्' में सामर्थ्य न होने से प्रत्यय नहीं हुआ।

प्रथमादि० अर्थात् समर्थ पदों में **जो प्रथम पद**, उससे यथाविहित प्रत्यय होता है। भाव यह है कि षष्ठ्यन्त पद से प्रत्यय होता है; प्रथमान्त से नहीं होता।

वेति किम् अर्थात् यथाविहित प्रत्यय विकल्प से होता है। अत: पक्ष में वाक्य भी होता हैं। यथा—

उपगोरपत्यम्।

यदि ऐसा है तो समासवृत्ति का तद्धितवृत्ति के द्वारा बाध किया

जाता है—उपगवपत्यम्। यहाँ दोष नहीं है। पूर्व सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद का अनुवर्त्तन है। तब यह भी हो जायेगा।

(1333) प्राग्दीव्यतोऽण् *83* (1073)

'तेन दीव्यति' (4.4.2) इति वक्ष्यति। तदेकदेशो दीव्यच्छब्दोऽवधित्वेन गृह्यते, प्राग्दीव्यत्संशब्दनाद् यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽण्प्रत्ययस्तत्र भवतीति वेदितव्यम्। अधिकारः, परिभाषा विधिर्वेति त्रिष्वपि दर्शनेष्वपवादविषयं परिहृत्याण् प्रवर्त्तते। वक्ष्यति-'तस्यापत्यम्' (4.1.92)- औपगवः, कापटवः।

अर्थ—आगे 'तेन दीव्यति०' (4.4.2) का पाठ किया जायेगा। 'तेन दीव्यति०' सूत्र से पहले-पहले सर्वत्र अण् प्रत्यय होता है। यह अधिकार, परिभाषा तथा विकल्प से विधि है। अपवाद में यह प्रवृत्त नहीं होता। आगे कहा जायेगा—तस्याऽपत्यम्।

उदा० (1) औपगवः
उपगोरपत्यम् → उपगु अण्—विभक्तिकार्य।
(2) कापटव (पूर्ववत्)।

(1334) अश्वपत्यादिभ्यश्च *84* (1074)

अश्वपत्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्वण् प्रत्ययो भवति। पत्युत्तरपदाण्ण्यं वक्ष्यति, तस्यापवादः। आश्वपतम्। शातपतम्। अश्वपति। शतपति। धनपति। गणपति। राष्ट्रपति। कुलपति। गृहपति। धान्यपति। पशुपति। धर्मपति। सभापति। प्राणपति। क्षेत्रपति।

अर्थ—अश्वपति आदि गणपठित प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धित अण् होता है।

'पति' शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से अग्रिम सूत्र के द्वारा 'ण्य' प्राप्त होता है। उसी का यह अपवाद है।

उदा० (1) आश्वपतम्।
अश्वपतेरपत्यम्, अश्वपतीनां समूहः—अण् हुआ,
अश्वपति ङस् अण्—प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् लोप,
आश्वपति अ—तद्धितेष्वचामा०, भसंज्ञा, यचि भम्, यस्येति च,
आश्वपतम्—यद्यपि तद्धितान्त शब्द में विशेष्यानुसार लिंग होता है, परन्तु सामान्य की अपेक्षा से नपुसंकलिंग ही होता है।
(2) शातपतम्
शतपति अण्—पूर्ववत्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1335) दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः *85* (1077)

प्राग्दीव्यत इत्येव। दिति, अदिति, आदित्य-इत्येतेभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्रातिपदिकात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः प्रत्ययो भवति। दैत्यः। आदित्यः। आदित्यम्। पत्युत्तरपदात्- प्राजापत्यम्, सैनापत्यम्। *यमाच्चेति वक्तव्यम्*। याम्यम्। *वाङ्मतिपितृमतां छन्दस्युपसंख्यानम्* (म० भा०)। वाच्यम् (वा०सं० 13.58)। मात्यम् (मै०सं० 2.17.19)। पैतृमत्यम् (वा०सं० 7.46)। *पृथिव्या ञाञौ*। पार्थिवा (ऋ० 1.64.3)। पार्थिवी (पै० 16.46.3)। *देवाद्यञञौ*। दैव्यम् (ऋ० 1.31.17)। दैवम् (पै० 1.31.4)। *बहिषष्टिलोपश्च*। बाह्यः (अथ० 19.44.6)। *ईकक्च*। वाहीकः। *ईकञ् छन्दसि*। बाहीकः। स्वरे विशेषः। टिलोपवचनमव्ययानां भमात्रे टिलोपस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम्-आरातीयः। *स्थाम्नोऽकारः*। अश्वत्थामः। *लोम्नोऽपत्येषु बहुषु*। उडुलोमाः। शरलोमाः। बहुष्विति किम्? औडुलोमिः। शारलोमिः। *सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत्*। गव्यम्। अजादिप्रत्ययप्रसङ्ग इति किम्? गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यम्, गोमयम्। *ण्यादयोऽर्थविशेषलक्षणादपवादात्पूर्वविप्रतिषेधेन*। दितेरपत्यं दैत्यः। वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम्। कथं दैतेयः? दितिशब्दात् 'कृदिकारादक्तिनः' (ग०सू० 50), 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' (ग०सू० 51) इति ङीषं कृत्वा 'स्त्रीभ्यो ढक्' (4.1.120) क्रियते। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा चानित्या।

अर्थ—दिति, अदिति, आदित्य और 'पति' जिसके उत्तरपद में है, ऐसे समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' होता है।

उदा० (1) दैत्यः
दितेरपत्यम्—ण्य हुआ,
दैत्यः—तद्धितेष्वचामा०, यस्येति च, सु।
(2) आदित्यः
अदितेरपत्यम्—पूर्ववत्,
आदित्यः—सु।

(3) आदित्यम्
आदित्य ण्य → आदित्य य—'हलो यमां यमि०' से यलोप,
आदित्यम्—सु।

(4) प्राजापत्यम्
प्रजापति य—ण्य,
प्राजापत्यम्—सु।

(5) सैनापत्यम् (पूर्ववत्)।

यमाच्चेति वक्तव्यम्—यम शब्द से 'ण्य' होता है—

(6) याम्यम्
यम ण्य → याम्यम्।

वाङ्मति०—वाच्, मति और पितृमति शब्दों से 'ण्य' होता है, वेद के विषय में—

(7) वाच्यम् (वा०सं०13.58)
वाचा प्रोक्तम् → वाच् ण्य—विभक्तिकार्य।

(8) मात्यम् (मै०सं०2.17.13)
मतौ भवम्—पूर्ववत्।

(9) पैतृमत्यम्
पितृमतेरपत्यम्—आदिवृद्धि, सु।

पृथिव्या ञाञौ—'पृथिवी' प्रातिपदिक से 'ञ' और 'अञ्' प्रत्यय होते हैं—

(10) पार्थिवः
पृथिव्यां भवः → पृथिवी ञ—आदिवृद्धि,
पार्थिव् अ → पार्थिवः—सु।
स्त्रीलिङ्ग में 'पार्थिवा' बनता है।

(11) पार्थिवी
पृथिवी अञ्—आदिवृद्धि पूर्ववत्,
पार्थिव ङीप्—टिड्ढाऽण्०,
पार्थिवी—सु।

देवाद्यञञौ—देव शब्द से यञ् और अञ् प्रत्यय होते हैं—

(12) दैव्यम्
देवस्याऽपत्यम् → देव यञ्—आदिवृद्धि,
दैव्यम्—सु।

(13) दैवम्
देव अञ्—विभक्तिकार्य।

बहिषष्टिलोपश्च—बहिष् शब्द से यञ् प्रत्यय होता है तथा 'टि' का लोप होता है—

(14) बाह्यः
बहिर्भवः → बहिस् यञ् → बाह् य सु।

ईकक् च—बहिस् शब्द से ईकक् प्रत्यय होता है और 'टि' का लोप होता है—

(15) बाहीकः
बहिस् ईकक् → बह् ईक्—किति च से आदिवृद्धि,
बाहीक सु—बाहीकः।

ईकञ् छन्दसि—वेद के विषय में 'बहिस्' से ईकञ् होता है तथा टि का लोप होता है—

(16) बाहीकः
बहिस् ईकञ्—पूर्ववत्। यहाँ केवल स्वर का अन्तर है।
अव्यय शब्दों के 'भ' मात्र में टिलोप की अनित्यता के ज्ञापन के लिए टिलोप का कथन है।

(17) आरातीयः

स्थाम्नोऽकारः—स्थामन् शब्द से अकार होता है—

(18) अश्वत्थामः
अश्व स्थामन् → अश्वत्थामन्—पृषोदरादीनि० से तकार,
अश्वत्थामन् अ—'नस्तद्धिते' से टिलोप,
अश्वत्थामः—सु।

लोम्नोऽपत्येषु बहुषु—'लोमन्' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में अकार होता है, बहुवचन में—

(19) उडुलोमाः
उडुलोम्नोऽपत्यानि बहूनि—अकार, टिलोप पूर्ववत्,
उडुलोम् अ जस् → उडुलोमाः।

(20) औडुलोमिः
एकवचन में 'बाह्वादिभ्यश्च' से 'इञ्' हुआ है।

(21) शारलोमाः (पूर्ववत्)।

(22) शारलोमिः
एकवचन में।

सर्वत्र गोरजा०—सभी अर्थों में 'गो' शब्द से 'यत्' होता है, अजादि प्रत्यय के प्रसंग में—

(23) गव्यम्
गोर्विकारः → गो यत्—गोपयसोर्यत्,

गव्यम्—सु।

अजादिप्रत्यय० अर्थात् अजादि प्रत्यय के प्रसंग में ही 'यत्' होता है—

(24) गोरूप्यम्
गोभ्य आगतम्—रूप्य हुआ।

(25) गोमयम्
'मयट्' हुआ।

ण्यादयो०—अर्थविशेष को निमित्त मानकर होने वाले प्रत्यय से अण् का अपवाद होने से पूर्वविप्रतिषेध के बल पर 'ण्य' आदि ही होते हैं—

(26) दैत्यः (पूर्ववत्)।
(27) वानस्पत्यम्
वनस्पतीनां समूहः—ण्य हुआ।।

(28) दैतेयः
दिति ढक्—कृदिकारादक्तिनः, 'सर्वतो क्तिन्नर्था०' इत्यादि से ङीष् करके 'स्त्रीभ्यो ढक्' से 'ढक्' हुआ,
दैतेयः—लिंगविशिष्ट परिभाषा अनित्य है, सु हुआ।

(1336) उत्सादिभ्योऽञ् *86* (1078)

प्राग्दीव्यत इत्येव। उत्सादिभ्यः प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्वञ् प्रत्ययो भवति। अणस्तदपवादानां च बाधकः। औत्सः। औदपानः। उत्स। उदपान। विकर। विनोद। महानद। महानस। महाप्राण। तरुण। तलुन। *वष्कयाऽसे* (ग० सू० 60)। धेनु। पृथिवी। पङ्क्ति। जगती। त्रिष्टुप्। अनुष्टुप्। जनपद। भरत। उशीनर। ग्रीष्म। पीलु। कुल। *उदस्थानाद् देशे* (ग०सू० 61)। *पृषदंशे* (ग०सू० 62)। भल्लकीय। रथन्तर। मध्यंदिन। बृहत्। महत्। सत्त्वन्तु। सच्छब्दो मतुबन्त आगतनुम्को गृह्यते-सत्त्वन्त्विति। कुरु। पञ्चाल। इन्द्रावसान। उष्णिक्। ककुप्। सुवर्ण। देव। *ग्रीष्मादच्छन्दसीति वक्तव्यम्* (ग०सू० 63)। इह मा भूत्-त्रैष्मी त्रिष्टुप् (काठ०सं० 16.18)। छन्दश्चेह वृत्तं गृह्यते, न वेदः।

अर्थ—उत्सादि गणपठित समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धित अञ् होता है। अण् तथा उसके अपवादों का बाधक है।

उदा० (1) औत्सः
उत्सस्याऽपत्यम् → उत्स अञ्—आदि वृद्धि,
औत्सः—सु।

(2) औदपानः
उदपान अञ्—पूर्ववत्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

छन्दस् में ग्रीष्म शब्द से अच् होता है। 'छन्दस्' का अर्थ 'वेद' नहीं, अपितु 'वृत्त' है।

(1337) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् *87* (1079)

'धान्यानां भवने' (5.2.1) इति वक्ष्यति। तस्य प्रागित्यनेनैव सम्बन्धः। प्राग्भवनसंशब्दनाद्येऽर्थास्तेषु स्त्रीशब्दात् पुंस्शब्दाच्च यथाक्रमं नञ्स्नञौ प्रत्ययौ भवतः। स्त्रीषु भवं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीभ्य आगतं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम्। पौंस्नम्। 'स्त्रियाः पुंवत्' (6.3.34) इति ज्ञापकाद्वत्यर्थे न भवति। योगापेक्षं च ज्ञापकमिति स्त्रीवदित्यपि सिद्धम्।

अर्थ—'धान्यानां भवने०' पा० सूत्र तक जिन-जिन अर्थों में स्त्री तथा पुंस् शब्दों से यथासंख्य नञ् तथा स्नञ् होते हैं।

स्त्री शब्द से नञ् तथा पुंस् शब्द से स्नञ् होते हैं।

उदा० (1) स्त्रैणम्
स्त्रीषु भवम् → स्त्री नञ्—आदिवृद्धि,
स्त्रैणम्—सु।

(2) पौंस्नम्
पुंस् स्नञ्—संयोगान्तस्य लोपः,
पुं स्न → पौंस्नम्—सु।

इसी प्रकार 'तस्य समूहः' तथा 'तत आगतम्' आदि अर्थों में भी रूप बनते हैं।

'स्त्रियाः पुंवत्'—इस ज्ञापक से 'वति' अर्थ में नहीं होता है। ज्ञापक योगापेक्ष होता है।

(1338) द्विगोर्लुगनपत्ये *88* (1080)

प्राग्दीव्यत इति वर्त्तते न भवनादिति। द्विगोरिति षष्ठी। द्विगोर्यः सम्बन्धी निमित्तत्वेन तद्धितः प्राग्दीव्यतीयोऽपत्यप्रत्ययं वर्जयित्वा तस्य लुग्भवति। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः। दशकपालः। द्वौ वेदावधीते

द्विवेदः । त्रिवेदः । अनपत्य इति किम्? द्वैदेवदत्तिः, त्रैदेवदत्तिः । प्राग्दीव्यत इत्येव–द्वैपारायणिकः । द्विगुनिमित्तविज्ञानादिह न भवति–पञ्चकपालस्येदं पाञ्चकपालम् । अथवा द्विगोरेवायं लुग्विधीयते, द्विगोरिति (4.2.21) स्थानषष्ठी । ननु च प्रत्ययादर्शनस्यैषा संज्ञा? सत्यमेतत् । उपचारेण तु लक्षणया द्विगुनिमित्तभूतः प्रत्यय एव द्विगुस्तस्य लुग्भवति । द्विगुनिमित्तकोऽपि तर्हि गुणकल्पनया कस्मान्न द्विगुरुच्यते–पाञ्चकपालमिति? न तस्य द्विगुत्वं निमित्तम्, इतरस्तु द्विगुत्वस्यैव निमित्तमित्यस्ति विशेषः । यद्येवमिह कथम्–पञ्चकपाल्यां संस्कृतः पञ्चकपाल इति? नैवात्र तद्धित उत्पद्यते, वाक्यमेव भवति, त्रैशब्द्यं हि साध्यम्–पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः, पञ्चकपाल्यां संस्कृतः, पञ्चकपाल इति । तत्र द्वयोः शब्दयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहः, अपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यति । अथेह कस्मान्न भवति–पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गरूप्यम्, पञ्चगर्गमयमिति? वेत्यनुवर्त्तते । सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते ।

अर्थ—'प्राग्दीव्यते' का अनुवर्त्तन है । 'भवनात्' की अनुवृत्ति नहीं है । 'द्विगोः' पद में षष्ठी है । अपत्य अर्थ को छोड़कर सभी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विहित द्विगु के निमित्त तद्धित प्रत्यय का लुक् होता है ।

उदा० (1) पञ्चकपालः

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—द्विगु समास हुआ, विहित तद्धित प्रत्यय का लुक्,

पञ्चकपालः—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, सु ।

(2) दशकपालः (पूर्ववत्) ।

(3) द्विवेदः

द्वौ वेदावधीते—'तद् अधीते तद्वेद' से प्रत्यय हुआ, प्रकृत सूत्र से लुक् हुआ,

(4) त्रिवेदः (पूर्ववत्) ।

अनपत्ये० अर्थात् **अपत्य अर्थ को छोड़कर** अन्य अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् होता है—

(5) द्वै देवदत्तिः

द्वयोः देवदत्तयोरपत्यम्—अपत्य अर्थ में 'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ, लुक् नहीं हुआ ।

(6) त्रैदैवदत्तिः (पूर्ववत्) ।

प्राग्दीव्य०—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् होता है—

(7) द्वैपारायणिकः

यहाँ प्राग्दीव्यतीय अर्थ में प्रत्यय विहित नहीं है । अतः लुक् नहीं हुआ ।

द्विगु का निमित्त होने से निम्नलिखित में लुक् नहीं होता है—

(8) पाञ्चकपालम्

पञ्चकपालस्येदम्—द्विगु समास नहीं है । प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ ।

अथवा०—अथवा द्विगु का ही यह लुक् कहा जाता है । 'द्विगोः' पद में स्थानषष्ठी है । यह प्रत्यय के अदर्शन की संज्ञा है । यह सत्य ही है । लक्षणा के द्वारा द्विगु के निमित्तभूत जो प्रत्यय है, उसी का लुक् होता है । द्विगु का निमित्त होने पर भी गुणकल्पना के द्वारा द्विगु किसलिए नहीं कहा जाता है । यथा—पाञ्चकपालम् । इसकी द्विगुता निमित्त नहीं है । अन्य द्विगु का निमित्त है—यह विशेष है । यदि ऐसा है तो 'पञ्च कपाल्यां संस्कृतः पञ्चकपालः' इस प्रकार कैसे होता है? यहाँ तद्धित नहीं होता, वाक्य ही रहता है । त्रिशब्दता साध्य है—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः, पञ्चकपाल्यां संस्कृतः—पञ्चकपालः । वहाँ दो समानार्थक शब्दों का विग्रह है ।

अपरस्मादु०—अन्य से उत्पत्ति हो जायेगी । निम्नलिखित में क्यों नहीं होता है—पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतम्—पञ्चगर्गरूप्यम्, पञ्चगर्गमयम् । 'वा' का अनुवर्त्तन है । यह व्यवस्थित विभाषा है ।

(1339) गोत्रेऽलुगचि *89* (1081)

प्राग्दीव्यत इत्येव । 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' (2.4.63) इत्यादिना येषां गोत्रप्रत्ययानां लुगुक्तस्तेषामजादौ प्राग्दीव्यतीये विषयभूते प्रतिषिद्ध्यते । गर्गाणां छात्रा गार्गीयाः । वात्सीयाः । आत्रेयीयाः । खारपायणीयाः । गोत्र इति किम्? कौबलम्, बादरम् । अचीति किम्? गर्गेभ्य आगतं गर्गरूप्यम्, गर्गमयम् । प्राग्दीव्यत इत्येव–गर्गेभ्यो हितं गर्गीयम् । *गोत्रस्य बहुषु लोपिनो बहुवचनान्तस्य प्रवृत्तौ द्व्येकयोरलुक्* (म०भा०) । बिदानामपत्यं युवा युवानौ बैदः, बैदौ । बैदशब्दात् अत इञ् (4.1.95) कृते तस्य च इञः 'ण्यक्षत्रियार्षञितः' (2.4.58) इति लुकि रूपम् । *एकवचनद्विवचनान्तस्य प्रवृत्तौ बहुषु लोपो यूनि* (म० भा०) । बैदस्य बैदयोर्वाऽपत्यं बहवो माणवकाः विदाः । न ह्यत्राञ् । बहुषूत्पन्नः ।

अर्थ—'यस्कादिभ्यो गोत्रे' आदि के द्वारा उत्पन्न जिन गोत्र

प्रत्ययों का लुक् कहा गया है, उनका लुक् प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विहित अजादि प्रत्यय के विषय में नहीं होता।

उदा० (1) गार्गीयाः
गर्गाणां छात्राः—गर्गादिभ्यो यञ्,
गार्ग य → गार्ग्यः—सु।
प्रथमा में रूप—गार्ग्यः, गार्ग्यौ, गर्गाः, 'यञञोश्च' से प्रत्यय का लुक् हुआ है।
गार्ग्य छात्र यञ्—प्राप्त लुक् का निषेध, गार्ग्य की वृद्ध संज्ञा, 'वृद्धाच्छः'से 'छ',
गार्ग्य् ईय—ईय आदेश, अकारलोप, अपत्यस्य च०,
गार्गीयाः—जस् में।

(2) वात्सीयाः (पूर्ववत्)।
(3) आत्रेयीयाः
'इतश्चानिञः' से 'ढक्', 'आत्रिभृगु०' से प्रत्यय का लुक् होकर रूप बनता है।

(4) खारपायणीयाः (पूर्ववत्)।

गोत्रे अर्थात् गोत्र अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् नहीं होता—
(5) कौवलम्
यहाँ प्रत्यय का लुक् हुआ है।
(6) बादरम् (पूर्ववत्)।

अचीति अर्थात् अजादि प्रत्यय के विषय में लुक् नहीं होता—
(7) गर्गरूप्यम्
गर्गेभ्य आगतम्—यञ् का लुक् हुआ।
(8) गर्गमयम् (पूर्ववत्)।

प्राग्दीव्य० अर्थात् प्राग्दीव्यतीय अर्थों में लुक् नहीं होता—
(9) गर्गीयम्
गर्गेभ्यो हितम्।

गोत्रस्य०—बहुवचन में लोपी गोत्र की प्रवृत्ति होने पर द्विवचन व एकवचन में अलुक् होता है—

बिदानामपत्यं युवा, युवानौ—बैदः, बैदौ।
'बैद' शब्द से 'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ, 'ण्यक्षत्रियार्ष०' से 'इञ्' का लुक् होने पर रूप बनता है। एकवचनान्त तथा द्विवचनान्त की प्रकृति होने पर बहुवचन में लोप होता है। बैदस्य बैदयोरपत्यं बहवो माणवकाः—बिदाः। बहुवचन में अञ् नहीं होता।

(1340) यूनि लुक् *90* (1083)

प्राग्दीव्यत इति वर्त्तते, अचीति च। प्राग्दीव्यतीयेऽजादौ प्रत्यये विवक्षिते बुद्धिस्थेऽनुत्पन्न एव युवप्रत्ययस्य लुग्भवति। तस्मिन्निवृत्ते सति यो यतः प्राप्नोति स ततो भवति। फाण्टाहृतस्यापत्यं फाण्टाहृतिः, तस्यापत्यं युवा, 'फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ' (4.1.150)–फाण्टाहृतः, तस्य छात्रा इति विवक्षितेऽर्थे बुद्धिस्थे युवप्रत्ययस्य लुग्भवति, तस्मिन्निवृत्ते इञन्तं प्रकृतिरूपं सम्पन्नम्, तस्मात् 'इञश्च' (4.2.112) इत्यण् भवति–फाण्टाहृताः। भागवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः, तस्यापत्यं युवा–'वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम्' (4.1.148) इति ठक् भागवित्तिकः, तस्य छात्राः, पूर्ववद् युवप्रत्यये निवृत्ते 'इञश्च' इत्यण्–भागवित्ताः। तिकस्यापत्यम् 'तिकादिभ्यः फिञ्' (4.1.154)–तैकायनिः, तस्यापत्यं युवा, 'फेश्छ च' (4.1.149) इति छः–तैकायनीयः, तस्य छात्राः, युवप्रत्यये निवृत्ते, 'वृद्धाच्छः' (4.2.114)–तैकायनीयाः। कपिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिः, तस्यापत्यं युवा, 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (4.1.151)–कापिञ्जलाद्यः, तस्य छात्राः, ण्ये निवृत्ते, 'इञश्च' इत्यण्–कापिञ्जलादाः। ग्लुचुकस्यापत्यम्, 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्' (4.1.160) इति ग्लुचुकायनिः, तस्यापत्यं युवा 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (4.1. 83)–ग्लौचुकायनः, तस्य छात्राः, युवप्रत्यये निवृत्ते स एवाण्–ग्लौचुकायनाः। अचीत्येव–फाण्टाहृतरूप्यम्, फाण्टाहृतमयम्। प्राग्दीव्यत इत्येव–भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम्।

अर्थ—प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की विवक्षा में युवा अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् होता है। उसके निवृत्त हो जाने पर जो जिससे प्राप्त होता है, वह उससे होता है।

उदा० (1) फाण्टाहृतिः
फाण्टाहृतस्याऽपत्यम्—इस अर्थ में,
फाण्टाहृत इञ् → फाण्टाहृतिः।
फाण्टाहृतेरपत्यं युवा—'फाण्टाहृतिमिमता०' से 'ण',
फाण्टाहृति ण → फाण्टाहृतः।

'तस्य छात्राः' इस अर्थ के बुद्धिस्थ होने पर युवप्रत्यय का लुक् होता है, उसके निवृत्त होने पर इञ् प्रत्ययान्त प्रकृतिरूप सम्पन्न हुआ। उससे 'इञश्च' से 'अण्' होता है।
फाण्टाहृताः।

(2) भागवित्तिः

भागवित्त इञ्। 'वृद्धाट्ठक्सौवीर०' से ठक् हुआ। भागवृत्तिकः। तस्य छात्राः—अण् होकर भागवित्ताः।

(3) तैकायनिः

'तिकादिभ्यः फिञ्' से 'फिञ्' 'फेश्च' से 'छ'। तैकायनीयः। तस्य छात्राः—युवप्रत्यय के निवृत्त होने पर 'वृद्धाच्छः' से 'छ' हुआ—तैकायनीयाः।

(4) कापिञ्जलादाः

कापिञ्जलाद ण्य—'कुर्वादिभ्यो ण्यः'
कापिञ्जलाद्य अण्—'ण्य' निवृत्त हुआ, इञश्च,
कापिञ्जलादाः—जस्।

(5) ग्लौचुकायनाः

ग्लुचुक फिन्—'प्राचामवृद्धात्०'
ग्लौचुकायन—प्राग्दीव्यतोऽण्
ग्लौचुकायनाः—युवप्रत्यय 'अण्' प्रत्यय के निवृत्त होने पर 'अण्' हुआ, 'जस्' हुआ।

अचीत्ये० अर्थात् अजादि प्रत्यय की विवक्षा में ही लुक् होता है—

(6) फाण्टाहृतरूप्यम्
लुक् नहीं हुआ।

(7) फाण्टाहृतमयम्
लुक् नहीं हुआ।

प्राग्दीव्य० अर्थात् प्राग्दीव्यतीय अर्थ में ही लुक् होता है—

(8) भागवित्तीयम्
भागवित्तिकाय हितम्—लुक् नहीं हुआ।

(1341) फक्फिञोरन्यतरस्याम् *91* (1087)

यूनीत्येव। पूर्वसूत्रेण नित्ये लुकि प्राप्ते विकल्प उच्यते। फक्फिञोर्युवप्रत्यययोः प्राग्दीव्यतीयेऽऽजादौ प्रत्यये विवक्षितेऽन्यतरस्यां लुग्भवति। गर्गादिभ्यो यञि (4.1.105) कृते 'यञिञोश्च' (4.1.101) इति फक्-गार्ग्यायणः, तस्य छात्राः गार्गीयाः, गार्ग्यायणीयाः। वात्सीयाः, वात्स्यायनीयाः। फिञः खल्वपि-यस्कस्यापत्यम्, 'शिवादिभ्योऽण्' (4.1.112)-यास्कः, तस्यापत्यं युवा 'अणो द्व्यचः' (4.1.156) इति फिञ्-यास्कायनिः, तस्य छात्राः यास्कीयाः, यास्कायनीयाः।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य लुक् प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है। प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की विवक्षा में युवापत्य 'फक्' व 'फिञ्' का विकल्प से लुक् होता है।

उदा० (1) गार्गीयाः

गर्गस्याऽपत्यम् → गार्ग्यः—यञ् हुआ,
गार्ग्य फक्—यञिञोश्च,
गार्ग्यायण छ—'तस्य छात्राः' अर्थ में 'फक्' का लुक्, 'वृद्धाच्छः' से 'छ',
गार्गीयाः—जस्।

(2) गार्ग्यायणीयाः
अलुक् पक्ष में।

(3) वात्स्यायनीयाः (पूर्ववत्)।

(4) यस्कीयाः

यस्क अण्—तस्याऽपत्यम्, शिवादिभ्योऽण्,
यास्क फिञ्—युवाऽपत्य अर्थ में 'अणो द्व्यच' से,
यास्कायनि—प्रत्यय का लुक् हुआ,
यास्कीयाः—छ, जस्।

(5) यास्कायनीयाः
अलुक् पक्ष में।

(1342) तस्यापत्यम् *92* (1088)

अर्थनिर्देशोऽयम्, पूर्वैरुत्तरैश्च प्रत्ययैरभिसम्बद्ध्यते। तस्येति षष्ठीसमर्थादपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। प्रकृत्यर्थविशिष्टः षष्ठ्यर्थोऽपत्यमात्रञ्चेह गृह्यते। लिङ्गवचनादिकमन्यत्सर्वमविवक्षितम्। उपगोरपत्यमौपगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत्।
उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम्॥
(म० भा०)

भानोरपत्यं भानवः। श्यामगवः।

अर्थ—यहाँ अर्थ का निर्देश है। पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती प्रत्ययों के साथ इसका सम्बन्ध है। षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'अण्' होता है। लिंग, वचन आदि सब अनुक्त हैं।

उदा० (1) औपगवः

उपगोरपत्यम्—अण् हुआ,
औपगु अण्—आदिवृद्धि, गुण ('अचो ञ्णिति' से प्राप्त अज्लक्षणा वृद्धि तथा 'अत उपधायाः' से प्राप्त उपधावृद्धि की अपेक्षा आदिवृद्धि बलवान है, ओर्गुणः)—

औपगवः—सु।

(2) आश्वपतः
अश्वपति अण्।

(3) दैत्यः
दिति य।

(4) औत्सः
उत्स अञ्।

(5) स्त्रैणः
स्त्री नञ्।

(6) पौंस्नः
पुंस् स्नञ्।

तस्येदमि०—'तस्येदम्' (4.3.120) से विहित 'अण्' अपत्य अर्थ में भी हो सकता है। (अतः प्रकृत सूत्र व्यर्थ है)।

बाधनार्थं कृतं भवेत्—बाध करने के लिए यह हो जायेगा। भाव यह है कि केवल 'तस्येदम्' सूत्र की दशा में इसके अण् का बाध होकर अपत्य अर्थ में भी 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्राप्त हो जायेगा। पृथक् सूत्र की दशा में यह 'छ' का बाध कर लेगा। अतः प्रकृत सूत्र व्यर्थ नहीं है।

उत्सर्गः शेष एवासौ—जो औत्सर्गिक प्रत्यय होता है, वह भी शेष माना जाता है। भाव यह है कि 'तस्याऽपत्यम्' अशैषिक सूत्र है तथा 'वृद्धाच्छः' शैषिक है। इनमें परस्पर बाध्य-बाधक भाव सम्भव न होने से प्रकृत सूत्र व्यर्थ है।

(समा०) अपत्यार्थक उत्सर्ग प्रत्यय है। यह भी शैषिक है। अतः बाध्य-बाधकभाव सम्भव है। यदि 'तस्याऽपत्यमत इञ्' इस प्रकार एक सूत्र रहता तथा दो सूत्र नहीं रहते, तब अकारान्त प्रकृतिविशेष से सम्बद्ध ही अपत्यार्थ का उपयोग सम्भव होता है। इससे अतिरिक्त जो अपत्यार्थ होता उसे 'शेष' ही माना जाता। तब प्राप्त 'छ' प्रत्यय के बाध के लिए प्रकृत सूत्र की उपयोगिता है। योगविभाग की दशा में प्रकृतिसामान्य से सम्बद्ध अपत्य अर्थ का अण् आदि विधि में उपयोग हो चुका है। अतः इसे 'शेष' नहीं माना जायेगा। फलतः 'छ' प्राप्त नहीं हुआ। इस दशा में अप्राप्त बाध कहना चाहिए।

वृद्धानि अस्य प्रयोजनम्—प्रकृत सूत्र का प्रयोजन वृद्धसंज्ञक शब्द है। भाव यह है कि 'भानोरपत्यम्' यहाँ 'भानु' वृद्धसंज्ञक है। नामधेय होने से 'उपगु' वृद्धसंज्ञक है। 'वृद्धाच्छः' से 'छ' न हो—इसके लिए प्रकृत सूत्र की उपयोगिता है।

(7) भानवः
भानु अण्—ओर्गुणः।

(8) श्यामगवः (पूर्ववत्)।

(1343) एको गोत्रे *93* (1093)

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (4.1.162), तस्मिन् विवक्षिते भेदेन प्रत्यपत्यं प्रत्ययोत्पत्तिप्रसङ्गे नियमः क्रियते-गोत्रे एक एव प्रत्ययो भवति, सर्वेऽपत्येन युज्यन्ते। अपतनादपत्यम्, योऽपि व्यवहितेन जनितः सोऽपि प्रथमप्रकृतेरपत्यं भवत्येव। गर्गस्यापत्यं गार्गिः। गार्गेरपत्यं गार्ग्यः। तत्पुत्रोऽपि गार्ग्यः। सर्वस्मिन् व्यवहितजनितेऽपि गोत्रापत्ये गर्गशब्दाद् यञेव भवतीति प्रत्ययो नियम्यते। अथवा गोत्रापत्ये विवक्षिते एक एव शब्दः प्रथमा प्रकृतिः प्रत्ययमुत्पादयतीति प्रकृतिर्नियम्यते-गार्ग्यः। नाडायनः।

अर्थ—गोत्र में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है। 'अपत्यं पौत्रप्रभृति०' के द्वारा पौत्र (= तृतीय पुत्र) से लेकर आगे सब अपत्यों की गोत्र संज्ञा होती है। यह नियमसूत्र है।

उदा० (1) गार्ग्यः
गर्गस्याऽपत्यम्—गार्गिः (इञ् हुआ)।
गार्गेरपत्यम्—गार्ग्यः (यञ् हुआ)।
गार्ग्यस्याऽपत्यम्—गार्ग्यः
इसी प्रकार आगे भी।

सर्वस्मिन्०—सब गोत्राऽपत्य होने पर गर्ग शब्द से 'यञ्' ही होता है—इस प्रकार प्रत्यय का नियम किया जाता है। अथवा गोत्राऽपत्य की विवक्षा में एक ही शब्द प्रथम प्रकृति है, जो प्रत्यय उत्पन्न करती है—इस प्रकार प्रकृति का नियम किया जाता है।

(2) नाडायनः (पूर्ववत्)।

(1344) गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् *94* (1094)

अयमपि नियमः। यून्यपत्ये विवक्षिते गोत्रादेव प्रत्ययो भवति, न परमप्रकृत्यनन्तरयुवभ्यः। गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। दाक्षायणः। प्लाक्षायणः। औपगविः। नाडायनिः। अस्त्रियामिति किम्? दाक्षी, प्लाक्षी। किं पुनरत्र प्रतिषिध्यते? यदि नियमः, स्त्रियाम् अनियमः प्राप्नोति। अथ युवप्रत्ययः, स्त्रियां गोत्रप्रत्ययेनाभिधानं न प्राप्नोति, गोत्रसंज्ञाया युवसंज्ञया बाधितत्वात्। तस्माद्योगविभागः कर्तव्यः-'गोत्राद्यूनि प्रत्ययो

भवति', ततः 'अस्त्रियाम्'। यूनि यदुक्तं तत् स्त्रियां न भवति, युवसंज्ञैव प्रतिषिध्यते, तेन स्त्री गोत्रप्रत्ययेनाभिधास्यते।

अर्थ—युवाऽपत्य अर्थ में गोत्रसंज्ञक से प्रत्यय होता है, स्त्री अपत्य को छोड़कर।

उदा० (1) गार्ग्यायणः
गार्ग्यस्याऽपत्यं युवा—'यञिञोश्च' से 'फक्',
गार्ग्यायणः—सु।

(2) वात्स्यायनः (पूर्ववत्)।
(3) दाक्षायणः
दाक्षि फक्।

(4) प्लाक्षायणः (पूर्ववत्)।
(5) नाडायनिः (पूर्ववत्)।

अस्त्रियाम् अर्थात् स्त्री अपत्य को छोड़कर होता है—

(6) दाक्षी
दक्ष की चतुर्थ अपत्य स्त्री—इस अर्थ में,
दक्ष इञ्—गोत्रप्रत्यायन्त 'दाक्षि' से प्रत्यय हुआ है। स्त्री अपत्य की युवा संज्ञा नहीं होती है। अतः मूल प्रकृति से प्रत्यय नहीं हुआ—
दाक्षी—ङीष्, सु।

(7) प्लाक्षी (पूर्ववत्)।

किं पुनः—यहाँ किसका निषेध किया जा रहा है ? यदि गोत्र संज्ञा के बाधित होने से नियम स्त्रीलिंग में गोत्र प्रत्यय के द्वारा अभिधान को प्राप्त नहीं होता, तो योगविभाग करना चाहिए। युवा अर्थ में गोत्र से प्रत्यय होता है। तब स्त्रीलिंग में होता है। युवा अर्थ में जो कहा गया है, वह स्त्रीलिंग में नहीं होता। युव संज्ञा का ही निषेध होता है। तब स्त्रीलिंग गोत्रप्रत्यय के द्वारा कहा जायेगा।

(1345) अत इञ् *95* (1095)

तस्यापत्यमित्येव। अकारान्तात् प्रातिपदिकादिञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। दक्षस्यापत्यं दाक्षिः। तपरकरणं किम्? शुभंयाः, कीलालपाः-इत्यतो मा भूत्। कथं 'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली' (रा०युद्ध 9.22)? शेषविवक्षया भविष्यति।

अर्थ—अपत्य अर्थ में षष्ठी समर्थ अदन्त (=ह्रस्व अकारान्त) प्रातिपदिक से विकल्प से इञ् प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) दाक्षिः
दक्षस्याऽपत्यम्—आदिवृद्धि, सु।
अर्थात् 'अतः' पद में तपरकरण किसलिए है ?

(2) शुभंयाः
यहाँ ह्रस्व अकारान्त नहीं है। अतः 'इञ्' नहीं हुआ।

(3) कीलालपाः (पूर्ववत्)।

(4) दाशरथः
दशरथ अण्—आदिवृद्धि, सु।
यहाँ शेष विवक्षा से 'अण्' हुआ है।

(1346) बाह्वादिभ्यश्च *96* (1096)

बाहु इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्योऽपत्ये इञ् प्रत्ययो भवति। बाहविः। औपबाहविः। अनकारार्थ आरम्भः। क्वचिद् बाधकबाधनार्थः। बाहु। उपबाहु। विवाकु। शिवाकु। वटाकु। उपबिन्दु। वृक। चूडाला। मूषिका। बलाका। भगला। छगला। ध्रुवका। धुवका। सुमित्रा। दुर्मित्रा। पुष्करसत्। अनुहरत्। देवशर्मन्। अग्निशर्मन्। कुनामन्। सुनामन्। पञ्चन्। सप्तन्। अष्टन्। *अमितौजसः सलोपश्च* (ग०सू० 64)। उदञ्चु। शिरस्। शराविन्। क्षेमवृद्धिन्। शृङ्खलातोदिन्। खरनादिन्। नगरमर्दिन्। प्राकारमर्दिन्। लोमन्। अजीगर्त्त। कृष्ण। सलक। युधिष्ठिर। अर्जुन। साम्ब। गद। प्रद्युम्न। राम। *उदङ्कः संज्ञायाम्* (ग०सू० 65)। *सम्भूयोम्भसोः सलोपश्च* (ग०सू० 66)। *बाह्वादिप्रभृतिषु येषां दर्शनं गोत्रभावे लौकिके ततोऽन्यत्र तेषां प्रतिषेधः* (म०भा०)। बाहुर्नाम कश्चित्तस्यापत्यं बाहवः। *सम्बन्धिशब्दानां च तत्सदृशात् प्रतिषेधः* (म०भा०)। संज्ञा श्वसुरस्यापत्यं श्वाशुरिः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः आकृतिगणतामस्य बोधयति-जाम्बिः, ऐन्द्रशर्मिः, आजधेनविः, आजबन्धविः, औडुलोमिः।

अर्थ—बाहु आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से विकल्प से 'इञ्' होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) बाहविः
बाहोरपत्यम् → बाहु इञ्—आदिवृद्धि,
बाहो इ—ओर्गुणः,

बाहविः—सु।

(2) औपबाहविः

उपबाहु इञ्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

अनकार०—अकार से भिन्न के लिए विधान है। कहीं-कहीं बाधक के बाध के लिए है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

अमितौजसः—'अमितौजस' शब्द से 'इञ्' प्रत्यय और 'स्' का लोप होता है।

उदङ्कः सञ्ज्ञायाम्—संज्ञा में 'उदङ्क' शब्द से 'इञ्' होता है।

सम्भूयोम्भसोः सलोपश्च—सम्भूयस् और अम्भस् शब्दों से 'इञ्' प्रत्यय तथा इनके 'स्' का लोप होता है।

बाह्वादि०—बाहु आदि प्रभृति में जिनका दर्शन गोत्रभाव लौकिक में उनसे अन्यत्र उनका निषेध होता है। यथा—

'बाहु' किसी का नाम है। 'बाहु' के पुत्र को 'बाहव' कहा जायेगा।

सम्बन्धि०—सम्बन्धिवाचक शब्दों को उसके सदृश से यह प्रत्यय नहीं होता—

(3) श्वाशुरिः

श्वशुरस्याऽपत्यम्—इञ्। 'राजश्वशुराद् यत्' से 'यत्' नहीं हुआ। यहाँ 'श्वशुर' किसी व्यक्ति का नाम है।

सूत्र में चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है। इससे ज्ञात होता है कि यह आकृतिगण है।

(4) जाम्बिः

इञ् हुआ।

(5) ऐन्द्रशर्मिः

इन्द्रशर्मन् इञ्।

(6) आजधेनविः

अजधेनु इञ्।

(7) आजबन्धविः

अजबन्धु इञ्।

(8) औडुलोमिः

उडुलोमन् इञ्।

(1347) सुधातुरकङ् च *97* (1097)

सुधातृशब्दादपत्ये इञ् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च तस्याऽकङादेशो भवति। सुधातुरपत्यं सौधातकिः। *व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बानामिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। वैयासकिः। वारुडकिः। नैषादकिः। चाण्डालकिः। वैम्बकिः।

अर्थ—'सुधातृ' शब्द से 'इञ्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'अकङ्' आदेश होता है, अपत्य अर्थ में।

'ङिच्च से ऋकार को 'अकङ्' होता है।

उदा० (1) सौधातकिः

सुधातृ इञ् → सौधातक इ—अकङ्, इञ्,

सौधातकिः—सु।

व्यासवरूड०—व्यास, वरुण, निषाद, चण्डाल और विम्ब शब्दों के अकङ् आदेश एवं इञ् प्रत्यय होता है—

(2) वैयासकिः

व्यासस्याऽपत्यम्—आदिवृद्धि को बाध कर 'न य्वाभ्यां०' से ऐच् आगम,

वैयासकिः—सु।

(3) वारुडकिः

वरुडक इञ्—पूर्ववत्।

(4) नैषादकिः

निषादस्याऽपत्यम्।

(5) चाण्डालकिः

चण्डालस्याऽपत्यम्।

(6) बैम्बकिः

बिम्बस्याऽपत्यम्।

(1348) गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् *98* (1099)

तस्यापत्यमित्येव। गोत्रसंज्ञकेऽपत्ये वाच्ये कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् प्रत्ययो भवति। इञोऽपवादः। चकारो विशेषणार्थः 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' (5.3.113) इति। ञकारो वृद्ध्यर्थः। कौञ्जायन्यः, कौञ्जायन्यौ, कौञ्जायनाः। ब्राध्नायन्यः, ब्राध्नायन्यौ, ब्राध्नायनाः। गोत्र इति किम्? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः। एकवचनद्विवचनयोः सति शिष्टत्वाद् ञित्स्वरेणैव भवितव्यम्। बहुवचने तु कौञ्जायना इति परमपि ञित्स्वरं त्यक्त्वा चित्स्वर एवेष्यते। गोत्राधिकारश्च 'शिवादिभ्योऽण्' (4.1.112) इति यावत्। कुञ्ज। ब्रध्न। शङ्ख। भस्मन्। गण। लोमन्। शठ।

शाक । शाकट । शुण्डा । शुभ । विपाश । स्कन्द । स्तम्भ ।

अर्थ—गोत्र अपत्य अर्थ में कुञ्ज आदि गणपठित षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'च्फञ्' होता है। 'च्' अनुबन्ध विशेषण के लिए है। 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' से स्वार्थिक 'ञ्य' होता है। 'ञ्' अनुबन्ध वृद्धि के लिए है।

उदा० (1) कौञ्जायन्यः
कुञ्जस्य गोत्राऽत्यम्—च्फञ्, स्वार्थिक ञ्य,
कौञ्जायन य—सु,
कौञ्जायन्यः—एकवचन में।
कौञ्जायन्य जस्—तद्राजसंज्ञा, तद्राजस्य बहुषु० से लुक्,
कौञ्जायनाः—विसर्ग।

(2) ब्राध्नायन्यः
पूर्ववत् च्फञ्, ञ्य आदि।
जस् में पूर्ववत् 'ञ्य' का लुक्।

गोत्रे० अर्थात् गोत्र अपत्य अर्थ में 'च्फञ्' होता है—

(3) कौञ्जिः
कुञ्जस्याऽनन्तराऽपत्यम्—च्फञ् नहीं हुआ,
कौञ्जिः—इञ् हुआ।

एकवचन व द्विवचन के होने पर ञित् स्वर को छोड़कर चित् स्वर ही होता है। 'शिवादिभ्योऽण्' तक गोत्र-अधिकार चलता है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1349) नडादिभ्यः फक् *99* (1101)

नड इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये फक् प्रत्ययो भवति। नाडायनः। चारायणः। गोत्र इत्येव-नाडिः। *शलङ्कु शलङ्कं च* (ग०सू० 67) इत्यत्र पठ्यते-शालङ्कायनः, पैलादिषु च शालङ्किशब्दः पठ्यते-शालङ्किः पिता, शालङ्किः पुत्रः। तत्कथम्? गोत्रविशेषे कौशिके फकं स्मरन्ति। इञेवान्यत्र-शालङ्किरिति। अथवा पैलादि-पाठ एक ज्ञापक इञो भावस्य। नड। चर। बक। मुञ्ज। इतिक। इतिश। उपक। लमक। *शलङ्कु शलङ्कं च*। सप्तल। वाजप्य। तिक। *अग्निशर्मन् वृषगणे* (ग० सू० 68)। प्राण। नर। सायक। दास। मित्र। द्वीप। पिङ्गर। पिङ्गल। किङ्कर। किङ्कल। कातर। कातल। काश्य। काश्यप। काव्य। अज। अमुष्य। *कृष्णरणौ ब्राह्मणवासिष्ठयोः* (ग०सू० 69)। अमित्र। लिगु। चित्र। कुमार। *क्रोष्टु क्रोष्टं च* (ग०सू० 70)। लोह। दुर्ग। स्तम्भ। शिंशपा। अग्र। तृण। शकट। सुमनस्। सुमत। मिमत। ऋक्। जत्। युगन्धर। हंसक। दण्डिन्। हस्तिन्। पञ्चाल। चमसिन्। सुकृत्य। स्थिरक। ब्राह्मण। चटक। बदर। अश्वक। खरप। कामुक। ब्रह्मदत्त। उदुम्बर। शोण। अलोह। दण्ड।

अर्थ—गोत्र अपत्य अर्थ में नड आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से फक् होता है।

उदा० (1) नाडायनः
नडस्य गोत्राऽपत्यम्—फक्, 'किति च' से आदिवृद्धि,
नाडायनः—सु।

(2) चारायणः (पूर्ववत्)।

गोत्रे अर्थात् गोत्र अपत्य अर्थ में ही 'फक्' होता है—

(3) नाडिः
गोत्र अपत्य अर्थ नहीं है। फक् नहीं हुआ। 'इञ्' हुआ।

शलङ्क......शलङ्क तथा शलङ्कु आदेश व फक् प्रत्यय होता है—

(4) शालङ्कायनः
पैलादिगण में शालङ्कि शब्द का पाठ है। शालङ्किः पिता। शालङ्किः पुत्रः। कौशिक गोत्रविशेष में फक् को याद करते हैं। अन्यत्र 'इञ्' ही होता है—शालङ्किः। अथवा पैल आदि में पाठ होना 'इञ्' के अभाव का ज्ञापक है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1350) हरितादिभ्योऽञः *100* (1102)

हरितादिर्बिदाद्यन्तर्गणः। हरितादिभ्योऽञन्तेभ्योऽपत्ये फक् प्रत्ययो भवति। इञोऽपवादः। हरितस्यापत्यं हारि-तायनः। कैन्दासायनः। ननु च गोत्र इति वर्त्तते, न च गोत्रादपरो गोत्रप्रत्ययो भवति, 'एको गोत्रे' (4.1.93) इति वचनात्? सत्यमेतत्। इह तु गोत्राधिकारेऽपि साम-र्थ्याद्यूनि प्रत्ययो विज्ञायते। गोत्राधिकारस्तूत्तरार्थः।

अर्थ—हरितादि गणपठित तथा अञ् प्रत्ययान्त समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में 'फक्' होता है।

यह इञ् का अपवाद है।

उदा० (1) हारितायनः

हरितस्याऽपत्यम्—हरित फक्

विभक्तिकार्य होकर रूप बना। यहाँ 'अनृष्यानन्तर्ये०' से 'अञ्' तथा प्रकृत सूत्र से 'फक्' होता है। 'एको गोत्रे' से एक प्रत्यय होना चाहिए। 'फक्' विधानसामर्थ्य से हुआ है। यह गोत्राऽपत्य में न होकर युवाऽपत्य में जानना चाहिए। 'गोत्रे' का अधिकार उत्तर शास्त्र के लिए है।

(1351) यञिञोश्च *101* (1103)

यञन्तादिञन्ताच्च प्रातिपदिकादपत्ये फक् प्रत्ययो भवति। गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। इञन्तात्-दाक्षायणः, प्लाक्षायणः। 'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' (4.3.10), 'सतुङ्गमादिभ्य इञ्' (4.2.80) इत्यतो न भवति, गोत्रग्रहणेन यञिञौ विशेष्येते। तदन्तात्तु यून्येवायं प्रत्ययः, 'गोत्राद्यूनि' इति वचनात्।

अर्थ—गोत्राऽपत्य अर्थ में विहित यञ् तथा अञ् प्रत्यय हैं अन्त में जिनके, ऐसे समर्थ प्रातिपदिकों से 'फक्' होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) गार्ग्यायणः
गर्गस्य गोत्राऽपत्यम् → गार्ग्यः—'गर्गादिभ्यो यत्' से 'यत्',—
गार्ग्यस्य युवाऽपत्यम्—गार्ग्यायणः।

(2) वात्स्यायनः
पूर्ववत् यञ्, फक्।

(3) दाक्षायणः
दक्षस्य गोत्राऽपत्यम् → दाक्षिः—अत इञ्,
दाक्षेर्युवाऽपत्यम्—दाक्षायणः।

(4) प्लाक्षायणः (पूर्ववत्)।

द्वीपादनुसमुद्रं यञ्, सुतङ्गमादिभ्य इञ्—इससे नहीं होता है।

गोत्र का ग्रहण होने से यञ् व इञ् विशेषित होते हैं। अतः तदन्त से ही युवाऽपत्य अर्थ में प्रत्यय होता है। गोत्रप्रत्ययान्त से युवाऽपत्य अर्थ में वचनसामर्थ्य से प्रत्यय होता है।

(1352) शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु *102* (1104)

गोत्र इत्येव। शरद्वत्, शुनक, दर्भ-इत्येतेभ्यो गोत्रापत्ये फक् प्रत्ययो भवति यथासंख्यं भृगुवत्साग्रायणेष्वर्थेष्वपत्यविशेषेषु। शारद्वतायनो भवति भार्गवश्चेत्, शारद्वतोऽन्यः। शौनकायनो भवति वात्स्यश्चेत्, शौनकोऽन्यः। दार्भायणो भवति आग्रायणश्चेत्, दार्भिरन्यः। शरद्वच्छुनकशब्दौ बिदादी, ताभ्यामञोऽपवादः फक्।

अर्थ—भृगु, वत्स तथा आग्रायण गोत्रस्थ अर्थ वाच्य होने पर यथासंख्य करके शरद्वत्, शुनक तथा दर्भ समर्थ प्रातिपदिकों से फक् होता है।

उदा० (1) शारद्वतायनः
भार्गवगोत्रस्थ वाच्य होने पर प्रत्यय हुआ।

(2) शौनकायनः
वात्स्यगोत्रस्थ वाच्य होने पर।

(3) दार्भायणः
आग्रायण गोत्रस्थ वाच्य होने पर।
पक्ष में क्रमशः शारद्वतः, शौनकः, दर्भिः रूप बनते हैं।

शरत् व शुनक शब्दों का बिदादिगण में पाठ है। इनसे 'अञ्' प्राप्त था। उसका यह अपवाद है।

(1353) द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम् *103* (1105)

गोत्र इत्येव। द्रोणादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्येऽन्यतरस्यां फक् प्रत्ययो भवति। इञोऽपवादः। द्रौणायनः, द्रौणिः। पार्वतायनः, पार्वतिः। जैवन्तायनः, जैवन्तिः। कथमनन्तरोऽश्वत्थामा द्रौणायन इत्युच्यते? नैवात्र महाभारतद्रोणो गृह्यते, किं तर्ह्यनादिः। तत इदं गोत्रे प्रत्ययविधानम्। इदानीं श्रुतिसामान्यदध्यारोपेण तथाभिधानं भवति।

अर्थ—गोत्राऽपत्य में द्रोण, पर्वत तथा जीवन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'फक्' विकल्प से होता है। यह इञ् का अपवाद है।

उदा० (1) द्रौणायनः
द्रोण फक्—आयन आदेश, सु।

(2) द्रोणिः
पक्ष में 'इञ्' हुआ।

(3) पार्वतायनः
पूर्ववत् हुआ।

(4) पार्वतिः

पक्ष में इञ्।

(5) जैवन्तायनः
जीवन्त फक्—आदिवृद्धि।

(6) जैवन्तिः
इञ् हुआ।

अश्वत्थामा को द्रौणायन कैसे कहा जाता है ? यहाँ महाभारत के द्रोण का ग्रहण नहीं है। किसलिए ? उससे यह गोत्र में प्रत्यय का विधान है। अब श्रुतिसामान्यवशात् अध्यारोप से यह नाम होता है।

(1354) अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् *104* (1106)

गोत्र इत्येव। बिदादिभ्यो गोत्रापत्येऽञ्प्रत्ययो भवति। बैदः। और्वः। ये पुनरत्रानृषिशब्दाः पुत्रादयस्तेभ्योऽनन्तरापत्ये एव भवति–पौत्रः, दौहित्रः। अनृष्यानन्तर्ये इत्यस्यायमर्थः–अनृषिभ्योऽनन्तरे भवतीति। यद्ययमर्थः, ऋष्यपत्येषु नैरन्तर्यप्रतिषेधो न कृतः स्यात्, तत्रेदं न सिद्ध्यति–'इन्द्रभूः सप्तमः काश्यपानाम्' (वंश ब्रा० 2.24) ? अनन्तरापत्यरूपेणैव ऋष्यणाभिधानं भविष्यति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। ऋष्यपत्ये नैरन्तर्यविषये प्रतिषेधे विज्ञायमाने कौशिकः, विश्वामित्र इति दुष्यति। गोत्र इत्येव–बैदिः। ननु च ऋष्यणा भवितव्यम् ? बाह्वादिराकृतिगणः, तेनेञेव भवति। बिद। उर्व। कश्यप। कुशिक। भरद्वाज। उपमन्यु। किलालप। किदर्भ। विश्वानर। ऋष्टिषेण। ऋतभाग। हर्यश्व। प्रियक। आपस्तम्ब। कूचवार। शरद्वत्। शुनक। धेनु। गोपवन। शिग्रु। बिन्दु। भाजन। अश्वावतान। श्यामाक। श्यमाक। श्यापर्ण। हरित। किन्दास। वह्यस्क। अर्कलूष। वध्योष। विष्णुवृद्ध। प्रतिबोध। रथन्तर। रथीतर। गविष्ठिर। निषाद। मठर। मृद। पुनर्भू। पुत्र। दुहितृ। ननान्दृ। *परस्त्री परशुञ्च* (ग०सू० 71)।

अर्थ—गोत्र अपत्य अर्थ में बिदादि शब्दों से अञ् तद्धित प्रत्यय होता है तथा अनन्तरापत्य अर्थ में ऋषिवाची से भिन्न बिदादि शब्दों से अञ् होता है।

उदा० (1) बैदः
बिदस्य गोत्राऽपत्यम्—आदिवृद्धि, सु।

(2) और्वः
पूर्ववत् आदिवृद्धि।

निम्नलिखित ऋषिवाची नहीं हैं—

(3) पौत्रः
पुत्रस्याऽपत्यम्।

(4) दौहित्रः
दुहितुरपत्यम्।

अनृष्या०—ऋषिवाची से भिन्न तथा अनन्तराऽपत्य अर्थ में प्रत्यय है। इस अर्थ का ऋषिवाची से अपत्य अर्थ में निषेध नहीं किया गया है, वहाँ पर यह सिद्ध नहीं होता।

(5) काश्यपः

कश्यपस्याऽपत्यम्—सातवीं पीढ़ी में 'इन्द्रभू' काश्यप ही कहलायेगा।

बहुवचन में 'यञञोश्च' से प्रत्यय का लुक् होता है। अतः 'काश्यपानाम्' के स्थान पर 'कश्यपानाम्' रूप होना चाहिए।

(समा०) अपत्यसामान्य रूप से 'ऋष्यन्धक०' से विहित 'अण्' के द्वारा अभिधान हो जायेगा। भाव यह है कि यहाँ गोत्रापत्य में 'अञ्' नहीं हुआ है, अपितु सामान्य अर्थ में 'अण्' हुआ है। उसका लुक् नहीं होता। ऋषि अपत्य में अव्यवधान-विषयक प्रतिषेध का ज्ञान कराने पर 'कौशिकः' तथा 'विश्वामित्रः' प्रयोग असाधु हो जायेंगे।

गोत्रे अर्थात् गोत्रापत्य अर्थ में प्रत्यय होता है—

बैदिः
यहाँ फक् नहीं हुआ।
बाह्वादि आकृतिगण हैं। अतः 4.1.96 से इञ् प्राप्त था। शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1355) गर्गादिभ्यो यञ् *105* (1107)

गोत्र इत्येव। गर्गादिभ्यो गोत्रापत्ये यञ् प्रत्ययो भवति। गार्ग्यः। वात्स्यः। मनुशब्दोऽत्र पठ्यते, तत्र कथं मानवी प्रजा ? गोत्र इत्युच्यते, अपत्यसामान्ये भविष्यति। कथमनन्तरो रामो जामदग्न्यः, व्यासः पाराशर्य इति ? गोत्ररूपाध्यारोपेण भविष्यति। अनन्तरापत्यविवक्षायां तु ऋष्यणैव भवितव्यम्–जामदग्नः, पाराशर इति। गर्ग। वत्स। *वाजाऽसे* (ग०सू० 72)। संकृति। अज। व्याघ्रपात्। विदमृत्। प्राचीनयोग। अगस्ति। पुलस्ति। रेभ। अग्निवेश। शङ्ख।

शठ। धूम। अबट। चमस। धनञ्जय। मनस। वृक्ष। विश्वावसु। जनमान। लोहित। संशित। बभ्रु। मण्डु। मक्षु। अलिगु। शङ्कु। लिगु। गुलु। मन्तु। जिगीषु। मनु। तन्तु। मनायी। भूत। कथक। कष। तण्ड। वतण्ड। कपि। कत। कुरुकत। अनडुह। कण्व। शकल। गोकक्ष। अगस्त्य। कुण्डिन। यज्ञवल्क। उभय। जात। विरोहित। वृषगण। रहूगण। शण्डिल। वण। कचुलुक। मुद्गल। मुसल। पराशर। जतूकर्ण। मन्त्रित। संहित। अश्मरथ। शर्कराक्ष। पूतिमाष। स्थूण। अररक। पिङ्गल। कृष्ण। गोलुन्द। उलूक। तितिक्ष। भिषज्। भडित। भण्डित। दल्भ। चिकित। देवहू। इन्द्रहू। एकलू। पिप्पलू। वृदग्नि। जमदग्नि। सुलोभिन्। उकत्थ। कुटीगु।

अर्थ—गर्ग आदि षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से यञ् होता है, गोत्रापत्य अर्थ में।

उदा० (1) गार्ग्य:

गर्ग यञ् → गार्ग्य:।

(2) वात्स्य: (पूर्ववत्)।

(3) मानवी

यहाँ 'मनु' शब्द का पाठ है। अत: यञ् प्राप्त था। अपत्यसामान्य अर्थ में प्रत्यय (अण्) हुआ है। तब टिड्ढाण० से ङीप् हुआ।

(4) जामदग्न्य:

यञ् हुआ। गोत्ररूप के अध्यारोप से प्रत्यय हो जायेगा। अनन्तराऽपत्य अर्थ में तो ऋष्य को ही होना चाहिए।

(5) पाराशर्य:

पूर्ववत् यञ् हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1356) मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयो: *106* (1109)

मधुशब्दाद् बभ्रुशब्दाच्च गोत्रापत्ये यञ् प्रत्ययो भवति। यथासंख्यं ब्राह्मणे कौशिके च वाच्ये। माधव्यो भवति ब्राह्मणश्चेत्, माधव एवान्य:। बाभ्रव्यो भवति कौशिकश्चेत्, बाभ्रव एवान्य:। बभ्रुशब्दो गर्गादिषु पठ्यते, तत: सिद्धे यञि कौशिके नियमार्थं वचनम्। गर्गादिषु पाठोऽप्यन्तर्गणकार्यार्थ:–'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्य:' (4.1.18) इति–बाभ्रव्यायणी।

अर्थ—ब्राह्मण तथा कौशिक अर्थ में यथासंख्य करके मधु तथा बभ्रु शब्दों से 'यञ्' होता है।

उदा० (1) माधव्य:

मधु यञ्—ब्राह्मण अर्थ में। अन्यत्र 'माधव:' होता है।

(2) बाभ्रव्य:

बभ्रु यञ्—कौशिक गोत्र अर्थ में।

अन्यत्र 'बाभ्रव:' होता है।

बभ्रुश०—बभ्रु शब्द का गर्गादि गण में पाठ है। तब पूर्वसूत्र से यञ् के सिद्ध रहते 'कौशिक अर्थ में ही यञ् हो' इस प्रकार नियम किया गया है। गर्गादि गण में इसके पाठ का प्रयोजन अन्तर्गण आश्रित कार्य करना भी है।

(3) बाभ्रव्यायणी

यहाँ 'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्य:' से प्रत्यय हुआ है।

(1357) कपिबोधादाङ्गिरसे *107* (1110)

कपिबोधशब्दाभ्यामाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे गोत्रे यञ् प्रत्ययो भवति। काप्य:। बौध्य:। आङ्गिरस इति किम्? कापेय:, बौधि:। कपिशब्दो गर्गादिषु पठ्यते, तस्य नियमार्थं वचनम्—आङ्गिरसे यथा स्यात्। लोहितादिकार्यार्थश्च गणे पाठ:—काप्यायनी।

अर्थ—कपि तथा बोध—इन षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से यञ् होता है, आंगिरस गोत्र अर्थ में।

उदा० (1) काप्य:

कपेर्गोत्राऽपत्यम्।

(2) बौध्य: (पूर्ववत्)।

आङ्गिरसे अर्थात् आंगिरस गोत्र अर्थ होने पर यञ् होता है—

(3) कापेय:

कपि ढक्—'इतश्चानिञ:' से प्रत्यय हुआ।

(4) बौधि:

यञ् नहीं हुआ। इञ् हुआ।

कपि०—कपि शब्द का गर्गादि गण में पाठ है। अत: नियम किया जाता है कि कपि शब्द से यञ् आंगिरस में ही हो। लोहितादि कार्यों के लिए गण में पाठ किया गया है। यथा—

(5) काप्यायंनी

'बाभ्रव्यायणी' की तरह।

(1358) वतण्डाच्च *108* (1111)

आङ्गिरस इत्येव। वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे गोत्रे यञ् प्रत्ययो भवति। वातण्ड्यः। आङ्गिरस इति किम्? वातण्डः। किमर्थमिदम्, यावता गर्गादिष्वयं पठ्यते? शिवादिष्वप्ययं पठ्यते, तत्राङ्गिरसे शिवाद्यणोऽपवादार्थं पुनर्वचनम्। अनाङ्गिरसे तूभयत्र पाठसामर्थ्यात् प्रत्यय-द्वयमपि भवति—वातण्ड्यः, वातण्डः।

अर्थ—वतण्ड शब्द से यञ् होता है, यदि आंगिरस गोत्र वाच्य हो।

उदा० (1) वातण्ड्यः
वतण्ड यञ्—विभक्तिकार्य।

आङ्गिरसे० अर्थात् **आंगिरस** अर्थ वाच्य हो तो यञ् होता है—

(2) वातण्डः
यञ् नहीं हुआ। अण् हुआ।

वतण्ड—वतण्ड शब्द का गर्गादि गण में पाठ है। अतः प्रकृत सूत्र किसलिए है?

(समा०) वतण्ड शब्द का पाठ शिवादि गण में भी है। तब आङ्गिरस गोत्र वाच्य होने पर शिवादि गण आश्रित अण् के बाध के लिए यह विधान है। आंगिरस अर्थ वाच्य न रहने पर दोनों स्थानों पर पाठ होने से दोनों ही प्रत्यय होते हैं—
वातण्ड्यः (यञ्) तथा वातण्डः (अण्)।

(1359) लुक् स्त्रियाम् *109* (1112)

आङ्गिरस इत्येव। वतण्डशब्दादाङ्गिरस्यां स्त्रियां यञ् प्रत्ययस्य लुग्भवति। लुकि कृते शार्ङ्गरवादिपाठाङ्ङीन् भवति—वतण्डी। आङ्गिरस इति किम्? वातण्ड्यायनी शिवाद्यणि तु वातण्डी।

अर्थ—'स्त्री' अभिधेय हो तो आंगिरस अर्थ में 'वतण्ड' से विधीयमान 'यञ्' प्रत्यय का लुक् होता है। लुक् कर देने पर 'शार्ङ्गरवा०' से ङीन् होता है।

उदा० (1) वतण्डी
वतण्डस्य गोत्राऽपत्यं स्त्री—स्त्रीलिंग अभिधेय है,
वातण्ड्य—यञ् हुआ,
वतण्ड ङीन्—लुक हुआ, सु आदि।

आङ्गिरसे अर्थात् **आंगिरस अर्थ** वाच्य होने पर ही लुक् होता है—

(2) वातण्ड्यायनी
वतण्ड

(3) वातण्डी
'शिवादिभ्योऽण्' से 'अण्' करके ङीप् हुआ है।

(1360) अश्वादिभ्यः फञ् *110* (1113)

आङ्गिरस इति निवृत्तम्। अश्वादिभ्यो गोत्रापत्ये फञ् प्रत्ययो भवति। आश्वायनः। आश्मायनः। ये त्वत्र प्रत्ययान्ताः पठ्यन्ते तेभ्यः सामर्थ्याद्यूनि प्रत्ययो विज्ञायते। अश्व। अश्मन्। शङ्ख। बिद। पुट। रोहिण। खर्ज्जूर। खर्जूल। पिञ्जूर। भडिल। भण्डिल। भडित। भण्डित। भण्डिक। प्रहृत। रामोद। क्षत्र। ग्रीवा। काश। गोलाङ्क्य। अर्क। स्वन। ध्वन। पाद। चक्र। कुल। पवित्र। गोमिन्। श्याम। धूम। धूम्र। वाग्मिन्। विश्वानर। कुट। वेश। *शय आत्रेये* (ग०सू० 73) आत्रेये*। नत्त। तड। नड। ग्रीष्म। अर्ह। विशम्य। विशाला। गिरि। चपल। चुनम। दासक। वैल्य। धर्म। आनुडुह्य। पुंसिजात। अर्जुन। शूद्रक। सुमनस्। दुर्मनस्। क्षान्त। प्राच्य। कित। काण। चुम्प। श्रविष्ठा। वीक्ष्य। पविन्दा। *आत्रेय भारद्वाजे* (ग०सू० 74)। कुत्स। आतव। कितव। शिव। खदिर। *भारद्वाज आत्रेये* (ग०सू० 75)।

अर्थ—अश्वादि गण में पठित प्रातिपदिकों से 'फञ्' होता है, गोत्रापत्य अर्थ में।

उदा० (1) आश्वायनः
अश्वस्य गोत्राऽपत्यम्।

(2) आश्मायनः
अश्मन् फञ्।

ये त्वत्र०—यहाँ जो गोत्र प्रत्ययान्त शब्द पठित हैं, उनसे वचनसामर्थ्यवशात् युवाऽपत्य अर्थ में प्रत्यय जानना चाहिए।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1361) भर्गात् त्रैगर्त्ते *111* (1114)

भर्गशब्दादपत्यविशेषे त्रैगर्ते गोत्रे फञ् प्रत्ययो भवति। भार्गायणो भवति त्रैगर्त्तश्चेत्, भार्गिरन्यः।

अर्थ—गोत्राऽपत्य अर्थ में 'भर्ग' शब्द से 'फञ्' होता है, 'त्रिगर्त्त देश में उत्पन्न' अर्थ वाच्य होने पर।

उदा० (1) भार्गायणः
भर्ग फञ् → भार्गायणः—आदिवृद्धि, आयन आदेश, सु।

(2) भार्गिः
पक्ष में 'इञ्' होता है।

(1362) शिवादिभ्योऽण् *112* (1115)

गोत्र इति निवृत्तम्। अतः प्रभृति सामान्येन प्रत्यया विज्ञायन्ते। शिवादिभ्योऽपत्येऽण् प्रत्ययो भवति। यथायथमिञादीनामपवादः। शैवः। प्रौष्ठः। तक्षन्शब्दोऽत्र पठ्यते कारिलक्षणमुदीचामिञं बाधितुम्। ण्यप्रत्ययस्य तु बाधा नेष्यते-ताक्ष्णः, ताक्ष्ण्यः। गङ्गाशब्दः पठ्यते तिकादिफिञा शुभ्रादिढका च समावेशार्थम्। तेन त्रैरूप्यं भवति-गाङ्गः, गाङ्गायनिः, गाङ्गेयः। विपाशशब्दः पठ्यते कुञ्जादिलक्षणेन च्फञा समावेशार्थम्-वैपाशः, वैपाशायन्यः। शिव। प्रौष्ठ। प्रौष्ठिक। चण्ड। जम्भ। मुनि। सन्धि। भूरि। कुठार। अनभिम्लान। ककुत्स्थ। कहोड। लेख। रोध। खञ्जन। कोहड। पिष्ट। हेहय। खञ्जार। खञ्जाल। सुरोहिका। पर्ण। कहूष। परिल। वतण्ड। तृण। कर्ण। क्षीरह्रद। जलह्रद। परिषिक। जटिलिक। गोफिलिका। बधिरिका। मञ्जीरक। वृष्णिक। रेख। आलेखन। विश्रवण। रवण। वर्त्तनाक्ष। पिटक। पिटाक। तृक्षाक। नभाक। ऊर्णनाभ। जरत्कारु। उत्क्षिपा। रोहितिक। आर्यश्वेत। सुपिष्ट। खर्ज्जूरकर्ण। मसूरकर्ण। तूणकर्ण। मयूरकर्ण। खडरक। तक्षन्। ऋष्टिषेण। गङ्गा। विपाश। यस्क। लह्य। द्रुघ। अयःस्थूण। भलन्दन। विरूपाक्ष। भूमि। इला। सपत्नी। *द्व्यचो नद्याः* (ग०सू० 76)। *त्रिवेणी त्रिवणं च* (ग०सू० 77)।

अर्थ—शिवादि गणपठित प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। यह यथाप्राप्त इञ् आदि प्रत्ययों का अपवाद है।

उदा० (1) शैवः
शिव अण्—आदिवृद्धि।

(2) प्रौष्ठः (पूर्ववत्)।

तक्षन् शब्द का यहाँ पाठ है। ण्यत् प्रत्यय का बाध यहाँ इष्ट नहीं है।

(3) ताक्ष्णः
तक्षन् अण्—उपधालोप होकर।

(4) ताक्ष्ण्यः
तक्षन् ण्यत्—आदिवृद्धि, उपधालोप।

गंगा शब्द का यहाँ पाठ है, ताकि तिकादि होने से फिञ् हो जाय तथा शुभ्रादि होने से ढक् हो जाय। तब तीन रूप बनते हैं—

(5) गाङ्गः
गङ्गा अण्—आदिवृद्धि।

(6) गाङ्गायनिः
गङ्गा फिञ्—आयन् आदेश,
गाङ्गा आयनि—विभक्तिकार्य।

(7) गाङ्गेयः
गङ्गा ढक्—आदिवृद्धि, एय आदेश,
गाङ्गेयः—सु।

विपाशा शब्द का पाठ है, ताकि कुञ्जादिलक्षण से च्फञ् हो जाय।

(8) वैपाशः
विपाशा अण्।

(9) वैपाशायन्यः
विपाशा च्फञ्—अनुबन्धलोप, आयन् आदेश,
वैपाशायन ञ्य—विभक्तिकार्य।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1363) अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः *113* (1116)

'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' (1.1.73)। अवृद्धाभ्य इति शब्दधर्मः, नदीमानुषीभ्य इत्यर्थधर्मः, तेनाभेदात्प्रकृतयो निर्दिश्यन्ते। तन्नामिकाभ्य इति सर्वनाम्ना प्रत्ययप्रकृतेः प्रत्यवमर्शः। अवृद्धानि यानि नदीनां मानुषीणां च नामधेयानि तेभ्योऽपत्येऽण्प्रत्ययो भवति। ढकोऽपवादः। यमुनाया अपत्यं यामुनः। इरावत्या अपत्यम् ऐरावतः। वैतस्तः। नार्मदः। मानुषीभ्यः खल्वपि-शिक्षिताया अपत्यं शैक्षितः, चिन्तिताया अपत्यं चैन्तितः। अवृद्धाभ्य किम् इति? चान्द्रभागाया अपत्यं चान्द्रभागेयः, वासवदत्तेयः। नदीमानुषीभ्य इति किम्? सौपर्णेयः, वैनतेयः। तन्नामिकाभ्य इति किम्? शोभनायाः शौभनेयः।

अर्थ—जो वृद्धसंज्ञक नहीं हैं, ऐसे नदीवाची तथा मानुषीवाची नदी व मानुषी नाम वाले समर्थ प्रातिपदिकों से अण् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। वृद्धिर्यस्याचामा० से वृद्धसंज्ञा होती है। 'अवृद्धाभ्यः' पद में शब्दधर्म है। 'नदीमानुषीभ्यः' में अर्थधर्म हैं। तब अभेद से प्रकृतियों का निर्देश किया गया है। तद्वाची (अर्थात् गंगा आदि) का ज्ञान होता है। यह ठक् प्रत्यय का अपवाद है।

उदा० (1) यामुनः
यमुनाया अपत्यम्—आदिवृद्धि, सु।

(2) ऐरावतः
इरावत्या अपत्यम्—पूर्ववत्।

(3) वैतस्तः
वितस्ता अण्।

(4) नार्मदः
नर्मदा अण्।

(5) शैक्षितः
शिक्षिता अण्।

(6) चैन्तितः
चिन्तिता अण्।

अवृद्धाभ्यः अर्थात् जो वृद्धसंज्ञक नहीं हैं, ऐसे प्रातिपदिक से अण् होता है।

(7) चान्द्रभागेयः
चान्द्रभागाया अपत्यम्—आदि अच् (आ) की वृद्धसंज्ञा है, अतः अण् नहीं हुआ, 'स्त्रीभ्यो ढक्' से 'ढक्' हुआ।

(8) वासवदत्तेयः (पूर्ववत्)।

नदीमानु० अर्थात् नदी व मानुषी शब्दों से 'अण्' होता है—

(9) सौपर्णेयः
सुपर्णा ढक्—पूर्ववत्,
सौपर्णेयः—सु।

(10) वैनतेयः
विनता ढक्—पूर्ववत्।

तन्नामि०—अर्थात् तद्वाची से 'अण्' होता है।

(11) शौभनेयः
शोभनाया अपत्यम्—'शोभना' किसी का नाम नहीं है। 'ढक्' हुआ।

(1364) ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च *114* (1117)

ऋषयः प्रसिद्धा वसिष्ठादयः। अन्धकाः, वृष्णयः, कुरव इति वंशाख्याः। ऋष्यादिकुर्वन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽण्प्रत्ययो भवति। इञोऽपवादः। अत्र्यादिभ्यस्तु परत्वाड्ढगादिभिरेव भवितव्यम्। ऋषिभ्यस्तावत्-वासिष्ठः, वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः-श्वाफल्कः, रान्धसः। वृष्णिभ्यः-वासुदेवः, आनिरुद्धः। कुरुभ्यः-नाकुलः, साहदेवः। कथं पुनर्नित्यानां शब्दानामन्धकादिवंशसमाश्रयणेनान्वाख्यानं युज्यते? केचिदाहुः-कथमपि काकतालीयन्यायेन कुर्वादिवंशेष्वसंकरेणैव नकुलसहदेवादयः शब्दास्सुबहवः संकलिताः, तानुपादाय पाणिनिना स्मृतिरुपनिबद्धेति। अथवाऽन्धकवृष्णिकुरुवंशा अपि नित्या एव, तेषु ये शब्दाः प्रयुज्यन्ते नकुलसहदेवादयस्तत्रेदं प्रत्ययविधानमित्यदोषः।

अर्थ—ऋषि 'वसिष्ठ' आदि हैं। कुरु लोग वंशवाची हैं। ऋषिवाची प्रातिपदिकों से, अन्धक, वृष्णि व कुरु वंशों में उत्पन्न व्यक्तिवाचक प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। यह इञ् का अपवाद है। 'अत्रि' आदि से परत्व के कारण ढक् आदि होना चाहिए।

उदा० (क) ऋषिभ्यः—

(1) वासिष्ठः
वसिष्ठ अण्।

(2) वैश्वामित्रः
विश्वामित्र अण्।

(ख) अन्धकेभ्यः—

(3) श्वाफल्कः
श्वफल्क अण्।

(4) रान्धसः
रन्धस अण्।

(ग) वृष्णिभ्यः—

(5) वासुदेवः
वसुदेव अण्।

(6) आनिरुद्धः
अनिरुद्ध अण्।

(घ) कुरुभ्यः—

(7) नाकुलः

नकुल अण्।

(8) साहदेवः

सहदेव अण्।

कथं पुन०—तब नित्य शब्दों का अन्वाख्यान अन्धकादि वंशों के समाश्रयण से कैसे होता है ? कुछ कहते हैं। जैसे-तैसे काकतालीय न्याय के द्वारा कुरु आदि वंशों में असंकर से ही नकुल सहदेव आदि अनेक शब्द संकलित हैं। उन्हें लेकर आचार्य ने व्याकरण बना दिया है अथवा अन्धक-वृष्णि-कुरु ये वंश भी नित्य ही हैं, उनमें जिन नकुल, सहदेव आदि शब्दों का प्रयोग है, वहाँ इस प्रत्यय का विधान है। अतः कोई दोष नहीं है।

(1365) मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः *115* (1118)

मातृशब्दात्संख्यापूर्वात्सम्पूर्वाद्भद्रपूर्वाच्चापत्येऽण् प्रत्ययो भवति उकारश्चान्तादेशः। द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। साम्मातुरः। भाद्रमातुरः। उकारादेशार्थं वचनम्, प्रत्ययः पुनरुत्सर्गेणैव सिद्धः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽर्थापेक्षः, तेन धान्यमातुर्ग्रहणं न भवति। संख्यासम्भद्रपूर्वाया इति किम् ? सौमात्रः।

अर्थ—संख्यापूर्वक, सम् पूर्वक तथा भद्रपूर्वक मातृ शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को ह्रस्व उकार अन्तादेश होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) द्वैमातुरः
द्वयोर्मात्रोरपत्यम्—अण्,
द्विमातुर् अ—'उरण् रपरः' से उकार अन्तादेश रपर हुआ,
द्वैमातुरः—आदिवृद्धि, सु।

(2) षाण्मातुरः
षट् मातृ अण्—पूर्ववत्,
षाण्मातुर् अ—पूर्ववत्।

(3) साम्मातुरः
सम्मातृ अण्—पूर्ववत्।
साम्मातुरः—सु,

(4) भाद्रमातुरः
भद्रमातृ अण्।

उकारादे०—प्रत्यय तो उत्सर्गतः ही सिद्ध था। उकार अन्तादेश के लिए यह सूत्र है। स्त्रीलिंग के निर्देश से अर्थ की अपेक्षा होती है; तब 'धान्यमातुरपत्यम्' यहाँ प्रत्यय नहीं होता।

सङ्ख्या०—अर्थात् संख्या, सम्, भद्र—ये शब्द हैं पूर्व में जिनके, ऐसे 'मातृ' शब्द से 'अण्' होता है—

(5) सौमात्रः
सुमातुरपत्यम्—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(6) वैमात्रेयः
शुभ्रादि गण में पाठ होने से रूप बनता है।

(1366) कन्यायाः कनीन च *116* (1119)

कन्याशब्दादपत्येऽण्प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन कनीन-शब्द आदेशो भवति। ढकोऽपवादः। कन्याया अपत्यं कानीनः कर्णः। कानीनो व्यासः।

अर्थ—कन्या शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति के स्थान पर कनीन आदेश होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० कानीनः
कन्याया अपत्यम्।

(1367) विकर्णशुङ्गच्छगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु *117* (1120)

विकर्णशुङ्गच्छगलशब्देभ्यो यथासंख्यं वत्सभरद्वाजात्रिष्वपत्यविशेषेष्वण्प्रत्ययो भवति। वैकर्णो भवति वात्स्यश्चेत्, वैकर्णिरन्यः। शौङ्गो भवति भारद्वाजश्चेत्, शौङ्गिरन्यः। छागलो भवत्यात्रेयश्चेत्, छागलिरन्यः। शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति, ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति—शौङ्गेय इति। द्वयमपि चैतत्प्रमाणम्, उभयथा सूत्रप्रणयनात्।

अर्थ—विकर्ण, शुंग और छगल शब्दों से यथासंख्य करके वत्स, भरद्वाज और अत्रि अपत्य विशेषवाची हो तो 'अण्' होता है।

उदा० (1) वैकर्णः
विकर्ण अण्—वात्स्य अर्थ में।

(2) वैकर्णिः
पक्ष में इञ् हुआ।

(3) शौङ्गः
शुङ्ग अण्—भारद्वाज अर्थ में।

(4) शौङ्गिः
पक्ष में इञ् हुआ।

(5) छागलः

छगल अण्—आत्रेय अर्थ में।

(6) छागलिः
पक्ष में।

(7) शौङ्गेयः
शुंगा शब्द को कुछ लोग स्त्रीलिंग मानते हैं। तब ढक् होकर रूप बनता है। दोनों प्रकार से होता है।

(1368) पीलाया वा *118* (1121)

तन्नामिकाणो बाधके 'द्व्यच' (4.1.118) इति ढकि प्राप्तेऽण्प्रत्ययः पक्षे विधीयते। पीलाया अपत्ये वाण्प्रत्ययो भवति। पीलाया अपत्यं पैलः, पैलेयः।

अर्थ—'द्व्यचः' से ढक् प्राप्त होने पर पाक्षिक 'अण्' का विधान किया जा रहा है। पीला शब्द से अण् होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) पैलः
पीलाया अपत्यम्—इस अर्थ में,
पीला अण्—आदिवृद्धि।

(2) पैलेयः
पीला ढक्—पैलेयः।

(1369) ढक् च मण्डूकात् *119* (1122)

मण्डूकशब्दादपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति, चकारादण् च वा। तेन त्रैरूप्यं भवति–माण्डूकेयः, माण्डूकः, माण्डूकिः।

अर्थ—'मण्डूक' प्रातिपदिक से ढक् प्रत्यय होता है तथा अण् प्रत्यय विकल्प से होता है, अपत्य अर्थ में। तीन रूप बनते हैं।

उदा० (1) माण्डूकेयः
मण्डूक ढक्—ढक् हुआ,
माण्डूकेय—एय आदेश।

(2) माण्डूकः
मण्डूक अण्—आदिवृद्धि।

(3) माण्डूकिः
पक्ष में इञ् हुआ।

(1370) स्त्रीभ्यो ढक् *120* (1123)

इह स्त्रीग्रहणेन टाबादिप्रत्ययान्ताः शब्दा गृह्यन्ते। स्त्रीभ्योऽपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति। सौपर्णेयः। वैनतेयः। स्त्रीप्रत्ययविज्ञापनादसत्यर्थग्रहणे इह न भवति–इडबिडोऽपत्यम् ऐडबिडः, दरदोऽपत्यम् दारदः इति। *वडवाया वृषे वाच्ये* (म०भा०)। वाडवेयो वृषः स्मृतः। अपत्ये प्राप्तस्ततोऽपकृष्य विधीयते, तेनापत्ये वाडव इति भवति। *अण् क्रुञ्चाकोकिलात्स्मृतः* (म०भा०)। क्रुञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः। कौकिलः।

अर्थ—'स्त्री' शब्द के ग्रहण से टाप् आदि प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है। स्त्री प्रत्ययान्त समर्थ प्रातिपदिक से ढक् होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) वैनतेयः
विनताया अपत्यम्—ढक् हुआ,
वैनता एय—आदिवृद्धि,
वैनतेयः—सु।

स्त्रीप्रत्यय के विज्ञापित होने से अर्थ का ग्रहण न होने से निम्नलिखित स्थल पर प्रत्यय नहीं होता—

(2) ऐडविडः
इडविडोऽपत्यम्
यहाँ अण् हुआ।

(3) दारदः
दरदोऽपत्यम्—पूर्ववत्।

बडवाया०—वृष अर्थ में बडवा शब्द से 'ढक्' होता है—

(4) वाडवेयः
वडवा ढक्।

(5) वाडवः
अपत्य अर्थ में प्राप्त हुआ। वहाँ से अपकर्षण करके विधान किया जाता है। अपत्य अर्थ में 'अण्' हुआ।

अण् क्रुञ्चा०—क्रुञ्चा तथा कोकिल शब्दों से अण् होता है, अपत्य अर्थ में—

(6) क्रौञ्चः
क्रुञ्चाया अपत्यम्—अण् हुआ,
क्रौञ्च सु—आदिवृद्धि, सु।

(7) कौकिलः
कोकिलाया अपत्यम्—अण् हुआ।

(1371) द्व्यचः *121* (1124)

स्त्रीभ्य इत्येव। द्व्यचः स्त्रीप्रत्ययान्तादपत्ये ढक् प्रत्ययो

भवति । तन्नामिकाणोऽपवादः । दत्ताया अपत्यं दात्तेयः । गौपेयः । द्व्यच इति किम् ? यामुनः ।

अर्थ—अपत्य अर्थ में स्त्रीप्रत्ययान्त दो अच् वाले प्रातिपदिक से ढक् होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) दात्तेयः
दत्ताया अपत्यम्—ढक्, आदिवृद्धि ।

(2) गौपेयः
गोपाया अपत्यम्—पूर्ववत् ।

द्व्यच अर्थात् दो अच् वाले प्रातिपदिक से ढक् होता है—

(3) यामुनः
यमुना अण्—'यमुना' दो अच् वाला नहीं है। अतः ढक् नहीं हुआ, अण् हुआ ।

(1372) इतश्चानिञः *122* (1125)

स्त्रीग्रहणं निवृत्तम्। चकारो 'द्व्यचः' इत्यस्यानुकर्षणार्थः । इकारान्तात्प्रातिपदिकादनिञन्तादपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति। आत्रेयः। नैधेयः। इत इति किम्? दाक्षिः, प्लाक्षिः। अनिञ इति किम्? दाक्षायणः, प्लाक्षायणः। द्व्यच इत्येव—मरीचेरपत्यं मारीचः ।

अर्थ—'स्त्री' पद की अनुवृत्ति नहीं है। चकार के द्वारा 'द्व्यचः' का अनुकर्षण होता है। अपत्य अर्थ में इकारान्त दो अच् वाले प्रातिपदिक से ढक् होता है, परन्तु जिसके अन्त में इञ् हो, उससे नहीं होता।

उदा० (1) आत्रेयः
अत्रेरपत्यम्—ढक्, आदिवृद्धि,
आत्रेयः—सु ।

(2) नैधेयः
निधि ढक् ।

इत इति अर्थात् ह्रस्व इकारान्त प्रातिपदिक से ही ढक् होता है—

(3) दाक्षिः
दक्ष इञ्—इकारान्त नहीं है, 'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ,
दाक्षिः—सु ।

(4) प्लाक्षिः (पूर्ववत्) ।

अनिञ अर्थात् इञ् अन्त में हो तो ढक् नहीं होता—

(5) दाक्षायणः
दाक्षेरपत्यम्—'दाक्षि' इकारान्त है, द्व्यच् भी है, परन्तु अन्त में 'इञ्' (अत इञ्) है, अतः ढक् नहीं हुआ,
दाक्षि फक्—यञिञोश्च,
दाक्षायणः—विभक्तिकार्य ।

(6) प्लाक्षायणः (पूर्ववत्) ।

द्व्यच अर्थात दो अच् वाले प्रातिपदिक से ढक् होता है—
(7) मारीचः
मरीचि—यह द्व्यच् नहीं है। ढक् नहीं हुआ।

(1373) शुभ्रादिभ्यश्च *123* (1126)

शुभ्र इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ढक् प्रत्ययो भवति। यथायोगमिञादीनामपवादः। शौभ्रेयः। वैष्टपुरेयः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ आकृतिगणतामस्य बोधयति। तेन गाङ्गेयः, पाण्डवेय इत्येवमादि सिद्धं भवति। शुभ्र। विष्टपुर। ब्रह्मकृत। शतद्वार। शतावर। शलाका। शलाचल। शलाकाभ्रू। लेखाभ्रू। विमातृ। विधवा। किंकसा। रोहिणी। रुक्मिणी। दिशा। शालूक। अजबस्ति। शकन्धि। *लक्षणश्यामयोर्वासिष्ठे* (ग०सू० 78)। गोधा। कृकलास। अणीव। प्रवाहण। भरत। भारम। मृकण्डु। मघष्टु। मकष्टु। कर्पूर। इतर। अन्यतर। आलीढ। सुदत्त। सुचक्षस्। सुनामन्। कद्रु। तुद। अकशाप। कुमारिका। किशोरिका। कुवेणिका। जिह्माशिन। परिधि। वायुदत्त। ककल। खट्वा। अम्बिका। अशोका। शुद्धपिङ्गला। खण्डोन्मत्ता। अनुदृष्टि। जरतिन्। बलिवर्दिन्। विग्रज। बीज। श्वन्। अश्मन्। अश्व। अजिर।

अर्थ—शुभ्रादि गणपठित प्रातिपदिकों से ढक् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। यह यथाप्राप्त इञ् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) शौभ्रेयः
शुभ्रस्याऽपत्यम्—ढक्, सु ।

(2) वैष्टापुरेयः
विष्टापुर ढक्—पूर्ववत् ।

चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है। यह एक आकृतिगण है।

(3) गाङ्गेयः
गङ्गा ढक् ।

(4) पाण्डवेयः

पाण्डु ढक्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1374) विकर्णकुषीतकात् काश्यपे *124* (1127)

विकर्णशब्दात्कुषीतकशब्दाच्च काश्यपेऽपत्यविशेषे ढक् प्रत्ययो भवति। वैकर्णेयः। कौषीतकेयः। काश्यप इति किम्? वैकर्णिः, कौषीतकिः।

अर्थ—काश्यप अपत्यविशेष अर्थ में विकर्ण तथा कुषीतक शब्दों से ढक् होता है।

उदा० (1) वैकर्णेयः
विकर्ण ढक्
वैकर्ण एय।

(2) कौषीतकेयः
कुषीतक ढक्।

काश्यपे अर्थात् **काश्यप अपत्य** अर्थ में ही ढक् होता है—

(3) वैकर्णिः
विकर्ण इञ्—आदिवृद्धि।

(4) कौषीतकिः
कुषीतक इञ्—आदिवृद्धि।

(1375) भ्रुवो वुक् च *125* (1128)

भ्रूशब्दादपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन च वुगागमः। भ्रौवेयः।

अर्थ—भ्रू शब्द से ढक् प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को वुक् आगम होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) भ्रौवेयः
भ्रुवोऽपत्यम् → भ्रू वुक् ढक्—वुक् आगम,
भ्रौवेयः—आदिवृद्धि, सु।

(1376) कल्याण्यादीनामिनङ् *126* (1131)

कल्याणी इत्येवमादीनां शब्दानामपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च इनङादेशः। स्त्रीप्रत्ययान्तानामादेशार्थं ग्रहणम्, प्रत्ययस्य सिद्धत्वाद्, अन्येषामुभयार्थम्। काल्याणिनेयः। सौभागिनेयः। दौर्भागिनेयः। 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते' (7.3.19) इत्युभयपदवृद्धिः। कल्याणी। सुभगा। दुर्भगा। बन्धकी। अनुदृष्टि। अनुसृष्टि। जरती। बलीवर्दी। ज्येष्ठा। कनिष्ठा। मध्यमा। परस्त्री।

अर्थ—कल्याणी आदि गण में पठित शब्दों से ढक् प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को इनङ् आदेश होता है, अपत्य अर्थ में। स्त्रीप्रत्ययान्तों के आदेश के लिए इसका ग्रहण है। प्रत्यय के सिद्ध होने से अन्य शब्दों के दोनों के लिए है।

उदा० (1) काल्याणिनेयः
कल्याण्या अपत्यम्—इनङ् आदेश, ढक्,
कल्याणिनङ् ढक्—विभक्तिकार्य।

(2) सौभागिनेयः
सुभगाया अपत्यम्—पूर्ववत्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

हृद, भग, सिन्धु—ये उत्तर पद में हों तो उभयपद वृद्धि होती है—

(3) दौर्भागिनेयः
दुर्भगाया अपत्यम् → दुर्भगिनङ् ढक्—
दौर्भागिनेयः—सु।

(1377) कुलटायां वा *127* (1132)

कुलान्यटतीति कुलटा, पररूपं निपातनात्। कुलटाया अपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च वा इनङादेशो भवति। आदेशार्थं वचनम्, प्रत्ययः पूर्वेणैव सिद्धः। कौलटिनेयः। कौलटेयः। या तु कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्ति ततः 'क्षुद्राभ्यो वा' इति परत्वाड्ढ्रका भवितव्यम्—कौलटेरः।

अर्थ—कुलान्यटति—कुलटा। निपातन से पररूप होता है। कुलटा शब्द से ढक् प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को इनङ् आदेश विकल्प से होता है, अपत्य अर्थ में। ढक् प्रत्यय तो पूर्व सूत्र से ही सिद्ध था, इनङ् आदेश का विधान किया गया है।

उदा० (1) कौलटिनेयः
कुलटाया अपत्यम् → कुलटिन् ढक्—इनङ् पक्ष में,
कौलटिनेयः—आदिवृद्धि, सु।

(2) कौलटेयः
इनङ् अभाव पक्ष में।

(3) कौलटेरः
कुलटा ढ्रक्—व्यभिचारिणीवाची 'कुलटा' शब्द से 'क्षुद्राभ्यो वा' से पाक्षिक 'ढ्रक्' हुआ,

कुलट् एय् रक्—एय् आदेश,
कौलटेरः—'लोपो व्योर्वलि' से यकारलोप।

(1378) चटकाया ऐरक् *128* (1134)

चटकाया अपत्ये ऐरक् प्रत्ययो भवति। चाटकैरः। *चटकाच्चेति वक्तव्यम्*। चटकस्यापत्यं चाटकैरः। *स्त्रियामपत्ये लुग्वक्तव्यः*। चटकाया अपत्यं स्त्री चटका।

अर्थ—चटका शब्द से 'ऐरक्' होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) चाटकैरः
चटका ऐरक्—चाटकैरः—आदिवृद्धि।

चटक शब्द से भी ऐरक् प्रत्यय होता है—

(2) चाटकैरः
चटकस्याऽपत्यम्।

स्त्री अपत्य के वाच्य होने पर प्रत्यय का लुक् होता है—

(3) चटका
चटकाया अपत्यं स्त्री—ऐरक् हुआ,
चटका सु—लुक् हुआ, सु।

(1379) गोधाया ढ्रक् *129* (1135)

गोधाया अपत्ये ढ्रक् प्रत्ययो भवति। गौधेरः। शुभ्रादिष्वयं पठ्यते, तेन गौधयोऽपि भवति।

अर्थ—अपत्य अर्थ में गोधा शब्द से ढ्रक् होता है।

उदा० (1) गौधेरः
गोधाया अपत्यम्—ढ्रक् हुआ,
गोधा एय् रक्—एय् आदेश, आदिवृद्धि,
गौधेरः—यकारलोप, सु।

(2) गौधेयः
गोधा ढक्—शुभ्रादि गण में पाठ होने से 'ढक्' हुआ,
गौधेयः—सु।

(1380) आरगुदीचाम् *130* (1136)

गोधाया अपत्ये उदीचामाचार्याणां मतेन आरक् प्रत्ययो भवति। गौधारः। आचार्यग्रहणं पूजार्थम्, वचनसामर्थ्यादिव पूर्वेण समावेशो भविष्यति। आरग्वचनमनर्थकम्, रका सिद्धत्वात्। ज्ञापकं त्वयमन्येभ्योऽपि भवतीति–जाडारः, पाण्डारः।

अर्थ—गोधा समर्थ प्रातिपदिक से आरक् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में, उदीच आचार्यों के मत में।

उदा० (1) गौधारः
गोधा आरक्—आदिवृद्धि।

आचार्यों का उल्लेख सम्मान के लिए किया गया है। वचन-सामर्थ्य से पूर्व के द्वारा भी समावेश हो जायेगा। रक् के सिद्ध होने से 'आरक्' का पाठ व्यर्थ है।

(समा०) यह ज्ञापित करता है कि गोधा से अतिरिक्त शब्दों से भी 'आरक्' होता है। यथा—

(2) जाडारः।
(3) पाण्डारः।

(1381) क्षुद्राभ्यो वा *131* (1137)

ढ्रगनुवर्त्तते, न आरक्। क्षुद्राः–अङ्गहीनाः धर्महीनाश्च। अर्थधर्मेण तदभिधायिन्यः स्त्रीलिङ्गाः प्रकृतयो निर्दिश्यन्ते। क्षुद्राभ्यो वाऽपत्ये ढ्रक् प्रत्ययो भवति। ढकोऽपवादः। काणेरः, काणेयः। दासेरः, दासेयः।

अर्थ—ढ्रक् का अनुवर्त्तन है, 'आरक्' का नहीं। अंगहीन अथवा धर्महीन को क्षुद्र कहते हैं। अर्थ-धर्म के द्वारा उसके वाचक स्त्रीलिंग प्रकृतियों का निर्देश सूत्र में किया गया है।

अपत्य अर्थ में क्षुद्रावाची प्रातिपदिकों से ढ्रक् विकल्प से होता है। यह ढक् का अपवाद है।

उदा० (1) काणेरः
काणाया अपत्यम्—ढ्रक्,
काण् एय् रक्—लोपो व्योर्वलि।

(2) काणेयः
काणा ढक्—पक्ष में 'ढक्' हुआ,
काण् एय—सु आदि।

(3) दासेरः
दासी ढ्रक्—'काणेरः' की तरह।

(4) दासेयः
दासी ढक्।

(1382) पितृष्वसुश्छण् *132* (1138)

पितृष्वसृशब्दादपत्ये छणप्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। पैतृष्वस्त्रीयः।

अर्थ—पितृष्वसृ समर्थ प्रातिपदिक से 'छण्' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) पैतृष्वस्रीयः
पितृष्वसृ छण्—ईय् आदेश,
पैतृष्वस्रीय सु—आदिवृद्धि, यणादेश, सु।

(1383) ढकि लोपः *133* (1139)

पितृष्वसुरपत्यप्रत्यये ढकि परतो लोपो भवति। पैतृष्वसेयः। कथं पुनरिह ढक् प्रत्ययः? एतदेव ज्ञापकं ढको भावस्य।

अर्थ—पितृष्वसृ प्रकृति का लोप होता है, अपत्य अर्थ में विहित 'ढक्' के परे रहते। यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा ऋहकार का लोप होता है।

उदा० (1) पैतृष्वसेयः
पितृष्वसृ ढक्—प्रकृत सूत्र से ज्ञापित होता है कि 'पितृष्वसृ' से 'ढक्' भी होता है,
पैतृष्वसृ एय—आदिवृद्धि, अन्त्यलोप,
पैतृष्वसेयः—सु।

(1384) मातृष्वसुश्च *134* (1140)

पितृष्वसुरित्येतदपेक्षते, पितृष्वसुर्यदुक्तं तन्मातृष्वसुरपि भवति-छणप्रत्ययो ढकि लोपश्च। मातृष्वस्रीयः। मातृष्वसेयः।

अर्थ—अपत्य अर्थ में मातृष्वसृ शब्द से छण् होता है तथा विधीयमान ढक् परे रहते प्रकृति का लोप होता है।

उदा० (1) मातृष्वस्रीयः
मातृष्वसृ छण्—पूर्ववत्,
मातृष्वस्रीयः—सु।

(2) मातृष्वसेयः
मातृष्वस् एय—अन्त्यलोप।

(1385) चतुष्पाद्भ्यो ढञ् *135* (1141)

चतुष्पादभिधायिनीभ्यः प्रकृतिभ्योऽपत्ये ढञ्प्रत्ययो भवति। अणादीनामपवादः। कामण्डलेयः। शौन्तिबाहेयः। जाम्बेयः।

अर्थ—चतुष्पादवाची प्रातिपदिक से 'ढञ्' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

यह अण् आदि का अपवाद है।

उदा०—(1) कामण्डलेयः
कमण्डलोरपत्यम्—'ढञ्' हुआ,
कमण्डल् एय—'ढे लोपोऽक०' से उकारलोप,
कामण्डलेयः—सु।

(2) शौन्तिबाहेयः
शुन्तिबाहु ढञ्—आदिवृद्धि, शेष पूर्ववत्।

(3) जाम्बेयः
जम्बु ढञ्—पूर्ववत्।

(1386) गृष्ट्यादिभ्यश्च *136* (1143)

गृष्ट्यादिभ्यः शब्देभ्योऽपत्ये ढञ्प्रत्ययो भवति। अणादीनामपवादः। गार्ष्टेयः। हार्ष्टेयः। गृष्टिशब्दो यश्चतुष्पाद्वचनस्ततः पूर्वेणैव सिद्धः, अचतुष्पादर्थं वचनम्। गृष्टि। हृष्टि। हलि। बलि। विश्रि। कुद्रि। अजबस्ति। मित्रयु।

अर्थ—गृष्टि आदि समर्थ प्रातिपदिकों से ढञ् होता है, अपत्य अर्थ में।

यह अण् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) गार्ष्टेयः
गृष्टेरपत्यम्—ढञ् हुआ,
गार्ष्ट् एय—आदिवृद्धि,
गार्ष्टेयः—सु।

गृष्टि शब्द चतुष्पादवाची होने से इससे पूर्व सूत्र के द्वारा प्रत्यय सिद्ध ही था, अब चतुष्पादवाची से भिन्न शब्दों के लिए विधान किया जा रहा है।

(2) हार्ष्टेयः
हृष्टि ढञ्—पूर्ववत्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1387) राजश्वशुराद्यत् *137* (1153)

राजन्-श्वशुरशब्दाभ्यामपत्ये यत्प्रत्ययो भवति। यथाक्रममणिञोरपवादः। राजन्यः। श्वशुर्यः। *राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्* (म०भा०)। राजन्यो भवति क्षत्रियजातिश्चेत्। राजनोऽन्यः।

अर्थ—राजन् व श्वशुर प्रातिपदिकों से 'यत्' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

यह यथाप्राप्त अण् व इञ् का अपवाद है।

उदा० (1) राजन्यः
राज्ञोऽपत्यं जातिः—यत्, यचि भम्, नस्तद्धिते,
राजन्यः—'ये चाऽभाव०' से प्रकृतिभाव हुआ।

(2) श्वशुर्यः
श्वशुर यत्—यत्,
श्वशुर्यः—सु।

राज्ञोऽपत्ये०—जहाँ जाति अर्थ वाच्य होता है, वहाँ 'यत्' होता है। यथा—

(3) राजनः
यहाँ 'यत्' नहीं हुआ, अण् हुआ। 'नस्तद्धिते' से प्राप्त 'अन्' के लोप का 'अन्' सूत्र से बाध होता है।

(1388) क्षत्राद् घः *138* (1161)

क्षत्रशब्दादपत्ये घः प्रत्ययो भवति। क्षत्रियः। अयमपि जातिशब्द एव। क्षात्रिरन्यः।

अर्थ—'क्षत्र' शब्द से 'घ' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। 'घ' को 'इय' आदेश होता है।

उदा० (1) क्षत्रियः
क्षत्रस्याऽपत्यम्—'घ' हुआ,
क्षत्रिय सु—विभक्तिकार्य।
यह भी जाति अर्थ में होता है।

(2) क्षात्रिः
अन्य अर्थ में 'इञ्' हुआ।

(1389) कुलात् खः *139* (1162)

उत्तरसूत्रे पूर्वप्रतिषेधादिह तदन्तः केवलश्च दृश्यते। कुलशब्दान्तात्प्रातिपदिकात्केवलाच्चापत्ये खः प्रत्ययो भवति। आढ्यकुलीनः। श्रोत्रियकुलीनः। कुलीनः।

अर्थ—अगले सूत्र में पूर्व का निषेध होने से तदन्त (अर्थात् 'कुल' है अन्त में जिसके) तथा केवल (अर्थात् 'कुल' शब्द) का ग्रहण होता है। 'कुल' समर्थ प्रातिपदिक से तथा 'कुल' है अन्त में जिसके, ऐसे समर्थ प्रातिपदिक से 'ख' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) आढ्यकुलीनः
आढ्यकुल ख—'ईन' आदेश,
आढ्यकुलीनः—सु।

(2) श्रोत्रियकुलीनः (पूर्ववत्)।

(3) कुलीनः
कुल ख—पूर्ववत्।

(1390) अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ *140* (1163)

कुलादित्येव। अविद्यमानं पूर्वपदं यस्य तदपूर्वपदम्, समाससम्बन्धिनः पूर्वपदस्याभावेन कुलशब्दो विशेष्यते। अपूर्वपदात् कुलशब्दादन्यतरस्यां यत् ढकञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। ताभ्यां मुक्ते खोऽपि भवति। कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः। पदग्रहणं किम्? बहुच्पूर्वादपि यथा स्यात्—बहुकुल्यः, बाहुकुलेयकः, बहुकुलीनः।

अर्थ—जिसका पूर्व पद विद्यमान नहीं है, ऐसे 'कुल' शब्द से विकल्प से 'यत्' और 'ढकञ्' प्रत्यय पर्यायेण होते हैं। पक्ष में 'कुलात् खः' से 'ख' होता है।

उदा० (1) कुल्यः
कुल यत्—विभक्तिकार्य।

(2) कौलेयकः
कुल ढकञ्—एय् आदेश, आदिवृद्धि,
कौलेयकः—सु।

(3) कुलीनः
कुल ख।

पदग्रहणं अर्थात् 'पद' का ग्रहण किया गया है, ताकि बहुपूर्वक 'कुल' शब्द से भी प्रत्यय हो जाय—

(4) बहुकुल्यः
यत् हुआ।

(5) बाहुकुलेयकः
बहुकुल ढकञ्।

(6) बहुकुलीनः
'ख' हुआ।

(1391) महाकुलादञ्खञौ *141* (1164)

अन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तते। महाकुलशब्दादञ्खञौ प्रत्ययौ भवतः, पक्षे खः। माहाकुलः, माहाकुलीनः, महाकुलीनः।

अर्थ—अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति है। 'महाकुल' शब्द से विकल्प से अञ् होते हैं। पक्ष में 'ख' भी होता है।

उदा० (1) माहाकुलः

महाकुल अञ्—आदिवृद्धि।

(2) माहाकुलीनः
महाकुल खञ्।

(3) महाकुलीनः
महाकुल ख।

(1392) दुष्कुलाड्ढक् *142* (1165)

दुष्कुलशब्दादपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति, अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तेः खश्च। दौष्कुलेयः, दुष्कुलीनः।

अर्थ—दुष्कुल शब्द से 'ढक्' प्रत्यय विकल्प से होता है, अपत्य अर्थ में। 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति होने से पक्ष में 'ख' भी होता है।

उदा० (1) दौष्कुलेयः
दुष्कुल ढक्—आदिवृद्धि, एय् आदेश।

(2) दुष्कुलीनः
दुष्कुल ख।

(1393) स्वसुश्छः *143* (1166)

स्वसृशब्दादपत्ये छः प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। स्वसुरपत्यं स्वस्रीयः।

अर्थ—स्वसृ समर्थ प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) स्वस्रीयः
स्वसुरपत्यम् → स्वसृ छ—ईयादेश,
स्वस्रीयः—यणादेश, सु।

(1394) भ्रातुर्व्यच्च *144* (1167)

भ्रातृशब्दादपत्ये व्यत् प्रत्ययो भवति, चकाराच्छश्च। अणोऽपवादः। भ्रातृव्यः, भ्रात्रीयः। तकारः स्वरार्थः।

अर्थ—'भ्रातृ' प्रातिपदिक से 'व्यत्' तथा 'छ' प्रत्यय होते हैं, अपत्य अर्थ में। चकार से 'छ' भी होता है।

उदा० (1) भ्रातृव्यः
भ्रतृ व्यत्—प्रत्यय हुआ,
भ्रातृव्य सु—सु,
भ्रातृव्यः—विभक्तिकार्य।

(2) भ्रात्रीयः
भ्रातृ छ—ईयादेश,
भ्रात्रीयः—यणादेश।

व्यत् में तकार स्वर के लिए है।

(1395) व्यन्सपत्ने *145* (1168)

सपत्नशब्दः शत्रुपर्यायः शब्दान्तरमव्युत्पन्नमेव। सपत्नीशब्दादपरेऽकारम् इवार्थे निपातयन्ति-सपत्नीव सपत्नः। भ्रातृशब्दाद् व्यन्प्रत्ययो भवति समुदायेन चेदमित्रः सपत्न उच्यते। अपत्यार्थोऽत्र नास्त्येव-पाप्मना भ्रातृव्येण, भ्रातृव्यः कण्टकः।

अर्थ—'सपत्न' का अर्थ है—शत्रु। कुछ के अनुसार यह शब्द अव्युत्पन्न है। कुछ लोगों के अनुसार 'सपत्नी' शब्द से 'इव' अर्थ में अकार का निपातन होता है। सपत्नीव—सपत्नः।

भ्रातृ समर्थ प्रातिपदिक से व्यन् होता है, यदि 'शत्रु' अर्थ गम्यमान हो। यहाँ अपत्य का अर्थ नहीं है।

उदा० (1) भ्रातृव्यः
भ्रातृ व्यन् → भ्रातृव्यः।

(1396) रेवत्यादिभ्यष्ठक् *146* (1169)

रेवतीत्येवमादिभ्योऽपत्ये ठक् प्रत्ययो भवति। यथायोगं ढगादीनामपवादः। रैवतिकः। आश्वपालिकः। रेवती। अश्वपाली। मणिपाली। द्वारपाली। वृकवञ्चिन्। वृकग्राह। कर्णग्राह। दण्डग्राह। कुक्कुटाक्ष।

अर्थ—अपत्य अर्थ में रेवती आदि गणपठित प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है। यह यथाप्राप्त ढक् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) रैवतिकः
रेवती ठक् → रैवत् इक—ठस्येकः,
रैवतिकः—सु।

(2) आम्रपालिकः
आम्रपाल ठक्—पूर्ववत्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1397) गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च *147* (1171)

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रं (4.1.162) गृह्यते। गोत्रं या स्त्री तदभिधायिनः शब्दादपत्ये णः प्रत्ययो भवति चकारट्ठक्च, कुत्सने गम्यमाने। पितुरसंविज्ञाने मात्रा

व्यपदेशोऽपत्यस्य कुत्सा। गार्ग्या अपत्यं गार्गो जाल्मः। गार्गिकः। ग्लुचुकायन्या अपत्यं ग्लौचुकायनः। ग्लौचुकायनिकः। 'गोत्राद्यूनि' इति यूनिप्रत्ययो भवति। गोत्रमिति किम्? कारिकेयो जाल्मः। स्त्रिया इति किम्? औपगविर्जाल्मः। कुत्सन इति किम्? गार्गेयो माणवकः।

अर्थ—गोत्र अर्थ में वर्तमान स्त्रीवाची प्रातिपदिक से 'ण' तथा 'ठक्' प्रत्यय होते हैं, अपत्य अर्थ में तथा निन्दा अर्थ गम्यमान रहते।

उदा० (1) गार्गो जाल्मः
गार्ग्या अपत्यम्—'ण' हुआ।

(2) गार्गिकः
गार्गी ठक्—ठस्येकः।

(3) ग्लौचुकायनः
ग्लुचुकायनी ण—पूर्ववत्।

(4) ग्लौचुकायनिकः
ग्लुचुकायनी ठक्—पूर्ववत्। 'गोत्राद्यूनि' से युवाऽपत्य अर्थ में प्रत्यय होता है।

गोत्रमिति अर्थात् गोत्र अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से 'ण' होता है—

(5) कारिकेयो जाल्मः
कारिका ढक्—'ण' नहीं हुआ, 'स्त्रीभ्यो ढक्' से 'ढक्' हुआ।

स्त्रियाः अर्थात् स्त्रीवाची प्रातिपदिक से 'ण' होता है—

(6) औपगविर्जाल्मः
औपगव इञ्—स्त्रीवाची नहीं है, 'ण' नहीं हुआ, 'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ।

कुत्सने अर्थात् निन्दा अर्थ में ही 'ण' होता है।

(7) गार्गेयो माणवकः
निन्दा अर्थ नहीं है। ठक् नहीं हुआ, ढक् हुआ।

(1398) वृद्धाट्ठक्सौवीरेषु बहुलम् *148* (1172)

कुत्सन इत्येव। सौवीरेष्विति प्रकृतिविशेषणम्। वृद्धात्सौवीरगोत्रादपत्ये बहुलं ठक् प्रत्ययो भवति कुत्सने गम्यमाने। भागवित्तेर्भागवित्तिकः। तार्णबिन्दवस्य तार्णबिन्दविकः। पक्षे यथाप्राप्तं फक्–भागवित्तायनः। पक्षे–तार्णबिन्दविः। अकशापः शुभ्रादिः–आकशापेयः। तस्यापत्यमाकशापेयिकः। पक्षे–आकशापेयिः।

भागपूर्वपदो वित्तिर्द्वितीयस्तार्णबिन्दवः।
तृतीयस्त्वाकशापेयो गोत्राट्ठग्बहुलं ततः॥

वृद्धग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थम्। सौवीरेष्विति किम्? औपगविर्जाल्मः। कुत्सन इत्येव–भागवित्तायनो माणवकः। बहुलग्रहणमुपाधिवैचित्र्यार्थम्। 'गोत्रस्त्रियाः' इत्यारभ्य चत्वारो योगाः, तेषु प्रथमः कुत्सन एव, अन्त्यः सौवीरगोत्रे एव, मध्यमौ द्वयोरपि। तदेतद् बहुलग्रहणाल्लभ्यते।

अर्थ—'सौवीर' यह प्रकृति का विशेषण है। सौवीर गोत्र में वर्तमान वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से बहुलता से ठक् होता है, अपत्य अर्थ में तथा निन्दा अर्थ में।

उदा० (1) भागवित्तिकः
भागवित्ति ठक्—पूर्ववत्।

(2) तार्णबिन्दविकः
तार्णबिन्दव ठक्।

(3) भागवित्तायनः
भागवित्ति फक्—पक्ष में।

(4) तार्णबिन्दविः
पक्ष में 'इञ्' हुआ।

अकशाप शुभ्रादि गण में पठित है। अतः 'ढक्' होता है।

(5) आकशापेयः

(6) आकशापेयिकः
आकशापेय ठक्—'तस्याऽपत्यम्' इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'ठक्' हुआ।

(7) आकशापेयिः
आकशापेय इञ्—पक्ष में।

(क) भागपूर्वपदो—पूर्वपद में 'भाग' शब्द तथा उत्तरपद में 'वित्ति' हो, ऐसे प्रातिपदिक से,

(ख) द्वितीयस्तार्णबि—दूसरे 'तार्णबिन्दव' प्रातिपदिक से,

(ग) तृतीयस्त्वाकशापेयो—तीसरे 'शाकपेय' प्रातिपदिक से,

गोत्रा०—गोत्र अर्थ में वर्तमान इन प्रातिपदिकों से बहुलता से 'ठक्' होता है।

वृद्ध०—'वृद्ध' पद का ग्रहण 'स्त्री' की निवृत्ति के लिए है।

सौवीरे० अर्थात् सौवीर गोत्र में वर्तमान प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है—

(8) औपगविः

'औपगव' सौवीर गोत्र में नहीं है, ठक् नहीं हुआ।

कुत्सने अर्थात् निन्दा अर्थ में ही ठक् होता है—
भागवित्तायनो माणवकः
निन्दा अर्थ नहीं है। अतः ठक् नहीं हुआ। फक् हुआ है।

बहुल पद का ग्रहण उपाधियों की विचित्रता के लिए है। 'गोत्र स्त्रियाः' यहाँ से लेकर चार योग होते हैं—

प्रथम—'कुत्सने' अर्थात् निन्दा अर्थ में,
अन्त्य—'सौवीरगोत्रे' अर्थात् सौवीरगोत्र में ही,
मध्यम—'द्वयोः' अर्थात् दोनों में ही,
यह सभी 'बहुलम्' पद के द्वारा गृहीत होते हैं।

(1399) फेश्छ च *149* (1173)

कुत्सन इत्येव, सौवीरेष्विति च। फेरिति फिञो ग्रहणम्, न फिनः, वृद्धाधिकारात्। फिञन्तात्प्रातिपदिकात्सौवीरगोत्रादपत्ये छः प्रत्ययो भवति, चकाराट्ठक् कुत्सने गम्यमाने। यमुन्दस्यापत्यम्, 'तिकादिभ्यः फिञ्' (4.1.154), तस्यापत्यम् यामुन्दायनीयः, यामुन्दायनिकः। कुत्सन इत्येव-यामुन्दायनिः। फिञन्तादौत्सर्गिकस्याण आगतस्य 'ण्यक्षत्रियार्षञितः' (2.4.58) इति लुक्। सौवीरेष्वित्येव-तैकायनिः।

यमुन्दश्च सुयामा च वार्ष्यायणिः फिञः स्मृताः।
सौवीरेषु च कुत्सायां द्वौ योगौ शब्दवित् स्मरेत्॥

अर्थ—'कुत्सने' तथा 'सौवीरेषु'—इनका अनुवर्त्तन है। 'फेः' पद के द्वारा 'फिञ्' का ग्रहण होता है, 'फिन्' का नहीं। निन्दा अर्थ गम्यमान रहते।

सौवीर गोत्रविशेष में वर्तमान, वृद्धसंज्ञक तथा फिञ् प्रत्ययान्त समर्थ प्रातिपदिक से छ और ठक् प्रत्यय बहुलता से होते हैं।

उदा० (1) यामुन्दायनीयः
यमुन्दस्याऽपत्यम् → यामुन्दायनि—तिकादिभ्यः फिञ्,
यामुन्दायनेरपत्यम्—'छ' हुआ,
यामुन्दायनि ईय—ईयादेश,
यामुन्दायनीयः—सु।

(2) यामुन्दायनिकः
यामुन्दायनि ठक्—ठस्येकः,
यामुन्दायनिकः—सु।

कुत्सन अर्थात् निन्दा अर्थ में ही ये प्रत्यय होते हैं—

(3) यामुन्दायनिः
निन्दा अर्थ नहीं है। अतः 'छ' तथा 'ठक्' नहीं हुये, इञ् हुआ।

'फिञ् प्रत्ययान्त' यामुन्दायन से औत्सर्गिक अण् हुआ।
'ण्यक्षत्रियार्षञितः' से लुक् हुआ।

सौवीरे० अर्थात् **सौवीर गोत्रविशेष** में वर्तमान प्रातिपदिक से ये प्रत्यय होते हैं—

तैकायनिः
तिक फिञ्—तैकायनः
सौवीर गोत्र में न होने से सूत्रोक्त प्रत्यय नहीं हुये, इञ् हुआ।

यमुन्दश्च'''स्मरेत्—यमुन्द, सुयामा तथा वार्ष्यायणि—इन शब्दों से फिञ् प्रत्यय होता है। सौवीर गोत्र में तथा निन्दा अर्थ में ये प्रत्यय होते हैं—ऐसा जानना चाहिए।

(1400) फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ *150* (1174)

सौवीरेष्वित्येव। कुत्सन इति निवृत्तम्। फाण्टाहृतिमिमतशब्दाभ्यां सौवीरविषयाभ्यामपत्ये णफिञौ प्रत्ययौ भवतः। अल्पाच्तरस्यापूर्वनिपातो लक्षणव्यभिचारचिह्नम्, तेन यथासंख्यमिह न भवतीति-फाण्टाहृतः, फाण्टाहृतायनिः। मैमतः, मैमतायनिः। सौवीरेष्वित्येव-फाण्टाहृतायनः, मैमतायनः। फाण्टाहृतेः 'यञिञोश्च' (4.1.101) इति फक्। मिमतशब्दोऽपि नडादिषु पठ्यते।

अर्थ—'सौवीरेषु' की अनुवृत्ति है। 'कुत्सने' का अनुवर्त्तन नहीं है। सौवीर गोत्रविशेष में वर्तमान फाण्टाहृति और मिमत समर्थ प्रातिपदिक से 'ण' और 'फिञ्' प्रत्यय होते हैं, अपत्य अर्थ में। यह फक् का अपवाद है। 'मिमत' शब्द 'फाण्टाहृति' की अपेक्षा अल्पाच्तर है। समास में इसका पूर्वनिपात होना चाहिए था; परन्तु इस पूर्वनिपात से लक्षण का व्यभिचार सूचित होता है। अतः यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है।

उदा० (1) फाण्टाहृतः
फाण्टाहृति ण → फाण्टाहृतः—सु।

(2) फाण्टाहृतायनिः
फाण्टाहृति फिञ्।

(3) मैमतः
मिमत ण।

(4) मैमतायनिः
मिमत फिञ्।

सौवीरे० अर्थात् सौवीर गोत्रविशेष में विद्यमान शब्द से प्रत्यय होता है।

(5) फाण्टाहृतायनः
यहाँ 'ण' तथा 'फिञ्' न होकर 'यञिञोश्च' से 'फक्' हुआ।

(6) मैमतायनः
पूर्ववत् 'फक्'।
'मिमत' शब्द का पाठ नडादिगण में प्राप्त होता है।

(1401) कुर्वादिभ्यो ण्यः *151* (1175)

सौवीरेषु, बहुलमिति च निवृत्तम्। कुरु इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्योऽपत्ये ण्यः प्रत्ययो भवति। कौरव्यः। गार्ग्यः। 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' (4.1.172) इति कुरुशब्दादपरो ण्यप्रत्ययो भविष्यति, स तु क्षत्रियात्तद्राजसंज्ञकः, तस्य बहुषु लुका भवितव्यम्। अयं तु श्रूयत एव-कौरव्याः। कौरव्यशब्दस्य क्षत्रियवचनस्य तिकादिषु पाठात् फिञपि भवति-कौरव्यायणिः। रथकारशब्दोऽत्र पठ्यते, स जातिवचनः। त्रैवर्णिकेभ्यः किञ्चिन्न्यूना रथकारजातिः। कारिणस्तु रथकारशब्दादुत्तरसूत्रेणैव ण्यः सिद्धः। केशिनीशब्दः पठ्यते, तस्य कैशिन्यः। पुंवद्भावो न भवति, स्त्रीप्रत्ययनिर्देशसामर्थ्यात्। वेनाच्छन्दसीति पठ्यते, कथं भाषायां वैन्यो राजेति? छान्दस एवायं प्रमादात्कविभिः प्रयुक्तः। वामरथशब्दः पठ्यते, तस्य कण्वादिवत्कार्यमिष्यते स्वरं वर्जयित्वा, लुगादिकमतिदिश्यते। बहुषु-वामरथाः। स्त्री-वामरथी, वामरथ्यायनी। युवा-वामरथ्यायनः। वामरथ्यस्य छात्रा वामरथाः, वामरथानि संघाङ्कलक्षणानि। स्वरस्तु ण्यप्रत्ययस्यैव भवति, नातिदेशिकमाद्युदात्तत्वम्। कुरु। गर्ग। मङ्गुष। अजमारक। रथकार। वावदूक। *सम्राजः क्षत्रिये* (ग०सू० 79)। कवि। मति। वाक्। पितृमत्। इन्द्रजालि। दामोष्णीषि। गणकारि। कैशोरि। कापिञ्जलादि। कूट। शलाका। मुर। एरक। अभ्र। दर्भ। केशिनी। *वेनाच्छन्दसि* (ग०सू० 80)। शूर्पणाय। श्यावनाय। श्यावरथ। श्यावपुत्र। सत्यङ्कार। वडभीकार। शङ्कु। शाक। पथिकारिन्। मूढ। शकन्धु। कर्त्तृ। हर्तृ। शाकिन्। इनपिण्डी। *वामरथस्य कण्वादिवत् स्वरवर्जम्*।

अर्थ—'सौवरेषु' तथा 'बहुलम्'—इनका अनुवर्त्तन नहीं है। कुरु आदि समर्थ प्रातिपदिकों से 'ण्य' होता है, अपत्य अर्थ में। 'चुटू' से 'ण' की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) कौरव्यः
कुरु ण्य—तद्धितेष्वचामा०,
कौरव्यः—ओर्गुणः, वान्तो यि प्रत्यये।

(2) गार्ग्यः
गर्ग ण्य → गार्ग्यः।

'कुर्वादिभ्यो ण्यः' से 'कुरु' शब्द से 'ण्य' होता है। वह क्षत्रिय शब्द से तद्राजसंज्ञक है। बहुवचन में उस 'ण्य' का लुक् होना चाहिए। इस 'ण्य' का श्रवण होता है। यथा—

(3) कौरव्याः
लुक् नहीं हुआ।

(4) कौरव्यायणिः
क्षत्रियवाची कौरव्य शब्द का तिकादि गण में पाठ होने से इससे 'फिञ्' भी होता है।

रथकार०—यहाँ रथकार शब्द का भी पाठ है। वह जातिवाची है। ये त्रिवर्णिकों से कुछ हीन होते हैं। कारिवाची रथकार शब्द से अगले सूत्र से 'ण्य' होता है।

(5) कैशिन्यः
केशिनी शब्द का पाठ है। 'तस्याऽपत्यम्' अर्थ में 'ण्य' हुआ। स्त्री प्रत्यय के निर्देश के सामर्थ्य से यहाँ पुँवद्भाव भी नहीं होता।

(6) वैन्यः
वेद में वेन शब्द से 'ण्य' होकर 'वैन्यः' बनता है; परन्तु यह प्रयोग लोक में भी प्राप्त होता है। (काशिकाकार के अनुसार) कवि के प्रमाद से लोक में छान्दस प्रयोग हुआ है।

(7) वामरथाः
वामरथ शब्द का पाठ है। उससे कण्वादि के समान स्वर को छोड़कर शेष सभी कार्य होता है। लुक् आदि का अतिदेश किया जाता है। बहुवचन में यह रूप बनता है।

(8) वामरथी
स्त्रीलिंग में रूप बनता है।

(9) वामरथ्यायनी
स्त्रीलिंग में।

(10) वामरथाः
वामरथ्यायनः—युवाऽपत्य अर्थ में।

तस्य छात्राः—इस अर्थ में प्रत्यय का लुक् होकर रूप बनता है।

स्वर तो 'ण्य' प्रत्यय का ही होता है, अतिदेश से आद्युदात नहीं होता।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1402) सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च *152* (1176)

सेनान्तात्प्रातिपदिकाल्लक्षणशब्दात्कारिवचनेभ्यश्चापत्ये ण्यः प्रत्ययो भवति। कारिशब्दः कारूणां तन्तुवायादीनां वाचकः। कारिषेण्यः। हारिषेण्यः। लाक्षण्यः। कारिभ्यः-तान्तुवाय्यः, कौम्भकार्यः, नापित्यः।

अर्थ—'सेना' है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द से, लक्षण शब्द से तथा शिल्पिवाची प्रातिपदिक से 'ण्य' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। 'कारी' शब्द 'जुलाहा' अर्थ में है।

उदा० (1) कारिषेण्यः
कारिसेन ण्य—'एति सञ्ज्ञायाम्' से षत्व,
कारिषेण्यः—सु।

(2) हारिषेण्यः (पूर्ववत्)।
(3) लाक्षण्यः
लक्षण ण्य—आदिवृद्धि,
लाक्षण् य—अकारलोप,
लाक्षण्यः—सु।

(4) तान्तुवाय्यः
तन्तुवाय ण्य—पूर्ववत्,
तान्तुवाय्यः—सु।

(5) कौम्भकार्यः
कुम्भकार ण्य—आदिवृद्धि,
कौम्भकार्यः—सु।

(6) नापित्यः
नापित य—पूर्ववत्।

(1403) उदीचामिञ् *153* (1177)

ण्ये प्राप्ते इञपरो विधीयते। सेनान्तलक्षणकारिभ्योऽपत्ये इञ् प्रत्ययो भवति उदीचां मतेन। कारिषेणिः। हारिषेणिः। लाक्षणिः। तान्तुवायिः। कौम्भकारिः। वचनसामर्थ्यदिव प्रत्ययसमावेशे लब्धे आचार्यग्रहणं वैचित्र्यार्थम्। तक्षन्शब्दः शिवादिः, तेनाणायमिञ् बाध्यते, न तु ण्यः। तक्ष्णोऽपत्यं ताक्ष्णः, ताक्षण्यः।

अर्थ—'ण्य' के प्राप्त होने पर 'इञ्' का विधान किया जा रहा है। उदीच्य आचार्यों के मत में सेना है अन्त में जिसके ऐसे शब्द से, लक्षण शब्द से तथा शिल्पिवाची शब्दों से 'इञ्' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) कारिषेणिः
कारिसेन इञ् → आदिवृद्धि, षत्व, णत्व,
कारिषेणिः।

(2) हारिषेणिः (पूर्ववत्)।
(3) लाक्षणिः
लक्षण इञ्—आदिवृद्धि।

(4) तान्तुवायिः
तन्तुवाय इञ्—पूर्ववत्।

(5) कौम्भकारिः
कुम्भकार इञ्—पूर्ववत्।

वचनसामर्थ्य से प्रत्यय का समावेश प्राप्त होने पर 'आचार्य' का ग्रहण विचित्रता के लिए है।

(6) ताक्ष्णः
तक्षन्—शिवादि गण में पाठ होने से 'अण्' के द्वारा 'इञ्' का बाध होता है, 'ण्य' का नहीं,
तक्षन् अण्—णत्व,
ताक्ष्णः—सु।

(7) ताक्ष्ण्यः
तक्षन् ण्य—उपधालोप, आदिवृद्धि,
ताक्ष्ण्यः—सु।

(1404) तिकादिभ्यः फिञ् *154* (1178)

तिक इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो फिञ् प्रत्ययो भवति। तैकायनिः। कैतवायनिः। वृषशब्दोऽत्र पठ्यते, तस्य प्रत्ययसन्नियोगेन यकारान्तत्वमिष्यते। वार्ष्यायणिः। कौरव्यशब्दः पठ्यते, स च क्षत्त्रियवचनः, औरसशब्देन क्षत्त्रियप्रत्ययान्तेन साहचर्यात्। यस्तु कुर्वादिभ्यो ण्यस्तदन्ताद् इञैव भवितव्यम्। तथाच 'ण्यक्षत्रियार्षञितः' (2.4.58) इत्यत्रोदाहृतम्-कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्र इति। तिक। कितव। संज्ञा। बालशिख। उरस्। शाट्य। सैन्धव। यमुन्द। रूप्य। ग्राम्य। नील। अमित्र। गौकक्ष्य। करु। देवरथ। तैतिल। औरस। कौरव्य। भौरिकि। भौलिकि। चौपयत। चैटयत। शैकयत। क्षैतयत।

ध्वाजवत। चन्द्रमस्। शुभ। गङ्गा। वरेण्य। सुयामन्। आरद। वह्यका। खल्या। वृष। लोमका। उदन्य। यज्ञ।

अर्थ—तिक आदि गणपठित शब्दों से 'फिन्' होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) तैकायनिः
तिक फिन्—आदिवृद्धि,
तैकायनिः—सु।

(2) कैतवायनिः
कित फिन्—पूर्ववत्।

(3) वार्ष्यायणिः
यहाँ 'वृष' शब्द का पाठ है। प्रत्यय के सन्नियोग से उसकी यकारान्तता होती है।
वृष्य फिन्—आदिवृद्धि, णत्व।

कौरव्य०—यहाँ कौरव्य शब्द का भी पाठ है। वह क्षत्रियवाची है। क्षत्रिय प्रत्ययान्त औरस शब्द से साहचर्य के कारण। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' से जो 'ण्य' होता है, तदन्त से 'इञ्' होना चाहिए। 'ण्यक्षत्रियार्ष०' इसके द्वारा उदाहरण दिया जाता है—

कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1405) कौसल्यकार्मार्याभ्यां च *155* (1179)

कौसल्यकार्मार्यशब्दाभ्यामपत्ये फिञ् प्रत्ययो भवति। इञोऽपवादः। कौसल्यायनिः। कार्मार्यायणिः। परमप्रकृतेरेवायं प्रत्यय इष्यते-कोसलस्यापत्यम्, कर्मारस्यापत्यमिति। प्रत्ययसन्नियोगेन तु प्रकृतिरूपं निपात्यते। तथा च स्मृत्यन्तरम्-'दगुकोसलकर्मारच्छागवृषाणां युड् वादिष्टस्य' इति। दागव्यायनिः। कौसल्यायनिः। कार्मार्यायणिः। छाग्यायनिः। वार्ष्यायणिः।

अर्थ—कौसल्य तथा कार्मार्य समर्थ प्रातिपदिकों से 'फिञ्' होता है, अपत्य अर्थ में। यह 'इञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) कौसल्यायनिः
कोसलस्याऽपत्यम्—
परमकृति से ही यह प्रत्यय होता है।

(2) कार्मार्यायणिः
कर्मारस्याऽपत्यम्—पूर्ववत्।

प्रत्ययसन्नियोग से प्रकृतिरूप का निपातन किया जाता है।

दगुकोसल०—दगु, कोसल, कर्मार, छाग और वृष शब्दों से आदेश को प्राप्त 'फिञ्' प्रत्यय को 'युट्' आगम होता है—

(3) दागव्यायनि
दगु युट् फिञ्—आयन आदेश, अनुबन्धलोप,
दागो य् आयनि—ओर्गुणः, वान्तो यि प्रत्यये,
दागव्यायनिः—सु।

(4) कौसल्यायनिः
कोसल युट् फिञ्—आदिवृद्धि आदि सभी कार्य पूर्ववत्।

(5) कार्मार्यायणिः
कर्मार य् फिञ्—पूर्ववत्।

(6) छाग्यायनिः
छाग य् फिञ्—पूर्ववत्।

(7) वार्ष्यायणिः
वृष् य् फिञ्—पूर्ववत्।

(1406) अणो द्व्यचः *156* (1180)

अणन्ताद् द्व्यचः प्रातिपदिकादपत्ये फिञ् प्रत्ययो भवति। इञोऽपवादः। कार्त्रायणिः। हार्त्रायणिः। अण इति किम्? दाक्षायणः। द्व्यच इति किम्? औपगविः। *त्यदादीनां वा फिञ् वक्तव्यः*। त्यादायनिः। त्यादः। यादायनिः। यादः। तादायनिः। तादः। अणत्र प्राप्तः।

अर्थ—अण् प्रत्ययान्त तथा दो अच् वाले समर्थ प्रातिपदिक से फिञ् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। यह इञ् का अपवाद है।

उदा० (1) कार्त्रायणिः
कर्तृ अण् → कार्त्रः—'तस्येदम्' से 'अण्',
कार्त्र फिञ्—'तस्याऽपत्यम्' अर्थ में।

(2) हार्त्रायणिः (पूर्ववत्)।

अणः अर्थात् अण् प्रत्ययान्त शब्द से ही फिञ् होता है—

(3) दाक्षायणः
दक्ष इञ्—'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ, अणन्त न होने से 'फिञ्' नहीं हुआ,
दाक्षि फक्—'यञिञोश्च' से 'फक्'।

द्व्यचः अर्थात् दो अच् वाले प्रातिपदिक से फिञ् होता है—

(4) औपगविः
औपगव इञ्—अणन्त तो है, परन्तु दो अच् वाला नहीं है।

त्यदादीना० अर्थात् दो अच् वाले प्रातिपदिक से फिञ् होता है—

(5) त्यादायनिः
त्यद् फिञ्—आदिवृद्धि,
त्याद् आयनि—आयन् आदेश,
त्यादायनिः—सु।

(6) त्यादः
त्यद् अण्—पक्ष में,
त्यादः—आदिवृद्धि, सु।

(7) यादायनिः
'त्यादायनिः' की तरह।

(8) यादः
'त्यादः' की तरह।

(9) तादायनिः
'त्यादायनिः' की तरह।

(10) तादः
यहाँ अण् नहीं हुआ।

(1407) उदीचां वृद्धादगोत्रात् *157* (1181)

वृद्धं यच्छब्दरूपमगोत्रं तस्मादपत्ये फिञ् प्रत्ययो भवति उदीचामाचार्याणां मतेन। आम्रगुप्तायनिः। ग्रामरक्षायणिः। कारिशब्दादपि वृद्धादगोत्रात्परत्वादनेनैव भवितव्यम्-नापितायनिः। उदीचामिति किम्? आम्रगुप्तिः। वृद्धादिति किम्? याज्ञदत्तिः। अगोत्रादिति किम्? औपगविः।

अर्थ—उदीच्य आचार्यों के मत में गोत्र से भिन्न वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से 'फिञ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) आम्रगुप्तायनिः
आम्रगुप्तस्याऽपत्यम्—फिञ् हुआ,
आम्रगुप्तायनिः—सु।

(2) ग्रामरक्षायणिः (पूर्ववत्)।

गोत्रभिन्न वृद्धसंज्ञक कारिन् शब्द से पर होने के कारण इससे ही प्रत्यय होता है।

(3) नापितायनिः (पूर्ववत्)।

उदीचाम्० अर्थात् उदीच्य आचार्यों के मत में ही फिञ् होता है—

(4) आम्रगुप्तिः
यहाँ नहीं हुआ।

वृद्धात्० अर्थात् वृद्धसंज्ञक शब्द से फिञ् होता है—

(5) याज्ञदत्तिः
यज्ञदत्त इञ्—फिञ् नहीं हुआ।

अगोत्रात् अर्थात् गोत्रभिन्न शब्द से फिञ् होता है—

(6) औपगविः
फिञ् नहीं हुआ।

(1408) वाकिनादीनां कुक् च *158* (1182)

वाकिन इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्योऽपत्ये फिञ् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन चैषां कुगागमः। यदिह वृद्धमगोत्रं शब्दरूपं तस्याऽऽगमार्थमेव ग्रहणम्, अन्येषामुभयार्थम्। वाकिनकायनिः। गारेधकायनिः। इञाद्यपवादो योगः। उदीचामित्यधिकारात्पक्षे तेऽपि भवन्ति-वाकिनिः, गारेधिः। वाकिन। गारेध। कार्कट्य। काक। लङ्का। *चर्मिवर्मिणोर्नलोपश्च* (ग०सू० 81)।

अर्थ—अपत्य अर्थ में गोत्रभिन्न वृद्धसंज्ञक वाकिनादि शब्दों से फिञ् प्रत्यय तथा कुक् आगम होता है। जो यहाँ वृद्धसंज्ञक व गोत्रभिन्न शब्दरूप है, उससे आगम करने के लिए ही ग्रहण किया गया है, अन्य के दोनों के लिए है।

उदा० (1) वाकिनकायनिः
वाकिन कुक् फिञ्—प्रत्यय,
वाकिनकायनिः—सु।

(2) गारेधकायनिः (पूर्ववत्)।

इञ् आदि का अपवाद है। उदीच्य का ग्रहण होने से पक्ष में निम्नलिखित रूप भी होते हैं—

(3) वाकिनिः
वाकिन इञ्।

(4) गारेधिः
इञ् हुआ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

चर्मिन् तथा वर्मिन् शब्दों से फिञ् प्रत्यय, कुक् आगम तथा नकार का लोप होता है—

(5) चार्मिकायनिः
चर्मिणोऽपत्यम् → चर्मिन् कुक् फिञ्—पूर्ववत्।
चार्मिकायनिः—नलोप।

(6) वार्मिकायनिः (पूर्ववत्)।

(1409) पुत्रान्तादन्यतरस्याम् *159* (1183)

उदीचां वृद्धादिति वर्त्तते। पुत्रान्तमगोत्रमिति पूर्वेणैव प्रत्ययः सिद्धः, तस्मिन्ननेन कुगागमोऽन्यतरस्यां विधीयते। पुत्रान्तात्प्रातिपदिकाद्यः फिञ् प्रत्ययस्तस्मिन् परभूतेऽन्यतरस्यां कुगागमो भवति पुत्रान्तस्य। तेन त्रैरूप्यं सम्पद्यते—गार्गीपुत्रकायणिः, गार्गीपुत्रायणिः, गार्गीपुत्रिः। वात्सीपुत्रकायणिः, वात्सीपुत्रायणिः, वात्सीपुत्रिः।

अर्थ—'उदीचाम्' तथा 'वृद्धात्' की अनुवृत्ति है। अगोत्र शब्द से प्रत्यय पूर्वसूत्र के द्वारा सिद्ध ही है। प्रकृत सूत्र के द्वारा कुक् आगम का विकल्प कहा जा रहा है। 'पुत्र' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे गोत्रभिन्न तथा वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से जो फिञ् प्रत्यय, उसके परे रहते विकल्प से कुक् आगम होता है, उदीच्य आचार्यों के मत में। तब तीन रूप बनते हैं।

उदा० (1) गार्गीपुत्रकायणिः
गार्गीपुत्र कुक् फिञ्—कुक् आगम, फिञ् प्रत्यय हुआ,
गार्गीपुत्रकायणिः—णत्व, सु।

(2) गार्गीपुत्रायणिः
गार्गीपुत्र फिञ्—कुक् आगम का अभाव, फिञ् प्रत्यय।

(3) गार्गीपुत्रिः
गार्गीपुत्र इञ्—कुक् आगम अभाव, फिञ् प्रत्यय का अभाव।

(4) वात्सीपुत्रकायणिः
कुक् आगम, फिञ् प्रत्यय।

(5) वात्सीपुत्रायणिः
कुक् अभाव, फिञ् प्रत्यय।

(6) वात्सीपुत्रिः
कुक् अभाव, फिञ् अभाव।

(1410) प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम् *160* (1184)

अवृद्धाच्छब्दरूपादपत्ये फिन् प्रत्ययो भवति बहुलं प्राचां मतेन। ग्लुचुकायनिः। अहिचुम्बकायनिः। प्राचामिति किम्? ग्लौचुकिः। अवृद्धादिति किम्? राजदन्तिः। उदीचां प्राचामन्यतरस्यां बहुलमिति सर्व एते विकल्पार्थाः, तेषामेकेनैव सिद्ध्यति, तत्राचार्यग्रहणं पूजार्थम्। बहुलग्रहणं वैचित्र्यार्थम्। क्वचिन्न भवत्येव—दाक्षिः, प्लाक्षिः।

अर्थ—प्राच्य आचार्यों के मत में वृद्धसंज्ञक से भिन्न प्रातिपदिक से बहुलता से 'फिन्' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) ग्लुचुकायनिः
ग्लुचुक फिन्—आयन् आदेश।

(2) अहिचुम्बकायनिः (पूर्ववत्)।

(3) ग्लौचुकिः
पक्ष में 'इञ्'।

अवृद्धा० अर्थात् वृद्ध से भिन्न प्रातिपदिक से फिन् होता है—

(4) रजदन्तिः
राजदन्त इञ्—फिञ् नहीं हुआ।

उदीचाम्—चाहे 'उदीचाम्' चाहे 'प्राचाम्', चाहे 'अन्यतरस्याम्' अथवा 'बहुलम्'—ये सभी विकल्प के लिए होते हैं। इनमें से किसी एक का प्रयोग करने पर विकल्प सिद्ध हो जाता है। यहाँ 'आचार्य' का ग्रहण सम्मान-प्रदर्शनार्थ है। बहुल पद का प्रयोग विचित्रता के लिए है। कहीं नहीं भी होता है—

(4) दाक्षिः
इञ् हुआ।

(5) प्लाक्षिः (पूर्ववत्)।

(1411) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च *161* (1185)

मनुशब्दादञ् यत् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतस्तत्सन्नियोगेन षुगागमः, समुदायेन चेज्जातिर्गम्यते। मानुषः। मनुष्यः। जातिशब्दावेतौ। अपत्यार्थोऽत्र नास्त्येव। तथाच मानुषा इति बहुषु न लुग्भवति। अपत्यविवक्षायां त्वणैव भवितव्यम्—मानवी प्रजा।

अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः॥
(म०भा०)

अर्थ—जाति अर्थ वाच्य हो तो मनु शब्द से अञ् तथा यत् प्रत्यय पर्यायेण होते हैं तथा मनु शब्द को षुक् आगम होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) मानुषः
मनोरपत्यम् → मनु षुक् अञ्—अनुबन्ध लोप,

मानुष सु—विभक्तिकार्य।

(2) मनुष्यः
मनु षुक् यत्—आदिवृद्धि नहीं हुई।

ये जातिशब्द हैं। अपत्यार्थ नहीं है। बहुवचन में प्रत्यय का लुक् नहीं होता है—मानुषाः। अपत्य की विवक्षा में अण् ही होना चाहिए।

(3) मानवी
मनु अण्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः,
मानव ङीप्—टिड्ढाऽण०,
मानवी—विभक्तिकार्य।

अपत्ये०—अपत्य, निन्दा तथा मूढ अर्थ में मनु से औत्सर्गिक प्रत्यय होता है। नकार को मूर्धन्य आदेश होकर 'माणव' होता है।

(1412) अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् *162* (1089)

पौत्रप्रभृति यदपत्यं तद्गोत्रसंज्ञं भवति। सम्बन्धिशब्दत्वादपत्यशब्दस्य यदपत्यं तदपेक्षया पौत्रप्रभृतेर्गोत्रसंज्ञा विधीयते। गर्गस्यापत्यं पौत्रप्रभृति गार्ग्यः। वात्स्यः। अपत्यमिति व्यपदेशोऽयं संज्ञिनः पौत्रप्रभृतेः। पौत्रप्रभृतीति किम्? अनन्तरस्य मा भूत्–कौञ्जिः, गार्गिः। गोत्रप्रदेशाः–'एको गोत्रे' (4.1.93) इत्येवमादयः।

अर्थ—पौत्र (अर्थात् पुत्र का पुत्र) तथा उससे आगे सभी अपत्य की गोत्रसंज्ञा होती है। सम्बन्धिवाची होने से अपत्य शब्द का जो अपत्य, उसकी अपेक्षा से पौत्र आदि की गोत्रसंज्ञा कही गई है।

उदा० (1) गार्ग्यः
गर्गस्याऽपत्यं पौत्रप्रभृति → गर्ग यञ्
आदिवृद्धि, सु।

(2) वात्स्यः (पूर्ववत्)।

अपत्य यह पौत्रप्रभृति संज्ञी का व्यपदेश है।

पौत्रप्रभृ० अर्थात् पौत्रप्रभृति की गोत्रसंज्ञा होती है। इसका भाव यह है कि पुत्र की गोत्रसंज्ञा नहीं होती है।

(3) कौञ्जिः
कुञ्जस्याऽपत्यम्—अत इञ्।

(4) गार्गिः
गर्ग इञ्।

(1413) जीवति तु वंश्ये युवा *163* (1090)

अभिजनप्रबन्धो वंशः, तत्र भवो वंश्यः पित्रादिस्तस्मिञ्जीवति सति पौत्रप्रभृत्यपत्यं युवसंज्ञं भवति। पौत्रप्रभृतीति च न सामानाधिकरण्येनापत्यं विशेषयति, किं तर्हि? षष्ठ्या विपरिणम्यते–पौत्रप्रभृतेर्यदपत्यमिति, तेन चतुर्थादारभ्य युवसंज्ञा विधीयते। गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। तुशब्दोऽवधारणार्थो युवैव भवति, न गोत्रमिति।

अर्थ—वंश में होने वाला 'वंश्य' कहलाता है। वंश में होने वाले (पिता, पितामह आदि) के जीवित रहते पौत्र आदि के अपत्य (अर्थात् चतुर्थ पीढ़ी व उससे आगे) की युवा संज्ञा होती है।

पौत्रप्रभृति—ऐसा सामानाधिकरण्य के द्वारा अपत्य को विशेषित नहीं करता है। तब षष्ठी में कैसे विपरिणत किया जाता है। पौत्र आदि का जो अपत्य—इस प्रकार चतुर्थ अपत्य से लेकर युवा संज्ञा का विधान किया जाता है।

उदा० (1) गार्ग्यायणः
गर्गस्याऽपत्यम्—गार्ग्यः
गार्ग्यस्य युवाऽपत्यम्—गार्ग्यायणः।

(2) वात्स्यायनः (पूर्ववत्)।

'तु' पद का अर्थ अवधारणा है। अतः युवाऽपत्य संज्ञा ही होती है; गोत्राऽपत्य नहीं होता है।

(1414) भ्रातरि च ज्यायसि *164* (1091)

भ्रातरि ज्यायसि जीवति कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति पौत्रप्रभृतेरपत्यम्। गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ, तयोः कनीयान्, मृते पित्रादौ वंश्ये भ्रातरि ज्यायसि जीवति युवसंज्ञो भवति। अवंश्यार्थोऽयमारम्भः। पूर्वजाः पित्रादयो वंश्या इत्युच्यन्ते, भ्राता तु न वंश्यः, अकारणत्वात्। गार्ग्ये जीवति गार्ग्यायणोऽस्य कनीयान् भ्राता। वात्स्यायनः। दाक्षायणः। प्लाक्षायणः।

अर्थ—बड़े भाई के जीवित रहते पौत्र के अपत्य की युवा संज्ञा होती है। यथा—गार्ग्य नामक व्यक्ति के दो पुत्र हैं। तब बड़े भाई के जीवित रहते छोटे भाई की युवा संज्ञा होती है, भले ही पिता आदि मर गये हों।

यह वंश्य से भिन्न के लिए विधान है। पिता आदि पूर्वजों को 'वंश्य' कहा जाता है। भाई को 'वंश्य' नहीं कहा जाता।

गार्ग्य के जीवित रहते इसके छोटे भाई 'गार्ग्यायण' की युवा संज्ञा हुई।

उदा० (1) वात्स्यायनः (पूर्ववत्)।
(2) दाक्षायणः (पूर्ववत्)।
(3) प्लाक्षायणः (पूर्ववत्)।

(1415) वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति *165* (1092)

सप्तम पुरुषावधयः सपिण्डाः स्मर्यन्ते। येषाम्–
उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते। (मनु 5.3)

इत्येवमादिकायां क्रियायामनधिकारः। भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रप्रभृतेरपत्यं जीवदेव युवसंज्ञं वा भवति। प्रकृतं जीवतिग्रहणं सपिण्डस्य विशेषणम् इदं तु संज्ञिनः। तरब्निर्देश उभयोरुत्कर्षार्थः, स्थानेन वयसा चोत्कृष्टे सपिण्डे यथा स्यात्। पितृव्ये पितामहे भ्रातरि च वयसाधिके जीवति–गर्गस्यापत्यं गार्ग्यायणः, गार्ग्यो वा। वात्स्यायनः, वात्स्यो वा। दाक्षायणः, दाक्षिर्वा। स्थविरतरेति किम्? स्थानवयोर्न्यूने गार्ग्य एव भवति। जीवतीति किम्? मृते मृतो वा गार्ग्य एव भवति।

अर्थ—सातवें पुरुष तक सपिण्ड कहे जाते हैं। दोनों में (अर्थात् सन्तान के जन्म और मरण में) दस दिन तक कुल का अन्न नहीं खाया जाता। भाई के अतिरिक्त अन्य किसी वृद्धतर सपिण्ड के जीवित रहते पौत्र के अपत्य की विकल्प से युवा संज्ञा होती है। 'जीवित' पद सपिण्ड का विशेषण है। दोनों के उत्कर्ष के लिए तरप् का निर्देश है। 'वृद्ध' शब्द का अर्थ है, जो आयु व प्रतिष्ठा दोनों दृष्टियों से पूज्य हो। तब पिता के, दादा के अथवा आयु में अधिक भाई के जीवित रहते युवा संज्ञा होती है।

उदा० (1) गार्ग्यायणः
गर्गस्याऽपत्यम्।

(2) गार्ग्यः
पक्ष में गोत्राऽपत्य संज्ञा होती है।

(3) वात्स्यायनः
'गार्ग्यायणः' की तरह।

(4) वात्स्यः
'गार्ग्यः' की तरह।

(5) दाक्षायणः
'गार्ग्यायणः' की तरह।

(6) दाक्षिः
पक्ष में 'इञ्' होकर।

स्थविरेति० अर्थात् वृद्ध के जीवित रहते पौत्र के अपत्य की युवा संज्ञा होती है। भाव यह है कि स्थान तथा आयु में हीन होने पर उसे 'गार्ग्यः' ही कहा जायेगा।

जीवतीति अर्थात् जीवित रहते ही युवा संज्ञा होती है। भाव यह है कि वृद्धतर सपिण्ड के मर जाने पर 'गार्ग्यः' ही होता है।

(1416) वृद्धस्य च पूजायाम् *166* (1092 वा०)

अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति शास्त्रान्तरे परिभाषणाद्गोत्रं वृद्धमित्युच्यते। वृद्धस्य युवसंज्ञा वा भवति पूजायां गम्यमानायाम्। संज्ञासामर्थ्याद्गोत्रं युवप्रत्ययेन पुनरुच्यते। वृद्धस्येति षष्ठीनिर्देशो विचित्रा सूत्रस्य कृतिरिति। तत्रभवान् गार्ग्यायणः, गार्ग्यो वा। तत्रभवान् वात्स्यायनः, वात्स्यो वा। तत्रभवान् दाक्षायणः, दाक्षिर्वा। पूजायामिति किम्? गार्ग्यः, वात्स्यः।

अर्थ—अन्य शास्त्रों में अन्तर्हित अपत्य को 'वृद्ध' कहा गया है। अतः गोत्र को 'वृद्ध' कहा जाता है।

पूजा अर्थ गम्यमान रहते वृद्ध की विकल्प से युवासंज्ञा होती है। संज्ञा के विधानसामर्थ्य से युवप्रत्यय के द्वारा गोत्र पुनः कहा जाता है। 'वृद्धस्य' पद में षष्ठी का निर्देश है। यह आचार्य पाणिनि की विचित्र शैली है।

उदा० (1) तत्रभवान् गार्ग्यायणः
युवा संज्ञा होकर रूप बना।

(2) गार्ग्यः
पक्ष में।

(3) तत्रभवान् वात्स्यायनः (पूर्ववत्)।
(4) वात्स्यः (पूर्ववत्)।
(5) तत्रभवान् दाक्षायणः (पूर्ववत्)।
(6) दाक्षिः (पूर्ववत्)।

पूजाया० अर्थात् पूजा अर्थ में ही युवा संज्ञा होती है—
(7) गार्ग्यः
पूजा अर्थ नहीं है।

(8) वात्स्यः
युवा संज्ञा नहीं हुई।

(1417) यूनश्च कुत्सायाम् *167*
(1092 वा०)

कुत्सायां गम्यमानायां यूनो वा युवसंज्ञा भवति। निवृत्तिप्रधानो विकल्पो युवसंज्ञायां प्रतिषिद्धायां पक्षे गोत्रसंज्ञैव भवति, प्रतिपक्षाभावात्। गार्ग्यो जाल्मः, गार्ग्यायणो वा। वात्स्यो जाल्मः, वात्स्यायनो वा। दाक्षिर्जाल्मः, दाक्षायणो वा। कुत्सायामिति किम्? गार्ग्यायणः।

अर्थ—निन्दा अर्थ गम्यमान रहते युवा की विकल्प से युवा संज्ञा होती है। निवृत्तिप्रधान में विकल्प है। युवा संज्ञा के निषेध होने के पक्ष में गोत्रसंज्ञा ही होती है, प्रतिपक्ष के अभाव से।

उदा० (1) गार्ग्यो जाल्मः
यञ्, अकार लोप।

(2) गार्ग्यायणो जाल्मः
फक्, 'आयन्' आदेश।

(3) वात्स्यो जाल्मः (पूर्ववत्)।
(4) वात्स्यायनो जाल्मः (पूर्ववत्)।
(5) दाक्षिर्जाल्मिः
इञ् हुआ।

(6) दाक्षायणो जाल्मः
फक् हुआ।

कुत्साया अर्थात् निन्दा अर्थ में ही युवा संज्ञा विकल्प से होती है—
(7) गार्ग्यायणः
निन्दा अर्थ नहीं है।

(1418) जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् *168*
(1186)

जनपदशब्दो यः क्षत्रियवाची तस्मादपत्येऽञ् प्रत्ययो भवति। पाञ्चालः। ऐक्ष्वाकः। वैदेहः। जनपदशब्दादिति किम्? द्रुह्योरपत्यं द्रौह्यवः, पौरवः। क्षत्रियादिति किम्? ब्राह्मणस्य पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालिः, वैदेहिः। *क्षत्रिय-समानशब्दाज्जनपदशब्दात्तस्य राजन्यपत्यवत्* (म० भा०)। पञ्चालानां राजा पाञ्चालः। वैदेहः। मागधः। 'अवृद्धात्' अपीति प्राप्तस्य वुञोऽपवादः।

अर्थ—क्षत्रियवाची जनपदवाची शब्द से अञ् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) पाञ्चालः
पञ्चालस्याऽपत्यम्—अञ्, आदिवृद्धि,
पाञ्चालः—सु।

(2) ऐक्ष्वाकः
इक्ष्वाकु अञ्—आदिवृद्धि, उकारलोप,
ऐक्ष्वाक् अ—सु।

(3) वैदेहः
विदेह अञ्—आदिवृद्धि।

जनपद अर्थात् जनपदवाची शब्द से ही अञ् होता है—

(4) द्रौह्यवः
द्रुह्योरपत्यम्—अण्, आदिवृद्धि, ओर्गुणः,
द्रौह्यवः—अवादेश, सु।

(5) पौरवः
पुरु अण् → पौरो अ—पूर्ववत्।
पौरवः—सु।

क्षत्रियादि अर्थात् क्षत्रियवाची से ही अञ् होता है।

(6) पाञ्चालिः
ब्राह्मणस्य पञ्चालस्याऽपत्यम्—अञ् नहीं हुआ।
पाञ्चालिः—सु।

(7) वैदेहिः (पूर्ववत्)।

क्षत्रियसमान अर्थात् अपत्य अर्थ के समान राजा अर्थ में क्षत्रियवाचक और जनपदवाचक शब्द यदि समान हो तो षष्ठी समर्थ जनपदवाची शब्द से तद्धित प्रत्यय होता है।

(8) पाञ्चालः
पञ्चालानां राजा—अञ् हुआ।

(9) वैदेहः
विदेहानां राजा—अञ् हुआ।

(10) मागधः (पूर्ववत्)।

वृद्ध से भिन्न शब्द से प्राप्त 'वुञ्' प्रत्यय का यह अपवाद है।

(1419) साल्वेयगान्धारिभ्यां च *169*
(1187)

साल्वेयगान्धारिशब्दाभ्यामपत्येऽञ् प्रत्ययो भवति।

जनपदशब्दावेतौ क्षत्रियाभिधायिनौ, ताभ्यामञपवादे 'वृद्धात्' इति ञ्यङि प्राप्ते पुनरञ् विधीयते। साल्वेयः। गान्धारः। तस्य राजनीत्येव–साल्वेयो राजा, गान्धारो राजा।

अर्थ—जनपदवाची व क्षत्रियवाची साल्वेय तथा गान्धारि शब्दों से अञ् प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) साल्वेयः
साल्वेयानामपत्यम्—'अञ्' हुआ,
'जनपदशब्दात् क्षत्रिया०' से प्राप्त 'अञ्' का बाध होकर 'वृद्धेत्०' से 'ञ्यङ्' प्राप्त हुआ, पुनः अञ् हुआ है।

(2) गान्धारः (पूर्ववत्)।
(3) साल्वेयो राजा
तस्य राजनि—इस अर्थ में।
(4) गान्धारो राजा (पूर्ववत्)।

(1420) द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् *170* (1188)

जनपदशब्दात् क्षत्रियाभिधायिनो द्व्यचः, मगध, कलिङ्ग, सूरमस इत्येतेभ्यश्चापत्येऽण् प्रत्ययो भवति। अञोऽपवादः। आङ्गः। बाङ्गः। पौण्ड्रः। सौह्मः। मागधः। कालिङ्गः। सौरमसः। तस्य राजनीत्येव–आङ्गो राजा।

अर्थ—क्षत्रियवाची, जनपदवाची दो अच् वाले प्रातिपदिक से, मगध, कलिंग और सूरमस शब्दों से 'अण्' होता है, अपत्य अर्थ में। यह अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) आङ्गः
अङ्गानामपत्यम्—'जनपदशब्दात्०' से अञ् प्राप्त था,
अङ्ग अण्—आदिवृद्धि।

(2) बाङ्गः (पूर्ववत्)।
(3) पौण्ड्रः (पूर्ववत्)।
(4) सौह्मः (पूर्ववत्)।
(5) मागधः (पूर्ववत्)।
(6) कालिङ्गः (पूर्ववत्)।
(7) सौरमसः (पूर्ववत्)।
(8) आङ्गो राजा
तस्य राजनि—इस अर्थ में।

(1421) वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् *171* (1189)

जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्येव। वृद्धाच्च प्रातिपदिकादिकारान्ताच्च कोसलाजादशब्दाभ्यां चापत्ये ञ्यङ् प्रत्ययो भवति। अञोऽपवादः। वृद्धात्तावत्–आम्बष्ठ्यः, सौवीर्यः। इकारान्तात्–आवन्त्यः, कौन्त्यः। कोसलाजादयोरवृद्धार्थं वचनम्–कौसल्यः, आजाद्यः। तपरकरणं किम्? कुमारी नाम जनपदसमानशब्दः क्षत्रियः, तस्यापत्यं कौमारः। *पाण्डोर्जनपदशब्दात् क्षत्रियाड्ड्यण् वक्तव्यः*। पाण्ड्यः। अन्यस्मात् पाण्डव एव। तस्य राजनीत्येव–आम्बष्ठ्यो राजा, आवन्त्यः, कौन्त्यः, कौसल्यः, आजाद्यः।

अर्थ—जनपदवाची तथा क्षत्रियवाची वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से, इकारान्त शब्द से, कोसल शब्द से तथा अजाद शब्द से 'ञ्यङ्' होता है, अपत्य अर्थ में। ञकार व ङकार की इत्संज्ञा होती है। यह अञ् का अपवाद है।

उदा० (क) वृद्धात्—
(1) आम्बष्ठ्यः
अम्बष्ठानामपत्यम्—इस अर्थ में,
अम्बष्ठ ञ्यङ्—आदिवृद्धि,
आम्बष्ठ्यः—सु।

(2) सौवीर्यः
सुवीर ञ्यङ्—आदिवृद्धि।

(ख) इकारान्तात्—
(3) आवन्त्यः
अवन्तीनामऽपत्यम्—आदिवृद्धि।

(4) कौन्त्यः
कुन्ति ञ्यङ्।

(ग) कोसलात्—
कोसल और अजात् शब्दों का ग्रहण वृद्धसंज्ञक के लिए है।
(5) कौसल्यः
कोसल ञ्यङ्।

(घ) अजातः—
(6) आजाद्यः
अजात् ञ्यङ् → आजाद् य—पूर्ववत्।
आजाद्यः—विभक्तिकार्य।

तपर० अर्थात् तपरकरण किसलिए है?

(समा०) जनपद-समान शब्द 'कुमारी' है। 'तस्याऽपत्यम्' अर्थ में 'कौमार' बनता है। यदि 'इत्' में तपर न होता तो यहाँ 'ञ्यङ्' प्राप्त होता है।

पाण्डोर्जन—पाण्डु जनपद शब्द से ड्यण् होता है। डकार व णकार की इत्संज्ञा है—

(7) पाण्ड्यः
पाण्डु ड्यण् → पाण्ड्यः—टिलोप।

(8) पाण्डवः
अन्यत्र 'अण्' होता है।

(9) आम्बष्ठ्यो राजा
तस्य राजनि—इस अर्थ में।

इसी प्रकार आवन्त्यः, कौन्त्यः, कौसल्यः तथा आजाद्यः।

ड्यण् को डित्करण टिलोप के लिये है, परन्तु णित् करण पुंवद्भाव के निषेध (6.3.38) के लिये है, न कि आदिवृद्धि के लिये। कारण कि पाण्डु शब्द में आदि अच् पूर्वतः वृद्धिसंज्ञक है। अतः आदिवृद्धिकरण व्यर्थ हो जाता है।

'पाण्ड्या भार्या यस्य सः' इस दशा में 'स्त्रियाः पुंवद्भाषित०' से पुंवद्भाव प्राप्त होता है, जिसकी निवृत्ति 'वृद्धिनिमितस्य च तद्धितस्य०' से हो जाती है।

(1422) कुरुनादिभ्यो ण्यः *172* (1190)

जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्येव। कुरुशब्दान्नादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो ण्यः प्रत्ययो भवति। अणञोरवादः। कौरव्यः। नकारादिभ्यः-नैषध्यः, नैपथ्यः। तस्य राजनीत्येव-कौरव्यो राजा।

अर्थ—क्षत्रियवाची व जनपदवाची कुरु शब्द से तथा नकारादि शब्दों से 'ण्य' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में। यह अण् व अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) कौरव्यः
कुरु ण्य—आदिवृद्धि।

(2) नैषध्यः
निषध ण्य—आदिवृद्धि।

(3) नैपथ्यः (पूर्ववत्)।

(4) कौरव्यो राजा
तस्य राजनि—इस अर्थ में।

(1423) साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् *173* (1191)

जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्येव। सल्वा नाम क्षत्रिया तन्नामिका, तस्या अपत्यम् 'द्व्यचः' (4.1.121) इति ढक्-साल्वेयः। अणपीष्यते-साल्वः। तस्य निवासः साल्वो जनपदः, तदवयवा उदुम्बरादयः, तेभ्यः क्षत्रियवृत्तिभ्य इदं प्रत्ययविधानम्। साल्वावयवेभ्यः प्रत्यग्रथकलकूटाश्मकशब्देभ्यश्चापत्ये इञ् प्रत्ययो भवति। अञोऽपवादः। औदुम्बरिः। तैलखलिः। माद्रकारिः। यौगन्धरिः। भौलिङ्गिः। शारदण्डिः। प्रात्यग्रथिः। कालकूटिः। आश्मकिः। तस्य राजनीत्येव-औदुम्बरी राजा।

उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः।
भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयवसंज्ञिताः॥

अर्थ—जनपदवाची, क्षत्रियवाची 'साल्व' के अवयववाची शब्द से, प्रत्यग्रथ. से, कलकूट से तथा अश्मक शब्द से 'इञ्' प्रत्यय होता है, अपत्य अर्थ में।

उदा० (1) साल्वेयः
'द्व्यच' से 'ढक्' हुआ।

(2) साल्वः
'अण्' हुआ।

'साल्व' एक जनपद है। इसके अनेक अवयव हैं। यथा—

(3) औदुम्बरिः
उदुम्बर इञ्—अञ् प्राप्त था।

(4) तैलखलिः
इञ् हुआ।

(5) माद्रकारिः
मद्रकर इञ्।

(6) यौगन्धरिः
युगन्धर इञ्।

(7) भौलिङ्गिः
भुलिङ्ग इञ्।

(8) शारदण्डिः
शरदण्ड इञ्।

(9) प्रात्यग्रथिः
प्रत्यग्रथ इञ्।

(10) कालकूटिः
कलकूट इञ्।

(11) आश्मकिः
अश्मक इञ्।

(12) औदुम्बरो राजा
तस्य राजनि—इस अर्थ में।

उदुम्बर, तिलखल, मद्रकार, युगन्धर, भुलिंग तथा शरदण्ड—ये साल्व जनपद के अवयव थे।

(1424) ते तद्राजाः *174 (1192)

'जपनदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (4.1.168) इत्येवमादयः प्रत्ययाः सर्वनाम्ना प्रत्यवमृश्यन्ते, न तु पूर्वे, गोत्रयुवसंज्ञाकाण्डेन व्यवहितत्वात्। तेऽञादयस्तद्राजसंज्ञा भवन्ति। तथा चैवोदाहृतम्। तद्राजप्रदेशाः-'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' (2.4.62) इत्येवमादयः।

अर्थ—'जनपदाब्दात् क्षत्रियाद्' से विहित 'अञ्' प्रत्यय से लेकर यहाँ तक जिन-जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन सभी की 'तद्राज' संज्ञा होती है। उदाहरण आगे दिखाये जा रहे हैं।

(1425) कम्बोजाल्लुक् *175* (1194)

'जनपदशब्दात् क्षत्रियात्' (4.1.168) इत्यनेन विहितस्याञो लुगुच्यते। कम्बोजात्प्रत्ययस्य लुग् भवति। कम्बोजः। *कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम्* (म० भा०)। कम्बोजः। चोलः। केरलः। शकः। यवनः। तस्य राजनीत्येव-कम्बोजो राजा।

अर्थ—'जनपदशब्दात्' से विहित 'अञ्' के लुक् का विधान किया जाता है। जनपदवाची, क्षत्रियवाची कम्बोज शब्द से अपत्य अर्थ में विहित तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है।

कम्बोजा—चोल आदि के लिए कम्बोज आदि से प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) कम्बोजः
कम्बोज अञ्—'जनपदशब्दात्०', लुक्,
कम्बोजः—सु।

(2) चोलः
पूर्ववत्। 'द्व्यञ्मगध०' से प्रत्यय हुआ था।

(3) केरलः
केरल अण्—प्रत्यय का लुक्।

(4) शकः
शक अण्—पूर्ववत्।

(5) यवनः (पूर्ववत्)।

(6) कम्बोजो राजा
तस्य राजनि—इस अर्थ में प्रत्यय हुआ। प्रत्यय का लुक् हुआ। विभक्तिकार्य।

(1426) स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च *176* (1195)

अवन्तिकुन्तिकुरुशब्देभ्य उत्पन्नस्य तद्राजस्य स्त्रियामभिधेयायां लुग्भवति। अवन्तिकुन्तिभ्यां ञ्यङः कुरोर्ण्यस्य। अवन्ती। कुन्ती। कुरूः। स्त्रियामिति किम्? आवन्त्यः, कौन्त्यः, कौरव्यः।

अर्थ—जनपदवाची और क्षत्रियाभिधेय अवन्ति, कुन्ति तथा कुरु शब्दों से विहित तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है, स्त्रीलिंग वाच्य होने पर। अवन्ति तथा कुन्ति शब्दों से 'ञ्यङ्' होता है तथा 'कुरु' शब्द से 'ण्य' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अवन्ती
अवन्तीनामपत्यं स्त्री → अवन्ति ञ्यङ्—वृद्धेत्कोस०,
अवन्ति ङीष्—लुक्, इतो मनुष्यजातेः,
अवन्ती—विभक्तिकार्य।

(2) कुन्ती (पूर्ववत्)।

(3) कुरुः
कुरुनादिभ्यो से 'ण्य', लुक्, ऊङुतः।

स्त्रियामिति अर्थात् **स्त्रीत्व वाच्य** होने पर ही लुक् होता है—

(4) आवन्त्यः
अवन्ति ञ्यङ्—लुक् नहीं हुआ।

(5) कौन्त्यः
पूर्ववत् लुक् नहीं।

(6) कौरव्यः
स्त्रीत्व वाच्य न रहने पर लुक् नहीं हुआ।

(1427) अतश्च *177* (1196)

स्त्रियामित्येव। अकारप्रत्ययस्य तद्राजस्य स्त्रियामभिधेयायां लुग्भवति। तकारो विस्पष्टार्थः। शूरसेनी।

मद्री। दरत्। अवन्त्यादिभ्यो लुग्वचनात् तदन्तविधिरत्र नास्ति, तेनेह न भवति–आम्बष्ठ्या, सौवीर्या।

अर्थ—जनपदवाची व क्षत्रियाभिधेय प्रातिपदिक से विहित तद्राजसंज्ञक अकार प्रत्यय का लुक् होता है, स्त्रीलिंग वाच्य होने पर।

'अत:' में तकार स्पष्टता के लिए है।

उदा० (1) शूरसेनी
शूरसेनस्याऽपत्यं स्त्री—जनपदशब्दात्० से 'अञ्' हुआ,
शूरसेन ङीप्—ङीष्, विभक्तिकार्य।

(2) मद्री
मद्र—पूर्ववत् प्रत्यय का लुक्।

(3) दरत् (पूर्ववत्)।

अवन्ति आदि से लुक् कहने से यहाँ तदन्तविधि नहीं होती है। अत: यहाँ नहीं होता है।

(4) आम्बष्ठ्या
अम्बष्ठ ञ्य—प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ,
आम्बष्ठ्या—सु।

(5) सौवीर्या
यहाँ नहीं हुआ।

(1428) न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः *178* (1197)

प्राच्येभ्यो भर्गादिभ्यो यौधेयादिभ्यश्चोत्पन्नस्य लुग् न भवति। 'अतश्च' (4.1.177) इत्यनेन स्त्रियां लुक् प्राप्तः प्रतिषिध्यते। प्राच्येभ्यः क्षत्रियेभ्यस्तावत्–पाञ्चाली, वैदेही, आङ्गी, वाङ्गी, मागधी। भर्गादिभ्यः–भार्गी, कारूषी, कैकेयी। यौधेयादिभ्यः–यौधेयी। शौभ्रेयी। शौक्रेयी। कस्य पुनरकारस्य प्रत्ययस्य यौधेयादिभ्यो लुक् प्राप्तः प्रतिषिध्यते? पाञ्चमिकस्याञः 'पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ' (5.3.117) इत्येतस्य। कथं पुनस्तस्य भिन्नप्रकरणस्थस्यानेन लुक् प्राप्नोति? एतदेव ज्ञापयति–पाञ्चमिकस्यापि तद्राजस्य 'अतश्च' इत्यनेन लुग्भवतीति। किमेतस्य ज्ञापनेन प्रयोजनम्? पर्श्वाद्यणः स्त्रियां लुक् सिद्धो भवति। पर्शूः। रक्षाः। असुरी। तथा चोक्तम्–'यौधेयादिप्रतिषेधो ज्ञापकः पर्श्वाद्यणो लुक्' (म०भा०) इति। भर्ग। करूष। केकय। कश्मीर। साल्व। सुस्थाल। उरश। कौरव्य। भर्गादिः। यौधेय। शौभ्रेय। शौक्रेय। ज्याबाणेय। घार्त्तेय। धार्त्तेय। त्रिगर्त्त। भरत। उशीनर। यौधेयादिः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

अर्थ—जनपदवाची, क्षत्रियाभिधेय प्राग्देशीय शब्दों से, भर्ग आदि शब्दों से तथा यौधेय आदि शब्दों से विहित तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् नहीं होता, स्त्रीलिंग वाच्य होने पर। 'अतश्च' के द्वारा स्त्रीलिंग में लुक् प्राप्त होता है, उसका निषेध किया जा रहा है।

उदा०—(1) पाञ्चाली
पञ्चाल अञ्—जनपदशब्दात्०,
पाञ्चाल—अतश्च, लुक् का निषेध,
पाञ्चाली—शार्ङ्गरवा० से ङीन्, विभक्तिकार्य।

(2) वैदेही
पूर्ववत्। स्त्रीत्व में 'ङीन्' हुआ।

(3) आङ्गी
पूर्ववत्। 'जातेरस्त्रीविषयादयोप०' से ङीष् हुआ।

(4) बाङ्गी (पूर्ववत्)।

(5) मागधी (पूर्ववत्)।

(6) भार्गी
भर्ग अण्→भार्ग—पूर्ववत्।

(7) कारूषी
करूष अण्—पूर्ववत्।
कारूष ङीप्—जातेरस्त्री०।

(8) कैकेयी
केकय अण्→कैकेय (पूर्ववत्)।

(9) यौधेयी
यौधेय अण्—पर्श्वादियौधेय०,
यौधेयी—ञ्यादयस्तद्राजा:, अतश्च, विभक्तिकार्य।

(10) शौभ्रेयी (पूर्ववत्)।

कस्य पुन०—यौधेय आदि से प्राप्त किस अकार प्रत्यय के लुक् का निषेध किया जाता है। पाञ्चमिक का अर्थ है—पञ्चम अध्याय का। पाञ्चमिक के अञ् के अकार के लुक् का निषेध किया जाता है। द्र०—पर्श्वादियौधेयादिभ्याम्०। तब भिन्न प्रक-

रणस्थ उसका इसके द्वारा लुक् कैसे होता है ? इससे विज्ञापित होता है कि 'अतश्च' के द्वारा 'पाञ्चमिक' इसके तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् होता है। इस ज्ञापक का क्या प्रयोजन है।

(समा०) स्त्रीलिंग में पर्श्वादि अण् का लुक् सिद्ध होता है।

(11) पर्शूः
पर्शु—स्त्रीत्व में,

पर्शूः—विभक्तिकार्य।

(12) रक्षाः (पूर्ववत्)।

(13) आसुरी (पूर्ववत्)।

कहा गया है—यौधेयादि से निषेध से ज्ञापित होता है कि पर्श्वादि अण् का लुक् होता है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां चतुर्थाऽध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।



चतुर्थाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः

(1429) तेन रक्तं रागात् *1* (1202)

शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमिह रञ्जेरर्थः। रज्यतेऽनेनेति रागः। तेनेति तृतीयासमर्थाद्रागविशेषवाचिनः शब्दात् रक्त-मित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्। माञ्जिष्ठम्। कौसुम्भम्। रागादिति किम्? देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्। कथं काषायौ गर्दभस्य कर्णौ, हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति? उपमानाद्भविष्यति-काषायाविव काषायौ, हारिद्राविव हारिद्रौ। 'द्वैपवैयाघ्रादञ्' (4.2.12) इति यावत्तृतीयासमर्थविभक्तिरनुवर्त्तते।

अर्थ—जिसके द्वारा रंगा जाता है, उसे 'राग' कहते हैं। तृतीयान्त समर्थ रंगवाची शब्द से 'रंगा हुआ' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) काषायम्
कषायेण रक्तं (वस्त्रम्) → कषाय टा अण्—प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्,
काषाय अ—आदिवृद्धि, तद्धितेष्वचामा०, यचि भम्, यस्येति च,
काषायाम्—सु, विशेष्यानुसार लिंग।

(2) माञ्जिष्ठम्
मञ्जिष्ठेन रक्तं (वस्त्रम्) (पूर्ववत्)।

(3) कौसुम्भम्।
कुसुम्भ अण्।

रागात् अर्थात् रागवाची से ही यथाविहित प्रत्यय होता है—
देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम्—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(4) काषायौ गर्दभस्य कर्णौ
यह प्रयोग लोक में प्राप्त होता है। उपमान से प्रत्यय हुआ है।
कषायौ इव—काषायौ।

(5) हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ (पूर्ववत्)।

द्वैपवैयाघ्रादञ्' (4.2.12) तक इसका अधिकार है।

(1430) लाक्षारोचनाशकलकर्दमाट्ठक् *2* (1203)

लाक्षादिभ्यो रागवचनेभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। लाक्षया रक्तं वस्त्रं लाक्षिकम्। रौचनिकम्। शाकलिकम्। कार्दमिकम्। *शकलकर्दमाभ्यामणपीष्यते* (म०भा०)। शाकलम्। कार्दमम्। *नील्या अन् वक्तव्यः* (म०भा०)। नील्या रक्तं वस्त्रम्। *पीतात् कन् वक्तव्यः* (म०भा०)। पीतेन रक्तं पीतकम्। *हरिद्रामहारजनाभ्यामञ् वक्तव्यः* (म०भा०)। हारिद्रम्। माहारजनम्।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ रागविशेषवाची लाक्षा, रोचन, शकल व कर्दम प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय होता है, 'रक्त' अर्थ में। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) लाक्षिकम्
लाक्षया रक्तम्—'ठक्' हुआ, ठस्येकः,
लाक्षिक सु—विभक्तिकार्य।

(2) रौचनिकम्
रोचनेन रक्तम्—पूर्ववत्।

(3) शाकलिकम्
शाकलेन रक्तम्—पूर्ववत्।

(4) कार्दमिकम्
कर्दमेन रक्तम्—पूर्ववत्।

शकलकर्दमा० अर्थात् शकल व कर्दम शब्दों से 'अण्' भी होता है—

(5) शाकलम्
शकल अण्।

(6) कार्दमम्।
कर्दम अण्।

नील्या०—'नीली' शब्द से 'अन्' होता है—

(7) नीलम्
नीली अन् (नील्या रक्तम्)।

पीतात्—पीत शब्द से 'कन्' होता है—

(8) पीतकम्
पीतेन रक्तम् → पीत कन् सु।

हरिद्रा०—हरिद्रस् और महारजन् शब्दों से 'अञ्' होता है—

(9) हारिद्रम्
हरिद्रया रक्तम्।

(10) माहारजनम्
महारजन अञ्।

(1431) नक्षत्रेण युक्तः कालः *3* (1204)

तृतीयासमर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। तेनेति तृतीयासमर्थात् नक्षत्रविशेषवाचिनः शब्दाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ युक्तः कालश्चेत्स भवति। कथं पुनर्नक्षत्रेण पुष्यादिना कालो युज्यते? पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि वर्त्तमानाः पुष्यादिशब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति। पुष्येण युक्तः कालः, पुष्यसमीपस्थेन चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः। पौषी रात्रिः। पौषमहः। माघी रात्रिः। माघमहः (म०भा०)। नक्षत्रेणेति किम्? चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः। काल इति किम्? पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ नक्षत्रविशेषवाची प्रातिपदिकों से 'अण्' यह सामान्य प्रत्यय होता है, 'उस नक्षत्र से युक्त काल'—इस अर्थ में। तब पुष्य आदि नक्षत्र के द्वारा काल किस प्रकार युक्त होता है। पुष्य आदि के समीप चन्द्रमा के स्थित होने पर 'पुष्य से युक्त काल है' इस अर्थ में पुष्य आदि शब्दों से प्रत्यय होता है। इसका अर्थ है—पुष्य के समीप स्थित चन्द्रमा से युक्त।

उदा० (1) पौषी रात्रिः
पुष्येण नक्षत्रेण युक्तः कालः—अण् हुआ, अकारलोप,
पुष्य अ → पुष् अ—'सूर्यतिष्यागस्त्य०' से यलोप,
पौष ङीप्—आदिवृद्धि, टिड्ढाऽण०,
पौषी सु—सु,
पौषी—विभक्तिकार्य।

(2) पौषमहः
पौष सु—विशेष्य के अनुसार लिंग।

(3) माघी रात्रिः
मघानक्षत्रेण युक्तः कालः—अण्,
माघ ङीप्—पूर्ववत्।

(4) माघम् अहः
नपुंसक लिङ्ग में।

नक्षत्रेण अर्थात् नक्षत्र से युक्त है रात्रि—इस अर्थ में प्रत्यय होता है—

चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

काल० अर्थात् नक्षत्र से युक्त है **काल**—इस अर्थ में प्रत्यय होता है—

पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(1432) लुबविशेषे *4* (1205)

पूर्वेण विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति अविशेषे, न चेन्नक्षत्रयुक्तस्य कालस्य रात्र्यादिविशेषोऽभिधीयते। यावान् कालो नक्षत्रेण युज्यतेऽहोरात्रस्तस्याविशेषे लुब् भवति (म०भा०)। अद्य पुष्यः। अद्य कृत्तिकाः। अविशेष इति किम्? पौषी रात्रिः, पौषमहः।

अर्थ—सामान्य कथन होने पर विधीयमान प्रत्यय का लुप् होता है। नक्षत्र से युक्त काल का रात्रि आदि विशेष कथन नहीं किया जा रहा है। जो काल नक्षत्र से युक्त होता है—दिन या रात, उसका सामान्य कथन में प्रत्यय का लुप् होता है।

उदा० (1) अद्य कृत्तिकाः
कृत्तिकानक्षत्रेण युक्तः कालोऽद्य—अण् हुआ,
कृत्तिका—अण् का लुप्, न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण का निषेध,
कृत्तिकाः—जस् विभक्ति।

अविशेष अर्थात् **सामान्य कथन** में लुप् होता है—

(2) पौषी रात्रिः
यहाँ 'रात्रिः' इस प्रकार विशेष कथन है। अतः लुप् नहीं हुआ।

(3) पौषम् अहः (पूर्ववत्)।

(1433) संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् *5* (1206)

अविशेषे लुब्विहितः पूर्वेण, विशेषार्थोऽयमारम्भः। श्रवणशब्दादश्वत्थशब्दाच्चोत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति संज्ञायां विषये। श्रवणा रात्रिः। अश्वत्थो मुहूर्त्तः। लुपि युक्तवद्भावः कस्मान्न भवति? निपातनात्-'विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्त्तिकी' (4.2.23) इति। संज्ञायामिति किम्? श्रावणी, आश्वत्थी रात्रिः।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा सामान्य कथन में लुप् कहा गया है। विशेष अर्थ के लिए यह विधान है।

तृतीयान्त समर्थ नक्षत्रवाची श्रवण तथा अश्वत्थ प्रातिपदिकों से 'युक्तः कालः' इस अर्थ में विधीयमान प्रत्यय का लुप् होता है, संज्ञा के विषय में।

उदा० (1) श्रवणा रात्रिः
श्रवणेन युक्ता रात्रिः—प्रत्यय हुआ, प्रकृत सूत्र से लुप्,
श्रवण अण् → श्रवण टाप्—स्त्रीलिंग में,
श्रवणा—विभक्तिकार्य।

(2) अश्वत्थो मुहूर्त्तः (पूर्ववत्)।

लुप् में युक्तवद्भाव क्यों नहीं होता ?

(समा०) निपातन से नहीं होता। द्र०—'विभाषा फाल्गुनीश्रवणा०।

सञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा गम्यमान हो तो लुप् होता है—

(3) श्रावणि रात्रिः
यहाँ संज्ञा अर्थ नहीं है। अतः प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ।

(4) आश्वत्थी रात्रिः (पूर्ववत्)।

(1434) द्वन्द्वाच्छः *6* (1207)

नक्षत्रद्वन्द्वात्तृतीयासमर्थाद्युक्ते काले छः प्रत्ययो भवति विशेषे चाविशेषे च। राधानुराधीया रात्रिः। तिष्यपुनर्वसवीयमहः। अविशेषे–अद्य राधानुराधीयम्, अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम्। लुपं परत्वाद् बाधते।

अर्थ—'युक्तः कालः' इस अर्थ में तृतीया समर्थ नक्षत्रवाची द्वन्द्वसंज्ञक शब्द से विशेष एवं सामान्य कथन—दोनों अवस्थाओं में 'छ' होता है।

उदा० (1) राधानुराधीया रात्रिः
राधा चाऽनुराधा च—द्वन्द्व समास हुआ,
ताभ्यां युक्ता रात्रिः—विशेष कथन में 'छ' हुआ,
राधानुराधीया—ईयादेश, टाप्, सु।

(2) तिष्यपुनर्वसवीयम् अहः
तिष्यश्च पुनर्वसुश्च → तिष्यपुनर्वसू।
तिष्यपुनर्वसुभ्यां युक्तम् अहः—विशेष कथन में 'छ',
तिष्यपुनर्वसो ईय—ओर्गुणः,
तिष्यपुनर्वसवीयम्—सु।

(3) तिष्यपुनर्वसवीयम् अद्य
अविशेष कथन में 'छ' हुआ।
पर होने से लुप् का बाध करता है।

(1435) दृष्टं साम *7* (1208)

तेनेति तृतीयासमर्थाद् दृष्टमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यद् दृष्टं साम चेत्तद्भवति। क्रुञ्चेन दृष्टं क्रौञ्चं साम (तै०सं० 2.5.11.1)। वासिष्ठम्। वैश्वामित्रम् (ऐ०ब्रा० 6.20)।

अर्थ—'साम देखा गया' इस अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) क्रौञ्चं साम
क्रुञ्चेन दृष्टम्—अण् हुआ,
क्रौञ्च सु—आदिवृद्धि, सु।

(2) वासिष्ठम्
वसिष्ठेन दृष्टं साम।

(3) वैश्वामित्रम्
विश्वामित्रेण दृष्टं साम।

(1436) कलेर्ढक् *8* (1209)

कलिशब्दात्तृतीयासमर्थाद् दृष्टमित्येतस्मिन्नर्थे ढक् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। कलिना दृष्टं साम कालेयम्। *सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्यः* (म०भा०)। अग्निना दृष्टमाग्नेयम्। एवमग्नौ भवमग्नेरागतमग्नेः स्वमिति सर्वत्र ढगेव भवति–आग्नेयम्। तथा कालेयमपि प्रतिपत्तव्यम्। *दृष्टे सामनि अण् वा डिद्भवतीति वक्तव्यम्* (श्लोक वा०)। उशनसा दृष्टं साम औशनसम्, औशनम्। *जाते चार्थे योऽन्येन बाधितः पुनरण् विधीयते स वा डिद्भवतीति वक्तव्यम्* (श्लोक वा०)। प्राग्दीव्यतोऽण् प्राप्तः कालठञा बाधितः 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्यः' इति पुनर्विधीयते स वा डिद्भवतीति वक्तव्यम्। शतभिषजि जातः शातभिषः, शातभिषजः। *तीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्यः* (श्लोक वा०)। द्वैतीयीकम्। तार्तीयीकम्। द्वितीयकम्। तृतीयकम्। *न विद्यायाः* (श्लोक वा०)। द्वितीया, तृतीया विद्या। *गोत्रादङ्कवदिष्यते* (श्लोक वा०)। दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थे। औपगवेन दृष्टं औपगवकम्। कापटवकम्। गोत्रचरणाद् वुञ् (4.3.126) भवति।

**दृष्टे सामनि जाते च द्विरण् डिद्वा विधीयते।
तीयादीकक् न विद्याया गोत्रादङ्कवदिष्यते॥ (म०भा०)**

अर्थ—'साम देखा गया' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कलि प्रातिपदिक से 'ढक्' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) कालेयम्
कलिना दृष्टं साम—ढक् हुआ,
कालि एय—आदिवृद्धि, आयादेश,
कालेयम्—सु।

सर्वत्राग्नि०—अग्नि और कलि शब्दों से सर्वत्र 'ढक्' होता है—

(2) आग्नेयम्
अग्निना दृष्टं साम।

इसी प्रकार अग्नौ भवम्, अग्नेरागतम्, अग्नेः स्वम्—इन सभी स्थलों पर ढक् ही होता है। इसी प्रकार 'कालेयम्' के बारे में भी जानना चाहिए।

दृष्टे सामनि०—साम देखा गया—इस अर्थ में अण् प्रत्यय विकल्प से डित् होता है—

(3) औशनम्
उशनसा दृष्टं साम—अण्, डिद्वत्,
उशनस् अ—टिलोप, आदिवृद्धि,
औशन् अ सु—सु।

(4) औशनसम्
डित् अभाव पक्ष में टिलोप नहीं हुआ।

जाते चार्थे—'जात' इस अर्थ में जिस का अन्य के द्वारा बाध होता है और अण् का पुनः विधान होता है, वह विकल्प से डित् होता है। 'प्राग्दीव्यतोऽण्' के द्वारा प्राप्त अण् का ठञ् से बाध हुआ। 'सन्धिवेलाघृतु०' से पुनः विधान किया गया। वह विकल्प से डित् हुआ।

(5) शातभिषः
शतभिषजो जातः—अण् हुआ, डिद्वत् हुआ,
शातभिष् अ—विभक्तिकार्य।

(6) शातभिषजः
डित् अभाव पक्ष में।

तीयादीकक्—'तीय' से 'ईकक्' प्रत्यय स्वार्थ में विकल्प से होता है—

(7) द्वैतीयीकम्
द्वितीय ईकक्—'किति च' से आदिवृद्धि,
द्वैतीयक सु—विभक्तिकार्य।

(8) तार्त्तीयीकम्
तृतीय ईकक्—आदिवृद्धि, उरण् रपरः,
तार्त्तीयीकम्—अचो रहाभ्यां द्वे, सु।

(9) द्वितीयकम्
ईकक् अभाव पक्ष में।

(10) तृतीयकम् (पूर्ववत्)।

न विद्यायाः—'विद्या' अर्थ में ईकक् नहीं होता है—

(11) द्वितीया विद्या
द्वितीय टाप्—ईकक् नहीं हुआ।

(12) तृतीया विद्या
ईकक् नहीं हुआ।

गोत्रादङ्क—गोत्र प्रत्ययान्त शब्द से अङ्कवत् होता है, 'साम देखा गया' इस अर्थ में—

(13) औपगवकम्
औपगवेन दृष्टं साम—'औपगव' गोत्र प्रत्ययान्त शब्द है, इससे रूप बनता है।

(14) कापटवकम् (पूर्ववत्)।
गोत्रचरण से 'वुञ्' होता है।

दृष्टे सामनि०—'दृष्टं साम' इस अर्थ में अण् प्रत्यय विकल्प से डित् होता है तथा 'जातः' इस अर्थ में दो बार विहित अण् डिद्वत् होता है।

तीयादी०—तीय प्रत्ययान्त शब्द से स्वार्थ में ईकक् होता है। विद्या अर्थ में ईकक् नहीं होता।

गोत्रादङ्क०—गोत्र प्रत्ययान्त से अङ्कवत् होता है।

(1437) वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ *9* (1210)

वामदेवशब्दात्तृतीयासमर्थाद् दृष्टं सामेत्येतस्मिन्नर्थे ड्यत् ड्य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। अणोऽपवादः। वामदेवं दृष्टं साम वामदेव्यं साम। तित्करणं स्वरार्थम्। डित्करणं किमर्थम्? 'ययतोश्चातदर्थे' (6.2.156) इति नञ उत्तरस्यान्तोदात्तत्वे विधीयमानेऽनयोर्ग्रहणं मा भूत्। अनुबन्धकग्रहणपरिभाषया एकानुबन्धकग्रहणपरिभाषया चानयोर्निवृत्तिः क्रियते। अवामदेव्यम्।

सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थौ ययतौ डितौ।
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद्वामदेव्यस्य नञ्स्वरे॥
(म० भा०)

अर्थ—'साम देखा गया' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ

'वामदेव' शब्द से ड्यत् व ड्य प्रत्यय पर्यायेण होते हैं। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) वामदेव्यं साम
वामदेवेन दृष्टं साम—ड्यत् हुआ,
वामदेव य—टि का लोप हुआ,
वामदेव्यम्—सु।

'ड्य' प्रत्यय में भी यही रूप बनता है, केवल स्वर का अन्तर है।

डित्करणं०—डित् किसलिए किया गया है ?

(समा०) नञ् अव्यय से उत्तर 'वामदेव' शब्द की 'ययतोश्चात०' से अन्तोदात्तता के विधीयमान होने पर इनका (ड्यत् व ड्य का) ग्रहण नहीं होता। अतः इन्हें डित् किया गया है। निरनुबन्धक ग्रहण परिभाषा के द्वारा तथा एकानुबन्धक ग्रहण परिभाषा के द्वारा इन प्रत्ययों की निवृत्ति की जाती है। यथा—

(2) अवामदेव्यम्

सिद्धे यस्येति०—ड्यत् तथा ड्य के स्थान पर 'यत्' व 'य' प्रत्यय करने पर भी 'यस्येति च' से अन्त्य लोप के सिद्ध रहते लक्ष्य के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। तब इन प्रत्ययों का डित् पाठ करना व्यर्थ है।

ग्रहणं—इन प्रत्ययों को डित् करने का प्रयोजन यह है कि नञ् से उत्तर 'वामदेव' शब्द की 'ययतोश्चातद०' से अन्तोदात्तता का विधान होने पर ड्यत् का ग्रहण न हो सके। इसीलिए इन्हें डित् किया गया है।

(1438) परिवृत्तो रथः *10* (1211)

तेनेति तृतीयासमर्थात् परिवृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ परिवृतो रथश्चेत् स भवति। वस्त्रेण परिवृतो रथः वास्त्रो रथः। काम्बलः। चार्मणः। रथ इति किम्? वस्त्रेण परिवृत्तः कायः। समन्ताद्वेष्टितः परिवृत्त उच्यते। यस्य न कश्चिदवयवो वस्त्रादिभिर्वेष्टितः तत्र न भवति। तेनेह न-छात्रैः परिवृत्तो रथः।

अर्थ—'ढका हुआ है रथ'—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वास्त्रो रथः
वस्त्रेण परिवृत्तो रथः—अण्, आदिवृद्धि,
वास्त्रः—सु।

(2) काम्बलः
कम्बलेन परिवृत्तो रथः—पूर्ववत्।

(3) चार्मणः
चर्मणा परिवृत्तो रथः। भसंज्ञा, नस्तद्धिते। 'अन्' के द्वारा प्रकृतिभाव।

रथ इति० अर्थात् 'ढका हुआ है रथ' इस अर्थ में प्रत्यय होता है—

वस्त्रेण परिवृत्तः कायः—यहाँ नहीं हुआ।

जिसका कोई अवयव वस्त्र आदि के द्वारा ढका हुआ न हो तो यथाविहित प्रत्यय नहीं होता है—

छात्रैः परिवृत्तो रथः—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(1439) पाण्डुकम्बलादिनिः *11* (1212)

पाण्डुकम्बलशब्दात्तृतीयासमर्थात्परिवृत्तो रथ इत्येतस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। पाण्डुकम्बली। पाण्डुकम्बलिनौ। पाण्डुकम्बलिनः (म०भा०)। पाण्डुकम्बलशब्दो राजास्तरणस्य वर्णकम्बलस्य वाचकः। मत्वर्थीयेनैव सिद्धे वचनमणो निवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ पाण्डुकम्बल प्रातिपदिक से 'इनि' प्रत्यय होता है, 'ढका हुआ रथ'—इस अर्थ में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) पाण्डुकम्बली
पाण्डुकम्बलेन परिवृत्तो रथः—'इनि' हुआ,
पाण्डुकम्बलिन् सु—विभक्तिकार्य।

मत्वर्थीय के द्वारा ही यह प्रत्यय सिद्ध था। यहाँ 'अण्' की निवृत्ति के लिए विधान किया गया है।

(1440) द्वैपवैयाघ्रादञ् *12* (1213)

द्वीपिव्याघ्रयोर्विकारभूते चर्मणी द्वैपवैयाघ्रे, ताभ्यां तृतीयासमर्थाभ्यां परिवृतो रथ इत्येतस्मिन्नर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। स्वरे विशेषः। द्वैपेन परिवृतो रथो द्वैपः। वैयाघ्रः।

अर्थ—विकार अर्थ में 'अण्' होकर 'द्वैप' तथा 'वैयाघ्र' शब्द निष्पन्न होते हैं। तृतीयान्त समर्थ द्वैप तथा वैयाघ्र प्रातिपदिकों से 'अञ्' प्रत्यय होता है, 'ढका हुआ है रथ'—इस अर्थ में। यह अण् का अपवाद है। स्वर का भेद है।

उदा० (1) द्वैप:
द्वैपेन परिवृत्तो रथ:—अञ् होकर रूप बनता है।

(2) वैयाघ्र: (पूर्ववत्)।

(1441) कौमारापूर्ववचने *13* (1214)

कौमार इत्येतदण्प्रत्ययान्तं निपात्यतेऽपूर्ववचने। पाणिग्रहणस्यापूर्ववचनम्। उभयतः स्त्रियाम् अपूर्वत्वे निपातनमेतत्। अपूर्वपतिं कुमारीं पतिरुपपन्नः कौमारः पतिः। कुमारीशब्दाद् द्वितीयासमर्थादुपयन्तरि प्रत्ययः। अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी भार्या (म०भा०)। प्रथमान्तादेव स्वार्थे प्रत्ययोऽपूर्वत्वे द्योत्ये।

कौमारापूर्ववचने कुमार्या अण्विधीयते।
अपूर्वत्वं यदा तस्याः कुमार्या भवतीति वा॥
(म०भा०)

कुमार्या भवः कौमारः पतिः, तस्य स्त्री कौमारी भार्येति सिद्धम्।

अर्थ—'अपूर्ववचन' अर्थ में अण् प्रत्ययान्त 'कौमार' शब्द निपातनसिद्ध है। स्त्रीलिंग व पुँल्लिंग दोनों में अपूर्व होने में यह निपातन है।

यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है—

उदा० (1) कौमार:
अपूर्वपतिं कुमारीं पतिरुपपन्न:—इस अर्थ में 'अण्' होकर रूप बनता है। द्वितीयान्त समर्थ 'कुमारी'. शब्द से 'पति' अर्थ में प्रत्यय हुआ है।

(2) कौमारी (भार्या)
अपूर्वपति: कुमारी पतिमुपपन्न:—अपूर्ववचन में प्रथमान्त समर्थ शब्द से स्वार्थ में प्रत्यय हुआ है।

कौमारा०—कुमारी शब्द से अण् प्रत्यय करके 'कौमार' शब्द अपूर्वकथन में निपातनसिद्ध है।

अपूर्व०—यह निपातन अपूर्वकथन में ही होता है।

कुमार्या....वा—'कुमारी में होने वाला' इस अर्थ में 'कौमार' तथा 'कौमारी' शब्द सिद्ध हो जाते हैं। यथा—

'तत्र भव:' से औत्सर्गिक अण् करके 'कौमार: पति:' सिद्ध हो जाता है तथा 'कौमारस्य पत्नी' इस दशा में पुंयोग लक्षण होकर ङीप् 'कौमारी भार्या' रूप भी सिद्ध हो जाता है। (इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ है।)

(1442) तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः *14* (1215)

तत्रेति सप्तमीसमर्थादमत्रवाचिनः शब्दादुद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। भुक्तोच्छिष्टमुद्धृतमुच्यते, यस्योद्धरणमिति प्रसिद्धिः। अमत्रं भाजनं पात्रमुच्यते। शरावेषूद्धृतः शाराव ओदनः। माल्लिकः। कार्परः। अमत्रेभ्य इति किम्? पाणावुद्धृत ओदनः। तत्रेति सप्तमी समर्थविभक्तिः 'क्षीराड् ढञ्' (4.2.20) इति यावदनुवर्त्तते।

अर्थ—पात्रविशेष वाचक समर्थ प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है, 'निकाल कर रखा गया'—इस अर्थ में।

खाने के पश्चात् शेष को 'उद्धृत' कहते हैं। 'अमत्र' पात्र-विशेष को कहते हैं।

उदा० (1) शाराव: (ओदन:)
शरावेषूद्धृत:—अण्, आदिवृद्धि।

(2) माल्लिक:
मल्लिका अण्।

(3) कार्पर:
कर्पर अण्।

अमत्रेभ्य: अर्थात् **पात्रविशेषवाची** प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

पाणावुद्धृत ओदन:—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

'तत्र' इस पद में सप्तमी समर्थ विभक्ति है। 'क्षीराड्ढञ्' का अनुवर्त्तन है।

(1443) स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते *15* (1216)

स्थण्डिलशब्दात्सप्तमीसमर्थात् शयितर्यभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति समुदायेन चेद् व्रतं गम्यते। व्रतमिति शास्त्रितो नियम उच्यते। स्थण्डिले शयितुं व्रतमस्य स्थाण्डिलो भिक्षुः। स्थाण्डिलो ब्रह्मचारी। व्रत इति किम्? स्थण्डिले शेते ब्रह्मदत्तः।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ स्थण्डिल प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, 'व्रत' अर्थ गम्यमान हो तथा 'शयन का कर्ता' वाच्य हो। शास्त्रानुसार नियम को 'व्रत' कहा जाता है।

उदा० (1) स्थाण्डिलो भिक्षु:
स्थण्डिले शयितुं व्रतमस्य—अण् हुआ, आदिवृद्धि,
स्थाण्डिल सु—विभक्तिकार्य।

व्रत इति० अर्थात् व्रत अर्थ गम्यमान हो तो यथाविहित प्रत्यय होता है—

स्थण्डिले शेते ब्रह्मदत्तः—यहाँ 'व्रत' गम्यमान नहीं है। अतः 'अण्' प्रत्यय नहीं हुआ।

(1444) संस्कृतं भक्षाः *16* (1217)

तत्रेति सप्तमीसमर्थात्संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते भवन्ति। खरविशदमभ्यवहारार्थं भक्षमित्युच्यते। सत उत्कर्षाधानं संस्कारः। भ्राष्ट्रे संस्कृता भक्षा भ्राष्ट्रा अपूपाः। कालशाः। कौम्भाः। भक्षा इति किम्? पुष्पपुटे संस्कृतो मालागुणः।

अर्थ—यदि संस्कृत पदार्थ खाने की वस्तु हो तो सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, 'संस्कार किया गया' इस अर्थ में। खर (= कड़ा) तथा विशद (= विभक्त) को 'भक्ष' कहा जाता है।

सत के उत्कर्ष का आधान संस्कार कहलाता है।

उदा० (1) भ्राष्ट्राः
भ्राष्ट्रे संस्कृता भक्षाः—अण् हुआ,
भ्राष्ट्राः—जस्।

(2) कालशाः
पूर्ववत् अण्।

(3) कौम्भाः
कुम्भ अण्।

भक्षा अर्थात् संस्कृत पदार्थ खाने की वस्तु हो तो यथाविहित प्रत्यय होता है—

(4) पुष्पपुटे संस्कृतो मालागुणः
अण् प्रत्यय नहीं हुआ।

(1445) शूलोखाद्यत् *17* (1218)

शूलशब्दादुखाशब्दाच्च सप्तमीसमर्थात्संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम्। उख्यम्।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ शूल तथा उखा प्रातिपदिकों से 'यत्' प्रत्यय होता है, 'संस्कृतं भक्षाः'—इस अर्थ में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) शूल्यं मांसम्
शूले संस्कृतम्—यत् हुआ,

शूल्य सु—सु हुआ।

(2) उख्यम्
उखा यत्।

(1446) दध्नष्ठक् *18* (1219)

दधिशब्दात्सप्तमीसमर्थात्संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। दधनि संस्कृतं दाधिकम्। ननु च संस्कृतार्थे प्राग्वहतेष्ठकं वक्ष्यति, तैनेव सिद्धम्? न सिद्ध्यति, दध्ना हि तत्संस्कृतं यस्य दधिकृतमेवोत्कर्षाधानम्, इह तु दधि केवलमाधारभूतम्, द्रव्यान्तरेण लवणादिना संस्कारः क्रियते।

अर्थ—'संस्कृत भक्ष्य पदार्थ'—इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ दधि शब्द से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) दाधिकम्
दध्नि संस्कृतम्—ठक् हुआ,
दाधिक सु—आदिवृद्धि, ठस्येकः,
दाधिकम्—रूप बना।

ननु च—संस्कृत किया गया—इस अर्थ में 'प्राग्वहतेष्ठक्' से 'ठक्' कहा जायेगा। इस नियम से यहाँ 'ठक्' सिद्ध था।

(समा०) यह सिद्ध नहीं था; अतः विधान किया गया। दही के द्वारा वह पदार्थ संस्कृत होता है, जिसके उत्कर्ष का आधान दधि के द्वारा कृत हो। यहाँ तो 'दधि' केवल आधारभूत है। लवण आदि अन्य द्रव्यों से संस्कार किया जाता है।

(1447) उदश्वितोऽन्यतरस्याम् *19* (1220)

उदश्विच्छब्दात्सप्तमीसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थेऽन्यतरस्यां ठक् प्रत्ययो भवति। पक्षे यथाप्राप्तमण् भवति। औदश्वित्कम्, औदश्वितम्।

अर्थ—'संस्कृतं भक्षाः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ उदश्वित् प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में यथाप्राप्त अण् होता है।

उदा० (1) औदश्वित्कम्
उदश्विति संस्कृतम्—आदिवृद्धि,
औदश्वित् क—'इसुसुक्तान्तात्०' से 'क',
औदश्वित्क सु—विभक्तिकार्य।

(2) औदश्वितम्
पक्ष में अण् हुआ।

(1448) क्षीराड्ढञ् *20* (1222)

क्षीरशब्दात् सप्तमीसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ढञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। क्षीरे संस्कृता क्षैरेयी यवागूः।

अर्थ—'संस्कृतं भक्षाः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ क्षीर प्रातिपदिक से 'ढञ्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) क्षैरेयी यवागूः
क्षीरे संस्कृता—'ढञ्' हुआ,
क्षीर एय—आदिवृद्धि,
क्षैरेय ङीप्—टिड्ढाऽण०, सु।

(1449) साऽस्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम् *21* (1223)

सेति प्रथमासमर्थाद् अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं पौर्णमासी चेद्भवति, इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा भवति। संज्ञायामिति समुदायोपाधिः, प्रत्ययान्तेन चेत्संज्ञा गम्यत इति। मासार्धमाससंवत्सराणामेषा संज्ञा। पौषी पौर्णमासी अस्मिन् पौषो मासः, पौषोऽर्धमासः, पौषः संवत्सरः। इह न भवति–पौषी पौर्णमासी अस्मिन् दशरात्र इति (म०भा०)। भृतकमासे च न भवति। इतिकरणस्य संज्ञाशब्दस्य च तुल्यमेव फलं प्रयोगानुसरणम्, तत्र किमर्थं द्वयमुपादीयते? संज्ञाशब्देन तुल्यतामितिकरणस्य ज्ञापयितुम्, न ह्ययं लोके तथा प्रसिद्धः। संज्ञार्थत्वे तु सम्प्रति ज्ञापिते यत्तत्र तत्रोच्यते इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षेति तदुपपन्नं भवति। अथ पौर्णमासीति कोऽयं शब्दः? पूर्णमासादण् (म०भा०)। पौर्णमासी। अथवा, पूर्णो माः पूर्णमाः, पूर्णमास इयं पौर्णमासी। मा इति चन्द्र उच्यते।

अर्थ—सप्तम्यन्त (अर्थात् अधिकरण) वाच्य होने पर प्रथमा समर्थ पौर्णमासी प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, संज्ञा में। 'इति' पद का प्रयोग किया गया है। 'संज्ञायाम्' का अर्थ है—संज्ञा गम्यमान रहते।

मास, अर्धमास तथा संवत्सर की यह संज्ञा है।

उदा० (1) पौषः (मासः/अर्धमासः/संवत्सरः)
पुष्यनक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी—पौषी
सा पौषी पौर्णमास्यस्मिन् मासे—अण् हुआ।

निम्नलिखित में प्रत्यय नहीं होता है—
पौषी पौर्णमासी अस्मिन् दशरात्रे

भृतक०—सेवकों के महीने में भी नहीं होता है। 'इति' शब्द का प्रयोग तथा संज्ञा शब्द का प्रयोग—इन दोनों का प्रयोजन है—प्रयोग का अनुसरण। अतः दोनों का ग्रहण किसलिए है? इतिकरण की संज्ञा शब्द के साथ तुल्यता ज्ञापित करने के लिए ऐसा किया जा रहा है; क्योंकि लोक में ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। इस समय संज्ञार्थता ज्ञापित हो जाने पर यत्र-तत्र जो 'इतिकरण' कहा जाता है, उससे यदि विवक्षा होती है—यह उत्पन्न होता है।

अथ—'पौर्णमासी' यह क्या शब्द है? पूर्णमास अण्—इस प्रकार पौर्णमासी शब्द बनता है। अथवा पूर्णोमाः—पूर्णमाः। पूर्णमस इयम्—पौर्णमासी इस प्रकार भी सिद्ध होता है। 'मा' का अर्थ चन्द्रमा है।

(1450) आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक् *22* (1224)

सास्मिन्पौर्णमासीति सर्वमनुवर्त्तते। आग्रहायणीशब्दादश्वत्थशब्दाच्च प्रथमासमर्थात्पौर्णमास्युपाधिकाद् अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। आग्रहायणिको मासः, अर्धमासः संवत्सर। एवमाश्वत्थिकः।

अर्थ—अधिकरण अभिधेय हो तो प्रथमान्त समर्थ आग्रहायणी व अश्वत्थ प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) आग्रहायणिको मासः
आग्रहायणी पौर्णमास्यस्मिन् मासे—ठक् हुआ,
आग्रहायणिकः—आदिवृद्धि, सु।

(2) आश्वत्थिकः
अश्वत्था पौर्णमास्यस्मिन्—पूर्ववत् ठक् आदि।

(1451) विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्त्तिकीचैत्रीभ्यः *23* (1225)

फाल्गुन्यादयः पौर्णमासीशब्दास्तेभ्यो विभाषा ठक् प्रत्ययो भवति, सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायामित्येतस्मिन् विषये। नित्यमणि प्राप्ते पक्षे ठग्विधीयते। फाल्गुनो मासः, फाल्गुनिकः। श्रावणः, श्रावणिकः। कार्त्तिकः, कार्त्तिकिकः। चैत्रः, चैत्रिकः।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान हो तो सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त समर्थ फाल्गुनी, श्रवणा, कार्त्तिकी तथा चैत्री—इन प्रातिपदिकों से ठक् प्रत्यय विकल्प से होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) फाल्गुनिकः
फाल्गुनी पौर्णमास्यस्मिन् मासे—ठक् हुआ,
फाल्गुनिकः—ठस्येकः, आदिवृद्धि।

(2) फाल्गुनः
पक्ष में अण् हुआ।

(3) श्रावणिकः
श्रवणा ठक्।

(4) श्रावणः
पक्ष में अण् हुआ।

(5) कार्त्तिकिकः
ठक् हुआ।

(6) कार्त्तिकः
अण् हुआ।

(7) चैत्रिकः
ठक् हुआ।

(8) चैत्रः
अण् हुआ।

(1452) सास्य देवता *24* (1226)

सेति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्प्रथमासमर्थं देवता चेत् सा भवति। यागसम्प्रदानं देवता देयस्य पुरोडाशादेः स्वामिनी, तस्मिन्नभिधेये प्रत्ययः। इन्द्रो देवताऽस्य ऐन्द्रं हविः। आदित्यम्। बार्हस्पत्यम्। प्राजापत्यम्। देवतेति किम्? कन्या देवताऽस्य। कथमैन्द्रो मन्त्रः? मन्त्रस्तुत्यमपि देवतेत्युपचरन्ति। कथमाग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतेति? उपमानाद्भविष्यति। 'महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ्' (4.2.35) इति यावत् 'सास्य देवता' इत्यधिकारः। सेति प्रकृते पुनः समर्थविभक्तिनिर्देशः संज्ञानिवृत्त्यर्थः।

अर्थ—'इसका है'—इस प्रकार षष्ठ्यर्थ में देवताविशेषवाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से अण् होता है। याग का सम्प्रदान तथा देय पुरोडाश आदि के स्वामी को देवता कहते हैं। उसके वाच्य रहते प्रत्यय होता है।

उदा० (1) ऐन्द्रं (हविः)
इन्द्रो देवताऽस्य—अण्,
ऐन्द्र अ—आदिवृद्धि, सु आदि।

(2) आदित्यम्
आदित्यो देवताऽस्य—अण्,
आदित्यम्—पूर्ववत्।

(3) बार्हस्पत्यम्
बृहस्पति अण्।

(4) प्राजापत्यम्
प्रजापति अण्।

देवतेति अर्थात् देवता अभिधेय होने पर ही अण् होता है—
कन्या देवताऽस्य—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(5) ऐन्द्रो मन्त्रः
अण् होकर रूप बनता है।
मन्त्रस्तुत्य को भी देवता ही माना जाता है।

आग्नेयो वै ब्राह्मणः—यहाँ देवता अर्थ वाच्य कैसे है? यहाँ उपमान के कारण हुआ है।

'महाराजप्रोष्ठपदाट्०' पर्यन्त प्रकृत सूत्र का अधिकार है। 'सा' इस प्रकार प्रकृत होने पर संज्ञा की निवृत्ति के लिए पुनः समर्थ विभक्ति का निर्देश किया गया है।

(1453) कस्येत् *25* (1227)

कशब्दो देवतायां प्रजापतेर्वाचकः, ततः पूर्वेणैवाण्प्रत्ययः सिद्ध इकारादेशार्थं वचनम्। कस्य इकारादेशो भवति प्रत्ययसन्नियोगेन। कायं हविः। कायमेककपालं निर्वपेत् (मै०सं० 3.15.10)।

अर्थ—देवता अर्थ में 'क' शब्द प्रजापति का वाचक है। उससे पूर्व सूत्र के द्वारा अण् प्रत्यय सिद्ध है। प्रकृत सूत्र के द्वारा इकार आदेश किया जा रहा है। षष्ठी के अर्थ में 'क' देवतावाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'इत्' आदेश होता है। तकार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) कायं हविः
को देवताऽस्य → 'क' से अण् हुआ,
कि अ—इत् आदेश,
कै अ → कायम्—आदिवृद्धि, सु।

(1454) शुक्राद् घन् *26* (1228)

शुक्रशब्दात् सास्य देवतेत्यस्मिन्नर्थे घन् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। शुक्रियं हविः। शुक्रियोऽध्यायः।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में 'शुक्र' देवतावाची प्रथमान्त समर्थ

प्रातिपदिक से 'घन्' प्रत्यय होता है। नकार की इत् संज्ञा होती है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) शुक्रियं हविः
शुक्रो देवताऽस्य—'घन्' हुआ,
शुक्र घन्—'लशक्वतद्धिते' की प्रवृत्ति नहीं होती,
शुक्रिय सु—इयादेश।

(2) शुक्रियोऽध्यायः (पूर्ववत्)।

(1455) अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्यां घः *27* (1229)

अपोनप्तृ, अपान्नप्तृ इत्येताभ्यां घः प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। अपोनप्त्रियं हविः (शत० 3.29.12)। अपांनप्त्रियम्। अपोनपाद्, अपांनपादिति देवताया नामधेये एते। तयोस्तु प्रत्ययसन्नि-योगेन रूपमिदं निपात्यते।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में अपोनप्तृ तथा अपान्नप्तृ देवतावाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'घ' होता है। यह अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) अपोनप्त्रियं हविः
अपोनप्तृ घः—यणादेश, सु।

(2) अपान्नप्त्रियं हविः (पूर्ववत्)।
प्रत्यय के सन्नियोग से ये रूप निपातन से होते हैं।

(1456) छ च *28* (1230)

अपोनप्तृ, अपान्नप्तृ इत्येताभ्यां छकारः प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। अपोनप्त्रीयं हविः (आप०श्रौ० 22.22.2)। अपान्नप्त्रीयम् (काठ० सं० 12.6)। योगविभागः संख्यातानुदेशपरिहा-रार्थः। *छप्रकरणे पैङ्गाक्षीपुत्रादिभ्य उपसंख्यानम्*। पैङ्गाक्षी-पुत्रीयम्। तार्णबिन्दवीयम् (म०भा०)। *शतरुद्राच्छश्च घश्च*। शतरुद्रीयम् (तै०सं० 5.4.3.1), शतरुद्रियम् (मै०सं० 3.3.4)।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में अपोनप्तृ तथा अपान्नप्तृ देवतावाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'छ' प्रत्यय होता है। यह अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) अपोनप्त्रीयं हविः
अपोनप्तृ छ—ईयादेश, सु।

(2) अपान्नप्त्रीयं (पूर्ववत्)।

यथासंख्यक नियम लागू न हो—इसके लिए योगविभाग किया गया है।

छप्रकरणे—पैंगाक्षीपुत्री आदि शब्दों से भी छ होता है—

(3) पैङ्गाक्षीपुत्रीयम्
'छ' को ईय् आदेश हुआ।

(4) तार्णबिन्दवीयम् (पूर्ववत्)।

शतरुद्रा०—शतरुद्र शब्द से 'छ' तथा 'घ' प्रत्यय होते हैं—

(5) शतरुद्रीयम्
शतरुद्र छ।

(6) शतरुद्रियम्
शतरुद्र घ।

(1457) महेन्द्राद् घाणौ च *29* (1231)

महेन्द्रशब्दाद् घाणौ प्रत्ययौ भवतः, चकाराच्छश्च, सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। महेन्द्रो देवतास्य महेन्द्रियं हविः, माहेन्द्रम् (तै०सं० 6.5.5.3), महेन्द्रीयम् (का०सं० 15.1)।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में महेन्द्र देवतावाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से घ, अण् तथा छ प्रत्यय पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) महेन्द्रियं हविः
महेन्द्रो देवताऽस्य → महेन्द्र घ—इयादेश।

(2) माहेन्द्रम्
महेन्द्र अण्।

(3) महेन्द्रीयम्
महेन्द्र छ—ईयादेश।

(1458) सोमाट् ट्यण् *30* (1232)

सोमशब्दात् ट्यणप्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। णकारो वृद्ध्यर्थः। टकारो ङीबर्थः। सोमो देवतास्य सौम्यं हविः। सौम्यं सूक्तम्। सौमी ऋक् (मै०सं० 1.7.4)।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में सोम देवतावाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ट्यण्' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है। टकार की इत्संज्ञा ङीप् के लिए तथा णकार की इत् संज्ञा वृद्धि आदेश के लिए है।

उदा० (1) सौम्यं हविः

सोमो देवताऽस्य—ट्यण् हुआ,
सोम य—अनुबन्धलोप, आदिवृद्धि, सु।

(2) सौमी ऋक्
सौम्य ङीप्—टिड्ढाऽण० से स्त्रीत्व में ङीप्,
सौम्य् ई—अकारलोप,
सौमी—यकारलोप, विभक्तिकार्य।

(1459) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् *31* (1233)

वाय्वादिभ्यः शब्देभ्यो यत्प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। वायुर्देवतास्य वायव्यम्। ऋतव्यम्। पित्र्यम् (ऋ० 8.20.13)। उषस्यम्।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में वायु, ऋतु, पितृ तथा उषस् देवतावाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिकों से यत् प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) वायव्यम्
वायुर्देवताऽस्य—वायु यत्,
वायो य—गुण हुआ,
वायव् य—अवादेश, सु।

(2) ऋतव्यम्
ऋतु यत्।

(3) पित्र्यम्
पितृ यत्।

(4) उषस्यम्
उषस् यत्।

(1460) द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च *32* (1235)

द्यावापृथिव्यादिभ्यश्छः प्रत्ययो भवति चकाराद् यत् सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। अणो ण्यस्य चापवादः। द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम्, (मै०सं० 1.8.10), द्यावापृथिव्यम् (तै०सं० 1.8.2.1)। शुनश्च सीरश्च तौ देवते अस्येति शुनासीरीयम् (काठ०सं० 26.4), शुनासीर्यम् (मै०सं० 4.3.3)। शुनो वायुः। सीर आदित्यः। मरुत्वान् देवतास्य मरुत्वतीयम् (तै०सं० 4.4.2.2), मरुत्वत्यम्। अग्नीषोमीयम् (तै०सं० 1.8.1.1), अग्नीषोम्यम्। वास्तोष्पतीयम् (तै०सं० 3.4.10.3) वास्तोष्पत्यम् (मै०सं० 1.5.13)। गृहमेधीयम् (ऋ० 7.56.14), गृहमेध्यम् (का०सं० 36.9)।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति तथा गृहमेध—इन प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'छ' तथा 'यत्' प्रत्यय होते हैं। यह अण् तथा ण्य का अपवाद है।

उदा० (1) द्यावापृथिवीयम्
द्यौश्च पृथिवी च—द्यावापृथिव्यौ,
तौ देवते अस्य—'छ' हुआ,
द्यावापृथिवी ईय—ईयादेश, सु हुआ।

(2) द्यावापृथिव्यम्
द्यावापृथिवी यत्—पक्ष में,
द्यावापृथिव्यम्—ईकारलोप, सु।

(3) शुनासीरीयम्
शुनश्च सीरश्च—शुनासीरौ, छ प्रत्यय,
शेष पूर्ववत्।

(4) शुनासीर्यम्
यत् हुआ।

(5) मरुत्वतीयम्
मरुत्वान् देवताऽस्य—'छ' हुआ,
मरुत्वत् ईय—विभक्तिकार्य।

(6) मरुत्वत्यम्
यत् हुआ।

(7) अग्नीषोमीयम्
अग्निश्च सोमश्च—अग्नीषोमौ,
पूर्ववत् 'छ' हुआ।

(8) अग्नीषोम्यम्
'यत्' हुआ।

(9) वास्तोष्पतीयम्
वास्तोष्पतिर्देवताऽस्य—'छ' हुआ,
वास्तोष्पति ईय—विभक्तिकार्य।

(10) वास्तोष्पत्यम्
वास्तोष्पति यत्।

(11) गृहमेधीयम्
'छ' हुआ।

(12) गृहमेध्यम्
यत् हुआ।

(1461) अग्नेर्ढक् *33* (1236)

अग्निशब्दाद् ढक् प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। अग्निर्देवतास्य आग्नेयोऽष्टाकपालः (काठ०सं० 8.10)। *प्राग्दीव्यतीयेषु तद्धितार्थेषु सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्यः*।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में अग्नि देवतावाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ढक्' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) आग्नेयः
अग्निर्देवताऽस्य—'ढक्' हुआ,
आग्न् एय—एयादेश, किति च, यस्येति च,
आग्नेयः—सु।

प्राग्दीव्य०—प्राग्दीव्यतीय तद्धित प्रत्ययार्थों में सर्वत्र अग्नि और कलि शब्दों से 'ढक्' होता है।

(2) आग्नेयः (पूर्ववत्)।
(3) कालेयः
ढक् हुआ।

(1462) कालेभ्यो भववत् *34* (1237)

कालविशेषवाचिभ्यः शब्देभ्यो भववत्प्रत्यया भवन्ति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। 'कालाट्ठञ्' (4.3.11) इति प्रकरणे भवे प्रत्यया विधास्यन्ते, ते सास्य देवतेत्यस्मिन्नर्थे तथैवेष्यन्ते, तदर्थमिदमुच्यते। वत्करणं सर्वसादृश्यपरिग्रहार्थम्। मासे भवं मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। वासन्तम्। प्रावृषेण्यम्। तथा-मासो देवतास्य मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। वासन्तम्। प्रावृषेण्यम्।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में कालविशेषवाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से भववत् प्रत्यय होते हैं। 'कालाट्ठञ्' के प्रकरण में भव अधिकार में प्रत्ययों का विधान किया जायेगा। वे सभी प्रत्यय होते हैं। इसके लिए इसका विधान किया जा रहा है। सभी के सादृश्य के परिग्रहण के लिए सूत्र में 'वत्' का ग्रहण है।

उदा० (1) मासिकम्
मासे भवम्—ठञ् हुआ।
मासो देवताऽस्य—मासिकम्।
(2) आर्द्धमासिकम्
पूर्ववत् सभी कार्य। 'अचो रहाभ्यां द्वे' से धकार को द्वित्व तथा 'झलां जश् झशि' से पूर्व धकार को दकार।

(3) सांवत्सरिकम्
संवत्सर ठञ्।
(4) वासन्तम्
वसन्त अण्।
(5) प्रावृषेण्यम्।
प्रावृष् एण्य।

(1463) महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् *35* (1238)

महाराजशब्दात् प्रोष्ठपदशब्दाच्च ठञ् प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। महाराजो देवतास्य माहाराजिकम्। प्रौष्ठपदिकम्। *ठञ्प्रकरणे तदस्मिन् वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०)। नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते नावयज्ञिकः कालः। पाकयज्ञिकः। *पूर्णमासादण्* (म०भा०)। पूर्णमासोऽस्यां वर्तते पौर्णमासी तिथिः (मै० 5.6.9)।

अर्थ—षष्ठी के अर्थ में देवताविशेषवाची प्रथमान्त समर्थ महाराज तथा प्रोष्ठपद प्रातिपदिकों से 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) माहाराजिकम्
महाराजो देवताऽस्य—ठस्येकः
(2) प्रौष्ठपदिकम्—पूर्ववत् ठञ्।

ठञ् प्रकरणे०—'तद् अस्मिन् वर्त्तते' इस अर्थ में नवयज्ञ आदि शब्दों से 'ठञ्' होता है—

(3) नावयज्ञिकः
नवयज्ञो वर्त्ततेऽस्मिन्—ठञ् हुआ,
नावयज्ञ इक—आदिवृद्धि।
(4) पाकयज्ञिकः (पूर्ववत्)।

पूर्णमासादण्—पूर्णमास शब्द से अण् होता है—

(5) पौर्णमासी
पूर्णमासो वर्त्ततेऽस्यां तिथौ सा
पूर्णमास अण्। स्त्रीलिंग में ङीप् हुआ।

(1464) पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः *36* (1242)

पितृव्यादयो निपात्यन्ते। समर्थविभक्तिः, प्रत्ययः, प्रत्य-

यार्थोऽनुबन्ध इति सर्वं निपातनाद्विज्ञेयम्। पितृमातृभ्यां भ्रातर्यभिधेये व्यत् डुलच् इत्येतौ प्रत्ययौ निपात्येते (म०भा०)। पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः। *ताभ्यां पितरि डामहच्, मातरि षिच्च* (म०भा०)। ताभ्यामेव पितरि डामहच् प्रत्ययो भवति। पितुः पिता पितामहः। मातुः पिता मातामहः। मातरि षिच्च। पितामही। मातामही। *अवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसचो वक्तव्यः* (म०भा०)। अवेर्दुग्धमविसोढम्। अविदूसम्। अविमरीसम् (म०भा०)। *तिलान्निष्फलात्पिञ्जपेजौ प्रत्ययौ वक्तव्यौ*। निष्फलस्तिलस्तिलपिञ्जः। तिलपेजः। *पिञ्जश्छन्दसि डिच्च*। तिल्पिञ्जः दण्डेनं नडम् (अथ० 12.2.54)।

अर्थ—पितृव्य आदि शब्द निपातनसिद्ध हैं। समर्थ विभक्ति, प्रत्यय, प्रत्ययार्थ तथा अनुबन्ध—इन सभी को निपातन से जान लेना चाहिए। इन सभी कार्यों को वार्तिक के द्वारा कहा गया है।

पितृ०—भ्राता अर्थ वाच्य होने पर 'पितृ' तथा 'मातृ' शब्दों से यथासंख्य करके व्यत् व डुलच् प्रत्यय निपातन होते हैं।

उदा० (1) पितृव्यः
पितुर्भ्राता → पितृ व्यत्—तकार की इत् संज्ञा,
पितृव्यः—सु।

(2) मातुलः
मातुर्भ्राता → मातृ डुलच्—डकार व चकार की इत् संज्ञा,
मात् उल → मातुलः—टिलोप, सु।

ताभ्यां—'पिता' अर्थ वाच्य होने पर 'पितृ', 'मातृ' शब्दों से 'डामहच्' प्रत्यय होता है तथा 'माता' अर्थ वाच्य होने पर 'डामहच्' षित् होता है—

(3) पितामहः
पितुः पिता → पितृ डामहच्—डकार और चकार की इत्संज्ञा होती है,
पित् आमह → पितामहः—सु।

(4) मातामहः (पूर्ववत्)।

(5) पितामही
पितुर्माता → पितृ डामहच्—प्रत्यय षिद्वत् हुआ,
पितामही—षित् होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' हुआ, सु हुआ।

(6) मातामही (पूर्ववत्)।

अवेर्दुग्धे०—'दुग्ध' अर्थ वाच्य रहते 'अवि' से उत्तर सोढ, दूस तथा मरीसच् होते हैं—

(7) अविसोढम्
अवेर्दुग्धम् → अविसोढ सु।

(8) अविदूसम् (पूर्ववत्)।

(9) अविमरीसम् (पूर्ववत्)।

तिलान्नि०—निष्फल तिल शब्द से पिञ्ज व पेज प्रत्यय होते हैं—

(10) तिलपिञ्जः
निष्फलस्तिलः—'पिञ्ज' होकर रूप बनता है।

(11) तिलपेजः
निष्फलस्तिलः—'पेज' होकर रूप बनता है।

पिञ्जश्छन्दसि०—वेद में तिल शब्द से विहित पिञ्ज डिद्वत् होता है—

(15) तिल्पिञ्जः (शौ०सं०12.2.54)
तिल पिञ्ज—डित् होने से टि का लोप,
तिल्पिञ्जः—सु।

(1465) तस्य समूहः *37* (1243)

तस्येति षष्ठीसमर्थात् समूह इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। किमिहोदाहरणम्? चित्तवदाद्युदात्तमगोत्रं यस्य च नान्यत्रप्रतिपदं ग्रहणम्। अचित्ताट्ठक् (4.2.47) वक्ष्यति–'अनुदात्तादेरञ्' (4.2.44), 'गोत्राद् वुञ्' (4.2.39), प्रतिपदं च–'केदाराद्यञ्च' (4.2.20) इत्येवमादि, तत्परिहारेणात्रोदाहरणं द्रष्टव्यम्–काकानां समूहः काकम्। शौकम्। वाकम्। बालाकम्। 'इनित्रकट्यचश्च' (4.2.51) इति यावत्समूहाधिकारः। *गुणादिभ्यो ग्रामज्वक्तव्यः*। गुणग्रामः। करणग्रामः। गुण। करण। तत्त्व। शब्द। इन्द्रिय। आकृतिगणः।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है। यहाँ उदाहरण क्या होगा? चित्तवत्।

अचित से ठक्, अनुदात्तादि से अञ्, गोत्रवाची से वुञ् तथा केदार से यत् कहा जायेगा। उनके परिहार से यहाँ उदाहरण जानने चाहिए।

उदा० (1) काकम्
काकानां समूहः—अण् हुआ,

काक अ—विभक्तिकार्य।

(2) बाकम्
बकानां समूहः—पूर्ववत्।
'इनित्रकट्यचश्च' पर्यन्त यह समूहाधिकार है।

गुणादिभ्यो०—गुण आदि शब्दों से 'ग्रामच्' प्रत्यय होता है—

(3) गुणग्रामः
गुणानां समूहः—ग्रामच् हुआ,
गुण ग्राम सु—सु।

(4) करणग्रामः
करणानां समूहः
यह एक आकृतिगण है। शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1466) भिक्षादिभ्योऽण् *38* (1244)

भिक्षेत्येवमादिभ्यः शब्देभ्योऽण् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। अणग्रहणं बाधकबाधनार्थम्। भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गार्भिणम्। युवतिशब्दोऽत्र पठ्यते, तस्य ग्रहणसामर्थ्यात् पुंवद्भावो न भवति–'भस्याढे तद्धिते' (6.3.35) इति। युवतीनां समूहो यौवतम्। भिक्षा। गर्भिणी। क्षेत्र। करीष। अङ्गार। चर्मिन्। धर्मिन्। सहस्र। युवति। पदाति। पद्धति। अर्थवन्। दक्षिणा। भूत।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ भिक्षा आदि प्रातिपदिकों से अण् प्रत्यय होता है। अण् का ग्रहण बाधक के बाध के लिए है।

उदा० (1) भैक्षम्
भिक्षाणां समूहः—अण् हुआ,
भैक्ष अ—आदिवृद्धि।

(2) गार्भिणम्
गर्भिणीनां समूहः—अण् हुआ, भसंज्ञा, 'भस्याढे०' (वा०) से पुँवद्भाव हो गया,
गर्भिन् अ—'नस्तद्धिते' से टिलोप प्राप्त हुआ,
'इनण्यनपत्ये' से प्रकृतिभाव हुआ,
गार्भिन सु—णत्व, सु।

यहाँ 'युवति' शब्द का पाठ है। उसके ग्रहण-सामर्थ्य से पुँवद्भाव नहीं होता है—
'भस्याढे तद्धितः' इस प्रकार।

(3) यौवतम्
युवतीनां समूहः—अण्,
यौवत् अ—आदिवृद्धि,
यौवतम्—सु।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1467) गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्स-मनुष्याजाद् वुञ् *39* (1246)

गोत्रादिभ्यो वुञ्प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रं गृह्यतेऽपत्यमात्रं न तु पौत्रप्रभृत्येव। औपगवानां समूहः औपगवकम्। कापटवकम् (म०भा०)। उक्षन्–औक्षकम्। उष्ट्र–औष्ट्रकम्। उरभ्र–औरभ्रकम्। राजन्–राजकम्। राजन्य-राजन्यकम्। राजपुत्र–राजपुत्रकम्। वत्स–वात्सकम्। मनुष्य–मानुष्यकम्। अज–आजकम्। 'प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः' इति यलोपो न भवति–'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (6.4.151) इति। *वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्*। वृद्धानां समूहो वार्द्धकम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ गोत्रवाची, उक्षन्, उष्ट्र उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य तथा अज—इन प्रातिपदिकों से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। 'ञ्' की इत् संज्ञा होती है।

अपत्याधिकार से अन्यत्र लौकिक गोत्रवाची का यहाँ ग्रहण है, शास्त्रीय गोत्रसंज्ञा का नहीं।

उदा० (1) औपगवकम्
औपगवानां समूहः—'औपगव' लौकिक गोत्रापत्य है,
औपगव अक—युवारनाकौ।

(2) औक्षकम्
उक्षन् वुञ् → औक्ष् अक—आदिवृद्धि,
औक्षकम्—सु।

(3) औष्ट्रकम्
उष्ट्र वुञ्।

(4) औरभ्रकम्।
उरभ्र वुञ्।

(5) राजकम्
राजन् वुञ्।

(6) राजन्यकम्

राजन्य वुञ्।

(7) राजपुत्रकम्
राजपुत्र वुञ्।

(8) वात्सकम्
वत्स वुञ्।

(9) मानुष्यकम्
मनुष्य वुञ्। प्रकृत्याऽके राजा० से यलोप नहीं होता है।

(10) आजकम्
अज वुञ्।

वृद्धाच्चेति०—वृद्ध शब्द से 'वुञ्' होता है—

(11) वार्द्धकम्
वृद्धानां समूहः → वृद्ध वुञ्—आदिवृद्धि,
वार्ध् अक—अन्त्यलोप, अचो रहाभ्यां द्वे,
वाध्र्ध् अक—झलां जश् झशि,
वार्द्धकम्—सु।

(1468) केदाराद्यञ्च *40* (1248)

केदारशब्दाद् यञ् प्रत्ययो भवति, चकाराद् वुञ् च, तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। अचित्तलक्षणस्य ठकोऽपवादः (4.2.47)। केदाराणां समूहः कैदार्यम्। कैदारकम्। *गणिकायाश्च यञ्वक्तव्यः*। गणिकानां समूहो गाणिक्यम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ से यञ् व वुञ् होते हैं। अचित्तलक्षण ठक् का अपवाद है।

उदा० (1) कैदार्यम्
केदाराणां समूहः—यञ् हुआ,
कैदार य—आदिवृद्धि, सु।

(2) कैदारकम्
केदार वुञ्।

गणिकायाश्च०—गणिका शब्द से यञ् होता है—

(3) गाणिक्यम्
गणिकानां समूहः → गणिका यञ्—पूर्ववत्।

(1469) ठञ् कवचिनश्च *41* (1249)

कवचिन्शब्दाट्ठञ् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। कवचिनां समूहः कावचिकम्। चकारः केदारादित्यस्यानुकर्षणार्थः। केदाराणां समूहः कैदारिकम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ 'कवचिन्' शब्द से 'ठञ्' होता है। ञकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) कावचिकम्
कवचिनां समूहः—आदिवृद्धि, नकारलोप।

चकार के द्वारा 'केदार' शब्द का अनुकर्षण होता है।

(2) कैदारिकम्
केदाराणां समूहः—ठञ्, आदिवृद्धि,
कैदार् इक—सु होकर।

(1470) ब्राह्मणमाणववाडवाद्यन् *42* (1250)

ब्राह्मणादिभ्यः शब्देभ्यो यन् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। नकारः स्वरार्थः। ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम्। माणव्यम्। वाडव्यम्। *यन्प्रकरणे पृष्ठादुपसंख्यानम्* (म०भा०)। पृष्ठानां समूहः पृष्ठ्यः षडहः (ऐ०ब्रा०)। *अह्नः खः क्रतौ*। अह्नां समूहोऽहीनः क्रतुः (काठ०सं० 24.10)। क्रताविति किम्? आह्नः। खण्डिकादिषु दर्शनादञ्भवति। *पर्श्वा णस्वक्तव्यः*। पर्शूनां समूहः पार्श्वम्। पदसंज्ञकत्वाद् गुणो न भवति। *वातादूलः*। वातानां समूहो वातूलः।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ ब्राह्मण, माणव तथा वाडव प्रातिपदिकों से 'यन्' प्रत्यय होता है। नकार अनुबन्ध स्वर के लिए है।

उदा० (1) ब्राह्मण्यम्
ब्राह्मणानां समूहः—'यन्' हुआ,
ब्राह्मण् य—सु हुआ।

(2) माणव्यम्
माणव यन्—पूर्ववत्।

(3) वाडव्यम् (पूर्ववत्)।

यन्प्रकरणे०—पृष्ठ शब्द से 'यन्' होता है—

(4) पृष्ठ्यः
पृष्ठानां समूहः।

अह्नः खः—क्रतु अर्थ में अहन् शब्द से 'ख' होता है—

(5) अहीनः
अह्नां समूहः—'ख' हुआ,
अहन् ईन—टिलोप,
अह् ईन सु—विभक्तिकार्य।

क्रताविति—अर्थात् क्रतु अर्थ में वर्त्तमान अहन् शब्द से 'ख' होता है—

(6) आह्नः

अहन् अञ्—खण्डिकादि गण में पाठ होने से 'खण्डिकादिभ्यश्च' से 'अञ्' हुआ,

आहन् अ—उपधालोप, सु आदि।

पर्श्वा—पर्शू शब्द से 'णस्' होता है—

(7) पार्श्वम्

पर्शूनां समूहः—'णस्' हुआ, णकार व सकार की इत्संज्ञा,

पार्शू अ—आदिवृद्धि,

पार्श्वम्—यणादेश, सु।

'सिति च' से भसंज्ञा का निषेध। पदसंज्ञा होने से गुण नहीं हुआ।

वातादूलः—वात शब्द से 'ऊल' प्रत्यय होता है—

(8) वातूलः

वात ऊल → वातूलः।

(1471) ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् *43* (1251)

ग्रामादिभ्यस्तल् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। ग्रामाणां समूहो ग्रामता। जनता। बन्धुता। सहायता। *गजाच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। गजानां समूहो गजता।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ ग्राम, जन, बन्धु तथा सहाय शब्दों से 'तल्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) ग्रामता

ग्रामाणां समूहः → ग्राम तल्,

ग्राम त टाप्—स्त्रीत्व में टाप् हुआ, सु हुआ।

(2) जनता

जनानां समूहः—पूर्ववत्।

(3) बन्धुता

बन्धूनां समूहः।

(4) सहायता

सहायानां समूहः।

गजाच्चेति०—गज शब्द से 'तल्' होता है—

(5) गजता

गजानां समूहः—पूर्ववत्।

(1472) अनुदात्तादेरञ् *44* (1253)

अनुदात्तादेः शब्दादञ् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। कपोतानां समूहः कापोतम्। मायूरम्। तैत्तिरम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ अनुदात्तादि शब्दों से 'अञ्' होता है।

उदा० (1) कापोतम्

कपोतानां समूहः—आदिवृद्धि,

कापोत अ → विभक्तिकार्य।

(2) मायूरम्

मयूराणां समूहः।

(3) तैत्तिरम्

तैत्तिराणां समूहः।

(1473) खण्डिकादिभ्यश्च *45* (1254)

खण्डिका इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्योऽञ् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। आद्युदात्तार्थमचित्तार्थं च वचनम्। खण्डिकानां समूहः खाण्डिकम्। वाडवम्। क्षुद्रकमालवशब्दोऽत्र पठ्यते। क्षुद्रकाश्च मालवाश्चेति क्षत्रियद्वन्द्वः। ततः पूर्वेणैवाञि सिद्धे वचनं गोत्रवुञ् (4. 2.39) बाधनार्थम्। ननु च परत्वादञा वुञ् बाधिष्यते। न च गोत्रसमुदायो गोत्रम्, न च तदन्तविधिरत्रास्तीति (म० भा०)। एवं तर्हि एतज् ज्ञापयति–वुञि पूर्वविप्रतिषेधः, सामूहिकेषु च तदन्तविधिरस्तीति (म० भा०)। प्रयोजनमौपगवकं कापटवकमिति वुञ् भवति, वानहस्तिकं गौधेनुकमिति च तदन्तविधिः। क्षुद्रकमालवादित्येतावता योगविभागेन पूर्वविप्रतिषेधस्तदन्तविधिश्च ज्ञापितः, पुनरस्यैव नियमार्थमुच्यते सेनासंज्ञायामिति। क्षुद्रकमालवात्सेनासंज्ञायामेवाञ्भवति। क्षौद्रकमालवी सेना। क्षौद्रकमालवकमन्यत् (म० भा०)।

अञ्सिद्धिरनुदात्तादेः कोऽर्थः क्षुद्रकमालवात्।
गोत्राद्वुञ् न च तद्गोत्रं तदन्तान्न च सर्वतः ॥1॥
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे तथा चापिशलेर्विधिः।
सेनायां नियमार्थं च यथा बाध्येत चाञ् वुञा ॥2॥
(म० भा०)

खण्डिका। वडवा। *क्षुद्रकमालवात्सेनासंज्ञायाम्* (ग०सू० 82)। भिक्षुक। शुक। उलूक। श्वन्। युग। अहन्। वरत्रा। हलबन्ध।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ खण्डिकादि प्रातिपदिकों से 'अञ्' प्रत्यय होता है। यह आद्युदात्त व अचित्त शब्दों के लिए विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) खाण्डिकम्
खण्डिकानां समूहः—पूर्ववत्।

(2) वाडवम्
वडवानां समूहः।

क्षुद्रक०—क्षुद्रक और मालव शब्दों का यहाँ पाठ प्राप्त होता है। क्षुद्रकाश्च मालवाश्च—इस प्रकार क्षत्रियद्वन्द्व होता है। तब पूर्व सूत्र के द्वारा अञ् के सिद्ध रहते विधान है कि गोत्रसमुदाय गोत्र नहीं है। यहाँ तदन्तविधि नहीं होती है। तब इससे ज्ञापित होता है कि वुञ् में पूर्वविप्रतिषेध होता है तथा सामूहिकों में तदन्त विधि होती है। क्षुद्रकमालव इससे योगविभाग के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध तथा तदन्त विधि ज्ञापित होती है। पुनः इसके नियम के लिए ही यह कहा जा रहा है, सेनासंज्ञा गम्यमान हो तो। यथा—सेना गम्यमान होने पर ही क्षुद्रकमालव से अञ् होता है। यथा—

क्षौद्रकमालवी सेना।
अन्यत्र क्षौद्रकमालवकम् होता है।

अञ्सिद्धि०—'अनुदात्तादेरञ्' से ही अञ् प्रत्यय सिद्ध है। तब खण्डिकादि गण में क्षुद्रकमालव शब्द का पाठ व्यर्थ है।

इसका समाधान यह है कि गोत्रवाची होने से वुञ् प्राप्त था। उसके बाध के लिए 'क्षुद्रकमालव' का यहाँ पाठ है।

न च०—शंका यह है कि क्षुद्रकमालव गोत्रवाची नहीं है। अतः इससे वुञ् प्राप्त ही नहीं है। अतः अप्राप्त का बाध कैसा ?

तदन्तान्न०—(समा०) तदन्तविधि होकर वुञ् प्राप्त था। भाव यह है कि गोत्रप्रत्ययान्त है अन्त में जिसके, वह भी गोत्र कहा जाता है। तब वुञ् प्राप्त हो जायेगा।

शंका है कि तदन्तविधि सर्वत्र नहीं होती है; केवल परिगणित शब्दों में ही प्रवृत्त होती है।

ज्ञापकं०—तब (समूह प्रकरण में) तदन्त विधि होती है—यह इसका ज्ञापक हो जायेगा। तब आपिशलि आचार्य की विधि उपपन्न होती है। (क्षुद्रकमालव के पाठ का दूसरा प्रयोजन यह है कि) सेना अर्थ में नियम करना। अथवा पूर्ववर्ती वुञ् परवर्ती अञ् का पूर्वविप्रतिषेध से बाध कर लेता है—

इस समग्र चर्चा का भाव इस प्रकार है—

आचार्य आपिशलि के अनुसार समूह अर्थ में धेनु शब्द से ठक् होता है, यदि धेनु शब्द से पूर्व नञ् हो तो ठक् नहीं होता। द्र०—धेनोरनञः। यदि समूह अर्थ वाले प्रत्ययों में तदन्तविधि प्रवृत्त नहीं होती है तो नञ् पूर्वक धेनु शब्द से ठक् प्राप्त ही नहीं होता। तब 'अनञः' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि इस प्रकरण में तदन्त विधि होती है। फलतः क्षुद्रकमालव से वुञ् प्राप्त होता है, जिसके बाध के लिए इस शब्द का पाठ यहाँ उचित है।

दूसरा प्रयोजन यह है कि सेना अर्थ में ही क्षुद्रकमालव से 'अञ्' हो—ऐसा नियम किया जाता है। यथा—क्षौद्रकमालवी सेना।

अन्य अर्थ में वुञ् ही होता है—क्षौद्रकमालवकम्।

(1474) चरणेभ्यो धर्मवत् *46* (1255)

चरणशब्दाः कठकलापादयः, तेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः समूहे धर्मवत् प्रत्यया भवन्ति। 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (4.3.126) इत्यारभ्य प्रत्यया वक्ष्यन्ते, तत्र चेदमुच्यते-चरणाद्धर्माम्नाययोः (4.3.126 वा०) इति, तेन धर्मवदित्यतिदेशः क्रियते। वतिः सर्वसादृश्यार्थः। कठानां धर्मः काठकम्। कालापकम्। छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। आथर्वणम्। तथा समूहेऽपि-काठकम्, कालापकम्, छान्दोग्यम्, औक्थिक्यम्, आथर्वणम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ चरण (= कठ, कलाप आदि) शब्दों से धर्मवत् प्रत्यय होते हैं। 'गोत्रचरणाद् वुञ्' इससे लेकर आगे प्रत्यय कहे जायेंगे। वहाँ ही यह कहा जा रहा है। धर्म और आम्नाय अर्थों में चरण शब्द से प्रत्यय होता है। तब वे धर्मवत् होते हैं—यह अतिदेश किया जाता है। 'धर्मवत्' में 'वति' प्रत्यय सभी के सादृश्य के लिए है।

उदा० (1) काठकम्
कठानां धर्मः। इसी प्रकार कठानां समूहः—इस अर्थ में प्रत्यय होकर रूप बनता है।

(2) कालापकम्
कलापानां समूहः।

(3) छान्दोग्यम्
छन्दोगानां समूहः।

(4) औक्थिक्यम् (पूर्ववत्)।

(5) आथर्वणम्
अथर्वणां समूहः।

(1475) अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् *47* (1256)

अचित्तार्थेभ्यो हस्तिधेनुशब्दाभ्यां च ठक् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। अणञोरपवादः। अपूपानां समूहः आपूपिकम्। शाष्कुलिकम्। हास्तिकम्। धैनुकम्। *धेनोरनञ इति वक्तव्यम्* (म०भा० 4.2.45 आपिशलेः सूत्रमिदम्)। आधेनवम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ अचित्तवाची, हस्तिन् तथा धेनु शब्दों से ठक् होता है। यह अण् व अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) आपूपिकम्
अपूपानां समूहः—
अपूप ठक्—आपूप इक—सु आदि।

(2) शाष्कुलिकम्
शष्कुलीनां समूहः।

(3) हास्तिकम्
हस्तिनां समूहः।

(4) धैनुकम्
धेनूनां समूहः। इसुसु० से 'क'।

धेनोरनञ०—नञ् से उत्तर धेनु शब्द से ठक् नहीं होता है—

(5) आधेनवम्
अधेनूनां समूहः—अधेनु अ—आधेनवम्—आदिवृद्धि, गुण तथा सु।

(1476) केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् *48* (1257)

केश, अश्व इत्येताभ्यां यथासंख्यं यञ्, छ इत्येतौ प्रत्ययौ भवतोऽन्यतरस्यां तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। केशानां समूहः कैश्यम्, कैशिकम्। अश्वानां समूहः आश्वम्, अश्वीयम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ केश तथा अश्व प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके यञ् और छ प्रत्यय विकल्प से होते हैं।

उदा० (1) कैश्यम्
केशानां समूहः → केश य—आदिवृद्धि,
कैश्यम्—सु।

(2) कैशिकम्
केश ठक्—आदिवृद्धि, सु।

(3) अश्वीयम्
अश्वानां समूहः → अश्व छ—ईयादेश,
अश्वीयम्—सु।

(4) आश्वम्
पक्ष में अण् हुआ।

(1477) पाशादिभ्यो यः *49* (1258)

पाशादिभ्यो यः प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। पाशानां समूहः पाश्या। तृण्या। पाश। तृण। धूम। वात। अङ्गार। पोत। बालक। पिटक। पिटाक। शकट। हल। नड। वन।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ पाश आदि प्रातिपदिकों से 'य' होता है।

उदा० (1) पाश्या
पाशानां समूहः—'य' हुआ,
पाश य → पाश्य टाप्—स्त्रीत्व में टाप्, सु।

(2) तृण्या (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1478) खलगोरथात् *50* (1259)

खलगोरथशब्देभ्यो यः प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। खलानां समूहः खल्या। गव्या। रथ्या। पाशादिष्वपाठ उत्तरार्थः।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ खल, गो तथा रथ शब्दों से 'य' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) खल्या
खलानां समूहः—'य' हुआ,
खल्य टाप् सु—पूर्ववत्। अचित्तहस्त० से ठक् प्राप्त था।

(2) गव्या
गवां समूहः। औत्सर्गिक अण् प्राप्त था।

(3) रथ्या
रथानां समूहः
पाशादिगण में खल आदि का पाठ न किए जाने का प्रयोजन है—उत्तर शास्त्र में अनुवर्त्तन करना।

(1479) इनित्रकट्यचश्च *51* (1260)

खलगोरथशब्देभ्यो यथासंख्यम्, इनि, त्र, कट्यच् इत्येते

प्रत्यया भवन्ति तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये। खलिनी। गोत्रा। रथकट्या। *खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः* (म० भा०)। डाकिनी। कुण्डलिनी। कुटुम्बिनी। *कमलादिभ्यः खण्डच् प्रत्ययो भवति*। कमलखण्डम्। अम्भोजखण्डम्। कमल। अम्भोज। पद्मिनी। कुमुद। सरोज। पद्म। नलिनी। कैरविणी। कमलादिराकृतिगणः। *नरकरितुरङ्गाणां स्कन्धच् प्रत्ययः*। नरस्कन्धः। करिस्कन्धः। तुरङ्गस्कन्धः। *पूर्वादिभ्यः काण्डः प्रत्ययो भवति*। पूर्वकाण्डम्। तृणकाण्डम्। कर्मकाण्डम्।

अर्थ—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ खल, गो तथा रथ शब्दों से यथासंख्य करके इनि, त्र तथा कट्यच् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) खलिनी
खलानां समूहः—इनि, नकारोत्तरवर्ती इकार की इत् संज्ञा हुई,
खल इन् ङीप्—ऋन्नेभ्यो०,
खलिनी सु—विभक्तिकार्य।

(2) गोत्रा
गवां समूहः → गो त्र—'त्र' हुआ,
गोत्रा—टाप्, सु।

(3) रथकट्या
रथानां समूहः → रथ कट्यच्—चकार की इत्संज्ञा,
रथकट्या—टाप्, सु।

खलादिभ्य—खल आदि शब्दों से 'इनि' होता है—

(4) डाकिनी
डाक इनि—पूर्ववत्,
डाकिन् ङीप्—सु।

(5) कुण्डलिनी (पूर्ववत्)।

(6) कुटुम्बिनी (पूर्ववत्)।

कमलादिभ्य—कमल आदि शब्दों से 'खण्डच्' होता है—

(7) कमलखण्डम्
कमलानां समूहः।
शेष उदाहरण मूल में देखें। यह एक आकृतिगण है।

नरकारि—नरकारि और तुरंग शब्दों से स्कन्धच् होता है—

(8) नरस्कन्धः
नराणां समूहः।

(9) करिस्कन्धः (पूर्ववत्)।

(10) तुरङ्गस्कन्धः (पूर्ववत्)।

पूर्वादिभ्यः—पूर्व आदि शब्दों से 'काण्ड' प्रत्यय होता है—

(11) पूर्वकाण्डम्
पूर्व काण्ड सु।

(12) तृणकाण्डम् (पूर्ववत्)।

(13) कर्मकाण्डम्
कर्म काण्ड सु।

(1480) विषयो देशे *52* (1261)

समूह इति निवृत्तम्। षष्ठी समर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। तस्येति षष्ठीसमर्थाद् विषय इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ विषयो देशश्चेत्स भवति। विषय-शब्दो बह्वर्थः। क्वचिद् ग्रामसमुदाये वर्त्तते-विषयो लब्ध इति; क्वचिदिन्द्रयग्राह्ये-चक्षुर्विषयो रूपमिति; क्वचिदत्यन्तशीलिते ज्ञेये-देवदत्तस्य विषयोऽनुवाक इति; क्वचिदन्यत्राभावे-मत्स्यानां विषयो जलमिति। तत्र देशग्रहणं ग्रामसमुदायप्रतिपत्त्यर्थम्। शिबीनां विषयो देशः शैबः। औष्ट्रः। देश इति किम्? देवदत्तस्य विषयोऽनुवाकः।

अर्थ—'समूहे' का अनुवर्त्तन नहीं है। षष्ठी समर्थविभक्ति का अनुवर्त्तन है।

षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'उसका विषय है' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह विषय देश हो। विषय शब्द बहुत्व अर्थ में है। कहीं ग्रामसमुदाय में होता है; यथा—विषयो लब्धः। कहीं इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य अर्थ में होता है; यथा—चक्षुर्विषयो रूपम्। कहीं अत्यन्त शीलित ज्ञेय अर्थ में होता है; यथा—देवदत्तस्य विषयोऽनुवाकः। कहीं अन्यत्र भाव अर्थ में होता है; यथा—मत्स्यानां विषयो जलम्। वहाँ 'देश' का ग्रहण ग्रामसमुदाय-ज्ञान के लिए है।

उदा० (1) शैबः
शिबीनां विषयो देशः—अण्, आदिवृद्धि।

(2) औष्ट्रः (पूर्ववत्)।

देश इति० अर्थात् देश विषय होने पर ही प्रत्यय होता है—

(3) देवदत्तस्य विषयोऽनुवाकः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(1481) राजन्यादिभ्यो वुञ् *53* (1262)

राजन्यादिभ्यः शब्देभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति विषयो देश

इत्येतस्मिन्नर्थे। अणोऽपवादः। राजन्यानां विषयो देशः राजन्यकः। दैवयानकः। आकृतिगणश्चायम्। मालवानां विषयो देशः मालवकः। वैराटकः। त्रैगर्त्तकः। राजन्य। देवयान। शालङ्कायन। जालन्धरायण। आत्मकामेय। अम्बरीषपुत्र। वसाति। बैल्ववन। शैलूष। उदुम्बर। बैल्वत। आर्जुनायन। सम्प्रिय। दाक्षि। ऊर्णनाभ।

अर्थ—देश अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ राजन्य आदि शब्दों से वुञ् होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) राजन्यकः
राजन्यानां विषयो देशः—वुञ् हुआ,
राजन्य अक—युवोरनाकौ।

(2) दैवनायकः

(3) मालवकः

(4) वैराटकः।

(5) त्रैगर्त्तकः

यह एक आकृतिगण है। शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1482) भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ*54* (1263)

भौरिक्यादिभ्य ऐषुकार्यादिभ्यश्च यथासंख्यं विधल्, भक्तल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो विषयो देशे इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। भौरिकिविधः। वैपेयविधः। ऐषुकार्यादिभ्यः–ऐषुकारिभक्तः, सारस्यायनभक्तः। भौरिकि। वैपेय। भौलिकि। चैटयत। काणेय। वाणिजक। वालिज। वालिज्यक। शैकयत। वैकयत–इति भौरिक्यादिः। ऐषुकारि। सारस्यायन। चान्द्रायण। द्व्याक्षायण। त्र्यायण। औडायन। जौलायन। खाडायन। सौवीर। दासमित्रि। दासमित्रायण। शौद्रायण। दाक्षायण। शयण्ड। तार्क्ष्यायण। शौभ्रायण। सायण्डि। शौण्डि। वैश्वमाणव। वैश्वधेनव। नद। तुण्डदेव। विशदेव।

अर्थ—'देश' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ भौरिकि तथा ऐषुकारि आदि प्रातिपदिकों से 'विधल्' प्रत्यय तथा 'भक्तल्' प्रत्यय यथासंख्य करके होते हैं। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) भौरिकिविधः
भौरिकि विधल्—'ल्' की इत् संज्ञा,
भौरिकिविध सु—विभक्तिकार्य।

(2) वैपेयविधः (पूर्ववत्)।

(3) ऐषुकारिभक्तः
ऐषुकारि भक्तल्—'ल्' की इत् संज्ञा, शेष कार्य पूर्ववत्।

(4) सारस्यायनभक्तः
'भक्तल्' हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1483) सोऽस्यादिरितिच्छन्दसः प्रगाथेषु *55* (1264)

स इति समर्थविभक्तिः। अस्येति प्रत्ययार्थः। आदिरिति प्रकृतिविशेषणम्। इतिकरणो विवक्षार्थः। छन्दस इति प्रकृतिनिर्देशः। प्रगाथेष्विति प्रत्ययार्थविशेषणम्। स इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्प्रथमासमर्थं छन्दश्चेत्तदादिर्भवति, यत्तदस्येति निर्दिष्टं प्रगाथाश्चेत्ते भवन्ति, इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा। पङ्क्तिरादिरस्य पाङ्क्तः प्रगाथः। आनुष्टुभः जागतः। आदिरिति किम्? अनुष्टुम्मध्यमस्य प्रगाथस्य। छन्दस इति किम्? उदुत्यशब्द आदिरस्य प्रगाथस्य। प्रगाथेष्विति किम्? पङ्क्तिरादिरस्यानुवाकस्य। प्रगाथशब्दः क्रियानिमित्तकः क्वचिदेव मन्त्रविशेषे वर्त्तते। यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रथनेन तिस्रः क्रियन्ते स प्रग्रथनात्प्रकर्षगानाद्वा प्रगाथ इत्युच्यते। *छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसके स्वार्थ उपसंख्यानम्* (म० भा०)। त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम् (ऋकसर्वा०)। जागतम् (ऋकसर्वा०)।

अर्थ—'सः' यह समर्थ विभक्ति है। 'अस्य' यह प्रत्ययार्थ है। 'आदिः' यह प्रकृति का विशेषण है। इतिकरण विवक्षा के लिए है। 'छन्दसः' यह प्रकृति का निर्देश है। प्रगाथों के अभिधेय होने पर षष्ठी के अर्थ में प्रथमान्त छन्दोवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है है, यदि छन्दोवाची शब्द प्रगाथ के आदि में हो।

उदा० (1) पाङ्क्तः
पङ्क्तिरादिरस्य—अण् हुआ, अन्त्य लोप,
पाङ्क्त् अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) आनुष्टुभः
अनुष्टुभ् अण्—पूर्ववत्।

(3) जागतः
जगती अण्—पूर्ववत्।

आदिरिति अर्थात् यदि 'प्रगाथ' आदि में हो तो प्रत्यय होता है—
अनुष्टुभ् मध्यमस्य प्रगाथस्य—यहाँ नहीं हुआ।

छन्दस० अर्थात् छन्दोवाची से ही प्रत्यय होता है—
उदुत्यशब्द आदिरस्य प्रगाथस्य—यहाँ नहीं हुआ।

प्रगाथे० अर्थात् प्रगाथों के अभिधेय होने पर ही प्रत्यय होता है—

पङ्क्तिरादिरस्याऽनुवाकस्य—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

गाथ शब्द क्रियानिमित्तक है, कहीं मन्त्रविशेष में होता है। जहाँ दो ऋचाएँ प्रग्रथन के द्वारा तीन बना ली जाती हैं तो वह प्रगाथन के कारण 'प्रगाथ' कहलाता है।

छन्दसः—छन्दस् से प्रत्ययविधान में नपुँसक लिङ्ग स्वार्थ में प्रत्यय होता है—

(4) त्रैष्टुभम्
त्रिष्टुभेव—अण् हुआ।

(5) जागतम्
जगती अण्—पूर्ववत्।

(1484) सङ्ग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः *56* (1265)

सोऽस्येति समर्थविभक्तिः, प्रत्ययार्थश्चानुवर्त्तते। प्रथमासमर्थविशेषणं प्रयोजनं योद्धारश्च। प्रत्ययार्थविशेषणं संग्रामः। प्रयोजनवाचिभ्यो योद्धृवाचिभ्यश्च शब्देभ्यः प्रथमासमर्थेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे संग्रामेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। भद्रा प्रयोजनमस्य संग्रामस्य भाद्रः संग्रामः। सौभद्रः। गौरिमित्रः। योद्धृभ्यः-अहिमाला योद्धारोऽस्य संग्रामस्य आहिमालः। स्यान्दनाश्वः। भारतः। संग्राम इति किम्? सुभद्रा प्रयोजनमस्य दानस्य। प्रयोजनोद्धृभ्य इति किम्? सुभद्रा प्रेक्षिकाऽस्य संग्रामस्य।

अर्थ—'सोऽस्य' यह समर्थ विभक्ति है और प्रत्ययार्थ है। प्रथमासमर्थ विशेषण है। प्रयोजन योद्धा हैं। प्रत्ययार्थ विशेषण संग्राम है। संग्राम अभिधेय होने पर षष्ठी के अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रयोजन व योद्धा समानाधिकरण प्रातिपदिकों से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) भाद्रः सङ्ग्रामः
भद्रा प्रयोजनमस्य सङ्ग्रामस्य—अण् हुआ,
भाद्र अ सु—आदिवृद्धि।

(2) सौभद्रः
सुभद्रा अण्।

(3) गौरिमित्रः (पूर्ववत्)।

(4) आहिमालः
अहिमाला योद्धारोऽस्य सङ्ग्रामस्य—पूर्ववत् अण्।

(5) स्यान्दनाश्वः (पूर्ववत्)।

(6) भारतः
भरत अण्—पूर्ववत्।

सङ्ग्राम अर्थात् संग्राम अभिधेय हो तो प्रत्यय होता है—
सुभद्रा प्रयोजनमस्य दानस्य—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

प्रयोजन० अर्थात् प्रयोजन व योद्धा समानाधिकरण प्रातिपदिकों से ही प्रत्यय होता है—
सुभद्रा प्रेक्षिकाऽस्य सङ्ग्रामस्य—प्रत्यय नहीं हुआ।

(1485) तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः *57* (1266)

तदिति प्रथमासमर्थादस्यामिति सप्तम्यर्थे णः प्रत्ययो भवति, यत्तदिति निर्दिष्टं प्रहरणं चेत्तद्भवति, यदस्यामिति निर्दिष्टं क्रीडा चेत्सा भवति। इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा। दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा। मौष्टा। प्रहरणमिति किम्? माला भूषणमस्यां क्रीडायाम्। क्रीडायामिति किम्? खड्गः प्रहरणमस्यां सेनायाम्।

अर्थ—'तद्' प्रथमान्त समर्थ विभक्ति है। 'अस्याम्' सप्तमी अर्थ में। सप्तमी के अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रहरण समानाधिकरण शब्द से 'ण' प्रत्यय होता है, यदि 'अस्याम्' के द्वारा 'क्रीडा' निर्दिष्ट हो।

उदा० (1) दाण्डा
दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां—'ण' हुआ,
दण्ड अ → दण्ड अ सु—आदिवृद्धि।

(2) मौष्टा
मुष्टि ण—आदिवृद्धि।

प्रहरणमि० अर्थात् प्रहरण समानाधिकरण प्रातिपदिक से ही प्रत्यय होता है—
माला भूषणमस्यां क्रीडायाम्—प्रत्यय नहीं हुआ।

क्रीडायामि० अर्थात् अस्याम् के द्वारा क्रीडा निर्दिष्ट हो तो प्रत्यय होता है—

खड्गं प्रहरणमस्यां सेनायाम्—प्रत्यय नहीं हुआ।

(1486) घञः सास्यां क्रियेति ञः *58* (1267)

सेति समर्थविभक्तिः। अस्यामिति प्रत्ययार्थः स्त्रीलिङ्गः। क्रियेति प्रकृत्यर्थविशेषणम्। घञ इति प्रकृतिदेशः। इतिकरणो विवक्षार्थः। घञन्तात्क्रियावाचिनः प्रथमासमर्थादस्यामिति सप्तम्यर्थे स्त्रीलिङ्गे ञः प्रत्ययो भवति। घञ इति कृद्ग्रहणम्, तत्र गतिकारकपूर्वमपि गृह्यते। श्येनपातोऽस्यां वर्त्तते श्यैनम्पाता। तैलम्पाता। घञ इति किम्। श्येनपतनमस्यां वर्त्तते। क्रियेति किम्? प्राकारोऽस्यां वर्त्तते। अथ समर्थविभक्तिः प्रत्ययार्थश्च कस्मात्पुनरुपादीयते, यावता द्वयमपि प्रकृतमेव? क्रीडायामित्यनेन तत्सम्बद्धम्, अतस्तदनुवृत्तौ क्रीडानुवृत्तिरपि सम्भाव्येत। सामान्येन चेदं विधानम्। दण्डपातोऽस्यां तिथौ वर्त्तते दाण्डपाता तिथिः। मौसलपाता तिथिः।

अर्थ—'सा' यह प्रथमान्त समर्थ विभक्ति है। 'अस्याम्' यह प्रत्ययार्थ स्त्रीलिंग क्रिया है, प्रकृत्यर्थ विशेषण है। 'घञः' के द्वारा प्रकृति का निर्देश है। इतिकरण विवक्षा के लिए है।

सप्तमी के अर्थ में प्रथमान्त समर्थ क्रियावाची घञन्त शब्द से 'ञ्' होता है। 'घञ्' यह कृत् प्रत्यय है। यहाँ गति व कारकपूर्वक भी ग्रहण होता है।

उदा० (1) श्यैनम्पाता
श्येनपातोऽस्यां क्रियायां वर्त्तते—'अञ्' हुआ,
श्येन मुम् पात अ—'श्येनतिलस्य०' से 'मुम्',
श्यैनम्पाता—आदिवृद्धि, टाप्, सु।

(2) तैलम्पाता (पूर्ववत्)।

घञः अर्थात् घञन्त प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—
श्येनपतनमस्यां वर्त्तते—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

क्रियेति अर्थात् क्रियावाची प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—
प्रकारोऽस्यां वर्त्तते—प्रत्यय नहीं हुआ।

समर्थ विभक्ति तथा प्रत्ययार्थ का पुनः किसलिए उपादान किया गया है? दोनों ही प्रकृत हैं। 'क्रीडायाम्' इससे सम्बद्ध है। अतः इसकी अनुवृत्ति में 'क्रीडा' पद का अनुवर्त्तन सम्भव है। यह सामान्य के द्वारा विधान है। यथा—

(3) दाण्डपाता
दण्डपातोऽस्यां तिथौ वर्त्तते—'ञ' हुआ।

(4) मौसलपाता (पूर्ववत्)।

(1487) तदधीते तद्वेद *59* (1269)

तदिति द्वितीयासमर्थादधीते वेद-इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति। छन्दोऽधीते छान्दसः। वैयाकरणः। नैरुक्तः। निमित्तानि वेद नैमित्तः। मौहूर्त्तः। औत्पातः। द्विस्तद्ग्रहणमधीयानविदुषोः पृथग्विधानार्थम्।

अर्थ—'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता है'—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) छान्दसः
छन्दोऽधीते, छन्दो वेद → छन्दस अण्
छान्दस सु—विभक्तिकार्य।

(2) वैयाकरणः
व्याकरण अण्—'न य्वाभ्यां पदान्तभ्या०' से 'ऐ' आगम,
वैयाकरण सु—सु।

(3) नैरुक्तः
निरुक्त अण्—आदिवृद्धि।

(4) नैमित्तः
निमित्त अण्।

(5) मौहूर्त्तः
मुहूर्त्त अण्।

(6) औत्पातः
उत्पात अण्।

'तद्' पद का दो बार ग्रहण 'अध्येता' व 'वेत्ता' इन दोनों अर्थों में पृथक्-पृथक् विधान के लिए है।

(1488) क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् *60* (1270)

क्रतुविशेषवाचिभ्य उक्थादिभ्यश्च सूत्रान्ताच्च ठक् प्रत्ययो भवति तदधीते तद्वेदेत्यस्मिन्विषये। अणोऽपवादः। अग्निष्टोममधीते वेद वा आग्निष्टोमिकः। वाजपेयिकः। उक्थादिभ्यः-औक्थिकः, लौकायतिकः। सूत्रान्तात्-वार्त्तिकसूत्रिकः, सांग्रहसूत्रिकः। *सूत्रान्तादकल्पादेरिष्यते* (ग०सू० 83)। कल्पसूत्रमधीते काल्पसूत्रः, अणेव भवति। उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः, यज्ञायज्ञीयात्परेण यानि गीयन्ते, न च तान्यधीयाने प्रत्यय इष्यते,

किं तर्हि ? सामलक्षणे औक्थिक्ये वर्तमान उक्थशब्दः प्रत्ययमुत्पादयति–उक्थमधीते औक्थिकः। औक्थिक्यमधीत इत्यर्थः। औक्थिक्यशब्दाच्च प्रत्ययो न भवत्येव, अनभिधानात्। *विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तादिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। वायसविद्यिकः। सार्पविद्यिकः। गौलक्षणिकः। आश्वलक्षणिकः। मातृकल्पिकः। पाराशरकल्पिकः। *विद्या च नाङ्गक्षत्रधर्मसंसर्गत्रिपूर्वा* (श्लोक वा०)। अङ्गविद्यामधीते आङ्गविद्यः। क्षात्रविद्यः। धार्मविद्यः। सांसर्गविद्यः। त्रैविद्यः। *आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यष्ठग्वक्तव्यः* (श्लोक वा०)। आख्यानाख्यायिकयोरर्थग्रहणमितिहासपुराणयोः स्वरूपग्रहणम्। यावक्रीतिकः। प्रैयङ्गविकः। वासवदत्तिकः। सौमनोत्तरिकः। ऐतिहासिकः। पौराणिकः। *सर्वसादेर्द्विगोश्च लः* (श्लोक वा०)। सर्ववेदः। सर्वतन्त्रः। सादेः–सवार्त्तिकः, ससंग्रहः। द्विगोः–द्विवेदः, पञ्चव्याकरणः। *अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे च* (श्लोक वा०)। अनुसूर्नाम ग्रन्थस्तमधीते आनुसुकः। लाक्षिकः। लाक्षणिकः। *इकन्बहुलं पदोत्तरपदात्*। पूर्वपदिकः। *शतषष्टेः षिकन् पथो बहुलम्* (श्लोक वा०)। शतपथिकः, शतपथिकी। षष्टिपथिकः, षष्टिपथिकी। बहुलग्रहणादणपि भवति–शातपथः, षाष्टिपथः। उक्थ। लोकायत। न्याय। न्यास। निमित्त। पुनरुक्त। निरुक्त। यज्ञ। चर्चा। धर्म। क्रमेतर। श्लक्ष्ण। संहिता। पद। क्रम। संघात। वृत्ति। संग्रह। गुणागुण। आयुर्वेद। *सूत्रान्तादकल्पादेः* (ग० सू० 83)। *विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तात्* (ग० सू० 84)। *विद्याचानङ्गक्षत्रधर्मसंसर्गत्रिपूर्वा* (ग० सू० 85)। *आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यष्टक्* (ग० सू० 86)। *सर्वसादेर्द्विगोश्च लः* (ग० सू० 87)। *अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे च* (ग० सू० 88)। *द्विपदी ज्योतिषि* (ग० सू० 89)। अनुपद। अनुकल्प। अनुगुण। *इकन्बहुलं पदोत्तरपदात्* (ग० सू० 90)। *शतषष्टेः षिकन् पथो बहुलम्* (ग० सू० 91)।

अर्थ—'उसे पढ़ता है' तथा 'उसे जानता है'—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ, क्रतु, उक्थ आदि तथा सूत्रान्त शब्दों से 'ठक्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) आग्निष्टोमिकः
अग्निष्टोमम् अधीते, अग्निष्टोमं वेद—ठक् हुआ, आदिवृद्धि, सु।

(2) वाजपेयिकः (पूर्ववत्)।
(3) औक्थिकः (पूर्ववत्)।
(4) लौकायतिकः
लोकायत ठक्।

(5) वार्त्तिकसूत्रिकः
वार्त्तिकसूत्र ठक्।

(6) साङ्ग्रहसूत्रिकः
सङ्ग्रहसूत्र ठक्।

सूत्रान्ता०—'सूत्र' है अन्त में जिसके तथा कल्प शब्द नहीं है—आदि में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ठक् होता है—

(7) कल्पिसूत्रः
कल्पसूत्रम् अधीते वेत्ति वा—ठक् नहीं हुआ। अण् हुआ।

उक्थ शब्द किन्हीं सामों में रूढ़ है। यज्ञायज्ञीयात् पर से जो गाये जाते हैं। 'उनको पढ़ता है' इस अर्थ में प्रत्यय होता है। तब सामलक्षण में औक्थिक्य के वर्तमान रहते उक्थ शब्द से प्रत्यय होता है—उक्थमधीते—औक्थिकः।

'औक्थिक्य' शब्द से प्रत्यय नहीं होता है, अभिधान न होने से।

विद्यालक्षण०—विद्या, लक्षण तथा कल्प शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ठक् होता है—

(8) वायसविद्यिकः
वायसविद्या ठक्।

(9) सार्पविद्यकः
सर्पविद्या ठक्।

(10) गौलक्षणिकः
गोलक्षण ठक्।

(11) आश्वलक्षणिकः
अश्वलक्षण ठक्।

(12) मातृकल्पिकः
मातृकल्प ठक्।

(13) पाराशरकल्पिकः
पराशरकल्प ठक्।

विद्या च नाङ्ग०—विद्या शब्द है अन्त में जिसके तथा अंग, क्षत्र, धर्म, संसर्ग तथा त्रि—ये शब्द हैं पूर्व में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ठक् नहीं होता है—

(14) आङ्गविद्यः

अङ्गविद्याम् अधीते वेद वा—ठक् नहीं हुआ,
आङ्गविद्या अ—औत्सर्गिक अण् हुआ, .
आङ्गविद्यः—सु।

(15) क्षात्रविद्यः
क्षत्रविद्या अण्—पूर्ववत्।

(16) धार्मविद्यः
धर्मविद्या अण्।

(17) सांसर्गविद्यः
संसर्गविद्या अण्।

(18) त्रैविद्यः
त्रिविद्या अण्।

आख्यानाख्या०—आख्यान, आख्यायिका, इतिहास और पुराण शब्दों से ठक् होता है—

(19) यावक्रीतिकः
यवक्रीत ठक्—आख्यान व आख्यायिका के स्वरूप का ग्रहण न होकर उनके अर्थ का ग्रहण होता है,
यावक्रीत इक—आदिवृद्धि, ठस्येकः
यावक्रीतिक सु—सु।

(20) प्रैयङ्गविकः
प्रियङ्गु ठक्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः,
प्रैयङ्गविक सु—सु।

(21) वासवदत्तिकः
वासवदत्ता ठक्।

(22) सौमनोत्तरिकः
सुमनोत्तर ठक्।

(23) ऐतिहासिकः
इतिहास ठक्।

(24) पौराणिकः
पुराण ठक्।

सर्वसादेर्द्वि—जिस द्विगुसंज्ञक समास के पूर्वपद में 'सर्व' तथा 'स' शब्द हों, उससे पर ठक् का लुक् होता है—

(25) सर्ववेदः
सर्ववेद ठक्—लुक् हुआ,
सर्ववेद सु—सु हुआ।

(26) सर्वतन्त्रः (पूर्ववत्)।

(27) सवार्तिकः
ठक, लुक् हुआ।

(28) ससङ्ग्रहः (पूर्ववत्)।

(29) द्विवेदः
द्विवेद ठक्—लुक् हुआ।

(30) पञ्चव्याकरणः (पूर्ववत्)।

अनुसूर्लक्ष्य—अनुसु, लक्ष्य और लक्षण शब्दों से ठक् होता है—

(31) आनुसुकः
अनुसू ठक्—इसुसुक्ता० से 'क',
आनुसुकः—सु।

(32) लाक्षिकः
लक्ष्य ठक् → लक्ष्य् इक—यकारलोप,
लाक्ष् इक सु—आदिवृद्धि।

(33) लाक्षणिकः
लक्षण ठक्।

इकन्पदो०—उत्तर पद में 'पद' शब्द हो तो ऐसे प्रातिपदिक से 'इकन्' प्रत्यय होता है।

(34) पूर्वपदिकः
पूर्वपद ठक्।

शतषष्टेः—शत और षष्टि से उत्तर पथिन् शब्द से 'षिकन्' प्रत्यय होता है बहुलता से ;

(35) शतपथिकः
शतपथम् अधीते वेत्ति वा—षिकन् हुआ,
शतपथ इक—षकार व नकार की इत्संज्ञा,
शतपथिक सु—सु हुआ।

(36) शतपथिकी
शतपथिक ङीष्—षिद्गौरादिभ्यश्च।

(37) षष्टिपथिकः
षष्टिपथ षिकन्।

(38) षष्टिपथिकी
पूर्वपत् ङीष्।

(39) शातपथः

'बहुलम्' कथन से अण् भी होता है।

(40) षाष्टिपथः
अण् हुआ।

(1489) क्रमादिभ्यो वुन् *61* (1271)

क्रम इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो वुन्प्रत्ययो भवति तदधीते तद्वेदेत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। क्रमकः। पदकः। क्रम। पद। शिक्षा। मीमांसा। सामन्।

अर्थ—'उसे पढ़ता है' तथा 'उसे जानता है'—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ क्रम आदि प्रातिपदिकों से 'वुन्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) क्रमकः
क्रम वुन्—युवोरनाकौ।
(2) पदकः (पूर्ववत्)।
(3) शिक्षकः
शिक्षा वुन्।
(4) मीमांसकः (पूर्ववत्)।
(5) सामकः
सामन् वुन्।

(1490) अनुब्राह्मणादिनिः *62* (1272)

अनुब्राह्मणशब्दादिनिः प्रत्ययो भवति तदधीते तद्वेदेत्यस्मिन्विषये। अणोऽपवादः। ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्, तदधीतेऽनुब्राह्मणी, अनुब्राह्मणिनौ, अनुब्राह्मणिनः। मत्त्वर्थे 'अत इनिठनौ' (5.2.115) इति इनिना सिद्धम्। तत्रैतस्माट्ठन्नपि प्राप्नोति, अनभिधानान्न भविष्यति? अणो निवृत्त्यर्थं तर्हि वचनम्।

अर्थ—'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता है'—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ अनुब्राह्मण शब्द से 'इनि' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) अनुब्राह्मणी
ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थः—अनुब्राह्मणम्
अनुब्राह्मण इनि सु—विभक्तिकार्य।

मत्वर्थ 'इनि' (द्र०—अत इनिठनौ) से यह सिद्ध ही था। वहाँ इससे 'ठन्' भी प्राप्त हो जाता हैं। अभिधान न होने से नहीं होगा। अण् की निवृत्ति के लिए यह विधान है।

(2) अनुब्राह्मणिनौ
प्रथमा द्विवचन।

(1491) वसन्तादिभ्यष्ठक् *63* (1273)

वसन्त इत्येवमादिभ्यष्ठक्प्रत्ययो भवति तदधीते तद्वेदेत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। वसन्तसहचरितोऽयं ग्रन्थो वसन्तः, तमधीते वासन्तिकः। वार्षिकः। वसन्त। वर्षा। शरद्। हेमन्त। शिशिर। प्रथम। चरम। गुण। अनुगुण। अपर्वन्। अथर्वन्।

अर्थ—'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता है'—इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ वसन्त आदि प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) वासन्तिकः
वसन्तसहचरितोऽयं ग्रन्थः—वासन्तः
वसन्त ठक्—सु आदि।
(2) वार्षिकः
वर्षा ठक्।
(3) शारदिकः
शरद् ठक्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1492) प्रोक्ताल्लुक् *64* (1274)

प्रोक्तसहचरितः प्रत्ययः प्रोक्तः। प्रोक्तप्रत्ययान्तादध्येतृवेदित्रोरुत्पन्नस्य लुग्भवति। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, तदधीते पाणिनीयः। आपिशलः। स्त्रियां स्वरे च विशेषः। पाणिनीया ब्राह्मणी।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द से विहित प्रत्यय का लुक् होता है, 'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) पाणिनीयः
पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयम्, 'तद् अधीते' इस अर्थ में 'अण' हुआ,
पाणिनीय सु—प्रत्यय का लुक् हुआ।
(2) आपिशलः
पूर्ववत् प्रत्यय का लुक् हुआ।
स्त्रीलिंग में तथा स्वर में विशेष होता है।
(3) पाणिनीया ब्राह्मणी

पाणिनीय टाप्—स्त्रीत्व में,
पाणिनीय सु—विभक्तिकार्य।

'प्रोक्तप्रत्ययान्त' का अर्थ यह है कि वह शब्द, जिससे प्रोक्त अर्थ में प्रत्यय किया जा चुका है।

(1493) सूत्राच्च कोपधात् *65* (1277)

सूत्रवाचिनः ककारोपधादुत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति। अप्रोक्तार्थ आरम्भः। पाणिनीयमष्टकं सूत्रम्, तदधीते अष्टकाः पाणिनीयाः। दशका वैयाघ्रपदीयाः। त्रिकाः काशकृत्स्नाः। *संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह मा भूत्–महावार्त्तिकं सूत्रमधीते, माहावार्त्तिकः, कालापकमधीते कालापकः। कोपधादिति किम्? चतुष्टयमधीते चातुष्टयः।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ कोपध सूत्रवाची प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में विहित प्रत्यय का लुक् होता है। प्रोक्त अर्थ से अतिरिक्त के लिए यह विधान है। जिसकी उपधा में ककार है, उसे 'कोपध' कहते हैं।

उदा० (1) अष्टकाः पाणिनीयाः
पाणिनीयमष्टकं सूत्रं तदधीते—
इस अर्थ में प्रत्यय हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रत्यय का लुक् हुआ।

(2) दशका वैयाघ्रपदीयाः
दशक—प्रत्यय हुआ, लुक् हुआ,
दशक जस्—प्रथमा बहुवचन,
दशकाः—विसर्ग।

(3) त्रिकाः काशकृत्स्नाः (पूर्ववत्)।

सङ्ख्याप्रकृ०—संख्या प्रकृति से लुक् होता है—

(4) महावार्त्तिकः
महावार्त्तिकं सूत्रम् अधीते—पूर्ववत्।

(5) कालापकः
कालापकम् अधीते—पूर्ववत्।

कोपधात् अर्थात् ककार है उपधा में जिसके, ऐसे शब्द से विहित प्रत्यय का लुक् होता है—

(6) चातुष्टयः
चतुष्टयम् अधीते—यहाँ 'तदधीते तद्वेद' से औत्सर्गिक 'अण्' हुआ,
चतुष्टय अण्—'चतुष्टय' सूत्रवाची है, इससे विहित 'अण्' प्रत्यय का प्रकृत सूत्र से लुक् प्राप्त हुआ, परन्तु इसकी उपधा में ककार नहीं है, अतः लुक् नहीं हुआ,
चातुष्टय अ—'तद्धितेष्वचामादेः' से आदिवृद्धि
चातुष्टय् अ—भसंज्ञा, यस्येति च,
चातुष्टय सु—सु,
चातुष्टयः—विभक्तिकार्य।

(1494) छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि *66* (1278)

प्रोक्तग्रहणमनुवर्त्तते। छन्दांसि ब्राह्मणानि च प्रोक्तप्रत्ययान्तानि तद्विषयाण्येव भवन्ति। अध्येतृवेदितृप्रत्ययविषयाणि। अनन्यभावो विषयार्थः। तेन स्वातन्त्र्यमुपाध्यन्तरयोगो वाक्यं च निवर्तते। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। मौदाः। पैप्पलादाः। आर्चाभिनः। वाजसनेयिनः। ब्राह्मणानि खल्वपि–ताण्डिनः, भाल्लविनः, शाट्यायनिनः, ऐतरेयिणः। ब्राह्मणग्रहणं किम्, यावता छन्द एव तत्? ब्राह्मणविशेषप्रतिपत्त्यर्थमिह तद्विषयता मा भूत्–याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि, सौलभानि (म० भा०)। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। कल्पे–काश्यपिनः, कौशिकिनः। सूत्रे–पाराशरिणो भिक्षवः, शैलालिनो नटाः, कर्मन्दिनः, कृशाश्विनः। छन्दोब्राह्मणानीति किम्? पाणिनीयं व्याकरणम्, पैङ्गी कल्पः (म० भा०)।

अर्थ—प्रोक्तप्रत्ययान्त वेदवाची तथा ब्राह्मणवाची शब्द तद्विषयक ही होते हैं अर्थात् अध्येतृ तथा वेदितृ प्रत्ययविषयक होते हैं। अनन्यभाव विषय के लिए है। अध्येता और वेत्ता अर्थों के विना इन शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता।

उदा० (क) छन्दांसि—
(1) कठाः
कठेन प्रोक्ता अधीयते—णिनि प्रत्यय हुआ, उसकी निवृत्ति हुई,
कठ जस्—विभक्तिकार्य।

(2) मौदाः (पूर्ववत्)।
(3) पैप्पलादाः (पूर्ववत्)।
(4) आर्चायिनः (पूर्ववत्)।
(5) वाजसनेयिनः (पूर्ववत्)।

(ख) ब्राह्मणानि—
(6) ताण्डिनः (पूर्ववत्)।

(7) भाल्लविनः (पूर्ववत्)।
(8) शाट्यायनिनः (पूर्ववत्)।
(9) ऐतरेयिणः (पूर्ववत्)।

ब्राह्मणा० अर्थात् ब्राह्मणवाची शब्द तद्विषयक होता है। केवल छन्दोवाची से न हो। ब्राह्मणविशेष के ज्ञान के लिए यहाँ तद्विषयता न हो।

(10) याज्ञवल्क्यानि
याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानी।

(11) सौलभानि
सूत्र में चकार का ग्रहण अनुक्त समुच्चय के लिए है।

(12) काश्यपिनः।
(13) काशकिनः।
(14) पाराशरिणः।
(15) शैलालिनः।
(16) कर्मन्दिनः।
(17) कृशाश्विनः।

ब्राह्मणग्रह० अर्थात् छन्दोवाची व ब्राह्मणवाची शब्दों से ही होता है—

(18) पाणिनीयं व्याकरणम्
यहाँ प्रत्यय की निवृत्ति नहीं हुई।
(19) पैङ्गीकल्पः (पूर्ववत्)।

(1495) तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि *67* (1279)

तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिः। अस्मिन्निति प्रत्ययार्थः। अस्तीति प्रकृत्यर्थविशेषणम्। इतिकरणो विवक्षार्थः। देशे तन्नाम्नीति (4.4.67-70) प्रत्ययार्थविशेषणम्। तदिति प्रथमासमर्थादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्प्रथमासमर्थमस्ति, चेत्तद्भवति, यदस्मिन्निति निर्दिष्टं देशश्चेत् स तन्नामा भवति–प्रत्ययान्तनामा, इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा। उदुम्बरा अस्मिन्न् देशे सन्ति औदुम्बरः। बाल्वजः। पार्वतः। मत्वर्थीयापवादो योगः।

अर्थ—'तद्' प्रथमान्त समर्थ विभक्ति है। 'अस्मिन्' प्रत्ययार्थ है। 'अस्ति' प्रकृति के अर्थ का विशेषण है। इतिकरण विवक्षा के लिए है। 'वह इसमें है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धित प्रत्यय होता है, यदि वह प्रत्ययान्त शब्द किसी प्रसिद्ध स्थान का नाम हो।

उदा० (1) औदुम्बरः
उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति—अण् हुआ।

(2) बाल्वजः
बल्वज अण्।

(3) पार्वतः
पर्वत अण्।

यह मत्वर्थीय का अपवाद है।

(1496) तेन निर्वृत्तम् *68* (1280)

तेनेति तृतीयासमर्थान्निर्वृत्तमित्यस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशनामधेये गम्यमाने। देशे तन्नाम्नीति चतुर्ष्वपि योगेषु सम्बध्यते। सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा। कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी। हेतौ कर्त्तरि च यथायोगं तृतीया समर्थविभक्तिः।

अर्थ—'बनाया गया' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि तत् प्रत्ययान्त शब्द देश का वाचक हो। 'देशे तन्नाम्नि' का सम्बन्ध चारो योगों से है।

उदा० (1) साहस्री परिखा
सहस्रेण निर्वृता—अण् हुआ, ङीप् हुआ।

(2) कौशाम्बी नगरी
कुशाम्ब अण्—पूर्ववत्।

हेतु तथा कर्त्ता अर्थ में यथायोग तृतीया समर्थ विभक्ति होती है।

(1497) तस्य निवासः *69* (1281)

तस्येति षष्ठीसमर्थान्निवास इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशनामधेये गम्यमाने। निवसत्यस्मिन्निति निवासः। ऋजुनावान्निवासो देशः आर्जुनावो देशः। शैबः। औदिष्ठः।

अर्थ—'उसका निवास'—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह शब्द किसी देश का नाम हो।

उदा० (1) आर्जुनावः
ऋजुनावां निवासः—अण्,
आर्जुनाव् अ सु—आदिवृद्धि, सु।

(2) शैबः (पूर्ववत्)।

(3) औदिष्टः (पूर्ववत्)।

(1498) अदूरभवश्च *70* (1282)

पूर्वा समर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। तस्येति षष्ठीसमर्थाददूरभव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम्। हैमवतम्। चकारः पूर्वेषां त्रयाणामर्थानामिह सन्निधानार्थः। तेनोत्तरेषु चत्वारोऽप्यर्थाः सम्बध्यन्ते।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ विभक्ति का अनुवर्तन है। 'निकट होने वाला' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ शब्द से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि तत्प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो।

उदा० (1) वैदिशम्
विदिशाया अदूरभवं नगरम्—अण् हुआ, आदिवृद्धि।

(2) हैमवतम्
हिमवत अण्।

सूत्र में चकार पूर्व वाले तीन अर्थों में सन्निधान के लिए है। अतः उत्तरवर्ती सूत्रों में चारो अर्थों का सम्बन्ध है।

(1499) ओरञ् *71* (1283)

चत्वारोऽर्था (4.2.67-70) अनुवर्त्तन्ते। उवर्णान्तात्प्रातिपदिकाद्यथाविहितं समर्थविभक्तियुक्तादञ् प्रत्ययो भवति तदस्मिन्नस्तीत्येवमादिष्वर्थेषु। अणोऽपवादः। अरडु–आरडवम्। कक्षतु–काक्षतवम्। कर्कटेलु–कार्कटेलवम्। नद्यां तु परत्वान्मतुब्भवति–इक्षुमती। अञधिकारः प्राक् सुवास्त्वादिभ्योऽणः (4.2.77)।

अर्थ—(पूर्वोक्त) चारो अर्थों का अनुवर्त्तन है। 'बनाया गया', 'उसका निवास है', 'यह उसमें है' तथा 'निकट होने वाला'—इन चार अर्थों में प्रथमान्त, तृतीयान्त तथा षष्ठ्यन्त समर्थ उवर्णान्त प्रातिपदिकों से 'अञ्' होता है। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) आरडवम्
अरडु अञ्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः,
आरडव सु—विभक्तिकार्य।

(2) काक्षतवम्
कक्षतु अञ्—पूर्ववत्।

(3) कार्कटेलवम्
कर्कटेलु अञ्—पूर्ववत्।

नदी अर्थ वाच्य होने पर परत्व के कारण 'नद्यां मतुप्' से 'मतुप्' होता है—

(4) इक्षुमती
इक्षु मतुप्—अनुबन्धलोप,
इक्षुमत् ङीप्—उगितश्च, विभक्तिकार्य।

अञ् का अधिकार है। 'सुवास्त्वादिभ्योऽण्' से पूर्व तक।

(1500) मतोश्च बह्वजङ्गात् *72* (1284)

बह्वज् अङ्गं यस्यासौ बह्वजङ्गो मतुप्, तदन्तात्प्रातिपदिकादञ्प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः। अणोऽपवादः। ऐषुकावतम्। सैध्रकावतम्। बह्वजङ्गादिति किम्? आहिमतम्। यावमतम्। अङ्गग्रहणं बह्वजिति तद्विशेषणं यथा विज्ञायते, मत्वन्तविशेषणं मा विज्ञायीति–मालावतां निवासो मालावतम्।

अर्थ—यदि मतुप् प्रत्यय के परे रहते अनेक अच् वाला अंग हो तो उस मतुप् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) ऐषुकावतम्
इषुकाः सन्त्यस्यां नद्याम्—इस अर्थ में,
इषुका मतुप्—'नद्यां मतुप्',
इषुकावत् ङीप्—उगितश्च,
ऐषुकावती अञ्—आदिवृद्धि,
ऐषुकावतम्—सु।

(2) सैध्रकावतम्
सिध्रका—पूर्ववत्।

बह्वज० अर्थात् अनेक अच् वाले प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

(3) आहिमतम्
अहि मतुप्—
अहिमत्—अनेकाच् न होने से 'अञ्' नहीं हुआ,
आहिमतम्—अण् हुआ।

(4) यावमतम् (पूर्ववत्)।

'अंग' शब्द का अनेकाच् विशेषण है। ताकि मत्वन्त विशेषण न हो।

(5) मालावतम्
मालावतां निवासः।

(1501) बह्वचः कूपेषु *73* (1285)

बह्वचः प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः कूपेष्वभिधेयेषु । अणोऽपवादः । यथासम्भवमर्थाः सम्बध्यन्ते । दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपः दैर्घवरत्रः । कापिलवरत्रः ।

अर्थ—कूप अर्थ वाच्य होने पर अनेकाच् प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है। यहाँ यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है।

उदा० (1) दैर्घवरत्रः
दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपः—इस अर्थ में,
दीर्घवरत्र अञ्—आदिवृद्धि,
दैर्घवरत्र् अ सु—सु ।

(2) कापिलवरत्रः
कपिलवरत्र अञ् ।

(1502) उदक्च विपाशः *74* (1286)

विपाश उत्तरे कूले ये कूपास्तेष्वभिधेयेष्वञ् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः । अणोऽपवादः । अबह्वजर्थ आरम्भः । दत्तेन निर्वृत्तो कूपो दात्तः । गौप्तः । उदगिति किम् ? दक्षिणतो विपाशः । कूपेषु अणेव-दात्तः, गौप्तः । स्वरे विशेषः । महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य ।

अर्थ—विपाट् नदी के उत्तरवर्ती किनारे पर स्थित कूप—ऐसा अर्थ वाच्य होने पर चातुरर्थिक 'अञ्' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है। अनेकाच् से अतिरिक्त के लिए विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) दात्तः कूपः
दत्तेन निर्वृत्तः कूपः—अञ् हुआ ।
(2) गौप्तः (पूर्ववत्) ।

उदगिति अर्थात् 'उत्तर किनारे पर स्थित कूप'—इस अर्थ में ही 'अञ्' होता है। विपाट् के दक्षिण तट पर स्थित होने से प्रातिपदिक से 'अण्' ही होता है। केवल स्वर का अन्तर है। आचार्य पाणिनि की बुद्धि अत्यधिक तीव्र है।

(1503) सङ्कलादिभ्यश्च *75* (1287)

कूपेष्विति निवृत्तम् । सङ्कल इत्येवमादिभ्योऽञ् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकाः । अणोऽपवादः । यथासम्भवमर्थसम्बन्धः । सङ्गतः कलः सङ्कलः । सङ्कलेन निर्वृत्तः साङ्कलः । पौष्कलः । सङ्कल । पुष्कल । उद्वप । उडुप । उत्पुट । कुम्भ । विधान । सुदक्ष । सुदत्त । सुभूत । सुनेत्र । सुपिङ्गल । सिकता । पूतीकी । पूलास । कूलास । पलाश । निवेश । गवेष । गम्भीर । इतर । शर्मन् । अहन् । लोमन् । वेमन् । वरुण । बहुल । सद्योज । अभिषिक्त । गोभृत् । राजभृत् । गृह । भूत । भल्ल । माल । वृत् ।

अर्थ—कूप अर्थ वाच्य हो—इसका अनुवर्त्तन नहीं है। संकलादि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है। यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है।

उदा० (1) साङ्कलः
सङ्कलेन निर्वृत्तः—अञ् हुआ,
(2) पौष्कलः
पुष्कल अञ् ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1504) स्त्रीषु सौवीरसाल्वप्राक्षु *76* (1288)

देशे तन्नाम्नीत्यस्य विशेषणं सौवीरादयः, स्त्रीत्वं च । ङ्याप्प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः । अणोऽपवादः । सौवीरे स्त्रीलिङ्गे वाच्ये साल्वे प्राचि । सौवीरे तावत्-दत्तामित्रेण निर्वृत्ता नगरी दात्तामित्री । साल्वे-विधूमाग्निना निर्वृत्ता वैधूमाग्नी । प्राचि खल्वपि-ककन्देन निर्वृत्ता काकन्दी, माकन्दी, माणिचरी, जारुषी ।

अर्थ—स्त्रीलिंगवाची सौवीर, साल्व और पूर्व देश वाच्य होने पर ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों से चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है।

उदा० (क) सौवीरे—
(1) दात्तामित्री
दत्तामित्रेण निर्वृत्ता नगरी—अञ् हुआ,
दात्तामित्र ङीप्—विभक्तिकार्य ।

(ख) साल्वे—
(2) वैधूमाग्नी
विधूमाग्नि अञ्—पूर्ववत् ।

(ग) प्राचि—
(3) काकन्दी
ककन्देन निर्वृत्ता—पूर्ववत् ।
(4) माकन्दी (पूर्ववत्) ।
(5) माणिचरी (पूर्ववत्) ।
(6) जारुषी (पूर्ववत्) ।

(1505) सुवास्त्वादिभ्योऽण् *77* (1289)

सुवास्तु इत्येवमादिभ्योऽण् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः। अञ् उवर्णान्तलक्षणस्य कूपलक्षणस्य चापवादः। सुवास्तोरदूरभवं नगरं सौवास्तवम्। वार्णवम्। अण्ग्रहणं नद्यां मतुपो बाधनार्थम्-सौवास्तवी नदी। सुवास्तु। वर्णु। भण्डु। खण्डु। सेचालिन्। कर्पूरिन्। शिखण्डिन्। गर्त। कर्कश। शटीकर्ण। कृष्ण। कर्क। कर्कन्धूमती। गोह्य। अहिसक्थ। वृत्।

अर्थ—सुवास्तु आदि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक अण् होता है। उवर्णान्त लक्षण तथा कूपलक्षण अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) सौवास्तवम्
सुवास्तोरदूरभवम्—अण् हुआ,
सौवास्तव् अ—आदिवृद्धि, गुण,
सौवास्तवम्—सु।

(2) वार्णवम्
वर्णु अण्—पूर्ववत्।

'नद्यां मतुप्' से प्राप्त 'मतुप्' के बाध के लिए अण् का ग्रहण है।

(3) सौवास्तवी नदी
सौवास्तव ङीप्—टिड्ढाऽण, सु।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1506) रोणी *78* (1290)

रोणीशब्दादणप्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः। यथासम्भवमर्थसम्बन्धः। कूपलक्षणस्याञोऽपवादः। रोणीति कोऽयं निर्देशो यावता प्रत्ययविधौ पञ्चमी युक्ता? सर्वावस्थाप्रतिपत्त्यर्थमेवमुच्यते-रोणीशब्दः सर्वावस्थोऽणप्रत्ययमुत्पादयति केवलस्तदन्तश्च। रौणः, आजकरोणः, सैंहिकरोणः।

अर्थ—रोणी प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अण् प्रत्यय होता है। यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है। कूपलक्षण अञ् का अपवाद है। 'रोणी' यह निर्देश क्या है? प्रत्ययविधि में पञ्चम्यन्त का निर्देश होता है। सभी अवस्थाओं के ज्ञान के लिए है। सभी अवस्था वाला रोणी शब्द प्रत्यय को उत्पन्न करता है—केवल रोणी शब्द से तथा तदन्त शब्द से प्रत्यय होता है।

उदा० (1) रौणः
रोण्या निर्वृत्तः—अण् हुआ,
रौण् अं—आदिवृद्धि;
रौण सु—विभक्तिकार्य।

(2) आजकरोणः
अजकरोणी अण्—पूर्ववत्।

(3) सांहिकरोणः (पूर्ववत्)।

(1507) कोपधाच्च *79* (1291)

ककारोपधाच्च प्रातिपदिकादणप्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः। यथासम्भवमर्थसम्बन्धः। कूपलक्षणस्यौवर्णलक्षणस्य चाञोऽपवादः। कार्णच्छिद्रिकः। कूपः। कार्णवेष्टकः। कृकवाकुना निर्वृत्तं कार्कवाकवम्। त्रैशङ्कवम्।

अर्थ—कोपध (=ककार है उपधा में जिसके) प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अण् प्रत्यय होता है। यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है। कूपलक्षण व उकारलक्षण अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) कार्णछिद्रिकः
कर्णच्छिद्रिकेण निर्वृत्तः कूपः—पूर्ववत् सभी कार्य।

(2) कार्णवेष्टकः (पूर्ववत्)।

(3) कार्कवाकवम्।
कृकवाकु अण्।

(4) त्रैशङ्कवम्
त्रिशङ्कु अण्।

(1508) वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसङ्काशबलपक्षकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः *80* (1292)

वुञादयः सप्तदश प्रत्ययाः, अरीहणादयोऽपि सप्तदशैव प्रातिपदिकगणाः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तत्र यथासंख्यं सप्तदशभ्यः प्रातिपदिकगणेभ्यः सप्तदश प्रत्यया भवन्ति चातुरर्थिकाः। अणोऽपवादः। यथासम्भवमर्थसम्बन्धः। अरीहणादिभ्यो वुञ्प्रत्ययो भवति। आरीहणकम्। द्रौघणकम्। अरीहण। द्रुघण। खदिर। सार। भगल। उलन्द। साम्परायण। क्रौष्ट्रायण। भास्त्रायण। मैत्रायण। त्रैगर्त्तायन। रायस्पोष। विपथ। उदण्ड। उदञ्चन। खाडायन। खण्ड। वीरण। काशकृत्स्न। जाम्बवन्त। शिंशपा। किरण। रैवत। बैल्व। वैमतायन। सौसायन। शाण्डिल्यायन। शिरीष। बधिर-अरीहणादिः। कृशाश्वादिभ्य-

श्छणप्रत्ययो भवति । कार्शाश्वीयः । आरिष्टीयः । कृशाश्व । अरिष्ट । अरीश्व । वेश्मन् । विशाल । रोमक । शबल । कूट । रोमन् । वर्वर । सुकर । सूकर । प्रतर । सदृश । पुरग । सुख । धूम । अजिन । विनता । अवनत । विकुघास । अरुस् । अवयास । मौद्गल्य- कृशाश्वादिः । ऋश्यादिभ्यः कः प्रत्ययो भवति । ऋश्यकः । न्यग्रोधकः । ऋश्य । न्यग्रोध । शिरा । निलीन । निवास । निधान । निवात । निबद्ध । विबद्ध । परिगूढ । उपगूढ । उत्तराश्मन् । स्थूलबाहु । खदिर । शर्करा । अनुडूह् । परिवंश । वेणु । वीरण-ऋष्यादिः । कुमुदादिभ्यष्ठच्प्रत्ययो भवति । कुमुदिकम् । शर्करिकम् । कुमुद । शर्करा । न्यग्रोध । इत्कट । गर्त्त । बीज । अश्वत्थ । बल्वज । परिवाप । शिरीष । यवाष । कूप । विकङ्कत- कुमुदादिः । काशादिभ्य इलः प्रत्ययो भवति । काशिलम् । वाशिलम् । काश । वाश । अश्वत्थ । पलाश । पीयूष । विश । तृण । नर । चरण । कर्दम । कर्पूर । कण्टक । गृह-काशादि । तृणादिभ्यः शः प्रत्ययो भवति । तृणशः । नडशः । तृण । नड । बुस । पर्ण । वर्ण । चरण । अर्ण । जन । बल । लव । वन-तृणादिः । प्रेक्षादिभ्य इनिप्रत्ययो भवति । प्रेक्षी । हलकी । प्रेक्षा । हलका । बन्धुका । ध्रुवका । क्षिपका । न्यग्रोध । इर्कुट-प्रेक्षादिः । अश्मादिभ्यो रप्रत्ययो भवति । अश्मरः । अश्मन् । यूष । रूष । मीन । दर्भ । वृन्द । गुड । खण्ड । नग । शिखा-अश्मादिः । सख्यादिभ्यो ढञ् प्रत्ययो भवति । साखेयम् । साखिदत्तेयम् । सखि । सखिदत्त । वायुदत्त । गोहित । भल्ल । पाल । चक्रपाल। चक्रवाल । छगल । अशोक । करवीर । सीकर । सकर । सरस । समल-सख्यादिः । संकाशादिभ्यो ण्यप्रत्ययो भवति । सांकाश्यम् । काम्पिल्यम् । संकाश । काम्पिल्य । समीर । कश्मर । शूरसेन । सुपथिन् । सक्थच । यूप । अंश । एग । अश्मन् । कूट । मलिन । तीर्थ । अगस्ति । बिरत । चिकार । विरह । नासिका-संकाशादिः । बलादिभ्यो यः प्रत्ययो भवति । बल्यः । कुल्यम् । बल । वुल । तुल । उल । डुल । कवल । वन । कुल-बलादिः । पक्षादिभ्यः फक् प्रत्ययो भवति । पाक्षायणः । तौषायनः । पक्ष । तुष । अण्ड । कम्बलिक । चित्र । अश्मन् । अतिस्वन् । पथिन्पन्थ च-पक्षादिः । कर्णादिभ्यः फिञ्प्रत्ययो भवति । कार्णायनिः । वासिष्ठायनिः । कर्ण । वसिष्ठ । अलुश । शल । डुपद । अनडुह्य । पाञ्चजन्य । स्थिरा । कुलिश । कुम्भी । जिवन्ती । जित्व । अण्डीवत्- कर्णादिः । सुतङ्गमादिभ्य इञ्प्रत्ययो भवति । सौतङ्गमिः । मौनचित्तिः । सुतङ्गम । मुनिचित । विप्रचित्त । महापुत्र । श्वेत । गडिक । शुक्र । विग्र । बीजवापिन् । श्वन् । अर्जुन् । अजिर । जीव-सुतङ्गमादिः । प्रगदिन्नादिभ्यो ञ्यः प्रत्ययो भवति । प्रागद्यम् । प्रगदिन् । मगदिन् । शरदिन् । कलिव । खडिव । गडिव । चूडार । मार्जार । कोविदार- प्रगद्यादिः । वराहादिभ्यः कक् प्रत्ययो भवति । वाराहकम् । पालाशकम् । वराह । पलाश । शिरीष । पिनद्ध । स्थूण । विदग्ध । विजग्ध । विभग्न । बाहु । खदिर । शर्करा-वराहादिः । कुमुदादिभ्यष्ठक् प्रत्ययो भवति । कौमुदिकम् । कुमुद । गोमथ । रथकार । दशग्राम । अश्वत्थ । शाल्मली । कुण्डल । मुनिस्थूल । कूट । मुचुकर्ण- कुमुदादिः । शिरीष-शब्दोऽरीहणादिषु, कुमुदादिषु वराहादिषु च पठ्यते, औत्सर्गि-कोऽपि तत इष्यते । तस्य चं वरणादिषु दर्शनाल्लुब्भवति । तथा चोक्तम्-शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः, तस्य वनं शिरीषवनमिति ।

अर्थ—वुञ् आदि सत्रह प्रत्यय हैं। अरीहण आदि सत्रह प्रातिपदिकगण हैं। प्रत्येक के साथ आदि शब्द का सम्बन्ध है। अरीहणादि सत्रह गणों में पठित प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके वुञ् आदि चातुरर्थिक प्रत्यय होते हैं। यह अण् का अपवाद है। यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध जानना चाहिए। सूत्र का विशद अर्थ उदाहरणों के द्वारा जाना जा सकता है।

उदा० (क) अरीहणादिभ्यो वुञ्—

(1) आरीहणकम्

अरीहण वुञ्—हलन्त्यम्, युवोरनाकौ,

आरीहण अक—आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य।

(2) द्रौघणकम् (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ख) कृशाश्वादिभ्यश्छण्—

(3) कार्शाश्वीयः

कृशाश्व छण्—आदिवृद्धि, ईयादेश,

कार्शाश्व ईय सु—विभक्तिकार्य।

(4) आरिष्टीयः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ग) ऋश्यादिभ्यः कः—

(5) ऋश्यकः

ऋश्यक—आदिवृद्धि नहीं,

ऋश्यकः—सु।

(6) न्यग्रोधकः

न्यग्रोध क। पूर्ववत्।

(घ) कुमुदादिभ्यष्ठच्—

(7) कुमुदिकम्

कुमुद ठच्—आदिवृद्धि नहीं, ठस्येकः।

(8) शर्क्करिकम्

शर्क्करा ठच्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ङ) काशादिभ्य इलः—

(9) काशिलम्

काशा इल—सु होकर रूप बना।

(10) वाशिलम्

वाशा इल।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(च) तृणादिभ्यः शः—

(11) तृणशः

तृण श—सु होकर।

(12) नडशः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(छ) प्रेक्षादिभ्यः इनिः—

(13) प्रेक्षी

प्रेक्षा इनि—आकार का लोप,

प्रेक्षिन्—सु।

(14) हलकी

हलका इनि—पूर्ववत्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ज) अश्मादिभ्यो रः—

(15) अश्मरः

अश्मन् र—नकारलोप।

अश्मर सु—विभक्तिकार्य।

(झ) सख्यादिभ्यो ढञ्—

(16) सखि ढञ्—एयादेश, आदिवृद्धि,

साखेय सु—सु।

(17) साखिदत्तेयम्

सखिदत्त ढञ्—पूर्ववत्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ञ) सङ्काशादिभ्यो ण्यः—

(18) साङ्काश्यम्

सङ्काश ण्य—चुटू, आदिवृद्धि,

साङ्काश् य सु—विभक्तिकार्य।

(19) काम्पिल्यम्

कम्पिल ण्य—पूर्ववत्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ट) बलादिभ्यो यः—

(20) बल्यः

बल य—अकारलोप,

बल्य सु—विभक्तिकार्य।

(21) कुल्यम्

कुल य—अकारलोप, शेष पूर्ववत्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ठ) पक्षादिभ्यः फक्—

(22) पाक्षायणः

पक्ष फक्—आयनादेश, आदिवृद्धि,

पाक्षायन सु—णत्व, सु।

(23) तौषायनः

तुष फक्—आदिवृद्धि।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(ड) कर्णादिभ्यः फिञ्—

(24) कार्णायनिः

कर्ण फिञ्—आयनि आदेश,

कार्णायनि सु—सु।

(25) वासिष्ठायनिः

वसिष्ठ फिञ्—पूर्ववत्,

वासिष्ठायनि—सु।

(ढ) सुतङ्गमादिभ्य इञ्—

(26) सौतङ्गमिः

सुतङ्गम इञ्—आदिवृद्धि।

(27) मौनिचित्तिः
मुनिचित्त इञ्—आदिवृद्धि,
मौनिचित्ति—सु।

(ण) प्रगदिन्नादिभ्यो ञ्यः—

(28) प्रागद्यम्
प्रगदिन् ञ्य—चुटू,
प्रागद् य—टिलोप।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(त) वाराहादिभ्यः कक्—

(29) वाराहकम्
वराह कक्—आदिवृद्धि,
वाराहक सु—सु।

(30) पालाशकम्
पलाश कक्—आदिवृद्धि,
पालाशकम्—सु।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(थ) कुमुदादिभ्यष्ठक्—

(31) कौमुदिकम्
कुमुद ठक्—आदिवृद्धि, ठस्येकः,
कौमुदिक सु—सु हुआ।

शिरीष शब्द का अरीहणादि गण में, कुमुदादि गण में तथा वराहादि गण में पाठ प्राप्त होता है। उससे औत्सर्गिक प्रत्यय भी होता है। इसका वरणादि गण में पाठ होने से लुप् होता है। यथा—

शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः—शिरीषाः
तस्य वनम्—शिरीषवनम्।

(1509) जनपदे लुप् *81* (1293)

देशे तन्नाम्नीति यश्चातुरर्थिकः प्रत्ययो भवति तस्य देशविशेषे जनपदेऽभिधेये लुब्भवति। ग्रामसमुदायो जनपदः। पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। कुरवः। मत्स्याः। अङ्गाः। बङ्गाः। मगधाः। सुह्याः। पुण्ड्राः। इह कस्मान्न भवति-उदुम्बरा अस्मिन् सन्ति औदुम्बरो जनपदः, वैदिशो जनपदः इति? तन्नाम्नीति वर्त्तते, न चात्र लुबन्तं तन्नामधेयं भवति।

अर्थ—जनपद अर्थ वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है। ग्रामों के समुदाय को 'जनपद' कहते हैं।

उदा० (1) पञ्चालाः
पञ्चालानां निवासो जनपदः—अण्,
पञ्चाल अण्—अण् का लुप् हुआ, प्रत्ययलक्षण से आदिवृद्धि प्राप्त हुई, न लुमता० से निषेध,
पञ्चाल जस्—विभक्तिकार्य।

(2) कुरवः (पूर्ववत्)।
(3) मत्स्याः (पूर्ववत्)।
(4) अङ्गाः (पूर्ववत्)।
(5) बङ्गाः (पूर्ववत्)।
(6) मगधाः (पूर्ववत्)।
(7) सुह्याः (पूर्ववत्)।
(8) पुण्ड्राः (पूर्ववत्)।
(9) औदुम्बरो जनपदः
उदुम्बरा अस्मिन् सन्ति—लुप् नहीं हुआ।
(10) वैदिशो जनपदः (पूर्ववत्)।

लुबन्त तन्नामधेय नहीं होता है।

(1510) वरणादिभ्यश्च *82* (1301)

वरण इत्येवमादिभ्य उत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य लुब्भवति। अजनपदार्थ आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः। शृङ्गी। शाल्मलयः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ आकृतिगणतामस्य बोधयति। कटुकबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुकबदरी। शिरीषाः। काञ्ची। वरणाः। पूर्वौ गोदौ। आलिङ्ग्यायनः। पर्णी। शृङ्गी। शाल्मलयः। सदाण्वी। वणिकि। वणिक। जालपद। मथुरा। उज्जयिनी। गया। तक्षशिला। उरशा। आकृत्या।

अर्थ—वरण आदि प्रातिपदिकों से विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् होता है। जनपद से रहित के लिए यह विधान है।

उदा० (1) वरणाः
वरणानामदूरभवं नगरम्—'वरणा' नदी का नाम है, प्रत्यय का लुप् हुआ,
वरण अण् → वरण जस्—विभक्तिकार्य।

(2) शृङ्गी (पूर्ववत्)।
(3) शाल्मलयः (पूर्ववत्)।

सूत्र में चकार अनुक्तसमुच्चय के लिये है। यह एक आकृतिगण है।

(4) कटुकबदरी—पूर्ववत् लुप्।
(5) शिरीषाः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1511) शर्कराया वा *83* (1302)

शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य वा लुब्भवति। वाग्रहणं किम्, यावता शर्कराशब्दः वराहादिषु च पठ्यते, तत्र पाठसामर्थ्यात्प्रत्ययस्य पक्षे श्रवणं भविष्यति? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति-शर्कराशब्दादौत्सर्गिको भवति, तस्यायं विकल्पितो लुबिति। शर्करा, शार्करम्। गणपाठाच्च श्रवणम्, उत्तरसूत्रे विहितौ च द्वौ प्रत्ययौ। तदेवं षड् रूपाणि भवन्ति-शर्करा, शार्करम्, शर्करिकम्, शार्करकम्, शार्करिकम्, शर्करीयमिति।

अर्थ—शर्करा शब्द से विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का विकल्प से लुप् होता है। शर्करा शब्द का पाठ कुमुदादि गण में तथा वराहादि गण में प्राप्त होता है। वहाँ पाठ के सामर्थ्य से प्रत्यय का पक्ष में श्रवण होता है। अतः सूत्र में 'वा' का ग्रहण व्यर्थ है।

(समा०) इससे ज्ञापित होता है कि शर्करा शब्द से औत्सर्गिक प्रत्यय होता है। इसका विकल्प से लुप् होता है।

उदा० (1) शर्करा
शर्करा अण्—'तदस्मिन्नस्तीति' के द्वारा,
शर्करा—प्रत्यय का लुप्, सु।

(2) शार्करम्
शर्करा अण्—लुप् अभाव पक्ष में आदिवृद्धि,
शार्कर् अ सु—विभक्तिकार्य।

(3) शर्करिकः
शर्करा ठच्—कुमुदादि में पाठ होने से 'वुञ्छण्कठ०' से 'ठच्',
शर्करिक सु—प्रथमा एकवचन।

(4) शार्करकम्
शर्करा कक्—वराहादिगण में पाठ होने से 'वुञ्छण्०' से 'कक्', आदिवृद्धि,
शार्करकम्—सु।

(5) शर्करीयम्
शर्करा छ—रूप बना।

(6) शार्करिकम्
शर्करा ठक्—पूर्ववत्।

गणपाठ से उत्तर सूत्र (4.2.84) से विहित ठक् और छ प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त छः रूप बनते हैं।

(1512) ठक्छौ च *84* (1303)

शर्कराशब्दाट्ठक् छ इत्येतौ प्रत्ययौ भवतश्चातुरर्थिकौ। यथासम्भवमर्थसम्बन्धः। शार्करिकम्, शर्करीयम्।

अर्थ—शर्करा प्रातिपदिक से चातुरर्थिक ठक् और छ प्रत्यय पर्यायेण होते हैं। यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है।

उदा० (1) शार्करिकम् (ठक्)
(2) शर्करीयम् (छ)।

(1513) नद्यां मतुप् *85* (1304)

नद्यामभिधेयायां मतुप्प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः। तन्नाम्नो देशस्य विशेषणं नदी। उदुम्बरा यस्यां सन्ति उदुम्बरावती। मशकावती। वीरणावती। पुष्करावती। इक्षुमती। द्रुमती। इह कस्मान्न भवति-भागीरथी, भैमरथी? मतुबन्तस्यातन्नामधेयत्वात्।

अर्थ—नदी अभिधेय होने पर ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों से चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय होता है। उकार तथा पकार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) उदुम्बरावती
उदुम्बरा यस्यां नद्यां सन्ति—मतुप्
उदुम्बर वत्—मादुपधायाश्च, मतो बह्वचो०,
उदुम्बरावती—उगितश्च, सु।

(2) मशकावती (पूर्ववत्)।
(3) पुष्करावती (पूर्ववत्)।
(4) इक्षुमती (पूर्ववत्)।
(5) द्रुमती (पूर्ववत्)।

(6) भागीरथी
यहाँ मतुप् प्रत्ययान्त से हुआ है; संज्ञा होने से।

(7) भैमरथी
'भागीरथी' की तरह।

(1514) मध्वादिभ्यश्च *86* (1305)

मधु इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो मतुप्प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः। अनद्यर्थ आरम्भः। मधुमान्। विसवान्। मधु। विस। स्थाणु। मुष्टि। इक्षु। वेणु। रम्य। ऋक्ष। कर्कन्धु।

शमी । किरीर । हिम । किशरा । शर्पणा । मरुत् । मरुव । दार्वाघाट । शर । इष्टका । तक्षशिला । शक्ति । आसन्दी । आसुति । शलाका । आमिधी । खडा । वेटा । मध्वादिः ।

अर्थ—मधु आदि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय होता है। यह 'नदी' अर्थ से अतिरिक्त के लिए विधान है।

उदा० (1) मधुमान्
मध्वस्त्यस्मिन् देशे—मतुप्,
मधुमत् सु—विभक्तिकार्य।

(2) विसवान्—पूर्ववत् मतुप्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1515) कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् *87* (1306)

कुमुद, नड, वेतस इत्येतभ्यः शब्देभ्यो ड्मतुप् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः । कुमुद्वान् । नड्वान् । वेतस्वान् । *महिषाच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०) । महिष्मान्नाम देशः ।

अर्थ—कुमुद, नड और वेतस शब्दों से चातुरर्थिक ड्मतुप् प्रत्यय होता है। डकार, उकार तथा पकार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) कुमुद्वान्
कुमुदाः सन्त्यस्मिन्—प्रत्यय हुआ,
कुमुद् वत्—टेः, झयः, तसौ मत्वर्थे,
कुमुद्वान्—विभक्तिकार्य।

(2) नड्वान्
नड ड्मतुप्।

(3) वेतस्वान्
मतोर्वोऽयवादि०।

महिषाच्चे०—महिष शब्द से ड्मतुप् होता है—

(4) महिष्मान्
महिष ड्मतुप्—टिलोप, शेष पूर्ववत्।

(1516) नडशादाड् ड्वलच् *88* (1307)

नडशादशब्दाभ्यां ड्वलच् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः । यथासम्भवमर्थसम्बन्धः । नड्वलम् । शाद्वलम् ।

अर्थ—नड और शाद प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक ड्वलच् प्रत्यय होता है। यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है। डकार तथा चकार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) नड्वलम्
नडाः सन्त्यस्मिन्—ड्वलच् हुआ,
नड्वल सु—टिलोप सु।

(2) शाद्वलम् (पूर्ववत्)।

(1517) शिखाया वलच् *89* (1308)

शिखाशब्दाद्वलच् प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः । यथासम्भवमर्थसम्बन्धः । शिखावलं नाम नगरम् । मतुप्प्रकरणेऽपि शिखाया वलचं (5.2.113) वक्ष्यति, तद्देशार्थं वचनम् ।

अर्थ—शिखा प्रातिपदिक से चातुरर्थिक वलच् प्रत्यय होता है। यहाँ यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है।

उदा० (1) शिखावलम्
शिखा नाम कश्चिद् मनुष्यः, तेन निर्वृत्तं—वलच् हुआ,
शिखावल सु—विभक्तिकार्य।

मतुप् प्रकरण में भी 'शिखा' से 'वलच्' कहा जायेगा।

(1518) उत्करादिभ्यश्छः *90* (1309)

उत्कर इत्येवमादिभ्यश्छः प्रत्ययो भवति चातुरर्थिकः । यथासम्भवमर्थसम्बन्धः । उत्करीयम् । शफरीयम् । उत्कर । सम्फल । शफर । पिप्पल । पिप्पलीमूल । अश्मन् । अर्क । पर्ण । सुपर्ण । खलाजिन । इडा । अग्नि । तिक । कितव । आतप । अनेक । पलाश । तृणव । पिचुक । अश्वत्थ । शकाक्षुद्र । भस्त्रा । विशाला । अवरोहित । गर्त्त । शाल । अन्य । जन्या । अजिन । मञ्च । चर्मन् । उत्क्रोश । शान्त । खदिर । शूर्पणाय । श्यावनाय । नैव । बक । नितान्त । वृक्ष । इन्द्रवृक्ष । आर्द्रवृक्ष । अर्जुनवृक्ष-उत्करादिः ।

अर्थ—उत्करादि गणपठित प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय होता है। यथासम्भव अर्थ का सम्बन्ध होता है।

उदा० (1) उत्करीयम्
उत्कर छ—ईयादेश,
उत्कर ईय—सु।

(2) शफरीयम्
शफर ईय—पूर्ववत्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1519) नडादीनां कुक् च *91* (1310)

नड इत्येवमादीनां कुगागमो भवति छश्च प्रत्ययश्चा-

तुरर्थिकः। यथासम्भवमर्थसम्बन्धः। नडकीयम्। प्लक्षकीयम्। नड। प्लक्ष। बिल्व। वेणु। वेत्र। वेतस। तृण। इक्षु। काष्ठ। कपोत। *क्रुञ्चाया ह्रस्वत्वं च* (ग०सू० 92)। *तक्षन्नलोपश्च* (ग०सू० 93)।

अर्थ—नडादि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक 'छ' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'कुक्' आगम होता है।

उदा० (1) नडकीयम्
नड कुक् छ → नडकीय—ईयादेश, सु आदि।

(2) प्लक्षकीयम् (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

क्रुञ्चाया—क्रुञ्चा शब्द को ह्रस्वादेश होता है—

(3) क्रुञ्चकीयम्
क्रुञ्चा क छ → क्रुञ्चकीय सु।

तक्षन्नलोपश्च—तक्षन् के 'न्' का लोप होता है—

(4) तक्षकीयम्
तक्षन् कुक् छ → तक्षकीयम्।

(1520) शेषे *92* (1312)

शेष इत्यधिकारोऽयम्। यानित ऊर्ध्वं प्रत्ययाननुक्रमिष्यामः, शेषेऽर्थे ते वेदितव्याः। उक्तादन्यः शेषः। अपत्यादिभ्यश्चतुरर्थपर्यन्तेभ्योऽन्योऽर्थः शेषः (म०भा०), तस्येदंविशेषा ह्यपत्यसमूहादयः, तेषु घादयो मा भूवन्निति शेषाधिकारः क्रियते। किञ्च सर्वेषु जातादिषु घादयो यथा स्युरनन्तरेणैवार्थादेशेन सम्बन्धित्वेन कृतार्थता मा ज्ञायीति साकल्यार्थं शेषवचनम्। वक्ष्यति–'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' (4.2.93)–राष्ट्रियः, अवारपारीणः। शेष इति लक्षणं चाधिकारश्च। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम्। श्रावणः शब्दः। दृषदि पिष्टाः दार्षदाः सक्तवः। उलूखले क्षुण्णः औलूखलो यावकः। अश्वैरुह्यते आश्वो रथः। चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्ष इति।

अर्थ—यह अधिकार है। इससे आगे जो प्रत्यय कहा जायेगा, उसे 'शेष' अर्थ में जानना चाहिए। उपर्युक्त से अतिरिक्त को 'शेष' कहते हैं। अपत्यार्थ से लेकर चातुरर्थी पर्यन्त सभी अर्थों को छोड़कर अन्य को 'शेष' जानना चाहिए। उसके विशेष जो अपत्यसमूह आदि हैं, उनमें 'घ' आदि न हों। अतः शेषाधिकार कहा जा रहा है।

किञ्च०—जात आदि सभी अर्थों में 'घ' आदि सभी प्रत्यय हो जायँ, अव्यवहित अर्थों के आदेश से सम्बन्धितत्व रूप से कृतार्थता न मान ली जाय—इस प्रकार सभी के ज्ञान के लिये प्रकृत सूत्र है।

उदा० (1) राष्ट्रियः
(2) अवारपारीणः

'शेषे' यह लक्षण भी है और अधिकार भी। 'तस्य विकारः' (4.3.132) तक चलता है।

(3) चाक्षुषम्
चक्षुषा गृह्यते → चक्षुष् अण्—आदिवृद्धि,
चाक्षुष सु—विभक्तिकार्य।

(4) श्रावणः शब्दः
श्रवणेन गृह्यते—पूर्ववत्।

(5) दार्षदाः सक्तवः
दृषदि पिष्टाः—आदिवृद्धि।

(6) औलूखलो यावकः
उलूखले क्षुण्णः।

(7) आश्वो रथः
अश्वैरुह्यते।

(8) चातुरं शकटम्
चतुर्भिरुह्यते।

(9) चातुर्दशं रक्षः
चतुर्दशां दृश्यते।

(1521) राष्ट्रावारपाराद् घखौ *93* (1313)

राष्ट्र, अवारपार इत्येताभ्यां यथासंख्यं घखावित्येतौ प्रत्ययौ भवतः। राष्ट्रियः। अवारपारीणः। *विगृहीतादपीष्यते* (म०भा०)। अवारीणः। पारीणः। *विपरीताच्च* (म०भा०)। पारावारीणः। प्रकृतिविशेषोपादानमात्रेण तावत्प्रत्यया विधीयन्ते। तेषां तु जातादयोऽर्थाः समर्थविभक्तयश्च पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते।

अर्थ—शेष अर्थ में राष्ट्र और अवारपार प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'घ' और 'ख' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) राष्ट्रियः
राष्ट्र घ—इयादेश,
राष्ट्रिय सु—विभक्तिकार्य।

(2) अवारपारीणः

अवारपार ख—ईन आदेश,
अवारपारीन सु—णत्व, सु।

विगृहीताद०—'अवारपार' शब्द से विहित 'ख' प्रत्यय पृथक्-पृथक् पदों से भी होता है—

(3) अवारीणः
अवार ख—पूर्ववत्।

(4) पारीणः
पूर्ववत् णत्व आदि।

विपरीताच्च—'अवारपार' शब्द से विहित 'ख' प्रत्यय दोनों पदों के विपरीतक्रम की दशा में भी होता है—

(5) पारावारीणः
पारावार ख—पूर्ववत्।

प्रकृति०—यहाँ प्रकृति व प्रत्यय का निर्देश है, परन्तु अर्थ का निर्देश नहीं है। अतः 'तत्र जातः' से 'जातः' अर्थ का अध्याहार करने से उक्त प्रत्यय 'जातः' इस अर्थ में होते हैं। तब प्रकृति 'तत्र' इस सप्तम्यन्त पद के द्वारा बोध्य होने से सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—सप्तम्यन्त राष्ट्र व अवारपार शब्दों से 'जातः' इस अर्थ में क्रमशः 'घ' और 'ख' होते हैं।

इसी प्रकार यहाँ 'तत्र भवः' तथा 'तत आगतः' आदि शैषिक अर्थों की सङ्गति कर लेनी चाहिये।

(1522) ग्रामाद्यखञौ *94* (1314)

ग्रामशब्दाद्य खञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। ग्राम्यः। ग्रामीणः।

अर्थ—'ग्राम' प्रातिपदिक से 'य' तथा 'खञ्' प्रत्यय पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) ग्राम्यः
ग्रामे जातः—'य' हुआ,
ग्राम्य सु—सु।

(2) ग्रामीणः
ग्राम खञ्—ईन आदेश,
ग्रामीण सु—णत्व।

(1523) कत्त्र्यादिभ्यो ढकञ् *95* (1315)

कत्त्रि इत्येवमादिभ्यो ढकञ् प्रत्ययो भवति। कात्त्रेयकः। औम्भेयकः। कत्त्रि। उम्भि। पुष्कर। पुष्कल। मोदन। कुम्भी। कुण्डिन। नगर। वञ्जी। भक्ति। माहिष्मती। चर्मण्वती। ग्राम। उख्या। *कुड्याया यलोपश्च* (ग०सू० 94)। कत्त्र्यादिः।

अर्थ—कत्त्रि आदि प्रातिपदिकों से ढकञ् होता है। ञकार की इत्संज्ञा है।

उदा० (1) कात्त्रेयकः
कत्त्रि ढकञ् → कात्त् एयक—एयादेश,
कात्त्रेयक सु—विभक्तिकार्य।

(2) औम्भेयकः
उम्भि ढकञ्—आदिवृद्धि।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(3) ग्रामेयकः
ग्राम ढकञ्—पूर्ववत्।

(1524) कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु *96* (1316)

कुलकुक्षिग्रीवाशब्देभ्यो यथासंख्यं श्वन्, असि, अलङ्कार इत्येतेषु जातादिष्वर्थेषु ढकञ् प्रत्ययो भवति। कौलेयको भवति श्वा चेत्, कौलोऽन्यः। कौक्षेयको भवत्यसिश्चेत्, कौक्षोऽन्यः। ग्रैवेयको भवत्यलङ्कारश्चेत्, ग्रैवोऽन्यः।

अर्थ—श्वन्, असि तथा अलंकार अभिधेय होने पर जात आदि अर्थों में यथासंख्य करके कुल, कुक्षि तथा ग्रीवा शब्दों से ढकञ् होता है।

उदा० (1) कौलेयकः श्वा
कुल ढकञ्—आदिवृद्धि, एयादेश,
कौलेयक सु—सु हुआ।

(2) कौलः
अन्यत्र 'अण्' हुआ।

(3) कौक्षेयकोऽसि
कुक्षि ढकञ्—पूर्ववत्।

(4) कौक्षः
अन्यत्र अण् हुआ।

(5) ग्रैवेयकोऽलङ्कारः
ग्रीवा ढकञ्—पूर्ववत्।

(6) ग्रैवः
अन्यत्र अण् हुआ।

(1525) नद्यादिभ्यो ढक् *97* (1317)

नदी इत्येवमादिभ्यो ढक् प्रत्ययो भवति। नादेयम्। माहेयम्। पूर्वनगरीशब्दोऽत्र पठ्यते-पौर्वनगरेयम्। केचित्तु पूर्वनगिरीति पठन्ति, विच्छिद्य च प्रत्ययं कुर्वन्ति-पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयमिति। तदुभयमपि दर्शनं प्रमाणम्। नदी। मही। वाराणसी। श्रावस्ती। कौशाम्बी। नवकौशाम्बी। काशफरी। खादिरी। पूर्वनगरी। पावा। मावा। साल्वा। दार्वा। दाल्वा। वासेनकी। वडवायावृषे (ग० सू० 95)।

अर्थ—नदी आदि प्रातिपदिकों से 'ढक्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) नादेयम्
नद्यां भवम् जातं वा—आदिवृद्धि, एयादेश,
नाद् एय सु—सु हुआ।

(2) माहेयम्
मही ढक्—पूर्ववत्।

पूर्वनगरी शब्द का यहाँ पाठ है।

(3) पौर्वनगरेयम्
पूर्ववत् एयादेश आदि।

कुछ विद्वान् इसके स्थान पर 'पूर्वनगिरि' ऐसा पाठ मानते हैं। तब—

(4) पौरेयम्
पुर् ढक् → पौर एय—विभक्तिकार्य।

(5) वानेयम्
वन ढक्—पूर्ववत्।

(6) गैरेयम्
गिरि ढक्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1526) दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् *98* (1318)

दक्षिणा, पश्चात्, पुरस् इत्येतेभ्यस्त्यक् प्रत्ययो भवति शैषिकः। दाक्षिणात्यः। पाश्चात्त्यः। पौरस्त्यः।

अर्थ—दक्षिणा, पश्चात् तथा पुरस्—इन प्रातिपदिकों से शैषिक 'त्यक्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) दाक्षिणात्यः
दक्षिणा जातः (भवो वा)—'त्यक्' हुआ,
दाक्षिणात्य सु—आदिवृद्धि।

(2) पाश्चात्यः
पश्चात् त्यक्।

(3) पौरस्त्यः
पुरस् त्यक्—आदिवृद्धि।

(1527) कापिश्याः ष्फक् *99* (1319)

कापिशीशब्दात् ष्फक् प्रत्ययो भवति शैषिकः। षकारो ङीषर्थः। कापिशायनं मधु। कापिशायनी द्राक्षा। *बाह्ल्युर्दिपर्दिभ्यश्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। बाह्लायनी। और्दायनी। पार्दायनी।

अर्थ—कापिशी प्रातिपदिक से शैषिक 'ष्फक्' प्रत्यय होता है। स्त्रीत्व में ङीष् करने के लिए 'ष्' अनुबन्ध जोड़ा गया है।

उदा० (1) कापिशायनं मधु
कापिश्यां भवम्—'ष्फक्' हुआ,
कापिशी आयन—आयनादेश, अन्त्यलोप,
कापिशायनम्—सु।

(2) कापिशायनी द्राक्षा
स्त्रीत्व में ङीष् हुआ।

बाह्ल्युर्दि—बाह्ली, उर्दि तथा पर्दि शब्दों से 'ष्फक्' होता है—

(3) बाह्लायनी
बाह्ली ष्फक्—पूर्ववत्।

(4) और्दायनी
उर्दि ष्फक्—पूर्ववत्। अचो रहाभ्यां द्वे।

(5) पार्दायनी
पर्दि ष्फक्—पूर्ववत्।

(1528) रङ्कोरमनुष्येऽण् च *100* (1320)

रङ्कुशब्दादण् प्रत्ययो भवति चकारात्ष्फक्च शैषिकोऽमनुष्येऽभिधेये। राङ्कवो गौः। राङ्कवायणो गौः। अमनुष्य इति किम्? राङ्कवको मनुष्यः। ननु च रङ्कुशब्दः कच्छादिषु पठ्यते, तत्र च 'मनुष्यस्तत्स्थयोर्वुञ्' (4.2.134) इति मनुष्ये परत्वाद् वुञैव भवितव्यम्, कच्छादिपाठादमनुष्येऽणपि सिद्धः, किमिह मनुष्यप्रतिषेधेनाण्ग्रहणेन च? तदुच्यते-नैवायं मनुष्यप्रतिषेधः, किं तर्हि? नञिवयुक्तन्यायेन मनुष्यसदृशे प्राणिनि प्रतिपत्तिः क्रियते-तेन राङ्कवः कम्बल इति ष्फग् न भवति। विशेषविहितेन च ष्फकाऽणो बाधा मा भूदित्यण्ग्रहणमपि क्रियते।

अर्थ—यदि मनुष्य अभिधेय न हो तो रंकु प्रातिपदिक से अण् और ष्फक् शैषिक प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) राङ्कवः
रङ्कु अण्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

(2) राङ्कवायणः—ष्फक् हुआ।

अमनुष्य० अर्थात् मनुष्य अभिधेय न हो तो अण् व ष्फक् होते हैं—

(3) राङ्कवकः (मनुष्यः)
वुञ् हुआ।

रंकु शब्द का कच्छादि शब्दों में पाठ है। वहाँ 'मनुष्यतत्स्थयो०' के द्वारा वुञ् होता है। कच्छादि में पाठ होने से 'मनुष्य' अर्थ वाच्य न होने पर अण् भी सिद्ध है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'मनुष्य' अर्थ वाच्य रहते अण् का निषेध क्यों है? कहा गया है। यहाँ 'मनुष्य' अर्थ का निषेध नहीं है। नञ् की तरह युक्त न्याय के द्वारा मनुष्यसदृश प्राणी के विषय में प्रतिपत्ति की जाती है। यथा—
राङ्कवः कम्बलः
यहाँ स्फक् नहीं हुआ।

विशेष रूप से विहित ष्फक् के द्वारा अण् का बाध न हो—इसलिए अण् का ग्रहण किया जाता है।

(1529) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् *101* (1321)

दिव, प्राच्, अपाच्, उदच्, प्रत्यच् इत्येतेभ्यो यत्प्रत्ययो भवति शैषिकः। दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्। अव्ययात्तु कालवाचिनः परत्वात् ट्युट्युलौ भवतः–प्राक्तनम्।

अर्थ—दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् तथा प्रत्यञ्च्—इन प्रातिपदिकों से शैषिक 'यत्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) दिव्यम्
दिवि जातम्—'यत्' हुआ।
(2) प्राच्यम्—पूर्ववत् 'यत्'।
(3) अपाच्यम्।
अपाञ्च् 'यत्'।
(4) उदीच्यम् (पूर्ववत्)।
(5) प्रतीच्यम् (पूर्ववत्)।

कालवाची अव्यय से पर होने के कारण ट्यु तथ ट्युल् होते हैं—
(6) प्राक्तनम्
प्राञ्च् ट्यु—अनुनासिक लोप, युवोरनाकौ।

(1530) कन्थायाष्ठक् *102* (1322)

कन्थाशब्दाट्ठक् प्रत्ययो भवति शैषिकः। कान्थिकः।

अर्थ—कन्था प्रातिपदिक से शैषिक ठक् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) कान्थिकः
कन्था ठक् → कान्थ् इक—विभक्तिकार्य।

(1531) वर्णौ वुक् *103* (1323)

कन्थाया इत्येव। वर्णौ या कन्था तस्या वुक् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ठकोऽपवादः। वर्णुर्नाम नदः, तत्समीपो देशो वर्णुः। तद्विषयार्थवाचिनः कन्थाशब्दादयं प्रत्ययः। तथाहि–जातं हिमवत्सु कान्थकम्।

अर्थ—वर्णविषयक कन्था प्रातिपदिक से शैषिक वुक् होता है। यह ठक् का अपवाद है।

उदा० (1) कान्थकम्
कन्था वुक्—युवोरनाकौ।

(1532) अव्ययात्त्यप् *104* (1324)

अव्ययात् त्यप् प्रत्ययो भवति शैषिकः।

अमेहक्वतसित्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः।
निनिर्भ्यां ध्रुवगत्योश्च प्रवेशो नियमे तथा॥
(म० भा०)

अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। इतस्त्य। तत्रत्यः। यत्रत्यः। परिगणनं किम्? औपरिष्टः। पौरस्तः। पारस्तः। वृद्धात्तु छो भवति–आरातीयः। *त्यब्नेर्ध्रुवे* (म० भा०)। नियतं ध्रुवम्–नित्यम्। *निसो गते* (म० भा०)। निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ट्यश्चाण्डालादिः। *आविसश्छन्दसि* (संग्रहवार्त्तिक)। आविस् शब्दाच्छन्दसि त्यप् प्रत्ययो भवति। आविष्ट्यो वर्द्धते चारुरासु (ऋ० 1.95.5)। *अरण्याण्णो वक्तव्यः* (म० भा०)। आरण्याः सुमनसः। *दूरादेत्यः* (म० भा०)। दूरेत्यः पथिकः। *उत्तरादाहञ्* (म० भा०)। औत्तराहम्।

अर्थ—अव्यय से शैषिक 'त्यप्' प्रत्यय होता है। निम्नलिखित कारिका में अव्यय शब्दों का परिगणन किया गया है—

अमा, इह, क्व, तसिप्रत्ययान्त तथा त्रप्रत्ययान्त अव्ययों से ही 'त्यप्' होता है। 'नि' से ध्रुव अर्थ में तथा 'निस्' से गति अर्थ में 'त्यप्' होता है।

उदा॰ (1) अमात्यः
अमा त्यप्।

(2) इहत्यः
इह त्यप्।

(3) क्वत्यः
क्व त्यप्।

(4) इतस्त्यः
इतस् त्यप्।

(5) तत्रत्यः
तत्र त्यप्।

(6) यत्रत्यः
यत्र त्यप्।

(7) औपरिष्टः
उपरिष्टात् अण्—कारिका में परिगणित न होने से 'त्यप्' नहीं हुआ, 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः॰' (वा॰),
औपरिष्ट् अ सु—विभक्तिकार्य।

(8) पौरस्तः
पुरस्तात् अण्—पूर्ववत्।

(9) पारस्तः
परस्तात् अण्।

(10) आरातीय:
आरात् छ—'वृद्धाच्छः' से 'छ' हुआ।

त्यब्नेर्ध्रुवे—नियत वस्तु वाच्य हो तो 'नि' से 'त्यप्' होता है—

(11) नित्यः
नि त्यप् सु।

निसो गते—गत अर्थ में 'निस्' से 'त्यप्' होता है—

(12) निष्ट्यः
निस् त्यप् सु—मूर्धन्यादेश, ष्टुना ष्टुः।

आविसश्छन्दसि—वेद में 'आविस्' से 'त्यप्' होता है—

(13) आविष्ट्यः
आविस् त्यप् सु।

अरण्याण्णो॰—अरण्य शब्द से 'ण' होता है—

(14) आरण्याः सुमनसः
अरण्य ण → आरण्य—आदिवृद्धि, चुटू,
आरण्य जस्—प्रथमा बहुवचन।

दूरादेत्य—दूर शब्द से 'एत्य' होता है—

(15) दूरेत्यः
दूर एत्य सु।

उत्तरादाहञ्—उत्तर शब्द से 'आहञ्' होता है—

(16) औत्तराहम्
उत्तर आहञ्—आदिवृद्धि, सु।

(1533) ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् *105* (1326)

ऐषमस्, ह्यस्, श्वस् इत्येतेभ्योऽन्यतरस्यां त्यप् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ऐषमस्त्यम्, ऐषमस्तनम्। ह्यस्त्यम्, ह्यस्तनम्। श्वस्त्यम्, श्वस्तनम्। 'श्वसस्तुट् च' (4.3.15) इति ठञपि तृतीयो भवति-शौवस्तिकम्।

अर्थ—ऐषमस्, ह्यस् तथा श्वस् प्रातिपदिकों से शैषिक 'त्यप्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा॰ (1) ऐषमस्त्यम्
ऐषमस् त्यप् सु।

(2) ऐषमस्तनम्
पक्ष में 'सायंचिरं॰' से ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं।

(3) ह्यस्त्यम्
ह्यस् त्यप्।

(4) ह्यस्तनम्
पक्ष में 'ट्यु'।

(5) श्वस्त्यम्
त्यप् हुआ।

(6) श्वस्तनम्
ट्यु हुआ।

(7) शौवस्तिकम्
श्वस् ठञ्—'श्वसस्तुट् च' से 'ठञ्' प्रत्यय, तुट् आगम,
शौवस् त् इक → शौवस्तिकम्—सु।

(1534) तीररूप्योत्तरपदादञ्ञौ *106* (1327)

तीरोत्तरपदाद् रूप्योत्तरपदाच्च प्रातिपदिकाद्यथासंख्यमञ्

ञ इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ। अणोऽपवादौ। काकतीरम्। पाल्वलतीरम्। रूप्योत्तरपदात्–वार्करूप्यम्, शैवरूप्यम्। तीररूप्यान्तादिति नोक्तम्, बहुच्प्रत्ययपूर्वान् मा भूदिति–बाहुरूप्यम्। अणेव भवति।

अर्थ—तीर तथा रूप्य शब्दों के उत्तरपद रहते प्रातिपदिकसंज्ञक शब्द से यथासंख्य करके 'अञ्' व 'ञ' शैषिक प्रत्यय होते हैं। ये अण् के अपवाद हैं।

उदा० (1) काकतीरम्
काकतीरे भवम् → काकतीर अञ्—सु आदि।

(2) पाल्वलतीरम्
पल्वलतीर अञ्।

(3) वार्करूप्यम्
वृकरूप्य ञ—आदिवृद्धि, सु।

(4) शैवरूप्यम्
शिवरूप्य ञ—पूर्ववत्।

तीररूप्या० अर्थात् तीर तथा रूप्य शब्दों के उत्तर पद रहते पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं। तब पूर्वपद में 'बहुच्' प्रत्यय के रहते ये प्रत्यय नहीं होते—

(5) बाहुरूप्यम्
बहुरूप्य अण्—आदिवृद्धि।

(1535) दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः *107* (1328)

असंज्ञायामिति प्रकृतिविशेषणम्। दिक्पूर्वपदात्प्रातिपदिकादसंज्ञाविषयाद् ञः प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। पौर्वशालः। दाक्षिणशालः। आपरशालः। असंज्ञायामिति किम्? पूर्वैषुकामशमः, अपरैषुकामशमः। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (2.1.50) इति समासः, 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' (7.3.14) इत्युत्तरपदवृद्धिः। पदग्रहणं स्वरूपविधिनिरासार्थम्।

अर्थ—संज्ञा के विषय को छोड़कर अन्यत्र दिशावाची शब्द के पूर्वपद में रहते प्रातिपदिक से शैषिक 'ञ' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) पौर्वशालः
पूर्वस्यां शालायां भवः—समास हुआ,
पूर्वशाला ञ—आदिवृद्धि, सु।

(2) दाक्षिणशालः
दक्षिणशाला ञ।

(3) आपरशालः
अपरशाला ञ।

असञ्ज्ञा० अर्थात् संज्ञा के विषय को छोड़कर 'ञ' होता है—

(4) पूर्वेषुकामशमः
'दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम्' से समास हुआ, 'ञ' नहीं हुआ। 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' से उत्तरपद वृद्धि हुई। स्वरूपविधि के निरास के लिए 'पद' का ग्रहण है।

(1536) मद्रेभ्योऽञ् *108* (1329)

दिक्पूर्वपदादित्येव। दिक्पूर्वपदान्मद्रशब्दादञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। पौर्वमद्रः। आपरमद्रः। 'दिशो मद्राणाम्' (7.3.13) इति पर्युदासादादिवृद्धिरेव।

अर्थ—दिशावाची शब्द के पूर्व पद में रहते तथा मद्र शब्द के उत्तर पद में रहते प्रातिपदिकसंज्ञक शब्द से शैषिक 'अञ्' होता है।

उदा० (1) पौर्वमद्रः
पूर्वेषु मद्रेषु भवः → पूर्वमद्र अञ्—आदिवृद्धि,
पौर्वमद्रः—सु।

(2) आपरमद्रः (पूर्ववत्)।

'दिशो मद्राणाम्' से पर्युदास-निषेध के कारण आदिवृद्धि होती है।

(1537) उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात् *109* (1330)

दिग्ग्रहणं निवृत्तम्। उदीच्यग्रामवाचिनः प्रातिपदिकाद् बह्वचोऽन्तोदात्ताद् अञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। शैवपुरम्। माण्डवपुरम्। उदीच्यग्रामादिति किम्? माथुरम्। बह्वच इति किम्? ध्वजी, ध्वाजम्। अन्तोदात्तादिति किम्? शार्करीधानम्। शर्करीधानशब्दे लित्स्वरेण धानशब्द उदात्तः।

अर्थ—अन्तोदात्त, अनेकाच्, उदीच्य ग्रामवाची प्रातिपदिक से शैषिक अञ् होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) शैवपुरम्
शिवपुरे भवम्—अञ्, आदिवृद्धि।

(2) माण्डवपुरम् (पूर्ववत्)।

उदीच्य—अर्थात् उदीच्य ग्रामवाची शब्द से ही 'अञ्' होता है—

(3) माथुरम्
मथुरायां भवम्—अञ् नहीं हुआ, अण् हुआ।

बह्वच अर्थात् अनेकाच् प्रातिपदिक से ही 'अञ्' होता है—

(4) ध्वाजम्
ध्वजी अण्—अञ् नहीं हुआ।

अन्तोदात्ता० अर्थात् अन्तोदात्त प्रातिपदिक से ही 'अञ्' होता है—

(5) शार्करीधानम्
शर्करीधान अण्—अञ् नहीं हुआ।
शर्करीधान शब्द में लित् स्वर से धा शब्द उदात्त होता है।

(1538) प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण् *110* (1331)

प्रस्थोत्तरपदात् पलद्यादिभ्यः ककारोपधाच्च प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। उदीच्यग्रामलक्षणस्याञोऽपवादः। माद्रीप्रस्थः। माहकीप्रस्थः। पलद्यादिभ्यः- पालदः, पारिषदः। ककारोपधात्-नैलीनकः, चैयातकः। पलद्यादिषु यो वाहीकग्रामस्ततष्ठञ्ञिठयोरपवादः। यथा- गौष्ठी, नैतकीति। गोमतीशब्दः पठ्यते, ततो 'रोपधेतोः प्राचाम्' (4.2.123) इति वुञोऽपवादः। वाहीकशब्दः कोपधोऽपि पुनः पठ्यते, परं छं (4.2.114) बाधितुम्। अण्ग्रहणं बाधकबाधनार्थम्। पलदी। परिषत्। यकृल्लोमन्। रोमक। कालकूट। पटच्चर। वाहीक। कलकीट। मलकीट। कमलकीट। कमलभिदा। कमलकीर। बाहुकीट। नैतकी। परिखा। शूरसेन। गोमती। उदयान-पलद्यादिः।

अर्थ—'प्रस्थ' शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से, पलद्यादि शब्दों से तथा ककार है उपधा में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है। यह उदीच्य ग्रामलक्षण अञ् का अपवाद है।

उदा० (क) प्रस्थोत्तरपदात्—
(1) माद्रीप्रस्थः
माद्रीप्रस्थे भवः—अण्, सु आदि।

(2) माहकीप्रस्थः (पूर्ववत्)।

(ख) पलद्यादिभ्यः—
(3) पालदः
पलदी अण्—आदिवृद्धि।

(4) पारिषदः
परिषद् अण्—पूर्ववत्।

(ग) ककारोपधात्—
(5) नैलीनकः
निलीनक अण्।

(6) चैयातकः
चियातक अण्।
पलद्यादि में जो वाहीक ग्राम है, उससे ठञ् तथा ञिठ का अपवाद है।

(7) गौष्ठी
गोष्ठ अण्—स्त्रीत्व में टिड्ढाऽण्०' से ङीप्।

गोमती०—गोमती शब्द का पाठ मिलता है। उससे 'रोपधेतोः प्राचाम्' से प्राप्त वुञ् का यह अपवाद है। वाहीक शब्द का कोपध में पाठ भी है, परकार्य 'छ' के बाध के लिए। बाधक के बाध के लिए अण् का ग्रहण किया गया है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1539) कण्वादिभ्यो गोत्रे *111* (1332)

गोत्रमिह न प्रत्ययार्थो न च प्रकृतिविशेषणम्। तर्ह्येवं सम्बध्यते-कण्वादिभ्यो गोत्रे यः प्रत्ययो विहितस्तदन्तेभ्य एवाण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। छस्यापवादः। काण्वाश्छात्राः। गौकक्षाः।

अर्थ—यहाँ गोत्र शब्द न तो प्रत्ययार्थ है, न ही प्रकृति का विशेषण है। तब भी इसका सम्बन्ध है। कण्वादि गणपठित शब्दों से गोत्रापत्य में विहित जो प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से शैषिक अण् होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) काण्वाश्छात्राः
कण्व यञ्—'गर्गादिभ्यो यञ्',
काण्व्य अण्—प्रकृत सूत्र से,
काण्व्य् अ—अन्त्य लोप, 'आपत्यस्य च०' से यकारलोप,
काण्व जस्—प्रथमा बहुवचन।

(2) गौकक्षाः (पूर्ववत्)।

(1540) इञश्च *112* (1333)

गोत्र इत्येव। गोत्रे य इञ् विहितस्तदन्तात्प्रातिपदिकादण्

प्रत्ययो भवति शैषिकः । छस्यापवादः । दाक्षाः । प्लाक्षाः । माहकाः । गोत्र इत्येव-सौतङ्गमेरिदं सौतङ्गमीयम् ।

अर्थ—गोत्रापत्य अर्थ में विहित जो इञ् प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से शैषिक 'अण्' होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) दाक्षाः
दक्षस्य गोत्राऽपत्यम्—'अत इञ्' से,
दाक्षेश्छात्राः—अण्,
दाक्ष् अ जस्—पूर्ववत्।

(2) प्लाक्षाः
प्लाक्षि अण्—पूर्ववत्।

(3) माहकाः (पूर्ववत्)।

गोत्र—अर्थात् गोत्रप्रत्ययान्त से ही 'अण्' होता है—

(4) सौतङ्गमीयम्
सुतङ्गम इञ् → सौतङ्गमिः
सौतङ्गमेरिदम्—अण् नहीं हुआ, 'छ' हुआ,
सौतङ्गम् ईय सु—ईयादेश।

(1541) न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु *113* (1334)

द्व्यचः प्रातिपदिकात्प्राच्यभरतगोत्रादिञन्तादण् प्रत्ययो न भवति। पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते। पैङ्गीयाः। प्रौष्ठीयाः। चैदीयाः। पौष्कीयाः। काशीयाः। पाशीयाः। द्व्यच इति किम्? पान्नागाराः। प्राच्यभरतेष्विति किम्? दाक्षाः। काशीया इति कथमुदाहृतम्, यावता काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठाभ्यां (4.2.116) भवितव्यम्? नैतदस्ति। देशवाचिनः काशिशब्दस्य तत्र ग्रहणम्, चैदिशब्देन साहचर्यात्। गोत्रात्तु वृद्धाच्छ (4.2.114) एव भवति। ज्ञापकादन्यत्र प्राच्यग्रहणेन भरतग्रहणं न भवतीति स्वशब्देन भरतानामुपादानं कृतम्।

अर्थ—दो अच् वाले प्रातिपदिक, प्राच्यभरत गोत्रवाची तथा इञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से शैषिक 'अण्' का निषेध होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा प्राप्त अण् का निषेध किया जाता है।

उदा० (1) चैदीयाः
चेदस्याऽपत्यम् → चैदिः
चैदेश्छात्राः—वृद्धाच्छः।

(2) पौष्टकीयाः (पूर्ववत्)।

(3) काशीयाः (पूर्ववत्)।

द्व्यचः—अर्थात् दो अच् वाले प्रातिपदिक से प्रत्यय का निषेध होता है—

(4) पान्नागाराः
पान्नागारि अण्—निषेध नहीं हुआ।

प्राच्यभरत अर्थात् प्राच्यभरत गोत्रवाची प्रातिपदिक से प्रत्यय का निषेध होता है—

(5) दाक्षाः
दाक्षि अण्—जस् में रूप बनता है।

काशीया—काश्यादि से ठञ् और ञिठ् होने चाहिए। अतः काशीयाः उदाहरण कैसे है? ऐसा नहीं है। चैदि शब्द के साहचर्य से देशवाची काशि शब्द का भी वहाँ ग्रहण है। गोत्र से तो 'वृद्धाच्छः' से 'छ' ही होता है। ज्ञापक से अन्यत्र प्राच्य के ग्रहण करने से भरत का ग्रहण नहीं होता—इस प्रकार 'स्व' शब्द के द्वारा भरतों का भी उपादान किया गया है।

(1542) वृद्धाच्छः *114* (1337)

गोत्र इति नानुवर्त्तते। सामान्येन विधानम्। वृद्धात्प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। गार्गीयः। वात्सीयः। शालीयः। मालीयः। अव्ययतीररूप्योत्तरपदोदीच्यग्रामकोपधविधींस्तु (4.2.104,106, 109, 110) परत्वाद् बाधते।

अर्थ—'गोत्र' पद का अनुवर्तन नहीं है। सामान्य रूप से विधान है। वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) गार्गीयः
गार्गी छ—'वृद्धिर्यस्याचामा०' से वृद्धसंज्ञा,
गार्ग् ईय सु—ईयादेश।

(2) वात्सीयः (पूर्ववत्)।

(3) शालीयः (पूर्ववत्)।

पर होने के कारण यह अव्यय, तीररूप्योत्तरपद, उदीच्यग्राम तथा कोपध—इन सभी विधियों का बाध करता है।

(1543) भवतष्ठक्छसौ *115* (1339)

वृद्धादित्येव। भवच्छब्दाद् वृद्धात् ठक्छसौ इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ। छस्यापवादौ। सकारः पदसंज्ञार्थः। भवतस्त्यदादित्वाद् वृद्धसंज्ञा। भावत्कः। भवदीयः। अवृद्धात्तु भवतः शतुरणेव भवति-भावतः।

अर्थ—वृद्धसंज्ञक 'भवत्' प्रातिपदिक से शैषिक ठक् व छस् प्रत्यय होते हैं। यह 'छ' का अपवाद है। 'स्' अनुबन्ध पद-संज्ञा के लिए है। 'भवत्' की त्यदादि गण में पाठ होने से वृद्ध-संज्ञा होती है।

उदा० (1) भावत्कः
भवत् ठक्—'इसुसुक्तान्ता०' से 'क',
भावत् क सु—किति च।

(2) भवदीयः
भवत् छस्—ईयादेश।

शतृ प्रत्ययान्त 'भवत्' शब्द जो वृद्धसंज्ञक नहीं है, से 'अण्' ही होता है। यथा—

(3) भावतः
भवत् अण्—आदिवृद्धि।

(1544) काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ *116* (1340)

काशि इत्येवमादिभ्यष्ठञ् ञिठ इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ। इकार उच्चारणार्थः। ञकार एवोभयत्र विपर्यस्तदेशोऽनुबन्धः। स्त्रीप्रत्यये विशेषः। काशिकी, काशिका। बैदिकी, बैदिका। वृद्धादित्यत्रानुवर्त्तते, ये त्ववृद्धाः पठ्यन्ते वचनप्रामाण्यात्तेभ्यः प्रत्ययविधिः। देवदत्तशब्दः पठ्यते, तस्य 'एङ् प्राचां देशे' (1.1.75) इति वृद्धसंज्ञा–दैवदत्तिकः। वाहीकग्रामस्य तु नास्ति वृद्धसंज्ञा–दैवदत्तः। कथं भाष्य उदाहृतम् 'वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वेदितव्या, देवदत्तीया दैवदत्ताः' इति, यावता वृद्धसंज्ञापक्षे काश्यादित्वाट्ठञ्ञिठाभ्यां भवितव्यम्? तत्रैवं वर्णयन्ति 'वा नामधेयस्य' इति व्यवस्थितविभाषेयम्, सा छे कर्त्तव्ये भवति ठञ्ञिठयोर्न भवतीति। काशि। चेदि। संज्ञा। संवाह। अच्युत। मोहमान। शकुलाद। हस्तिकर्षू। कुदामन्। हिरण्य। करण। गोधाशन। भौरिकि। भौलिङ्गि। अरिन्दम। सर्वमित्र। देवदत्त। साधुमित्र। दासमित्र। दासग्राम। सौधावतान। युवराज। उपराज। सिन्धुमित्र। देवराज। *आपदादिपूर्वपदात्कालात्* (ग०सू० 96)। आपत्कालिकी, आपत्कालिका। और्ध्वकालिकी, और्ध्व-कालिका। तात्कालिकी, तात्कालिका।

अर्थ—काशी आदि प्रातिपदिकों से शैषिक ठञ् तथा ञिठ् प्रत्यय पर्यायेण होते हैं। इकार उच्चारणार्थ है। 'ञ्' अनुबन्ध दोनों प्रकार से समान प्रयोजन सिद्ध करता है, परन्तु इसका विपर्यस्त प्रयोग स्त्री प्रत्यय में विशेष है। ('ठञ्' प्रत्ययान्त से 'ङीप्' होता है।)

उदा० (1) काशिकी
काश्यां भवा → काशि ठञ्—ठस्येकः,
काशिकी—ङीप्, सु।

(2) काशिका
ञिठ् हुआ, टाप् हुआ।

(3) वैदिकी
पूर्ववत् ङीप् आदि।

(4) वैदिका
ञिठ्, टाप्।

वृद्धादि०—'वृद्धात्' का यहाँ अनुवर्त्तन है। जो यहाँ अवृद्धसंज्ञक पठित हैं, वचनप्रामाण्य से उनसे प्रत्ययविधि होती है। यहाँ 'देवदत्त' शब्द का पाठ है। 'एङ् प्राचां देशे' से वृद्धसंज्ञा होती है।

(5) दैवदत्तिकः
देवदत्त ठञ्।
वाहीकग्राम की वृद्धसंज्ञा नहीं होती है।

(6) दैवदत्तः
अण् हुआ।

कथं—भाष्य में 'वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वेदितव्या देवदत्तीया दैवदत्ता'—इस प्रकार उदाहरण कैसे दिया गया है। जबकि वृद्धसंज्ञापक्ष में काश्यादि में पाठ होने से ठञ् व ञिठ् होने चाहिए। वहाँ पर ही कहा जा रहा है—वा नामधेयस्य०। यह व्यवस्थित विभाषा है। 'छ' करने पर वह होती है। ठञ् व ञिठ् में नहीं होती है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

आपदादि०—आपद् आदि शब्द है पूर्वपद में जिसके तथा काल शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ठञ् और ञिठ् प्रत्यय होते हैं—

(7) आपत्कालिकी
आपत् काल ठञ् ङीप्—विभक्तिकार्य।

(8) तात्कालिका
तत्काल ञिठ्—आदिवृद्धि, टाप्, सु।

(1545) वाहीकग्रामेभ्यश्च *117* (1341)

वृद्धादित्येव। वाहीकग्रामवाचिभ्यो वृद्धेभ्यष्ठञ्ञिठौ

प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ। छस्यापवादौ। शाकलिकी, शाकलिका। मान्थविकी, मान्थविका।

अर्थ—वृद्धसंज्ञक वाहीक ग्रामवाची प्रातिपदिकों से ठञ् और ञिठ् शैषिक प्रत्यय होते हैं। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) शाकलिकी
शाकल ठञ् ङीप्।

(2) शाकलिका
ञिठ् व टाप्।

(3) मान्थविकी
ठञ् व ङीप्।

(4) मान्थविका
ञिठ्, टाप्, सु।

(1546) विभाषोशीनरेषु *118* (1342)

वृद्धादिति वर्तते, वाहीकग्रामेभ्य इति च। उशीनरेषु ये वाहीकग्रामास्तद्वाचिभ्यो वृद्धेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विभाषा ठञ्ञिठौ प्रत्ययौ भवतः। आह्वजालिकी, आह्वजालिका, आह्वजालीया। सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, सौदर्शनीया।

अर्थ—उशीनर देश में वाहीक ग्रामवाची वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से विकल्प से ठञ् व ञिठ् प्रत्यय होते हैं, शैषिक अर्थों में। पक्ष में 'वृद्धाच्छः' से 'छ' होता है।

उदा० (1) आह्वजालिकी
ठञ् व ङीप्।

(2) आह्वजालीया
पक्ष में 'छ', टाप्।

(3) आह्वजालिका
ञिठ्, टाप्।

(4) सौदर्शनिकी
सुदर्शन ठञ् ङीप्।

(5) सौदर्शनिका
ञिठ्, टाप्।

(6) सौदर्शनीया
सुदर्शन छ—पक्ष में 'छ', ईयादेश, स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ है।

(1547) ओर्देशे ठञ् *119* (1343)

वृद्धादिति नानुवर्त्तते, उत्तरसूत्रे पुनर्वृद्धग्रहणात्। उवर्णान्ताद् देशवाचिनः प्रातिपदिकात् ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। नैषादकर्षुकः। शाबरजम्बुकः। देश इति किम्? पटोश्छात्राः पाटवाः। ठञ्ञिठयोः प्रकरणे ठञः केवलस्यानुवृत्तिर्न लभ्यत इति ठञ्ग्रहणं कृतम्।

अर्थ—'वृद्धात्' की अनुवृत्ति नहीं है। उत्तर सूत्र में पुनः 'वृद्ध' शब्द का ग्रहण किया गया है। उवर्णान्त देशवाची प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

उदा० (1) नैषादकर्षुकः
निषादकर्षु ठञ्—इसुसुक्तान्ता०,
नैषादकर्षुकः—आदिवृद्धि, सु।

(2) शाबरजम्बुकः
शबरजम्बु ठञ्—पूर्ववत्।

देश इति अर्थात् देशवाची प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है—

(3) पाटवाः
पटोश्छात्राः—यहाँ 'ठञ्' नहीं हुआ।

पूर्वशास्त्र से ठञ् और ञिठ् दोनों का अनुवर्त्तन हो रहा है। अतः (ञिठ् की निवृत्ति के लिए) पुनः ठञ् का पाठ किया गया है।

(1548) वृद्धात् प्राचाम् *120* (1344)

ओर्देश इत्येव। उवर्णान्ताद् वृद्धात् प्राग्देशवाचिनः प्रातिपदिकाट्ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। आढकजम्बुकः। शाकजम्बुकः। नापितवास्तुकः (म० भा०)। पूर्वेणैव ठञि सिद्धे नियमार्थं वचनम्-वृद्धादेव प्राचामवृद्धान्न भवतीति। मल्लवास्तु, माल्लवास्तवः।

अर्थ—'ओर्देशे' का अनुवर्त्तन है। वृद्धसंज्ञक, उवर्णान्त प्राग्देशवाची प्रातिपदिक से 'ठञ्' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

उदा० (1) आढकजम्बुकः (पूर्ववत्)।
(2) शाकजम्बुकः (पूर्ववत्)।
(3) नापितवास्तुकः (पूर्ववत्)।

पूर्वसूत्र के द्वारा यहाँ सिद्ध ही था। तब नियम करने के लिए यह विधान किया जा रहा है कि वृद्धसंज्ञक प्राग्देशवाची से ही ठञ् होता है; अवृद्धसंज्ञक से नहीं होता। यथा—

(4) माल्लवास्तवः
मल्लवास्तु अण्—ठञ् नहीं हुआ।

(1549) धन्वयोपधाद् वुञ् *121* (1345)

वृद्धादिति वर्तते, देश इति च। धन्ववाचिनो यकारोपधाच्च देशाभिधायिनो वृद्धात् प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। धन्वशब्दो मरुदेशवचनः। पारेधन्वकः। ऐरावतकः। योपधात्–साङ्काश्यकः (म० भा०), काम्पिल्यकः।

अर्थ—वृद्धात्, देशे—इन पदों का अनुवर्त्तन है। देशाभिधायी धन्ववाची तथा योपध वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'वुञ्' होता है।

उदा० (1) पारेधन्वकः
पारेधन्व वुञ्—युवोरनाकौ।
(2) ऐरावतकः (पूर्ववत्)।
(3) साङ्काश्यकः
साङ्काश्य वुञ्।
(4) काम्पिल्यकः (पूर्ववत्)।

(1550) प्रस्थपुरवहान्ताच्च *122* (1346)

वृद्धादिति वर्त्तते, देश इति च। अन्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। प्रस्थ, पुर, वह–इत्येवमन्ताद् देशवाचिनः प्रातिपदिकाद् वृद्धाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। छस्यापवादः। मालाप्रस्थकः। नान्दीपुरकः (म० भा०)। कान्तीपुरकः। पैलुवहकः। फाल्गुनीवहकः। पुरान्तो रोपधः, तत उत्तरसूत्रेणैव सिद्धमप्रागर्थमिह ग्रहणम्।

अर्थ—वृद्धात्, देशे—इनका अनुवर्त्तन है। 'अन्त' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। प्रस्थ, पुर तथा वह शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे देशवाची, वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में वुञ् होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) मालाप्रस्थकः
मालाप्रस्थ वुञ्।
(2) नान्दीपुरकः
नन्दीपुर वुञ्।
(3) पैलुवहकः
पीलुवह वुञ्।
(4) फाल्गुनीवहकः
फल्गुनीवह वुञ्।

'पुर' शब्द जिसके अन्त में है, उस प्रातिपदिक से रोपध होने से अगले सूत्र के द्वारा ही प्रत्यय सिद्ध है। तब यहाँ प्राग्देशीय से अतिरिक्त के लिए 'पुर' का ग्रहण किया गया है।

(1551) रोपधेतोः प्राचाम् *123* (1347)

वृद्धादिति वर्त्तते, देश इति च। तद्विशेषणं प्राग्ग्रहणम्। रोपधादीकारान्ताच्च प्राग्देशवाचिनो वृद्धाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। छस्यापवादः। पाटलिपुत्रकाः। ऐकचक्रकाः। ईतः खल्वपि–काकन्दी, काकन्दकः, माकन्दी, माकन्दकः। प्राचामिमि किम्? दात्तामित्रीयः। तपरकरणं विस्पष्टार्थम्।

अर्थ—वृद्धात्, देशे—इनका अनुवर्त्तन है। उसके विशेषण के रूप में 'प्राक्' का ग्रहण किया गया है। प्राग्देशवाची, रेफ उपधा वाले तथा ईकारान्त वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'वुञ्' होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) पाटलिपुत्रकाः
पाटलिपुत्र वुञ्—प्रथमा बहुवचन।
(2) ऐकचक्रकाः
एकचक्रका वुञ्—पूर्ववत्।
(3) काकन्दकः
काकन्दी वुञ्।
(4) माकन्दकः
माकन्दी वुञ्।

प्राचामि० अर्थात् प्राग्देशीय प्रातिपदिक से 'वुञ्' होता है—
(5) दात्तामित्रीयः
दत्तामित्र छ—वुञ् नहीं हुआ, 'छ' हुआ।
'इतः' में तपरकरण स्पष्टता के लिए है।

(1552) जनपदतदवध्योश्च *124* (1348)

वृद्धादिति वर्त्तते, देश इति च। तद्विशेषणं जनपदतदवधी। वृद्धाज्जनपदवाचिनस्तदवधिवाचिनश्च प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। छस्यापवादः। आभिसारकः। आदर्शकः। जनपदावधेः खल्वपि–औपुष्टकः, श्यामायनकः। तदवधेरपि जनपद एव गृह्यते, न ग्रामः। किमर्थं तर्हि ग्रहणम्? बाधकबाधनार्थम्। गर्त्तोत्तरपदाच्छं बाधित्वा वुञेव जनपदावधेर्भवति–त्रैगर्त्तकः।

अर्थ—वृद्धात्, देशे—इनकी अनुवृत्ति है। विशेषण के रूप में जनपद और तदवधि है। वृद्धसंज्ञक जनपदवाची तथा जनपद अवधि को कहने वाले प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में वुञ् होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) आभिसारकः
अभिसार वुञ्।

(2) आदर्शकः
आदर्श वुञ्।

(3) औपुष्टकः (पूर्ववत्)।

(4) श्यामायनकः
श्यामायन वुञ्।

तदवधि०—तदवधि से जनपद का ही ग्रहण होता है, ग्राम का नहीं। तब किसलिए ग्रहण किया गया है। (समा०) यह बाधक के बाध के लिए है। 'गर्त्त' शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से प्राप्त 'छ' का बाध करके जनपदावधि से वुञ् ही होता है।

(5) त्रैगर्त्तकः
त्रिगर्त्त वुञ्—आदिवृद्धि, युवोरनाकौ,
त्रैगर्त्तकः—सु।

(1553) अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् *125* (1349)

जनपदतदवध्योरित्येव। अवृद्धाद् वृद्धाच्च जनपदात्तदवधिवाचिनश्च बहुवचनविषयात्प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। अण्छयोरपवादः। अवृद्धाज्जनपदात्तावत्–अङ्गाः, बङ्गाः, कलिङ्गाः, आङ्गकः, बाङ्गकः, कालिङ्गकः। अवृद्धाज्जनपदावधेः–अजमीढाः, अजक्रन्दाः, आजमीढकः, आजक्रन्दकः। वृद्धाज्जनपदात्–दार्वाः, जाम्ब्वाः, दार्वकः, जाम्ब्वकः। वृद्धाज्जनपदावधेः–कालञ्जराः, वैकुलिशाः, कालञ्जरकः, वैकुलिशकः। विषयग्रहणमनन्यत्र भावार्थम्, जनपदैकशेषबहुत्वे मा भूत्–वर्त्तन्यः, वार्त्तनः। अपिग्रहणं किम्, यावता वृद्धात्पूर्वेणैव सिद्धम्? तक्रकौण्डिन्यन्यायेन बाधा मा विज्ञायीति समुच्चीयते।

अर्थ—जनपद व तदवधि—इनका अनुवर्त्तन नहीं है। वृद्धसंज्ञक तथा अवृद्ध—दोनों प्रकार के जनपदवाची व जनपदावधिवाची बहुवचनविषयक प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'वुञ्' होता है। यह अण् तथा छ प्रत्ययों का अपवाद है।

उदा० (1) आङ्गकः
अङ्ग वुञ्—आदिवृद्धि, युवोरनाकौ,
आङ्गक सु—सु हुआ।

(2) बाङ्गकः
बङ्ग वुञ्—पूर्ववत्।

(3) कालिङ्गकः
कलिङ्ग वुञ्।

(4) आजमीढकः
अजमीढ वुञ्—आदिवृद्धि।

(5) आजक्रन्दकः
अजक्रन्द वुञ्—पूर्ववत्।

(6) दार्वकः
दार्व वुञ्।

(7) जाम्ब्वकः
जाम्ब्व वुञ्।

(8) कालञ्जरकः
कालञ्जर वुञ्।

(9) वैकुलिशकः
वैकुलिश वुञ्।

विषय०—अन्यत्र भाव के लिए 'विषय' पद का ग्रहण है। जनपद के एकशेष बहुत्व की दशा में नहीं हो। यथा—

(10) वार्त्तनः
वर्त्तन्य अण्।

अपि०—'अपि' पद का ग्रहण किसलिए किया गया है। वृद्ध संज्ञक से पूर्व सूत्र से ही सिद्ध है। तक्रकौण्डिन्यन्याय से बाधा न हो—ऐसा समुच्चित किया जाता है।

(1554) कच्छाग्निवक्त्रगर्त्तोत्तरपदात् *126* (1350)

देश इत्येव। उत्तरपदशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। कच्छाद्युत्तरपदाद् देशवाचिनः प्रातिपदिकाच्च वृद्धादवृद्धाच्च वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। छाणोरपवादः। दारुकच्छकः। पैप्पलीकच्छकः। काण्डाग्नकः। वैभुजाग्नकः। ऐन्द्रवक्त्रकः। सैन्धुवक्त्रकः। बाहुगर्त्तकः। चाक्रगर्त्तकः।

अर्थ—'देशे' का अनुवर्त्तन है। 'उत्तरपद' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। वृद्धसंज्ञक तथा अवृद्धसंज्ञक—दोनों स्थितियों में देश में वर्त्तमान तथा जिनके उत्तरपद में कच्छ, अग्नि, वक्त्र तथा गर्त्त शब्द हैं, ऐसे प्रातिपदिकों से 'वुञ्' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। यह 'छ' और 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) दारुकच्छक:
दारुकच्छे जात:—वुञ् हुआ,

(2) पैप्पलीकच्छक:
पिप्पलीकच्छ वुञ्।

(3) काण्डाग्नक:
काण्डाग्नि वुञ्।

(4) वैभुजाग्नक:
विभुजाग्नि वुञ्।

(5) ऐन्द्रवक्त्रक:
इन्द्रवक्त्र वुञ्।

(6) सैन्धुवक्त्रक:
सिन्धुवक्त्र वुञ्।

(7) बाहुगर्त्तक:
बहुगर्त वुञ्।

(8) चाक्रगर्त्तक:
चक्रगर्त्त वुञ्।

(1555) धूमादिभ्यश्च *127* (1351)

धूमादिभ्यो देशवाचिभ्य: प्रातिपदिकेभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिक:। अणादेरपवाद:। धौमक:। खाण्डक:। पाथेयशब्द: पठ्यते, तस्य योपधत्वादेव वुञि सिद्धे सामर्थ्याददेशशार्थं ग्रहणम्, तथा विदेहानर्तशब्दयोर्जनपदलक्षणे वुञि सिद्धेऽदेशार्थ: पाठ:। विदेहानां क्षत्रियाणां स्वं वैदेहकम्। आनर्त्तकम्। समुद्रशब्द: पठ्यते, तस्य नावि मनुष्ये च वुञिष्यते–सामुद्रिका नौ:, सामुद्रको मनुष्य:। अन्यत्र न भवति–सामुद्रं जलमिति। धूम। खण्ड। शशादन। आर्जुनाद। दाण्डायनस्थली। माहकस्थली। घोषस्थली। माषस्थली। राजस्थली। राजगृह। सत्रासाह। भक्षास्थली। मद्रकूल। गर्त्तकूल। आञ्जीकूल। द्व्याहाव। त्र्याहाव। संहीय। वर्वर। वर्चगर्त्त। विदेह। आनर्त्त। माठर। पाथेय। घोष। शिष्य। मित्र। बल। आराज्ञी। धार्तराज्ञी। अवयात। तीर्थ। *कूलात् सौवीरेषु* (ग०सू० 97)। *समुद्रान्नावि मनुष्ये च* (ग०सू० 98)। कुक्षि। अन्तरीप। द्वीप। अरुण। उज्जयिनी। दक्षिणापथ। साकेत।

अर्थ—देशवाची धूमादि प्रातिपदिकों से वुञ् होता है, शैषिक अर्थों में। यह अण् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) धौमक:
धूमे जात:—आदिवृद्धि, अक आदेश।

(2) खाण्डक:
खण्ड वुञ्—पूर्ववत्।

पाथेय शब्द का पाठ है। इसके योपध होने से वुञ् सिद्ध होने पर देश से अतिरिक्त के लिए यह विधान किया गया है।

(3) वैदेहकम्
विदेहानां क्षत्रियाणां स्वम्—वुञ् हुआ।

(4) आनर्त्तकम्
पूर्ववत् वुञ्।

समुद्र शब्द का पाठ प्राप्त होता है। नाव तथा मनुष्य अर्थ में वुञ् होता है—

(5) सामुद्रिका नौ:
समुद्र वुञ् टाप् सु।

(6) सामुद्रको मनुष्य:
समुद्र वुञ्।

अन्य अर्थों में 'वुञ्' नहीं होता है—

(7) सामुद्रं जलम्
समुद्र अण्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1556) नगरात् कुत्सनप्रावीण्ययो: *128* (1352)

नगरशब्दाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिक: कुत्सने प्रावीण्ये च गम्यमाने। प्रत्ययार्थविशेषणं चैतत्–कुत्सने प्रावीण्ये च जातादौ प्रत्ययार्थ इति। कुत्सनं निन्दनम्। प्रावीण्यं नैपुण्यम्।

केनायं मुषित: पन्था गात्रे पक्ष्यालिधूसर:।

इह नगरे मनुष्येण सम्भाव्यत एतन्नागरकेण। चौरा हि नागरका भवन्ति।

केनेदं लिखितं चित्रं मनोनेत्रविकाशि यत्॥

इह नगरे मनुष्येण सम्भाव्यत एतन्नागरकेण। प्रवीणा हि नागरका भवन्ति। कुत्सनप्रावीण्ययोरिति किम्? नागरा ब्राह्मणा:। कत्र्यादिषु तु संज्ञाशब्देन साहचर्यात् संज्ञानगरं पठ्यते, तस्मिन् नागरेयकमिति प्रत्युदाहार्यम्।

अर्थ—निन्दा तथा निपुणता अर्थ गम्यमान हो तो 'नगर' प्रातिपदिक से 'वुञ्' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। यह प्रत्ययार्थ का विशेषण है।

(1) नागरकः
नगरे जातः—वुञ् हुआ।
नागरकः (कुत्सितो जनः)।
नागरकः (प्रवीणो जनः)।

कुत्सन० अर्थात् कुत्सन व प्रवीणता अर्थों में ही 'वुञ्' होता है—

(2) नागराः (ब्राह्मणाः)
यहाँ वुञ् नहीं हुआ। कत्रि आदि में संज्ञा शब्द द्वारा साहचर्य से संज्ञानगर का पाठ है। वहाँ 'नागरेयकम्' प्रत्युदाहरण होता है।

(1557) अरण्यान्मनुष्ये *129* (1353)

अरण्यशब्दाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिको मनुष्येऽभिधेये। औपसंख्यानिकस्य णस्यापवादः। आरण्यको मनुष्यः। *पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्* (म०भा०)। आरण्यकः पन्थाः। आरण्यकोऽध्यायः। आरण्यको न्यायः। आरण्यको विहारः। आरण्यको मनुष्यः। आरण्यको हस्ती। *वा गोमयेषु* (म०भा०)। आरण्यकाः, आरण्या गोमयाः। एतेष्विति किम्? आरण्याः पशवः।

अर्थ—'मनुष्य' अर्थ गम्यमान रहते 'अरण्य' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थ में वुञ् होता है। औपसंख्यानिक 'ण' का यह अपवाद है।

उदा० (1) आरण्यको मनुष्यः
अरण्य वुञ्, युवोरनाकौ,
आरण्यक सु—सु।

पथ्यध्याय०—पथिन्, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य तथा हस्तिन्—इन अर्थों में भी 'वुञ्' होता है—

(2) आरण्यकोऽध्यायः
इसी प्रकार आरण्यको न्यायः, आरण्यको विहारः, आरण्यको मनुष्यः, आरण्यको हस्ती।

वा गोमये०—'गोविकार' अर्थ गम्यमान हो तो 'वुञ्' विकल्प से होता है—

(3) आरण्यकाः (गोमयाः)
अरण्य वुञ्।

(4) आरण्याः (गोमयाः)
पक्ष में 'ण' हुआ।

एतेष्विति० अर्थात् पूर्वोक्त अर्थों में ही 'वुञ्' होता है—

(5) आरण्याः पशवः
वुञ् नहीं हुआ।

(1558) विभाषा कुरुयुगन्धराभ्याम् *130* (1354)

कुरु, युगन्धर इत्येताभ्यां विभाषा वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। कौरवकः। कौरवः। यौगन्धरकः। यौगन्धरः (म०भा०)। जनपदशब्दावेतौ, ताभ्याम् 'अवृद्धात्' अपीति नित्ये वुञि प्राप्ते विकल्प उच्यते। कुरुशब्दः कच्छादिष्वपि पठ्यते, तत्र वचनादणपि भविष्यति। पारिशेष्याद्युगन्धरार्था विभाषा, मनुष्यतत्स्थयोः (4.2.134) तु कुरुशब्दान्नित्य एव वुञ् प्रत्ययो भवति–कौरवको मनुष्यः, कौरवकमस्य हसितमिति (म०भा०)।

अर्थ—शैषिक अर्थों में देशवाची कुरु तथा युगन्धर प्रातिपदिकों से वुञ् प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) कौरवकः
कुरुषु जातः → कुरु वुञ्।
कौरवक सु—अवादेश।

(2) कौरवः
कुरु अण्—पक्ष में 'कच्छादिभ्यश्च' से 'अण्' हुआ,
कौरो अ सु—पूर्ववत्।

(3) यौगन्धरकः
युगन्धर वुञ्।

(4) यौगन्धरः
युगन्धर अण्।

जनपद०—ये दोनों जनपद शब्द हैं। इनसे अवृद्ध की दशा में भी नित्य 'वुञ्' प्राप्त होने पर विकल्प कहा गया है। 'कुरु' शब्द का कच्छादि गण में भी पाठ है। वहाँ वचनसामर्थ्य से 'अण्' भी होता है। पारिशेष्यात् युगन्धर के लिए विभाषा है। मनुष्य तथा तत्स्थ में तो कुरु शब्द से नित्य वुञ् प्रत्यय ही होता है।

(5) कौरवकः (मनुष्यः)
कुरु वुञ्।

(6) कौरवकम् अस्य हसितम्
वुञ्।

(1559) मद्रवृज्योः कन् *131* (1355)

मद्रवृजिशब्दाभ्यां कन् प्रत्ययो भवति शैषिकः। जनपदवुञोऽपवादः। मद्रेषु जातः मद्रकः। वृजिकः।

अर्थ—देशविशेष अर्थ गम्यमान हो तो मद्र तथा वृजि प्रातिपदिकों से 'कन्' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। जनपदलक्षण 'वुञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) मद्रकः
मद्रेषु जातः—'कन्' हुआ।

(2) वृजिकः
वृजि कन्।

(1560) कोपधादण् *132* (1356)

देश इत्येव। ककारोपधात् प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। जनपदवुञोऽपवादः। अन्यत्र जनपदं मुक्त्वा पूर्वेणैव कोपधादण् सिद्धम्। ऋषिकेषु जातः आर्षिकः। माहिषिकः। अण्ग्रहणमुवर्णान्तादपि स्यात्–इक्ष्वाकुषु जातः ऐक्ष्वाकः।

अर्थ—देशवाची कोपध (= ककार है उपधा में जिसके) प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। जनपदलक्षण 'वुञ्' का अपवाद है। अन्यत्र जनपद को छोड़कर पूर्व सूत्र के द्वारा कोपध से अण् सिद्ध है।

उदा० (1) आर्षिकः
ऋषिकेषु जातः—अण् हुआ, आदिवृद्धि, उरण् रपरः, आर्षिक सु—विभक्तिकार्य।

(2) माहिषिकः (पूर्ववत्)।

अण् ग्रहण से उवर्णान्त से भी होता है—

(3) ऐक्ष्वाकः
इक्ष्वाकुषु जातः—अण्, आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

(1561) कच्छादिभ्यश्च *133* (1357)

देश इत्येव। कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिभ्योऽण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। वुञादेरपवादः। काच्छः। सैन्धवः। वार्णवः। कच्छशब्दो न बहुवचनविषयः, तस्य मनुष्यतत्स्थयोर्वुञर्थः पाठः। विजापकशब्दः पठ्यते, तस्य कोपधत्वादेवाण् सिद्धे इह ग्रहणमुत्तरार्थम्। कच्छ। सिन्धु। वर्णु। गन्धार। मधुमत्। कम्बोज। कश्मीर। साल्व। कुरु। रङ्कु। अणु। खण्ड। द्वीप। अनूप। अजवाह। विजापक। कुलून–कच्छादिः।

अर्थ—देशवाची कच्छादि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में 'अण्' होता है। यह वुञ् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) काच्छः
कच्छ अण्।

(2) सैन्धवः
सिन्धु अण्।

(3) वार्णवः
वर्णु अण्।

कच्छ शब्द बहुवचन का विषय नहीं है। मनुष्य तथा तत्स्थ अर्थों में उससे वुञ् का पाठ है। विजापक शब्द का पाठ है। उसके कोपध होने से अण् के सिद्ध रहते उत्तर शास्त्र के लिए इसका ग्रहण है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1562) मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् *134* (1358)

कच्छादिभ्य इत्येव। मनुष्ये मनुष्यस्थे च जातादौ प्रत्ययार्थे कच्छादिभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। काच्छको मनुष्यः। काच्छकमस्य हसितं जल्पितम्। काच्छिका चूडा। सैन्धवको मनुष्यः। सैन्धवकमस्य हसितं जल्पितम्। सैन्धविका चूडा। मनुष्यतत्स्थयोरिति किम्? काच्छो गौः, सैन्धवो वार्णवः।

अर्थ—'कच्छादिभ्यः' का अनुवर्तन है। मनुष्य तथा मनुष्यस्थ अर्थ अभिधेय हो तो कच्छादि प्रातिपदिकों से वुञ् होता है। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) काच्छको (मनुष्यः)
कच्छ वुञ्—आदिवृद्धि।

(2) काच्छकम् (हसितम्)
पूर्ववत्।

(3) काच्छिका (चूडा)
पूर्ववत् वुञ्, स्त्रीत्व में टाप्।

(4) सैन्धवको मनुष्यः।
सिन्धु वुञ्।

(5) सैन्धवकम् (जल्पितम्)—पूर्ववत्।

(6) सैन्धविका (चूडा)
सैन्धवक टाप्।

मनुष्य० अर्थात् मनुष्य तथा मनुष्यस्थ अर्थ गम्यमान रहते प्रत्यय होता है—

(7) काच्छो गौः
कच्छ अण्—वुञ् नहीं हुआ।

(8) सैन्धवो वार्णवः
पूर्ववत् अण्।

(1563) अपदातौ साल्वात् *135* (1359)

साल्वशब्दः कच्छादिषु पठ्यते, ततः पूर्वेणैव मनुष्य-तत्स्थयोर्वुञि सिद्धे नियमार्थं वचनम्–अपदातावेव मनुष्ये मनुष्यस्थे साल्वशब्दाद् वुञ् प्रत्ययो भवति। साल्वको मनुष्यः। साल्वकमस्य हसितं जल्पितम्। अपदाताविति किम्? साल्वः पदातिर्व्रजति।

अर्थ—साल्व शब्द का कच्छादि गण में पाठ है। उससे पूर्व सूत्र के द्वारा मनुष्य और मनुष्यस्थ अर्थों में वुञ् के सिद्ध रहते नियम के लिए यह विधान है कि अपदाति में ही वुञ् होता है। 'पैरों से निरन्तर न चलने वाला' में मनुष्य व मनुष्यस्थ अर्थों में साल्व प्रातिपदिक से 'वुञ्' होता है।

उदा० (1) साल्वको मनुष्यः
वुञ् हुआ।

(2) साल्वकम् (हसितम्)
पूर्ववत्।

अपदाता० अर्थात् 'अपदाति' अर्थ में ही प्रत्यय होता है—

साल्वः पदातिर्व्रजति—यहाँ नहीं हुआ।

(1564) गोयवाग्वोश्च *136* (1360)

गवि यवाग्वां च जातादौ प्रत्ययार्थे साल्वशब्दाद् वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। कच्छाद्यणोऽपवादः। साल्वको गौः। साल्विका यवागूः। साल्वमन्यत्।

अर्थ—देशवाची साल्व शब्द से शैषिक अर्थों में वुञ् प्रत्यय होता है, गो तथा यवागू अभिधेय हो तो। यह कच्छादिलक्षण अण् का अपवाद है।

उदा० (1) साल्वको गौः
साल्व वुञ्।

(2) साल्विका यवागूः
वुञ, टाप्।

(3) साल्वमन्यत्
साल्व अण्।

(1565) गर्त्तोत्तरपदाच्छः *137* (1361)

देश इत्येव। गर्त्तोत्तरपदाद् देशवाचिनः प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। वाहीकग्रामलक्षणं तु प्रत्ययं परत्वाद् बाधते। वृकगर्त्तीयम्। शृगालगर्त्तीयम्। श्वाविद्गर्त्तीयम्। उत्तरपदग्रहणं बहुच्पूर्वनिरासार्थम्–बाहुगर्तम्।

अर्थ—उत्तरपद में है गर्त्त शब्द जिसके, ऐसे देशवाची प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। यह अण् का अपवाद है। वाहीक ग्रामलक्षण प्रत्यय पर होने से बाध करता है।

उदा० (1) वृकगर्त्तीयम्
वृकगर्त्त छ—'छ' हुआ,
वृकगर्त्त ईय सु—ईयादेश।

(2) शृगालगर्त्तीयम् (पूर्ववत्)।

(3) श्वाविद्गर्त्तीयम् (पूर्ववत्)।

उत्तरपद का ग्रहण किया गया है, ताकि बहुच् प्रत्ययपूर्वक गर्त्त शब्द से 'छ' न हो—

(4) बाहुगर्त्तम्—अण् हुआ।

(1566) गहादिभ्यश्च *138* (1362)

गह इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणञोरपवादः। गहीयः। अन्तःस्थीयः। देशाधिकारेऽपि सम्भवापेक्षं विशेषणम्, न सर्वेषाम्। *मध्यमध्यमं चाण् चरण* (ग०सू० 99) इति पठ्यते, तस्यायमर्थः–मध्यशब्दः प्रत्ययसन्नियोगेन मध्यममापद्यते–मध्यमीयाः। चरणे तु प्रत्ययार्थेऽण् भवति–माध्यमा इति। तदेतद्विशेष एव स्मर्यते, पृथिवीमध्यस्य मध्यमभावः, चरणसम्बन्धेन निवासलक्षणोऽणिति च (म०भा०)। *मुखपार्श्वतसोर्लोपश्च* (म०भा० 4.3.60 वा०)। मुखतीयम्। पार्श्वतीयम्। *कुग्जनस्य परस्य च*। जनकीयम्। परकीयम्। *देवस्य चेति वक्तव्यम्*। देवकीयम्। *वेणुकादिभ्यश्छण्वक्तव्यः*। आकृतिगणोऽयम्। वैणुकीयम्। वैत्रकीयम्। औत्तरपदकीयम्।

प्रास्थकीयम्। माध्यमकीयम्। गह। अन्तःस्थ। सम। विषम। *मध्यमध्यमं चाण्चरणे* (ग०सू० 99)। उत्तम। अङ्ग। बङ्ग। मगध। पूर्वपक्ष। अपरपक्ष। अधमशाख। उत्तमशाख। समानशाख। एकग्राम। एकवृक्ष। एकपलाश। इष्वग्र। इष्वन्दी। अवस्यन्दी। कामप्रस्थ। खाडायनि। कावेरणि। शैशिरि। शौङ्गि। आसुरि। आहिंसि। आमित्रि। व्याडि। वैदजि। भौजि। आढ्यश्वि। आनृशंसि। सौवि। पारकि। अग्निशर्मन्। देवशर्मन्। श्रौति। आरटकि। वाल्मीकि। क्षेमवृद्धिन्। उत्तर। अन्तर्। *मुखपार्श्वतसोर्लोपः* (ग०सू० 100)। *जनपरयोः कुक् च* (ग०सू० 101)। *देवस्य च* (ग०सू० 102)। *वेणुकादिभ्यश्छण्* (ग०सू० 103)। गहादिः।

अर्थ—गह आदि प्रातिपदिकों से 'छ' होता है शैषिक अर्थों में। यह अण् व अञ् का अपवाद है।

उदा० (1) गहीयः

गह छः → गह ईय सु।

(2) अन्तःस्थीयः

अन्तःस्थ छ—पूर्ववत्।

'देशे' इस अधिकार में भी सम्भव अपेक्षित विशेषण जानना चाहिए; सभी का नहीं। मध्य मध्यम चरण अर्थ में अण् होता है—ऐसा पाठ प्राप्त होता है। उसी का यह अर्थ है।

मध्य शब्द प्रत्यय के सन्नियोग से 'मध्यम' बन जाता है।

(3) मध्यमीयः

मध्यम छ—पूर्ववत्।

चरण प्रत्ययार्थ में अण् होता है।

(4) माध्यमा

मध्यम अण् टाप्।

चरणसम्बन्ध से निवासलक्षण अण् होता है।

मुखपार्श्व०—तसि प्रत्ययान्त मुख व पार्श्व शब्दों से 'छ' होता है तथा सलोप होता है—

(5) मुखतीयम्

मुखतस्—सलोप,

मुखत ईय—ईयादेश।

(6) पार्श्वतीयम्

पार्श्वतस् छ—सलोप, पूर्ववत्।

कुग्जन०—जन और पर शब्दों से 'छ' होता है तथा कुक् आगम होता है—

(7) जनकीयम्

जन कुक् छ—ईयादेश।

(8) परकीयम्

पर कुक् छ—पूर्ववत्।

देवस्य०—देव शब्द से 'छ' प्रत्यय तथा 'कुक्' आगम होता है—

(9) देवकीयम्

देव कुक् छ।

वेणुकादि०—वेणुक आदि शब्दों से 'छण्' प्रत्यय होता है तथा कुक् आगम होता है। यह आकृतिगण है।

(10) वैणुकीयम्

वेणु कुक् छण्—आदिवृद्धि, पूर्ववत्।

(11) वैत्रकीयम्

वेत्र कुक् छण्—पूर्ववत्।

(12) औत्तरपदकीयम्

उत्तरपद कुक् छण्।

(13) प्रास्थकीयम्

प्रस्थ कुक् छण्।

(14) माध्यंमकीयम्

मध्यम कुक् छण्।

(1567) प्राचां कटादेः *139* (1363)

देश इत्येव। तद्विशेषणं प्राग्ग्रहणम्। प्राग्देशवाचिनः कटादेः प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। कटनगरीयम्। कटघोषीयम्। कटपल्वलीयम्।

अर्थ—'प्राग्' शब्द का ग्रहण उसका विशेषण है। प्राग् देशवाची तथा कट शब्द है आदि में जिसके ऐसे प्रातिपदिक से 'छ' होता है, शैषिक अर्थों में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) कटनगरीयम्

कटनगर छ—ईयादेश।

(2) कटघोषीयम् (पूर्ववत्)।

(3) कटपल्लवीयम् (पूर्ववत्)।

(1568) राज्ञः क च *140* (1364)

असम्भवाद्देशाधिकारः, न विशेषणम्। राज्ञः ककार-

श्चान्तादेशो भवति छश्च प्रत्ययः। राजकीयम्। आदेशमात्रमिह विधेयम्, प्रत्ययस्तु 'वृद्धाच्छः' (4.2.114) इत्येव सिद्धः।

अर्थ—सम्भव न होने से 'देशे' का अधिकार नहीं है। राजन् शब्द से 'छ' प्रत्यय होता है तथा 'क' अन्तादेश होता है, शैषिक अर्थों में।

उदा० (1) राजकीयम्
राजन् छ → राजक ईय—ईयादेश,
राजकीय सु—सु हुआ।

यहाँ आदेशमात्र (अर्थात् ककार अन्तादेश) का विधान इष्ट था। वृद्धाच्छः से 'छ' प्रत्यय पूर्वतः सिद्ध ही था।

(1569) वृद्धादकेकान्तखोपधात् *141* (1365)

देश इत्येव। वृद्धाद्देशवाचिनोऽक इक इत्येवमन्तात् खकारोपधाच्च प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। कोपधलक्षणस्याणोऽपवादः। वाहीकग्रामलक्षणस्य च प्रत्ययस्य 'रोपधेतोः प्राचाम्' (4.2.123) इति च। अकान्तात्तावत्–आरीहणकीयम्, द्रौघणकीयम्। इकान्तात्–आश्वपथिकीयम्, शाल्मलिकीयम्। खोपधात्–कौटिशिखीयम्, आयोमुखीयम्। *अकेकान्तग्रहणे कोपधग्रहणं सौसुकाद्यर्थम्* (म०भा०)। सौसुकीयम्। मौसुकीयम्। ऐन्द्रवेणुकीयम्।

अर्थ—शैषिक अर्थों में अकान्त (= अक है अन्त में जिसके), इकान्त तथा खोपध देशवाची वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय होता है। यह कोपध लक्षण अण् का अपवाद है।

बाहीकग्रामलक्षण, रोपधेल्लक्षण तथा प्राग्देशलक्षण—सभी प्रत्ययों का बांध इससे होता है।

उदा० (क) अकान्तात्—
(1) आरीहणकीयम्
आरीहणक छ—ईयादेश।

(2) द्रौघणकीयम्
द्रौघणक छ—पूर्ववत्। 'कोपधाच्च' से अण् प्राप्त था।

(ख) इकान्तात्—
(3) आश्वपथिकीयम्
आश्वपथिक छ—'कोपधाच्च' से अण् प्राप्त था।

(4) शाल्मलिकीयम्
शाल्मलिक छ।

(ग) खोपधात्—
(5) कौटिशिखीयम् (पूर्ववत्)।
(6) आयोमुखीयम्
पूर्ववत्। ठञ् व ञिठ् प्राप्त थे।

अकेकान्त०—कोपध शब्द से भी 'छ' प्रत्यय होता है—
(7) सौसुकीयम्
सौसुक छ।

(8) मौसुकीयम् (पूर्ववत्)।
(9) ऐन्द्रवेणुकीयम् (पूर्ववत्)।

(1570) कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् *142* (1366)

देश इति वर्त्तते, वृद्धादिति च। कन्थाद्युत्तरपदाद्देशवाचिनो वृद्धात्प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। वाहीकग्रामादिलक्षणस्य प्रत्ययस्यापवादः। दाक्षिकन्थीयम्। माहिकिकन्थीयम्। दाक्षिपलदीयम्। माहिकिपलदीयम्। दाक्षिनगरीयम्। माहिकिनगरीयम्। दाक्षिग्रामीयम्। माहिकिग्रामीयम्। दाक्षिह्रदीयम्। माहिकिह्रदीयम्।

अर्थ—देशे, वृद्धात्—इनका अनुवर्त्तन है। उत्तरपद में जिसके कन्था, पलद, नगर, ग्राम व ह्रद—ये शब्द हों, ऐसे देशवाची तथा वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से 'छ' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। बाहीक ग्रामादिलक्षण प्रत्यय का यह अपवाद है।

उदा० (1) दाक्षिकन्थीयम्
दाक्षिकन्था छ—ईयादेश।

(2) माहिकिकन्थीयम् (पूर्ववत्)।
(3) दाक्षिपलदीयम् (पूर्ववत्)।
(4) माहिकिपलदीयम्
'छ' हुआ।

(5) दाक्षिनगरीयम्
'छ' हुआ।

(6) माहिकिनगरीयम् (पूर्ववत्)।
(7) दाक्षिग्रामीयम्
दाक्षिग्राम छ।

(8) माहिकिग्रामीयम्
पूर्ववत् 'छ'।

(9) दाक्षिह्रदीयम्
'छ' हुआ।

(10) माहिकिह्रदीयम्
पूर्ववत् 'छ'।

(1571) पर्वताच्च *143* (1367)

पर्वतशब्दाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। पर्वतीयो राजा। पर्वतीयः पुरुषः।

अर्थ—'पर्वत' प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थ में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) पर्वतीयः
पर्वत छ सु—ईयादेश।

(1572) विभाषाऽमनुष्ये *144* (1368)

पर्वतशब्दाच्छः प्रत्ययो भवति वाऽमनुष्ये वाच्ये। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। पर्वतीयानि फलानि। पार्वतानि फलानि। पर्वतीयमुकदम्। पार्वतमुदकम्। अमनुष्य इति किम्? पर्वतीयो मनुष्यः।

अर्थ—यदि 'मनुष्य' अर्थ गम्यमान न हो तो पर्वत प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय विकल्प से होता है, शैषिक अर्थ में। पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है।

उदा० (1) पर्वतीयानि फलानि
'छ' हुआ।

(2) पार्वतानि फलानि
पक्ष में अण् हुआ।

इसी प्रकार (3) पर्वतीयम् उदकम् तथा (4) पार्वतम् उदकम्।

अमनुष्य अर्थात् मनुष्य से भिन्न अर्थ होने पर 'छ' होता है—

(5) पर्वतीयो मनुष्यः
'छ' प्रत्यय नित्य हुआ।

(1573) कृकणपर्णाद्भारद्वाजे *145* (1369)

देश इत्येव। भारद्वाजशब्दोऽपि देशवचन एव न गोत्रशब्दः। प्रकृतिविशेषणं चैतन्न प्रत्ययार्थः। कृकण-पर्णशब्दाभ्यां भारद्वाजदेशवाचिभ्यां छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। कृकणीयम्। पर्णीयम्। भारद्वाज इति किम्? कार्कणम्, पार्णम्।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

अर्थ—भारद्वाज शब्द गोत्रवाची नहीं है, अपितु देशवाची है। भारद्वाज देश में वर्तमान कृकण तथा पर्ण प्रातिपदिकों से 'छ' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

यह प्रकृति का विशेषण नहीं है। अपितु प्रत्ययार्थ है।

उदा० (1) कृकणीयम्
कृकण छ।

(2) पर्णीयम् (पूर्ववत्)।

भारद्वाज अर्थात् भारद्वाज देश में ही वर्तमान प्रातिपदिक से 'छ' होता है।

(3) कार्कणम्
कृकण अण्—'छ' नहीं हुआ।

(4) पार्णम्
पर्ण अण्।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
चतुर्थाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।



चतुर्थाऽध्यायस्य तृतीयः पादः

(1574) युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च *1*
(1370)

देशाधिकारो निवृत्तः। युष्मदस्मदोः खञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः चकाराच्छश्च। अन्यतरस्यांग्रहणाद्यथाप्राप्तम्, तदेते त्रयः प्रत्यया भवन्ति। तत्र वैषम्याद्यथासंख्यं न भवति। त्यदादित्वाद् वृद्धसंज्ञकयोर्युष्मदस्मदोश्छे (4.2.114) प्राप्ते प्रत्येकं प्रत्ययत्रयं विधीयते। यौष्माकीणः, आस्माकीनः। युष्मदीयः, अस्मदीयः। यौष्माकः, आस्माकः।

अर्थ—'देशे' की अनुवृत्ति नहीं है। युष्मद् तथा अस्मद् प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में विकल्प से 'खञ्' प्रत्यय होता है तथा 'छ' भी होता है। 'अन्यतरस्याम्' के ग्रहण से यथाप्राप्त प्रत्यय होता है। तब तीन प्रत्यय होते हैं। वैषम्य के कारण यथासंख्य नियम लागू नहीं होता। युष्मद् और अस्मद् के त्यदादिगण में पठित होने से वृद्धसंज्ञक युष्मद् व अस्मद् से 'छ' के प्राप्त होने पर प्रत्येक से तीन प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) यौष्माकीण:

युवयोरयम्
युष्माकमयम् } 'तस्येदम्' के अधिकार में 'खञ्' हुआ,

युष्माक खञ्—अगला सूत्र,
यौष्माक ईन—आदिवृद्धि, ईनादेश,
यौष्माकीण:—णत्व, सु।

(2) आस्माकीन:

अस्मदोरयम्
अस्माकमयम् } पूर्ववत् खञ् आदि कार्य।

(3) युष्मदीय:
युष्मद् छ—ईयादेश, सु आदि।

(4) अस्मदीय: (पूर्ववत् 'छ')।

(5) यौष्माक:
युष्मद् अण्—पक्ष में,
युष्माक अ—आदिवृद्धि।
यौष्माक:—सु।

(6) आस्माक:
अस्मद् अण्—पूर्ववत्।

(1575) तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ *2*
(1371)

तस्मिन्निति साक्षाद्विहितः खञ् निर्दिश्यते न चकारानुकृष्टश्छः। तस्मिन् खञि अणि च युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं युष्माक, अस्माक इत्येतावादेशौ भवतः। निमित्तयोरादेशौ प्रति यथासंख्यं कस्मान्न भवति? योगविभागः करिष्यते– 'तस्मिन्' इति। खञि युष्मदस्मदोर्युष्माकास्माकौ भवतः। ततः 'अणि च' इति। यौष्माकीणः, आस्माकीनः। यौष्माकः, आस्माकः। तस्मिन्नणि चेति किम्? युष्मदीयः, अस्मदीयः।

अर्थ—तस्मिन् इस प्रकार साक्षात् विहित 'खञ्' का निर्देश किया जा रहा है; चकार पद के द्वारा अनुकृष्ट 'छ' का नहीं। उस खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्यय के परे रहते युष्मद् और अस्मद् प्रकृतियों के स्थान पर यथासंख्य करके युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं। निमित्त भी दो हैं तथा आदेश भी दो हैं। तथापि उनमें यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है। योगविभाग किया जायेगा। यथा—

उस खञ् के परे रहते युष्मद् व अस्मद् के स्थान पर क्रमशः युष्माक व अस्माक आदेश होते हैं तथा अण् के परे रहते भी ये होते हैं।

उदा० (1) यौष्माकीण:
सिद्धि के लिए 4.3.1 देखें।

(2) आस्माकीन: (पूर्ववत्)।

(3) यौष्माक: (पूर्ववत्)।

(4) आस्माक: (पूर्ववत्)।

उस खञ् तथा अण् के परे रहते ही ये आदेश होते हैं—

(5) युष्मदीय:
यहाँ 'छ' हुआ है। अत: 'युष्माक' आदेश नहीं होता है।

(6) अस्मदीयः
'छ' हुआ।

(1576) तवकममकावेकवचने *3* (1372)

एकवचनपरयोर्युष्मदस्मदोस्तवक, ममक इत्येतावादेशौ भवतो यथासंख्यं तस्मिन् खञि, अणि च परतः। निमित्त-योस्तु यथासंख्यं पूर्ववदेव न भवति। ननु च 'न लुमताङ्गस्य' (1.1.63) इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधादेकवचनपरता युष्मद-स्मदोर्न सम्भवति? वचनात् प्रत्ययलक्षणं भविष्यति। अथवा नैवेदं प्रत्ययलक्षणम्, किं तर्ह्यन्वर्थग्रहणम्। एक-वचने युष्मदस्मदी एकस्यार्थस्य वाचके तवकममकावादेशौ प्रतिपद्येते इति सूत्रार्थः। तावकीनः। मामकीनः। तावकः। मामकः। तस्मिन्नणि च (4.3.2) इत्येव-त्वदीयः, मदीयः।

अर्थ—उस खञ् तथा अण् प्रत्ययों के परे रहते एकत्व की विवक्षा में युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के स्थान पर यथासंख्य करके तवक तथा ममक आदेश होते हैं। निमित्त और आदेशों के मध्य पूर्ववत् यथासंख्य नियम लागू नहीं होता। तथा च, 'न लुमताङ्गस्य' से प्रत्ययलक्षण का निषेध होने से युष्मद् तथा अस्मद् की एकवचनपरता भी सम्भव नहीं होती। वचनसामर्थ्य से प्रत्ययलक्षण हो जायेगा अथवा यह प्रत्ययलक्षण नहीं है। तो क्या है? यह अन्वर्थग्रहण है। एकवचन में युष्मद् व अस्मद् के एकत्वविशिष्ट अर्थ का वाचक होने पर (इनके स्थान पर क्रमशः) तवक तथा ममक आदेश होते हैं—यह सूत्रार्थ है।

उदा० (1) तावकः
तवाऽयम् → युष्मद् खञ्—
तवक ईन—आदिवृद्धि,
तावकीनः—सु।

(2) मामकीनः
ममाऽयम्—पूर्ववत्।

(3) तावकः
तवक अण्—अण् में 'तवक' हुआ।
तावक सु—आदिवृद्धि।

(4) मामकः (पूर्ववत्)।

(5) त्वदीयः
यहाँ न खञ् है और न ही अण् है। अतः सूत्रोक्त आदेश नहीं होते हैं।

(6) मदीयः
पूर्ववत् 'मामक' नहीं हुआ।

(1577) अर्धाद्यत् *4* (1374)

अर्धशब्दाद् यत्प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। अर्द्ध्यम्। *सपूर्वपदाट्ठञ् वक्तव्यः* (म० भा०)। बाले-यार्द्धिकम्। गौतमार्द्धिकम्।

अर्थ—अर्ध प्रातिपदिक से 'यत्' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) अर्द्ध्यम्
अर्ध यत् → अर्ध्ध् य—अचो रहाभ्यां द्वे,
अद्ध् य—झलां जशोऽन्ते,
अर्द्ध्य सु—सु हुआ।

सपूर्वपदा०—पूर्वपदविशिष्ट 'अर्ध' शब्द से 'ठञ्' होता है—

(2) बालेयार्द्धिकम्
बालेयार्द्ध ठञ्—ठस्येकः,

(3) गौतमार्द्धिकम्
गोतमार्द्ध ठञ्—ठस्येकः।

(1578) परावराधमोत्तमपूर्वाच्च *5* (1375)

पर, अवर, अधम, उत्तम इत्येवम्पूर्वाच्चार्धाद्यत् प्रत्ययो भवति शैषिकः। परार्द्ध्यम्। अवरार्द्ध्यम्। उत्तमार्द्ध्यम्। पूर्वग्रहणं किम्, परावराधमोत्तमेभ्यः इत्येवोच्यते, अर्द्धादिति वर्त्तते, तस्य तत्पूर्वता विज्ञास्यते? परावरशब्दावदिग्ग्रह-णावपि स्तः-परं सुखमवरं सुखमिति। तत्र कृतार्थत्वाद् दिक्छब्दपक्षे परेण ठञ्यतौ स्याताम्, अस्मात्पूर्वग्रहणाद्य-त्प्रत्ययो भवति-परार्द्ध्यम्, अवरार्द्ध्यमिति।

अर्थ—पर, अवर, अधम और उत्तम शब्दपूर्वक अर्द्ध शब्द से 'यत्' होता है, शैषिक अर्थों में।

उदा० (1) परार्द्ध्यम्
परार्द्ध यत्—विभक्ति कार्य।

(2) अवरार्द्ध्यम् (पूर्ववत्)।

(3) अधमार्द्ध्यम्—पूर्ववत् यत्।

(4) उत्तमार्द्ध्यम् (पूर्ववत्)।

पूर्वग्रहणं—अर्थात् पूर्वग्रहण किसलिए किया गया है? 'परावराधमोत्तमेभ्यः' ऐसा कहना चाहिए। 'अर्द्धात्' का अनुवर्त्तन है। अतः उसकी पूर्वता का ज्ञान होता है।

(समा०) पर तथा अवर शब्द दिग्वाची से अतिरिक्त भी हैं। यथा—परं सुखम् अवरं सुखम्।

इन अर्थों में प्रस्तुत सूत्र से विहित 'यत्' प्रत्यय के चरितार्थ हो जाने से 'दिग्वाची पूर्व और अवर शब्द हैं'—इस पक्ष में परवर्ती सूत्र के द्वारा ठञ् और यत् प्रत्यय प्राप्त हो जायेंगे। 'पूर्व' पद के ग्रहण से 'परार्द्ध' व 'अवरार्द्ध' से केवल 'यत्' ही होगा। यथा—

(5) परार्द्धर्यम्
परार्द्ध यत्।

(6) अवरार्द्धर्यम्
अवरार्द्ध यत्।

(1579) दिक्पूर्वपदाट्ठञ्च *6* (1376)

दिक्पूर्वपदादर्धान्तात्प्रातिपदिकात् ठञ् प्रत्ययो भवति चकाराद्यच्च शैषिकः। अणोऽपवादः। पूर्वार्द्धर्यम्, पौर्वार्द्धिकम्। दक्षिणार्द्धर्यम्, दाक्षिणार्द्धिकम्। पदग्रहणं स्वरूपविधिनिवारणार्थम्।

अर्थ—दिक् वाची शब्द है पूर्वपद में जिसके, ऐसे अर्ध शब्द से शैषिक 'ठञ्' प्रत्यय होता है तथा 'यत्' भी होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) पौर्वार्द्धिकम्
पूर्वार्द्ध ठञ्—आदिवृद्धि, इक आदेश,
पौर्वार्द्ध इक—सु हुआ।

(2) पूर्वार्द्धर्यम्
पूर्वार्द्ध यत्—आदिवृद्धि नहीं हुई।

(3) दाक्षिणार्द्धिकम्
ठञ् हुआ।

(4) दक्षिणार्द्धर्यम्
यत् हुआ।

स्वरूप विधि के निवारण के लिए 'पद' का प्रयोग है।

(1580) ग्रामजनपदैकदेशादञ्ठञौ *7* (1377)

दिक्पूर्वपदादित्येव। ग्रामैकदेशवाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च प्रातिपदिकाद्दिक्पूर्वपदादर्द्धान्तादञ्ठञौ प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ यतोऽपवादौ। इमे खल्वास्माकं ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वार्द्धाः, पौर्वार्द्धिकाः। दाक्षिणार्द्धाः, दाक्षिणार्द्धिकाः।

अर्थ—'दिक्पूर्वपदात्' का अनुवर्त्तन है। ग्राम के अवयववाची तथा जनपद के अवयववाची दिशावाची शब्द हैं पूर्वपद में जिसके, ऐसा 'अर्द्ध' शब्द, तदन्त प्रातिपदिक से अञ् व ठञ् प्रत्यय शैषिक अर्थों में होते हैं। ये 'यत्' के अपवाद हैं।

उदा० (1) पौर्वार्द्धाः
पूर्वार्द्ध अञ्—आदिवृद्धि, जस् विभक्ति।

(2) पौर्वार्द्धिकाः
ठञ् हुआ, आदिवृद्धि।

(3) दाक्षिणार्द्धाः
अञ्, पूर्ववत्।

(4) दाक्षिणार्द्धिकाः
पूर्ववत् ठञ्।

(1581) मध्यान्मः *8* (1378)

मध्यशब्दान्मः प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। मध्यमः। *आदेश्चेति वक्तव्यम्*। आदिमः। *अवोऽधसोर्लोपश्च*। अवमम्। अधमम्।

अर्थ—शैषिक अर्थों में मध्य शब्द से 'म' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) मध्यमः
मध्य म सु—विभक्तिकार्य।

(1582) अ साम्प्रतिके *9* (1379)

अकारः प्रत्ययो भवति मध्यशब्दात्साम्प्रतिके जातादौ प्रत्ययाऽर्थे। मस्यापवादः। साम्प्रतिकं न्याय्यं युक्तमुचितं सममुच्यते। नातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यं काष्ठम्। नात्युत्कृष्टो नात्यवकृष्टो मध्यो वैयाकरणः। मध्या स्त्री।

अर्थ—साम्प्रतिक जातादि अर्थों में मध्य शब्द से 'अ' प्रत्यय होता है। यह 'म' का अपवाद है। साम्प्रतिक के कई अर्थ हैं—न्याय्य, युक्त, उचित तथा सम।

उदा० (1) मध्यं काष्ठम्
मध्य अ सु—विभक्तिकार्य।
(2) मध्यो वैयाकरणः (पूर्ववत्)।
(3) मध्या स्त्री
मध्य अ टाप्—विभक्तिकार्य।

(1583) द्वीपादनुसमुद्रं यञ् *10* (1380)

समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तस्माद् यञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः।

कच्छादिपाठात् अणो (4.2.133) मनुष्यवुञश्चापवादः (4.2.134)। द्वैप्यम्। 'द्वैप्यं भवन्तोऽनुचरन्ति चक्रम्'। अनुसमुद्रमिति किम्? द्वैपकम्, द्वैपमन्यत्।

अर्थ—'समुद्र के पास' इस अर्थ में 'द्वीप' प्रातिपदिक से 'यञ्' होता है, शैषिक अर्थों में। यह कच्छादि में पाठ होने से अण् का अपवाद है तथा मनुष्यलक्षण वुञ् का अपवाद है।

उदा० (1) द्वैप्यम्
द्वीपे भवः—यञ् हुआ,
द्वैप य सु—आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य।

अनुसमुद्र० अर्थात् समुद्र के पास इस अर्थ में ही 'यञ्' होता है—

(2) द्वैपकम्
द्वीप वुञ्—यञ् नहीं हुआ, यथाप्राप्त वुञ् हुआ।
द्वैप अक सु—विभक्तिकार्य।

(3) द्वैपम्
द्वीप अण्—यथाप्राप्त प्रत्यय हुआ।

(1584) कालाट्ठञ् *11* (1381)

कालविशेषवाचिनः प्रातिपदिकात् ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। अणोऽपवादः। वृद्धात्तु छं परत्वाद्बाधते। मासिकः। आर्द्धमासिकः। सांवत्सरिकः। यथाकथञ्चिद् गुणवृत्त्यापि काले वर्त्तमानात् प्रत्यय इष्यते-कादम्बपुष्पिकम्, त्रैहिपलालिकम्। 'तत्र जातः' (4.3.25) इति प्रागतः कालधिकारः।

अर्थ—कालविशेषवाची प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में 'ठञ्' होता है। यह अण् का अपवाद है। वृद्धसंज्ञक से 'छ' को पर होने से बाध करता है। सूत्रस्थ 'कालात्' पद के द्वारा काल शब्द तथा उसके पर्यायों का भी ग्रहण होता है। इसमें 'सन्धिवेलाद्०' (4.3.16) सूत्र ज्ञापक है। इस सूत्र के द्वारा सन्धिवेलादि गणपठित त्रयोदशी आदि शब्दों से अण् कहा गया है। यदि 'कालात्' पद से कालवाची शब्दों का ग्रहण न होता तो उनसे 'ठञ्' प्राप्त ही नहीं होता तथा 'त्रयोदशी' आदि शब्दों से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से सामान्य 'अण्' प्राप्त ही था। तब 4.3.16 से विहित अण् व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'कालात्' पद से तत्पर्याय शब्दों का ग्रहण होता है। तब प्रकृत सूत्र से प्राप्त ठञ् के बाधनार्थ 4.3.16 से अण् का विधान किया गया है।

उदा० (1) मासिकः
मासे जातः → मास ठञ्—ठस्येकः,
मासिकः—सु।

(2) आर्द्धमासिकः
अर्द्धमास ठञ्।

(3) साँवत्सरिकः
संवत्सर ठञ्।

गुणवृत्ति के द्वारा काल में वर्तमान प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

(4) कादम्बपुष्पिकम्
कदम्बपुष्प ठञ्।

(5) त्रैहिपलालिकम्
व्रीहिपलाल ठञ्।

'तत्र जातः' से पूर्व तक 'कालात्' इसका अधिकार है।

(1585) श्राद्धे शरदः *12* (1382)

शरच्छब्दात् ठञ् प्रत्ययो भवति श्राद्धेऽभिधेये शैषिकः। ऋत्वणोऽपवादः (4.3.16)। श्राद्ध इति च कर्म गृह्यते, न श्रद्धावान् पुरुषः, अनभिधानात् शारदिकं श्राद्धम्, शारदमन्यत्।

अर्थ—श्राद्ध अर्थ गम्यमान रहते कालवाची 'शरत्' प्रातिपदिक से 'ठञ्' प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में। ऋतु व अण् का अपवाद है। 'श्राद्ध' पद के द्वारा कर्म का ग्रहण होता है। अभिधान न होने से 'श्रद्धावान् पुरुष' यहाँ गृहीत नहीं है।

उदा० (1) शारदिकम् (श्राद्धम्)
शरदि भवम्—ठञ् हुआ,
शारद् इक—आदिवृद्धि, ठस्येकः,
शारदिक सु—विभक्तिकार्य।

(2) शारदम्
शरद् अण्—पक्ष में 'सन्धिवेला०' से 'अण्' हुआ।

(1586) विभाषा रोगातपयोः *13* (1383)

शरद इत्येव। रोगे आतपे चाभिधेये शरच्छब्दाट्ठञ् प्रत्ययो वा भवति शैषिकः। ऋत्वणोऽपवादः। शारदिको रोगः। शारदिक आतपः। शारदो रोगः। शारद आतपः। रोगातपयोरिति किम्? शारदं दधि।

अर्थ—'शरदः' का अनुवर्त्तन है। रोग तथा आतप अर्थ गम्यमान हो तो कालवाची शरद् शब्द से ठञ् प्रत्यय विकल्प

से होता है, शैषिक अर्थों में। यह ऋतु तथा अण् का अपवाद है।

उदा० (1) शारदिको रोगः
शरदि भवः—ठञ् हुआ।

(2) शारदिक आतपः (पूर्ववत्)।

(3) शारदो रोगः
पक्ष में 'सन्धिवेला' से अण् हुआ।

(4) शारद आतपः
पक्ष में अण्।

रोगातप० अर्थात् **रोग** तथा **आतप** अर्थ के गम्यमान रहते ही उक्त प्रत्यय होता है—

(5) शारदं दधि
यहाँ ठञ् नहीं हुआ; अण् हुआ।

(1587) निशाप्रदोषाभ्यां च *14* (1384)

निशाप्रदोषशब्दाभ्यां विभाषा ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। 'कालाट्ठञ्' (4.3.11) इति नित्ये ठञि प्राप्ते विकल्प उच्यते। नैशम्, नैशिकम्। प्रादोषम्, प्रादोषिकम्।

अर्थ—शैषिक अर्थों में निशा तथा प्रदोष कालवाची प्रातिपदिकों से ठञ् प्रत्यय विकल्प से होता है। 'कालाट् ठञ्' के द्वारा नित्य 'ठञ्' के प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है।

उदा० (1) नैशिकम्
निशा ठञ् सु—आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य।

(2) नैशम्
निशा अण्—पक्ष में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्' हुआ,
नैश अ सु—आदिवृद्धि, सु।

(3) प्रादोषिकम्
प्रदोष ठञ्—पूर्ववत्।

(4) प्रादोषम्
प्रदोष अण्। पक्ष में।

(1588) श्वसस्तुट् च *15* (1385)

विभाषेत्येव। श्वःशब्दाद्विभाषा ठञ् प्रत्ययो भवति, तस्य च तुडागमो भवति। त्यप्प्रत्ययोऽप्यतो विहितः-'ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम्' (4.2.105) इति। एताभ्यां मुक्ते ट्युट्युलावपि भवतः-शौवस्तिकः, श्वस्त्यः, श्वस्तनः।

अर्थ—शैषिक अर्थों में कालवाची श्वस् प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय विकल्प से होता है तथा उसे 'तुट्' आगम होता है। 'एषमो ह्यः श्व०' के द्वारा इससे 'त्यप्' भी होता है। इनसे मुक्त होने पर ट्यु तथा ट्युल् भी होते हैं।

उदा० (1) शौवस्तिकः
श्वस् ठञ्—ठञ् हुआ,
शौवस् तुट् इक—'न य्वाभ्यां पदान्ता०' से,
शौवस्तिकः—सु हुआ।

(2) श्वस्त्यः
श्वस् त्यप्—पक्ष में 'ऐषमो ह्यः श्वसो' से 'त्यप्',
श्वस्त्यः—सु।

(3) श्वस्तनः
श्वस् त् ट्यु—'सायंचिर०' से तुट् आगम, अन आगम,
श्वस्तनः—सु।

(1589) सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् *16* (1387)

कालादित्येव। सन्धिवेलादिभ्य ऋतुभ्यो नक्षत्रेभ्यश्च कालवृत्तिभ्योऽण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ठञोऽपवादः। अणग्रहणं वृद्धाच्छस्य (4.2.114) बाधनार्थम्। सन्धिवेलादिभ्यस्तावत्-सान्धिवेलम्, सान्ध्यम्। ऋतुभ्यः-ग्रैष्मम्, शैशिरम्। नक्षत्रेभ्यः-(सौवातम्) तैषम्, पौषम्। सन्धिवेला। सन्ध्या। अमावास्या। त्रयोदशी। चतुर्दशी। पञ्चदशी। पौर्णमासी। प्रतिपत्। *संवत्सरात् फलपर्वणोः* (ग०सू० 104)। सांवत्सरं फलम्। सांवत्सरं पर्व।

अर्थ—'कालात्' का अनुवर्त्तन है। शैषिक अर्थों में सन्धिवेलादि गण में पठित शब्दों से, ऋतुवाची शब्दों से तथा नक्षत्रवाची शब्दों से 'अण्' होता है। यह 'कालाट् ठञ्' से प्राप्त ठञ् का अपवाद है। 'वृद्धाच्छः' से प्राप्त 'छ' के बाध के लिए अण् का ग्रहण किया गया है।

उदा० (क) सन्धिवेलादिभ्यः—

(1) सन्धिवेलम्
सन्धिवेला अण्—आदिवृद्धि, सु।

(2) सान्ध्यम्
सान्ध्य सु—विभक्तिकार्य।

(ख) ऋतुभ्यः—

(3) ग्रैष्मम्

ग्रीष्म अण्।

(4) शैशिरम्

शिशिर अण्।

(ग) नक्षत्रेभ्यः—

(5) तैषम्

तिष अण्।

(6) पौषम्

पुष्य अण्।

(7) सांवत्सरम् (फलम्)

संवत्सर अण्—'फल' अर्थ में 'अण्' हुआ।

(1590) प्रावृष एण्यः *17* (1388)

प्रावृष्शब्दादेण्यः प्रत्ययो भवति शैषिकः। ऋत्वणोऽपवादः। प्रावृषेण्यो बलाहकः।

अर्थ—शैषिक अर्थों में प्रावृष् से 'एण्य' होता है। ऋतु और अण् का यह अपवाद है।

उदा० (1) प्रावृषेण्यः

प्रावृष् एण्यः सु—विभक्तिकार्य।

(1591) वर्षाभ्यष्ठक् *18* (1389)

वर्षाशब्दाट्ठक् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ऋत्वणोऽपवादः। वार्षिकं वासः। वार्षिकमनुलेपनम्।

अर्थ—शैषिक अर्थों में वर्षा प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। यह ऋतु और अण् का अपवाद है।

उदा० (1) वार्षिकः

वर्षा ठक्—आदिवृद्धि।

(1592) छन्दसि ठञ् *19* (3450)

वर्षाशब्दाच्छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ठकोऽपवादः। स्वरे भेदः। नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू (तै०सं० 4.4.11.1)।

अर्थ—वेद के विषय में वर्षा शब्द से 'ठञ्' होता है, शैषिक अर्थों में। यह 'ठक्' का अपवाद है। केवल स्वर का भेद है।

उदा० (1) वार्षिकावृतू

पूर्ववत् सभी कार्य।

(1593) वसन्ताच्च *20* (3451)

छन्दसीत्येव। वसन्तशब्दाच्छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ऋत्वणोऽपवादः। मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू (तै०सं० 4.4,11.1)।

अर्थ—वेद के विषय में वसन्त प्रातिपदिक से ठञ् होता है, शैषिक अर्थों में। ऋतु व अण् का यह अपवाद है।

उदा० (1) वासन्तिकावृतू

वसन्त ठञ्—पूर्ववत्।

(1594) हेमन्ताच्च *21* (3452)

छन्दसीत्येव। हेमन्तशब्दाच्छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः। ऋत्वणोऽपवादः। सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू (तै०सं० 4.4.11.1)। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—वेद के विषय में हेमन्त प्रातिपदिक से ठञ् होता है, शैषिक अर्थों में। यह ऋतु व अण् का अपवाद है।

उदा० (1) हैमन्तिकावृतू

हेमन्त ठञ्—आदिवृद्धि।

उत्तर शास्त्र के लिए योगविभाग किया गया है।

(1595) सर्वत्राण् च तलोपश्च *22* (1390)

हेमन्तशब्दादण् प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन चास्य तकारलोपः। हैमनं वासः। हैमनमुपलेपनम्। सर्वत्रग्रहणं छन्दोऽधिकारनिवृत्त्यर्थम्–छन्दसि भाषायां च सर्वत्रैतद्भवति। ननु च छन्दसीति नानुवर्तिष्यते? सैवानुवृत्तिः शब्देनाख्यायते प्रयत्नाधिक्येन पूर्वसूत्रेऽपि सम्बन्धार्थम्–हैमन्तिकमिति हि भाषायामपि ठञं स्मरन्ति। अथाण्चेति चकारः किमर्थः? अण्, यथाप्राप्तं च ऋत्वणिति। कः पुनरनयोरणोर्विशेषः? ऋत्वणि हि तकारलोपो नास्ति–हैमन्ती पङ्क्तिरिति (पै०सं० 17.19.11)। तदेवं त्रीणि रूपाणि भवन्ति–हैमन्तिकम् (तै०सं० 4.4.11.1), हैमन्तम् (पै०सं० 17.19.11), हैमनमिति (अथ० 15.4.14)।

अर्थ—वैदिक व लौकिक—दोनों प्रयोगों में (कालवाची) हेमन्त प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है तथा उसके परे रहते हेमन्त के तकार का लोप होता है।

उदा० (1) हैमनम्

हेमन्त अण् → हेमन्त अ—अन्त्य लोप,

हैमन् अ सु—तकारलोप।

'छन्दसि' पद की अनुवृत्ति की निवृत्ति के लिए प्रकृत सूत्र में 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है। भाव यह है कि वेद में तथा भाषा में सर्वत्र प्रत्यय होता है। ताकि 'छन्दसि' का अनुवर्तन नहीं होगा। वह ही अनुवृत्ति शब्द के द्वारा कही जाती है। ताकि प्रयत्न आधिक्य से पूर्वसूत्र में भी 'सर्वत्र' शब्द का सम्बन्ध हो जाय।

(2) हैमन्तिकम्

कुछ लोग लोक में भी 'ठञ्' प्रत्यय करते हैं। तब 'अण्च' में चकार का पाठ किसलिए है ? 'अण्' यथाप्राप्त है। इनमें विशेष क्या है ? ऋतुलक्षण अण् के परे रहते तकारलोप नहीं होता है। यथा—

(3) हैमन्ती

हेमन्त अण्—आदिवृद्धि, तकारलोप नहीं हुआ,
हैमन्त ङीप्—सु आदि।
तब तीन रूप होते हैं।

(1596) सायञ्चिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च *23* (1391)

कालादित्येव। सायञ्चिरम्प्राह्णेप्रगे इत्येतेभ्योऽव्ययेभ्यश्च ट्युट्युलौ प्रत्ययौ भवतः, तयोश्चादिष्टयोस्तुडागमो भवति। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। अव्ययेभ्यः-दोषातनम्, दिवातनम्। सायमिति मकारान्तं पदमव्ययम्, ततोऽव्ययत्वादेव सिद्धः प्रत्ययः। यस्तु स्यतेरन्तकर्मणो घञि सायशब्दस्तस्येदं मकारान्तत्वं प्रत्ययसन्नियोगेन निपात्यते। दिवसावसानं सायः। चिरशब्दस्यापि मकारान्तत्वं निपात्यते, प्राह्णे प्रगे इत्येकारान्तत्वम्। *चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः* (म०भा०)। चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्। *प्रगस्य छन्दसि गलोपश्च* (म०भा० श्लो०वा०)। प्रत्नम्। *अग्रपश्चाड्डिमच्* (श्लो०वा०)। अग्रिमम्। पश्चिमम्। *अन्ताच्चेति वक्तव्यम्* (श्लो०वा०)। अन्तिमम्।

अर्थ—'कालात्' का अनुवर्तन है। कालवाची सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे तथा अव्यय प्रातिपदिकों से ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं तथा इन प्रत्ययों का तुट् आगम होता है।[1]

उदा० (1) सायन्तनम्

साये भवः—सायम् तुट् ट्यु—युवोरनाकौ,
सायम् त् अन सु—अनुस्वार, परसवर्ण, विभक्तिकार्य।

(2) चिरन्तनम्

चिरम् तुट् ट्यु—पूर्ववत्।

(3) प्राह्णेतनम् (पूर्ववत्)।

(4) प्रगेतनम् (पूर्ववत्)।

(5) दोषातनम्

'दोषा' एक अव्यय है।

(6) दिवातनम्

'दिवा' अव्यय है।

'सायम्' यह मकारान्त अव्यय पद है। तब अव्यय होने के कारण प्रत्यय सिद्ध ही था।

(समा०) 'स्यति' धातु से घञ् में जो 'साय' शब्द, उसी का मकारान्त निपातन प्रत्यय के सन्नियोग से किया जाता है। 'चिर' शब्द का भी मकारान्त निपातन किया जाता है। प्राह्णे तथा प्रगे का भी एकारान्त निपातन किया गया है।

चिरपरुत्०—चिर, परुत् तथा परारि शब्दों से 'त्न' होता है—

(7) चिरत्नम्

चिर त्न सु।

(8) परुत्नम् (पूर्ववत्)।

(9) परारित्नम् (पूर्ववत्)।

प्रगस्य छन्दसि०—वेद में 'प्रग' शब्द के गकार का लोप होता है—

(10) प्रत्नम्

प्रग त्न → प्रत्न सु।

अग्रपश्चाड्०—अग्र तथा पश्च शब्दों से 'डिमच्' होता है—

(11) अग्रिमम्

अग्र डिमच्—हलन्त्यम्, चुटू,
अग्र इम सु—टिलोप, सु।

(12) पश्चिमम्

पश्च डिमच्—पूर्ववत्।

अन्ताच्चेति० अन्त शब्द से भी 'डिमच्' होता है—

(13) अन्तिमम्

अन्त डिमच्—पूर्ववत्।

1. काशिका के कई संस्करणों में सूत्र की वृत्ति नहीं दी गई है—व्याख्याकार।

विशेष—ट्यु तथा ट्युल् के अनुबन्धों का लोप होने के पश्चात् 'यु' शेष रहता है। इन प्रत्ययों को तुट् आगम भी होता है, परन्तु यह आगम 'यु' को 'अन' आदेश करने के पश्चात् करना चाहिये। कारण कि 'युवोरनाकौ' से अङ्गसञ्ज्ञक से परे 'यु' को ही 'अन' होता है। यदि 'अन' आगम से पूर्व तुट् आगम कर लेते हैं तो 'सायम् त्यु' इस दशा में अङ्गसञ्ज्ञक 'सायम्' से परे 'त्यु' है, न कि 'यु'। तब 'अन' आदेश भी नहीं हो सकेगा।

(1597) विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् *24* (1392)

पूर्वाह्णापराह्णशब्दाभ्यां विभाषा ट्युट्युलौ प्रत्ययौ भवतस्तुट् च तयोरागमः। 'कालाट्ठञ्' (4.3.11) इति ठञि प्राप्ते वचनम्, पक्षे सोऽपि भवति। पूर्वाह्णेतनम्। अपराह्णेतनम्। पौर्वाह्णिकम्। आपराह्णिकम्। 'घकालतनेषु कालनाम्नः' (6.3.17) इति सप्तम्या अलुक्। यदा तु न सप्तमी समर्थविभक्तिः पूर्वाह्णः सोढोऽस्येति तदा पूर्वाह्णतन इति भवितव्यम्।

अर्थ—कालवाची पूर्वाह्ण व अपराह्ण शब्दों से विकल्प से ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं और उन प्रत्ययों को तुट् आगम होता है। 'कालाट्ठञ्' से ठञ् के प्राप्त होने पर विकल्प का विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) पूर्वाह्णेतनम्
पूर्व अहन् → पूर्व अह्न—अह्नोऽह्न एतेभ्यः,
पूर्वाह्ण टच्—राजाहःसखि०,
पूर्वाह्ण → पूर्वाह्णे ट्यु—अह्नोऽदन्तात्,
पूर्वाह्णे तुट् अन—घकालनतनेषु०, विभक्तिकार्य।

(2) पौर्वाह्णिकम्
पक्ष में 'ठञ्' हुआ।

(3) अपराह्णेतनम् (पूर्ववत्)।

(4) आपराह्णिकम्
पक्ष में 'ठञ्'।

जब सप्तमी समर्थ विभक्ति नहीं होती है, तब 'पूर्वाह्णतनः' बनता है।

(1598) तत्र जातः *25* (1393)

अणादयो घादयश्च प्रत्ययाः प्रकृताः, तेषामतः प्रभृति अर्थाः समर्थविभक्तयश्च निर्दिश्यन्ते। तत्रेति सप्तमीसमर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। माथुरः। औत्सः। औदपानः। राष्ट्रियः। अवारपारीणः। शाकलिकः। माकलिकः। ग्राम्यः। ग्रामीणः। कात्त्रेयकः। औम्भेयकः।

अर्थ—अण् आदि तथा घ आदि प्रकृत प्रत्यय हैं। यहाँ से लेकर उनके अर्थ का तथा समर्थ विभक्ति का निर्देश किया जा रहा है। 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, शैषिक अर्थों में।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्ने जातः—अण् हुआ।

(2) माथुरः
पूर्ववत् अण्।

(3) औत्सः
अण् हुआ।

(4) औदपानः
अण् होकर।

(5) राष्ट्रियः
राष्ट्र घ।

(6) अवारपारीणः
अवारपार खञ्।

(7) शाकलिकः
शकल ठञ्।

(8) ग्राम्यः
ग्रामाद् यखञौ।

(9) ग्रामीणः
ग्राम खञ्!

(10) कात्त्रेयकः (पूर्ववत्)।

(11) औम्भेयकः (पूर्ववत्)।

(1599) प्रावृषष्ठप् *26* (1394)

प्रावृष्शब्दात् सप्तमीसमर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठप् प्रत्ययो भवति। एण्यस्य (4.3.17) अपवादः। पकारः स्वरार्थः। प्रावृषि जातः प्रावृषिकः।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ प्रावृष् शब्द से 'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में 'ठप्' प्रत्यय होता है। यह 'एण्य' का अपवाद है। 'प्' अनुबन्ध स्वर के लिए है।

उदा० (1) प्रावृषिकः

प्रावृषि जातः—पूर्ववत्।

(1600) संज्ञायां शरदो वुञ् *27* (1395)

शरच्छब्दात्सप्तमीसमर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति, समुदायेन चेत्संज्ञा गम्यते। ऋत्वणोऽपवादः। शारदका दर्भाः, शारदका मुद्गाः–दर्भविशेषस्य मुद्गविशेषस्य चेयं संज्ञा। संज्ञायामिति किम्? शारदं सस्यम्। संज्ञाधिकारं केचित् 'कृतलब्धक्रीतकुशलाः' (4.3.38) इति यावदनुवर्त्तयन्ति।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'शरद्' शब्द से 'वुञ्' होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो। यह ऋतुलक्षण अण् का अपवाद है।

उदा० (1) शारदकाः (दर्भाः)

शरदि जाताः—आदिवृद्धि, जस्,

सञ्ज्ञाया० अर्थात् संज्ञा गम्यमान हो तो 'वुञ्' होता है—

(2) शारदम्

संज्ञा गम्यमान नहीं है। अतः वुञ् नहीं हुआ।

कुछ विद्वान् 'कृतलब्धक्रीत०' पर्यन्त 'संज्ञायाम्' का अनुवर्त्तन मानते हैं।

(1601) पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद्वुन् *28* (1401)

पूर्वाह्णादिभ्यः शब्देभ्यो वुन् प्रत्ययो भवति तत्र जातः (4.3.25) इत्येतस्मिन् विषये संज्ञायां गम्यमानायाम्। पूर्वाह्णकः। अपराह्णकः। 'विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' (4.3.24) इत्यस्यापवादः। आर्द्रकः। मूलकः। नक्षत्राणोऽपवादः (4.2.3)। प्रदोषकः। 'निशाप्रदोषाभ्यां च' (4.3.14) इत्यस्यापवादः। अवस्करकः। औत्सर्गिकस्याणोऽपवादः (4.1.83)। असंज्ञायां तु यथाप्राप्तं ठञादय एव भवन्ति।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ पूर्वाह्ण, अपराह्ण, आर्द्र, मूल, प्रदोष तथा अवस्कर प्रातिपदिकों से 'वुन्' होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) पूर्वाह्णकः

वुन् हुआ।

(2) अपराह्णकः (पूर्ववत्)

'विभाषा पूर्वा०' से प्राप्त ट्यु आदि का अपवाद है।

(3) आर्द्रकः

आर्द्र वुन्। 'सन्धिवेला०' से 'अण्' प्राप्त था।

(4) मूलकः

'सन्धिवेला०' से 'अण्' प्राप्त था।

(5) प्रदोषकः

'निशाप्रदोषा०' से प्राप्त 'ठञ्' का अपवाद है।

(6) अवस्करकः

औत्सर्गिक अण् का अपवाद है।

संज्ञा अर्थ से अन्यत्र यथाप्राप्त ठञ् आदि होते हैं।

(1602) पथः पन्थ च *29* (1402)

पथिशब्दाद् वुन् प्रत्ययो भवति तत्र जात (4.3.25) इत्येतस्मिन् विषये। प्रत्ययसन्नियोगेन च पथः 'पन्थ' इत्ययमादेशो भवति। अणोऽपवादः। पथि जातः पन्थकः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'पथिन्' प्रातिपदिक से 'वुन्' होता है तथा प्रकृति को 'पन्थ' आदेश होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) पन्थकः

पथि जातः → पथिन् वुन्—

पन्थ अक सु—विभक्तिकार्य।

(1603) अमावास्याया वा *30* (1403)

अमावास्याशब्दाद् वुन् प्रत्ययो भवति वा तत्र जात इत्येतस्मिन् विषये। सन्धिवेलादिषु (4.3.16) पाठादणोऽपवादः। अमावास्यकः, आमावास्यः। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादमावस्यशब्दादपि भवति अमावस्यकः, आमावस्यः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'अमावास्या' प्रातिपदिक से 'वुन्' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'सन्धिवेला०' से प्राप्त अण् का अपवाद है।

उदा० (1) अमावास्यकः

वुन्, अक आदेश।

(2) आमावास्यः

अण्, आदिवृद्धि।

(3) अमावस्यकः

एकदेशविकृतमनन्य० परिभाषा के बल पर 'अमावस्या' शब्द से भी प्रत्यय हो गया है।

(4) आमावस्यः
पूर्ववत् अण्।

(1604) अ च *31* (1404)

अमावास्याशब्दादकारः प्रत्ययो भवति तत्र जात (4.3.25) इत्येतस्मिन् विषये। पूर्वेण वुन्नणोः प्राप्तयोरयं तृतीयः प्रत्ययो विधीयते। अमावास्यः। अमावास्यकः। आमावास्यः। अमावस्यः। अमावस्यकः। आमावस्यः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ अमावास्या प्रातिपदिक से 'अ' प्रत्यय होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा प्राप्त वुन् व अण् का यह अपवाद है।

उदा० (1) अमावास्यः
अमावास्या अ।

(2) अमावास्यकः
अमावास्या वुन्।

(3) आमावास्यः
अमावास्या अण्।

(4) अमावस्यः
अमावस्या अ।

(5) अमावस्यकः
अमावस्या वुन्।

(6) आमावस्यः
अमावस्य अण्।

(1605) सिन्ध्वपकराभ्यां कन् *32* (1405)

सिन्धुशब्दादपकरशब्दाच्च कन् प्रत्ययो भवति, तत्र जात (4.3.25) इत्येतस्मिन् विषये। सिन्धुशब्दः कच्छादिः, ततोऽणि मनुष्यवुञि च (4.3.133,134) प्राप्ते विधानम्, अपकरशब्दादप्यौत्सर्गिकेऽणि प्राप्ते। सिन्धुकः। अपकरकः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ सिन्धु और अपकार शब्दों से कन् प्रत्यय होता है। सिन्धु शब्द का कच्छादि गण में पाठ है। उससे अण् के प्राप्त होने पर तथा मनुष्यलक्षण वुञ् के प्राप्त होने पर विधान किया जा रहा है। अपकार शब्द से भी औत्सर्गिक अण् प्राप्त था।

उदा० (1) सिन्धुकः
सिन्धु कन् सु।

(2) अपकरकः
अपकर कन् सु।

(1606) अणञौ च *33* (1406)

सिन्ध्वपकरशब्दाभ्यां यथासंख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतस्तत्र जात (4.3.25) इत्येतस्मिन् विषये। पूर्वेण कनि प्राप्ते वचनम्। सैन्धवः। आपकरः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ सिन्धु व अपकर प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके अण् व अञ् प्रत्यय होते हैं। पूर्वसूत्र से प्राप्त कन् का अपवाद है।

उदा० (1) सैन्धवः
सिन्धु अण्—आदिवृद्धि।

(2) आपकरः
अपकर अञ्—आदिवृद्धि।

(1607) श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसु-हस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक् *34* (1407)

श्रविष्ठादिभ्यः शब्देभ्यो नक्षत्रेभ्य आगतस्य (4.2.3) जातार्थे लुग्भवति। तस्मिंस्त्रीप्रत्ययस्यापि 'लुक्तद्धितलुकि' (1.2.49) इति लुग् भवति। श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठः। फल्गुनः। अनुराधः। स्वातिः। तिष्यः। पुनर्वसुः। हस्तः। विशाखः। अषाढः। बहुलः। *लुक्प्रकरणे चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। चित्रायां जाता चित्रा। रेवती। रोहिणी। स्त्रीप्रत्ययस्य लुकि कृते गौरादित्वान् (4.1.41) ङीष्। *फल्गुन्यषाढाभ्यां टानौ वक्तव्यौ*। फल्गुनी (तै०सं० 2.1.2.2) अषाढा (तै०सं० 4.4.10.2)। *श्रविष्ठाषाढाभ्यां छणपि वक्तव्यः*। श्राविष्ठीयः। आषाढीयः।

अर्थ—'उत्पन्न अर्थ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ श्रविष्ठा आदि प्रातिपदिकों से उत्पन्न प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) श्रविष्ठः
श्रविष्ठासु जातः—औत्सर्गिक अण् हुआ,
श्रविष्ठा—अण् का लुक्, 'लुक् तद्धितलुकि' से टाप् का भी लुक्,

श्रविष्ठ सु—विभक्तिकार्य।

(2) फल्गुनः
फल्गुनी अण्—पूर्ववत्।

(3) अनुराधः
अनुराधा अण्—लुक् हुआ।

(4) स्वातिः (पूर्ववत्)।
(5) तिष्यः
प्रत्यय का लुक्।

(6) पुनर्वसुः (पूर्ववत्)।
(7) हस्तः (पूर्ववत्)।
(8) विशाखः (पूर्ववत्)।
(9) अषाढः (पूर्ववत्)।
(10) बहुलः (पूर्ववत्)।

लुक् प्रकरणे०—चित्रा, रेवती और रोहिणी—इन प्रातिपदिकों से तद्धित का लुक् होता है, स्त्रीलिंग में—

(11) चित्रा
चित्रायां जाता—स्त्रीत्व की प्रत्यय का लुक् हुआ।

(12) रेवती (पूर्ववत्)।
(13) रोहिणी (पूर्ववत्)।

स्त्री प्रत्यय का लुक् करने पर 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' होता है।

फल्गुन्य०—फल्गुनी और अषाढा शब्दों से 'ट' और 'अन्' होते हैं—

(14) फल्गुनी
फल्गुन्यां जाता → फल्गुनी ट—
फल्गुन् अ ङीप्—विधानसामर्थ्य से प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ,
फल्गुनी सु—सु।

(15) अषाढ़ा
अन् हुआ, टाप् हुआ, विभक्तिकार्य। पूर्ववत् लुक् नहीं हुआ।

श्रविष्ठा०—श्रविष्ठा और अषाढा प्रातिपदिकों से 'छण्' होता है—

(16) श्राविष्ठीयः
श्रविष्ठायां जातः—छण्, ईयादेश,
श्रविष्ठ ईय सु—आदिवृद्धि, सु।

(17) अषाढीयः
अषाढ छण्।

(1608) स्थानान्तगोशालखरशालाच्च *35* (1410)

स्थानान्तात् प्रातिपदिकाद् गोशालशब्दात् खरशालशब्दाज्जातार्थे प्रत्ययस्य लुग् भवति। गोस्थाने जातः गोस्थानः। अश्वस्थानः। गोशालः। खरशालः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ स्थानान्त (= जिसके अन्त में 'स्थान' है) शब्द से, गोशाल से तथा खरशाल से विहित प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) गोस्थानः
गोस्थाने जातः—अण्, लुक्, सु।

(2) अश्वस्थानः (पूर्ववत्)।
(3) गोशालः
पूर्ववत् अण्, लुक्।

(4) खरशालः (पूर्ववत्)।

(1609) वत्सशालाभिजिदश्वयुक्छतभिषजो वा *36* (1411)

वत्सशालादिभ्यः परस्य जातार्थे प्रत्ययस्य लुग् वा भवति। वत्सशालायां जातः वत्सशालः, वात्सशालः। अभिजित्, आभिजितः। अश्वयुक्, आश्वयुजः। शतभिषक्, शातभिषजः। बहुलग्रहणस्यायं प्रपञ्चः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ वत्सशाल, अभिजित्, अश्वयुज् व शतभिषज् शब्दों से प्रत्यय का लुक् विकल्प से होता है।

उदा० (1) वत्सशालः
वत्सशालायां जातः—अण् प्रत्यय, लुक्,
वत्सशाल सु—टाप् का लुक्।

(2) वात्सशालः
पक्ष में लुक् नहीं हुआ।

(3) आभिजित्
अण् का लुक्।

(4) आभिजितः
अण् का लुक् नहीं हुआ।

(5) अश्वयुज्
प्रत्यय का लुक्।

(6) आश्वयुजः
अश्व युज् अण्—लुक् अभाव।

(7) शतभिषक्
प्रत्यय का लुक्।

(8) शातभिषजः—लुक् अभाव।

(1610) नक्षत्रेभ्यो बहुलम् *37* (1412)

नक्षत्रेभ्य उत्तरस्य जातार्थे प्रत्ययस्य बहुलं लुग्भवति। रोहिणः, रौहिणः। मृगशिराः, मार्गशीर्षः।

अर्थ—'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ नक्षत्रवाची प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय का बहुलता से लोप होता है।

उदा० (1) रोहिणः
रोहिणी—प्रत्यय का लुक्, स्त्रीप्रत्यय का लुक्,
रोहिण सु—विभक्तिकार्य।

(2) रौहिणः
लुक् नहीं हुआ।

(3) मृगशिराः
लुक् हुआ।

(4) मार्गशीर्ष—ये च तद्धिते, लुक् नहीं हुआ।

(1611) कृतलब्धक्रीतकुशलाः *38* (1413)

तत्रेत्येव। सप्तमीसमर्थात्कृतादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति। स्रुघ्ने कृतो लब्धो वा क्रीतो वा कुशलो वा स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः। ननु च यद्यत्र कृतं जातमपि तत्तत्र भवति, यत्र यच्च क्रीतं लब्धमपि तत्तत्रैव भवति, किमर्थं भेदेनोपादानं क्रियते? शब्दार्थस्याभिन्नत्वाद्वस्तु-मात्रेण क्रीतं लब्धं भवति, शब्दार्थस्तु भिद्यत एव।

अर्थ—'किया हुआ', 'पाया', 'खरीदा' तथा 'कुशल'—इन अर्थों में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्ने कृतो/लब्धो/क्रीतः/कुशलः—अण् हुआ।

(2) माथुरः (पूर्ववत्)।

(3) राष्ट्रियः
राष्ट्र घ।

यदि वहाँ पर 'किया हुआ', 'उत्पन्न हुआ' अर्थ है तो वहाँ 'खरीदने' व 'प्राप्त हुआ' ये अर्थ भी होते हैं। तब भेद के द्वारा उपादान क्यों किया गया? शब्द के अर्थ के भिन्न होने से वस्तुमात्र के द्वारा 'क्रीत' व 'लब्ध' होता है। शब्द के अर्थ का भेद तो होता ही है।

(1612) प्रायभवः *39* (1414)

तत्रेत्येव। सप्तमीसमर्थान्ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रायभव इत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। प्रायशब्दः साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह। स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः। प्रायभवग्रहण-मनर्थकम्, तत्रभवेन कृतत्वात् (श्लो०वा०)। अनित्यभवः प्रायभव इति चेत्? मुक्तसंशयेन तुल्यम्।

अर्थ—'प्रायभव' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित शैषिक प्रत्यय होता है। प्रायभव शब्द समग्रता की कुछ न्यूनता को कहता है।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति—अण् हुआ,

(2) माथुरः
अण् हुआ।

(3) राष्ट्रियः
'घ' हुआ।

प्राय०—'प्राय' पद का ग्रहण व्यर्थ है। 'तत्र भवः' इसी सूत्र के द्वारा इस का निर्वाह हो जाता है। यदि 'अनित्यभव ही प्रायभव है' ऐसा माना जाय, तब भी मूल संशय के तुल्य है।

(1613) उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक् *40* (1415)

उपजान्वादिभ्यः शब्देभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रायभव इत्येतस्मिन् विषये ठक् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। औपजानुकः। औपकर्णिकः। औपनीविकः।

अर्थ—'प्रायभव' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ उपजानु, उपकर्ण तथा उपनीवि प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) औपजानुकः
उपजानु ठक्।

(2) औपकर्णिकः
उपकर्ण ठक्।

(3) औपनीविकः
उपनीवि ठक्।

(1614) सम्भूते *41* (1416)

तत्रेत्येव। सप्तमीसमर्थात् ङ्याप्प्रातिपदिकात् सम्भूत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। अवक्लृप्तिः प्रमाणानतिरेकश्च सभवत्यर्थ इह गृह्यते, नोत्पत्तिः सत्ता वा, जातभवाभ्यां गतत्वात्। स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः।

अर्थ—'सम्भूत' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। यहाँ 'सम्भूत' शब्द का उत्पत्ति व सत्ता अर्थ नहीं है।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्ने सम्भवति—अण् हुआ।

(2) माथुरः
अण् हुआ।

(3) राष्ट्रियः
घ, शेष पूर्ववत्।

(1615) कोशाड्ढञ् *42* (1417)

कोशशब्दात् ढञ् प्रत्ययो भवति तत्र सम्भूत इत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। कोशे सम्भूतं कौशेयं वस्त्रम्। रूढिरेषा। तेन कृमौ न भवति, खड्गकोशाच्च।

अर्थ—'सम्भूत' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कोश प्रातिपदिक से 'ढञ्' प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) कौशेयम्
कोशे सम्भूतम्—आदिवृद्धि, एयादेश, सु।
यह रूढि है। तब यहाँ नहीं होता है—
खड्गकोश।

(1616) कालात् साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु *43* (1418)

तत्रेत्येव। कालविशेषवाचिभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः साध्वादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति। हेमन्ते साधुः हैमन्तः प्राकारः। शैशिरमनुलेपनम्। वसन्ते पुष्प्यन्ति वासन्त्यः कुन्दलताः। ग्रैष्म्यः पाटलाः। शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः। ग्रैष्मा यवाः।

अर्थ—साधु, पुष्प्यत् तथा पच्यमान—इन अर्थों में सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) हैमन्तः
हेमन्ते साधुः—अण् हुआ।

(2) शैशिरम्
अण् हुआ।

(3) वासन्त्यः (कुन्दलताः)
वसन्ते पुष्प्यन्ति—अण्, ङीप्, जस्।

(4) ग्रैष्म्यः (पाटलाः)
पूर्ववत्।

(5) शारदाः (शालयः)
शरदि पच्यन्ते—अण्, जस्।

(6) ग्रैष्माः (यवाः)
ग्रीष्मे पच्यन्ते—पूर्ववत्।
यहाँ आदिवृद्धि ही विशेष है। शेष विभक्तिकार्य होता है।

(1617) उप्ते च *44* (1419)

तत्रेत्येव कालादिति च। सप्तमीसमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकादुप्ते यथाविहितं प्रत्ययो भवति। हेमन्ते उप्यन्ते हैमन्ता यवाः। ग्रैष्मा व्रीहयः। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—'बोया हुआ' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) हैमन्ताः (यवाः)
हेमन्त उप्ताः—अण् हुआ।

(2) ग्रैष्माः (व्रीहयः)
अण् हुआ।
उत्तरशास्त्र के लिए योगविभाग किया गया है।

(1618) आश्वयुज्या वुञ् *45* (1420)

आश्वयुजीशब्दाद् वुञ् प्रत्ययो भवति उप्तेऽर्थे। ठञोऽपवादः। आश्वयुज्यामुप्ता आश्वयुजका माषाः। अश्विनीभ्यां युक्ता पौर्णमासी आश्वयुजी। अश्विनीपर्यायः अश्वयुक्-शब्दः।

अर्थ—'बोया हुआ' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ आश्वयुजी प्रातिपदिक से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। यह ठञ् का अपवाद है। 'अश्वयुज्' का अर्थ है—अश्विनी। अश्वयुजा युक्ता पौर्णमासी—आश्वयुजी।

उदा० (1) आश्वयुजकाः (माषाः)
आश्वयुज्याम् उप्ताः—इस अर्थ में,
आश्वयुजी वुञ्—हलन्त्यम्, युवोरनाकौ,
आश्वयुजी अक—अन्त्य लोप,
आश्वयुज् अक—प्रथमा एकवचन,
आश्वयुजकः—विभक्तिकार्य।

यहाँ 'कालाट् ठञ्' से 'ठञ्' प्राप्त था।

(1619) ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम् *46* (1421)

ग्रीष्मवसन्तशब्दाभ्यामन्यतरस्यां वुञ् प्रत्ययो भवति उप्तेऽर्थे। ऋत्वणोऽपवादः। ग्रैष्मकम्। ग्रैष्मं सस्यम्। वासन्तकम्। वासन्तम्।

अर्थ—'बोया' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची ग्रीष्म व वसन्त प्रातिपदिक से 'वुञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह ऋतुलक्षण अण् का अपवाद है।

उदा० (1) ग्रैष्मकम्
ग्रीष्म उप्तम्—वुञ्, अक आदेश।

(2) ग्रैष्मम्
वुञ् नहीं हुआ। पक्ष में अण् हुआ।

(3) वासन्तकम्
वुञ् हुआ।

(4) वासन्तम्
पक्ष में अण् हुआ।

(1620) देयमृणे *47* (1422)

तत्रेति वर्तते, कालादिति च। सप्तमीसमर्थात्कालवाचिनः प्रातिपदिकाद्देयमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यद्देयमृणं चेत्तद्भवति। मासे देयमृणं मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। ऋण इति किम्? मासे देया भिक्षा।

अर्थ—'ऋण देय' इस शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) मासिकम्
मासे देयम् ऋणम्—आदिवृद्धि, ठस्येकः।

(2) आर्द्धमासिकम् (पूर्ववत्)।

(3) सांवत्सारिकम्
संवत्सरे देयम् ऋणम्—पूर्ववत्, विभक्तिकार्य।

ऋण इति० अर्थात् **ऋण देय है**—इस अर्थ में ही प्रत्यय होता है—

मासे देया भिक्षा—प्रत्यय नहीं हुआ।

(1621) कलाप्यश्वत्थयवबुसाद्वुन् *48* (1423)

कालादित्येव। कलापि, अश्वत्थ, यवबुस इत्येतेभ्यः कालवाचिभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यो देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे वुन् प्रत्ययो भवति। कलाप्यादयः शब्दाः साहचर्यात् काले वर्त्तन्ते। यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स कलापि। यस्मिन्नश्वत्थाः फलन्ति सोऽश्वत्थः। यस्मिन् यवबुसं सम्पद्यते स यवबुसशब्देनोच्यते। कलापिनि काले देयमृणं कलापकम्। अश्वत्थकम्। यवबुसकम्।

अर्थ—'ऋण देय है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कलापि, अश्वत्थ तथा यवबुस प्रातिपदिकों से 'वुञ्' होता है। कलापि आदि शब्द साहचर्यवशात् काल अर्थ में होते हैं।

उदा० (1) कलापकम्
यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स कलापी = जिस काल में मोरों के पंख निकलते हैं।
कलापिनि काले देयमृणम्—आदिवृद्धि नहीं हुई।

(2) अश्वत्थकम्
यस्मिन्नश्वत्थाः फलन्ति सोऽश्वत्थः = वह काल जिसमें पीपल पकता है।
अश्वत्थे देयम् ऋणम्—सभी कार्य पूर्ववत्।

(3) यवबुसकम्
यस्मिन् यवबुसं सम्पद्यते स यवबुसः—वह काल जिसमें यव का बुस निकाला जाता है।
यवबुसे देयमृणम्—वुन् हुआ,
यवबुस वुन्—युवोरनाकौ,
यवबुस अक सु—प्रथमा एकवचन।

(1622) ग्रीष्मावरसमाद् वुञ् *49* (1424)

ग्रीष्मावरसमशब्दाभ्यां वुञ् प्रत्ययो भवति देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे। अण्ठञोरपवादः। ग्रीष्मे देयमृणं ग्रैष्मकम्। आवरसमकम्। प्रत्ययान्तरकरणं वृद्ध्यर्थम्। समाशब्दो वर्षपर्यायः।

अर्थ—'ऋण देय' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची ग्रीष्म व अवरसम प्रातिपदिकों से 'वुञ्' होता है। यह अण् और ठञ् का अपवाद है।

उदा० (1) ग्रैष्मकम्
ग्रीष्म वुञ्—अक आदेश, आदिवृद्धि।

(2) आवरसमकम्
अवरसम वुञ्।

'वुन्' के स्थान पर 'वुञ्' किया जाता है, जो वृद्धि के निमित्त है। समा शब्द का अर्थ है—वर्ष।

(1623) संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ्च *50* (1425)

संवत्सराग्रहायणीशब्दाभ्यां ठञ् प्रत्ययो भवति, चकाराद् वुञ्च देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे। संवत्सरे देयमृणं सांवत्सरिकम्। सांवत्सरकम्। आग्रहायणिकम्। आग्रहायणकम्। वेति वक्तव्ये ठञ्ग्रहणं सन्धिवेलादिषु संवत्सरात्फलपर्वणोरिति पठ्यते, तत्र फले ऋणत्वेन विवक्षितेऽणं बाधित्वा ठञेव यथा स्यादिति।

अर्थ—'ऋणदेय' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची संवत्सर व आग्रहायणी प्रातिपदिकों से ठञ् व वुञ् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) सांवत्सरिकम्
संवत्सरे देयम् ऋणम्—ठञ् हुआ।

(2) सांवत्सरकम्
वुञ् हुआ।

(3) आग्रहायणिकम्
आग्रहायणी ठञ्।

(4) आग्रहायणकम्
वुञ् हुआ।

वेति०—'वा' कहना चाहिए था, परन्तु ठञ् का ग्रहण है। सन्धिवेलादि में 'संवत्सर से फल और पर्व अर्थों में' ऐसा पाठ है। यहाँ फल के ऋणत्व रूप से विवक्षित रहने पर अण् का बाध करके ठञ् ही हो जाय—इसलिए ठञ् का ग्रहण किया गया है।

(1624) व्याहरति मृगः *51* (1426)

तत्रेति, कालादिति च वर्तते। कालवाचिनः सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद् व्याहरति मृग इत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। निशायां व्याहरति मृगः नैशः, नैशिकः। प्रादोषः, प्रादोषिकः। मृग इति किम्? निशायां व्याहरत्युलूकः।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, 'मृग शब्द करता है' इस अर्थ में। 'मृग' शब्द उपलक्षणार्थ है।

उदा० (1) नैशः
निशायां व्याहरति मृगः—अण् हुआ,
नैश अ सु—आदिवृद्धि।

(2) नैशिकः
निशा ठञ् सु।

(3) प्रादोषः
प्रदोष अण् सु।

(4) प्रादोषिकः
ठञ् हुआ।

मृग इति० अर्थात् 'मृग शब्द करता है'—इस अर्थ में प्रत्यय होता है—

निशायां व्याहरत्युलूकः—यहाँ नहीं हुआ।

(1625) तदस्य सोढम् *52* (1427)

कालादित्येव। तदिति प्रथमासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्प्रथमासमर्थं सोढञ्चेत्तद्भवति। सोढं जितमभ्यस्तमित्यर्थः। निशासहचरितमध्ययनं निशा, तत्सोढमस्य छात्रस्य नैशः, नैशिकः। प्रादोषः, प्रादोषिकः।

अर्थ—षष्ठ्यर्थ में प्रथमान्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह 'सोढ' का समानाधिकरण हो।

सोढ = जित, सहन किया गया।

उदा० (1) नैशः (छात्रः)
निशा सहचरितम् अध्ययनं निशा तत् सोढम् अस्य छात्रस्य
निशा अण्—आदिवृद्धि, सु।

(2) नैशिकः
निशा ठञ् सु—पक्ष में हुआ।

(3) प्रादोषः
प्रदोष अण्।

(4) प्रादोषिकः
प्रदोष ठञ् सु।

(1626) तत्र भवः *53* (1428)

कालादिति निवृत्तम्। तत्रेति सप्तमीसमर्थाद् ङ्याप्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। सत्ता भवत्यर्थो गृह्यते न जन्म, 'तत्र जातः' (4.3.25) इति गतार्थत्वात्। स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः। पुनस्तत्रग्रहणं 'तदस्य' इति निवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, 'भव' इस अर्थ में।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्ने भवः—अण्, आदिवृद्धि।

(2) माथुरः (पूर्ववत्)।
(3) राष्ट्रियः

'तदस्य' पद की निवृत्ति के लिए 'तत्र' का ग्रहण किया गया है।

(1627) दिगादिभ्यो यत् *54* (1429)

दिश् इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यत् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अणश्छस्य चापवादः। दिशि भवं दिश्यम्। वर्ग्यम्। मुखजघनशब्दयोरशरीरावयवार्थः पाठः-सेनामुख्यम्, सेनाजघन्यमिति। दिश्। वर्ग। पूग। गण। पक्ष। धाय्या। मित्र। मेधा। अन्तर। पथिन्। रहस्। अलीक। उखा। साक्षिन्। आदि। अन्त। मुख। जघन। मेघ। यूथ। *उदकात्संज्ञायाम्* (ग०सू० 105)। न्याय। वंश। अनुवंश। विश। काल। अप्। आकाश-दिगादिः।

अर्थ—'तत्र भवः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ दिश् आदि प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है। यह अण् व छ का अपवाद है।

उदा० (1) दिश्यम्
दिशि भवम्—यत् हुआ, सु।

(2) वर्ग्यम्
वर्ग यत्।

मुख व जघन शब्दों का शरीर के अवयव से भिन्न के लिए पाठ किया गया है। यथा—

(3) सेनामुख्यम्
यहाँ 'मुख' का अर्थ शरीरावयवस्वरूप 'मुख' नहीं है।

(4) सेनाजघन्यम्
पूर्ववत् जानना चाहिए।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1628) शरीरावयवाच्च *55* (1430)

शरीरं प्राणिकायः। शरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकाद् यत्प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। दन्तेषु भवं दन्त्यम्। कर्ण्यम्। ओष्ठ्यम्।

अर्थ—'तत्र भवः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ शरीर के अवयववाची प्रातिपदिक से 'यत्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) दन्त्यम्
दन्तेषु भवम् → दन्त यत् सु।

(2) कर्ण्यम्
कर्ण यत्।

(3) ओष्ठ्यम्
ओष्ठ यत्।

(1629) दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् *56* (1433)

दृत्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ढञ् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। दृतौ भवं दार्तेयम्। कौक्षेयम्। कालशेयम्। वास्तेयम्। आस्तेयम्। आहेयमजरं विषम्। अस्तिशब्दः प्रातिपदिकं, न तिङन्तः।

अर्थ—'तत्र भवः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति; अस्ति तथा अहि—इन प्रातिपदिकों से 'ढञ्' होता है।

उदा० (1) दार्त्तेयम्
दृति ढञ्—आदिवृद्धि, एयादेश,
दार्तेय सु—अचो रहाभ्यां द्वे, सु।

(2) कौक्षेयम्
कुक्षि ढञ्—पूर्ववत्।

(3) कालशेयम् (पूर्ववत्)।
(4) वास्तेयम्
ढञ् हुआ।

(5) आस्तेयम्
अस्ति ढञ्।

(6) आहेयम्
अहि ढञ्।

'अस्ति' शब्द तिङन्त नहीं है, अपितु प्रातिपदिक है।

(1630) ग्रीवाभ्योऽण् च *57* (1434)

ग्रीवाशब्दादण् प्रत्ययो भवति चकारात् ढञ्च तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। शरीरावयवाद्यतोऽपवादः। ग्रीवासु भवं ग्रैवम्। ग्रीवाशब्दो धमनीवचनः, तासां बहुत्वाद् बहुवचनं कृतम्।

अर्थ—'तत्र भवः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ ग्रीवा प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है तथा ढञ् भी होता है। 'ग्रीवा' के शरीर का अवयव होने से इससे तल्लक्षण 'यत्' प्राप्त था। यह उसका अपवाद है।

उदा० (1) ग्रैवम्
ग्रीवा अण्—आदिवृद्धि
(2) ग्रैवेयम्
ढञ् हुआ।

ग्रीवा शब्द धमनीवाची है। उनके बहुत्व की विवक्षा में 'ग्रीवाभ्यः' यहाँ बहुवचन का निर्देश है।

(1631) गम्भीराञ्ञ्यः *58* (1435)

गम्भीरशब्दात् ञ्यः प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। गम्भीरे भवं गाम्भीर्यम्। *बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्* (म० भा० 4.3.60, श्लो० वा० 10)। बाह्यम्। दैव्यम्। पाञ्चजन्यम्।

अर्थ—'तत्र भवः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ गम्भीर प्रातिपदिक से 'ञ्य' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) गाम्भीर्यम्
गम्भीरे भवम्—ञ्य हुआ,
गम्भीर ञ्य—चुटू, आदिवृद्धि,
गाम्भीर्यम्—सु।

बहिर्देव०—बहिस्, देव तथा पञ्चजन शब्दों से 'ञ्य' होता है—
(2) बाह्यम्
बहिस् ञ्य → बाह् य—बहिःषष्टिलोपश्च, आदिवृद्धि,
बाह्यम्—सु।
(3) दैव्यम्
दैव ञ्य—आदिवृद्धि, सु।

(4) पाञ्चजन्यम्
पञ्चजन ञ्य सु।

(1632) अव्ययीभावाच्च *59* (1436)

अव्ययीभावसंज्ञकात् प्रातिपदिकाच्च ञ्यः प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। न च सर्वस्मादव्ययीभावाद्भवति, किं तर्हि? परिमुखादेः। परिमुखादीनां च गणपाठस्यैतदेव प्रयोजनम्—तेषां विशेषणमव्ययीभावग्रहणम्। परिमुखं भवं पारिमुख्यम्। पारिहनव्यम्। परिमुखादेरन्यत्र न भवति—औपलूकम्। परिमुख। परिहनु। पर्योष्ठ। पर्युलूखल। औपमूल। परिसीर। अनुसीर। उपसीर। उपस्थल। उपकलाप। अनुपथ। अनुखड्ग। अनुतिल। अनुशीत। अनुमाष। अनुयव। अनुयूप। अनुवंश।

अर्थ—'तत्र भवः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ अव्ययीभाव-संज्ञक प्रातिपदिक से 'ञ्य' होता है। यह अण् का अपवाद है। सभी अव्ययीभाव से नहीं होता है। तो किससे होता है? परिमुख आदि से। परिमुखादि के गणपाठ का यही प्रयोजन है। उनके विशेषण ही अव्ययीभाव का ग्रहण है।

उदा० (1) पारिमुख्यम्
परिमुखं भवम्—'ञ्य' हुआ,
पारिमुख् य सु—आदिवृद्धि।
(2) पारिहनव्यम्
परिहनु ञ्य—ओर्गुणः, अवादेश।
(3) औपकूलम्
उपकूलम् अण्—यहाँ नहीं हुआ।

(1633) अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् * 60* (1437)

अव्ययीभावादित्येव। अन्तःशब्दो विभक्त्यर्थे समस्यते, तत्पूर्वपदादव्ययीभावाट्ठञ् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। आन्तर्वेश्मिकम्। आन्तर्गेहिकम्। *समानशब्दाट्ठञ् वक्तव्यः* (म० भा०)। समाने भवं सामानिकम्। *तदादेश्च* (म० भा०)। सामानग्रामिकम्। सामानदेशिकम्। *अध्यात्मादिभ्यश्च* (म० भा०)। आध्यात्मिकम्। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। अध्यात्मादिराकृतिगणः। *ऊर्ध्वन्दमाच्च ठञ् वक्तव्यः* (म० भा०)। और्ध्वन्दमिकः। ऊर्ध्वशब्देन समानार्थ ऊर्ध्वन्दमशब्दः। *ऊर्ध्वदेहाच्च* (म० भा०)। और्ध्वदेहिकम्।

लोकोत्तरपदाच्च (म० भा०)। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। *मुखपार्श्वशब्दाभ्यां तसन्ताभ्यामीयः प्रत्ययो वक्तव्यः* (म० भा०)। मुखतीयम्। पार्श्वतीयम्। *जनपरयोः कुक्च* (म० भा०)। जनकीयम्। परकीयम्। *मध्यशब्दादीयः* (म० भा०)। मध्यीयः। *मणमीयौ च प्रत्ययौ वक्तव्यौ* (म० भा०)। माध्यमम्। मध्यमीयम्। *मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात्* (म० भा०)। मध्ये भवं माध्यन्दिनम्। *स्थाम्नो लुगवक्तव्यः* (म० भा०)। अश्वत्थामा। *अजिनान्ताच्च* (म० भा०)। वृकाजिनः। सिंहाजिनः।

अर्थ—'अव्ययीभावात्' का अनुवर्त्तन है। 'अन्तः' शब्द का विभक्ति के अर्थ में समास होता है। 'तत्र भवः' अर्थ में 'अन्तः' शब्द है पूर्वपद में जिसके, ऐसे अव्ययीभावसंज्ञक सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) आन्तर्वेश्मिकम्
अन्तर्वेश्म ठञ्—आदिवृद्धि, सु।

(2) आन्तर्गेहिकम्
अन्तर्गेह ठञ्—आदिवृद्धि, सु।

समान शब्दात्०—समान शब्द से ठञ् होता है—

(3) सामनिकम्
समाने भवम्—ठञ्, आदिवृद्धि।

तदादेश्च—समान शब्द है आदि में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ठञ् होता है—

(4) सामानग्रामिकम्
समानग्राम ठञ्।

(5) सामानदेशिकम्
समानदेश ठञ्।

अध्यात्मा०—अध्यात्म आदि शब्दों से ठञ् होता है—

(6) आध्यात्मिकम्
अध्यात्म ठञ्—आदिवृद्धि।

(7) आधिदैविकम्
अधिदेव ठञ्। उभयपदवृद्धि।

(8) आधिभौतिकम्
अधिभूत ठञ्—उभयपदवृद्धि,
आधिभौतिक सु—सु।

ऊर्ध्वन्दमाच्च०—ऊर्ध्वन्दम शब्द से ठञ् होता है—

(9) और्ध्वन्दमिक
ऊर्ध्वन्दम ठञ्।
ऊर्ध्व शब्द का समानार्थी 'ऊर्ध्वन्दम' शब्द है।

ऊर्ध्वदेहाच्च—ऊर्ध्वदेह शब्द से ठञ् होता है—

(10) और्ध्वदेहिकम्
ऊर्ध्वदेह ठञ्।

लोकोत्तर—लोक शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से ठञ् होता है—

(11) ऐहलौकिकम्
इहलोक ठञ्—उभयपदवृद्धि।

(12) पारलौकिकम्
परलोक ठञ्।

मुखपार्श्व०—तस् प्रत्ययान्त मुख तथा पार्श्व शब्दों से 'ईय' होता है—

(13) मुखतीयम्
मुखतस्—'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' से 'तस्',
मुखत् ईय—टिलोप, सु आदि।

(14) पार्श्वतीयम् (पूर्ववत्)।

जनपर०—जन तथा पर शब्दों से 'ईय' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'कुक्' आगम होता है—

(15) जनकीयम्
जन कुक् ईय—सु आदि।

(16) परकीयम्
पर कुक् ईय—पूर्ववत्।

मध्यशब्दा०—मध्य शब्द से 'ईय' होता है—

(17) मध्यीयः
मध्य ईय सु—विभक्तिकार्य।

मण्मीयौ०—मध्य शब्द से 'मण्' तथा 'मीय्' प्रत्यय होते हैं—

(18) माध्यमम्
मध्य मण्—आदिवृद्धि, सु।

(19) मध्यमीयम्
मध्य मीय सु।

मध्यो मध्यं०—मध्य शब्द को 'मध्यम्' आदेश तथा 'दिनण्' प्रत्यय होता है—

(20) माध्यन्दिनम्
मध्ये भवम् → मध्य दिनण्—
माध्यन्दिन सु—विभक्तिकार्य।

स्थाम्नो लुग्०—स्थामन् शब्द से प्रत्यय का लुक् होता है—

(21) अश्वत्थामा
अश्वस्येव स्थाम अस्य—बहुव्रीहि समास, 'पृषोदरादीनि०' से 'स्थामन्' के 'स्' को 'त्'

अश्वत्थाम्नि भवः—इस अर्थ में अकार प्रत्यय, इसका लुक् हुआ, विभक्तिकार्य होकर।

अजिनान्ताच्च—अजिन शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से प्रत्यय का लुक् होता है—

(22) वृकाजिनः
वृकाजिन सु—औत्सर्गिक 'अण्' का लुक्।

(23) सिंहाजिनः (पूर्ववत्)।

उपर्युक्त सभी वार्त्तिकों को निम्नलिखित कारिकाओं में निबद्ध कर दिया गया है—

> **समानस्य तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्यते।**
> **ऊर्ध्वन्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदस्य च॥**
> **मुखपार्श्वतसोरीयः कुग्जनस्य परस्य च।**
> **ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ प्रत्ययौ तथा॥**
> **मध्यो मध्यं दिनण्चास्मात्स्थाम्नो लुगजिनात्तथा॥**
> **(म०भा०)**

(1634) ग्रामात्पर्यनुपूर्वात् *61* (1440)

अव्ययीभावादित्येव। ग्रामशब्दान्तादव्ययीभावात् परि अनु-इत्येवम्पूर्वात् ठञ् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। पारिग्रामिकः। आनुग्रामिकः।

अर्थ—'अव्ययीभावात्' का अनुवर्त्तन है। अव्ययीभावसंज्ञक सप्तम्यन्त समर्थ परि तथा अनुपूर्वक ग्राम प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है, 'भव' अर्थ में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) पारिग्रामिकः
परिग्राम ठञ्—आदिवृद्धि, सु।

(2) आनुग्रामिकः
अनुग्राम ठञ्।

(1635) जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः *62* (1441)

जिह्वामूलशब्दादङ्गुलिशब्दाच्च छः प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

अर्थ—सप्तम्यन्त समर्थ जिह्वामूल तथा अंगुलि शब्दों से 'भव' शैषिक अर्थ में 'छ' होता है। 'शरीरावयवाच्च' से प्राप्त 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) जिह्वामूलीयम्
जिह्वामूल छ—ईयादेश।

(2) अङ्गुलीयम्
अङ्गुल्यां भवम्—पूर्ववत्।

(1636) वर्गान्ताच्च *63* (1442)

वर्गशब्दान्ताच्च प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। कवर्गीयम्। चवर्गीयम्।

अर्थ—'वर्ग' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय होता है, 'तत्र भवः' अर्थ में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) कवर्गीयम्
कवर्गे भवम्—छ, ईयादेश।

(2) चवर्गीयम्
चवर्ग छ।

(1637) अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम् *64* (1443)

वर्गान्तादित्येव। शब्दादन्यस्मिन् प्रत्ययार्थे वर्गान्तात्प्रातिपदिकादन्यतरस्यां यत्खौ प्रत्ययौ भवतः तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये। छे प्राप्ते वचनम्, पक्षे सोऽपि भवति। वासुदेववर्ग्यः। वासुदेववर्गीणः। वासुदेववर्गीयः। युधिष्ठिरवर्ग्यः। युधिष्ठिरवर्गीणः। युधिष्ठिरवर्गीयः। अशब्द इति किम्? कवर्गीयो वर्णः।

अर्थ—'वर्गान्तात्' की अनुवृत्ति है। यदि 'शब्द' से अतिरिक्त कोई प्रत्ययार्थ अभिधेय हो तो 'वर्ग' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'तत्र भवः' अर्थ में विकल्प से 'यत्' व 'ख' होते हैं। 'छ' प्राप्त होने पर विधान किया जा रहा है। पक्ष में 'छ' भी होता है।

उदा० (1) वासुदेववर्ग्यः
वासुदेववर्गे भवः—'यत्' हुआ।

(2) वासुदेववर्गीणः
'ख' हुआ।

(3) वासुदेववर्गीयः
पक्ष में 'छ' हुआ।

(4) युधिष्ठिरवर्ग्यः
'यत्' हुआ।

(5) युधिष्ठिरवर्गीणः
'ख' हुआ।

(6) युधिष्ठिरवर्गीयः
'छ' हुआ।

अशब्द०—शब्द से अतिरिक्त कोई प्रत्ययार्थ अभिधेय हो तो ये प्रत्यय होते हैं—

(7) कवर्गीयो वर्णः
कवर्गे भवः—'यत्' व 'ख' नहीं हुए। 'छ' हुआ।

(1638) कर्णललाटात् कनलङ्कारे *65* (1444)

कर्णललाटशब्दाभ्यां कन् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन्, विषयेऽलङ्कारेऽभिधेये। यतोऽपवादः। कर्णिका। ललाटिका। अलङ्कार इति किम्? कर्ण्यम्, ललाट्यम्।

अर्थ—'तत्र भवः' शैषिक अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'कर्ण' तथा 'ललाट' प्रातिपदिकों से 'कन्' प्रत्यय होता है, अलंकार अर्थ वाच्य हो तो। यह 'शरीरावयवाच्च' से प्राप्त 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) कर्णिका
कर्णे भवा → कर्ण कन् टाप् सु।

(2) ललाटिका
ललाटे भवा—पूर्ववत्।

अलङ्कार० अर्थात् अलंकार अर्थ वाच्य होने पर ही 'कन्' होता है—

(3) कर्ण्यम्
कर्णे भवम्—'कन्' नहीं हुआ। 'यत्' हुआ।

(4) ललाट्यम्
पूर्ववत् 'यत्'।

(1639) तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः *66* (1445)

व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम्, व्याख्यातव्यस्य नाम व्याख्यातव्यनाम। तस्येति षष्ठीसमर्थाद् व्याख्यातव्यनाम्नः प्रातिपदिकाद् व्याख्यानेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति, तत्र भवे च। वाक्यार्थसमीपे चकारः श्रूयमाणः पूर्ववाक्यार्थमेव समुच्चिनोति तत्र भव (4.3.53) इति। सुपां व्याख्यानः सौपो ग्रन्थः। तैङः। कार्त्तः। सुप्सु भवं सौपम्। तैङम्। कार्त्तम्। व्याख्यातव्यनाम्न इति किम्? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोशला। पाटलिपुत्रः सुकोशलया व्याख्यायते—एवं सन्निवेशं पाटलिपुत्रमिति, न तु पाटलिपुत्रो व्याख्यातव्यनाम। भवव्याख्यानयोर्युगपदधिकारोऽपवादविधानार्थः (म० भा०), कृतनिर्देशौ हि तौ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ व्याख्यानयोग्य प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होता है, 'व्याख्यान' अर्थ गम्यमान रहते। वाक्यार्थ के पास श्रूयमाण चकार पूर्ववाक्यार्थ को समुच्चित करता है। यथा—

उदा० (1) सौपम्
सुपां व्याख्यानः—सौपो ग्रन्थः यहाँ अण् व आदिवृद्धि होकर रूप बना है।
सुप्सु भवम्—'भव' अर्थ में 'अण्' हुआ।

(2) तैङम्
तिङां व्याख्यानः—तैङो ग्रन्थः पूर्ववत्।
तिङ्क्षु भवम्—पूर्ववत्।

(3) कार्त्तम्
कृत्सु भवम्—पूर्ववत्।

व्याख्यात० अर्थात् **व्याख्यान करने योग्य** इस अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से ही प्रत्यय होता है—

पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसला—यहाँ पाटलिपुत्र व्याख्यातव्यवाची नहीं है। अतः प्रत्यय नहीं हुआ।

'भव' तथा 'व्याख्यान' इन दोनों का एक साथ अधिकार तथा अपवाद का विधान करने के लिए है। कारण कि इन दोनों अर्थों का निर्देश किया जा चुका है।

(1640) बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ् *67* (1446)

बह्वचो व्याख्यातव्यनाम्नः प्रातिपदिकादन्तोदात्ताद्भवव्याख्यानयोष्ठञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। षात्वण-

त्विकम्। नातानतिकम्। समासस्वरेणान्तोदात्ताः प्रकृतयः। बह्वच इति किम्? द्व्यचष्ठकं (4.3.72) वक्ष्यति। एकाच् प्रत्युदाह्रियते–सौपम्, तैङम्, कार्त्तम्। अन्तोदात्तादिति किम्? संहितायाः सांहितम्। संहिताशब्दो हि गतिस्वरेणाद्युदात्तः।

अर्थ—'व्याख्यान' तथा 'भव' अर्थों में वर्तमान यथासंख्य करके षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त समर्थ अनेकाच् अन्तोदात्त प्रातिपदिक से 'ठञ्' प्रत्यय होता है, 'व्याख्यान के योग्य' इसके गम्यमान रहते। अण् का अपवाद है।

उदा० (1) षात्वणत्विकम्

षत्वणत्वयोर्व्याख्यानम्—षष्ठ्यन्त से ठञ् हुआ,

षत्वणत्वयोर्भवम्—सप्तम्यन्त से ठञ् हुआ।

(2) नातानतिकम्

नतश्चाऽनतश्च—नतानतौ

तयोर्व्याख्यानम्
तयोर्भवम् } पूर्ववत ठञ्।

समास को मान कर होने वाले स्वर से प्रकृति अन्तोदात्त हो जाती है।

बह्वच० अर्थात् अनेकाच् प्रातिपदिक से ठञ् होता है—

(3) सौपम्

सुपां व्याख्यानम्, सुप्सु भवम्—दोनों दशाओं में 'ठञ्' नहीं हुआ, अण् हुआ।

इसी प्रकार 'तैङम्' तथा 'कार्त्तम्' के विषय में भी जानना चाहिए।

अन्तो० अर्थात् अन्तोदात्त प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

(4) सांहितम्

संहिताया व्याख्यानम्—अन्तोदात्त न होने से 'ठञ्' नहीं हुआ, अण् हुआ।

(1641) क्रतुयज्ञेभ्यश्च *68* (1447)

क्रतुभ्यो यज्ञेभ्यश्च व्याख्यातव्यनामभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोष्ठञ् प्रत्ययो भवति। अणोऽपवादः। क्रतुभ्यस्तावत्–अग्निष्टोमस्य व्याख्यानस्तत्र भवः आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, राजसूयिकः (म०भा०)। यज्ञेभ्यः–पाकयज्ञिकः, नावयज्ञिकः। अनन्तोदात्तार्थ आरम्भः। क्रतुभ्य इत्येव सिद्धे यज्ञग्रहणसोमयागेभ्योऽपि यथा स्यात्–पाञ्चौदनिकः, दाशौदनिकः। बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्।

अर्थ—'व्याख्यानयोग्य' अर्थ गम्यमान रहते व्याख्यान और भव अर्थों में यथासंख्यक षष्ठ्यन्त व सप्तम्यन्त समर्थ, क्रतुवाची व यज्ञवाची प्रातिपदिकों से 'ठञ्' होता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अर्थों और विभक्त्यन्त का यथासंख्य होता है। इस प्रकार व्याख्यान अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से तथा भव अर्थ में सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय होता है। क्रतुवाची व यज्ञवाची प्रातिपदिकों व अर्थों के सम्बन्ध में यथासंख्य नियम नहीं होता। तब उक्त दोनों प्रकार के प्रातिपदिकों से सूत्रोक्त दोनों अर्थों में पर्यायेण ठञ् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) आग्निष्टोमिकः

अग्निष्टोमस्य व्याख्यानः
तत्र भवः } दोनों स्थलों पर 'ठञ्' हुआ।

(2) वाजपेयिक

वाजपेय ठञ्—पूर्ववत्।

(3) राजसूयिकः

राजसूय ठञ्—पूर्ववत्।

(4) पाकयज्ञिकः

पाकयज्ञ ठञ्।

(5) नावयज्ञिकः

नावयज्ञ ठञ्।

जो अन्तोदात्त नहीं है, उनके लिए यह सूत्र बनाया गया है। 'क्रतुभ्यः' इतने मात्र से सिद्ध होने पर 'यज्ञ' शब्द का ग्रहण किया है, ताकि सोमयाग से भिन्न से भी प्रत्यय हो जाय। यथा—

(6) पाञ्चौदनिकः

पञ्चौदनस्य व्याख्यनाः
तत्र भवः } ठञ् हुआ।

(7) दाशौदनिकः

पूर्ववत् 'ठञ्' हुआ।

बहुवचन का प्रयोग स्वरूपविधि के निरास के लिए है।

(1642) अध्यायेष्वेवर्षेः *69* (1448)

ऋषिशब्दाः प्रवरनामधेयानि, तेभ्य ऋषिशब्देभ्यो भव-व्याख्यानयोरर्थयोष्ठञ् प्रत्ययो भवति, अध्यायेष्वेव प्रत्ययार्थविशेषणेषु। अणोऽपवादः। व्याख्यातव्यनाम्न इत्यनुवर्त्तते, तत्साहचर्यादृषिशब्दैर्ग्रन्थ उच्यते। वसिष्ठस्य व्याख्यानः, तत्र भवो वा वासिष्ठिकोऽध्यायः। वैश्वामित्रिकः। अध्यायेष्विति किम्? वासिष्ठी ऋक्।

अर्थ—व्याख्यान तथा भव अर्थों में यथासंख्यक षष्ठ्यन्त व सप्तम्यन्त समर्थ व्याख्यानयोग्य ऋषिवाची शब्दों से ठञ् प्रत्यय होता है, 'अध्याय' अर्थ गम्यमान हो तो। यह अण् का अपवाद है। 'अध्याय' ही जब प्रत्ययार्थ का विशेषण हो, तभी यह होता है। 'व्याख्यातव्यनाम' का अनुवर्तन है। इसके साहचर्य से 'ऋषि' शब्द से ग्रन्थ कहा जाता है।

उदा० (1) वासिष्ठिकोऽध्यायः

वसिष्ठस्य व्याख्यानः
वसिष्ठे भवः } ठञ् हुआ।

(2) वैश्वामित्रिकः

विश्वामित्रस्य व्याख्यानः
विश्वामित्रे भवः } ठञ् हुआ।

अध्याये० अर्थात् अध्याय अर्थ गम्यमान हो तो ठञ् होता है—

(3) वासिष्ठी ऋक्

यहाँ नहीं हुआ।

(1643) पौरोडाशपुरोडाशात् ष्ठन् *70* (1449)

पौरोडाशशब्दात्पुरोडाशशब्दाच्च भवव्याख्यानयोरर्थयोः ष्ठन् प्रत्ययो भवति। पुरोडाशाः पिष्टपिण्डाः, तेषां संस्कारको मन्त्रः पौरोडाशः, तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पौरोडाशिकः, पौरोडाशिकी। पुरोडाशसहचरितो ग्रन्थः पुरोडाशस्तस्य व्याख्यानः तत्र भवो वा पुरोडाशिकः, पुरोडाशिकी। षकारो ङीषर्थः।

अर्थ—व्याख्यान तथा भव अर्थों में यथासंख्य करके षष्ठ्यन्त व सप्तम्यन्त समर्थ पौरोडाश तथा पुरोडाश प्रातिपदिकों से 'ष्ठन्' होता है। पिष्टपिण्ड को पुरोडाश कहा जाता है। उन पिण्डों का संस्कारक मन्त्र 'पौरोडाश' कहलाता है।

उदा० (1) पौरोडाशिकः

पौरोडाशस्य व्याख्यानः
पौरोडाशे भवः } 'ष्ठञ्' हुआ।

(2) पौरोडाशिकी

ङीप् हुआ।

(3) पुरोडाशिकः

'ष्ठञ्' हुआ।

(4) पुरोडाशिकी (पूर्ववत्)।

'ष्' अनुबन्ध ङीष् के लिए है।

(1644) छन्दसो यदणौ *71* (1450)

छन्दःशब्दाद्भवव्याख्यानयोरर्थयोर्यदणौ प्रत्ययौ भवतः। 'द्व्यचः' इति ठकि प्राप्ते वचनम्। छंन्दुस्यः (तै०सं० 1.6.11.4)। छान्दसः (कौ०गृ० 141.3.4)।

अर्थ—'भव' और 'व्याख्यान' अर्थों का ग्रहण होता है। इन अर्थों में षष्ठ्यन्त व सप्तम्यन्त समर्थ 'छन्दस्' प्रातिपदिक से 'यत्' और 'अण्' प्रत्यय पर्यायेण होते हैं। 'द्व्यचः' से ठक् के प्राप्त होने पर यह विधान है।

उदा० (1) 'छंन्दुस्यः' (तै०सं० 1.6.11.4)

छन्दस् यत्।

(2) छान्दसः

छन्दस् अण्।

(1645) द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरण-नामाख्याताट्ठक् *72* (1451)

द्व्यजादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो व्याख्यातव्यनामभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोष्ठक् प्रत्ययो भवति। अणादेरपवादः। द्व्यचस्तावत्–ऐष्टिकः, पाशुकः। ऋकारान्तात्–चातुर्होतृकः, पाञ्चहोतृकः। ब्राह्मण–ब्राह्मणिकः। ऋक्–आर्चिकः। प्रथम–प्राथमिकः। अध्वर–आध्वरिकः। पुरश्चरण–पौरश्चरणिकः। नामाख्यातग्रहणं संघातविगृहीतार्थम्–नामिकः, आख्यातिकः, नामाख्यातिकः।

अर्थ—व्याख्यान और भव अर्थों में षष्ठ्यन्त व सप्तम्यन्त समर्थ व्याख्यानयोग्य दो अच् वाले प्रातिपदिक से, ऋकारान्त शब्द से ब्राह्मण, ऋच्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नाम तथा आख्यात—इन प्रातिपदिकों को ठक् होता है।

उदा० (1) ऐष्टिकः

इष्टिषु भवः
इष्टीनां व्याख्यानम् } ठञ् हुआ।

(2) पाशुकः
पशु ठक्।

(3) चातुर्होतृकः
चतुर्होतृ ठक्।

(4) पाञ्चहोतृकः
पञ्चहोतृ ठक्।

(5) ब्राह्मणिकः
ब्राह्मण ठक्।

(6) आर्चिकः
ऋच् ठक्—आदिवृद्धि।

(7) प्राथमिकः
प्रथम ठक्।

(8) आध्वरिकः
अध्वर ठक्।

(9) पौरश्चरणिकः
पुरश्चरण ठक्।

नाम और आख्यात के शब्दों का ग्रहण समुदाय व पृथक्-पृथक्—दोनों स्थितियों के लिए है।

(10) नामिकः
नाम ठक्।

(11) आख्यातिकः
आख्यात ठक्।

(12) नामाख्यातिकः
नामाख्यात ठक्।

(1646) अणृगयनादिभ्यः *73* (1452)

ऋगयनादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोरण् प्रत्ययो भवति। ठञादेरपवादः। आर्गयनः। पादव्याख्यानः। अणग्रहणं बाधकबाधनार्थम्। वास्तुविद्यः। ऋगयन। पदव्याख्यान। छन्दोनाम। छन्दोभाषा। छन्दोविचिति। न्याय। पुनरुक्त। व्याकरण। निगम। वास्तुविद्या। अङ्गविद्या। क्षत्रविद्या। उत्पात। उत्पाद। संवत्सर। मुहूर्त। निमित्त। उपनिषत्। शिक्षा–ऋगयनादिः।

अर्थ—आख्यान और भव अर्थों में षष्ठ्यन्त और सप्तम्यन्त समर्थ ऋगयन आदि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है। यह ठञ् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) आर्गयन
ऋगयन अण्—आदिवृद्धि।

(2) पादव्याख्यानः
पदव्याख्यान अण्।
अण् का ग्रहण बाधक के बाध के लिए है।

(3) वास्तुविद्यः
वास्तुविद्या अण्।

(1647) तत आगतः *74* (1453)

तत इति पञ्चमीसमर्थादागत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः। तत इति मुख्यमपादानं विवक्षितं यत्तदिह गृह्यते, न नान्तरीयकम्–स्रुघ्नादागच्छन् वृक्षमूलादागत इति।

अर्थ—पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'आया हुआ' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्नाद् आगतः।

(2) माथुरः
पूर्ववत् अण्।

(3) राष्ट्रियः
'घ' हुआ।

'ततः' इस प्रकार जो मुख्य अपादान कहा गया है, उसका ग्रहण होता है, नान्तरीयक का नहीं। अतः निम्नलिखित में प्रत्यय नहीं हुआ—

स्रुघ्नादागच्छन् वृक्षमूलादागतः।

(1648) ठगायस्थानेभ्यः *75* (1454)

आय इति स्वामिग्राह्यो भाग उच्यते, स यस्मिन्नुत्पद्यते तदायस्थानम्। आयस्थानवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यष्ठक् प्रत्ययो भवति तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। छं तु परत्वाद् बाधते। शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः। आकरिकम्। बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्।

अर्थ—'आय' शब्द के द्वारा स्वामी द्वारा ग्राह्य भाग कहा जाता है। वह जिसमें उत्पन्न होता है, उसे 'आयस्थान' कहते हैं। आयस्थानवाची पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'आगतः' इस अर्थ में ठक् होता है। पर होने से 'छ' का बाध करता है।

उदा० (1) शौल्कशालिकः
शुल्कशालाया आगतः—ठक् हुआ।

(2) आकरिकम्
आकर ठक्।

सूत्र में बहुवचन का निर्देश स्वरूपग्रहण के निरास के लिये है। यदि 'आयस्थानात्' इस प्रकार एकवचन का निर्देश होता तो सामान्य, प्रध्येता 'आयस्थान' इस शब्द से उक्त प्रत्यय कर बैठता। बहुवचन का निर्देश होने से स्वरूप का ग्रहण न होकर तद्वाचक का ग्रहण किया जायेगा।

(1649) शुण्डिकादिभ्योऽण् *76* (1455)

शुण्डिक इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। आयस्थानठकोऽपवादः। शुण्डिकादागतः शौण्डिकः। कार्कणः। अण्-ग्रहणं बाधकबाधनार्थम्। औदपानः। शुण्डिक। कृकण। स्थण्डिल। उदपान। उपल। तीर्थ। भूमि। तृण। पर्ण–शुण्डिकादिः।

अर्थ—पञ्चम्यन्त समर्थ शुण्डिकादि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है, 'तत आगतः' अर्थ में। आयस्थान लक्षण ठक् का अपवाद है।

उदा० (1) शौण्डिकः
शुण्डिकादागतः—अण् हुआ।

(2) कार्कणः
पूर्ववत् अण्।

अण् का ग्रहण बाधक के बाध के लिए है। यथा—

(3) औदपानः
उदपान अण्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1650) विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् *77* (1456)

विद्यायोनिकृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसम्बन्धाः, तद्वाचिभ्यः शब्देभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। छं तु परत्वाद् बाधते। विद्यासम्बन्धेभ्यस्तावत्–उपाध्यायादागतम् औपाध्यायकम्, शैष्यकम्, आचार्यकम्। योनिसम्बन्धेभ्यः–मातामहकः, पैतामहकः, मातुलकः।

अर्थ—विद्या तथा योनि के आधार पर जो सम्बन्ध होता है, उसे विद्यायोनि सम्बन्ध कहते हैं। 'आगतः' इस अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ विद्याकृत सम्बन्ध वाले और योनिकृत सम्बन्ध वाले प्रातिपदिकों से वुञ् प्रत्यय होता है। यह अण् का अपवाद है। पर होने से यह 'छ' का बाध करता है।

उदा० (1) औपाध्यायकम्
उपाध्यायाद् आगतः—वुञ्, आदिवृद्धि।

(2) शैष्यकम्
शिष्य वुञ्।

(3) आचार्यकम्
आचार्य वुञ्।

(4) मातामहकः
मातामह वुञ्।

(5) पैतामहकः
पितामहाद् आगतः।

(1651) ऋतष्ठञ् *78* (1457)

विद्यायोनिसम्बन्धेभ्य इत्येव। ऋकारान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विद्यायोनिसम्बन्धवाचिभ्यष्ठञ् प्रत्ययो भवति तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। वुञोऽपवादः। विद्यासम्बन्धवाचिभ्यस्तावत्–होतुरागतं हौतृकम्, पौतृकम्। योनिसम्बन्धवाचिभ्यः–भ्रातृकम्, स्वासृकम्, मातृकम्। तपरकरणं मुखसुखार्थम्। विद्यायोनिभ्यामन्यत्र–सावित्रम्।

अर्थ—'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' का अनुवर्त्तन है। 'आगतः' इस अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ विद्याकृत सम्बन्धवाची और योनिकृत सम्बन्धवाची ऋकारान्त प्रातिपदिक से ठञ् होता है। वुञ् का यह अपवाद है।

उदा० (1) हौतृकम्
होतुरागतम्—ठञ्, इसुसुक्तान्ता०।

(2) पौतृकम्
पोतृ ठञ्।

(3) भ्रातृकम् (पूर्ववत्)।

(4) स्वासृकम्
स्वसृ ठञ्।

(5) मातृकम्
मातृ ठञ्।

(6) सावित्रम्
सवितुरागतम्—अण् हुआ।

(1652) पितुर्यच्च *79* (1458)

पितृशब्दाद् यत् प्रत्ययो भवति चकाराट्ठञ्च तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। पितुरागतं पित्र्यम्, पैतृकम्।

अर्थ—'आगतः' इस अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ पितृ शब्द से यत् प्रत्यय होता है तथा ठञ् भी होता है।

उदा० (1) पित्र्यम्
पितुरागतम् → पितृ यत्—रीङ् ऋतः।

(2) पैतृकम्
पितृ ठञ्—आदिवृद्धि, इसुसुक्ता०।

(1653) गोत्रादङ्कवत् *80* (1459)

अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रमपत्यमात्रं गृह्यते। गोत्रप्रत्ययान्तात्प्रातिपदिकादङ्कवत्प्रत्ययविधिर्भवति तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। अङ्कग्रहणेन तस्येदमर्थसामान्यं लक्ष्यते, तस्माद् वुञतिदिश्यते, नाणेव-'सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' (4.3.117) इति। औपगवानामङ्कः औपगवकः। कापटवकः। नाडायनकः। चारायणकः। एवमौपगवेभ्य आगतमौपगवकम्। कापटवकम्। नाडायनकम्। चारायणकम्।

अर्थ—अपत्य अधिकार से अन्यत्र लौकिक जो 'गोत्र', उसका अपत्यमात्र से ग्रहण होता है। 'आगतः' अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ गोत्रवाची प्रातिपदिक से प्रत्ययविधि अंकवत् होती है। 'अंक' के ग्रहण से 'तस्येदम्' इस प्रकार अर्थसामान्य लक्षित होता है। उससे वुञ् का अतिदेश होता है। अण् का नहीं—सङ्घाङ्कलक्षणे० (4.3.127)।

उदा० (1) औपगवकः
औपगवानामङ्कः—इसी प्रकार 'आगतः' अर्थ में वुञ् हुआ।

(2) कापटवकः
कापटव वुञ्।

(3) नाडायनकः (पूर्ववत्)।

(4) चारायणकः (पूर्ववत्)।

(1654) हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः *81* (1461)

हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्चान्यतरस्यां रूप्यः प्रत्ययो भवति तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। मनुष्यग्रहणमहेत्वर्थम्। हेतुः कारणम्। हेतुभ्यस्तावत्-समादागतं समरूप्यम्, समीयम्; विषमरूप्यम्, विषमीयम्। गहादित्वाच्छः (4.2.138)। मनुष्येभ्यः-देवदत्तरूप्यम्, यज्ञदत्तरूप्यम्, दैवदत्तम्, याज्ञदत्तम्। बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्।

अर्थ—'आगतः' अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ हेतुवाची तथा मनुष्यवाची प्रातिपदिकों से 'रूप्य' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'मनुष्य' का ग्रहण हेतु से अतिरिक्त के लिए है।

उदा० (1) समरूप्यम्
समाद् आगतम्।

(2) समीयम्
सम छ—पक्ष में हुआ। गहादिभ्यः।

(3) विषमरूप्यम् (पूर्ववत्)।

(4) विषमीयम्
पक्ष में 'छ' हुआ।

(5) देवदत्तरूप्यम् (पूर्ववत्)।

(6) यज्ञदत्तरूप्यम् (पूर्ववत्)।

(7) दैवदत्तम्
पक्ष में 'अण्' हुआ।

(8) याज्ञदत्तम्
'अण्' हुआ।

स्वरूपविधि के निरास के लिए बहुवचन का निर्देश है।

(1655) मयट् च *82* (1462)

हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च मयट् प्रत्ययो भवति तत आगत इत्येतस्मिन् विषये। सममयम्। विषममयम्। मनुष्येभ्यः-देवदत्तमयम्, यज्ञदत्तमयम्। टकारो ङीबर्थ-सममयी। योगविभागो यथासंख्यनिरासार्थः।

अर्थ—'आगतः' इस अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ हेतुवाची व मनुष्यवाची प्रातिपदिकों से 'मयट्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) सममयम्
मयट् हुआ।

(2) विषममयम् (पूर्ववत्)।

(3) देवदत्तमयम् (पूर्ववत्)।

(4) यज्ञदत्तमयम् (पूर्ववत्)।

(5) सममयी

'मयट्' में 'ट्' अनुबन्ध स्त्रीत्व में ङीप् के लिए है। टिड्ढाऽण० से यहाँ ङीप् हुआ है।

यथासंख्यक विधि के निरास के लिए योगविभाग किया गया है।

(1656) प्रभवति *83* (1463)

तत इत्येव। पञ्चमीसमर्थात् ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रभवतीत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। प्रभवति– प्रकाशते, प्रथमत उपलभ्यत इत्यर्थः। हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा। दारदी सिन्धुः।

अर्थ—पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, 'प्रभवति' अर्थ में।

प्रभवति = सर्वप्रथम प्रकाशित होना।

उदा० (1) हैमवती गङ्गा

हिमवतः प्रभवति → हिमवत् अण् ङीप् सु—टिड्ढाऽण०।

(2) दारदी सिन्धुः (पूर्ववत्)।

(1657) विदूराञ्ञ्यः *84 * (1464)

विदूरशब्दात् ञ्यः प्रत्ययो भवति ततः प्रभवतीत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। विदूरात् प्रभवति वैदूर्य्यो मणिः। ननु च वालवायादसौ प्रभवति, न विदूरात्, तत्र तु संस्क्रियते ? एवं तर्हि–

वालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा।
न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत्॥

(म०भा०)

अर्थ—'प्रभवति' इस अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ 'विदूर' प्रातिपदिक से 'ञ्य' होता है। यह अण् का अपवाद है। 'चुटू' से ञकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) वैदूर्य्यो मणिः

विदूरात् प्रभवति—आदिवृद्धि, अचो रहाभ्यां द्वे।

वस्तुतः यह मणि विदूर से न होकर वालवाय से होता है। वहाँ पर ही संस्कार किया जाता है।

विदूर तथा वालवाय—ये दो प्रकृतियाँ हैं।

(1658) तद्गच्छति पथिदूतयोः *85* (1465)

तदिति द्वितीयासमर्थाद्गच्छतीत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ गच्छति पन्थाश्चेत् स भवति दूतो वा। स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा। माथुरः। तत्स्थेषु गच्छत्सु पन्था गच्छतीत्युच्यते। अथवा स्रुघ्नप्राप्तिः पथो गमनम्। पथिदूतयोरिति किम्? स्रुघ्नं गच्छति सार्थः।

अर्थ—'जाता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि 'मार्ग' या 'दूत' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) स्रौघ्नः

स्रुघ्नं गच्छति पन्था दूतो वा—अण् हुआ।

(2) माथुरः (पूर्ववत्)।

उनके जाते हुए 'पन्था गच्छति' यह कहा जाता है। अथवा स्रुघ्नप्राप्ति। मार्ग का गमन।

पथि० अर्थात् यदि जाने वाला या तो मार्ग हो अथवा दूत हो तो यथाविहित प्रत्यय होता है। तब निम्नलिखित प्रत्यय नहीं होता—

स्रुघ्नं गच्छति सार्थः।

(1659) अभिनिष्क्रामति द्वारम् *86* (1466)

तदित्येव। द्वितीयासमर्थादभिनिष्क्रामतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तदभिनिष्क्रामति द्वारं चेत्तद्भवति। आभिमुख्येन निष्क्रामति–अभिनिष्क्रामति, स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति कान्यकुब्जद्वारं स्रौघ्नम्। माथुरम्। राष्ट्रियम्। द्वारमभिनिष्क्रमणक्रियायां करणं प्रसिद्धम्, तदिह स्वातन्त्र्येण विवक्ष्यते यथा–साध्वसिश्छिनत्तीति। द्वारमिति किम्? स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति पुरुषः।

अर्थ—'अभिनिष्क्रामति'—इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि 'द्वार' वाच्य हो।

उदा० (1) स्रौघ्नम्

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति कान्यकुब्जद्वराम्—अण् हुआ।

(2) माथुरम्

पूर्ववत् अण्।

(3) राष्ट्रियम्

राष्ट्र घ।

द्वार की ओर निष्क्रमण क्रिया में करण प्रसिद्ध है। उसकी स्वतन्त्र रूप से विवक्षा है। यथा—

साध्वसिश्छिनति।

द्वारमिति०—यदि द्वार वाच्य हो तो यथाविहित प्रत्यय होता है—

स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति पुरुषः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(1660) अधिकृत्य कृते ग्रन्थे *87* (1467)

तदित्येव, अधिकृत्यैतदपेक्ष्य द्वितीया। अधिकृत्य, प्रस्तुत्य, आगूर्येत्यर्थः। तदिति द्वितीयासमर्थादधिकृत्य कृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्कृतं ग्रन्थश्चेत्स भवति। सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः। गौरिमित्रः। यायातः। ग्रन्थ इति किम्? सुभद्रामधिकृत्य कृतः प्रासादः। *लुबाख्यायिकार्थस्य प्रत्ययस्य बहुलम्* (म० भा०)। वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता। सुमनोत्तरा। उर्वशी। न च भवति–भैमरथी।

अर्थ—'अधिकार कर बनाया हुआ' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि विषयभूत ग्रन्थ वाच्य हो।

उदा० (1) सौभद्रः
सुभद्राम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—अण् हुआ, आदिवृद्धि।

(2) गौरिमित्रः
पूर्ववत् अण्।

(3) यायातः
पूर्ववत् अण् हुआ।

ग्रन्थ० अर्थात् **विषयभूत ग्रन्थ** वाच्य हो तो प्रत्यय होता है—
सुभद्रामधिकृत्य कृतः प्रासादः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

लुबाख्या०—आख्यायिकावाची प्रत्यय का बहुलता से लुप् होता है—

(4) वासवदत्ता
वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका—यहाँ अण् हुआ, उसका लुप् हुआ, सु।

(5) सुमनोत्तरा
पूर्ववत् प्रत्यय का लुप्, विभक्तिकार्य।

(6) उर्वशी (पूर्ववत्)।

(7) भैमरथी

भीमरथम् अधिकृत्य कृताख्यायिका—यहाँ प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ, ङीप् हुआ।

(1661) शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः *88* (1468)

तदिति वर्त्तते, अधिकृत्य कृते ग्रन्थ इति च। शिशुक्रन्दादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यश्छः प्रत्ययो भवति अधिकृत्य कृते ग्रन्थे। अणोऽपवादः। शिशूनां क्रन्दनं शिशुक्रन्दः, तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः। यमस्य सभा यमसभम्, यमसभीयः। द्वन्द्वात्–अग्निकाश्यपीयः, श्येनकपोतीयः, शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणम्, वाक्यपदीयम्। इन्द्रजननादिभ्यः–इन्द्रजननीयम्, प्रद्युम्नागमनीयम्। इन्द्रजननादिराकृतिगणः प्रयोगतोऽनुसर्त्तव्यः, प्रातिपदिकेषु न पठ्यते। *द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः* (म० भा०)। दैवासुरम्। राक्षोऽसुरम्। गौणमुख्यम्। इन्द्रजननादेराकृतिगणत्वात् शिशुक्रन्दादयोऽपि तत्रैव द्रष्टव्याः। प्रपञ्चार्थमेषां ग्रहणम्। एवं सति देवासुरादिप्रतिषेधोऽपि न वक्तव्यः, ततश्छप्रत्ययस्यादर्शनात्।

अर्थ—'अधिकार कर बनाया गया' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ शिशुक्रन्द, यमसभ, द्वन्द्ववाची तथा इन्द्रजननादि शब्दों से 'छ' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) शिशुक्रन्दीयः
शिशुक्रन्दम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—'छ' हुआ, सु हुआ।

(2) यमसभीयः
यमसभम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—पूर्ववत्।

(3) अग्निकाश्यपीयः
अग्निश्च कश्यपश्च—अग्निकश्यपम्।
अग्निकश्यप छ सु।

(4) श्येनकपोतीयः
श्येनश्च कपोतश्च—पूर्ववत् द्वन्द्व, छ, सु।

(5) शब्दार्थसम्बन्धीयम् (पूर्ववत्)।

(6) वाक्यपदीयम् (पूर्ववत्)।

(7) इन्द्रजननीयम्
इन्द्रजनन छ।

(8) प्रद्युम्नागमनीयम् (पूर्ववत्)।

इन्द्रजन आदि आकृतिगण हैं। प्रयोग देखकर जान लेना चाहिए। प्रातिपदिकों में पाठ नहीं है।

द्वन्द्वे०—द्वन्द्व समास के विषय में देवासुर आदि प्रातिपदिकों से प्रत्यय नहीं होता—

(9) देवासुरम्
देवासुरम् अधिकृत्य कृतम्—यहाँ 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ।

(10) रक्षोऽसुरम् (पूर्ववत्)।
(11) गौणमुख्यम् (पूर्ववत्)।

यद्यपि इन्द्रजननादिगण के आकृतिगण होने से शिशुक्रन्द आदि से 'छ' सिद्ध था, तदपि शिशुक्रन्द का पृथक् ग्रहण प्रपञ्च के लिए किया गया है। इस प्रकार 'देवासुर' आदि शब्दों से निषेध करने की आवश्यकता नहीं थी। कारण कि उनसे 'छ' प्रत्यय दृष्टिगोचर ही नहीं होता।

(1662) सोऽस्य निवासः *89* (1469)

स इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्प्रथमासमर्थं निवासश्चेत्स भवति। निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः देश उच्यते। स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः।

अर्थ—'यह है निवास इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्नो निवासोऽस्य—अण् हुआ।

(2) माथुरः
मथुरा अण्।

(3) राष्ट्रियः
राष्ट्र घ।

(1663) अभिजनश्च *90* (1470)

सोऽस्येत्येव। स इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्प्रथमासमर्थमभिजनश्चेत्स भवति। अभिजनः पूर्वबान्धवः, तत्सम्बन्धाद्देशोऽप्यभिजन इत्युच्यते। यस्मिन् पूर्वबान्धवैरुषितं तस्मादिह देशवाचिनः प्रत्ययः न बन्धुभ्यः, निवासप्रत्यासत्तेः। स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः। निवासाभिजनयोः को विशेषः? यत्र सम्प्रत्युष्यते स निवासः, यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजनः (म० भा०)। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—'यह है अभिजन इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। पूर्ववर्ती बन्धुओं को अभिजन कहा जाता है। उसके सम्बन्ध से देश भी अभिजन कहा जाता है। पूर्ववर्ती बन्धुओं के द्वारा जहाँ पर बसा गया, उस देशवाची से प्रत्यय होता है।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य—अण् हुआ।

(2) माथुरः
पूर्ववत् अण् हुआ।

(3) राष्ट्रियः
'घ' हुआ।

निवास तथा अभिजन में क्या विशेष है? जहाँ सम्प्रति वास किया जाता है, उसे निवास कहते हैं तथा जहाँ पूर्वजों के द्वारा निवास किया जाता है, उसे अभिजन कहते हैं। उत्तरशास्त्र के लिए योगविभाग किया गया है।

(1664) आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते *91* (1471)

सोऽस्याभिजन इति वर्त्तते। आयुधजीविभ्य इति तादर्थ्ये चतुर्थी। पर्वत इति प्रकृतिविशेषणम्। पर्वतवाचिनः प्रथमासमर्थादभिजनादस्येति षष्ठ्यर्थे छः प्रत्ययो भवति। आयुधजीविभ्यः-आयुधजीव्यर्थमायुधजीविनोऽभिधातुं प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। हृद्गोलः पर्वतोऽभिजन एषामायुधजीविनां हृद्गोलीयाः। अन्धकवर्त्तीयाः। रोहितगिरीयाः। आयुधजीविभ्य इति किम्? ऋक्षोदः पर्वतोऽभिजन एषां ब्राह्मणानाम् आर्क्षोदा ब्राह्मणाः। पर्वत इति किम्? साङ्काश्यका आयुधजीविनः।

अर्थ—'आयुधजीविभ्यः' में तादर्थ्य में चतुर्थी है। 'यह है अभिजन इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ पर्वतवाची प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है, 'आयुधजीवी' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) हृद्गोलीयाः
हृद्गोलः पर्वतोऽभिजन एषामायुधजीविनाम्—'छ' हुआ,
हृद्गोल ईय जस्—विभक्तिकार्य।

(2) अन्धकवर्त्तीयाः
पूर्ववत् 'छ'।

(3) रोहितगिरीयाः
पूर्ववत् 'छ'।

आयुध० अर्थात् आयुधजीवी अर्थ गम्यमान रहते 'छ' होता है—

(4) आर्क्षोदा ब्राह्मणाः

ऋक्षोदः पर्वतोऽभिजन एषां ब्राह्मणानाम्—'छ' नहीं हुआ, अण् हुआ।

पर्वत० अर्थात् पर्वतवाची शब्द से प्रत्यय होता है—

(5) साङ्काश्यका आयुधजीविनः

'छ' नहीं हुआ।

(1665) शण्डिकादिभ्यो ञ्यः *92* (1472)

शण्डिक इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ञ्यः प्रत्ययो भवति सोऽस्याभिजन इत्येतस्मिन् विषये। अणादेरपवादः। शाण्डिक्यः। सार्वसेन्यः। शण्डिक। शर्वकेश। सर्वसेन। शक। सट। रक। शङ्ख। बोध-शण्डिकादिः।

अर्थ—'यह है अभिजन इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ शण्डिकादि गणपठित प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में 'ञ्य' होता है। यह अण् प्रत्यय का अपवाद है।

उदा० (1) शाण्डिक्यः

शण्डिकोऽभिजनोऽस्य—'ञ्य' हुआ, आदिवृद्धि।

(2) सार्वसेन्यः

सर्वसेन ञ्य सु।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1666) सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ *93* (1473)

आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। सिन्ध्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तक्षशिलादिभ्यश्च यथासंख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतः सोऽस्याभिजन इत्येतस्मिन् विषये। सैन्धवः। वार्णवः। सिन्धु। वर्णु। गन्धार। मधुमत्। कम्बोज। कश्मीर। साल्व। किष्किन्धा। गब्दिका। उरस। दरत्। ये तु कच्छादिषु पठ्यन्ते सिन्धुवर्णुप्रभृतयस्तेभ्यस्तत एवाऽणि सिद्धे मनुष्यवुञो बाधनार्थं वचनम्। तक्षशिलादिभ्यः खल्वपि-ताक्षशिलः, वात्सोद्धरणः। तक्षशिला। वत्सोद्धरण। कौमेदुर। काण्डवारण। ग्रामणी। सरालक। कंस। किन्नर। संकुचित। सिंहकोष्ठ। कर्णकोष्ठ। बर्बर। अवसान।

अर्थ—'आदि' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। 'यह है अभिजन इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ सिन्धु आदि शब्दों से व तक्षशिला आदि शब्दों से यथासंख्य करके अण् व अञ् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) सैन्धवः

सिन्धुरभिजनोऽस्य—अण् हुआ।

(2) वार्णवः

वर्णु अण्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

सिन्धु तथा वर्णु शब्दों का कच्छादिगण में भी पाठ है। अतः इनसे अण् पूर्वतः सिद्ध था, तदपि मनुष्य अर्थ रहते प्राप्त वुञ् का बाध करने के लिए यह विधान किया गया है।

(3) ताक्षशिलः

तक्षशिला अञ्।

(4) वात्सोद्धरणः

वत्सोद्धरण अञ्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1667) तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः *94* (1474)

तूद्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः शब्देभ्यो यथासंख्यं चत्वार एव ढक्, छण्, ढञ्, यक् इत्येते प्रत्यया भवन्ति सोऽस्याभिजन इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। तौदेयः। शालातुरीयः। वार्मतेयः। कौचवार्यः।

अर्थ—'यह है अभिजन इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ तूदी, शलातुर, वर्मती तथा कूचवार प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में यथासंख्य करके ढक्, छण्, ढञ् तथा यक् प्रत्यय होते हैं। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) तौदेयः

तूद ढक्—एयादेश, आदिवृद्धि।

(2) शालातुरीयः

शलातुर छण्—आदिवृद्धि, ईयादेश।

(3) वार्म्मतेयः

वर्मती ढञ्—अचो रहाभ्यां द्वे।

(4) कौचवार्य्यः

कूचवार यक्—'किति च' से आदिवृद्धि।

(1668) भक्तिः *95* (1475)

समर्थविभक्तिः प्रत्ययार्थश्चानुवर्त्तते। अभिजन इति निवृत्तम्। स इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्प्रथमासमर्थं भक्तिश्चेत्तद्भवति। भज्यते सेव्यत इति भक्तिः। स्रुघ्नो भक्तिरस्य स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः।

अर्थ—असमर्थ विभक्ति और प्रत्ययार्थ का अनुवर्तन है। 'अभिजनः' की अनुवृत्ति नहीं है। 'इसकी भक्ति है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) स्रौघ्नः
स्रुघ्नो भक्तिरस्य—अण् हुआ।

(2) माथुरः
मथुरा अण्।

(3) राष्ट्रियः
राष्ट्र घ।

(1669) अचित्तावदेशकालाट्ठक् *96* (1476)

देशकालव्यतिरिक्तादचित्तवाचिनः प्रातिपदिकाट्ठक् प्रत्ययो भवति सोऽस्य भक्तिरित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते। अपूपा भक्तिरस्य आपूपिकः। शाष्कुलिकः। पायसिकः। अचित्तादिति किम्? दैवदत्तः। अदेशादिति किम्? स्रौघ्नः। अकालादिति किम्? ग्रैष्मः।

अर्थ—'यह है इसकी भक्ति' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ देश व काल से भिन्न शब्द से तथा अचेतनवाची शब्द से षष्ठ्यर्थ में 'ठक्' होता है। यह अण् का अपवाद है। पर होने से यह 'छ' का बाध करता है।

उदा० (1) आपूपिकः
अपूपा भक्तिरस्य—अपूप ठक्।

(2) शाष्कुलिकः
शष्कुलि ठक्—इसुसुक्ता०।

(3) पायसिकः (पूर्ववत्)।

अचिता० अर्थात् चेतनवाची से अतिरिक्त शब्द से 'ठक्' होता है—

(4) दैवदत्तः
देवदत्त अण्—ठक् नहीं हुआ।

अदेशा० अर्थात् देशवाची से अतिरिक्त शब्द से 'ठक्' होता है—

(5) स्रौघ्नः
ठक् नहीं हुआ।

अकाला० अर्थात् कालवाची से अतिरिक्त शब्द से 'ठक्' होता है—

(6) ग्रैष्मः
ठक् नहीं हुआ।

(1670) महाराजाट्ठञ् *97* (1477)

महाराजशब्दाट्ठञ् प्रत्ययो भवति सोऽस्य भक्तिरित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। महाराजो भक्तिरस्य माहाराजिकः। प्रत्ययान्तरकरणं स्वरार्थम्।

अर्थ—'यह है भक्ति इसकी' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ महाराज शब्द से षष्ठ्यर्थ में 'ठञ्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) माहाराजिकः
महाराज ठञ्—सु हुआ।

ठक् के स्थान पर ठञ् स्वर के लिए किया गया है।

(1671) वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् *98* (1478)

वासुदेवार्जुनशब्दाभ्यां वुन् प्रत्ययो भवति सोऽस्य भक्तिरित्येतस्मिन् विषये। छाणोरपवादः। वासुदेवो भक्तिरस्य वासुदेवकः। अर्जुनकः। ननु च वासुदेवशब्दात् 'गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यः' (4.3.99) इति वुञस्त्येव, न चात्र वुन्वुञोर्विशेषो विद्यते (म०भा०), किमर्थं वासुदेवग्रहणम्? संज्ञैषा देवताविशेषस्य, न क्षत्रियाख्या (म० भा०)। 'अल्पाच्तरम्' (2.2.34), 'अजाद्यदन्तम्' (2.2.33) इति चार्जुनशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वन् ज्ञापयति—अभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति।

अर्थ—'यह है भक्ति इसकी' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ वासुदेव व अर्जुन शब्दों से वुन् होता है, षष्ठ्यर्थ में। यह छ तथा अण् का अपवाद है।

उदा० (1) वासुदेवकः
वासुदेव वुन्।

(2) अर्जुनकः (पूर्ववत्)।

ननु०—गोत्र तथा क्षत्रियवाची शब्दों से विहित वुञ् वासुदेव शब्द से भी होता है। वुन् और वुञ् में कोई विशेष नहीं है। तब 'वासुदेव' शब्द का यहाँ ग्रहण व्यर्थ है।

(समा०) वासुदेव देवताविशेष की यह संज्ञा है, यह क्षत्रियवाची नहीं है। 'अल्पाच्तरम्' तथा 'अजाद्यदन्तम्' दोनों सूत्रों से 'अर्जुन' शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिए था, परन्तु इसका पूर्वनिपात न किए जाने से ज्ञापित होता है कि अभ्यर्हित (= पूजनीय) का पूर्वनिपात होता है।

(1672) गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् *99* (1479)

गोत्राख्येभ्यः क्षत्रियाख्येभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो बहुलं वुञ् प्रत्ययो भवति सोऽस्य भक्तिरित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते। ग्लुचुकायनिर्भक्तिरस्य ग्लौचुकायनकः। औपगवकः। कापटवकः। क्षत्रियाख्येभ्यः-नाकुलकः, साहदेवकः, साम्बकः। आख्याग्रहणं प्रसिद्धक्षत्रियशब्दपरिग्रहार्थम्, यथाकथञ्चित् क्षत्रियवृत्तिभ्यो मा भूत्। बहुलंग्रहणात् क्वचिदप्रवृत्तिरेव-पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः। पौरवीयः।

अर्थ—'यह है भक्ति इसकी' इस अर्थ में समर्थ गोत्रवाची व क्षत्रियवाची प्रातिपदिकों से बहुलता से वुञ् होता है। यह अण् का अपवाद है। यह पर होने से 'छ' का बाध करता है।

उदा० (क) गोत्राख्येभ्यः—

(1) ग्लौचुकायनकः
ग्लुचुकायनिर्भक्तिरस्य—वुञ् हुआ।

(2) औपगवकः
औपगव वुञ्।

(3) कापटवकः
कापटव वुञ्।

(ख) क्षत्रियाख्येभ्यः—

(4) नाकुलकः
नकुल वुञ्।

(5) साहदेवकः
सहदेव वुञ्।

(6) साम्बकः (पूर्ववत्)।

आख्या०—प्रसिद्ध क्षत्रिय शब्द के ग्रहण के लिए 'आख्या' शब्द का ग्रहण किया गया है; ताकि कभी क्षत्रियवृत्ति से न हो। 'बहुलम्' का ग्रहण करने से किसी स्थल पर सूत्र की प्रवृत्ति नहीं भी होती है।

(7) पाणिनीयः
पाणिनो भक्तिरस्य—यहाँ वुञ् नहीं हुआ। 'छ' हुआ।

(8) पौरवीयः
पौरव छ—वुञ् नहीं हुआ।

(1673) जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने *100* (1480)

जनपदिनो ये बहुवचने जनपदेन समानशब्दास्तेषां जनपदवत्सर्वं भवति प्रत्ययः प्रकृतिश्च सोऽस्य भक्तिरित्येतस्मिन् विषये। 'जनपदतदवध्योश्च' (4.2.124) इत्यत्र प्रकरणे ये प्रत्यया विहितास्ते जनपदिभ्योऽस्मिन्नर्थेऽतिदिश्यन्ते। जनपदिनो जनपदस्वामिनः क्षत्रियाः। अङ्गा जनपदो भक्तिरस्य आङ्गकः। वाङ्गकः। सौह्मकः। पौण्ड्रकः। तद्वदङ्गाः क्षत्रिया भक्तिरस्य आङ्गकः। वाङ्गकः। सौह्मकः। पौण्ड्रकः। जनपदिनामिति किम्? पञ्चाला ब्राह्मणा भक्तिरस्य पाञ्चालः। सर्वग्रहणं प्रकृत्यतिदेशार्थम्, स च द्व्येकयोरतिदेशं प्रयोजयति। वृद्धिनिमित्तेषु च वुञादिषु विशेषो नास्तीति। मद्रवृज्योः कनि विशेषः। मद्रस्यापत्यम् 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' (4.1.170) इत्यण्-माद्रः। वृजिशब्दादपि 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' (4.1.171) इति ञ्यङ्-वार्ज्यः। स भक्तिरस्येति प्रकृतिनिर्ह्रासे कृते (म०भा०)-मद्रकः, वृजिकः। जनपदेन समानशब्दानामिति किम्? अनुषण्डो जनपदः, पौरवो राजा, स भक्तिरस्य पौरवीयः। बहुवचनग्रहणं समानशब्दताविषयलक्षणार्थम्, अन्यथा हि यत्रैव समानशब्दता तत्रैवातिदेशः स्याद्, एकवचनद्विवचनयोर्न स्यात्-वाङ्गो वाङ्गौ वा भक्तिरस्येति। बहुवचने तु, बहुवचने समानशब्दानामेकवचनद्विवचनयोः सत्स्वपि शब्दभेदेऽतिदेशो भवति-वाङ्गः, वाङ्गौ वा भक्तिरस्य वाङ्गकः।

अर्थ—'यह है भक्ति इसकी' इस षष्ठ्यर्थ में बहुवचन में वर्तमान जनपद के समान प्रथमान्त समर्थ क्षत्रियवाची प्रातिपदिकों से जनपद की तरह कार्य होते हैं।

भाव यह है कि 'जनपदतदवध्योश्च' इत्यादि सूत्रों से जो-जो प्रत्यय देशवाची जनपद प्रातिपदिकों से कहे गये हैं, वे सभी यहाँ भी हो जायँ।

यह अतिदेश सूत्र है। जनपदी जनपदस्वामी क्षत्रिय होते हैं।

उदा० (1) आङ्गकः
अङ्गेषु भवम्—आङ्गकम्।
अङ्गा जनपदो भक्तिरस्य—वुञ् हुआ, आदिवृद्धि।

(2) बाङ्गकः (पूर्ववत्)।

(3) सौह्मकः
वुञ् हुआ।

(4) पौण्ड्रकः (पूर्ववत्)।

इसी प्रकार अङ्गा क्षत्रिया भक्तिरस्य—आङ्गकः होता है।

जनपदिनां० अर्थात् जनपदी प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है।

(5) पाञ्चालः
पञ्चाला ब्राह्मण भक्तिरस्य—वुञ् नहीं हुआ।

सूत्र में 'सर्वम्' पद का ग्रहण प्रकृति के अतिदेश के लिए है तथा 'द्वि' और 'एक' का अतिदेश नहीं है। वृद्धिनिमित्त वुञ् आदि प्रत्ययों में कोई विशेष नहीं है। मद्र और वृजि से कन् में विशेष होता है। यथा—.

(6) माद्रः
मद्रस्याऽपत्यम्—द्व्यञ्मगधकलिङ्ग० से 'अण्',

(7) वार्ज्यः
वृजि ञ्यङ्—'वृद्धेत्कोसला०' से प्रत्यय हुआ,
वार्ज् य सु—आदिवृद्धि।

(8) मद्रकः
स भक्तिरस्य—इस अर्थ में प्रकृति का निर्ह्रास कर देने पर रूप बनता है।

(9) वृजिकः
'मद्रकः' की तरह।

जनपदेन० अर्थात् जनपदक के समान शब्दों के क्षत्रियवाची शब्दों से प्रत्यय होता है—

(10) पौरवीयः अनुषण्डो जनपदः।
पौरवो राजा स भक्तिरस्य—वुञ् नहीं हुआ।

'बहुवचन' शब्द का ग्रहण समानशब्दता के विषय के लक्षण के लिए है। अन्यथा जहाँ पर समानशब्दता है, वहाँ अतिदेश हो तथा एकवचन व द्विवचन में न हो। यथा—

बाङ्गो (अथवा बाङ्गौ) भक्तिरस्य—यहाँ नहीं हुआ।

बहुवचन में बहुत्व में समानशब्दों के एकवचन व द्विवचन होने पर शब्दभेद की दशा में अतिदेश होता है। यथा—

बाङ्गो (बाङ्गौ अथवा) भक्तिरस्य—बाङ्गकः।

(1674) तेन प्रोक्तम् *101* (1481)

तेनेति तृतीयासमर्थात्प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तमित्युच्यते, न तु कृतम्, 'कृते ग्रन्थे' (4.3.116) इत्यनेन गतत्वात्। अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः। पाणिनीयम्। आपिशलम्। काशकृत्स्नम्।

अर्थ—'प्रवचन किया हुआ' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। प्रकृष्ट रूप से कहा गया 'प्रोक्त' कहलाता है।

उदा० (1) माथुरी
अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता—इस अर्थ में 'अण्' हुआ,
माथुर ङीप् सु—स्त्रीत्व में।

(2) पाणिनीयम्
पाणिनि छ—वृद्धाच्छः।

(3) आपिशलम्
अण्—इञश्चेति।

(4) काशकृत्स्नम् (पूर्ववत्)।

(1675) तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् *102* (1482)

तित्तिर्यादिभ्यः शब्देभ्यश्छण् प्रत्ययो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। खाण्डिकीयाः। औखीयाः। छन्दसि चायमिष्यते, तेन तित्तिरिणा प्रोक्तः श्लोक इत्यत्र न भवति। 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (4.3.106) इत्यत्रास्यानुवृत्तेश्छन्दोऽधिकारविहितानां च तद्विषयतेष्यते।

अर्थ—'प्रवचन किया हुआ' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिका तथा उखा प्रातिपदिकों से 'छण्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) तैत्तिरीयाः
तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते—छण् हुआ,
तित्तिरि ईय—आदिवृद्धि,
तैत्तिरीय जस्—प्रथमा बहुवचन।

(2) वारतन्तवीयाः
वरतन्तु छण्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

(3) खाण्डिकीयाः
खण्डिका छण् जस्—पूर्ववत्।

(4) औखीयाः
उखा छण्—आदिवृद्धि, ईयादेश।

वेद में इन शब्दों से विकल्प से 'छण्' होता है—

तित्तिरिणा प्रोक्तः श्लोकः—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' इसका यहाँ अनुवर्त्तन होने से छन्दस् के अधिकार के द्वारा विहित की तद्विषयता होती है।

(1676) काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः *103* (1483)

काश्यपकौशिकशब्दाभ्यामृषिवाचिभ्यां णिनिः प्रत्ययो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। णकार उत्तरत्र वृद्ध्यर्थः कल्प्यः। ताभ्यां प्रोक्त इति स्मर्यते। तस्यापि च तद्विषयता भवत्येव। 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (4.3.106) इत्यत्रास्यानुवृत्तेश्छन्दोऽधिकारविहितानां च तत्र तद्विषयतेष्यते। काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यंपिनः। ऋषिभ्यामिति किम्? इदानीन्तनेन गोत्रकाश्यपेन प्रोक्तं काश्यपीयम्।

अर्थ—'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ ऋषिवाची, काश्यप व कौशिक प्रातिपदिकों से 'णिनि' प्रत्यय होता है। यह 'छ' का अपवाद है। 'णिनि' में 'ण्' अनुबन्ध उत्तरत्र वृद्धि के लिए है। इसकी भी तद्विषयता होती है।

उदा० (1) काश्यपिनः
काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते—णिनि हुआ,
काश्यपिन् जस्—प्रथमा बहुवचन।

ऋषिभ्याम् अर्थात् **ऋषिवाची** शब्दों से प्रत्यय होता है—

(2) काश्यपीयम्
इदानीन्तेन गोत्रकाश्यपेन प्रोक्तम्—णिनि नहीं हुआ, 'छ' हुआ,
काश्यप ईय सु—रूप बना।

(1677) कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च *104* (1484)

कलाप्यन्तेवासिनां वैशम्पायनान्तेवासिनां च ये वाचकाः शब्दास्तेभ्यो णिनिः प्रत्ययो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। छं तु परत्वाद् बाधते। तत्र कलाप्यन्तेवासिनश्चत्वारः—हरिद्रुः, छगली, तुम्बरुः, उलप इति। वैशम्पायनान्तेवासिनो नव—आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, अरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ, कलापी इति। प्रत्यक्षकारिणो गृह्यन्ते, न तु व्यवहिताः शिष्यशिष्याः। कुतः? कलापिखाण्डायनग्रहणात्। तथाहि—वैशम्पायनान्तेवासी कालापी, तदन्तेवासिनो वैशम्पायनान्तेवासिन एव भवन्ति, किं कलापिग्रहणेन? तथा वैशम्पायनान्तेवासी कठस्तदन्तेवासी खाण्डायनस्तस्य किं शौनकादिषु पाठेन? तदेतत् प्रत्यक्षकारिग्रहणस्य लिङ्गम्। कलाप्यन्तेवासिभ्यस्तावत्—हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणः, तौम्बुरविणः, औलपिनः। छगलिंनो ढिनुकं (4.3.109) वक्ष्यति। वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः—आलम्बिनः, पालङ्गिनः, कामलिनः, आर्च्चाभिनः, आरुणिनः, ताण्डिनः, श्यामायनिनः। कठाल्लुकं वक्ष्यति (4.3.107), कलापिनश्चाणम् (4.3.108)।

अर्थ—'तेन प्रोक्तम्' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कलापी के अन्तेवासी तथा वैशम्पायन के अन्तेवासी—तद्वाचक प्रातिपदिकों से णिनि होता है। यह अण् का अपवाद है। यह पर होने से 'छ' का बाध करता है। कलापी के चार अन्तेवासी हैं (मूल देखें) तथा वैशम्पायन के नौ अन्तेवासी हैं (मूल देखें)। प्रत्यक्षकारी अन्तेवासियों का ग्रहण नहीं होता। किस प्रकार? कलापि खाडायन ग्रहण से।

तथाहि—चूँकि वैशम्पायन का अन्तेवासी कलापी है। उसके अन्तेवासी वैशाम्पायन के भी अन्तेवासी है। तब 'कलापी' का ग्रहण व्यर्थ है। वैशम्पायन का अन्तेवासी कठ है। कठ का अन्तेवासी खाण्डायन है तथा उसका शौनकादि में पाठ क्यों है? यह प्रत्यक्षकारियों के ग्रहण किए जाने का लक्षण है।

उदा० (1) हारिद्रविणः
हरिद्रुणा प्रोक्तम् अधीयते—णिनि हुआ, आदिवृद्धि,
हारिद्रो इन् जस्—ओर्गुणः, जस्।

(2) तौम्बुरविणः
तुम्बुरु णिनि—पूर्ववत्।

(3) औलपिनः
उलप णिनि।
छगली से ढिनुक् कहा जायेगा।

(4) आलम्बिनः
आलम्बि णिनि।

(5) पालङ्गिनः
पलङ्ग णिनि।

(6) कामलिनः
कमल णिनि।

(7) आर्च्चाभिनः
ऋचाभ णिनि।

(8) आरुणिनः
अरुणि णिनि।

(9) ताण्डिनः
ताण्ड्य णिनि।

(10) श्यामायनिनः
श्यामायन णिनि।

कठा०—कठ से प्रत्यय का लुक् कहा जायेगा। कलापिन् से अण् कहा जायेगा। अन्तेवासी का परिगणन कारिकाओं में किया गया है।

> हरिद्रुरेषा प्रथमस्ततश्छगलितुम्बूरू।
> उलपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते॥
> आलम्बिश्चरकः प्राचां पलङ्गकमलावुभौ।
> ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयास्त्रयोऽपरे॥
> श्यामायन उदीच्येषु उक्तः कठकलापिनोः।

चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते।

वैशम्पायन ही चरक है। उसके सम्बन्ध से उसके सभी अन्तेवासियों को चरक कहा जाता है।

(1678) पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु *105* (1485)

प्रत्ययार्थविशेषणमेतत्, तृतीयासमर्थात् प्रोक्ते णिनिः प्रत्ययो भवति यत्प्रोक्तं पुराणप्रोक्ताश्चेद्ब्राह्मणकल्पास्ते भवन्ति। पुराणेन = चिरन्तने मुनिना प्रोक्ताः। ब्राह्मणेषु तावत्–भाल्लविनः, शाट्यायनिनः, ऐतरेयिणः। कल्पेषु–पैङ्गी कल्पः, आरुणपराजी। पुराणप्रोक्तेष्विति किम्? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि, आश्मरथः कल्पः। याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्त्ता, तया व्यवहरति सूत्रकारः। तद्विषयता कस्मान्न भवति? प्रतिपदं ब्राह्मणेषु यः प्रत्ययस्तस्य तद्विषयता विधीयते णिनेः, अयं तु याज्ञवल्क्यशब्दस्य कण्वादिषु पाठादण्। न चायं योगश्छन्दोऽधिकारमनुवर्त्तयति, तेन कल्पेष्वपि न भवति। पुराण इति निपातनात्तुडभावः। न चात्यन्तबाधैव, तेन पुरातनमित्यपि भवति।

अर्थ—यदि प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण व कल्प अभिधेय हो तो तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से प्रोक्त अर्थ में णिनि होता है। पुरातन मुनि के द्वारा प्रोक्त।

उदा० (1) भाल्लविनः
भल्लुना प्रोक्तम् ब्राह्मणम् अधीयते → भल्लु णिनि,
भाल्लो इनि जस्—पूर्ववत्।

(2) शाट्यायनिनः (पूर्ववत्)।

(3) ऐतरेयिणः (पूर्ववत्)।

(4) पैङ्गी
स्त्रीत्व में ङीप्।

(5) अरुणपराजी
पूर्ववत् सभी कार्य।

पुराण० अर्थात् पुरातन ऋषियों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प के वाच्य रहते ही णिनि होता है—

याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।
अश्मरथः कल्पः—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

याज्ञवल्क्य आदि पुरातन हैं—ऐसी आख्यानों में चर्चा है। उसी का व्यवहार पाणिनि करता है। उसकी विषयता किस प्रकार नहीं होती है? ब्राह्मणों में प्रतिपद् जो प्रत्यय होता है, उसकी तद्विषयता का विधान किया जाता है। णिनि का। याज्ञवल्क्य का कण्वादिगण में पाठ होने से अण् हुआ है। इस योग से 'छन्दसि' का अधिकार नहीं है। अतः कल्प् के विषय में भी नहीं होता है। 'पुराण' इस प्रकार निपातन से तुट् का अभाव होता है।

(1679) शौनकादिभ्यश्छन्दसि *106* (1486)

शौनक इत्येवमादिभ्यो णिनिः प्रत्ययो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये छन्दस्यभिधेये। छाणोरपवादः। शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः। वाजसनेयिनः। छन्दसीति किम्? शौनकीया शिक्षा। कठशाठ इति अत्र पठ्यते,

तत्सङ्घातार्थम्, केवलाद्धि लुकं वक्ष्यति। कठशाठाभ्यां प्रोक्तमधीयते काठशाठिनः। शौनक। वाजसनेय। साङ्गरव। शार्ङ्गरव। साम्पेय। शाखेय। खाण्डायन।स्कन्ध। स्कन्द। देवदत्तशठ। रज्जुकण्ठ। रज्जुभार। कठशाठ। कशाय। तलवकार। पुरुषांस। अश्वपेय-शौनकादिः।

अर्थ—'छन्द' अभिधेय होने पर तृतीयान्त समर्थ शौनकादि प्रातिपदिकों से प्रोक्त अर्थ में णिनि होता है। यह 'छ' और 'अण्' प्रत्ययों का अपवाद है।

उदा० (1) शौनकिनः
शौनकेन प्रोक्तम् अधीयते—णिनि, जस्।

(2) वाजसनेयिनः (पूर्ववत्)।

छन्दसीति० अर्थात् छन्द अभिधेय हो तो णिनि होता है—

(3) शौनकीया शिक्षा
यहाँ णिनि नहीं हुआ।

कठशाठ का यहाँ पाठ है। उसके संघात के लिए है। केवल इससे हो तो लुक् कहा जायेगा।

(4) कठशाठिनः
कठशाठाभ्यां प्रोक्तमधीयते—णिनि हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1680) कठचरकाल्लुक् *107* (1487)

कठचरकशब्दाभ्यां परस्य प्रोक्तप्रत्ययस्य लुग्भवति। कठशब्दात् 'वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः' (4.3.104) इति णिनेश्चरकशब्दादप्यणः। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः। चरकाः। छन्दसीत्येव-काठाः, चारकाः।

अर्थ—प्रोक्त अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कठ व चरक प्रातिपदिकों से विहित प्रत्यय का लुक् होता है, 'छन्दस्' के विषय में। कठ शब्द से विहित तथा वैशम्पायन के अन्तेवासियों से विहित प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) कठाः
कठेन प्रोक्तम् अधीयते—कलापिवैशम्पा० से णिनि,
कठ जस्—प्रत्यय का लुक्, विभक्तिकार्य।

(2) चरकाः
चरक जस्—औत्सर्गिक अण्, अण् का लुक् तथा प्रथमा बहुवचन।

छन्दसी० अर्थात् छन्दस् के विषय में ही प्रत्यय का लुक् होता है—

(3) काठाः
यहाँ प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।

(1681) कलापिनोऽण् *108* (1488)

कलापिशब्दादण् प्रत्ययो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये। वैशम्पायनान्तेवासित्वाण्णिनेरपवादः। कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः। 'इनण्यनपत्ये' (6.4.164) इति प्रकृतिभावे प्राप्ते, नान्तस्य टिलोपे *सब्रह्मचारिपीठसर्पिकलापिकुथुमि तैतलिजाजलिजाङ्गलिलाङ्गलिशिलालिशिखण्डिसूकरिसद्मसुपर्वणामुपसंख्यानम्* (का०वा० 6.4.144) इति टिलोपः। अथाण्ग्रहणं किम्, यथाप्राप्तमित्येव सिद्धम्? अधिकविधानार्थम्। तेन माथुरी वृत्तिः, शौलभानि ब्राह्मणानीत्येवमादि सिद्धम्।

अर्थ—प्रोक्त अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कलापिन् प्रातिपदिक से अण् होता है, छन्दस् के विषय में। वैशम्पायन के अन्तेवासी होने से णिनि का अपवाद है।

उदा० (1) कालापाः

कलापिना प्रोक्तमधीयते—'इनण्यनपत्ये०' से टि का प्रकृतिभाव प्राप्त हुआ, 'नान्तस्य टिलोपे०' 7.4.114 (वा०) से निषेध, 'नस्तद्धिते' से टि का लोप।

नान्त०—सब्रह्मचारिन्, पीठसर्पिन्, कलापिन्, कुथुमिन्, तैत्तिलिन्, जाजलिन्, शिलालिन्, लांगलिन्, शिखण्डिन्, सूकरिन्, सद्मन् तथा सुपर्वन्—इनकी टि का लोप होता है। अण् का ग्रहण किसलिए है? यथाप्राप्त सिद्ध ही हैं। अधिकविधान के लिए। तब निम्नलिखित प्रयोग होते हैं—

(2) माथुरी वृत्तिः
(3) शौलभानि ब्राह्मणानि
दोनों स्थलों पर अण् हुआ है।

(1682) छगलिनो ढिनुक् *109* (1489)

छगलिन्शब्दात् ढिनुक् प्रत्ययो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये। कलाप्यन्तेवासित्वाण्णिनेरपवादः। छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिनः।

अर्थ—'छन्दस्' के विषय में प्रोक्त अर्थ में तृतीयान्त समर्थ छगलिन् प्रातिपदिक से ढिनुक् होता है। कलापी के अन्तेवासी होने से प्राप्त णिनि का अपवाद है।

उदा० (1) छागलेयिनः

छगलिना प्रोक्तम् अधीयते—ककार व उकार की इत्संज्ञा,
छगलिन् एय् इन्—आदिवृद्धि, एयादेश,
छागलेयिन् जस्—नस्ताद्धते, प्रथमा बहुवचन।

(1683) पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनट-सूत्रयोः *110* (1490)

णिनिरिहानुवर्त्तते, न ढिनुक्। पाराशर्यशिलालिभ्यां णिनिः प्रत्ययो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये। भिक्षुनटसूत्रयोरिति यथासंख्यं प्रत्ययार्थविशेषणम्, सूत्र-शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तद्विषयता चात्रेष्यते, तदर्थं छन्दोग्रहणमनुवर्त्यम्, गुणकल्पनया च भिक्षुनटसूत्रयोश्छ-न्दस्त्वम्। पाराशर्येण प्रोक्तमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः। शैलालिनो नटाः। भिक्षुनटसूत्रयोरिति किम्? पाराशरम्, शैलालम्।

अर्थ—यहाँ णिनि की अनुवृत्ति है; ढिनुक् की नहीं। भिक्षुसूत्र व नटसूत्र का प्रोक्त विषय अभिधेय हो तो यथासंख्य करके तृतीयान्त समर्थ पाराशर्य तथा शिलालि प्रातिपदिकों से णिनि होता है। भिक्षु तथा नट—इन दोनों में प्रत्येक के साथ यथासंख्य करके प्रत्ययार्थ विशेषण सूत्र शब्द का सम्बन्ध होता है। यहाँ पर तद्विषयता होती है। अतः 'छन्दस्' का अनुवर्त्तन कर लेना चाहिए। गुणकल्पना के द्वारा भिक्षुसूत्र तथा नटसूत्रों का छन्दस्त्व तो होता ही है।

उदा० (1) पाराशरिणः
पाराशर्येण प्रोक्तमधीयते—णिनि हुआ,
पाराशर्य णिनि जस्—प्रथमा बहुवचन।

(2) शैलालिनः (पूर्ववत्)।

भिक्षुनट० अर्थात् भिक्षुसूत्र व नटसूत्र का प्रोक्त विषय अभिधेय हो तो णिनि होता है—

(3) पाराशरम्
पाराशर्य अण्—णिनि नहीं हुआ।

(4) शैलालम् (पूर्ववत्)।

(1684) कर्मन्दकृशाश्वादिनिः *111* (1491)

भिक्षुनटसूत्रोरित्येव। कर्मन्दकृशाश्वशब्दाभ्यामिनिः प्रय-त्यो भवति तेन प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये यथासंख्यं भिक्षु-नटसूत्रयोरभिधेययोः। अणोऽपवादः। अत्रापि तद्विषयतार्थं छन्दोग्रहणमनुवर्त्यम्। कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः। कृशाश्विनो नटाः। भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव-कार्म-न्दम्, कार्शाश्वम्।

अर्थ—भिक्षुसूत्र तथा नटसूत्र का प्रोक्त विषय अभिधेय हो तो यथासंख्य करके तृतीयान्त समर्थ कर्मन्द तथा कृशाश्व प्रातिपदिकों से इनि होता है। यह अण् का अपवाद है। 'तेन प्रोक्तम्' इस अर्थ में यथासंख्य करके भिक्षासूत्र व नटसूत्र में प्रत्यय होता है। यहाँ पर भी तद्विषयता के लिए 'छन्दस्' का ग्रहण करना चाहिए।

उदा० (1) कर्मन्दिनः
कर्मन्देन प्रोक्तम् अधीयते—इनि हुआ।

(2) कृशाश्विनः
कृशाश्व इनि।

भिक्षु० अर्थात् भिक्षुसूत्र व नटसूत्र का प्रोक्त विषय अभिधेय होने पर ही इनि होता है—

(3) कार्मन्दम्
इनि नहीं हुआ। अण् हुआ।

(4) कार्शाश्वम्।

(1685) तेनैकदिक् *112* (1492)

तेनेति तृतीयासमर्थादेकदिगित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। एकदिक् तुल्यदिक्, समानदिगित्यर्थः। सुदाम्ना एकदिक् सौदामनी विद्युत्। हैमवती। त्रैककुदी। पैलुमूली। तेनेति प्रकृते पुनः समर्थविभक्तिग्रहणं छन्दो-ऽधिकारनिवृत्त्यर्थम्। पूर्वत्र हि छन्दोऽधिकारात् तद्विषयता साध्यते।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, समान दिशा अर्थ में। एकदिक् का अर्थ है—समान दिशा।

उदा० (1) सौदाम्नी
सुदाम्ना एकदिक्—अण् हुआ, ङीप् हुआ।

(2) हैमवती
पूर्ववत् अण्।

(3) त्रैककुदी
अण् हुआ। ङीप्।

(4) पैलुमूली
अण्। ङीप्।

'तेन' इस प्रकार तृतीयान्त समर्थ विभक्ति के प्राप्त रहते पुनः

समर्थ विभक्ति का ग्रहण 'छन्दस्' के अधिकार की निवृत्ति के लिए है। पहले 'छन्दस्' के अधिकार से तद्विषयता सिद्ध की जाती है।

(1686) तसिश्च *113* (1493)

तसिश्च प्रत्ययो भवति तेनैकदिगित्येतस्मिन् विषये। पूर्वेण घादिषु अणादिषु च प्राप्तेष्वयमपरः प्रत्ययो विधीयते। स्वरादिपाठादव्ययत्वम्। सुदामतः। हिमवत्तः। पीलुमूलतः।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'तसि' होता है, समान दिशा अर्थ में। पूर्वसूत्रों के द्वारा 'घ' आदि व 'अण्' आदि प्रत्ययों के प्राप्त होने पर यह दूसरा प्रत्यय कहा गया है। स्वर आदि में पाठ होने से अव्यय होता है।

उदा० (1) सुदामतः
सुदाम्नैकदिक् → सुदामन् तसि—नकारलोप;
सुदामतस् सु—अव्ययसंज्ञा, सुलुक्।

(2) हिमवत्तः
हिमवत् तसि सु।

(3) पीलुमूलतः
पीलुमूल तसि सु।

(1687) उरसो यच्च *114* (1494)

उरःशब्दाद्यत् प्रत्ययो भवति चकारात्तसिश्च तेनैकदिगित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। उरसा एकदिग् उरस्यः। उरस्तः।

अर्थ—समान दिशा अर्थ में तृतीयान्त समर्थ उरस् प्रातिपदिक से यत् तथा तसि होता है।

उदा० (1) उरस्यः
उरसैकदिग्—यत् हुआ।

(2) उरस्तः
पक्ष में तसि हुआ।

(1688) उपज्ञाते *115* (1495)

तेनेत्येव। तृतीयासमर्थादुपज्ञात इत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। विनोपदेशेन ज्ञातमुपज्ञातम्, स्वयमभिसम्बद्धमित्यर्थः। पाणिनिनोपज्ञातं पाणिनीयम् अकालकं व्याकरणम्। काशकृत्स्नम्-गुरुलाघवम्। आपिशलम्-दुष्करणम्।

अर्थ—उपज्ञात अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। जो विना उपदेश के प्राप्त हो, उसे 'उपज्ञात' कहते हैं।

उदा० (1) पाणिनीयम्
पणिनिनोपज्ञातम्—'छ' हुआ।

(2) कालापकम्
कलाप वुञ्।

(3) काशकृत्स्नम्
अण् हुआ।

(4) आपिशलम् (पूर्ववत्)।

(1689) कृते ग्रन्थे *116* (1496)

तेनेत्येव। तृतीयासमर्थात्कृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्कृतं ग्रन्थश्चेत् स भवति। वररुचिना कृता वाररुचाः श्लोकाः। हैकुपादो ग्रन्थः। भैकुराटो ग्रन्थः। जालूकः। ग्रन्थ इति किम्? तक्षकृतः प्रासादः। उत्पादितं कृतम्, विद्यमानमेव ज्ञातमुपज्ञातमित्ययमनयोर्विशेषः।

अर्थ—'ग्रन्थ बनाना' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वाररुचाः श्लोकाः
वररुचिना कृताः—अण् हुआ।

(2) हैकुपादः
हिकुपाद अण्।

(3) जालूकः (पूर्ववत्)।

ग्रन्थ अर्थात् ग्रन्थ अभिधेय होने पर ही प्रत्यय होता है—

(4) तक्षकृतः प्रासादः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

उत्पादित को 'कृत' कहते हैं।

(1690) संज्ञायाम् *117* (1497)

तृतीयासमर्थात् कृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति समुदायेन चेत्संज्ञा ज्ञायते। मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकम्। कार्मुकम्। सारघम्। पौत्तिकम्। मधुनः संज्ञा एताः।

अर्थ—संज्ञा अर्थ गम्यमान हो तो कृत अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिकों से अण् होता है।

उदा० (1) माक्षिकम्
मक्षिकाभिः कृतम् → मक्षिक अण्—आदिवृद्धि।

(2) कार्मुकम् (पूर्ववत्)।
(3) सारघम् (पूर्ववत्)।
(4) पौत्तिकम् (पूर्ववत्)।

(1691) कुलालादिभ्यो वुञ् *118* (1498)

तेन, कृते, संज्ञायामिति चैतत्सर्वमनुवर्त्तते। कुलालादिभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति तेन कृतमित्येतस्मिन्नर्थे संज्ञायां गम्यमानायाम्। कौलालकम्। वारुडकम्। कुलाल। वरुड। चण्डाल। निषाद। कर्मार। सेना। सिरिध्र। सेन्द्रिय। देवराज। परिषत्। वधू। रुरु। ध्रुव। रुद्र। अनडुह्। ब्रह्मन्। कुम्भकार। श्वपाक—कुलालादिः।

अर्थ—कृते, सञ्ज्ञायाम्, तेन—इन सभी का अनुवर्त्तन है। संज्ञा अर्थ गम्यमान हो तो कृत अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कुलालादि प्रातिपदिकों से वुञ् होता है।

उदा० (1) कौलालकम्
कुलाल वुञ्।

(2) वारुडकम्
वरुड वुञ्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1692) क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ् *119* (1499)

तेन, कृते, संज्ञायामिति सर्वमनुवर्तते। क्षुद्रादिभ्योऽञ् प्रत्ययो भवति तेन कृतमित्येतस्मिन् विषये संज्ञायां गम्यमानायाम्। अणोऽपवादः। स्वरे विशेषः। क्षुद्रादिभिः कृतं क्षौद्रम्। भ्रामरम्। वाटरम्। पादपम्।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान हो तो कृत अर्थ में तृतीयान्त समर्थ क्षुद्रा, भ्रमर, वटर तथा पादप प्रातिपदिकों से 'अञ्' होता है। यह अण् का अपवाद है। अण् और अञ् में स्वर का भेद है।

उदा० (1) क्षौद्रम्
क्षुद्रादिभिः कृतम् → क्षुद्र अञ्—आदिवृद्धि।

(2) भ्रामरम्
भ्रमर अञ्।

(3) वाटरम्
वटर अञ्।

(4) पादपम् (पूर्ववत्)।

(1693) तस्येदम् *120* (1500)

तस्येति षष्ठीसमर्थादिदमित्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। अणादयः पञ्च महोत्सर्गाः, घादयश्च प्रत्यया यथाविहितं विधीयन्ते। प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः षष्ठ्यर्थमात्रं तत्सम्बन्धिमात्रं च विवक्षितम्, यदपरं लिङ्गसंख्याप्रत्यक्ष-परोक्षादिकं तत्सर्वमविवक्षितम्। उपगोरिदमौपगवम्। कापटवम्। राष्ट्रियम्। अवारपारीणम्। अनन्तरादिष्वनभिधानान्न भवति—देवदत्तस्यानन्तरमिति। *संवहेस्तुरणिट् च* (म०भा०)। संवोढुः स्वं सांवहित्रम्। सिद्ध एवात्राण् इडर्थमुपसंख्यानम्। *अग्नीधः शरणे रण् भं च* (म०भा०)। आग्नीध्रम्। *समिधामाधाने षेण्यण्* (म० भा०)। सामिधेन्यो मन्त्रः। सामिधेनी ऋक् (ऐ०ब्रा० 1.1)।

अर्थ—'यह है उसका' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। अण् आदि पाँच महा उत्सर्ग हैं। 'घ' आदि प्रत्ययों का यथाविहित विधान किया जाता है। प्रकृति और प्रत्ययार्थ का षष्ठ्यर्थमात्र तथा तत्सम्बन्धिमात्र कहा गया है। जो दूसरे लिंग, संख्या, प्रत्यक्ष व परोक्ष आदि हैं, वह सब अविवक्षित हैं।

उदा० (1) औपगवम्
उपगोरिदम्—औत्सर्गिक अण् हुआ,
औपगो अ—आदिवृद्धि, ओर्गुणः, सु।

(2) कापटवम्
पूर्ववत् अण्।

(3) राष्ट्रियम्
राष्ट्र घ।

(4) अवारपारीणम्
अवारपार ख।

कथन न होने से अनन्तर आदि में नहीं होता है। यथा—
देवदत्तस्याऽनन्तरम्।

वहेस्तुर०—सम्पूर्वक वह् धातु से 'तृ' प्रत्यय से निष्पन्न शब्द (संवोढृ) से अण् होता है तथा 'तृ' प्रत्यय को इट् आगम होता है—

(5) सांवहित्रम्
संवह् तृ अण्—आदिवृद्ध, इट्,
सांवह् इट् तृ अण्—इको यणचि,
सांवहित्रम्—सु।

अग्नीधः—शरण अर्थ वाच्य हो तो अग्नीध् शब्द से 'रञ्' प्रत्यय होता है तथा भसंज्ञा होती है—

(6) आग्नीध्रम्
अग्नीध् रञ्—भसंज्ञा होने से पदसंज्ञा का बाध हो गया।

समिधामा०—समिधाओं के आधान में मन्त्रविशेष से 'षेण्यण्' प्रत्यय होता है—

(7) सामिधेन्यो मन्त्रः
समिध् षेण्यण्—सामिधेन्य—षः प्रत्ययस्य, आदिवृद्धि,
सामिधेन्य सु—सु हुआ।

(8) सामिधेनी ऋक्
समिधा एन्य → पूर्ववत्।
सामिधेन्य ङीप् सु—विभक्तिकार्य।

(1694) रथाद्यत् *121* (1501)

रथशब्दाद् यत् प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। रथस्येदं रथ्यम्, चक्रं वा युगं वा। रथाङ्ग एवेष्यते, नान्यत्र अनभिधानात्। *रथसीताहलेभ्यो यद्विधाविति तदन्तविधिरुपसंख्यायते*। परमरथ्यम्। उत्तमरथ्यम्।

अर्थ—'यह है इसका' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ रथ प्रातिपदिक से 'यत्' होता है। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) रथ्यम्
रथस्येदम्—यत् हुआ,
रथ्य सु—विभक्तिकार्य।
अन्यत्र अभिधान न होने से 'रथांग' अर्थ ही होता है।

रथसीता—रथ, सीता और हल—इन शब्दों से यत् प्रत्यय के विधान में तदन्त विधि होती है। यथा—

(2) परमरथ्यम्
परमरथ यत्।

(3) उत्तमरथ्यम्
उत्तमरथ यत्।

(1695) पत्रपूर्वादञ् *122* (1502)

पतन्त्यनेनेति पत्रमश्वादिकं वाहनमुच्यते। तत्पूर्वाद्रथशब्दादञ् प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। पूर्वस्य यतोऽपवादः। आश्वरथं चक्रम्। औष्ट्ररथम्। गार्दभरथम्।

अर्थ—'पत्र' का अर्थ है—वाहन। 'यह है इसका' इस अर्थ में 'पत्र' शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे षष्ठ्यन्त समर्थ रथ प्रातिपदिक से 'अञ्' होता है। पूर्व यत् का अपवाद है।

उदा० (1) आश्वरथम्
अश्वरथस्येदम्—अञ्, आदिवृद्धि।

(2) औष्ट्ररथम्
उष्ट्ररथ अञ्।

(3) गार्दभरथम्
गर्दभरथ अञ्।

(1696) पत्राध्वर्युपरिषदश्च *123* (1503)

पत्रं वाहनम्, तद्वाचिनं प्रातिपदिकादध्वर्युपरिषच्छब्दाभ्यां चाञ्प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। *पत्राद्वाह्ये*। अश्वस्येदं वहनीयमाश्वम्। औष्ट्रम्। गार्दभम्। आध्वर्यवम्। पारिषदम्।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ पत्र, अध्वर्यु तथा परिषद् प्रातिपदिकों से 'अञ्' होता है, 'यह है इसका' इस अर्थ में। यह अण् का अपवाद है।

पत्राद्वाह्ये—वाह्य अर्थ में पत्र शब्द से प्रत्यय होता है—

उदा० (1) आश्वम्
अश्वस्येदं वहनीयम्—इस अर्थ में 'अञ्' हुआ,
अश्व अञ्—आदिवृद्धि,
आश्व सु—विभक्तिकार्य।

(2) औष्ट्रम्
उष्ट्रस्येदं वहनीयम्—पूर्ववत्,
औष्ट्र अञ् सु—विभक्तिकार्य।

(3) आध्वर्यवम्
अध्वर्यु अञ्—आदिवृद्धि, गुण,
आध्वर्यो अ सु—अवादेश।

(4) पारिषदम्
परिषद् अञ्—प्रत्यय हुआ,
पारिषद् अ—आदिवृद्धि,
पारिषद सु—विभक्तिकार्य।

(1697) हलसीराट्ठक् *124* (1504)

हलसीरशब्दाभ्यां ठक् प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। हलस्येदं हालिकम्। सैरिकम्।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ हल तथा सीर प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है, 'यह है इसका' इस अर्थ में। यह अण् का अपवाद है।

उदा० (1) हालिकम्
हलस्येदम्—हल ठक्।

(2) सैरिकम्
सीर ठक्—आदिवृद्धि।

(1698) द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः *125* (1505)

द्वन्द्वसंज्ञकाद् वुन् प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये वैरमैथुनिकयोः प्रत्ययार्थविशेषणयोः। अणोऽपवादः। छं तु परत्वाद् बाधते। वैरे तावत्–बाभ्रव्यशालङ्कायनिका, काकोलूकिका। मैथुनिकायाम्–अत्रिभरद्वाजिका, कुत्सकुशिकिका, विवहनमैथुनिका। वरस्य नपुंसकत्वेऽप्यमी स्वभावतः स्त्रीलिङ्गाः। *वैरे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। दैवासुरम्। राक्षोऽसुरं वैरम्।

अर्थ—'यह इसका है' इस अर्थ में यदि वैर तथा मैथुनिक अभिधेय हों तो षष्ठ्यन्त समर्थ द्वन्द्वसंज्ञक प्रातिपदिक से 'वुन्' होता है। यह 'अण्' का अपवाद है। यह पर होने से 'छ' का बाध करता है।

उदा० (क) वैरे—
(1) बाभ्रव्यशालङ्कायनिका
बाभ्रव्यशालङ्कायनयोरियम्—वुन् हुआ, यहाँ 'वैर' अभिधेय है, यह स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है।

(2) काकोलूकिका
पूर्ववत् वुन् हुआ।

(ख) मैथुनिकायाम्—
(3) अत्रिभरद्वाजिका (पूर्ववत्)।
(4) कुत्सकुशिकिका (पूर्ववत्)।
(5) विवहनमैथुनिका (पूर्ववत्)।

'वैर' गम्य रहते नपुंसक लिंग होता है। तो भी ये स्वभावतः स्त्रीलिंग हैं। 'वैर' गम्यमान रहते देवासुर आदि से 'वुन्' नहीं होता।

(6) दैवासुरम्
वुन् नहीं हुआ। अण् हुआ।

(7) राक्षोऽसुरम् (पूर्ववत्)।

(1699) गोत्रचरणाद् वुञ् *126* (1506)

गोत्रवाचिभ्यश्चरणवाचिभ्यश्च वुञ् प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। छं तु परत्वाद् बाधते। गोत्रात्तावत्–ग्लौचुकायनकम्, औपगवकम्। *चरणाद्धर्माम्नाययोरिष्यते* (म०भा० 4.3.120 इ० 11))–काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्।

अर्थ—'यह है उसका' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ गोत्रवाची व चरणवाची प्रातिपदिकों से 'वुञ्' होता है। यह 'अण्' का अपवाद है। पर होने यह 'छ' का बाध करता है।

उदा० (क) गोत्रात्—
(1) ग्लौचुकायनम्
ग्लौचुकायन वुञ्।।

(2) औपगवकम्
औपगव वुञ्।

धर्म और आम्नाय अर्थों में चरणवाची से प्रत्यय होता है—
(3) काठकम्
वुञ् हुआ।

(4) कालापकम्
प्रत्यय हुआ।

(5) मौदकम् (पूर्ववत्)।
(6) पैप्पलादकम् (पूर्ववत्)।

(1700) सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् *127* (1507)

सङ्घादिषु प्रत्ययार्थविशेषणेष्वञन्ताद्यञन्ताद् इञन्ताच्च प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। पूर्वस्य वुञोऽपवादः। *घोषग्रहणमत्र कर्तव्यम्* (म० भा०)। तेन वैषम्याद्यथासंख्यं न भवति। अञन्तात्–बैदः सङ्घः, बैदोऽङ्कः, बैदं लक्षणम्, बैदो घोषः। यञन्तात्–गार्गः सङ्घः, गार्गोऽङ्कः, गार्गं लक्षणम्, गार्गो घोषः। इञन्तात्–दाक्षः सङ्घः, दाक्षोऽङ्कः, दाक्षं लक्षणम्, दाक्षो घोषः। अङ्कलक्षणयोः को विशेषः ? लक्षणं लक्ष्यभूतस्यैव चिह्नभूतं स्वम्, यथा–विद्या बिदानाम्। अङ्कस्तु गवादि-

स्थोऽपि गवादीनां स्वं न भवति। णित्करणं ङीबर्थं पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च (म०भा०)। बैदी विद्याऽस्य बैदीविद्यः।

अर्थ—'यह इसका है' इस अर्थ में संघ, अंक और लक्षण अभिधेय हों तो षष्ठ्यन्त समर्थ गोत्र प्रत्ययान्त अञन्त व इञन्त प्रातिपदिकों से अण् होता है।

घोष०—घोष अर्थ में भी प्रत्यय होता है। तब विषमता होने से यथासंख्य नियम लागू नहीं होता।

उदा० (क) अञन्तात्—
(1) बैदः (अङ्कः)
बिद् अण् → बैद सु।
इसी प्रकार बैदं लक्षणम्, बैदो घोषः।

(ख) यञन्तात्—
(2) गार्गः सङ्घः
गार्ग्य—गर्गादिभ्यो यत्,
गार्ग्य् अ सु—आपत्यस्य च०।
गार्गोऽङ्कः। गार्गं लक्षणम्। गार्गो घोषः।

(ग) इञन्तात्—
(3) दाक्षः सङ्घः
दक्षस्याऽपत्यम्—'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ,
दाक्षि अण्—यस्येति च,
दाक्ष सु—विभक्तिकार्य।
दाक्षोऽङ्कः। दाक्षं लक्षणम्। दाक्षो घोषः।

अंक और लक्षण में क्या विशेष है ? लक्ष्यभूत के चिह्नभूत को लक्षण कहा जाता है। यथा—विद्या बिदानाम्। गो आदि में स्थित गो आदि का स्व नहीं होती है। अण् को णित् ङीप् के लिए तथा पुँवद्भाव के निषेध के लिए है। यथा—बैदी।

(1701) शाकलाद् वा *128* (1508)

शाकलशब्दात् सङ्घादिषु प्रत्ययार्थविशेषणेषु वाऽण्प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। वुञोऽपवादः। शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः। तेषां सङ्घः शाकलः, शाकलकः। शाकलोऽङ्कः, शाकलकोऽङ्कः। शाकलं लक्षणम्, शाकलकं लक्षणम्। शाकलो घोषः, शाकलको घोषः।

अर्थ—'यह है उसका' इस अर्थ में संघ, अंक और लक्षण अभिधेय हों तो षष्ठ्यन्त समर्थ शकल प्रातिपदिक से 'अण्' विकल्प से होता है। यह 'वुञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) शाकलः
शाकलेन प्रोक्तम् अधीयते—शाकलाः
तेषां सङ्घः → शाकल अण्—शाकलः।
इसी प्रकार—
शाकलोऽङ्कः। शाकलं लक्षणम्। शाकलो घोषः।

(2) शाकलकः
पक्ष में वुञ् हुआ।
इसी प्रकार—
शाकलकोऽङ्कः। शाकलकं लक्षणम्। शाकलको घोषः।

(1702) छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः *129* (1509)

सङ्घादयो निवृत्ताः, सामान्येन विधानम्। छन्दोगादिभ्यः शब्देभ्यो ञ्यः प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। वुञणोरपवादः। चरणाद्धर्माम्नाययोः, तत्साहचर्यान्नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव भवति। छन्दोगानां धर्मो वाऽऽम्नायो वा छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। याज्ञिक्यम्। बाह्वृच्यम्। नाट्यम्। अन्यत्र छान्दोगं कुलमित्यादि।

अर्थ—संघ आदि की अनुवृत्ति नहीं है। सामान्य रूप से विधान किया जा रहा है। 'यह है उसका' इस अर्थ में षष्ठ्यर्थ समर्थ छन्दोग आदि शब्दों से 'ञ्य' होता है। यह वुञ् और अण् का अपवाद है। धर्म व आम्नाय अर्थों में चरणवाची से प्रत्यय होता है। इसी प्रकार उसके साहचर्य से नट शब्द से भी धर्म और आम्नाय अर्थों में प्रत्यय होता है।

उदा० (1) छान्दोग्यः
छन्दोगानाम् आम्नायो (धर्मो वा)—'ञ्य' हुआ,
छान्दोग य—आदिवृद्धि, सु।

(2) औक्थिक्यम् (पूर्ववत्)।
(3) याज्ञिक्यम् (पूर्ववत्)।
(4) बाह्वृच्यम् (पूर्ववत्)।
(5) नाट्यम् (पूर्ववत्)।
अन्यत्र छान्दोगं कुलम्—यहाँ अण् हुआ।

(1703) न दण्डमाणवान्तेवासिषु *130* (1510)

दण्डप्रधाना माणवा दण्डमाणवाः, अन्तेवासिनः शिष्याः, तेष्वभिधेयेषु वुञ् प्रत्ययो न भवति। गोत्रग्रहणमिहानुवर्त्तते,

तेन वुञ्प्रतिषेधो विज्ञायते। गौकक्षाः दण्डमाणवाः अन्तेवासिनो वा। दाक्षाः। माहकाः।

अर्थ—दण्डप्रधान जो माणव, उसे दण्डमाणव कहते हैं। 'यह है उसका' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ गोत्रवाची प्रातिपदिक से 'वुञ्' नहीं होता, यदि दण्डमाणव तथा अन्तेवासी अभिधेय हो। यहाँ 'गोत्रे' का अनुवर्त्तन है। उससे 'वुञ्' का निषेध कहा जाता है।

उदा० (1) गौकक्षाः दण्डमाणवाः, अन्तेवासिनः

गौकक्ष्यस्य दण्डमाणवाः
गौकक्ष्यस्याऽन्तेवासिनः } वुञ् प्राप्त हुआ, निषेध हुआ।

'अपत्यस्य च०' से यकारलोप।
गौकक्ष जस्—विभक्तिकार्य।

(2) दाक्षाः
'इञश्च' से 'अण्' होता है।

(3) माहकाः (पूर्ववत्)।

(1704) रैवतिकादिभ्यश्छः *131* (1511)

रैवतिकादिभ्यश्छः प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। गोत्रप्रत्ययान्ता एते, ततः पूर्वेण वुञि प्राप्ते छविधानार्थं वचनम्। रैवतिकीयः। स्वापिशीयः। रैवतिक। स्वापिशि। क्षैमवृद्धि। गौरग्रीवि। औदमेयि। औदवाहि। बैजवापि–रैवतिकादिः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ रैवतकादि प्रातिपदिकों से 'छ' होता है, 'यह है उसका' इस अर्थ में। ये सभी गोत्रप्रत्ययान्त हैं। उनसे पूर्व सूत्र के द्वारा वुञ् प्रत्यय के प्राप्त होने पर 'छ' का विधान किया गया है।

उदा० (1) रैवतिकीयः
रैवतिकानां सङ्घः—रैवतिक छ सु।

(2) स्वापिशीयः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1705) कौपिञ्जलहास्तिपदादण् *132* (1512)

कौपिञ्जल-हास्तिपदशब्दाभ्यामण् प्रत्ययो भवति तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। गोत्रवुञोऽपवादः, गोत्राधिकारात्। कौपिञ्जलः। हास्तिपदः।

अर्थ—'यह इसका है'—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ कौपिञ्जल व हास्तिपद प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय होता है। 'गोत्रे' का अधिकार होने से यह गोत्रलक्षण 'वुञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) कौपिञ्जलः
कौपिञ्जल अण् सु।

(2) हास्तिपदः
हास्तिपद अण्।

(1706) आथर्वणिकस्येकलोपश्च *133* (1513)

अणित्येव। आथर्वणिकशब्दादण् प्रत्ययो भवति तत्सन्नि-योगेन चेकलोपः, तस्येदमित्येतस्मिन् विषये। चरणवुञोऽपवादः। अथार्वणिकस्यायमाथर्वणो धर्म आम्नायो वा। चरणाद्धर्माम्नाययोः (वा० 475)।

अर्थ—'यह उसका है'—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ आथर्वणिक शब्द से अण् प्रत्यय होता है तथा उसके सन्नियोग से 'इक' का लोप होता है। चरणलक्षण 'वुञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) आथर्वणः
आथर्वणिकस्याऽयम्—अण् हुआ, 'इक' का लोप,
आथर्वण् अ सु—विभक्तिकार्य।

(1707) तस्य विकारः *134* (1514)

तस्येति षष्ठीसमर्थाद्विकार इत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति। प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः। किमिहोदाहरणम्? अप्राण्याद्युदात्तमवृद्धं यस्य च नान्यत् प्रतिपदं ग्रहणम्। अश्मनो विकार आश्मः। आश्मनः। अश्मनो विकार इति टिलोपः पाक्षिकः। भास्मनः। मार्त्तिकः। नित्स्वरेणाद्युदात्ता एते। तस्य प्रकरणे तस्येति पुनर्वचनं शैषिकनिवृत्त्यर्थम् (म०भा०)। विकारावयवयोर्घादयो न भवन्ति–हालः, सैरः।

अर्थ—'विकार' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। प्रकृति की अवस्था में परिवर्तन को विकार कहा जाता है। इसका क्या उदाहरण है? अप्राणी, आद्युदात्त, अवृद्ध और वह जिसका दूसरा प्रतिपद ग्रहण नहीं है—वे सभी इसके उदाहरण हैं।

उदा० (1) आश्मनः
अश्मनो विकारः—यहाँ 'नस्तद्धिते' से टिलोप प्राप्त हुआ, 'अन्' से प्रकृतिभाव हुआ, टि का लोप पाक्षिक होता है।
आश्मन सु—टिलोप अभावपक्ष, सु।

(2) आश्मः
अश्मन् → अश्म् अ सु—टिलोप।

(3) भास्मनः
भस्मन् अण् सु।

(4) मार्त्तिकः
मृत्तिकाया विकारः।
नित् स्वर के द्वारा ये आद्युदात्त होते हैं।

तस्य०—'तस्येदम्' से 'तस्य' पद का अनुवर्त्तन स्वतः सिद्ध रहने पर पुनः 'तस्य' पद का पाठ 'शेषे' इस अनुवृत्त पद की निवृत्ति के लिए है। यहाँ से 'शेषे' का अधिकार समाप्त हो जाता है। यदि 'तस्येदम्' से 'तस्य' पद का अनुवर्त्तन कर लिया जाता तो 'शेषे' इस अधिकार में उक्त 'घ' इत्यादि प्रत्ययविशेष की प्रवृत्ति विकार अर्थ में होने लगती। अतः 'तस्य' का पुनः ग्रहण किया गया है।

विकार और अवयव अर्थों में 'घ' आदि नहीं होते हैं।

(5) हालः
प्रत्यय हुआ।

(6) सैरः (पूर्ववत्)।

(1708) अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः *135* (1515)

प्राण्योषधिवृक्षवाचिभ्यः शब्देभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्योऽवयवे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, चकाराद्विकारे च। तत्र प्राणिभ्योऽञं वक्ष्यति–कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कापोतः। मायूरः। तैत्तिरः। ओषधिभ्यः–मौर्वं काण्डम्, मौर्वं भस्म। वृक्षेभ्यः–कारीरं काण्डम्, कारीरं भस्म। इत उत्तरे प्रत्ययाः प्राण्योषधिवृक्षेभ्यो विकारावयवयोर्भवन्ति, अन्येभ्यस्तु विकारमात्रे। कथं द्वयमप्यधिक्रियते 'तस्य विकारः', 'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' इति? विकारावयवयोर्युगपदधिकारोऽपवादविधानार्थः। कृतनिर्देशौ हि तौ (म० भा०)।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ प्राणिवाची, ओषधिवाची तथा वृक्षवाची प्रातिपदिकों से यथाविहित प्रत्यय होता है, 'अवयव' तथा 'विकार' अर्थों में। प्राणिवाची शब्दों से 'अञ्' कहा जायेगा।

उदा० (क) प्राणिवाचिभ्यः—

(1) कापोतः
कपोतस्य विकारोऽवयवो वा—अण् हुआ,
कापोत अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) मायूरः
मयूर अण्।

(3) तैत्तिरः
तित्तिर अण्।

(ख) ओषधिभ्यः—

(4) मौर्वं (काण्डम्)
मूर्वाया विकारोऽवयवो वा—अण् हुआ,
मूर्वा अ → मौर्व अ सु।

(ग) वृक्षेभ्यः—

(5) कारीरं (काण्डम्)
करीर अण्

इत०—इससे आगे प्राणिवाची, ओषधिवाची तथा वृक्षवाची प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में प्रत्यय होते हैं। अन्य शब्दों से विकारमात्र में प्रत्यय होता है। तब पूर्वोक्त दोनों सूत्रों (4.3.134,135) का अधिकार कैसे है ? 'विकार' और 'अवयव' का युगपद् अधिकार अपवाद के विधान के लिए है। उनका निर्देश तो किया जा चुका है।

(1709) बिल्वादिभ्योऽण् *136* (1516)

बिल्व इत्येवमादिभ्योऽण् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। यथायोगमञ्मयटोरपवादः। बिल्वस्यावयवो विकारो वा बैल्वः। गवेधुकाशब्दोऽत्र पठ्यते, ततः कोपधादेव सिद्धे मयड्बाधनार्थं ग्रहणम्। बिल्व। व्रीहि। काण्ड। मुद्ग। मसूर। गोधूम। इक्षु। वेणु। गवेधुका। कर्पासी। पाटली। कर्कन्धू। कुटीर–बिल्वादिः।

अर्थ—विकार तथा अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ बिल्वादि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है। यथाप्राप्त अञ् और मयट् का अपवाद है।

उदा० (1) बैल्वः
बिल्वस्य विकारोऽवयवो वा—अण् हुआ,
बैल्व अ सु—आदिवृद्धि, सु।

यहाँ गवेधुक शब्द का पाठ है। उसके कोपध होने से 'कोपधाच्च' से प्रत्यय के सिद्ध रहते 'मयट्' के बाध के लिए यह विधान किया जा रहा है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1710) कोपधाच्च *137* (1517)

ककारोपधात् प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति यथायोगं विकारावयवयोरर्थयोः। अञोऽपवादः। तर्कु–तार्क्कवम्। तित्तिडीक–तैत्तिडीकम्। माण्डूकम्। दार्दुरूकम्। माधूकम्।

अर्थ—विकार तथा अवयव—इन अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ कोपध (अर्थात् ककार है उपधा में जिसके) प्रातिपदिक से 'अण्' होता है।

उदा० (1) तार्कवम्

तर्कोर्विकारः } 'अण्' हुआ।
तर्कोरवयवः }

(2) तैन्तिडीकम्
तिन्तिडीक अण्।

(3) माण्डूकम्
मण्डूक अण्।

(4) दार्दुरूकम्
दर्दुरूक अण्।

(5) माधूकम्
मधूक अण्।

(1711) त्रपुजतुनोः षुक् *138* (1518)

त्रपुजतुशब्दाभ्यामण् प्रत्ययो भवति विकारे, तत्सन्नियोगेन तयोः षुगागमो भवति। ओरञोऽपवादः। त्रपुणो विकारः त्रापुषम्। जातुषम्। अप्राण्यादित्वान्नावयवे।

अर्थ—विकार तथा अवयव—इन अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ त्रपु तथा जतु प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'षुक्' आगम होता है। यह 'ओरञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) त्रापुषम्
त्रपुणो विकारः → त्रपु षुक् अण्
त्रापुष् अ सु—आदिवृद्धि।

(2) जातुषम् (पूर्ववत्)।

प्राणिवाची से भिन्न होने के कारण 'अवयव' अर्थ में प्रत्यय नहीं होता है।

(1712) ओरञ् *139* (1519)

उवर्णान्तात्प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। अणोऽपवादः। अनुदात्तादेरन्यदिहोदाहरणम्। दैवदारवम्। भाद्रदारवम्।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ उवर्णान्त प्रातिपदिक से 'अञ्' होता है, विकार तथा अवयव अर्थों में। यह अण् का अपवाद है। यहाँ अनुदात्ता दि से अतिरिक्त उदाहरण होता है।

उदा० (1) दैवदारवम्
देवदारु अञ्—आदिवृद्धि, सु।

(2) भाद्रदारवम्
भद्रदारु अञ्।

(1713) अनुदात्तादेश्च *140* (1520)

अनुदात्तादेः प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। अणोऽपवादः। दाधित्थम्। कापित्थम्। माहित्थम्।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ अनुदात्तादि प्रातिपदिक से 'अञ्' होता है, विकार और अवयव अर्थों में। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) दाधित्थम्
दध्नि तिष्ठति—'कुगतिप्रादयः' से 'दधि' तथा 'स्थ' (स्था क) में समास, दधित्थ, 'थाथघञ्का०' से उत्तर पद अन्तोदात्त, 'अनुदात्तं०' से शेष अनुदात्त, आदिवृद्धि, सु।

(2) कापित्थम्
कपित्थ अञ्।

(3) माहित्थम् (पूर्ववत्)।

(1714) पलाशादिभ्यो वा *141* (1521)

पलाशादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वाऽञ् प्रत्ययो भवति विकाराऽवयवयोरर्थयोः। पालाशम्। खादिरम्। यावसम्। उभयत्र विभाषेयम्। पलाशखदिरशिंशपास्पन्दनानामनुदात्तादित्त्वात् प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते। पलाश। खदिर। शिंशपा। स्पन्दन। करीर। शिरीष। यवास। विकङ्कत–पलाशादिः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ पलाशादि प्रातिपदिकों से 'अञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है, विकार तथा अवयव अर्थों में।

उदा० (1) पालाशम्
पलाश अञ् सु।

(2) खादिरम्
खदिर अञ् सु।

(3) यावसम्
यवस अञ् सु।

यह उभयत्र विभाषा है। पलाश, खदिर, शिंशपा तथा स्यन्दन आदि अनुदात्तादि हैं। अतः इनसे प्राप्तविभाषा है। शेष से अञ् प्राप्त था। अतः अप्राप्तविभाषा हुई।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1715) शम्याष्ट्लञ् *142* (1522)

शमीशब्दाद् ट्लञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। अञोऽपवादः। शामीलं भस्म। शामीली स्रुक्।

अर्थ—विकार तथा अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ शमी प्रातिपदिक से 'ट्लञ्' प्रत्यय होता है। यह 'अञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) शामीलं भस्म
शम्या विकारः → शमी ल—चुटू, हलन्त्यम्,
शामील सु—आदिवृद्धि, सु।
(2) शामीली स्रुक्
स्त्रीत्व में ङीप् हुआ।

(1716) मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः *143* (1523)

प्रकृतिमात्राद्वा मयट् प्रत्ययो भवति भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरर्थयोर्भाषायां विषये यथायथं प्रत्ययेषु प्राप्तेषु। अश्ममयम्। आश्मनम्। मूर्वामयम्। मौर्वम्। भाषायामिति किम्? बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्। अभक्ष्याच्छादनयोरिति किम्? मौद्गः सूपः, कार्पासमाच्छादनम्। एतयोरिति किमर्थम्, यावता विकारावयवौ प्रकृतावेव? ये विशेषप्रत्ययाः 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (4.3.154) इत्येवमादयस्तद्विषयेऽपि यथा स्यात्–कपोतमयम्, कापोतम्; लोहमयम्, लौहमिति।

अर्थ—विकार तथा अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'मयट्' प्रत्यय विकल्प से होता है, लौकिक प्रयोग के विषय में यदि 'भक्ष्य' तथा 'आच्छादन' अभिधेय न हों।

उदा० (1) अश्ममयम्
अश्मन् मयट्—विकार अर्थ में, हलन्त्यम्, नलोपः प्राति०, सु।
(2) आश्मनम्
अश्मन् अण्—तस्य विकारः, नस्तद्धिते, अन्।
(3) मूर्वामयम्
मयट्, सु।
(4) मौर्वम्
मूर्वा अण्—आदिवृद्धि।

भाषाया० अर्थात् **लौकिक प्रयोग** के विषय में ही प्रत्यय होता है—

(5) बैल्वो यूपः
'अण्' हुआ।

अभक्ष्या०—भक्ष्य तथा **आच्छदन** अभिधेय न हों तो प्रत्यय होता है—

(6) मौद्गः सूपः
मुद्ग अण्—मयट् नहीं हुआ।
(7) कार्पासम्
मयट् नहीं हुआ।

एतयो०—इनमें ही होता है। विकार और अवयव तो प्रकृत ही हैं। प्राणिवाची तथा रजतादि से जो 'अञ्' आदि विशेष प्रत्यय होते हैं, वे तद्विषय में भी होते हैं। यथा—

(8) कपोतमयम्
कपोत मयट् सु।
(9) लोहमयम् (पूर्ववत्)।
(10) लौहम्
लोह अण्।

(1717) नित्यं वृद्धशरादिभ्यः *144* (1524)

भाषायामभक्ष्याच्छादनयोरित्येव। वृद्धेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शरादिभ्यश्चाभक्ष्याच्छादनयोर्विकारावयवयोर्भाषायां विषये नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति। वृद्धेभ्यस्तावत्–आममयम्। शालमयम्। शाकमयम्। शरादिभ्यः–शरमयम्। दर्भमयम्। मृण्मयम्। नित्यग्रहणं किमर्थम्, यावताऽऽरम्भसामर्थ्यादेव नित्यं भविष्यति? एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति, तदनेन क्रियते–त्वङ्मयम्, स्रङ्मयम्, वाङ्मयमिति। शर। दर्भ। मृत्। कुटी। तृण। सोम। बल्वज। शरादिः।

अर्थ—विकार और अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ वृद्धसंज्ञक

व शरादि प्रातिपदिकों से नित्य 'मयट्' होता है, लौकिक प्रयोग के विषय में यदि भक्ष्य तथा आच्छादन अभिधेय हों तो।

उदा० (क) वृद्धेभ्यः—

(1) आम्रमयम्
आम्र मयट् सु।

(2) शालमयम्
शाल मयट् सु।

(3) शाकमयम्
शाक मयट् सु।

(ख) शरादिभ्यः—

(4) शरमयम्
शर मयट् सु।

(5) दर्भमयम्
दर्भ मयट् सु।

(6) मृण्मयम् (पूर्ववत्)।

आरम्भसामर्थ्य से ही नित्य होता है। तब 'नित्यम्' पद के ग्रहण की आवश्यकता क्या है ? एकाच् से नित्य 'मयट्' चाहते हैं। अतः 'नित्य' कहा गया है।

(7) त्वङ्मयम्
त्वच् मयट् → त्वक् मय—कुत्व,
त्वङ्मय सु।

(8) स्रङ्मयम्
पूर्ववत् कुत्व, अनुनासिक आदेश।

(9) वाङ्मयम् (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1718) गोश्च पुरीषे *145* (1525)

गोशब्दात्पुरीषेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति। गोमयम्। पुरीष इति किम्? गव्यं पयः। पुरीषं न विकारो न चावयवस्तस्येदं विषये विधानम्। विकारावयवयोस्तु गोपयसोर्यतं (4.3.160) वक्ष्यति।

अर्थ—'पुरीष' अभिधेय हो तो षष्ठ्यन्त समर्थ 'गो' प्रातिपदिक से 'मयट्' होता है।

उदा० (1) गोमयम्
गो मयट् सु।

पुरीष० अर्थात् पुरीष अभिधेय हो तो 'मयट्' होता है—

(2) गव्यम्
गो यत्—मयट् नहीं हुआ।

पुरीष न तो विकार है; न ही अवयव है। 'तस्येदम्' विषय में यह विधान है। विकार और अवयव अर्थों में 'गो' और 'पयस्' शब्दों से 'यत्' कहा जायेगा।

(1719) पिष्टाच्च *146* (1526)

पिष्टशब्दान्नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति तस्य विकार इत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। पिष्टमयं भस्म।

अर्थ—'विकार' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ पिष्ट प्रातिपदिक से 'मयट्' होता है। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) पिष्टमयं भस्म
पिष्ट मयट् सु।

(1720) सञ्ज्ञायां कन् *147* (1527)

पिष्टशब्दात् कन् प्रत्ययो भवति विकारे संज्ञायां विषये। मयटोऽपवादः। पिष्टकः।

अर्थ—विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ पिष्ट प्रातिपदिक से 'कन्' होता है, यदि संज्ञा गम्यमान हो। यह मयट् का अपवाद है।

उदा० (1) पिष्टकः
पिष्ट कन् सु।

(1721) व्रीहेः पुरोडाशे *148* (1528)

व्रीहिशब्दान्मयट् प्रत्ययो भवति पुरोडाशे विकारे। बिल्वाद्यणोऽपवादः। व्रीहिमयः पुरोडाशः, व्रैहमन्यत्।

अर्थ—यदि 'पुरोडाश' अभिधेय हो तो षष्ठ्यन्त समर्थ व्रीहि प्रातिपदिक से 'मयट्' होता है, विकार अर्थ में। बिल्वादिलक्षण 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) व्रीहिमयः
व्रीहि मयट् सु।

(2) व्रैहम्
व्रीहि अण्—पक्ष में होता है।

(1722) असञ्ज्ञायां तिलयवाभ्याम् *149* (1529)

तिलयवशब्दाभ्यामसंज्ञाविषये मयट् प्रत्ययो भवति

विकारावयवयोरर्थयोः। तिलमयम्। यवमयम्। असंज्ञायामिति किम्? तैलम्, यावकः। 'यावादिभ्यः कन्' (5.4.29)।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ तिल व यव प्रातिपदिकों से विकार व अवयव अर्थों में 'मयट्' होता है, संज्ञा गम्यमान न हो तो।

उदा० (1) तिलमयम्
तिल मयट् सु।

(2) यवमयम्
यव मयट् सु।

असञ्ज्ञा०—संज्ञा गम्यमान न हो तो 'मयट्' होता है—

(3) तैलम्
तिल अण्—मयट् हुआ।

(4) यावकः
याव कन् सु।
'यावादिभ्यः कन्' से 'कन्' हुआ।

(1723) द्व्यचश्छन्दसि *150* (3453)

द्व्यचः प्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये मयट् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। भाषायां मयडुक्तश्छन्दस्यप्राप्तो विधीयते। यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति (नि० 3.5.7.1)। दर्भमयं वासो भवति (मै०सं० 1.11.1)। शरमयं बर्हिर्भवति (का०सं० 11.8)।

अर्थ—वेद के विषय में षष्ठ्यन्त समर्थ दो अच् वाले प्रातिपदिक से 'मयट्' प्रत्यय होता है, विकार और अवयव अर्थों में। लोक में मयट् कहा गया है। वेद में अप्राप्त होने से विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) पर्णमयी
पर्ण मयट् ङीप् सु—टिड्ढाऽण०।

(2) दर्भमयम्
मयट् हुआ।

(3) शरमयम् (पूर्ववत्)।

(1724) नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात् *151* (3454)

उत्वतः प्रातिपदिकाद् वर्ध्रबिल्वशब्दाभ्यां च मयट् प्रत्ययो न भवति। 'द्व्यचश्छन्दसि' (4.3.150) इति प्राप्तः प्रतिषिध्यते। मौञ्जं शिक्यम् (तै०सं० 5.1.20.1)। गार्मुतं चरुम् (तै०सं० 2.4.4.1)। वार्ध्री बालप्रग्रथिता भवति। बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कार्यः (मै०सं० 3.9.3)। तपरकरणं तत्कालार्थम्। धूममयान्यभ्राणि। मतुब्निर्देशस्तदन्तविधिनिरासार्थः। इहैव स्यात्–वैणवी यष्टिरिति।

अर्थ—वेद के विषय में दो अच् वाले उकारवान् षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से, वर्ध्र और बिल्व शब्दों से 'मयट्' नहीं होता है। 'द्व्यचश्छन्दसि' से 'मयट्' प्राप्त था। उसका निषेध किया जा रहा है।

उदा० (1) मौञ्जम्
मुञ्ज अण्—'तृणधान्यानां च०' से 'अण्' हुआ,
मौञ्ज अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) गार्मुतम्
गर्मुत् अण्—'अनुदात्तादे०' से 'अण्' हुआ,
गार्मुत् अ सु—आदिवृद्धि।

(3) वार्ध्री
वर्ध्र अण् ङीप् सु—टिड्ढाऽण०।

(4) बैल्वः
बिल्व अण् सु।

तपर०—'उत्वत्' में तपर तत्काल के लिए किया गया है। यथा—

(5) धूममयानि
धूम मयट् जस्—मयट् का निषेध नहीं हुआ।

'उत्वत्' में मतुप् का निर्देश तदन्त विधि के निरास के लिए है।

(6) वैणवी यष्टिः
वेणु अण्—मयट् नहीं हुआ, ओर्गुणः, आदिवृद्धि,
वैणव ङीप् सु—विभक्तिकार्य।

(1725) तालादिभ्योऽण् *152* (1530)

तालादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। मयडादीनामपवादः। तालं धनुः। बार्हिणम्। ऐन्द्रालिशम्। तालाद्धनुषि (ग०सू०)। बार्हिण। इन्द्रालिश। इन्द्रादृश। इन्द्रायुध। चाप। श्यामाक। पीयुक्षा–तालादिः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ तालादि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है, विकार और अवयव अर्थों में। यह 'मयट्' आदि का अपवाद है।

उदा० (1) तालं (धनुः)
ताल अण् सु।

(2) बार्हिणम्
बर्हिण अण् सु।

(3) ऐन्द्रालिशम्
इन्द्रालिश अण् सु।

(4) ऐन्द्रादृशम्
इन्द्रादृश अण् सु।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1726) जातरूपेभ्यः परिमाणे *153* (1531)

जातरूपं सुवर्णम्, बहुवचननिर्देशात्तद्वाचिनः सर्वे गृह्यन्ते। जातरूपवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति परिमाणे विकारे। मयडादीनामपवादः। हाटको निष्कः। हाटकं कार्षापणम्। जातरूपम्। तापनीयम्। परिमाण इति किम्? यष्टिरियं हाटकमयी।

अर्थ—जातरूप = स्वर्ण। बहुवचन का निर्देश होने से तद्वाची सभी का ग्रहण होता है। विकार अर्थ में सुवर्णवाची षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है, 'परिमाण' अर्थ गम्यमान हो तो। यह मयट् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) हाटकः
हाटक अण् सु।

(2) जातरूपम्
जातरूप अण् सु।
इसी प्रकार शेष रूप भी जानना चाहिये।

परिमाण० अर्थात् परिमाण अर्थ गम्यमान रहते प्रत्यय होता है—

(3) हाटकमयी
हाटक मयट् ङीप् सु।

(1727) प्राणिरजतादिभ्योऽञ् *154* (1532)

प्राणिवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो रजतादिभ्यश्चाञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। अणादीनामपवादः। अनुदात्तादेरञ् विहित एव, परिशिष्टमिहोदाहरणम्। प्राणिभ्यस्तावत्–कापोतम्, मायूरम्, तैत्तिरम्। रजतादिभ्यः–राजतम्, सैसम्, लौहम्। रजतादिषु येऽनुदात्तादयः पठ्यन्ते–रजतकण्टकारप्रभृतयस्तेभ्योऽञि सिद्धे पुनर्वचनं मयड्बाधनार्थम्। रजत। सीस। लोह। उदुम्बर। नीचदारु। रोहितक। बिभीतक। पीतदारु। तीव्रदारु। त्रिकण्टक। कण्टकार–रजतादिः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ प्राणिवाची और रजतादि प्रातिपदिकों से 'अञ्' होता है, विकार और अवयव अर्थों में। यह 'अण्' आदि का अपवाद है। अनुदात्तादि आदि से 'अञ्' विहित ही है। अण् और अञ् में स्वर का अन्तर है।

उदा० (क) प्राणिभ्यः—
(1) कापोतम्
कपोत अञ् सु।

(2) मायूरम्
मयूर अञ् सु।

(3) तैत्तिरम्
तित्तिर अञ् सु।

(ख) रजतादिभ्यः—
(4) राजतम्
रजत अञ् सु।

(5) सैसम्
सीस अञ् सु।

(6) लौहम्
लोह अञ् सु।

रजतादि०—रजतादिकों में जो अनुदात्तादि रजत, कण्टकार प्रभृति का पाठ है, उनसे 'अञ्' के सिद्ध रहते मयट् के बाध के लिए पुनः अञ् का विधान किया जा रहा है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1728) ञितश्च तत्प्रत्ययात् *155* (1533)

अञित्येव। तदिति विकारावयवयोरर्थयोः प्रत्यवमर्शः। ञितो विकारावयवप्रत्ययस्तदन्तात्प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरित्येव। मयटोऽपवादः। 'ओरञ्' (4.3.139)। 'अनुदात्तादेश्च' (4.3.140)। 'पलाशादिभ्यो वा' (4.3.141)। 'शम्याष्ट्लञ्' (4.3.142)। 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (4.3.154)। 'उष्ट्राद्वुञ्' (4.3.157)। 'एण्या ढञ्' (4.3.159)। 'कंसी-

यपरशव्ययोर्यञञौ' (4.3.168) इत्येते प्रत्यया गृह्यन्ते। दैवदारवस्य विकारोऽवयवो वा दैवदारवम्। दाधित्थस्य दाधित्थम्। पालाशस्य पालाशम्। शामीलस्य शामीलम्। कापोतस्य कापोतम्। औष्ट्रकस्य औष्ट्रकम्। ऐणेयस्य ऐणेयम्। कांस्यस्य कांस्यम्। पारशवस्य पारशवम्। ञित इति किम्? बैल्वमयम्। तत्प्रत्ययादिति किम्? बैदमयम्।

अर्थ—विकार और अवयव अर्थों में विहित ञित् प्रत्यय, तदन्त षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अञ्' होता है, विकार और अवयव अर्थों में। यह मयट् का अपवाद है। 'ञित्' के द्वारा ओरञ्, शम्याष्ट्लञ्, प्राणिरजतादिभ्योऽञ्, उष्ट्राद् वुञ्, एण्या ढञ्, कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ—इनसे विहित प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) दैवदारवम्

देवदारवस्य विकारः } 'ओरञ्' से 'अञ्' हुआ,
देवदारवस्याऽवयवः } पुनः अञ्, आदिवृद्धि।

(2) दाधित्थम्
दाधित्थ अञ् सु।

(3) पालाशम्
पालाश अञ् सु।

(4) शालीलम्
शालील अञ् सु। शम्याष्ट्लञ्।

(5) औष्ट्रकम्
ऊष्ट्राद् वुञ्। पूर्ववत्।

(6) कापोतम्
कपोत अञ् सु।

(7) ऐणेयम्
एण्या ढञ् → ऐणेय अञ् सु।

(8) कांस्यम्
कंस यञ्—कंसीयपर० से 'यञ्'।
कांस्य अञ् सु।

(9) पारशवम्
'कंसीयपरशव्य०' से 'अञ्' हुआ—परशु अञ्
पारशव अञ् सु।

(10) बैल्वमयम्

यहाँ ञित् प्रत्यय नहीं हुआ है। 'बिल्वादिभ्योऽण्' से 'अण्' हुआ है। अतः 'अञ्' नहीं हुआ। 'मयट्' हुआ।

(11) बैदमयम्
यहाँ 'अञ्' नहीं हुआ। 'मयट्' हुआ।

(1729) क्रीतवत्परिमाणात् *156* (1534)

'प्राग्वतेष्ठञ्' (5.1.18) इत्यत आरभ्य क्रीतार्थे ये प्रत्ययाः परिमाणाद्विहितास्ते विकारेऽतिदिश्यन्ते। परिमाणात् क्रीत इव प्रत्यया भवन्ति तस्य विकार इत्येतस्मिन् विषये। अणादीनामपवादः। संख्याऽपि परिमाणग्रहणेन गृह्यते, न रूढिपरिमाणमेव। निष्केण क्रीतं नैष्किकम्। एवं निष्कस्य विकारो नैष्किकः। शतेन क्रीतं शत्यम्, शतिकम्। शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः। साहस्रः। वतिः सर्वसादृश्यार्थः। 'अध्यर्द्धपूर्वाद् द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' (5.1.18) इत्येवमादिकमप्यतिदिश्यते। द्विसहस्रः द्विसाहस्रः। द्विनिष्कः, द्विनैष्किकः।

अर्थ—'प्राग्वतेष्ठञ्' (4.4.1) से लेकर क्रीतार्थे में जो प्रत्यय परिमाणवाची शब्दों से विहित हैं, उनका 'विकार' अर्थ में अतिदेश किया जा रहा है। परिमाणवाची शब्द से 'क्रीत' की तरह जो प्रत्यय होते हैं, वे 'तस्य विकारः' अर्थ में भी होते हैं। 'अण्' आदि का यह अपवाद है। 'परिमाण' पद का ग्रहण होने से 'संख्या' गृहीत होती है, रूढि परिमाण का ग्रहण नहीं होता है।

उदा० (1) नैष्किकः
निष्केण क्रीतम्—नैष्किकम्। इसका अतिदेश होकर—
निष्कस्य विकारः—नैष्किकः।

(2) शत्यः
शतेन क्रीतम्—शत्यम्।
शतस्य विकारः—शत यत् सु।

(3) शतिकः
शतेन क्रीतम्—शतिकम्।
शतस्य विकारः—शतिकः।

(4) साहस्रः (पूर्ववत्)।

'वति' का प्रयोग सर्वसादृश्य के लिए है। 'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगो०' इत्यादि का भी अतिदेश होता है।

(5) द्विसहस्रः
यहाँ हो गया है।

(6) द्विनैष्किकः (पूर्ववत्)।

(1730) उष्ट्राद् वुञ् *157* (1535)

उष्ट्रशब्दाद् वुञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । प्राण्यञोऽपवादः । उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकः ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ उष्ट्र प्रातिपदिक से 'वुञ्' होता है, विकार तथा अवयव अर्थों में । प्राणिलक्षण अञ् का यह अपवाद है ।

उदा० (1) औष्ट्रकः
उष्ट्र वुञ् सु ।

(1731) उमोर्णयोर्वा *158* (1536)

उमाशब्दादूर्णाशब्दाच्च वा वुञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । औमकम् । औमम् । और्णकम् । और्णम् ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ उमा और ऊर्णा प्रातिपदिकों से 'वुञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है, विकार और अवयव अर्थों में ।

उदा० (1) औमकम्
उमा वुञ्—आदिवृद्धि,
औमक सु—विभक्तिकार्य ।

(2) औमम्
उमा अण्—पक्ष में ।

(3) और्णकम्
ऊर्णा वुञ्—पूर्ववत् ।

(4) और्णम्
पक्ष में पूर्ववत् अण् ।

(1732) एण्या ढञ् *159* (1537)

एणीशब्दाद् ढञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । प्राण्यञोऽपवादः । ऐणेयं मांसम् । पुंसस्त्वञेव भवति—एणस्य मांसमैणम् ।

अर्थ—विकार तथा अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ एणी शब्द से 'ढञ्' होता है । प्राणिलक्षण अञ् का यह अपवाद है ।

उदा० (1) ऐणेयं मांसम्
एणी ढञ्—आदिवृद्धि, एयादेश ।

पुंल्लिंग 'एण' शब्द से 'अञ्' ही होता है—
(2) ऐणम्
एणस्य मांसम्—आदिवृद्धि, सु ।

(1733) गोपयसोर्यत् *160* (1538)

गोपयःशब्दाभ्यां यत् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । गव्यम् । पयस्यम् । सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यदस्त्येव, मयड्विषये तु विधीयते ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ गो तथा पयस् शब्दों से 'यत्' होता है, विकार व अवयव अर्थों में ।

उदा० (1) गव्यम्
गोर्विकारः } —गो यत्—वान्तो यि प्रत्यये, सु आदि ।
गोरवयवः }

(2) पयस्यम्
पयसो विकारः—यत्, सु ।

गोरजा०—'गोरजादिप्रसङ्गे यत्' (वा०) से यत् होकर भी 'गव्यम्' प्रयोग सम्भव था, परन्तु प्रकृत सूत्र में 'गो' शब्द का ग्रहण पाक्षिक मयट् की निवृत्ति के लिये किया गया है । अन्यथा 'मयड् वैतयोर्भाषाया०' से पाक्षिक मयट् होकर पक्ष में 'गोमयम्' अनिष्ट प्रयोग प्राप्त होता है । इतना ही नहीं, 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' से नित्य मयट् भी प्राप्त होता है । इन सबकी निवृत्ति के लिये प्रकृत सूत्र में 'गो' शब्द का पाठ है ।

(1734) द्रोश्च *161* (1539)

द्रुशब्दाद्यत्प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । ओरञोऽपवादः । द्रव्यम् ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ 'द्रु' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, विकार और अवयव अर्थों में ।

उदा० (1) द्रव्यम्
द्रु यत्—प्राप्त अञ् का बाध हुआ । वान्तो यि प्रत्यये ।

(1735) माने वयः *162* (1540)

द्रुशब्दान्माने विकारविशेषे वयः प्रत्ययो भवति । यतोऽपवादः । द्रुवयम् ।

अर्थ—विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ 'द्रु' प्रातिपदिक से 'वय' प्रत्यय होता है, 'मान' गम्यमान हो तो । यह 'यत्' का अपवाद है ।

उदा० (1) द्रुवयम्
द्रु वय सु ।

(1736) फले लुक् *163* (1541)

विकारावयवयोरुत्पन्नस्य फले तद्विशेषे विवक्षिते लुग्भवति । आमलक्याः फलमामलकम् । कुवलम् । बदरम् ।

फलितस्य वृक्षस्य फलमवयवो भवति विकारश्च, पल्लवितस्येव पल्लवः ।

अर्थ—विकार और अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का लुक् होता है, 'फल' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) आमलकम्
आमलक्याः फलम्—'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' से 'मयट्' हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा लुक् हुआ, 'लुक् तद्धित०' से स्त्री प्रत्यय का लुक्,
आमलक सु—विभक्तिकार्य।
(2) कुवलयम् (पूर्ववत्)।
(3) बदरम्। (पूर्ववत्)।

(1737) प्लक्षादिभ्योऽण् *164* (1542)

फल इत्येव। प्लक्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः फले विकारावयवत्वेन विवक्षितेऽण् प्रत्ययो भवति। अञोऽपवादः। विधानसामर्थ्यात्तस्य न लुग्भवति। प्लाक्षम्। नैयग्रोधम्। प्लक्ष। न्यग्रोध। अश्वत्थ। इङ्गुदी। शिग्रु। कर्कन्धु। बृहती–प्लक्षादिः।

अर्थ—'फल' अभिधेय हो तो षष्ठ्यन्त समर्थ प्लक्षादि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है, विकार और अवयव अर्थों में। यह अञ् का अपवाद है। विधानसामर्थ्य से उसका लुक् नहीं होता।

उदा० (1) प्लाक्षम्
प्लक्ष अण्—आदिवृद्धि, सु।
(2) नैयग्रोधम्
न्यग्रोध अण्—ऐच् आगम।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1738) जम्ब्वा वा *165* (1544)

फल इत्येव। जम्बूशब्दात् फलेऽभिधेये वाऽण् प्रत्ययो भवति। अञोऽपवादः। अत्राणो विधानसामर्थ्याल्लुग्न भवति, अञस्तु भवत्येव–जाम्बवानि फलानि जम्बूनि वा।

अर्थ—'फल' अभिधेय हो तो विकार और अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ जम्बू प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह अञ् का अपवाद है। यहाँ अण् के विधानसामर्थ्य से लुक् नहीं होता है। अञ् का लुक् होता है।

उदा० (1) जाम्बवानि फलानि
जम्बू अण्—आदिवृद्धि, ओर्गुणः, जस्।
(2) जम्बूनि वा
जम्बू अञ्—पक्ष में 'अञ्', 'फले लुक्' लुक् हुआ।

(1739) लुप् च *166* (1545)

वेत्येव। जम्ब्वाः फलेऽभिधेये प्रत्ययस्य वा लुब्भवति। युक्तवद्भावे विशेषः। जम्ब्वाः फलं जम्बूः फलम्, जाम्बवमिति वा। *लुप्प्रकरणे फलपाकशुषामुपसंख्यानम्* (म०भा०)। व्रीहयः। यवाः। माषाः। मुद्गाः। तिलाः। *पुष्पमूलेषु बहुलम्* (म०भा०)। मल्लिकायाः पुष्पं मल्लिका। नवमल्लिका जातिः। विदार्याः मूलं विदारी। अंशुमती। बृहती। न च भवति–पाटलानि पुष्पाणि, शाल्वानि मूलानि। बहुलवचनात्क्वचिदन्यदपि भवति–कदम्बं पुष्पम्, अशोकम्, करवीरम्, बैल्वानि फलानीति।

अर्थ—'फल' अभिधेय हो तो विकार और अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ जम्बू प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय का विकल्प से लुप् होता है।

उदा० (1) जम्बुफलम्
जम्ब्वाः फलम्—लुप् हुआ,
जम्बु सु—ह्रस्व, सु, सुलुक्।
(2) जाम्बवम्
पक्ष में लुप् नहीं हुआ।
आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

लुक्०—फल के पकने पर सूख जाने वालों से विहित प्रत्यय का भी लुप् होता है—
(3) व्रीहयः
व्रीहीणां फलानि—प्रत्यय का लुप्, जस्।
(4) यवाः (पूर्ववत्)।
(5) माषाः (पूर्ववत्)।
(6) मुद्गाः (पूर्ववत्)।
(7) तिलाः (पूर्ववत्)।

पुष्प०—पुष्प और मूल—इन अर्थों में प्रातिपदिक से विहित प्रत्ययों का बहुलता से लुप् होता है—
(8) मल्लिका
मल्लिकायाः पुष्पम्—लुप् हुआ।
(9) विदारी
विदार्या मूलम्—लुप् हुआ।
(10) अंशुमती (पूर्ववत्)।
(11) बृहती (पूर्ववत्)।

('बहुलम्' कथन से) लुप् नहीं भी होता है—

(12) पाटलानि पुष्पाणि।

(13) शाल्वानि मूलानि।

यहाँ नहीं हुआ।

बहुल०—'बहुल्' कहने से अन्य प्रकार से भी होता है—

(14) कदम्बं पुष्पम्

यहाँ हुआ है।

(15) अशोकम् (पूर्ववत्)।

(16) करवीरम् (पूर्ववत्)।

(17) बैल्वानि फलानि (पूर्ववत्)।

(1740) हरीतक्यादिभ्यश्च *167* (1546)

हरीतकी इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यः फले प्रत्ययस्य लुब् भवति। लुकि प्राप्ते लुपो विधाने युक्तवद्भावे स्त्रीप्रत्ययश्रवणे च विशेषः। हरीतक्याः फलं हरीतकी। कोशातकी। नखरजनी। अत्र व व्यक्तिर्युक्तवद्भावेनेष्यते, वचनं त्वभिधेयवदेव भवति। हरीतक्याः फलानि हरीतक्यः। हरीतकी। कोशातकी। नखरजनी। शष्कण्डी। दाडी। दोडी। दीडी। श्वेतपाकी। अर्जुनपाकी। काला। द्राक्षा। ध्वाङ्क्षा। गर्गरिका। कण्टकारिका। शेफालिका– हरीतक्यादिः।

अर्थ—विकार और अवयव अर्थों में षष्ठ्यन्त समर्थ हरीतकी आदि प्रातिपदिकों से विहित प्रत्यय का लुप् होता है, 'फल' अभिधेय होने पर। लुक् प्राप्त होने पर लुप् के विधान में युक्तवद्भाव में व स्त्री प्रत्यय के श्रवण में विशेष है।

उदा० (1) हरीतकी

हरीतक्याः फलम्।

(2) कोशातकी

(3) नखरजनी

अत्र च०—यहाँ लिंग युक्तवद्भाव से होता है तथा वचन अभिधेयवत् होता है।

(4) हरीतक्यः

हरीतक्याः फलानि

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1741) कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक्च *168* (1547)

'प्राक्क्रीताच्छः' (5.1.1)–कंसीयः। 'उगवादिभ्यो यत्' (5.1.2)–परशव्यः। कंसीयपरशव्यशब्दाभ्यां यथासंख्यं यञञौ प्रत्ययौ भवतस्तस्य विकार इत्येतस्मिन् विषये, तत्सन्नियोगेन च कंसीयपरशव्ययोर्लुग्भवति। कंसीयस्य विकारः कांस्यः। परशव्यस्य विकारः पारशवः। प्रातिपदिकाधिकाराद्धातुप्रत्ययस्य न लुग्भवति। परशव्यशब्दादनुदात्तादित्वादेवाञि सिद्धे लुगर्थं वचनम्। ननु च 'यस्येति' (6.4.148) लोपे कृते 'हलस्तद्धितस्य' (6.4.150) इति यलोपो भविष्यति? नैतदस्ति। ईतीति तत्र वर्त्तते।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

अर्थ—'प्राक्क्रीताच्छः' से 'कंसीय' होता है। 'उगवादिभ्यो यत्' से 'परशव्य' होता है। 'तस्य विकारः' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ कंसीय तथा परशव्य प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'यञ्' व 'अञ्' प्रत्यय होते हैं तथा कंसीय व परशव्य शब्दों का लुक् होता है। चूँकि लुक् प्रत्यय का हुआ करता है। अतः 'छ' तथा 'यत्' का लुक् होता है।

उदा० (1) कांस्यः

कंसीयस्य विकारः

कंसीय यञ् → कंस य—आदिवृद्धि, सु।

(2) पारशवः

परशव्यस्य विकारः—परशु यञ्—पूर्ववत्।

प्रादि०—प्रातिपदिक का अधिकार होने से धातु प्रत्यय का लुक् नहीं होता है। परशव्य शब्द के अनुदात्तादि होने से अञ् के पूर्वतः सिद्ध होने पर लुक् के लिए यह विधान किया गया है। 'यस्येति च' से लोप किए जाने पर 'हलस्तद्धितस्य' से यकार का लोप हो जायेगा। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित लुक् व्यर्थ है।

(समा०) ऐसा उचित नहीं है। 'ईति' पद वहाँ होने से यकारलोप आदि नहीं हो पाता। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा लुक् करना सार्थक है।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां चतुर्थाऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

चतुर्थाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः

(1742) प्रागवहतेष्ठक् *1* (1548)

'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (4.4.76) इति वक्ष्यति। प्रागेतस्माद्वहतिसंशब्दनाद्यान् अर्थाननुक्रमिष्यामः ठक् प्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति-'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (4.4.2) इति-अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः। *ठक्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्* (म० भा०)। माशब्द इत्याह माशब्दिकः। नैत्यशब्दिकः। कार्यशब्दिकः। वाक्यादेतत्प्रत्ययविधानम्। *आहौ प्रभूतादिभ्यः* (म० भा०)। प्रभूतमाह प्राभूतिकः। पार्याप्तिकः। क्रियाविशेषणात् प्रत्ययः। *पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः* (म० भा०)। सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः। सौखरात्रिकः। सौखशायनिकः। *गच्छतौ परदारादिभ्यः* (म० भा०)। परदारान् गच्छति पारदारिकः। गौरुतल्पिकः।

अर्थ—आगे 'तद्वहति रथयुग०' (4.4.76) सूत्र का पाठ किया जायेगा। इस सूत्र से पहले-पहले जिन-जिन अर्थों को कहा जायेगा, उन-उन अर्थों में 'ठक्' यह औत्सर्गिक प्रत्यय होता है। आगे कहा जायेगा—दीव्यति जयति जितम् इत्यादि। यथा—

उदा० (1) आक्षिक:
अक्षैर्दीव्यति—अक्ष ठक् सु।

ठक्०—'उसे कहता है' इस अर्थ में 'माशब्द' आदि से 'ठक्' होता है—

(2) माशब्दिक:
माशब्द ठक् सु।

(3) कार्यशब्दिक: (पूर्ववत्)।

आहौ०—'कहता है' इस अर्थ में प्रभूत आदि शब्दों से 'ठक्' होता है—

(4) प्राभूतिक:
प्रभूतमाह—प्रभूत ठक्।

(5) पार्याप्तिक:
पर्याप्त ठक्।

पृच्छतौ०—'पूछता है' इस अर्थ में 'सुस्नात' आदि शब्दों से 'ठक्' होता है—

(6) सौस्नातिक:
सुस्नातं पृच्छति—ठक् हुआ।

(7) सौखरात्रिक:
सुखरात्रि ठक्।

गच्छतौ०—'गमन अर्थात् सम्भोग करता है'—इस अर्थ में परदारा आदि शब्दों से ठक् होता है।—

(8) पारदारिक:
परदारान् गच्छति—ठक् हुआ।

(9) गौरुतल्पिक:
गुरुतल्प ठक्।

(1743) तेन दीव्यति खनति जयति जितम् *2* (1550)

तेनेति तृतीयासमर्थाद् दीव्यति खनति जयति जितमित्येतेष्वर्थेषु ठक् प्रत्ययो भवति। अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः। शालाकिकः। अभ्र्या खनति आभ्रिकः। कौद्दालिकः। अक्षैर्जयति आक्षिकः। अक्षैर्जितमाक्षिकम्। शालाकिकम्। सर्वत्र करणे तृतीया समर्थविभक्तिः। देवदत्तेन जितमिति प्रत्ययो न भवति, अनभिधानात्, अङ्गुल्या खनतीति च। प्रत्ययार्थे संख्याकालयोरेव विवक्षा। क्रियाप्रधानत्वेऽपि चाख्यातस्य। तद्धितः स्वभावात् साधनप्रधानः।

अर्थ—करण तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है, 'जूआ खेलता है', 'खोदता है', जीतता है' तथा 'जीता गया'—इन अर्थों में।

उदा० (1) आक्षिक:
अक्षैर्दीव्यति → अक्ष ठक्—आदिवृद्धि, सु।

(2) शालाकिक:
शलाका ठक्।

(3) आभ्रिक:
अभ्रेण खनति।

(4) कौद्दालिक:
कुद्दाल ठक्।

(5) आक्षिकः
अक्षैर्जयति—ठक् हुआ।
इसी प्रकार—अक्षैर्जितम्।
सर्वत्र करण में तृतीया समर्थ विभक्ति है।

कथन न होने से 'देवदत्तेन जितम्' यहाँ प्रत्यय नहीं होता है। 'अङ्गुल्या खनति' में भी प्रत्यय नहीं होता है। प्रत्ययार्थ में संख्या व काल की विवक्षा है। क्रिया के प्रधान होने पर भी आख्यात का तद्धित स्वभावतः साधनप्रधान होता है।

(1744) संस्कृतम् *3* (1551)

तेनेति तृतीयासमर्थात्संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। सत उत्कर्षाधानं संस्कारः। दध्ना संस्कृतं दाधिकम्। शार्ङ्गवेरिकम्। मारिचिकम्। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—'संस्कार किया गया'—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है। सत् के उत्कर्ष का आधान संस्कार कहलाता है।

उदा० (1) दाधिकम्
दध्ना संस्कृतम् → दधि ठक्—आदिवृद्धि, सु।
(2) शार्ङ्गवेरिकम्
पूर्ववत् ठक्।
(3) मारिचिकम्
मरिच ठक्।
उत्तर शास्त्र के लिए योगविभाग किया गया है।

(1745) कुलत्थकोपधादण् *4* (1552)

कुलत्थशब्दात् ककारोपधाच्छब्दाच्च प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति संस्कृतमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम्। ककारोपधात्–तैत्तिडीकम्, दार्दभकम्।

अर्थ—'संस्कार किया गया' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कुलत्थ और ककारोपध प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) कौलत्थम्
कुलत्थैः संस्कृतम्—अण् हुआ।
(2) तैन्तिडीकम्
तिन्तिडीक अण्।
(3) दार्दभकम्
पूर्ववत् अण्।

(1746) तरति *5* (1553)

तेनेति तृतीयासमर्थात्तरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। तरति प्लवते इत्यर्थः। काण्डप्लवेन तरति काण्डप्लविकः। औडुपिकः।

अर्थ—'तैरता है'—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) काण्डप्लविकः
काण्डप्लवेन तरति—ठक्, ठस्येकः।
(2) औडुपिकः
उडुप ठक्।

(1747) गोपुच्छाट्ठञ् *6* (1554)

गोपुच्छाशब्दाट्ठञ् प्रत्ययो भवति तरतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठकोऽपवादः। स्वरे विशेषः। गौपुच्छिकः।

अर्थ—'तैरता है'—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है। यह ठक् का अपवाद है। केवल स्वर का अन्तर है।

उदा० (1) गौपुच्छिकः
गोपुच्छेन तरति—ठञ्।

(1748) नौद्व्यचष्ठन् *7* (1555)

नौशब्दाद् द्व्यचश्च प्रातिपदिकाट्ठन् प्रत्ययो भवति तरतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठकोऽपवादः। नावा तरति नाविकः। द्व्यचः खल्वपि–घटिकः, प्लविकः, बाहुकः। षकारः सांहितिकः, नानुबन्धः। बाहुका स्त्री।

आकर्षात् पपदिर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च।
आवसथात् किशरादेः षितः षडेते ठगधिकारे।
विधिवाक्यापेक्षं च षट्त्वं प्रत्ययास्तु सप्त।
(म० भा०)

अर्थ—'तैरता है' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'नौ' प्रातिपदिक से तथा दो अच् वाले प्रातिपदिक से 'ठन्' होता है। यह ठक् का अपवाद है।

उदा० (1) नाविकः

नावा तरति—ठन्।

(2) घटिकः

घट ठन्।

(3) प्लविकः

प्लव ठन्।

(4) बाहुकः

बाहु ठन्—इसुसुक्ता०।

'ष्ठन्' यहाँ षकार संहिता के कारण है; अनुबन्ध नहीं है। यथा—

(5) बाहुका स्त्री

यदि 'ठन्' के स्थान पर 'ष्ठन्' प्रत्यय होता तो यहाँ 'षिद्गौरादि०' से ङीष् होकर 'बाहुकी' रूप बनना चाहिए था।

आकर्षात्०—ठक् प्रत्यय के अधिकार में निम्नलिखित छः सूत्रों के द्वारा ही षित् प्रत्ययों का विधान किया गया है, अन्यों से नहीं—

(क) आकर्षात् ष्ठल् (4.4.9)।

(ख) पर्पादिभ्यः ष्ठन् (4.4.10)।

(ग) भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् (4.4.16)।

(घ) कुसीददशै० (4.4.31)।

(ङ) किशरादिभ्य ष्ठन् (4.4.53)।

(च) आवसथात् ष्ठल् (4.4.74)।

इस प्रकार विधिवाक्य छः हैं, परन्तु प्रत्यय सात हैं।

(1749) चरति *8* (1556)

तेनेति तृतीयासमर्थाच्चरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। चरतिर्भक्षणे गतौ च (धा०पा० 559) वर्त्तते। दध्ना चरति दाधिकः। हास्तिकः। शाकटिकः।

अर्थ—जाता है, खाता है—इन अर्थों में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। चर् धातु के दो अर्थ हैं—गति तथा भक्षण।

उदा० (1) दाधिकः

दध्ना चरति—

दधि ठक्—पूर्ववत्।

(2) हास्तिकः

हस्तिन् ठक्।

(3) शाकटिकः (पूर्ववत्)।

(1750) आकर्षात् ष्ठल् *9* (1557)

आकर्षशब्दात् ष्ठल् प्रत्ययो भवति चरतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठकोऽपवादः। लकारः स्वरार्थः। षकारो ङीषर्थः। आकर्षेण चरति आकर्षिकः। आकर्षिकी। आकर्ष इति सुवर्णपरीक्षार्थो निकषोपल उच्यते।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ आकर्ष प्रातिपदिक से 'ष्ठल्' होता है, 'चरति' इस अर्थ में। यह ठक् का अपवाद है। 'ल्' अनुबन्ध स्वर के लिए है। 'ष्' अनुबन्ध ङीष् के लिए है।

उदा० (1) आकर्षिकः

आकर्षेण चरति—ष्ठल्, ठस्येकः।

(2) आकर्षिकी

स्त्रीलिंग की विवक्षा में ङीष् हुआ।

आकर्ष = कसौटी।

(1751) पर्पादिभ्यः ष्ठन् *10* (1558)

पर्प इत्येवमादिभ्यः ष्ठन् प्रत्ययो भवति चरतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठकोऽपवादः। नकारः स्वरार्थः। षकारो ङीषर्थः। पर्पिकः। पर्पिकी। अश्विकः। अश्विकी। पर्प। अश्व। अश्वत्थ। रथ। जाल। न्यास। व्याल। पादः पच्च–पदिकः। पर्पादिः।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ पर्पादि प्रातिपदिकों से 'ष्ठन्' होता है, 'चरति' अर्थ में। यह 'ठक्' का अपवाद है। 'न्' अनुबन्ध स्वर के लिए है तथा 'ष्' ङीष् के लिए है।

उदा० (1) पर्पिकः

पर्पेण चरति—'ष्ठन्' हुआ।

(2) पर्पिकी

स्त्रीत्व में ङीष् हुआ।

(3) अश्विकः (पूर्ववत्)।

(4) अश्विकी

ङीष् हुआ।

शेष उदाहरण में देखें।

(1752) श्वगणाट्ठञ्च *11* (1559)

श्वगणशब्दाट्ठञ् प्रत्ययो भवति, चकारात्ष्ठन्, चरतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठकोऽपवादः। श्वगणेन चरति श्वागणिकः,

श्वागणिकी। ठञ्-श्वगणिकः, श्वगणिका। श्वादेरिञीत्यत्र वक्ष्यति, इकारादिग्रहणं च कर्त्तव्यं श्वागणिकाद्यर्थमिति (वा० 7.3.8)। तेन ठञि द्वारादिकार्यं न भवति।

अर्थ—तृतीयान्त समर्थ श्वगण प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय तथा ष्ठन् प्रत्यय होते हैं, 'चरति' अर्थ में। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) श्वागणिकः
श्वगण ठञ्—आदिवृद्धि।

(2) श्वागणिकी
श्वगण ठञ् ङीष्।

(3) श्वगणिकः
श्वगण ष्ठन्—आदिवृद्धि नहीं हुई।

(4) श्वगणिका
श्वगणिक टाप्।

'श्वादेरिञि' इसका पाठ किया जायेगा 'श्वागणिका आदि के लिए इकारादि का ग्रहण करना चाहिए।' इस कारण 'ठञ्' प्रत्यय परे रहते 'द्वारादीनाञ्च' सूत्र से वृद्धिनिषेधरूप कार्य नहीं होता है। भाव है कि ऐच् आगम नहीं होता तथा वृद्धि होती है।

(1753) वेतनादिभ्यो जीवति *12* (1562)

तेनेति तृतीयासमर्थेभ्यो वेतनादिभ्यः शब्देभ्यो जीवतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। वेतनेन जीवति वैतनिकः कर्मकरः। धनुर्दण्डग्रहणमत्र सङ्घातविगृहीतार्थम्। धानुर्दण्डिकः। धानुष्कः। दाण्डिकः। वेतन। वाह। अर्धवाह। धनुर्दण्ड। जाल। वेस। उपवेस। प्रेषण। उपस्ति। सुख। शय्या। शक्ति। उपनिषत्। उपवेष। स्रक्। पाद। उपस्थान-वेतनादिः।

अर्थ—'जीवति' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ वेतनादि प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) वैतनिकः
वेतनेन जीवति—ठक् हुआ, आदिवृद्धि।

यहाँ धनुर्दण्ड शब्द का संघात तथा विगृहीत—दोनों रूपों में प्रयोग होता है।

(2) धानुर्दण्डिकः
धनुर्दण्ड ठक्।

(3) धानुष्कः
धनुस् ठक्—इसुसुक्तान्०।

(4) दाण्डिकः
दण्ड ठक्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1754) वस्नक्रयविक्रयाट्ठन् *13* (1563)

वस्नक्रयविक्रयशब्दाभ्यां तृतीयासमर्थाभ्यां ठन् प्रत्ययो भवति जीवतीत्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। वस्नेन जीवति वस्निकः। क्रयविक्रयग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम्-क्रयविक्रयिकः, क्रयिकः, विक्रयिकः।

अर्थ—'जीवति'—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ वस्न और क्रय-विक्रय प्रातिपदिकों से 'ठन्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

अर्थ—(1) वस्निकः
वस्नेण जीवति—ठन्, आदिवृद्धि नहीं हुई।

क्रय-विक्रय शब्दों का संघात तथा विगृहीत दोनों रूपों में प्रयोग होता है।

(2) क्रयविक्रयिकः
ठन् हुआ।

(3) क्रयिकः
क्रय ठन्।

(4) विक्रयिकः
विक्रय ठन्।

(1755) आयुधाच्छ च *14* (1564)

आयुधशब्दाच्छप्रत्ययो भवति, चकाराट्ठँश्च जीवतीत्येतस्मिन् विषये। आयुधेन जीवति आयुधीयः, आयुधिकः।

अर्थ—'जीवति' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ आयुध प्रातिपदिक से 'छ' और 'ठन्' प्रत्यय पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) आयुधीयः
आयुधेन जीवति—'छ' हुआ।

(2) आयुधिकः
आयुध ठन्।

(1756) हरत्युत्सङ्गादिभ्यः *15* (1565)

तेनेत्येव। उत्सङ्गादिभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यो हरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। हरतिर्देशान्तरप्रापणे वर्त्तते।

उत्सङ्गेन हरति औत्सङ्गिकः । औडुपिकः । उत्सङ्ग । उडुप । उत्पत । पिटक-उत्सङ्गादिः ।

अर्थ—'हरण करता है'—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ उत्संगादि प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) औत्सङ्गिकः
उत्सङ्गेन हरति—ठक् हुआ।

(2) औडुपिकः
उडुप ठक्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1757) भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् *16* (1566)

भस्त्रेत्येवमादिभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यो हरतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्ठन्प्रत्ययो भवति । भस्त्रया हरति भस्त्रिकः । भस्त्रिकी । भरटिकः । भरटिकी । भस्त्रा । भरट । भरण । शीर्षभार । शीर्षेभार । अंसभार । अंसेभार-भस्त्रादिः ।

अर्थ—'हरण करता है' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ भस्त्रादि प्रातिपदिकों से 'ष्ठन्' होता है।

उदा० (1) भस्त्रिकः
भस्त्रया हरति—'ष्ठन्' हुआ।

(2) भस्त्रिकी
स्त्रीत्व में ङीष् हुआ।

(3) भरटिकः
ष्ठन् हुआ।

(4) भरटिकी
ङीष् हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1758) विभाषा विवधवीवधात् *17* (1567)

हरतीत्येव । विवधवीवधशब्दाभ्यां तृतीयासमर्थाभ्यां विभाषा ष्ठन् प्रत्ययो भवति । तेनु मुक्ते प्रकृतेष्ठक् भवति । विवधेन हरति विवधिकः । विवधिकी । वीवधिकः । वीवधिकी । ठक् खल्वपि-वैवधिकः, वैवधिकी । विवधवीवधशब्दौ समानार्थौ पथि पर्याहारे च वर्त्तेते ।

अर्थ—'हरति' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ विवध तथा वीवध प्रातिपदिकों से 'ष्ठन्' विकल्प से होता है। पक्ष में 'ठक्' होता है।

उदा० (1) विवधिकः
विवधेन हरति—'ष्ठन्' हुआ, आदिवृद्धि नहीं हुई।

(2) विवधिकी
विवध ष्टन् ङीष्—'षिद्गौरादिभ्य०'।

(3) वीवधिकः
पूर्ववत् 'ष्ठन्' हुआ।

(4) वीवधिकी
पूर्ववत् ङीष्।

(5) वैवधिकः
ठक्, आदिवृद्धि।

(6) वैवधिकी
ठक्, ङीप्—टिड्ढाऽण०।

(1759) अण् कुटिलिकायाः *18* (1568)

हरतीत्येव । कुटिलिकाशब्दात्तृतीयासमर्थादण् प्रत्ययो भवति हरतीत्येतस्मिन्नर्थे । कुटिलिकया हरति मृगो व्याधं कौटिलिको मृगः । कुटिलिकया हरत्यङ्गारान् कौटिलिकः कर्मारः । कुटिलिका = वक्रगतिः, कर्माराणामायुधकर्षणी लोहमयी यष्टिश्चोच्यते ।

अर्थ—'हरति' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कुटिलिका प्रातिपदिक से 'अण्' होता है।

उदा० (1) कौटिलिकः
कुटिलिकया हरति—अण् आदिवृद्धि।

कुटिलिका वक्र गति को कहते हैं।

(1760) निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः *19* (1569)

तेनेत्येव । अक्षद्यूतादिभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यो निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति । अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम् आक्षद्यूतिकं वैरम् । जानुप्रहृतिकम् । अक्षद्यूत । जानुप्रहृत । जङ्घाप्रहृत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत-अक्षद्यूतादिः ।

अर्थ—'उत्पन्न किया' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ अक्षद्यूतादि प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) आक्षद्यूतिकम्
अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्—आदिवृद्धि।

(2) जानुप्रहृतिकम् (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1761) त्रेर्मम् नित्यम्[1] *20* (1570)

निर्वृत्त इत्येव। 'ड्वितः क्त्रिः' इत्ययं (3.3.88) क्त्रिशब्दो गृह्यते। क्त्र्यन्तान्नित्यं मप्प्रत्ययो भवति तेन निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे। डुपचष् पाके (धा०पा० 997)–पक्त्रिमम्। डुवप् (धा०पा० 1003)–उप्त्रिमम्। डुकृञ् (धा०पा० 1473)–कृत्रिमम्। नित्यग्रहणं स्वातन्त्र्यनिवृत्त्यर्थम्, तेन क्त्र्यन्तं मप्प्रत्ययान्तमेव भवति, विषयान्तरे न प्रयोक्तव्यमिति। *भावप्रत्ययान्तादिमब्वक्तव्यः* (प्र०भा०)। पाकेन निर्वृत्तं पाकिमम्। त्यागिमम्। सेकिमम्। कुट्टिमम्।

अर्थ—'ड्वितः क्त्रिः' से 'क्त्रि' शब्द का ग्रहण होता है। 'निर्वृत्त' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ क्त्रिप्रत्ययान्त प्रातिपदिक से नित्य 'मप्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पक्त्रिमम्

डुपचष् क्त्रि मप्—सु होकर रूप बना।

(2) उप्त्रिमम्

डुवप्—पूर्ववत्।

(3) कृत्रिमम्

डुकृञ्—पूर्ववत्।

नित्य०—स्वातन्त्र्य की निवृत्ति के लिए 'नित्य' ग्रहण किया गया है। तब क्त्रिप्रत्ययान्त से नित्य 'मप्' होता है तथा विषयान्तर में इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए।

भाव०—भावप्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'इमप्' होता है—

(4) पाकिमम्

पाकेन निर्वृत्तम्—पाक इमप् सु।

(5) त्यागिमम्

त्याग इमप्।

(6) सेकिमम्

सेक इमप्।

(7) कुट्टिमम्

कुट्ट इमप्।

'इमप्' के पकार की इत्संज्ञा होती है।

(1762) अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ *21* (1571)

निर्वृत्त इत्येव। अपमित्ययाचितशब्दाभ्यां यथासंख्यं कक्, कन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे। आपमित्यकम्। याचितकम्।

अर्थ—'निर्वृत्त' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ अपमित्य और याचित प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'कक्' व 'कन्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) आपमित्यकम्

अपमित्येन निर्वृत्तम्—कक्।

(2) याचितकम्

याचित कन्।

'कक्' के अन्त्य ककार की तथा 'कन्' के नकार की इत्संज्ञा होती है।

(1763) संसृष्टे *22* (1572)

तेनेत्येव। तृतीयासमर्थात् संसृष्ट इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। संसृष्टमेकीभूतमभिन्नमित्यर्थः। दध्ना संसृष्टं दाधिकम्। मारिचिकम्। शार्ङ्गवेरिकम्। पैप्पलिकम्।

अर्थ—'मिला हुआ' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। संसृष्ट = एकीभूत।

उदा० (1) दाधिकम्

दध्ना संसृष्टम्—ठक्, इसुसुक्ता०।

(2) मारिचिकम्

मरिच ठक्।

(3) शार्ङ्गवेरिकम्

शृङ्गवेर ठक्।

(4) पैप्पलिकम्

पिप्पल ठक्।

---

1. इस सूत्र का बहुप्रचलित रूप 'त्रेर्मम्' है। द्र०—काशि० 4.4.20 'ड्वितः क्त्रिः' (पा०3.3.88.) इत्ययं त्रिशब्दो गृह्यते। पदम० 4.4.20 प्रत्ययरहितस्य त्र्यन्तस्य प्रयोगः····। न्यास० 4.4.20 न हि त्रिरित्युक्ते विवक्षितार्थस्य प्रतीतिर्भवति। वै०सि०कौ० सूत्र 1570 त्रिप्रत्ययान्तप्रकृतिकात्····। तत्त्व० सूत्र 1570 सङ्ख्यावाची त्रिशब्दो नेह गृह्यते। परन्तु आचार्य वरदराज ने 'क्त्रेर्मम्' यह सूत्र का ककारयुक्त निर्भ्रामक स्वरूप स्वीकार किया है।

(1764) चूर्णादिनिः *23* (1573)

चूर्णशब्दादिनिः प्रत्ययो भवति संसृष्टे। ठकोऽपवादः। चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः। चूर्णिनो धानाः।

अर्थ—'संसृष्ट' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ चूर्ण प्रातिपदिक से 'इनि' प्रत्यय होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) चूर्णिनः
चूर्णैः संसृष्टाः—चूर्ण इन् जस्।

(1765) लवणाल्लुक् *24* (1574)

संसृष्ट (4.3.22) इत्यनेनोत्पन्नस्य ठको लवणशब्दाल्लुग्भवति। लवणः सूपः। लवणं शाकम्। लवणा यवागूः। द्रव्यवाची लवणशब्दो लुकं प्रयोजयति, न गुणवाची।

अर्थ—'संसृष्ट' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ लवण प्रातिपदिक से उत्पन्न प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) लवणः सूपः
लवणेन संसृष्टः → लवण ठक्—प्रत्यय का लुक्।
इसी प्रकार—लवणं शाकम्, लवण यवागूः।

द्रव्यवाची लवण शब्द से प्रत्यय का लुक् होता है, गुणवाची से नहीं।

(1766) मुद्गादण् *25* (1575)

मुद्गशब्दादण् प्रत्ययो भवति संसृष्ट इत्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। मौद्ग ओदनः। मौद्गी यवागूः।

अर्थ—'संसृष्ट' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ मुद्ग प्रातिपदिक से 'अण्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) मौद्गः
मुद्गेन संसृष्टः—ठक्, सु।

(2) मौद्गी
मुद्ग ठक् ङीप्।

(1767) व्यञ्जनैरुपसिक्ते *26* (1576)

तेनेत्येव। व्यञ्जनवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्य उपसिक्त इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। दध्ना उपसिक्तं दाधिकम्। सौपिकम्। खारिकम्। व्यञ्जनैरिति किम्? उदकेनोपसिक्त ओदनः।

अर्थ—'ऊपर से डाला गया' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ व्यञ्जनवाची प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) दाधिकम्
दध्नोपसिक्तः—पूर्ववत्।

(2) सौपिकम्
सूप ठक् सु।

(3) खारिकम् (पूर्ववत्)।

व्यञ्जनै० अर्थात् **व्यञ्जनवाची** प्रातिपदिक से ही 'ठक्' होता है—
उदकेनोपसिक्तः—
यहाँ नहीं हुआ।

(1768) ओजःसहोम्भसा वर्तते *27* (1577)

ओजस्, सहस्, अम्भस्–इत्येतेभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यः वर्त्तते इत्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। ओजसा वर्त्तते औजसिकः शूरः। साहसिकश्चौरः। आम्भसिको मत्स्यः।

अर्थ—'व्यवहार करता है'—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ ओजस्, सहस् तथा अम्भस् प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) औजसिकः
ओजसा वर्त्तते—ठक्।

(2) साहसिकः
सहसा वर्त्तते—ठक्।

(3) आम्भसिकः
अम्भस् ठक्।

(1769) तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् *28* (1578)

तदिति द्वितीया समर्थविभक्तिः। प्रति, अनु–इत्येवम्पूर्वेभ्य ईपलोमकूलशब्देभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यो वर्त्तते इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। ननु च वृत्तिरकर्मकः, तस्य कथं कर्मणा सम्बन्धः? क्रियाविशेषणमकर्मकाणामपि कर्म भवति। प्रतीपं वर्त्तते प्रातीपिकः। आन्वीपिकः। प्रातिलोमिकः। आनुलोमिकः। प्रातिकूलिकः। आनुकूलिकः।

अर्थ—'वर्त्तते' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'प्रति' तथा 'अनु' है पूर्व में जिसके, ऐसे ईप, लोम व कूल—इन प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है। वृत्ति अकर्मक है। उसका कर्म के साथ सम्बन्ध किस प्रकार होता है? क्रियाविशेषण अर्कमकों का भी कर्म होता है।

उदा० (1) प्रातीपिकः
प्रतीपं वर्त्तते—प्रतीप ठक्।

(2) आन्वीपिकः
अन्वीप ठक्।

(3) प्रातिलोमिकः
प्रतिलोम ठक्।

(4) प्रातिकूलिकः
प्रतिकूल ठक्।

(5) आनुकूलिकः
अनुकूल ठक्।

(1770) परिमुखं च *29* (1579)

परिमुखशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद्वर्त्तत इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। परिमुखं वर्त्तते पारिमुखिकः। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। पारिपार्श्विकः।

अर्थ—'वर्त्तते' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ परिमुख प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है।

उदा० (1) पारिमुखिकः
परिमुखं वर्त्तते—'ठक्'।

(2) पारिपार्श्विकः
परि पार्श्वं वर्त्तते—पूर्ववत् ठक्, आदिवृद्धि तथा विभक्तिकार्य।

(1771) प्रयच्छति गर्ह्यम् *30* (1580)

तदिति द्वितीयासमर्थात्प्रयच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति, यद्द्वितीयासमर्थं गर्ह्यं चेत्तद्भवति। द्विगुणार्थं द्विगुणं तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्। द्विगुणं प्रयच्छति द्वैगुणिकः। त्रैगुणिकः। *वृद्धेर्वृधुषिभावो वक्तव्यः* (म० भा०)। वार्धुषिकः। प्रकृत्यन्तरं वा वृद्धिपर्यायो वृधुषिशब्दः। गर्ह्यमिति किम्? द्विगुणं प्रयच्छत्यधमर्णः।

अर्थ—'निन्दित' अर्थ गम्यमान हो तो द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है, 'प्रयच्छति'—इस अर्थ में।

उदा० (1) द्वैगुणिकः
द्विगुणं प्रयच्छति—ठक्।

(2) त्रैगुणिकः
त्रिगुण ठक्।

वृद्धे०—'वृद्धि' के स्थान पर 'वृधिषु' होता है—

(3) वार्धुषिकः
वृद्धिं प्रयच्छति → वृधुषि ठक्—आदिवृद्धि, अचो रहाभ्यां, वाध्र्धुषिकः क—झलां जश् झशि, इसुसुक्ता०,
वार्द्धुषिकः—सु।
'वृद्धि' का पर्याय 'वृधुषि' है।

गर्ह्यम्०—निन्दित अभिधेय हो तो प्रत्यय होता है—
द्विगुणं प्रयच्छत्यधमर्णः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(1772) कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ *31* (1581)

प्रयच्छति गर्ह्यमित्येव। कुसीदं वृद्धिस्तदर्थं द्रव्यं कुसीदम्। एकादशार्था दश दशैकादशशब्देनोच्यते। कुसीददशैकादशशब्दाभ्यां यथासंख्यं ष्ठन्, ष्ठच्-इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः प्रयच्छति गर्ह्यमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादौ। कुसीदं प्रयच्छति कुसीदिकः। कुसीदिकी। दशैकादशिकः। दशैकादशिकी।

अर्थ—'निन्दित' अभिधेय हो तो 'देता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ कुसीद और दशैकादश प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'ष्ठन्' तथा 'ष्ठच्' प्रत्यय होते हैं। यह ठक् का अपवाद है।

उदा० (1) कुसीदिकः
कुसीदं प्रयच्छति—'ष्ठन्' हुआ।

(2) कुसीदिकी
कुसीद ष्ठन् ङीष्—षिद्गौरादिभ्य०

(3) दशैकादशिकः
दशैकादश ष्ठच्।

(4) दशैकादशिकी
पूर्ववत् ङीष्।

(1773) उञ्छति *32* (1582)

तदिति द्वितीयासमर्थादुञ्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। बदराण्युञ्छति बादरिकः। श्यामाकिकः। भूमौ पतितस्यैकैकस्य कणस्योपादानमुञ्छः। कणानुञ्छति काणिकः।

अर्थ—'चुनता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। पृथ्वी पर पड़े अनाज के दानों को बटोरना 'उञ्छन' कहलाता है।

उदा० (1) बादरिकः
बदराण्युञ्छति—'ठक्' हुआ।

(2) श्यामाकिकः
श्यामाक ठक्।

(3) काणिकः
कणानुञ्छति—पूर्ववत्,
कण ठक् सु।

(1774) रक्षति *33* (1583)

तदिति द्वितीयासमर्थाद्रक्षतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। समाजं रक्षति सामाजिकः। सान्निवेशिकः।

अर्थ—'रक्षा करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सामाजिकः
समाजं रक्षति—ठक्, सु।

(2) सान्निवेशिकः
सन्निवेश ठक् सु।

(1775) शब्ददर्दुरं करोति *34* (1584)

तदिति द्वितीयासमर्थाभ्यां शब्ददर्दुरशब्दाभ्यां करोतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। शब्दं करोति शाब्दिको वैयाकरणः। दार्दुरिकः कुम्भकारः।

अर्थ—'करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ शब्द व दर्दुर प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) शाब्दिकः
शब्दं करोति—शब्द ठक् सु।

(2) दार्दुरिकः
दर्दुर ठक् सु।

(1776) पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति *35* (1585)

तदित्येव। पक्ष्यादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यो हन्तीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणां च ग्रहणमिहेष्यते। पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः। शाकुनिकः। मायूरिकः। तैत्तिरिकः। मत्स्य–मात्स्यिकः, मैनिकः, शाफरिकः, शाकुलिकः। मृग–मार्गिकः, हारिणिकः, सौकरिकः, सारङ्गिकः।

अर्थ—'मारता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ पक्षिन्, मत्स्य और मृगवाची प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है। यहाँ सूत्रोक्त शब्दों के स्वरूप, उनके पर्यायों तथा उनके विशेषणों का भी ग्रहण इष्ट है।

उदा० (1) पाक्षिकः
पक्षिणो हन्ति → पक्षिन् ठक्—टि का लोप, आदिवृद्धि।

(2) मायूरिकः
मयूर ठक्।

(3) तैत्तिरिकः
तित्तिर ठक्।

(4) मात्स्यिकः
मत्स्य ठक्।

(5) मैनिकः
मेना ठक्।

(6) शाफरिकः
शफर ठक्।

(7) शाकुलिकः
शकुल ठक्।

(8) मार्गिकः
मृग ठक्।

(9) हारिणिकः
हरिण ठक्।

(10) सौकरिकः
सूकर ठक्।

(11) सारङ्गिकः
सारङ्ग ठक्।

(1777) परिपन्थं च तिष्ठति *36* (1586)

परिपन्थशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थात्तिष्ठतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः। चकारो भिन्नक्रमः प्रत्ययार्थं समुच्चिनोति। परिपन्थं हन्ति पारिपन्थिकः। समर्थविभक्तिप्रकरणे पुनर्द्वितीयोच्चारणं लौकिकवाक्यप्रदर्शनार्थम्, परिपथशब्दपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्तीति ज्ञापयति, स विषयाऽन्तरेऽपि प्रयोक्तव्यः।

अर्थ—'ठहरता है' तथा 'मारता है' इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ परिपन्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) पारिपन्थिक:
परिपन्थं तिष्ठति—ठक्, विभक्तिकार्य।

चकार से भिन्नक्रम प्रत्ययार्थ भी होता है। यथा—
परिपन्थं हन्ति—पारिपन्थिक:
यहाँ 'मारता है' इस अर्थ में प्रत्यय हुआ है।

समर्थ०—समर्थ विभक्ति के प्रकरण में पुन: 'द्वितीया' इसका उच्चारण लौकिक वाक्य को प्रदर्शित करने के लिए है। परिपथ और परिपन्थ शब्द समानार्थक है—ऐसा ज्ञापित करता है। यह विषयान्तर में भी प्रयोग करना चाहिए।

(1778) माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति *37* (1587)

माथशब्दोत्तरपदात्प्रातिपदिकात्, पदवी, अनुपद इत्येताभ्यां च धावतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। दण्डमाथं धावति दाण्डमाथिकः। शौल्कमाथिकः। पादविकः। आनुपदिकः। माथशब्दः पथिन्पर्यायः।

अर्थ—'दौड़ता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'माथ' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से, पदवी शब्द से तथा अनुपद शब्द से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) दाण्डमाथिक:
दण्डमाथं धावति—ठक्, आदिवृद्धि, सु।

(2) शौल्कमाथिक:
शुल्कमाथ ठक्—पूर्ववत्।

(3) पादविक:
पदवी ठक्।

(4) आनुपदिक:
अनुपद ठक्।
माथ = पथ।

(1779) आक्रन्दाट्ठञ्च *38* (1588)

आक्रन्दन्त्येतस्मिन्नित्याक्रन्दो देशः। अथ वाऽऽक्रन्द्यत इत्याक्रन्दः, आर्त्तायनमुच्यते। विशेषाभावाद् द्वयोरपि ग्रहणम्। आक्रन्दशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थाद्धावतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति, चकाराट्ठक्च। स्वरे विशेषः। आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः। आक्रन्दिकी।

अर्थ—'चिल्लाता है जिसमें', वह 'आक्रन्द' कहलाता है। अथवा आक्रन्दन को आक्रन्द कहते हैं। विशेष का अभाव होने से उक्त दोनों अर्थ गृहीत हैं। 'दौड़ता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ आक्रन्द शब्द से 'ठक्' व 'ठञ्' ये प्रत्यय होते हैं। दोनों में स्वर का अन्तर है।

उदा० (1) आक्रन्दिक:
आक्रन्दं धावति—ठक् अथवा ठञ्।

(2) आक्रन्दिकी
टिड्ढाण० से ङीप् हुआ।

(1780) पदोत्तरपदं गृह्णाति *39* (1589)

पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात्पदोत्तरशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थाद् गृह्णातीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। पूर्वपदं गृह्णाति पौर्वपदिकः। औत्तरपदिकः। पदान्तादिति नोक्तम्-बहुच्पूर्वान्मा भूदिति।

अर्थ—'ग्रहण करता है' इस अर्थ में 'पद' शब्द है उत्तर पद में जिसके, ऐसे द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) पौर्वपदिक:
पूर्वपदं गृह्णाति—ठक्, आदिवृद्धि।

(2) औत्तरपदिक:
उत्तरपद ठक् सु।

पदान्त से प्रत्यय हो—ऐसा नहीं कहा। कारण कि बहुच् प्रत्यय पूर्वक शब्द से नहीं होता है।

(1781) प्रतिकण्ठार्थललामं च *40* (1590)

प्रतिकण्ठार्थललामशब्देभ्यस्तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यो गृह्णातीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। प्रतिकण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः। आर्थिकः। लालामिकः।

अर्थ—'ग्रहण करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रतिकण्ठ, अर्थ और ललाम प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) प्रातिकण्ठिक:
प्रतिकण्ठं गृह्णाति—ठक् हुआ।

(2) आर्थिक:
पूर्ववत् ठक्।

(3) लालामिक:
ललाम ठक् सु।

(1782) धर्मं चरति *41* (1591)

धर्मशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थाच्चरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। चरतिरासेवायां नानुष्ठानमात्रे। धर्मं चरति धार्मिकः। *अधर्माच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। आधर्मिकः।

अर्थ—'आचरण करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'धर्म' प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। 'चरति' आसेवा अर्थ में है, अनुष्ठानमात्र में नहीं।

उदा० (1) धार्मिकः
धर्मं चरति—'ठक्' हुआ।

अधर्मा०—अधर्म शब्द से भी 'ठक्' होता है।

(2) आधर्मिकः
अधर्म ठक्।

(1783) प्रतिपथमेति ठँश्च *42* (1592)

प्रतिपथशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् एतीत्यस्मिन्नर्थे ठन् प्रत्ययो भवति, चकाराट्ठक् च। प्रतिमथमेति प्रतिपथिकः। प्रातिपथिकः।

अर्थ—'जाता है'—इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रतिपथ प्रातिपदिक से 'ठन्' व 'ठक्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) प्रतिपथिकः
प्रतिपथिकमेति—'ठन्' हुआ।

(2) प्रातिपथिकः
प्रतिपथ ठक्—आदिवृद्धि।

(1784) समवायान् समवैति *43* (1593)

समवायवाचिभ्यः शब्देभ्यस्तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यः समवैतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। समवायः समूह उच्यते, न सम्प्रधारणा। समवायानिति बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्। समवैति = आगत्य तदेकदेशीभवतीत्यर्थः। समवायान् समवैति सामवायिकः। सामाजिकः। सामूहिकः। सान्निवेशिकः।

अर्थ—'समवेत होता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ समवायवाची प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है। समूह को समवाय कहते हैं। स्वरूपविधि के निरास के लिए 'समवायान्' में बहुवचन का प्रयोग है। तब इसके पर्यायों का भी ग्रहण होता है।

उदा० (1) सामवायिकः
समवायान् समवैति—ठक् हुआ।

(2) सामाजिकः
समाज ठक्।

(3) सामूहिकः
समूह ठक्।

(4) सान्निवेशिकः
सन्निवेश ठक्।

(1785) परिषदो ण्यः *44* (1594)

परिषदो ण्यः प्रत्ययो भवति समवायान् समवैतीत्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। परिषदं समवैति पारिषद्यः।

अर्थ—'समवेत होता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'परिषद्' प्रातिपदिक से 'ण्य' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) पारिषद्यः
परिषदं समवैति—'ण्य' हुआ। चुटू।

(1786) सेनाया वा *45* (1595)

सेनाशब्दाद्वा ण्यः प्रत्ययो भवति समवायान् समवैतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठकोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। सेनां समवैति सैन्यः, सैनिकः।

अर्थ—'समवेत होता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ सेना शब्द से 'ण्य' विकल्प से होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है। पक्ष में 'ठक्' भी होता है।

उदा० (1) सैन्यः
सेनां समवैति—पाक्षिक 'ण्य' हुआ।

(2) सैनिकः
पक्ष में 'ठक्' हुआ।

(1787) संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति *46* (1596)

ललाटकुक्कुटीशब्दाभ्यां तदिति द्वितीयासमर्थाभ्यां पश्यतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये। संज्ञाग्रहणमभिधेयनियमार्थम्, न तु रूढ्यर्थम्। ललाटं पश्यति लालाटिकः सेवकः। कौक्कुटिको भिक्षुः। सर्वावयवेभ्यो ललाटं दृश्यते, तदनेन ललाटदर्शनेन सेवकस्य स्वामिनं प्रत्यनुपश्लेषः–कार्येष्वनुपस्थायित्वं लक्ष्यते।

लालाटिकः सेवकः, स्वामिनः कार्येषु नोपतिष्ठत इत्यर्थः। कुक्कुटीशब्देनापि कुक्कुटीपातो लक्ष्यते। देशस्याल्पतया हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य गच्छति, स उच्यते कौक्कुटिक इति।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान होने पर द्वितीयान्त समर्थ ललाट व कुक्कुटी प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है, 'देखता है'—इस अर्थ में। अभिधेय के नियम के लिए 'संज्ञायाम्' का ग्रहण है, रूढि के लिए नहीं है।

उदा० (1) लालाटिकः
ललाटं पश्यति—'ठक्' हुआ। वह सेवक जो कामचोर हो तथा स्वामी के मस्तक को ही ताकता रहे, वह 'लालाटिक' सेवक कहलाता है। सभी अवयवों की अपेक्षा मस्तक दूर से ही दृष्टिगोचर होता है। तब ललाट के दर्शन से स्वामी के प्रति अनिष्ठा तथा कामचोरी की भावना लक्षित होती है।

(2) कौक्कुटिकः
कुक्कुटी ठक् सु।

वह भिक्षु जो कुक्कुटी के फुदकने मात्र परिमाण मार्ग को देखकर चलता है, 'कौक्कुटिक' भिक्षु कहलाता है।

(1788) तस्य धर्म्यम् *47* (1597)

तस्येति षष्ठीसमर्थाद् धर्म्यमित्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। धर्म्यं न्याय्यमाचारयुक्तमित्यर्थः। शुल्कशालाया धर्म्यं शौल्कशालिकम्। आकरिकम्। आपणिकम्। गौल्मिकम्।

अर्थ—'यह धर्म्य है' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। न्याय्य को धर्म्य कहा जाता है।

उदा० (1) शौल्कशालिकम्
शुल्कशालाया धर्म्यम्—'ठक्' हुआ।

(2) आकरिकम्
आकर ठक्।

(3) आपणिकम्
आपण ठक्।

(4) गौल्मिकम्
गुल्म ठक्।

(1789) अण् महिष्यादिभ्यः *48* (1598)

महिषीत्येवमादिभ्योऽण् प्रत्ययो भवति तस्य धर्म्यमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। महिष्या धर्म्यं माहिषम्। प्राजावतम्। महिषी। प्रजावती। प्रलेपिका। विलेपिका। अनुलेपिका। पुरोहित। मणिपाली। अनुचारक। होतृ। यजमान। महिष्यादिः।

अर्थ—'यह धर्म्य है' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ महिषी आदि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) माहिषम्
महिष्या धर्म्यम्—अण्, आदिवृद्धि, सु।

(2) प्राजावतम् (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1790) ऋतोऽञ् *49* (1599)

ऋकारान्तात्प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति तस्य धर्म्यमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। पोतुर्धर्म्यं पौत्रम्। औद्गात्रम्। *नराच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। नरस्य धर्म्या नारी। *विशसितुरिड्लोपश्च* (म० भा)। विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम्। *विभाजयितुर्णिलोपश्च* (म० भा०)। विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्।

अर्थ—'धर्म्य' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ ऋकारान्त प्रातिपदिक से 'अञ्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) पौत्रम्
पोतुर्धर्म्यम् → पोतृ अञ्—आदिवृद्धि।

(2) औद्गात्रम्
उद्गातृ अञ्।

नराच्चेति०—नर शब्द से 'अञ्' होता है—

(3) नारी
नरस्य धर्म्या → नर अञ्—आदिवृद्धि, ङीप्।

विशसि०—विशसितृ शब्द से अञ् प्रत्यय तथा इट् का लोप होता है—

(4) वैशस्त्रम्
विशसितृ अञ् → विशस् तृ अ सु—इको यणचि।

विभाज०—विभाजयितृ शब्द से अञ् प्रत्यय तथा 'णि' का लोप होता है—

(5) वैभाजित्रम्
विभाजयितृ अञ् → विभाजि तृ अ—विभाजित्रम्।

(1791) अवक्रयः *50* (1600)

तस्येत्येव। षष्ठीसमर्थादवक्रय इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो

भवति। अवक्रीणीतेऽनेनेत्यवक्रयः पिण्डक उच्यते। शुल्कशालाया अवक्रयः, शौल्कशालिकः। आकरिकः आपणिकः। गौल्मिकः। नन्ववक्रयोऽपि धर्म्यमेव? नैतदस्ति। लोकपीडया धर्मातिक्रमेणाप्यवक्रयो भवति।

अर्थ—'अवक्रय' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) शौल्कशालिकः
शुल्कशालाया अवक्रयः—ठक्, आदिवृद्धि।

(2) आकरिकः
आकर ठक्।

(3) आपणिकः
आपण ठक्।

(4) गौल्मिकः
गुल्म ठक्।

अवक्रय भी धर्म्य ही है। ऐसा नहीं है। लोकपीड़ा के द्वारा धर्म के अतिक्रमण से अवक्रय होता है।

(1792) तदस्य पण्यम् *51* (1601)

तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं पण्यं चेत्तद्भवति। अपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः। शाष्कुलिकः। मौदकिकः। पण्यमिति विशेषणं तद्धितवृत्तावन्तर्भूतमतः पण्यशब्दो न प्रयुज्यते।

अर्थ—षष्ठ्यर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है, यदि 'पण्य' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) आपूपिकः
अपूपाः पण्यमस्य—ठक्, आदिवृद्धि।

(2) शाष्कुलिकः
शष्कुलि ठक् सु।

(3) मौदकिकः
मोदक ठक् सु।

'पण्यम्' यह विशेषण तद्धित-वृत्ति में अन्तर्भूत है। अतः पण्य शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

(1793) लवणाट्ठञ् *52* (1602)

लवणशब्दाट्ठञ् प्रत्ययो भवति तदस्य पण्यमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। स्वरे विशेषः। लवणं पण्यमस्य लावणिकः।

अर्थ—'यह इसका पण्य है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ लवण शब्द से 'ठञ्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है। स्वर का अन्तर है।

उदा० (1) लावणिकः
लवणं पण्यमस्य—लवण ठक्।

(1794) किशरादिभ्यः ष्ठन् *53* (1603)

किशर इत्येवमादिभ्यः ष्ठन् प्रत्ययो भवति तदस्य पण्यमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। किशरादयो गन्धविशेषवचनाः। किशराः पण्यमस्य किशरिकः, किशरिकी। नरदिकः नरदिकी। किशर। नरद। नलद। सुमङ्गल। तगर। गुग्गुलु। उशीर। हरिद्रा। हरिद्रायणी—किशरादिः।

अर्थ—'तदस्य पण्यम्' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ किशरादि प्रातिपदिकों से 'ष्ठन्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) किशरिकः
किशराः पण्यमस्य—'ष्ठन्' हुआ, विभक्तिकार्य।

(2) किशरिकी
'षिद्गौरादिभ्य०' से 'ङीष्' हुआ।

(3) नरदिकः
नरद ष्ठन् सु।

(4) नरदिकी
नरदिक ङीष्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1795) शलालुनोऽन्यतरस्याम् *54* (1604)

शलालुशब्दादन्यतरस्यां ष्ठन् प्रत्ययो भवति तदस्य पण्यमित्येतद्विषये। ठकोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। शलालुशब्दो गन्धविशेषवचनः। शलालु पण्यमस्य शलालुकः, शलालुकी, शालालुकः, शालालुकी।

अर्थ—'तदस्य पण्यम्' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ शलालुन् प्रातिपदिक से 'ष्ठन्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है। पक्ष में 'ठक्' भी होता है।

उदा० (1) शलालुकः
शलालु पण्यमस्य—'ष्ठन्' हुआ।

(2) शलालुकी

'ङीष्' हुआ।

(3) शालालुकः
पक्ष में 'ठक्' हुआ।

(4) शालालुकी
'ङीप्' हुआ।

(1796) शिल्पम् *55* (1605)

तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं शिल्पं चेत्तद्भवति। शिल्पं कौशलम्। मृदङ्ग-वादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। पाणविकः। वैणिकः (म०भा०)। मृदङ्गवादने वर्त्तमानो मृदङ्गशब्दः प्रत्यय-मुत्पादयति। शिल्पं तद्धितवृत्तावन्तर्भवति।

अर्थ—'यह इसका शिल्प है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है। कौशल को शिल्प कहते हैं।

उदा० (1) मार्दङ्गिकः
मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य—'ठक्' हुआ।

(2) पाणविकः
पणव ठक्।

(3) वैणिकः
वेणु ठक्।

मृदंगवादन में वर्त्तमान मृदंग शब्द प्रत्यय को उत्पन्न करता है। शिल्प का तद्धितवृत्ति में अन्तर्भाव होता है।

(1797) मड्डुकझर्झरादणन्यतरस्याम् *56* (1606)

मड्डुकझर्झरशब्दाभ्यामन्यतरस्यामण् प्रत्ययो भवति तद-स्य शिल्पमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। मड्डुकवादनं शिल्पमस्य माड्डुकः। माड्डुकिकः। झार्झरः। झार्झरिकः।

अर्थ—'यह इसका शिल्प है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ मड्डुक व झर्झर प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है। पक्ष में 'ठक्' भी होता है।

उदा० (1) माड्डुकः
मड्डुकवादनं शिल्पमस्य—'अण्', आदिवृद्धि।

(2) माड्डुकिकः
पक्ष में 'ठक्' हुआ।

(3) झार्झरः
'अण्' हुआ।

(4) झार्झरिकः
'ठक्' हुआ।

(1798) प्रहरणम् *57* (1607)

तदस्येत्येव। तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रहरणं चेत्तद्भवति। असिः प्रहरणमस्य आसिकः। प्रासिकः। चाक्रिकः। धानुष्कः।

अर्थ—'यह है इसका प्रहरण' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) आसिकः
असिः प्रहरणमस्य → असि ठक्—आदिवृद्धि।

(2) प्रासिकः
प्रास ठक् सु।

(3) चाक्रिकः (पूर्ववत्)।

(4) धानुष्कः—इसुसुक्ता०।

(1799) परश्वधाट्ठञ् च *58* (1608)

परश्वधशब्दात् ठञ् प्रत्ययो भवति, चकारात् ठक्। स्वरे विशेषः। परश्वधः प्रहरणमस्य पारश्वधिकः।

अर्थ—'यह इसका प्रहरण है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ परश्वध प्रातिपदिक से 'ठञ्' और 'ठक्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) पारश्वधिकः
परश्वधः प्रहरणमस्य—ठञ् अथवा ठक् हुआ। केवल स्वर का अन्तर है।

(1800) शक्तियष्ट्योरीकक् *59* (1609)

शक्तियष्टिशब्दाभ्यामीकक् प्रत्ययो भवति तदस्य प्रह-रणमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। शक्तिः प्रहरणमस्य शाक्तीकः। याष्टीकः।

अर्थ—'यह है प्रहरण इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ शक्ति व यष्टि प्रातिपदिकों से 'ईकक्' होता है।

उदा० (1) शाक्तीकः
शक्तिः प्रहरणमस्य—ईकक्, आदिवृद्धि।

(2) याष्टीकः
यष्टि ईकक्।

(1801) अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः *60* (1610)

तदस्येत्येव। तदिति प्रथमासमर्थेभ्योऽस्ति नास्ति दिष्ट इत्येतेभ्यः शब्देभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं मतिश्चेत्तद्भवति। अस्ति मतिरस्य आस्तिकः। नास्ति मतिरस्य नास्तिकः। दैष्टिकः। न च मतिसत्तामात्रे प्रत्यय इष्यते, किं तर्हि? परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः। प्रमाणानुपातिनी यस्य मतिः स दैष्टिकः। तदेतदभिधानशक्तिस्वभावाल्लभ्यते। अस्तिनास्तिशब्दौ निपातौ, वचनसामर्थ्याद्वा आख्याताद्वा-क्याच्च प्रत्ययः।

अर्थ—'यह है मति इसकी' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ अस्ति, नास्ति तथा दिष्ट प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) आस्तिकः
अस्ति मतिरस्य—अस्ति ठक्।

(2) नास्तिकः
नास्ति मतिरस्य—पूर्ववत्।
(3) दैष्टिकः (पूर्ववत्)।

न च०—मति सत्तामात्र में प्रत्यय नहीं होता है। 'परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः' किस प्रकार है। इससे विपरीत नास्तिक कहा जाता है। प्रमाणानुपाती है मति जिसकी, उसे 'दैष्टिक' कहा जाता है। यह अभिधान शक्ति स्वभाव से ही प्राप्त होती है। अस्ति तथा नास्ति शब्द निपात हैं। अथवा वचनसामर्थ्य से आख्यातवाक्य से प्रत्यय होता है।

(1802) शीलम् *61* (1611)

तदस्येत्येव। तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं शीलं चेत्तद्भवति। शीलं स्वभावः। अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः। शाष्कुलिकः। मौदकिकः। भक्षणक्रिया तद्विशेषणं च शीलं तद्धितवृत्तावन्तर्भवति।

अर्थ—'यह है इसका शील' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) आपूपिकः
अपूपभक्षणं शीलमस्य—'ठक्' हुआ।

(2) शाष्कुलिकः
शष्कुलि ठक्—आदिवृद्धि, इसुसुक्ता०।

(3) मौदकिकः
मोदक ठक्।

भक्षण क्रिया तथा उसके विशेषण को 'शील' कहते हैं। इसका तद्धितवृत्ति में अन्तर्भाव होता है।

(1803) छत्रादिभ्यो णः *६२* (1612)

छत्र इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो णः प्रत्ययो भवति तदस्य शीलमित्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। छत्रं शीलमस्य छात्रः। छादनादावरणाच्छत्रम्। गुरुकार्येष्ववहितस्तच्छिद्रावरणप्रवृत्तश्छत्रशीलः शिष्यश्छात्रः। स्थाशब्दोऽत्र पठ्यते, स चोपसर्गपूर्वोऽत्र गृह्यते–आस्था, संस्था, अवस्थेति। छत्र। बुभुक्षा। शिक्षा। पुरोह। स्था। चुरा। उपस्थान। ऋषि। कर्मन्। विश्वधा। तपस्। सत्य। अनृत। शिबिका–छत्रादिः।

अर्थ—'यह है शील इसका' अर्थ में प्रथमान्त समर्थ छत्र आदि प्रातिपदिकों से 'ण' प्रत्यय होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) छात्रः
छत्रं शीलमस्य → छत्र ण—चुट्, आदिवृद्धि।
गुरु के कार्यों में सावधान तथा उसके दोषों का आच्छादन करने वाला 'छात्र' कहलाता है। यहाँ 'स्था' शब्द का पाठ है। यहाँ उसका उपसर्गपूर्वक ग्रहण होता है। यथा—

(2) आस्था
आ स्था ण टाप् सु।

(3) संस्था
सम् स्था ण—चुट्,
संस्थ टाप् सु—विभक्तिकार्य।

(4) अवस्था
अव स्था ण → अवस्थ टाप् सु।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1804) कर्माध्ययने वृत्तम् *63* (1614)

तदस्येत्येव। तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं कर्म चेत्तद्वृत्तमध्ययनविषयं भवति। एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य ऐकान्यिकः। द्वैयन्यिकः। त्रैयन्यिकः। एकमन्यदिति विगृह्य

'तद्धितार्थ' (2.1.51) इति समाप्तः । ततश्च ठक् प्रत्ययः । अध्ययने कर्म वृत्तमित्येतत्सर्वं तद्धितवृत्तावन्तर्भवति । यस्याध्ययने नियुक्तस्य परीक्षाकाले पठतः स्खलितमपपाठरूपमेकं जातं स उच्यते ऐकान्यिक इति । एवं द्वैयन्यिकः, त्रैयन्यिक इति ।

अर्थ—'यह है कर्म इसका' इस अर्थ में अध्ययन के विषय में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है।

उदा० (1) ऐकान्यिकः
एकमन्यद् अध्ययने कर्म वृत्तमस्य → एकान्य ठक्—
ऐकान्य ठक् सु—आदिवृद्धि ।

(2) द्वैयन्यिकः (पूर्ववत्) ।
(3) त्रैयन्यिकः (पूर्ववत्) ।

एकम्, अन्यत्—इस प्रकार विगृहीत करके तद्धितार्थ में समास होता है। तब 'ठक्' होता है। अध्ययने कर्म, वृत्तम्—इन सभी का तद्धितवृत्ति में अन्तर्भाव होता है।

(1805) बह्वच्पूर्वपदाट्ठच् *64* (1615)

बह्वच् पूर्वपदं तस्माद् बह्वच्पूर्वपदात्प्रातिपदिकाट्ठच् प्रत्ययो भवति तदस्य कर्माध्ययने वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे । ठकोऽपवादः । द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य द्वादशान्यिकः । त्रयोदशान्यिकः । चतुर्दशान्यिक इति । चतुर्दशापपाठा अस्य जाता इत्यर्थः । उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तं करोति स उच्यतेऽन्यत्वं करोषीति ।

अर्थ—'यह है कर्म इसका' इस अर्थ में अध्ययन विषय में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक, जिसके पूर्व पद में अनेक अच् हों, उससे 'ठच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) द्वादशान्यिकः
द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य—'ठक्' हुआ।
(2) त्रयोदशान्यिकः (पूर्ववत्) ।
(3) चतुर्दशान्यिकः (पूर्ववत्) ।

इसके चौदह अपपाठ हुए—यह अर्थ है। जहाँ उदात्त करना चाहिए था वहाँ जो अनुदात्त करता है, उसके लिए कहा जाता है—'तुम अशुद्ध उच्चारण कर रहे हो।'

(1806) हितं भक्षाः *65* (1616)

तदस्येत्येव । तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं हितं चेत्तद्भवति तच्च भक्षाः । ननु च हितयोगे चतुर्थ्या भवितव्यम्, तत्र कथं षष्ठ्यर्थे प्रत्ययो विधीयते ? एवं तर्हि सामर्थ्याद्विभक्तिविपरिणामो भविष्यति । अपूपभक्षणं हितमस्मै आपूपिकः । शाष्कुलिकः । मौदकिकः । हितार्थक्रिया च तद्धितवृत्तावन्तर्भवति ।

अर्थ—'यह है हित इसके लिए' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ भक्षवाची प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। हित के योग में चतुर्थी होनी चाहिए। तब षष्ठी के अर्थ में प्रत्यय का कैसे विधान किया गया है? सामर्थ्य से विभक्तिविपरिणाम हो जायेगा।

उदा० (1) आपूपिकः
अपूपभक्षणं हितमस्मै—'ठक्' हुआ।

(2) शाष्कुलिकः
शष्कुलि ठक्।

(3) मौदकिकः
मोदक ठक्।

हितार्थ क्रिया का तद्धितवृत्ति में अन्तर्भाव होता है।

(1807) तदस्मै दीयते नियुक्तम् *66* (1617)

तदिति प्रथमासमर्थाद् अस्मा इति चतुर्थ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं तच्चेद्दीयते नियुक्तम् । नियोगेनाव्यभिचारेण दीयत इत्यर्थः । अव्यभिचारो नियोगः । अग्रे भोजनमस्मै नियुक्तं दीयते आग्रभोजनिकः । आपूपिकः। शाष्कुलिकः । केचित्तु नियुक्तं नित्यमाहुः । अपूपा नित्यमस्मै दीयन्ते आपूपिकः ।

अर्थ—'इसे नियमपूर्वक दिया जाता है'—इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। नियोग अर्थात् नियमपूर्वक दिया जाता है—यह अर्थ है। अव्यभिचार का अर्थ नियोग है।

उदा० (1) आग्रभोजनिकः
अग्रे भोजनमस्मै नियुक्तं दीयते—ठक् हुआ।
(2) आपूपिकः
पूर्ववत् आदिवृद्धि।

(3) शाष्कुलिकः (पूर्ववत्) ।
कुछ विद्वान् नियुक्त को नित्य कहते हैं। यथा—
अपूपा नित्यमस्मै दीयन्ते—आपूपिकः ।

(1808) श्राणामांसौदनाट्टिठन् *67* (1618)

श्राणामांसौदनशब्दाभ्यां टिठन् प्रत्ययो भवति तदस्मै

दीयते नियुक्तमित्येतस्मिन्नर्थे । ठकोऽपवादः । इकार उच्चारणार्थः । टकारो ङीबर्थः । श्राणा नियुक्तमस्मै दीयते श्राणिकः, श्राणिकी । मांसौदनिकः, मांसौदनिकी । ननु च ठञेव कस्मान्नोच्यते, न ह्यत्र ठञ्ष्ठिनो वा विशेषोऽस्ति ? मांसौदनग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थं केचिदिच्छन्ति, तत्र वृद्ध्यभावो विशेषः–ओदनिकः, ओदनिकी ।

अर्थ—'इसे नियमपूर्वक दिया जाता है'—इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ श्राणा व मांसौदन प्रातिपदिकों से 'टिठन्' होता है। 'ट्' अनुबन्ध स्त्रीत्व में ङीप् के लिए है। यह 'ठक्' का अपवाद है। इकार उच्चारणार्थ है। तब शेष 'ठ' बचता है। इसे 'ठस्येकः' से 'इक' आदेश होता है।

उदा० (1) श्राणिकः
श्राणां नियुक्तमस्मै दीयते → श्राणा टिठन्—सु आदि।

(2) श्राणिकी
श्राणिक ङीप्—टिड्ढाऽण० ।

(3) मांसौदनिकः
मांसौदन टिठन्—पूर्ववत्।

(4) मांसौदनिकी
पूर्ववत् ङीप्।

ननु०—'टिठन्' के स्थान पर 'ठञ्' क्यों नहीं कहा गया है ? कारण कि यहाँ ठञ् व टिठन् में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'मांसौदन' शब्द का संघात व विगृहीत दोनों रूपों में प्रयोग होता है—ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। वहाँ वृद्धि का अभाव ही विशेष है।

(5) ओदनिकः
ओदन टिठन्—आदिवृद्धि नहीं हुई।

(6) ओदनिकी
ओदनिक ङीप्।

(1809) भक्तादणन्यतरस्याम् *68* (1619)

भक्तशब्दादण् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्यां तदस्मै दीयते नियुक्तमित्येतस्मिन् विषये । ठकोऽपवादः । पक्षे सोऽपि भवति । भक्तमस्मै दीयते नियुक्तं भाक्तः, भाक्तिकः ।

अर्थ—'इसे नियमपूर्वक दिया जाता है'—इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ 'भक्त' प्रातिपदिक से विकल्प से 'अण्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है। पक्ष में 'ठक्' भी होता है।

उदा० (1) भाक्तः
भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम्—अण्, आदिवृद्धि।

(2) भाक्तिकः
पक्ष में 'ठक्' हुआ।

(1810) तत्र नियुक्तः *69* (1620)

तत्रेति सप्तमीसमर्थान्नियुक्त इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति । नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारित इत्यर्थः । शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः । आकरिकः । आपणिकः । गौल्मिकः । दौवारिकः ।

अर्थ—'इसमें नियुक्त है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है। 'नियुक्त' का अर्थ है—अधिकृत या व्यापारित (= कार्य में लगाया हुआ)।

उदा० (1) शौल्कशालिकः
शुल्कशालायां नियुक्तः—'ठक्' हुआ।

(2) आकरिकः
आकर ठक्।

(3) आपणिकः
आपण ठक्।

(4) गौल्मिकः
गुल्म ठक्।

(5) दौवारिकः
द्वार ठक्—औ आगम।

(1811) अगारान्ताट्ठन् *70* (1621)

अगारशब्दान्तात्प्रातिपदिकाट्ठन् प्रत्ययो भवति तत्र नियुक्त इत्येतस्मिन् विषये । ठकोऽपवादः । देवागारे नियुक्तो देवागारिकः । कोष्ठागारिकः । भाण्डागारिकः ।

अर्थ—'इसमें नियुक्त है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ अगारान्त (अर्थात् अगार शब्द है अन्त में जिसके) प्रातिपदिक से 'ठन्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) देवागारिकः
देवागारे नियुक्तः—ठन्, आदिवृद्धि नहीं हुई।

(2) कोष्ठागारिकः
कोष्ठागार ठन्।

(3) भाण्डागारिकः
भाण्डागार ठन्।

(1812) अध्यायिन्यदेशकालात् *71* (1622)

तत्रेत्येव । सप्तमीसमर्थाददेशवाचिनः प्रातिपदिकादकालवाचिनश्चाध्यायिन्यभिधेये ठक् प्रत्ययो भवति । अध्ययनस्य यौ देशकालौ शास्त्रेण प्रतिषिद्धौ तावदेशकालशब्देनोच्येते, तत इदं प्रत्ययविधानम् । श्मशानेऽधीते श्माशानिकः । चातुष्पथिकः । अकालात्–चतुर्दश्यामधीते चातुर्दशिकः, आमावास्यिकः । अदेशकालादिति किम्? स्रुघ्नेऽधीते, पूर्वाह्णेऽधीते ।

अर्थ—यदि 'पाठक' अर्थ वाच्य हो तो अदेशवाची व अकालवाची सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। अदेश व अकाल शब्दों का अर्थ है—वह देश और काल जो अध्ययन के योग्य न हो। उससे प्रत्यय का विधान किया गया है।

उदा० (1) श्माशानिकः
श्मशानेऽधीते—'ठक्' हुआ।

(2) चातुष्पथिकः
चतुष्पथ ठक्।

(3) चातुर्दशिकः
चतुर्दशी ठक्।

(4) आमावास्यिकः
अमावास्य ठक्।

अदेशकाला० अर्थात् अदेशवाची व अकालवाची से प्रत्यय होता है—
स्रुघ्नेऽधीते—प्रत्यय नहीं हुआ।
पूर्वाह्णेऽधीते—प्रत्यय नहीं हुआ।

(1813) कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति *72* (1623)

तत्रेत्येव । कठिनशब्दान्तात्सप्तमीसमर्थात् प्रस्तारसंस्थानशब्दाभ्यां च ठक् प्रत्ययो भवति व्यवहरतीत्येतस्मिन्नर्थे । व्यवहारः क्रियातत्त्वम्; यथा लौकिकव्यवहार इति । वंशकठिने व्यवहरति वांशकठिनिकः चक्रचरः । वार्ध्रकठिनिकः । प्रास्ता-रिकः । सांस्थानिकः ।

अर्थ—'व्यवहार करता है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कठिनान्त, प्रस्तार तथा संस्थान प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है। व्यवहार का अर्थ है—लौकिक व्यवहार।

उदा० (1) वांशकठिनिकः
वंशकठिने व्यवहरति—ठक्, आदिवृद्धि।

(2) वार्ध्रकठिनिकः
वर्ध्रकठिन ठक्।

(3) प्रास्तारिकः
प्रस्तार ठक्।

(4) सांस्थानिकः
संस्थान ठक्।

(1814) निकटे वसति *73* (1624)

निकटशब्दात्सप्तमीसमर्थाद्वसतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति । यस्य शास्त्रतो निकटवासस्तत्रायं विधिः । आरण्यकेन भिक्षुणा ग्रामात्क्रोशे वस्तव्यमिति शास्त्रम् । निकटे वसति नैकटिको भिक्षुः ।

अर्थ—'रहता है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'निकट' प्रातिपदिक से 'ठक्' होता है। जिसका शास्त्र के अनुसार निकट वास होता है, उसके लिए यह विधान है।

उदा० (1) नैकटिकः
निकटे वसति—ठक्, आदिवृद्धि।

(1815) आवसथात् ष्ठल् *74* (1625)

तत्रेत्येव । आवसथशब्दात्सप्तमीसमर्थाद् वसतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्ठल् प्रत्ययो भवति । लकारः स्वरार्थः । षकारो ङीषर्थः । आवसथे वसति आवसथिकः, आवसथिकी । ठकः पूर्णोऽवधिः, अतः परमन्यः प्रत्ययो विधीयते ।

अर्थ—'रहता है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ आवसथ प्रातिपदिक से 'ष्ठल्' होता है। 'ल्' अनुबन्ध स्वर के लिए तथा 'ष्' अनुबन्ध स्त्रीत्व में 'ङीष्' के लिए है।

उदा० (1) आवसथिकः
आवसथे वसति—'ष्ठल्' हुआ।

(2) आवसथिकी
आवसथ ष्ठल् ङीष् सु।

'ठक्' की पूर्णावधि होने से इस सूत्र से आगे अन्य प्रत्यय का विधान किया जा रहा है।

(1816) प्राग्घिताद्यत् *75* (1626)

'तस्मै हितम्' (5.1.5) इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद्धितसंशब्दाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो यत्प्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति–'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (4.4.76)– रथ्यः युग्यः, प्रासङ्ग्यः ।

अर्थ—आगे 'तस्मै हितम्' कहा जायेगा। प्रकृत से लेकर 'तस्मै हितम्' से पूर्व तक जिस-जिस अर्थ में प्रत्यय का निर्देश नहीं होगा वहाँ-वहाँ औत्सर्गिक 'यत्' होगा। यह अधिकार है।

उदा० (1) रथ्य:
रथ यत् सु—तद्वहति रथ०।

(2) युग्य:
युग यत् सु।

(3) प्रासङ्ग्य:
प्रासङ्ग यत् सु।

(1817) तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् *76* (1627)

तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यो रथयुगप्रासङ्गेभ्यो वहतीत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति। रथं वहति रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः। 'रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ' (का०वा० 1) इति तदन्तविध्युपसंख्यानात् परमरथ्य इत्यपि भवति।

अर्थ—'वहन करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है।

उदा० (1) रथ्य: (पूर्ववत्)।
(2) युग्य: (पूर्ववत्)।
(3) प्रासङ्ग्य: (पूर्ववत्)।

रथसीता तथा हल—इनसे तदन्तविधि होती है।

(4) परमरथ्य:
'यत्' हुआ।

(1818) धुरो यड्ढकौ *77* (1628)

तद्वहतीत्येव। धुर् इत्येतस्माद् द्वितीयासमर्थाद्वहतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् ढक् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। धुरं वहति धुर्यः, धौरेयः।

अर्थ—'वहन करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'धुर्' प्रातिपदिक से 'यत्' और 'ढक्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) धुर्य:
धुरं वहति → धुर् यत्—'हलि च' से उपधादीर्घ की प्राप्ति हुई, 'न भकुर्छुराम्' से निषेध,
धुर्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) धौरेय:
धुर् ढक् → एयादेश, सु।

(1819) खः सर्वधुरात् *78* (1630)

तद्वहतीत्येव। सर्वधुराशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद्वहतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। सर्वधुरां वहति सर्वधुरीणः। स्त्रीलिङ्गे न्याय्ये सर्वधुरादिति प्रातिपदिकमात्रापेक्षो निर्देशः। ख इति योगविभागः कर्त्तव्य इष्टसंग्रहार्थः—उत्तरधुरीणः, दक्षिणधुरीणः।

अर्थ—'वहन करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ सर्वधुर प्रातिपदिक से 'ख' होता है।

उदा० (1) सर्वधुरीण:
सर्वधुरां वहति—ईन आदेश, णत्व, सु।

सर्वधुर शब्द का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग न्याय्य है। सूत्र में 'सर्वधुरात्' इस प्रकार पुँल्लिंग का निर्देश प्रातिपदिकमात्रापेक्ष है। सूत्र का योगविभाग करना चाहिए।

(2) धुरीण:
धुर् ख सु।

(3) उत्तरधुरीण: (पूर्ववत्)।
(4) दक्षिणधुरीण: (पूर्ववत्)।

(1820) एकधुराल्लुक् च *79* (1631)

तद्वहतीत्येव। एकधुराशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद्वहतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति, तस्य च लुग्भवति। वचनसामर्थ्यात्पक्षे लुग्विधीयते। एकधुरां वहति एकधुरीणः, एकधुरः।

अर्थ—'वहन करता है' इस अर्थ में एकधुर प्रातिपदिक से 'ख' प्रत्यय होता है तथा उसका लुक् होता है। पक्ष में वचनसामर्थ्य से लुक् नहीं होता है।

उदा० (1) एकधुर:
एकधुर ख—लुक् हुआ, सु।

(2) एकधुरीण:
एकधुर ख।

(1821) शकटादण् *80* (1632)

तद्वहतीत्येव। शकटशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद्वहतीत्येस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। शकटं वहति शाकटो गौः।

अर्थ—'वहन करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ शकट प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) शाकट:
शकटं वहति—'अण्', आदिवृद्धि।

(1822) हलसीराट्ठक् *81* (1633)

तद्वहतीत्येव। हलसीरशब्दाभ्यां द्वितीयसमर्थाभ्यां वहतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। हलं वहति हालिकः। सैरिकः।

अर्थ—'वहन करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ हल व सीर प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) हालिक:
हलं वहति—हल ठक् सु।

(2) सैरिक:
सीर ठक् सु।

(1823) संज्ञायां जन्या: *82* (1634)

तद्वहतीत्येव। जनीशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद्वहतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति समुदायेन चेत्संज्ञा गम्यते। जनीं वहति जन्या = जामातुर्वयस्या। सा हि विवाहादिषु जामातृसमीपं प्रापयति। जनी वधूरुच्यते।

अर्थ—'वहन करता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ जनी प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) जन्या
जनीं वहति → जनी यत् टाप् सु—विभक्तिकार्य।
वधू को जामाता के पास पहुँचाने वाली को 'जन्या' कहते हैं। जनी = वधू।

(1824) विध्यत्यधनुषा *83* (1335)

तदिति द्वितीयासमर्थाद् विध्यतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति, न चेद्धनुष्करणं भवति। पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः। ऊरव्याः कण्टकाः। अधनुषेति किम्? पादौ विध्यति धनुषा। नन्वसमर्थत्वादनभिधानाच्च प्रत्ययो न भवति, न हि धनुषा पद्य इत्युक्ते विवक्षितोऽर्थः प्रतीयते? एवं तर्हि धनुष्प्रतिषेधेन व्यधनक्रिया विशेष्यते, यस्यां धनुष्करणं न सम्भाव्यते इति। तेनेह न भवति-चौरं विध्यति, शत्रुं विध्यति देवदत्त इति।

अर्थ—'बींधता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, यदि करण के रूप में 'धनुष' शब्द न हो।

उदा० (1) पद्या: शर्करा:
पादौ विध्यन्ति → पाद यत्—पद् आदेश, जस्।

(2) ऊरव्या: कण्टका:
ऊरू विध्यन्ति—यत्, ओर्गुण:, वान्तो यि प्रत्यये।

अधनुषे०—करण के रूप में **'धनुष'** शब्द **न हो** तो 'यत्' होता है—
पादौ विध्यति धनुषा—यहाँ 'यत्' नहीं हुआ।
असमर्थ होने से तथा कथन न होने से प्रत्यय नहीं हुआ।

इस प्रकार धनुष् शब्द के निषेध से व्यधन क्रिया विशेषित होती है, जिसमें धनुष्करण की सम्भावना न हो।

इसलिये यहाँ नहीं होता है—

(3) चौरं विध्यति।
(4) शत्रुं विध्यति।

(1825) धनगणं लब्धा *84* (1636)

तदित्येव। धनगणशब्दाभ्यां द्वितीयासमर्थाभ्यां लब्धेत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। धन्यः। गण्यः। लब्धेति तृन्नन्तम्, तेन द्वितीया समर्था विभक्तिर्युज्यते।

अर्थ—'प्राप्त करने वाला' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ धन व गण प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है।

उदा० (1) धन्य:
धनं लब्धा—धन यत् सु।

(2) गण्य:
गण यत् सु।

'लब्धा' यह तृन् प्रत्ययान्त है। अतः द्वितीया समर्थ विभक्ति उचित है।

(1826) अन्नाण्णः *85* (1637)

अन्नशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थाल्लब्धेत्येतस्मिन्नर्थे णः प्रत्ययो भवति। अन्नं लब्धा आन्नः।

अर्थ—'प्राप्त करने वाला' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'अन्न' प्रातिपदिक से 'ण' होता है।

उदा० (1) आन्न:
अन्नं लब्धा → अन्न ण—चुटू, आदिवृद्धि।

(1827) वशं गतः *86* (1638)

वशशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थाद् गत इत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्र-

त्ययो भवति। वशं गतः वश्यः। कामप्राप्तो विधेय इत्यर्थः।

अर्थ—'प्राप्त हुआ' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'वश' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है।

उदा० (1) वश्यः
वशं गतः → वश यत्—यत् हुआ,
वश्य सु—विभक्तिकार्य।

(1828) पदमस्मिन् दृश्यम् *87* (1639)

निर्देशादेव प्रथमा समर्थविभक्तिः। पदशब्दात्प्रथमा-समर्थाद् दृश्यार्थोपाधिकादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यत्प्रत्ययो भवति। पदं दृश्यमस्मिन् पद्यः कर्दमः। पद्याः पांसवः। शक्यार्थे कृत्यः। शक्यते यस्मिन् पदं द्रष्टुं प्रतिमुद्रोत्पादनेन स पद्यः कर्दमः। कर्दमस्यावस्थोच्यते–नातिद्रवो नातिशुष्क इति।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ 'पद' प्रातिपदिक से सप्तम्यर्थ में 'यत्' होता है, 'दृश्य' अर्थ में।

उदा० (1) पद्यः
पदं दृश्यम् अस्मिन्—पद यत् सु।

शक्य अर्थ में कृत्य हुआ है। जिसमें पैरों के निशान देखे जा सकते हैं, ऐसा कीचड़ 'पद्य' कहलाता है। यह दलदल की अवस्था का कथन किया जा सकता है। जो न अधिक गीला हो और न अधिक सूखा हो।

(1829) मूलमस्याबर्हि *88* (1640)

मूलशब्दात्प्रथमासमर्थादाबर्हीत्येवं गुणकादस्येति षष्ठ-यर्थे यत्प्रत्ययो भवति। मूलमेषामाबर्हि मूल्या माषाः। मूल्या मुद्गाः। 'वृहू उद्यमे' (धा०पा० 1348), येषां मूलमावृह्यते उत्पाट्यते ते मूल्याः = सुष्ठु निष्पन्नाः। मूलोत्पाटनेन विना ग्रहीतुं न शक्यन्ते इत्यर्थः।

अर्थ—प्रथमान्त समर्थ 'मूल' प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में 'यत्' होता है, यदि प्रथमान्त का आबर्हि से सामानाधिकरण्य हो।

उदा० (1) मूल्याः
मूलम् एषाम् आबर्हि—मूल यत् जस्।

जिसकी जड़ उखाड़ी जाय, ऐसे उड़द के पौधे। जिन्हें जड़ उखाड़े विना प्राप्त न किया जा सके—यह अर्थ है।

(1830) संज्ञायां धेनुष्या *89* (1641)

धेनुष्येति निपात्यते संज्ञायां विषये। संज्ञाग्रहणमभिधेय-नियमार्थम्। धेनोः षुगागमो यश्च प्रत्ययः निपात्यते। अन्तो-दात्तोऽपि ह्ययमिष्यते। या धेनुरुत्तमर्णाय ऋणप्रदानाद्दोहनार्थं दीयते सा धेनुष्या। पीतदुग्धेति यस्याः प्रसिद्धिः। धेनुष्यां भवते ददामि।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान रहते 'धेनुष्या' शब्द निपातनसिद्ध है। अभिधेय के नियम के लिए संज्ञा का ग्रहण किया गया है।

उदा० (1) धेनुष्या
धेनु षुक् यत्—निपातन से यत् प्रत्यय व षुक् आगम,
धेनुष्या—टाप्, सु।
वह गाय जो ऋण शोध के लिए उत्तमर्ण को दी जाती है।

(1831) गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः *90* (1642)

निर्देशादेव तृतीया समर्थविभक्तिः। गृहपतिशब्दात्तृतीया-समर्थात्संयुक्त इत्येतस्मिन्नर्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति। गृहपतिना संयुक्तः गार्हपत्योऽग्निः। अन्यस्यापि गृहपतिना संयोगोऽस्ति, तत्र संज्ञाऽधिकारादनिष्टप्रसङ्गनिवृत्तिः।

अर्थ—निर्देश से ही तृतीया समर्थ विभक्ति होती है। 'संयुक्त' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'गृहपति' शब्द से 'ञ्य' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) गार्हपत्यः
गृहपतिना संयुक्तः—ञ्य, चुटू, आदिवृद्धि।

अन्य का भी गृहपति से संयोग है। वहाँ संज्ञा के अधिकार से अतिप्रसंग की निवृत्ति होती है।

(1832) नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्य-प्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेषु *91* (1643)

नावादिभ्योऽष्टभ्यः शब्देभ्योऽष्टस्वेव तार्यादिष्वर्थेषु यथासंख्यं यत् प्रत्ययो भवति। प्रत्ययार्थद्वारेण तृतीया समर्थविभक्तिर्लभ्यते। नावा तार्यं नाव्यमुदकम्। नाव्या नदी। शक्यार्थे कृत्यः। वयसा तुल्यो वयस्यः सखा। संज्ञा-धिकारोऽभिधेयनियमार्थः। तेन वयसा तुल्ये शत्रौ न भवति। धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्। ननु च 'धर्मादनपेते' (4.4.92) इति वक्ष्यमाणेनैव सिद्धम्? नैतदस्ति। धर्मं यदनुवर्त्तते तद्धर्माद-नपेतमित्युच्यते। फलं तु धर्मादपेत्यैव, कार्यविरोधित्वा-द्धर्मस्य। विषेण वध्यो विष्यः। विषेण वधमर्हतीत्यर्थः।

मूलेनानाम्यं मूल्यम्। आनाम्यमभिभवनीयम्। पटादीनामुत्पत्तिकारणं मूलं तेन तदभिभूयते शेषीक्रियते। मूलं हि सगुणं मूल्यं करोति। 'पोरदुपधात्' (3.1.98) इति यति प्राप्ते आनाम्यमिति निपातनात् ण्यत्। मूलेन समो मूल्यः पटः। उपादानेन समानफल इत्यर्थः। सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम्। समितं सङ्गतमित्यर्थः। 'रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ' इति तदन्तविधिरपीष्यते-परमसीत्यम्, उत्तमसीत्यम्, द्विसीत्यम्, त्रिसीत्यम्। तुलया सम्मितं तुल्यम्। सम्मितं समानं सदृशमित्यर्थः। यथा-तुला परिच्छिनत्ति परमेवं तदपीति।

अर्थ—तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित तथा सम्मित—इन अर्थों में यथासंख्य करके नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता तथा तुला—इन तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है।

सूत्र में समर्थ विभक्ति नहीं दी गई है। चूँकि तार्य आदि अर्थों के साथ तृतीया ही घटित हो सकती है। अतः यहाँ 'तृतीयान्त समर्थ' ऐसा अर्थ किया गया है।

'नौ···तुलाभ्यः' में इतेरतरयोग द्वन्द्व समास है। इस पद में 'मूल' शब्द का दो बार पाठ हुआ है। तथापि यहाँ एकशेष नहीं हुआ। कारण कि, एकशेष की दशा में सात प्रकृति रह जाती है। तब यथासंख्य विधि नहीं हो पाती।

उदा० (1) नाव्यम् उदकम्
नावा तार्यम्—नौ यत् सु।

(2) नाव्या नदी
नाव्य टाप् सु।

(3) वयस्यः
वयसा तुल्यः → वयस् यत् सु।
अभिधेय के नियम के लिए संज्ञा का अधिकार है।

(4) धर्म्यम्
धर्मेण प्राप्यम्—पूर्ववत्।

धर्मादनपेत—इससे भी यत् सिद्ध है। ऐसा नहीं है। 'धर्मम्' ऐसा अनुवर्त्तन है। अतः 'धर्माद् अनपेतम्' ऐसा कहा गया है।

(5) विष्यः
विषेण वध्यः—पूर्ववत्।

(6) मूल्यम्
मूलेन आनाम्यम्—पूर्ववत्। 'पोरदुपधात्' से 'यत्' प्राप्त होने पर यहाँ 'ण्यत्' निपातन से है।

(7) मूल्यः
मूलेन समः—पूर्ववत्।

(8) सीत्यम्
सीतया समितम्—पूर्ववत्।

रथ, सीता तथा हल—इनसे 'यत्' प्रत्यय की विधि में तदन्तविधि भी होती है।

(9) परमसीत्यम्
परमसीता यत्।

(10) उत्तमसीत्यम् (पूर्ववत्)।
(11) त्रिसीत्यम् (पूर्ववत्)।
(12) तुल्यम्
तुलया सम्मितम्—सम्मित का अर्थ 'समान' है।

(1833) धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते *92* (1644)

निर्देशादेव पञ्चमी समर्थविभक्तिः। धर्मादिभ्यः पञ्चमीसमर्थेभ्योऽनपेत इत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। पथ्यम्। न्याय्यम्। संज्ञाधिकारादभिधेयनियमः।

अर्थ—निर्देश से ही पञ्चमी समर्थ विभक्ति है। 'अनपेत' अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ धर्म, पथिन्, अर्थ तथा न्याय प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है।

उदा० (1) धर्म्यम्
धर्माद् अनपेतम्—'यत्' हुआ।

(2) पथ्यम्
पथोऽनपेतम्—पूर्ववत्।

(3) अर्थ्यम्
अर्थादनपेतम्।

(4) न्याय्यम् (पूर्ववत्)।
संज्ञा का अधिकार होने से अभिधेय का नियम है।

(1834) छन्दसो निर्मिते *93* (1645)

प्रत्ययार्थसामर्थ्यलभ्या समर्थविभक्तिः। छन्दःशब्दात्तृतीयासमर्थान्निर्मित इत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति। निर्मितः उत्पादितः। छन्दसा निर्मितश्छन्दस्यः। छन्दसा कृत इत्यर्थः। इच्छापर्यायश्छन्दःशब्द इह गृह्यते।

अर्थ—'बनाया हुआ' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'छन्दस्' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है।

उदा० (1) छन्दस्यः
छन्दसा निर्मितः—यत्, सु।

यहाँ इच्छार्थक 'छन्दस्' शब्द का ग्रहण है।

(1835) उरसोऽण् च *94* (1646)

उरःशब्दात्तृतीयासमर्थान्निर्मित इत्येतस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च। उरसा निर्मित औरसः पुत्रः, उरस्यः पुत्रः। संज्ञाधिकारादभिधेयनियमः।

अर्थ—'बना हुआ' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'उरस्' प्रातिपदिक से 'अण्' तथा 'यत्' होते हैं।

उदा० (1) औरसः
उरसा निर्मितः—अण्, आदिवृद्धि।

(2) उरस्यः
उरस् यत् सु।

(1836) हृदयस्य प्रियः *95* (1647)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। हृदयशब्दात् षष्ठीसमर्थात् प्रिय इत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति। हृदयस्य प्रियो हृद्यो देशः। हृद्यं वनम्। संज्ञाधिकारादभिधेयनियमः। इह न भवति–हृदयस्य प्रियः पुत्र इति।

अर्थ—निर्देश से ही समर्थ विभक्ति है। 'प्रिय' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ हृदय प्रातिपदिक से 'यत्' होता है।

उदा० (1) हृद्यः
हृदयस्य प्रियः—हृदयस्य हृल्लेख० से 'हृत्' आदेश।
स्त्रीलिंग में 'टाप्' होकर 'हृद्या कन्या' बनता है।

संज्ञा के अधिकार से अभिधेय नियम होता है। निम्नलिखित में नहीं होता है—

हृदयस्य प्रियः पुत्रः।

(1837) बन्धने चर्षौ *96* (1648)

हृदयस्येत्येव। बन्धन इति प्रत्ययार्थः, तद्विशेषणमृषिग्रहणम्, बध्यते येन तद् बन्धनम्। हृदयशब्दात् षष्ठीसमर्थाद् बन्धने ऋषावभिधेये यत् प्रत्ययो भवति। ऋषिर्वेदो गृह्यते। हृदयस्य बन्धनमृषिः हृद्यः। परहृदयं येन बध्यते वशीक्रियते स वशीकरणमन्त्रो हृद्य इत्युच्यते।

अर्थ—वेद अर्थ गम्यमान हो तो 'बन्धन' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'यत्' होता है। 'बन्धन' यह प्रत्ययार्थ है। 'ऋषि' के द्वारा 'वेद' अर्थ गृहीत होता है।

उदा० (1) हृद्यः
हृदयस्य बन्धनमृषिः—पूर्ववत्।

जिसके द्वारा पर हृदय को वश में किया जाता है, वह वशीकरण मन्त्र 'हृद्य' कहलाता है।

(1838) मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु *97* (1649)

मतादिभ्यस्त्रिभ्यः शब्देभ्यस्त्रिष्वेव करणादिष्वर्थेषु यथासंख्यं यत्प्रत्ययो भवति। प्रत्ययार्थसामर्थ्याल्लब्धा षष्ठी समर्थविभक्तिः। मतं ज्ञानम्, तस्य करणं मत्यम्, भावः साधनं वा। जनस्य जल्पो जन्यः। हलस्य कर्षो हल्यः, द्विहल्यः, त्रिहल्यः। कर्षणं कर्षः, भावः साधनं वा।

अर्थ—करण, जल्प तथा कर्ष—इन अर्थों में यथासंख्य करके षष्ठ्यन्त समर्थ मत, जन और हल प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है। प्रत्ययार्थ के सामर्थ्य से षष्ठी समर्थ विभक्ति प्राप्त होती है।

उदा० (1) मत्यम्
मतस्य करणम्—यत्, सु।

(2) जन्यः
जनस्य जल्पः—पूर्ववत्।

(3) हल्यः
हलस्य कर्षः।

(4) द्विहल्यः (पूर्ववत्)।
(5) त्रिहल्यः (पूर्ववत्)।

(1839) तत्र साधुः *98* (1650)

तत्रेति सप्तमीसमर्थात् साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति। सामसु साधुः सामन्यः। वेमन्यः। कर्मण्यः। शरण्यः। साधुरिह प्रवीणो योग्यो वा गृह्यते, नोपकारकः। तत्र हि परत्वात् 'तस्मै हितम्' (5.1.5) इत्यनेन विधिना भवितव्यम्।

अर्थ—'साधु' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'यत्' होता है।

उदा० (1) सामन्यः

सामसु साधुः—'नस्तद्धिते' से टि का लोप प्राप्त हुआ, 'ये चाऽभाव०' से प्रकृतिभाव हुआ,

सामन् य सु—विभक्तिकार्य।

(2) वेमन्यः
वेमन् यत् सु।

(3) कर्मण्यः
कर्मन् यत् सु।

(4) शरण्यः
शरण यत् सु।

(1840) प्रतिजनादिभ्यः खञ् *99* (1651)

प्रतिजनादिभ्यः शब्देभ्यः खञ् प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन्नर्थे। यतोऽपवादः। प्रतिजने साधुः प्रातिजनीनः। जने जने साधुरित्यर्थः। ऐदंयुगीनः। सांयुगीनः। प्रतिजन। इदंयुग। संयुग। समयुग। परयुग। परकुल। परस्यकुल। अमुष्यकुल। सर्वजन। विश्वजन। पञ्चजन। महाजन-प्रतिजनादिः। यत्र हितार्थ एव साध्वर्थस्तत्र वचनात्प्राक्क्रीतीया बाध्यन्ते।

अर्थ—'साधु' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रतिजन आदि प्रातिपदिकों से 'खञ्' होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) प्रातिजनीनः
प्रतिजने साधुः—
(2) ऐदंयुगीनः
इदंयुग खञ्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

जहाँ हितार्थ में ही साधु अर्थ हो, वहाँ वचनसामर्थ्य से प्राक्क्रीतीय प्रत्ययों का बाध होता है।

(1841) भक्ताण्णः *100* (1652)

भक्तशब्दात् णः प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। भक्ते साधुः भाक्तः शालिः, भाक्तास्तण्डुलाः।

अर्थ—'साधु' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'भक्त' प्रातिपदिक से 'ण' होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) भाक्तः
भक्ते साधुः—ण, चुटू, आदिवृद्धि।

(1842) परिषदो ण्यः *101* (1653)

परिषच्छब्दात् ण्यः प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। परिषदि साधुः पारिषद्यः। णप्रत्ययोऽप्यत्रेष्यते। तदर्थं योगविभागः क्रियते—'परिषदः', णो भवति। परिषदि साधुः पारिषदः। ततो 'ण्यः', परिषद इत्येव।

अर्थ—'साधु' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'परिषद्' शब्द से 'ण्य' होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) पारिषद्यः
परिषदि साधुः—ण्य, चुटू, आदिवृद्धि।

यहाँ 'ण' प्रत्यय भी होता है।[1] अतः योगविभाग किया जाता है कि 'परिषद्' प्रातिपदिक से 'ण' होता है।

(2) पारिषदः
परिषद् ण—चुटू, आदिवृद्धि।

(1843) कथादिभ्यष्ठक् *102* (1654)

कथादिभ्यः शब्देभ्यष्ठक् प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। कथायां साधुः काथिकः। वैकथिकः। कथा। विकथा। वितण्डा। कुष्टचित्। जनवाद। जनेवाद। वृत्ति। सद्गृह। गुण। गण। आयुर्वेद-कथादिः।

अर्थ—'साधु' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ कथादि प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) काथिकः
कथायां साधुः—ठक्, आदिवृद्धि।

(2) वैकथिकः
विकथा ठक् सु।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1844) गुडादिभ्यष्ठञ् *103* (1655)

गुडादिभ्यः शब्देभ्यष्ठञ् प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। गुडे साधुः गौडिक इक्षुः। कौल्माषिको मुद्गः। साक्तुको यवः। गुड। कुल्माष। सक्तु। अपूप। मांसौदन। इक्षु। वेणु। संग्राम। संघात। प्रवास। निवास। उपवास-गुडादिः।

अर्थ—'साधु' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ गुडादि प्रातिपदिकों से 'ठञ्' होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

1. महाभाष्य (पा०2.1.58) में 'परिषद' शब्द प्राप्त होता है। इससे यह ज्ञापक निकलता है।

उदा० (1) गौडिकः
गुडे साधुः—ठञ्, आदिवृद्धि।

(2) कौल्माषिकः
कुल्माष ठञ् सु।

(3) साक्तुकः
सक्तु ठञ् सु—इसुसुक्ता०।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1845) पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् *104* (1656)

पथ्यादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। पथि साधु पाथेयम्। आतिथेयम्। वासतेयम्। स्वापतेयम्।

अर्थ—'साधु' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ पथिन्, अतिथि, वसति तथा स्वपति प्रातिपदिकों से 'ढञ्' होता है। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) पाथेयम्
पथि साधुः → पथिन् ढञ्—आदिवृद्धि, टिलोप, सु।

(2) आतिथेयम्
अतिथि ढञ् सु।

(3) वासतेयम्
वसति ढञ्—पूर्ववत्।

(4) स्वापतेयम् (पूर्ववत्)।

(1846) सभाया यः *105* (1657)

सभाशब्दाद्यः प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये। यतोऽपवादः। स्वरे विशेषः। सभायां साधुः सभ्यः।

अर्थ—'साधु' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'सभा' प्रातिपदिक से 'य' प्रत्यय होता है। 'यत्' का अपवाद है। इनमें स्वर का अन्तर है।

उदा० (1) सभ्यः
सभायां साधुः—आदिवृद्धि नहीं हुई।

(1847) ढश्छन्दसि *106* (3455)

सभाशब्दाड्ढः प्रत्ययो भवति तत्र साधुरित्येतस्मिन् विषये छन्दसि। यस्यापवादः। 'स॒भेयो॒ युवाऽस्य॒ यजमानस्य वी॒रो जायताम्' (वा०सं० 22.22)।

अर्थ—वेद के विषय में 'साधु' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'सभा' शब्द से 'ढ' होता है। 'य' का अपवाद है।

उदा० (1) सभेयः (वा०सं०22.22)
सभा ढ—एयादेश, सु।

(1848) समानतीर्थे वासी *107* (1658)

साधुरिति निवृत्तम्। वासीति प्रत्ययार्थः। समानतीर्थशब्दात्तत्रेति सप्तमीसमर्थाद् वासीत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति। समाने तीर्थे वासीति सतीर्थ्यः। समानोपाध्याय इत्यर्थः।

अर्थ—'वासी' यह प्रत्ययार्थ है। 'रहने वाला' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'समानतीर्थ' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है।

उदा० (1) सतीर्थ्यः
समाने तीर्थे वासी—यत्, सु।

(1849) समानोदरे शयित ओ चोदात्तः *108* (1659)

समानोदरशब्दात्सप्तमीसमर्थाच्छयित इत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति ओकारश्चोदात्तः। शयितः स्थित इत्यर्थः। समानोदरे शयितः समानोदर्यो भ्राता।

अर्थ—'शयन किया हुआ' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'समानोदर' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है तथा प्रकृति का ओकार उदात्त होता है।

उदा० (1) समानोदर्यः
समानोदरे शयितः—यत्, सु।

(1850) सोदराद्यः *109* (1660)

सोदरशब्दात् सप्तमीसमर्थात् शयित इत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति। 'विभाषोदरे' (6.3.88) इति सूत्रेण यकारादौ प्रत्यये विवक्षिते प्रागेव समानस्य सभावः। समानोदरे शयितः सोदर्यो भ्राता। 'ओ चोदात्तः' (4.4.108) इति नानुवर्त्तते। यकारे स्वरः।

अर्थ—'शयन किया हुआ' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'सोदर' प्रातिपदिक से 'य' होता है।

उदा० (1) सोदर्यः
समानोदर य—'विभाषोदर०' से पाक्षिक 'य' हुआ।

'ओ चोदात्तः' का अनुवर्त्तन नहीं है। यकार होने पर स्वर होता है।

(1851) भवे छन्दसि *110* (3456)

तत्रेत्येव । सप्तमीसमर्थाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति । अणादीनां घादीनां चापवादः । सति दर्शने तेऽपि भवन्ति, सर्वविधीनां छन्दसि व्यभिचारात् । 'नमो मे॒ध्या॑य च विद्यु॒त्या॑य च॒ नमः' (तै०सं० 4.5.717) । आपादपरिसमाप्तेश्छन्दोऽधिकारो भवाधिकारश्च, 'समुद्राभ्राद् घः' (4.4.118) इति यावत् ।

अर्थ—'भव' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, वेद के विषय में। यह अण् आदि का तथा घ आदि का अपवाद है। दर्शन होने पर वे प्रत्यय भी होते हैं। कारण कि वेद में सभी विधियों के विषय में व्यभिचार प्राप्त होता है।

उदा० (1) मेध्याय (वा०सं०16.38)
मेध यत् ङे—चतुर्थी एकवचन।

'छन्दसि' पद का अधिकार पाद की समाप्तिपर्यन्त रहता है तथा 'भवे' का अधिकार 'समुद्राद् घः' (4.4.118) तक चलता है।

(1852) पाथोनदीभ्यां ड्यण् *111* (3457)

पाथःशब्दान्नदीशब्दाच्च ड्यण् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे । यतोऽपवादः । पाथसि भवः पाथ्यो॒ वृषा॒ (ऋ० 6.16.15) । 'नौदधीत नाद्यो॒ गिरो मे (ऋ० 5.35.1) प्रयच्छति । पाथोऽन्तरिक्षम् ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ पाथस् तथा नदी शब्दों से 'ड्यण्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) पाथ्यः (ऋ०6.16.15)
पाथसि भवः—पाथ् य सु—टिलोप।

(2) नाद्यः (ऋ०5.35.1)
नदी ड्यण् सु—आदिवृद्धि, टिलोप।

यह 'यत्' का अपवाद है। पाथस् = अन्तरिक्ष।

(1853) वेशन्तहिमवद्भ्यामण् *112* (3458)

वेशन्तशब्द़ाद्धिमवच्छब्दाच्चाण् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये । यतोऽपवादः । वैश॒न्तीभ्यः स्वाहा॑ (तै०सं० 7.4.13.9) । हैमव॒तीभ्यः स्वाहा॑ (शौ० 19. 1.1) ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ वेशन्त और हिमवत् प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है, वेद के विषय में। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) वैशन्तीभ्यः स्वाहा (ऋ०7.33.2)
वेशन्ते भवः—वेशन्त अण् ङीप् भ्यस्।

(2) हैमवतीभ्यः स्वाहा (शौ०सं०19.2.1.)
पूर्ववत्।

(1854) स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ *113* (3459)

स्रोतःशब्दाद्विभाषा ड्यत् ड्य–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतस्तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये । यतोऽपवादः । पक्षे सोऽपि भवति । स्रोतसि भवः स्रो॒त्यः॒ (ऋ० 10.104.8), स्रोत॒स्यः (अथ० 19.2.4) । ड्यड्ड्ययोः स्वरे विशेषः ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'स्रोतस्' प्रातिपदिक से ड्यत् व ड्य प्रत्यय विकल्प से होते हैं। यह 'यत्' का अपवाद है। पक्ष में 'यत्' भी होता है।

उदा० (1) स्रोतस्यः
स्रोतसि भवः—टि का लोप हुआ।
ड्यत् व ड्य में स्वर का अन्तर है।

(1855) सगर्भसयूथसनुताद् यन् *114* (3460)

सगर्भसयूथसनुतशब्देभ्यो यन् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये । यतोऽपवादः । स्वरे विशेषः । अनु भ्राता॒ सग॒र्भ्यः । अनु सखा सयू॒थ्यः॒ (तै०सं० 1.2.4.2) । यो न॒ः सनुत्यः (ऋ० 2.30.9) । सर्वत्र 'समानस्य छन्दसि' (6.3.84) इति सभावः ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ सगर्भ, सयूथ और सनुत प्रातिपदिकों से 'यन्' होता है, वेद के विषय में। स्वर का अन्तर है।

उदा० (1) सगर्भ्यः (यजु०4.20)
सगर्भे भवः—आदिवृद्धि नहीं हुई।

(2) सयूथ्यः (ऐ०ब्रा०2.6)
पूर्ववत्।

(3) सनुत्यः (ऋ०6.62.10)
सनुत यन् सु।

(1856) तुग्राद् घन् *115* (3461)

तुग्रशब्दाद् घन् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये ।

यतोऽपवादः । त्वमग्ने वृषभस्तुग्रियाणाम् । अन्नाकाशयज्ञवरिष्ठेषु तुग्रशब्दः ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'तुग्र' प्रातिपदिक से 'घन्' होता है, वेद के विषय में। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) तुग्रियः (ऋ०8.3.23)
तुग्रे भवः—घन्, इयादेश;
तुग्रिय सु—विभक्तिकार्य।

(1857) अग्राद्यत् *116* (3462)

अग्रशब्दाद्यत् प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये । अग्रे भवमग्र्यम् (खि० 1.3.7) । किमर्थमिदं यावता सामान्येन यद्विहित एव ? 'घच्छौ च' (4.4.117) इति वक्ष्यति, ताभ्यां बाधा मा भूदिति पुनर्विधीयते ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'अग्र' शब्द से 'यत्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) अग्र्यम् (ऋ०1.13.10)
अग्रे भवम्।

सामान्यतः 'अग्र' शब्द से औत्सर्गिक 'यत्' प्राप्त है। तब प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है ?

(समा०) अगले सूत्र (4.4.117) के द्वारा 'अग्र' शब्द से 'घच्' और 'छ' का विधान किया जायेगा। उनके द्वारा बाध न हो जाए। अतः पुनः 'यत्' का विधान किया जा रहा है।

(1858) घच्छौ च *117* (3463)

अग्रशब्दाद्यत् घच्छौ प्रत्ययौ भवन्ति तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये । अग्र्यम् (खि० 1.3.7) । अग्रियम् (ऋ० 1.13.10) । अग्रीयम् (मै०सं० 2.5.13.13) । चकारः 'तुग्राद्धन्' (3.4.115) इत्यस्यानुकर्षणार्थः । अग्रियम् । स्वरे विशेषः ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'अग्र' प्रातिपदिक से 'घच्' और 'छ' प्रत्यय होते हैं, वेद के विषय में।

उदा० (1) अग्रियम् (ऋ०1.13.10)
अग्र घच्—सु आदि।

(2) अग्रीयम् (शौ०सं०2.7.13)
अग्र छ सु।

(3) अग्रियम्

सूत्र में प्रयुक्त चकार के द्वारा 'घन्' भी होता है।

(1859) समुद्राभ्राद् घः *118* (3464)

समुद्रशब्दादभ्रशब्दाच्च घः प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे । यतोऽपवादः । समुद्रियाणां नदीनाम् (ऋ० 7.87.1) । अभ्रियस्येव घोषः (ऋ० 10.68.1) । अभ्रशब्दस्यापूर्वनिपातः, तस्य लक्षणस्य व्यभिचारित्वात् ।

अर्थ—'तत्र भवः' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ समुद्र व अभ्र प्रातिपदिकों 'घ' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में। यह 'यत्' का अपवाद है।

उदा० (1) समुद्रियाणाम् (ऋ०9.107.16)
समुद्र घ → समुद्रिय आम्।

(2) अभ्रियः (पै०सं०9.3.3.)
अभ्र घ।

समुद्र तथा अभ्र का द्वन्द्व समास करने पर अभ्र शब्द का पूर्वनिपात प्राप्त होता है। अभ्र शब्द का अपूर्व निपात करना अपूर्व निपात लक्षण के व्यभिचार को सूचित करता है।

(1860) बर्हिषि दत्तम् *119* (3465)

भव इति निवृत्तम् । बर्हिःशब्दात् सप्तमीसमर्थाद्दत्तमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति । बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु (ऋ० 10.15.5) ।

अर्थ—'दिया हुआ' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ 'बर्हिष्' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) बर्हिष्यम्
बर्हिषि दत्तम्—'यत्' हुआ।

(1861) दूतस्य भागकर्मणी *120* (3466)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । दूतशब्दात् षष्ठीसमर्थाद्भागे कर्मणि चाभिधेये यत् प्रत्ययो भवति । भागोंऽशः । कर्म क्रिया । यदग्ने यासि दूत्यम् (ऋ० 1.12.4) । दूतभागः, दूतकर्म वा ।

अर्थ—'भाग' और 'कर्म' अभिधेय हो तो षष्ठ्यन्त समर्थ 'दूत' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है। भाग = अंश। कर्म = क्रिया। निर्देश से ही समर्थ विभक्ति होती है।

उदा० (1) दूत्यम्
दूत यत्—पूर्ववत्,
दूत्य सु—विभक्तिकार्य।

(1862) रक्षोयातूनां हननी *121* (3467)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । रक्षःशब्दाद्यातुशब्दाच्च षष्ठीसमर्थाद्धननीत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति । हन्यतेऽनयेति हननी । या वां मित्रवरुणौ रक्षस्या तनूः (मै०सं० 2.3.1) । रक्षसां हननी । यातव्या (मै०सं० 2.3.1) यातूनां हननी । बहुवचनं स्तुतिवैशिष्ट्यज्ञापनार्थम् । बहूनां रक्षसां हननेन तनूः स्तूयते ।

अर्थ—'हननी' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ रक्षस् व यातु प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है, वेद के विषय में ।

हन् ल्युट् ङीप्—हननी (हन्यतेऽनया) ।

उदा० (1) रक्षस्या
रक्षसां हननी—यत्, टाप्, सु ।

(2) यातव्या
यातूनां हननी—यत्, गुण, सु ।

बहुवचन का निर्देश स्तुति के वैशिष्ट्य के ज्ञापन के लिए है ।

(1863) रेवतीजगतीहविष्याभ्यः प्रशस्ये *122* (3468)

रेवत्यादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रशस्ये वाच्ये यत्प्रत्ययो भवति । प्रशंसनं प्रशस्यम् । भावे क्यप् प्रत्ययो भवति । यद्वो रेवती रेवत्यम् (काठ०सं० 1.8) । यद्वो जगती जगत्यम् (काठ०सं० 1.8) । यद्वो हविष्या हविष्यम् (काठ०सं० 1.8) । हविषे हिता हविष्याः, तासां प्रशंसनं हविष्यम् । यस्येति (6.4.148) लोपे कृते 'हलो यमां यमि' (8.4.64) इति लोपः ।

अर्थ—'प्रशस्य' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ रेवती, जगती तथा हविष्या प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है ।

उदा० (1) रेवत्यम्
रेवती यत् सु ।

(2) जगत्यम्
जगती यत् सु ।

(3) हविष्यम्
पूर्ववत् । यस्येति च, हलो यमां यमि लोपः ।

(1864) असुरस्य स्वम् *123* (3469)

असुरशब्दात् षष्ठीसमर्थात्स्वमित्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति । अणोऽपवादः । असुर्यं वा एतत्पात्रं यच्चक्रधृतं कुलालकृतम् (मै०सं० 1.8.3) ।

अर्थ—'अपना' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ 'असुर' शब्द से 'यत्' होता है । यह 'अण्' का अपवाद है ।

उदा० (1) असुर्यम् (यजु०40.09)
असुरस्य स्वम्—यत्,
असुर्य सु—पूर्ववत् ।

(1865) मायायामण् *124* (3470)

असुरशब्दात् षष्ठीसमर्थान्मायायां स्वविशेषेऽण् प्रत्ययो भवति । पूर्वस्य यतोऽपवादः । आसुरी माया स्वधया कृतासि (वा०सं० 11.69) ।

अर्थ—'माया' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ असुर प्रातिपदिक से 'अण्' होता है, वेद के विषय में । 'यत्' का अपवाद है ।

उदा० (1) आसुरी माया
असुरस्येयम्—अण्, ङीप् ।

(1866) तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः *125* (3471)

तद्वानिति निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । मतुबन्तात्प्रातिपदिकात्प्रथमासमर्थादासामिति षष्ठ्यर्थे यत्प्रत्ययो भवति, यत्तत् प्रथमासमर्थमुपधानो मन्त्रश्चेत्स भवति, यत्तदासामिति निर्दिष्टमिष्टकाश्चेत्ता भवन्ति । लुक्च मतोरिति प्रकृतिनिर्ह्रासः । इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा । तद्वानित्यवयवेन समुदायो व्यपदिश्यते । वर्चःशब्दो यस्मिन्मन्त्रेऽस्ति स वर्चस्वान् । उपधीयते येन स उपधानः । चयनवचन इत्यर्थः । वर्चस्वानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्य यति विहिते मतोर्लुकि कृते वर्चस्या (तै०ब्रा० 1.8.0.1) उपदधाति । तेजस्या (तै० ब्रा० 1.8.9.1) उपदधाति । पयस्याः (तै०सं० 2.3. 13.1) । रेतस्याः (व०वि० 21) । तद्वानिति किम् । मन्त्रसमुदायादेव मा भूत् । उपधान इति किम्? वर्चस्वानुपस्थानमन्त्र आसामित्यत्र मा भूत् । मन्त्र इति किम्? अङ्गुलिमानुपधानो हस्त आसामित्यत्र मा भूत् । इष्टकास्विति किम्? वर्चस्वानुपधानो मन्त्र एषां कपालानामित्यत्र मा भूत् । इतिकरणो नियमार्थः—अनेकपदसम्भवेऽपि केनचिदेव पदेन तद्वान्मन्त्रो गृह्यते, न सर्वेण ।

अर्थ—वेद के विषय में यदि षष्ठ्यर्थ में ईंटें ही निर्दिष्ट हों

तो उपधान मन्त्र समानाधिकरण प्रथमान्त समर्थ मतुप् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है तथा मतुप् प्रत्यय का लुक् होता है।

वेदी के निर्माण के लिए जो ईंटों का स्थापन किया जाता है, उसे उपधान कहते हैं।

जिस मन्त्र को बोल कर उपधान किया जाता है, उसे उपधान मन्त्र कहते हैं।

यथा—वर्चस् शब्द से युक्त उपधान मन्त्र वर्चस्वान् कहलायेगा। यहाँ मतुप् प्रत्यय हुआ है।

यदि वर्चस् शब्द से युक्त मन्त्र के द्वारा उपधान किया जाता है तो वह मन्त्र उपधान मन्त्र होगा। तब वर्चस्वान् मन्त्र है उपधान मन्त्र इन ईंटों का—इस अर्थ में वर्चस्वत् प्रकृति से यत् होता है तथा प्रकृति के मतुप् प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) वर्चस्या इष्टकाः
वर्चस्वान् उपधानो मन्त्र आसाम् इष्टकानाम्—इस अर्थ में,
वर्चस्वत् यत्—यत् हुआ,
वर्चस् य—मतुप् का लुक्,
वर्चस्य टाप्—जस्।

(2) पयस्याः (पूर्ववत्)।
(3) रेतस्याः (पूर्ववत्)।

तद्वान्० अर्थात् मन्त्रसमुदाय से ही प्रत्यय नहीं होता है।

उपधान० अर्थात् निम्नलिखित में प्रत्यय नहीं होता है—
वर्चस्वानुपस्थानमन्त्र आसाम्।

मन्त्र इति अर्थात् मन्त्रवाची से ही प्रत्यय होता है—
अङ्गुलिमानुपधानो हस्त आसाम्—यहाँ नहीं हुआ।

इष्टका० अर्थात् ईंट ही षष्ठ्यर्थ में हों तो प्रत्यय होता है—
वर्चस्वानुपधानो मन्त्र एषाम्—यहाँ नहीं हुआ।

'इति' नियमार्थ किया गया है। अनकें पदों के सम्भव होने पर भी किसी भी पद के द्वारा तद्वान् मन्त्र का ग्रहण होता है, सभी के द्वारा नहीं।

(1867) अश्विमानण् *126* (3472)

अश्विशब्दो यस्मिन्मन्त्रेऽस्ति सोऽश्विमान्। अश्विमच्छब्दादण् प्रत्ययो भवति। पूर्वस्य यतोऽपवादः। अश्विमानुपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्याण्विधीयते, तत्र मतुपो लुकि कृते 'इनण्यनपत्ये' (6.4.164) इति प्रकृतिभावः- आश्विनीरुपदधाति (शत० 8.2.1.11)।

अर्थ—अश्विन् शब्द जिस मन्त्र में होता है, उसे अश्विमान् कहते हैं। वेद के विषय में यदि षष्ठ्यर्थ में ईंटें ही निर्दिष्ट हों तो उपधान मन्त्र समानाधिकरण प्रथमान्त समर्थ मतुप् प्रत्ययान्त अश्विमत् प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय होता है तथा मतुप् प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) आश्विनी
अश्विमान् उपधानो मन्त्र आसाम् इष्टकानाम्—मतुप् का लुक्,
अश्विन् अण् ङीप्—अण्, ङीप्, सु।

(1868) वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप् *127* (3473)

वयस्वानुपधानो मन्त्रो यासां ता वयस्याः, तास्वभिधेयासु मूर्ध्नो मतुप् प्रत्ययो भवति। पूर्वस्य यतोऽपवादः। यस्मिन्मन्त्रे वयःशब्दो मूर्द्धन्शब्दश्च विद्यते स वयस्वानपि भवति मूर्द्धन्वानपि। यथा-मूर्द्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः (वा०सं० 14.9) इति। तत्र वयस्वच्छब्दादिव मूर्द्धन्वच्छब्दादपि यति प्राप्ते मतुब् विधीयते। मूर्द्धन्वतीरुपदधाति (तै०सं० 5.3.8.3), वयस्या एव मूर्द्धन्वत्यः। वयस्यास्विति किम्? यत्र मूर्द्धन् शब्द एव केवलो न वयःशब्दः, तत्र मा भूत्। मूर्द्धन्वत इति वक्तव्ये मूर्ध्न इत्युक्तं मतुपो लुकं भाविनं चित्ते कृत्वा।

अर्थ—वेद के विषय में यदि षष्ठ्यर्थ में 'वयस्या' ईंटें ही निर्दिष्ट हों तो उपधान मन्त्र समानाधिकरण प्रथमान्त समर्थ मतुप् प्रत्ययान्त मूर्धन् प्रातिपदिक से मतुप् प्रत्यय होता है तथा प्रकृति के मतुप् प्रत्यय का लुक् होता है। वयस्वान् है उपधान मन्त्र जिन ईंटों का, ऐसी ईंटों को 'वयस्या' कहा जाता है।

उदा० (1) मूर्धन्वत्यः
मूर्धन्वान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानाम्—
मूर्धन्वत् मतुप्—पूर्व मतुप् का लुक्,
मूर्धन् वत् ङीप्—उगितश्च,
मूर्धन्वत्यः—जस्।

वयस्या०—वयस्या ईंट निर्दिष्ट हों तो मतुप् का लुक् होता है। इसका भाव यह है कि जहाँ केवल मूर्धन् शब्द ही होता है तथा वयस् शब्द न हो तो वहाँ उक्त लुक् नहीं होता है। मूर्धवतः ऐसा कहा जाना चाहिए था; परन्तु 'मूर्ध्नः' ऐसा कहा गया है। मतुप् के भावी लोप को दृष्टि में रखकर ऐसा कहा गया है।

(1869) मत्वर्थे मासतन्वोः *128* (3474)

यस्मिन्नर्थे मतुब्विहितस्तस्मिंश्छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो

भवति मासतन्वोः प्रत्ययार्थविशेषणयोः। प्रथमासमर्थादस्त्युपाधिकात्षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यत्प्रत्ययो भवति। मत्वर्थीयानामपवादः। नभांसि विद्यन्ते यस्मिन्मासे नभस्यो मासः (तै०सं० 1.4.14.1)। सहस्यः (तै०सं० 1.4.13.1)। तपस्यः (तै०सं० 1.4.13.1)। मधव्यः (तै०सं० 5.2.9.3)। नभःशब्दोऽभ्रेषु वर्त्तते। तन्वां खल्वपि-ओजोऽस्यां विद्यते ओजस्या तनूः, रक्षस्या तनूः (मै०सं० 2.3.1)। मासतन्वोरिति किम्? मधुमता पात्रेण चरति। *मासतन्वोरनन्तरार्थे वा* (म०भा०) मध्वस्मिन्नस्ति मध्वस्मिन्ननन्तरमिति वा मधव्यो मासः। *लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः* (म०भा०)। लुक् तावत्–तपश्च तपस्यश्च, नभश्च नभस्यश्च, सहश्च सहस्यश्च (तै०सं० 1.4.14.1)। नपुसंकलिङ्गं छान्दसत्वात्। अकारः–इषो मासः, ऊर्जो मासः। इकारः–शुचिर्मासः। रेफः–शुक्रो मासः (तै०सं० 1.4.14.1)।

अर्थ—जिस अर्थ में 'मतुप्' का विधान किया गया है, उस अर्थ में 'मास' तथा 'तनू' अर्थ अभिधेय रहते प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, वेद के विषय में। प्रथमा समर्थ अस्ति उपाधि वाले से षष्ठ्यर्थ व सप्तम्यर्थ में 'यत्' प्रत्यय होता है। यह मत्वर्थीय प्रत्ययों का अपवाद है।

उदा० (1) नभस्यो मास: (वा०सं०14.15)
नभांसि विद्यन्ते यस्मिन् मासे—नभस् यत्,
नभस्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) सहस्य: (पूर्ववत्)।
(3) तपस्य: (पूर्ववत्)।
(4) मधव्य: (तै०सं०5.2.9.3)
पूर्ववत्।

(5) ओजस्या तनू: (मै०2.3.1)
पूर्ववत्।

(6) रक्षस्या (मै०2.3.1)
पूर्ववत्।

मासतन्वो० अर्थात् मास तथा तनू अभिधेय रहते 'यत्' होता है—

(7) मधुमता—यहाँ नहीं हुआ।

मासतन्वो०—मास तथा तनु अर्थों में और अनन्तर अर्थ में 'यत्' होता है—

(8) मधव्यो मासः
मध्वस्मिन्नस्ति, मध्वस्मिन्ननन्तरम्।

लुगकारे०—यत् प्रत्यय का लुक्, अकार, इकार और रेफ प्रत्यय होते हैं—

(9) तपश्च तपस्यश्च।
तपांसि विद्यन्ते अस्मिन्। यत् हुआ। लुक् हुआ।

(10) नभश्च नभस्यश्च
(11) सहश्च सहस्यश्च।
तीनों लुक् के उदाहरण हैं।

(1870) मधोर्ञ च *129* (3475)

मधुशब्दान्मत्वर्थे ञः प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च, उपसंख्यानाल्लुक् च। माधवः (तै०सं० 1.4.14.1)। मधव्यः (तै०सं० 5.2.9.3)। मधुः (तै०सं० 1.4.14.1)। तन्वां खल्वपि–माधवा, मधव्या, मधुः, तनूः।

अर्थ—वेद के विषय में मतुप् के अर्थ में 'मास्' व 'तनू' अर्थ अभिधेय होने पर प्रथमान्त समर्थ मधु शब्द से 'ञ' तथा 'यत्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) माधव:
मधु ञ—आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

(2) मधव्य:
मधु यत् सु।

(3) मधु:
प्रत्यय का लुक्।

(4) माधवा
माधव।

(5) मधव्या
टाप् हुआ।

(6) मधु:
प्रत्यय का लुक्।

(1871) ओजसोऽहनि यत्खौ *130* (3476)

मत्वर्थ इत्येव। ओजःशब्दान्मत्वर्थे यत्खौ प्रत्ययौ भवतोऽहन्यभिधेये। ओजसस्यमहः, ओजसीनमहः।

अर्थ—मत्वर्थ में दिन अर्थ अभिधेय हो तो 'ओजस्' प्रातिपदिक से 'यत्' और 'ख' प्रत्यय होते हैं, वेद के विषय में।

उदा० (1) ओजस्यमहः
ओजस् यत् सु।

(2) ओजसीनम् अहः

(1872) वेशोयशआदेर्भगाद्यल् *131* (3477)

मत्वर्थ इत्येव। वेशोयशसी आदौ यस्य प्रातिपदिकस्य तस्माद्वेशोयशआदेर्भगान्तात् प्रातिपदिकान्मत्वर्थे यल् प्रत्ययो भवति। लकारः स्वरार्थः। वेशोभगो विद्यते यस्य स वेशोभग्यः। यशोभग्यः। वेश इति बलमुच्यते। श्रीकाम-प्रयत्नमाहात्म्यवीर्ययशस्सु भगशब्दः। वेशश्चासौ भगश्च वेशो बलं श्रीप्रभृति भगः, सोस्यास्तीति वेशोभग्यः।

अर्थ—मत्वर्थ के 'वेशस्' व 'यशस्' पूर्वक 'भग' प्रातिपदिक से 'यल्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) वेशोभग्यः
वेशोभग यल्—'यल्' हुआ,
वेशोभग्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) यशोभग्यः
यशोभग यल्—पूर्ववत्,
यशोभग्य सु—विभक्तिकार्य।

(1873) ख च *132* (3478)

वेशोयशआदेर्भगान्तात्प्रातिपदिकान्मत्वर्थे खः प्रत्ययो भवति। योगविभागो यथासंख्यनिरासार्थ उत्तरार्थश्च। चकाराद्यत्। वेशोभग्यः। वेशोभगीनः। यशोभग्यः। यशोभगीनः।

अर्थ—वेद के विषय में मत्वर्थ में 'वेशस्' और 'यशस्' शब्द पूर्वक 'भग' प्रातिपदिक से 'ख' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वेशोभग्यः (पूर्ववत्)।
(2) वेशोभगीनः
वेशोभग ख सु।

(3) यशोभग्यः (पूर्ववत्)।
(4) यशोभगीनः
यशोभग ख सु।

(1874) पूर्वैः कृतमिनयौ च *133* (3479)

मत्वर्थ इति निवृत्तम्। निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। पूर्वशब्दात्तृतीयासमर्थात्कृतमित्येतस्मिन्नर्थ इन य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, चकारात्ख च। गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणैः (काठ०सं० 9.6.19)। पूर्व्यैः (तै०सं० 1.8.5.2)। पूर्वीणैः। पूर्वैरिति बहुवचनान्तेन पूर्वपुरुषा उच्यन्ते। तत्कृताः पन्थानः प्रशस्ता इति पथां प्रशंसा।

अर्थ—वेद के विषय मे 'किया हुआ' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ पूर्व प्रातिपदिक से 'इन' और 'य' प्रत्यय होते हैं तथा 'ख' होता है।

उदा० (1) पूर्विणैः
पूर्व इन → पूर्विण भिस्—णत्व, ऐस् आदेश।

(2) पूर्व्यैः
पूर्व य भिस्।

(3) पूर्वीणैः
पूर्व ख—ईनादेश,
पूर्वीण भिस्—अतो भिस ऐस्।

(1875) अद्भिः संस्कृतम् *134* (3480)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। अप्शब्दात्तृतीयासमर्थात्संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति। यस्येदमप्यं हविः (ऋ० 10.86.12), अद्भिः संस्कृतमिति।

अर्थ—वेद के विषय में 'संस्कृत किया गया' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'अप्' प्रातिपदिक से 'यत्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अप्यम्
अद् → अप् यत् सु—विभक्तिकार्य।

(1876) सहस्रेण सम्मितौ घः *135* (3481)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। सहस्रशब्दात्तृतीयासमर्थात् सम्मितावित्येतस्मिन्नर्थे घः प्रत्ययो भवति। सम्मितस्तुल्यः सदृशः। अयमग्निः संहस्रियः (तै०सं० 4.7.13.4)। सहस्रतुल्य इत्यर्थः। केचित्तु समिताविति पठन्ति। तत्रापि समित्या सम्मित एव लक्षयितव्यः, तत्र छन्दसि प्रयोगदर्शनात्।

अर्थ—वेद के विषय में 'तुल्य' अर्थ अभिधेय हो तो तृतीयान्त समर्थ 'सहस्र' प्रातिपदिक से 'घ' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सहस्रियः
सहस्रेण सम्मितिः—'छ' हुआ,
सहस्र इय—इयादेश,
सहस्रिय सु—सु।

(1877) मतौ च *136* (3482)

मत्वर्थे च सहस्रशब्दाद् घः प्रत्ययो भवति। सहस्रमस्य विद्यते सहस्रियः। 'तपःसहस्राभ्यां विनीनी' (5.2.102), 'अण् च' (5.2.103) इत्यनयोरपवादः।

अर्थ—वेद के विषय में मत्वर्थ में तृतीयान्त समर्थ सहस्र प्रातिपदिक से 'घ' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सहस्रियः
सहस्रम् अस्य विद्यते—
सहस्र घ—पूर्ववत्।

(1878) सोममर्हति यः *137* (3483)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। सोमशब्दाद् द्वितीयासमर्थादर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति। सोममर्हन्ति सोम्या ब्राह्मणाः (तै०सं० 2.1.2.9)। यज्ञार्हा इत्यर्थः। यति प्रकृते यग्रहणम्। स्वरे विशेषः।

अर्थ—'अर्हति' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'सोम' प्रातिपदिक से 'य' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) सोम्या ब्राह्मणाः
सोमम् अर्हति—'य' हुआ,
सोम य जस्—विभक्तिकार्य।

(1879) मये च *138* (3484)

सोमग्रहणं यश्चानुवर्त्तते। मय इति मयडर्थो लक्ष्यते। सोमशब्दान्मयडर्थे यः प्रत्ययो भवति। आगतविकारावयवप्रकृता मयडर्थाः। 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः' (4.3.81), 'मयट् च' (4.3.82), 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' (4.3.143), 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (5.4.21) इति। तत्र यथायोगं समर्थविभक्तिः। पिबाति सोम्यं मधु (ऋ० 8.24.13)। सोममयमित्यर्थः।

अर्थ—वेद के विषय में 'मयट्' अर्थ में 'सोम' शब्द से 'य' होता है।

'मयड्वैतयो—' से विकार और अवयव अर्थों में 'मयट्' होता है। जिन-जिन अर्थों में 'मयट्' होता है, उन-उन अर्थों में सूत्रोक्त 'य' होता है।

उदा० (1) सोम्यः
सोम य सु।

(1880) मधोः *139* (3485)

यशब्दो निवृत्तः। मधुशब्दान्मयडर्थे यत् प्रत्ययो भवति। मधव्यान् स्तोकान् (पै० 1.88.2)। मधुमयानित्यर्थः।

अर्थ—'मयट्' के अर्थ में 'मधु' शब्द से 'यत्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) मधव्यान्
मधु यत् → मधव्य शस्।

(1881) वसोः समूहे च *140* (3486)

वसुशब्दात् समूहे वाच्ये यत् प्रत्ययो भवति चकारान्मयडर्थे च। यथायोगं समर्थविभक्तिः। वसव्यः समूहः, मयडर्थो वा। *अक्षरसमूहे छन्दसः स्वार्थ उपसंख्यानम्* (म० भा०)। ओश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरम्, ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कारः, एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञो मन्त्रे विहितः (म०सं० 1.4.11)। सप्तदशाक्षराण्येव छन्दस्य इत्यर्थः। छन्दःशब्दादक्षरसमूहे वर्त्तमानात् स्वार्थे यत् प्रत्ययः। *वसुशब्दादपि यद्वक्तव्यः* (म०भा०)। हस्तौ गृहीतस्य बहुभिर्वसव्यैः (तै०सं० 1.2.13.2)। वसुभिरित्यर्थः। अग्निरीशे वसव्यस्य (ऋ० 4.55.8)। वसोरित्यर्थः।

अर्थ—वेद के विषय में 'समूह' तथा 'मयट्' प्रत्यय के अर्थों में 'वसु' से 'यत्' होता है। यथायोग समर्थ विभक्ति जाननी चाहिए।

उदा० (1) वसव्यः
वसु यत् सु।

अक्षर०—अक्षरसमूह अर्थ में वर्त्तमान 'छन्दस्' शब्द से स्वार्थ में 'यत्' होता है—

(2) ओश्रावय—ये चार अक्षर हैं।
(3) अस्तु श्रौषड्—ये चार अक्षर हैं।
(4) यज—दो अक्षर हैं।
(5) ये यजामहे—ये पाँच अक्षर हैं।
(6) वषट्कारः एष वै—यह सप्ताक्षर है।
छन्दस्यः।

(1882) नक्षत्राद् घः *141* (3487)

नक्षत्रशब्दाद् घः प्रत्ययो भवति स्वार्थे। समूह इति नानुवर्त्तते। नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा (वा०सं० 12.28)।

अर्थ—नक्षत्र शब्द से स्वार्थ में 'घ' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा
नक्षत्र घ—इयादेश।

(1883) सर्वदेवात्तातिल् *142* (3488)

सर्वदेवशब्दाभ्यां तातिल् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये स्वार्थिकः। सुर्वतांतिम् (ऋ० 10.36.14)। देवतांति (ऋ० 3.19.2)।

अर्थ—वेद के विषय में स्वार्थ में सर्व तथा देव प्रातिपदिकों से 'तातिल्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सर्वतातिः
सर्व एव → सर्व तातिल्—सु हुआ।
(2) देवतातिः
देव तातिल्।

(1884) शिवशमरिष्टस्य करे *143* (3489)

करोतीति करः, प्रत्ययार्थः। तत्सामर्थ्यलभ्या षष्ठी समर्थविभक्तिः। शिवादिभ्यः शब्देभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः कर इत्येतस्मिन्नर्थे तातिल् प्रत्ययो भवति। शिवं करोतीति शिवतातिः (पै० 5.36.1)। शन्तांतिः (ऋ० 8.18.7)। अरिष्टतांतिः (ऋ० 10.60.8)।

अर्थ—'करने वाला' अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ शिव, शम् और अरिष्ट प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'तातिल्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) शिवतातिः
शिवस्यः करः → शिव तातिल् सु।
(2) शन्तातिः
शम् तातिल्।
(3) अरिष्टतातिः
अरिष्ट तातिल्।

(1885) भावे च *144* (3490)

भावे चार्थे छन्दसि विषये शिवादिभ्यस्तातिल् प्रत्ययो भवति। शिवस्य भावः शिवतातिः (पै०सं० 5.36.1)। शन्तांतिः (ऋ० 8.18.7)। अरिष्टतांतिः (ऋ० 10.60.8)। यतः पूर्णोऽवधिः, अतः परमन्यः प्रत्ययोऽधिक्रियते।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

समाप्तश्चायं चतुर्थाऽध्यायः ॥4॥

अर्थ—भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ शिव, शम् तथ अरिष्ट प्रातिपदिकों से 'तातिल्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) शिवतातिः
शिवस्य भावः—शिव तातिल्।
(2) शन्तातिः
शम् तातिल्।
(3) अरिष्टतातिः
अरिष्ट तातिल्।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां चतुर्थाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

समाप्तश्चाऽयं चतुर्थोऽध्यायः ॥4॥



अथ
पञ्चमाऽध्यायस्य प्रथमः पादः

(1886) प्राक् क्रीताच्छः *1* (1661)

तेन क्रीतम् (5.1.37) इति वक्ष्यति, प्रागेतस्मात् क्रीतसंशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामश्छप्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति–तस्मै हितम् (5.1.5) इति। वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक्। करभीय उष्ट्रः। अकरभीयः। अवत्सीयः। अर्थोऽवधित्वेन गृहीतः, न प्रत्ययः। तेन 'प्राक् ठञश्छ' इति नोक्तम्।

अर्थ—'तेन क्रीतम्' (5.1.37) का आगे पाठ किया जायेगा। इस सूत्र से पहले-पहले जिन अर्थों में प्रत्यय का विधान किया गया है, उन अर्थों में 'छ' औत्सर्गिक प्रत्यय होगा—यह अधिकार जानना चाहिए। यथा—

तस्मै हितम्—वत्सीयः, करभीयः, अकरभीयः, अवत्सीयः। अवधि के द्वारा अर्थ गृहीत होता है, प्रत्यय नहीं। अतः पहले 'ठञ्' के स्थान पर छ हो—ऐसा नहीं कहा गया।

(1887) उगवादिभ्यो यत् *2* (1662)

प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्तात् प्रातिपदिकाद्गवादिभ्यश्च यत्प्रत्ययो भवति प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु। छस्यापवादः। शङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पासः। कमण्डलव्या मृत्तिका। गवादिभ्यः खल्वपि–गव्यम्, हविष्यम्। सनङ्गुर्नाम चर्मविकारः, ततः परत्वाच्चर्मणोऽञ् (5.1.15) इत्येष विधिः प्राप्नोति। तथा चरुर्नाम हविः। सक्तुरन्नविकारः। अपूपादिष्वन्नविकारेभ्यश्चेति (ग०सू० 109) पठ्यते। ततो विभाषा हविरपूपादिभ्यश्च (5.1.4) इत्येष विधिः प्राप्नोति। तत्र सर्वत्र पूर्वविप्रतिषेधेन यत् प्रत्यय एवेष्यते–सनङ्गव्यं चर्म। चरव्यास्तण्डुलाः। सक्तव्या धाना इति। गवादिषु नाभि नभं च (ग०सू० 106) इति पठ्यते। तस्यायमर्थः–नाभिशब्दो यत्प्रत्ययमुत्पादयति नभं चादेशमापद्यत इति। नाभये हितो नभ्योऽक्षः। नभ्यमञ्जनम्। यस्तु शरीरावयवो नाभिशब्दस्ततः शरीरावयवाद्यत् (5.1.6) इति यति कृते नाभये हितं नाभ्यं तैलमिति भवितव्यम्। गवादिषु यता सन्नियुक्तो नभभावोऽत्र न भवति। गो। हविस्। बर्हिष्। खट। अष्टका। युग। मेधा। स्रक्। *नाभि नभं च* (ग०सू० 106)। *शुनः सम्प्रसारणं वा दीर्घत्वं च तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्*। शुन्यम्। शून्यम्। चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् नस्तद्धिते (6.4.144) इति लोपो न स्यात्। *ऊधसोऽनङ् च* (ग०सू० 108)। ऊधन्यः कूपः। उदर। खर। स्खद। अक्षर। विषगवादिः।

अर्थ—'प्राक् क्रीतात्' का अनुवर्त्तन है। प्राक् क्रीतीय अर्थों में उवर्णान्त प्रातिपदिक तथा गवादि गण में पठित प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) शङ्कव्यं दारु
शङ्कवे हितम् → शङ्कु यत्—ओर्गुणः।
शङ्कव्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) पिचव्यः
पिचु यत् सु।

(3) कमण्डलव्या मृत्तिका (पूर्ववत्)।

(4) गव्यम्
गो यत्—पूर्ववत्।

(5) हविष्यम्
हविस् यत् सु।

'सनङ्गु' यह चमड़े से बनी किसी वस्तु का नाम है, इससे परवर्त्ती होने से 'चर्मणोऽञ्' से 'अञ्' प्राप्त हुआ। 'चरु' हवि है। 'सक्तु' यह अन्नविकार है। 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' के अन्तर्गत अपूपादि में 'अन्नविकारेभ्यश्च' यह वचन पठित है। अतः इस सूत्र की विधि प्राप्त होती है, परन्तु पूर्वविप्रतिषेध मानकर इन सभी से 'यत्' होता है—

(6) सनङ्गव्यं चर्म।
(7) चरव्यास्तण्डुलाः।
(8) सक्तव्या धानाः।
(9) नभ्यः
नाभये हितः—नाभि शब्द से 'यत्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'नभ' आदेश होता है,[1]

1. नाभि नभं च—ग०सू०

नभ यत्—सु हुआ।
इसी प्रकार नभ्यम् अञ्जनम्।

(10) नाभ्यम् (तैलम्)

यह जो शरीर का अवयव 'नाभि' शब्द होता है, उससे 'शरीरवयवाद्यत्' सूत्र से 'यत्' करने पर यह रूप बनता है। गवादिलक्षण यत् प्रत्यय परे रहते 'नभ' आदेश भी नहीं होता।

शुनः सम्प्र०—श्वन् शब्द को सम्प्रसारण होता है तथा विकल्प से दीर्घादेश होता है और अन्तोदात्त होता है—

(11) शुन्यम्
श्वन् यत्—सम्प्रसारण,
श् उ अन् य—सम्प्रसारणाच्च,
शुन्यम्—सु।

(12) शून्यम्
पक्ष में दीर्घ हुआ।

चकार अनुक्त समुच्चय के लिए होने से 'नस्तद्धिते' से लोप भी नहीं होता है।

(13) ऊधन्यः
ऊधस् यत्—अनङ् आदेश,[1]
ऊधनङ् य—हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु०,
ऊधन्य सु—विभक्तिकार्य।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1888) कम्बलाच्च संज्ञायाम् *3* (1663)

कम्बलात्प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यत्प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये। छस्यापवादः। कम्बल्यमूर्णापलशतम्। संज्ञायामिति किम्? कम्बलीया ऊर्णा।

अर्थ—प्राक्क्रीतीय अर्थों में कम्बल प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) कम्बल्यम्
कम्बल यत्—सु आदि।

संज्ञायां अर्थात् **संज्ञा** गम्यमान हो तो 'यत्' होता है—

(2) कम्बलीया ऊर्णा
कम्बल छ—'यत्' नहीं हुआ,
कम्बलीय टाप्—सु आदि।

(1889) विभाषा हविरपूपादिभ्यः *4* (1664)

हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु विभाषा यत् प्रत्ययो भवति। आमिक्ष्यं दधि। आमिक्षीयं दधि। पुरोडाश्यास्तण्डुलाः। पुरोडाशीयाः। हविश्शब्दात्तु गवादिपाठान्नित्यमेव भवति। अपूपादिभ्यः- अपूप्यम्। अपूपीयम्। तण्डुल्यम्। तण्डुलीयम्। अपूप। तण्डुल। अभ्यूष। अभ्योष। पृथुक। अभ्येष। अर्गल। मुसल। सूप। कटक। कर्णवेष्टक। किण्व। *अन्नविकारेभ्यश्च* (ग०सू० 109)। पूप। स्थूणा। पीप। अश्व। पत्र-अपूपादिः।

अर्थ—प्राक्क्रीतीय अर्थों में हविविशेषवाची तथा अपूप आदि प्रातिपदिकों से 'यत्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (क) हविर्वाचिभ्यः—

(1) आमिक्ष्यं दधि
आमिक्षा यत्—विभक्तिकार्य।

(2) आमिक्षीयं दधि
पक्ष में 'छ' हुआ।

(3) पुरोडाश्यः
पुरोडाश यत्।

(4) पुरोडाशीयः
पुरोडाश छ।

हविस् शब्द के गवादि गण में पाठ होने से नित्य 'यत्' होता है।

(ख) अपूपादिभ्यः—

(5) अपूप्यम्
अपूप यत् सु।

(6) अपूपीयम्
पक्ष में 'छ'।

(7) तण्डुल्यम्
तण्डुल यत् सु।

(8) तण्डुलीयम्
पक्ष में 'छ'।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1890) तस्मै हितम् *5* (1665)

तस्मै इति चतुर्थीसमर्थाद्धितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। वत्सेभ्यो हितो गोधुक् वत्सीयः। अवत्सीयः। पटव्यम्। गव्यम्। हविष्यम्। अपूप्यम्। अपूपीयम्।

---
1. ऊधसोऽनङ् च—ग०सू०।

अर्थ—हित अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वत्सीयः
वत्सेभ्यो हितः।

(2) अवत्सीयः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1891) शरीरावयवाद्यत् *6* (1666)

शरीरं प्राणिकायः। शरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकाद्यत् प्रत्ययो भवति तस्मै हितमित्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। दन्त्यम्। कण्ठ्यम्। ओष्ठ्यम्। नाभ्यम्। नस्यम्।

अर्थ—चतुर्थ्यन्त समर्थ शरीर के अवयववाची प्रातिपदिक से 'यत्' प्रत्यय होता है, हित अर्थ में। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) दन्त्यम्
दन्तेभ्यो हितम्—यत्, सु।

(2) कण्ठ्यम्
कण्ठ यत् सु।

(3) नाभ्यम् (पूर्ववत्)।
(4) नस्यम् (पूर्ववत्)।

(1892) खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च *7* (1668)

खलादिभ्यो यत्प्रत्ययो भवति तस्मै हितमित्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। खलाय हितं खल्यम्। यव्यम्। माष्यम्। तिल्यम्। वृष्यम्। ब्रह्मण्यम्। वृष्णे हितम्, ब्राह्मणेभ्यो हितमिति वाक्यमेव भवति। छप्रत्ययोऽपि न भवति, अनभिधानात्। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः–रथाय हिता रथ्या।

अर्थ—चतुर्थ्यन्त समर्थ खल, यव, माष, तिल, वृष और ब्रह्मन् प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है, हित अर्थ में। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) खल्यम्
खलाय हितम्

(2) यव्यम्
यवाय हितम्।

(3) माष्यम्
माषाय हितम्।

(4) तिल्यम्
तिलेभ्यो हितम्।

(5) वृष्यम् (पूर्ववत्)।
(6) ब्रह्मण्यम् (पूर्ववत्)।

ब्राह्मणेभ्यो हितम्—इस प्रकार वाक्य ही होता है। कथन न होने से 'छ' प्रत्यय भी नहीं होता है। चकार अनुक्त समुच्चय के लिए है। यथा—

(7) रथ्या
रथाय हिता।

(1893) अजाविभ्यां थ्यन् *8* (1669)

अज अवि इत्येताभ्यां थ्यन् प्रत्ययो भवति तस्मै हितमित्येतस्मिन्विषये। छस्यापवादः। अजथ्या यूथिः। अविथ्या।

अर्थ—हित अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ अज व अवि प्रातिपदिकों से 'थ्यन्' प्रत्यय होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) अजथ्या
अजाय हिता → अज थ्यन्—टाप्, सु आदि।

(2) अविथ्या
अवि थ्यन्—पूर्ववत्।

(1894) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः *9* (1670)

आत्मन् विश्वजन इत्येताभ्यां भोगोत्तरपदाच्च प्रातिपदिकात्खः प्रत्ययो भवति तस्मै हितमित्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। आत्मन्निति नलोपो न कृतः, प्रकृतिपरिमाणज्ञापनार्थम्, तेनोत्तरपदग्रहणं भोगशब्देनैव सम्बध्यते, न तु प्रत्येकम्। आत्मने हितम् आत्मनीनम् (पै०सं० 5.14.8)। आत्माध्वानौ खे (6.4.169) इति प्रकृतिभावः। विश्वजनेभ्यो हितं विश्वजनीनम्। *कर्मधारयादेवेष्यते*। षष्ठीसमासाद् बहुव्रीहेश्च छ एव भवति–विश्वजनाय हितं विश्वजनीयम्। *पञ्चजनादुपसंख्यानम्* (म०भा०)। पञ्चजनाच्च खः। अत्रापि कर्मधारयादिष्यते–पञ्चजनीनम्। अन्यत्र पञ्चजनीयम्। *सर्वजनाट्ठञ् खश्च*। सार्वजनिकम्। सर्वजनीनम्। अत्रापि कर्मधारयादेव। सर्वजनीयमन्यत्। *महाजनान्नित्यं ठञ् वक्तव्यः*। महाजनाय हितं माहाजनिकम्। तत्पुरुषादेव। बहुव्रीहेस्तु छ एव भवति–महाजनीयम्। भोगोत्तरपदात् खल्वपि–मातृभोगीणः, पितृभोगीणः।

भोगशब्दः शरीरवाची। केवलेभ्यो मात्रादिभ्यश्छ एव भवति। मात्रीयः, पित्रीयः। *राजाचार्याभ्यां तु नित्यम्*। भोगोत्तरपदाभ्यामेव खः प्रत्यय इष्यते, न केवलाभ्याम्। राजभोगीनः। *आचार्यादणत्वं च* (म० भा०)। आचार्यभोगीनः। केवलाभ्यां वाक्यमेव भवति-राज्ञे हितम्। आचार्याय हितमिति।

अर्थ—हित अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ आत्मन्, विश्वजन तथा भोग शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है। यह 'छ' का अपवाद है। सूत्र में 'आत्मन्' के नकार का लोप नहीं किया है। ऐसा प्रकृति के परिमाण के ज्ञापन के लिए किया गया है। 'उत्तरपद' शब्द का केवल 'भोग' शब्द के साथ सम्बन्ध है; प्रत्येक शब्द के साथ नहीं।

उदा० (1) आत्मनीनम्
आत्मने हितम्—ख हुआ, ईन आदेश,
आत्मन् ईन सु—'आत्माऽध्वानौ खे' से प्रकृतिभाव, विभक्ति-कार्य।

(2) विश्वजनीनम्
विश्वजन ख सु।

कर्मधारय—कर्मधारय समास से प्रत्यय होता है। षष्ठी समास बहुव्रीहि से 'छ' ही होता है—

(3) विश्वजनीयम्
विश्वजनाय हितम्—'छ' हुआ।

पञ्चजना—पञ्चजन शब्द से 'ख' होता है—

(4) पञ्चजनीनम्
यहाँ भी कर्मधारय से प्रत्यय होता है। 'ख' हुआ।

(5) पञ्चजनीयम्
अन्यत्र 'छ' होता है।

सर्वजना—सर्वजन शब्द से 'ठञ्' और 'ख' होते हैं—

(6) सार्वजनिकम्
सर्वजन ठञ् सु।

(7) सर्वजनीनम्
सर्वजन ख। यहाँ भी कर्मधारय से होता है।

(8) सर्वजनीयम्
अन्यत्र 'छ' होता है।

महाजना—महाजन शब्द से नित्य 'ठञ्' होता है—

(9) माहाजनिकम्
महाजनाय हितम्। यह तत्पुरुष से हुआ है।

(10) महाजनीयम्
बहुव्रीहि से 'छ' हुआ है।

(11) मातृभोगीणः
मातृभोग ख—णत्व सु।

(12) पितृभोगीणः (पूर्ववत्)।

शरीरवाची भोग शब्द है। केवल मातृ आदि शब्दों से 'छ' ही होता है—

(13) मात्रीयः
मातृ छ सु—ईय, इको यणचि।

(14) पित्रीयः
पितृ छ—पूर्ववत्।

राजाचार्या०—राजन् तथा आचार्य शब्द हैं पूर्व में जिसके, ऐसे 'भोग' शब्द से नित्य 'ख' होता है—

(15) राजभोगीनः
राज भोग ख।

(16) आचार्यभोगीनः (पूर्ववत्)।

यहाँ 'आचार्यदणत्वं च' (5.1.9.वा०) से णत्व का निषेध हो गया है।

केवल राजन् और आचार्य शब्दों से प्रत्यय नहीं होता—
राज्ञे हितम्। आचार्याय हितम्।

(1895) सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ *10* (1672)

सर्वपुरुषाभ्यां यथासंख्यं णढञौ प्रत्ययौ भवतः तस्मै हितम् (5.1.5) इत्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। सर्वस्मै हितं सार्वम्। पौरुषेयम्। *सर्वाण्णस्य वा वचनम्* (म० भा०)। सर्वीयम्। *पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्*। पौरुषेयो वधः, विकारः, समूहो वा। तेन कृतः पौरुषेयो ग्रन्थः।

अर्थ—हित अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ सर्व तथा पुरुष प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'ण' तथा 'ढञ्' प्रत्यय होते हैं। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) सार्वम्
सर्वस्मै हितम् → सर्व ण—चुटू, आदिवृद्धि,
सार्व सु—विभक्तिकार्य।

(2) पौरुषेयम्
पुरुष ढञ्—आदिवृद्धि, एयादेश,. सु।

सर्वाण्ण—सर्व शब्द से 'ण' विकल्प से होता है।

(3) सर्वीयम्
पक्ष में 'छ' हुआ।

पुरुषाद्–वध, विकार, समूह तथा तेन कृतः—इन अर्थों में पुरुष शब्द से प्रत्यय होता है—

(4) पौरुषेयो वधो/विकारः/समूहः/तेन कृतः।

(1896) माणवचरकाभ्यां खञ् *11* (1673)

माणवचरकशब्दाभ्यां खञ् प्रत्ययो भवति तस्मै हितम् (5.1.5) इत्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। माणवाय हितं माणवीनम्। चारकीणम्।

अर्थ—हित अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ माणव तथा चरक प्रातिपदिकों से 'खञ्' होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) माणवीनम्
माणवाय हितम्—खञ्, ईन आदेश, सु।

(2) चारकीणम्
चरक ईन सु।

(1897) तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ *12* (1674)

प्रकृतिरुपादानकारणम्, तस्यैव उत्तरमवस्थान्तरं विकृतिः। विकृतिवाचिनः प्रातिपदिकात्प्रकृतावभिधेयायां यथाविहितं प्रत्ययो भवति। तदर्थमिति प्रत्ययार्थविशेषणम्, तदिति सर्वनाम्ना विकृतिः परामृश्यते, विकृत्यर्थायां प्रकृतौ प्रत्ययः। तदर्थग्रहणेन प्रकृतेरनन्यार्थताख्यायते, न प्रकृतिविकारसम्भवमात्रे प्रत्ययः, किन्तर्हि प्रकृतेरनन्यार्थत्वे विवक्षिते। प्रत्ययार्थस्य च तदर्थत्वे सति सामर्थ्याल्लभ्या चतुर्थी समर्थविभक्तिः। केचित्तु तस्मै हितमित्यनुवर्त्तयन्ति। अङ्गारेभ्यो हितानि एतानि काष्ठानि अङ्गारीयाणि काष्ठानि। प्राकारीया इष्टकाः। शङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पासः। तदर्थमिति किम्? यवानां धानाः। धानानां सक्तवः। प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिरत्र विवक्षिता, न तादर्थ्यम्–धानानां सक्तवो न लाजानामिति। विकृतेरिति किम्? उदकार्थः कूपः। विकृतिग्रहणे अक्रियमाणे या काचित्प्रकृतिर्गृह्यते, नोपादानकारणमेव। भवति च कूप उदकस्य प्रकृतिः तत्रोत्पादनात्। न तु उदकं तस्य विकृतिः, अत्यन्तभेदात्। प्रकृताविति किम्? अस्यर्था कोशी। असिरयसो विकृतिर्भवति, न तु कोशी तस्य प्रकृतिर्भवति। द्वयोरपि प्रकृतिविकृत्योर्ग्रहणे विवक्षितः प्रकृतिविकारभावो लभ्यते।

अर्थ—उपादान कारण को 'प्रकृति' कहते हैं। उसकी उत्तर परिवर्तित अवस्था को 'विकृति' कहते हैं। हित अर्थ में 'प्रकृति' अर्थ अभिधेय हो तो चतुर्थ्यन्त विकृतिवाची प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह प्रकृति विकृति के लिए हो।

तदर्थ—'तदर्थम्' पद प्रत्ययार्थ का विशेषण है। 'तद्' इस प्रकार सर्वनाम के द्वारा विकृति का ज्ञान होता है। विकृतिवाची के लिए 'प्रकृति' अभिधेय होने पर प्रत्यय होता है। 'तदर्थ' पद के ग्रहण से प्रकृति की अनन्य अर्थता कही जाती है। प्रकृति का विकार सम्भव होने मात्र पर प्रत्यय नहीं होता। प्रकृति की अनन्य अर्थता के कथित होने पर। प्रत्ययार्थ की तदर्थता होने पर सामर्थ्यवशात् चतुर्थी समर्थ विभक्ति प्राप्त होनी चाहिए। कुछ विद्वान् 'तस्मै हितम्' का अनुवर्त्तन करते हैं।

उदा० (1) अङ्गारीयाणि (काष्ठानि)
अङ्गारेभ्यो हितानि—'छ' हुआ।

(2) प्राकारीया इष्टकाः (पूर्ववत्)।

(3) शङ्कव्यम् (दारु)
शङ्कु यत् सु।

(4) पिचव्यः
पूर्ववत् यत्।

तदर्थम्—यदि प्रकृति विकृति के लिए हो तो 'छ' होता है—
यवानां धानाः, धानानां सक्तवः
यहाँ प्रत्यय नहीं होता है।

परिवर्तित प्रकृति की यहाँ निवृत्ति विवक्षित है, तादर्थ्य नहीं। यथा—

धानानां सक्तवः।

विकृते० अर्थात् विकृतिवाची शब्द से प्रत्यय होता है—
उदकार्थः कूपः—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

विकृति का ग्रहण होने से प्रकृति का ग्रहण होता है, उपादान कारण का नहीं। उदक की प्रकृति कूप है। वहाँ जल के उत्पन्न होने से। परन्तु उदक उसकी विकृति नहीं है। अत्यन्त भेद होने से।

प्रकृता० अर्थात् प्रकृति गम्यमान हो तो प्रत्यय होता है—
अस्यर्था कोशी—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

अयस् (= लोहा) का विकार असि है, परन्तु कोशी उसकी प्रकृति नहीं होती। प्रकृति और विकृति दोनों के ग्रहण में विवक्षित प्रकृति विकारभाव प्राप्त होता है।

(1898) छदिरुपधिबलेर्ढञ् *13* (1675)

छदिरादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् प्रत्ययो भवति तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ (5.1.12) इत्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। छादिषेयाणि तृणानि। औपधेयं दारु। बालेयास्तण्डुलाः। उपधिशब्दात् स्वार्थे प्रत्ययः। उपधीयत इत्युपधिः, रथाङ्गम्। औपधेयमपि तदेव दारु।

अर्थ—हित अर्थ में प्रकृति अर्थ अभिधेय हो तो चतुर्थ्यन्त विकृतिवाची छदिस्, उपधि तथा बलि प्रातिपदिकों से 'ढञ्' प्रत्यय होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) छादिषेयाणि (तृणानि)
छदिर्भ्यो हितानि—छदिस् ढञ्—विभक्तिकार्य।

(2) औपधेयं दारु
उपधि ढञ्—आदिवृद्धि, सु।

(3) बालेयास्तण्डुलाः
बलि ढञ् जस्—पूर्ववत्।

उपधि शब्द से स्वार्थ में प्रत्यय होता है।

(1899) ऋषभोपानहोर्ञ्यः *14* (1676)

ऋषभ उपानह् इत्येताभ्यां ञ्यः प्रत्ययो भवति तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ (5.1.12) इत्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। आर्षभ्यो वत्सः। औपानह्यो मुञ्जः। चर्मण्यपि प्रकृतित्वेन विवक्षिते पूर्वविप्रतिषेधादयमेवेष्यते-औपानह्यं चर्म।

अर्थ—हित अर्थ में प्रकृति अर्थ अभिधेय हो तो चतुर्थ्यन्त विकृतिवाची ऋषभ और उपानह् प्रातिपदिकों से 'ञ्य' होता है, यदि वह प्रकृति विकृति के लिए हो। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) आर्षभ्यः
ऋषभाय हितः—आदिवृद्धि, सु आदि।

(2) औपानह्यः
उपानह् ञ्य—पूर्ववत्।

चर्म अर्थ में भी प्रकृति के रूप में कहे जाने पर पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा यह होता है। यथा—
औपानह्यं चर्म।

(1900) चर्म्मणोऽञ् *15* (1677)

चर्मण इति षष्ठी। चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनः प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ (5.1.12) इत्येतस्मिन् विषये। छस्यापवादः। वार्ध्रं चर्म। वारत्रं चर्म।

अर्थ—प्रकृति अर्थ अभिधेय हो तो चतुर्थ्यन्त समर्थ चर्मनिर्मित विकृतिवाची शब्द से 'अञ्' होता है, हित अर्थ में; यदि वह प्रकृति विकृति के लिए हो। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) वारत्रम् (चर्म)
वरत्राय हितम् → वरत्र अञ्—
वारत्र सु—आदिवृद्धि।

(1901) तदस्य तदस्मिन् स्यादिति *16* (1678)

तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिः,अस्येति प्रत्ययार्थः, स्यादिति प्रकृतिविशेषणम्, इतिकरणो विवक्षार्थः। एवं द्वितीयेऽपि वाक्ये। सप्तम्यर्थे तु प्रत्यय इत्येतावान् विशेषः। प्रथमासमर्थात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं स्याच्चेत्तद्भवति। इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा। प्राकार आसामिष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टकाः। प्रासादीयं दारु। सप्तम्यर्थे खल्वपि-प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यात् प्राकारीयो देशः। प्रासादीया भूमिः। स्यादिति सम्भावनायां लिङ् सम्भावनेऽलमिति (3.3.154) चेदित्यादिना। इष्टकानां बहुत्वेन तत् सम्भाव्यते-प्राकार आसामिष्टकानां स्यादिति। देशस्य च गुणेन सम्भाव्यते-प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यादिति। प्रकृतिविकारभावस्तादर्थ्यं चेह न विवक्षितं, किं तर्हि? योग्यतामात्रम्, तेन पूर्वस्यायमविषयः। द्विस्तद्ग्रहणं न्यायप्रदर्शनार्थम्-अनेकस्मिन् प्रत्ययार्थे प्रत्येकं समर्थविभक्तिः सम्बन्धनीयेति। अथेह कस्मान्न भवति-प्रासादो देवदत्तस्य स्यादिति? गुणवानयं सम्भाव्यते, प्रासादलाभोऽस्येति। इतिकरणो विवक्षार्थ इत्युक्तम्।

अर्थ—'तद्' यह प्रथमा समर्थ विभक्ति है। 'अस्य' यह प्रत्ययार्थ है। 'स्यात्' प्रकृतिविशेषण है।'इति' विवक्षा के लिए है। इसी प्रकार द्वितीय वाक्य में भी जानना चाहिए। प्रत्यय सप्तमी के अर्थ में होता है—इतना विशेष है। यदि प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक 'स्यात्' क्रिया के साथ समानाधिकरण वाला हो तो उस शब्द से षष्ठ्यर्थ तथा सप्तम्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) प्राकारीया इष्टकाः
प्राकार आसाम् इष्टकानां स्यात्—छ, ईयादेश, जस्।

(2) प्रासादीयम् (दारु)
प्रासाद छ सु—पूर्ववत्।

(3) प्राकारीयः (देशः)
प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यात्—सप्तम्यर्थ में 'छ' हुआ।

(4) प्रासादीया (भूमिः)

स्यादिति—पूर्ववत् सप्तम्यर्थ में 'छ', स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ। 'स्यात्' यह सम्भावना में लिङ् है। सम्भावनेऽलम् इत्यादि। इष्टकों के बहुत्व होने से यह सम्भावना होती है। 'क्व प्राकार आसाम् इष्टकानां स्यात्' इस प्रकार देश के गुण के द्वारा सम्भावना होती है। यथा—प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यात्।

प्रकृति-विकारभाव तादर्थ्य यहाँ विवक्षित नहीं है। क्या योग्यता-मात्र विवक्षित है ? यह पूर्व का विषय है। न्याय के प्रदर्शन के लिए दो बार 'तद्' पद का ग्रहण किया गया है। अनेक प्रत्ययार्थ में प्रत्येक के साथ समर्थ विभक्ति का सम्बन्ध करना चाहिए। यहाँ क्यों नहीं होता ? प्रासादो देवदत्तस्य स्यात्—इस प्रकार।

(1902) परिखाया ढञ् *17* (1679)

परिखाशब्दाद् ढञ् प्रत्ययो भवति तदस्य तदस्मिन् स्यादिति (5.1.16) एतस्मिन्नर्थे। छस्यापवादः। पारिखेयी भूमिः। छयतोः पूर्णोऽवधिः, इतः परमन्यः प्रत्ययो विधी-यते।

अर्थ—षष्ठ्यर्थ तथा सप्तम्यर्थ में 'स्यात्' क्रिया के साथ समानाधिकरण वाले प्रथमान्त समर्थ परिखा प्रातिपदिक से 'ढञ्' होता है। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) पारिखेयी भूमिः
परिखा स्याद् अस्यां भूम्याम्—ढञ्, एयादेश, आदिवृद्धि, ङीप्, सु।

'छ' तथा 'यत्' की अवधि पूर्ण होती है। इससे आगे अन्य प्रत्यय का विधान किया गया है।

(1903) प्राग्वतेष्ठञ् *18* (1680)

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (5.1.115) इति वक्ष्यति। प्रागेतस्माद्वतिसंशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः ठञ् प्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति–पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्त्तयति (5.1.72)। पारायणिकः, तौरायणिकः, चान्द्रायणिकः।

अर्थ—'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (5.1.115) सूत्र का आगे पाठ किया जायेगा। इस सूत्र से पहले-पहले जिन अर्थों में प्रत्यय का विधान किया जायेगा, उनमें 'ठञ्' होता है—ऐसा अधिकार जानना चाहिए। 'पारायणतुरायण०' आदि सूत्र आगे कहे जायेंगे। मूल में प्रदर्शित उदाहरणों की सिद्धि के लिए 5.1.72 देखें।

(1904) आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् *19* (1681)

तदर्हति (5.1.63) इति वक्ष्यति। आ एतस्मादर्हसंशब्दानाद्यनित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः ठक् प्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यो गोपुच्छादीन् वर्जयित्वा। अभिविधावयमाकारः। तेनार्हत्यर्थेऽपि ठक् भवत्येव। ठञधिकारमध्ये तदपवादः ठग् विधीयते। वक्ष्यति–तेन क्रीतम् (5.1.37)। नैष्किकम्। पाणिकम्। अगोपुच्छसंख्यापरिमाणादिति किम् ? गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम्। संख्या–षाष्टिकम्। परिमाण–प्रास्थिकम्, कौडविकम्। ठञ् प्रत्युदाह्रियते। संख्यापरिमाणयोः को विशेषः ? भेदगणनं संख्या एकत्वादिः। गुरुत्वमानमुन्मानं पलादिः। आयाममानं प्रमाणं वितस्त्यादिः। आरोह-परिणाहमानं परिमाणं प्रस्थादिः।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः॥

अर्थ—आगे 'तदर्हति' सूत्र का पाठ किया जायेगा। 'अर्हति' अर्थपर्यन्त जिन अर्थों में प्रत्यय कहा जायेगा, उनमें 'ठक्' होता है, परन्तु गोपुच्छ, संख्या और परिमाणवाची शब्दों से यह नहीं होता—ऐसा अधिकार जानना चाहिए। 'आर्हात्' पद में अभिविधि अर्थ में 'आङ्' हुआ है। अतः अर्हति अर्थ में भी 'ठक्' होता है।

ठञ् के अधिकार के मध्य उसके अपवादस्वरूप 'ठक्' का विधान किया जा रहा है। यथा—तेन क्रीतम्।

उदा० (1) नैष्किकम्
निष्केन क्रीतम्।

(2) पाणिकम्
पूर्ववत्। इसुसुक्ता०।

अगोपुच्छ० अर्थात् गोपुच्छ, संख्या तथा परिमाणवाची से प्रत्यय नहीं होता है—

(3) गौपुच्छिकम्
ठक् नहीं हुआ, ठञ् हुआ है।

(4) षाष्टिकम् (पूर्ववत्)।

(5) प्रास्थिकम् (पूर्ववत्)।
(6) कौडविकम् (पूर्ववत्)।

संख्या०—संख्या तथा परिमाण में क्या विशेष है? भेदगणन संख्या कहलाता है। यथा—एकत्व आदि। गुरुत्व का मान 'उन्मान' होता है; यथा—पल आदि। आयाम का मान 'प्रमाण' होता है। यथा—वितस्ति आदि। आरोह के परिणाह का मान परिमाण होता है। यथा—प्रस्थ आदि।

ऊर्ध्वमानं—ऊर्ध्वमान को उन्मान तथा आयाम को प्रमाण कहते हैं। जो सभी ओर से होता है, उसे 'परिमाण' कहते हैं। सभी प्रकार से जो बाह्य होता है, उसे 'संख्या' कहते हैं।

(1905) असमासे निष्कादिभ्यः *20* (1682)

आर्हात् (5.1.19) इत्येव। निष्कादिभ्यः शब्देभ्योऽसमासे ठक् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु। ठञोऽपवादः। नैष्किकम्। पाणिकम्। पादिकम्। माषिकम्। असमास इति किम्? परमनैष्किकम्, उत्तमनैष्किकम्। ठञेव भवति। परिमाणान्तस्य (7.3.17) इत्युत्तरपदवृद्धिः। अथ किमर्थमसमास इत्युच्यते, यावता ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिः प्रतिषिध्यते? निष्कादिष्वसमासग्रहणं ज्ञापकं पूर्वत्र तदन्ताप्रतिषेधस्य, उगवादिभ्यो यत् (5.1.2)–गव्यम्, सुगव्यम्, अतिसुगव्यम्। विभाषा हविरपूपादिभ्यः (5.1.4) अपूप्यम्, अपूपीयम्; यवापूप्यम्, यवापूपीयम्। शरीरावयवाद्यत् (5.1.6) दन्त्यम्, राजदन्त्यमित्येवमादि सिद्धं भवति। इत उत्तरं च संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरिष्यते, पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति (5.1.72) द्वैपारायणिकः, त्रैपारायणिकः। लुगन्तायास्तु प्रकृतेर्नेष्यते–द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्। त्रिशूर्पम्। द्विशूर्पेण क्रीतमिति तदन्तविधिप्रतिषेधात् शूर्पादञन्यतरस्याम् (5.1.26) इत्यञ् न भवति, सामान्यविहितष्ठञेव भवति–द्विशौर्पिकम् (म० भा०)। ठञो द्विगुं प्रत्यनिमित्तत्वाल्लुगभावः। तथा चोक्तम्–प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकीति। निष्क। पण। पाद। माष। वाह। द्रोण। षष्टि–निष्कादिः।

अर्थ—'तद् अर्हति' अर्थपर्यन्त सभी अर्थों में निष्क आदि प्रातिपदिकों से 'ठक्' होता है, यदि वे समास में न हों। यह 'ठञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) नैष्किकम्
निष्केण क्रीतम्—आदिवृद्धि, सु।

(2) पादिकम् (पूर्ववत्)।
(3) माषिकम्
(माष ठक्)।

असमासे—यदि समास में न हो तो प्रत्यय होता है—

(4) परमनैष्किकम्
'ठक्' नहीं हुआ। 'ठञ्' हुआ।
(5) उत्तमनैष्किकम् (पूर्ववत्)।

परिमाणान्त होने से उत्तरपद की वृद्धि होती है।

ग्रहणवान् प्रातिपदिक से तदन्तविधि का निषेध किया जाता है। तब सूत्र में 'असमासे' का पाठ व्यर्थ है।

(समा०) निष्क आदि में 'असमासे' पद का ग्रहण पूर्वोक्त तदन्तविधि के निषेध का ज्ञापक है। 'उगवादिभ्यो यत्'।

(6) गव्यम्
(7) सुगव्यम्
(8) अतिसुगव्यम्
सर्वत्र 'यत्' हुआ है।
(9) अपूप्यम्
(10) यवापूप्यम्
दोनों स्थलों पर 'विभाषा हविरपू०' से पाक्षिक 'यत्' हुआ।
(11) अपूपीयम्
(12) यवापूपीयम्
दोनों स्थलों पर पक्ष में 'छ' हुआ है।
(13) दन्त्यम्
'शरीरावयवाद्यत्' से 'यत्' हुआ।

इससे आगे संख्या है पूर्वपद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से तदन्त विधि होती है।

(14) द्वैपारायणिकः
द्र०—पारायणतुरायणचान्द्रा०।
(15) त्रैपारायणिकः (पूर्ववत्)।

लुक् जिसके अन्त में है, ऐसी प्रकृति से नहीं होता है। यथा—

(16) द्विशूर्पम्
द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतम्।
(17) त्रिशूर्पम् (पूर्ववत्)।
(18) द्विशौर्पिकम्

द्विशूर्पेण क्रीतम्—तदन्त विधि का निषेध होने से 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' से 'अञ्' नहीं हुआ, औत्सर्गिक 'ठञ्' हुआ,

द्विशौर्प ठञ्—वृद्धि आदेश, सु आदि।

ठञ् का द्विगु के प्रति अनिमित्त होने से लुक् का अभाव होता है। और कहा भी गया है। 'वति' से पूर्व पूर्व संख्या है पूर्वपद में जिनके, ऐसे शब्दों का तदन्त ग्रहण अलुक् में होता है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1906) शताच्च ठन्यतावशते *21* (1686)

आर्हादित्येव। शतशब्दात् ठन्यतौ प्रत्ययौ भवतः अशतेऽभिधेये आर्हीयेष्वर्थेषु। कनोऽपवादः। शतेन क्रीतं शतिकम्। शत्यम्। अशते इति किम्? शतं परिमाणमस्य शतकं निदानम्। प्रत्ययार्थोऽत्र संघः। शतमेव वस्तुतः प्रकृत्यर्थान्न भिद्यते। इह तु न भवति–शतेन क्रीतं शत्यं शाटकशतमिति, शतिकं शाटकशतमिति। वाक्येन ह्यत्र प्रत्ययार्थस्य तत्त्वं गम्यते, न श्रुत्या। तथा चोक्तम्–शतप्रतिषेधेऽन्यशतत्वेऽप्रतिषेध इति (म० भा०)। चकारोऽसमास इत्यनुकर्षणार्थः। द्वौ च शतं द्विशतम्, द्विशतेन क्रीतं द्विशतकम्। त्रिशतकम्। प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकीत्यनया इष्ट्या समासादपि प्राप्नोति।

अर्थ—अर्हीतिपर्यन्त सभी अर्थों में 'शत' प्रातिपदिक से 'ठन्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं, यदि 'सौ' अर्थ अभिधेय न हो। यह 'कन्' का अपवाद है।

उदा० (1) शत्यम्
शतेन क्रीतम् → शत यत् सु।

(2) शतिकम्
शतं ठन्—आदिवृद्धि नहीं हुई।

अशते० अर्थात् सौ अभिधेय न हो तो प्रत्यय होता है—

(3) शतकम्
शतं परिमाणमस्य—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ। कन् हुआ। यहाँ 'शतं' ही प्रत्ययार्थ है। यहाँ प्रत्यय नहीं होता है—

(4) शत्यम्
शतेन क्रीतम्

वाक्य के द्वारा ही यहाँ प्रत्ययार्थ का तत्त्व जाना जाता है, श्रुति से नहीं। 'शत का प्रतिषेध होने पर अन्य शतत्व में निषेध नहीं करना चाहिए'—ऐसा कहा गया है।

(5) द्विशतकम्
द्वौ च शतं च, द्विशतेन क्रीतम्।

(6) त्रिशतकम् (पूर्ववत्)।

'वति' से पूर्व तक संख्या पूर्व पद वाले शब्दों का तदन्त ग्रहण अलुक् में होता है—इस इष्टि के द्वारा समास से भी प्राप्त होता है।

(1907) संख्याया अतिशदन्तायाः कन् *22* (1687)

आर्हादित्येव। संख्याया अत्यन्ताया अशदन्तायाश्च कन् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु। ठञोऽपवादः। पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः। बहुकः। गणकः। अतिशदन्ताया इति किम्? साप्ततिकः, चात्वारिंशत्कः। अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणाद् डतेः पर्युदासो न भवति (म० भा०)–कतिकः।

अर्थ—'ति' शब्द है अन्त में जिसके तथा 'शत्' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसी संख्या को छोड़कर शेष संख्यावाची प्रातिपदिक से 'कन्' होता है, अर्हीतिपर्यन्त अर्थों में। यह 'ठञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) पञ्चकः
पञ्चभिः क्रीतः।

(2) बहुकः (पूर्ववत्)।

(3) गणकः (पूर्ववत्)।

अतिश—अर्थात् ति अन्तवाली व शत् अन्त वाली संख्या को छोड़कर शेष शब्दों से 'कन्' होता है—

(4) साप्ततिकः
सप्तत्या क्रीतः—कन् नहीं हुआ, औत्सर्गिक 'ठञ्' हुआ।

(5) चात्वारिंशत्कः
चत्वारिंशत् ठञ् (पूर्ववत्)।

अर्थवान् 'ति' शब्द का पर्युदासनिषेध होने से अनर्थक 'ति' (= डति प्रत्यय) का निषेध नहीं होता—

(6) कतिकः
कतिभिः क्रीतः—कन् हुआ।

(1908) वतोरिड् वा *23* (1688)

वत्वन्तस्य संख्यात्वात् कन् सिद्ध एव, तस्य त्वनेन वा इडागमो विधीयते। वतोः परस्य कनो वा इडागमो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु। तावतिकः; तावत्कः। यावतिकः, यावत्कः।

अर्थ—वतु अन्त वाले शब्दों की संख्या संज्ञा होती है। अतः उनसे 'कन्' प्रत्यय सिद्ध ही है। प्रकृत सूत्र के द्वारा उससे पाक्षिक इट् आगम कहा जा रहा है। अर्हतिपर्यन्त अर्थों में 'वतु' अन्त वाले संख्यावाची प्रातिपदिक से 'कन्' होता है तथा उस 'कन्' को विकल्प से 'इट्' आगम होता है।

उदा० (1) तावतिकः
तावता क्रीतः—कन् हुआ, इट् हुआ,
तावत् इट् क सु—विभक्तिकार्य।

(2) तावत्कः
तावत् कन् सु—पक्ष में इट् का अभाव।

(3) यावतिकः
यावत् इट् कन् सु।

(4) यावत्कः
यावत् कन् सु।

(1909) विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम् *24* (1689)

विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन् प्रत्ययो भवति असंज्ञायां विषये आर्हीयेष्वर्थेषु। विंशकः। त्रिंशकः। ति विंशतेर्डिति (6.4.142) इति तिलोपः। असंज्ञायामिति किम्? विंशतिकः, त्रिंशत्कः। कथं पुनरत्र कन्, यावता अतिशदन्ताया इति पर्युदासेन भवितव्यम् (म०भा०)? योगविभागः करिष्यते-विंशतित्रिंशद्भ्यां कन् प्रत्ययो भवति। ततो ड्वुनसंज्ञायामिति (म०भा०)।

अर्थ—अर्हतिपर्यन्त अर्थों में विंशति और त्रिंशत् शब्दों से 'ड्वुन्' प्रत्यय होता है, संज्ञा विषय को छोड़कर। डकार व नकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) विंशकः
विंशत्या क्रीतः → विंशति ड्वुन्—'ति विंशतेर्डिति' से तिलोप।

(2) त्रिंशकः
त्रिंशति ड्वुन्—पूर्ववत्।

असञ्ज्ञा० अर्थात् संज्ञा विषय को छोड़कर शेष से प्रत्यय होता है—

(3) विंशतिकः
ड्वुन् नहीं हुआ, कन् हुआ।

(4) त्रिंशत्कः (पूर्ववत्)।

'अतिशदन्तायाः' इस प्रकार 'कन्' का पर्युदासनिषेध होने से यहाँ 'कन्' कैसे हुआ?

(समा०) योगविभाग किया जायेगा। विंशति और त्रिंशत् शब्दों से 'कन्' होता है। उससे ड्वुन् होता है, संज्ञा विषय को छोड़कर।

(1910) कंसाट्टिठन् *25* (1690)

कंसाट्टिठन् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु। ठञोऽपवादः। टकारो ङीबर्थः। इकार उच्चारणार्थः। नकारः स्वरार्थः। कंसिकः। कंसिकी। *अर्द्धाच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। अर्द्धिकः। अर्द्धिकी। *कार्षापणाट्टिठन् वक्तव्यः* । कार्षापणिकः। कार्षापणिकी। *प्रतिशब्दश्चास्यादेशो वा वक्तव्यः*। प्रतिकः। प्रतिकी।

अर्थ—अर्हतिपर्यन्त अर्थों में कंस प्रातिपदिक से 'टिठन्' प्रत्यय होता है। टकार, इकार व नकार की इत्संज्ञा होती है। यह 'ठञ्' का अपवाद है। 'ट्' अनुबन्ध स्त्रीत्व में ङीप् के लिए है। इकार मुखसुख के लिए है। नकार स्वर के लिए है।

उदा० (1) कंसिकः
कंसेन क्रीतः → कंस टिठन्।

(2) कंसिकी
कंसिक ङीप् सु।

अर्धाच्चेति—अर्ध प्रातिपदिक से 'टिठन्' होता है—

(3) अर्द्धिकः
अर्ध टिठन्—ठस्येकः, अचो रहाभ्यां द्वे, झलां जश् झशि, सु।

(4) अर्द्धिकी
अर्द्धिक ङीप् सु।

कार्षाप—कार्षापण शब्द से 'टिठन्' होता है—

(5) कार्षापणिकः
कार्षापण टिठन्—ठस्येकः।

प्रतिशब्द—कार्षापण शब्द को 'प्रति' आदेश होता है—

(6) प्रतिकः
कार्षापण → प्रति टिठन् → प्रति इक—ठस्येकः,
प्रत् इक सु—विभक्तिकार्य।

(7) प्रतिकी
प्रतिक ङीप्।

(1911) शूर्पादञन्यतरस्याम् *26* (1691)

शूर्पशब्दादन्यतरस्यामञ् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु। ठञोऽपवादः, पक्षे सोऽपि भवति। शूर्पेण क्रीतं शौर्पम्। शौर्पिकम्।

अर्थ—'अर्हति'पर्यन्त अर्थों में 'शूर्प' प्रातिपदिक से 'अञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह 'ठञ्' का अपवाद है। पक्ष में 'ठञ्' भी होता है।

उदा० (1) शौर्पम्
शूर्पेण क्रीतम्—'अञ्' हुआ।

(2) शौर्पिकम्
पक्ष में 'ठञ्' हुआ।

(1912) शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् *27* (1692)

शतमानादिभ्यः शब्देभ्योऽण् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु। ठक्ठञोरपवादः। शतमानेन क्रीतं शातमानम्। वैंशतिकम्। साहस्रम्। वासनम्।

अर्थ—अर्हति पर्यन्त अर्थों में शतमान, विंशतिक, सहस्र तथा वसन प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है। यह ठक् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) शातमानम्
शतमानेन क्रीतम्—'अण्' हुआ।

(2) वैंशतिकम्
विंशतिक अण्।

(3) साहस्रम्
सहस्र अण्।

(4) वासनम्
वसन अण्। ठक् प्राप्त था।

(1913) अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् *28* (1693)

आर्हादित्येव। अध्यर्धशब्दः पूर्वो यस्मिंस्तस्मादध्यर्धपूर्वात् प्रातिपदिकाद् द्विगोश्च परस्य आर्हीयस्य लुग् भवति असंज्ञायां विषये। अध्यर्धकंसम्। द्विकंसम्। त्रिकंसम्। अध्यर्धशूर्पम्। द्विशूर्पम्। त्रिशूर्पम्। असंज्ञायामिति किम्? पाञ्चलौहितिकम्। पाञ्चकलापिकम्। लोहिनीशब्दस्य 'भस्याढे तद्धिते' (6.3.35) इति पुंवद्भावः। प्रत्ययान्तस्य विशेषणमसंज्ञाग्रहणम्—न चेत् प्रत्ययान्तं संज्ञेति। अध्यर्धशब्दः संख्यैव, किमर्थं भेदेनोपादीयते? ज्ञापकार्थम्—क्वचिदस्य संख्याकार्यं न भवति, संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (5.4.17) इति।

अर्थ—अध्यर्ध शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे शब्द से तथा द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय का लोप होता है, अर्हति पर्यन्त अर्थों में तथा यदि संज्ञा गम्यमान न हो।

उदा० (1) अध्यर्धकंसम्
'कंसाट् टिठन्' से टिठन् हुआ, लुक् हुआ, सु।

(2) द्विकंसम्
पूर्ववत् प्रत्यय का लुक्।
(3) त्रिकंसम् (पूर्ववत्)।
(4) अध्यर्धशूर्पम् (पूर्ववत्)।
(5) द्विशूर्पम् (पूर्ववत्)।
(6) त्रिशूर्पम् (पूर्ववत्)।

असञ्ज्ञा० अर्थात् संज्ञा के विषय को छोड़कर प्रत्यय का लुक् होता है—
(7) पञ्चलौहितिकम्
यहाँ लुक् नहीं हुआ।
(8) पाञ्चकलापिकम् (पूर्ववत्)।

लोहिनी शब्द को 'भस्याढे तद्धिते' से पुँवद्भाव होता है।

असंज्ञाग्रहण प्रत्ययान्त का विशेषण है, यदि प्रत्ययान्त शब्द संज्ञा न हो। अध्यर्ध शब्द संख्या ही है। तब किसलिए उपादान किया गया है। ज्ञापक के लिए कहीं इसको संख्याकार्य नहीं होता है। यथा—
'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'।

(1914) विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् *29* (1694)

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च कार्षापणसहस्रान्तादुत्तरस्यार्हीयप्रत्ययस्य विभाषा लुग्भवति। पूर्वेण लुकि नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते। अध्यर्धकार्षापणम्। अध्यर्धकार्षापणिकम्। द्विकार्षापणम्। द्विकार्षापणिकम्। औपसंख्यानिकस्य टिठनो लुक्। अलुक्पक्षे च प्रतिरादेशो विकल्पितः—अध्यर्धप्रतिकम्। द्विप्रतिकम्। त्रिप्रतिकम्। सहस्रात्—अध्यर्धसहस्रम्। अध्यर्धसाहस्रम्। द्विसहस्रम्। द्विसाहस्रम्। अलु-

क्पक्षे संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य चेत्युत्तरपदवृद्धिः। *सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानम्* (म०भा०)। अध्यर्धसुवर्णम्। अध्यर्धसौवर्णिकम्। द्विसुवर्णम्। द्विसौवर्णिकम्। अध्यर्धशतमानम्। अध्यर्धशातमानम्। द्विशतमानम्। द्विशातमानम्। परिमाणान्तस्य (6.3.17) इत्युत्तरपदवृद्धिः।

अर्थ—'अर्हति'पर्यन्त अर्थों में अध्यर्धशब्दपूर्वक कार्षापण व सहस्र प्रातिपदिकों से तथा द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिकों से विहित प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य लुक् प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है।

उदा० (1) अध्यर्धकार्षापणम्
'कार्षापणाट् टिठन्' से प्रत्यय हुआ। लुक् हुआ।

(2) द्विकार्षापणिकम्
प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ।
अलुक् पक्ष में 'प्रति' आदेश का विकल्प किया गया है।

(3) अध्यर्धप्रतिकम् (पूर्ववत्)।
(4) द्विप्रतिकम् (पूर्ववत्)।
(5) इसी प्रकार—त्रिप्रतिकम्।
(6) अध्यर्धसहस्रम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(7) अध्यर्धसाहस्रम्
लुक् नहीं हुआ।

(8) द्विसहस्रम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(9) द्विसाहस्रम्
लुक् नहीं हुआ।
अलुक् पक्ष में संख्या के उत्तर पद की आदिवृद्धि होती है।

सुवर्णशत०—अध्यर्धपूर्वक सुवर्ण और शतमान शब्दों से से विहित आर्हीय प्रत्ययों का विकल्प से लुक् होता है।

(10) अध्यर्धसुवर्णम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(11) अध्यर्धसौवर्णिकम्
लुक् नहीं हुआ।

(12) द्विसुवर्णम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(13) द्विसौवर्णिकम्
लुक् नहीं हुआ।

(14) अध्यर्धशतमानम्
पूर्ववत् लुक् नहीं हुआ।

(15) अध्यर्धशातमानम्
लुक् नहीं हुआ।

(16) द्विशतमानम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(17) द्विशातमानम्
लुक् नहीं हुआ।
'परिमाणान्तस्य०' से उत्तरपद की आदिवृद्धि होती है।

(1915) द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् *30* (1695)

द्विगोरित्येव। द्वित्रिपूर्वाद् द्विगोर्निष्कान्तादार्हीयप्रत्ययस्य विभाषा लुग्भवति। द्विनिष्कम्। द्विनैष्किकम्। त्रिनिष्कम्। त्रिनैष्किकम्। *बहुपूर्वाच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। बहुनिष्कम्। बहुनैष्किकम्। परिमाणान्तस्य (7.3.17) इत्युत्तरपदवृद्धिः।

अर्थ—'अर्हति' पर्यन्त अर्थों में 'द्वि' व 'त्रि' शब्दपूर्वक निष्क शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है।

उदा० (1) द्विनिष्कम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(2) द्विनैष्किकम्
लुक् नहीं हुआ।

(3) त्रिनिष्कम्
लुक् हुआ।

(4) त्रिनैष्किकम्
लुक् नहीं हुआ।

बहुपूर्वा० 'बहु' है पूर्व में जिसके, ऐसे शब्द से भी प्रत्यय होता है—

(5) बहुनिष्कम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(6) बहुनैष्किकम्
लुक् नहीं हुआ।
'परिमाणान्तस्य०' से उत्तरपदवृद्धि होती है।

(1916) बिस्ताश्च *31* (1696)

द्वित्रिपूर्वादिति चकारेणानुकृष्यते। द्वित्रिपूर्वाद् बिस्तान्तात् द्विगोः परस्यार्हीयप्रत्ययस्य विभाषा लुग्भवति। द्विबिस्तम्। द्विबैस्तिकम्। त्रिबिस्तम्। त्रिबैस्तिकम्। बहुबिस्तम्। बहुबैस्तिकम्।

अर्थ—चकार के द्वारा 'द्वित्रिपूर्वात्' का अनुवर्त्तन होता है। अर्हीति पर्यन्त अर्थों में 'द्वि' व 'त्रि' शब्दपूर्वक बिस्तशब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है।

उदा० (1) द्विबिस्तम्
ठञ् प्रत्यय का लुक् हुआ।

(2) द्विबैस्तिकम्
लुक् नहीं हुआ।

(3) त्रिबिस्तम्
लुक् हुआ।

(4) त्रिबैस्तिकम्
लुक् नहीं हुआ।

(5) बहुबिस्तम्
लुक् हुआ।

(6) बहुबैस्तिकम्
लुक् नहीं हुआ।

(1917) विंशतिकात् खः *32* (1697)

अध्यर्धपूर्वात्प्रातिपदिकाद् द्विगोश्च विंशतिकशब्दान्तादार्हीयेष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति। अध्यर्धविंशतिकीनम्। द्विविंशतिकीनम्। त्रिविंशतिकीनम्। विधानसामर्थ्याल्लुग् न भवति।

अर्थ—अर्हीतिपर्यन्त अर्थों में अध्यर्धपूर्वक विंशतिक शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से 'ख' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अध्यर्धविंशतिकीनम्
'ख' हुआ, ईन आदेश, सु।

(2) द्विविंशतिकीनम् (पूर्ववत्)।

(3) त्रिविंशतिकीनम्
'ख' हुआ।

विधानसामर्थ्य से लुक् नहीं होता है।

(1918) खार्या ईकन् *33* (1698)

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरित्येव। अध्यर्धपूर्वात् प्रातिपदिकाद् द्विगोश्च खारीशब्दान्तादार्हीयेष्वर्थेषु ईकन् प्रत्ययो भवति। अध्यर्धखारीकम्। द्विखारीकम्। *केवलाच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। खारीकम्। *काकिण्याश्चोपसंख्यानम्*। अध्यर्धकाकिणीकम्। द्विकाकिणीकम्। त्रिकाकिणीकम्। *केवलायाश्च*। काकिणीकम्।

अर्थ—अध्यर्धपूर्वात्, द्विगोः—इनका अनुवर्त्तन है। अर्हीतिपर्यन्त अर्थों में अध्यर्धपूर्वक खारीशब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से 'ईकन्' होता है।

उदा० (1) अध्यर्धखारीकम्
ईकन् हुआ।

(2) द्विखारीकम् (पूर्ववत्)।

केवलाच्चेति—केवल खारी शब्द से भी प्रत्यय होता है—

(3) खारीकम्
खारी ईकन् सु।

काकिण्या—काकिणी शब्द से भी प्रत्यय होता है—

(4) अध्यर्धकाकिणीकम्
ईकन् हुआ।

(5) द्विकाकिणीकम् (पूर्ववत्)।
(6) त्रिकाकिणीकम् (पूर्ववत्)।

केवलाया०—केवल काकिणी शब्द से भी प्रत्यय होता है—

(7) काकिणीकम्
काकिणी ईकन् सु।

(1919) पणपादमाषशताद्यत् *34* (1699)

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरित्येव। अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च पणपादमाषशतशब्दान्तादार्हीयेष्वर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति। अध्यर्धपण्यम्। द्विपण्यम्। त्रिपण्यम्। पाद-अध्यर्धपाद्यम्। द्विपाद्यम्। त्रिपाद्यम्। पद्भावो न भवति, पद्यत्यतदर्थे (6.3.53) इति; प्राण्यङ्गस्य स (6.3.52) इष्यते, इदं तु परिमाणम्। माष-अध्यर्धमाष्यम्। द्विमाष्यम्। त्रिमाष्यम्। शत-अध्यर्धशत्यम्। द्विशत्यम्। त्रिशत्यम्।

अर्थ—अध्यर्धपूर्वात्, द्विगोः—इनका अनुवर्त्तन है। अध्यर्ध शब्द है पूर्व में जिसके तथा पण, पाद, माष व शत शब्द हैं

अन्त में जिसके, ऐसे द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, अर्हीय अर्थों में।

उदा० (1) अध्यर्धपण्यम्
'यत्' हुआ।

(2) द्विपण्यम्
'यत्' हुआ।

(3) त्रिपण्यम्
'यत्' हुआ।

(4) अध्यर्धपाद्यम्
'यत्'।

(5) द्विपाद्यम्
यत्।

(6) त्रिपाद्यम्
'यत्' हुआ।

'पद्यत्यतदर्थे' से पद्भाव नहीं होता है। कारण कि वह आदेश प्राणी के अंग पाद का ही इष्ट है। यहाँ तो परिमाणवाची 'पाद' शब्द है।

(7) अध्यर्धमाष्यम्
'यत्' हुआ।
(8) द्विमाष्यम् (पूर्ववत्)।
(9) त्रिमाष्यम् (पूर्ववत्)।
(10) अध्यर्धशत्यम् (पूर्ववत्)।
(11) द्विशत्यम् (पूर्ववत्)।
(12) त्रिशत्यम् (पूर्ववत्)।

(1920) शाणाद्वा *35* (1700)

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरित्येव। शाणशब्दादध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरार्हीयेष्वर्थेषु वा यत् प्रत्ययो भवति। ठञोऽपवादः, पक्षे सोऽपि भवति, तस्य च लुक्। अध्यर्धशाण्यम्। अध्यर्धशाणम्। द्विशाण्यम्। द्विशाणम्। त्रिशाण्यम्। त्रिशाणम्। *शताच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। अध्यर्धशत्यम्। अध्यर्धशतम्। द्विशत्यम्। द्विशतम्। त्रिशत्यम्। त्रिशतम्।

अर्थ—अध्यर्धपूर्वात्, द्विगोः—शब्दों का अनुवर्तन है। अध्यर्ध शब्द है पूर्वपद में जिसके तथा शाण शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे द्विगुसंज्ञक शब्द से 'यत्' विकल्प से होता है, आर्हीय अर्थों में। यह 'ठञ्' का अपवाद है। पक्ष में 'ठञ्' भी होता है और उसका लुक् भी होता है।

उदा० (1) अध्यर्धशाण्यम्
'यत्' हुआ।

(2) अध्यर्धशाणम्
लुक् हुआ।

(3) द्विशाण्यम्
'यत्' हुआ।

(4) द्विशाणम्
लुक् हुआ।

(5) त्रिशाण्यम्
यत् हुआ।

(6) त्रिशाणम्
लुक् हुआ।

शताच्चेति०—शत शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

(7) अध्यर्धशत्यम्
यत् हुआ।

(8) अध्यर्धशतम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(9) द्विशत्यम्
यत् हुआ।

(10) द्विशतम्
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(11) त्रिशत्यम्
'यत्' हुआ।

(12) त्रिशतम्
लुक् हुआ।

(1921) द्वित्रिपूर्वादण् च *36* (1701)

शाणाद्वा (5.1.35) इत्येव। द्वित्रिपूर्वाच्छाणान्तात्प्रातिपदिकादार्हीयेष्वर्थेषु अण् प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च वा। तेन त्रैरूप्यं भवति–द्वैशाणम्। द्विशाण्यम्। द्विशाणम्। त्रैशाणम्। त्रिशाण्यम्। त्रिशाणम्। परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः (6.3.17) इति पर्युदासादादिवृद्धिरेव भवति।

अर्थ—शाणात्, वा—इनका अनुवर्त्तन है। द्वि तथा त्रि शब्द है पूर्व में जिसके और शाण शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में 'अण्' होता है तथा 'यत्' विकल्प से होता है। इससे तीन रूप बनता है।

उदा० (1) द्वैशाणम्
अण् हुआ, आदिवृद्धि।

(2) द्विशाण्यम्
पाक्षिक 'यत्' हुआ।

(3) द्विशाणम्
पक्ष में 'ठञ्' हुआ, लुक् हुआ।

(4) त्रैशाणम्
त्रिशाण अण्।

(5) त्रिशाण्यम्
'यत्' हुआ।

(6) त्रिशाणम्
ठञ्, लुक्।

'परिमाणान्तस्यासञ्ज्ञा०' के द्वारा पर्युदासनिषेध होने से आदिवृद्धि होती है।

(1922) तेन क्रीतम् *37* (1702)

ठञादयस्त्रयोदश प्रत्ययाः प्रकृताः, तेषामितः प्रभृति समर्थविभक्तयः प्रत्ययार्थाश्च निर्दिश्यन्ते। तेनेति तृतीयासमर्थात् क्रीतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम्। आशीतिकम्। नैष्किकम्। पाणिकम्। पादिकम्। माषिकम्। शत्यम्। शतिकम्। द्विकम्। त्रिकम्। तेनेति मूल्यात्करणे तृतीया समर्थविभक्तिः। अन्यत्रानभिधानान्न भवति-देवदत्तेन क्रीतम् पाणिना क्रीतमिति। द्विवचनबहुवचनान्तात्प्रत्ययो न भवति-प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थः क्रीतमिति, अनभिधानादेव। यत्र तु प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगमे प्रमाणमस्ति तत्र द्विवचनबहुवचनान्तादपि प्रत्ययो भवति-द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, त्रिकम्, पञ्चकम्। तथा-मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्, माषिकम्। न ह्येकेन मुद्गेन क्रयः सम्भवति (म० भा०)।

अर्थ—ठञ् आदि तेरह प्रत्यय प्रकृत हैं। उनके यहाँ से लेकर समर्थ विभक्तियों और प्रत्ययार्थों का निर्देश किया जा रहा है। 'तेन' इस प्रकार तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है, क्रीत अर्थ में।

उदा० (1) साप्ततिकम्
सप्तत्या क्रीतम्—ठञ् हुआ।

(2) आशीतिकम्
अशीति ठञ्।

(3) नैष्किकम्
निष्क ठञ्।

(4) पाणिकम्
पाणि ठञ्।

(5) पादिकम्
पाद ठञ्।

(6) माषिकम् (पूर्ववत्)।

(7) शत्यम्
शत यत्।

(8) शतिकम्
शत ठञ्।

(9) द्विकम्
द्वि ठञ्।

(10) त्रिकम् (पूर्ववत्)।

तेनेति०—'तेन' इससे मूल्य से तृतीया समर्थ विभक्ति करण अर्थ में होती है। अन्यत्र कथन न होने से नहीं होती है। यथा—
देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतम्।

द्विवचनान्त तथा बहुवचनान्त से प्रत्यय नहीं होता है। यथा—
प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थैः क्रीतम्।

जहाँ प्रकृति के अर्थ का संख्या के भेद के ज्ञान में प्रमाण होता है, वहाँ द्विवचनान्त तथा बहुवचनान्त से प्रत्यय होता है। यथा—
द्वाभ्यां क्रीतम्—द्विकम्।

(11) इसी प्रकार—त्रिकम्, पञ्चकम्।

(12) मौद्गिकम्
मुद्गैः क्रीतम्—पूर्ववत्।

(13) माषिकम् (पूर्ववत्)।
क्योंकि एक मूंग से क्रय सम्भव नहीं होता।

(1923) तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ *38* (1704)

तस्येति षष्ठीसमर्थान्निमित्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो

भवति, यत्तन्निमित्तं संयोगश्चेत् स भवति उत्पातो वा। संयोगः सम्बन्धः, प्राणिनां शुभाशुभसूचकः महाभूतपरिणामः उत्पातः। शतस्य निमित्तं धनपतिना संयोगः शत्यः। शतिकः। साहस्रः। उत्पातः खल्वपि–शतस्य निमित्तमुत्पातो दक्षिणाक्षिस्पन्दनम्–शत्यम्। शतिकम्। साहस्रम्। *तस्य निमित्तप्रकरणे वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम्* (म०भा०)। वातस्य शमनं कोपनं वा वातिकम्। पैत्तिकम्। श्लैष्मिकम्। *सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्*। सान्निपातिकम्।

अर्थ—यदि निमित्त संयोग व उत्पात हो तो 'कारण' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। शुभाशुभसूचक को संयोग तथा महाभूत-परिणाम को उत्पात कहते हैं।

उदा० (1) शत्यः
शतस्य निमित्तं धनपतिना संयोगः—शत यत् सु।

(2) शतिकः
शत ठञ्।

(3) साहस्रः
सहस्र अण् सु।

उपर्युक्त सभी प्रयोग उत्पात की दशा में भी होते हैं। यथा—
शतस्य निमित्तमुत्पातो दक्षिणाक्षिस्पन्दनम्—शत्यम्।

तस्य०—शमन और कोपन अर्थों में वात, पित्त तथा श्लेष्मन् प्रातिपदिकों से यथाविहित प्रत्यय होता है—

(4) वातिकम्
वातस्य शमनं (कोपनं वा)—ठञ् हुआ।

(5) पैत्तिकम्
पित्त ठञ्।

(6) श्लैष्मिकम्
श्लेष्मन् ठञ्।

सन्निपात शब्द से यथाविहित प्रत्यय होता है—

(7) सान्निपातिकम्
सन्निपात ठञ्।

(1924) गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् *39* (1705)

गोशब्दाद् द्व्यचश्च प्रातिपदिकात् संख्यापरिमाणाश्वादिविवर्जिताद्यत् प्रत्ययो भवति तस्य निमित्तं संयोगोत्पातावित्येतस्मिन्नर्थे। ठञादीनामपवादः। गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा गव्यः। द्व्यचः खल्वपि–धन्यम्, स्वर्ग्यम्, यशस्यम्, आयुष्यम्। असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम्? पञ्चानां निमित्तं पञ्चकम्। सप्तकम्। अष्टकम्। परिमाण–प्रास्थिकम्। खारीकम्। अश्वादि–आश्विकः। *ब्रह्मवर्चसादुपसंख्यानम्* (म०भा०)। ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं गुरुणा संयोगः ब्रह्मवर्चस्यम्। अश्व। अश्मन्। गण। ऊर्णा। उमा। वसु। वर्ष। भङ्ग–अश्वादिः।

अर्थ—यदि निमित्त संयोग व उत्पात हो तो 'कारण' इस अर्थ में संख्यावाची, परिमाणवाची तथा अश्व आदि प्रातिपदिकों को छोड़कर षष्ठ्यन्त समर्थ गो तथा दो अच् वाले प्रातिपदिक से 'यत्' होता है। यह 'ठञ्' आदि का अपवाद है।

उदा० (1) गव्यः
गोर्निमित्तं संयोग (उत्पातो वा)—यत्, गुण, वान्त आदेश।

(2) धन्यम् (पूर्ववत्)।

(3) स्वर्ग्यम् (पूर्ववत्)।

(4) यशस्यम् (पूर्ववत्)।

(5) आयुष्यम् (पूर्ववत्)।

असंख्या० अर्थात् संख्यावाची, परिमाणवाची तथा अश्वादि से 'यत्' नहीं होता है—

(6) पञ्चकम्
पञ्चानां निमित्तम्—यत् नहीं हुआ।

(7) आश्विकः
यत् नहीं हुआ।

ब्रह्मवर्च्चसा०—ब्रह्मवर्चस् से यथाविहित प्रत्यय होता है—

(8) ब्रह्मवर्च्चस्यम्
यत् हुआ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1925) पुत्राच्छ च *40* (1706)

पुत्रशब्दाच्छः प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ (5.1.38) इत्येतस्मिन् विषये। द्व्यच इति नित्ये यति प्राप्ते वचनम्। पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा पुत्रीयम्। पुत्र्यम्।

अर्थ—यदि निमित्त संयोग व उत्पात हो तो 'कारण' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ पुत्र शब्द से 'छ' तथा 'यत्' प्रत्यय (पर्यायेण) होते हैं। द्व्यच् होने से पुत्र शब्द से नित्य यत् प्राप्त था।

उदा० (1) पुत्रीयम्
पुत्रस्य निमित्तं संयोग (उत्पातो वा)—'छ' हुआ।

(2) पुत्र्यम्
'यत्' हुआ।

(1926) सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ *41* (1707)

सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां यथासंख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतः तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ (5.1.38) इत्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा सार्वभौमः। पार्थिवः। सर्वभूमेरनुशतिकादि (7.3.20) पाठादुभयपद-वृद्धिः।

अर्थ—यदि निमित्त संयोग और उत्पात हो तो 'कारण' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ सर्वभूमि और पृथिवी शब्दों से यथासंख्य करके 'अण्' व 'अञ्' होते हैं। ये 'ठक्' के अपवाद हैं।

उदा० (1) सार्वभौमः
सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग (उत्पातो वा)—अण्
'सर्वभूमि' शब्द के अनुशतिकादि गण में पाठ होने से उभयपद-वृद्धि हुई।

(2) पार्थिवः
पृथिवी अञ्।

(1927) तस्येश्वरः *42* (1708)

तस्येति षष्ठीसमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यामणञौ प्रत्ययौ भवत ईश्वर इत्येतस्मिन् विषये। सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः। पार्थिवः। षष्ठीप्रकरणे पुनः षष्ठीसमर्थविभ-क्तिनिर्देशः प्रत्ययार्थस्य निवृत्तये। अन्यथा संयोगोत्पाताविव ईश्वरोऽपि प्रत्ययार्थस्य निमित्तस्य विशेषणं सम्भाव्येत।

अर्थ—'ईश्वर' इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ सर्वभूमि तथा पृथिवी शब्दों से यथासंख्य करके 'अण्' व 'अञ्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) सार्वभौमः (पूर्ववत्)।
(2) पार्थिवः (पूर्ववत्)।

प्रत्ययार्थ की निवृत्ति के लिए षष्ठी के प्रकरण में पुनः षष्ठी समर्थ विभक्ति का निर्देश किया गया है। अन्यथा 'संयोगोत्पात में' के समान प्रत्ययार्थ निमित्त का विशेषण 'ईश्वर' भी सम्भावित था।

(1928) तत्र विदित इति च *43* (1709)

तत्रेति सप्तमीसमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां यथा-संख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतो विदित इत्येतस्मिन्नर्थे। विदितो ज्ञातः, प्रकाशित इत्यर्थः। सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः। पार्थिवः।

अर्थ—'विख्यात है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ सर्वभूमि और पृथिवी शब्दों से यथासंख्य करके 'अण्' और 'अञ्' होते हैं।

उदा० (1) सार्वभौमः
सर्वभूमौ विदितः—'अण्'।

(2) पार्थिवः
पृथिव्यां विदितः—अञ्।

(1929) लोकसर्वलोकाट्ठञ् *44* (1710)

लोकसर्वलोकशब्दाभ्यां तत्रेति सप्तमीसमर्थाभ्यां विदित इत्येतस्मिन् विषये ठञ् प्रत्ययो भवति। लोके विदितः लौकिकः। सार्वलौकिकः। अनुशतिकादित्वात् (5.3.20) उभयपदवृद्धिः।

अर्थ—'विख्यात है' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ लोक तथा सर्वलोक शब्दों से 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) लौकिकः
लोके विदितः—ठञ्।

(2) सार्वलौकिकः
सर्वलोक ठञ्।
अनुशतिकादि गण में पाठ होने से उभयपदवृद्धि होती है।

(1930) तस्य वापः *45* (1711)

तस्येति षष्ठीसमर्थाद्वाप इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। उप्यतेऽस्मिन्निति वापः, क्षेत्रमुच्यते। प्रस्थस्य वापः क्षेत्रं प्रास्थिकम्। द्रौणिकम्। खारीकम्।

अर्थ—'खेत' अर्थ गम्यमान हो तो षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) प्रास्थिकम्
प्रस्थस्य वापः—ठञ् हुआ।

(2) द्रौणिकम्
द्रोण ठञ्।

(3) खारीकम्
खारी ठञ्।

(1931) पात्रात् ष्ठन् *46* (1712)

पात्रशब्दात् ष्ठन्प्रत्ययो भवति, तस्य वापः (5.1.45) इत्येतस्मिन् विषये। ठञोऽपवादः। नकारः स्वरार्थः। षकारो ङीषर्थः। पात्रशब्दः परिमाणवाची। पात्रस्य वापः पात्रिकं क्षेत्रम्। पात्रिकी क्षेत्रभक्तिः।

अर्थ—'खेत' अर्थ गम्यमान हो तो षष्ठ्यन्त समर्थ पात्र शब्द से 'ष्ठन्' प्रत्यय होता है। 'ठञ्' का अपवाद है। 'न्' अनुबन्ध स्वर के लिए है। 'ष्' अनुबन्ध स्त्रीत्व में ङीष् के लिए है।

उदा० (1) पात्रिकं क्षेत्रम्
पात्रस्य वापः।
(2) पात्रिकी
पात्रिक ङीष्।

(1932) तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते *47* (1713)

तदिति प्रथमासमर्थादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं वृद्ध्यादि दीयते चेत्तद्भवति। दीयते इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तत्र यदधमर्णेन उत्तमर्णाय मूलधनातिरिक्तं देयं तद्वृद्धिः। ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग आयः। पटादीनामुपादानमूलादतिरिक्तं द्रव्यं लाभः। रक्षानिर्देशो राजभागः शुल्कः। उत्कोचः उपदा। पञ्चास्मिन् वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते पञ्चकः। सप्तकः। शत्यः। शतिकः। साहस्रः। *चतुर्थ्यर्थ उपसंख्यानम्* (म०भा०)। पञ्चास्मै वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते पञ्चको देवदत्तः। सिद्धं त्वधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात्। सममब्राह्मणे दानमिति यथा।

अर्थ—यदि वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क तथा उपदा—ये 'दिया जाता है' इस प्रक्रिया के कर्म वाच्य हों तो सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। 'दीयते' इस एकवचनान्त पद का वृद्धि आदि सभी के साथ सम्बन्ध है। जो द्रव्य मूल धन के अतिरिक्त (= अर्थात् ब्याज के रूप में) दिया जाता है, उसे 'वृद्धि' कहते हैं। ग्रामप्रधान के द्वारा ग्राह्य भाग 'आय' कहलाता है। वस्तु की लागत से अतिरिक्त द्रव्य 'लाभ' कहलाता है। राजा का भाग 'शुल्क' कहलाता है। रिश्वत को 'उपदा' कहते हैं।

उदा० (1) पञ्चकः

पञ्चाऽस्मिन् वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वोपदा वा दीयते—इस अर्थ में प्रत्यय हुआ।

(2) सप्तकः (पूर्ववत्)।
(3) शत्यः (पूर्ववत्)।
(4) शतिकः—पूर्ववत्।
(5) साहस्रः (पूर्ववत्)।

चतुर्थ्यर्थे०—सम्प्रदान के अर्थ में भी उपर्युक्त दशा में यथाविहित प्रत्यय होता है—

(6) पञ्चको देवदत्तः
पञ्चाऽस्मै वृद्धिर्वाऽऽयो वा लाभो वोपदा वा दीयते—इस अर्थ में प्रत्यय हुआ।

(सम्प्रदान की) अधिकरण रूप से विवक्षा कर लेने पर सब सिद्ध हो जाता है। जैसा कि—'समम् अब्राह्मणे दानम्' में होता है। अतः इस वचन की आवश्यकता नहीं है।

(1933) पूरणार्धाट्ठन् *48* (1714)

पूरणवाचिनः शब्दादर्धशब्दाच्च ठन् प्रत्ययो भवति तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयत (5.1.47) इत्येतस्मिन्नर्थे। यथायथं ठक्टिठनोरपवादः। द्वितीयो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते द्वितीयिकः। तृतीयिकः। पञ्चमिकः। सप्तमिकः। अर्द्धिकः। अर्द्धशब्दो रूपकार्द्धस्य रूढिः।

अर्थ—यदि वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क तथा उपदा—ये 'दिया जाता है'—इस क्रिया के कर्मवाच्य हों तो सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त समर्थ पूर्णवाची प्रातिपदिक से तथा अर्ध शब्द से 'ठन्' होता है। यथाप्राप्त ठक् और टिठन् का अपवाद है।

उदा० (1) द्वितीयिकः
द्वितीयो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते—प्रत्यय हुआ।
(2) तृतीयिकः (पूर्ववत्)।
(3) पञ्चमिकः (पूर्ववत्)।
(4) सप्तमिकः (पूर्ववत्)।
(5) अर्द्धिकः
(अर्ध ठन् → अध्र्ध इक—ठस्येकः, द्वित्व।)
अर्द्ध इक सु—विभक्ति कार्य।

(1934) भागाद्यच्च *49* (1715)

भागशब्दाद्यत् प्रत्ययो भवति, चकाराट्ठँश्च, तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयत (5.1.47) इत्येतस्मिन्नर्थे।

ठञोऽपवादः । भागो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते भाग्यम्, भागिकं शतम् । भाग्या, भागिका विंशतिः । भागशब्दोऽपि रूपकार्थस्य वाचकः ।

अर्थ—यदि वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क और उपदा—ये 'दिया जाता है'—इस क्रिया के कर्म वाच्य हों तो सप्तमी के अर्थ में प्रथमान्त समर्थ 'भाग' प्रातिपदिक से 'यत्' तथा 'ठन्' प्रत्यय होते हैं। यह 'ठञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) भाग्यम्
भागे वृद्धिरस्मिन् दीयते → भाग यत्
भाग्य सु—रूप बनना।

(2) भागिकम्
भाग ठन् सु।

(3) भाग्या
भाग्य टाप् सु।

(4) भागिका
भागिक टाप् सु।

(1935) तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः*50* (1716)

तद्धिति द्वितीयासमर्थाद्धरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति । प्रकृतिविशेषणं भाराद्वंशादिभ्य इति, वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्तात्प्रातिपदिकादिति । वंशभारं हरति वहत्यावहति वा वांशभारिकः । कौटजभारिकः । बाल्वजभारिकः । भारादिति किम् ? वंशं हरति । वंशादिभ्य इति किम् ? व्रीहिभारं हरति । अपरा वृत्तिः–भाराद्वंशादिभ्य इति, भारभूतेभ्यो वंशादिभ्यः इत्यर्थः । भारशब्दोऽर्थद्वारेण वंशादीनां विशेषणम् । भारभूतान् वंशान् हरति वांशिकः । कौटजिकः । बाल्वजिकः । भारादिति किम् ? वंशं हरति । वंशादिभ्य इति किम् । भारभूतान् व्रीहीन् वहति । सूत्राऽर्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, तदुभयमपि ग्राह्यम् । हरति देशान्तरं प्रापयति चोरयति वा । वहत्युत्क्षिप्य धारयतीत्यर्थः । आवहति उत्पादयतीत्यर्थः । वंश । कुटज । बल्वज । मूल । अक्ष । स्थूणा । अश्मन् । अश्व । इक्षु । खट्वा-वंशादिः ।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ वंशादि प्रातिपदिकों से पर विद्यमान 'भार' शब्द से यथाविहित प्रत्यय होता है, 'हरण करता है, वहन करता है' तथा 'उत्पन्न करता है'—अर्थों में। 'भाराद्वंशादिभ्यः' प्रकृति विशेषण है।

उदा० (1) वांशभारिकः
वंशभार ठक्—ठस्येकः, आदिवृद्धि।

(2) कौटजभारिकः
कुटजभार—पूर्ववत्।

(3) बाल्बजभारिकः
बल्बजभार—पूर्ववत्।

भारादिति० अर्थात् भार शब्द से प्रत्यय होता है—
वंशं हरति—यहाँ नहीं हुआ।

वंशादि० अर्थात् वंश आदि से उत्तर भार शब्द से प्रत्यय होता है—
व्रीहिभारं वहति—यहाँ नहीं हुआ।

भाराद्वंशादिभ्यः—ऐसा भारभूत वंश आदियों से। भार शब्द अर्थ द्वारा वंश आदियों का विशेषण है।

(4) वांशिकः (पूर्ववत्)।
(5) कौटजिकः (पूर्ववत्)।
(6) बाल्बजिकः (पूर्ववत्)।

भारदिति०—भार शब्द से होता है—
वंशं हरति—
यहाँ नहीं हुआ।

वंशादि०—वंशादि से उत्तर भार शब्द से प्रत्यय होता है—
भारभूतान् व्रीहीन् वहति—यहाँ नहीं हुआ।

इस प्रकार सूत्र के दो अर्थ पाणिनि ने शिष्यों को बताए हैं। अतः दोनों अर्थों का ग्रहण होता है।

हरति देशान्तरं प्रापयति चोरयति वा।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1936) वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ *51* (1717)

वस्नद्रव्यशब्दाभ्यां द्वितीयासमर्थाभ्यां यथासंख्यं ठन् कन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो हरत्यादिष्वर्थेषु । वस्नं हरति वहति वा वस्निकः । द्रव्यकः ।

अर्थ—द्वितीयान्त समर्थ वस्न तथा द्रव्य प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'ठन्' और 'कन्' प्रत्यय होते हैं, 'हरण करता है, वहन करता है तथा उत्पन्न करता है'—इन अर्थों में।

उदा० (1) वस्निकः
वस्नं हरति (वहति वा)—वस्न ठन् सु।

(2) द्रव्यकः
द्रव्य कन् सु।

(1937) सम्भवत्यवहरति पचति *52* (1718)

तदिति द्वितीया समर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। तदिति द्वितीया-समर्थात्सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति। तत्राधेयस्य प्रमाणानतिरेकः सम्भवः। उपसंहरणमवहारः। विक्लेदनं पाकः। प्रस्थं सम्भवति अवहरति पचति वा प्रास्थिकः। कौडविकः। खारीकः। ननु च पाके च सम्भवोऽस्ति? नास्त्यत्र नियोगः-प्रस्थं पचति ब्राह्मणी प्रास्थिकी। *तत्पचतीति द्रोणादण्च* (म०भा०)। द्रोणं पचति द्रौणी। द्रौणिकी।

अर्थ—'तद्' यह द्वितीया समर्थ विभक्ति है। 'सम्भव है, अवहरण करता है तथा पकाता है'—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। आधेय का प्रमाणानतिरेक 'सम्भव' कहलाता है।

उदा० (1) प्रास्थिकः
प्रस्थं सम्भवति → प्रस्थ ठक् सु।
(2) कौडविकः (पूर्ववत्)।
(3) खारीकः (पूर्ववत्)।
(4) प्रास्थिकी
प्रस्थं पचति ब्राह्मणी।

तत्पच०—उसे पकाता है—इस अर्थ में द्रोण शब्द से 'अण्' होता है—
(5) द्रौणी
द्रोणं पचति—द्रोण अण् ङीप्।
(6) द्रौणिकी
द्रोण ठञ् ङीप्।

(1938) आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् *53* (1719)

आढकाचितपात्रशब्देभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्योऽन्यतरस्यां सम्भवादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति। ठञोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। आढकं सम्भवत्यवहरति पचति वा आढकीना। आढकिकी। आचितीना। आचितिकी। पात्रीणा। पात्रिकी।

अर्थ—सम्भव है, अवहरण करता है तथा पकाता है—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ आढक, आचित तथा पात्र प्रातिपदिकों से विकल्प से 'ख' होता है। यह 'ठञ्' का अपवाद है। परिमाणवाची होने से पक्ष में 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) आढकीना
आढकं सम्भवत्यवहरति पचति—ख, टाप्।
(2) आढकिकी
ठञ्, ङीप्।
(3) आचितीना
आचित ख टाप्।
(4) आचितिकी
आचित ठञ् ङीप्।
(5) पात्रीणा
पात्र ख टाप्।
(6) पात्रिकी
पात्रिक ङीप् सु।

(1939) द्विगोष्ठँश्च *54* (1720)

आढकाचितपात्रादित्येव। आढकाचितपात्रान्ताद् द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ष्ठन् प्रत्ययो भवति, चकारात्खः, अन्यतरस्याम्। विधानसामर्थ्यदिवानयोर्लुग्न भवति। ठञस्तु पक्षेऽनुज्ञातस्याध्यर्द्धपूर्वद्विगोः (5.1.28) इति लुग् भवत्येव। नकारः स्वरार्थः। षकारो ङीषर्थः। द्व्याढकिकी। द्व्याढकीना। द्व्याढकी। द्व्याचितिकी। द्व्याचितीना। द्व्याचिता। अपरिमाणबिस्ताचित (4.1.22) इति ङीषः प्रतिषेधः। द्विपात्रिकी। द्विपात्रीणा। द्विपात्री।

अर्थ—सम्भव है, अवहरण करता है तथा पकाता है—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ द्विगुसंज्ञक आढक, आचित तथा पात्र प्रातिपदिकों से 'ठन्' तथा 'ख' प्रत्यय विकल्प से होता है। विधान-सामर्थ्य से इनका लुक् नहीं होता। ठञ् का पक्ष में अनुज्ञात अध्यर्धपूर्वक द्विगु से लुक् होता ही है। नकार स्वर के लिए है। षकार स्त्रीत्व में ङीष् के लिए है।

उदा० (1) द्व्याढकिकी
द्व्याढक ष्ठन् ङीष् सु।
(2) द्व्याढकीना
ख, टाप्।
(3) द्व्याढकी
पक्ष में ठञ्, उसका लुक्, ङीप्।

(4) द्व्याचितिकी
ष्ठन् ङीष्।

(5) द्व्याचितीना
ख, टाप्।

(6) द्व्याचिता
पक्ष में ठञ्, उसका लुक् तथा टाप्।

अपरिमाण॰ अर्थात् परिमाण और बिस्त और आचित से अतिरिक्त से ङीष् का प्रतिषेध होता है—

(7) द्विपात्रिकी
ष्ठन्, ङीष्।

(8) द्विपात्रीणा
ख, टाप्।

(9) द्विपात्री
पक्ष में ठञ्, लुक्, ङीप्।

(1940) कुलिजाल्लुक्खौ च *55* (1721)

द्विगोरित्येव। कुलिजशब्दान्ताद् द्विगोः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु लुक्खौ भवतः, चकारात्ष्ठंश्च। अन्यतरस्यांग्रहणानुवृत्त्या लुगपि विकल्प्यते, ठञः पक्षे श्रवणं भवति। तेन चातूरूप्यं सम्पद्यते—द्वे कुलिजे सम्भवत्यवहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजा, द्वैकुलिजिकी। परिमाणान्तस्या-संज्ञाशाणयोः (7.3.20) इत्यत्र कुलिजग्रहणमपीष्यते, तेनोत्तरपदवृद्धिरपि न भवति।

अर्थ—'द्विगोः' का अनुवर्त्तन है। सम्भव है, अवहरण करता है तथा पकाता है—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ द्विगुसंज्ञक कुलिज शब्दान्त प्रातिपदिकों से 'ख' तथ 'ष्ठन्' प्रत्यय होते हैं और प्रत्यय का लुक् होता है। ठञ् के पक्ष में श्रवण होता है। तब चार रूप बनते हैं।

उदा॰ (1) द्विकुलजिकी
द्वे कुलिजे सम्भवत्यवहरति पचति वा—ष्ठन्, ङीष्, द्विकुलजिक ङीष्—विभक्तिकार्य।

(2) द्वैकुलिजीना
द्विकुलिज ख टाप्।

(3) द्विकुलिजा
ठञ् प्रत्यय का लुक्, टाप्।

(4) द्वैकुलिजिकी
ठञ्, आदिवृद्धि, ङीप्।

परिमाणा॰ 'परिमाणान्तस्या॰' यहाँ 'कुलिज' शब्द का ग्रहण करना चाहिए। तब उत्तरपद की वृद्धि भी नहीं होती है।

(1941) सोस्यांशवस्नभृतयः *56* (1722)

स इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत् प्रथमासमर्थमंशवस्नभृतयश्चेता भवन्ति। अंशो भागः। वस्नं मूल्यम्। भृतिर्वेतनम्। पञ्च अंशो वस्नो वा भृतिर्वास्य पञ्चकः। सप्तकः। साहस्रः।

अर्थ—यदि प्रथमासमर्थ अंश, वस्न तथा भृति—ये समानाधिकरण वाले हों तो षष्ठी के अर्थ में प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा॰ (1) पञ्चकः
पञ्चांऽशो वस्नो वा भृतिर्वास्य—कन्।

(2) सप्तकः
कन्, सु।

(3) साहस्रः
अण् हुआ।

(1942) तदस्य परिमाणम् *57* (1723)

तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत् प्रथमासमर्थं परिमाणं चेत्तद्भवति। प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः। खारीकः। शत्यः। शतिकः। साहस्रः। द्रौणिकः। कौडविकः। वर्षशतं परिमाणमस्य वार्षशतिकः। वार्षसहस्रिकः। षष्टिर्जीवितपरिमाणमस्येति षाष्टिकः। साप्ततिकः। समर्थविभक्तिः प्रत्ययार्थश्च पूर्वसूत्रादेवानुवर्त्तिष्यते, किमर्थं पुनरनयोरुपादानम्? पुनर्विधानार्थम्। द्वे षष्टी जीवितपरिमाणमस्य द्विषाष्टिकः। द्विसाप्ततिकः। पुनर्विधानसामर्थ्यादध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुक् (5.1.28) न भवति।

अर्थ—यदि प्रथमा समर्थ परिमाण समानाधिकरण वाला हो तो षष्ठी के अर्थ में प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा॰ (1) खारीकः
खारी ठक् सु।

(2) शात्यः
शत यत् सु।

(3) शतिकः
शत ठञ् सु।

(4) साहस्रः
अण्।

(5) द्रौणिकः (पूर्ववत्)।

(6) कौडविकः (पूर्ववत्)।

(7) वार्षशतिकः
वर्षशतं परिमाणम् अस्य।

(8) वार्षसाहस्रिकः (पूर्ववत्)।

(9) षाष्टिकः
षष्टिर्जीवितपरिमाणम् अस्य।

(10) द्विसाप्ततिकः
द्विसप्ततिः परिमाणम् अस्य।
प्रत्यय हुआ, उत्तरपदवृद्धि तथा 'सु'।

समर्थ०—समर्थ विभक्ति और प्रत्ययार्थ का पूर्व सूत्र से ही अनुवर्त्तन हो जायेगा तब इनका पुनः उपादान किसलिए है?

(समा०) पुनः विधान के लिए।

(11) द्विषाष्टिकः
द्वे षष्टी जीवितपरिमाणम् अस्य—पूर्ववत्।

(12) द्विसाप्ततिकः (पूर्ववत्)।

पुनर्विधान के सामर्थ्य से अध्यर्धपूर्व द्विगुलक्षण (प्रत्यय का) लुक् नहीं होता है।

(1943) संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु *58* (1724)

तदस्य परिमाणम् (5.1.57) इति वर्त्तते। संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात्परिमाणोपाधिकात्प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेष्विति प्रत्ययार्थविशेषणम्। तत्र संज्ञायां स्वार्थे प्रत्ययो वाच्यः (म०भा०) पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः। त्रिकाः शालङ्कायनाः। सङ्घ–पञ्च परिमाणमस्य पञ्चक सङ्घः। अष्टकः। सूत्र–अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य अष्टकं पाणिनीयम्। दशकं वैयाघ्रपदीयम्। त्रिकं काशकृत्स्नम्। ननु चाध्यायसमूहः सूत्रसङ्घ एव भवति? नैतदस्ति। प्राणिसमूहे सङ्घशब्दो रूढः। अध्ययन–पञ्चकोऽधीतः। सप्तकोऽधीतः। अष्टकः। नवकः। अधीतिरध्ययनम्, तस्य संख्यापरिमाणं पञ्चावृत्तयः पञ्चवाराः पञ्चरूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम्। *स्तोमे डविधिः पञ्चदशाद्यर्थः* (म०भा०)। पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः स्तोमः। सप्तदशः। एकविंशः। *शन्शतोर्डिनिश्छन्दसि*। पञ्चदशिनोऽर्द्धमासाः (तै०सं० 7.5.20.1)। त्रिंशिनो मासाः (तै०सं० 7.5.20.1)। *विंशतेश्चेति वक्तव्यम्*। विंशिनोऽङ्गिरसः।

अर्थ—यदि प्रथमान्त समर्थ संख्यावाची प्रातिपदिक परिमाण समानाधिकरण वाला हो तथा संज्ञा, संघ, सूत्र व अध्ययन अर्थ गम्यमान हो तो षष्ठी के अर्थ में उस प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पञ्चकः शकुनयः
पञ्चैव—कन् हुआ।

(2) त्रिकाः शालङ्कायनाः (पूर्ववत्)।

(3) अष्टकः
पूर्ववत्, संघ अर्थ में।

(4) अष्टकम्
अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य।

(5) दशकम् (पूर्ववत्)।

(6) त्रिकम् (पूर्ववत्)।

ननु०—अध्याय का समूह सूत्रसंघ ही होता है—ऐसा नहीं है। प्राणियों के समूह में संघ शब्द रूढ है।
पञ्चकोऽधीतः, सप्तकोऽधीतः। इसी प्रकार—

(7) नवकः (पूर्ववत्)।

स्तोमे ड—स्तोम अर्थ में पञ्चदश आदि से 'ड' प्रत्यय होता है—

(8) पञ्चदशः
पञ्चदशन् ड—टिलोप, सु।

(9) सप्तदशः (पूर्ववत्)।

(10) एकविंशः
एकविंशति ड → एकविंश अ सु—'ति' का लोप।

शन्शतो०—शन् व शत् अन्त वाले संख्यावाची शब्दों से 'डिनि' होता है, वेद के विषय में—

(11) पञ्चदशिनः (तै०सं०7.5.20.1.)
पञ्चदश परिमाणम् अस्य → पञ्चदशन् डिनि।

(12) त्रिंशिनः

त्रिंशत् डिनि → त्रिंश् इन्,
त्रिंशिन् जस्—रूप बना।

विंशति से भी 'डिनि' होता है।

(13) विंशिनः
विंशति डिनि।

(1944) पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टि-सप्तत्यशीतिनवतिशतम् *59* (1725)

तदस्य परिमाणम् (5.1.47) इति वर्त्तते। पङ्क्त्यादयः शब्दा निपात्यन्ते। यदिह लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम्। पञ्चानां टिलोपः तिः प्रत्ययश्च–पञ्च परिमाणमस्य पङ्क्तिश्छन्दः। द्वयोर्दशतोर्विन्भावः शतिश्च प्रत्ययः–द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्य विंशतिः (म० भा०)। त्रयाणां दशतां त्रिन् भावः शच्च प्रत्ययः–त्रयो दशतः परिमाणमस्य त्रिंशत्। चतुर्णां दशतां चत्वारिन् भावः शच्च प्रत्ययः–चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत्। पञ्चानां दशतां पञ्चाभावः शच्च प्रत्ययः–पञ्च दशतः परिमाणमस्य पञ्चाशत्। षण्णां दशतां षड् भावस्तिः प्रत्ययोऽपदत्वं च–षड् दशतः परिमाणमस्य षष्टिः। सप्तानां दशतां सप्तभावः तिः प्रत्ययश्च–सप्त दशतः परिमाणमस्य सप्ततिः। अष्टानां दशतामशीभावस्तिः प्रत्ययश्च–अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः। नवानां दशतां नवभावस्तिः प्रत्ययश्च–नव दशतः परिमाणमस्य नवतिः। दशानां दशतां शभावः तश्च प्रत्ययः–दश दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्य शतम्। विंशत्यादयो गुणशब्दास्ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः। नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम्, तथाहि पङ्क्तिरिति क्रमसन्निवेशेऽपि वर्त्तते–ब्राह्मणपङ्क्तिः, पिपीलिकापङ्क्तिरिति। न चात्रावयवार्थः कश्चिदस्ति। या चैषां विषयभेदेन गुणमात्रे गुणिनि च वृत्तिस्वलिङ्गसंख्यानुविधानं च, एतदपि सर्वं स्वाभाविकमेव। सहस्रादयोऽप्येवञ्जातीयकास्तद्वदेव द्रष्टव्याः। उदाहरणमात्रमेतदिति।

अर्थ—परिमाण है इसका—इस अर्थ में पंक्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति और शत—ये निपातनसिद्ध हैं। निपातन का अर्थ यह है कि जो प्रकृति, प्रत्यय तथा जो कार्य दृष्टिगोचर हों, उनका विधान जानना चाहिए।

उदा० (1) पङ्क्तिः
पञ्च (पादाः) परिमाणम् अस्य—
पञ्चन् ति—टि का लोप, चोः कुः, नैमित्तिक की निवृत्ति, सु।

(2) विंशतिः
द्वौ दशतौ परिमाणमस्य → द्विदशत् शति—विन् शति सु।

(3) त्रिंशत्
त्रयाणां दशताम् त्रिन् भावः—शत् प्रत्यय हुआ,
त्रिंशत् सु—अनुस्वार।

(4) चत्वारिंशत्
चत्वारो दशतः परिमाणम् अस्य—चतुर्णां दशताम्
चत्वारिन् शत्—पूर्ववत्।

(5) पञ्चाशत्
पञ्च दशतः परिमाणम् अस्य—पञ्चानां दशताम्
पञ्चा शत् सु—विभक्तिकार्य।

(6) षष्टिः
षण्णां दशताम्—षष् ति—पदसंज्ञा नहीं हुई,
षष्टि सु—ष्टुनाः ष्टुः।

(7) सप्ततिः
सप्तन् ति—पूर्ववत्,
सप्तति सु—सु।

(8) अशीतिः
अष्टौ दशतः परिमाणम् अस्य
अशी ति सु—पूर्ववत्।

(9) नवतिः
नव दशतः परिमाणम् अस्य—
नव ति सु—पूर्ववत्।

(10) शतम्
दश दशतः परिमाणम् अस्य—
शत सु—पूर्ववत्।

विंशत्यादयो—विंशति आदि गुण शब्द हैं। उनकी व्युत्पत्ति जैसे-तैसे करनी चाहिए। अवयव अर्थ में यहाँ अभिनिवेश नहीं करना चाहिए; क्योंकि 'पंक्ति' क्रमसन्निवेश में भी होता है। यथा—

ब्राह्मणपंक्तिः, पिपीलिकापंक्ति। यहाँ अवयवार्थ नहीं है। इन शब्दों का विषयभेद से कभी केवल गुण में अथवा गुणी अर्थों में जो प्रयोग होता है और अपने लिंग तथा संख्या का अनुविधान होता है, वह सब स्वाभाविक ही है।

पूर्वोक्त शब्दों के समान ही 'सहस्र' आदि शब्द भी जिस-किसी प्रकार व्युत्पादित करने चाहिए। सूत्र में तो केवल उदाहरण दिए गए हैं।

(1945) पञ्चद्दशतौ वर्गे वा *60* (1726)

पञ्चत् दशत् इत्येतौ वा निपात्येते तदस्य परिमाण-मित्येतस्मिन् विषये वर्गेऽभिधेये। संख्याया (5.1.58) इति कनि प्राप्ते डतिर्निपात्यते, वावचनात्पक्षे सोऽपि भवति–पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः, दशद्वर्गः। पञ्चको वर्गः, दशको वर्गः।

अर्थ—'यह है परिमाण इसका'—इस अर्थ में 'वर्ग' अभिधेय हो तो पञ्चत् व दशत् शब्दों का विकल्प से निपातन किया जाता है। 'संख्यायाः०' के द्वारा 'कन्' के प्राप्त होने पर 'डति' प्रत्यय का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) पञ्चत्
पञ्चन् डति → पञ्च् अत् सु।

(2) दशत्
दशन् डति—पूर्ववत्।

(3) पञ्चकः
पञ्चन् कन्—पक्ष में।

(4) दशकः (पूर्ववत्)।

(1946) सप्तनोऽञ् छन्दसि *61* (3491)

वर्ग इति वर्त्तते, तदस्य परिमाणमिति च। सप्तन् शब्दाच्छन्दसि विषयेऽञ् प्रत्ययो भवति वर्गेऽभिधेये। सप्त साप्तान्यसृजन् (तै०सं० 5.4.7.5)।

अर्थ—'यह है परिमाण इसका' इस अर्थ में 'वर्ग' अभिधेय हो तो 'सप्तन्' प्रातिपदिक से 'अञ्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) साप्तानि (तै०सं०5.4.7.5.)
सप्त परिमाणम् अस्य वर्गस्य—सप्तन् अञ्।

(1947) त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण् *62* (1727)

तदस्य परिमाणमित्येव। वर्ग इति निवृत्तम्। त्रिंशच्चत्वारिंशच्छब्दाभ्यां संज्ञायां विषये डण् प्रत्ययो भवति तदस्य परिमाणमित्येतस्मिन् विषये ब्राह्मणेऽभिधेये। अभिधेये सप्तम्येषा न विषयसप्तमी, तेन मन्त्रभाषयोरपि भवति। त्रिंशदध्यायाः परिमाणमेषां ब्राह्मणानां त्रैंशानि ब्राह्मणानि। चात्वारिंशानि ब्राह्मणानि। कानिचिदेव ब्राह्मणान्युच्यन्ते।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान हो तो 'यह है परिमाण इसका' इस अर्थ में त्रिंशत् व चत्वारिंशत् प्रातिपदिकों से 'डण्' प्रत्यय होता है, ब्राह्मणग्रन्थ अभिधेय हो तो।

उदा० (1) त्रैंशानि
त्रिंशद् अध्यायाः परिमाणम् एषां ब्राह्मणानाम्—
त्रिंशद् डण् → त्रिंश् अ जस्।
(2) चात्वारिंशानि (पूर्ववत्)।

(1948) तदर्हति *63* (1728)

तदति द्वितीयासमर्थादर्हति इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः। वास्त्रयुग्मिकः। शत्यः। शतिकः। साहस्रः।

अर्थ—'अर्हति' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) श्वैतच्छत्रिकः
श्वेतच्छत्र ठक् सु।
(2) वास्त्रयुग्मिकः
वस्त्रयुग्म ठक्।
(3) शत्यः
शत य सु।
(4) शतिकः (पूर्ववत्)।
(5) साहस्रः (पूर्ववत्)।

(1949) छेदादिभ्यो नित्यम् *64* (1729)

नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणम्। छेदादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यो नित्यमर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। छेदं नित्यमर्हति छैदिकः। भैदिकः। छेद। भेद। द्रोह। दोह। वर्त्त। कर्ष। सम्प्रयोग। विप्रयोग। प्रेषण। सम्प्रश्न। विप्रकर्ष। विरागो विरङ्गञ्च (ग०सू० 110)-(वैरङ्गिकः) छेदादिः।

अर्थ—प्रत्ययार्थ विशेषण के लिए 'नित्य' का ग्रहण है। 'अर्हति' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ छेदादि प्रातिपदिकों से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) छैदिकः
छेदं नित्यमर्हति—ठक् हुआ।

(2) भैदिकः
भेद ठक्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1950) शीर्षच्छेदाद्यच्च *65* (1730)

शीर्षच्छेदशब्दाद् द्वितीयासमर्थान्नित्यमर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति, चकाराद्यथाविहितश्च। शिरश्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्यः। शैर्षच्छेदिकः। प्रत्ययसन्नियोगेन शिरसः शीर्षभावो निपात्यते।

अर्थ—अर्हीय अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ शीर्षच्छेद शब्द से नित्य 'यत्' होता है तथा यथाविहित प्रत्यय भी होता है।

उदा० (1) शीर्षच्छेद्यः
शिरश्छेदम् अर्हति—यत् हुआ,
शीर्षच्छेद य सु—शीर्ष आदेश।

(2) शैर्षच्छेदिकः
शीर्षच्छेद ठक्—पक्ष में,
शैर्षच्छेदिक सु—आदिवृद्धि।
प्रत्यय के सन्नियोग से शिरस् के स्थान पर शीर्षन् निपातन से होता है।

(1951) दण्डादिभ्यो यः *66* (1731)

नित्यमिति निवृत्तम्। यदित्यनुवर्त्तते। दण्डादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्योऽर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति। ठकोऽपवादः। दण्डमर्हति दण्ड्यः। मुसल्यः। दण्ड। मुसल। मधुपर्क। कशा। अर्थ। मेधा। युग। उदक। वध। गुहा। भाग। इभ–दण्डादिः।

अर्थ—'नित्यम्' पद का अनुवर्त्तन नहीं है। 'अर्हति' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ दण्डादि प्रातिपदिकों से 'य' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) दण्ड्यः
दण्ड य सु।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1952) छन्दसि च *67* (3492)

प्रातिपदिकमात्राच्छन्दसि विषये तदर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। ठञादीनामपवादः। उदक्या वृत्तयः। यूप्यः पलाशः। गर्त्यो देशः।

अर्थ—'अर्हीय' अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से 'यत्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय में। यह ठञ् आदि का अपवाद है।

उदा० (1) उदक्या वृत्तयः
उदक यत्—
उदक्य टाप् जस्—विभक्तिकार्य।

(2) यूप्यः पलाशः
यूप यत् सु।

(3) गर्त्यः
गर्त यत् सु।

(1953) पात्राद् घंश्च *68* (1732)

पात्रशब्दाद् घन् प्रत्ययो भवति चकाराद्यच्च तदर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठक्ठञोरपवादः। पात्रं परिमाणमप्यस्ति। पात्रमर्हति पात्रियः। पात्र्यः।

अर्थ—'अर्हति' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'पात्र' शब्द से 'घन्' होता है तथा 'यत्' होता है। यह 'ठक्' और 'ठञ्' का अपवाद है। 'पात्र' परिमाण भी होता है।

उदा० (1) पात्रियः
पात्र घन् सु।

(2) पात्र्यः
पात्रम् अर्हति—'यत्' हुआ।

(1954) कडङ्करदक्षिणाच्छ च *69* (1733)

कडङ्करदक्षिणाशब्दाभ्यां छः प्रत्ययो भवति चकाराद्यच्च तदर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे विषये। ठकोऽपवादः। कडङ्करमर्हति कडङ्करीयो गौः। कडङ्कर्यः। दक्षिणामर्हति दक्षिणीयो भिक्षुः। दक्षिण्यो ब्राह्मणः। दक्षिणाशब्दस्याल्पाच्तरस्य अपूर्वनिपातेन लक्षणव्यभिचारचिह्नेन यथासंख्याभावं सूचयति।

अर्थ—'अर्हति' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ कडङ्कर व दक्षिणा शब्दों से 'छ' प्रत्यय होता है तथा 'यत्' होता है। यह 'ठक्' का अपवाद है।

उदा० (1) कडङ्करीयः
कडङ्करमर्हति—छ, ईय, सु।

(2) कडङ्कर्यः
कडङ्कर य सु।

(3) दक्षिणीयः
दक्षिणाम् अर्हति—छ।

(4) दक्षिण्यः
दक्षिणा य सु।

दक्षिण०—'कडङ्करदक्षिणा' पद में अल्पाच्तर होने से दक्षिणा शब्द का पूर्वनिपात होना था। दक्षिणा शब्द के अपूर्व निपात के द्वारा इस विधि के व्यभिचार लक्षण के द्वारा सूचित होता है कि यहाँ यथासंख्य विधि नहीं होती है।

(1955) स्थालीबिलात् *70* (1734)

छयतावनुवर्त्तेते। स्थालीबिलशब्दाच्छयतौ प्रत्ययौ भवतः तदर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे। ठकोऽपवादौ। स्थालीबिलमर्हन्ति स्थालीबिलीयास्तण्डुलाः। स्थलीबिल्याः पाकयोग्या इत्यर्थः।

अर्थ—छ, यत्—इनका अनुवर्त्तन नहीं है। 'तदर्हति' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ स्थालीबिल प्रातिपदिक से 'छ' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं। ये 'ठक्' के अपवाद हैं।

उदा० (1) स्थलीबिलीयाः
स्थालीबिलम् अर्हन्ति—छ, ईय आदेश, जस्।

(2) स्थालीबिल्याः
स्थालीबिल य जस्—पूर्ववत्।

(1956) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ *71* (1735)

यज्ञशब्दादृत्विक्शब्दाच्च यथासंख्यं घखञौ प्रत्ययौ भवतः तदर्हतीत्येतस्मिन् विषये। ठकोऽपवादः। यज्ञियो ब्राह्मणः। आर्त्विजीनो ब्राह्मणः। *यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम्*। यज्ञकर्मार्हति यज्ञियो देशः। ऋत्विक्कर्मार्हति आर्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम्। आर्हीयाणां ठगादीनां पूर्णोऽवधिः, अतः परं प्राग्वतीयष्ठञेव भवति।

अर्थ—'अर्हति' अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ यज्ञ तथा ऋत्विज् प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'घ' तथा 'खञ्' होते हैं। ये 'ठक्' के अपवाद हैं।

उदा० (1) यज्ञियः
यज्ञ छ → यज्ञिय सु।

(2) आर्त्विजीनः
ऋत्विज् खञ्—आदिवृद्धि, ईन आदेश।

यज्ञर्त्वि०—यज्ञकर्म और ऋत्विज् कर्म के योग्य है—इस अर्थ में भी यज्ञ व ऋत्विज् शब्दों से पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं—

(3) यज्ञियो देशः
यज्ञकर्मार्हति—'घ' हुआ।

(4) आर्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम्
ऋत्विक् कर्मार्हति—खञ्, ईन आदेश।

अर्हीय अर्थों में विहित 'ठक्' आदि की अवधि पूर्ण हो चुकी है। इससे पर 'प्राग्वतीयष्ठञ्' से 'ठञ्' ही होता है।

(1957) पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्त्तयति *72* (1736)

समर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। अर्हतीति निवृत्तम्। पारायणादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यो वर्त्तयतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। पारायणं वर्त्तयत्यधीते पारायणिकश्छात्रः। तौरायणिको यजमानः। चान्द्रायणिकस्तपस्वी।

अर्थ—'समर्थविभक्ति' का अनुवर्त्तन है। 'अर्हति' की निवृत्ति हो गई है। बरतता है—इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ पारायण, तुरायण व चान्द्रायण प्रातिपदिकों से 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) पारायणिकः
पारायणं वर्त्तयति—ठञ्, ठस्येकः।

(2) तौरायणिकः
ठञ्, आदिवृद्धि।

(3) चान्द्रायणिकः
चान्द्रायण ठञ्।

(1958) संशयमापन्नः *73* (1737)

संशयशब्दाद् द्वितीयासमर्थादापन्न इत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। संशयमापन्नः प्राप्तः सांशयिकः स्थाणुः।

अर्थ—'प्राप्त' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'संशय' प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) सांशयिकः
संशयम् आपन्नः।

(1959) योजनं गच्छति *74* (1738)

योजनशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद्गच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। योजनं गच्छति यौजनिकः। *क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्* (म०भा०)। क्रोशशतं गच्छति क्रौशशतिकः। यौजनशतिकः। *ततोऽभिगमनमर्हतीति च क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्*। क्रोश-

शतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिको भिक्षुः । यौजनशतिक आचार्यः ।

अर्थ—'जाता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'योजन' प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है ।

उदा० (1) यौजनिकः
योजनं गच्छति—ठञ्, आदिवृद्धि ।

क्रोश—क्रोशशत व योजनशत शब्दों से 'ठञ्' होता है—

(2) क्रौशशतिकः (पूर्ववत्) ।
(3) यौजनशतिकः
योजनशत ठञ्—पूर्ववत् ।

ततोऽभि०—अभिगमन-योग्य है—इस अर्थ में क्रोशशत व योजनशत शब्दों से 'ठञ्' होता है—

(4) क्रौशशतिको भिक्षुः
क्रोशशताद् अभिगमनमर्हति—ठञ् ।

(5) यौजनशतिक आचार्यः (पूर्ववत्) ।

(1960) पथः ष्कन् *75* (1739)

पथिन्शब्दाद् द्वितीयासमर्थाद्गच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्कन् प्रत्ययो भवति । नकारः स्वरार्थः । षकारो ङीषर्थः । पन्थानं गच्छति पथिकः । पथिकी ।

अर्थ—जाता है—इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'पथिन्' शब्द से 'ष्कन्' होता है । 'न्' अनुबन्ध स्वर के लिए है । 'ष्' अनुबन्ध स्त्रीत्व में ङीष् के लिए है ।

उदा० (1) पथिकः
पन्थानं गच्छति → पथि ष्कन्—नकारलोप,

(2) पथिकी
पथिक ङीष् सु ।

(1961) पन्थो ण नित्यम् *76* (1740)

नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणम् । पथः पन्थ इत्ययमादेशो भवति णश्च प्रत्ययो नित्यं गच्छतीत्येतस्मिन् विषये । पन्थानं नित्यं गच्छति पान्थो भिक्षां याचते । नित्यमिति किम् ? पथिकः ।

अर्थ—नित्यग्रहण प्रत्ययार्थ का विशेषण है । 'नित्य जाता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त समर्थ 'पथिन्' प्रातिपदिक के स्थान पर 'पन्थ' आदेश होता है तथा 'ण' प्रत्यय होता है ।

उदा० (1) पान्थः
पन्थानं नित्यं गच्छति → पन्थ ण—आदिवृद्धि ।

नित्यम्० अर्थात् नित्य जाता है—इस अर्थ में 'ण' होता है—

(2) पथिकः
यहाँ 'पन्थ' आदेश व 'ण' प्रत्यय नहीं हुआ ।

(1962) उत्तरपथेनाहृतं च *77* (1741)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । उत्तरपथशब्दात्तृतीयासमर्थादाहृतमित्येतस्मिन् विषये ठञ् प्रत्ययो भवति । चकारः प्रत्ययार्थसमुच्चये, गच्छतीति च । अत्रापि तृतीयैव समर्थविभक्तिः । उत्तरपथेनाहृतमौत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन गच्छति औत्तरपथिकः । *आहृतप्रकरणे वारिजङ्गलस्थलकान्तारपूर्वपदादुपसंख्यानम्* (म० भा०) । वारिपथेनाहृतं वारिपथिकम् । वारिपथेन गच्छति वारिपथिकः । जङ्गलपथेनाहृतं जाङ्गलपथिकम् । जङ्गलपथेन गच्छति जाङ्गलपथिकः । स्थलपथेनाहृतं स्थालपथिकम् । स्थलपथेन गच्छति स्थालपथिकः । कान्तारपथेनाहृतं कान्तारपथिकम् । कान्तारपथेन गच्छति कान्तारपथिकः । *अजपथशङ्कुपथाभ्यां चोपसंख्यानम्* । अजपथेनाहृतं गच्छति वा आजपथिकः । शङ्कुपथेनाहृतं गच्छति वा शाङ्कुपथिकः । *मधुकमरिचयोरण् स्थलात्* । स्थलपथेनाहृतं स्थालपथं मधुकम् । स्थालपथं मरिचम् ।

अर्थ—निर्देश के द्वारा समर्थ विभक्ति है । लाया हुआ—इस अर्थ में तथा जाता है—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ उत्तरपद प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है । चकार से 'गच्छति' का अनुकर्षण होता है ।

उदा० (1) औत्तरपथिकम्
उत्तरपथेनाहृतम् ।

(2) औत्तरपथिकः
उत्तरपथेन गच्छति ।

आहृत०—'आहृत' व 'गच्छति'—इन अर्थों में वारि, जङ्गल स्थल व कान्तारपूर्वक तृतीयान्त समर्थ शब्द से 'ठञ्' होता है—

(3) वारिपथिकम्
वारिपथेनाऽऽहृतम् ।

(4) वारिपथिकः
वारिपथेन गच्छति ।

(5) जाङ्गलपथिकम्
जङ्गलपथेनाऽऽहृतम्।

(6) जाङ्गलपथिकः
जङ्गलपथेन गच्छति।

(7) स्थालपथिकम्
स्थलपथेनाऽऽहृतम्।

(8) स्थालपथिकः
स्थलपथेन गच्छति।

(9) कान्तारपथिकम्
कान्तारपथेनाऽऽहृतम्।

(10) कान्तारपथिकः
कान्तारपथेन गच्छति।

अज०—अजपथ व शंकपथ शब्दों से 'ठञ्' होता है—

(11) आजपथिकः
अजपथ ठञ्।

(12) शाङ्कपथिकः (पूर्ववत्)।

मधुक०—मधुक व मरिच अर्थों में स्थलपूर्वक 'पथ' शब्द से 'अण्' होता है—

(13) स्थालपथं मधुकम्
स्थलपथेनाऽऽहृतम्।

(14) स्थालपथं मरिचम् (पूर्ववत्)।

(1963) कालात् *78* (1742)

कालादित्यधिकारः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कालादित्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति–तेन निर्वृत्तम् (5.1.79)। मासेन निर्वृत्तं मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। कालादित्यधिकारो व्युष्टादिभ्योऽण् (5.1.97) इति यावत्।

अर्थ—कालात्—यह अधिकार है। यहाँ से लेकर 'व्युष्टादिभ्योऽण्' (5.1.97) तक जो-जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे सभी कालवाची प्रातिपदिकों से होते हैं।

उदा० (1) मासिकम्
अगला सूत्र देखें।
(2) आर्द्धमासिकम्
(3) सांवत्सरिकम्
आगे सूत्र कहा जायेगा।

(1964) तेन निर्वृत्तम् *79* (1743)

तेनेति तृतीयासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकान्निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्।

अर्थ—बनाया हुआ—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) आह्निकम्
अह्ना निर्वृत्तम्—आदिवृद्धि।
(2) आर्द्धमासिकम्
अर्द्धमास् ठञ्।

(1965) तमधीष्टो भृतो भूतो भावी *80* (1744)

तमिति द्वितीयासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकादधीष्टो भृतो भूतो भावी वेत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। अधीष्टः = सत्कृत्य व्यापारितः। भृतः = वेतनेन क्रीतः। भूतः = स्वसत्तया व्याप्तकालः। भावी = तादृश एवानागतः। कालाध्वनोः (2.3.5) इति द्वितीया। मासमधीष्टो मासिकोऽध्यापकः। मासं भृतो मासिकः कर्मकरः। मासं भूतो मासिको व्याधिः। मासं भावी मासिक उत्सवः। ननु चाध्येषणं भरणं च मुहूर्त्तं क्रियते, तेन कथं मासो व्याप्यते? अध्येषणभरणे क्रियार्थे, तत्र फलभूतया क्रियया मासो व्याप्यमानस्ताभ्यामेव व्याप्त इत्युच्यते।

अर्थ—सत्कारपूर्वक व्यापार, खरीदा हुआ, हो चुका तथा होने वाला—इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) मासिकः

मासम् अधीष्टः	सर्वत्र 'ठञ्' हुआ।
मासं भृतः	
मासं भूतः	
मासं भावी	

अध्येषण तथा भरण मुहूर्त्त भर होता है, अतः मास भर कैसे होता है? अध्येषण और भरण तो क्रिया के लिए हैं। उनमें फलभूत क्रिया द्वारा व्याप्त किया जाने वाला महीना—उन दोनों से व्याप्त मान लिया जाता है।

(1966) मासाद्वयसि यत्खञौ *81* (1745)

मासशब्दाद्वयस्यभिधेये यत्खञौ प्रत्ययौ भवतः। ठञोऽपवादः। अधीष्टादीनां चतुर्णामधिकारेऽपि सामर्थ्याद् भूत

इत्येवाभिसम्बध्यते । मासं भूतो मास्यः, मासीनः । वयसीति किम् ? मासिकम् ।

अर्थ—'भूत' अर्थ में 'मास' प्रातिपदिक से 'यत्' तथा 'खञ्' होते हैं, यदि 'अवस्था' गम्यमान हो । ये 'ठञ्' के अपवाद हैं। अधीष्ट आदि चार पदों का अधिकार होने पर भी सामर्थ्यवश 'भूते' का यहाँ सम्बन्ध है ।

उदा० (1) मास्य—'यत्' हुआ ।
(2) मासीनः—'खञ्' हुआ ।

वयसि० अर्थात् अवस्था गम्यमान हो तो प्रत्यय होते हैं—

(3) मासिकम्
मास ठञ्—पूर्वोक्त प्रत्यय नहीं हुए ।

(1967) द्विगोर्यप् *82* (1746)

मासाद्वयसीति वर्त्तते । मासान्ताद् द्विगोर्यप् प्रत्ययो भवति वयस्यभिधेये । द्वौ मासौ भूतो द्विमास्यः । त्रिमास्यः ।

अर्थ—'अवस्था' गम्यमान हो तो 'भूत' अर्थ में 'मास' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से 'यप्' होता है।

उदा० (1) द्विमास्य:
द्वौ भूतः—'यप्' हुआ ।

(2) त्रिमास्य:
पूर्ववत् 'यप्' हुआ ।

(1968) षण्मासाण्ण्यच्च *83* (1747)

वयसीत्येव । षण्मासशब्दाद्वयस्यभिधेये ण्यत् प्रत्ययो भवति, यप् च । औत्सर्गिकष्ठञपीष्यते, स चकारेण समुच्चेतव्यः । स्वरितत्वाच्चानन्तरोऽनुवर्त्तिष्यते । तेन त्रैरूप्यं भवति–षाण्मास्यः, षण्मास्यः, षाण्मासिकः ।

अर्थ—'अवस्था' गम्यमान हो तो 'भूत' अर्थ में षण्मास प्रातिपदिक से 'ण्यत्' तथा 'यप्' प्रत्यय होते हैं। औत्सर्गिक 'ठञ्' भी होता है। स्वरित होने से आगे अनुवर्त्तन किया जायेगा। अतः तीन रूप होते हैं ।

उदा० (1) षाण्मास्य:
ण्यत्, आदिवृद्धि हुई ।

(2) षण्मास्य:
यप्, आदिवृद्धि नहीं हुई ।

(3) षाण्मासिकः
ठञ् हुआ ।

(1969) अवयसि ठँश्च *84* (1748)

षण्मासशब्दादवयस्यभिधेये ठन् प्रत्ययो भवति । चकारेणानन्तरस्य ण्यस्य समुच्चयः क्रियते । षण्मासिको रोगः । षाण्मास्यः ।

अर्थ—'भूत' अर्थ में षण्मास प्रातिपदिक से 'ठन्' तथा 'ण्यत्' होते हैं, यदि 'अवस्था' गम्यमान न हो ।

उदा० (1) षण्मासिकः
ठन्, आदिवृद्धि नहीं हुई ।

(2) षाण्मास्य:
ण्यत् हुआ ।

(1970) समायाः खः *85* (1749)

अधीष्टादयश्चत्वारोऽर्था अनुवर्त्तन्ते । समाशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् अधीष्टादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति । ठञोऽपवादः । समामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा समीनः । केचित्तु तेन निर्वृत्तम् (7.1.79) इति सर्वत्रानुवर्त्तयन्ति–समया निर्वृत्तः समीनः ।

अर्थ—'अधीष्ट' आदि चारो अर्थों का अनुवर्त्तन है। अधीष्ट आदि अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ 'समा' प्रातिपदिक से 'ख' होता है। यह 'ठञ्' का अपवाद है ।

उदा० (1) समीनः
समाम् अधीष्टः
समां भृतः
समां भूतः
समां भावी
} ख हुआ ।

कुछ विद्वान् 'निर्वृत्तः' का भी अनुवर्त्तन स्वीकार करते हैं।

(1971) द्विगोर्वा *86* (1750)

समायाः ख (5.1.85) इत्येव । समाशब्दान्ताद् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु पञ्चसु वा खः प्रत्ययो भवति । पूर्वेण नित्यः प्राप्तो विकल्प्यते । प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि (7.3.17) इति प्राप्तिरस्त्येव । खेन भुक्ते पक्षे ठञपि भवति–द्विसमीनः, द्वैसमिकः; त्रिसमीनः, त्रैसमिकः ।

अर्थ—'समायाः खः' का अनुवर्त्तन है। अभीष्ट आदि अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ समा शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से 'ख' विकल्प से होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य प्राप्त होने पर विकल्प

कहा जा रहा है। 'वति' से पूर्व तक संख्यापूर्वपद शब्दों का अलुक् में तदन्तग्रहण होता है। पक्ष में 'ठञ्' भी होता है।

उदा० (1) द्विसमीनः

द्विसम ख।

(2) द्वैसमिकः

द्विसम ठञ्।

(3) त्रिसमीनः

त्रिसम ख।

(4) त्रैसमिकः

त्रिसम ठञ्।

(1972) रात्र्यहस्संवत्सराच्च *87* (1751)

द्विगोरित्येव। रात्रि अहः संवत्सर इत्येवमन्ताद् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु वा खः प्रत्ययो भवति। खेन मुक्ते पक्षे ठञपि भवति। द्विरात्रीणः। द्वैरात्रिकः। त्रिरात्रिणः। त्रैरात्रिकः। द्व्यहीनः। द्वैयह्निकः। त्र्यहीणः। त्रैयह्निकः। द्विसंवत्सरीणः। द्विसांवत्सरिकः। त्रिसंवत्सरीणः। त्रिसांवत्सरिकः। संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च (7.3.15) इत्युत्तरपदवृद्धिः।

अर्थ—अधीष्ट आदि अर्थों में रात्रि, अहन् तथा संवत्सर—ये शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे द्वितीयान्त समर्थ द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से 'ख' प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में 'ठञ्' भी होता है।

उदा० (1) द्विरात्रीणः

द्विरात्र ख।

(2) द्वैरात्रिकः

द्विरात्र ठञ्।

(3) त्रिरात्रीणः

त्रिरात्र ख।

(4) त्रैरात्रिकः

त्रिरात्र ठञ्।

(5) द्व्यहीनः

द्व्यह ख।

(6) द्वैयह्निकः

ठञ् हुआ।

(7) त्र्यहीणः

ठञ् हुआ।

(8) त्रैयह्निकः

ठञ् हुआ।

(9) द्विसंवत्सरीणः

'ख' हुआ।

(10) द्विसांवत्सरिकः

ठञ् हुआ।

(11) त्रिसंवत्सरीणः

ख हुआ।

(11) त्रिसांवत्सरिकः

ठञ् हुआ।

संवत्सर के उत्तरपद में रहते संख्या शब्द के उत्तरपद की वृद्धि होती है।

(1973) वर्षाल्लुक् च *88* (1753)

द्विगोरित्येव। वर्षान्ताद् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु वा खः प्रत्ययो भवति, पक्षे ठञ्, तयोश्च वा लुग् भवति। एवं त्रीणि रूपाणि भवन्ति–द्विवर्षीणो व्याधिः, द्विवार्षिकः, द्विवर्षः। त्रिवर्षीणः, त्रिवार्षिकः, त्रिवर्षः। वर्षस्याभविष्यति (7.3.16) इत्युत्तरपदवृद्धिः। भाविनि तु–त्रैवर्षिकः।

अर्थ—'वर्ष' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे द्विगुसंज्ञक द्वितीयान्त समर्थ शब्द से अधीष्ट आदि अर्थों में विकल्प से 'ख' प्रत्यय होता है तथा विकल्प से उस प्रत्यय का लुक् होता है।

उदा० (1) द्विवर्षीणः

द्विवर्ष ख सु।

पक्षे—पक्ष में ठञ् होता है। उनका लुक् होता है। इस प्रकार तीन रूप होते हैं।

(2) द्विवार्षिकः

'ठञ्' हुआ।

(3) द्विवर्षः

लुक् हुआ।

(4) त्रिवर्षीणः

'ख' हुआ।

(5) त्रिवार्षिकः

'ठञ्' हुआ।

(6) त्रिवर्षः
लुक् हुआ।
उत्तरपदवृद्धि होती है।

(7) त्रैवार्षिकः
उभयपदवृद्धि हुई।

(1974) चित्तवति नित्यम् *89* (1755)

चित्तवति प्रत्ययार्थेऽभिधेये वर्षशब्दान्ताद् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषूत्पन्नस्य प्रत्ययस्य नित्यं लुग् भवति। पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते वचनम्। द्विवर्षो दारकः। चित्तवतीति किम्? द्विवर्षीणो व्याधिः।

अर्थ—यदि 'चेतन' प्रत्ययार्थ गम्यमान हो तो अधीष्ट आदि अर्थों में 'वर्ष' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे द्विगुसंज्ञक द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से विहित का नित्य लुक् होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा विकल्प प्राप्त होने पर यह विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) द्विवर्षः
प्रत्यय का लुक्।

चित्तवति० अर्थात् चेतन प्रत्ययार्थ गम्यमान हो तो प्रत्यय का लुक् होता है—
(2) द्विवर्षीणः
लुक् नहीं हुआ।

(1975) षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते *90* (1756)

षष्टिकशब्दो निपात्यते। बहुवचनमतन्त्रम्। षष्टिरात्रशब्दात्तृतीयासमर्थात् कन् प्रत्ययो निपात्यते पच्यन्त इत्येतस्मिन्नर्थे रात्रिशब्दस्य च लोपः। षष्टिरात्रेण पच्यन्ते षष्टिकाः। संज्ञैषा धान्यविशेषस्य, तेन मुद्गादिष्वतिप्रसङ्गो न भवति।

अर्थ—षष्टिक शब्द का निपातन किया जाता है। 'पकाया जाता है' इस अर्थ में 'षष्टिक' शब्द निपातित है। अष्टाध्यायी में बहुवचनान्त निपातन अनेकत्र प्राप्त होता है। काशिकाकार के अनुसार यह अनुचित है।

उदा० (1) षष्टिकाः
षष्टिरात्रेण पच्यन्ते—'रात्रि' शब्द का लोप,
षष्टि कन् जस्—रूप बना।

(1976) वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि *91* (3493)

वत्सरान्तात्प्रातिपदिकान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु छन्दसि विषये छः प्रत्ययो भवति। ठञोऽपवादः। इद्वत्सरीयः। इदावत्सरीयः (काठ०सं० 13.15.71)।

अर्थ—वेद के विषय में अधीष्ट आदि अर्थों में वत्सर शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'छ' होता है। यह 'ठञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) इद्वत्सरीयः
इद्वत्सर छ सु।

(2) इदावत्सरीयः
'छ' हुआ।

(1977) सम्परिपूर्वात्ख च *92* (3494)

सम्परिपूर्वाद्वत्सरान्तात् प्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये निर्वृत्तादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति चकाराच्छश्च। संवत्सरीणः (तै०सं० 4.3.13.4)। परिवत्सरीणम् (ऋ० 7.10.3.8)। संवत्सरीयः। परिवत्सरीयः (का०सं० 13.15.71)।

अर्थ—वेद के विषय में अधीष्ट अर्थों में सम् व परि शब्द हैं पूर्व में जिसके तथा वत्सर शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे द्वितीयान्त समर्थ शब्द से 'ख' होता है तथा 'छ' भी होता है।

उदा० (1) संवत्सरीणः
ख, णत्व।

(2) परिवत्सरीणः
ख, णत्व।

(3) संवत्सरीयः
छ हुआ।

(4) परिवत्सरीयः
छ हुआ।

(1978) तेन परिजय्यलभ्यकार्यसुकरम् *93* (1757)

तेनेति तृतीयासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् परिजय्य लभ्य कार्य सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् प्रत्ययो भवति। मासेन परिजय्यः, शक्यते जेतुं मासिको व्याधिः। सांवत्सरिकः। मासेन लभ्यो मासिकः पटः। मासेन कार्यं मासिकं चान्द्रायणम्। मासेन सुकरो मासिकः प्रासादः।

अर्थ—'जीता जा सकता है' प्राप्त करने योग्य है, 'किया

जा सके तथा सुगमता से किया जा सके'—इन अर्थों में तृतीयान्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) मासिकः

मासेन परिजय्यः
मासेन लभ्यः
मासेन कार्यः
मासेन सुकरः
} ठञ् हुआ।

(2) सांवत्सरिकः
'ठञ्' हुआ।

(1979) तदस्य ब्रह्मचर्यम् *94* (1758)

तदिति द्वितीया समर्थविभक्तिः, सा चात्यन्तसंयोगे। अस्येति प्रत्ययार्थः। ब्रह्मचर्यमिति द्वाभ्यामपि सम्बध्यते–कालस्य व्यापकं प्रत्ययार्थस्य च स्वमिति। तदिति द्वितीया-समर्थात्कालवाचिनः प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ब्रह्मचर्यं चेत् गम्यते। मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी। आर्द्धमासिकः। सांवत्सरिकः। अपरा वृत्तिः– तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति यत्तदस्येति निर्दिष्टं ब्रह्मचर्यं चेत्तद्भवति। मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। पूर्वत्र ब्रह्मचारी प्रत्ययार्थः, उत्तरत्र ब्रह्मचर्यमेव। उभयमपि प्रमाणमु-भयथा सूत्रप्रणयनात्। *महानाम्न्यादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०)। माहानाम्निकम्। गौदानिकम्। आदित्यव्रतिकम्। *तच्चरतीति च*। महानाम्न्य ऋचः, तत्सहचरितं व्रतं तच्छब्देनोच्यते। महानाम्नीश्चरति माहा-नामिकः। आदित्यव्रतिकः। गौदानिकः। भस्याढे (6.3.35 वा०) इति पुंवद्भावेन ङीषि निवृत्ते 'नस्तद्धिते' (6.1.144) इति टिलोपः। *अवान्तरदीक्षादिभ्यो डिनि-र्वक्तव्यः*। अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तरदीक्षी। तिलव्रती। *अष्टाचत्वारिंशतो ड्वुंश्च डिनिश्च वक्तव्यः*। अष्टाच-त्वारिंशद्वर्षाणि व्रतं चरति अष्टाचत्वारिंशकः। अष्टाच-त्वारिंशी। *चातुर्मास्यानां यलोपश्च ड्वुंश्च डिनिश्च वक्त-व्यः*। चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासकः। चातुर्मासी। *चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्र भवे*। चतुर्षु मासेषु भवानि चातुर्मास्यानि। *संज्ञायामण्वक्तव्यः*। चतुर्षु मासेषु भवा चातुर्मासी पौर्णमासी। आषाढी। कार्तिकी। फाल्गुनी।

अर्थ—'तद्' यह द्वितीया समर्थ विभक्ति है। वह अत्यन्त संयोग में है। 'अस्य' यह प्रत्ययार्थ है। 'ब्रह्मचर्यम्' पद का दोनों के साथ सम्बन्ध है। ब्रह्मचर्य अर्थ गम्यमान हो तो षष्ठी के अर्थ में द्वितीया समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) मासिकः
मासं ब्रह्मचारी—ठञ् हुआ।

(2) आर्द्धमासिकः
ठञ्।

(3) सांवत्सरिकः
ठञ्।

कुछ विद्वानों के अनुसार 'तद्' यह प्रथमान्त है। तब विग्रह इस प्रकार होगा—

मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य—मासिकं ब्रह्मचर्यम्।
इसी प्रकार शेष उदाहरण जानने चाहिए।

प्रथम अर्थ के अनुसार प्रत्ययार्थ 'ब्रह्मचारी' है तथा द्वितीय अर्थ के अनुसार प्रत्ययार्थ 'ब्रह्मचर्यम्' है। दोनों अर्थ उचित हैं।

महानाम्न्या०—महानाम्नी आदि षष्ठी समर्थ से 'ठञ्' होता है—

(4) महानामिकः
महानाम्नीश्चरति—ठञ्।

(5) गोदानिकः
'भस्याढे' इस प्रकार पुंवद्भाव के द्वारा ङीप् के निवृत्त हो जाने पर 'नस्तद्धिते' से टि का लोप होता है।

अवान्तर०—अवान्तरदीक्षा आदि शब्दों से 'डिनि' होता है—

(6) अवान्तरदीक्षी
अवान्तरदीक्षां चरति—डिनि, टिलोप, सु।

(7) तिलव्रती (पूर्ववत्)।

अष्टा०—अष्टाचत्वारिंशत् शब्द से ड्वुन् तथा डिनि होते हैं—

(8) अष्टाचत्वारिंशकः
अष्टाचत्वारिंशत् वर्षाणि व्रतं चरति—
अष्टाचत्वारिंश् वु → अष्टाचत्वारिंशक सु—युवोरनाकौ।

(9) अष्टाचत्वारिंशी
अष्टाचत्वारिंशत् डिनि सु—टिलोप।

चातुर्मास्या०—चातुर्मास्य शब्दों का यलोप होता है तथा ड्वुन् व डिनि प्रत्यय होते हैं—

(10) चातुर्मासकः
चातुर्मास्यानि चरति—ड्वुन्, अक आदेश,
चातुर्मास् अक सु—यलोप।

(11) चातुर्मासी
डिनि हुआ।

चतुर्मासा०—यज्ञ में होने वाला—इस अर्थ में 'चतुर्मास' से 'ण्य' होता है—

(12) चातुर्मास्यानि
चतुर्षु मासेषु भवानि → चतुर् मास ण्य—आदिवृद्धि, चातुर्मास्य जस्—विभक्तिकार्य।

सञ्ज्ञाया०—संज्ञा अर्थ में 'चातुर्मास' से अण् होता है—

(13) चातुर्मासी
चतुर्षु मासेषु भवा—अण्, ङीप् हुआ।

(14) आषाढी (पूर्ववत्)।

(15) कार्त्तिकी (पूर्ववत्)।

(16) फाल्गुनी (पूर्ववत्)।

(1980) तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः *95* (1759)

तस्येति षष्ठीसमर्थेभ्यो यज्ञाख्येभ्यो दक्षिणेत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी। वाजपेयिकी। राजसूयिकी। आख्याग्रहणमकालादपि यज्ञवाचिनो यथा स्यादिति। इतरथा हि कालाधिकारादेकाहद्वादशाहप्रभृतय एव यज्ञा गृह्येरन्। प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि (7.3.17) इति कालाधिकारेऽपि द्वादशाहादिष्वस्ति प्राप्तिः।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ यज्ञ की आख्या वाले प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है, 'दक्षिणा' इस अर्थ में।

उदा० (1) आग्निष्टोमिकी
अग्निष्टोमस्य दक्षिणा—ठञ्, ङीप्, सु।

(2) वाजपेयिकी
वाजपेय ठञ् ङीप्।

(3) राजसूयिकी
राजसूय—पूर्ववत्।

आख्या०—'आख्या' का ग्रहण है ताकि अकालवाची से तथा यज्ञवाची से प्रत्यय हो जाय। अन्यथा 'कालात्' इस अधिकार से एकाह, द्वादशाह प्रभृति शब्दों का ग्रहण होता है। 'वति' से पूर्व तक संख्या पूर्वपद शब्दों का अलुक् में तदन्त विधि होती है। तब 'कालात्' इस अधिकार में भी द्वादशाह आदियों में भी होता है।

(1981) तत्र च दीयते कार्यं भववत् *96* (1760)

तत्रेति सप्तमीसमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकाद्दीयते कार्यमित्येतयोरर्थयोर्भववत्प्रत्ययो भवति। यथा–मासे भवं मासिकम्। सांवत्सरिकम्। प्रावृषेण्यम्। वासन्तिकम्। वासन्तम्। हैमनम्। हैमन्तम्। हैमन्तिकम्। शारदम्। तथा मासे दीयते कार्यं वा मासिकम्। सांवत्सरिकम्। प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यमित्यादि। वतिः सर्वसादृश्यार्थः। योगविभागश्चात्र कर्त्तव्यः–तत्र च दीयते, यज्ञाख्येभ्य इति। अग्निष्टोमे दीयते आग्निष्टोमिकं भक्तम्। राजसूयिकम्। वाजपेयिकम्। कालाधिकारस्य पूर्णोऽवधिः, अतः परं सामान्येन प्रत्ययविधानम्।

अर्थ—दिया जाता है, करने योग्य है—इन अर्थों में सप्तम्यन्त समर्थ कालवाची प्रातिपदिक से 'भव' अर्थ के समान प्रत्यय होता है।

उदा० (1) मासिकम्
मासे दीयते, मासे कार्यम् } 'भव' के समान प्रत्यय हुआ।

(2) सांवत्सरिकम्
आदिवृद्धि।

(3) प्रावृषेण्यम्
एण्य हुआ।

(4) वासन्तिकम्
ठस्येकः।

(5) वासन्तम्
अण् हुआ।

(6) हैमन्यम्
यत् हुआ।

(7) हैमन्तिकम्
ठञ् हुआ।

(8) शारदम्
अण् हुआ।

वतिः—सर्व सादृश्य के लिए 'वति' है। इसका योगविभाग करना चाहिए। यथा—

(क) तत्र च दीयते,
(ख) यज्ञाख्येभ्यः।

(9) आग्निष्टोमिकम् (भक्तम्)
पूर्ववत्।

(10) राजसूयिकम् (पूर्ववत्)।

(11) वाजपेयिकम् (पूर्ववत्)।

'कालात्' इस अधिकार की अवधि पूर्ण हो गई है। इससे आगे सामान्य रूप से प्रत्यय का विधान किया जायेगा।

(1982) व्युष्टादिभ्योऽण् *97* (1761)

तत्रेति सप्तमीसमर्थेभ्यो व्युष्टादिभ्यो दीयते, कार्यम्-इत्येतयोरण् प्रत्ययो भवति। व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम्। नैत्यम्। *अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०)। आग्निपदम्। पैलुमूलम्। किं वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्, अत्रैव ते पठितव्याः। व्युष्ट। नित्य। निष्क्रमण। प्रवेशन। तीर्थ। सम्भ्रम। आस्तरण। संग्राम। सङ्घात। अग्निपद। पीलूमुल। प्रवास। उपसंक्रमण-व्युष्टादिः।

अर्थ—दिया जाता है, करने योग्य है—इन अर्थों में सप्तम्यन्त समर्थ व्युष्टादि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है।

उदा० (1) वैयुष्टम्
व्युष्टे दीयते (कार्यं वा)—अण्, ऐच् आगम, सु।

(2) नैत्यम्
नित्य अण् सु।

अण्प्रक०—अग्नि पद आदि से 'अण्' होता है—

(3) आग्निपदः
अग्निपद अण् सु।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1983) तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयतौ *98* (1762)

दीयते कार्यमिति वर्त्तते। तेनेति तृतीयासमर्थाभ्यां यथाकथाचहस्तशब्दाभ्यां यथासंख्यं णयतौ प्रत्ययौ भवतः। दीयते कार्यमित्येतयोरर्थयोः प्रत्येकमभिसम्बन्धः, यथासंख्यं नेष्यते। यथाकथाचशब्दोऽव्ययसमुदायोऽनादरे वर्त्तते। तृतीयाऽर्थमात्रं चाऽत्र सम्भवति, न तु तृतीया समर्थविभक्तिः। यथाकथाच दीयते कार्यं वा याथाकथाचम्। हस्तेन दीयते कार्यं वा हस्त्यम्।

अर्थ—दिया जाता है, करने योग्य है—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ यथाकथाच और हस्त प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'ण' तथा 'यत्' होते हैं। 'दीयते' तथा 'कार्यम्' इन दोनों का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता। यथाकथाच शब्द अनादर में वर्त्तमान है। तृतीया अर्थ मात्र यहाँ सम्भव होता है; 'तृतीया समर्थ विभक्ति' ऐसा नहीं।

उदा० (1) याथाकथाचम्
यथाकथाच दीयते (कार्यं वा)—'ण' हुआ।

(2) हस्त्यम्
हस्ते दीयते (कार्यं वा)—'यत्' हुआ।

(1984) सम्पादिनि *99* (1763)

तेनेत्येव। तृतीयासमर्थात्सम्पादिन्यभिधेये ठञ् प्रत्ययो भवति। गुणोत्कर्षः सम्पत्तिः। आवश्यके णिनिः (3.3.170)। कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं कार्णवेष्टिकं मुखम्। वास्त्रयुगिकं शरीरम्। वस्त्रयुगेण विशेषतः शोभत इत्यर्थः।

अर्थ—शोभित किया—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) कार्णवेष्टकिकं शरीरम्
कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि—ठञ् हुआ।

(2) वास्त्रयुगिकम्
वस्त्रयुग ठञ्।

(1985) कर्मवेषाद्यत् *100* (1764)

कर्मन्-वेषशब्दाभ्यां तृतीयासमर्थाभ्यां यत्प्रत्ययो भवति सम्पादिनीत्येतस्मिन् विषये। ठञोऽपवादः। कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शरीरम्। वेषेण सम्पद्यते वेष्यो नटः।

अर्थ—शोभित किया—इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ कर्मन् व वेष प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है। यह 'ठञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) कर्मण्यम्
कर्मन् यत् सु।

(2) वेष्यः
वेषेण सम्पद्यते—
पूर्ववत् यत्, विभक्तिकार्य।

(1986) तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः *101* (1765)

तस्मा इति चतुर्थीसमर्थेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यस्मिन् विषये ठञ् प्रत्ययो भवति। समर्थः शक्तः प्रभवतीत्युच्यते।

अलमर्थे चतुर्थी । सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः । सान्नाहिकः । सन्ताप । संनाह । संग्राम । संयोग । संपराय । संपेष । निष्पेष । निसर्ग । असर्ग । विसर्ग । उपसर्ग । उपवास । प्रवास । संघात । संमोदन । सक्तु । मांसौदनाद्विगृहीतादपि-सन्तापादिः ।

अर्थ—समर्थ होता है—इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ सन्तापादि शब्दों से 'ठञ्' होता है। यह 'अलम्' अर्थ में चतुर्थी है।

उदा० (1) सान्तापिकः
सन्तापाय प्रभवति—'ठञ्' हुआ।

(2) सान्नाहिकः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1987) योगाद्यच्च *102* (1766)

योगशब्दाद्यत्प्रत्ययो भवति चकाराट्ठञ् तस्मै प्रभवतीत्येतस्मिन् विषये । योगाय प्रभवति योग्यः । यौगिकः ।

अर्थ—समर्थ है—इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ 'योग' प्रातिपदिक से 'यत्' तथा 'ठञ्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) योग्यः
योगाय प्रभवति—'यत्' हुआ।

(2) यौगिकः
योग ठञ्।

(1988) कर्मण उकञ् *103* (1767)

कर्मन् शब्दादुकञ् प्रत्ययो भवति तस्मै प्रभवतीत्येतस्मिन्नर्थे । ठञोऽपवादः । कर्मणे प्रभवति कार्मुकं धनुः ।

अर्थ—समर्थ है—इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त समर्थ 'कर्मन्' प्रातिपदिक से 'उकञ्' प्रत्यय होता है। यह 'ठञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) कार्मुकम्
कर्मणे प्रभवति → कर्मन् उकञ्—आदिवृद्धि, नलोप,
कार्मुक सु—विभक्तिकार्य।

(1989) समयस्तदस्य प्राप्तम् *104* (1768)

समयशब्दात् तदिति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं प्राप्तं चेत्तद्भवति । समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकं कार्यम् । उपनतकालमित्यर्थः । समर्थविभक्तिनिर्देश उत्तरार्थः ।

अर्थ—यदि प्रथमा समर्थ 'समय' प्रातिपदिक 'प्राप्त' समानाधिकरण वाला हो तो उस प्रातिपदिक से षष्ठी के अर्थ में 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) सामयिकम्
समयः प्राप्तोऽस्य → समय ठञ्।

समर्थ विभक्ति का निर्देश उत्तरशास्त्र के लिए है।

(1990) ऋतोरण् *105* (1769)

तदस्य प्राप्तमित्यनुवर्त्तते । ऋतुशब्दात्तदिति प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति तदस्य प्राप्तमित्येतस्मिन् विषये । ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्त्तवं पुष्पम् । *तदस्य प्रकरणे उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्* । उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम् । प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम् ।

अर्थ—यदि 'ऋतु' शब्द 'प्राप्त' समानाधिकरण वाला हो तो षष्ठी के अर्थ में प्रथमा समर्थ 'ऋतु' शब्द से 'अण्' होता है।

उदा० (1) आर्तवम् (पुष्पम्)
ऋतुः प्राप्तोऽस्य → ऋतु अण्—
आर्तो अ सु—गुण, आदिवृद्धि।

तदस्य—उपवस्त्र आदि शब्दों से 'अण्' होता है—

(2) औपवस्त्रम्
उपवस्त्र अण् सु।

(3) प्राशित्रम्
प्राशितृ अण् सु।

(1991) छन्दसि घस् *106* (3495)

ऋतुशब्दाच्छन्दसि विषये घस् प्रत्ययो भवति तदस्य प्राप्तमित्येतस्मिन् विषये । अणोऽपवादः । अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियः॑ (ऋ० 3.29.10) ।

अर्थ—वेद के विषय में 'त.दस्य प्राप्तम्' इस अर्थ में 'ऋतु' शब्द से 'घस्' होता है। यह 'अण्' का अपवाद है।

उदा० (1) ऋत्वियः (ऋ०3.29.10.)
ऋतु घस्—गुण ईयादेश, सु।

(1992) कालाद्यत् *107* (1770)

कालशब्दाद्यत्प्रत्ययो भवति तदस्य प्राप्तमित्येतस्मिन् विषये । कालः प्राप्तोऽस्य काल्यस्तापः । काल्यं शीतम् ।

अर्थ—'तदस्य प्राप्तम्' इस अर्थ में काल प्रातिपदिक से 'यत्' होता है।

उदा० (1) काल्यः
कालः प्राप्तोऽस्य—काल यत् सु।

(1993) प्रकृष्टे ठञ् *108* (1771)

कालादिति वर्त्तते, तदस्येति च। प्राप्तमिति निवृत्तम्। प्रकर्षेण कालो विशेष्यते। प्रकर्षे वर्तमानात्कालात् प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति। प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्य कालिकमृणम्। कालिकं वैरम्। ठञ्ग्रहणं विस्पष्टार्थम्।

अर्थ—'कालात्' का अधिकार है। 'प्राप्तम्' की निवृत्ति हो चुकी है। प्रकर्ष अर्थ में वर्त्तमान 'काल' शब्द जो प्रथमा समर्थ, उसे षष्ठी के अर्थ में 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) कालिकम्
प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्य—'ठञ्' हुआ।
'ठञ्' का ग्रहण स्पष्टता के लिए है।

(1994) प्रयोजनम् *109* (1772)

तदस्येत्येव। तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रयोजनं चेत्तद्भवति। इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य ऐन्द्रमहिकम्। गाङ्गामहिकम्।

अर्थ—प्रयोजन समानाधिकरण वाले प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठी के अर्थ में 'ठञ्' होता है।

उदा० (1) ऐन्द्रमहिकम्
इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य—'ठञ्' हुआ,
ऐन्द्रमह इक सु—आदिवृद्धि।
(2) गाङ्गामहिकम् (पूर्ववत्)।

(1995) विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः *110* (1773)

विशाखाषाढाशब्दाभ्यामण् प्रत्ययो भवति तदस्य प्रयोजनमित्येतस्मिन् विषये यथासंख्यं मन्थदण्डयोरभिधेययोः। विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः। आषाढो दण्डः। *चूडादिभ्य उपसंख्यानम्*। चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्। श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्राद्धम्।

अर्थ—'तदस्य प्रयोजनम्' इस अर्थ में प्रथमासमर्थ विशाखा तथा आषाढ शब्दों से यथासंख्य करके 'मन्थ' तथा 'दण्ड' वाच्य हो तो 'अण्' होता है।

उदा० (1) वैशाखो मन्थः
विशाखा प्रयोजनमस्य—अण् हुआ।
(2) आषाढो दण्डः
चूडादि०—चूडा आदि शब्दों से 'अण्' होता है—
(3) चौडम्
चूडा अण् सु।
(4) श्राद्धम्—पूर्ववत्।

(1996) अनुप्रवचनादिभ्यश्छः *111* (1774)

अनुप्रवचनादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छः प्रत्ययो भवति तदस्य प्रयोजनमित्येतस्मिन् विषये। ठञोऽपवादः। अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य अनुप्रवचनीयम्। उत्थापनीयम्। *विशिपूरिपतिरुहि प्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुपसंख्यानम्* (म०भा०)। गृहप्रवेशनं प्रयोजनमस्य गृहप्रवेशनीयम्। प्रपापूरणीयम्। अश्वप्रपतनीयम्। प्रासादारोहणीयम्। *स्वर्गादिभ्यो यद्वक्तव्यः*। स्वर्गः प्रयोजनस्य स्वर्ग्यम्। यशस्यम्। आयुष्यम्। काम्यम्। धन्यम्। *पुण्याहवाचनादिभ्यो लुग्वक्तव्यः*। पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम्। स्वस्तिवाचनम्। शान्तिवाचनम्। अनुप्रवचन। उत्थापन। प्रवेशन। अनुप्रवेशन। उपस्थापन। संवेशन। अनुवेशन। अनुवचन। अनुवादन। अनुवासन। आरम्भण। आरोहण। प्ररोहण। अन्वारोहण-अनुप्रवचनादिः।

अर्थ—'तदस्य प्रयोजनम्' इस अर्थ में प्रथमा समर्थ अनुप्रवचन आदि प्रातिपदिकों से षष्ठी के अर्थ में 'छ' होता है। यह 'ठञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) अनुप्रवचनीयम्
अनुप्रवचनमस्य प्रयोजनम्—छ, ईय, सु।
(2) उत्थापनीयम् (पूर्ववत्)।

विशि०—विशि, पूरि, पति और रुहि—ये धातुएँ हैं प्रकृति जिसकी, ऐसा जो 'यु', उससे पूर्व में स्थित शब्द से 'छ' होता है—

(3) गृहप्रवेशनीयम्
ग्रहप्रवेशनं प्रयोजनमस्य—छ, पूर्ववत्।
(4) प्रपापूरणीयम्
प्रपापूरणमस्य प्रयोजनम्—पूर्ववत्।

(5) अश्वप्रपतनीयम् (पूर्ववत्)।
(6) प्रासादारोहणीयम् (पूर्ववत्)।

स्वर्गादि—स्वर्ग आदि शब्दों से 'यत्' होता है—

(7) स्वर्ग्यम्
स्वर्गः प्रयोजनमस्य—'यत्' हुआ।

(8) यशस्यम् (पूर्ववत्)।
(9) आयुष्यम् (पूर्ववत्)।
(10) काम्यम् (पूर्ववत्)।

पुण्याह०—पुण्याहवाचन् आदि शब्दों से प्रत्यय का लुक् होता है—

(11) पुण्याहवाचनम्
पुण्याहवाचनमस्य प्रयोजनम्—प्रत्यय का लुक् हुआ।

(12) स्वस्तिवाचनम् (पूर्ववत्)।
(13) शान्तिवाचनम् (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(1997) समापनात् सपूर्वपदात् *112* (1775)

समापनशब्दात्सपूर्वपदाद्विद्यमानपूर्वपदाच्छः प्रत्ययो भवति तदस्य प्रयोजनमित्येतस्मिन् विषये। ठञोऽपवादः। छन्दस्समापनं प्रयोजनमस्य छन्दःसमापनीयम्। व्याकरणसमापनीयम्। पदग्रहणं बहुच्पूर्वनिरासार्थम्।

अर्थ—जिसका पूर्वपद विद्यमान है, ऐसे समापन प्रातिपदिक से 'छ' होता है, 'तदस्य प्रयोजनम्' विषय में।

उदा० (1) छन्दःसमापनीयम्
छन्दस्समापनं प्रयोजनमस्य—'छ' हुआ।

'बहु है पूर्व में जिसके' इसके निरास के लिए 'पद' शब्द का प्रयोग है।

(1998) ऐकागारिकट् चौरे *113* (1776)

ऐकागारिकट् इति निपात्यते चौरेऽभिधेये। एकागारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकः चौरः। ऐकागारिकी। किमर्थमिदं निपात्यते, यावता प्रयोजनमित्येव सिद्धष्ठञ्? चौरे नियमार्थं वचनम्, इह मा भूत्–एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति। टकारः कार्यावधारणार्थः–ङीबेव भवति, न ञित्स्वर इति। अपरे पुनरिकट् प्रत्ययं वृद्धिं च निपातयन्ति।

अर्थ—'तदस्य प्रयोजनम्' इस अर्थ में 'ऐकागारिकट्' शब्द निपातनसिद्ध है, 'चौर' अभिधेय हो तो।

उदा० (1) ऐकागारिकः
एकागारं प्रयोजनमस्य—निपातन से 'इकट्' हुआ।

(2) ऐकागारिकी
ङीप् हुआ।

इसका निपातन किसलिए किया गया है? 'प्रयोजनम्' इससे ही प्रत्यय सिद्ध था। 'चौरे' इस अर्थ में नियम के लिए यह विधान किया गया है। यहाँ न हो। यथा—

एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोः।

टकार कार्य के अवधारण के लिए है। स्त्रीत्व में ङीप् ही होता है; ञित् स्वर नहीं होता। कुछ विद्वान् यहाँ 'इकट्' प्रत्यय की कल्पना करते हैं।

(1999) आकालिकडाद्यन्तवचने *114* (1777)

आकालिकट् इति निपात्यते आद्यन्तवचने। समानकालशब्दस्याकालशब्द आदेशः, आद्यन्तयोश्चैतद्विशेषणम्, इकट् प्रत्ययश्च निपात्यते। समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयित्नुः। आकालिकी विद्युत्, जन्मना तुल्यकालविनाशा, उत्पन्नानन्तरं विनाशिनीत्यर्थः। *आकालाट् ठँश्च* (म० भा०)। चात् ठञ् च। आकालिका विद्युत्। ठञः पूर्णोऽवधिः।

अर्थ—'तदस्य प्रयोजनम्' विषय में आद्यन्त विशेषण हो तो आकालिकट् शब्द निपातित है। समानकाल शब्द को 'आकाल' आदेश होता है। निपातन से 'इकट्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) आकालिकः
आकाल इकट्।

(2) आकालिकी
ङीप् हुआ।

आकालाद्०—आकाल शब्द से 'ठन्' होता है तथा 'ठञ्' भी होता है—

(3) आकालिका
ठन् हुआ, ङीप् नहीं हुआ, टाप् हुआ।
यहाँ 'ठञ्' की अवधि पूर्ण हो गई है।

दोनों प्रत्ययों में शब्द के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता; केवल स्त्रीप्रत्यय में भेद है। ठञ् प्रत्ययान्त से ङीप् (आकालिकी) होता है तथा ठन् प्रत्ययान्त से टाप् (आकालिका) होता है।

वार्त्तिककार ने प्रकृत सूत्र में गौरव माना है। वे इसके स्थान पर 'आकालाट् ठंश्च' ऐसा वार्त्तिक का पाठ करते हैं—

वार्त्तिककारो मन्यते।.... । आकालाट् ठंश्चेति सूत्रं कर्त्तव्यम्।[1]

(2000) तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः *115* (1778)

तेनेति तृतीयासमर्थात्तुल्यमित्यर्थे वतिः प्रत्ययो भवति यत्तुल्यं क्रिया चेत्सा भवति। ब्राह्मणेन तुल्यं वर्त्तते ब्राह्मणवत्। राजवत्। क्रियाग्रहणं किम्? गुणद्रव्यतुल्ये मा भूत्–पुत्रेण तुल्यः स्थूलः, पुत्रेण तुल्यः पिङ्गलः, पुत्रेण तुल्यो गोमान्।

अर्थ—तुल्य अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'वति' होता है; परन्तु जो तुल्य हो, वह क्रिया ही हो।

उदा० (1) ब्राह्मणवत्
ब्राह्मणेन तुल्यं वर्त्तते—'वति' हुआ।

(2) राजवत्
राजन् वति—पूर्ववत्।

क्रियाग्रहण०—क्रिया का ग्रहण किया गया है, ताकि द्रव्य व गुण की तुल्यता होने पर प्रत्यय न हो। पुत्रेण सह—स्थूलः। पुत्रेण तुल्यः—पिङ्गलः। पुत्रेण तुल्यो गोमान्।

(2001) तत्र तस्येव *116* (1779)

तत्रेति सप्तमीसमर्थात्तस्येति षष्ठीसमर्थाच्च इवार्थे वतिः प्रत्ययो भवति। मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। पाटलिपुत्रवत् साकेते परिखा। षष्ठीसमर्थात्–देवदत्तस्येव देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य गावः। यज्ञदत्तस्येव देवदत्तस्य दन्ताः यज्ञदत्तवत्।

अर्थ—'इव' के अर्थ में सप्तम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'वति' होता है।

उदा० (1) मथुरावत्
मथुरायामिव
(2) पाटलिपुत्रवत् (पूर्ववत्)।
(3) देवदत्तवत्
देवदत्तस्येव—प्रत्यय हुआ।
(4) यज्ञदत्तवत् (पूर्ववत्)।

देवस्येव—देववत्—यहाँ षष्ठ्यन्त से सदृश अर्थ में वति हुआ है। 'देववद् कृष्णस्य गावः' यहाँ भी द्रव्य की तुल्यता है। इसका 'देव की तरह' ऐसा अर्थ करना अशुद्ध है। अपितु देव (की गायों) के समान कृष्ण की गायें—ऐसा अर्थ होता है। कारण कि यहाँ देव तथा कृष्ण का सादृश्य नहीं बताया जा रहा है।

'इव' शब्द का प्रयोग होने पर उपमान व उपमेय में एक समान विभक्तियाँ होती हैं—

राम इव देवो गच्छति।
गाम् इव सूकरं मन्यते स्थितप्रज्ञः।
भीमेन इव देवेन गदायुद्धं कृतम्।
अद्यत्वे जनाः शत्रवे इव भ्रात्रे द्रुह्यन्ति।
आकाशाद् इव प्रासादात् पतति।
देवस्य इव कृष्णस्य गावः।
मथुरायाम् इव स्रुघ्ने प्राकारः। कक्षे इव—कक्षवत्।

(2002) तदर्हम् *117* (1780)

तदिति द्वितीयासमर्थादर्हमित्येतस्मिन्नर्थे वतिः प्रत्ययो भवति। राजानमर्हति राजवत्पालनम्। ब्राह्मणवत्। ऋषिवत्। क्षत्रियवत्।

अर्थ—अर्हण क्रिया के वाच्य रहते द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'वति' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) राजवत्
राजानम् अर्हति।

(2) ब्राह्मणवत्
ब्राह्मण वति।

(3) ऋषिवत् (पूर्ववत्)।
(4) क्षत्रियवत् (पूर्ववत्)।

(2003) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे *118* (3496)

उपसर्गात्साधने धात्वर्थे वर्त्तमानात्स्वार्थे वतिः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। यदुद्वतो निवतो यासि वप्सद् (ऋ० 10.142.4) उद्गतानि निगतानि च (म० भा०)।

अर्थ—वेद के विषय में धात्वर्थ में विद्यमान उपसर्ग से 'वति' होता है, स्वार्थ में।

उदा० (1) उद्वतः (ऋ०10.142.4)
उद् वति।

(2) निवतः (ऋ०10.142.4)
पूर्ववत्।

1. पदम० 5.1.114

(2004) तस्य भावस्त्वतलौ *119* (1781)

तस्येति षष्ठीसमर्थाद् भाव इत्येतस्मिन्नर्थे त्वतलौ प्रत्ययौ भवतः। भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भावः। शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भावशब्देनोच्यते। अश्वस्य भावः अश्वत्वम्। अश्वता। गोत्वम्। गोता।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'त्व' और 'तल्' होते हैं, भाव अर्थ में। तल् को लित् स्वरार्थ किया गया है। तलन्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होता है। द्र०—तलन्तः (लिङ्गा० 17)। त्व प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग में होते हैं। द्र०—त्वष्यञौ तद्धितौ (लिङ्गा० 120)। प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः—प्रकृतिजनित ज्ञान में विशेषणतया जिसका आभास होता है, वह 'भाव' कहलाता है। यथा—

1. 'गो' प्रकृति है। इस शब्द के श्रवण होने पर गोत्व युक्त व्यक्ति का ज्ञान होता है। यह भाव हुआ।

2. जातिशब्द में जाति को भाव कहते हैं।

3. कृदन्त, तद्धितान्त व समास में जो सम्बन्ध होता है, उसे 'भाव' कहते हैं। यथा—'हारकत्वम्'—यहाँ हरणक्रिया के साथ कर्तृत्व सम्बन्ध ही भाव है।

'वासुदेवत्वम्'—यहाँ वासुदेव के साथ पुत्रत्व सम्बन्ध ही भाव है।

'दशरथपुत्रत्वम्'—यहाँ 'दशरथ' के साथ पुत्र का जन्य-जनक सम्बन्ध ही भाव है।

4. 'कृष्ण' आदि के गुणवाचक होने पर तद्गत जाति को भाव कहते हैं।

'कृष्ण' आदि के गुणवाचक होने पर उनका गुण ही भाव कहलाता है।

उदा० (1) अश्वत्वम्
अश्वस्य भावः—त्व, सु।

(2) अश्वता
अश्व तल् टाप् सु।

(3) गोत्वम्
गो त्व।

(4) गोता
गो तल् टाप् सु।

(2005) आ च त्वात् *120* (1782)

ब्रह्मणस्त्वः (5.1.136) इति वक्ष्यति। आ एतस्मात्त्वसंशब्दनाद् यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र त्वतलौ प्रत्ययाधिकृतौ वेदितव्यौ। वक्ष्यति–पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (5.1.122) इति। प्रथिमा। पार्थवम्। पृथुत्वम्। पृथुता। म्रदिमा। मार्दवम्। मृदुत्वम्। मृदुता। अपवादैः सह समादेशार्थं वचनम्, कर्मणि च विधानार्थम्–गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (5.1.124) इति। चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः। स्त्रियाः भावः स्त्रैणम्। स्त्रीत्वम्। स्त्रीता। पुंसो भावः पुंस्त्वम्। पुंस्ता। पौंस्नम्।

अर्थ—आगे 'ब्रह्मणस्त्वः' (5.1.136) सूत्र का पाठ किया जायेगा। यहाँ से लेकर 'ब्रह्मणस्त्वः' पर्यन्त 'त्व' तथा 'तल्' होते हैं।

भाव यह है कि मध्य में जो इमनिच् आदि अपवादरूप प्रत्यय कहे गये हैं, उनके साथ त्व तथा तल् का भी समावेश होता है। इस प्रकार अपवादसूत्रों के द्वारा त्व तथा तल् का बाध नहीं हो सकेगा।

सूत्रस्थ 'च' पद का प्रयोजन यह है कि नञ् व स्नञ् प्रत्ययों के साथ भी उक्त (त्व तथा तल्) प्रत्यय हो जाते हैं। 'च' का प्रयोग समुच्चयग्रहण के लिए है। 'त्वात्' पद के द्वारा 'ब्रह्मणस्त्वः' सूत्र का निर्देश है।

उदा०—यहाँ प्रदर्शित उदाहरणों की सिद्धि आगे तत् तत् सूत्रों पर देखी जा सकती है।

(2006) न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटयुधकतरसलसेभ्यः *121* (1783)

इत उत्तरे ये भावप्रत्ययास्ते नञ्पूर्वात्तत्पुरुषान्न भवन्ति चतुरादीन् वर्जयित्वा। वक्ष्यति–पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (5.1.128) इति। अपतित्वम्। अपतिता। अपटुत्वम्। अपटुता। अरमणीयत्वम्। अरमणीयता। नञ्पूर्वादिति किम्? बार्हस्पत्यम्, प्राजापत्यम्। तत्पुरुषादिति किम्? नास्य पटवः सन्तीत्यपटुः, तस्य भाव आपटवम्, आलघवम्। अचतुरादिभ्य इति किम्? आचतुर्यम्, आसङ्गत्यम्, आलवण्यम्, आवट्यम्, आयुध्यम्, आकत्यम्, आरस्यम्, आलस्यम्।

अर्थ—यहाँ से आगे कहे गए प्रत्यय चतुर, मंगल, लवण, बुध, कत, रस तथा लस प्रातिपदिकों को छोड़कर नञ्पूर्वक तत्पुरुषसंज्ञक शब्द से नहीं होते हैं, भाव अर्थ में।

यह अधिकारसूत्र है। सूत्र की शर्तों के अनुसार—

(क) नञ् पूर्व वाले तत्पुरुष से आगे कहे जाने वाले भाव प्रत्यय नहीं होते।

(ख) सूत्रोक्त चतुर आदि शब्द यदि नञ्पूर्व तत्पुरुष में होंगे तो आगे कहे जाने वाले भाव प्रत्यय हो जाते हैं।

'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (5.1.127) के द्वारा पत्यन्त व पुरोहित आदि प्रातिपदिकों से यक् होता है। प्रकृत सूत्र के अधिकार से उक्त यक् प्रत्यय नञ् तत्पुरुष से नहीं होगा। यथा—

अपतित्वम्, अपतिता—यहाँ त्व तथा तल् हुआ है।

1. 'नञ्पूर्वात्' अर्थात् नञ् पूर्व शब्द से आगे कहे गए भावप्रत्यय नहीं होंगे—प्रजापतेर्भावः—प्राजापत्यम् (नञ् पूर्व न होने से त्यक् हो गया। इसका निषेध नहीं हुआ।)

2. 'तत्पुरुषात्' अर्थात् तत्पुरुषसंज्ञक प्रातिपदिक से आगे कहे गये भाव प्रत्यय नहीं होंगे—

न अस्य पटवः सन्ति—अपटुः। तस्य भावः—आपटवम्; यहाँ नञ् पूर्व है, परन्तु बहुव्रीहि है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध नहीं हुआ। अण् हुआ।

3. 'अचतुरादिभ्यः' का अर्थ यह है कि चतुर आदि शब्द हों तो पूर्वोक्त निषेध नहीं होता अर्थात् आगे जो-जो प्रत्यय कहे जायेंगे, वे होंगे ही—

अचतुर ष्यञ्—आचतुर्यम्—यहाँ ष्यञ् हुआ। इसका निषेध नहीं हुआ।

उदा० (1) अपतितत्वम्
अपतितस्य भावः—त्व।

(2) अपतिता
तल्, टाप्, सु।

(3) अपटुत्वम्
अपटु त्व सु।

(4) अपटुता
तल्, टाप्।

(5) अरमणीयत्वम् (पूर्ववत्)।

(6) अरमणीयता
तल्, टाप्।

नञ् पूर्वात्० अर्थात् **नञ् पूर्वक** तत्पुरुष से ही होता है—

(7) बार्हस्पत्यम्
बृहस्पति ष्यञ्—त्व, तल् नहीं हुए।

(8) प्राजापत्यम्
पूर्ववत् ष्यञ्।

तत्पुरुषात् अर्थात् नञ्पूर्वक **तत्पुरुष** से ही होता है—

(9) आपटवम्
नाऽस्य पटवः सन्ति—अपटुः
अपटोर्भावः—त्व, तल् नहीं हुए, अण् हुआ,
आपटो अ सु—आदिवृद्धि, गुण।

(10) आलघवम् (पूर्ववत्)।

अचतुरादिभ्य०—चतुर आदि से ये प्रत्यय नहीं होते हैं—

(11) आचतुर्यम्
अचतुरस्य भावः—ष्यञ् हुआ।

(12) आसङ्गत्यम्
पूर्ववत् ष्यञ्।

(13) आलवण्यम् (पूर्ववत्)।
(14) आवट्यम् (पूर्ववत्)।
(15) आयुध्यम् (पूर्ववत्)।
(16) आकत्यम् (पूर्ववत्)।
(17) आरस्यम् (पूर्ववत्)।
(18) आलस्यम् (पूर्ववत्)।

(2007) पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा *122* (1784)

पृथु इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इमनिच् प्रत्ययो भवति वा तस्य भाव इत्येतस्मिन्नर्थे। वावचनमणादेः समावेशार्थम्। पृथोर्भावः प्रथिमा। पार्थवम्। म्रदिमा। मार्दवम्। तुरिष्ठेमेयस्सु (6.4.154), टेः (6.4.155) इति टिलोपः। र ऋतो हलादेर्लघोः (6.4.161) इति रेफादेशः। त्वतलौ सर्वत्र भवत एव। पृथुत्वम्, पृथुता। मृदुत्वम्, मृदुता। पृथु। मृदु। महत्। पटु। तनु। लघु। बहु। साधु। वेणु। आसु। बहुल। गुरु। दण्ड। ऊरु। खण्ड। बाल। अकिञ्चन। होड। पाक। वत्स। मन्द। स्वादु। ह्रस्व। दीर्घ। प्रिय। वृष। ऋजु। क्षिप्र। क्षुप्र। क्षुद्र–पृथ्वादिः।

अर्थ—पृथु आदि प्रातिपदिकों से विकल्प से 'इमनिच्' होता है, भाव अर्थ में। 'वा' का ग्रहण करने से पक्ष में 'अण्' आदि भी होते हैं।

नकारोत्तरवर्ती इकार व अन्त्य चकार की इत् संज्ञा होती है। चित्करण स्वरार्थ है। इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द पुँलिंग होता है।

यहाँ अधिकार होने से त्व तथा तल् भी होते हैं।

उदा० (1) प्रथिमा

पृथोर्भावः → पृथु इमनिच्—अनुबन्ध लोप,
प्रथु इमन्—'र ऋतो हलादेर्लघोः' से रेफादेश,
प्रथ् इमन् सु—भसंज्ञा, टेः, विभक्तिकार्य।

(2) पार्थवम्
पृथु अण्—पक्ष में,
पार्थो अ—आदिवृद्धि, ओर्गुणः,
पार्थव सु—रूप बना।

(3) प्रदिमा
इमनिच्।

(4) मार्दवम्
अण्।

(5) पृथुत्वम्
त्व आदि सर्वत्र होते हैं।

(6) पृथुता
तल्, टाप्।

(7) मृदुत्वम्
त्व।

(8) मृदुता
तल्, टाप्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2008) वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च *123* (1787)

वर्णविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दृढादिभ्यश्च ष्यञ् प्रत्ययो भवति चकारादिमनिच्च, तस्य भाव इत्येतस्मिन् विषये। शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्। शुक्लिमा। शुक्लत्वम्। शुक्लता। कार्ष्ण्यम्। कृष्णिमा। कृष्णत्वम्। कृष्णता। दृढादिभ्यः–दार्ढ्यम्। द्रढिमा। दृढत्वम्। दृढता। षकारो ङीषर्थः–औचिती। याथाकामी। दृढ। परिवृढ। भृश। कृश। चक्र। आम्र। लवण। ताम्र। अम्ल। शीत। उष्ण। जड। बधिर। पण्डित। मधुर। मूर्ख। मूक। *वेर्यातलाभमतिमनःशारदानाम्* (ग०सू० 111)। *समो मतिमनसोः जवने* (ग०सू० 112)–दृढादिः।

अर्थ—भाव अर्थ में वर्णवाची तथा दृढादिगणपठित प्रातिपदिकों से 'ष्यञ्' तथा 'इमनिच्' होते हैं।

ष्यञ् के ञकार व षकार की इत्संज्ञा होती है। ञित्करण आदिवृद्धि के लिए है। षित्करण स्त्रीत्व में ङीष् के लिए है।

त्व तथा ष्यञ् प्रत्ययान्त शब्द नपुंसक में होता है। द्र०—त्वष्यञौ तद्धितौ (लिङ्गा०120)। ष्यञ् को षित् करने के द्वारा ज्ञापित होता है कि भावार्थक ष्यञ् प्रत्ययान्त शब्द लक्ष्यानुरोधेन कहीं-कहीं स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है।

उदा० (1) शौक्ल्यम्
शुक्लस्य भावः—ष्यञ्, आदिवृद्धि।

(2) शुक्लिमा
शुक्ल इमनिच् सु।

(3) शुक्लत्वम्
त्व, सु।

(4) शुक्लता
तल्, टाप्।

(5) कार्ष्ण्यम्
कृष्ण ष्यञ्—आदिवृद्धि, सु।

(6) कृष्णिमा
इमनिच्।

(7) कृष्णत्वम्
त्व, सु।

(8) कृष्णता
तल्, टाप्।

(9) दार्ढ्यम्
दृढ ष्यञ्।

(10) द्रढिमा
इमनिच्, सु।

(11) दृढत्वम्
त्व, सु।

(12) दृढता
तल्, टाप्, सु।

'ष्यञ्' में 'ष्' अनुबन्ध स्त्रीत्व में 'ङीष्' के लिए है। यथा—

(13) औचिती
उचित ष्यञ् → औचित्य ङीष्—यकारलोप।
'यस्येति च' से अकारलोप तथा 'हलस्तद्धितस्य' से यकारलोप होता है।

(2009) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च *124* (1788)

गुणमुक्तवन्तो गुणवचनाः। गुणवचनेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तस्येति षष्ठीसमर्थेभ्यः कर्मण्यभिधेये ष्यञ् प्रत्ययो भवति चकाराद् भावे च। कर्मन्शब्दः क्रियावचनः। जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्। ब्राह्मणादिभ्यः खल्वपि-ब्राह्मण्यम्। आ पादपरिसमाप्तेर्भावकर्माधिकारः। ब्राह्मणादिराकृतिगणः। आदिशब्दः प्रकारवचनः। *चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्* (म०भा०)। चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्। चातुराश्रम्यम्। त्रैलोक्यम्। त्रैस्वर्यम्। षाड्गुण्यम्। सैन्यम्। सान्निध्यम्। सामीप्यम्। औपम्यम्। सौख्यम्। ब्राह्मण। वाडव। माणव। चोर। मूक। आराधय। विराधय। अपराधय। उपराधय। एकभाव। द्विभाव। त्रिभाव। अन्यभाव। समस्थ। विषमस्थ। परमस्थ। मध्यमस्थ। अनीश्वर। कुशल। कपि। चपल। अक्षेत्रज्ञ। निपुण। *अर्हतो नुम् च* (ग०सू० 113)। आर्हन्त्यम्। संवादिन्। संवेशिन्। बहुभाषिन्। बालिश। दुष्पुरुष। कापुरुष। दायाद। विशसि। धूर्त्त। राजन्। सम्भाषिन्। शीर्षपातिन्। अधिपति। अलस। पिशाच। पिशुन। विशाल। गणपति। धनपति। नरपति। गडुल। निव। निधान। विष। *सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे* (ग०सू० 114)। *चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च* (ग०सू० 115)। चातुर्वैद्यम्-ब्राह्मणादिः।

अर्थ—गुण को कहने वाला 'गुणवचन' कहलाता है। षष्ठ्यन्त समर्थ गुणवाचक तथा ब्राह्मणादि प्रातिपदिकों से 'ष्यञ्' होता है, भाव तथा कर्म अर्थों में।

उदा० (1) जाड्यम्

जडस्य भावः
जडस्य कर्म } जड ष्यञ्—आदिवृद्धि।

(2) ब्राह्मण्यम्

'ष्यञ्' हुआ।

(3) माणव्यम् (पूर्ववत्)।

पाद की समाप्तिपर्यन्त भाव और कर्म का अधिकार है। ब्राह्मणादि गण एक आकृतिगण है। 'आदि' शब्द प्रकारवाची है।

चातुर्वर्ण्या०—चातुर्वर्ण्य आदि में शब्दों से स्वार्थ में 'ष्यञ्' होता है—

(4) चातुर्वर्ण्यम्

चत्वार एव वर्णाः—ष्यञ्, आदिवृद्धि।

(5) चातुराश्रम्यम् (पूर्ववत्)।

(6) त्रैलोक्यम् (पूर्ववत्)।

(7) त्रैस्वम् (पूर्ववत्)।

(8) षाड्गुण्यम् (पूर्ववत्)।

(9) सैन्यम्

ष्यञ् हुआ।

(10) सान्निध्यम् (पूर्ववत्)।

(11) सामीप्यम् (पूर्ववत्)।

(12) औपम्यम् (पूर्ववत्)।

(13) सौख्यम् (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

अर्हतो नुम् च—अर्हत् शब्द को नुम् आगम होता है—

(14) आर्हन्त्यम्

अर्ह नुम् त् ष्यञ्—आदिवृद्धि,

आर्हन्त्य सु—विभक्तिकार्य।

चतुर्वेद—चतुर्वेद शब्द को उभयपदवृद्धि होती है—

(15) चातुर्वैद्यम्

चतुर्वेद ष्यञ्—पूर्ववत्।

(2010) स्तेनाद्यन्नलोपश्च *125* (1790)

स्तेनशब्दात् षष्ठीसमर्थाद्भावकर्मणोर्यत् प्रत्ययो भवति नशब्दस्य लोपश्च भवति। स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम्। स्तेनादिति केचिद् योगविभागं कुर्वन्ति। स्तेनात् ष्यञ् भवति-स्तैन्यम्। ततो यन्नलोपश्च। स्तेनादित्येव-स्तेयम्।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ 'स्तेन' प्रातिपदिक से 'यत्' होता है तथा स्तेन के नकार का लोप होता है, भाव और कर्म अर्थों में।

उदा० (1) स्तैन्यम्

स्तेन यत्—आदिवृद्धि।

कुछ विद्वान् सूत्र का योगविभाग करते हैं। यथा—

(क) स्तेनात् (ष्यञ्)

इससे 'ष्यञ्' होकर पूर्वोक्त रूप बनता है।

(ख) यन्नलोपश्च

(2) स्तेयम्

स्तेन यत् → स्तेय सु।

(2011) सख्युर्यः *126* (1791)

सखिशब्दाद् यः प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । *दूतवणिग्भ्यां चेति वक्तव्यम्* । दूत्यम् । वणिज्यम् । कथं वाणिज्यम् ? ब्राह्मणादित्वात् ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ सखि प्रातिपदिक से 'य' होता है, भाव और कर्म अर्थों में।

उदा० (1) सख्यम्
सखि य सु।

दूतवणि०—दूत और वणिज् शब्दों से 'य' होता है—

(2) दूत्यम्
दूत य सु।

(3) वणिज्यम्
वणिज् य सु।

(4) वाणिज्यम्
ब्राह्मणादि गण में पाठ होने से 'ष्यञ्' हुआ है, आदिवृद्धि होकर रूप बनता है।

(2012) कपिज्ञात्योर्ढक् *127* (1792)

कपिज्ञातिशब्दाभ्यां ढक् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् । ज्ञातेयम् । *यथासंख्यमर्थयोः सर्वत्रैवात्र प्रकरणे नेष्यते* ।

अर्थ—षष्ठ्यन्त समर्थ कपि तथा ज्ञाति प्रातिपदिकों से 'ढक्' होता है, भाव और कर्म अर्थों में।

उदा० (1) कापेयम्
कपि ढक् → काप् एय सु।
(2) ज्ञातेयम् (पूर्ववत्)।

यथासं०—अण् प्रकरण में अर्थों का सर्वत्र यथासंख्य नहीं होता है।

(2013) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् *128* (1793)

पत्यन्तात् प्रातिपदिकात् पुरोहितादिभ्यश्च यक् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । सेनापतेर्भावः कर्म वा सैनापत्यम् । गार्हपत्यम् । प्राजापत्यम् । पौरोहित्यम् । राज्यम् । पुरोहित । राजन् । *राजाऽसे* (ग०सू० 116) । संग्रामिक । एषिक । वर्मित । खण्डिक । दण्डिक । छत्रिक । मिलिक । पिण्डिक । बाल । मन्द । स्तनिक । चूडितिक । कृषिक । पूतिक । पत्रिक । प्रतिक । अजानिक । सलनिक । सूचिक । शाक्वर । सूचक । पक्षिक । सारथिक । जलिक । सूतिक । अञ्जलिक । सूचक—पुरोहितादिः ।

अर्थ—पति शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द से तथा पुरोहित शब्द से 'यक्' होता है, भाव तथा कर्म अर्थों में।

उदा० (1) सैनापत्यम्
सेनापति यक्—'किति च' से आदिवृद्धि।
(2) गार्हपत्यम्
'यक्' हुआ।
(3) प्राजापत्यम् (पूर्ववत्)।
(4) पौरोहित्यम् (पूर्ववत्)।
(5) राज्यम्
राजन् यप् सु।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2014) प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् *129* (1794)

प्राणभृज्जातिवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वयोवचनेभ्य उद्गात्रादिभ्यश्चाञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम् । औष्ट्रम् । वयोवचनेभ्यः—कौमारम् । कैशोरम् । उद्गात्रादिभ्यः—औद्गात्रम् । औन्नेत्रम् । उद्गातृ । उन्नेतृ । प्रतिहर्तृ । रथगणक । पक्षिगणक । सुष्ठु । दुष्ठु । अध्वर्यु । वधू । *सुभगमन्त्रे* (ग०सू० 117)- उद्गात्रादिः ।

अर्थ—षष्ठी समर्थ जीवधारी जातिवाचक शब्द से, अवस्थावाची शब्द से तथा उद्गात्रादि प्रातिपदिकों से 'अञ्' प्रत्यय होता है भाव तथा कर्म अर्थों में।

उदा० (1) आश्वम्
अश्व अञ् सु—आदिवृद्धि।

(2) औष्ट्रम्
उष्ट्र अञ्।

(3) कौमारम्
कुमार अञ्।

(4) कैशोरम्
किशोर अञ्।

(5) औद्गात्रम्
उद्गातृ अञ्।
(6) औन्नेत्रम्
उन्नेतृ अञ्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2015) हायनान्तयुवादिभ्योऽण् *130* (1795)

हायनान्तेभ्यः प्रातिपदिकभ्यो युवादिभ्यश्चाण् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः। द्विहायनस्य भावः कर्म वा द्वैहायनम्। त्रैहायनम्। युवादिभ्यः-यौवनम्। स्थाविरम्। *श्रोत्रियस्य यलोपश्च वाच्यः* (म०भा०)। श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रौत्रम्। युवन्। स्थविर। होतृ। यजमान। कमण्डलु। *पुरुषासे* (ग०सू० 118)। सुहृत्। यातृ। श्रवण। कुस्त्री। सुस्त्री। सुहृदय। सुभ्रातृ। वृषल। दुर्भ्रातृ। *हृदयासे*। क्षेत्रज्ञ। कृतक। परिव्राजक। कुशल। चपल। निपुण। पिशुन। सब्रह्मचारिन्। कुतूहल। अनृशंस-युवादिः।

अर्थ—हायन शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द से तथा युवादि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है, भाव तथा कर्म अर्थों में।

उदा० (1) द्वैहायनम्
द्विहायन अण्।
(2) त्रैहायनम्
त्रिहायन अण्।
(3) यौवनम्
युवन् अण्।
(4) स्थाविरम्
स्थविर अण्।

श्रोत्रियस्य०—श्रोत्रिय शब्द के 'य' का लोप होता है—
(5) श्रौत्रम्
श्रोत्रिय अ → श्रोत्रि अ → श्रोत्र् अ सु।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2016) इगन्ताच्च लघुपूर्वात् *131* (1796)

इगन्ताच्च लघुपूर्वादण् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः। लघुपूर्वग्रहणेन प्रातिपदिकसमुदायो विशेष्यते, लघुः पूर्वोऽवयवोऽस्येति लघुपूर्वः। कुतः पुनरसौ लघुः पूर्वः? इक्सन्निधानादिक इति विज्ञायते। लघुः पूर्वो यस्मादिकस्तदन्तात्प्रातिपदिकादित्ययमर्थो विवक्षितः। अपरे तत्पुरुषकर्मधारयं वर्णयन्ति-इक् चासावन्तश्चेतीगन्तः, लघुपूर्वग्रहणेन स एव विशेष्यते पश्चात्तेन प्रातिपदिकस्य तदन्तविधिरिति। अस्मिन् व्याख्यानेऽन्तग्रहणमतिरिच्यते, लघुपूर्वादिक इत्येतावदेव वाच्यं स्यात्। शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। मौनम्। नागरम्। हारीतकम्। पाटवम्। लाघवम्। इगन्तादिति किम्? घटत्वम्, पटत्वम्। लघुपूर्वादिति किम्? कण्डूत्वम्, पाण्डुत्वम्। कथं काव्यमिति? ब्राह्मणादिषु कविशब्दो द्रष्टव्यः।

अर्थ—लघु वर्ण है पूर्व में जिसके तथा इक् वर्ण है अन्त में जिसके, ऐसे षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अण्' होता है, भाव तथा कर्म अर्थों में। 'त्व' तथा 'तल्' भी होते हैं। पूर्व अवयव है लघु जिसका, वह 'लघुपूर्व' कहलाता है। कुछ विद्वान् तत्पुरुष कर्मधारय मानते हैं। यथा—

इक् चाऽसावन्तश्च—इगन्तः।

लघुपूर्व ग्रहण से उसी को विशेषित किया जाता है। पश्चात् उससे प्रातिपदिक की तदन्तविधि होती है। इस व्याख्यान में अन्तग्रहण अधिक है। 'लघुपूर्वादिक' इतना ही कहना चाहिए।

उदा० (1) शौचम्
शुचेर्भावः (कर्म वा)—शुचि अण्—आदिवृद्धि,
शौच अ सु—विभक्तिकार्य।
(2) मौनम्
मुनि अण् सु।
(3) नागरम्
नगर अण् सु।
(4) हारीतकम्
हरीत अण्।
(5) पाटवम्
पटु अण्।
(6) लाघवम्
लघु अण्।

इगन्त० अर्थात् इक् है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—
(7) घटत्वम्
अण् नहीं हुआ।

लघुपूर्व० अर्थात् लघु वर्ण है पूर्व में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

(8) कण्डुत्वम्
अण् नहीं हुआ।

(9) पाण्डुत्वम्
अण् नहीं हुआ।

(10) काव्यम्
ब्राह्मणादिगण में पाठ होने से अण् नहीं हुआ, 'ष्यञ्' हुआ।

(2017) योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ् *132* (1797)

त्रिप्रभृतीनामन्तस्य समीपमुपोत्तमम्, गुरु उपोत्तमं यस्य तद् गुरूपोत्तमम्। यकारोधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः। रमणीयस्य भावः कर्म वा रामणीयकम्। वासनीयकम्। योपधादिति किम्? विमानत्वम्। गुरूपोत्तमादिति किम्? क्षत्रियत्वम्। *सहायाद्वेति वक्तव्यम्*। साहायकम्। साहाय्यम्।

अर्थ—अन्त के जो समीप है, उसे 'उपोत्तम' कहते हैं। जिसका उपोत्तम गुरु वर्ण है, उसे 'गुरूपोत्तम' कहते हैं। यकार है उपधा में जिसके, ऐसे गुरु उपोत्तम वाले प्रातिपदिक से 'वुञ्' होता है, भाव व कर्म अर्थों में।

उदा० (1) रामणीयकम्
रमणीय वुञ्—आदिवृद्धि, युवोरनाकौ।

(2) वासनीयकम् (पूर्ववत्)।

योपधा० अर्थात् यकार उपधा वाले प्रातिपदिक से 'वुञ्' होता है—

(3) विमानत्वम्
'वुञ्' नहीं हुआ।

गुरुपोत्त० अर्थात् गुरु उपोत्तम वाले प्रातिपदिक से 'वुञ्' होता है—

(4) क्षत्रियत्वम्
'वुञ्' नहीं हुआ।

सहायाद्वे०—सहाय शब्द से विकल्प से 'वुञ्' होता है—

(5) साहायकम्
वुञ् हुआ।

(6) साहाय्यम्
पक्ष में 'ष्यञ्' हुआ।

(2018) द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च *133* (1798)

द्वन्द्वसंज्ञकेभ्यो मनोज्ञादिभ्यश्च वुञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः। गोपालपशुपालानां भावः कर्म वा गौपालपशुपालिका। शैष्योपाध्यायिका। कौत्सकुशिकिका। मनोज्ञादिभ्यः–मानोज्ञकम्! काल्याणकम्। मनोज्ञ। कल्याण। प्रियरूप। छान्दस। छात्र। मेधाविन्। अभिरूप। आढ्य। कुलपुत्र। श्रोत्रिय। चौर। धूर्त्त। वैश्वदेव। युवन्। ग्रामपुत्र। ग्रामखण्ड। ग्रामकुमार। अमुष्यपुत्र। अमुष्यकुल। शतपुत्र। कुशल–मनोज्ञादिः।

अर्थ—द्वन्द्वसंज्ञक तथा मनोज्ञादि षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से 'वुञ्' होता है, भाव तथा कर्म अर्थों में।

उदा० (क) द्वन्द्वात्—
(1) गौपालपशुपालिका
गोपालपशुपाल वुञ्—आदिवृद्धि, टाप् सु।

(2) शैष्योपाध्यायिका
शिष्योपाध्याय वुञ्।

(3) कौत्सकुशिकिका
कुत्सकुशिक वुञ्।

(ख) मनोज्ञादिभ्यः—
(4) मानोज्ञकम्
मनोज्ञ वुञ्।

(5) काल्याणकम्
कल्याण वुञ्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2019) गोत्रवरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु *134* (1799)

गोत्रवाचिनश्चरणवाचिनश्च प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति प्रत्येकं भावकर्मणोरर्थयोः श्लाघादिषु विषयभूतेषु। तत्र श्लाघा विकत्थनम्। अत्याकारः पराधिक्षेपः। तदवेत-स्तत्प्राप्तस्तज्ज्ञो वा। तदिति गोत्रचरणयोर्भावकर्मणी निर्दिश्येते, तत्प्राप्तस्तदवगतवान् तदवेत इत्युच्यते। श्लाघायां तावत्–गार्गिकया श्लाघते। काठिकया श्लाघते। गार्ग्यत्वेन कठत्वेन च विकत्थत इत्यर्थः। अत्याकारे–गार्गिकयात्याकुरुते। काठिकयात्याकुरुते। गार्ग्यत्वेन कठत्वेन च परानधिक्षिपतीत्यर्थः। तदवेतः–गार्गिकामवेतः। काठि-

कामवेतः । गार्ग्यत्वं कठत्वं च प्राप्त इत्यर्थः । तद्वाऽवगतवानित्यर्थः । श्लाघादिष्विति किम् ? गार्ग्यत्वम्, कठत्वम् ।

अर्थ—भाव तथ कर्म अर्थों में प्रशंसा, अपमान तथा उससे युक्त—इन विषयों में गोत्रवाची तथा चरणवाची षष्ठी समर्थ शब्दों से 'वुञ्' होता है। श्लाघा = प्रशंसा। अत्याकार = अपमान। तदवेत = उससे युक्त।

उदा० (क) श्लाघायाम्—
(1) गार्गिकया श्लाघते
वुञ् हुआ।

(2) काठिकया श्लाघते (पूर्ववत्)।

(ख) अत्याकारे—
(3) गार्गिकयाऽत्याकुरुते (पूर्ववत्)।
(4) काठिकयाऽत्याकुरुते (पूर्ववत्)।

(ग) तदवेतः—
(5) गार्गिकाम् अवेतः (पूर्ववत्)।
(6) काठिकाम् अवेतः (पूर्ववत्)।

श्लाघादि० अर्थात् श्लाघा आदि विषयों में 'वुञ्' होता है—

(7) गार्ग्यत्वम्
वुञ् नहीं हुआ।

(8) कठत्वम्
वुञ् नहीं हुआ।

(2020) होत्राभ्यश्छः *135* (1800)

होत्राशब्द ऋत्विग्विशेषवचनः । ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यश्छः प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः । अच्छावाकस्य भावः कर्म वाऽच्छावाकीयम् । मित्रावरुणीयम् । ब्राह्मणाच्छंसीयम् । आग्नीध्रीयम् । प्रतिप्रस्थात्रीयम् । त्वाष्ट्रीयम् । पोत्रीयम् । बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम् ।

अर्थ—'होत्रा' शब्द ऋत्विज् विशेष का वाचक है। षष्ठी समर्थ ऋत्विग् विशेषवाची प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय होता है, भाव तथा कर्म अर्थों में।

उदा० (1) अच्छावाकीयम्
अच्छावाक छ सु—ईयादेश।

(2) मित्रावरुणीयम्
मित्रावरुण छ—पूर्ववत्।

(3) ब्राह्मणाच्छंसीयम् (पूर्ववत्)।
(4) प्रतिप्रस्थात्रीयम् (पूर्ववत्)।
(5) त्वष्ट्रीयम्
त्वष्टृ छ।
(6) पोत्रीयम्
पोतृ छ।

स्वरूपविधि के निरास के लिए बहुवचन का निर्देश है।

(2021) ब्रह्मणस्त्वः *136* (1801)

होत्राभ्य इत्यनुवर्त्तते । ब्रह्मन्शब्दाद्धोत्रावाचिनस्त्वः प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः । छस्यापवादः । ब्रह्मणो भावः कर्म वा ब्रह्मत्वम् । नेति वक्तव्ये त्ववचनं तलो बाधनार्थम् । यस्तु जातिशब्दो ब्राह्मणपर्यायो ब्रह्मन् शब्दस्ततस्त्वतलौ भवत एव—ब्रह्मत्वम्, ब्रह्मता । भवनावधिकयोर्नञ्स्नञोरधिकारः समाप्तः ।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अर्थ—षष्ठी समर्थ होत्रावाची प्रातिपदिक से 'त्व' होता है, भाव व कर्म अर्थों में। यह 'छ' का अपवाद है।

उदा० (1) ब्रह्मत्वम्
त्व, सु।

नेति वक्तव्ये०—'न' ऐसा कहना चाहिए। 'तल्' के बाध के लिए 'त्व' का विधान किया गया है। यह जो ब्राह्मणवाची जातिशब्द 'ब्रह्मन्' है, उससे 'त्व' तथा 'तल्' होते ही हैं। यथा—

(2) ब्रह्मत्वम्
त्व, नकारलोप।

(3) ब्रह्मता
तल् टाप्।

'भवन' तक चलने वाला नञ् व स्नञ् का अधिकार समाप्त होता है।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
पञ्चमाऽध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।



पञ्चमाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः

(2022) धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् *1* (1802)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । धान्यविशेषवाचिभ्यः षष्ठी-समर्थेभ्यो भवनेऽभिधेये खञ् प्रत्ययो भवति तच्चेद्भवनं क्षेत्रं भवति । भवनमिति-भवन्ति = जायन्तेऽस्मिन्निति भवनम् । मुद्-गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् । कौद्रवीणम् । कौलत्थीनम् । धान्यानामिति किम् ? तृणानां भवनं क्षेत्रमित्यत्र न भवति । क्षेत्रमिति किम् ? मुद्गानां भवनं कुशूलम् । बहुवचनं स्वरूप-विधिनिरासार्थम् ।

अर्थ—निर्देश से ही समर्थ विभक्ति है। धान्यविशेषवाची षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से 'खञ्' होता है, 'उत्पत्तिस्थान खेत' अर्थ में।

उदा० (1) मौद्गीनम्
मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्—खञ् हुआ,
मौद्ग ईन सु—ईन आदेश, सु।

(2) कौद्रवीणम्
कोद्रव खञ् सु।

(3) कौलत्थीनम्

धान्यानां० अर्थात् धान्यवाची प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—
तृणानां भवनं क्षेत्रम्—यहाँ 'खञ्' नहीं हुआ।

क्षेत्रमि० अर्थात् खेत अर्थवाच्य हो तो प्रत्यय होता है—
मुद्गानां भवनं कुशूलम्—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।
स्वरूपविधि के निरास के लिए बहुवचन का निर्देश है।

(2023) व्रीहिशाल्योर्ढक् *2* (1803)

व्रीहिशालिशब्दाभ्यां ढक् प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये । खञोऽपवादः । व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं व्रैहेयम् । शालेयम् ।

अर्थ—षष्ठी समर्थ धान्यविशेषवाची व्रीहि और शालि प्रातिपदिकों से 'ढक्' होता है, 'उत्पत्तिस्थान खेत' अर्थ हो तो। यह 'खञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) व्रैहेयम्
व्रीहि ढक्—आदिवृद्धि, एयादेश।

(2) शालेयम्
शालि ढक्—पूर्ववत्।

(2024) यवयवकषष्टिकाद्यत् *3* (1804)

यवादिभ्यः शब्देभ्यो यत् प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये । खञोऽपवादः । यवानां भवनं क्षेत्रं यव्यम् । यवक्यम् । षष्टिक्यम् ।

अर्थ—षष्ठी समर्थ धान्यविशेषवाची यव, यवक तथा षष्टिक शब्दों से 'यत्' होता है, 'उत्पत्तिस्थान खेत' अर्थ हो तो। यह 'खञ्' का अपवाद है।

उदा० (1) यव्यम्
यवानां भवनं क्षेत्रम्—यव यत् सु।

(2) यवक्यम्
यवक यत् सु।

(3) षष्टिक्यम् (पूर्ववत्)।

(2025) विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः *4* (1805)

तिल माष उमा भङ्गा अणु-इत्येतेभ्यो विभाषा यत् प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये । खञि प्राप्ते वचनम् । पक्षे सोऽपि भवति । उमाभङ्गयोरपि धान्यत्वमाश्रितमेव । तिल, माष, उमा, भङ्गा, अणु-एषां भवनं क्षेत्रं तिल्यम्, तैलीनम्; माष्यम्, माषीणम्; उम्यम्, औमीनम्; भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम्; अणव्यम्, आणवीनम् ।

अर्थ—षष्ठी समर्थ धान्यविशेषवाची तिल, माष, उमा, भंगा तथा अणु प्रातिपदिकों से 'यत्' प्रत्यय विकल्प से होता है, 'उत्पत्ति-स्थान खेत' अर्थ हो तो। 'खञ्' प्राप्त होने पर यह विकल्प से विधान किया गया है। पक्ष में वह भी होता है। 'उमा' तथा 'भंगा' की भी धान्यता कही गई है।

उदा० (1) तिल्यम्
तिलानां भवनं क्षेत्रम्—'यत्' हुआ,
तिल यत् सु—विभक्तिकार्य।

(2) तैलीनम्
पक्ष में 'खञ्' हुआ।

(3) माष्यम्
माष यत्।

(4) माषीणम्
खञ्, णत्व।

(5) उम्यम्
उमा यत्।

(6) औमीनम्
उमा खञ्।

(7) भङ्ग्यम्
भङ्गा यत्।

8) भाङ्गीनम्
भङ्गा खञ्।

(9) अणव्यम्
अणु यत्।

(10) आणवीनम्
अणु खञ्।

(2026) सर्वचर्मणः कृतः खखञौ *5* (1806)

सर्वचर्मन्शब्दात्तृतीयासमर्थात् कृत इत्यस्मिन्नर्थे खखञौ प्रत्ययौ भवतः। सर्वशब्दश्चात्र प्रत्ययार्थेन कृतेन सम्बध्यते, न चर्मणा। तत्रायमसमर्थसमासो द्रष्टव्यः। सर्वश्चर्मणा कृत इत्येतस्मिन् वाक्यार्थे वृत्तिः। सर्वचर्मीणः। सार्वचर्मीणः।

अर्थ—तृतीया समर्थ सर्वचर्मन् प्रातिपदिक से 'ख' और 'खञ्' होते हैं, 'किया हुआ' इस अर्थ में। सर्व शब्द का प्रत्ययार्थ कृत के साथ सम्बन्ध है, चर्मन् के साथ नहीं। यहाँ असमर्थ समास है।

उदा० (1) सर्वचर्मीणः
सर्वचर्मणा कृतः—'ख' हुआ।
सर्वचर्मन् ईन सु—टि का लोप, विभक्तिकार्य।

(2) सार्वचर्मीणः
सर्वचर्मन् खञ्—आदिवृद्धि, णत्व।

(2027) यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः *6* (1807)

यथामुखशब्दात् सम्मुखशब्दाच्च षष्ठीसमर्थाद्दर्शन इत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनः, आदर्शादिः प्रतिबिम्बाश्रय उच्यते। निपातनात्सादृश्येऽव्ययीभावः–मुखस्य सदृशम् यथामुखम्। यथामुखं दर्शनः यथामुखीनः। सर्वस्य मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः।

अर्थ—षष्ठी समर्थ यथामुख तथा सम्मुख प्रातिपदिकों से 'ख' होता है, 'दर्शन' अर्थ में। आदर्श आदि प्रतिविम्ब का आश्रय कहा जाता है। निपातन से असादृश्य अर्थ में अव्ययीभाव हुआ है।

उदा० (1) यथामुखीनः
यथामुखं दर्शनः—ख, ईन।

(2) सम्मुखीनः
सर्वस्य मुखस्य दर्शनः—पूर्ववत्।

(2028) तत्सवदिः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति *7* (1808)

तदिति द्वितीया समर्थविभक्तिः। व्याप्नोतीति प्रत्ययार्थः। परिशिष्टं प्रकृतिविशेषणम्। सवदिः प्रातिपदिकात् पथिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्र, पात्र–इत्येवमन्ताद् द्वितीयासमर्थाद् व्याप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनो रथः। सर्वाङ्गीणस्तापः। सर्वकर्मीणः पुरुषः। सर्वपत्रीणः सारथिः। सर्वपात्रीण ओदनः।

अर्थ—'तद्' यह द्वितीया समर्थ विभक्ति है। व्याप्त होता है—यह प्रत्ययार्थ है। शेष प्रकृतिविशेषण है। द्वितीया समर्थ सर्व शब्द वाले पथिन्, अंग, कर्म, पत्र तथा पात्र प्रातिपदिकों से 'ख' होता है, 'व्याप्त होता है'—अर्थ में।

उदा० (1) सर्वपथीनः
सर्वपथं व्याप्नोति।

(2) सर्वाङ्गीणः
सर्वाङ्ग ख—णत्व।

(3) सर्वकर्मीणः
सर्वकर्मन् ख।

(4) सर्वपत्रीणः (पूर्ववत्)।

(5) सर्वपात्रीणः
सर्वपात्र ख।

(2029) आप्रपदं प्राप्नोति *8* (1809)

प्रपदमिति पादस्याग्रमुच्यते, आङ् मर्यादायाम्, तयोरव्ययीभावः। आप्रपदशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थात् प्राप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे

खः प्रत्ययो भवति । आप्रपदं प्राप्नोति आप्रपदीनः पटः । शरीरेणासम्बद्धस्यापि पटस्य प्रमाणमाख्यायते ।

अर्थ—पैर के अगले हिस्से को 'प्रपद' कहा जाता है। मर्यादा अर्थ में 'आङ्' का प्रयोग है। उनका अव्ययीभाव समास हुआ। द्वितीया समर्थ आप्रपद शब्द से 'ख' होता है, 'व्याप्त होता है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) आप्रपदीनः पटः
आप्रपदं व्याप्नोति—ख
आप्रपद ईन सु—विभक्तिकार्य।
= वह वस्त्र जो टखने तक पहुँचे।

(2030) अनुपदसर्वान्नायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु *9* (1810)

अनुपदादिभ्यः शब्देभ्यस्तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यो यथासंख्यं बद्धा, भक्ष्यति, नेय-इत्येतेष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति । अनुरायामे सादृश्ये वा । अनुपदं बद्धाऽनुपदीना उपानत् । पदप्रमाणेत्यर्थः । सर्वान्नानि भक्षयति सर्वान्नीनो भिक्षुः । अयः प्रदक्षिणम्, अनयः प्रसव्यम् । प्रदक्षिणप्रसव्यगामिनां शाराणां यस्मिन् परशारैः पदानामसमावेशः सोऽयानयः । अयानयं नेयोऽयानयीनः शारः (म० भा०) । फलकशिरसि स्थित इत्यर्थः ।

अर्थ—बद्ध, खाता है तथा ले लाने योग्य—इन अर्थों में यथासंख्य करके द्वितीया समर्थ अनुपद, सर्वान्न तथा अयानय प्रातिपदिकों से 'ख' होता है। 'अनु' आयाम अथवा सादृश्य अर्थ में है।

उदा० (1) अनुपदीना उपानत्
अनुपदं बद्धा—ख, टाप्।

(2) सर्वान्नीनः
सर्वान्न ख।

(3) अयानयीनः
ख—पूर्ववत्।

(2031) परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति *10* (1811)

परोवर, परम्पर, पुत्रपौत्र-इत्येतेभ्यस्तदिति द्वितीयासमर्थेभ्योऽनुभवतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति । परोवरेति परस्योत्वं प्रत्ययसन्नियोगेन निपात्यते । परांश्चावरांश्चानुभवति परोवरीणः (म० भा०) । परपरतराणां च परम्परभावो निपात्यते । परांश्च परतरांश्चानुभवति परम्परीणः । पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः । परम्परशब्दो विनापि प्रत्ययेन दृश्यते-मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्तीति । तच्छब्दान्तरमेव द्रष्टव्यम् ।

अर्थ—द्वितीया समर्थ परोवर, परम्पर तथा पुत्रपौत्र प्रातिपदिकों से 'ख' होता है, 'अनुभव करता है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) परोवरीणः
परांश्चाऽवरांश्चानुभवति—'ख' हुआ,
परोवर ईन सु—निपातन से 'उत्व' हुआ।

(2) परम्परीणः
परांश्च परतरांश्चाऽनुभवति—'ख' हुआ,
परम्परीण सु—निपातन से प्रकृति को 'परम्पर' हुआ, विभक्तिकार्य।

(3) पुत्रपौत्रीणः
पुत्रपौत्र ख—पूर्ववत्।

परम्पर शब्द विना प्रत्यय भी दृष्टिगोचर होता है। यथा—मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्ति।

(2032) अवारपारात्यन्तानुकामं गामी *11* (1812)

अवारपार ते अत्यन्त, अनुकाम-इत्येतेभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यो गामीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति । गमिष्यतीति गामी, भविष्यति गम्यादय (3.3.3) इति । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति (3.2.70) षष्ठीप्रतिषेधः-अवारपारं गामी अवारपारीणः । *विपरीताच्च* । पारावारीणः । विगृहतादपीष्यते-अवारीणः । पारीणः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । भृशं गन्तेत्यर्थः । अनुकामं गामी अनुकामीनः । यथेष्टं गन्तेत्यर्थः ।

अर्थ—द्वितीया समर्थ अवारपार, अत्यन्त तथा अनुकाम प्रातिपदिकों से 'ख' होता है, 'भविष्य में जाने वाला'—इस अर्थ में। 'अकेनोर्भ०' से षष्ठी का निषेध होता है—

उदा० (1) अवारपारीणः
अवारपार ख सु।

विपरीताच्च अर्थात् विपरीत क्रम से भी प्रत्यय होता है—

(2) पारावारीणः
पारावार ख।

विगृहीता०—विगृहीत दशा में भी प्रत्यय होता है—

(3) अवारीणः
अवार ख।

(4) अत्यन्तीनः
अत्यन्त ख।

(5) अनुकामीनः
अनुकाम ख।

(2033) समांसमां विजायते *12* (1813)

समांसमामिति वीप्सा, सुबन्तसमुदायः प्रकृतिः। विजायते-गर्भं धारयतीति प्रत्ययार्थः। गर्भधारणेन सकलापि समा व्याप्यत इति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया (2.1.29)। समांसमां विजायते समांसमीना गौः। समांसमीना वडवा। *पूर्वपदे सुपोऽलुग्वक्तव्यः* (म०भा०)। केचित्तु समायां समायां विजायत इति विगृह्णन्ति। गर्भमोचने तु विजनिर्वर्त्तत इत्याहुः। तेषां पूर्वपदे यलोपमात्र निपात्यते, परिशिष्ट-स्यालुग्वक्तव्यः। *अनुत्पत्तावुत्तरपदस्य च वा यलोपो वक्तव्यः* (म०भा०)। समां समां विजायते। समायां समायां विजायत इति वा।

अर्थ—'समां समाम्' यह वीप्सा अर्थ में सुबन्त समुदायरूप प्रकृति है। गर्भ को धारण करता है—यह प्रत्ययार्थ है। गर्भधारण के द्वारा समग्र समा व्याप्त होती है—अतः अत्यन्त संयोग में द्वितीया होती है। द्वितीया समर्थ समांसमां प्रातिपदिक से 'ख' होता है, 'बच्चा जनती है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) समांसमीना
समांसमां विजायते—ख, टाप् हुआ।

पूर्वपदे०—पूर्वपद में सुप् का अलुक् होता है। कुछ विद्वान् निम्नलिखित प्रकार से भी विग्रह करते हैं—
समायां समायां विजायते।

गर्भमोचन अर्थ में 'विजनि' वर्त्तमान है—ऐसा कहते हैं। उनका पूर्वपद में यलोप मात्र का निपातन होता है। शेष का अलुक् ही होता है।

अनुत्पत्ता०—यदि 'ख' प्रत्यय नहीं होता है तो उत्तरपद का तथा पूर्वपद के 'य' का विकल्प से लुक् होता है—

समांसमां विजायते।
समायां समायां विजायते।

(2034) अद्यश्वीनावष्टब्धे *13* (1814)

विजायत इति वर्त्तते। अद्यश्वीन इति निपात्यते अवष्टब्धे विजने-आसन्ने प्रसवे। आविदूर्ये हि मूर्धन्यो विधीयते-अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोरिति (8.3.68)। अद्य वा श्वो वा विजायतेऽद्यश्वीना गौः। अद्यश्वीना वडवा। केचित्तु विजायत इति नानुवर्त्तते, अवष्टब्धमात्रे निपातनमित्याहुः। अद्यश्वीनं मरणम्। अद्यश्वीनो वियोग इति।

अर्थ—'विजायते' का अनुवर्त्तन है। 'आसन्न प्रसव' वाच्य हो तो 'अद्यश्वीन' शब्द निपातित किया जाता है। 'अवाच्चाऽऽलम्बनाऽविदूर्ययोः' के द्वारा अविदूर्य अर्थ में षत्व का विधान किया जाता है।

उदा० (1) अद्यश्वीना
अद्य वा श्वो वा विजायते—'ख' हुआ,
अद्यश्वस् ख—टिलोप,
अद्यश्वीन टाप् सु—विभक्तिकार्य।

कुछ विद्वान् 'विजायते' का अनुवर्त्तन नहीं करते हैं। उनके अनुसार अवष्टब्धमात्र में निपातन होता है। यथा—

(2) अद्यश्वीनं मरणम्।
(3) अद्यश्वीनो वियोगः।

(2035) आगवीनः *14* (1815)

आगवीन इति निपात्यते। आङ्पूर्वाद् गोशब्दाद्, आ तस्य गोः प्रतिपादनात् कर्मकारिणि खः प्रत्ययो निपात्यते (म०भा०)। आगवीनः कर्मकरः, यो गवा भृतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात्।

अर्थ—'आगवीन' शब्द का निपातन किया जाता है, 'सेवक' अर्थ में।

उदा० (1) आगवीनः
आङ् गो ख—ईन आदेश।
= गाय के बदले रक्खा गया सेवक।

(2036) अनुग्वलङ्गामी *15* (1816)

गोः पश्चाद् अनुगु। अनुगुशब्दादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। अनुगु पर्याप्तं गच्छति अनुगवीनो गोपालकः।

अर्थ—द्वितीया समर्थ 'अनुगु' प्रातिपदिक से 'ख' होता है, 'पर्याप्त जाता है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) अनुगवीनः
अनुगु पर्याप्तं गच्छति—'ख' हुआ।

(2037) अध्वनो यत्खौ *16* (1817)

तदिति द्वितीयासमर्थविभक्तिरनुवर्त्तते। अलङ्गामीति च प्रत्ययार्थः। अध्वन्शब्दाद् द्वितीयासमर्थादलङ्गामीत्येतस्मिन्नर्थे यत्खौ प्रत्ययौ भवतः। अध्वानमलङ्गामी अध्वनीनः। अध्वन्यः। ये चाभावकर्मणोः (6.4.168), आत्माध्वानौ ख (6.4.169) इति प्रकृतिभावः।

अर्थ—द्वितीया समर्थ 'अध्वन्' प्रातिपदिक से 'यत्' तथा 'ख' प्रत्यय होते हैं, 'पर्याप्त जाता है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) अध्वनीनः
अध्वानमलङ्गामी → अध्वन् ख—ईन आदेश।

(2) अध्वन्यः
अध्वन् यत्—ये चाऽभावकर्मणोः, आत्माऽध्वानौ ख से प्रकृतिभाव।

(2038) अभ्यमित्राच्छ च *17* (1818)

अभ्यमित्रशब्दाद् द्वितीयासमर्थादलङ्गामीत्येतस्मिन्नर्थे छः प्रत्ययो भवति, चकाराद्यत्खौ च। अभ्यमित्रमलङ्गामी अभ्यमित्रीयः। अभ्यमित्र्यः। अभ्यमित्रीणः। अमित्राभिमुखं सुष्ठु गच्छतीत्यर्थः।

अर्थ—पर्याप्त जाता है—इस अर्थ में द्वितीया समर्थ 'अभ्यमित्र' शब्द से छ, यत् और ख प्रत्यय पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) अभ्यमित्रीयः
अभ्यमित्रम् अलङ्गामी—'छ' हुआ।

(2) अभ्यमित्र्यः
'यत्' हुआ।

(3) अभ्यमित्रीणः
'ख' हुआ।

(2039) गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे *18* (1819)

गावस्तिष्ठन्त्यत्रेति गोष्ठम्, गोष्ठशब्देन सन्निहितगोसमूहो देश उच्यते, भूतपूर्वग्रहणं तस्यैव विशेषणम्। गोष्ठशब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकात् स्वार्थे खञ् प्रत्ययो भवति। गोष्ठो भूतपूर्वः गौष्ठीनो देशः। भूतपूर्वग्रहणं किम्? गोष्ठो वर्त्तते।

अर्थ—गावस्तिष्ठन्त्यत्र—गोष्ठ। गोष्ठ शब्द के द्वारा सन्निहित गोसमूह देश कहा जाता है। 'भूतपूर्व' उसका ही विशेषण है। भूतपूर्व अर्थ में वर्त्तमान गोष्ठ प्रातिपदिक से 'खञ्' होता है।

उदा० (1) गौष्ठीनः
गोष्ठो भूतपूर्वः—'खञ्' हुआ।

भूतपूर्व—भूतपूर्व अर्थ में वर्त्तमान शब्द से प्रत्यय होता है—

(2) गोष्ठो वर्त्तते
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(2040) अश्वस्यैकाहगमः *19* (1820)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। अश्वशब्दात् षष्ठीसमर्थादेकाहगम इत्येतदर्थे खञ् प्रत्ययो भवति। एकाहेन गम्यत इत्येकाहगमः। अश्वस्यैकाहगमोऽध्वा आश्वीनः। आश्वीनानि शतं पतित्वा (तां०ब्रा० 21.1.9)।

अर्थ—निर्देश से समर्थ विभक्ति है। 'एकाहगम' अर्थ में षष्ठी समर्थ अश्व प्रातिपदिक से 'खञ्' होता है। एकाहेन गम्यते—ऐकाहगमः।

उदा० (1) आश्वीनः
अश्वस्यैकाहगमोऽध्वा—खञ् हुआ।

(2041) शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः *20* (1821)

शालीनकौपीनशब्दौ निपात्येते यथासंख्यमधृष्टे अकार्ये चाऽभिधेये। अधृष्टोऽप्रगल्भः। अकार्यमकरणार्हं विरुद्धम्। शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः पर्यायौ यथाकथञ्चिद् व्युत्पादयितव्यौ। शालाप्रवेशनमर्हति, कूपावतारमर्हति (म०भा०) इत्यर्थयोः खञ् प्रत्यय उत्तरपदलोपश्च निपात्यते-शालीनो जडः, कौपीनं पापम्।

अर्थ—अधृष्ट तथा अकार्य अर्थों में यथासंख्य करके शालीन तथा कौपीन प्रातिपदिकों का निपातन किया जाता है।

अधृष्ट = अप्रगल्भ। अकार्य = अकारणीय कार्य।

उदा० (1) शालीनः
शालाप्रवेशनमर्हति—खञ्, उत्तरपदलोप का निपातन,
शाल् ईन सु—विभक्तिकार्य।

(2) कौपीनम्
कूपावतारम् अर्हति—खञ्, उत्तरपदलोप का निपातन,
कौप ईन सु—विभक्तिकार्य।

(2042) व्रातेन जीवति *21* (1822)

निर्देशादेव तृतीया समर्थविभक्तिः। व्रातशब्दात्तृतीयासमर्थाज्जीवतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् प्रत्ययो भवति। नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः सङ्घाः व्राताः (म० भा०)। उत्सेधः शरीरम्, तदायास्य ये जीवन्ति ते उत्सेधजीविनः, तेषां कर्म व्रातम्, तेन व्रातेन जीवति व्रातीनः, तेषामेव व्रातानामन्यतम उच्यते। यस्त्वन्यस्तदीयेन जीवति तत्र नेष्यते।

अर्थ—निर्देश से तृतीया समर्थविभक्ति है। तृतीयासमर्थ 'व्रात' प्रातिपदिक से 'खञ्' होता है, 'जीता है' इस अर्थ में। एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम-घूम कर विभिन्न वृत्तियों वाले मनुष्यों के समुदाय को 'व्रात' कहा जाता है।

उदा० (1) व्रातीनः
व्रातेन जीवति।

(2043) साप्तपदीनं सख्यम् *22* (1823)

साप्तपदीनमिति निपात्यते सख्येऽभिधेये। सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनम्। 'सख्यं जनाः सप्तपदीनमाहुः'। कथं साप्तपदीनः सखा, साप्तपदीनं मित्रमिति ? यदा गुणप्रधानः साप्तपदीनशब्दः सखिभावे तत्कर्मणि च वर्त्तते तदा सख्यशब्देन सामानाधिकरण्यं भवति, यदा तु लक्षणया वर्त्तते तदा पुरुषेण सामानाधिकरण्यं भवति।

अर्थ—'सख्य' अर्थ अभिधेय हो तो 'साप्तपदीन' का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) साप्तपदीनम्
सप्तभिः पदैरवाप्यते—खञ्।

(2) साप्तपदीनः सखा
जब गुणप्रधान साप्तपदीन शब्द सखिभाव में तथा तत्कर्म में वर्त्तमान होता है, तो सख्य शब्द के द्वारा समानाधिकरण होता है। तब लक्षणा के द्वारा वर्त्तमान होता है, तब पुरुष के साथ सामानाधिकरण्य होता है।

(2044) हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् *23* (1824)

हैयङ्गवीनं निपात्यते संज्ञायां विषये। ह्योगोदोहस्य हियङ्गवादेशः, तस्य विकारे (म० भा०) खञ् प्रत्ययो भवति संज्ञायाम्। ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनम्। घृतस्य संज्ञा। तेनेह न भवति-ह्योगोदोहस्य विकार उदश्वित् (म० भा०)।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान हो तो 'हैयङ्गवीन' शब्द निपातनसिद्ध है, विकार अर्थ में।

उदा० (1) हैयङ्गवीनम् (= घी)
ह्योगोदोह खञ्—ऐच् आगम,
हैयङ्गवीन सु—विभक्तिकार्य।
संज्ञा न होने से निम्नलिखित में नहीं होता है—
ह्योगोदोहस्य विकार उदश्वित्।

(2045) तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ *24* (1825)

तस्येति षष्ठीसमर्थेभ्यः पील्वादिभ्यः कर्णादिभ्यश्च यथासंख्यं पाकमूलयोरर्थयोः कुणब्, जाहच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। पीलूनां पाकः पीलुकुणः। कर्कन्धुकुणः। कर्णादिभ्यः-कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्। पीलु। कर्कन्धु। शमी। करीर। कुवल। बदर। अश्वत्थ। खदिर। पील्वादिः। कर्ण। अक्षि। नख। मुख। केश। पाद। गुल्फ। भ्रू। शृङ्ग। दन्त। ओष्ठ। पृष्ठ। अङ्गुष्ठ-कर्णादिः।

अर्थ—पाक तथा मूल अर्थ गम्यमान हों तो यथासंख्य करके षष्ठी समर्थ पील्वादि तथा कर्णादि प्रातिपदिकों से 'कुणप्' तथा 'जाहच्' प्रत्यय होते हैं। प्रकृति तथा प्रत्ययों में भी यथासंख्य नियम लागू होता है।

उदा० (1) पीलुकुणः
पीलूनां पाकः—कुणप्, सु।

(2) कर्णजाहम्
कर्णस्य मूलम्—जाहच्, सु।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2046) पक्षात्तिः *25* (1826)

तस्येत्येव। तस्येति षष्ठीसमर्थात्पक्षशब्दात् मूलेऽभिधेये तिः प्रत्ययो भवति। मूलग्रहणमनुवर्त्तते, न पाकग्रहणम् (म० भा०), 'एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशोऽनुवर्त्तते' (व्या० प० 23) इति। पक्षस्य मूलं पक्षतिः प्रतिपत्।

अर्थ—षष्ठी समर्थ 'पक्ष' प्रातिपदिक से 'ति' होता है, मूल अर्थ में। एक योग के निर्दिष्टों का भी एकदेश का अनुवर्त्तन होता है।

उदा० (1) पक्षतिः
पक्षस्य मूलम्—पक्ष ति सु।

(2047) तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ *26* (1827)

तेनेति तृतीयासमर्थाद्वित्त इत्येतस्मिन्नर्थे चुञ्चुप् चणप्–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। वित्तः प्रतीतः, ज्ञात इत्यर्थः। विद्यया वित्तः विद्याचुञ्चुः। केशचणः।

अर्थ—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से चुञ्चुप् तथा चणप् प्रत्यय होते हैं, 'ज्ञात' अर्थ में।

उदा० (1) विद्याचुञ्चुः
विद्यया वित्तः।

(2) केशचणः (पूर्ववत्)।

(2048) विनञ्भ्यां नानाञौ नसह *27* (1828)

वि, नञ्–इत्येताभ्यां यथासंख्यं ना, नाञ्–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। नसहेति प्रकृतिविशेषणम् (म० भा०)। असहार्थे पृथग्भावे वर्त्तमानाभ्यां विनञ्भ्यां स्वार्थे नानाञौ प्रत्ययौ भवतः। विना। नाना।

अर्थ—पृथग्भाव अर्थ में 'वि' तथा 'नञ्' प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'ना' तथा 'नाञ्' होते हैं। न सह—प्रकृतिविशेषण है।

उदा० (1) विना
वि ना सु।

(2) नाना
नञ् नाञ् सु।

(2049) वेः शालच्छङ्कटचौ *28* (1829)

विशब्दात् शालच्, शङ्कटच्–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। ससाधनक्रियावचनादुपसर्गात्स्वार्थे प्रत्ययौ भवतः। विगते शृङ्गे विशाले, विशङ्कटे। तद्योगाद्गौरपि विशालः, विशङ्कट इत्युच्यते। परमार्थतस्तु गुणशब्दा एते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते, नात्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभिनिवेशः।

अर्थ—'वि' शब्द से शालच् तथा शङ्कटच् प्रत्यय होते हैं। साधन क्रियावाची उपसर्ग से स्वार्थ में ये प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) विशाले
विगते शृङ्गे—वि शालच् औ—विभक्तिकार्य।

(2) विशङ्कटे
वि शङ्कटच् औ—पूर्ववत्।

इसके योग से 'गो' भी विशाल व विशङ्कट कही जाती है। वास्तव में ये गुणशब्द हैं। जैसे-तैसे व्युत्पन्न किए जाते हैं। यहाँ प्रकृति और प्रत्ययार्थ का अभिनिवेश नहीं है।

(2050) संप्रोदश्च कटच् *29* (1830)

सम्, प्र, उत्–इत्येतेभ्यः कटच् प्रत्ययो भवति चकाराद्वेश्च। सङ्कटम्। प्रकटम्। उत्कटम्। विकटम्। *कटच्प्रकरणेऽलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्* (म० भा०)। अलाबूनां रजोऽलाबूकटम्। तिलकटम्। उमाकटम्। भङ्गाकटम्। *गोष्ठादयः स्थानादिषु पशुनामादिभ्य उपसंख्यानम्*। गवां स्थानं गोगोष्ठम्। महिषीगोष्ठम्। *सङ्घाते कटच् वक्तव्यः*। अवीनां सङ्घातः अविकटम्। *विस्तारे पटच् वक्तव्य*। अविपटम्। *द्वित्वे गोयुगच्*। उष्ट्रगोयुगम्। अश्वगोयुगम्। *प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवच्*। हस्तिषड्गवम्। अश्वषड्गवम्। *विकारे स्नेहे तैलच्*। एरण्डतैलम्। इङ्गुदीतैलम्। तिलतैलम्। *भवने क्षेत्रे इक्ष्वादिभ्यः शाकटशाकिनौ*। इक्षुशाकटम्। मूलशाकटम्। इक्षुशाकिनम्। मूलशाकिनम्।

अर्थ—सम्, प्र तथा उद्—इनसे कटच् प्रत्यय होता है तथा 'वि' से भी कटच् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) सङ्कटम्
सम् कटच्—संकट—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(2) प्रकटम् (पूर्ववत्)।

(3) उत्कटम् (पूर्ववत्)।

(4) विकटम् (पूर्ववत्)।

कटच्—अलाबू, तिल, उमा और भंगा शब्दों से 'कटच्' होता है, 'धूलि' अर्थ गम्यमान होने पर कटच् होता है—

(5) अलाबूकटम्
अलाबूनां रजः—कटच् हुआ।

(6) तिलकटम्
तिलां रजः—'अनुदात्तादेश्च' से 'अञ्' प्राप्त था।

(7) उमाकटम्
पूर्ववत् 'अञ्' प्राप्त था।

(8) भङ्गाकटम्
'तृणधान्यानां०' (फिट् सूत्र) से 'अण्' प्राप्त था।

गोष्ठजा०—स्थान आदि अर्थों में पशुवाची शब्दों से 'गोष्ठच्' होता है—

(9) गोगोष्ठम्
गवां स्थानम्—'गोष्ठच्' हुआ।

(10) महिषीगोष्ठम् (पूर्ववत्)।

सङ्घाते०—समूह अर्थ में 'कटच्' होता है—

(11) अविकटम्
अवीनां सङ्घातः—कटच्, सु।

विस्तारे०—विस्तार अर्थ में 'पटच्' होता है—

(12) अविपटम्
अवीनां विस्तारः—पूर्ववत्।

द्वित्वे०—द्वित्व की प्रतीति में 'गोयुगच्' होता है—

(13) उष्ट्रगोयुगम्
द्वौ उष्ट्रौ—गोयुगच् हुआ।

(14) अश्वगोयुगम् (पूर्ववत्)।

प्रकृत्य०—प्रकृत्यर्थ का षट्त्व वाच्य हो तो 'षड्गवच्' होता है—

(15) हस्तिषड्गवम्
षड् हस्तिनः—प्रत्यय हुआ, सु।

(16) अश्वषड्गवम् (पूर्ववत्)।

विकारे०—विकार यदि 'स्नेह' हो तो 'तैलच्' प्रत्यय होता है—

(17) एरण्डतैलम्
एरण्डस्य विकारः—तैलच, सु।

(18) इङ्गुदीतैलम् (पूर्ववत्)।
(19) तिलतैलम् (पूर्ववत्)।

भवने०—उत्पत्तिस्थान यदि 'खेत' हो तो 'इक्षु' आदि से 'शाकट' और 'शाकिन' प्रत्यय होते हैं—

(20) इक्षुशाकटम्
इक्षूणां भवनं क्षेत्रम्—शाकट, सु।

(21) मूलकशाकटम् (पूर्ववत्)।
(22) इक्षुशाकिनम्
शाकिन, सु।

(23) मूलकशाकिनम् (पूर्ववत्)।

(2051) अवात् कुटारच्च *30* (1831)

अवशब्दात् कुटारच् प्रत्ययो भवति चकारात् कटच् च। अवकुटारम्। अवकटम्।

अर्थ—'अव' से 'कुटारच्' तथा 'कटच्' होते हैं—

उदा० (1) अवकुटारम्
अव कुटारच् सु।

(2) अवकटम्
अव कटच् सु।

(2052) नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः *31* (1832)

अवादित्येव। नमनं नतम्। नासिकायाः सम्बन्धिनि नतेऽभिधेये टीटच्, नाटच्, भ्रटच्-इत्येते प्रत्यया भवन्ति संज्ञायां विषये। नासिकाया नतम् अवटीटम्। अवनाटम्। अवभ्रटम्। तद्योगान्नासिकाऽपि, पुरुषोऽपि तथोच्यते। अवटीटः। अवनाटः। अवभ्रट इति।

अर्थ—नत = नमन। 'नासिका का झुकाव' अभिधेय हो तो 'अव' प्रातिपदिक से टीटच्, नाटच् तथा भ्रटच् प्रत्यय होते हैं, संज्ञा गम्यमान हो।

उदा० (1) अवटीटम्
नासिकाया नतम्—टीटच्, सु।

(2) अवनाटम् (पूर्ववत्)।
(3) अवभ्रटम् (पूर्ववत्)।

उसके योग से नासिका भी तथा पुरुष भी कहे जाते हैं। यथा—

(4) अवटीटा
अव टीटच् टाप् सु।

(5) अवनाटः (पूर्ववत्)।
(6) अवभ्रटः (पूर्ववत्)।

(2053) नेर्बिडज्बिरीसचौ *32* (1833)

नते नासिकाया इत्यनुवर्त्तते, संज्ञायामिति च। निशब्दान्नासिकाया नतेऽभिधेये बिडच् बिरीसच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। निबिडम्। निबिरीसम्। तद्योगान्नासिकापि, पुरुषोऽपि-निबिडः निबिरीसः। कथं निबिडाः केशाः, निबिडं वस्त्रम्? उपमानाद्भविष्यति।

अर्थ—नते, नासिकायाः सञ्ज्ञायाम्—इनका अनुवर्तन है। 'नासिका का झुकाव' अर्थ वाच्य हो तो 'नि' उपसर्ग से बिडच् और बिरीसच् होते हैं, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) निबिडम्
नि बिडच् सु।

(2) निबिरीसम्
बिरीसच् हुआ।

उसके योग से नासिका भी तथा पुरुष भी कहे जाते हैं—

(3) निबिडः (पूर्ववत्)।
(4) निबिरीसः (पूर्ववत्)।

निबिडाः केशाः, निबिडं वस्त्रम्
ये दो प्रयोग उपमान से होते हैं।

(2054) इनच्पिटच्चिकचि च *33* (1834)

नेरिति वर्त्तते, नते नासिकाया इति च। निशब्दान्नासिकाया नतेऽभिधेये इनच्, पिटच्–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतस्तत्सन्नियोगेन च निशब्दस्य यथासंख्यं चिक चि–इत्येतावादेशौ भवतः। चिकिनः। चिपिटः। *ककारः प्रत्ययो वक्तव्यश्चिक्च प्रकृत्यादेशः*। चिक्कः। तथा चोक्तम्–इनच्पिटच्काश्चिक-चिचिकादेशाश्च वक्तव्या इति (म० भा०)। *क्लिन्नस्य चिल् पिल्लश्चास्य चक्षुषी*। क्लिन्नस्य चिल् पिल्–इत्येतावादेशौ भवतो लश्च प्रत्ययोऽस्य चक्षुषी इत्येतस्मिन्नर्थे। क्लिन्ने अस्य चक्षुषी चिल्लः। पिल्लः। *चुल्लादेशो वक्तव्यः*। चुल्लः। अस्येत्यनेन नार्थः। चक्षुषोरेवाभिधाने प्रत्यय इष्यते। क्लिन्ने चक्षुषी चिल्ले। पिल्ले। चुल्ले। तद्योगात्तु पुरुषस्तथोच्यते।

अर्थ—नेः, नते, नासिकायाः—इनका अनुवर्तन है। 'नासिका का झुकाव' अर्थ वाच्य हो तो 'नि' उपसर्ग से इनच् व पिटच् होते हैं तथा 'नि' शब्द को प्रत्यय के क्रम से 'चिक' तथा 'चि' आदेश होते हैं, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) चिकिनः
नि इनच् → चिक इनच्—हलन्त्यम्, सु।

(2) चिपिटः
नि पिटच् → चि पिटच्—हलन्त्यम्, सु।

ककारः—नि 'उपसर्ग' से 'क' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'चिक्' होता है—

(3) चिक्कः
नि क → चिक् क सु।

इनच्०—इनच्, पिटच् तथा क प्रत्यय होते हैं और प्रत्ययों के यथासंख्य करके प्रकृति को चिक, चि तथा चिक् आदेश होते हैं।

क्लिन्नस्य०—'उसकी आँखें गीली हैं' इस अर्थ में 'क्लिन्न' शब्द से 'ल' होता है तथा प्रकृति को 'चिल्' तथा 'पिल्' आदेश होते हैं—

(4) चिल्लः
क्लिन्ने अस्य चक्षुषी—चिल् ल सु।

(5) पिल्लः
पक्ष में 'पिल्' आदेश।

चुलादे०—'चुल्' आदेश होता है—

(6) चुल्लः
चुल् ल सु—पूर्ववत्।
उसके योग से पुरुष भी कहा जाता है।

(2055) उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः *34* (1835)

उप अधि–इत्येताभ्यां यथासंख्यमासन्नारूढयोर्वर्त्तमानाभ्यां स्वार्थे त्यकन् प्रत्ययो भवति। संज्ञाधिकाराच्च नियतविषय-मासन्नारूढं गम्यते। पर्वतस्यासन्नमुपत्यका। तस्यैवारूढम-धित्यका। प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य (7.3.44) इतीत्वमत्र न भवति, संज्ञाधिकारादेव।

अर्थ—आसन्न और आरूढ अर्थों में यथासंख्य करके उप तथा अधि उपसर्गों से 'त्यकन्' प्रत्यय होता है, संज्ञा के विषय में। संज्ञा के अधिकार से नियत विषय का ज्ञान होता है।

उदा० (1) उपत्यका
पर्वतस्याऽऽसन्नम्—उप त्यकन् टाप् सु।

(2) अधित्यका
पर्वतस्यैवाऽऽरूढम्—अधि त्यकन् टाप् सु।

संज्ञा के अधिकार से प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य० से इत्व नहीं होता है।

(2056) कर्मणि घटोऽठच् *35* (1836)

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। कर्मन् शब्दात् सप्तमीसमर्थाद् घट इत्येतस्मिन्नर्थेऽठच् प्रत्ययो भवति। घटत इति घटः। कर्मणि घटते कर्मठः पुरुषः।

अर्थ—निर्देश से समर्थ विभक्ति होती है। 'चेष्टा करने वाला'—इस अर्थ में सप्तमी समर्थ कर्मन् प्रातिपदिक से 'अठच्' होता है।

उदा० (1) कर्मठः
कर्मणि घटते → कर्मन् अठच्—
कर्म् अठ सु—विभक्तिकार्य।

(2057) तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् *36* (1837)

तदिति प्रथमासमर्थेभ्यस्तारकादिभ्यः शब्देभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे इतच् प्रत्ययो भवति। सञ्जातग्रहणं प्रकृतिविशेषणम्। तारकाः सञ्जाता अस्य नभसस्तारकितं नभः। पुष्पितो वृक्षः। तारका। पुष्प। मुकुल। कण्टक। पिपासा। सुख। दुःख। ऋजीष। कुड्मल। रोग। विचार। व्याधि। निष्क्रमण। मूत्र। पुरीष। किसलय। कुसुम। प्रचार। तन्द्रा। वेग। बुभुक्षा। श्रद्धा। उत्कण्ठा। भर। द्रोह। *गर्भादप्राणिनि* (ग०सू० 120)। तारकादि-राकृतिगणः।

अर्थ—सञ्जात समानाधिकरण वाले प्रथमा समर्थ 'तारक' आदि प्रातिपदिकों से 'इतच्' होता है, षष्ठी के अर्थ में। सञ्जात ग्रहण प्रकृति का विशेषण है।

उदा० (1) तारकितम्
तारकाः सञ्जाता अस्य नभसः—
तारक इतच् सु—विभक्तिकार्य।

तारकादि गण आकृतिगण है। शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2058) प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः *37* (1838)

तदस्येत्यनुवर्त्तते। तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे द्वयसच् दघ्नच् मात्रच्–इत्येते प्रत्यया भवन्ति यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रमाणं चेत्तद्भवति। ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्रम्। जानुद्वयसम्। जानुदघ्नम्। जानुमात्रम्।

'प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम'। (म०भा०)

ऊरुद्वयसमुदकम्। ऊरुदघ्नमुदकम्। मात्रच् पुनरविशेषेण–प्रस्थमात्रमित्यपि भवति। *प्रमाणे लो वक्तव्यः* (म०भा०)। प्रमाणशब्दा इति ये प्रसिद्धास्तेभ्य उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुग्भवति। शमः प्रमाणमस्य शमः। दिष्टिः। वितस्तिः। *द्विगोर्नित्यम्* (म०भा०)। द्वौ शमौ प्रमाणमस्य द्विशमः। त्रिसमः। द्विवितस्तिः। नित्यग्रहणं किम्? संशये श्राविणं वक्ष्यति। तत्रापि द्विगोर्लुगेव यथा स्यात्। द्वे दिष्टी स्यातां वा न वा द्विदिष्टिः। *डट्स्तोमे वक्तव्यः* (म०भा०)। पञ्चदश स्तोमः। पञ्चदशी रात्रिः। टित्वान् ङीप्। *शन्शतोर्डिनिर्वक्तव्यः* (म०भा०)। पञ्चदशिनोऽर्द्धमासाः। त्रिंशिनो मासाः (तै०सं० 7.5.20.1)। *विंशतेश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। विंशिनोऽङ्गिरसः (गो०ब्रा० 1.1.8.1)। *प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रज्वक्तव्यः* (म०भा०)। शममात्रम्। दिष्टिमात्रम्। प्रस्थमात्रम्। कुडवमात्रम्। पञ्चमात्रम्। दशमात्रा गावः। *वत्वन्तात्स्वार्थे द्वयसज्मात्रचौ बहुलम्* (म०भा०)। तावदेव तावद्द्वयसम्। तावन्मात्रम्। एतावद्द्वयसम्। एतावन्मात्रम्। यावद्द्वयसम्। यावन्मात्रम्।

अर्थ—'तदस्य' का अनुवर्त्तन है। प्रथमासमर्थ प्रमाण समानाधिकरणवाची प्रातिपदिक से षष्ठी के अर्थ में द्वयसच्, दघ्नच् तथा मात्रच् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) ऊरुद्वयसम्
ऊरु प्रमाणम् अस्य—'द्वयसच्' हुआ,
ऊरु द्वयस सु—यह प्रत्यय ऊँचाई के नाप में होता है।

(2) ऊरुदघ्नम्
पूर्ववत्, दघ्नच् हुआ, यह प्रत्यय ऊँचाई के नाप में होता है।

(3) ऊरुमात्रम्
'मात्रच्' हुआ। यह ऊँचाई व लम्बाई दोनों नापों में होता है।

(4) जानुद्वयसम् (पूर्ववत्)।
(5) जानुदघ्नम् (पूर्ववत्)।
(6) जानुमात्रम् (पूर्ववत्)।

प्रस्थमात्रम् भी होता है।

प्रमाणे०—जो प्रमाण शब्द प्रसिद्ध है, उनसे उत्पन्न प्रत्यय का लुक् होता है—

(7) शमः
शमः प्रमाणम् अस्य—प्रत्यय का लुक् हुआ।

(8) दिष्टिः (पूर्ववत्)।
(9) वितस्तिः (पूर्ववत्)।

द्विगोर्नित्यम्—द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय का नित्य लुक् होता है—

(10) द्विशमः
द्वौ शमौ प्रमाणम् अस्य—प्रत्यय का लुक् हुआ।

(11) त्रिशमः (पूर्ववत्)।
(12) द्विबितस्तिः (पूर्ववत्)।

नित्य० अर्थात् प्रत्यय का लुक् नित्य होता है। संशय में श्रावी कहा जायेगा। वहाँ भी द्विगु से लुक् ही हो जाय। यथा—

(13) द्विदिष्टिः
द्वे दिष्टी स्यातां वा न वा—लुक् हुआ।

डट् स्तोमे —स्तोम अर्थ में 'डट्' होता है—

(14) पञ्चदशस्तोमः
पञ्चदशन् डट्—टि का लोप, सु।

(15) पञ्चदशी
पञ्चदश ङीप्।

शन् शतो०—शन् और शत् अन्त वाले शब्दों से 'डिनि' होता है—

(16) पञ्चदशिनः
पञ्चदशन् डिनि—टिलोप, जस्।

(17) त्रिंशिनः (पूर्ववत्)।

विंशते०—विंशति शब्द से 'डिनि' होता है—

(18) विंशिनः
विंशति डिनि—पूर्ववत्।

प्रमाणपरि०—प्रमाण व परिमाण से संख्या का संशय होने पर 'मात्रच्' होता है—

(19) शममात्रम्
'मात्रच्' हुआ।

(20) दिष्टिमात्रम्
'मात्रच्' हुआ।

(21) प्रस्थमात्रम् (पूर्ववत्)।
(22) कुडवमात्रम् (पूर्ववत्)।
(23) पञ्चमात्रम् (पूर्ववत्)।
(24) दशमात्रम् (पूर्ववत्)।

वत्वन्ता०—वतु अन्त वाले प्रातिपदिक से स्वार्थ में द्वयसच् व मात्रच् प्रत्यय बहुलता से होते हैं—

(25) तावद्द्वयसम् (पूर्ववत्)।
(26) तावन्मात्रम् (पूर्ववत्)।
(27) एतावद्द्वयसम् (पूर्ववत्)।
(28) एतावन्मात्रम् (पूर्ववत्)।
(29) यावद्द्वयसम् (पूर्ववत्)।
(30) यावन्मात्रम् (पूर्ववत्)।

(2059) पुरुषहस्तिभ्यामण् च *38* (1839)

तदस्येति वर्त्तते, प्रमाण इति च। पुरुषहस्तिभ्यां प्रथमासमर्थाभ्यां प्रमाणोपाधिकाभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, चकाराद् द्वयसजादयश्च। पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्। पुरुषद्वयसम्। पुरुषदघ्नम्। पुरुषमात्रम्। हास्तिनम्। हस्तिद्वयसम्। हस्तिदघ्नम्। हस्तिमात्रम्। द्विगोर्नित्यं लुक्-द्विपुरुषमुदकम्। त्रिपुरुषमुदकम्। द्विहस्ति। त्रिहस्ति। द्विपुरुषी। त्रिपुरुषी। द्विहस्तिनी। त्रिहस्तिनी।

अर्थ—'तदस्य' की अनुवृत्ति है। प्रथमा समर्थ प्रमाण समानाधिकरण वाले पुरुष व हस्तिन् प्रातिपदिकों से षष्ठी के अर्थ में अण्, द्वयसच्, दघ्नच् तथा मात्रच् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) पौरुषम्
पुरुषः प्रमाणम् अस्य—अण्, आदिवृद्धि।

(2) पुरुषद्वयसम्
'द्वयसच्' हुआ।

(3) पुरुषदघ्नम्
पुरुष दघ्नच् सु।

(4) पुरुषमात्रम्
पुरुष मात्रच् सु।

(5) हास्तिनम्।
हस्तिन् अण्।

(6) हस्तिद्वयसम्
हस्तिन् द्वयसच् सु।

(7) हस्तिदघ्नम्
हस्तिन् दघ्नच् सु।

(8) हस्तिमात्रम्
हस्तिन् मात्रच् सु।

द्विगु से नित्य लुक् होता है।

(9) द्विपुरुषम् (उदकम्)
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(10) त्रिपुरुषम् (उदकम्)
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(11) द्विहस्ति
लुक् हुआ।

(12) त्रिहस्ति
लुक् हुआ।

(13) द्विपुरुषी
प्रत्यय का लुक् हुआ। स्त्रीत्व में ङीप् हुआ।

(14) त्रिपुरुषी
लुक्, ङीप्।

(15) द्विहस्तिनी
लुक्, ङीप्।

(16) त्रिहस्तिनी (पूर्ववत्)।

(2060) यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् *39* (1840)

तदस्येत्येव। यत्तदेतेभ्यः प्रथमासमर्थेभ्यः परिमाणोपाधिकेभ्योऽस्येति षष्ठ्यर्थे वतुप् प्रत्ययो भवति। यत्परिमाणमस्य यावान्। तावान्। एतावान्। प्रमाणग्रहणेऽनुवर्त्तमाने परिमाणग्रहणं प्रमाणपरिमाणयोर्भेदात्।

डावतावथवैशेष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते।
मात्राद्यप्रतिघाताय भावः सिद्धश्च डावतोः॥
(म० भा०)

***वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्* (म० भा०)। न त्वा वाँ अन्यो दिव्यो व पार्थिवो न जातो न जनिष्यते (ऋ० 7.32.23)। त्वावतः पुरुवसो (ऋ० 8.46.1)। यज्ञं विप्रस्य मावतः (ऋ० 1. 142.2)। त्वत्सदृशस्य मत्सदृशस्येत्यर्थः।**

अर्थ—प्रथमा समर्थ परिमाण समानाधिकरणवाची यद्, तद् और एतद् प्रातिपदिकों से षष्ठी के अर्थ में 'वतुप्' होता है। उकार व पकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) यावान्
यत् परिमाणम् अस्य → यद् वतुप् → य आ वत्—आ सर्वनाम्नः, अकः सवर्णे०,
या वत् सु—विभक्तिकार्य।

(2) तावान्
तद् वतुप् सु—पूर्ववत्।

(3) एतावान् (पूर्ववत्)।

प्रमाणग्रहण का अनुवर्त्तन होने पर प्रमाण और परिमाण का भेद होने से परिमाण का ग्रहण भी होता है।

डावता०—पूर्व आचार्यों ने 'डावतु' का विधान किया है। तदपेक्ष अर्थभेद से यह निर्देश पृथक् कहा गया है। ताकि पृथक् निर्देश के द्वारा अर्थभेद के सिद्ध हो जाने पर मात्रच् आदि की बाधा न हो जाय। अर्थभेद होने पर वतुप् प्रत्ययान्त से मात्रच् आदि की उत्पत्ति सिद्ध है।

वतु०—वेद के विषय में सादृश्य अर्थ में युष्मद् व अस्मद् शब्दों से होता है—

(4) त्वावतः
युष्मद् वतुप्—प्रत्ययोत्तरपदयोश्च,
त्व आ वत् → त्वावत् ङस्—त्वावतः।

(5) मावतः
अस्मद् वतुप्—पूर्ववत्।

(2061) किमिदम्भ्यां वो घः *40* (1841)

किमिदम्भ्यामुत्तरस्य वतुपो वकारस्य घकारादेशो भवति। कियान्। इयान्। एतदेव चादेशविधानं ज्ञापकं-किमिदम्भ्यां वतुप् प्रत्ययो भवतीति। अथ वा योगविभागेन वतुपं विधाय पश्चाद्वो घो विधीयते (म० भा०)।

अर्थ—किम् तथा इदम् शब्दों से उत्तर वतुप् के वकार के स्थान पर घकार आदेश होता है।

उदा० (1) कियान्
किम् परिमाणम् अस्य—किम् वतुप्—
किम् घत् → किम् इयत् → की इयत् → क् इयत् सु।

(2) इयान्
इदम् वतुप् → इदम् घत्—इदम ईश्।

एतदेव—यही आदेश-विधान ज्ञापक है कि किम् व इदम् से वतुप् होता है। अथवा योगविभाग करके वतुप् का विधान करने के पश्चात् वकार के स्थान पर 'घ' का विधान किया जाता है।

(2062) किमः संख्यापरिमाणे डति च *41* (1842)

संख्यायाः परिमाणं संख्यापरिच्छेद इत्यर्थः। संख्यापरिमाणे वर्त्तमानात् किमः प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे डतिः

प्रत्ययो भवति, चकाराद्वतुप् च। तस्य च वकारस्य घादेशो भवति। पृच्छ्यमानत्वात्परिच्छेदोपाधिकायां संख्यायां वर्त्तमानात्किमः प्रत्ययो विज्ञायते। का संख्या परिमाणमेषां ब्राह्मणानां कति ब्राह्मणाः। कियन्तो ब्राह्मणाः। अथ वा संख्यैव परिमाणात्मिका परिच्छेदस्वभावा गृह्यते, का संख्या परिमाणं येषामिति। ननु च संख्या परिमाणात्मिकैव परिच्छेदस्वभावा, सा किमर्थं परिमाणेन विशेष्यते? यत्रापरिच्छेदकत्वेन विवक्ष्यते तत्र मा भूदिति। क्षेपे हि परिच्छेदो नास्ति–केयमेषां संख्या दशानामिति।

अर्थ—संख्या का परिमाण संख्यापरिच्छेद कहलाता है। संख्या के परिमाण अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ किम् प्रातिपदिक से षष्ठी के अर्थ में 'डति' तथा 'वतुप्' होता है।

उदा० (1) कति
का संख्या परिमाणम् एषां ब्राह्मणानाम्—
किम् डति → क् अति—टिलोप,
कति जस्—लुक्।

(2) कियन्तः
किम् वतुप्—पूर्ववत्।
कियत् जस्—विभक्तिकार्य।

अथवा परिमाणात्मिका संख्या ही परिच्छेद स्वभाव से युक्त गृहीत होती है—का संख्या परिमाणं येषाम्। संख्या ही आत्मिका ही परिच्छेद स्वभाव वाली होती है। वह परिमाण के द्वारा किस प्रकार विशेषित होती है? जहाँ अपरिच्छेदक होने से कही जाती है, वहाँ न हो। क्षेप अर्थ में परिच्छेद नहीं होता—केयमेषां संख्या दशानाम्।

(2063) संख्याया अवयवे तयप् *42* (1843)

तदस्येत्येव। संख्याया अवयवे वर्त्तमानाया अस्येति षष्ठ्यर्थे तयप् प्रत्ययो भवति। अवयवा अवयविनः सम्बन्धिन इति सामर्थ्यादवयवो प्रत्ययार्थो विज्ञायते। पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयम्। दशतयम्। चतुष्टयम्। चतुष्टयी।

अर्थ—संख्या के अवयव अर्थ में वर्त्तमान इससे षष्ठी के अर्थ में 'तयप्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पञ्चतयम्
पञ्च अवयवा अस्य → पञ्चन् तयप्—
पञ्च तय—नलोपः प्रातिपदिका०, हलन्त्यम्,
पञ्चतय सु—स्वादिष्वसर्व०।

(2) दशतयम् (पूर्ववत्)।

(3) चतुष्टयी
चतुर् तयप् → चतुः तय—
चतुस् तय—विसर्जनीयस्य सः,
चतुष् तय—ह्रस्वात्तादौ०,
चतुष्टय—ष्टुना ष्टुः,
चतुष्टय ङीप् सु—स्त्रीत्व में।

तयप् तथा अयच् प्रत्ययान्त शब्दों का दो प्रकार से प्रयोग होता है। यथा—

(क) धर्मप्रधान निर्देश की दशा में स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग। जैसे—वर्णानां चतुष्टयम् अथवा वर्णानां चतुष्टयी। इसी प्रकार—लोकानां त्रयम्, त्रयी वा।

(ख) धर्मिप्रधान निर्देश की दशा में—विशेष्यानुसार। जैसे—त्रयाः लोकाः, त्रये लोकाः (प्रथमचरमतयाल्पा०)।

त्रय्यः स्थितयः।
त्रयाणि जगन्ति।

(2064) द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा *43* (1844)

पूर्वेण विहितस्य तयस्य द्वित्रिभ्यां परस्य वाऽयजादेशो भवति। द्वाववयवावस्य द्वयम्। द्वितयम्। त्रयम्। त्रितयम्। तयग्रहणं स्थानिनिर्देशार्थम्, अन्यथा प्रत्ययान्तरमयज्विज्ञायेत। तत्र को दोषः? त्रयी गतिरिति तयनिबन्धन ईकारो (4.1.15) न स्यात्, प्रथमचरमतयेत्येष (1.1.33) विधिश्च न स्यात्–द्वये, द्वयाः। चकारः स्वरार्थः।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा 'द्वि' तथा 'त्रि' से पर विहित तयप् प्रत्यय के स्थान पर 'अयच्' विकल्प से होता है। यह अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है।

उदा० (1) द्वयम्
द्वाववयवावस्य → द्वि तयप्—
द्वि अयच् → द्व् अय सु—यस्येति च।

(2) द्वितयम्
द्वि तयप् सु—पक्ष में।

(3) त्रयम्
पूर्ववत् अयच्।

(4) त्रितयम्
पूर्ववत् तयप्।

तयग्रहणं—'तय' ग्रहण से स्थानी का निर्देश किया गया है। अन्यथा अन्य प्रत्यय के रूप में 'अयच्' का ज्ञान होने लगता। इसमें क्या दोष है ?

(समा०) उस दशा में—

(5) त्रयी गतिः

यहाँ तयनिबन्धन ईकार नहीं हो पाता।

प्रथमचरमतया० से भी विधि प्रसक्त नहीं होती है।

(6) द्वये

(7) द्वयाः

'अयच्' में चकार स्वर के लिए है।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'तयप्' पद का अनुवर्त्तन कर विभक्ति-विपरिणामेन उसे षष्ठ्यन्त (तयपः) कर लेने पर लाघव होता है, परन्तु ऐसा करने में एक दोष उपस्थित होता है। प्रकृत सूत्र में 'तयस्य' पद का योग न करने पर 'अयच्' प्रत्यय तयप् का अपवाद बन जाता है। उस दशा में स्थानिवद्भाव न होने से स्त्रीत्व में ङीप् नहीं हो पाता तथा जस् में पाक्षिक सर्वनामता (प्रथमचरमतयाल्पार्ध०) भी नहीं हो पाती।

(2065) उभादुदात्तो नित्यम् *44* (1845)

उभशब्दात्परस्य तयपो नित्यमयजादेशो भवति, स चोदात्तः। वचनसामर्थ्यादादेरुदात्तत्वं विज्ञायते। उभशब्दो यदि लौकिकी संख्या, ततः पूर्वेणैव विहितस्य तयप आदेशविधानार्थं वचनम्। अथ न संख्या, ततो योगविभागेन तयपं विधाय तस्य नित्यमयजादेशो विधीयते। उभयो मणिः। उभयेऽस्य देवमनुष्याः (तै०सं० 1.6.8.1)।

अर्थ—'उभ' प्रातिपदिक से पर विहित 'तयप्' के स्थान पर नित्य 'अयच्' आदेश होता है और वह उदात्त होता है। वचन-सामर्थ्य से वह आदि अकार उदात्त होता है।

अयच् में दो अच् हैं। दोनों के उदात्तत्व का बाध 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' से हो जाता है। 'चित्' होने से अयच् का अन्तोदात्तत्व 'चितः' के द्वारा सिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य आदि अच् (अकार) को उदात्त करना चाहते हैं।

उभ—यदि उभ शब्द लौकिकी संख्या हो तो उससे पर पूर्वसूत्र के द्वारा ही विहित 'तयप्' के स्थान पर आदेश का विधान किया गया है। यदि संख्या न हो तो योगविभाग के द्वारा 'तयप्' का विधान करके उसके स्थान पर नित्य 'अयच्' आदेश का विधान किया जाता है।

36 का०द्वि०

उदा० (1) उभयः

उभ तयप् → उभ अयच्—पूर्ववत्,

उभ् अय सु—विभक्तिकार्य।

(2) उभये

उभय जस् → विभक्तिकार्य।

(2066) तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः *45* (1846)

तदिति प्रथमासमर्थादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे दशान्तात् प्रातिपदिकाद् डः प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थमधिकं चेत्तद्भवति। इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा। एकादश अधिका अस्मिन् शते एकादशं शतम्। एकादशं सहस्रम्। द्वादशं शतम्। द्वादशं सहस्रम्। दशान्तादिति किम्? पञ्चाधिका अस्मिन् शते। अन्तग्रहणं किम्? दशाधिका अस्मिन् शते। प्रत्यार्थेन च समानजातीये प्रकृत्यर्थे सति प्रत्यय इष्यते (म०भा०)–एकादश कार्षापण अधिक अस्मिन् कार्षापणशते एकादशं कार्षापणशतमिति। इह तु न भवति–एकादश माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशत इति (म० भा०)। शतसहस्रयोश्चेष्यते (म०भा० इष्टि)। इह न भवति–एकादशाधिका अस्यां त्रिंशतीति। इतिकरणो विवक्षार्थः इत्युक्तम्, तत इदं सर्वं लभ्यते। कथमेकादशं शतसहस्रमिति? शतानां सहस्रं सहस्राणां वा शतमिति शतसहस्रमित्युच्यते, तत्र शतसहस्रयोरित्येव सिद्धम्।

अधिके समानजाताविष्टं शतसहस्रयोः।
यस्य संख्या तदाधिक्ये डः कर्त्तव्यो मतो मम॥
(म०भा०)

अर्थ—दशन् शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'ड' प्रत्यय होता है, सप्तमी के अर्थ में, यदि वह प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक 'अधिक' समानाधिकरण वाला हो। इतिकरण विवक्षा है।

उदा० (1) एकादशम् (शतम्)

एकादश अधिका अस्मिन् शते—

एकादशन् ड—चुटू, 'टेः' से टि का लोप,

एकादश् अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) एकादशम् (सहस्रम्) (पूर्ववत्)।

(3) द्वादशम् (शतम्)

पूर्ववत्।

दशान्ता०—दशन् शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'ड' होता है—

पञ्चाऽधिका अस्मिन् शते—यहाँ 'ड' नहीं हुआ।

अन्तग्रह०—अन्तग्रहण का फल यह है कि निम्नलिखित में न हो—

दशाऽधिका अस्मिन् शते।

प्रत्ययार्थ के द्वारा समानजातीय प्रकृत्यर्थ होने पर प्रत्यय होता है। यथा—

एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते—
एकादशं कार्षापणशतम्।

निम्नलिखित में नहीं होता है—
एकादशाऽधिका अस्यां त्रिंशति।
इतिकरण विवक्षा के लिए है। इससे यह सब प्राप्त होता है।

शतानाम् सहस्रम् अथवा सहस्राणाम् शतम्—इस प्रकार 'शतसहस्रम्' बनता है। इस शब्द से निम्नलिखित सिद्ध होता है—

एकादशं शतसहस्रम्।

अधिके०—लोक में प्रत्ययार्थ के द्वारा समान जाति में शत व सहस्र शब्दों से प्रत्ययाख्य कार्य इष्ट ही है। जिसका गणन हो, उसके आधिक्य में 'ड' करना चाहिए—ऐसा मेरा मत है। यथा—शतानां सहस्रम्—शतसहस्रम्। तब शताधिक्य में 'ड' करना चाहिए। यथा—सहस्राणां शतम्—सहस्रशतम्। तब सहस्राधिक्य में 'ड' करना चाहिए।

(2067) शदन्तविंशतेश्च *46* (1847)

तदस्मिन्नधिकमित्यनुवर्त्तते, ड इति च। शदन्तात्प्रातिपदिकाद्विंशतेश्च डः प्रत्ययो भवति तदस्मिन्नधिकमित्येतस्मिन् विषये। त्रिंशदधिका अस्मिञ्छते त्रिंशं शतम्। शद्ग्रहणेऽन्तग्रहणं प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स तदादेरधिकार्थम्—एकत्रिंशं शतम्। एकचत्वारिंशं शतम्। संख्याग्रहणं च कर्त्तव्यम्, इह मा भूत्—गोत्रिंशदधिका अस्मिन् गोशते इति। *विंशतेश्च* (म० भा०)—विंशं शतम्। *तदन्तादपीति वक्तव्यम्*। एकविंशं शतम्। संख्याग्रहणं च कर्तव्यम् (म० भा०)—इह मा भूत्—गोविंशतिरधिकाऽस्मिन् गोशते इति।

अर्थ—'तदस्मिन्नधिकम्' तथा 'ड' का अनुवर्त्तन है। 'अधिक' अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ शदन्त तथा विंशति प्रातिपदिकों से सप्तमी के अर्थ में 'ड' होता है।

उदा० (1) त्रिंशम् शतम्
त्रिंशदधिका अस्मिञ्छते—
त्रिंशत् ड → त्रिंश् अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) एकत्रिंशं शतम् (पूर्ववत्)।
(3) एकचत्वारिंशं शतम् (पूर्ववत्)।

संख्याग्रहण करना चाहिए। निम्नलिखित में नहीं होता है—
गोत्रिंशदधिका अस्मिन् गोशते।

तदन्तादपी०—तदन्त से भी प्रत्यय होता है—

(4) एकविंशम् शतम् (पूर्ववत्)।

संख्या का ग्रहण करना चाहिए। निम्नलिखित में नहीं होता है—
गोविंशतिरधिकाऽस्मिन् गोशते।

(2068) संख्याया गुणस्य निमाने मयट् *47* (1848)

तदस्येत्यनुवर्त्तते तदस्य सञ्जातम् (5.2.36) इत्यतः। तदिति प्रथमासमर्थात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे मयट् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं गुणस्य निमाने चेत्तद् वर्त्तते। गुणः भागः, निमानं मूल्यम्। गुणो येन निमीयते मूल्यभूतेन सोऽपि सामर्थ्याद्भाग एव विज्ञायते। यवानां द्वौ भागौ। निमानमस्योदश्विद्भागस्य द्विमयमुदश्विद्यवानाम्। त्रिमयम्। चतुर्मयम्। भागेऽपि तु विधीयमानः प्रत्ययः प्राधान्येन भागवन्तमाचष्टे, तेन सामानाधिकरण्यं भवति—द्विमयमुदश्विदिति। गुणस्येति चैकत्वं विवक्षितम्, तेनेह न भवति—द्वौ भागौ यवानाम्, त्रय उदश्वित (म० भा०) इति। *भूयसश्च वाचिकायाः संख्यायाः प्रत्यय इष्यते*। इह न भवति—एको भागो निमानमस्येति। भूयस इति च प्रत्ययार्थात्प्रकृत्यर्थस्याधिक्यमात्रं विवक्षितम्, बहुत्वमतन्त्रम्, तेन द्विशब्दादपि भवति। गुणशब्दः समानावयववचनः, तेनेह न भवति—द्वौ भागौ यवानामध्यर्द्ध उदश्वित (म० भा०) इति। *निमेये चापि दृश्यते* (म० भा०)। निमेये वर्त्तमानायाः संख्याया निमाने प्रत्ययो दृश्यते। उदश्वितो द्वौ भागौ निमेयमस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदश्वितः। त्रिमया यवा उदश्वितः। चतुर्मयाः (म० भा०)। गुणस्येति किम्? द्वौ व्रीहियवौ निमानस्योदश्वितः। निमान इति किम्? द्वौ गुणौ क्षीरस्यैकस्तैलस्य द्विगुणं पयः तैलं पच्यते क्षीरेणेत्यत्र मा भूत्।

अर्थ—'इस भाग का यह मूल्य है'—इस अर्थ में प्रथमा समर्थ संख्यावाची प्रातिपदिक से 'मयट्' होता है। जिसके द्वारा गुण

का मूल्य के रूप में निमान किया जाता है, वह भी सामर्थ्यवशात् 'भाग' ही जाना जाता है।

उदा० (1) द्विमयम् उदश्वित् यवानाम्
यवानां द्वौ भागौ निमानम् अस्योदश्विद् भागस्य—
द्वि मयट् → द्विमय सु—विभक्तिकार्य।

(2) त्रिमयम् (पूर्ववत्)।
(3) चतुर्मयम् (पूर्ववत्)।

'भाग' में विधीयमान प्रत्यय प्रधानता से भागवान् को कहता है। उससे सामानाधिकरण्य होता है—

द्विमयम् उदश्वित्।

गुणस्ये०—गुण का एकत्व कहा गया है, अतः यहाँ नहीं होता है।

द्वौ भागौ यवानां त्रय उदश्वित।

'भूयस्' शब्द की वाचक जो संख्या, उससे प्रत्यय होता है। 'भूयसः' इस प्रकार प्रत्ययार्थ की अपेक्षा प्रकृत्यर्थ का आधिक्यमात्र कहा गया है। बहुवचन अयुक्त है। तब द्वि शब्द से भी होता है। गुण शब्द समान अवयववाची है। अतः यहाँ नहीं होता है।

द्वौ भागौ यवानामध्यर्द्ध उदश्वित इति।

निमेये चाऽपि०—निमेय में भी होता है। निमेय में वर्त्तमान संख्या से निमेय में प्रत्यय होता है।

उदश्वितो द्वौ भागौ निमेयमस्य यवभागस्य—
द्विमया यवा उदश्वितः
त्रिमया यवा उदश्वितः
चतुर्मयाः।

गुणस्ये० अर्थात् **भाग का यह मूल्य है**—इस अर्थ में 'मयट्' होता है—

द्वौ व्रीहियवौ निमानम् अस्योदश्वितः
यहाँ नहीं हुआ।

निमान० अर्थात् भाग का यह मूल्य है—इस अर्थ में ही 'मयट्' होता है—

द्वौ गुणौ क्षीरस्यैकस्तैलस्य द्विगुणं पयः तैलं क्षीरेण—
यहाँ प्रत्यय नहीं होता है।

(2069) तस्य पूरणे डट् *48* (1849)

तस्येति षष्ठीसमर्थात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् पूरणे इत्यस्मिन्नर्थे डट् प्रत्ययो भवति। पूर्यतेऽनेनेति पूरणम्, येन संख्या संख्यानं पूर्यते सम्पद्यते स तस्याः पूरणः। एकादशानां पूरण एकादशः। त्रयोदशः। यस्मिन्नुपसञ्जातेऽन्या संख्या सम्पद्यते स प्रत्ययार्थः। इह न भवति–पञ्चानां मुष्टिकानां पूरणो घट इति।

अर्थ—षष्ठी समर्थ संख्यावाची प्रातिपदिक से 'डट्' होता है, पूरण अर्थ में। जिससे संख्या पूर्ण होती है, वह उसका पूरण कहलाता है।

उदा० (1) एकादशः
एकादशानां पूरणः → एकादशन् डट्—
एकादश् अ सु—टिलोप, सु।

(2) त्रयोदशः (पूर्ववत्)।

जिसके पूर्ण होने पर दूसरी संख्या होती है, वह प्रत्ययार्थ है। अतः यहाँ नहीं होता है—

पञ्चानां मुष्टिकानां पूरणो घटः।

(2070) नान्तादसंख्यादेर्मट् *49* (1850)

डडिति वर्त्तते। नकारान्तात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकादसंख्यादेः परस्य डटो मडागमो भवति। नान्तादिति पञ्चमी डट आगमसम्बन्धे षष्ठीं प्रकल्पयति। पञ्चानां पूरणः पञ्चमः। सप्तमः। नान्तादिति किम्? विंशतेः पूरणो विंशः। असंख्यादेरिति किम्? एकादशानां पूरण एका-दशः।

अर्थ—'डट्' का अनुवर्त्तन होता है। जिसके आदि में कोई संख्या न हो, ऐसे नकारान्त संख्यावाची षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से पर 'डट्' होता है तथा प्रत्यय को 'मट्' आगम होता है।

मट् के टकार व अकार की इत् संज्ञा होती है। टित् होने से यह डट् का आदि अवयव बनेगा।

'संख्यादि' का अर्थ है—जिसके आदि में संख्या हो। एकादशन् संख्यादि संख्या है। चूँकि इसके प्रारम्भ में 'एक' शब्द है। इसी प्रकार द्वादशन् संख्यादि संख्या है। परन्तु द्वि, त्रि, चतुर् आदि असंख्यादि संख्या हैं।

नान्तादि०—'नान्तात्' इस पद में जो पञ्चमी है, वह 'डट्' के आगम के सम्बन्ध में षष्ठी में कल्पित होती है।

उदा० (1) पञ्चमः
पञ्चानां पूरणः → पञ्चन् मट् डट्—यचि भम्, टेः, प्रकृत सूत्र से 'मट्' आगम, अन्तरंग होने से टिलोप का बाध होकर मट् हुआ, तब प्रत्यय के अजादि न रहने से टिलोप भी नहीं होता।

पञ्चम सु—नलोपः प्राति० ।

(2) सप्तमः (पूर्ववत्) ।

नान्तादिति किम् अर्थात् नकारान्त से विहित 'डट्' को 'मट्' आगम होता है—

(3) विंशः

विंशते पूरणः—विंश् डट्—तस्य पूरणे डट्, मट् नहीं हुआ । यचि भम् । (ति विंशतेर्डिति)—'यस्येति च' से अकार लोप की प्राप्ति हुई, परन्तु 'असिद्धवदत्राभात्' से 'ति' का लोप असिद्ध होने के कारण लोप नहीं हुआ)—विंश अ (अतो गुणे)—विंश सु—विंशः । 'विंशति' नकारान्त नहीं है; अतः 'विंशति डट्' इस दशा में मट् आगम नहीं होता है ।

असङ्ख्यादे० अर्थात् संख्यादि संख्यावाचक से पर 'डट्' को 'मट्' होता है—

एकादशानां पूरणः—मट् नहीं हुआ ।
एकादशः—विभक्तिकार्य ।

(2071) थट् च च्छन्दसि *50* (3497)

नान्तादसंख्यादेः परस्य डटश्छन्दसि विषये थडागमो भवति, चकारात्पक्षे मडपि भवति । पर्णमयानि पञ्चथानि भवन्ति (काठ० सं० 8.2) । पञ्चथः (काठ० सं० 9.3) । सप्तथः (काठ० सं० 37.11) । मट्–पञ्चम-मिन्द्रियमस्यापाक्रामन् (काठ०सं० 9.12) ।

अर्थ—जिसके आदि में संख्या नहीं है, ऐसे नकारान्त संख्या-वाची षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में विहित 'डट्' को 'थट्' आगम होता है तथा 'मट्' भी होता है, वेद के विषय में ।

उदा० (1) पञ्चथः
पञ्चन् थट् डट्—पूर्ववत् ।
(2) सप्तथः (पूर्ववत्) ।
(3) पञ्चमः (पूर्ववत्) ।
(4) सप्तमः (पूर्ववत्) ।

(2072) षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् *51* (1851)

डडित्यनुवर्त्तते, तत् इह सप्तम्या विपरिणम्यते । षट्, कति, कतिपय, चतुर्–इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति । कतिपयशब्दो न संख्या, तस्यास्मादेव ज्ञापकाद् डट् प्रत्ययो विज्ञायते । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः । *चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च* । चतुर्णां पूरणः तुरीयः । तुर्यः ।

अर्थ—'डट्' का अनुवर्त्तन है । यह सप्तमी में विपरिणत होता है । षष्ठी समर्थ षष्, कति, कतिपय तथा चतुर् प्रातिपदिकों को 'थुक्' आगम होता है, पूरण अर्थ में, वेद के विषय में । कतिपय शब्द संख्या नहीं है । उससे इस ज्ञापक से 'डट्' प्रत्यय ज्ञापित होता है ।

उदा० (1) षष्ठः
षण्णां पूरणः → षष् डट्—तस्य पूरणे,
षष् थुक् अ—टिलोप, ष्टुना ष्टुः,
षष् ठ् अ सु—विभक्तिकार्य ।

(2) कतिथः
कति थुक् डट्—पूर्ववत् ।
(3) कतिपयथः (पूर्ववत्) ।
(4) चतुर्थः (पूर्ववत्) ।

चतुर०—'चतुर्' शब्द से पूर्ण अर्थ में 'डट्' प्रत्यय के अतिरिक्त 'छ' तथा 'यत्' प्रत्यय भी होते हैं तथा प्रकृति के आदि अक्षर का लोप होता है—

(5) तुरीयः
चतुर् छ → तुर् ईय् अ—
तुरीय सु—विभक्तिकार्य ।

(6) तुर्यः
चतुर् य → तुर्य सु ।

प्रकृत सूत्र में आचार्य के द्वारा प्रत्यय को आगम न करके प्रकृति को आगम किया जाना सप्रयोजन है । प्रत्यय को थुट् का आगम करने पर 'कतिथ' तथा 'कतिपयथ' की सिद्धि निर्बाध है, परन्तु 'षष् थुट् डट्' इस दशा में 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा डकार होकर 'षड्थ' ऐसा अनिष्ट रूप बनता है ।

इसी प्रकार 'चतुर् थुट् डट्' इस दशा में पदान्त रेफ को विसर्ग तथा पुनः सकारादेश होकर 'चतुस्थ' अनिष्ट रूप बनता है ।

अतः 'डट्' प्रत्यय को 'थुट्' आगम न करके प्रकृति को 'थुक्' आगम किया गया है ।

(2073) बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् *52* (1852)

डडित्येव । बहु, पूग, गण, सङ्घ–इत्येतेषां डटि परत-स्तिथुगागमो भवति । पूगसङ्घशब्दयोरसंख्यावाचित्वादिदमेव

ज्ञापकं डटो भावस्य । बहूनां पूरणो बहुतिथः । पूगतिथः । गणतिथः । सङ्घतिथः ।

अर्थ—'डट्' प्रत्यय परे रहते षष्ठी समर्थ बहु, पूग, गण तथा संघ प्रातिपदिकों से 'तिथुक्' होता है, पूरण अर्थ में। पूग व संघ शब्दों के संख्यावाची न होने से यह ज्ञापक है।

उदा० (1) बहुतिथः
बहूनां पूरणः → बहु तिथुक् डट्—विभक्तिकार्य, बहुगणवतु०,

(2) पूगतिथः (पूर्ववत्)।
(3) गणतिथः (पूर्ववत्)।
(4) सङ्घतिथः (पूर्ववत्)।

(2074) वतोरिथुक् *53* (1853)

डटि इत्येव। वतोर्डटि परत इथुगागमो भवति। वत्वन्तस्य संख्यात्वात् पूर्वेण डड् विहितस्तस्मिन्नयमागमो विधीयते। यावतां पूरणो यावतिथः। तावतिथः। एतावतिथः।

अर्थ—पूरण अर्थ में विहित 'डट्' प्रत्यय परे रहते वत्वन्त (=जिसके अन्त में 'वतु' है) प्रातिपदिक को 'इथुक्' आगम होता है। उकार व अकार की इत्संज्ञा होती है। वतु अन्त वाले शब्द के संख्यासंज्ञा होने से पूर्वसूत्र के द्वारा 'डट्' विहित है। उसके परे रहते यह आगम होता है।

उदा० (1) यावतिथः
यावतां पूरणः → यावत् इथक् डट्—पूर्ववत्।

(2) तावतिथः (पूर्ववत्)।
(3) एतावतिथः (पूर्ववत्)।

(2075) द्वेस्तीयः *54* (1854)

द्विशब्दात्तीयः प्रत्ययो भवति तस्य पूरण इत्यस्मिन् विषये। डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणो द्वितीयः।

अर्थ—षष्ठी समर्थ 'द्वि' प्रातिपदिक से 'तीय' प्रत्यय होता है, पूरण अर्थ में। यह 'डट्' का अपवाद है।

(1) द्वितीयः
द्वयोः पूर्णः → द्वितीय सु।

(2076) त्रेः सम्प्रसारणं च *55* (1855)

त्रिशब्दात्तीयः प्रत्ययो भवति 'तस्य पूरणे' इत्येतद्विषये, तत्सन्नियोगेन त्रेः सम्प्रसारणं च भवति। डटोऽपवादः। त्रयाणां पूरणस्तृतीयः। हल (6.4.2) इति सम्प्रसारणस्य दीर्घत्वं न भवति। अण इति तत्रानुवर्त्तते ढ्रलोप (6.3.111) इत्यतः। पूर्वेण च णकारेणाण्ग्रहणम्।

अर्थ—षष्ठी समर्थ 'त्रि' प्रातिपदिक से 'तीय' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को सम्प्रसारण होता है, पूरण अर्थ में। यह 'डट्' का अपवाद है।

उदा० (1) तृतीयः
त्रयाणां पूरणः → त्रि तीय—
त् ऋ इ तीय—इग्यणः सम्प्रसारणम्, सम्प्रसारणाच्च,
तृ तीय—अंग के अवयव हल् से पर सम्प्रसारण को 'हलः' से दीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु 'हलः' में 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घः' से 'अणः' का अनुवर्त्तन करने से दीर्घ नहीं होता है। कारण कि 'अण्' प्रत्याहार में पूर्व णकार से प्रत्याहार बनाया जाता है। सु।

(2077) विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् *56* (1856)

विंशत्यादिभ्यः परस्य डटस्तमडागमो भवत्यन्यतरस्याम्। पूरणाधिकाराड् डट् प्रत्यय आगमी विज्ञायते। विंशतेः पूरणः विंशतितमः। विंशः। एकविंशतितमः। एकविंशः। त्रिविंशतितमः। त्रिविंशः। त्रिंशत्तमः। त्रिंशः। एकत्रिंशत्तमः। एकत्रिंशः। विंशत्यादयो लौकिकाः संख्याशब्दा गृह्यन्ते, न पङ्क्त्यादिसूत्रसन्निविष्टाः, तद्ग्रहणे ह्येकविंशतिप्रभृतिभ्यो न स्यात्, ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात् (व्या० प० 89); एवं च सति 'षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः' (5.2.28) इति पर्युदासो युज्यत एव।

अर्थ—पूरण अर्थ में षष्ठी समर्थ संख्यावाची विंशति आदि प्रातिपदिकों से विहित 'डट्' को 'तमट्' आगम विकल्प से होता है। 'पूरण' के अधिकार से 'डट्' आगमी है।

उदा० (1) विंशतितमः
विंशतेः पूरणः—डट्, तमट्।

(2) विंशः
पक्ष में तमट् नहीं हुआ, 'ति' का लोप आदि होकर रूप बनता है।

(3) एकविंशतितमः
डट्, तमट्।

(4) एकविंशः
तमट् नहीं हुआ।

(5) त्रिविंशतितमः
तमट् हुआ।

(6) त्रिविंशः
पक्ष में 'तमट्' नहीं हुआ।

(7) त्रिंशत्तमः
'तमट्' हुआ।

(8) त्रिंशः
पक्ष में 'तमट्' नहीं हुआ।

(9) एकत्रिंशत्तमः
'तमट्' हुआ।

(10) एकत्रिंशः
पक्ष में।

विंशत्या०—विंशति आदि लौकिक संख्या शब्दों का ग्रहण होता है; पंक्ति आदि सूत्र में सन्निविष्टों का नहीं। उनका ग्रहण होने पर एकविंशति आदि शब्दों से नहीं होता है, ग्रहणवान् प्रातिपदिक से तदन्तविधि का निषेध होने के कारण। ऐसा होने पर षष्टि आदि असंख्यावाची से निषेध होता है।

(2078) नित्यं शतादिमासार्द्धमास-संवत्सराच्च *57* (1857)

शतादयः संख्याशब्दा लौकिका गृह्यन्ते। शतादिभ्यो मासार्द्धमाससंवत्सरशब्देभ्यश्च परस्य डटो नित्यं तमडागमो भवति। मासादयः संख्याशब्दा न भवन्ति, तेभ्योऽस्मादेव ज्ञापकाद् डट् प्रत्ययो विज्ञायते। शतस्य पूरणः शततमः। सहस्रतमः। लक्षतमः। मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः। अर्द्धमासतमः। संवत्सरतमः। 'षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः' (5.2.58) इति वक्ष्यमाणेन सिद्धे शतादिग्रहणं संख्याद्यर्थम्—एकशततमः, द्विशततमः।

अर्थ—शत आदि लौकिक संख्या शब्दों का ग्रहण है। षष्ठी समर्थ शतादि प्रातिपदिक से तथा मास, अर्द्धमास व संवत्सर प्रातिपदिकों से उत्तर 'डट्' प्रत्यय को नित्य 'तमट्' आगम होता है, पूरण अर्थ में। मास आदि संख्या शब्द नहीं होते, उनसे इस ज्ञापक से डट् प्रत्यय होता है।

उदा० (1) शततमः
शतस्य पूरणः—शत तमट् डट् सु,
पूर्ववत् टिलोप, सु आदि।

(2) सहस्रतमः
तमट् हुआ।

(3) लक्षतमः
तमट् हुआ।

(4) मासतमः
तमट् हुआ।

(5) अर्द्धमासतमः
तमट् हुआ।

(6) संवत्सरतमः
तमट् हुआ।

षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः इत्यादि आगे कहे जाने वाले नियम के द्वारा सिद्ध होने पर संख्यादि के लिए शत आदि का ग्रहण है।

(7) एकशततमः (पूर्ववत्)।
(8) द्विशततमः (पूर्ववत्)।

(2079) षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः *58* (1858)

षष्ट्यादेः संख्याशब्दादसंख्यादेः परस्य डटो नित्यं तमडागमो भवति। विंशत्यादिभ्य (5.2.26) इति विकल्पेन प्राप्ते नित्यार्थम्। षष्टितमः। सप्ततितमः। असंख्यादेरिति किम्? एकषष्टः। एकषष्टितमः। एकसप्ततः। एकसप्ततितमः।

अर्थ—जिसके आदि में संख्या न हो, ऐसे षष्ठी समर्थ संख्यावाची षष्टि आदि प्रातिपदिकों से विहित 'डट्' प्रत्यय को नित्य 'तमट्' आगम होता है, पूरण अर्थ में।

उदा० (1) षष्टितमः
षष्टि तमट् डट् सु।

(2) सप्ततितमः (पूर्ववत्)।

असङ्ख्या०—अर्थात् जिसके आदि में संख्या न हो तो 'तमट्' होता है, अन्यथा पाक्षिक 'तमट्' होता है—

(3) एकषष्टः
एकषष्टि डट्—पाक्षिक 'तमट्' आगम,
एकषष्ट् अ सु—विभक्तिकार्य।

(4) एकषष्टितमः
पक्ष में।

(5) एकसप्ततः
'एकषष्टः' के समान।

(6) एकसप्ततितमः
पक्ष में।

(2080) मतौ छः सूक्तसाम्नोः *59* (1859)

मताविति मत्वर्थ उच्यते। प्रातिपदिकान्मत्वर्थे छः प्रत्ययो भवति सूक्ते सामनि चाभिधेये। मत्वर्थग्रहणेन समर्थविभक्तिः प्रकृतिविशेषणं प्रत्ययार्थ इति सर्वमाक्षिप्यते। अच्छावाक-शब्दोऽस्मिन्निति अच्छावाकीयं सूक्तम्। मित्रावरुणीयम्। यज्ञायज्ञीयं साम। वारवन्तीयम्। अनुकरणशब्दाश्च स्वरूप-मात्रप्रधानाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति, तेनानेकपदादपि सिद्धम्-अस्यवामीयम्, कयाशुभीयम्।

अर्थ—'मतौ' के द्वारा 'मत्वर्थ' का ग्रहण होता है। 'सूक्त' तथा 'साम' अर्थ वाच्य हो तो प्रातिपदिकमात्र से 'छ' प्रत्यय होता है, मत्वर्थ में। मत्वर्थ का ग्रहण होने से समर्थविभक्ति, प्रकृतिविशेषण तथा प्रत्ययार्थ—इन सभी का आक्षेप किया जाता है।

उदा० (1) अच्छावाकीयम्
अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्निति—छ, ईय आदेश।

(2) मित्रावरुणीयम् (पूर्ववत्)।

(3) यज्ञायज्ञीयम्
पूर्ववत् 'छ'।

(4) वारवन्तीयम् (पूर्ववत्)।

स्वरूपमात्रप्रधान अनुकरण शब्दों से प्रत्यय होता है। तब अनेक पद से भी होता है।

(5) अस्यवामीयम्
'छ' हुआ।

(6) कयाशुभीयम्
'छ' हुआ।

(2081) अध्यायानुवाकयोर्लुक् *60* (1860)

मतावित्येव। मत्वर्थ उत्पन्नस्य छस्य लुग् भवति अध्याया-नुवाकयोरभिधेययोः। केन पुनरध्यायानुवाकयोः प्रत्ययः? इदमेव लुग्वचनं ज्ञापकं तद्विधानस्य। विकल्पेन च लुगय-मिष्यते। गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डोऽध्यायः। अनुवाको वा; गर्दभाण्डीयः (म०भा०)। दीर्घजीवितः, दीर्घजीवितीयः। पलितस्तम्भः। पलितस्तम्भीयः।

अर्थ—अध्याय और अनुवाक अर्थ गम्यमान हों तो मत्वर्थ में विहित 'छ' प्रत्यय का लुक् होता है। अध्याय और अनुवाक अर्थों में किससे प्रत्यय होता है? उसके विधान का यह लुक् वचन ही ज्ञापक है। यह लुक् विकल्प से होगा।

उदा० (1) गर्दभाण्डः
गर्दभाण्ड—प्रत्यय का लुक् हुआ,
गर्दभाण्ड सु—विभक्तिकार्य।

(2) गर्दभाण्डीयः
पक्ष में 'छ' हुआ।

(3) दीर्घजीवितः
पूर्ववत् लुक्।

(4) दीर्घजीवितीयः
'छ' हुआ।

(5) पलितस्तम्भः
प्रत्यय का लुक् हुआ।

(6) पलितस्तम्भीयः
पक्ष में 'छ' हुआ।

(2082) विमुक्तादिभ्योऽण् *61* (1861)

मताविति वर्त्तते, अध्यायानुवाकयोरिति च। विमुक्तादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे अध्यायानुवाकयो-रभिधेययोः। विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वा। दैवासुरः। विमुक्त। देवासुर। वसुमत्। सत्वत्। उपसत्। दशार्हपयस्। हविर्द्धान। मित्री। सोमापूषन्। अग्नाविष्णू। वृत्रहति। इडा। रक्षोसुर। सदसत्। परिषा-दक्। वसु। मरुत्वत्। पत्नीवत्। महीयल। दशार्ह। वयस्। पतत्रि। सोम। महित्री। हेतु-विमुक्तादिः।

अर्थ—मत्वर्थ में विमुक्त आदि प्रातिपदिकों से 'अण्' होता है, यदि अध्याय और अनुवाक अभिधेय हों।

'अण्' के णकार की इत्संज्ञा होती है। आदिवृद्धि होती है।

उदा० (1) वैमुक्तः
विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति—अण्, आदिवृद्धि।

(2) दैवासुरः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2083) गोषदादिभ्यो वुन् *62* (1862)

मताविति वर्त्तते, अध्यायानुवाकयोरिति च। गोषदादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वुन् प्रत्ययो भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवा-कयोः। गोषशब्दोऽस्मिन्नस्ति गोषदकोऽध्यायोऽनुवाको वा।

इषेत्वकः । मातरिश्वकः । गोषद । इषेत्वा । मातरिश्वन् । देवस्यत्वा । देवीरापः । कृष्णोस्याखरेष्ठः । दैवींधियम् । रक्षोहण । अञ्जन । प्रभूत । प्रतूर्त्त । कृशानु–गोषदादिः ।

अर्थ—मतौ, अध्यायाऽनुवाकयोः—इनका अनुवर्त्तन है, मत्वर्थ में गोषद आदि प्रातिपदिकों से 'वुन्' होता है, यदि अध्याय तथा अनुवाक अभिधेय हों।

उदा० (1) गोषदकः
गोषदशब्दोऽस्मिन्नस्ति—'वुन्' हुआ, युवोरनाकौ ।

(2) इषेत्वकः (पूर्ववत्) ।
(3) मातरिश्वकः (पूर्ववत्) ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2084) तत्र कुशलः पथः *63* (1863)

वुनित्येव। तत्रेति सप्तमीसमर्थात् पथिन्शब्दात् कुशल इत्यस्मिन्नर्थे वुन् प्रत्ययो भवति । पथि कुशलः पथकः ।

अर्थ—'वुन्' का अनुवर्त्तन है। सप्तमी समर्थ 'पथिन्' प्रातिपदिक से 'वुन्' होता है, 'कुशल' अर्थ में।

उदा० (1) पथकः
पथि कुशलः—पथकः ।

(2085) आकर्षादिभ्यः कन् *64* (1864)

तत्रेति वर्त्तते, कुशल इति च । आकर्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे कन् विषये प्रत्ययो भवति । आकर्षे कुशलः आकर्षकः । त्सरुकः । आकर्ष । त्सरु । पिपासा । पिचण्ड । अशनि । अश्मन् । विचय । चय । जय । आचय । अय । नय । निपाद । गद्गद । दीप । ह्रद । ह्राद । ह्लाद । शकुनि–आकर्षादिः ।

अर्थ—तत्र, कुशलः—इनका अनुवर्त्तन है। सप्तमी समर्थ आकर्षादि प्रातिपदिकों से 'कन्' होता है, 'कुशल' अर्थ में।

उदा० (1) आकर्षकः
आकर्षे कुशलः—'कन्' हुआ।

(2) त्सरुकः (पूर्ववत्) ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2086) धनहिरण्यात् कामे *65* (1865)

तत्रेति वर्त्तते, 'कन्' इति च । धनहिरण्यशब्दाभ्यां तत्रेति सप्तमीसमर्थाभ्यां काम इत्यस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति । कामः इच्छाऽभिलाषः । धने कामः धनको देवदत्तस्य । हिरण्यको देवदत्तस्य ।

अर्थ—तत्र, कन्—इनका अनुवर्त्तन है। सप्तमी समर्थ धन एवं हिरण्य प्रातिपदिकों से 'कन्' होता है, 'इच्छा' अर्थ में।

उदा० (1) धनकः
धने कामः → धन कन् सु।

(2) हिरण्यकः (पूर्ववत्) ।

(2087) स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते *66* (1866)

तत्रेति वर्त्तते, कनिति च । स्वाङ्गवाचिभ्यः शब्देभ्यतत्रेति सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रसित इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति । प्रसितः प्रसक्तस्तत्पर इत्यर्थः । केशेषु प्रसितः केशकः । केशादिरचनायां प्रसक्त एवमुच्यते । बहुवचनं स्वाङ्गसमुदायशब्दादपि यथा स्यात्–दन्तौष्ठकः, केशनखकः ।

अर्थ—तत्र, कन्—इनका अनुवर्त्तन है। सप्तमी समर्थ स्वांगवाची प्रातिपदिक से 'कन्' होता है, 'तत्पर' अर्थ में। 'प्रसित' का अर्थ है—तत्पर।

उदा० (1) केशकः
केशेषु प्रसितः—केश कन् सु।
केशों की रचना में तत्पर—ऐसा कहा जाता है। बहुवचन निर्देश से स्वांगसमुदाय शब्द से भी प्रत्यय हो जाता है। यथा—

(2) दन्तौष्ठकः (पूर्ववत्) ।
(3) केशनखकः (पूर्ववत्) ।

(2088) उदराट्ठगाद्यूने *67* (1867)

तत्रेति वर्त्तते, प्रसित इति च । उदरशब्दात्सप्तमीसमर्थात्प्रसित इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति । आद्यून इति प्रत्ययार्थविशेषणम्, उदरेऽविजिगीषुर्भण्यते, यो बुभुक्षयाऽत्यन्तं पीड्यते स एवमुच्यते । उदरे प्रसितः औदरिक आद्यूनः (आद्यूनोऽविजिगीषुः) । आद्यून इति किम् ? उदरकः (5. 2.66) ।

अर्थ—तत्र, प्रसिते—इनका अनुवर्त्तन है। सप्तमी समर्थ उदर प्रातिपदिक से 'तत्पर' अर्थ में 'ठक्' होता है, यदि 'पेटू' अर्थ वाच्य हो। आद्यून प्रत्ययार्थ विशेषण है।

उदा० (1) औदरिकः (आद्यूनः)
उदरे प्रसितः—ठक्, ठस्येकः ।
आद्यून० अर्थात् पेटू अर्थ वाच्य हो तो 'ठक्' होता है—

(2) उदरकः
यहाँ 'ठक्' नहीं हुआ।

(2089) सस्येन परिजातः *68* (1868)

कन् प्रत्यय इत्येव स्वर्यते, न ठक्। निर्देशादेव तृतीया समर्थविभक्तिः। सस्यशब्दात्तृतीयासमर्थात्परिजात इत्यस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति। सस्यशब्दोऽयं गुणवाची। परिः सर्वतो भावे वर्त्तते, यो गुणैः सम्बद्धो जायते यस्य किञ्चिदपि वैगुण्यं नास्ति तस्येदमभिधानम्। सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः। सस्यकः साधुः। सस्यको मणिः। आकरशुद्ध इत्यर्थः।

अर्थ—'कन्' का अनुवर्त्तन है, 'ठक्' का नहीं। निर्देश से ही तृतीया समर्थ विभक्ति होती है। तृतीया समर्थ 'सस्य' प्रातिपदिक से 'कन्' होता है, 'सब ओर से उत्पन्न' इस अर्थ में। 'सस्य' शब्द गुणवाची है। 'परि' का अर्थ है—सब ओर से। जो गुणों के द्वारा सम्बद्ध है तथा जिसकी कुछ भी विगुणता नहीं है, उसका यह कथन है।

उदा० (1) सस्यकः शालिः
सस्येन परिजातः—सस्य कन् सु।

इसी प्रकार—
(2) सस्यकः साधुः
(3) सस्यको मणिः

(2090) अंशं हारी *69* (1869)

अंशशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयासमर्थाद्धारीत्येतस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवति। अंशं हारी अंशको दायादः। अंशकः पुत्रः। हारीत्यावश्यके णिनिः (3.3.170)। तत्र षष्ठीप्रतिषेधाद् कर्मणि द्वितीयैव भवति।

अर्थ—द्वितीया समर्थ 'अंश' प्रातिपदिक से 'कन्' होता है, 'हरण करने वाला'—इस अर्थ में।

उदा० (1) अंशकः
अंशं हारी—कन् हुआ।
वहाँ षष्ठी के निषेध से कर्म में द्वितीया होती है।

(2091) तन्त्रादचिरापहृते *70* (1870)

तन्त्रशब्दान्निर्देशादेव पञ्चमीसमर्थादचिरापहृते इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति। अचिरापहृतः स्तोककालापहृत इत्यर्थः। तन्त्रादचिरापहृतः तन्त्रकः पटः। तन्त्रकः प्रावारः। प्रत्यग्रो नव उच्यते।

अर्थ—'तत्काल बुना हुआ' इस अर्थ में पञ्चमी समर्थ 'तन्त्र' प्रातिपदिक से 'कन्' होता है।

उदा० (1) तन्त्रकः पटः
तन्त्राद् अचिरापहृतः—कन् हुआ।
(2) तन्त्रकः प्रावारः (पूर्ववत्)।

(2092) ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् *71* (1871)

ब्राह्मणक उष्णिक-इत्येतौ शब्दौ कन्प्रत्ययान्तौ निपात्येते संज्ञायां विषये। ब्राह्मणको देशः। उष्णिका यवागूः। यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणाः सन्ति तत्र ब्राह्मणक इति संज्ञा। अल्पान्ना यवागूरुष्णिकेत्युच्यते।

अर्थ—संज्ञा के विषय में कन् प्रत्ययान्त ब्राह्मणक तथा उष्णिक शब्दों का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) ब्राह्मणकः देशः
कन् हुआ।
(2) उष्णिका यवागूः
कन् हुआ, टाप् हुआ।

जहाँ आयुधजीवी ब्राह्मण होते हैं, वहाँ 'ब्राह्मणक' संज्ञा होती है। लप्सी, जिसमें अन्न कम तथा जल अधिक हो, उसे 'उष्णिका' कहते हैं।

(2093) शीतोष्णाभ्यां कारिणि *72* (1872)

शीतोष्णशब्दाभ्यां कारिण्यभिधेये कन् प्रत्ययो भवति। क्रियाविशेषणाद् द्वितीयासमर्थादयं प्रत्ययः। शीतं करोति शीतकः, अलसः जड उच्यते। उष्णं करोति उष्णकः, शीघ्रकारी, दक्ष उच्यते।

अर्थ—'करने वाला'—अर्थ वाच्य हो तो द्वितीया समर्थ शीत व उष्ण प्रातिपदिकों से 'कन्' होता है। द्वितीया समर्थ क्रियाविशेषण से यह प्रत्यय होता है।

उदा० (1) शीतकः
शीतं करोति—कन्।
(2) उष्णकः (पूर्ववत्)।

(2094) अधिकम् *73* (1873)

अधिकमिति निपात्यते। अध्यारूढस्योत्तरपदलोपः कंश्च प्रत्ययः (म०भा०)। अधिको द्रोणः खार्याम्। अधिका खारी द्रोणेन। कर्त्तरि कर्मणि वा अध्यारूढशब्दः।

अर्थ—'अधिक' शब्द का निपातनसिद्ध है। अध्यारूढ के उत्तरपद का लोप तथा कन् प्रत्यय का निपातन किया गया है।

उदा० (1) अधिकम्
अध्यारूढ कन्—निपातन से 'कन्' हुआ तथा 'आरूढ' का लोप हुआ।

(2095) अनुकाभिकाभीकः कमिता *74* (1874)

अनुक अभिक अभीक-इत्येते शब्दाः कन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते कमितेत्येतस्मिन्नर्थे। अभेः पक्षे दीर्घत्वं च निपात्यते। अनुकामयते अनुकः। अभिकः। अभीकः।

अर्थ—'इच्छा करने वाला'—अर्थ में 'कन्' प्रत्ययान्त अनुक, अभिक व अभीक शब्दों का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अनुकः
अनुकामयते → अनु कन्—विभक्तिकार्य।
(2) अभिकः
अभिकामयते—अभि कन् सु।
(3) अभीकः
पक्ष में दीर्घादेश।

(2096) पार्श्वेनान्विच्छति *75* (1875)

पार्श्वशब्दात्तृतीयासमर्थादन्विच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवति। अनृजुरुपायः पार्श्वम्। तेनार्थानन्विच्छति पार्श्वकः। मायावी, कौसृतिकः, जालिक उच्यते।

अर्थ—तृतीया समर्थ 'पार्श्व' प्रातिपदिक से 'कन्' होता है, 'चाहता है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) पार्श्वकः
पार्श्वेनाऽर्थानन्विच्छति—कन् हुआ।

(2097) अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ *76* (1876)

अन्विच्छतीत्येव। अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां तृतीयासमर्थाभ्यामन्विच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक्ठञौ प्रत्ययौ भवतः। तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलमुच्यते, तेनान्विच्छति आयःशूलिकः (म० भा०)। साहसिक इत्यर्थः। दम्भो दण्डाजिनम्, तेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः। दाम्भिक इत्यर्थः।

अर्थ—'चाहता है'—इसका अनुवर्त्तन है। तृतीया समर्थ अयःशूल व दण्डाजिन प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'ठक्' और 'ठञ्' होते हैं, 'चाहता है'—इस अर्थ में।

उदा० (1) आयःशूलिकः
अयःशूलेनाऽन्विच्छति—ठक् हुआ।
(2) दाण्डाजिनिकः
'ठञ्' हुआ।

(2098) तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा *77* (1877)

तावतां पूरणं तावतिथम्। गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्, प्रकृतिविशेषणं चैतत्। पूरणप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकाद् ग्रहणोपाधिकात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति, पूरणस्य प्रत्ययस्य वा लुक्। द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णाति द्विकं ग्रहणम्। द्वितीयकम्। त्रिकम्। तृतीयकम्। चतुष्कम्। चतुर्थकम्। *तावतिथेन गृह्णातीति कन् वक्तव्यः, पूरणप्रत्ययस्य च नित्यं लुक्* (म० भा०)। षष्ठेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णाति षट्को देवदत्तः। पञ्चकः। चतुष्कः। इतिकरणो विवक्षार्थः। तेन ग्रन्थविषयमेव ग्रहणं विज्ञायते, नान्यविषयम्।

अर्थ—तावतां पूरणः—तावतिथम्' द्वितीया समर्थ पूरण प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'कन्' होता है तथा उस पूरणार्थक प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है, जो द्वितीया समर्थ है, यदि वह ग्रहण करना हो।

उदा० (1) द्विकम्
द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णाति
द्वितीय कन्—'तीय' का लुक्,
द्विक सु—विभक्तिकार्य।
(2) द्वितीयकम्
द्वितीय कन् सु—विभक्तिकार्य।
(3) त्रिकम्
'द्विकम्' की तरह।
(4) तृतीयकम्
तृतीय कन् सु।
(5) चतुष्कम्
प्रत्यय का लुक्।
(6) चतुर्थकम्।
'कन्' हुआ।

तावतिथेन०—तावतिथेन गृह्णाति—इस अर्थ में 'कन्' होता है तथा पूरण प्रत्यय का लुक् होता है—

(7) षट्कः
षष्ठेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णाति—कन् हुआ।

(8) पञ्चकः
पूर्ववत् कन्।

(9) चतुष्कः
पूर्ववत् कन्।

इतिकरण विवक्षार्थ है। इससे ग्रन्थ के विषय का ग्रहण जाना जाता है; अन्य विषय का नहीं।

(2099) स एषां ग्रामणीः *78* (1878)

स इति प्रथमासमर्थादेषामिति षष्ठ्यर्थे कन् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं ग्रामणीश्चेत् स भवति। ग्रामणीः प्रधानो मुख्य इत्यर्थः। देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः। यज्ञदत्तकाः। ग्रामणीरिति किम्? देवदत्तः शत्रुरेषाम्।

अर्थ—ग्रामणी समानाधिकरण वाले प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठी के अर्थ में 'कन्' होता है।

उदा० (1) देवदत्तकाः
देवदत्तो ग्रामणीरेषाम्—कन्, जस्।

(2) यज्ञदत्तकाः (पूर्ववत्)।

ग्रामणी० अर्थात् ग्रामणी समानाधिकरण वाले प्रातिपदिक से 'कन्' होता है—
(3) देवदत्तः शत्रुरेषाम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2100) शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे *79* (1879)

शृङ्खलशब्दात् प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे कन् प्रत्ययो भवति, यत्तत् प्रथमासमर्थं बन्धनं चेत्तद्भवति यत्तदस्येति निर्दिष्टं करभश्चेत् स भवति। शृङ्खलं बन्धनमस्य करभस्य शृङ्खलकः। उष्ट्राणां बालकाः करभाः, तेषां काष्ठमयं पाशकं पादे व्यतिषज्यते, तदुच्यते शृंखलमिति। यद्यपि रज्ज्वादिकमपि तत्रास्ति, तथापि शृंखलमस्यास्वतन्त्रीकरणे भवति साधनमिति बन्धनमित्युच्यते।

अर्थ—'बन्धन' अर्थ में वर्त्तमान प्रथमासमर्थ शृंखल प्रातिपदिक से षष्ठी के अर्थ में 'कन्' होता है, यदि 'करभ' शब्द षष्ठी समानाधिकरण वाला हो।

उदा० (1) शृङ्खलकः
शृङ्खलं बन्धनम् अस्य करभस्य—कन् हुआ।
ऊँट के बच्चे को 'करभ' कहते हैं। उनका काष्ठ से बना जो पाश, उसे शृंखल कहते हैं। यद्यपि रस्सी आदि भी होती है, तथापि शृंखल उसकी स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने के लिए होता है।

(2101) उत्क उन्मनाः *80* (1880)

उत्क इति निपात्यते उन्मनाश्चेत् स भवति। उद्गतं मनो यस्य स उन्मनाः। उच्छब्दात् संसाधनक्रियावचनात्तद्वति कन् प्रत्ययो निपात्यते। उत्को देवदत्तः। उत्कः प्रवासी। उत्सुक इत्यर्थः।

अर्थ—'उत्क' शब्द निपातनसिद्ध है, 'उन्मन' अर्थ में। 'उद्' शब्द से संसाधन क्रियावाची 'उद्' शब्द से 'वत्' में 'कन्' का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) उत्कः
उद् कन्—'कन्' हुआ,
उत्क सु—विभक्तिकार्य।

(2102) कालप्रयोजनाद्रोगे *81* (1881)

अर्थलभ्या समर्थविभक्तिः। कालात् प्रयोजनाच्च यथा-योगं समर्थविभक्तियुक्ताद्रोगेऽभिधेये कन् प्रत्ययो भवति। कालो दिवसादिः। प्रयोजनं कारणं रोगस्य फलं वा। द्वितीयेऽह्नि भवो द्वितीयको ज्वरः। चतुर्थकः। प्रयोजनात्—विषपुष्पैर्जनितो विषपुष्पको ज्वरः। काशपुष्पकः। उष्णं कार्यमस्य उष्णकः। शीतको ज्वरः। उत्तरसूत्रादिह संज्ञा-ग्रहणमपकृष्यते, तेनायं प्रकारनियमः सर्वो लभ्यते।

अर्थ—कालवाची तथा कारणवाची यथाप्राप्त समर्थ विभक्ति-युक्त प्रातिपदिकों से 'कन्' होता है, 'रोग' अर्थ वाच्य हो तो।

सप्तमीसमर्थ कालवाची से तथा तृतीयासमर्थ कारणवाची शब्द से 'कन्' होता है।

उदा० (1) द्वितीयकः
द्वितीयेऽह्नि भवः—'कन्' हुआ।
द्वितीय कन् सु—प्रथमा एकवचन।

(2) चतुर्थकः (पूर्ववत्)।

(3) विषपुष्पकः
विषपुष्पैर्जनितः—कन् हुआ।

(4) काशपुष्पकः (पूर्ववत्)।

(5) उष्णकः
उष्णं कार्यमस्य ।

(6) शीतकः (पूर्ववत्) ।

उत्तर सूत्र से 'सञ्ज्ञायाम्' का अनुकर्षण होता है। उससे यह सब प्रकार नियम प्राप्त होता है।

(2103) तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् *82* (1882)

तदिति प्रथमासमर्थादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे कन् प्रत्ययो भवति यत्तत् प्रथमासमर्थमन्नं चेत् प्रायविषयं तद् भवति । प्रायो बाहुल्यम् । संज्ञाग्रहणं तदन्तोपाधिः । गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्यां गुडापूपिका, तिलापूपिका पौर्णमासी । *वटकेभ्य इनिर्वक्तव्यः* (म० भा०) । वटकिनी पौर्णमासी ।

अर्थ—अन्न के विषय में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से सप्तमी के अर्थ में 'कन्' होता है, यदि प्रायः संज्ञा गम्यमान हो।

प्रायः = बाहुल्य ।

उदा० (1) गुडापूपिका
गुडापूपाः प्रायेणाऽन्नमस्यां पौर्णमास्याम्—कन्, टाप्, विभक्ति-कार्य।

(2) तिलापूपिका (पूर्ववत्) ।

वटकेभ्य०—वटक शब्दों से 'इनि' होता है—

(3) वटकिनी पौर्णमासी
वटक इनि—(अन्त्य) इकार की इत्संज्ञा,
वटकिन् ङीप्—विभक्तिकार्य।

(2104) कुल्माषादञ् *83* (1883)

कुल्माषशब्दादञ् प्रत्ययो भवति तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायामित्येतस्मिन्नर्थे । ञकारो वृद्धिस्वरार्थः । कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी पौर्णमासी ।

अर्थ—अन्न के अर्थ में वर्त्तमान कुल्माष प्रातिपदिक से सप्तमी के अर्थ में 'अञ्' होता है, यदि प्रायः संज्ञा गम्यमान हो।

उदा० (1) कौल्माषी पौर्णमासी
कल्माषाः प्रायेणाऽन्नमस्याम्—अञ्, ङीप्, सु।

(2105) श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते *84* (1884)

श्रोत्रियन्निति निपात्यते छन्दोऽधीत इत्यस्मिन्नर्थे । नकारः स्वरार्थः । श्रोत्रियो ब्राह्मणः । *श्रोत्रियँश्छन्दोधीत इति वाक्यार्थे पदवचनम्* (म० भा०), *छन्दसो वा श्रोत्रभावस्तदधीत इति घँश्च प्रत्ययः* (म० भा०) । कथं छन्दोऽधीते छान्दसः ? वाग्रहणमनुवर्त्तते, तावतिथं ग्रहणमिति लुग् वा (5.2.77) इत्यतः ।

अर्थ—वेद को पढ़ता है—इस अर्थ में 'श्रोत्रियन्' शब्द का निपातन किया जाता है। नकार की इत्संज्ञा है। 'ञ्नित्यादि०' से यह आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) श्रोत्रियन्
श्रोत्र घन्—निपातन से सर्वादेश।

(2106) श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ *85* (1885)

श्राद्धमिति प्रकृतिः । अनेनेति प्रत्ययार्थः । भुक्तमिति प्रकृतिविशेषणम् । श्राद्धशब्दाद् भुक्तोपाधिकादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिठनौ प्रत्ययौ भवतः । श्राद्धशब्दः कर्मनामधेयं तत् साधनद्रव्ये वर्तित्वा प्रत्ययमुत्पादयति । श्राद्धं भुक्तमनेन श्राद्धी । श्राद्धिकः । *इनिठनोः समानकालग्रहणम्* (म० भा०), अद्य भुक्ते श्राद्धे श्वः श्राद्धिक इति प्रयोगो मा भूत् ।

अर्थ—'श्राद्ध' प्रकृति है। 'अनेन' प्रत्ययार्थ है। 'भुक्तम्' यह प्रकृतिविशेषण है। 'भुक्त' अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ श्राद्ध प्रातिपदिक से कर्त्ता अर्थ में 'इनि' तथा 'ठन्' प्रत्यय पर्यायेण होते हैं।

उदा० (1) श्राद्धी
श्राद्धम् अनेन भुक्तम्—इनि हुआ,
श्राद्ध इनि—सु।

(2) श्राद्धिकः
श्राद्ध ठन्—ठस्येकः।

इनि और ठन् में समान काल का ग्रहण है। तब निम्नलिखित में प्रत्यय नहीं होता है—

अद्य भुक्ते श्वः श्राद्धिकः।

(2107) पूर्वादिनिः *86* (1886)

अनेनेति प्रत्ययार्थः कर्त्ताऽनुवर्त्तते । न च क्रियामन्तरेण कर्त्ता सम्भवतीति यां काञ्चित्क्रियामध्याहृत्य प्रत्ययो विधेयः । पूर्वादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति । पूर्वं गतमनेन भुक्तं पीतं वा पूर्वी । पूर्विणौ । पूर्विणः ।

अर्थ—क्रियाविशेषण 'पूर्व' प्रातिपदिक से 'इनि' प्रत्यय होता है, कर्त्ता अर्थ में। 'अनेन' प्रत्ययार्थ है।

उदा० (1) पूर्वी
पूर्वं गतम् अनेन
पूर्वं भुक्तम् अनेन } पूर्व इनि सु—विभक्तिकार्य।
पूर्वं पीतम् अनेन

(2) पूर्विणौ
पूर्विन् औ—प्रथमा द्विवचन।

(3) पूर्विणः
पूर्विन् जस्।

(2108) सपूर्वाच्च *87* (1887)

विद्यमानं पूर्वं यस्मादिति सपूर्वं प्रातिपदिकम्। तस्य पूर्वशब्देन तदन्तविधिः। सपूर्वात् प्रातिपदिकात् पूर्वशब्दान्तादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम्। भुक्तपूर्वी ओदनम्। सुप्सुपेति (2.1.4) समासं कृत्वा तद्धित उत्पाद्यते। योगद्वयेन चानेन–पूर्वादिनिः (5.2.86), सपूर्वाच्चेति (5.2.87) परिभाषाद्वयं ज्ञाप्यते–व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन (शाक०प० 65), ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति (व्या०प० 89) इति।

अर्थ—जिसके पूर्व में कोई पद हो तथा 'पूर्व' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'इनि' होता है, कर्त्ता अर्थ में।

उदा० (1) कृतपूर्वी कटम्
पूर्वं कृतम् अनेन—इनि हुआ।

(2) भुक्तपूर्वी ओदनम्
पूर्ववत् 'इनि'।

सुप्सुपा से समास करके तद्धित प्रत्यय होता है। 'पूर्वादिनिः' तथा 'सपूर्वाच्च' इस योगद्वय से पूर्व शब्दपूर्वक से निम्न दो परिभाषाएँ ज्ञापित होती हैं—

(क) व्यपदेशिवद्भाव प्रातिपदिक से अन्य से होता है।
(ख) ग्रहणवान् प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती है।

(2109) इष्टादिभ्यश्च *88* (1888)

अनेनेत्येव। इष्टादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। इष्टमनेन इष्टी यज्ञे। पूर्त्ती श्राद्धे। क्तस्येन्विषयस्य कर्मणीति सप्तम्युपसंख्यायते। इष्ट। पूर्त्त। उपसादित। निगदित। परिवादित। निकथित। परिकथित। सङ्कलित। निपठित। सङ्कल्पित। अनर्च्चित। विकलित। संरक्षित। निपतित। पठित। परिकलित। अर्चित। परिरक्षित। पूजित। परिगणित। उपगणित। अवकीर्ण। परित। उपकृत। उपाकृत। आयुक्त। आम्नात। श्रुत। अधीत। आसेवित। अपवारित। अवकल्पित। निराकृत। अनुयुक्त। उपनत। अनुगुणित। अनुपठित। व्याकुलित। निगृहीत–इष्टादिः।

अर्थ—प्रथमा समर्थ इष्टादि प्रातिपदिकों से 'इनि' होता है, कर्त्ता अर्थ में।

उदा० (1) इष्टी
इष्टमनेन—'इनि' हुआ,
इष्ट इन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) पूर्त्ती (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2110) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि *89* (1889)

परिपन्थिन् परिपरिन्–इत्येतौ शब्दौ छन्दसि विषये निपात्येते पर्यवस्थातरि वाच्ये। पर्यवस्थाता सम्पन्नप्रतिपक्ष उच्यते। मा त्वा परिपन्थिनो विदन्। मा त्वा परिपरिणो विदन् (वा०सं० 4.34)।

अर्थ—'पर्यवस्थाता' अर्थ गम्यमान रहते परिपन्थिन् व परिपरिन् शब्दों का निपातन किया जाता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) (मा त्वा) परिपन्थिनो विदन्
परिपन्थिन् इनि—
परिपन्थ् इन्—निपातन से, जस् होकर।

(2) (मा त्वा) परिपरिणो विदन्
परि इनि → परि परि इनि—निपातन से द्वित्व,
परिपरिन् जस्—विभक्तिकार्य।

(2111) अनुपद्यन्वेष्टा *90* (1890)

अनुपदीति निपात्यतेऽन्वेष्टा चेत् स भवति। पदस्य पश्चादनुपदम्। अनुपदी गवाम्। अनुपदी उष्ट्राणाम्।

अर्थ—पीछे जाने वाला—इस अर्थ में अनुपदी शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अनुपदी गवाम्
अनुपदम् अन्वेष्टा → अनुपद इनि—
अनुपदिन् सु—विभक्तिकार्य।

(2112) साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् *91* (1891)

साक्षाच्छब्दोऽव्ययम्, तस्मादिनिः प्रत्ययो भवति द्रष्टरि वाच्ये। संज्ञाग्रहणमभिधेयनियमर्थाम्। साक्षाद् द्रष्टा साक्षी। साक्षिणौ। साक्षिणः। संज्ञाग्रहणादुपद्रष्टैवोच्यते, न दाता ग्रहीता वा।

अर्थ—'साक्षात्' शब्द एक अव्यय है। संज्ञा के विषय में साक्षात् प्रातिपदिक से 'इनि' होता है, 'द्रष्टा' अर्थ वाच्य हो तो। अभिधेय के नियम के लिए संज्ञा का ग्रहण किया गया है।

उदा० (1) साक्षी
साक्षाद् द्रष्टा → साक्षात् इनि—
साक्ष् इनि सु—अव्ययानां भमात्रे० (7.3.144. वा०)
संज्ञा के ग्रहण से 'उपद्रष्टा' का ही ग्रहण होता है; न 'दाता' का और न ही 'ग्रहीता' का।

(2113) क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः *92* (1892)

क्षेत्रियजिति निपात्यते। परक्षेत्रे चिकित्स्यः इत्येतस्मिन् वाक्यार्थे पदवचनम्। परक्षेत्राद्वा तत्रेति सप्तमीसमर्थात् चिकित्स्य इत्येतस्मिन्नर्थे घच् प्रत्ययः परशब्दलोपश्च निपात्यते। परक्षेत्रे चिकित्स्यः क्षेत्रियो व्याधिः। क्षेत्रियं कुष्ठम्। परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरम्, तत्र चिकित्स्यः क्षेत्रियः, असाध्योऽप्रत्याख्येयो व्याधिरुच्यते। नामृतस्य निवर्तत इत्यर्थः। अथ वा-क्षेत्रियं विषम्, यत्परक्षेत्रे परशरीरे संक्रमय्य चिकित्स्यते। अथ वा-क्षेत्रियाणि तृणानि, यानि सस्यार्थे क्षेत्रे जातानि चिकित्स्यानि नाशयितव्यानि। अथ वा-क्षेत्रियः पारदारिकः, परदाराः परक्षेत्रं, तत्र चिकित्स्यः निग्रहीतव्यः। सर्वं चैतत् प्रमाणम्।

अर्थ—'क्षेत्रियच्' शब्द का निपातन किया जाता है। 'परक्षेत्र में चिकित्स्य' इस वाक्यार्थ में यह पदवचन है अथवा परक्षेत्र से। 'तत्र' इस प्रकार सप्तमी समर्थ से प्रत्यय होता है। 'चिकित्स्य' इस अर्थ में निपातन से 'घच्' प्रत्यय तथा पर शब्द के लोप होते हैं।

उदा० (1) क्षेत्रियः
परक्षेत्रे चिकित्स्यः—परक्षेत्र घच्—निपातन से पर शब्द का लोप—
क्षेत्र इयच् सु—विभक्तिकार्य।
जन्मान्तर शरीर परक्षेत्र है। उसमें चिकित्स्य क्षेत्रीय है। असाध्य व्याधि को कहते हैं।
(2) क्षेत्रियो व्याधिः (पूर्ववत्)।
(3) क्षेत्रियं विषम् (पूर्ववत्)।
(4) क्षेत्रियाणि तृणानि
जस् विभक्ति।

(2114) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा *93* (1893)

इन्द्रियमित्यन्तोदात्तं शब्दरूपं निपात्यते। रूढिरेषा चक्षुरादीनां करणानाम्। तथा च व्युत्पत्तेरनियमं दर्शयति-इन्द्रशब्दात् षष्ठीसमर्थाल्लिङ्गमित्येतस्मिन्नर्थे घच् प्रत्ययो भवति। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। इन्द्रः आत्मा, स चक्षुरादिना करणेनानुमीयते, नाकर्तृकं करणमस्ति। इन्द्रेण दृष्टम्-तृतीयासमर्थात् प्रत्ययः, आत्मना दृष्टमित्यर्थः। इन्द्रेण सृष्टम्-आत्मना सृष्टम्, तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणोत्पन्नमिति कृत्वा। इन्द्रेण जुष्टम्-आत्मना जुष्टम्, सेवितम्, तद्द्वारेण विज्ञानोत्पादनाद्। इन्द्रेण दत्तम्-आत्मना विषयेभ्यो दत्तं यथायथं ग्रहणाय। इतिकरणः प्रकारार्थः। सति सम्भवे व्युत्पत्तिरन्यथापि कर्त्तव्या, रूढेरनियमादिति। वाशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यमानो विकल्पानां स्वातन्त्र्यं दर्शयति।

अर्थ—'इन्द्रिय' यह अन्तोदात्त शब्दरूप निपातित है। नेत्र आदि करणों की यह रूढि है। यह व्युत्पत्ति का अनियम दर्शाता है। लिङ्ग अर्थ में षष्ठी समर्थ 'इन्द्र' शब्द से तथा 'दृष्ट' आदि अर्थों में तृतीया समर्थ 'इन्द्र' शब्द से प्रत्यय होता है।

उदा० (1) इन्द्रियम्
इन्द्रस्य लिङ्गम्—निपातन से 'घच्' हुआ,
इन्द्र इयच् सु—विभक्तिकार्य।

(2) इन्द्रियम्
इन्द्रेण दृष्टम्—घच्।

(3) इन्द्रियम्
इन्द्रेण सृष्टम्—घच्।

(4) इन्द्रियम्
इन्द्रेण जुष्टम्—पूर्ववत्।

(5) इन्द्रियम्
इन्द्रेण दत्तम्—पूर्ववत्।

सम्भव होने पर व्युत्पत्ति अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। 'वा' शब्द प्रत्येक के साथ सम्बद्ध होता हुआ विकल्पों की स्वतन्त्रता को प्रदर्शित करता है।

(2115) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् *94* (1894)

तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिः। अस्यास्मिन्निति प्रत्ययार्थौ। अस्तीति प्रकृतिविशेषणम्। इतिकरणो विवक्षार्थः। तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे, अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे वा मतुप् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थमस्ति चेत्तद्भवति-अस्त्यर्थोपाधिकं चेत्तद्भवतीत्यर्थः। इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा। गावोऽस्य सन्ति गोमान् देवदत्तः। वृक्षा अस्मिन् सन्ति वृक्षवान् पर्वतः। यवमान्। प्लक्षवान्। इतिकरणाद्विषयनियमः-

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥
(म० भा०)

भूम्नि तावत्-गोमान्। निन्दायाम्-कुष्ठी, ककुदावर्तिनी। प्रशंसायाम्-रूपवती कन्या। नित्ययोगे-क्षीरिणो वृक्षाः। अतिशायने-उदरिणी कन्या। संसर्गे-दण्डी, छत्री। अस्तिविवक्षायाम्-अस्तिमान्। *गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः* (म० भा०)। शुक्लो गुणोऽस्यास्ति शुक्लः पटः। कृष्णः। श्वेतः।

अर्थ—'तद्' यह प्रथमा समर्थ विभक्ति है। अस्य, अस्मिन्—ये प्रत्ययार्थ हैं। 'अस्ति' यह प्रकृतिविशेषण है। इतिकरण विवक्षा के लिए है। 'इसका यह है' तथा 'इसमें यह है' इस अर्थ में प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'मतुप्' होता है।

उदा० (1) गोमान्
गावोऽस्य सन्ति—मतुप्, अनुबन्ध लोप,
गो मतुप् सु—विभक्तिकार्य।

(2) वृक्षवान्
वृक्षा अस्मिन् सन्ति—पूर्ववत्।

(3) यवमान् (पूर्ववत्)।
(4) प्लक्षमान् (पूर्ववत्)।

भूमनिन्दा०—यद्यपि सूत्र में दो ही अर्थों का निर्देश है, तथापि सूत्र में 'इति' पद के ग्रहण से अन्य अनिर्दिष्ट अर्थों का भी ग्रहण जानना चाहिए।

काशिका में उन अनिर्दिष्ट अर्थों का परिगणन किया है—

(क) भूमन् अर्थात् अधिक—बह्व्यो गावः सन्त्यस्य गोमान्। भाव यह है कि अधिक गायों के होने पर ही व्यक्ति 'गोमान्' होता है, न कि एक गाय के होने पर।

(ख) निन्दा—कुष्ठी पुरुषः। यहाँ निन्दा अर्थ वाच्य है।

(ग) प्रशंसा—प्रशस्तं रूपम् अस्त्यस्य—रूपावन्। यहाँ प्रशंसा अर्थ में मतुप् हुआ है। द्र०—हस्तवता (भा० 5.35.18)।

(घ) नित्ययोग—नित्यं क्षीरम् अस्त्येषाम् क्षीरी वृक्षः। यहाँ नित्य योग अर्थ में 'इनि' हुआ है।

(ङ) अतिशायन अर्थात् आधिक्य या श्रेष्ठता—अतिशयितम् उदरम् अस्त्यस्या उदरिणी (कन्या)।

यहाँ अतिशायन विवक्षित है।

(च) सम्बन्ध अर्थात् संयोग—दण्डोऽस्त्यस्य दण्डी।
यहाँ सम्बन्ध अर्थ में प्रत्यय हुआ है।

सम्पूर्ण कारिका इस प्रकार है—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

गुणवच०—गुणवाची शब्दों से मतुप् प्रत्यय का लुक् होता है—

(5) शुक्लो गुणोऽस्याऽस्ति—मतुप् हुआ, लुक् हुआ,
शुक्ल सु—विभक्तिकार्य।

(6) कृष्णः (पूर्ववत्)।
(7) श्वेतः (पूर्ववत्)।

विशेष—मतुप् शब्द से सूत्रोक्त अर्थों में पुनः सरूप प्रत्यय नहीं होता; विरूप प्रत्यय अवश्य होता है। **द्रष्टव्य**—

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

अर्थात् शैषिक प्रत्ययान्त से पुनः सरूप शैषिक प्रत्यय नहीं होता, मतुबन्त से पुनः सरूप मतुप् अर्थीय प्रत्यय नहीं होता तथा इच्छा अर्थ में हुए सन् प्रत्ययान्त से पुनः सन् नहीं होता। धन्वानस्यास्तीति—यहाँ पुनः मतुप् नहीं होगा, कारण कि मतुप् प्रथम हो चुका है।

दण्डिनः सन्त्यस्या इति—दण्डिमती शाला। दण्डिन् शब्द में मतुबर्थीय इनि है। तब पुनः विरूप प्रत्यय (मतुप्) हो गया है।

(2116) रसादिभ्यश्च *95* (1895)

रसादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मतुप् प्रत्ययो भवति, तदस्यास्त्यस्मिन्नित्येतस्मिन् विषये। रसवान्। रूपवान्। किमर्थ-

मिदमुच्यते, न पूर्वसूत्रेणैव मतुप्सिद्धः ? रसादिभ्यः पुनर्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम्-अन्ये मत्वर्थीया मा भूवन्निति । कथं रूपिणी कन्या, रूपिको दारकः ? प्रायिकमेतद्वचनम् । इतिकरणो विवक्षार्थोऽनुवर्त्तते । अथवा गुणादित्यत्र पठ्यते, तेन ये रसनेन्द्रियादिग्राह्या गुणास्तेषामत्र पाठः, इह मा भूत्-रूपिणी, रूपिक इति, शोभायोगो गम्यते । रसिको नट (म०भा०) इत्यत्र भावयोगः । रस । रूप । गन्ध । स्पर्श । शब्द । स्नेह । *गुणात्* (ग०सू० 121) । *एकाचः* (ग० सू० 122) । गुणग्रहणं रसादीनां विशेषणम् । रसादिः ।

अर्थ—'यह इसका है' अथवा 'यह इसमें है'—इन अर्थों में रस आदि प्रातिपदिकों से 'मतुप्' होता है।

उदा० (1) रसवान्
रस—मतुप्।
(2) रूपवान् (पूर्ववत्)।

पूर्व सूत्र के द्वारा ही 'मतुप्' सिद्ध है। अतः सूत्र की क्या आवश्यकता है ?

(समा०) नहीं। अन्य की निवृत्ति के लिए रस आदि शब्दों से विधान किया गया है। अन्य मत्वर्थीय प्रत्यय न हों।

(3) रूपिणी कन्या
रूप इनि ङीप्—रूप बनता है।

(4) रूपिको दारकः
यह वचन प्रायिक है।

इतिकरण विवक्षा के लिए है अथवा 'गुणात्' इसका यहाँ पाठ है। अतः जो रसना आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य गुण हैं, उनका ही यहाँ पाठ है। शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2117) प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् *96* (1903)

प्राणिस्थवाचिनः शब्दादाकारान्ताल्लच् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्यां मत्वर्थे । चूडालः । चूडावान् । कर्णिकालः । कर्णिकावान् । प्राणिस्थादिति किम् ? शिखावान् प्रदीपः । आदिति किम् ? हस्तवान् । पादवान् । *प्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्* (म०भा०) । इह मा भूत्-चिकीर्षाऽस्यास्ति, जिहार्षाऽस्यास्ति, चिकीर्षावान्, जिहीर्षावान् । प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तत्वे सिद्धे चकारश्चूडालोऽस्तीत्यत्र स्वरितो वानुदात्ते पदादाविति (8.2.6) स्वरितबाधनार्थः ।

अर्थ—'यह है इसका' व 'यह है इसमें'—इन अर्थों में प्रथमा समर्थ प्राणियों के अंगवाची तथा अकारान्त प्रातिपदिकों से 'लच्' विकल्प से होता है।

उदा० (1) चूडालः
चूडाऽस्याऽस्ति—'लच्' हुआ,
चूडा ल सु—विभक्तिकार्य।

(2) चूडावान्
पक्ष में 'मतुप्'।

(3) कर्णिकालः
पूर्ववत् 'लच्'।

(4) कर्णिकावान्
'मतुप्' हुआ।

प्राणिस्था० अर्थात् **प्राणिस्थ** प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

(5) शिखावान्
यहाँ 'लच्' नहीं हुआ।

आदिति०—अर्थात् आकारान्त प्रातिपदिक से ही प्रत्यय होता है—

(6) हस्तवान्
यहाँ नहीं हुआ।

(7) पादवान् (पूर्ववत्)।

प्राण्यङ्गा० अर्थात् प्राणी के अङ्गवाची से प्रत्यय होता है यहाँ नहीं हो।

(8) चिकीर्षावान्
चिकीर्षाऽस्यास्ति

(9) जिहीर्षावान् (पूर्ववत्)।

प्रत्ययस्वर के द्वारा ही अन्तोदात्त कर देने पर 'चूडाल है'—इस प्रकार यहाँ स्वरित् के बाध के लिए चकार है।

(2118) सिध्मादिभ्यश्च *97* (1904)

लजन्यतरस्यामिति वर्त्तते । सिध्मादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो लच् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्यां मत्वर्थे । सिध्मलः । सिध्मवान् । गडुलः । गडुमान् । अन्यतरस्यांग्रहणेन मतुप्समुच्चीयते, न तु प्रत्ययो विकल्प्यते । तस्मादकारान्तेभ्य इनिठनौ प्रत्ययौ न भवतः । सिध्म । गडु । मणि । नाभि । जीव (बीज) । निष्पाव । पांसु । सक्तु । हनु । मांस । परशु । *पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्च* (ग०सू० 123) । पार्ष्णीलः । धमनीलः ।

पर्ण। उदक। प्रज्ञा। मण्ड। पार्श्व। गण्ड। ग्रन्थि। *वातदन्तबलललाटगलानामूङ् च* (ग०सू० 124)। वातूलः। दन्तूलः। बलूलः। ललाटूलः। गलूलः। *जटाघटाकलाः क्षेपे* (ग०सू० 125)। जटालः। घटालः। कलालः। सक्थि। कर्ण। स्नेह। शीत। श्याम। पिङ्ग। पित्त। शुष्क। पृथु। मृदु। मञ्जु। पत्र। चटु। कपि। कण्डु। संज्ञा। *क्षुद्रजन्तूपतापयोश्चेष्यते* (ग०सू० 126)। क्षुद्रजन्तु-यूकालः, मक्षिकालः। उपताप-विचर्चिकालः, विपादिकालः, मूर्च्छालः। सिध्मादिः।

अर्थ—'लजन्यतरस्याम्' का अनुवर्त्तन है। मत्वर्थ में सिध्मादि प्रातिपदिकों से विकल्प से 'लच्' होता है।

उदा० (1) सिध्मलः
सिध्म लच्—'लच्' हुआ,
सिध्मल सु—विभक्तिकार्य।

(2) सिध्मवान्
पक्ष में 'मतुप्' हुआ।

(3) गडुलः
'लच्' हुआ।

(4) गडुमान्
'मतुप्' हुआ।

'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण होने से 'मतुप्' का ग्रहण होता है तथा प्रत्यय का विकल्प नहीं होता है। अतः अकारान्त शब्दों से 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय नहीं होते हैं।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

पार्ष्णि०—पार्ष्णि और धमनि शब्दों से 'लच्' होता है तथा प्रकृति को दीर्घादेश होता है—

(5) पार्ष्णीलः
पार्ष्णि लच् → पार्ष्णील सु।

(6) धमनीलः
धमनि लच् → धमनील सु।

वातदन्त०—वात, दन्त, बल, ललाट तथा गल शब्दों से 'लच्' प्रत्यय होता है तथा 'ऊङ्' आदेश होता है—

(7) वातूलः
वातूङ् लच्—ऊङ् तथा लच्,
वातूल सु—प्रथमा एकवचन।

(8) दन्तूलः (पूर्ववत्)।
(9) बलूलः (पूर्ववत्)।
(10) ललाटूलः (पूर्ववत्)।
(11) गलूलः (पूर्ववत्)।

जटाघटा०—क्षेप अर्थ में जटा, घटा शब्दों से 'लच्' होता है—

(12) जटालः
जटा लच् सु।

(13) घटालः (पूर्ववत्)।

क्षुद्रजन्तू०—क्षुद्र जन्तुवाची से तथा उपतापवाची से 'लच्' होता है—

(14) यूकालः
यूका लच्।

(15) मक्षिकालः (पूर्ववत्)।
(16) विचर्चिकालः (पूर्ववत्)।
(17) विपादिकालः (पूर्ववत्)।
(18) मूर्च्छालः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2119) वत्सांसाभ्यां कामबले *98* (1905)

वत्सांसशब्दाभ्यां लच् प्रत्ययो भवति यथासंख्यं कामवति बलवति चार्थे। वत्सलः। अंसलः। वृत्तिविषये वत्सांसशब्दौ स्वभावात् कामबलयोर्वर्त्तमानौ तद्धति प्रत्ययमुत्पादयतः, न ह्यत्र वत्सार्थोऽसार्थो वा विद्यते। वत्सल इति स्नेहवानुच्यते- वत्सलः स्वामी, वत्सलः पितेति। अंसल इति चोपचितमांसो बलवानुच्यते। न चायमर्थो मतुपि सम्भवतीति नित्यं लजेव भवति। अन्यत्रांसवती गौः। अंसवान् दुर्बलः।

अर्थ—मतुप् प्रत्यय के अर्थों में यथासंख्य करके वत्स तथा अंस प्रातिपदिकों से 'लच्' होता है।

उदा० (1) वत्सलः
वत्स लच् सु।
वृत्ति के विषय में स्वभावतः काम और बल अर्थों में वर्त्तमान वत्स तथा अंस शब्द तद्धति प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं।

(2) असंलः
अंस लच् सु।
अंसल = बलवान्। यह अर्थ 'मतुप्' में सम्भव नहीं है। नित्य 'लच्' ही होता है। अन्यत्र 'मतुप्' होता है। यथा—

(3) असंवती गौः
अंस मतुप्—'उगितश्च' से 'ङीप्',
असंवत् ङीप्—विभक्तिकार्य।
अंसवान् = दुर्बल।

(2120) फेनादिलच्च *99* (1906)

फेनशब्दादिलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे चकाराल्लच्च। अन्यतरस्यांग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थं सर्वत्रैवानुवर्त्तते। फेनिलः। फेनलः। फेनवान्।

अर्थ—मत्वर्थ में फेन शब्द से 'इलच्' होता है तथा 'लच्' भी होता है। 'मतुप्' के समुच्चय के लिए 'अन्यतरस्याम्' का सर्वत्र अनुवर्त्तन है।

उदा० (1) फेनिलः
फेन इलच् सु।
(2) फेनलः
फेन लच् सु।
(3) फेनवान्
फेन मतुप् सु।

(2121) लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः *100* (1907)

लोमादिभ्यः, पामादिभ्यः पिच्छादिभ्यश्च त्रिभ्यो गणेभ्यो यथासंख्यं श, न, इलच्-इत्येते प्रत्यया भवन्ति मत्वर्थे, मतुप् च। लोमादिभ्यः शो भवति-लोमशः, लोमवान्। पामादिभ्यो नो भवति-पामनः, पामवान्। पिच्छादिभ्य इलच् भवति-पिच्छिलः, पिच्छवान्। उरसिलः, उरस्वान्। लोमन्। रोमन्। वल्गु। बभ्रु। हरि। कपि। शुनि। तरु। लोमादिः। पामन्। वामन्। हेमन्। श्लेष्मन्। कद्रु। बलि। श्रेष्ठ। पलल। सामन्। *अङ्गात्कल्याणे* (ग०सू० 127)। *शाकीपलालीदद्र्वां ह्रस्वत्वञ्च* (म०भा०, ग० सू० 128)। *विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः* (म० भा०, ग०सू० 129)। *लक्ष्म्या अच्च* (ग०सू० 130)। पामादिः। पिच्छ। उरस्। ध्रुवका। क्षुवका। *जटाघटाकलाः क्षेपे* (ग०सू० 131)। वर्ण। उदक। पङ्क। प्रज्ञा-पिच्छादिः।

अर्थ—मत्वर्थ में लोमादि शब्दों से, पामादि शब्दों से तथा पिच्छादि शब्दों से यथासंख्य करके श, न तथा तथा इलच् होते हैं। पक्ष में 'मतुप्' भी होता है।

उदा० (क) लोमादिभ्यः शः—
(1) लोमशः
लोम श—प्रत्यय हुआ,
लोमश सु—प्रथमा एकवचन।
(2) लोमवान्
पक्ष में 'मतुप्'।

(ख) पामादिभ्यो नः—
(3) पामनः
पाम न सु।
(4) पामवान्
पाम मतुप्।

(ग) पिच्छादिभ्य इलच्—
(5) पिच्छिलः
पिच्छ इलच् सु।
(6) पिच्छवान्
पूर्ववत् 'मतुप्'।
(7) उरसिलः
उरस् इलच् सु।
(8) उरस्वान्
उरस् मतुप्।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2122) प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः *101* (1908)

प्रज्ञा श्रद्धा अर्चा वृत्ति-इत्येतेभ्यो णः प्रत्ययो भवति मतुबर्थे। मतुप्सर्वत्र समुच्चीयते। प्राज्ञः। प्रज्ञावान्। श्राद्धः। श्रद्धावान्। आर्चः। अर्चावान्। वार्त्तः। वृत्तिमान्।

अर्थ—मत्वर्थ में प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा तथा वृत्ति प्रातिपदिकों से 'ण' होता है। सर्वत्र 'मतुप्' भी पक्ष में होता है।

उदा० (1) प्राज्ञः
प्रज्ञाऽस्याऽस्ति—'ण' हुआ,
प्रज्ञा ण सु—आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य।
(2) प्रज्ञावान्
'मतुप्' हुआ।
(3) श्राद्धः
पूर्ववत् 'ण'।

(4) श्रद्धावान्
पक्ष में 'मतुप्'।

(5) आर्चः
'ण' हुआ।

(6) अर्चावान्
'मतुप्' हुआ।

(7) वार्त्तः
वृत्ति ण सु।

(8) वृत्तिमान्
पक्ष में 'मतुप्' हुआ।

(2123) तपःसहस्राभ्यां विनीनी *102* (1909)

तपःसहस्रशब्दाभ्यां विनि, इनि–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे। प्रत्ययार्थयोस्तु यथासंख्यं सर्वत्रैवास्मिन् प्रकरणे नेष्यते। तपोऽस्यास्मिन् वा विद्यते तपस्वी। सहस्री। असन्तत्वाददन्तत्वाच्च सिद्धे प्रत्यये (5.2.121,115) पुनर्वचनमणा (5.2.103) वक्ष्यमाणेन बाधो मा भूदिति। सहस्रात्तु ठनपि बाध्यते।

अर्थ—तपस् तथा सहस्र शब्दों से 'विनि' तथा 'इनि' प्रत्यय होते हैं, मत्वर्थ में। इस प्रकरण में सर्वत्र प्रत्ययार्थों का यथासंख्य नहीं होता।

उदा० (1) तपस्वी
तपोऽस्याऽस्मिन् वा—'विनि' हुआ,
तपस् विन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) सहस्री
सहस्र इनि सु।

असन्त०—अस् प्रत्ययान्त होने से तपस् शब्द से प्रत्यय के सिद्ध रहते पुनः विधान किया गया है, ताकि आगे कहे जा रहे 'अण्' के द्वारा बाध न हो। सहस्र शब्द से 'ठन्' का भी बाध होता है।

(2124) अण् च *103* (1910)

तपःसहस्राभ्यामणच प्रत्ययो भवति। तापसः। साहस्रः। योगविभाग उत्तरार्थो यथासंख्यार्थश्च। *अणप्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०)। ज्योत्स्ना विद्यते अस्मिन् पक्षे ज्यौत्स्नः पक्षः। तामिस्रः। कौण्डिनः। कौतपः। वैसर्पः। वैपादिकः।

अर्थ—तपस् तथा सहस्र शब्दों से 'अण्' होता है, मत्वर्थ में।

उदा० (1) तापसः
तपस् अण् सु—आदिवृद्धि।

(2) साहस्रः (पूर्ववत्)।

योगविभाग उत्तर शास्त्र के लिए तथा यथासंख्य नियम के लिए किया गया है।

अण् प्रकरणे०—ज्योत्स्ना आदि शब्दों से 'अण्' होता है—

(3) ज्यौत्स्नः
ज्योत्स्ना विद्यतेऽस्मिन्—अण्, आदिवृद्धि।

(4) तामिस्रः
तमिस्रा अण्।

(5) कौण्डिनः
कुण्डिन अण्।

(6) कौतपः
कुतप अण्।

(7) वैसर्पः
विसर्प अण्।

(8) वैयादिकः
व्यादिक अण्—ऐच् आगम।

(2125) सिकताशर्कराभ्यां च *104* (1911)

सिकताशर्कराभ्यामणप्रत्ययो भवति मत्वर्थे। सैकतो घटः। शार्करं मधु। अदेशे इहोदाहरणम्, देशे तु लुबिलचौ भविष्यतः।

अर्थ—सिकता तथा शर्करा शब्दों से 'अण्' होता है, मत्वर्थ में।

उदा० (1) सैकतः
सिकता अण्—आदिवृद्धि, सु।

(2) शार्करम् (मधु)
शर्करा अण् सु।
ये उदाहरण अदेश अर्थ में हैं। देश अर्थ में लुप् व इलच् होते हैं।

(2126) देशे लुबिलचौ च *105* (1912)

सिकताशर्कराभ्यां देशेऽभिधेये लुबिलचौ भवतः, चकारा-

दण् च मतुप् च । कस्य पुनरयं लुप् ? मतुबादीनामन्यतमस्य, विशेषाभावात् । सिकता अस्मिन् विद्यन्ते सिकता देशः । सिकतिलः । सैकतः । सिकतावान् । शर्करा देशः । शर्करिलः । शार्करः । शर्करावान् । देश इति किम् ? सैकतो घटः, शार्करं मधु ।

अर्थ—सिकता तथा शर्करा प्रातिपदिकों से लुप् तथा इलच् होते हैं, यदि 'देश' अर्थ वाच्य हो । चकार से 'अण्' होता है । पक्ष में 'मतुप्' भी होता है । तब लुप् किसका होगा ? विशेष का अभाव होने से 'मतुप्' आदि का लुप् होता है ।

उदा० (1) सिकतो देश:
सिकता अस्मिन् विद्यन्ते—प्रत्यय का लुक्,
सिकत सु—ह्रस्व ।

(2) सिकतिल:
इलच् हुआ ।

(3) सैकत:
सिकता अण् सु ।

(4) सिकतावान्
'मतुप्' हुआ ।

(5) शर्करिल:
'इलच्' हुआ ।

(6) शार्कर:
शर्करा अण् ।

(7) शर्करावान्
'मतुप्' हुआ ।

देश इति० अर्थात् देश अभिधेय हो तो लुप् व इलच् होते हैं—

(8) सैकत:
'अण्' हुआ है ।

(9) शार्करम्
'अण्' हुआ है ।

(2127) दन्त उन्नत उरच् *106* (1913)

उन्नत इति प्रकृतिविशेषणम् । दन्तशब्दादुन्नतोपाधिकादुरच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । दन्ता उन्नता अस्य सन्ति दन्तुरः । उन्नत इति किम् ? दन्तवान् ।

अर्थ—'उन्नत' यह प्रकृतिविशेषण है । उन्नत अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ 'दन्त' शब्द से 'उरच्' होता है, मत्वर्थ में ।

उदा० (1) दन्तुरः
दन्ता उन्नता अस्य सन्ति—'उरच्' हुआ,
दन्तुर सु—विभक्तिकार्य ।

उन्नत० अर्थात् उन्नत अर्थ रहते 'उरच्' होता है—

(2) दन्तवान्
'उरच्' नहीं हुआ । 'मतुप्' हुआ ।

(2128) ऊषसुषिमुष्कमधो रः *107* (1914)

ऊष सुषि मुष्क मधु–इत्येतेभ्यो रः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । ऊषरं क्षेत्रम् । सुषिरं काष्ठम् । मुष्करः पशुः । मधुरो गुडः । इतिकरणो विवक्षार्थः सर्वत्राभिधेयनियमं करोति, इह न भवति-ऊषोऽस्मिन् घटे विद्यते, मध्वस्मिन् घटे विद्यते (म०भा०) इति । *रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०) । खमस्यास्तीति कण्ठविवरं महत्–खरः । मुखमस्यास्तीति सर्वस्मिन् वक्तव्ये मुखरः । कुञ्जावस्य स्तः-कुञ्जरः । हस्तिहनू कुञ्जशब्देनोच्यते । *नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०) । नगरम् । पांसुरम् । पाण्डुरम् । *कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च* । कच्छुरम् ।

अर्थ—मत्वर्थ में ऊष, सुषि, मुष्क तथा मधु शब्दों से 'र' होता है ।

उदा० (1) ऊषरम् (क्षेत्रम्)
ऊष र सु ।

(2) सुषिरम् (काष्ठम्)
'र' हुआ ।

(3) मुष्कर:
'र' हुआ ।

(4) मधुरः (पूर्ववत्) ।

इतिकरण विवक्षा के लिए है । सर्वत्र अभिधेय नियम को करता है । यहाँ प्रत्यय नहीं होता है—

ऊषोऽस्मिन् घटे विद्यते,
मध्वस्मिन् घटे विद्यते ।

रप्रक०—ख, मुख तथा कुंज शब्दों से 'र' होता है—

(5) खर:
खमस्याऽस्ति—'र' हुआ ।

(6) मुखरः
मुखमस्याऽस्तीति सर्वस्मिन् वक्तव्ये—'र' हुआ।

(7) कुञ्जरः
कुञ्जावस्य स्तः।
हाथी की ठोड़ी को 'कुञ्ज' कहा जाता है।

नगपांसु०—नग, पांसु तथा पाण्डु शब्दों से 'र' होता है—

(8) नगरम्
'र' हुआ।

(9) पांसुरम्
पांसु र सु।

(10) पाण्डुरम्
पाण्डु र सु।

कच्छ्वा०—कच्छू शब्द से 'र' होता है तथा ह्रस्वादेश होता है—

(11) कच्छुरम्
कच्छु र सु।

(2129) द्युद्रुभ्यां मः *108* (1915)

द्युद्रुशब्दाभ्यां मः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। द्युमः। द्रुमः। रूढिशब्दावेतौ। रूढिषु च न पुनर्मतुब्विकल्प्यते।

अर्थ—द्यु तथा द्रु शब्दों से 'म' होता है, मत्वर्थ में।

उदा० (1) द्युमः
द्यु म सु।

(2) द्रुमः (पूर्ववत्)।

ये रूढि शब्द हैं। रूढि में मतुप् का विकल्प नहीं होता।

(2130) केशाद्वोऽन्यतरस्याम् *109* (1916)

केशशब्दाद्वः प्रत्ययो भवति मत्वर्थेऽन्यतरस्यां। ननु च प्रकृतमन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्तते एव? मतुप्समुच्चयार्थं तदित्युक्तम्, अनेन त्विनिठनौ प्राप्येते। ततश्चातूरूप्यं भवति-केशवः, केशी, केशिकः, केशवानिति। *वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। मणिवः। हिरण्यवः। कुररावः। कुमारवः। राजीवम्। कुञ्जावः। इष्टकावः। *अर्णसो लोपश्च*। अर्णवः। *छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ* (म०भा०)। वश्च मतुप् च। रथीरभून्मुद्गलानी गविष्ठौ (ऋ० 10.102.2)। सुमङ्गलीरियं वधूः (ऋ० 10.85.33)। वनिप्–मघवानमीमहे (ऋ० 10.167.2)। वकारमतुपौ च–उद्वा च उद्वती च। *मेधाररथाभ्यामिरन्निरचौ वक्तव्यौ* (म०भा०)। मेधिरः (ऋ० 1.31.2)। रथिरः (ऋ० 3.1.17)।

अर्थ—'केश' प्रातिपदिक से 'व' प्रत्यय विकल्प से होता है, मत्वर्थ में। यद्यपि 'अन्यतरस्याम्' पद का यहाँ अनुवर्त्तन है, तथापि 'मतुप्' के ग्रहण के लिए यह कहा गया है। इससे 'इनि' और 'ठन्' प्राप्त होते हैं। तब चार रूप बनते हैं।

उदा० (1) केशवः
केश व—'व' हुआ।
केशव सु—विभक्तिकार्य।

(2) केशवान्
केश मतुप् सु।

(3) केशी
केश इनि—विभक्तिकार्य।

(4) केशिकः
केश ठन् सु।

वप्रकरणेऽ०—अन्य शब्दों से भी 'व' देखा जाता है—

(5) मणिवः
मणि व सु।

(6) हिरण्यवः (पूर्ववत्)।
(7) कुररावः (पूर्ववत्)।
(8) कुमारवः (पूर्ववत्)।
(9) राजीवम् (पूर्ववत्)।
(10) कुञ्जावः (पूर्ववत्)।
(11) इष्टकावः (पूर्ववत्)।

अर्णसो०—अर्णस् प्रातिपदिक से 'व' प्रत्यय होता है तथा इसका लोप होता है—

(12) अर्णवः
अर्णस् व सु—अन्त्य लोप हुआ।

छन्दसी वनि०—वेद के विषय में 'ई' तथा 'वनिप्' होते हैं। 'व' तथा 'मतुप्' भी होते हैं—

(13) रथीः (ऋ०10.102.2)
रथ ई सु।

(14) सुमङ्गली (ऋ०10.85.33)
सुमङ्गल ई सु।

(15) मघवानम् (ऋ॰10.167.2)
मघ वनिप् अम्।

(16) उद्वा
उद् व—रूप बनता है।

(17) उद्वती
उद् मतुप्—'मतुप्' हुआ,
उद्वत् ङीप् सु—रूप बना।

मेधारथा॰—मेधा तथा रथ शब्दों से 'इरन्' व 'इरच्' यथासंख्य करके होते हैं—

(18) मेधिरः
मेधा इरन् सु।

(19) रथिरः
रथ इरच् सु।

(2131) गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम् *110* (1917)

गाण्डी अजग-इत्येताभ्यां वः प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये मत्वर्थे। गाण्डीवं धनुः। अजगवं धनुः। ह्रस्वादपि भवति-गाण्डिवं धनुरिति। तत्र तुल्या हि संहिता दीर्घह्रस्वयोः। उभयथा च सूत्रं प्रणीतम्।

अर्थ—संज्ञा गम्यमान हो तो गाण्डी तथा अजग प्रातिपदिकों से 'व' प्रत्यय होता है, मत्वर्थ में।

उदा॰ (1) गाण्डीवम् (धनुः)
गाण्डी व—पूर्ववत्,
गाण्डीव सु—विभक्तिकार्य।

(2) अजगवम् (धनुः)
पूर्ववत् 'व' तथा 'सु'।

ह्रस्व से भी होता है—

(3) गाण्डिवम्

ह्रस्व हो अथवा दीर्घ, संहिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सूत्र का पदच्छेद दोनों प्रकार से सम्भव है।

(2132) काण्डाण्डादीरन्नीरचौ *111* (1918)

काण्ड, अण्ड-इत्येताभ्यां यथासंख्यमीरन्नीरचौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे। काण्डीरः। अण्डीरः।

अर्थ—काण्ड तथा अण्ड प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'ईरन्' तथा 'ईरच्' प्रत्यय होते हैं, मत्वर्थ में।

उदा॰ (1) काण्डीरः
काण्ड ईरन्—प्रत्यय,
काण्डीर सु—विभक्तिकार्य।

(2) अण्डीरः
अण्ड ईरच् सु।

(2133) रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् *112* (1919)

रजःप्रभृतिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। रजस्वला स्त्री। कृषीबलः कुटुम्बी। आसुतीबलः शौण्डिकः। परिषद्वलो राजा। बल (6.3.118) इति दीर्घत्वम्। इतिकरणो विषयनियमार्थः सर्वत्र सम्बध्यते, तेनेह न भवति-रजोऽस्मिन् ग्रामे विद्यते इति। *वलच्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम्* (म॰भा॰)। भ्रातृवलः। पुत्रवलः। उत्साहवलः।

अर्थ—मत्वर्थ में रजस्, कृषि, आसुति तथा परिषद् शब्दों से 'वलच्' होता है।

उदा॰ (1) रजस्वला स्त्री
रजस् वलच्—'वलच्' हुआ,
रजस्वल टाप् सु—टाप्, विभक्तिकार्य।

(2) कृषीवलः
'वलच्' हुआ।

(3) आसुतीवलः
पूर्ववत् 'वलच्'।

(4) परिषद्वलः
'वलच्' हुआ।

'वलः' इससे दीर्घादेश होता है। इतिकरण विषय के नियम के लिए है तथा सर्वत्र इसका सम्बन्ध है। अतः निम्नलिखित स्थल पर 'वलच्' नहीं होता है—

रजोऽस्मिन् ग्रामे विद्यते।

वलच् प्रक॰—सूत्रोक्त से अतिरिक्त स्थलों पर भी 'वलच्' प्रत्यय देखा जाता है—

(5) भ्रातृवलः (पूर्ववत्)।
(6) पुत्रवलः (पूर्ववत्)।
(7) उत्साहवलः (पूर्ववत्)।

(2134) दन्तशिखात् संज्ञायाम् *113* (1920)

दन्त, शिखाशब्दाभ्यां वलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे संज्ञायां विषये। दन्तावलः सैन्यः। दन्तावलो गजः। शिखावलं नगरम्। शिखावला स्थूणा।

अर्थ—संज्ञा के विषय में दन्त तथा शिखा प्रातिपदिकों से 'वलच्' होता है, मत्वर्थ में।

उदा० (1) दन्तावलः
दन्त वलच् सु—दीर्घत्व, विभक्तिकार्य।

(2) शिखावलम् (नगरम्)
शिखा वलच् सु।

(3) शिखवला स्थूणा
शिखावल—'वलच्' हुआ,
शिखावल टाप् सु—'टाप्' हुआ।

(2135) ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः *114* (1921)

ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे संज्ञायां विषये। ज्योतिषः उपधालोपो नश्च प्रत्ययो निपात्यते–ज्योत्स्ना चन्द्रप्रभा। तमस उपधाया इकारो रश्च–तमिस्रा रात्रिः। स्त्रीत्वमतन्त्रम्, अन्यत्रापि दृश्यते–तमिस्रं नभः। शृङ्गादिनच् प्रत्ययो निपात्यते–शृङ्गिणः। ऊर्जोऽसुगागमो निपात्यते विनिवलचौ च प्रत्ययौ–ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः। गोर्मिनिप्रत्ययो निपात्यते–गोमी। मलशब्दादिनजीमसचौ प्रत्ययौ निपात्येते–मलिनः, मलीमसः।

अर्थ—संज्ञा के विषय में तथा मत्वर्थ में ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृङ्गिण, ऊर्जस्विन्, ऊर्जस्वल, गोमिन्, मलिन तथा मलीमस—इन शब्दों का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) ज्योत्स्ना
ज्योतिष् शब्द की उपधा का लोप तथा उससे 'न' प्रत्यय निपातन से होते हैं—
ज्योत्स् न टाप् सु

(2) तमिस्रा
तमस् शब्द की उपधा के स्थान पर इकार व 'र' प्रत्यय निपातन से होते हैं—
तमिस् र टाप् सु।
'तमिस्रा' शब्द का स्त्रीत्व अयुक्त है। यह अन्य लिङ्ग में भी देखा जाता है—

(3) तमिस्रम् (नभः)

(4) शृङ्गिणः
शृङ्ग शब्द से 'इनच्' प्रत्यय का निपातन किया जाता है—
शृङ्ग इन सु—णत्व आदि।

(5) ऊर्जस्वी
ऊर्ज् शब्द से 'विनि' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'असुक्' आगम निपातन से होते हैं—
ऊर्ज् असुक् विनि—अनुबन्ध लोप,
ऊर्जस्विन् सु—विभक्तिकार्य।

(6) ऊर्जस्वलः।
'असुक्' आगम तथा 'वलच्' प्रत्यय निपातन से होते हैं।

(7) गोमी
गो मिनि—निपातन से 'मिनि' हुआ,
गोमिन् सु—विभक्तिकार्य।

(8) मलिनः
मल इलच्—निपातन से 'इलच्' हुआ।

(9) मलीमसः
मल ईमसच् सु—निपातन से 'ईमसच्' हुआ।

(2136) अत इनिठनौ *115* (1922)

अकारान्तात्प्रातिपदिकादिनिठनौ प्रत्ययौ भवतः। दण्डी। दण्डिकः। छत्री। छत्रिकः। अन्यतरस्यामित्यधिकारान्मतुबपि भवति–दण्डवान्, छत्रवान्। तपरकरणं किम्? खट्वावान्।

एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ।
(म०भा०)

एकाक्षरात्तावात्–स्ववान्, खवान्। कृतः–कारकवान्। जातेः–व्याघ्रवान्, सिंहवान्। सप्तम्याम्–दण्डा अस्यां सन्ति दण्डवती शालेति। इतिकरणो विषयनियमार्थः सर्वत्र सम्बध्यत इत्युक्तम्, तेन क्वचिद्भवत्यपि–कार्यी, हार्यी, तण्डुली, तण्डुलिक इति।

अर्थ—मत्वर्थ में अकारान्त प्रातिपदिक से 'इनि' व 'ठन्' होते हैं—

उदा० (1) दण्डी
दण्डोऽस्यास्ति → दण्ड इनि—
दण्डिन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) दण्डिकः
दण्ड ठन् सु।

(3) छत्री
छत्र इन् सु।

(4) छत्रिकः
छत्र ठन् सु।

'अन्यतरस्याम्' के अधिकार से 'मतुप्' भी होता है—

(5) दण्डवान्
दण्ड मतुप् सु।

(6) छत्रवान्
'मतुप्' हुआ।

तपर०—'अतः' में तपर तत्काल के ज्ञान के लिए किया गया है। तब निम्नलिखित में नहीं होता है—

(7) खट्वावान्
खट्वा मतुप् सु।

एकाक्षरात्०—एकाक्षर, कृत् प्रत्ययान्त, जातिवाची तथा सप्तमी के अर्थ में अकारान्त प्रातिपदिक से 'इनि' तथा 'ठन्' नहीं होते हैं—

(क) एकाक्षरात्—
(8) स्ववान्
स्व मतुप् सु।
(9) खवान् (पूर्ववत्)।

(ख) कृतः—
(10) कारकवान्
कृ ण्वुल् → कारक मतुप् सु।

(ग) जातेः—
(11) व्याघ्रवान्
'मतुप्' हुआ।
(12) सिंहवान् (पूर्ववत्)।

(घ) सप्तम्याम्—
(13) दण्डवती शाला
दण्डा अस्यां सन्ति—मतुप्, ङीप्, सु।

इतिकरण विषय के नियम के लिए है। इसका सर्वत्र सम्बन्ध है। ऐसा कहा गया है। अतः कहीं-कहीं होता भी है—

(14) कार्यी
कार्य इनि।

(15) हार्यी
हार्य इनि।

(16) तण्डुली
तण्डुल इनि।

(17) तण्डुलिकः
तण्डुल ठन्।

(2137) व्रीह्यादिभ्यश्च *116* (1923)

व्रीह्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इनिठनौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे। मतुब्भवत्येव। व्रीही। व्रीहिकः। व्रीहिमान्। मायी। मायिकः। मायावान्। न च व्रीह्यादिभ्यः सर्वेभ्यः प्रत्ययद्वयमिष्यते, किं तर्हि ? शिखादिभ्य इनिर्वाच्यः, इकन्यवखादिषु (म०भा०), परिशिष्टेभ्य उभयकम्। शिखा। मेखला। संज्ञा। बलाका। माला। वीणा। वडवा। अष्टका। पताका। कर्मन्। चर्मन्। हंसा–इत्येतेभ्य इनिरेवेष्यते। यवखद, कुमारी, नौ–इत्येतेभ्य इकन्नेवेष्यते। परिशिष्टेभ्यो द्वावपि प्रत्ययौ भवतः। व्रीहिग्रहणं किमर्थम्, यावता तुन्दादिषु व्रीहिशब्दः पठ्यते, तत्र इनिठनौ चकारेण विधीयेते ? एवं तर्हि तुन्दादिषु व्रीहिग्रहणमर्थग्रहणं विज्ञायते। शालयोऽस्य सन्ति शालिलः। शाली। शालिकः। शालिमान् इति। व्रीहिशिखादयः पूर्वं पठिताः। यवखद। कुमारी। नौ। *शीर्षान्नञः* (ग०सू० 132)। अशीर्षी। अशीर्षिकः। व्रीह्यादिः।

अर्थ—मत्वर्थ में व्रीहि आदि प्रातिपदिकों से 'इनि' व 'ठन्' होते हैं। 'मतुप्' भी होता है।

उदा० (1) व्रीही
व्रीहि इनि सु।

(2) व्रीहिकः
व्रीहि ठन् सु।

(3) व्रीहिमान्
व्रीहि मतुप् सु।

(4) मायी
माया इनि।

(5) मायिकः
माया ठन्।

(6) मायावान्
माया मतुप्।

न च०—व्रीहि आदि सभी प्रातिपदिकों से दोनों प्रत्यय नहीं होते हैं। शिखा आदि से 'इनि' कहना चाहिए तथा यव व खद आदि से 'इकन्' कहना चाहिए। शेष शब्दों से दोनों प्रत्यय होते हैं। निम्नलिखित से केवल 'इनि' होता है—

(7) शिखी, (8) मेखली, (9) सञ्ज्ञी, (10) बलाकी, (11) माली, (12) वीणी, (13) वडवी, (14) अष्टकी, (15) पताकी, (16) कर्मी, (17) चर्मी, (18) हंसी।

निम्नलिखित में 'इकन्' ही होता है—

(19) यविकः,(20) खदिकः, (21) कुमारिकः, (22) नाविकः।

व्रीहिग्रहण०—व्रीहि आदि से ही ये प्रत्यय होते हैं। तुन्द आदि शब्दों में व्रीहि शब्द का पाठ है। वहाँ चकार के द्वारा 'इनि' व 'ठन्' प्रत्ययों का विधान किया जाता है। इस प्रकार तुन्द आदि शब्दों में व्रीहि का ग्रहण होने से अर्थ का ग्रहण होता है—

(23) शालिनः
शालयोऽस्य सन्ति—'इनि' हुआ।

(24) शाली
शाल इन् सु।

(25) शालिकः
शाल ठन् सु।

(26) शालिमान्
'मतुप्' हुआ।
व्रीहि और शिखा आदियों का पहले ही पाठ है।

शीर्षान्नञः—नञ् पूर्वक शीर्ष शब्द से 'इनि' व 'ठन्' होते हैं—

(27) अशीर्षी
'इनि' हुआ।

(28) अशीर्षिकः
'ठन्' हुआ।

(2138) तुन्दादिभ्य इलच्च *117* (1924)

तुन्दादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे, चकारादिनिठनौ मतुप् च। तुन्दिलः। तुन्दी। तुन्दिकः। तुन्दवान्। उदरिलः। उदरी। उदरिकः। उदरवान्। तुन्द। उदर। पिचण्ड। घट। यव। व्रीहि। *स्वाङ्गाद्विवृद्धौ च* (ग०सू० 133)–तुन्दादिः।

अर्थ—तुन्द आदि प्रातिपदिकों से 'इलच्' होता है, मत्वर्थ में। चकार से इनि, ठन् तथा मतुप् भी होते हैं।

उदा० (1) तुन्दिलः
तुन्द इलच् सु।

(2) तुन्दी
तुन्द इनि सु।

(3) तुन्दिकः
तुन्द ठन् सु।

(4) तुन्दवान्
तुन्द मतुप् सु।

(5) उदरिलः
उदर इलच्।

(6) उदरी
उदर इनि।

(7) उदरिकः
उदर ठन्।

(8) उदरवान्
'मतुप्' हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2139) एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम् *118* (1925)

एकपूर्वाद्गोपूर्वाच्च प्रातिपदिकान्नित्यं ठञ् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। एकशतमस्यास्तीति ऐकशतिकः। ऐकसहस्रिकः। गोपूर्वात्–गौशतिकः, गौसहस्रिकः। अत इत्येव, एकविंशतिरस्यास्तीति न भवति। कथमैकगविकः? समासान्ते कृते भविष्यति। कथं गौशकटिकः? शकटीशब्देन समानार्थः शकटशब्दोऽस्ति ततो भविष्यति। अवश्यं चात इत्युनवर्त्यम् द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात् (5.2.128) इत्येवमाद्यर्थम्। नित्यग्रहणं मतुपो बाधनार्थम्। कथमेकद्रव्यवत्त्वादिति? नैवायं साधुः, एकेन वा द्रव्यवत्वादिति समर्थनीयम्।

अर्थ—'एक' शब्द है पूर्व में जिसके तथा 'गो' शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से नित्य 'ठञ्' होता है, मत्वर्थ में।

उदा० (1) ऐकशतिकः
एकशतमस्याऽस्ति—ठस्येकः, आदिवृद्धि।

(2) ऐकसहस्रिकः
पूर्ववत् 'ठञ्'।

(3) गौशतिकः (पूर्ववत्)।
(4) गौसहस्रिकः (पूर्ववत्)।

'अतः' का अनुवर्त्तन होने से निम्नलिखित में नहीं होता है—
एकविंशतिरस्याऽस्तीति।

(5) ऐकगविकः
समासान्त करके प्रत्यय हुआ है।

(6) गौशकटिकः
शकटी शब्द का समानार्थक शकट शब्द है। इससे प्रत्यय होता है। 'अतः' का अनुवर्त्तन अवश्य करना चाहिए। द्वन्द्व, उपताप तथा गर्ह्य से—इन सभी के लिए।

'मतुप्' के बाध के लिए 'नित्य' पद का ग्रहण है। एक द्रव्य वाला होने से। यह उचित नहीं है।

(2140) शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् *119* (1926)

शतान्तात् सहस्रान्ताच्च प्रातिपदिकाठ्ठञ् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे, तौ चेच्छतसहस्रशब्दौ निष्कात् परौ भवतः। निष्कशतमस्यास्ति नैष्कशतिकः। नैष्कसहस्रिकः। सुवर्णनिष्कशतमस्यास्तीत्यनभिधानान्न भवति।

अर्थ—'शत' शब्द है अन्त में जिसके तथा 'सहस्र' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'ठञ्' होता है, यदि 'शत' व 'सहस्र' शब्द 'निष्क' शब्द से परे हो।

उदा० (1) नैष्कशतिकः
निष्कशतमस्याऽस्ति—ठञ्, आदिवृद्धि।
(2) नैष्कसहस्रिकः (पूर्ववत्)।

कथन न होने से निम्नलिखित में प्रत्यय नहीं होता है—
सुवर्णशतमस्याऽस्तीति।

(2141) रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् *120* (1927)

आहतप्रशंसे प्रकृत्युपाधी, आहतप्रशंसाविशिष्टार्थे वर्त्तमानाद् रूपशब्दाद्यप्प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः। रूप्यः केदारः। रूप्यं कार्षापणम्। प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यः पुरुषः। निघातिकाताडनादिना दीनारादिषु रूपं यदुत्पद्यते तदाहतमित्युच्यते। आहतप्रशंसयोरिति किम्? रूपवान्। *यप्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। हिम्याः पर्वताः। गुण्या ब्राह्मणाः।

अर्थ—आहत और प्रशंसा क्रमशः प्रकृति और उपाधि हैं। मत्वर्थ में आहत और प्रशंसा अर्थों में वर्त्तमान 'रूप' प्रातिपदिक से 'यप्' होता है। आहत = मुद्रा जो साँचे में ढालकर बनाई गई है।

उदा० (1) रूप्यः दीनारः
आहतं रूपमस्य—रूप यप्, सु।

(2) रूप्यः केदारः (पूर्ववत्)।
(3) रूप्यं कार्षापणम् (पूर्ववत्)।

यप्प्रकरणे०—अन्य शब्दों से भी 'यप्' दृष्टिगोचर होता है—
(4) हिम्याः पर्वताः
हिम यप् जस्।

(5) गुण्या ब्राह्मणाः (पूर्ववत्)।

(2142) अस्मायामेधास्रजो विनिः *121* (1928)

असन्तात्प्रातिपदिकान्माया, मेधा, स्रज्–इत्येतेभ्यश्च विनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। मतुप् सर्वत्र समुच्चीयत एव। असन्तात्तावत्–पयस्वी। यशस्वी। मायावी। मेधावी। स्रग्वी। मायाशब्दाद् व्रीह्यादिषु पाठादिनिठनावपि भवतः–मायी, मायिकः।

अर्थ—'अस्' अन्त वाले शब्द से तथा मेधा व स्रज् शब्दों से 'विनि' प्रत्यय विकल्प से होता है, मत्वर्थ में। सर्वत्र पक्ष में 'मतुप्' भी होता है।

उदा० (1) पयस्वी
पयोऽस्यास्ति → पयस् विनि—
पयस्विन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) यशस्वी (पूर्ववत्)।
(3) मायावी (पूर्ववत्)।
(4) मेधावी (पूर्ववत्)।
(5) स्रग्वी (पूर्ववत्)।

पक्ष में सर्वत्र मतुप् भी होता है—
(6) पयस्वान्।
(7) यशस्वान्।
(8) मायावान्।

(9) मायी
'इनि' हुआ।

(10) मायिकः
व्रीह्यादिगण में पाठ होने से 'ठन्' हुआ।

(11) मेधावान्।

(12) स्रग्वान्।

मायाशब्दाद्—माया शब्द का व्रीह्यादि गण में पाठ है। अतः माया शब्द से 'इनी' व 'ठन्' भी होते हैं।

उदाहरण पीछे देखें।

(2143) बहुलं छन्दसि *122* (3498)

छन्दसि विषये बहुलं विनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। अग्ने तेजस्विन् (तै०सं० 3.3.11)। न भवति-सूर्यो वर्चस्वान्। *छन्दसि विनिप्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घत्वं चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। अष्ट्रावी (ऋ० 10.10.2.8)। मेखलावी। द्वयावी (अ०प्रा० 3.4.1)। उभयावी (ऋ० 5.7.10)। रुजावी। हृदयावी। द्वयोभयहृदयानि दीर्घत्वं प्रयोजयन्ति। *मर्मणश्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। मर्मावी। *सर्वत्रामयस्योपसंख्यानम्* (म०भा०)। छन्दसि भाषायां च। आमयावी (तै० सं० 3.2.3)। *शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन् वक्तव्यः* (म० भा०)। शृङ्गारकः। वृन्दारकः (शत० 14.6. 11. 1)। *फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः* (म०भा०)। फलिनः। बर्हिणः। *हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्* (म०भा)। हृदयालुः। हृदयी। हृदयिकः। हृदयवान्। *शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुज् वक्तव्यः* (म०भा०)। शीतं न सहते शीतालुः। उष्णालुः। तृप्रालुः। *तन्न सहत इति हिमाच्चेलुः* (म०भा०)। हिमं न सहते हिमेलुः। *बलादूलच्* (म०भा०। बलं न सहते बलूलः। *वातात्समूहे च* (म०भा०)। *वातं न सहत इति च*। वातानां समूहः, वातं न सहत इति वा वातूलः। पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः* (म०भा०)। पर्वतः (मै०सं० 4.12.5)। मरुत्तः (ऐ०ब्रा० 39.7)। *अर्थात्तदभावे इनिर्वक्तव्यः*। अर्थी। तदभाव इत्येव-अर्थवान्। तदेतत्सर्वं बहुलग्रहणेन सम्पद्यते।

अर्थ—वेद के विषय में मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्यय बहुलता से होता है—

उदा० (1) तेजस्विन्
तेजस् विनि—प्रत्यय हुआ।
यह सम्बुद्धि का रूप है।

(2) वर्चस्वान्
वर्चस् मतुप्—'विनि' नहीं हुआ।

छन्दसि विनि०—वेद में अष्ट्रा, मेखला, द्वय, उभय, रुजा तथा हृदय शब्दों से 'विनि' प्रत्यय तथा प्रकृति को दीर्घादेश होता है—

(3) अष्ट्रावी
अष्ट्रा विनि सु।

(4) मेखलावी
मेखला विनि सु।

(5) द्वयावी
द्वय विनि सु।

(6) उभयावी
उभय विनि सु।

(7) रुजावी
रुजा विनि सु।

(8) हृदयावी (पूर्ववत्)।

प्रकृत वचन द्वय, उभय तथा हृदय शब्दों से दीर्घादेश के लिए है। शेष शब्दों से दीर्घादेश की आवश्यकता ही नहीं है।

मर्मणश्चेति—मर्मन् शब्द को दीर्घादेश होता है—

(9) मर्मावी
मर्मन् विनि—नकारलोप, दीर्घादेश,
ममा विन् सु—विभक्तिकार्य।

सर्वत्रामय०—लोक तथा वेद दोनों में 'आमय' शब्द से 'विनि' प्रत्यय होता है तथा दीर्घादेश होता है—

(10) आमयावी
आमय विन् सु—दीर्घादेश।

शृङ्गवृन्दा०—शृंग तथा वृन्द शब्दों से 'आरकन्' होता है—

(11) शृङ्गारकः
शृङ्ग आरकन् सु—हलन्त्यम्।

(12) वृन्दारकः (पूर्ववत्)।

फलबर्हा०—फल तथा बर्ह शब्दों से 'इनच्' होता है—

(13) फलिनः
फल इनच् → फलिन सु ।

(14) बर्हिणः
बर्ह इनच् सु—णत्व ।

हृदयाच्चा०—हृदय शब्द से 'आलु' विकल्प से होता है। तब पक्ष में इनि, ठन् तथा मतुप् भी होते हैं।

(15) हृदयालुः
हृदय आलु—प्रत्यय हुआ,
हृदयालु सु—विभक्तिकार्य ।

(16) हृदयी
हृदय इनि सु ।

(17) हृदयिकः
हृदय ठन् सु ।

(18) हृदयवान्
हृदय मतुप् सु ।

शीतोष्ण०—शीत, उष्ण तथा तृप्र शब्दों से 'आलुच्' प्रत्यय होता है, 'न सहते' इस अर्थ में।

(19) शीतालुः
शीतं न सहते—'आलुच्' हुआ,
शीत आलु सु—विभक्तिकार्य ।

(20) उष्णालुः (पूर्ववत्) ।
(21) तृप्रालुः (पूर्ववत्) ।

तत्र सहत०—'तत्र सहते' इस अर्थ में 'हिम' शब्द से 'चेलु' होता है—

(22) हिमेलुः
हिमं न सहते—चेलु, चुटू से चकार की इत्संज्ञा,
हिमेलु सु—विभक्तिकार्य ।

बलाच्चो०—बल शब्द से 'ऊलच्' होता है—

(23) बलूलः
बलं न सहते—पूर्ववत्,
बल ऊलच् सु—विभक्तिकार्य ।

वातात्०—'तत्र सहते' तथा 'समूह'—इन अर्थों में 'ऊलच्' होता है—

(24) वातूलः
वातं न सहते } वात ऊलच् सु ।
वातानां समूहः

तप् पर्व०—'पर्व' तथा 'मरुत्' शब्दों से 'तप्' होता है—

(25) पर्वतः
पर्व तप्—'तप्' हुआ,
पर्वतः सु—पूर्ववत् ।

(26) मरुत्तः
मरूत् तप् सु ।

अर्थात्तद०—'तदभाव' अर्थ में 'अर्थ' से 'इनि' होता है—

(27) अर्थी
अर्थ इनि सु ।

अन्यत्र 'इनि' नहीं होता, 'मतुप्' होता है—

(28) अर्थवान्
'बहुलम्' का पाठ होने से यह प्राप्त होता है।

(2144) ऊर्णाया युस् *123* (1929)

ऊर्णाशब्दाद्युस् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। सकारः पदसंज्ञार्थः। ऊर्णाऽस्य विद्यते ऊर्णायुः (वा०सं० 13.50)। केचिच्छन्दोग्रहणमनुवर्तयन्ति ।

अर्थ—ऊर्णा शब्द से 'युस्' प्रत्यय होता है मत्वर्थ में। पदसंज्ञा करने के लिए 'स्' अनुबन्ध है।

उदा० (1) ऊर्णायुः
ऊर्णा युस्—'सु' आदि होकर।
कुछ विद्वान् 'छन्दसि' का अनुवर्त्तन मानते हैं।

(2145) वाचो ग्मिनिः *124* (1930)

वाच्शब्दात् ग्मिनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। वाग्ग्मी। वाग्ग्मिनौ। वाग्ग्मिनः ।

अर्थ—मत्वर्थ में 'वाच्' शब्द से 'ग्मिनि' होता है। नकारोत्तरवर्ती इकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) वाग्ग्मी
प्रशस्ता वाग् विद्यतेऽस्य → वाच् ग्मिनि—
वाक् ग्मिन्—चोः कुः,
वाग् ग्मिन्—झलां जशोऽन्ते,
वाग्ग्मी—विभक्तिकार्य ।

वाग् ग्मिन्—इस दशा में हल् (प्रथम गकार) से परे झर् (द्वितीय गकार) है; परन्तु उससे परे झर् नहीं है। अतः 'झरो झरि सवर्णे' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

इसी प्रकार झर् (प्रथम गकार) से परे झर् (द्वितीय गकार) है; परन्तु प्रथम गकार से पूर्व हल् नहीं है। अतः प्रथम गकार का लोप भी नहीं होता है।

इस प्रकार दो गकारवान् रूप सिद्ध होता है। (द्र०—शि०2.27)

परन्तु काशिकाकार ने एक गकारवान् (वाग्मी) रूप दिखाया है। कुछ विद्वान् इसकी साधुता सूत्र का प्रकारान्तर से पदच्छेद करके इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं—

वाचो ग् मिनिः अर्थात् वाच् शब्द को गकार अन्तादेश तथा मिनि प्रत्यय होता है। तब वाच् मिनि—वाग् मिनि इस दशा में 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से प्राप्त अनुनासिकत्व की प्राप्ति अन्तादेश के सामर्थ्य से नहीं होती है। इस प्रकार एक गकारवान् 'वाग्मी' रूप सिद्ध होता है।

(2146) आलजाटचौ बहुभाषिणि *125* (1931)

वाच्शब्दात् प्रथमासमर्थादालच्, आटच्–इत्येतौ भवतो मत्वर्थे बहुभाषिण्यभिधेये। ग्मिनेरपवादः। वाचालः। वाचाटः। *कुत्सित इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। यो हि सम्यग् बहु भाषते स वाग्ग्मीत्येव भवति (म०भा०)।

अर्थ—प्रथमा समर्थ 'वाच्' शब्द से 'आलच्' व 'आटच्' होते हैं, मत्वर्थ में तथा 'बहुभाषी' अभिधेय हो तो। यह 'ग्मिनि' का अपवाद है।

उदा० (1) वाचालः
वाच् आलच् सु।
(2) वाचाटः
वाच् आटच् सु।

कुत्सित इति०—निन्दा अर्थ में ये प्रत्यय होते हैं। जो अच्छी प्रकार से अधिक बोलता है, उसे 'वाग्मी' कहते हैं।

(2147) स्वामिन्नैश्वर्ये *126* (1932)

स्वामिन्निति निपात्यते ऐश्वर्ये गम्यमाने। स्वशब्दादैश्वर्य-वाचिनो मत्वर्थे आमिन् प्रत्ययो निपात्यते। स्वमस्यास्तीति-ऐश्वर्यमस्यास्तीति स्वामी। स्वामिनौ। स्वामिनः। ऐश्वर्य इति किम्? स्ववान्।

अर्थ—'ऐश्वर्य' अर्थ गम्यमान हो तो 'स्वामिन्' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) स्वामी
स्वम् अस्यास्ति → स्व आमिन्—
स्वामिन् सु—विभक्तिकार्य।

ऐश्वर्य० अर्थात् ऐश्वर्य गम्यमान हो तो प्रत्यय होता है—
(2) स्ववान्
'मतुप्' हुआ।

(2148) अर्शआदिभ्योऽच् *127* (1933)

अर्शस् इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। अर्शांसि अस्य विद्यन्ते अर्शसः। उरसः। आकृति-गणश्चायम्। यत्राभिन्नरूपेण शब्देन तद्वतोऽभिधानं तत्सर्वमिह द्रष्टव्यम्। अर्शस्। उरस्। तुन्द। पलित। जटा। घटा। अभ्र। कर्दम। आम। लवण। *स्वाङ्गाद्धीनात्* (ग०सू० 134)। *वर्णात्* (ग०सू० 135)–अर्शआदिः।

अर्थ—मत्वर्थ में अर्शस् आदि प्रातिपदिकों से अच्' प्रत्यय होता है। 'च्' की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) अर्शसः
अर्शांस्यस्य—अर्शस् अच् सु।
(2) उरसः
उरस् अच् सु।

यह एक आकृतिगण है। शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2149) द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः *128* (1934)

द्वन्द्वः समासः, उपतापो रोगः, गर्ह्यम् निन्द्यम्, तद्विषयेभ्यः शब्देभ्यः प्राणिस्थार्थवाचिभ्य इनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। द्वन्द्वात्तावत्–कटकवलयिनी, शङ्खनूपुरिणी। उपतापात्–कुष्ठी, किलासी। गर्ह्यात्–ककुदावर्त्ती, काकतालुकी। प्राणिस्था-दिति किम्? पुष्पफलवान् वृक्षः। *प्राण्यङ्गान्नेष्यते*। पाणि-पादवती। अत इत्यनुवर्त्तते, तेनेह न भवति–चित्रललाटिकावती। सिद्धे प्रत्यये पुनर्वचनं ठनादिबाधनार्थम्।

अर्थ—द्वन्द्व एक समास है। उपताप = रोग। गर्ह्य = निन्द्य। द्वन्द्वसमास, रोग तथा निन्दनीय अर्थों में वर्त्तमान तथा प्राणी में स्थित अदन्त शब्द से 'इनि' होता है, मत्वर्थ में।

उदा० (क) द्वन्द्वात्—
(1) कटकवलयिनी
कटकवलय इनि—स्त्रीत्व में 'ङीप्' हुआ,
कटकवलयिन् ङीप् सु—विभक्तिकार्य।

(2) शङ्खनूपुरिणी
पूर्ववत् 'इनि'।

(ख) उपतापात्—
(3) कुष्ठी
कुष्ठ इनि सु।

(4) किलासी (पूर्ववत्)।

(ग) गर्ह्यात्—
(5) ककुदावर्त्ती (पूर्ववत्)।
(6) काकतालुकी (पूर्ववत्)।

प्राण्यङ्गा० अर्थात् प्राणिस्थ अदन्त से ही प्रत्यय होता है—

(7) पुष्पफलवान्
यहाँ 'इनि' नहीं हुआ, 'मतुप्' हुआ।
प्राणी के अंगवाची से 'इनि' नहीं होता है—

(8) चित्रललाटिकावती
यहाँ 'इनि' नहीं हुआ, 'मतुप्' हुआ।

(9) पाणिपादवती
पूर्ववत् 'मतुप्'।

प्रत्यय के सिद्ध होने पर भी 'इनि' का पुनः विधान 'ठन्' आदि के बाध के लिए है।

(2150) वातातिसाराभ्यां कुक् च *129* (1935)

वातातिसारशब्दाभ्यामिनिः प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च तयोः कुगागमो भवति। वातातिसारयोरुपतापत्वात् पूर्वेणै-वेनिप्रत्यये सिद्धे कुगर्थमेवेदं वचनम्। वातकी। अति-सारकी। *पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। पिशा-चकी वैश्रवणः (म०भा०)। रोगे चायमिष्यते, इह न भवति-वातवती गुहेति।

अर्थ—मत्वर्थ में वात तथा अतिसार शब्दों से 'इनि' प्रत्यय होता है, तथा प्रकृति को 'कुक्' आगम होता है। 'वात' और 'अतिसार' के रोगवाची होने से पूर्वसूत्र के द्वारा प्रत्यय सिद्ध था। तब 'कुक्' आगम के लिए यह विधान है।

उदा० (1) वातकी
वात कुक् इनि सु—अनुबन्धलोप, विभक्ति कार्य।
(2) अतिसारकी (पूर्ववत्)।

पिशाचाच्चे०—पिशाच शब्द से 'इनि' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति को 'कुक्' आगम होता है।

(3) पिशाचकी
पिशाच कुक् इन् सु।

यह रोग अर्थ में ही होता है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता—
(4) वातवती गुहा
'इनि' नहीं हुआ, 'मतुप्' हुआ।

(2151) वयसि पूरणात् *130* (1936)

इनिरनुवर्त्तते। पूरणप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकादिनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे वयसि द्योत्ये। पञ्चमोऽस्यास्ति मासः संवत्सरो वा पञ्चमी उष्ट्रः। नवमी। दशमी। सिद्धे सति नियमार्थं वचनम्–इनिरेव भवति, ठन्न भवतीति। वयसीति किम्? पञ्चमवान् ग्रामरागः।

अर्थ—'इनि' का अनुवर्त्तन है। 'वय' अभिधेय हो तो पूरणप्रत्ययान्त शब्द से इनि' होता है, मत्वर्थ में।

उदा० (1) पञ्चमी
पञ्चमोऽस्याऽस्ति मासः संवत्सरो वा—'इनि' हुआ,
पञ्चमिन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) नवमी (पूर्ववत्)।
(3) दशमी (पूर्ववत्)।

पूर्वतः प्रत्यय के सिद्ध रहते नियम किया जा रहा है कि 'इनि' ही होता है; 'ठन्' नहीं होता है।

वयसीति०—वय वाच्य होने पर 'इनि' होता है—
(4) पञ्चमवान् ग्रामरागः
'इनि' नहीं हुआ। 'मतुप्' हुआ।

(2152) सुखादिभ्यश्च *131* (1937)

सुख इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इनिः प्रत्ययो नियम्यते मत्वर्थे। सुखी। दुःखी। माला क्षेप इति पठ्यते, व्रीह्यादिषु च मालाशब्दोऽस्ति, तदिह क्षेपे मतुब्बाधनार्थं वचनम्। सुख। दुःख। तृप्र। कृच्छ्र। आस्र। अलीक। करुणा। कृपण। सोढ। प्रमीप। शील। हल। *माला क्षेपे* (ग०सू० 136)। प्रणय–सुखादिः।

अर्थ—मत्वर्थ में सुख आदि प्रातिपदिकों से 'इनि' होता है। यह नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) सुखी
सुख इनि—'इनि' हुआ,
सुखिन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) दुःखी (पूर्ववत्)।

क्षेप अर्थ में माला शब्द से 'इनि' होता है। 'माला' शब्द का पाठ व्रीहि आदि में प्राप्त होता है; परन्तु सुखादिगण में 'माला' शब्द के पाठ का प्रयोजन यह है कि क्षेप अर्थ में 'मतुप्' का बाध हो जाय।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2153) धर्मशीलवर्णान्ताच्च *132* (1938)

अन्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। धर्माद्यन्तात् प्रातिपदिकादिनिः प्रत्ययो नियम्यते। ब्राह्मणानां धर्मो ब्राह्मणधर्मः, सोऽस्यास्तीति ब्राह्मणधर्मी। ब्राह्मणशीली। ब्राह्मणवर्णी।

अर्थ—'अन्त' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। धर्म, शील तथा वर्ण—ये शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'इनि' होता है, मत्वर्थ में। यह नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) ब्राह्मणधर्मी
ब्राह्मणधर्मोऽस्याऽस्ति—'इनि' हुआ,
ब्राह्मणधर्मिन् सु—रूप बना।
(2) ब्राह्मणशीली (पूर्ववत्)।
(3) ब्राह्मणवर्णी (पूर्ववत्)।

(2154) हस्ताज्जातौ *133* (1939)

हस्तशब्दादिनिः प्रत्ययो नियम्यते मत्वर्थे, समुदायेन चेज्जातिरभिधीयते। हस्तोऽस्यास्तीति हस्ती। हस्तिनौ। हस्तिनः। जाताविति किम्? हस्तवान् पुरुषः।

अर्थ—यदि 'जाति' अर्थ गम्यमान हो तो हस्त आदि प्रातिपदिकों से 'इनि' प्रत्यय होता है। यह नियम किया जा रहा है।

उदा० (1) हस्ती
हस्तोऽस्याऽस्ति—'इनि' हुआ,
हस्तिन् सु—विभक्तिकार्य।
(2) हस्तिनौ
प्रथमा द्विवचन में।
(3) हस्तिनः—हस्तिन् जस्।

जातावि०—जाति अर्थ गम्यमान रहते 'इनि' होता है—

(4) हस्तवान् पुरुषः
'इनि' नहीं हुआ। 'मतुप्' हुआ।

(2155) वर्णाद् ब्रह्मचारिणि *134* (1940)

वर्णशब्दादिनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे, समुदायेन चेद् ब्रह्मचारी भण्यते। ब्रह्मचारीति त्रैवर्णिकोऽभिप्रेतः। स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति, नियममासेवत इत्यर्थः। वर्णी। वर्णिनौ। वर्णिनः। ब्रह्मचारिणीति किम्? वर्णवान्। ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन उच्यन्ते।

अर्थ—'ब्रह्मचारी' अर्थ गम्यमान हो तो वर्ण शब्द से 'इनि' प्रत्यय होता है, मत्वर्थ में। ब्रह्मचारी त्रैवर्णिक इष्ट है। वह विद्याग्रहण के लिए उपनीत होकर ब्रह्म का आचरण करता है अर्थात् नियम का पालन करता है।

उदा० (1) वर्णी
वर्ण इनि → वर्णिन् सु।
(2) वर्णिनौ
वर्णिन औ—प्रथमा द्विवचन।
(3) वर्णिनः
वर्णिन् जस्—प्रथमा बहुवचन।

ब्रह्मचारि०—ब्रह्मचारी अर्थ गम्यमान हो तो 'इनि' होता है—

(4) वर्णवान्
वर्ण मतुप् सु—'इनि' नहीं हुआ।
ब्राह्मण आदि तीन वर्ण ही वर्णी कहलाते हैं।

(2156) पुष्करादिभ्यो देशे *135* (1941)

पुष्कर इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इनिः प्रत्ययो भवति समुदायेन चेद्देशोऽभिधीयते। पुष्करिणी। पद्मिनी। देश इति किम्? पुष्करवान् हस्ती। *इनिप्रकरणे बलाद्बाहूरूपूर्वादुपसंख्यानम्* (म० भा०)। बाहुबली। ऊरूबली। *सर्वादिश्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। सर्वधनी। सर्वबीजी। सर्वकेशी नटः। *अर्थाच्चासन्निहिते* (म० भा०)। अर्थी। असन्निहित इति किम्? अर्थवान्। *तदन्ताच्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। धान्यार्थी। हिरण्याऽर्थी। पुष्कर। पद्म। उत्पल। तमाल। कुमुद। नड। कपित्थ। विस। मृणाल। कर्दम। शालूक। विगर्ह। करीष। शिरीष। यवास। प्रवास। हिरण्य। कैरव। तरङ्ग। कल्लोल। वयस—पुष्करादिः।

अर्थ—यदि 'देश' अर्थ अभिधेय हो तो पुष्कर आदि प्रातिपदिकों से 'इनि' होता है।

उदा० (1) पुष्करिणी
पुष्कर इनि—पूर्ववत्,
पुष्करिन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) पद्मिनी (पूर्ववत्)।

देश इति०—देश अर्थ वाच्य हो तो 'इनि' होता है—

(3) पुष्करवान् हस्ती
'इनि' नहीं हुआ।

इनिप्रकरणे०—बाहु तथा ऊरु हैं पूर्वपद में जिसके, ऐसे 'बल' प्रातिपदिक से 'इनि' होता है।

(4) बाहुबली
बाहुबल इनि सु।

(5) ऊरुबली (पूर्ववत्)।

सर्वादि०—सर्व शब्द है आदि में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'इनि' होता है—

(6) सर्वधनी (पूर्ववत्)।
(7) सर्वबीजी (पूर्ववत्)।
(8) सर्वकेशी (पूर्ववत्)।

अर्थाच्चा०—सन्निहित से अतिरिक्त अर्थ में अर्थ शब्द से 'इनि' होता है—

(9) अर्थी (पूर्ववत्)।

आसन्निहित०—सन्निहित से अतिरिक्त अर्थ में ही प्रत्यय होता है—

(10) अर्थवान्
'इनि' नहीं हुआ।

तदन्ताच्चे०—अर्थ शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'इनि' होता है—

(11) धान्यार्थी
'इनि' हुआ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2157) बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् *136* (1942)

बलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मतुप् प्रत्ययो भवति। अन्यतरस्यांग्रहणेन प्रकृत इनिः समुच्चीयते। बलवान्। बली। उत्साहवान्। उत्साही। बल। उत्साह। उद्भाव। उद्वास। उद्वाम। शिखा। पूग। मूल। दंश। कुल। आयाम। व्यायाम। उपयाम। आरोह। अवरोह। परिणाह। युद्ध-बलादिः।

अर्थ—बल आदि प्रातिपदिकों से 'मतुप्' प्रत्यय विकल्प से होता है। 'अन्यतरस्याम्' के ग्रहण से 'इनि' भी होता है।

उदा० (1) बलवान्
'मतुप्' हुआ।

(2) बली
पक्ष में 'इनि' हुआ।

(3) उत्साहवान्
'मतुप्'।

(4) उत्साही
'इनि' हुआ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2158) संज्ञायां मन्माभ्याम् *137* (1943)

मन्नन्तात् प्रातिपदिकान्मशब्दान्ताच्च इनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे, समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते। प्रथिमिनी। दामिनी। मशब्दान्तात्–होमिनी, सोमिनी। संज्ञायामिति किम्? सोमवान्, होमवान्।

अर्थ—'मन्' है अन्त में जिसके तथा 'म' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'इनि' होता है, यदि संज्ञा गम्यमान हो।

उदा० (1) प्रथिमनी
प्रथिमिन् इनि—
प्रथिमिनिन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) होमिनी
होम इनि।

(3) सोमिनी
सोम इनि—पूर्ववत्।

सञ्ज्ञायामि०—संज्ञा गम्यमान हो तो 'इनि' होता है—

(4) सोमवान्
'इनि' नहीं हुआ।

(5) होमवान् (पूर्ववत्)।

(2159) कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः *138* (1944)

कम्, शमिति मकारान्तावुदकसुखयोर्वाचकौ, ताभ्यां ब, भ, युस्, ति, तु, त, यस्-इत्येते सप्त प्रत्यया भवन्ति मत्वर्थे। कम्बः। शम्बः। कम्भः। शम्भः। कंयुः। शंयुः। कन्तिः। शन्तिः। कन्तुः। शन्तुः। कन्तः। शन्तः। कंयः। शंयः। सकारः पदसंज्ञार्थस्तेनानुस्वार-परसवर्णौ सिद्धौ भवतः। संज्ञायां ह्यसत्यां कम्यः शम्य इति स्यात्।

अर्थ—कम् तथा शम् मकारान्त हैं। ये क्रमशः जल तथा सुख के वाचक हैं। कम् तथा शम् प्रातिपदिकों से ब, भ, युस्, ति, तु, त तथा यस्—ये सात प्रत्यय होते हैं, मत्वर्थ में।

उदा० (1) कम्बः
कम् ब सु।

(2) शम्बः
शम् ब सु।

(3) कम्भः
कम् भ सु।

(4) शम्भः (पूर्ववत्)।

(5) कंयुः
अनुस्वार हुआ।

(6) शंयुः
पूर्ववत् अनुस्वार।

(7) कन्तिः
कम् ति—अनुस्वार,
कन् ति सु—परसवर्ण।

(8) शन्तिः
'कन्ति' की तरह।

(9) कन्तुः
'कन्ति' की तरह।

(10) शन्तुः
'कन्ति' की तरह।

(11) कन्तः
'कन्ति' की तरह।

(12) शन्तः
'कन्ति' की तरह।

(13) कंयः
अनुस्वार हुआ।

(14) शंयः (पूर्ववत्)।

सकारः—'स्' अनुबन्ध पदसंज्ञा के लिए है। अतः अनुस्वार व परसवर्ण सिद्ध होते हैं।

संज्ञा होने पर निम्नलिखित पुंयोग होते हैं—

(15) कम्यः
कम् य।

(16) शम्यः
शम् य।

(2160) तुन्दिबलिवटेर्भः *139* (1945)

तुन्दि, बलि, वटि-इत्येतेभ्यो भः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। तुन्दिरिति वृद्धा नाभिरुच्यते, सास्यास्तीति-तुन्दिभः। बलिभः। वटिभः। बलिशब्दः पामादिषु पठ्यते, तेन बलिन इत्यपि भवति।

अर्थ—मत्वर्थ में तुन्दि, वलि तथा वटि प्रातिपदिकों से 'भ' होता है। बढ़ी हुई नाभि को 'तुन्दि' कहा जाता है।

उदा० (1) तुन्दिभः
तुन्दिरस्याऽस्ति—'भ' हुआ,
तुन्दि भ सु—विभक्तिकार्य।

(2) वलिभः (पूर्ववत्)।

(3) वटिभः (पूर्ववत्)।

वलि शब्द का पामादि में पाठ है। तब निम्नलिखित रूप भी बनता है—

(4) वलिनः (पूर्ववत्)।

(2161) अहंशुभमोर्युस् *140* (1946)

अहमिति शब्दान्तरमहङ्कारे वर्त्तते, शुभमित्यव्ययं शुभ-पर्यायस्ताभ्यां युस् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। सकारः पदसंज्ञार्थः। अहंयुः। अहङ्कारवानित्यर्थः। शुभंयुः। कल्याणवानित्यर्थः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

अर्थ—'अहम्' अहंकार अर्थ में वर्त्तमान है। 'शुभम्' अव्यय

शुभवाची है। मत्वर्थ में अहम् तथा शुभम् प्रातिपदिकों से 'युस्' होता है। 'स्' अनुबन्ध पदसंज्ञा के लिए है।

उदा० (1) अहंयुः

अहम् युस्—

अहं युस्—अनुस्वार, पदसंज्ञा,

अहंयुः—विभक्तिकार्य।

(2) शुभंयुः

शुभम् युस्—पूर्ववत्।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां पञ्चमाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।



पञ्चमाऽध्यायस्य तृतीयः पादः

(2162) प्राग्दिशो विभक्तिः *1* (1947)

दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (5.3.27) इति वक्ष्यति। प्रागेतस्माद्दिक्संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो वेदितव्याः। वक्ष्यति–पञ्चम्यास्तसिल् (5.3.7)। ततः। यतः। कुतः। तसिलादीनां विभक्तित्वे प्रयोजनं त्यदादिविधयः, इदमो विभक्तिस्वरश्च। इह। ऊडिदमिति (6.1.176) विभक्त्युदात्तत्वं सिद्धं भवति। अतः परं स्वार्थिकाः प्रत्ययास्तेषु समर्थाधिकारः प्रथमग्रहणं च प्रतियोग्यपेक्षत्वान्नोपयुज्यत इति निवृत्तम्। वावचनं तु वर्त्तत एव, तेन विकल्पेन तसिलादयो भवन्ति। कुतः। कस्मात्। कुत्र। कस्मिन्निति।

अर्थ—यह अधिकारसूत्र है। इसका अधिकार 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी०' (5.3.27) तक जाता है। इस सूत्र से पहले-पहले जो प्रत्यय कहे जायेंगे, उन-उनकी विभक्तिसंज्ञा होती है।

आगे कहा जायेगा—पञ्चम्यास्तसिल्। यथा—

उदा० (1) ततः, (2) यतः, (3) कुतः

इनकी सिद्धि के लिए देखें—5.3.7

तसिल् आदि की विभक्तिसंज्ञा करने के प्रयोजन ये हैं—

(क) त्यदादिविधि तथा (ख) इदम् को विभक्तिस्वर।

'ऊडिदम्०' से विभक्ति को उदात्तता सिद्ध होती है। इससे परे स्वार्थिक प्रत्यय हैं, उनमें समर्थानाम् का तथा 'प्रथमात्' पदों के अनुवर्त्तन की निवृत्ति हो जाती है। केवल 'वा' का अधिकार रहता है। अतः पक्ष में विग्रहपद भी रहता है। पक्ष में 'तसिल्' आदि भी रहते हैं। यथा—

(4) कुतः, (5) कस्मात्, (6) कुत्र, (7) कस्मिन्

इनकी सिद्धि के लिए देखें—5.3.12, 7.

(2163) किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः *2* (1948)

प्राग्दिश इत्येव। किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्च प्राग्दिशः प्रत्यया वेदितव्याः। सर्वनामत्वात् प्राप्ते ग्रहणे द्व्यादिपर्युदासः क्रियते। कुतः। कुत्र। यतः। यत्र। ततः। तत्र। बहुतः। बहुत्र। अद्व्यादिभ्य इति किम्? द्वाभ्याम्, द्वयोः। प्रकृतिपरिसंख्यायनं किमर्थम्? वृक्षात्, वृक्षे। प्राग्दिश इत्येव, वैयाकरणपाशः। सर्वनामत्वादेव सिद्धे किमो ग्रहणं द्व्यादिपर्युदासाद्। *बहुग्रहणे संख्याग्रहणम्* (म०भा०)। इह न भवति–बहोः सूपात्। बहौ सूप इति।

अर्थ—यहाँ से लेकर 'दिक्शब्देभ्यः सप्त०' (5.3.27) तक जो-जो प्रत्यय कहे जायेंगे, वे सब किम्, सर्वनाम तथा बहु प्रातिपदिकों से होते हैं, द्वि आदि शब्दों को छोड़कर।

सर्वनामों में द्वि आदि का भी पाठ है। ये प्रत्यय द्वि आदि से नहीं होंगे—ऐसा जानना चाहिए। 'अद्व्यादि' कहने से 'द्वि' आदि से निषेध हो जाता है। चूँकि 'किम्' का पाठ द्वि आदि के अन्तर्गत हैं। फलतः 'किम्' से भी निषेध प्राप्त होता है। इसलिए सूत्र में 'किम्' का पृथक् उल्लेख किया गया है। इस प्रकार 'अद्व्यादि' के द्वारा द्वि, युष्मद्, अस्मद् और भवतु—इन चार से ही निषेध होता है। कात्यायन के अनुसार सूत्रोक्त 'बहु' पद के द्वारा संख्यावाची 'बहु' पद का ही ग्रहण होता है। द्र०—बहुग्रहणे संख्याग्रहणम् (वा०)

उदा० (1) कुत्र
किम् त्रल्—सप्तम्यास्त्रल्,
कुत्र सु—कु तिहोः, विभक्ति का लुक्।

(2) कुतः
किम् तसिल्—पञ्चम्यास्तसिल्, कु तिहोः,
कु तस् सु—विभक्तिकार्य।

(3) यतः
यद् तसिल् → य अ तस्—
यतः—विभक्ति कार्य।

(4) यत्र
यद् त्रल्—विभक्तिकार्य।

(5) ततः
तद् तसिल्—पूर्ववत्।

(6) तत्र
तद् त्रल्—पूर्ववत्।

(7) बहुतः
बहु तस्—पूर्ववत्।

(8) बहुत्र
बहु त्रल् सु।

अद्व्यादि०—द्वि आदि को छोड़कर ये प्रत्यय होते हैं—

(9) द्वाभ्याम्
'पञ्चम्यास्तसिल्' से 'तसिल्' नहीं हुआ।

(10) द्वयोः
'सप्तम्यास्त्रल्' से 'त्रल्' नहीं हुआ।

प्रकृति का परिसंख्यान किया गया है, ताकि निम्नलिखित में न हो। यथा—

(11) वृक्षात्
'तसिल्' नहीं हुआ।

(12) वृक्षे
'त्रल्' नहीं हुआ।

इसका अधिकार 'दिक्शब्देभ्यः सप्त०' तक चलता है। अतः

(13) वैयाकरणपाशः
यह रूप बनता है।

सर्वनाम०—सर्वनाम होने से 'किम्' शब्द से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। तब 'किम्' शब्द का पृथक् निर्देश व्यर्थ है।

(समा०) 'किम्' का पाठ द्वि आदि उपगण में है। चूँकि द्व्यादि के निषेध के साथ 'किम्' का भी निषेध हो जाता है। अतः 'किम्' का पृथक् निर्देश किया गया है।

बहुग्रहणे०—बहु के ग्रहण में संख्या का ग्रहण होता है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(14) बहोः सूपात्।
(15) बहौ सूपे।

(2164) इदम इश् *3* (1949)

प्राग्दिश इत्येव। इदम इश् इत्ययमादेशो भवति प्राग्दिशीयेषु प्रत्ययेषु परतः। शकारः सर्वादेशार्थः। इह।

अर्थ—'दिक्शब्देभ्यः०' तक जो-जो प्रत्यय कहे जायेंगे, उनके परे रहते इदम् प्रातिपदिक से स्थान पर 'इश्' होता है। 'इश्' में शकार सर्वादेश के लिए है।

उदा० (1) इह
इदम् ह—इदमो हः
इश् ह → इह सु—विभक्तिकार्य।
पक्ष में 'अस्मिन्' भी होता है।

(2165) एतेतौ रथोः *4* (1950)

रेफथकारादौ प्राग्दिशीये प्रत्यये परत इदम एतेतावादेशौ भवतः। इशोऽपवादः। रेफेऽकार उच्चारणार्थः। इदमो र्हिल् (5.3.16) एतर्हि। इदमस्थमुः (5.3.24) इत्थम्।

अर्थ—रेफादि (= जिसके आदि में रेफ है) तथा थकारादि (= जिसके आदि में थकार है) प्रत्यय परे रहते इदम् प्रातिपदिक के स्थान पर यथासंख्य करके 'एत्' तथा 'इत्' आदेश होते हैं। यह 'इश्' का अपवाद है। रेफ में अकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) एतर्हि
इदम् र्हिल्—इदमो र्हिल्,
एत र्हि सु—विभक्तिकार्य।

(2) इत्थम्
इदम् थमु—इदमस्थमुः,
इत् थम् सु—विभक्तिकार्य।

(2166) एतदोऽश् *5* (1951)

प्राग्दिश इत्येव। एतदः प्राग्दिशीये परतोऽशित्ययमादेशो भवति। शकारः सर्वादेशार्थः। अतः। अत्र एतद इति योगविभागः कर्त्तव्यः (म०भा०)। एतदो रथोः परत एत इत् इत्येतावादेशौ भवतः। एतर्हि। इत्थम्। रेफादिरनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् (5.3.21) इति। विद्यत एव। थमुप्रत्ययः पुनरेतद उपसंख्येयः।

अर्थ—प्राग्दिशीय प्रत्ययों के परे रहते 'एतद्' प्रकृति के स्थान पर 'अश्' आदेश होता है। 'श्' अनुबन्ध सर्वादेश के लिए किया गया है।

उदा० (1) अतः
एतद् तसिल्—'तसिल्' हुआ,
अश् तस् सु—शकार की इत्संज्ञा, विभक्तिकार्य।

(2) अत्र
एतद् त्रल्—'त्रल्' हुआ,
अश् त्रल् सु—पूर्ववत्।

एतद०—महर्षि पतञ्जलि ने प्रकृत सूत्र का योगविभाग करते हुए इस प्रकार अर्थ किया है—

(क) एतदः (एतेतौ रथोः) अर्थात् रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते एतद् के स्थान पर क्रमशः एत और इत् आदेश होते हैं। यथा—

एतद् र्हिल्—एतर्हि। अत्र।

एतद् थाल् (पा० 5.3.23)—तथा।

(ख) अन् (एतदः) अर्थात् एतद् के स्थान पर अन् आदेश हो प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते। यथा—

अतः, अस्मात्।
अत्र, अस्मिन्।

'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' ये सभी विद्यमान ही हैं।
एतद् को 'थमु' प्रत्यय कहना चाहिए।

(2167) सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि *6* (1952)

सर्वस्य स इत्ययमादेशो भवति प्राग्दिशीये दकारादौ प्रत्यये परतोऽन्यतरस्याम्। सर्वदा। सदा। प्राग्दिशीय इत्येव–सर्वं ददातीति सर्वदा ब्राह्मणी।

अर्थ—दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते 'सर्व' प्रातिपदिक के स्थान पर विकल्प से 'स' होता है।

उदा० (1) सदा
सर्व दा → स दा सु। सर्वैकान्यकिंय०।

(2) सर्वदा
पक्ष में 'स' आदेश नहीं होता है। तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः।

(2168) पञ्चम्यास्तसिल् *7* (1953)

पञ्चम्यन्तेभ्यः किंसर्वनामबहुभ्यस्तसिल्प्रत्ययो भवति। कुतः। यतः। ततः। बहुतः।

अर्थ—किम्, सर्वनाम तथा बहु—इन पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से विभक्तिसंज्ञक 'तसिल्' होता है तथा द्वि आदि से नहीं होता है।

उदा० (1) कुतः
किम् तसिल्—अनुबन्धलोप,
कु तस्—'किमः कः' को बाध कर 'कु तिहोः'—
कुतः—सु, लुक्।

(2) यतः
यद् तसिल्—पूर्ववत्।

(3) ततः
तद् तसिल्—पूर्ववत्।

(4) बहुतः
बहु तसिल्—पूर्ववत्।

पक्ष में कस्मात्, तस्मात्, बहुभ्यः भी बनेंगे। ध्यान रहे कि सभी वचनों में तसिल् पक्ष में 'कुतः' रूप ही होगा तथा पक्ष में विभक्ति रहेगी। यथा—

कस्मात्, कुतः; काभ्याम्, कुतः, केभ्यः, कुतः। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग में—

कस्याः, कुतः; काभ्याम्, कुतः; काभ्यः, कुतः। तसिलादिष्वा-कृत्वसुचः से टाप् की निवृत्ति हो जाती है।

(2169) तसेश्च *8* (1955)

प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः (5.4.44) अपादाने चाहीयरुहोः (5.4.45) इति वक्ष्यति। तस्य तसेः किंसर्वनामबहुभ्यः परस्य तसिलादेशो भवति। कुत आगतः। यतः। ततः। बहुत आगतः। तसेस्तसिल्वचनं स्वरार्थं विभक्त्यर्थं च।

अर्थ—आगे 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः' (5.4.44) तथा 'अपादाने चाहीयरुहोः' (5.4.45) आदि का पाठ किया जायेगा। किम्, सर्वनाम तथा बहु प्रातिपदिकों से विहित 'तसि' प्रत्यय के स्थान पर 'तसिल्' होता है, द्वि आदि से पर यह आदेश नहीं होता है।

उदा० (1) कुतः
(2) यतः
(3) ततः
(4) बहुतः
सर्वत्र तसिल् हुआ है।

'तसि' के स्थान पर 'तसिल्' के विधान के दो प्रयोजन हैं—

(क) स्वर तथा (ख) विभक्तिसंज्ञा।

(2170) पर्यभिभ्यां च *9* (1956)

परि अभि–इत्येताभ्यां तसिल् प्रत्ययो भवति। सर्वोभयार्थे वर्त्तमानाभ्यां प्रत्यय इष्यते। परितः, सर्वत इत्यर्थः। अभितः, उभयत इत्यर्थः।

अर्थ—परि तथा अभि प्रातिपदिकों से 'तसिल्' होता है। कात्यायन के अनुसार 'सर्व' अर्थ में वर्त्तमान 'परि' अव्यय का तथा 'उभय' अर्थ में वर्त्तमान 'अभि' अव्यय का यहाँ ग्रहण होता है।

उदा० (1) परितः
परि तसिल्—तद्धितश्चासर्व०,
परितस् सु—सु लुक्।
(2) अभितः (पूर्ववत्)।

(2171) सप्तम्यास्त्रल् *10* (1957)

किंसर्वनामबहुभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः त्रल् प्रत्ययो भवति। कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

अर्थ—सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम (द्वि आदि को छोड़कर) तथा बहु—इन प्रातिपदिकों से 'त्रल्' होता है।

उदा० (1) कुत्र
कस्मिन् → किम् त्रल्—किमः कः, कु तिहोः,
कुत्र सु—पूर्ववत्।
(2) तत्र
तद् त्रल् सु।
(3) बहुत्र
बहु त्रल् सु।

(2172) इदमो हः *11* (1958)

इदमः सप्तम्यन्ताद्धः प्रत्ययो भवति। त्रलोऽपवादः। इह।

अर्थ—सप्तम्यन्त 'इदमः' सर्वनाम से 'ह' होता है। यह पूर्वोक्त 'त्रल्' का अपवाद है।

उदा० (1) इह
इदम् ह—'त्रल्' प्राप्त हुआ, 'ह' हुआ।
इश् ह सु—इदम इश्।

(2173) किमोऽत् *12* (1959)

किमः सप्तम्यन्तादत् प्रत्ययो भवति। त्रलोऽपवादः। क्व भोक्ष्यसे। क्वाध्येष्यसे। त्रलमपि केचिदिच्छन्ति–कुत्र। तत् कथम्? उत्तरसूत्राद्वावचनं पुरस्तादपकृष्यते।

अर्थ—सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से 'अत्' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह 'त्रल्' का अपवाद है।

उदा० (1) क्व
किम् अत् → किम् अ—'क्वाति' से 'क्व' आदेश, भसंज्ञा, 'अतो गुणे' से पररूप प्राप्त हुआ, 'वार्णाद् आङ्गं बलीयः' से 'यस्येति च' से लोप हुआ,
क्व् अ सु—पूर्ववत्।

कुछ विद्वान् 'त्रल्' (कुत्र) भी स्वीकार करते हैं। 'वा ह च च्छन्दसि' (5.3.13) से 'वा' का अपकर्षण होता है। तब पक्ष में 'कुत्र' भी होता है।

(2174) वा ह च च्छन्दसि *13* (1961)

किमः सप्तम्यन्ताद्वा हः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये, यथाप्राप्तं च। क्व। कुह (ऋ० 8.73.4)। कुत्रचिदस्य सा दूरे, क्व ब्राह्मणस्य चावकाः।

अर्थ—सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से 'ह' प्रत्यय विकल्प से होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) कुह (ऋ०1.24.10)
किम् ह → कुह सु।
(2) क्व
पक्ष में पूर्ववत्।
(3) कुत्र
पक्ष में 'त्रल्'।

(2175) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते *14* (1963)

सप्तमीपञ्चम्यपेक्षमितरत्वम्। इतराभ्यो विभक्तिभ्यस्त-सिलादयो दृश्यन्ते। दृशिग्रहणं प्रायिकविध्यर्थम्, तेन भवदादि-भिर्योग एवैतद्विधानम्। के पुनर्भवदादयः? भवान् दीर्घायु-रायुष्मान् देवानाम्प्रिय इति। स भवान्। ततो भवान्। तत्र भवान्। तं भवन्तम्। तत्र भवन्तम्। ततो भवन्तम्। तेन भवता। तत्र भवता। ततो भवता। तस्मै भवते। ततो भवते। तत्र भवते। तस्माद्भवतः। ततो भवतः। तत्र भवतः। तस्य भवतः। ततो भवतः। तत्र भवतः। तस्मिन् भवति। ततो भवति। तत्र भवति। एवं दीर्घायुष्प्रभृति-ष्वप्युदाहार्यम्।

अर्थ—पञ्चमी व सप्तमी से अतिरिक्त अन्य विभक्त्यन्त 'किम्' आदि प्रातिपदिकों से 'तसिल्' आदि प्रत्यय देखे जाते हैं।

'दृश्यन्ते' का अभिप्राय यह है कि यह विधि प्रायिक होती है। अतः यह भवत् आदि के योग में ही विधान है। तब ये भवत् आदि क्या हैं? ये निम्नलिखित प्रकार से होते हैं—

(क) भवतु के योग में—
स भवान्—ततो भवान्, तत्र भवान्।
तं भवन्तम्—ततो भवन्तम्, तत्र भवन्तम्।
तेन भवता—ततो भवता, तत्र भवता।

तस्मै भवते—ततो भवते, तत्र भवते।
इसी प्रकार शेष विभक्तियों में तथा शेष वचनों में।

(ख) दीर्घायुस् के योग में—
स दीर्घायुः—ततो दीर्घायुः, तत्र दीर्घायुः।
तं दीर्घायुषम्—ततो दीर्घायुषम्, तत्र दीर्घायुषम्।
इसी प्रकार शेष विभक्तियों व वचनों में।

(ग) देवानां प्रियः के योग में—
स देवानां प्रियः—ततो देवानां प्रियः, तत्र देवानां प्रियः।
इसी प्रकार सभी विभक्तियों व सभी वचनों में।

(घ) आयुष्मत् के योग में—
स आयुष्मान्—तत आयुष्मान्, तत्रायुष्मान्।
इसी प्रकार शेष विभक्तियों व शेष वचनों में जानना चाहिए।

ये सभी तद् शब्द के रूप हैं। इसी प्रकार एतद् व इदम् शब्दों से भी रूप बनते हैं। यथा—अतो भवान्, अत्र भवान्।

(2176) सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा *15* (1964)

सप्तम्या इति वर्त्तते, न त्वितराभ्य इति। सर्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दा प्रत्ययो भवति। त्रलोऽपवादः। सर्वस्मिन् काले सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। तदा। काल इति किम्? सर्वत्र देशे।

अर्थ—'सप्तम्याः' का अनुवर्त्तन है; 'इतराभ्यः' का नहीं। काल अर्थ में वर्त्तमान सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् तथा तद्—इन सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'दा' होता है। यह 'त्रल्' का अपवाद है।

उदा० (1) सर्वदा
सर्वस्मिन् काले → सर्व दा—
सर्वदा सु—लुक्।

(2) सदा
पक्ष में 'सर्वस्य सोऽन्यतर०' से 'स' हुआ।

(3) एकदा
एकस्मिन् काले।

(4) अन्यदा
अन्यस्मिन् काले।

(5) कदा
कस्मिन् काले।

(6) तदा
तस्मिन् काले।

काल इति० अर्थात् काल अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिकों से 'दा' होता है—

(7) सर्वत्र देशे
यहाँ 'दा' नहीं हुआ, 'त्रल्' हुआ।

(2177) इदमो र्हिल् *16* (1965)

सप्तम्या इति वर्त्तते, काल इति च। इदमः सप्तम्यन्तात्काले वर्त्तमानात् र्हिल् प्रत्ययो भवति। ह्स्यापवादः। लकारः स्वरार्थः। अस्मिन् काले एतर्हि। काल इत्येव-इह देशे।

अर्थ—'सप्तम्याः' तथा 'काले' का अनुवर्त्तन है। काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' प्रातिपदिक से 'र्हिल्' प्रत्यय होता है। यह 'ह' का अपवाद है। 'ल्' अनुबन्ध स्वर के लिए है।

उदा० (1) एतर्हि
अस्मिन् काले—प्राप्त 'ह' को बाध कर,
इदम् र्हिल्—'इदम इश्' को बाध कर,
एत र्हि सु—विभक्तिकार्य।

काल इत्येव—काल अर्थ में वर्त्तमान शब्द से प्रत्यय होता है—

(2) इह देशे
यहाँ 'र्हिल्' नहीं हुआ।

(2178) अधुना *17* (1966)

अधुनेति निपात्यते। इदमोऽश्भावोऽधुना च प्रत्ययः। अस्मिन् काले अधुना।

अर्थ—'अधुना' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अधुना
इदम् धुना—निपातन से 'धुना' प्रत्यय,
अश् धुना—'अश्' आदेश,
अधुना सु—विभक्तिकार्य।

'अधुना' शब्द की सिद्धि प्रकारान्तर से इस प्रकार भी होती है—

इदम् अधुना—'अधुना' प्रत्यय,
इश् अधुना—इदम इश्, यस्येति च,
अधुना सु—पूर्ववत्।

(2179) दानीं च *18* (1967)

इदमः सप्तम्यन्तात्काले वर्त्तमानाद्दानीं प्रत्ययो भवति। अस्मिन् काले इदानीम्।

अर्थ—काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से 'दानीम्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) इदानीम्
अस्मिन् काले → इदम् दानीम्।
इश् दानीम् सु—इदम इश् सु।

(2180) तदो दा च *19* (1968)

तदः सप्तम्यन्तात्काले वर्त्तमानाद् दा प्रत्ययो भवति, चकाराद्दानीं च। तस्मिन् काले तदा, तदानीम्। तदो दावचनमनर्थकम्, विहितत्वात्।

अर्थ—काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त 'तद्' प्रातिपदिक से 'दा' तथा 'दानीम्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) तदा
तद् दा → तदा सु।
(2) तदानीम्
तद् दानीम्—तदानीम् सु।

(2181) तयोर्दार्हिलौ च च्छन्दसि *20* (3499)

तयोरिति प्रातिपदिकनिर्देशः। तयोरिदमः तदश्च यथासंख्यं दार्हिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये, चकारा-द्यथाप्राप्तं च। इदावत्सरीयः (काठ०सं० 13.15)। इदं तर्हि। इदानीम्। तदानीम्।

अर्थ—'तयोः' यह प्रातिपदिक का निर्देश है। काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त इदम् तथा तद् प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'दा' तथा 'र्हिल्' प्रत्यय होते हैं, वेद के विषय में। यथाप्राप्त 'दानीम्' भी होता है।

उदा० (1) इदा (का०सं०13.15)
अस्मिन् काले → इदम् दा—
इश् दा सु—हलन्त्यम्, सु।
(2) तर्हि
तस्मिन् काले → तद् र्हिल्—तर्हि सु।
(3) इदानीम्
इदम् दानीम्—पक्ष में।
(4) तदानीम्—पक्ष में।

(2182) अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् *21* (1969)

छन्दसीति न स्वर्यते। सामान्येन विधानम्। किंसर्वनाम-बहुभ्यः सप्तम्यन्तेभ्योऽनद्यतने कालविशेषे वर्त्तमानेभ्यो र्हिल् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्याम्। कर्हि। कदा। यर्हि। यदा। तर्हि। तदा।

अर्थ—'छन्दसि' का अनुवर्त्तन नहीं है। यह सामान्य विधान है। अनद्यतन काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम तथा बहु प्रातिपदिकों से 'र्हिल्' प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में 'दा' होता है।

उदा० (1) कर्हि
कस्मिन् अनद्यतने काले → किम् र्हिल्—
कर्हि सु—विभक्तिकार्य।
(2) कदा
किम् दा सु।
(3) यर्हि
यद् र्हिल् → य र्हि—
यर्हि सु—पूर्ववत्।
(4) यदा
यद् दा—पक्ष में,
यदा सु—पूर्ववत्।
(5) तर्हि
तद् र्हिल्—पूर्ववत्।
(6) तदा—'दा' हुआ।

(2183) सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः *22* (1970)

सप्तम्या इति काल इति च वर्त्तते। सद्यःप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते। प्रकृतिः, प्रत्ययः, आदेशः, कालविशेष इति सर्वमेतन्निपातनाल्लभ्यते। *समानस्य सभावो निपात्यते द्यश्च प्रत्ययः* (म०भा०)। अहन्यभिधेये (म०भा०)। समानेऽहनि सद्यः। *पूर्वपूर्वतरयोः परभावो निपात्यते उदारी च प्रत्ययौ संवत्सरेऽभिधेये (म०भा०), पूर्वस्मिन् संवत्सरे परुत्, पूर्वतरे संवत्सरे परारि (म०भा०)। *इदम इश्भावः समसण् प्रत्ययश्च निपात्यते संवत्सरेऽभिधेये* (म०भा०)। अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः (म०भा०)।

परमादेद्यविः प्रत्ययोऽहनि (म० भा०)। परस्मिन्नहनि परद्येवि। *इदमोऽश्भावो द्यश्च* (म० भा०)। प्रत्ययोऽहनि (म० भा०)। अस्मिन्नहनि अद्य। *पूर्वान्यान्यतरेतरापराधरोभयोत्तरेभ्य एद्युस् प्रत्ययो निपात्यतेऽहन्यभिधेये* (म० भा०)। पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्युः। अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः। अन्यतरस्मिन्नहनि अन्यतरेद्युः। उभयोरह्नोः उभयेद्युः। उत्तरस्मिन्नहनि उत्तरेद्युः। *द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः* (म० भा०)। उभयद्युः।

अर्थ—कालविशेष में वर्त्तमान सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से सद्यस्, परुत्, परारि, ऐषमस्, परेद्यवि, अद्य, पूर्वेद्युस्, अन्येद्युस्, अन्यतरेद्युस्, इतरेद्युस्, अपरेद्युस्, अधरेद्युस्, उभयेद्युस् तथा उत्तरेद्युस् आदि शब्दों का निपातन किया जाता है। प्रकृति, प्रत्यय, आदेश, कालविशेष—ये सभी निपातन से प्राप्त होते हैं।

उदा० (1) सद्यः
समानेऽहनि → सम् द्यस्—
सद्यस् सु → सद्यः—लुक्।

(2) परुत्
पूर्वस्मिन् संवत्सरे → पूर्व उत्—
पर उत् सु—विभक्तिकार्य।

(3) परारि
पूर्वतर आरि → पर आरि—
परारि सु—पूर्ववत्।

(4) ऐषमः
अस्मिन् संवत्सरे → इदम् समसण्—
इश् समसण् → इ सम—इदम इश्,
ऐषमस् सु—आदिवृद्धि, विभक्तिकार्य।

(5) परेद्यवि
परस्मिन् दिने → पर ए द्यवि—
परेद्यवि सु—विभक्तिकार्य।

(6) अद्य
अस्मिन् दिने → इदम् द्य—
अश् द्य सु—विभक्तिकार्य।

(7) पूर्वेद्युः
पूर्वस्मिन् अहनि → पूर्व एद्युसच्—
पूर्वेद्युस् सु—पूर्ववत्।

(8) अन्येद्युः
अन्य एद्युसच्—चकार, अकार की इत्संज्ञा,
अन्येद्युस् सु—पूर्ववत्।

(9) अन्यतरेद्युः (पूर्ववत्)।

(10) इतरेद्युः
'इतर' से पूर्ववत्।

(11) अपरेद्युः
अपर एद्युसच्—पूर्ववत्।

(12) अधरेद्युः (पूर्ववत्)।

(13) उभयेद्युः (पूर्ववत्)।

(14) उत्तरेद्युः (पूर्ववत्)।

द्युश्चोभया०—'उभय' शब्द से 'द्युस्' होता है—

(15) उभयद्युः
शेष सभी कार्य पूर्ववत्।

(2184) प्रकारवचने थाल् *23* (1971)

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः (5.3.2) इति वर्त्तते। सप्तम्या इति काल इति च निवृत्तम्। सामान्यस्य भेदकः विशेषः प्रकारः। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। प्रकारवृत्तिभ्यः किंसर्वनामबहुभ्यः स्वार्थे थाल् प्रत्ययो भवति। तेन प्रकारेण तथा। यथा। सर्वथा। जातीयरोऽपीदृशमेव लक्षणम्, स तु स्वभावात् प्रकारवति वर्त्तते, थाल्पुनः प्रकारमात्रे।

अर्थ—'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' का अनुवर्त्तन है। 'सप्तम्याः' तथा 'काले' इनकी निवृत्ति हो गई है। सामान्य के विशेष भेदक को 'प्रकार' कहते हैं। यह प्रकृति के अर्थ का विशेषण है। प्रकार अर्थ में वर्त्तमान किम्, सर्वनाम तथा बहु प्रातिपदिकों से 'थाल्' होता है।

उदा० (1) तथा
तेन प्रकारेण → तद् थाल—
तथा सु—विभक्तिकार्य।
इसी प्रकार इतरथा, अन्यथा आदि होते हैं।

(2) यथा
येन प्रकारेण → यद् थाल्—पूर्ववत्।

(3) सर्वथा
सर्व प्रकारेण → सर्व थाल्—पूर्ववत्।

'जातीयर्' का भी इसी प्रकार का लक्षण है। वह स्वभाव से प्रकारवान् में वर्त्तमान है। 'थाल्' तो प्रकारमात्र में होता है।

(2185) इदमस्थमुः *24* (1972)

इदंशब्दात्प्रकारवचने थमुः प्रत्ययो भवति। थालोऽपवादः। अनेन प्रकारेण इत्थम्। उकारो मकारपरित्राणार्थः।

अर्थ—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान 'इदम्' प्रातिपदिक से 'थमु' होता है। यह 'थाल्' का अपवाद है।

उदा० (1) इत्थम्
अनेन प्रकारेण।

उकारो—'थमु' के उकार की इत् संज्ञा है। 'थमु' के स्थान पर 'थम्' का विधान करने पर कोई दोष नहीं है। कारण कि 'थम्' की विभक्तिसंज्ञा है। तब 'न विभक्तौ तुस्माः' से मकार की इत् संज्ञा का निषेध होकर यह निर्बाध बना रहता है। परन्तु यहाँ आचार्य के द्वारा प्रयुक्त उकार अनुबन्ध व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'न विभक्तौ तुस्माः' के द्वारा होने वाला निषेध अनित्य है। फलतः 'किमोऽत्' में 'अत्' के तकार की इत् संञ्ज्ञा होती है। यदि उक्त निषेध को अनित्य नहीं माना जायेगा तो 'अत्' के तकार की इत् सञ्ज्ञा का निषेध हो जायेगा।

(2186) किमश्च *25* (1973)

किंशब्दात् प्रकारवचने थमुः प्रत्ययो भवति। केन प्रकारेण कथम्। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान किम् प्रातिपदिक से 'थमु' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।

उदा० (1) कथम्
केन प्रकारेण → किम् थमु—
क थम् सु—विभक्तिकार्य।

(2187) था हेतौ च च्छन्दसि *26* (3500)

किंशब्दाद्धेतौ वर्त्तमानात्था प्रत्ययो भवति, चकारात्प्रकारवचने छन्दसि विषये। हेतौ तावत्-कथा ग्रामं न पृच्छसि (ऋ० 10.146.1)। केन हेतुना न पृच्छसीत्यर्थः। प्रकारवचने-कथा देवा आसन् पुराविदः। विभक्तिसंज्ञायाः पूर्णोऽवधिः।

अर्थ—हेतु तथा प्रकार अर्थों में वर्त्तमान 'किम्' प्रातिपदिक से 'था' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (क) हेतौ—
(1) कथा (ऋ०10.146.1)
किम् था → कथा सु—पूर्ववत्।

(ख) प्रकारवचने—
(2) कथा (देवा आसन् पुराविदः)
विभक्तिसंज्ञा की अवधि यहाँ पूर्ण हो जाती है।

(2188) दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः *27* (1974)

दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः। तेभ्यो दिक्शब्देभ्यो दिग्देशकालेषु वर्त्तमानेभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तेभ्योऽस्तातिः प्रत्ययो भवति स्वार्थे। यथासंख्यमत्र नेष्यते। पुरस्ताद्वसति। पुरस्तादागतः। पुरस्ताद्रमणीयम्। अधस्ताद्वसति। अधस्तादागतः। अधस्ताद्रमणीयम्। दिक् शब्देभ्य इति किम्? ऐन्द्र्यां दिशि वसति। सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्य इति किम्? पूर्वं ग्रामं गतः। दिग्देशकालेष्विति किम्? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति। इकारस्तकारपरित्राणार्थः।

अर्थ—दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त तथा प्रथमान्त दिशावाची प्रातिपदिकों से 'अस्ताति' होता है, स्वार्थ में। यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है।

उदा० (क) सप्तम्यन्तात्—
(1) पुरस्ताद् वसति
पुरस् अस्ताति—
पुरस्तात् सु—विभक्तिकार्य।

(2) अधस्ताद् वसति
अधर → अध् अस्ताति सु।

(ख) पञ्चम्यन्तात्—
(3) पुरस्ताद् आगतः (पूर्ववत्)।
(4) अधस्ताद् आगतः (पूर्ववत्)।

(ग) प्रथमान्तात्—
(5) पुरस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(6) अधस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।

दिक्शब्देभ्य०—दिशावाची शब्दों से 'अस्ताति' होता है—
(7) ऐन्द्र्यां दिशि वसति
यहाँ 'अस्ताति' नहीं हुआ।

सप्तमीपञ्चमी०—सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त शब्दों से ही 'अस्ताति' होता है—

पूर्वं ग्रामं गतः—यहाँ 'अस्ताति' नहीं हुआ।

दिग्देश०—दिशा, देश तथा काल अर्थों में वर्त्तमान शब्द से 'अस्ताति' होता है—

(8) पूर्वस्मिन् गुरौ वसति
'अस्ताति' नहीं हुआ।

अस्ताति का इकार तकार की इत्संज्ञा को रोकने के लिए है।

(2189) दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् *28* (1978)

दक्षिणोत्तराभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां सप्तमीपञ्चमी-प्रथमान्ताभ्यां स्वार्थेऽतसुच् प्रत्ययो भवति। अस्तातेरपवादः। दक्षिणाशब्दः काले न सम्भवतीति दिग्देशवृत्तिः परिगृह्यते। दक्षिणतो वसति। दक्षिणत आगतः। दक्षिणतो रमणीयम्। उत्तरतो वसति। उत्तरत आगतः। उत्तरतो रमणीयम्। अकारो विशेषणार्थः–षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन (2.3.30) इति।

अर्थ—दिशा, देश व काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त दक्षिण व उत्तर प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'अतसुच्' होता है। यह 'अस्ताति' का अपवाद है। दक्षिणा शब्द काल अर्थ में नहीं होता, अतः यह केवल दिशा व देश अर्थ में ही लिया जाता है।

उदा० (1) दक्षिणतो वसति
दक्षिण अतसुच् → दक्षिणतस् सु।
(2) दक्षिणत आगतः (पूर्ववत्)।
(3) दक्षिणतो रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(4) उत्तरतो वसति
उत्तर अतसुच्—पूर्ववत्,
उत्तरतस् सु—विभक्तिकार्य।
(5) उत्तरत आगतः (पूर्ववत्)।
(6) उत्तरतो रमणीयम् (पूर्ववत्)।

अकार विशेषण के लिए है। षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन० के लिए है।

(2190) विभाषा परावराभ्याम् *29* (1979)

परावरशब्दाभ्यां विभाषा अतसुच्प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे। परतो वसति। परत आगतः। परतो रमणीयम्। परस्ताद्वसति। परस्तादागतः। परस्ताद्रमणीयम्। अवरतो वसति। अवरत आगतः। अवरतो रमणीयम्। अवरताद्वसति। अवरतादागतः। अवरताद्रमणीयम्।

अर्थ—दिशा, देश अथवा काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त व प्रथमान्त पर व अवर प्रातिपदिकों से 'अतसुच्' विकल्प से होता है।

उदा० (1) परतो वसति
सप्तम्यर्थ में 'अतसुच्'।

(2) परत आगतः
पञ्चम्यर्थ में 'अतसुच्'।

(3) परतो रमणीयम्
प्रथमार्थ में प्रत्यय हुआ।

पक्ष में 'अस्ताति' होता है—

(4) परस्ताद् वसति।
(5) परस्ताद् आगतः
(6) परस्ताद् रमणीयम्
(7) अवरतो वसति
सप्तम्यर्थ में 'अतसुच्'।

(8) अवरत आगतः
पञ्चम्यर्थ में 'अतसुच्'।

(9) अवरतो रमणीयम्
प्रथमार्थ में 'अतसुच्'।

पक्ष में 'अस्ताति' होता है—
(10) अवरस्ताद् वसति
सप्तम्यर्थ में।

(11) अवरस्ताद् आगतः
पञ्चम्यर्थ में।

(12) अवरस्ताद रमणीयम्
प्रथमार्थ में।

(2191) अञ्चेर्लुक् *30* (1980)

अञ्चत्यन्तेभ्यो दिक्शब्देभ्य उत्तरस्यास्तातिप्रत्ययस्य लुग् भवति। प्राच्यां दिशि वसति। लुक्तद्धितलुकीति (1.2.49) स्त्रीप्रत्ययोऽपि निवर्त्तते। प्राग्वसति। प्रागागतः। प्राग्रमणीयम्। प्रत्यग्वसति। प्रत्यगागतः। प्रत्यग्रमणीयम्।

अर्थ—दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त व प्रथमान्त अञ्चु धातु, तदन्त दिशावाची शब्द से पर 'अस्ताति' का लुक् होता है।

उदा० (1) प्राग्वसति

प्राच्यां दिशि वसति—इस अर्थ में,

प्र अञ्चु क्विन्—धातु संज्ञा, ऋत्विग्दधृक्० से 'क्विन्' हुआ,

प्र अच्—'अनिदितां हल उप०' से अनुनासिकलोप व क्विन् का सर्वापहारलोप,

प्र अच ङीप्—'अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम्' (वा०) से,

प्र च् ई—यचि भम्, अचः,

प्राची सु—विभक्तिकार्य,

प्राची अस्ताति—प्रकृत सूत्र से प्रत्यय का लुक्,

प्राची—'लुक्तद्धितलुकि' से ङीप् का लुक्, तन्निमित्तक अकार-लोप तथा दीर्घादेश की निवृत्ति,

प्र अच्—सवर्णदीर्घ,

प्राच् सु—सु तद्धितश्चाऽसर्व०,लुक्,

प्राग्—पद संज्ञा, क्विन् प्रत्ययस्य कुः, झलां जशोऽन्ते।

(2) प्राग् आगतः (पूर्ववत्)।

(3) प्राग् रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(2192) उपर्युपरिष्टात् *31* (1981)

उपरि उपरिष्टात्–इत्येतौ शब्दौ निपात्येते अस्तातेरर्थे। ऊर्ध्वस्योपभावः, रिल्रिष्टातिलौ च प्रत्ययौ निपात्येते। ऊर्ध्वायां दिशि वसति उपरि वसति। उपर्यागतः। उपरि रमणीयम्। उपरिष्टाद्वसति। उपरिष्टादागतः। उपरिष्टाद्रमणीयम्।

अर्थ—'अस्ताति' के अर्थ में उपरि तथा उपरिष्टात्—इन दो शब्दों का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) उपरि वसति

ऊर्ध्वायां दिशि वसति—'उप' आदेश व 'रिल्' प्रत्यय निपातन से होते हैं,

उप रि सु—विभक्तिकार्य।

(2) उपरि आगतः (पूर्ववत्)।

(3) उपरि रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(4) उपरिष्टाद् वसति

उप रिष्टातिल्—इकार, लकार की इत्संज्ञा,

उपरिष्टात् सु—विभक्तिकार्य।

(5) उपरिष्टाद् आगतः (पूर्ववत्)।

(6) उपरिष्टाद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(2193) पश्चात् *32* (1982)

पश्चादित्ययं शब्दो निपात्यते अस्तातेरर्थे। अपरस्य पश्चभाव आतिश्च प्रत्ययः (म०भा०)। अपरस्यां दिशि वसति पश्चाद्दिशि वसति। पश्चादागतः। पश्चाद्रमणीयम्। *दिक्पूर्वपदस्यापरस्य पश्चभावो वक्तव्य आतिश्च प्रत्ययः* (म०भा०)। दक्षिणपश्चात्। उत्तरपश्चात्। *अर्धोत्तरपदस्य दिक्पूर्वपदस्य पश्चभावो वक्तव्यः* (म०भा०)। दक्षिणपश्चार्द्धः। उत्तरपश्चार्द्धः। *विनापि पूर्वपदेन पश्चभावो वक्तव्यः* (म०भा०)। पश्चार्द्धः।

अर्थ—'अस्ताति' के अर्थ में 'पश्चात्' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) पश्चाद् वसति

अपरस्यां दिशि वसति—'पश्च' आदेश तथा 'आति' प्रत्यय निपातन से होते हैं,

पश्च आति—इकार की इत्संज्ञा,

पश्चात् सु—विभक्तिकार्य।

(2) पश्चाद् आगतः (पूर्ववत्)।

(3) पश्चाद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।

दिक्पूर्व०—दिशावाची शब्द है पूर्व में, ऐसे अपर शब्द को 'पश्च' आदेश तथा 'आति' प्रत्यय होता है—

(4) दक्षिणपश्चात्

दक्षिणाऽपरस्यां दिशि वसति।

(5) उत्तरपश्चात्

उत्तराऽपरस्यां दिशि वसति।

अर्द्धोत्तर०—दिशावाची शब्द है पूर्वपद में जिसके तथा अर्द्ध शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे 'अपर' शब्द को 'पश्च' आदेश होता है—

(6) दक्षिणपश्चार्धः

दक्षिणाऽपरार्धः।

(7) उत्तरपश्चार्धः

उत्तराऽपराऽर्ध।

विनाऽपि०—जिसके पूर्व में कुछ न हो तथा उत्तरपद में अर्ध शब्द हो, ऐसे 'अपर' शब्द के स्थान पर 'पश्च' आदेश होता है—

(8) पश्चार्धः

अपराऽर्धः।

(2194) पश्च पश्चा च च्छन्दसि *33* (3501)

पश्चपश्चाशब्दौ निपात्येते छन्दसि विषये अस्तातेरर्थे। चकारात् पश्चादित्यपि भवति। अपरस्य पश्चभावोऽकाराकारौ च प्रत्ययौ निपात्येते। परो व्याप्तो जायते पश्च सिंहः। पश्चासिंहः। पश्चात्सिंहः।

अर्थ—पश्च, पश्चा तथा पश्चात् शब्द निपातनसिद्ध हैं, वेद के विषय में।

उदा० (1) पश्च सिंहः
अपर → पश्च अ सु—निपातन से।

(2) पश्चा सिंहः
अपर → पश्च आ सु—निपातन से।

(3) पश्चात् सिंहः
पश्च आति सु।

(2195) उत्तराधरदक्षिणादातिः *34* (1983)

उत्तराधरदक्षिणशब्देभ्यः आतिः प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे। उत्तरस्यां दिशि वसति उत्तराद्वसति। उत्तरादागतः। उत्तराद्रमणीयम्। अधराद्वसति। अधरादागतः। अधराद्रमणीयम्। दक्षिणाद्वसति। दक्षिणादागतः। दक्षिणाद्रमणीयम्।

अर्थ—दिशा, देश तथा काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त व प्रथमान्त उत्तर, अधर व दक्षिण दिशावाची प्रातिपदिकों से 'आति' प्रत्यय होता है, 'अस्ताति' के अर्थ में।

उदा० (1) उत्तराद् वसति
उत्तरस्यां दिशि वसति—'आति' हुआ,
उत्तर आत् सु—इकार की इत्संज्ञा, विभक्तिकार्य।

(2) उत्तराद् आगतः (पूर्ववत्)।
(3) उत्तराद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(4) अधराद् वसति
'आति' हुआ।
(5) अधराद् आगतः (पूर्ववत्)।
(6) अधराद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(7) दक्षिणाद् वसति
'आति' हुआ।
(8) दक्षिणाद् आगतः (पूर्ववत्)।
(9) दक्षिणाद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(2196) एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः *35* (1984)

उत्तराधरदक्षिणशब्देभ्य एनप् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्यामस्तातेरर्थे। अदूरे चेदवधिमानवधेर्भवति। विभक्तित्रये प्रकृतेऽपञ्चम्या इति पञ्चमी पर्युदस्यते, तेनायं सप्तमीप्रथमान्ताद्विज्ञायते प्रत्ययः। उत्तरेण वसति। उत्तराद्वसति। उत्तरतो वसति। उत्तरेण रमणीयम्। उत्तराद्रमणीयम्। उत्तरतो रमणीयम्। अधरेण वसति। अधराद्वसति। अधस्ताद्वसति। अधरेण रमणीयम्। अधराद्रमणीयम्। अधस्ताद्रमणीयम्। दक्षिणेन वसति। दक्षिणाद्वसति। दक्षिणतो वसति। दक्षिणेन रमणीयम्। दक्षिणाद्रमणीयम्। दक्षिणतो रमणीयम्। अदूर इति किम्? उत्तराद्वसति। अपञ्चम्या इति किम्? उत्तरादागतः। *अपञ्चम्या इति प्रागसेः* (म० भा०)। असिप्रत्ययस्तु पञ्चम्यन्तादपि भवति। केचिदिहोत्तरादिग्रहणं नानुवर्त्तयन्ति, दिक्शब्दमात्रात् प्रत्ययं मन्यन्ते-पूर्वेण ग्रामम्, अपरेण ग्रामम्।

अर्थ—दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त व प्रथमान्त दिशावाची उत्तर, अधर व दक्षिण प्रातिपदिकों से 'एनप्' प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि 'निकटता' गम्यमान हो। पूर्वशास्त्र से सप्तमी, पञ्चमी व प्रथमा—इन तीनों विभक्तियों का अनुवर्त्तन प्राप्त था। प्रकृत सूत्र के द्वारा पञ्चमी का निषेध कर दिया गया है। तब सप्तम्यन्त व पञ्चम्यन्त से ही प्रत्यय जानना चाहिए।

उदा० (क) सप्तम्यर्थे—
(1) उत्तरेण वसति
उत्तर एनप्—हलन्त्यम्,
उत्तरेण सु—णत्व, विभक्तिकार्य।

(2) उत्तराद् वसति
उत्तर आति—पक्ष में यथाप्राप्त 'आति' हुआ,
उत्तरात् सु—विभक्तिकार्य।

(3) उत्तरतो वसति
उत्तर अतसुच्—दक्षिणोत्तराभ्यामत०
उत्तरतस् सु—पूर्ववत्।

(ख) प्रथमार्थे—
(4) उत्तरेण रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(5) उत्तराद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(6) उत्तरतो रमणीयम् (पूर्ववत्)।

इसी प्रकार अधर व दक्षिण शब्दों से भी जानना चाहिए।

(7) अधरेण वसति
अधर एनप्।

(8) अधराद् वसति
अधर आति।

(9) अधस्ताद् वसित
अधर अतसुच्।

(10) अधरेण रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(11) अधराद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(12) अधस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(13) दक्षिणेन वसति
दक्षिण एनप्।

(14) दक्षिणाद् वसति
दक्षिण आति।

(15) दक्षिणतो वसति
दक्षिण अतसुच्।

(16) दक्षिणेन रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(17) दक्षिणाद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(18) दक्षिणतो रमणीयम् (पूर्ववत्)।

अदूर—'निकटता' अर्थ गम्यमान रहते 'एनप्' होता है—

(19) उत्तराद् वसति—'एनप्' नहीं हुआ।

अपञ्चम्या—पञ्चम्यन्त दिशावाची शब्दों से 'एनप्' नहीं होता है—

(20) उत्तरादागतः
'एनप्' नहीं हुआ।

'अपञ्चम्याः' का अनुवर्त्तन पूर्वाधरावराणामसि०' (5.3.39) तक है। 'असि' प्रत्यय पञ्चम्यन्त से भी होता है। कुछ विद्वान् यहाँ उत्तर आदि शब्दों का ग्रहण नहीं मानते। उनके अनुसार दिशामात्र वाची शब्द से प्रत्यय होता है—

(21) पूर्वेण ग्रामम्
पूर्व एनप् सु।

(22) अपरेण ग्रामम् (पूर्ववत्)।

(2197) दक्षिणादाच् *36* (1985)

अदूर इति न स्वर्यते, अपञ्चम्या इति वर्त्तते। दक्षिण-शब्दादाच् प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे। दक्षिणा वसति। दक्षिणा रमणीयम्। अपञ्चम्या इत्येव-दक्षिणत आगतः। चकारो विशेषणार्थः-अञ्चूत्तरपदाजाहियुक्त (2.3.29) इति।

अर्थ—दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त व प्रथमान्त दिशावाची दक्षिण प्रातिपदिक से 'अस्ताति' के अर्थ में 'आच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) दक्षिणा वसति
दक्षिण आच् → दक्षिण आ—
दक्षिणा सु—विभक्तिकार्य।

(2) दक्षिणा रमणीयम् (पूर्ववत्)।

अपञ्चम्या०—पञ्चमी के अर्थ में 'आच्' नहीं होता है—

(3) दक्षिणत आगतः
'अतसुच्' हुआ है।

'च्' अनुबन्ध विशेषण के लिए है। ताकि 'अञ्चूत्तरपदाजा०' में इसका ग्रहण हो सके।

(2198) आहि च दूरे *37* (1986)

दक्षिणशब्दादाहिः प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे, चकारादाच्, दूरे चेदवधिमानवधेर्भवति। दक्षिणाहि वसति। दक्षिणा वसति। दक्षिणाहि रमणीयम्। दक्षिणा रमणीयम्। दूर इति किम्? दक्षिणतो वसति। अपञ्चम्या इत्येव-दक्षिणत आगतः।

अर्थ—दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त व प्रथमान्त दिशावाची दक्षिण प्रातिपदिक से 'अस्ताति' के अर्थ में 'आहि' और 'आच्' प्रत्यय होते हैं, यदि 'दूर' अर्थ वाच्य हो।

उदा० (1) दक्षिणाहि वसति
दक्षिण आहि—
दक्षिणाहि सु—विभक्तिकार्य।

(2) दक्षिणा वसति
'आच्' हुआ।

(3) दक्षिणाहि रमणीयम्
'आहि' हुआ।

(4) दक्षिणा रमणीयम्
'आच्' हुआ।

दूर इति०—दूर अर्थ वाच्य हो तो ये प्रत्यय होते हैं—

(5) दक्षिणतो वसति

'अतसुच्' हुआ।

अपञ्चम्या०'—पञ्चमी के अर्थ में ये प्रत्यय नहीं होते हैं—

(6) दक्षिणत आगतः

'अतसुच्' हुआ।

(2199) उत्तराच्च *38* (1987)

उत्तरशब्दादाजाही प्रत्ययौ भवतः अस्तातेरर्थे, दूरे चेदवधिमानवधेर्भवति। उत्तरा वसति। उत्तराहि वसति। उत्तरा रमणीयम्। उत्तराहि रमणीयम्। दूर इत्येव-उत्तरेण प्रयाति। अपञ्चम्या इत्येव-उत्तरादागतः।

अर्थ—दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त व प्रथमान्त दिशावाची 'उत्तर' से 'अस्ताति' के अर्थ में 'आहि' व 'आच्' प्रत्यय होते हैं, यदि 'दूर' अर्थ वाच्य हो।

उदा० (1) उत्तराहि वसति
उत्तर आहि—
उत्तराहि सु—विभक्तिकार्य।

(2) उत्तरा वसति
'आच्' हुआ।

(3) उत्तराहि रमणीयम्
'आहि' हुआ।

(4) उत्तरा रमणीयम्
'आच्' हुआ।

दूर इत्येव—दूर अर्थ वाच्य हो तो प्रत्यय होते हैं—

(5) उत्तरेण प्रयाति
'एनप्' हुआ है।

अपञ्चम्या०—पञ्चमी के अर्थ में प्रत्यय नहीं होते हैं—

(6) उत्तराद् आगतः
'आति' हुआ।

(2200) पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् *39* (1975)

अपञ्चम्या इति निवृत्तम्। तिसृणां विभक्तीनामिह ग्रहणम्। पूर्वाधरावराणामसिः प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे, तत्सन्नियोगेन चैषां यथासंख्यं पुर्, अध्, अव्-इत्येते आदेशा भवन्ति। असीत्यविभक्तिको निर्देशः। पुरो वसति। पुर आगतः। पुरो रमणीयम्। अधो वसति। अध आगतः। अधो रमणीयम्। अवो वसति। अव आगतः। अवो रमणीयम्।

अर्थ—'अपञ्चम्याः' की निवृत्ति हो गई है। तीनों विभक्तियों का यहाँ ग्रहण होता है।

दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त व प्रथमान्त दिशावाची पूर्व, अधर व अवर शब्दों से 'अस्ताति' के अर्थ में 'असि' होता है तथा तीनों प्रकृतियों के स्थान पर यथासंख्य करके पुर्, अध् तथा अव् आदेश होते हैं। 'असि' यह विना विभक्ति का निर्देश है।

उदा० (1) पुरो वसति
पूर्वस्यां दिशि वसति—'असि' हुआ,
पुर् अस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) पुर आगतः (पूर्ववत्)।

(3) पुरो रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(4) अधो वसति
अधर असि → अध् अस्—
अध स् सु—विभक्तिकार्य।

(5) अध आगतः (पूर्ववत्)।

(6) अधो रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(7) अवो वसति
अवर असि → अव् अस्—
अवस् सु—विभक्तिकार्य।

(8) अव आगतः (पूर्ववत्)।

(9) अवो रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(2201) अस्ताति च *40* (1976)

सप्तम्यन्तमेतत्। अस्तातिप्रत्यये परतः पूर्वादीनां यथासंख्यं पुरादय आदेशा भवन्ति। इदमेवादेशविधानं ज्ञापकमस्ताति-रेभ्यो भवति, असिप्रत्यत्येन न बाध्यत इति। पुरस्ताद्वसति। पुरस्तादागतः। पुरस्ताद्रमणीयम्। अधस्ताद्वसति। अधस्ता-दागतः। अधस्ताद्रमणीयम्।

अर्थ—दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त व प्रथमान्त दिशावाची पूर्व, अधर व अवर शब्दों के स्थान पर यथासंख्य करके पुर्, अध् तथा अव् आदेश होते हैं, 'अस्ताति' प्रत्यय परे रहते। यह आदेश विधान ज्ञापक 'अस्ताति'

आदि से ही होता है तथा 'असि' प्रत्यय से इसका बाध नहीं होता।

उदा० (1) पुरस्ताद् वसति
पूर्व अस्ताति → पुर् अस्तात्—
पुरस्तात् सु—विभक्तिकार्य।

(2) पुरस्तादागतः (पूर्ववत्)।
(3) पुरस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(4) अधस्ताद् वसति
अध् अस्तात् सु।

(5) अधस्ताद् आगतः (पूर्ववत्)।
(6) अधस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(7) अवस्ताद् वसति
अवर → अव् अस्ताति सु।

(8) अवस्ताद् आगतः (पूर्ववत्)।
(9) अवस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(2202) विभाषाऽवरस्य *41* (1977)

पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते। अवरस्यास्तातौ परतो विभाषा अव् इत्ययमादेशो भवति। अवस्ताद्वसति। अवस्तादागतः। अवस्ताद्रमणीयम्। अवरस्ताद्वसति। अवरस्तादागतः। अवरस्ताद्रमणीयम्।

अर्थ—पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य प्राप्त होने पर विकल्प कहा जा रहा है। दिशा, देश तथा काल अर्थों में वर्त्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त तथा प्रथमान्त दिशावाची 'अवर' शब्द के स्थान पर 'अव्' आदेश विकल्प से होता है, 'अस्ताति' परे रहते।

उदा० (1) अवस्ताद् वसति
अवर → अव् अस्ताति—
अवस्तात् सु—विभक्तिकार्य।

(2) अवस्ताद् आगतः (पूर्ववत्)।
(3) अवस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।
(4) अवरस्ताद् वसति
पक्ष में 'अव्' आदेश नहीं हुआ।
(5) अवरस्ताद् आगतः (पूर्ववत्)।
(6) अवरस्ताद् रमणीयम् (पूर्ववत्)।

(2203) संख्याया विधार्थे धा *42* (1988)

संख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विधार्थे वर्त्तमानेभ्यो धा प्रत्ययो भवति स्वार्थे। विधा प्रकारः, स च सर्वक्रियाविषय एव गृह्यते। क्रियाप्रकारे वर्त्तमानायाः संख्याया धाप्रत्ययः। एकधा भुङ्क्ते। द्विधा गच्छति। त्रिधा। चतुर्द्धा। पञ्चधा।

अर्थ—क्रिया के प्रकार अर्थ में वर्त्तमान संख्यावाची प्रातिपदिक से 'धा' प्रत्यय होता है। विधा का अर्थ है—प्रकार।

उदा० (1) एकधा
एक प्रकारेण—इस अर्थ में,
एक धा सु—विभक्तिकार्य।

(2) द्विधा
द्वि धा सु—पूर्ववत्।

(3) त्रिधा
त्रि धा सु—पूर्ववत्।

(4) चतुर्द्धा
चतुर् धा चतुर् ध् धा—अचो रहाभ्यां द्वे,
चतुर्द्धा सु—झलां जश् झशि, सु।

(5) पञ्चधा
पञ्चन् धा—नकारलोप,
पञ्चधा सु—सु।

(2204) अधिकरणविचाले च *43* (1989)

संख्याया इत्येव। अधिकरणं द्रव्यम्, तस्य विचालः संख्यान्तराऽऽपादनम्–एकस्यानेकीकरणमनेकस्य वा एकीकरणम्। अधिकरणविचाले गम्यमाने संख्यायाः स्वार्थे धाप्रत्ययो भवति। एकं राशिं पञ्चधा कुरु। अष्टधा कुरु। अनेकमेकधा कुरु।

अर्थ—द्रव्य का विचाल गम्यमान हो तो संख्यावाची प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'धा' होता है। अधिकरण द्रव्य को कहते हैं। एक का अनेक करना तथा अनेक का एक करना।

उदा० (1) (एकं राशिं) पञ्चधा कुरु
पूर्ववत् नकारलोप, विभक्तिकार्य।
(2) अष्टधा कुरु
अष्टन् धा सु।
(3) (अनेकम्) एकधा कुरु
एक धा सु।

(2205) एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् *44* (1990)

एकशब्दात् परस्य धाप्रत्ययस्य ध्यमुञादेशो भवत्य-

न्यतरस्याम्। एकधा राशिं कुरु। ऐकध्यं कुरु (म० भा०)। एकधा भुङ्क्ते। ऐकध्यं भुङ्क्ते। धाप्रकरणादेव लब्धे पुनर्धाग्रहणं विधार्थे विहितस्यापि यथा स्यात्। अनन्तरस्यैवैतत् प्राप्नोति।

अर्थ—क्रिया का प्रकार तथा द्रव्य का विचाल—इन अर्थों में विहित जो 'धा' प्रत्यय है, वह है संख्यावाची 'एक' शब्द से उत्तर, ऐसे 'धा' के स्थान पर 'ध्यमुञ्' प्रत्यय विकल्प से होता है। उकार व ञकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) ऐकध्यं कुरु
एक धा → एक ध्यमुञ्—आदिवृद्धि,
ऐकध्यम् सु—विभक्तिकार्य।

(3) एकधा कुरु
पक्ष में 'ध्यमुञ्' नहीं हुआ।

(3) ऐकध्यं भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।
(4) एकधा (पूर्ववत्)।

'धा' प्रकरण से पूर्वतः लब्ध ही है, तदपि पुनः 'धा' का ग्रहण किया गया है ताकि विधा अर्थ में विहित 'धा' का भी ग्रहण हो जाय।

(2206) द्वित्र्योश्च धमुञ् *45* (1991)

धा इत्यनुवर्त्तते। द्वित्र्योः सम्बन्धिनोः धाप्रत्ययस्य विधार्थेऽधिकरणविचाले च विहितस्य धमुञादेशो भवत्यन्यतरस्याम्। चकारो विकल्पानुकर्षणार्थः। द्विधा। द्वैधम्। त्रिधा। त्रैधम्। *धमुञन्तात्स्वार्थे डदर्शनम्* (म० भा०)। मतिद्वैधानि संश्रयन्ते। मतित्रैधानि संश्रयन्ते।

अर्थ—'धा' का अनुवर्त्तन है। संख्यावाची 'द्वि' तथा 'त्रि' प्रातिपदिकों से उत्तर 'धा' के स्थान पर विकल्प से 'धमुञ्' होता है। चकार से विकल्प का अनुकर्षण होता है। पक्ष में 'धा' भी होता है।

उदा० (1) द्वैधम्
द्वि धा → द्वि धमुञ्—आदिवृद्धि,
द्वैधम् सु—विभक्तिकार्य।

(2) द्विधा
पक्ष में 'धा'।

(3) त्रैधम्
त्रि धमुञ्—पूर्ववत्।

(4) त्रिधा
त्रि धा सु।

धमुञन्तात्०—धमुञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'ड' होता है—

(5) द्वैधानि
द्वि धमुञ् → द्वै धम्—
द्वैध् ड—टिलोप,
दैध जस्—प्रथमा बहुवचन।

(2207) एधाच्च *46* (1992)

द्वित्र्योः सम्बन्धिनोः धाप्रत्ययस्य एधाजादेशो भवत्यन्यतरस्याम्। चकारो विकल्पानुकर्षणार्थः। द्वेधा। द्वैधम्। द्विधा। त्रेधा। त्रैधम्। त्रिधा।

अर्थ—संख्यावाची 'द्वि' तथा 'त्रि' प्रातिपदिकों से उत्तर 'धा' प्रत्यय के स्थान पर 'एधाच्' विकल्प से होता है। चकार विकल्प के अनुकर्षण के लिए है।

उदा० (1) द्वेधा
द्वि एधाच् → द्वेधा—
द्वेधा सु—विभक्तिकार्य।

(2) द्वैधम्
द्वि धा → द्वि धमुञ्—पक्ष में।

(3) द्विधा
पक्ष में 'धा'।

(4) त्रेधा
'एधाच्' हुआ।

(5) त्रैधम्
'धमुञ्' हुआ।

(6) त्रिधा
'धा' हुआ।

(2208) याप्ये पाशप् *47* (1993)

याप्यः कुत्सित इत्युच्यते। याप्ये वर्त्तमानात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे पाशप् प्रत्ययो भवति। कुत्सितो वैयाकरणो वैयाकरणपाशः। याज्ञिकपाशः। यो व्याकरणशास्त्रे प्रवीणो दुःशीलस्तत्र कस्मान्न भवति? यस्य गुणस्य सद्भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तस्य कुत्सायां प्रत्ययः।

अर्थ—याप्य = कुत्सित। निन्दा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'पाशप्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वैयाकरणपाशः
कुत्सितो वैयाकरणः—इस अर्थ में,
वैयाकरण पाशप् सु—हलन्त्यम्।

(2) याज्ञिकपाशः (पूर्ववत्)।

जो व्याकरणशास्त्र में प्रवीण हो, परन्तु दुःशील हो, वह 'याज्ञिकपाश' कहलाता है।

(2209) पूरणाद्भागे तीयादन् *48* (1994)

पूरणप्रत्ययो यस्तीयस्तदन्तात्प्रातिपदिकाद्भागे वर्त्तमानात्स्वार्थेऽन् प्रत्ययो भवति। स्वरार्थं वचनम्। द्वितीयो भागः द्वितीयः। तृतीयः। भाग इति किम्? द्वितीयम्, तृतीयम्, पूरणग्रहणमुत्तरार्थम्, न ह्यपूरणस्तीयोऽस्ति। मुखतीयादिरनर्थकः।

अर्थ—'भाग' अर्थ में वर्त्तमान पूरणार्थक 'तीय' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'अन्' होता है, स्वार्थ में। यह स्वर के लिए विधान है।

उदा० (1) द्वितीयः
द्वि तीय—द्वेस्तीयः,
द्वितीय अन् → द्वितीयः—सु आदि।

(2) तृतीयः
त्रि तीय—त्रेः सम्प्रसार०।

भाग इति—भाग अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'अन्' होता है—

(3) द्वितीयम्
यहाँ 'अन्' नहीं हुआ।
(4) तृतीयम् (पूर्ववत्)।

'पूरण' शब्द का ग्रहण उत्तरशास्त्र के लिए है। अपूरण 'तीय' होता ही नहीं है। मुखतीय आदि अनर्थक होता है।

(2210) प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि *49* (1995)

पूरणाद्भाग इत्येव। प्रागेकादशभ्यः संख्यावाचिभ्यः पूरणप्रत्ययान्तेभ्यो भागे वर्त्तमानेभ्यः स्वार्थेऽन् प्रत्ययो भवति अच्छन्दसि विषये। स्वरार्थं वचनम्। पञ्चमः। सप्तमः। नवमः। दशमः। प्रागेकादशभ्य इति किम्? एकादशः, द्वादशः। अच्छन्दसीति किम्? तस्य पञ्चममिन्द्रियस्यापाक्रामत् (मै०सं० 1.9.4)।

अर्थ—'पूरणाद्भागे' का अनुवर्त्तन है। भाग अर्थ में वर्त्तमान पूरणार्थक प्रत्ययान्त एकादश से पहले-पहले जो संख्यावाची, ऐसे प्रातिपदिकों से 'अन्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय को छोड़कर। स्वर के लिए यह विधान है।

उदा० (1) पञ्चमः
पञ्चन् मट् डट् → पञ्चम अन् सु।

(2) सप्तमः (पूर्ववत्)।
(3) नवमः (पूर्ववत्)।
(4) दशमः (पूर्ववत्)।

केवल स्वर का अन्तर है।

प्रागेका—एकादेश से पूर्व-पूर्व जो शब्द, उससे 'अन्' होता है—

(5) एकादशः
'अन्' नहीं हुआ।

(6) द्वादशः (पूर्ववत्)।

अच्छन्दसी०—वेद के विषय को छोड़कर 'अन्' होता है—

(7) पञ्चमम्
यहाँ 'अन्' नहीं हुआ।

(2211) षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च *50* (1996)

भाग इति वर्त्तते, अच्छन्दसीति च। षष्ठाष्टमाभ्यां भागेऽभिधेयेऽच्छन्दसि विषये ञः प्रत्ययो भवति चकारादँश्च। षष्ठो भागः षाष्ठः। षष्ठः। आष्टमः। अष्टमः।

अर्थ—भागे, अच्छन्दसि—इनका अनुवर्त्तन है। 'भाग' अभिधेय हो तो पूरणार्थक प्रत्ययान्त षष्ठ व अष्टम प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'ञ' तथा 'अन्' होते हैं।

उदा० (1) षाष्ठः
षष्ठ ञ → षाष्ठ अ सु।

(2) षष्ठः
षष्ठ अन् सु।

(3) आष्टमः
अष्टम ञ—आदिवृद्धि।

(4) अष्टमः
'अन्' हुआ।

'ञ' में आदिवृद्धि होती है।

(2212) मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च *51* (1997)

भाग इत्येव । षष्ठाष्टमाभ्यां यथासंख्यं कन्लुकौ च भवतो मानपश्वङ्गयोर्भागयोरभिधेययोः । षष्ठको भागो मानं चेतद्भवति । अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत्तद्भवति । कस्य लुक् ? अस्य लुक्, अनो वा । चकाराद्यथाप्राप्तं च । षाष्ठः । षष्ठः । आष्टमः । अष्टमः । मानपश्वङ्गयोरिति किम् ? षाष्ठः, षष्ठः, आष्टमः, अष्टमः ।

अर्थ—'भागे' का अनुवर्त्तन है। भाग अर्थ में वर्त्तमान मान व पशु-अंगरूप षष्ठ व अष्टम प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'कन्' तथा 'लुक्' होते हैं। 'ञ्' का लुक् होता है अथवा 'अन्' का।

उदा० (1) षाष्ठः
षष्ठको भागो मानम्—लुक् हुआ।

(2) षष्ठः
पक्ष में।

(3) आष्टमः (पूर्ववत्)।
(4) अष्टमः (पूर्ववत्)।

मानपश्व०—मान व पशु-अंग अर्थ में वर्त्तमान शब्द से 'कन्' आदि होते हैं—

(5) षाष्ठः।
(6) षष्ठः।
(7) आष्टमः
(8) अष्टमः
सर्वत्र 'कन्' नहीं हुआ।

(2213) एकादाकिनिच्चासहाये *52* (1998)

एकशब्दादसहायवाचिनः स्वार्थे आकिनिच् प्रत्ययो भवति, चकारात्कन्लुकौ च । आकिनिचः कनो वा लुग्विज्ञायते, स च विधानसामर्थ्यात्पक्षे भवति । एकाकी । एककः । एकः । असहायग्रहणं संख्याशब्दनिरासार्थम्, तदुपादाने हि द्विबह्वोर्न स्यात्–एकाकिनौ, एकाकिनः ।

अर्थ—असहाय अर्थ में वर्त्तमान 'एक' प्रातिपदिक से 'आकिनिच्'; 'कन्' तथा लुक् होते हैं। आकिनिच् अथवा कन् का लुक् होता है। विधानसामर्थ्य से वह पक्ष में होता है।

उदा० (1) एकाकी
एक आकिनिच् → एक आकिन्—इकार व चकार की इत्संज्ञा,
एकाकिन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) एककः
एक कन् सु।

(3) एकः
लुक् हुआ।

असहाय का ग्रहण संख्या के निरास के लिए है। उसके ग्रहण करने से द्वि तथा बहु शब्दों से नहीं होता है।

(2214) भूतपूर्वे चरट् *53* (1999)

पूर्वं भूत इति विगृह्य सुप्सुपेति समासः । भूतपूर्वशब्दोऽतिक्रान्तकालवचनः । प्रकृतिविशेषणं चैतत् । भूतपूर्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे चरट् प्रत्ययो भवति । आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यचरः । सुकुमारचरः । टकारो ङीबर्थः–आढ्यचरी ।

अर्थ—पूर्वं भूतः—इस प्रकार सुप्सुपा समास मानना चाहिए। भूतपूर्व शब्द अतिक्रान्त कालवाची है। यह प्रकृतिविशेषण है। भूतपूर्व अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'चरट्' होता है।

उदा० (1) आढ्यचरः
आढ्यो भूतपर्वः → आढ्य चरट् सु।

(2) सुकुमारचरः
सुकुमार चरट्—पूर्ववत्।

(3) आढ्यचरी
आढ्य चरट्—स्त्रीत्व में 'चरट्' के टित् होने से 'टिड्ढाऽण०' से 'ङीप्' हुआ,
आढ्यचरी सु—विभक्तिकार्य।

(2215) षष्ठ्या रूप्य च *54* (2000)

षष्ठ्यन्तात्प्रातिपदिकाद्रूप्यः प्रत्ययो भवति चकाराच्चरट् च । षष्ठ्यन्तात्प्रत्ययविधानात् सम्प्रति भूतपूर्वग्रहणं प्रत्ययार्थस्य विशेषणं न तु प्रकृत्यर्थविशेषणम् । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः देवदत्तरूप्यः । देवदत्तचरः ।

अर्थ—भूतपर्व अर्थ में वर्त्तमान षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'रूप्य' होता है तथा 'चरट्' होता है। षष्ठ्यन्त से प्रत्यय का विधान होने से अब भूतपूर्व का ग्रहण प्रत्ययार्थ का विशेषण है; प्रकृत्यर्थ का विशेषण नहीं है।

अर्थ—याप्य = कुत्सित। निन्दा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'पाशप्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वैयाकरणपाशः
कुत्सितो वैयाकरणः—इस अर्थ में,
वैयाकरण पाशप् सु—हलन्त्यम्।

(2) याज्ञिकपाशः (पूर्ववत्)।

जो व्याकरणशास्त्र में प्रवीण हो, परन्तु दुःशील हो, वह 'याज्ञिकपाश' कहलाता है।

(2209) पूरणाद्भागे तीयादन् *48* (1994)

पूरणप्रत्ययो यस्तीयस्तदन्तात्प्रातिपदिकाद्भागे वर्त्तमानात्स्वार्थेऽन् प्रत्ययो भवति। स्वरार्थं वचनम्। द्वितीयो भागः द्वितीयः। तृतीयः। भाग इति किम्? द्वितीयम्, तृतीयम्, पूरणग्रहणमुत्तरार्थम्, न ह्यपूरणस्तीयोऽस्ति। मुखतीयादिरनर्थकः।

अर्थ—'भाग' अर्थ में वर्त्तमान पूरणार्थक 'तीय' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'अन्' होता है, स्वार्थ में। यह स्वर के लिए विधान है।

उदा० (1) द्वितीयः
द्वि तीय—द्वेस्तीयः,
द्वितीय अन् → द्वितीयः—सु आदि।

(2) तृतीयः
त्रि तीय—त्रेः सम्प्रसार०।

भाग इति—भाग अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'अन्' होता है—

(3) द्वितीयम्
यहाँ 'अन्' नहीं हुआ।
(4) तृतीयम् (पूर्ववत्)।

'पूरण' शब्द का ग्रहण उत्तरशास्त्र के लिए है। अपूरण 'तीय' होता ही नहीं है। मुखतीय आदि अनर्थक होता है।

(2210) प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि *49* (1995)

पूरणाद्भाग इत्येव। प्रागेकादशभ्यः संख्यावाचिभ्यः पूरणप्रत्ययान्तेभ्यो भागे वर्त्तमानेभ्यः स्वार्थेऽन् प्रत्ययो भवति अच्छन्दसि विषये। स्वरार्थं वचनम्। पञ्चमः। सप्तमः। नवमः। दशमः। प्रागेकादशभ्य इति किम्? एकादशः, द्वादशः। अच्छन्दसीति किम्? तस्य पञ्चममिन्द्रियस्यापाक्रामत् (मै०सं० 1.9.4)।

अर्थ—'पूरणाद्भागे' का अनुवर्त्तन है। भाग अर्थ में वर्त्तमान पूरणार्थक प्रत्ययान्त एकादश से पहले-पहले जो संख्यावाची, ऐसे प्रातिपदिकों से 'अन्' प्रत्यय होता है, वेद के विषय को छोड़कर। स्वर के लिए यह विधान है।

उदा० (1) पञ्चमः
पञ्चन् मट् डट् → पञ्चम अन् सु।

(2) सप्तमः (पूर्ववत्)।
(3) नवमः (पूर्ववत्)।
(4) दशमः (पूर्ववत्)।

केवल स्वर का अन्तर है।

प्रागेका—एकादेश से पूर्व-पूर्व जो शब्द, उससे 'अन्' होता है—

(5) एकादशः
'अन्' नहीं हुआ।

(6) द्वादशः (पूर्ववत्)।

अच्छन्दसी०—वेद के विषय को छोड़कर 'अन्' होता है—

(7) पञ्चमम्
यहाँ 'अन्' नहीं हुआ।

(2211) षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च *50* (1996)

भाग इति वर्त्तते, अच्छन्दसीति च। षष्ठाष्टमाभ्यां भागेऽभिधेयेऽच्छन्दसि विषये ञः प्रत्ययो भवति चकारादँश्च। षष्ठो भागः षाष्ठः। षष्ठः। आष्टमः। अष्टमः।

अर्थ—भागे, अच्छन्दसि—इनका अनुवर्त्तन है। 'भाग' अभिधेय हो तो पूरणार्थक प्रत्ययान्त षष्ठ व अष्टम प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'ञ' तथा 'अन्' होते हैं।

उदा० (1) षाष्ठः
षष्ठ ञ → षाष्ठ अ सु।

(2) षष्ठः
षष्ठ अन् सु।

(3) आष्टमः
अष्टम ञ—आदिवृद्धि।

(4) अष्टमः
'अन्' हुआ।
'ञ' में आदिवृद्धि होती है।

(2212) मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च *51* (1997)

भाग इत्येव । षष्ठाष्टमाभ्यां यथासंख्यं कन्लुकौ च भवतो मानपश्वङ्गयोर्भागयोरभिधेययोः । षष्ठको भागो मानं चेतद्भवति । अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत्तद्भवति । कस्य लुक् ? अस्य लुक्, अनो वा । चकाराद्यथाप्राप्तं च । षाष्ठः । षष्ठः । आष्टमः । अष्टमः । मानपश्वङ्गयोरिति किम् ? षाष्ठः, षष्ठः, आष्टमः, अष्टमः ।

अर्थ—'भागे' का अनुवर्त्तन है । भाग अर्थ में वर्त्तमान मान व पशु-अंगरूप षष्ठ व अष्टम प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके 'कन्' तथा 'लुक्' होते हैं । 'ञ्' का लुक् होता है अथवा 'अन्' का ।

उदा० (1) षाष्ठः
षष्ठको भागो मानम्—लुक् हुआ ।

(2) षष्ठः
पक्ष में ।

(3) आष्टमः (पूर्ववत्) ।
(4) अष्टमः (पूर्ववत्) ।

मानपश्व०—मान व पशु-अंग अर्थ में वर्त्तमान शब्द से 'कन्' आदि होते हैं—

(5) षाष्ठः ।
(6) षष्ठः ।
(7) आष्टमः
(8) अष्टमः
सर्वत्र 'कन्' नहीं हुआ ।

(2213) एकादाकिनिच्चासहाये *52* (1998)

एकशब्दादसहायवाचिनः स्वार्थे आकिनिच् प्रत्ययो भवति, चकारात्कन्लुकौ च । आकिनिचः कनो वा लुग्विज्ञायते, स च विधानसामर्थ्यात्पक्षे भवति । एकाकी । एककः । एकः । असहायग्रहणं संख्याशब्दनिरासार्थम्, तदुपादाने हि द्विबह्वोर्न स्यात्–एकाकिनौ, एकाकिनः ।

अर्थ—असहाय अर्थ में वर्त्तमान 'एक' प्रातिपदिक से 'आकिनिच्'; 'कन्' तथा लुक् होते हैं । आकिनिच् अथवा कन् का लुक् होता है । विधानसामर्थ्य से वह पक्ष में होता है ।

उदा० (1) एकाकी
एक आकिनिच् → एक आकिन्—इकार व चकार की इत्संज्ञा,
एकाकिन् सु—विभक्तिकार्य ।

(2) एककः
एक कन् सु ।

(3) एकः
लुक् हुआ ।

असहाय का ग्रहण संख्या के निरास के लिए है । उसके ग्रहण करने से द्वि तथा बहु शब्दों से नहीं होता है ।

(2214) भूतपूर्वे चरट् *53* (1999)

पूर्वं भूत इति विगृह्य सुप्सुपेति समासः । भूतपूर्वशब्दोऽतिक्रान्तकालवचनः । प्रकृतिविशेषणं चैतत् । भूतपूर्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे चरट् प्रत्ययो भवति । आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यचरः । सुकुमारचरः । टकारो ङीबर्थः–आढ्यचरी ।

अर्थ—पूर्वं भूतः—इस प्रकार सुप्सुपा समास मानना चाहिए । भूतपूर्व शब्द अतिक्रान्त कालवाची है । यह प्रकृतिविशेषण है । भूतपूर्व अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'चरट्' होता है ।

उदा० (1) आढ्यचरः
आढ्यो भूतपर्वः → आढ्य चरट् सु ।

(2) सुकुमारचरः
सुकुमार चरट्—पूर्ववत् ।

(3) आढ्यचरी
आढ्य चरट्—स्त्रीत्व में 'चरट्' के टित् होने से 'टिड्ढाऽण०' से 'ङीप्' हुआ,
आढ्यचरी सु—विभक्तिकार्य ।

(2215) षष्ठ्या रूप्य च *54* (2000)

षष्ठ्यन्तात्प्रातिपदिकाद्रूप्यः प्रत्ययो भवति चकाराच्चरट् च । षष्ठ्यन्तात्प्रत्ययविधानात् सम्प्रति भूतपूर्वग्रहणं प्रत्ययार्थस्य विशेषणं न तु प्रकृत्यर्थविशेषणम् । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः देवदत्तरूप्यः । देवदत्तचरः ।

अर्थ—भूतपर्व अर्थ में वर्त्तमान षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'रूप्य' होता है तथा 'चरट्' होता है । षष्ठ्यन्त से प्रत्यय का विधान होने से अब भूतपूर्व का ग्रहण प्रत्ययार्थ का विशेषण है; प्रकृत्यर्थ का विशेषण नहीं है ।

उदा० (1) देवदत्तरूप्यः
देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः—'रूप्य' हुआ।

(2) देवदत्तचरः
'चरट्' हुआ।

(2216) अतिशायने तमबिष्ठनौ *55* (2001)

अतिशयनमतिशायनम्, प्रकर्षः निपातनद्दीर्घत्वम्। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। अतिशायनविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे तमबिष्ठनौ प्रत्ययौ भवतः। प्रकृत्यर्थविशेषणं च स्वार्थिकानां द्योत्यं भवति। सर्व इमे आढ्याः, अयमेषामतिशयेनाढ्यः आढ्यतमः। दर्शनीयतमः। सुकुमारतमः। सर्व इमे पटवः, अयमेषामतिशयेन पटुः पटिष्ठः। लघिष्ठः। गरिष्ठः। यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपरः प्रत्ययो भवत्येव। देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे (वा०सं० 1.1)। युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणामिति।

अर्थ—अतिशयन को अतिशायन कहते हैं। निपातन से दीर्घ हुआ है। यह प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'तमप्' व 'इष्ठन्' प्रत्यय होते हैं। प्रकृत्यर्थ विशेषण स्वार्थिकों का द्योत्य होता है। प्रकर्ष दो या अधिक में हुआ करता है। दो में प्रकर्ष के लिए 5.3.57 से तरप् व ईयसुन् का विधान किया गया है।

अतः प्रकृत सूत्र का क्षेत्र दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में से एक का प्रकर्ष-प्रदर्शन है।

तमप् प्रत्यय सभी शब्दों से हो जाता है, परन्तु इष्ठन् केवल गुणवाचक शब्दों से ही होता है (द्र०—5.3.58)।

उदा० (1) आढ्यतमः
सर्व इमे आढ्याः, अयम् एषाम् अतिशयेनाऽऽढ्यः
आढ्य तमप्—हलन्त्यम्।
आढ्यतम सु—विभक्तिकार्य।

(2) दर्शनीयतमः (पूर्ववत्)।
(3) सुकुमारतमः (पूर्ववत्)।
(4) पटिष्ठः
अयम् एषाम् अतिशयेन पटुः
पटु इष्ठन्—टेः,
पटिष्ठ सु—विभक्तिकार्य।
(5) लघिष्ठः
लघु इष्ठन्।
(6) गरिष्ठः
गुरु इष्ठन् → गर इष्ठ सु।

यदि प्रकर्षवान् वस्तुओं में पुनः प्रकर्ष कहना इष्ट हो तो आतिशायिकान्त शब्द से पर दूसरा प्रत्यय होता है—

(7) श्रेष्ठतमाय
श्रेष्ठ तमप् ङे।

इसी प्रकार—युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्।

(2217) तिङश्च *56* (2002)

तिङन्ताच्चातिशायने द्योत्ये तमप् प्रत्ययो भवति। ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकारात्तिङो न प्राप्नोतीति इदं वचनम्। सर्व इमे पचन्तीति अयमेषामतिशयेन पचति पचतितमाम्। जल्पतितमाम्। इष्ठन्नोदाह्रियते, गुणवचने तस्य नियमितत्वात्।

अर्थ—प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान तिङन्त से 'तमप्' होता है। 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' का अधिकार होने से 'तिङ्' से प्रत्यय प्राप्त नहीं था, अतः विधान किया गया।

उदा० (1) पचतितमाम्
सर्व इमे पचन्तीति अयमेषामतिशयेन पचति—
पचति तमप् → पचतितम आमु—किमेत्तिङव्ययघा०
पचतितमाम् सु—यस्येति च, विभक्तिकार्य।

इष्ठन्नो०—गुणवचन में इसके नियमित होने से यहाँ 'पचतितमाम्' यह इष्ठन् का उदाहरण दिया गया है।

(2218) द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ *57* (2005)

द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम्। विभक्तव्यो विभज्यः, निपातनाद्यत्। द्व्यर्थे विभज्ये चोपपदे प्रातिपदिकात्तिङन्ताच्चातिशायने तरबीयसुनौ प्रत्ययौ भवतः। तमबिष्ठनोरपवादः। यथासंख्यमत्र नेष्यते। द्वाविमावाढ्यौ, अयमनयोरतिशयेनाढ्यः आढ्यतरः। सुकुमारतरः। पचतितराम्। जल्पतितराम्। ईयसुन् खल्वपि–द्वाविमौ पटू, अयमनयोरतिशयेन पटुः पटीयान्। लघीयान्। विभज्ये चोपपदे–माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। दर्शनीयतराः। पटीयांसः। लघीयांसः।

अर्थ—दो अर्थ के वाचक को द्विवचन कहते हैं। विभाग करने योग्य को विभज्य कहते हैं। निपातन से यत् हुआ है। दो अर्थों

का प्रातिपदिक शब्द तथा विभाग करने योग्य शब्द—इनके उपपद होने पर प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुबन्त तथा तिङन्त से 'तरप्' व 'ईयसुन्' होते हैं। ये तमप् व इष्ठन् के अपवाद हैं। यहाँ यथासंख्य नहीं होते हैं। यहाँ 'उपपद' शब्द के द्वारा पारिभाषिक 'उपपद' का ग्रहण नहीं होता है।

अतः 'उपपद' का अर्थ है—समीप उच्चरित पद।

प्रकृति, प्रत्यय व उपपदों के समसंख्यक होने पर भी यहाँ यथासंख्य नियम लागू नहीं होता है।

तरप् तथा ईयसुन् प्रत्यय दो में एक का प्रकर्ष बताने के लिए होता है। तरप् के पकार की तथा ईयसुन् के उकार व नकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) आढ्यतरः
द्वाविमावाढ्यौ, अनयोरयमतिशयेनाऽऽढ्यतरः।

(2) सुकुमारतरः (पूर्ववत्)।
(3) पचतितराम्
पचति तरप् आमु सु।
(4) जल्पतितराम् (पूर्ववत्)।
(5) पटीयान्
पटु ईयसुन् → पट् ईयस्—
पटीयस् सु—विभक्तिकार्य।
(6) लघीयान् (पूर्ववत्)।

विभाग करने योग्य के उपपद रहते 'तरप्' आदि होते हैं—
(7) माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः
(8) दशनीयतराः
(9) पटीयांसः
(10) लघीयांसः
सर्वत्र बहुवचन के रूप हैं। शेष कार्य पूर्ववत् होते हैं।

(2219) अजादी गुणवचनादेव *58* (2006)

इष्ठन्नीयसुनावजादी सामान्येन विहितौ, तयोरयं विषय-नियमः क्रियते-गुणवचनादेव भवतस्तौ नान्यस्मादिति। पटीयान्। लघीयान्। पटिष्ठः। लघिष्ठः। इह न भवतः-पाचकतरः, पाचकतम इति। एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः-प्रत्ययनियमोऽयं न प्रकृतिनियम इति। पटुतरः। पटुतमः।

अर्थ—इष्ठन् व ईयसुन्—ये जो अजादि प्रत्यय कहे गये हैं, इनके विषय का यह नियम किया जा रहा है। (पूर्वोक्त चार प्रत्ययों—तमप्, इष्ठन्, तरप् व ईयसुन् में से) अजादि प्रत्यय गुणवाची प्रातिपदिक से ही होते हैं। इस प्रकार 'तमप्' व 'तरप्' सभी प्रातिपदिकों से हो जाते हैं।

उदा० (1) पटीयान्
पटु ईययुन् सु।
(2) लघीयान् (पूर्ववत्)।
(3) पटिष्ठः
पटु इष्ठन् सु।
(4) लघिष्ठः
'इष्ठन्' हुआ।
निम्नलिखित में नहीं होता है—
(5) पाचकतरः
'ईयसुन्' नहीं हुआ।
(6) पाचकतमः
'इष्ठन्' नहीं हुआ।

'एव' का ग्रहण अवधारण अर्थ में है। यहाँ प्रत्यय का नियमन है, प्रकृति का नियमन नहीं है। यथा—
(7) पटुतरः (पूर्ववत्)।
(8) पटुतमः (पूर्ववत्)।

(2220) तुश्छन्दसि *59* (2007)

तुरिति तृन्तृचोः सामान्येन ग्रहणम्। त्रन्ताच्छन्दसि विषये अजादी प्रत्ययौ भवतः। पूर्वेण गुणवचनादेवेति नियमे कृते छन्दसि प्रकृत्यन्तराण्यभ्यनुज्ञायन्ते, त्रन्तादप्यजादी भवत इति। आसुतिं करिष्ठः (ऋ० 7.97.7)। दोहीयसी धेनुः। भस्याढे तद्धिते (6.3.35) इति पुंवद्भावे कृते तुरिष्ठेमेयस्स्विति (3.4.154) तृचो निवृत्तः।

अर्थ—'तुः' के द्वारा तृन् व तृच् का सामान्य रूप से ग्रहण होता है। वेद के विषय में तृन् व तृच् प्रत्ययान्त शब्दों से अजादि प्रत्यय होते हैं। पूर्वसूत्र के द्वारा गुणवाची शब्दों से नियम किए जाने पर वेद के विषय में दूसरी प्रकृतियों से विधान किया जा रहा है कि 'तृ' प्रत्ययान्त से भी अजादि प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) करिष्ठः (ऋ०7.97.7)
कर्तृ इष्ठन्—अतिशायने तमबि०, तुश्छन्दसि,
कर् इष्ठ—तुरिष्ठेमेयस्सु,
(2) दोहीयसी

दुह् तृन् → दोह् तृ—पुगन्तलघूपधस्य०,
दोघ् तृ—दादेर्धातोर्घः,
दोग् धृ—झषस्तथोर्धोऽधः, झलां जश् झशि,
दोग्धृ ईयसुन्—तुरिष्ठेमे०,
दोग् → दोह् ईयस् ङीप्—उगितश्च, विभक्तिकार्य।

(2221) प्रशस्यस्य श्रः *60* (2009)

प्रशस्यशब्दस्य श्र इत्ययमादेशो भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः। अजादी इति प्रकृतस्य सप्तमी विभक्तिर्विपरिणम्यते। ननु च प्रशस्यशब्दस्यागुणवचनत्वादजादी न सम्भवतः ? एवं तर्हि आदेशविधानसामर्थ्यात्तद्विषयो नियमो न प्रवर्त्तते–अजादी गुणवचनादेवेति। एवमुत्तरेष्वपि योगेषु विज्ञेयम्। सर्व इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः। उभाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः, श्रेयान्। अयमस्मात् श्रेयान्। प्रकृत्यैकाजिति (6.4.163) प्रकृतिभावाच्छ्रशब्दस्य टिलोपयस्येतिलोपौ न भवतः।

अर्थ—अजादि (इष्ठन् व ईयसुन्) प्रत्यय परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'श्र' आदेश होता है। 'अजादि' यह सप्तमी विभक्ति में विपरिणत होकर 'अजादौ' बन जाता है। कारण कि प्रशस्य शब्द के गुणवाची न होने से इससे अजादि प्रत्यय सम्भव नहीं होते हैं। आदेश-विधानसामर्थ्य से तद्विषयक नियम भी प्रवृत्त नहीं होता है—गुणवाची से ही होते हैं। इसी प्रकार उत्तरवर्ती योगों में भी जानना चाहिए।

उदा० (1) श्रेष्ठः
सर्वोऽयमेषामतिशयेन प्रशस्यः—
प्रशस्य → श्र इष्ठन्—आद् गुणः,
श्रेष्ठ सु—विभक्तिकार्य।

(2) श्रेयान्
प्रशस्ययोरतिशयेन प्रशस्यः—
प्रशस्य → श्र ईयसुन्—अनुबन्धलोप,
श्रेयान्—विभक्तिकार्य।
'टेः' से लोप प्राप्त हुआ, 'प्रकृत्यैकाच्' से प्रकृतिभाव हुआ। 'यस्येति च' से लोप नहीं होता है।

(2222) ज्य च *61* (2011)

प्रशस्यशब्दस्य ज्य इत्ययमादेशो भवति अजाद्योः प्रत्ययोः परतः। सर्व इमे प्रशस्याः अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः ज्येष्ठः। उभाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः ज्यायान्। अयमस्माज्ज्यायान्। ज्यादादीयसः (6.4.160) इत्याकारः।

अर्थ—अजादि प्रत्यय (इष्ठन् व ईयसुन्) परे रहते 'प्रशस्य' के स्थान पर 'ज्य' आदेश होता है।

उदा० (1) ज्येष्ठः
अयमेषाम् अतिशयेन प्रशस्यः—
ज्य इष्ठन्—टेः, प्रकृत्यैकाच्,
ज्येष्ठ सु—विभक्तिकार्य।

(2) ज्यायान्
अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः—
ज्य ईयसुन्—आदेः परस्य, ज्यायादीयसः,
ज्य आय स्—टेः, प्रकृत्यैकाच्,
ज्यायान्—अकः सवर्णे दीर्घः, सु।

(2223) वृद्धस्य च *62* (2013)

वृद्धशब्दस्य च ज्य इत्ययमादेशो भवत्यजाद्योः प्रत्यययोः परतः। तयोश्च सत्त्वं नियमाभावेन पूर्ववज्ज्ञाप्यते। सर्व इमे वृद्धाः, अयमेषामतिशयेन वृद्धः ज्येष्ठः। उभाविमौ वृद्धौ, अयमनयोरतिशयेन वृद्धः ज्यायान्। अयमस्माज्ज्यायान्। प्रियस्थिर (6.4.157) इत्यादिना वृद्धशब्दस्य वर्षादेशो विधीयते। वचनसामर्थ्यात् पक्षे सोऽपि भवति–वर्षिष्ठः, वर्षीयानिति।

अर्थ—अजादि (इष्ठन् व ईयसुन्) प्रत्यय परे रहते 'वृद्ध' शब्द के स्थान पर 'ज्य' होता है। यह सब पूर्व की तरह होता है।

उदा० (1) ज्येष्ठः
सर्वे इमे वृद्धाः, अयमेषामतिशयेन वृद्धः—
ज्य इष्ठन् सु—पूर्ववत्।

(2) ज्यायान्
अयमनयोरतिशयेन वृद्धः—पूर्ववत्।

प्रियस्थिर० इत्यादि के द्वारा 'वृद्ध' शब्द के स्थान पर 'वर्ष' आदेश का विधान किया जाता है। वचनसामर्थ्य से पक्ष में वह भी होता है।

(3) वर्षिष्ठः
वृद्ध → वर्ष इष्ठन् सु।
(4) वर्षीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

(2224) अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ *63* (2014)

अन्तिकबाढयोर्यथासंख्यं नेद, साध–इत्येतावादेशौ भवतोऽजाद्योः परतः। तयोश्च सत्त्वं पूर्ववद्विज्ञेयम्। निमित्तभूतयोर्यथासंख्यमत्र नेष्यते। सर्वाणीमान्यन्तिकानि, इदमेषामतिशयेनान्तिकं नेदिष्ठम्। उभे इमे अन्तिके, इदमनयोरतिशयेन नेदीयः। इदमस्मान्नेदीयः। सर्व इमे बाढमधीयते, अयमेषामतिशयेन बाढमधीते साधिष्ठः। उभाविमौ बाढमधीयाते, अयमनयोरतिशयेन बाढमधीते साधीयः। अयमस्मात् साधीयोऽधीते।

अर्थ—अजादि (इष्ठन् व ईयसुन्) प्रत्ययों के परे रहते अन्तिक और बाढ प्रातिपदिकों के स्थान पर यथासंख्य करके 'नेद' तथा 'साध' आदेश होते हैं। इन दोनों को भी पूर्ववत् जानना चाहिए। निमित्तभूत शब्दों का यथासंख्य नहीं होता है।

उदा० (1) नेदिष्ठम्
इदमेषाम् अतिशयेनाऽन्तिकम्—
अन्तिक इष्ठन् → नेद इष्ठ सु—विभक्तिकार्य।

(2) नेदीयः
इदमनयोरतिशयेन
नेद ईयसुन् सु—विभक्तिकार्य।

(3) साधिष्ठः
अयम् एषामतिशयेन बाढमधीते—
बाढ → साध इष्ठन्—विभक्तिकार्य।

(4) साधीयान्
बाढ → साध ईयसुन्—
साधीयस् सु—पूर्ववत्।

(2225) युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् *64* (2019)

युवाल्पशब्दयोः कनित्ययमादेशो भवत्यन्यतरस्यामजाद्योः परतः। तयोश्च सत्त्वं पूर्ववज्ज्ञेयम्। सर्व इमे युवानः, अयमेषामतिशयेन युवा कनिष्ठः। द्वाविमौ युवानौ, अयमनयोरतिशयेन युवा कनीयान्। यविष्ठः। यवीयान्। सर्व इमेऽल्पाः, अयमेषामतिशयेनाल्पः कनिष्ठः। उभाविमावल्पौ, अयमनयोरतिशयेनाल्पः कनीयान्। अयमस्मात् कनीयान्, अल्पिष्ठः, अल्पीयानिति वा।

अर्थ—अजादि (इष्ठन् व ईयसुन्) प्रत्यय परे रहते 'युव' तथा 'अल्प' शब्दों के स्थान पर 'कन्' विकल्प से होता है। इनको भी पूर्ववत् जानना चाहिए। 'कन्' के नकार की इत्संज्ञा नहीं होती।

उदा० (1) कनिष्ठः
अयमेषामतिशयेन युवा—
युवन् इष्ठन् → कन् इष्ठ सु।

(2) यविष्ठः
पक्ष में 'स्थूलदूरयुव०' से 'यु' आदेश, गुण आदि होकर रूप बनता है।

(3) कनीयान्
युवन् → कन् ईयसुन् सु।

(4) यवीनान्
पक्ष में 'युवन्' को 'यु' आदेश आदि होकर रूप बनता है।

(5) अल्पिष्ठः
पक्ष में।

(6) अल्पीयान्—पक्ष में।

(2226) विन्मतोर्लुक् *65* (2020)

विनो मतुपश्च लुग् भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः। इदमेव वचनं ज्ञापकमजादिसद्भावस्य। सर्व इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः। उभाविमौ स्रग्विणौ, अयमनयोरतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान्। अयमस्मात् स्रजीयान्। सर्व इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन त्वग्वी त्वचिष्ठः। उभाविमौ त्वग्वन्तौ, अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान् त्वचीयान्। अयमस्मात्त्वचीयान्।

अर्थ—अजादि (इष्ठन् व ईयसुन्) प्रत्यय परे रहते 'विन्' और 'मतुप्' प्रत्ययों का लुक् होता है। यह लुक् विधान अजादि के भाव का ज्ञापक है।

उदा० (1) स्रजिष्ठः
स्रज् विनि—'अस्मायामेधास्रजो०' से 'विनि',
स्रग्विन् सु—क्विन् प्रत्ययस्य कुः, विभक्तिकार्य।
सर्व इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी—
स्रग्विन् इष्ठन्—अतिशायने तमबि०,
स्रज् इष्ठन्—'विनि' का लुक्, निमित्ताऽपाये नैमित्तिक०,
स्रजिष्ठः—यचि भम्, टेः, प्रकृत्यैकाच्, भसंज्ञा होने से कुत्व नहीं, सु।

(2) स्रजीयान्
स्रग्वी—पूर्ववत्।

स्रग्विणौ—'औ' विभक्ति,
अयमनयोरतिशयेन स्रग्वी—इस अर्थ में 'ईयसुन्',
स्रज् ईयसुन्—लुक्, कुत्व की निवृत्ति,
स्रजीयान्—सु।

(3) त्वग्वन्तः
त्वच् मतुप्—तदस्याऽस्त्यस्मि०,
त्वच् वत्—मादुपधायाश्च०,
त्वग्वत् सु—चोः कुः, सु।
सर्व इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन त्वग्वान्—
त्वग्वत् इष्ठन्—प्रत्यय का लुक्, कुत्व की निवृत्ति,
त्वच् इष्ठन् सु—विभक्तिकार्य, पूर्ववत् प्रकृतिभाव।

(4) त्वचीयान्
त्वग्वत् ईयसुन् सु—सभी कार्य पूर्ववत्।

(2227) प्रशंसायां रूपप् *66* (2021)

प्रशंसा स्तुतिः, प्रकृत्यर्थस्य विशेषणं चैतत्। प्रशंसा-विशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे रूपप् प्रत्ययो भवति। स्वार्थिकाश्च प्रत्ययाः प्रकृत्यर्थविशेषस्य द्योतका भवन्ति। प्रशस्तो वैयाकरणो वैयाकरणरूपः। याज्ञिक-रूपः। प्रकृत्यर्थस्य वैशिष्ट्ये प्रशंसा भवति। वृषलरूपोऽयं यः पलाण्डुना सुरां पिबति (म०भा०)। चोररूपः दस्युरूपः योऽक्ष्णोरप्यञ्जनमपहरेत्। तिङश्चेत्यनुवर्त्तते-पचतिरूपम्, पचतोरूपम्। क्रियाप्रधानमाख्यातम्, एका च क्रियेति रूपप्प्रत्ययान्ताद् द्विवचनबहुवचने न भवतः। नपुंसकलिङ्गन्तु भवति, लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य।

अर्थ—प्रशंसा = स्तुति। यह प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। प्रशंसा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से 'रूपप्' होता है, स्वार्थ में। स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृत्यर्थ विशेष के द्योतक होते हैं।

उदा० (1) वैयाकरणरूपः
प्रशस्तो वैयाकरणः → वैयाकरण रूपप्—
वैयाकरणरूप सु—विभक्तिकार्य।

(2) याज्ञिकरूपः (पूर्ववत्)।
प्रकृत्यर्थ के वैशिष्ट्य में प्रशंसा होती है।

(3) वृषलरूपः
यः पलाण्डुना सुरां पिबति।

(4) चोररूपः (पूर्ववत्)।

(5) दस्युरूपः
पूर्ववत्। योऽक्ष्णोरप्यञ्जनमपहरेत्।

(6) पचतिरूपम् (पूर्ववत्)।
(7) पचतोरूपम् (पूर्ववत्)।

आख्यात क्रियाप्रधान होता है। रूपप् प्रत्ययान्त से द्विवचन व बहुवचन में नहीं होते हैं। लिंग के लोकाश्रित होने से नपुंसक लिंग तो होता है।

(2228) ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः *67* (2022)

सम्पूर्णता पदार्थानां समाप्तिः। स्तोकेनासम्पूर्णता ईषद-समाप्तिः। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। ईषदसमाप्तिविशिष्टे स्वार्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् कल्पब्, देश्य, देशीयर्-इत्येते प्रत्यया भवन्ति। ईषदसमाप्तः पटुः पटुकल्पः। पटुदेश्यः। पटुदेशीयः। मृदुकल्पः। मृदुदेश्यः। मृदुदेशीयः। तिङश्च (5.3.56) इत्येव-पचतिकल्पम्, जल्पतिकल्पम्।

अर्थ—समाप्ति = सम्पूर्णता। ईषद् = थोड़ा। यह प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। कुछ न्यूनता विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुबन्त व तिङन्त से स्वार्थ में कल्पप्, देश्य तथा देशीयर् प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) पटुकल्पः
ईषदसमाप्तः पटुः—
पटु कल्पप्—विभक्तिकार्य।

(2) पटुदेश्यः
पटु देश्य सु—पूर्ववत्।

(3) पटुदेशीयः
पटु देशीयर् सु—पूर्ववत्।

(4) मृदुकलः (पूर्ववत्)।
(5) मृदुदेश्यः
'देश्य' हुआ।

(6) मृदुदेशीयः
'देशीयर्' हुआ।

(7) पचतिकल्पम् (पूर्ववत्)।
(8) जल्पतिकल्पम् (पूर्ववत्)।

स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिंगवचनान्यनुवर्त्तन्ते अर्थात् स्वार्थिक प्रत्ययान्त शब्द में प्रकृति के अनुसार लिंग व वचन का प्रयोग

होता है। यथा—विद्वत्कल्पः। यहाँ 'विद्वस्' के पुल्लिङ्ग व एकवचन होने से 'विद्वत्कल्प' में पुंस्त्व तथा एकवचन का योग है।

(2229) विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु *68* (2023)

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् सुबन्ताद्विभाषा बहुच् प्रत्ययो भवति, स च पुरस्तादेव भवति, न परतः। चित्करणमन्तोदात्तार्थम्। ईषदसमाप्तः पटुः बहुपटुः। बहुमृदुः। बहुगुडा द्राक्षा। विभाषावचनात् कल्पबादयोऽपि भवन्ति। सुब्ग्रहणं तिङन्तान्मा भूदिति।

अर्थ—न्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुबन्त से 'बहुच्' प्रत्यय विकल्प से होता है, परन्तु वह प्रत्यय प्रकृति से पूर्व ही होता है; प्रकृति से पर नहीं होता। 'च्' अनुबन्ध अन्तोदात्त स्वर के लिए है।

उदा० (1) बहुपटुः
ईषदसमाप्तः पटुः → बहुच् पटु सु—विभक्तिकार्य।
(2) बहुमृदुः (पूर्ववत्)।
(3) बहुगुडा द्राक्षा
स्त्रीत्व में 'टाप्'।

'विभाषा' का ग्रहण होने से 'कल्पप्' आदि भी पक्ष में होते हैं। 'सुपः' का फल यह है कि तिङन्त से यह नहीं होता।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बहुच् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व होता है। इसलिए 'बहुपटु' इसके तद्धितान्त न होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो पाती। तब 'अर्थवदधातुर०' से उक्त संज्ञा होती है।

पदमञ्जरीकार आदि कई वैयाकरण 'सुपः' में षष्ठी विभक्ति मानते हैं।[1]

(2230) प्रकारवचने जातीयर् *69* (2024)

सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः, तस्य वचने। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। सुबन्तात्प्रकारविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे जातीयर् प्रत्ययो भवति। प्रकारवति चायं प्रत्ययः। थाल्पुनः प्रकारमात्र एव भवति। पटुप्रकारः पटु-जातीयः। मृदुजातीयः। दर्शनीयजातीयः।

अर्थ—सामान्य का भेदक 'प्रकार' कहलाता है। प्रकारवचन प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। प्रकारविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'जातीयर्' होता है। प्रकारवान् में यह प्रत्यय होता है। 'थाल्' प्रकारमात्र में होता है।

उदा० (1) पटुजातीयः
पटुप्रकारः → पटु जातीयर्
पटुजातीय सु—विभक्तिकार्य।
(2) मृदुजातीयः (पूर्ववत्)।
(3) दर्शनीयजातीयः (पूर्ववत्)।

(2231) प्रागिवात्कः *70* (2025)

इवे प्रतिकृतौ (5.3.96) इति वक्ष्यति। प्रागेतस्मादि-वसंशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कप्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति-अज्ञात (5.3.73) इति। अश्वकः। गर्दभकः। तिङन्तादयं प्रत्ययो नेष्यते, अकजिष्यते। तिङश्चेत्यनुवृत्तमुत्तरसूत्रेणैव सम्बन्धनीयम्।

अर्थ—'इवे प्रतिकृतौ' (5.3.96) से पहले-पहले 'क' प्रत्यय होता है। यह अधिकार है। आगे 'अज्ञाते' सूत्र का पाठ किया जायेगा। तिङन्त से यह प्रत्यय नहीं होता; 'अकच्' होता है। 'तिङः' ऐसा जो पद अनुवृत्त है, उसका उत्तरसूत्र से सम्बन्ध करना चाहिए।

उदा० (1) अश्वकः
अज्ञातोऽश्वः—'क' हुआ,
अश्व क सु—विभक्तिकार्य।
(2) गर्दभकः (पूर्ववत्)।

(2232) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः *71* (2026)

तिङश्चेत्येव। अव्ययानां सर्वनाम्नां च प्रागिवीयेष्व-र्थेष्वकच्प्रत्ययो भवति, स च प्राक् टेः, न परतः। कस्यापवादः। उच्चकैः। नीचकैः। शनकैः। सर्वनाम्नः खल्वपि-सर्वके। विश्वके। उभयके। प्रातिपदिकात्सुप् इति द्वयमिहानुवर्त्तते, तत्राभिधानतो व्यवस्था भवति-क्वचित् प्रातिपदिकस्य टेः प्राक् प्रत्ययो भवति, क्वचित् सुबन्तस्य टेः प्राक् प्रत्ययो भवति। युष्मकाभिः, अस्मकाभिः, युष्मकासु, अस्मकासु, युवकयोः, आवकयोः-इत्यादौ प्रातिपदिकस्य। त्वयका, मयका, त्वयकि, मयकि-इत्यादौ सुबन्तस्य। *अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम् प्रत्ययो वक्तव्यः* (म०भा०)। स च मित्त्वादन्त्यादचः परो भवति-तूष्णीकामास्ते, तूष्णीकां तिष्ठति। *शीले को मलोपश्च

1. पदम० 5.3.68.

वक्तव्यः* (म० भा०) । तूष्णीं शीलः तूष्णीकः । तिङश्चेति प्रकृतमत्र सम्बध्यते–पचतकि, जल्पतकि ।

अर्थ—'तिङः' का अनुवर्तन है। 'इवे प्रतिकृतौ' से पहले-पहले तक के सूत्रों में अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त से 'अकच्' प्रत्यय होता है तथा वह 'टि' से पूर्व होता है, पर नहीं होता। चकार व ककारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा होती है। यह 'क' का अपवाद है। 'क' प्रकृति से परे होता है, परन्तु 'अकच्' टि से पूर्व होता है।

'क' केवल सुबन्त से होता है, परन्तु 'अकच्' सुबन्त व तिङन्त दोनों से होता है।

उदा० (1) उच्चकैः
अज्ञातम् उच्चैः → उच्च् अकच् ऐस्—
उच्चकैः—रूप बना।

(2) सर्वके
अज्ञाताः सर्वे → सर्व् अकच् ए—
सर्वके—पूर्ववत्।

(3) विश्वके
अज्ञाता विश्वे—पूर्ववत्।

(4) उभयके
अज्ञाता उभये—पूर्ववत्।

चूँकि प्रकृत सूत्र में 'सुपः' तथा 'प्रातिपदिकात्' दोनों पदों का अनुवर्तन होता है। अतः अकच् प्रत्यय प्रयोगानुसार कहीं सुबन्त से तथा कहीं प्रातिपदिक से होता है। इसकी व्यवस्था निम्नलिखित वार्त्तिक के द्वारा की गई है—

'ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच् अन्यत्र सुबन्तस्य' अर्थात् ओकारादि, सकारादि और भकारादि सुप् विभक्ति के परे रहते प्रातिपदिक सर्वनाम शब्द के टि से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है तथा शेष सुप् विभक्तियों में सुबन्त, सर्वनाम शब्द के टि से पूर्व 'अकच्' होता है।

(5) युष्मकाभिः
युष्म् अकच् अद् भिस्।

(6) अस्मकाभिः
अज्ञातैरस्माभिः → अस्म् अकच् अद् भिस्—
अस्मकाभिः—रूप बना।

(7) युष्मकासु
अज्ञातेषु युष्मासु → युष्मद् सुप् →
युष्मकच् अद् सु → युष्मकासु—युष्मदस्मदोर०, सवर्णदीर्घ।

(8) अस्मकासु (पूर्ववत्)।

(9) युवकयोः (पूर्ववत्)।

(10) आवकयोः (पूर्ववत्)।

यहाँ प्रातिपदिक से होता है।

(11) त्वयका
अज्ञातेन त्वया → त्वय् अकच् आ—त्वयका।

(12) मयका (पूर्ववत्)।

(13) त्वयकि
अज्ञाते त्वयि—पूर्ववत्।

(14) मयकि (पूर्ववत्)।

इन स्थलों पर सुबन्त से हुआ है।

अकच्०—तूष्णीम् शब्द को 'काम्' प्रत्यय होता है। मकार की इत्संज्ञा है—

(15) तूष्णीकाम्
तूष्णी काम् म्—मिदचोऽन्त्यात् परः,
तूष्णीकाम्—रूप बना।

शीले०—शील अर्थ में 'तूष्णीम्' से 'क' प्रत्यय तथा प्रकृति के 'म्' का लोप होता है।

(16) तूष्णीकः
तूष्णीं शीलः—तूष्णी क सु।

(17) पचतकि
पचति → पचत् अकच् इ—पचतकि।

(18) जल्पतकि (पूर्ववत्)।

(2233) कस्य च दः *72* (2027)

ककारान्तस्य प्रातिपदिकस्याकच्सन्नियोगेन दकारादेशो भवति। चकारः सन्नियोगार्थः। सामर्थ्याच्चाव्ययग्रहणमनुवर्त्तते, न सर्वनामग्रहणम्, ककारान्तस्य सर्वनाम्नोऽसम्भवात्। धिक्–धकित्। हिरुक्–हिरकुत्। पृथक्–पृथकत्।

अर्थ—ककार है अन्त में जिसके, ऐसे अव्यय को 'अकच्' प्रत्यय तथा प्रकृति को दकार आदेश होता है, 'अकच्' प्रत्यय टि से पूर्व होता है।

चूँकि कोई भी सर्वनाम शब्द ककारान्त नहीं है; अतः सामर्थ्यवशात् यहाँ 'अव्यय' का ही ग्रहण होता है; 'सर्वनाम' का नहीं।

उदा० (1) धकित्
धिक् → ध् अकच् इ द्—
धकित्—चर्त्व।

(2) हिरकुत्
हिरुक् → हिर् अकच् उद्—पूर्ववत्।

(3) पृथकत् (पूर्ववत्)।

(2234) अज्ञाते *73* (2028)

अज्ञातविशेषोऽज्ञातः। अज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात्तिङन्ताच्च स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। स्वेन रूपेण ज्ञाते पदार्थे विशेषरूपेणाज्ञाते प्रत्ययविधानमेतत्। कस्यायमश्व इति स्वस्वामिसम्बन्धेनाज्ञातेऽश्वे प्रत्ययः- अश्वकः। गर्दभकः। उष्ट्रकः। एवमन्यत्रापि यथायोगमज्ञातता विज्ञेया। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। विश्वके। पचतकि। जल्पतकि।

अर्थ—अज्ञातविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान अव्यय, सर्वनाम या तिङन्त से यथाप्राप्त 'क' तथा 'अकच्' होते हैं। अज्ञातविशिष्ट को अज्ञात कहते हैं। अपने स्वरूप के द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में विशेष रूप के द्वारा अज्ञात ही प्रत्यय का विधान है। यह किसका अश्व है ? इस प्रकार स्वं-स्वामिसम्बन्ध के द्वारा अज्ञात होने पर प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अश्वकः
अज्ञातोऽश्वः—अश्व क सु।

(2) गर्दभकः (पूर्ववत्)।

(3) उष्ट्रकः

इसी प्रकार अन्यत्र यथायोग अज्ञातता जाननी चाहिए।

(4) उच्चकैः
उच्चैः—अकच्।

(5) नीचकैः
नीचैः अकच्।

(6) सर्वके (पूर्ववत्)।

(7) विश्वके (पूर्ववत्)।

(8) पचतकि (पूर्ववत्)।

(9) जल्पतकि (पूर्ववत्)।

अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त से 'अकच्' होता है और अन्य प्रातिपदिकों से 'क' प्रत्यय होता है।

(2235) कुत्सिते *74* (2029)

कुत्सितो गर्हितो निन्दितः। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। कुत्सितत्वोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। कुत्सितोऽश्वः अश्वकः। उष्ट्रकः। गर्दभकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। विश्वके। पचतकि। जल्पतकि।

अर्थ—कुत्सित = निन्दित। यह प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। निन्दाविशिष्टि अर्थ में वर्त्तमान अव्यय, सर्वनाम व तिङन्त से यथाविहित 'क' व 'अकच्' प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) अश्वकः
कुत्सितोऽश्वः → अश्व क सु।

(2) उष्ट्रकः।

(3) गर्दभकः।

(4) उच्चकैः।

(5) नीचकैः।

(6) विश्वके।

(7) पचतकि।

(8) जल्पतकि।

प्रथम तीन से 'क' तथा अन्तिम पाँच से 'अकच्' होता है। इनकी सिद्धि 5.3.73 पर देखें।

(2236) संज्ञायां कन् *75* (2030)

कुत्सित इत्येव। कुत्सितत्वोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति, प्रत्ययान्तेन चेत्संज्ञा गम्यते। कस्यापवादः। शूद्रकः। धारकः। पूर्णकः।

अर्थ—'कुत्सिते' का अनुवर्त्तन है। निन्दाविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'कन्' होता है। यह 'क' का अपवाद है, यदि संज्ञा गम्यमान हो।

उदा० (1) शूद्रकः
कुत्सितः शूद्रः—शूद्र कन् सु।

(2) धारकः (पूर्ववत्)।

(3) पूर्णकः (पूर्ववत्)।

(2237) अनुकम्पायाम् *76* (2031)

कारुण्येनाभ्युपपत्तिः परस्यानुकम्पा। तस्यां गम्यमानायां सुबन्तात्तिङन्ताच्च यथाविहितं प्रत्ययो भवति। पुत्रकः। वत्सकः। दुर्बलकः। बुभुक्षितकः। स्वपितकि। श्वसितकि।

अर्थ—अनुकम्पा = दया। दया गम्यमान हो तो प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पुत्रकः
अनुकम्पितः पुत्रः—'क' हुआ।

(2) वत्सकः (पूर्ववत्)।

(3) दुर्बलकः (पूर्ववत्)।

(4) बुभुक्षितकः
'क' हुआ।

(5) विश्वसितकि
'अकच्' हुआ।

(6) स्वपितकि (पूर्ववत्)।

(2238) नीतौ च तद्युक्तात् *77* (2032)

सामदानादिरुपायो नीतिः। नीतौ च गम्यमानायां तद्युक्तादनुकम्पायुक्ताद्यथाविहितं प्रत्ययो भवति। हन्त ते धानकाः। हन्त ते तिलकाः। एकहि। अद्धकि। अनुकम्प्यमानो दानेनाराधयति। पूर्वेण प्रत्यासन्नानुकम्पा-सम्बन्धादनुकम्प्यमानादेव प्रत्ययो विहितः, सम्प्रति व्यवहितादपि यथा स्यादिति वचनम्।

अर्थ—साम, दान आदि उपाय को 'नीति' कहते हैं। 'नीति' गम्यमान हो तो अनुकम्पा से सम्बद्ध प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से यथाविहित प्रत्यय होते हैं।

उदा० (1) (हन्ते ते) धानकाः
'क' हुआ।

(2) (हन्त ते) तिलकाः (पूर्ववत्)।

(3) एहकि
एहि → एह् अकच् इ → एहकि।

(4) अद्धकि
अद्धि → अद्धकि।

अनुकम्पा किया जाता हुआ दान के द्वारा प्रसन्न करता है। पूर्व सूत्र के द्वारा अनुकम्पा का सम्बन्ध न होने से अनुकम्पित किए जाते हुए से प्रत्यय किया गया है। सम्प्रति व्यवहित से भी प्रत्यय हो जायेगा।

(2239) बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा *78* (2033)

अनुकम्पायाम् (5.3.76) इति नीतौ च तद्युक्तात् (5. 3.77) इति च वर्त्तते। बह्वचः प्रातिपदिकात् मनुष्यनाम-धेयाद्वा ठच् प्रत्ययो भवति अनुकम्पायां गम्यमानायां नीतौ च। देविकः। देवदत्तकः। यज्ञिकः। यज्ञदत्तकः। बह्वच इति किम्? दत्तकः, गुप्तकः। मनुष्यनाम्न इति किम्? मद्रबाहुकः। भद्रबाहुकः।

अर्थ—अनुकम्पायाम्, नीतौ, तद्युक्तात्—इनका अनुवर्त्तन है। अनेक अच् वाले मनुष्य के नाम वाले प्रातिपदिक से विकल्प से 'ठच्' होता है यदि 'अनुकम्पा' गम्यमान हो तथा 'अनुकम्पा' से युक्त नीति गम्यमान हो।

उदा० (1) देविकः
देवदत्त ठच् → देव इक सु—ठाजादावूर्ध्व०।

(2) देवदत्तकः
देवदत्त क—पक्ष में।

(3) यज्ञदत्तकः (पूर्ववत्)।

बह्वच इति०—अनेक अच् वाले प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

(4) दत्तकः
दत्त क सु—'ठच्' नहीं हुआ।

(5) गुप्तकः (पूर्ववत्)।

मनुष्यनाम्न०—मनुष्यनामवाची शब्द से प्रत्यय होता है—

(6) मद्रबाहुकः
'ठच्' नहीं हुआ।

(7) भद्रबाहुकः (पूर्ववत्)।

(2240) घनिलचौ च *79* (2034)

अनुकम्पायामित्यादि सर्वमनुवर्त्तते। पूर्वेण ठचि विकल्पेन प्राप्ते वचनम्। बह्वचो मनुष्यनाम्नो घन् इलच्-इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, चकाराद्यथाप्राप्तञ्च। देवियः। देविलः। देविकः। देवदत्तकः। यज्ञियः। यज्ञिलः। यज्ञिकः। यज्ञदत्तकः।

अर्थ—'अनुकम्पायाम्' इत्यादि सबका अनुवर्त्तन है। पूर्व सूत्र के द्वारा पाक्षिक 'ठच्' के प्राप्त होने पर यह विधान है। अनेक अच् वाले व मनुष्य के नाम वाले प्रातिपदिक से 'घन्' व 'इलच्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं, यदि 'अनुकम्पा से युक्त नीति' गम्यमान हो।

उदा० (1) देविय:
देवदत्त घन् → देवदत्त इय—
देव इय सु—विभक्तिकार्य।

(2) देविल:
देवदत्त इलच्—पूर्ववत्।

(3) देविक:
देवदत्त ठच्—पूर्ववत्।
देव इक सु—विभक्तिकार्य।

(4) देवदत्तक:
देवदत्त क सु।

(5) यज्ञिय:
यज्ञदत्त घन्—पूर्ववत्।

(6) यज्ञिल:
यज्ञदत्त इलच्—पूर्ववत्।

(7) यज्ञिक:
यज्ञदत्त ठच्—पूर्ववत्।

(8) यज्ञदत्तक:
यज्ञदत्त क सु।

(2241) प्राचामुपादेरडज्वुचौ च *80* (2036)

पूर्ववत् सर्वमनुवर्त्तते। उपशब्द आदिर्यस्य तस्मादुपादेः प्रातिपदिकाद् बह्वचो मनुष्यनाम्नोऽडच् वुच् प्रत्ययौ भवतः, चकाराद् घनिलचौ प्रत्ययौ च भवतः, ठच्च वा। उपडः। उपकः। उपियः। उपिलः। उपिकः। उपेन्द्रदत्तकः। प्राचांग्रहणं पूजार्थम्। वेत्येव हि वर्त्तते।

अर्थ—पूर्ववत् अनुवर्त्तन है। 'उप' शब्द है आदि में जिसके, ऐसे अनेक अच् वाले, मनुष्य के नाम वाले प्रातिपदिक से 'अडच्' तथा 'वुच्' प्रत्यय (पर्यायेण) होते हैं; यदि 'नीति' व 'अनुकम्पा' गम्यमान हो। चकार से 'घन्' व 'इलच्' भी पक्ष में होते हैं। पक्ष में 'ठच्' भी होता है।

उदा० (1) उपड:
उपेन्द्रदत्त अडच्—उप अड—
उपड सु—विभक्तिकार्य।

(2) उपक:
उपेन्द्रदत्त वुच् → उप वु → उप अक सु।

(3) उपिय:
उपेन्द्रदत्त घन् → उप घ—
उप इय सु—विभक्तिकार्य।

(4) उपिल:
उपेन्द्रदत्त इलच्—उप इल सु।

(5) उपिक:
उपेन्द्रदत्त ठच् → उप इक—
उपिक सु—विभक्तिकार्य।

(6) उपेन्द्रदत्तक:
उपेन्द्रदत्त सु।

'प्राचाम्' का ग्रहण सम्मान के लिए है (विकल्प के लिए नहीं)। 'वा' का अधिकार यहाँ है ही।

(2242) जातिनाम्नः कन् *81* (2037)

बह्वच इति नानुवर्त्तते। सामान्येन विधानम्। जातिशब्दो यो मनुष्यनामधेयो व्याघ्र, सिंह-इत्येवमादिः, तस्मादनुकम्पायां नीतौ च कन् प्रत्ययो भवति। व्याघ्रकः। सिंहकः। शरभकः। वावचनानुवृत्तेर्यथादर्शनमन्योऽपि भवति–व्याघ्रिलः, सिंहिलः। नामग्रहणं स्वरूपनिवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—'बह्वच:' का अनुवर्त्तन नहीं है। यह सामान्य रूप से विधान है। व्याघ्र, सिंह आदि जो मनुष्य के नाम हैं, वे जातिशब्द हैं। 'नीति' व 'अनुकम्पा' गम्यमान हो तो मनुष्य नामधेय और जातिवाची शब्द से 'कन्' होता है।

उदा० (1) व्याघ्रक:
व्याघ्र: पुरुषस्य कस्यचिन्नाम—
व्याघ्र कन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) सिंहक: (पूर्ववत्)।
(3) शरभक: (पूर्ववत्)।
'वा' की अनुवृत्ति होने से अन्य प्रत्यय भी पक्ष में होता है।

(4) व्याघ्रिल:
व्याघ्र इलच् सु।

(5) सिंहिल: (पूर्ववत्)।
स्वरूप की निवृत्ति के लिए 'नाम' का ग्रहण किया गया है।

(2243) अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च *82* (2039)

कनित्यनुवर्त्तते, मनुष्यनाम्न इति च। अजिनशब्दान्तात् प्रातिपदिकान्मनुष्यनाम्नोऽनुकम्पायां कन् प्रत्ययो भवति तस्य चोत्तरपदलोपः। व्याघ्राजिनो नाम कश्चिन्मनुष्यः, सोऽनुकम्पितः व्याघ्रकः। सिंहकः।

अर्थ—कन्, मनुष्यनाम्नः—इनका अनुवर्त्तन है। 'अनुकम्पा' अर्थ में वर्त्तमान अजिनान्त (= अजिन शब्द है अन्त में जिसके) व मनुष्य नाम वाले प्रातिपदिक से 'कन्' प्रत्यय होता है तथा प्रकृति के उत्तरपद का लोप होता है।

उदा० (1) व्याघ्रकः
व्याघ्राजिनो नाम कश्चिन्मनुष्यः, सोऽनुकम्पितः—
व्याघ्र कन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) सिंहकः (पूर्ववत्)।

(2244) ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः *83*

(2035)

लोप इत्यनुवर्त्तते। अस्मिन् प्रकरणे यष्ठोऽजादिश्च प्रत्ययस्तस्मिन् परतः प्रकृतेर्द्वितीयादच ऊर्ध्वं यच्छब्दरूपं तस्य लोपो भवति। ऊर्ध्वग्रहणं सर्वलोपार्थम्। अनुकम्पितो देवदत्तः देविकः, देवियः, देविलः। यज्ञिकः। यज्ञियः। यज्ञिलः। उपडः। उपकः। उपियः। उपिलः। उपिकः। *ठग्रहणमुको द्वितीयत्वे कविधानार्थम्* (म० भा०)। अजादिलक्षणे हि माथितिकादिवत् प्रसङ्गः। वायुदत्तः। वायुकः। पितृदत्तः। पितृकः। *चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वक्तव्यः* (म० भा०)। अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तः, बृहस्पतिकः, बृहस्पतियः, बृहस्पतिलः। *अनजादौ विभाषा लोपो वक्तव्यः* (म० भा०)। देवदत्तकः। देवकः। यज्ञदत्तकः। यज्ञकः। *लोपः पूर्वपदस्य च ठाजादावनजादौ च वक्तव्यः* (म० भा०)। दत्तिकः। दत्तिलः। दत्तियः। दत्तकः। *विनाऽपि प्रत्ययेन पूर्वोत्तरपदयोर्विभाषा लोपो वक्तव्यः* (म० भा०)। देवदत्तः, दत्तः, देव इति वा। *उवर्णाल्ल इलस्य च* (म० भा०)। भानुदत्तः, भानुलः, वसुदत्तः, वसुलः।

चतुर्थादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च।
अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च॥ (म० भा०)

द्वितीयादचो लोपे सन्ध्यक्षरद्वितीयत्वे तदादेर्लोपवचनम् (म० भा०)। लहोडः। लहिकः। कहोडः। कहिकः। *एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः* (म० भा०)। वागाशीः वाचिकः। स्रुचिकः। त्वचिकः। कथं षडङ्गुलिदत्तः षडिक इति? षषष्ठाजादिवचनात् सिद्धम् (म० भा०)।

अर्थ—'लोपः' का अनुवर्त्तन है। इस प्रकरण में 'ठ' तथा अजादि प्रत्यय परे रहते द्वितीय अच् से बाद की जो प्रवृत्ति, उसका लोप होता है। यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा लागू नहीं होती; अपितु सम्पूर्ण का लोप होता है।

उदा० (1) देविकः।
(2) देवियः।
(3) देविलः।
(4) यज्ञिकः।
(5) यज्ञियः।
(6) उपडः।
(7) उपकः।
(8) उपेन्द्रदत्तकः।
सिद्धि के लिए पूर्ववर्ती सूत्र देखें।

ठग्रहणमुको०—'ठ' ठस्येकः से 'इक' आदेश होकर अजादि बन जाता है। तब प्रकृत सूत्र में 'ठाजादावूर्ध्वम्' के स्थान पर अजादावूर्ध्वम् से भी काम चल जाता, परन्तु सूत्र में 'ठ' का योग डक् से परे द्वितीय होने पर 'क' के विधान के लिए है। 'वायुदत्त' में 'ठच्' करने पर 'इसुसुक्तान्ता०' से 'क' आदेश होता है। यदि सूत्र में 'ठ' का योग नहीं करेंगे तो यहाँ अजादि के प्राप्त न रहने से उत्तर पद का लोप नहीं हो सकेगा। ऐसे स्थलों पर भी उक्त लोप हो जाय—इसलिए सूत्र में 'ठ' का ग्रहण किया गया है[1]।

(9) वायुदत्तः
(10) वायुकः (पूर्ववत्)।
(11) पितृदत्तः (पूर्ववत्)।
(12) पितृकः (पूर्ववत्)।

चतुर्थादच०—चतुर्थ अच् के बाद की प्रकृति का लोप होता है—

(13) बृहस्पतिकः
बृहस्पतिदत्तोऽनुकम्पितः

(14) बृहस्पतियः
बृहस्पति घन् सु।

(15) बृहस्पतिलः
बृहस्पति इलच्।

1. न्यास० 5.3.83.

अनजादौ०—अनजादि परे रहते भी प्रकृति का विकल्प से लोप होता है—

(16) देवदत्तकः
लोप नहीं हुआ।

(17) देवकः
लोप हुआ।

(18) यज्ञदत्तकः
लोप नहीं हुआ।

(19) यज्ञकः
लोप हुआ।

लोपः पूर्व०—ठ, अजादि तथा अनजादि प्रत्यय परे रहते पूर्वपद का भी लोप होता है—

(20) दत्तिकः
देवदत्त ठ—दत्त इक सु।

(21) दत्तिलः
देवदत्त इलच्।

(22) दत्तियः
'घन्' हुआ।

(23) दत्तकः
'क' हुआ।

विनाऽपि०—प्रत्यय के विना भी पूर्वपद और उत्तरपद का लोप विकल्प से होता है—

(24) देवः
उत्तरपद का लोप हुआ।

(25) दत्तः
पूर्वपद का लोप हुआ।

(26) देवदत्तः
लोप नहीं हुआ।

उवर्णाल्ल०—उवर्णान्त से पर 'इलच्' को 'ल्' होता है तथा उत्तरपद का लोप होता है—

(27) भानुलः
भानुदत्त इलच् → भानु इल → भानु ल सु।

(28) वसुलः
वसुदत्त इलच्—पूर्ववत्।

उपयुक्त सभी वार्त्तिकों में निर्दिष्ट कार्यों का परिगणन निम्नलिखित कारिका में कर दिया गया है—

चतुर्थाद०—(क) चतुर्थ अच् के बाद की प्रकृति का लोप होता है—

बृहस्पतिदत्तोऽनुकम्पितः—बृहस्पतिकः।

(ख) अनजादि परे रहते प्रकृति का लोप विकल्प से होता है—

देवकः, देवदत्तकः।

(ग) ठ, अजादि व अनजादि प्रत्यय परे रहते पूर्वपद का लोप होता है—

दत्तिकः, दत्तिलः, दत्तियः।

(घ) प्रत्यय के विना भी पूर्वपद व उत्तरपद का लोप होता है—

देवः, दत्तः, देवदत्तः।

(ङ) उवर्णान्त से परे 'इलच्' को 'ल' तथा उत्तरपद का लोप होता है—

भानुलः।

द्वितीयादचो० द्वितीय अच् से पर लोप की कर्त्तव्यता में सन्ध्यक्षर जब द्वितीय हो तो उसके आदि भाग का लोप होता है—

(29) लहिकः
अनुकम्पितो लहोडः। 'ठच्' हुआ।

(30) कहिकः (पूर्ववत्)।

एकाक्षर०—एकाक्षर जिनका पूर्वपद है, उसके उत्तरपद का लोप होता है—

(31) वाचिकः
अनुकम्पितो वागाशीः—ठच्।

(32) स्रुचिकः (पूर्ववत्)।

(33) त्वचिकः (पूर्ववत्)।

(34) षडिकः
षडङ्गुलिदत्तकः—षष्ठाजादिवचन से होता है।

(2245) शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् *84* (2038)

शेवलादीनां मनुष्यनाम्नां ठाजादौ प्रत्यये परतस्तृतीयादच ऊर्ध्वस्य लोपो भवति। पूर्वस्यायमपवादः। अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः, शेवलियः, शेवलिलः। सुपरिकः,

सुपरियः, सुपरिलः । विशालिकः, विशालियः, विशालिलः । वरुणिकः, वरुणियः, वरुणिलः । अर्यमिकः, अर्यमियः, अर्यमिलः । *शेवलादीनां तृतीयादचो लोपः स चाकृतसन्धीनामिति वक्तव्यम्* । शेवलेन्द्रदत्तः, सुपर्याशीर्दत्तः-शेवलिकः, सुपरिक इति यथा स्यात्, शेवलयिकः, सुपर्यिक इति मा भूत् ।

अर्थ—जिसके आदि में शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण तथा अर्यमा—ये मनुष्य नामवाची प्रातिपदिक हों, ऐसे प्रातिपदिक के तृतीय अच् के बाद की समग्र प्रकृति का लोप होता है, 'ठ' तथा अजादि प्रत्ययों के परे रहते । यह पूर्व सूत्र का अपवाद है ।

उदा० (1) शेवलिकः
अनुकम्पितः शेवलदत्तः—'ठच्' हुआ ।

(2) शेवलियः
'घन्' हुआ ।

(3) शेवलिलः
'इलच्' हुआ ।

(4) सुपरिकः
'ठच्' हुआ ।

(5) सुपरियः
'घन्' हुआ ।

(6) सुपरिलः
'इलच्' हुआ ।

(7) विशालिकः
विशाल ठच् ।

(8) विशालियः
विशाल घन् ।

(9) विशालिलः
'इलच्' हुआ ।

(10) वरुणिकः
'ठच्' हुआ ।

(11) वरुणियः
'घन्' हुआ ।

(12) वरुणिलः
'इलच्' हुआ ।

(13) अर्यमिकः
'ठच्' हुआ ।

(14) अर्यमियः
'घन्' हुआ ।

(15) अर्यमिलः
'इलच्' हुआ ।

शेवलादि०—शेवल आदि का जो तृतीय अच् से पर प्रकृति का लोप, वह अकृतसन्धि का होता है—

शेवलेन्द्रदत्तः—शेवलिकः ।
सुपर्याशीर्द्दत्तः—सुपरिकः ।
ताकि यहाँ 'शेवलयिक' तथा 'सुपर्यिक' नहीं हों ।

(2246) अल्पे *85* (2040)

परिमाणापचये अल्पशब्दः, प्रकृतिविशेषणं चैतत् । अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकाद्यथाविहितं प्रत्ययो भवति । अल्पं तैलं तैलकम् । घृतकम् । सर्वकम् । विश्वकम् । उच्चकैः । नीचकैः । पचतकि । जल्पतकि ।

अर्थ—परिमाण के अपचय में अल्प शब्द होता है । यह प्रकृति का विशेषण है । अल्पत्व विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से यथाविहित प्रत्यय होते हैं ।

उदा० (1) तैलकम्
अल्पं तैलम्—तैल क सु ।

(2) घृतकम् (पूर्ववत्) ।
(3) सर्वकम् (पूर्ववत्) ।
(4) विश्वकम् (पूर्ववत्) ।
(5) उच्चकै
'अकच्' हुआ ।

(6) नीचकैः
'अकच्' हुआ ।

(7) पचतकि
'अकच्' हुआ ।

(8) जल्पतकि (पूर्ववत्) ।

(2247) ह्रस्वे *86* (2041)

ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकाद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति । दीर्घप्रतियोगी ह्रस्वः । ह्रस्वो वृक्षो वृक्षकः । प्लक्षकः । स्तम्भकः ।

अर्थ—ह्रस्वत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है ।

उदा० (1) वृक्षकः
ह्रस्वो वृक्षः—'क' हुआ।

(2) प्लक्षकः (पूर्ववत्)।
(3) स्तम्भकः (पूर्ववत्)।

(2248) संज्ञायां कन् *87* (2042)

ह्रस्व इत्येव। ह्रस्वत्वहेतुका या संज्ञा तस्यां गम्यमानायां कन् प्रत्ययो भवति। पूर्वस्यायमपवादः। वंशकः। वेणुकः। दण्डकः।

अर्थ—'ह्रस्वे का अनुवर्त्तन है। संज्ञा गम्यमान हो तो ह्रस्वत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'कन्' प्रत्यय होता है। यह पूर्व सूत्र का अपवाद है।

उदा० (1) वंशकः
ह्रस्वो वंशः—'क' हुआ।

(2) वेणुकः (पूर्ववत्)।
(3) दण्डकः (पूर्ववत्)।

(2249) कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः *88* (2043)

ह्रस्व इत्येव। संज्ञाग्रहणं नानुवर्त्तते। सामान्येन विधानम्। कुटीशमीशुण्डाभ्यो ह्रस्वार्थे द्योत्ये रः प्रत्ययो भवति। कस्यापवादः। ह्रस्वा कुटी कुटीरः। शमीरः। शुण्डारः। स्वार्थिकत्वेऽपि पुँल्लिङ्गता लोकाश्रयत्वा-ल्लिङ्गस्य (व्या०प० 74)।

अर्थ—'ह्रस्वे' का अनुवर्त्तन है। 'सञ्ज्ञायाम्' का अनुवर्त्तन नहीं है। यह सामान्य रूप से विधान है। ह्रस्वत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान कुटी, शमी और शुण्डा प्रातिपदिकों से 'र' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) कुटीरः
ह्रस्वा कुटीः—'र' हुआ।

(2) शमीरः (पूर्ववत्)।
(3) शुण्डारः (पूर्ववत्)।

लिंग के लोकाश्रित होने से स्वार्थिकत्व में भी पुँल्लिंगता हुई।

(2250) कुत्वा डुपच् *89* (2044)

ह्रस्व इत्येव। कुतूशब्दाद् ह्रस्वत्वे द्योत्ये डुपच्प्रत्ययो भवति। कस्यापवादः। ह्रस्वा कुतूः कुतूपम्, चर्म्ममयं स्नेहभाजनमुच्यते। कुतूरित्यावपनस्याख्या।

अर्थ—'ह्रस्वे' का अनुवर्त्तन है। ह्रस्वत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'कुतू' प्रातिपदिक से 'डुपच्' प्रत्यय होता है। यह 'क' का अपवाद है। चकार तथा डु की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) कुतुपः
ह्रस्वा कुतूः—कुतू डुपच्—
कुतुप सु—विभक्तिकार्य।

(2251) कासूगोणीभ्यां ष्टरच् *90* (2045)

ह्रस्व इत्येव। कासूगोणीशब्दाभ्यां ह्रस्वत्वे द्योत्ये ष्टरच्प्रत्ययो भवति। कस्यापवादः। षकारो ङीषर्थः। ह्रस्वा कासूः कासूतरी। गोणीतरी। कासूरिति शक्तिरायुधविशेष उच्यते।

अर्थ—'ह्रस्वे' का अनुवर्त्तन है। ह्रस्वत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान कासू तथा गोणी प्रातिपदिकों से 'ष्टरच्' प्रत्यय होता है। यह 'क' का अपवाद है। 'ष्' अनुबन्ध 'ङीष्' के लिए है।

उदा० (1) कासूतरी
ह्रस्वा कासू → कासू ष्टरच्—
कासू तर—हलन्त्यम्, षः प्रत्ययस्य, निमित्त (ष्) के हट जाने पर नैमित्तिक की निवृत्ति,
कासूतर ङीष्—षिद्गौरादिभ्यश्च,
कासूतरी सु—विभक्तिकार्य।
(2) गोणीतरी (पूर्ववत्)।

(2252) वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे *91* (2046)

ह्रस्व इति निवृत्तम्। वत्स उक्षन् अश्व ऋषभ-इत्येते-भ्यस्तनुत्वे द्योत्ये ष्टरच्प्रत्ययो भवति। यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः तस्य तनुत्वे प्रत्ययः (म०भा०)। वत्सतरः। उक्षतरः। अश्वतरः। ऋषभतरः। प्रथमवया वत्सः, तस्य तनुत्वं द्वितीयवयसः प्राप्तिः। तरुण उक्षा, तस्य तनुत्वं तृतीयवयःप्राप्तिः। अश्वेनाश्वायामुत्पन्नोऽश्वः, तस्य तनुत्वमन्यपितृकता। अनड्वानृषभः, तस्य तनुत्वं भारोद्वहने मन्दशक्तिता।

अर्थ—'ह्रस्वे' की निवृत्ति हो गई है। अल्पताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान वत्स, उक्षन्, अश्व तथा ऋषभ प्रातिपदिकों से 'ष्टरच्' होता है। जिस गुण के भाववशात् द्रव्य में शब्दनिवेश होता है, उसकी अल्पता ही प्रत्ययार्थ है।

उदा० (1) वत्सतरः
वत्स ष्टरच् → वत्स तर सु—पूर्ववत्।

(2) उक्षतरः
उक्षन् ष्टरच्—पूर्ववत्, नकारलोप।

(3) अश्वतरः (पूर्ववत्)।

(4) ऋषभतरः (पूर्ववत्)।

प्रथम अवस्था वाला 'वत्स' कहलाता है। उसकी अल्पता द्वितीय अवस्था की प्राप्ति है। युवा 'उक्षा' है। उसकी अल्पता तृतीय अवस्था की प्राप्ति है। अश्व के द्वारा अश्वा में उत्पन्न 'अश्व' कहलाता है। अन्य पिता (अर्थात् खच्चर) के द्वारा अश्वा से उत्पन्न होना अश्व की अल्पता होती है। अनड्वान् 'ऋषभ' होता है। भार को ढ़ोने में मन्दशक्ति होना ही उसकी अल्पता है।

(2253) किंयत्तदो निर्द्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् *92* (2047)

किं यत् तत्–इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्द्धारणे डतरच् प्रत्ययो भवति। निर्धार्यमाणवाचिभ्यः स्वार्थे प्रत्ययः। जात्या, क्रियया, गुणेन संज्ञया वा समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्। कतरो भवतोः कठः। कतरो भवतोः कारकः। कतरो भवतोः पटुः। कतरो भवतोर्देवदत्तः। यतरो भवतोः कारकः। यतरो भवतोः पटुः। यतरो भवतोर्देवदत्तः; ततर आगच्छतु। महाविभाषयाऽत्र प्रत्ययो विकल्प्यते। को भवतोर्देवदत्तः, स आगच्छतु। निर्धारण इति विषयसप्तमीनिर्देशः। द्वयोरिति समुदायान्निर्धारणविभक्तिः। एकस्येति निद्र्देशो निर्धार्यमाणनिद्र्देशः।

अर्थ—दो में से एक का निर्द्धारण—अर्थ वाच्य हो तो किम्, यद्, तद्—इन प्रातिपदिकों से 'डतरच्' प्रत्यय होता है। इसके चकार व डकार की इत्संज्ञा होती है। निर्धार्यमाणवाची शब्दों से स्वार्थ में जो प्रत्यय होता है, वह जाति के आधार पर या क्रिया के आधार पर अथवा गुण के आधार पर अथवा संज्ञा के आधार पर समग्र समुदाय से एक देश का पृथक् करना होता है।

उदा० (1) कतरः
किम् डतरच् → क् अतर—'टेः',
कतर सु—विभक्तिकार्य।

(2) यतरः
यद्—पूर्ववत्।

(3) ततरः
तद्—पूर्ववत्।

महाविभाषा होने से यहाँ प्रत्यय का विकल्प होता है—
को भवतोर्द्देवदत्तः।

'निर्द्धारणे' पद में विषयसप्तमी है। 'द्वयोः' इस प्रकार समुदाय से निर्द्धारण विभक्ति होती है। 'एकस्य' इस प्रकार निर्देश निर्द्धार्यमाण का निर्देश होता है।

(2254) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् *93* (2048)

किंयत्तद इति वर्त्तते, निर्धारणे एकस्येति च। बहूनामिति निर्धारणे षष्ठी। बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे गम्यमाने जातिपरिप्रश्नविषयेभ्यः किमादिभ्यो वा डतमच् प्रत्ययो भवति। कतमो भवतां कठः ? यतमो भवतां कठः; ततम आगच्छतु। वावचनमकजर्थम्। यको भवतां कठः, सक आगच्छतु। महाविभाषा च प्रत्ययविकल्पार्थानुवर्त्तत एव। को भवतां कठः। यो भवतां कठः, स आगच्छतु। जातिपरिप्रश्ने इति किम्? को भवतां देवदत्तः। परिप्रश्नग्रहणं च किम एव विशेषणम्, न यत्तदोरसम्भवात्। जातिग्रहणं तु सर्वैरेव सम्बध्यते। किमोऽस्मिन् विषये डतरमनीच्छन्ति केचित्–कतरो भवतां कठः, कतरो भवतां कालाप इति। तत्र कतरकतमौ जातिपरिप्रश्न (2.1.63) इति वचनात् सिद्धम्।

अर्थ—किंयत्तदः, निर्द्धारणे, एकस्य—इन सबका अनुवर्त्तन है। 'बहूनाम्' यहाँ निर्द्धारण में षष्ठी है। जाति को पूछने के विषय में बहुतों में से एक का निर्द्धारण गम्य हो तो किम्, यद् व तद् प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'डतमच्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) कतमः (भवतां कठः)
किम् डतमच्—'टेः' से टिलोप,
कतम सु—विभक्तिकार्य।

(2) यतमः (भवतां कठः)
यद् डतमच्—पूर्ववत्।

(3) ततमः
तद् डतमच्।
'वा' के द्वारा पक्ष में 'अकच्' भी होता है।

(4) यकः (भवतां कठः)
यः → य् अकच स् → यकः।

(5) सकः
सः → सकः।

प्रत्यय के विकल्प के लिए महाविभाषा का अनुवर्तन है।

को भवतां कठः।

जातिपरि०—जाति को पूछने के विषय में ही 'डतमच्' भी होता है—

को भवतां देवदत्तः—यहाँ नहीं हुआ।

परिप्रश्न का ग्रहण 'किम्' शब्द का विशेषण है। यद् व तद् से यह सम्भव नहीं है। अतः उनका विशेषण नहीं होता है। 'जाति' शब्द का सभी के साथ सम्बन्ध है। कुछ लोग 'किम्' से 'डतरच्' भी स्वीकार करते हैं। 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' (2.1.63) में 'जातिपरिप्रश्ने' का योग होने से ज्ञापित होता है कि जातिपरिप्रश्न में ही 'डतरच्' होता है। यथा—

कतरो भवतां कठः ?
कतरो भवतां कलापः ?

(2255) एकाच्च प्राचाम् *94* (2049)

एकशब्दात्प्राचामाचार्याणां मतेन डतरच्, डतमच्–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः स्वस्मिन् विषये। चकारो डतरचोऽनुकर्षणार्थः। द्वयोर्निर्द्धारणे डतरच्। बहूनां निर्द्धारणे डतमच्। जातिपरिप्रश्न इति नानुवर्त्तते। सामान्येन विधानम्। एकतरो भवतोर्देवदत्तः। एकतमो भवतां देवदत्तः। प्राचाङ्ग्रहणं पूजार्थम्, विकल्पोऽनुवर्त्तते एव।

अर्थ—प्राचीन आचार्यों के मत में पूर्वोक्त सूत्रद्वय के विषय में 'एक' शब्द से प्रत्यय होते हैं। चकार के द्वारा डतरच् का अनुकर्षण होता है। दो में निर्द्धारण इष्ट हो तो 'डतरच्' तथा अनेक में निर्द्धारण इष्ट हो तो 'डतमच्' होता है। 'जातिपरिप्रश्ने' का अनुवर्त्तन नहीं है। यहाँ सामान्य विधान है।

उदा० (1) एकतरो भवतोर्द्देवदत्तः
एक डतरच् सु।

(2) एकतमो भवतोर्द्देवदत्तः
एक डतमच् सु।

विकल्प का अनुवर्त्तन हो रहा है। अतः 'प्राचाम्' पद का ग्रहण सत्कार के लिए है।

(2256) अवक्षेपणे कन् *95* (2050)

अवक्षिप्यते येन तदवक्षेपणम्। तस्मिन् वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति। व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः। याज्ञिक्यकेन नाम त्वं गर्वितः। परस्य कुत्सार्थं यदुपादीयते तदिहोदाहरणम्। यत्पुनः स्वयमेव कुत्सितं तत्र कुत्सित (5.3.74) इत्यनेन कन् प्रत्ययो भवति। देवदत्तको यज्ञदत्तक (म०भा०) इति। प्रागिवीयस्य पूर्णोऽवधिः।

अर्थ—अवक्षेपण = निन्दा। निन्दा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'कन्' होता है।

उदा० (1) व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः
व्याकरण कन् सु।

(2) याज्ञिक्येन नाम त्वं गर्वितः (पूर्ववत्)।

पर की निन्दा के लिए जो उपादान किया जाता है, वह यहाँ उदाहरण होता है। जो स्वयं निन्दित है, वहाँ 'कुत्सितः' इससे 'कन्' होता है। देवदत्तकः, यज्ञदत्तकः इत्यादि। यहाँ 'प्रागिवीय' की अवधि पूर्ण हो जाती है।

(2257) इवे प्रतिकृतौ *96* (2051)

कनित्यनुवर्त्तते। इवार्थे यत् प्रातिपदिकं वर्त्तते तस्मात् कन् प्रत्ययो भवति। इवार्थः सादृश्यं, तस्य विशेषणं प्रतिकृतिग्रहणम्। प्रतिकृतिः प्रतिरूपकं प्रतिच्छन्दकम्। अश्व इवायमश्वप्रतिकृतिः अश्वकः। उष्ट्रकः। गर्दभकः। प्रतिकृताविति किम्? गौरिव गवयः।

अर्थ—'कन्' का अनुवर्त्तन है। इव के अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'कन्' होता है, यदि वह सदृश वस्तु प्रतिमा हो। प्रतिकृति नकल को कहते हैं। प्रतिकृति = प्रतिरूपक।

उदा० (1) अश्वकः
अश्व इवाऽयम् अश्वः—अश्व कन् सु।

(2) उष्ट्रकः (पूर्ववत्)।
(3) गर्दभकः (पूर्ववत्)।

प्रतिकृता०—प्रतिकृति अभिधेय हो तो 'कन्' होता है—

गौरिव गवयः
यहाँ 'कन्' नहीं हुआ।

(2258) संज्ञायां च *97* (2052)

इवेत्यनुवर्त्तते, कनिति च। इवार्थे गम्यमाने कन् प्रत्ययो भवति, समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते। अप्रतिकृत्यर्थ आरम्भः। अश्वसदृशस्य संज्ञा अश्वकः, उष्ट्रकः, गर्दभकः।

अर्थ—इव, कन्—इनका अनुवर्त्तन है। इव के अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'कन्' प्रत्यय होता है, संज्ञा के विषय में। प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त के लिए विधान है।

उदा० (1) अश्वकः
अश्वसदृशस्य सञ्ज्ञा—अश्व कन् सु।

(2) उष्ट्रकः
उष्ट्र कन् सु।

(3) गर्दभकः
'कन्' हुआ।

(2259) लुम्मनुष्ये *98* (2053)

संज्ञायामित्येव। संज्ञायां विहितस्य कनो मनुष्येऽभिधेये लुब् भवति। चञ्चेव मनुष्यः चञ्चा। दासी। खरकुटी (म० भा०)। मनुष्य इति किम्? अश्वकः, उष्ट्रकः, गर्दभकः। देवपथादेराकृतिगणत्वात्तस्यैवायं प्रपञ्चो वेदितव्यः।

अर्थ—'सञ्ज्ञायाम्' का अनुवर्त्तन है। संज्ञा के विषय में इव के अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से विहित 'कन्' का लुप् होता है, यदि मनुष्य अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) चञ्चा
चञ्चेव मनुष्यः—कन्, लुप्।

(2) दासी (पूर्ववत्)।
(3) खरकुटी (पूर्ववत्)।

मनुष्य इति०—मनुष्य अभिधेय होने पर प्रत्यय का लुप् होता है—

(4) अश्वकः
(5) उष्ट्रकः
(6) गर्दभकः।

उपर्युक्त तीनों स्थलों पर 'मनुष्य' अर्थ वाच्य नहीं है। अतः प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ।

देवपथादि आकृतिगण है। उसी का यह प्रपञ्च है।

(2260) जीविकार्थे चापण्ये *99* (2054)

जीविकार्थं यदपण्यं तस्मिन्नभिधेये कनो लुब् भवति। विक्रीयते यत्तत्पण्यम्। वासुदेवः। शिवः। स्कन्दः। विष्णुः। आदित्यः। देवलकादीनां जीविकार्था देवप्रतिकृतयः उच्यन्ते। अपण्य इति किम्? हस्तिकान् विक्रीणीते, अश्वकान्, रथकान्। देवपथादेरेवायं प्रपञ्चः।

अर्थ—यदि कोई प्रतिमा जीविकार्जन हेतु बनाई गई हो और उसे बेचा न जाय तो प्रकृत सूत्र से विहित 'कन्' का लुप् होता है प्रकृति अभिधेय होने पर। यदि कोई शिल्पी राम आदि की प्रतिमा के दर्शन करा-करा कर जीविकोपार्जन तो करता है, परन्तु उसे बेचता नहीं है। उस दशा में विहित 'कन्' प्रत्यय का लुप् होता है।

उदा० (1) वासुदेवः
वासुदेव इव प्रतिकृतिः—लुप् हुआ।

(2) शिवः (पूर्ववत्)।
(3) स्कन्दः
लुप् हुआ।
(4) विष्णुः (पूर्ववत्)।
(5) आदित्यः (पूर्ववत्)।

देवलक आदि की मूर्तियाँ जीविका के लिए कही जाती हैं।

अपण्ये०—बेचना अभीष्ट न हो तो लुप् होता है।

(6) हस्तिकान् विक्रीणीते
प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ।
(7) अश्वकान् (पूर्ववत्)।
(8) रथकान् (पूर्ववत्)।

यह सब देवपथादि का प्रपञ्च है।

(2261) देवपथादिभ्यश्च *100* (2055)

इवे प्रतिकृतौ (5.3.96) संज्ञायां च (5.3.97) विहितस्य कनो देवपथादिभ्य उत्तरस्य लुब् भवति। आदिशब्दः प्रकारे। आकृतिगणश्चायम्। देवपथः। हंसपथः।

अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च।
इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु।

अर्चासु तावत्–शिवः, विष्णुः। चित्रकर्मणि–अर्जुनः, दुर्योधनः। ध्वजेषु–कपिः, गरुडः, सिंहः। देवपथ। हंसपथ। वारिपथ। जलपथ। राजपथ। शतपथ। सिंहगति।

उष्ट्रग्रीवा । चामरज्जु । रज्जु । हस्त । इन्द्र । दण्ड । पुष्प । मत्स्य-देवपथादिः ।

अर्थ—इव के अर्थ में वर्त्तमान देवपथादि प्रातिपदिकों से विहित प्रत्यय का लुप् होता है, यदि वह सदृश वस्तु प्रतिमा हो। आदि शब्द प्रकार अर्थ में है।

उदा० (1) देवपथः
देवपथोऽस्य प्रतिकृतिः—लुप् हुआ।

(2) हंसपथः (पूर्ववत्)।

अर्च्चासु०—इव अर्थ में वर्त्तमान देवपथादि शब्दों के विषय में निम्नलिखित अर्थों में 'कन्' प्रत्यय का लुप् होता है—

(क) अर्च्चासु—
(3) शिवः।
(4) विष्णुः।

(ख) चित्रकर्म्मणि—
(5) अर्जुनः।
(6) दुर्योधनः।

(ग) ध्वजेषु—
(7) कपिः।
(8) गरुडः।

(9) सिंहः, (10) देवपथः, (11) हंसपथः, (12) वारिपथः, (13) जलपथः, (14) राजपथः, (15) शतपथः, (16) सिंहगतिः, (17) उष्ट्रग्रीवा, (18) वामरज्जुः, (19) रज्जुः, (20) हस्तः, (21) इन्द्रः, (22) दण्डः, (23) पुष्पः, (24) मत्स्यः।

(2262) वस्तेर्ढञ् *101* (2056)

इवेत्यनुवर्त्तते, इतः प्रभृति प्रत्ययाः सामान्येन भवन्ति प्रतिकृतौ चाप्रतिकृतौ च। वस्तिशब्दादिवार्थे द्योत्ये ढञ् प्रत्ययो भवति। वस्तिरिव वास्तेयः। वास्तेयी।

अर्थ—'इव' का अनुवर्त्तन है। यहाँ से लेकर जिन प्रत्ययों का विधान किया जाता है, वे प्रतिकृति व अप्रतिकृति—दोनों में होते हैं। इव अर्थ में वर्त्तमान 'वस्ति' शब्द से 'ढञ्' होता है।

उदा० (1) वास्तेयः
वस्तिरिव—वस्ति ढञ् सु।

(2) वास्तेयी
'टिड्ढाऽण०' से 'ङीप्' हुआ है।

(2263) शिलाया ढः *102* (2057)

शिलाशब्दादिवार्थे ढः प्रत्ययो भवति। शिलेव शिलेयं दधि। केचिदत्र ढञमपीच्छन्ति, तदर्थं योगविभागः कर्त्तव्यः। शिलाया ढञ्प्रत्ययो भवति-शैलेयम्। ततो ढः-शिलेयम्।

अर्थ—'इव' अर्थ में वर्त्तमान शिला शब्द से 'ढ' होता है।

उदा० (1) शिलेयः
शिलेवप—शिला ढ सु।

कुछ विद्वान् 'ढञ्' भी स्वीकार करते हैं। अतः योगविभाग करना चाहिए।

(2) शैलेयम्
शिला ढञ्—आदिवृद्धि।
'ढ' में आदिवृद्धि नहीं होती है।

(2264) शाखादिभ्यो यत् *103* (2058)

शाखा इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यत् प्रत्ययो भवति इवार्थे। शाखेव शाख्यः। मुख्यः। जघन्यः। शाखा। मुख। जघन। शृङ्ग। मेघ। चरण। स्कन्ध। शिरस्। उरस्। अग्र। शरण-शाखादिः।

अर्थ—इव अर्थ में वर्त्तमान शाखा आदि प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है।

उदा० (1) शाख्यः
शाखेव—शाखा यत् सु।

(2) मुख्यः (पूर्ववत्)।
(3) जघन्यः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2265) द्रव्यं च भव्ये *104* (2059)

द्रव्यशब्दो निपात्यते भव्येऽभिधेये। द्रुशब्दादिवार्थे यत् प्रत्ययो निपात्यते। द्रव्यम्। भव्य आत्मवान्। अभिप्रेतानामर्थानां पात्रभूत उच्यते। द्रव्योऽयं राजपुत्रः। द्रव्योऽयं माणवकः।

अर्थ—भव्य अर्थ में 'द्रव्य' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) द्रव्यम्
द्रु यत् सु।

द्रव्योऽयं राजपुत्रः।
द्रव्योऽयं माणवकः।

(2266) कुशाग्राच्छः *105* (2060)

कुशाग्रशब्दादिवार्थे छः प्रत्ययो भवति। कुशाग्रमिव सूक्ष्मत्वात् कुशाग्रीया बुद्धिः। कुशाग्रीयं वस्त्रम्।

अर्थ—इव अर्थ में वर्त्तमान कुशाग्र शब्द से 'छ' होता है।

उदा॰ (1) कुशाग्रीया बुद्धिः
कुशाग्र छ—स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ।

(2) कुशाग्रीयं वस्त्रम् (पूर्ववत्)।

(2267) समासाच्च तद्विषयात् *106* (2061)

तदित्यनेन प्रकृत इवार्थो निर्दिश्यते। इवार्थविषयात् समासादपरस्मिन्निवार्थे एव छः प्रत्ययो भवति। काकतालीयम्। अजाकृपाणीयम्। अन्धकवर्त्तकीयम्। अतर्कितोपनतं चित्रीकरणमुच्यते। तत् कथम्? काकस्यागमनं यादृच्छिकम्, तालस्य पतनं च। तेन तालेन पतता काकस्य वधः कृतः। एवमेव देवदत्तस्य तत्रागमनं दस्यूनां चोपनिपातः, तैश्च तस्य वधः कृतः। तत्र यो देवदत्तस्य दस्यूनां च समागमः, स काकतालसमागमसदृश इत्येक उपमार्थः। अतश्च देवदत्तस्य वधः, स काकतालवधसदृश इति द्वितीय उपमार्थः। तत्र प्रथमे समासः, द्वितीये प्रत्ययः। समासश्चायमस्मादेव ज्ञापकात्। न ह्यस्यापरं लक्षणमस्ति। सुप्सुपेति वा समासः। स चैवंविषय एव।

अर्थ—'तद्' के द्वारा 'इव' अर्थ का निर्देश किया जाता है। इव अर्थ वाले समास में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'छ' होता है।

उदा॰ (1) काकतालीयम्
काकताल छ सु।

(2) अजाकृपाणीयम् (पूर्ववत्)।
(3) अन्धकावर्त्तकीयम् (पूर्ववत्)।

यहाँ 'सहसा प्राप्त' अथवा 'चित्रीकरण' अर्थ अभिप्रेत है। कैसे? कव्वे का आगमन यादृच्छिक हुआ तथा ताल का गिरना हुआ। उससे कव्वे का वध हो गया। यह सब सहसा हुआ। इसी प्रकार देवदत्त का वहाँ आना तथा चौरों का उपनिपात हो गया। उन्होंने उसे मार डाला। यहाँ देवदत्त और चौरों का समागम काकताल समागम के समान है—यह द्वितीय उपमार्थ है। वहाँ प्रथम में समास होता है तथा द्वितीय में प्रत्यय होता है। इस ज्ञापक से ही समास होता है। इसका दूसरा लक्षण नहीं है। अथवा सुप्सुपा से समास होता है। यह इसी का विषय है।

(2268) शर्करादिभ्योऽण् *107* (2062)

शर्करा इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इवाऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। शर्करेव शार्करम्। कापालिकम्। शर्करा। कपालिका। पिष्टिक। पुण्डरीक। शतपत्र। गोलोमन्। गोपुच्छ। नरालि। नकुला। सिकता–शर्करादिः।

अर्थ—इव अर्थ में वर्त्तमान शर्करा आदि प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय होता है।

उदा॰ (1) शार्करम्
शर्करेव—शर्करा अण्।

(2) कापालिकम्
कापालिक अण्।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2269) अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् *108* (2063)

अङ्गुल्यादिभ्य इवार्थे ठक् प्रत्ययो भवति। अङ्गुलीवाङ्गुलिकः। भारुजिकः। अङ्गुलि। भरुज। बभ्रु। वल्गु। मण्डर। मण्डल। शष्कुल। कपि। उदश्वित्। गोणी। उरस्। शिखा। कुलिश–अङ्गुल्यादिः।

अर्थ—इव अर्थ में अंगुलि आदि प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय होता है।

उदा॰ (1) आङ्गुलिकः
अङ्गुलीव—'ठक्' हुआ।

(2) भारुजिकः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2270) एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् *109* (2064)

एकशालाशब्दादिवार्थेऽन्यतरस्यां ठच् प्रत्ययो भवति। अन्यतरस्यांग्रहणेनानन्तरष्ठक् प्राप्यते। एकशालेव एकशालिकः। ऐकशालिकः।

अर्थ—इव अर्थ में वर्त्तमान एकशाला प्रातिपदिक से विकल्प से 'ठच्' होता है। पक्ष में 'ठक्' होता है।

उदा॰ (1) एकशालिकः
एकशालेव → एकशाला ठच्।

(2) ऐकशालिकः
पक्ष में 'ठक्' हुआ।

(2271) कर्कलोहितादीकक् *110* (2065)

कर्कलोहितशब्दाभ्यामिवार्थे ईकक् प्रत्ययो भवति। कर्कः शुक्लोऽश्वः, तेन सदृशः कार्कीकः। लौहितीकः स्फटिकः। स्वयमलोहितोऽप्युपाश्रयवशात्तथा प्रतीयते।

अर्थ—इव अर्थ में वर्त्तमान कर्क तथा लोहित प्रातिपदिकों से 'ईकक्' प्रत्यय होता है। अन्त्य वर्ण (क्) की इत्संज्ञा है।

उदा० (1) कार्कीकः
कर्केण सदृशः—ईकक् हुआ।

(2) लौहितीकः
लोहित ईकक्।
स्वयम् अलोहित भी उस प्रकार प्रतीत होता है।

(2272) प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि *111* (3502)

प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम–इत्येतेभ्य इवार्थे थाल् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ० 5.44.1)।

अर्थ—इव अर्थ में वर्त्तमान प्रत्न, पूर्व, विश्व तथा इम प्रातिपदिकों से 'थाल्' होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) प्रत्नथा
प्रत्न इव → प्रत्न थाल् सु।

(2) पूर्वथा (पूर्ववत्)।
(3) विश्वथा (पूर्ववत्)।
(4) इमथा (ऋ०5.44.1)
पूर्ववत्।

(2273) पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् *112* (2066)

इवार्थे इति निवृत्तम्। नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः पूगाः। पूगवाचिनः प्रातिपदिकादग्रामणीपूर्वात् स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति। लौहध्वज्यः। लौहध्वज्यौ। लौहध्वजाः। शैब्यः। शैब्यौ। शिबयः। चातक्यः। चातक्यौ। चातकाः। अग्रामणीपूर्वादिति किम्? देवदत्तो ग्रामणीरेषां त इमे देवदत्तकाः, यज्ञदत्तकाः।

अर्थ—'इव' की निवृत्ति हो चुकी है। अनेक जाति वाले, अनियत आजीविका वाले तथा अर्थप्रधान संघों को 'पूग' कहते हैं। ग्रामणी शब्द नहीं है पूर्वपद जिसका, ऐसे पूगवाची प्रातिपदिक से 'ञ्य' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) लौहध्वज्यः
लोहध्वज ञ्य—चुटू, आदिवृद्धि,
लौहध्वज्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) लौहध्वज्यौ
प्रथमा द्विवचन।

(3) लोहध्वजाः
प्रथम बहुवचन। प्रत्यय का लुक्।

(4) शैब्यः (पूर्ववत्)।
(5) शैब्यौ
'औ' विभक्ति।

(6) शिबयः
पूर्ववत् प्रत्यय का लुक्।

(7) चातक्यः (पूर्ववत्)।
(8) चातक्यौ (पूर्ववत्)।
(9) चातकाः (पूर्ववत्)।

अग्रामणी०—ग्रामणी शब्द नहीं है पूर्वपद में जिसके, ऐसे शब्द से 'ञ्य' होता है।

(10) देवदत्तो ग्रामणीरेषां त इमे—देवदत्तकाः
यहाँ 'ञ्य' नहीं हुआ।

(11) यज्ञदत्तकाः (पूर्ववत्)।

(2274) व्रातच्फञोरस्त्रियाम् *113* (1100)

नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघाः व्राताः। व्रातवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्च्फञ्प्रत्ययान्तेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवत्यस्त्रियाम्। कापोतपाक्यः। कापोतपाक्यौ। कापोतपाकाः। व्रैहिमत्यः। व्रैहिमत्यौ। व्रीहिमताः। च्फञः खल्वपि–कौञ्जायन्यः। कौञ्जायन्यौ। कौञ्जायनाः। ब्राध्नायन्यः। ब्राध्नायन्यौ। ब्राध्नायनाः। अस्त्रियामिति किम्? कपोतपाकी, व्रीहिमती, कौञ्जायनी, ब्राध्नायनी।

अर्थ—अनेक जाति वाले, अनिश्चित आजीविका वाले, अर्थप्रधान संघों को 'व्रात' कहते हैं। व्रातवाची और च्फञ्

प्रत्ययान्त शब्द से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है, स्त्रीलिंग के विषय को छोड़कर।

उदा० (1) कापोतपाक्य:
कपोतपाक ञ्य सु।

(2) कापोतपाक्यौ
'औ' विभक्ति।

(3) कपोतपाका:
'जस्' में प्रत्यय का लुक्।

(4) व्रैहिमत्य:
'ञ्य' हुआ।

(5) व्रैहिमत्यौ
'औ' हुआ।

(6) व्रीहिमता:
'जस्' में प्रत्यय का लुक् हुआ।

(7) कौञ्जायन्य:
पूर्ववत् 'ञ्य'।

(8) कौञ्जायन्यौ
'औ' हुआ।

(9) कौञ्जायना:
'जस्' में।

(10) ब्राध्नायन्य:
'ञ्य' हुआ।

(11) ब्राध्नायन्यौ
'औ' हुआ।

(12) ब्राध्नायना:
'जस्' में।

अस्त्रिया० अर्थात् स्त्रीलिंग के विषय को छोड़कर प्रत्यय होता है—

(13) कपोतपाकी
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(14) व्रीहिमती
स्त्रीलिंग में 'ञ्य' नहीं हुआ।

(15) कौञ्जायनी (पूर्ववत्)।
(16) ब्राध्नायनी (पूर्ववत्)।

(2275) आयुधजीविसङ्घाञ्ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् *114* (2067)

आयुधजीविनां संघः आयुधजीविसंघः। स वाहीकैर्विशेष्यते। वाहीकेषु य आयुधजीविसंघस्तद्वाचिनः प्रातिपदिकाद् ब्राह्मणराजन्यवर्जितात् स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो भवति। ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम्। राजन्ये तु स्वरूपग्रहणमेव। टकारो ङीबर्थः। तेनास्त्रियामिति नानुवर्त्तते। कौण्डीबृस्यः। कौण्डीबृस्यौ। कौण्डीबृसाः। क्षौद्रक्यः। क्षौद्रक्यौ। क्षुद्रकाः। मालव्यः। मालव्यौ। मालवाः। स्त्रियां–कौण्डीवृसी, क्षौद्रकी, मालवी। आयुधजीविग्रहणं किम्? मल्लाः, शयण्डाः। संघग्रहणं किम्? सम्राट्। वाहीकेष्विति किम्? शबराः, पुलिन्दाः। अब्राह्मणराजन्यादिति किम्? गोपालका ब्राह्मणाः, शालङ्कायना राजन्याः।

अर्थ—आयुधजीवी लोगों का संघ—आयुधजीविसंघ। उसका वाहीकों के द्वारा विशेष कथन है। वाहीक देशविशेष में शस्त्रोपजीवी पुरुषों के संघ के वाचक प्रातिपदिक से 'ञ्यट्' होता है, ब्राह्मण और राजन्य शब्दों को छोड़कर। 'राजन्य' में स्वरूप का ग्रहण है। 'ट्' अनुबन्ध का प्रयोजन स्त्रीलिंग में ङीप् करना है। अतः 'अस्त्रियाम्' इसका अनुवर्त्तन नहीं है।

उदा० (1) कौण्डीबृस्य:
कोण्डीबृस ञ्यट्—आदिवृद्धि, सु।

(2) कौण्डीबृस्यौ
'औ' हुआ।

(3) कुण्डीबृसा:
'जस्' विभक्ति।

(4) क्षौद्रक्य:
'ञ्यट्' हुआ।

(5) क्षौद्रक्यौ
'औ' हुआ।

(6) क्षुद्रका:
'जस्' हुआ।

(7) मालव्य:
'ञ्यट्' हुआ।

(8) मालव्यौ
'औ' हुआ।

(9) मालवाः
'जस्' में।

(10) कौण्डबृसी
स्त्रीलिंग में।

(11) क्षौद्रकी
स्त्रीलिंग में।

(12) मालवी
स्त्रीलिंग में।

आयुधजीवि०—शस्त्रजीवी लोगों के संघ के वाचक प्रातिपदिक से 'ञ्यट्' होता है—

(13) मल्लाः
'ञ्यट्' नहीं हुआ।

(14) शयण्डाः (पूर्ववत्)।

सङ्घग्रहणं०—संघवाची प्रातिपदिक से 'ञ्यट्' होता है—

(15) सम्राट्
'ञ्यट्' नहीं हुआ।

वाहीकेष्वि०—वाहीक देशविशेष में शस्त्रोपजीवी संघवाची से 'ञ्यट्' होता है—

(16) शबराः
'ञ्यट्' नहीं हुआ।

(17) पुलिन्दाः (पूर्ववत्)।

अब्राह्मण०—ब्राह्मण व राजन्य शब्दों को छोड़कर शेष से 'ञ्यट्' होता है—

(18) गोपालका ब्राह्मणाः
'ञ्यट्' नहीं हुआ।

(19) शालङ्कायना राजन्याः (पूर्ववत्)।

(2276) वृकाट्टेण्यण् *115* (2068)

आयुधजीविसंघादिति वर्त्तते। वृकशब्दादायुधजीविनः स्वार्थे टेण्यण् प्रत्ययो भवति। टकारो ङीबर्थो णकारो वृद्ध्यर्थः। वार्केण्यः। वार्केण्यौ। वृकाः। आयुधजीविसंघविशेषणं जातिशब्दान्मा भूत्। 'कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव'।

अर्थ—'आयुधजीविसङ्घात्' का अनुवर्त्तन है। शस्त्रोपजीवियों के संघवाची 'वृक' प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'टेण्यण्' होता है। 'ट्' अनुबन्ध स्त्रीलिंग में ङीप् के लिए है तथा 'ण्' अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिए है।

उदा० (1) वार्केण्यः
वृक टेण्यण् → वार्क एण्य—अनुबन्धलोप,
वार्केण्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) वार्केण्यौ
'औ' विभक्ति।

(3) वृकाः
'जस्' में प्रत्यय का लुक् हुआ।

आयुधजीवीसंघ यह विशेषण होने से जातिशब्द से नहीं होता है। यथा—

कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव।

(2277) दामन्यादित्रिगर्त्तषष्ठाच्छः *116* (2069)

आयुधजीविसंघादिति वर्त्तते। दामन्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्त्रिगर्त्तषष्ठेभ्यश्चायुधजीविसंघवाचिभ्यः स्वार्थे छः प्रत्ययो भवति। येषामायुधजीविनां संघानां षडन्तर्वर्गास्तत्र च त्रिगर्त्तः षष्ठः। त्रिगर्त्तः षष्ठो येषां ते त्रिगर्त्तषष्ठा इत्युच्यन्ते। तेषु चेयं स्मृतिः-

**आहुस्त्रिगर्त्तषष्ठीस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी।
क्रौष्टकिर्ज्जालमानिश्च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानकिः।। इति।**

दामन्यादिभ्यस्तावत्-दामनीयः। दामनीयौ। दामनयः। औलपीयः। औलपीयौ। उलपयः। त्रिगर्त्तषष्ठेभ्यः खल्वपि-कौण्डोपरथीयः। कौण्डोपरथीयौ। कौण्डोपरथाः। दाण्डकीयः। दाण्डकीयौ। दाण्डकयः। क्रौष्टकीयः। जालमानीयः। ब्रह्मगुप्तीयः। जानकीयः। दामनी। औलपि। आकिदन्ती। काकरन्ति। काकदन्ति। शत्रुन्तपि। सार्वसेनि। बिन्दु। मौञ्जायन। उलभ। सावित्रीपुत्र-दामन्यादिः।

अर्थ—'आयुधजीविसङ्घात्' का अनुवर्त्तन है। शस्त्रोपजीवी लोगों के संघवाची दामन्यादि गणपठित शब्दों से तथा त्रिगर्त्तषष्ठ शब्दों से स्वार्थ में 'छ' होता है।

जिन आयुधजीवियों के संघों में षडन्तर्वर्ग हैं, वहाँ त्रिगर्त्त छठा है। अतः 'त्रिगर्त्त है छठा जिनका' इस प्रकार 'त्रिगर्त्तषष्ठ' कहे जाते हैं। स्मृति में यथा—

आहुस्त्रिगर्त्तषष्ठीस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी।
क्रौष्टकिर्ज्जालमानिश्च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानकिः।। इति।

उदा० (क) दामन्यादिभ्यः—

(1) दामनीयः
दामनी छ सु।

(2) दामनीयौ
'औ' हुआ।

(3) दामनयः
'जस्' में।

(4) औलपीयः
'छ' हुआ। शेष पूर्ववत्।

(5) औलपीयौ
'औ' हुआ।

(6) उलपयः
'जस्' में।

(ख) त्रिगर्त्तषष्ठेभ्यः—

(7) कौण्डोपरथीयः
'छ' हुआ।

(8) कौण्डोपरथीयौ
'औ' विभक्ति।

(9) कोण्डोपरथाः
'जस्' में प्रत्यय का लुक्।

(10) दाण्डकीयः
'छ' हुआ।

(11) दाण्डकीयौ
'औ' विभक्ति।

(12) दाण्डकयः
'जस्' में।

(13) कौष्टकीयः
'छ' हुआ।

(14) जालमानीयः
'छ' हुआ।

(15) ब्रह्मगुप्तीयः
'छ' हुआ।

(16) जानकीयः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2278) पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ *117* (2070)

आयुधजीविसंघादित्येव। पर्श्वादिभ्यो यौधेयादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्य आयुधजीविसंघवाचिभ्यः स्वार्थेऽणञौ प्रत्ययौ भवतः। पार्शवः। पार्शवौ। पर्शवः। आसुरः। आसुरौ। असुराः। यौधेयः। शौक्रेयः। पर्शु। असुर। रक्षस्। बाल्हीक। वयस्। मरुत्। दशार्ह। पिशाच। विशाल। अशनि। कार्षापण। सत्वत्। बसु। पर्श्वादिः। यौधेय। कौशेय। क्रौशेय। शौक्रेय। शौभ्रेय। धार्त्तेय। वार्त्तेय। जाबालेय। त्रिगर्त्त। भरत। उशीनर–यौधेयादिः।

अर्थ—'आयुधजीविसङ्घात्' का अनुवर्त्तन है। आयुधजीवियों के संघवाची पर्श्वादि तथा यौधेयादि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में यथासंख्य 'अण्' व 'अञ्' होते हैं।

उदा० (1) पार्शवः
पर्शु अण् → पार्शो अ—आदिवृद्धि, ओर्गुणः।

(2) पार्शवौ
'औ' हुआ।

(3) पर्शवः
'जस्' में प्रत्यय का लुक् हुआ।

(4) आसुरः
असुर अण्।

(5) आसुरौ
'औ' हुआ।

(6) असुराः
'जस्' में।

(7) यौधेयः
योधेय अञ्।

(8) शौक्रेयः
पूर्ववत् 'अञ्'।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2279) अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमी-वदूर्णावच्छ्रुमदणो यञ् * 118 * (2071)

आयुधजीविसङ्घादिति निवृत्तम्। अभिजिदादिभ्योऽणन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे यञ् प्रत्ययो भवति। अभिजितोऽपत्यमित्यण्। तदन्ताद्यञ्। आभिजित्यः। आभिजित्यौ। आभिजिताः। वैदभृत्यः। वैदभृत्यौ। वैदभृताः। शालावत्यः।

शालावत्यौ । शालावताः । शैखावत्यः । शामीवत्यः । और्णावत्यः । श्रौमत्यः । *गोत्रप्रत्ययस्यात्राणो ग्रहणमिष्यते* (म० भा०) । आभिजितो मुहूर्त्तः, आभिजितः स्थालीपाक इत्यत्र न भवति ।

अर्थ—'आयुधजीविसङ्घात्' की निवृत्ति हो गई है। अभिजित्; विदभृत्, शालावत्, शिखावत्, शमीवत्, ऊर्णावत् तथा श्रूमत् प्रातिपदिकों से विहित जो 'अण्', तदन्त प्रातिपदिक से 'यञ्' होता है, स्वार्थ में।

उदा० (1) आभिजित्यः
अभिजितोऽपत्यम् → अभिजित् अण्—
आभिजित यञ् → आभिजित्य सु ।

(2) आभिजित्यौ
'औ' हुआ।

(3) अभिजिताः
'जस्' में प्रत्यय का लुक्।

(4) वैदभृत्यः
वेदभृत् अण्। वैदभृत यञ्—पूर्ववत्।

(5) वैदभृत्यौ
'औ' हुआ।

(6) वेदभृताः
'जस्' में लुक् हुआ।

(7) शालावत्यः
'यञ्' हुआ।

(8) शालावत्यौ
'औ' हुआ।

(9) शालावताः
'जस्' में प्रत्यय का लुक्।

(10) शैखावत्यः
'यञ्' हुआ।

(11) शामीवत्यः (पूर्ववत्)।

(12) और्णावत्यः (पूर्ववत्)।

(13) श्रौमत्यः (पूर्ववत्)।

यहाँ गोत्र प्रत्यय 'अण्' गृहीत है—

(14) आभिजितः
अभिजितो मुहूर्त्तः—अण् हुआ,
आभिजित सु—'यञ्' नहीं हुआ।

(15) स्थालीपाकः—यहाँ नहीं होता है।

(2280) ञ्यादयस्तद्राजाः *119* (2072)

पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् (5.3.112) इत्यतः प्रभृति ये प्रत्ययास्ते तद्राजसंज्ञा भवन्ति। तथा चैवोदाहृतम्। तद्राजप्रदेशाः 'तद्राजस्य बहुषु' (2.4.62) इत्येवमादयः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अर्थ—'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' (5.3.112) इससे लेकर जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन 'ञ्य' आदि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है। उनका उदाहरण दिया जा चुका है। तद्राज संज्ञा का फल बहुवचन में प्रत्यय का लुक् करना है।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
पञ्चमाऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।



पञ्चमाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः

(2281) पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च *1* (2073)

पादशतान्तस्य संख्यादेः प्रातिपदिकस्य वीप्सायां द्योत्यायां वुन् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन चान्तस्य लोपो भवति। यस्येति (6.4.148) लोपेनैव सिद्धे पुनर्वचनमनैमित्तिकार्थम्। यस्येति लोपः परनिमित्तकः, तस्य स्थानिवद्भावात् 'पादः पत्' (6.4.130) इति पद्भावो न स्यात्। अस्य त्वनैमित्तिकत्वान्न स्थानिवत्त्वम्। द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति। द्वे द्वे शते ददाति द्विशतिकां ददाति। तद्धितार्थ (2.1.51) इति समासः, ततः प्रत्ययः। स्वभावाच्च वुन्प्रत्ययान्तं स्त्रियामेव वर्त्तते। पादशतस्येति किम्? द्वौ द्वौ माषौ ददाति। संख्यादेरिति किम्? पादं पादं ददाति। वीप्सायामिति किम्? द्वौ पादौ ददाति। द्वे शते ददाति। पादशतग्रहणमनर्थकमन्यत्रापि दर्शनात् (म० भा०)-द्विमोदकिकां ददाति, त्रिमोदकिकां ददाति।

अर्थ—संख्या है आदि में जिसके तथा 'पाद' व 'शत' है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'वुन्' प्रत्यय होता है तथा 'पाद' व 'शत' शब्दों का लोप होता है, यदि वीप्सा गम्यमान हो।

अलोऽन्त्य परिभाषा से अन्त्य वर्ण का लोप होता है। यह लोप 'यस्येति च' के द्वारा ही सिद्ध है, तदपि अनैमित्तिक के लिए यह विधान किया गया है। 'यस्येति च' के द्वारा विहित लोप परनिमित्तक है, कारण कि वह स्थानिवत् होता है। तब 'पादः पत्' ऐसा पद् आदेश भले न हो; परन्तु इसके अनैमित्तिक होने से स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

उदा० (1) द्विपदिकां ददाति
द्वौ द्वौ पादौ ददाति → द्विपाद—तद्धितार्थोत्तरपद०,
द्विपाद् वुन्—'वुन्' हुआ,
द्विपद् अक टाप्—पादः पत्, प्रत्ययस्थात् कात्०,
द्विपदिकाम्—द्वितीया एकवचन।

(2) द्विशतिकां ददाति
द्वे द्वे शते ददाति—पूर्ववत्।
स्वभाव से वुन् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग ही होता है।

पादशत०—पाद और शत अन्त वाले प्रातिपदिक से 'वुन्' होता है—
द्वौ द्वौ माषौ ददाति—यहाँ 'वुन्' नहीं हुआ।

सङ्ख्यादे०—आदि में संख्या हो, ऐसे शब्द से 'वुन्' होता है—
पादं पादं ददाति—यहाँ नहीं हुआ।

वीप्साया०—वीप्सा गम्यमान हो तो 'वुन्' होता है—
द्वौ पादौ ददाति—यहाँ भी नहीं हुआ।

इसी प्रकार यहाँ भी नहीं होता है—
द्वे शते ददाति।

(3) द्विमोदकिकां ददाति
यहाँ उत्तर पद में न तो 'पाद' है; न ही 'शत' है, परन्तु 'वुन्' दृष्टिगोचर होता है। अतः प्रकृत सूत्र में 'पादशतस्य' पद अनर्थक है।

(2282) दण्डव्यवसर्गयोश्च *2* (2074)

दमनं दण्डः। दानं व्यवसर्गः। दण्डव्यवसर्गयोर्गम्यमानयोः पादशतान्तस्य प्रातिपदिकस्य संख्यादेर्वुन् प्रत्ययो भवति, अन्तलोपश्च। अवीप्सार्थोऽयमारम्भः। द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः। द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिकां व्यवसृजति। द्विशतिकां दण्डितः, त्रिशतिकाम्। द्विशतिकां व्यवसृजति, त्रिशतिकाम्।

अर्थ—दमन = दण्ड। व्यवसर्ग = दान। दण्ड तथा दान गम्यमान हो तो संख्यादि तथा पाद व शत शब्दान्त वाले प्रातिपदिकों से 'वुन्' होता है तथा 'पाद' व 'शत' शब्दों का लोप होता है। वीप्सा से अतिरिक्त के लिए यह विधान है।

उदा० (1) द्विपदिकां दण्डितः
द्वौ पादौ दण्डितः—पूर्ववत् सभी कार्य।

(2) द्विपदिकां व्यवसृजति
द्वौ पादौ व्यवसृजति—पूर्ववत्।

(3) द्विशतिकां दण्डितः (पूर्ववत्)।
(4) द्विशतिकां व्यवसृजति (पूर्ववत्)।
(5) त्रिशतिकां दण्डितः (पूर्ववत्)।

(2283) स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् *3* (2075)

स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने द्योत्ये कन् प्रत्ययो भवति। जातीयरोऽपवादः। प्रकारो विशेषः। स्थूलप्रकारः स्थूलकः। अणुकः। माषकः। *कन्प्रकरणे चञ्चद्बृहतो-रुपसंख्यानम्* (म०भा०)। चञ्चत्प्रकारः चञ्चत्कः। बृहत्कः। चञ्चबृहयोरिति केचित् पठन्ति। तेषां चञ्चकः, बृहक इति उदाहरणं द्रष्टव्यम्। स्थूल। अणु। माष। इषु। *कृष्ण तिलेषु* (ग०सू० 137)। *यव व्रीहिषु* (ग०सू० 138)। *पाद्यकालावदाताः सुरायाम्* (ग० सू० 139)। *गोमूत्र आच्छादने* (ग०सू० 140)। *सुराया अहौ* (ग०सू० 141)। *जीर्ण शालिषु* (ग० सू० 142)। *पत्रमूले समस्तव्यस्ते* (ग०सू० 143)। कुमारीपुत्र। कुमार। श्वशुर। मणि–स्थूलादिः।

अर्थ—प्रकारवचन अर्थ में वर्त्तमान स्थूल आदि प्रातिपदिकों से 'कन्' होता है। यह 'जातीयर्' का अपवाद है।

उदा० (1) स्थूलकः
स्थूलप्रकारः

(2) अणुकः (पूर्ववत्)।
(3) माषकः (पूर्ववत्)।

कन् प्रकरणे०—चञ्चत् और बृहत् शब्दों से भी 'कन्' होता है—

(4) चञ्चत्कः
चञ्चत् प्रकारः।

(5) बृहत्कः (पूर्ववत्)।

कुछ लोग 'चञ्चबृहयोः' ऐसा पाठ मानते हैं। उनके अनुसार निम्नलिखित उदाहरण होते हैं—

(6) चञ्चकः।
(6) बृहकः।
'केऽणः' से ह्रस्व होता है।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2284) अनत्यन्तगतौ क्तात् *4* (2076)

अत्यन्तगतिरशेषेण सम्बन्धः, तदभावोऽनत्यन्तगतिः। अनत्यन्तगतौ गम्यमानायां क्तान्तात्कन्प्रत्ययो भवति। भिन्नकः। छिन्नकः। अनत्यन्तगताविति किम्? भिन्नम्, छिन्नम्।

अर्थ—अशेष के साथ सम्बन्ध अत्यन्त गति है। उसका अभाव अनत्यन्त गति होता है। अत्यन्त गति से अतिरिक्त अर्थ में क्त प्रत्ययान्त शब्द से 'कन्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) भिन्नकः
भिन्न कन् सु।

(2) छिन्नकः
छिन्न कन्—पूर्ववत्।

अनत्यन्त०—अनत्यन्त गति में ही कन् होता है।

(3) भिन्नम्
यहाँ नहीं हुआ।

(4) छिन्नम् (पूर्ववत्)।

(2285) न सामिवचने *5* (2077)

सामिवचने उपपदे क्तान्तात्कन्प्रत्ययो न भवति। सामिकृतम्। सामिभुक्तम्। वचनग्रहणं पर्यायार्थम्। अर्द्धकृतम्। नेमकृतम्। सामिवचने प्रतिषेधानर्थक्यं प्रकृत्याभिहितत्वात् (म०भा०)। एवं तर्हि नैवायम-नत्यन्तगतौ विहितस्य कनः प्रतिषेधः, किं तर्हि? स्वार्थिकस्य। केन पुनः स्वार्थिकः कन् विहितः? एतदेव ज्ञापकं भवति स्वार्थे कन्निति। तत्र यदेतदुच्यते–एवं हि सूत्रमभिन्नतरकं भवति, एतर्हि बहुतरकं व्याप्यत इत्येवमादि तदुपपन्नं भवति।

अर्थ—सामिवाची शब्द के उपपद रहते क्तप्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'कन्' नहीं होता है। सामि = अर्ध।

उदा० (1) सामिकृतम्
सामि कृत—प्राप्त 'कन्' का निषेध,
सामिकृत सु—विभक्तिकार्य।

(2) सामियुक्तम्—पूर्ववत्।
'वचन' का अर्थ है—पर्याय।

(3) अर्धकृतम्
अर्ध कृत सु।

(4) नेमकृतम् (पूर्ववत्)।

सामि०—सामिवचन में निषेध व्यर्थ है। पूर्व सूत्र से अनत्यन्त गति में 'कन्' कहा गया है। सामि शब्द से 'कन्' की प्राप्ति ही नहीं होती है।

(समा०) यह अनत्यन्त गति में विहित 'कन्' का निषेध नहीं है। तो किसका है? स्वार्थिक 'कन्' का। स्वार्थिक 'कन्' किसके

द्वारा विहित है ? यह ज्ञापक सिद्ध होता है कि स्वार्थ में 'कन्' होता है।

(2286) बृहत्या आच्छादने *6* (2078)

कन्ननुवर्त्तते, न प्रतिषेधः। बृहतीशब्दादाच्छादने वर्त्तमानात् स्वार्थे कन्प्रत्ययो भवति। बृहतिका। आच्छादने इति किम्? बृहती छन्दः।

अर्थ—'कन्' का अनुवर्त्तन है: प्रतिषेध नहीं है। आच्छादन अर्थ में वर्तमान बृहती प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'कन्' होता है।

उदा० (1) बृहतिकः
बृहती कन् → बृहतिक सु।

आच्छादन अर्थ में वर्त्तमान बृहती शब्द से 'कन्' होता है—

(2) बृहती छन्दः
'कन्' नहीं हुआ।

(2287) अषडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात् खः *7* (2079)

अषडक्ष, आशितङ्गु, अलङ्कर्मन्, अलम्पुरुष-इत्येतेभ्योऽध्युत्तरपदाच्च स्वार्थे खः प्रत्ययो भवति। अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्येति बहुव्रीहिः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' (5.4.113) इति षच्। ततः खप्रत्ययः। अषडक्षीणो मन्त्रः। यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः। आशिता गावोऽस्मिन्नरण्ये आशितङ्गवीनमरण्यम्। निपातनात् पूर्वपदस्य मुमागमः। अलङ्कर्म्मन्, अलम्पुरुष इति पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्येति समासः। अलङ्कर्म्मणेऽलङ्कर्मीणः। अलम्पुरुषाय अलम्पुरुषीणः। अध्युत्तरपदस्तत्पुरुषः। अधिशब्दः शौण्डादिषु पठ्यते। राजाधीनः। नित्यश्चायं प्रत्ययः, उत्तरत्र विभाषाग्रहणात्। अन्येऽपि स्वार्थिका नित्याः प्रत्ययाः स्मर्यन्ते तमबादयः (5.3.55) प्राक्कनः (5.3.64), ज्यादयः (5.3.112) प्राग्वुनः (5.4.1)। आमादयः (5.4.11) प्राङ् मयटः (5.4.21)। बृहतीजात्यन्ताः (5.4.9) समासान्ताश्चेति (5.4.6)।

अर्थ—अषडक्ष, अशितङ्गु, अलङ्कर्म व अलम्पुरुष शब्दों से तथा अधिपूर्वक प्रातिपदिक से 'ख' प्रत्यय होता है, स्वार्थ में।

उदा० (1) अषडक्षीणः
षडक्षीणि न विद्यन्ते यस्मिन्—बहुव्रीहि हुआ,
अषडक्ष—'षच्' समासान्त,
अषडक्ष ख सु—ईन, णत्व, विभक्तिकार्य।

(2) आशितङ्गवीनम् अरण्यम्—
आशिता गावोऽस्मिन्नरण्ये—समास, ख, निपातन से पूर्वपद को मुम्,
आशितङ्गु ख सु—गुण, शेष पूर्ववत्।

(3) अलङ्कर्मीणः
अलङ्कर्मणे—पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या०,
अलङ्कर्मन् ख सु—पूर्ववत्।

(4) अलम्पुरुषीणः
अलम्पुरुष ख—पूर्ववत्।

अधि शब्द का पाठ शौण्डादि में है। अधि उत्तरपद शब्द तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

(5) राजाधीनः
राजन् अधि ख सु।

यह प्रत्यय नित्य है। आगे विभाषा का ग्रहण किया गया है। 'कन्' से पूर्व 'तमप्' आदि अन्य स्वार्थिक प्रत्यय भी नित्य होते हैं। 'वुन्' से पूर्व 'ज्य' आदि। मयट् से पूर्व आम् आदि।

(2288) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् *8* (2080)

अञ्चत्यन्तात् प्रातिपदिकाददिक्स्त्रियां वर्त्तमानात् स्वार्थे विभाषा खः प्रत्ययो भवति। प्राक्। प्राचीनम्। अर्वाक्। अर्वाचीनम्। अदिक्स्त्रियामिति किम्? प्राची दिक्। प्रतीची दिक्। दिग्ग्रहणं किम्? प्राचीना ब्राह्मणी। अर्वाचीना शिखा। स्त्रीग्रहणं किम्? प्राचीनं दिग्रमणीयम्। उदीचीनं दिग्रमणीयम्।

अर्थ—दिग्वाची स्त्रीलिंग शब्द को छोड़कर अञ्चु है उत्तरपद में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) प्राचीनम्
प्राञ्च् ख → ईन, सु।

(2) प्राक्
प्राञ्च् सु—पक्ष में 'ख' नहीं हुआ।

(3) अर्वाचीनम्
'ख' हुआ।

(4) अर्वाक्
'ख' नहीं हुआ।

अदिक्०—दिग्वाची स्त्रीलिंग को छोड़कर शेष से 'ख' होता है—

(5) प्राची दिक्
'ख' नहीं हुआ।

(6) प्रतीची दिक् (पूर्ववत्)।

दिग्ग्रहण०—दिग्वाची स्त्रीलिंग से 'ख' नहीं होता है—

(7) प्राचीना ब्राह्मणी
प्राञ्च् ख—'ख' हुआ,
प्राचीन टाप्—सु।

(8) अर्वाचीना शिखा (पूर्ववत्)।

स्त्रीग्रहणं०—दिग्वाची स्त्रीलिंग से 'ख' नहीं होता है—

(9) प्राचीनं दिग् रमणीयम्
'ख' हुआ है।

(10) उदीचीनं दिग् रमणीयम्
'ख' हुआ।

(2289) जात्यन्ताच्छ बन्धुनि *9* (2081)

जात्यन्तात् प्रातिपदिकाद् बन्धुनि वर्त्तमानात् स्वार्थे छः प्रत्ययो भवति। बध्यतेऽस्मिञ्जातिरिति बन्धुशब्देन द्रव्यमुच्यते। येन ब्राह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यते तद्बन्धु द्रव्यम्। ब्राह्मणजातीयः। क्षत्रियजातीयः। वैश्यजातीयः इति ब्राह्मणादिरेवोच्यते। बन्धुनीति किम्? ब्राह्मणजातिः शोभना।

अर्थ—जाति शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'छ' प्रत्यय होता है, बन्धु अर्थ में।

बन्धु शब्द के द्वारा द्रव्य कहा जाता है। जिसके द्वारा ब्राह्मणत्व आदि जाति व्यञ्जित होती है, वह बन्धु द्रव्य है।

उदा० (1) ब्राह्मणजातीयः
ब्राह्मण।
(2) क्षत्रियजातीयः (पूर्ववत्)।
(3) वैश्यजातीयः (पूर्ववत्)।
ब्राह्मण आदि से ही कहा जाता है।

बन्धुनीति० अर्थात् द्रव्य अर्थ में प्रातिपदिक से 'छ' होता है—

(4) ब्राह्मणजातिः शोभना
यहाँ 'छ' नहीं हुआ।

(2290) स्थानान्ताद्विभाषा सस्थानेनेति चेत् *10* (2082)

स्थानान्तात् प्रातिपदिकाद्विभाषा छः प्रत्ययो भवति सस्थानेन चेत् स्थानान्तमर्थवद्भवति। सस्थान इति तुल्य उच्यते, समानं स्थानमस्येति कृत्वा। पित्रा तुल्यः पितृस्थानीयः, पितृस्थानः। मातृस्थानीयः, मातृस्थानः। राजस्थानीयः, राजस्थानः। सस्थानेनेति किम्? गोस्थानम्। अश्वस्थानम्। इतिकरणो विवक्षार्थः। तेन बहुव्रीहिः सस्थानशब्दोऽर्थमुपस्थापयति, न तत्पुरुषः। चेच्छशब्दः सम्बन्धार्थः। द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये नित्या विधय इति पूर्वत्र नित्यविधयः।

अर्थ—यदि तुल्य शब्द के द्वारा प्रातिपदिक अर्थवान् हो तो 'स्थान' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'छ' प्रत्यय विकल्प से होता है। सस्थान = तुल्य।

(1) पितृस्थानीयः
पित्रा तुल्यः—'छ' हुआ,
पितृस्थान छ सु—विभक्तिकार्य।
(2) पितृस्थानः
पक्ष में 'छ' नहीं हुआ।
(3) मातृस्थानीयः
'छ' हुआ।
(4) मातृस्थानः
'छ' नहीं हुआ।
(5) राजस्थानीयः (पूर्ववत्)।
(6) राजस्थानः (पूर्ववत्)।

सस्थानेने०—'सस्थान से' का प्रयोजन यह है कि निम्नलिखित में न हो—

(1) गोस्थानम्
'छ' नहीं हुआ।
(2) अश्वस्थानम् (पूर्ववत्)।

इतिकरण विवक्षा के लिए है। तब बहुव्रीहि सस्थान शब्द अर्थ को प्रस्तुत करता है, तत्पुरुष नहीं। 'चेत्' शब्द सम्बन्ध के लिए है। दो विभाषा होने पर विधि नित्य होती है। अतः पूर्व वाली नित्य विधि है।

(2291) किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे *11* (2004)

किम एकारान्तात्तिङन्तादव्ययेभ्यश्च यो विहितो घः स

किमेत्तिङ्व्ययघः, तदन्तात् प्रातिपदिकादद्रव्यप्रकर्षे आमु प्रत्ययो भवति। यद्यपि द्रव्यस्य स्वतः प्रकर्षो नास्ति तथापि क्रियागुणस्थः प्रकर्षो यदा द्रव्ये उपचर्यते तदाऽयं प्रतिषेधः। क्रियागुणयोरेवायं प्रकर्षे प्रत्ययः। किंतराम्। किंतमाम्। पूर्वाह्णेतराम्। पूर्वाह्णेतमाम्। पचतितराम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तराम्। उच्चैस्तमाम्। अद्रव्यप्रकर्ष इति किम्? उच्चैस्तरः पर्वतः, उच्चैस्तमः।

अर्थ—किम्, एदन्त, तिङन्त और अव्यय—इन चार से विहित 'घ' संज्ञक प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'आमु' होता है, यह द्रव्य के प्रकर्ष अर्थ में नहीं होता। उकार की इत्संज्ञा होती है। 'आमु' को उदित् करने का प्रयोजन नुट् आगम का निषेध करना है। यदि 'आम्' इस प्रकार आचार्य विधान कर देते तो 'किंतम आम्' इस दशा में आम् को 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' प्राप्त हो जाता है। यद्यपि उकार का लोप करने पर 'आम्' ऐसा प्रत्यय का स्वरूप होता है, तदपि उदित् करने पर इसे नुट् नहीं होगा। कारण कि, 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' परिभाषा के बल पर इसे नुट् नहीं हो पाता।

यद्यपि द्रव्य का स्वतः प्रकर्ष नहीं होता; तथापि गुण-क्रिया में स्थित प्रकर्ष जब द्रव्य में उपचरित होता है, तब यह निषेध होता है। क्रिया और गुण के प्रकर्ष में यह प्रत्यय होता है।

उदा० (1) किन्तराम्
इदमनयोरतिशयेन किम् → किम् तरप्—
किम् तर आमु—यस्येति च,
किन्तराम् सु—अनुस्वार, परसवर्ण, विभक्तिकार्य।

(2) किंतराम्
पक्ष में अनुस्वार—वा पदान्तस्य।

(3) किन्तमाम्
इदमेषामतिशयेन किम् → किम् तमप्—
किन्तमाम्—सभी कार्य पूर्ववत्।

(4) किंतमाम्
'वा पदान्तस्य' से पक्ष में अनुस्वार।

(5) पूर्वाह्णेतराम्
अतिशयिते पूर्वाह्णे → तरप्, आम्—पूर्ववत्।

(6) पूर्वाह्णेतमाम् (पूर्ववत्)।

(7) पचतितराम्
पचति तरप् आमु—विभक्तिकार्य।

(8) पचतितमाम्
आसाम् इदम् अतिशयेन पचति—
सभी कार्य पूर्ववत्।

(9) उच्चैस्तमाम्
अतिशयेनोच्चैः—पूर्ववत्।

(10) उच्चैस्तराम्
तरप्, आमु।

अद्रव्यप्रक—द्रव्यप्रकर्ष से अतिरिक्त अर्थ में ही आमु होता है—

(11) उच्चैस्तरः
यहाँ 'आमु' नहीं हुआ।

(12) उच्चैस्तमः (पूर्ववत्)।

(2292) अमु च च्छन्दसि *12* (3503)

किमेत्तिङ्व्ययघादद्रव्यप्रकर्षे अमु प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये, चकारादामु च। प्रतरं न आयुः (ऋ० 4.12.6)। प्रतरां नयः (वा०सं० 17.51)। स्वरादिषु अम् आम् इति पठ्यते। तस्मात्तदन्तस्याव्ययत्वम्।

अर्थ—वेद के विषय में घसंज्ञक प्रत्ययान्त जो किम्, एदन्त, तिङन्त और अव्यय—इन शब्दों से आमु व अमु पर्यायेण होते हैं तथा द्रव्य के प्रकर्ष में नहीं होता है।

उदा० (1) प्रतरम् (ऋ०4.12.6)
प्र तरप् अम् → प्रतरम्—
प्रतरम् सु—विभक्तिकार्य।

(2) प्रतराम् (यजु० 17.51)
'आमु' हुआ।

स्वरादि में 'अम्' व 'आम्' का पाठ है। अतः, अम् व आम् है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द की अव्ययसंज्ञा होती है।

(2293) अनुगादिनष्ठक् *13* (2083)

अनुगदतीत्यनुगादी। अनुगादिन्शब्दात् स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति। आनुगादिकः।

अर्थ—अनुगदति इति—अनुगादी। अनुगादिन् प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।

उदा० (1) आनुगादिकः
अनुगादी एव → अनुगादिन् ठक्
आनुगादिक सु—विभक्तिकार्य।

(2294) णचः स्त्रियामञ् *14* (3216)

'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' (3.3.43) इति णज्विहितः, तदन्तात् स्वार्थेऽञ् प्रत्ययो भवति स्त्रियां विषये। व्यावक्रोशी। व्यावहासी वर्त्तते। स्त्रीग्रहणं किमर्थं, यावता णच् स्त्रियामेव विहितः, ततः स्वार्थिकस्तत्रैव भविष्यति? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति-स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपीति (म०भा०)। तेन गुडकल्पा द्राक्षा, तैलकल्पा प्रसन्ना, देव एव देवतेत्येवमाद्युपपन्नं भवति।

अर्थ—णच् प्रत्ययान्त जो प्रातिपदिक, उससे स्वार्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है, स्त्रीलिंग में।

उदा० (1) व्यावक्रोशी
वि अव क्रुश् णच्—लघूपधगुण, अञ्,
व्यावक्रोश ङीप्—टिड्ढाऽण्।

(2) व्यावहासी
वि अव हस् णच्—अत उपधायाः, शेष पूर्ववत्।

स्त्रीग्रहण०—णच् स्त्रीलिंग में ही विहित है। अतः सूत्र में 'स्त्रियाम्' का ग्रहण व्यर्थ है। उससे स्वाभाविक वहाँ ही होता है। इससे ज्ञापित होता है कि स्वार्थिक प्रत्यय स्वभावतः लिंग व वचन का अतिवर्त्तन करते हैं। यथा—
(3) गुडकल्पा द्राक्षा
(4) तैलकल्पा प्रसन्ना।
इसी प्रकार 'देव एव देवता' यह रूप भी उपपन्न होता है।

(2295) अणिनुणः *15* (3219)

अभिविधौ भावे इनुण् (3.3.44) विहितस्तदन्तात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति। सांराविणं वर्त्तते। सांकूटिनम्।

अर्थ—इनुण् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'अण्' होता है, स्वार्थ में। 'अभिविधौ भावे इनुण्' (3.3.44) से 'इनुण्' होता है।

उदा० (1) सांराविणम्
संराव इनुण् → साराविन्—
सांराविन् अण्—विभक्तिकार्य।

(2) साङ्कूटिनम्
साङ्कूटिन् अण्—'अण्' हुआ, शेष कार्य पूर्ववत् होते हैं।

(2296) विसारिणो मत्स्ये *16* (2084)

विसरतीति विसारी। विसारिन्शब्दात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति मत्स्येऽभिधेये। वैसारिणो मत्स्यः। मत्स्य इति किम्? विसारी देवदत्तः।

अर्थ—मत्स्य अर्थ में वर्त्तमान विसारिन् शब्द से 'अण्' होता है, स्वार्थ में।

उदा० (1) वैसारिणः मत्स्यः
विसारिन् अण्—आदिवृद्धि,
वैसारिण् अ सु—विभक्तिकार्य।

मत्स्य इति०—मत्स्य अर्थ में ही 'अण्' होता है—
(2) विसारी देवदत्तः
अण् नहीं हुआ।

(2297) संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् *17* (2085)

संख्याशब्देभ्यः क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्त्तमानेभ्यः स्वार्थे कृत्वसुच् प्रत्ययो भवति। पौनःपुन्यमभ्यावृत्तिः। एककर्तृकाणां तुल्यजातीयानां क्रियाणां जन्मसंख्यानं क्रियाभ्यावृत्तिगणनं तत्र प्रत्ययः। पञ्च वारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वः। सप्तकृत्वः। संख्याया इति किम्? भूरीन्वारान् भुङ्क्ते। क्रियाग्रहणं किमर्थम्, यावताभ्यावृत्तिः क्रियाया एव सम्भवति, न द्रव्यगुणयोः? उत्तरार्थं क्रियाग्रहणम्। 'एकस्य सकृच्च' (5.4.19) इत्यत्रापि क्रियैव गण्यते, नाभ्यावृत्तिः, असम्भवात्। अभ्यावृत्तिग्रहणं किम्? क्रियामात्रगणने मा भूत्-पञ्चपाकाः। दशपाकाः। गणनग्रहणं किमर्थम्, यावता गणनात्मिकैव संख्या? अक्रियमाणे गणनग्रहणे क्रियाभ्यावृत्तौ वर्त्तमानेभ्यः, संख्येयवचनेभ्य एव प्रत्ययः स्यात्। शतवारान् भुङ्क्ते शतकृत्व इति। इह न स्यात्-शतं वाराणां भुङ्क्ते इति। न ह्यत्राभ्यावृत्तौ शतशब्दः, संख्यानमात्रवृत्तित्वात्। गणनग्रहणात्तु सर्वत्र सिद्धं भवति।

अर्थ—क्रिया की आवृत्ति अर्थ में वर्त्तमान संख्यावाची प्रातिपदिक से 'कृत्वसुच्' होता है। पुनः-पुनः होना आवृत्ति कहलाता है। एक कर्त्ता वाली, तुल्य जाति वाली क्रियाओं का जन्म, संख्यान अर्थात् क्रिया की आवृत्ति की गणना जहाँ होते हैं, वहाँ यह प्रत्यय होता है।

उदा० (1) पञ्चकृत्वः
पञ्च वारान् भुङ्क्ते → पञ्चन् कृत्वसुच्—
पञ्चकृत्वस् सु—नलोप, अनुबन्धलोप, विभक्तिकार्य।
(2) सप्तकृत्वः (पूर्ववत्)।

सङ्ख्याया०—संख्यावाची प्रातिपदिक से प्रत्यय होता है—

भूरीन् वारान् भुङ्क्ते—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

क्रियाग्रहणं०—क्रिया की अभ्यावृत्ति ही सम्भव होती है; द्रव्य-गुण की नहीं। अतः सूत्र में क्रिया का ग्रहण व्यर्थ है।

(समा०) उत्तरशास्त्र के लिए 'क्रिया' पद गृहीत है।

एकस्य०—एक का और एक बार—यहाँ क्रिया की ही गणना होती है, आवृत्ति की गणना नहीं होती। यह असम्भव होने से।

अभ्यावृत्ति०—क्रियामात्र की गणना में प्रत्यय न हो; इसलिए 'आवृत्ति' का ग्रहण किया गया है—

(3) पञ्चपाकाः
यहाँ नहीं हुआ।

(4) दशपाकाः (पूर्ववत्)।

यावता०—संख्या तो गणनात्मिका ही होती है। तब 'गणन' शब्द का ग्रहण क्यों है ?

(समा०) अक्रियमाण गणन का ग्रहण व क्रिया की आवृत्ति में वर्त्तमान संख्येय वचनों से ही प्रत्यय हों; अतः 'गणन' शब्द का पाठ किया गया है।

शतकृत्वः
शतवारान् भुङ्क्ते—यहाँ न हो। शतं वाराणां भुङ्क्ते।

यहाँ आवृत्ति अर्थ में 'शत' शब्द नहीं है। संख्यानमात्र की वृत्ति होने के कारण। 'गणन' का पाठ करने से सर्वत्र सिद्ध हो जाता है।

(2298) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् *18* (2086)

द्वि त्रि चतुर्–इत्येतेभ्यः संख्याशब्देभ्यः क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्त्तमानेभ्यः सुच् प्रत्ययो भवति। कृत्वसुचोऽपवादः। द्विर्भुङ्क्ते। त्रिर्भुङ्क्ते। चतुर्भुङ्क्ते। चकारः स्वरार्थः।

अर्थ—क्रिया की आवृत्ति अर्थ में वर्त्तमान द्वि, त्रि तथा चतुर् संख्यावाची प्रातिपदिकों से 'सुच्' होता है। उकार व चकार इत्संज्ञक हैं। यह 'कृत्वसुच्' का अपवाद है।

उदा० (1) द्विर्भुङ्क्ते
द्वि सुच् → द्विस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) त्रिर्भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

(3) चतुर्भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

'सुच्' में चकार स्वर के लिए है।

(2299) एकस्य सकृच्च *19* (2087)

एकशब्दस्य सकृदित्ययमादेशो भवति सुच्च प्रत्ययः क्रियागणने। कृत्वसुचोऽपवादः। अभ्यावृत्तिस्त्विह न सम्भवति। सकृद्भुङ्क्ते। सकृदधीते। एकः पाक इत्यत्र न भवति, अनभिधानात्।

अर्थ—'एक' शब्द के स्थान पर 'सकृत' आदेश होता है तथा उससे 'सुच्' होता है, क्रियागणन अर्थ में। यह 'कृत्वसुच्' का अपवाद है।

उदा० (1) सकृद्भुङ्क्ते
एक → सकृत् सुच्—संयोगान्तस्य लोपः,
सकृत् सु—हल्ङ्यादिलोप।

(2) सकृद् अधीते (पूर्ववत्)।

अभिधान न होने से निम्नलिखित स्थल पर 'सुच्' नहीं होता—
एकः पाकः।

(2300) विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले *20* (2088)

बहुशब्दात् क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्त्तमानात् विभाषा धा प्रत्ययो भवति। कृत्वसुचोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। अविप्रकृष्टग्रहणं क्रियाभ्यावृत्तिविशेषणम्। क्रियाणामुत्पत्तयश्चेदासन्नकालाः भवन्ति, न विप्रकृष्टकालाः। बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते। बहुकृत्वो दिवसस्य भुङ्क्ते। अविप्रकृष्टकाल इति किम्? बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते।

अर्थ—आसन्न काल में होने वाली क्रिया की आवृत्ति के गणन अर्थ में वर्त्तमान 'बहु' शब्द से 'धा' प्रत्यय विकल्प से होता है। यह 'कृत्वसुच्' का अपवाद है। पक्ष में 'कृत्वसुच्' भी होता है। 'अविप्रकृष्ट' क्रिया की आवृत्ति का विशेषण है। यदि क्रिया की उत्पत्ति आसन्न काल में होती है तो वह अविप्रकृष्ट काल कहलाता है।

उदा० (1) बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते
बहु धा—प्रत्यय हुआ,
बहुधा सु—विभक्तिकार्य।

(2) बहुकृत्वः
पक्ष में 'कृत्वसुच्' हुआ।

अविप्रकृ०—आसन्न काल में होने वाली क्रिया की आवृत्ति के गणन अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से ही 'धा' होता है—

(3) बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते
यहाँ पाक्षिक 'धा' नहीं हुआ।

(2301) तत्प्रकृतवचने मयट् *21* (2089)

तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिः, प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्। प्रथमासमर्थात् प्रकृतोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानात्स्वार्थे मयट् प्रत्ययो भवति। टकारो ङीबर्थः। अन्नं प्रकृतम् अन्नमयम्। अपूपमयम्। अपरे पुनरेवं सूत्रार्थमाहुः-प्रकृतमित्युच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनं तदिति, प्रथमसमर्थात् प्रकृतवचनेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति। अन्नं प्रकृतमस्मिन्नन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पर्व। वटकमयी यात्रा। द्वयमपि प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्।

अर्थ—प्राचुर्य अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'मयट्' होता है। 'मयट्' में टकार स्त्रीलिंग में ङीप् के लिए है।

अपरे०—सूत्रस्थ 'वचन' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है—

(क) 'ल्युट् च' इति 'वच्' धातोर्ल्युट् भवति।

(ख) 'करणाऽधिकरणयोश्च' इत्यनेन 'वच्' धातोर् अधिकरणे ल्युट् भवति।

प्रथम व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ दिखाया जा चुका है। नीचे द्वितीय व्युत्पत्ति के आधार पर भी अर्थ दिया जा रहा है—

प्राचुर्य अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अधिकरण अर्थ में 'मयट्' होता है।

उदा० (1) अन्नमयम्
प्रकृतम् अन्नम्—सूत्र के प्रथम अर्थ के अनुसार,
प्रकृतम् अन्नं यस्मिन्—सूत्र के द्वितीय अर्थ के अनुसार,
अन्न मयट् सु—विभक्तिकार्य।

(2) अपूपमयम्
अपूप मयट् सु—पूर्ववत्।

(3) वटकमयी यात्रा
पूर्ववत् मयट्, ङीप्, सु।
सूत्र दोनों के अर्थ प्रमाण हैं।

(2302) समूहवच्च बहुषु *22* (2090)

तत्प्रकृतवचन इत्येव। बहुषु प्रकृतेषूच्यमानेषु समूहवत् प्रत्यया भवन्ति, चकारान्मयट् च। मोदकाः प्रकृताः प्राचुर्येण प्रस्तुताः मौदकिकम् (4.2.47)। मोदकमयम्। शाष्कुलिकम्। शष्कुलीमयम्। अतिवर्त्तन्तेऽपि स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनानि। द्वितीये सूत्रार्थे मोदकाः प्रकृता अस्मिन् यज्ञे मौदकिको यज्ञः। मोदकमयः। शाष्कुलिकः, शष्कुलीमयः।

अर्थ—प्रकृत सूत्र का दो प्रकार से अर्थ किया जाता है—

(क) प्रभूत अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से समूह अर्थों में विहित प्रत्यय होते हैं तथा मयट् भी होता है।

(ख) प्रभूत अर्थ में वर्त्तमान प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अधिकरण अर्थ में समूह अर्थों में विहित प्रत्यय होते हैं तथा मयट् प्रत्यय भी होता है।

उदा० (1) मौदकिकम्
मोदकाः प्राचुर्येण प्रस्तुताः—'ठक्' हुआ,

(2) मोदकमयम्
पक्ष में 'मयट्' हुआ।

(3) शाष्कुलिकम्
शष्कुलि ठक्।

(4) शष्कुलीमयम्
'मयट्' हुआ।

स्वार्थिक प्रत्यय स्वभावतः लिंग व वचनों का अतिवर्त्तन करते हैं—

(5) मौदकिको यज्ञः
मोदकाः प्रकृता अस्मिन् यज्ञे—सूत्र के द्वितीय अर्थ के अनुसार,

(6) मोदकमयः
पक्ष में 'मयट्' हुआ।

(7) शाष्कुलिकः,
(8) शष्कुलीमयः।

(2303) अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः *23* (2091)

अनन्तादिभ्यः स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति। अनन्त एव आनन्त्यम्। आवसथ एवावसथ्यम्। इति ह एव ऐतिह्यम्। निपातसमुदायोऽयमुपदेशपारम्पर्ये वर्त्तते। भेषजमेव भैषज्यम्। महाविभाषया विकल्प्यते प्रत्ययः।

अर्थ—अनन्त, आवसथ, इतिह तथा भेषज प्रातिपदिकों से 'ञ्य' होता है, स्वार्थ में 'चुटू' के द्वारा 'ञ्' की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) आनन्त्यम्
अनन्त एव—'ञ्य' हुआ,
आनन्त्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) आवसथ्यम्
आवसथ एव।

(3) भैषज्यम्
भेषज ञ्य सु।

(4) ऐतिह्यम्
इतिह एव—'ञ्य' हुआ।

यह निपातसमुदाय उपदेश परम्परा में वर्तमान है। महाविभाषा के द्वारा प्रत्यय का विकल्प होता है।

(2304) देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् *24* (2092)

देवताशब्दान्तात् प्रातिपदिकाच्चतुर्थीसमर्थात् तादर्थ्ये यत् प्रत्ययो भवति। तदर्थ एव तादर्थ्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्ष्यञ्। तदिति प्रकृत्यर्थो निर्दिश्यते। अग्निदेवतायै इदम् अग्निदेवत्यम्। पितृदेवत्यम्। वायुदेवत्यम्।

अर्थ—'देवता है' अन्त में जिसके, ऐसे चतुर्थी समर्थ प्रातिपदिक से 'यत्' होता है, यदि तादर्थ्य वाच्य हो। तदर्थ एव तादर्थ्यम्। चातुर्वर्ण्यादि होने से 'ष्यञ्' हुआ है। 'तद्' के द्वारा प्रकृत्यर्थ का निर्देश किया जाता है।

उदा० (1) अग्निदेवत्यम्
अग्निदेवतायै इदम्—'यत्' हुआ,
अग्निदेवत्य सु—विभक्तिकार्य।

(2) पितृदेवत्यम्
'यत्' हुआ।

(3) वायुदेवत्यम्
'यत्' हुआ।

(2305) पादार्घाभ्यां च *25* (2093)

तादर्थ्य इत्येव। पादार्घशब्दाभ्यां चतुर्थीसमर्थाभ्यां तादर्थ्येऽभिधेये यत्प्रत्ययो भवति। पादार्थमुदकं पाद्यम्। अर्घ्यम्। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। यथादर्शनमन्यत्रापि प्रत्ययो भवति। एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिः (तै०सं० 1.6.11.4)। वसु। अयस्। ओक। कवि। क्षेम। उदक। वर्चस्। निष्केवल। उक्थ। जन। पूर्व। नव। सूर। मर्त्त। यविष्ठ–इत्येतेभ्यश्छन्दसि स्वार्थे यत्प्रत्ययो भवति। अग्निरीशे वसव्यस्य (ऋ० 4.58.8)। अयस्यो वसानाः (मै०सं० 2.6.8)। द्वितीयाबहुवचनस्यालुक्। अयो वसाना इत्यर्थः। स्व (ऋ० 1.91.13) ओक्ये। कव्योऽसि काव्यवाहनः (मै०सं० 1.3.13)। क्षेममध्यवस्यति (तै०सं० 5.2.1.7)। वायुर्वर्चस्यः। निष्केवल्यं शंसति (काठ सं० 28.10)। उक्थ्यं शंसति (ऐ० ब्रा०)। जन्यं ताभिः। पूर्व्या विदुः (अ० 19.34.6)। स्तोमैर्जनयामि नव्यम् (ऋ० 1.109.2)। सूर्यः (ऋ० 1.23.17)। मर्त्यः (ऋ० 1.19.2)। यविष्ठ्यः (ऋ० 1.36.6)। *आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकेत्युपसंख्यानम्*। *समशब्दादावतुप्रत्ययो वक्तव्यः*। समावद्वसति (मै०सं० 2.2.77) हसति। *नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनप्खाश्च प्रत्ययाः* (म०भा०)। नूत्नम्। नूतनम्। नवीनम्। *नश्च पुराणे प्रात्* (म०भा०)। पुराणे वर्त्तमानात् प्रशब्दान्नः प्रत्ययो भवति, चकारात् त्नप्तप्खाश्च। प्रणम्। प्रत्नम् (ऋ० 1.36.4)। प्रतनम्। प्रीणम्। *भागरूपनामभ्यो धेयः प्रत्ययो वक्तव्यः* (म०भा०)। भागधेयम्। रूपधेयम्। नामधेयम्। *मित्राच्छन्दसि* (म०भा०)। मित्रधेयं यतस्व (तै०सं० 4.2.7.2)। *आग्नीध्रसाधारणादञ्* (म०भा०)। आग्नीध्रम् (तै०सं० 3.1.6.1)। साधारणम् (तै०सं० 2.6.1.6)। स्त्रियां ङीप्–आग्नीध्री। साधारणी (ऋ० 1.160.4)। वाप्रकरणाच्च विकल्प्यन्त एतान्युपसंख्यानानि, तेन यथाप्राप्तमपि भवति। आग्नीध्रा शाला, साधारणा भूरिति। *अयवसमरुद्भ्यां छन्दस्य-ञ्वक्तव्यः* (म०भा०)। आवयसे रमन्ते (तै०सं० 5.2. 8.3)। मारुतं शर्धाः (ऋ० 1.105.1)।

अर्थ—'तादर्थ्ये' का अनुवर्त्तन है, पाद और अर्घ चतुर्थी समर्थ प्रातिपदिकों से 'यत्' होता है, यदि तादर्थ्य वाच्य हो।

उदा० (1) पाद्यम्
पादार्थमुदकम्—पाद यत् सु।

(2) अर्घ्यम्
अर्घ यत् सु।

चकार के द्वारा अनुक्त समुच्चय का ग्रहण होता है। जो-जो प्रयोग दृष्टिगोचर हो, वहाँ-वहाँ प्रत्यय जानना चाहिए।

(3) छन्दस्यः
'यत्' हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

इन उदाहरणों से वेद में स्वार्थ में 'यत्' होता है। यथा—

(4) वसव्यः, (5) अयस्यः इत्यादि।

(6) ओक्यः, (7) कव्यः, (8) क्षेम्यः, (9) वर्चस्यः, (10) निष्केवल्यम्, (11) उक्थ्यम्, (12) जन्यम्, (13) पूर्व्यः, (14) नव्यम्, (15) सूर्यः, (16) मर्त्यः, (17) यविष्ठ्यम्।

आमुष्यायणा०—आमुष्यायण तथा आमुष्यपुत्रिका शब्द भी होते हैं—

(18) आमुष्यायणः।

(19) आमुष्यपुत्रिका।

समशब्दा०—'सम' शब्द से 'आवतु' प्रत्यय होता है—

(20) समावत्

सम आवतु सु—विभक्तिकार्य।

नवस्य नू०—'नव' शब्द के स्थान पर 'नू' आदेश और इससे त्नप्, तनप् व ख प्रत्यय होते हैं—

(21) नूत्नम्

नव त्नप् → नू त्न सु।

(22) नूतनम्

नव तनप्—नूतन सु।

(23) नवीनम्

नू ख → नो ईन → नवीन सु।

नश्च पुराणे०—पुराण अर्थ में 'प्र' शब्द से न, त्नप्, तनप् और 'ख' प्रत्यय होते हैं—

(24) प्रणम्

प्र न सु—णत्व।

(25) प्रत्नम्

प्र त्न सु।

(26) प्रतनम्

प्र तनप् सु।

(27) प्रीणम्

प्र ख सु—णत्व।

भागरूप—भाग, रूप तथा नाम शब्दों से स्वार्थ में 'धेय' होता है—

(28) भागधेयम्

भाग धेय सु।

(29) रूपधेयम्

रूप धेय सु।

(30) नामधेयम्

नाम धेय सु।

मित्राच्छन्दसि—वेद के विषय में 'मित्र' शब्द से 'धेय' होता है—

(31) मित्रधेयम् (तै०सं०4.2.7.2)

मित्र धेय सु।

आग्नीध्रसा०—अग्नीध्र और साधारण शब्दों से 'अञ्' होता है—

(32) आग्नीध्रम्

अग्नीध्र अञ् सु—आदिवृद्धि।

(33) साधारणम्

साधारण अञ्—पूर्ववत्।

(34) आग्नीध्री

आग्नीध्र ङीप्—टिड्ढाऽण०,

आग्नीध्री सु—विभक्तिकार्य।

(35) साधारणी

साधारण अञ्—पूर्ववत्।

साधारण ङीप्—पूर्ववत्,

साधारणी सु—विभक्तिकार्य।

'वा' प्रकरण होने से इन सभी में विकल्प होता है। तब यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं—

(36) आग्नीध्रा

आग्नीध्र टाप् सु।

(37) साधारणा

साधारण टाप् सु।

अयवसम०—वेद में अवयस व मरुत् शब्दों से 'अञ्' होता है। 'अञ्' होने से आदिवृद्धि होती है—

(38) आयवसे

अयवस अञ्—आदिवृद्धि,

आयवस ङि—विभक्तिकार्य।

(39) मारुतम्

मरुत् अञ् सु—आदिवृद्धि।

(2306) अतिथेर्ञ्यः *26* (2094)

तादर्थ्ये इत्येव। अतिथिशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात्तादर्थ्येऽभिधेये ञ्यः प्रत्ययो भवति। अतिथये इदम् आतिथ्यम्।

अर्थ—'तादर्थ्ये' का अनुवर्त्तन है। 'अतिथि' प्रातिपदिक से 'ञ्य' होता है, तादर्थ्य वाच्य हो तो।

उदा० (1) आतिथ्यम्
अतिथय इदम् → अतिथि ञ्य सु।

(2307) देवात्तल् *27* (2095)

तादर्थ्य इति निवृत्तम्। देवशब्दात् स्वार्थे तल् प्रत्ययो भवति। देव एव देवता।

अर्थ—'तादर्थ्ये' की निवृत्ति हो चुकी है। देव शब्द से 'तल्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।

उदा० (1) देवता
देव एव → देव तल्—'ल्' की इत्संज्ञा,
देव त टाप् सु—तल् प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग में होते हैं।

(2308) अवेः कः *28* (2096)

अविशब्दात् स्वार्थे कः प्रत्ययो भवति। अविरेवाविकः।

अर्थ—अवि शब्द से स्वार्थ में 'क' होता है।

उदा० (1) अविकः
अविरेव → अवि क सु।

(2309) यावादिभ्यः कन् *29* (2097)

याव-इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति। याव एव यावकः। मणिकः। याव। मणि। अस्थि। चण्ड। पीतस्तम्ब। *ऋतावुष्णशीते* (ग०सू० 144)। *पशौ लूनवियाते* (ग०सू० 145)। *अणु निपुणे* (ग०सू० 146)। *पुत्र कृत्रिमे* (ग०सू० 147)। *स्नात वेदसमाप्तौ* (ग०सू० 148)। *शून्ये रिक्ते* (ग०सू० 149)। *दान कुत्सिते* (ग०सू० 150)। *तनु सूत्रे* (ग०सू० 151)। *ईयसश्च* (ग०सू० 152)। श्रेयस्कः। ज्ञात। कुमारीक्रीडनकानि च (ग०सू० 153)-यावादिः।

अर्थ—यावादि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'कन्' होता है।

उदा० (1) यावकः
याव एव—याव कन् सु।

(2) मणिकः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(3) श्रेयस्कः
श्रेयस् कन् सु।

(2310) लोहितान्मणौ *30* (2098)

लोहितशब्दान्मणौ वर्त्तमानात्स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति। लोहितो मणिः लोहितकः। मणाविति किम्? लोहितः।

अर्थ—मणि अर्थ में वर्त्तमान लोहित शब्द से स्वार्थ में 'कन्' होता है।

उदा० (1) लोहितकः
लोहितो मणिः—पूर्ववत्।

मणाविति० अर्थात् मणि अर्थ में ही 'कन्' होता है—

(2) लोहितः
'कन्' नहीं हुआ।

(2311) वर्णे चानित्ये *31* (2099)

अनित्ये वर्णे वर्त्तमानाल्लोहितशब्दात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति। लोहितकः कोपेन। लोहितकः पीडनेन। अनित्य इति किम्? लोहितो गौः। लोहितं रुधिरम्। *लोहिताल्लिङ्गबाधनं वा वक्तव्यम्* (म०भा०)। लोहितिका कोपेन। लोहिनिका कोपेन।

अर्थ—अनित्य अर्थ में वर्त्तमान लोहित शब्द से 'कन्' होता है, स्वार्थ में।

उदा० (1) लोहितकः
लोहितः कोपेन—पूर्ववत्। 'लोहित' वर्ण नित्य नहीं है, अपितु कोपवशात् क्षणिक है।

अनित्य०—अनित्य अर्थ में ही 'कन्' होता है—

(2) लोहितो गौः
'कन्' नहीं हुआ।

लोहिताल्लि—लोहित शब्द से विकल्प से लिंग का बाध होता है—

(3) लोहितिका कोपेन
लोहित ङीप्—तकार को नकार होकर 'लोहिनी' शब्द प्राप्त था; परन्तु लिंग-बाध होकर कन्, टाप्, 'केऽणः' से ह्रस्व,
लोहिनि क टाप्—सु,
लोहिनिका—विभक्तिकार्य।

(4) लोहितिका
लोहितक—पूर्ववत् 'टाप्' आदि।

(2312) रक्ते *32* (2100)

लाक्षादिना रक्ते यो लोहितशब्दस्तस्मात् कन् प्रत्ययो भवति। लोहितकः कम्बलः। लोहितकः पटः। लिङ्गबाधनं वेत्येव। लोहितिका। लोहिनिका शाटी।

अर्थ—'रंगा हुआ' इस अर्थ में वर्त्तमान 'लोहित' शब्द से 'कन्' होता है। 'हलन्त्यम्' से नकार की इत्संज्ञा होती है।

उदा० (1) लोहितकः कम्बलः
लोहित कन् सु।

(2) लोहितकः पटः (पूर्ववत्)।

(3) लोहितिका
स्त्रीत्व में 'टाप्'।

(4) लोहिनिका शाटी (पूर्ववत्)।

(2313) कालाच्च *33* (2101)

वर्णे चानित्ये (5.4.31) रक्त (5.4.32) इति द्वयमप्यनुवर्त्तते। कालशब्दादनित्ये वर्त्तमानाद्रक्ते च कन् प्रत्ययो भवति। कालकं मुखं वैलक्ष्येण। रक्ते-कालकः पटः, कालिका शाटी।

अर्थ—'अनित्य वर्ण में' तथा 'रंगा हुआ'—इन अर्थों में वर्त्तमान 'काल' शब्द से 'कन्' होता है।

उदा० (1) कालकं मुखम्
काल कन् सु—यहाँ कृष्णता अनित्य है।

(2) कालकः पटः
काल कन् सु—'रंगा हुआ'—इस अर्थ में प्रत्यय हुआ।

(3) कालिका शाटी
स्त्रीत्व में 'टाप्' हुआ।

(2314) विनयादिभ्यष्ठक् *34* (2102)

विनय-इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति। विनय एव वैनयिकः। सामयिकः। औपयिकः। विभाषाग्रहणेन विकल्प्यते प्रत्ययः। विनय। समय। *उपायाद् ह्रस्वत्वं च* (ग०सू० 154)। सङ्गति। कथञ्चित्। अकस्मात्। समयाचार। उपचार। समाचार। व्यवहार। सम्प्रदान। समुत्कर्ष। समूह। विशेष। अत्यय-विनयादिः।

अर्थ—विनय आदि प्रातिपदिकों से 'ठक्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।

उदा० (1) वैनयिकः
विनय एव → विनय ठक्—
वैनयिक सु—विभक्तिकार्य।

(2) सामयिकः
समय ठक् सु।

(3) औपयिकः
उपाय ठक्—ह्रस्व होकर रूप बनता है।

(4) औपचारिकः (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2315) वाचो व्याहृतार्थायाम् *35* (2103)

व्याहृतः प्रकाशितोऽर्थो यस्यास्तस्यां वाचि वर्त्तमानाद्वाच् शब्दात् स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति। पूर्वमन्येनोक्तार्थत्वात् सन्देशवाग् व्याहृतार्थेत्युच्यते। वाचिकं कथयति। वाचिकं श्रद्दधे। व्याहृतार्थायामिति किम्? मधुरा वाग् देवदत्तस्य।

अर्थ—स्पष्ट वाणी—इस अर्थ में वर्त्तमान 'वाच्' शब्द से स्वार्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वाचिकः
वाच् ठक्—वाचिक सु।

(2) वाचिकं श्रद्दधे (पूर्ववत्)।

व्याहृता०—स्पष्ट वाणी—इस अर्थ में ही 'ठक्' होता है—

(3) मधुरा वाग् देवदत्तस्य
यहाँ नहीं हुआ।

(2316) तद्युक्तात् कर्मणोऽण् *36* (2104)

व्याहृतार्थया वाचा यत्कर्म युक्तं तदभिधायिनः कर्म-शब्दात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति। कर्मैव कार्मणम्। वाचिकं श्रुत्वा तथैव यत्कर्म क्रियते तत्कार्मणमित्युच्यते। *अणप्रकरणे कुलालवरुडनिषादकर्मारचण्डालमित्रा-मित्रेभ्यश्छन्दस्युपसंख्यानम्* (म०भा०)। कुलाल एव कौलालः (का० 34.1.7)। वारुडः। नैषादः (वा०सं० 30.8)। कार्मारः (ऋ० 1.112.2)। चाण्डालः (वा०सं० 30.11)। मैत्रः (वा०सं० 39.5)। आमित्रः (ऋ० 6.28.2)। *सान्नाय्यानुजावरानुषूका-नुष्टुभचातुष्प्राश्यराक्षोघ्नवैयातवैकृतवारिवस्कृताग्रायणाग्रहा-यणसान्तपनाः* (म०भा०)। एतेऽणन्ताः स्वार्थिका-श्छन्दसि भाषायां चेष्यन्ते। सान्नायम् (तै०सं०

2.5.3.7)। आनुजावरः (तै०सं० 2.3.4.2)। आनुषूक (तै०सं० 2.3.4.3)। आष्टुभः। चातुष्प्राश्यः (काठ०सं० 8.10)। राक्षोघ्नम् (तै०सं० 5.1.10.3)। वैयातः। वैकृतः। वारिवस्कृतः (तै०सं० 4.5.2.2)। आग्रायणः (मै०सं० 2.7.19)। आग्रहायणः सान्तपनः (वा०सं० 17.85)।

अर्थ—स्पष्ट वाणी से युक्त कर्मवाची प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।

उदा० (1) कार्मणम्
कर्मैव → कर्मन् अण्—आदिवृद्धि,
कार्मण सु—णत्व, सु।

अण् प्रकरणे०—वेद के विषय में कुलाल, वरुड, निषाद, कर्मार, चण्डाल, मित्र तथा अमित्र प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'अण्' होता है—

(2) कौलालः (का०सं०34.1.7)
कुलाल एव—आदिवृद्धि।

(3) वारुडः
वरुड अण् सु।

(4) नैषादः (मा०सं०30.8)
पूर्ववत्।

(5) कार्मारः (ऋ०1.112.2)
पूर्ववत्।

(6) चाण्डालः (यजु०30.11)
पूर्ववत्।

(7) मैत्रः (मा०सं० 39.5)
पूर्ववत्।

(8) आमित्रः (ऋ०6.28.3)
पूर्ववत्।

साम्नाय, आनुजवर, आनुषूक, आनुष्टुभ, चातुष्प्राश्य, राक्षोघ्न, वैयात, वैकृत, वारिवस्कृत, आग्रायण, आग्रहायण तथा सान्तपन—ये अण् प्रत्ययान्त स्वार्थिक शब्द वेद में तथा भाषा में होते हैं।

(9) साम्नायः।

(10) आनुजवरः।

(11) आनुषूकः।

(12) आनुष्टुभः।

(13) चातुष्प्राश्यः।

(14) राक्षोघ्नः।

(15) वैयातः।

(16) वैकृतः।

(17) वारिवस्कृतः।

(18) आग्रायणः।

(19) आग्रहायणः।

(20) सान्तपनः।

(2317) ओषधेरजातौ *37* (2105)

ओषधिशब्दादजातौ वर्त्तमानात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति। औषधं पिबति। औषधं ददाति। अजाताविति किम्? ओषधयः क्षेत्रे रूढा भवन्ति।

अर्थ—जाति से अतिरिक्त अर्थ में वर्त्तमान ओषधि शब्द से अण् प्रत्यय स्वार्थ में होता है।

उदा० (1) औषधम्
ओषधिरेव → ओषधि अण्—आदिवृद्धि।

(2) औषधं ददाति (पूर्ववत्)।

अजातावि०—जाति अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में अण् होता है—

(3) ओषधयः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(2318) प्रज्ञादिभ्यश्च *38* (2106)

प्रजानातीति प्रज्ञः। प्रज्ञ इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। यस्यास्तु प्रज्ञा विद्यते सा प्राज्ञा भवति। 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः' (5.2.101) इति। विदन्नित्यत्र पठ्यते। विदेः शत्रन्तस्य ग्रहणं, 'विदेः शतुर्वसुः' (7.1.36) इत्यत एव ज्ञापकात् पाक्षिको वस्वादेशः। अन्यतरस्यांग्रहणं वा तत्रानुवर्त्तते। 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्' (7.1.35) इति। प्रज्ञ। वणिक्। उशिक्। उष्णिक्। प्रत्यक्ष। विद्वस्। विदन्। षोडन्। षोडश। विद्या। मनस्। *श्रोत्र शरीरे* (ग०सू० 155)। श्रोत्रम्। *जुह्वत् कृष्णमृगे* (ग०सू० 156)। चिकीर्षत्। चोर। शक। योध। वक्षस्। धूर्त्त। वस्। एत्। मरुत्। क्रुङ्। राजा।

सत्वन्तु । दशार्ह । वयस् । आतुर । रक्षस् । पिशाच । अशनि । कार्षापण । देवता । बन्धु-प्रज्ञादिः ।

अर्थ—प्रजानाति—प्रज्ञः । प्रज्ञ आदि प्रातिपदिकों से 'अण्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है । यह एक आकृतिगण है ।

उदा० (1) प्राज्ञः
प्रज्ञ एव → प्रज्ञ अण् सु ।

(2) प्राज्ञी
प्राज्ञ ङीप्—टिड्ढाऽण् ।

जिसकी प्रज्ञा है, उसे 'प्राज्ञा' कहते हैं—
(3) प्राज्ञा
प्राज्ञ टाप् सु ।

'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः' यह विदन् यहाँ पठित है । शतृ प्रत्ययान्त विद् का ग्रहण है । 'विदेः शतुर्वसु०' इससे ज्ञापक से ही पाक्षिक 'वसु' आदेश होता है । यहाँ 'अन्यतरस्याम्' का अनुवर्त्तन है । 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्य०' इत्यादि ।

शेष उदाहरण मूल में देखें ।

(2319) मृदस्तिकन् *39* (2107)

मृच्छब्दात्स्वार्थे तिकन् प्रत्ययो भवति । विकल्पः सर्वत्रानुवर्त्तते । मृदेव मृत्तिका ।

अर्थ—स्वार्थ में मृद् प्रातिपदिक से 'तिकन्' होता है । सर्वत्र विकल्प का अनुवर्त्तन होता है ।

उदा० (1) मृत्तिका
मृदेव → मृद् तिकन्—मृत्तिक टाप् सु ।

(2320) सस्नौ प्रशंसायाम् *40* (2108)

प्रशंसोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानात् मृच्छब्दात्स-स्न-इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । रूपपोऽपवादः । प्रशस्ता मृत् मृत्सा, मृत्स्ना । नित्यश्चायं प्रत्ययः, उत्तरसूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणात् ।

अर्थ—प्रशंसा अर्थ में वर्त्तमान मृद् प्रातिपदिक से 'स' तथा 'स्न' प्रत्यय होते हैं । यह 'रूपप्' का अपवाद है ।

उदा० (1) मृत्सा
मृद् स → मृत्स टाप् सु ।

(2) मृत्स्ना
मृद् स्न टाप् सु ।

उत्तर सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण होने से यह प्रत्यय नित्य होता है ।

(2321) वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि *41* (3504)

प्रशंसायामित्येव । वृकज्येष्ठाभ्यां प्रशंसोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानाभ्यां यथासंख्यं तिल्तातिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये । रूपपोऽपवादः । वृकतिः (ऋ० 4.31.4) । ज्येष्ठातातिः (ऋ० 5.44.1) ।

अर्थ—प्रशंसा अर्थ में वर्त्तमान वृक व ज्येष्ठ प्रातिपदिकों से यथासंख्य 'तिल्' व 'तातिल्' होते हैं, वेद के विषय में । यह 'रूपप्' का अपवाद है ।

उदा० (1) वृकतिः
प्रशस्तो वृकः → वृक तिल् सु ।

(2) ज्येष्ठतातिः
प्रशस्तो ज्येष्ठः—'तातिल्' हुआ ।

(2322) बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् *42* (2109)

बह्वर्थादल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः शब्दाच्छस् प्रत्ययो भवति अन्यतरस्याम् । विशेषानभिधानाच्च सर्वं कर्मादिकारकं गृह्यते । बहूनि ददाति बहुशो ददाति । अल्पं ददाति अल्पशो ददाति । बहुभिर्ददाति बहुशो ददाति । अल्पेन, अल्पशः । बहुभ्यः, बहुशः । अल्पाय, अल्पशः-इत्येवमाद्युदाहार्यम् । बह्वल्पार्थादिति किम् ? गां ददाति, अश्वं ददाति । कारकादिति किम् ? बहूनां स्वामी, अल्पानां स्वामी । अर्थग्रहणात्पर्यायेभ्योऽपि भवति-भूरिशो ददाति, स्तोकशो ददाति । *बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम्* (म० भा०) । यत्र मङ्गलं गम्यते तत्रायं प्रत्यय इष्यते । बहुशो ददातीत्याभ्युदयिकेषु कर्मसु । अल्पशो ददातीत्यनिष्ठेषु कर्मसु ।

अर्थ—बहु अर्थ वाले तथा अल्प अर्थ वाले कारकवाची प्रातिपदिक से 'शस्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है । विशेष का अभिधान न होने से सभी कर्म आदि कारकों का ग्रहण होता है ।

उदा० (1) बहुशः
बहूनि ददाति—बहु शस् सु ।

(2) अल्पशः
अल्पं ददाति—पूर्ववत् ।

इसी प्रकार—

बहुभिर्ददाति
बहुभ्यो ददाति } बहुशः ।

अल्पेन ददाति
अल्पाय ददाति । } अल्पशः ।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण जानने चाहिए।

बह्वल्पार्था०—बहुवाची व अल्पवाची शब्दों से 'शस्' होता है—

गां ददाति
अश्वं ददाति } यहाँ नहीं हुआ।

कारकादिति०—कारकवाची शब्द से 'शस्' होता है—

बहूनां स्वामी
अल्पानां स्वामी } यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

'अर्थ' शब्द का पाठ होने से पर्याय शब्दों से भी प्रत्यय होता है—

(3) भूरिशः
भूरि शस् सु।

(4) स्तोकशः (पूर्ववत्)।

बहुवाची व अल्पवाची के विषय में क्रमशः मंगल व अमंगल अर्थ होते हैं। जहाँ मंगल अर्थ वाच्य हो, वहाँ यह प्रत्यय होता है। यथा—

बहुशो ददातीत्यभ्युदयकेषु कर्मसु।
अल्पशो ददातीत्यनिष्टकेषु कर्मसु।

(2323) संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् *43* (2110)

संख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य एकवचनाच्च वीप्सायां द्योत्यायां शस् प्रत्ययो भवति अन्यतरस्याम्। द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विशः। त्रिशः। एकवचनात्खल्वपि-कार्षापणं कार्षापणं ददाति कार्षापणशः। माषशः। पादशो ददाति। एकोऽर्थ उच्यते येन तदेकवचनम्। कार्षापणादयश्च परिमाणशब्दा वृत्तावेकार्था एव भवन्ति। संख्यैकवचनादिति किम्? घटं घटं ददाति। वीप्सायामिति किम्? द्वौ ददाति। कार्षापणं ददाति। कारकादित्येव। द्वयोर्द्वयोः स्वामी। कार्षापणस्य कार्षापणस्य स्वामी।

अर्थ—'वीप्सा' गम्यमान हो तो संख्यावाची तथा एकवाची प्रातिपदिक से 'शस्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) द्विशः
द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति—द्वि शस् सु।

(2) त्रिशः (पूर्ववत्)।
एकवचन से भी प्रत्यय होता है।

(3) कार्षापणशः
कार्षापणं ददाति—पूर्ववत्।

(4) माषशः (पूर्ववत्)।

(5) पादशः (पूर्ववत्)।

जिसके द्वारा एक का अर्थ कहा जाता है, वह एकवाची कहा जाता है। कार्षापण आदि परिमाण शब्द वृत्ति में एकवाची ही होते हैं।

सङ्ख्यैक०—संख्यावाची तथा एकवचन से ही 'शस्' प्रत्यय होता है। यथा—

घटं घटं ददाति—यहाँ नहीं हुआ।

वीप्साया०—वीप्सा गम्यमान हो तो 'शस्' होता है—

द्वौ ददाति—यहाँ नहीं हुआ।
कार्षापणं ददाति—यहाँ नहीं हुआ।

कारकादि०—कारक से ही 'शस्' प्रत्यय होता है—

द्वयोर्द्वयोः स्वामी—यहाँ नहीं हुआ।
कार्षापणस्य कार्षापणस्य स्वामी—प्रत्यय नहीं हुआ।

(2324) प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः *44* (2111)

प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसिः प्रत्ययो भवति। प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति। अभिमन्युरर्जुनतः प्रति। वाग्रहणानुवृत्तेर्विकल्पेन भवति, वासुदेवादर्जुनादित्यपि भवति। *तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्* (म०भा०)। आदितः। मध्यतः। पार्श्वतः। पृष्ठतः। आकृतिगणश्चायम्।

अर्थ—कर्मप्रवचनीयसंज्ञक 'प्रति' शब्द के योग में विहित जो पञ्चमी विभक्ति, तदन्त प्रातिपदिक से विकल्प से 'तसि' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) वासुदेवतः प्रति प्रद्युम्नः

वासुदेवात् प्रति प्रद्युम्नः—प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदान० से कर्मप्रवचनीय संज्ञा, 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' से पञ्चमी।

(2) अर्जुनतः प्रत्यभिमन्युः (पूर्ववत्)।
'वा' ग्रहण के द्वारा विकल्प से प्रत्यय होता है।

तसिप्रकरण०—'आदि' शब्दों से 'तसि' होता है—

(3) आदितः
आदौ → आदि तस् सु।

(4) मध्यतः
मध्य तस्—पूर्ववत्।

(5) पार्श्वतः (पूर्ववत्)।

(6) पृष्ठतः (पूर्ववत्)।

यह आकृतिगण है।

(2325) अपादाने चाहीयरुहोः *45* (2112)

अपादाने या पञ्चमी तस्याः पञ्चम्या वा तसिः प्रत्ययो भवति तच्चेदपादानं हीयरुहोः सम्बन्धि न भवति। ग्रामत आगच्छति। ग्रामात्। चोरतो बिभेति चोरात्। अध्ययनतः पराजयते, अध्ययनात्। अहीयरुहोरिति किम्? सार्थाद्धी-यते। पर्वतादवरोहति। हीयते इति विकारनिर्द्देशो जहातेः प्रतिपत्त्यर्थः। जिहीतेर्मा भूत्। भूमित उज्जिहीते। भूमेरुज्जिहीते। कथं मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वेति (पा० शि० 52)? नैषा पञ्चमी। किं तर्हि, तृतीया। स्वरेण वर्णेन वा हीन इत्यर्थः।

अर्थ—अपादान में जो पञ्चमी, तदन्त शब्द से विकल्प से 'तसि' प्रत्यय होता है, यदि वह अपादान कारक 'हीय' तथा 'रुह' सम्बन्धी न हो।

उदा० (1) ग्रामत आगच्छति
ग्रामात् आगच्छति—'तसि' हुआ,
ग्राम तस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) ग्रामात्
पक्ष में 'तसि' नहीं हुआ।

(3) चोरतो बिभेति (पूर्ववत्)।

(4) चोरात्
पक्ष में।

(5) अध्ययनतः पराजयते (पूर्ववत्)।

(6) अध्ययनात्
प्रत्यय नहीं हुआ।

अहीयरुहो०—यदि अपादान कारक 'हीय' तथा 'रुह' सम्बन्धी न हो तो 'तसि' होता है—

(7) सार्थाद्धीयते
यहाँ 'तसि' नहीं हुआ।

(8) पर्वताद् अवरोहति
यहाँ नहीं हुआ।

'हीयते' इस प्रकार 'जहाति' के ज्ञान के लिए विकार का निर्देश है। 'जिहीति' से न हो।

(9) भूमित उज्जिहीते
'तसि' हुआ।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा—'तसि' कैसे हुआ? तो कैसे है? यहाँ पञ्चमी नहीं है। तृतीया है।

(2326) अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयायाः *46* (2113)

अतिक्रम्य ग्रहोऽतिग्रहः। अचलनमव्यथनम्। क्षेपो निन्दा। अतिग्रहादिविषये या तृतीया तदन्ताद्वा तसिः प्रत्ययो भवति, सा चेत्कर्त्तरि न भवति। वृत्तेनातिगृह्यते वृत्ततोऽतिगृह्यते। चारित्रेणातिगृह्यते चारित्रतोऽतिगृह्यते। सुष्ठु वृत्तवानन्यानति-क्रम्य वृत्तेन गृह्यत इत्यर्थः। अव्यथने-वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते। चारित्रेण न व्यथते चारित्रतो व्यथते। वृत्तेन न चलतीत्यर्थः। क्षेपे-वृत्तेन क्षिप्तो वृत्ततः क्षिप्तः। चारित्रेण क्षिप्तः न चारित्रतः क्षिप्तः। वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः। अकर्त्तरीति किम्? देवदत्तेन क्षिप्तः।

अर्थ—अतिग्रह, अचलन तथा निन्दा अर्थों में विहित जो तृतीया विभक्ति, तदन्त से 'तसि' प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि वह तृतीया कर्त्ता अर्थ में न हो।

उदा० (क) अतिग्रहे—
(1) वृत्ततोऽतिगृह्यते
वृत्तेनाऽतिगृह्यते—'तंसि' होता है।

(2) चारित्रतोऽतिगृह्यते (पूर्ववत्)।

(ख) अव्यथने—
(3) वृत्ततो न व्यथते
'तसि' हुआ।

(4) चारित्रतो न व्यथते (पूर्ववत्)।

(ग) क्षेपे—
(5) वृत्ततः क्षिप्तः (पूर्ववत्)।

(6) चारित्रतः क्षिप्तः (पूर्ववत्)।

अकर्त्तरीति०—यदि कर्त्ता अर्थ न हो तो 'तसि' होता है—

देवदत्तेन क्षिप्तः
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(2327) हीयमानपापयोगाच्च *47* (2114)

अकर्त्तरि तृतीयाया (5.4.46) इत्येव। हीयमानेन पापेन च योगो यस्य तद्वाचिनः शब्दात् परा या तृतीया विभक्तिरकर्त्तरि तदन्ताद्वा तसिः प्रत्ययो भवति। वृत्तेन हीयते, वृत्ततो हीयते। चारित्रेण हीयते, चारित्रतो हीयते। पापयोगात्–वृत्तेन पापः, वृत्ततः पापः। चारित्रेण पापः, चारित्रतः पापः। क्षेपस्याविवक्षायां तत्त्वाख्यायामिदमुदाहरणम्। क्षेपे हि पूर्वेणैव सिद्धम्। अकर्त्तरीत्येव–देवदत्तेन हीयते।

अर्थ—'अकर्त्तरि' तथा 'तृतीयायाः' इनका अनुवर्त्तन है। हीयमान तथा पाप शब्दों के साथ जिस शब्द का योग है, उस शब्द से परे विहित जो तृतीया विभक्ति, तदन्त प्रातिपदिक से भी विकल्प से 'तसि' होता है। यदि वह विभक्ति कर्त्ता अर्थ में न हो।

उदा॰ (क) हीयमानात्—
(1) वृत्ततो हीयते
'तसि' हुआ।
(2) चारित्रतो हीयते
प्रत्यय हुआ।
(ख) पापयोगात्—
(3) वृत्ततः पापः
वृत्तेन पापः—पूर्ववत्।
(4) चारित्रतः पापः (पूर्ववत्)।

निन्दा की अविवक्षा में तथा तत्त्व के कथन में यह उदाहरण है। निन्दा अर्थ में तो पूर्व सूत्र के द्वारा ही सिद्ध है।

अकर्त्तरी॰—यदि कर्त्ता अर्थ न हो तो प्रत्यय होता है—
देवदत्तेन हीयते—यहाँ नहीं हुआ।

(2328) षष्ठ्या व्याश्रये *48* (2115)

नानापक्षसमाश्रयो व्याश्रयः। व्याश्रये गम्यमाने षष्ठ्यन्ताद् वा तसिः प्रत्ययो भवति। देवा अर्जुनतोऽभवन्। आदित्याः कर्णतोऽभवन्। षष्ठी चात्र पक्षापेक्षैव। अर्जुनस्य पक्षे, कर्णस्य पक्ष इत्यर्थः। व्याश्रय इति किम्? वृक्षस्य शाखा।

अर्थ—भिन्न-भिन्न पक्षों में आश्रयण को 'व्याश्रय' कहते हैं। व्याश्रय अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'तसि' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा॰ (1) अर्जुनतोऽभवन् देवाः,
अर्जुन तस्—व्याश्रय अर्थ में 'तसि' हुआ,
अर्जुनतस् सु—रूप बना।
(2) कर्णतोऽभवन् आदित्याः (पूर्ववत्)।

यहाँ षष्ठी पक्षापेक्ष ही है। 'अर्जुनस्य पक्षे कर्णस्य' यह अर्थ है।

व्याश्रय॰—व्याश्रय अर्थ में 'तसि' होता है—
वृक्षस्य शाखा—यहाँ नहीं हुआ।

(2329) रोगाच्चापनयने *49* (2116)

रोगो व्याधिः। तद्वाचिनः शब्दाद्या षष्ठी विभक्तिस्तदन्ताद्वा तसिः प्रत्ययो भवति अपनयने गम्यमाने। अपनयनं प्रतीकारः, चिकित्सेत्यर्थः। प्रवाहिकातः कुरु। कासतः कुरु। छर्दिकातः कुरु। प्रतीकारमस्याः कुर्वित्यर्थः। अपनयन इति किम्? प्रवाहिकायाः प्रकोपनं कुरु।

अर्थ—रोग = व्याधि। रोगवाची शब्द से विहित जो षष्ठी विभक्ति, तदन्त शब्द से 'तसि' प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि 'चिकित्सा' गम्यमान हो।

उदा॰ (1) प्रवाहिकातः कुरु
प्रवाहिकाया अपनयनं कुरु—'तसि' हुआ।
(2) पक्ष में प्रवाहिकाया अपनयनं कुरु।
(3) कासतः कुरु (पूर्ववत्)।
(4) छर्दिकातः कुरु (पूर्ववत्)।

अपनयन॰—चिकित्सा गम्यमान हो तो 'तसि' होता है—
प्रवाहिकायाः प्रकोपनं कुरु—
प्रत्यय नहीं हुआ।

(2330) अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः *50* (2117)

कारणस्य विकाररूपेणाभूतस्य तदात्मना भावोऽभूततद्भावः। सम्पद्यतेः कर्त्ता सम्पद्यकर्त्ता। सम्पद्यकर्त्तरि वर्त्तमानात् प्रातिपतिकादभूततद्भावे गम्यमाने कृभ्वस्तिभिर्धातुभिर्योगे च्विः प्रत्ययो भवति। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते, तं करोति शुक्लीकरोति। मलिनं शुक्लीकरोति। शुक्लीभवति। शुक्ली स्यात्। घटीकरोति मृदम्। घटी भवति। घटी स्यात्। अभूततद्भाव इति किम्? शुक्लं करोति। नात्र प्रकृतिर्विवक्षिता। कृभ्वस्तियोग इति किम्? अशुक्लः शुक्लो जायते। सम्पद्यकर्त्तरीति किम्, यावता

अभूततद्भावसामर्थ्याल्लभ्यत एव सम्पद्यकर्तृत्वम्? कारकान्तरसम्पत्तौ मा भूत्–अदेवगृहे देवगृहे सम्पद्यते। देवगृहस्याधेयविशेषसम्बन्धेनाभूततद्भावः सत्त्वाधिकरणस्य न कर्त्तुरिति।

अर्थ—सम्पद्य धातु के कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से अभूततद्भाव में 'च्वि' प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू अथवा अस् धातु के साथ योग हो। पक्ष में वाक्य रहता है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति 'अभूततद्भाव' अर्थ गम्य होने की दशा में ही होती है। जो वस्तु पहले जिस रूप में न हो; पश्चात् वह उस रूप को प्राप्त कर ले तो इसे 'अभूततद्भाव' कहा जाता है। यथा—

अश्वेतः श्वेतः सम्पद्यते, तं करोति अर्थात् जो पहले 'श्वेत' न था; पश्चात् 'श्वेत' होता है। अतः अभूत (= जो पहले न था) का तद्भाव गम्य है। यहाँ 'अशुक्ल' प्रकृति है तथा 'शुक्ल' विकृति है।

उदा० (1) शुक्लीकरोति

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते, तं करोति (अथवा अशुक्लं शुक्लं सम्पद्यते, तं करोति—'अशुक्ल' प्रकृति तथा 'शुक्ल' विकृति है, 'शुक्ल' शब्द सम्पद्य धातु का कर्त्ता है, 'कृ' के साथ 'शुक्ल' का योग है तथा अभूततद्भाव अर्थ भी गम्यमान है। अतः 'च्वि' हुआ, 'च्वि' का सर्वापहारलोप, प्रत्ययलक्षण के द्वारा 'अस्य च्वौ' से ईकार;

शुक्ली—'ऊर्यादिच्विडाचश्च' से गतिसंज्ञा 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' से निपातसंज्ञा, 'स्वरादिनिपात०' से अव्ययसंज्ञा, प्रथमा एकवचन की 'सु' विभक्ति का लुक्,

शुक्लीकरोति—तिप् हो गया।

(2) शुक्लीभवति (मलिनम्)

अशुक्लं शुक्लं सम्पद्यमानं भवति—पूर्ववत्, 'शुक्ली' बना, इसकी गतिसंज्ञा, 'ते प्राग्धातोः' से 'भू' से पूर्व प्रयोग हुआ।

(3) शुक्लीस्यात्

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानः स्यात्—पूर्ववत्।

(4) घटीकरोति मृदम्

घटी—'शुक्ली' की तरह,

घटीकरोति—पूर्ववत्।

(5) घटीभवति (पूर्ववत्)।

(6) घटीस्यात्

अघटः घटः सम्पद्यमानः स्यात्—पूर्ववत् सभी कार्य होते हैं।

अभूततद्०—अभूततद्भाव अर्थ में 'च्वि' होता है—

शुक्लं करोति—यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ। यहाँ प्रकृति विवक्षित नहीं है।

कृभ्वस्ति०—विकारवाची शब्द का भू, कृ अथवा अस् धातु के साथ योग होने पर भी 'च्वि' होता है—

अशुक्लः शुक्ली जायते—यहाँ नहीं हुआ।

सम्पद्यक०—अभूततद्भावसामर्थ्य से सम्पद्यकर्तृता उपलब्ध ही होती है। तब 'सम्पद्यकर्त्तरि' किसलिए है?

(समा०) अन्य कारक सम्पत्ति में न हो, इसलिए 'सम्पद्यकर्त्तरि' का पाठ है। यथा—

अदेवगृहे देवगृहे सम्पद्यते—यहाँ नहीं हुआ।

(2331) अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च *51* (2121)

अरुःप्रभृतीनामन्तस्य लोपो भवति च्विश्च प्रत्ययः। अत्र सर्वविशेषणसम्बन्धात् पूर्वेणैव प्रत्ययः सिद्धो लोपमात्रार्थं आरम्भः। अनरुररुः सम्पद्यते, तं करोति अरुकरोति, अरुभवति, अरुस्यात्। मनस्–उन्मनीकरोति, उन्मनीभवति, उन्मनीस्यात्। चक्षुष्–उच्चक्षूकरोति, उच्चक्षूभवति, उच्चक्षूस्यात्। चेतस्–विचेतीकरोति, विचेतीभवति, विचेतीस्यात्। रहस्–विरहीकरोति, विरहीभवति, विरहीस्यात्। रजस्–विरजीकरोति, विरजीभवति, विरजीस्यात्।

अर्थ—सम्पद्य धातु के कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान अरुस्, मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस् तथा रजस् शब्दों का लोप होता है तथा 'च्वि' प्रत्यय होता है, यदि इसका कृ, भू अथवा अस् धातु के साथ योग हो।

यहाँ पूर्ववत् सभी विशेषणों का सम्बध होने से 'च्वि' प्रत्यय पूर्व सूत्र के द्वारा ही सिद्ध था, लोपमात्र का यहाँ विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) अरुकरोति

अनारुररुः सम्पद्यते, तं सम्पद्यते, तं करोति—

अरुस् च्वि → अरु च्वि → अरु कृ → अरु करोति।

(2) अरुभवति

अरुस् च्वि → अरु च्वि—

अरुभवति—पूर्ववत्।

(3) अरुस्यात् (पूर्ववत्)।
(4) उन्मनीभवति
उन्मनस् च्वि → उन्मन च्वि—अस्य च्वौ,
उन्मनीभवति—पूर्ववत्।
(5) उन्मनीस्यात् (पूर्ववत्)।
(6) उच्चक्षूकरोति
उच्चक्षुस् च्वि → उच्चक्षु च्वि—
उच्चक्षूकरोति—पूर्ववत्।
(7) उच्चक्षूभवति (पूर्ववत्)।
(8) उच्चक्षूस्यात् (पूर्ववत्)।
(9) विचेतीकरोति
विचेतस् च्वि → विचेत च्वि—
विचेतीकरोति—पूर्ववत्।
(10) विचेतीभवति (पूर्ववत्)।
(11) विचेतीस्यात् (पूर्ववत्)।
(12) विरहीकरोति
विरहस् च्वि → विरह च्वि—
विरही—अस्य च्वौ,
विरहीकरोति—पूर्ववत्।
(13) विरहीभवति (पूर्ववत्)।
(14) विरहीस्यात्
विरहस् च्वि—अन्त्य लोप, ईकार,
विरहीस्यात्—पूर्ववत्।
(15) विरजीकरोति
विरजस् च्वि → विरज च्वि—
विरजीकरोति—पूर्ववत्।
(16) विरजीभवति
विरज च्वि—अस्य च्वौ,
विरजीभवति—पूर्ववत्।
(17) विरजीस्यात्
विरज च्वि—पूर्ववत्,
विरजीस्यात्—अस्य च्वौ।

(2332) विभाषा साति कार्त्स्न्ये *52* (2122)

अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरीति सर्वमनुवर्त्तते। अस्मिन् विषये विभाषा सातिः प्रत्ययो भवति कार्त्स्न्ये गम्यमाने। यदि प्रकृतिः कृत्स्नां विकारात्मतामापद्यत इत्यर्थः। अग्निसाद्भवति शस्त्रम्। अग्नीभवति शस्त्रम्। उदकसाद्भवति लवणम्। उदकीभवति लवणम्। कार्त्स्न्ये इति किम्? एकदेशेन पटः शुक्लीभवति। विभाषाग्रहणं च्वेः प्रापकम्। प्रत्ययविकल्पस्तु महाविभाषयैव सिद्धः।

अर्थ—अभूततद्भावे, कृभ्वस्तियोगे, सम्पद्यकर्त्तरि—इन सब का अनुवर्तन है। कार्त्स्न्य गम्यमान हो तो च्वि के विषय में अभूततद्भाव अर्थ में सम्पद्य धातु के कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से साति 'प्रत्यय' विकल्प से होता है, यदि इसका कृ, भू अथवा अस् धातु के साथ योग हो।

यदि प्रकृति सम्पूर्ण विकार को प्राप्त होती है तो यह प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अग्निसाद् भवति
कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते → अग्नि साति—
अग्निसात्—तद्धितश्चाऽसर्व०, सु का लोप, 'आदेशप्रत्यययोः' से प्राप्त षत्व का 'सात्पदाद्योः' से निषेध, 'भू' का प्रयोग।

(2) उदकसाद् भवति
उदक साति—पूर्ववत्,
उदकसाद्भवति—पूर्ववत्,
(3) उदकीभवति
पक्ष में रूप बना—च्वौ च।
(4) अग्नीभवति
पक्ष में पूर्ववत्।

कार्त्स्न्ये इति०—सम्पूर्णता अर्थ गम्यमान हो तो प्रत्यय होता है—

एकदेशेन पटः शुक्लीभवति।

'विभाषा का पाठ च्वि प्रत्यय के लिए है। महाविभाषा के द्वारा प्रत्यय का विकल्प होता है।

(2333) अभिविधौ सम्पदा च *53* (2124)

अभिविधिरभिव्याप्तिः। अभिविधौ गम्यमाने च्विविषये सातिः प्रत्ययो भवति सम्पदायोगे, चकारात् कृभ्वस्तिभिश्च। विभाषाग्रहणानुवृत्तेश्च्विरप्यभ्यनुज्ञायते। स च कृभ्वस्तियोग एव भवति, न सम्पदा। अग्निसात् सम्पद्यते। अग्निसाद्भवति। उदकसात् सम्पद्यते। उदकसाद्भवति लवणम्। अग्नीभवति। उदकीभवति। अथाभिविधेः कार्त्स्न्यस्य च को विशेषः? यत्रैकदेशेनापि सर्वा

प्रकृतिर्विकारमापद्यते सोऽभिविधिः । यथाऽस्यां सेनायामुत्पातेन सर्वं शस्त्रमग्निसात् सम्पद्यते । वर्षासु सर्वं लवणमुदकसात् सम्पद्यत इति । कार्त्स्न्यं तु सर्वात्मना द्रव्यस्य विकाररूपापत्तौ भवति ।

अर्थ—अभिविधि = अभिव्याप्ति । अभिविधि अर्थ गम्यमान हो तो 'च्वि' के विषय में 'साति' प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में 'च्वि' होता है । 'च्वि' प्रत्यय कृ, भू तथा अस् के योग में ही होता है ।

उदा० (1) अग्निसात् सम्पद्यते
अग्नि साति—'साति' हुआ,
अग्निसात् सम्पद्यते—पूर्ववत् ।

(2) अग्निसाद् भवति (पूर्ववत्) ।
(3) उदकसात् सम्पद्यते (पूर्ववत्) ।
(4) उदकसाद् भवति (पूर्ववत्) ।
(5) अग्नीभवति (पूर्ववत्) ।

अथाऽभि०—अभिविधि और कार्त्स्न्य में क्या विशेष है ? जहाँ एकदेश के द्वारा भी समस्त प्रकृति विकार को प्राप्त करती है, उसे अभिविधि कहते हैं । यथा—

अस्यां सेनायामुत्पातेन सर्वं शस्त्रम् अग्निसात् सम्पद्यते ।

इसी प्रकार—
वर्षासु सर्वं लवणमुदकसात् सम्पद्यते ।
सम्पूर्ण के द्वारा प्रकृत का विकार को प्राप्त होना 'कार्त्स्न्य' है ।

(2334) तदधीनवचने *54* (2125)

अभूततद्भाव इति निवृत्तम्, अर्थान्तरोपादानात् । कृभ्वस्तियोगे सम्पदा चेति वर्त्तते । तदधीनं तदायत्तं तत्स्वामिकमित्यर्थः । स्वामिसामान्यमीशितव्यसामान्यं च तदधीनशब्देन निर्दिश्यते । स्वामिविशेषवाचिनः प्रातिपदिकादीशितव्येऽभिधेये सातिः प्रत्ययो भवति कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । राजाधीनं करोति–राजसात्करोति, राजसाद्भवति, राजसात्स्यात्, राजसात्सम्पद्यते । ब्राह्मणसात्करोति । ब्राह्मणसाद्भवति । ब्राह्मणसात्स्यात् । ब्राह्मणसात्सम्पद्यते ।

अर्थ—'अभूततद्भावे' की निवृत्ति हो गई है । यहाँ दूसरे अर्थ का ग्रहण है । कृ, भू, अस् और सम्पूर्वक पद् धातुओं के योग में स्वामिविशेषवाची प्रातिपदिकों से 'साति' होता है, स्वामिविशेष के अधीन कथन अर्थ में । अधीन का अर्थ है—आयत्त । 'तदधीन' शब्द के द्वारा स्वामिसामान्य का तथा ईशितव्यसामान्य का निर्देश किया जाता है ।

उदा० (1) राजसाद्भवति
राजन् साति → राजसात्—नकारलोप,
राजसाद् भवति—पूर्ववत् ।
(2) राजसात् सम्पद्यते (पूर्ववत्) ।
(3) ब्राह्मणसात् करोति
'साति' हुआ ।
(4) ब्राह्मणसाद्भवति (पूर्ववत्) ।
(5) ब्राह्मणसात् स्यात् (पूर्ववत्) ।
(6) ब्राह्मणसात् सम्पद्यते (पूर्ववत्) ।

(2335) देये त्रा च *55* (2126)

तदधीनवचन इत्यनुवर्त्तते । तस्य विशेषणं देयग्रहणम् । दातव्यं देयं, तदधीने देये त्रा प्रत्ययो भवति चकारात् सातिश्च कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे । ब्राह्मणेभ्यो देयमिति यद्विज्ञातं तद्यदा तेषां समर्पणेन तदधीनं क्रियते तदा त्रा प्रत्ययः । ब्राह्मणाधीनं देयं करोति ब्राह्मणसात्करोति । ब्राह्मणत्राकरोति । ब्राह्मणत्राभवति । ब्राह्मणत्रास्यात् । ब्राह्मणत्रासम्पद्यते । देय इति किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ।

अर्थ—'तदधीनवचने' का अनुवर्त्तन है । 'देय' इसका विशेषण है । देय = देना चाहिए । कृ, भू, अस् के योग में तथा सम् पूर्वक पद् धातु के योग में 'त्रा' तथा 'साति' प्रत्यय होते हैं, यदि देय तदधीनवाची वाच्य हो ।

ब्राह्मणेभ्यो देयम्—यह जो जाना गया, वह जब उनके समर्पण के द्वारा उनके अधीन किया जाता है, तब 'त्रा' प्रत्यय होता है ।

उदा० (1) ब्राह्मणसात् करोति
ब्राह्मणाधीनं देयं करोति—

(2) ब्राह्मणत्राकरोति
ब्राह्मणत्रा—ब्राह्मण त्रा कृ ।
ब्राह्मणत्राकरोति—पूर्ववत् ।

(3) ब्राह्मणत्राभवति (पूर्ववत्) ।
(4) ब्राह्मणत्रास्यात् (पूर्ववत्) ।
(5) ब्राह्मणत्रा सम्पद्यते (पूर्ववत्) ।

देय इति०—देय तदधीनवाची हो तो प्रत्यय होता है—

(6) राजसाद् भवति राष्ट्रम्—यहाँ 'त्रा' नहीं हुआ ।

(2336) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् *56* (2127)

सातिर्निवृत्तः त्राप्रत्ययोऽनुवर्त्तते। देवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो द्वितीयासप्तम्यन्तेभ्यस्त्रा प्रत्ययो भवति बहुलम्। कृभ्वस्तिभिरिति नात्र सम्बध्यते। सामान्येन विधानम्। देवान् गच्छति देवत्रागच्छति। देवेषु वसति देवत्रावसति। मनुष्यान् गच्छति, मनुष्यत्रागच्छति। मनुष्येषु वसति, मनुष्यत्रावसति, एवमन्येऽप्युदाहार्याः–पुरुषान् गच्छति, पुरुषत्रागच्छति। पुरुषेषु वसति, पुरुषत्रावसति। पुरून् गच्छति, पुरुत्रागच्छति। पुरुषु वसति, पुरुत्रावसति। मर्त्यान् गच्छति, मर्त्यत्रागच्छति। मर्त्येषु वसति मर्त्यत्रावसति। बहुलवचनादन्यत्रापि भवति–बहुत्रा जीवतो मनः (पै०सं० 19.34.4) इति।

अर्थ—'साति' की निवृत्ति हो गई है। 'त्रा' का अनुवर्त्तन है। द्वितीया व सप्तमी विभक्ति है अन्त में जिसके, ऐसे देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु तथा मर्त्य शब्दों से 'त्रा' प्रत्यय बहुलता से होता है।

उदा० (1) देवत्रा गच्छति
देवान् गच्छति—द्वितीया के अर्थ में 'त्रा' हुआ,
देव त्रा सु—विभक्तिकार्य।

(2) देवत्रा वसति
देवेषु वसति—सप्तमी अर्थ में 'त्रा' हुआ,
देव त्रा सु—पूर्ववत्।

(3) मनुष्यत्रा गच्छति
मनुष्यान् गच्छति—त्रा हुआ।

(4) मनुष्यत्रा वसति
मनुष्येषु वसति—पूर्ववत्।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी होते हैं—

(5) पुरुषत्रा गच्छति।
(6) पुरुषत्रा वसति।
(7) पुरुत्रा गच्छति।
(8) पुरुत्रा वसति।
(9) मर्त्यत्रा गच्छति।
(10) मर्त्यत्रा वसति।

'बहुल' पद का पाठ होने से सूत्रोक्त से अतिरिक्त स्थलों पर भी होता है—

(11) बहुत्रा जीवतो मनः।

(2337) अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच् *57* (2128)

यत्र ध्वनावकारादयो वर्णा विशेषरूपेण न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तः। तस्यानुकरणमव्यक्तानुकरणम्। द्व्यज् अवरार्द्धं यस्य तद् द्व्यजवरार्धम्। अवरशब्दोऽपकर्षे। यस्यापकर्षे क्रियमाणे सुष्ठु न्यूनमर्द्धं द्व्यच्कं सम्पद्यते, तस्मादव्यक्तानुकरणादनितिपराड्डाच् प्रत्ययो भवति। कृभ्वस्तियोगे इत्यनुवर्त्तते। तस्य च द्विर्वचने कृते द्व्यजवरार्द्धम्, ततः प्रत्ययः। डाचि बहुलं द्वे भवत (6.1.99) इति विषयसप्तमी। डाचि विवक्षिते द्विर्वचनमेव पूर्वं क्रियते पश्चात् प्रत्ययः। पटपटाकरोति, पटपटाभवति, पटपटास्यात्। दमदमाकरोति, दमदमाभवति, दमदमास्यात्। अव्यक्तानुकरणादिति किम्? इषत्करोति। द्व्यजवरार्द्धादिति किम्? श्रत् करोति। अवरग्रहणं किम्? खरटखरटाकरोति। त्रपटत्रपटाकरोति। अनिताविति किम्? पटिति करोति। चकारः स्वरार्थः स्वरितबाधनार्थः। पटपटासि। अत्र 'स्वरितो वाऽनुदात्तेऽपदादौ' (8.2.6) इति स्वरितो न भवति। केचिद्द्व्यजवराद्ध्यादिति यकारं पठन्ति, स स्वार्थिको विज्ञेयः।

अर्थ—जहाँ ध्वनि में जो अकार आदि वर्णविशेष (अर्थात् स्पष्ट) रूप से व्यक्त नहीं होते हैं, वे अव्यक्त कहलाते हैं। उसका अनुकरण होता है। दो अच् अवरार्द्ध है जिसका, वह 'द्व्यजवरार्ध' कहलाता है। (द्वित्व कर चुकने के पश्चात्) जिसके आधे भाग में दो या अधिक अच् हों, ऐसे अव्यक्त ध्वनि के अनुकरणरूप प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'डाच्' प्रत्यय होता है, यदि कृ, भू तथा अस् धातु के साथ उसका योग हो; परन्तु 'इति' शब्द परे हो तो 'डाच्' प्रत्यय नहीं होता है।

डाच् की विवक्षा होते ही अव्यक्तानुकरण को सर्वप्रथम द्वित्व होता है। द्र०—

डाचि च द्वे बहुलम् (वा०)।

डाच् में चकार व डकार की इत् संज्ञा होती है। चकार अनुबन्ध 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' में विशेषण के लिए जोड़ा गया है। डाच् को डित् करने का प्रयोजन टिलोप है (द्र०—टेः)। संस्कृत में भी पटत्, दमत्, खरटत्, श्रत् आदि अव्यक्त ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार की अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण को प्रकट करने के लिए 'डाच्' प्रत्यय किया जाता है।

'डाचि द्वे बहुलम्' में विषयसप्तमी है।

उदा० (1) पटपटाकरोति

पटद् एवं शब्दं करोति—'पटत्' अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण है, इससे परे 'इति' नहीं है, कृ धातु के साथ इसका कर्मत्वेन योग है, डाच् की विवक्षा में द्वित्व हुआ, प्रत्यय हुआ,

पटत् अम् पटत् अम् डाच् करोति—'डाचि च द्वे बहुलम्' 'अव्यक्तानुकरणाद्०', 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'पटत् अम् पटत् अम् डाच्' की प्रातिपदिक संज्ञा, चुटू,

पटत् पटत् आ—सुपों का लुक्,

पटप् अटत् आ—'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' से तकार व पकार का पररूप,

पट पट् आ करोति—यचि भम्, टेः, ऊर्यादिच्विडाचश्च, ते प्राग्धातोः, स्वरादिनिपातम०, अव्ययादाप्०,

पटपटाकरोति—रूप बनता है।

(2) पटपटाभवति (पूर्ववत्)।

(3) पटपटास्यात् (पूर्ववत्)।

(4) दमदमाकरोति (पूर्ववत्)।

(5) दमदमाभवति (पूर्ववत्)।

(6) दमदमास्यात् (पूर्ववत्)।

अव्यक्तानुक०—अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण प्रातिपदिक से 'डाच्' होता है—

(7) ईषत् करोति—ईषत् व्यक्त ध्वनि है। अतः 'डाच्' नहीं हुआ।

द्व्यजवरार्द्धा—जिसके **आधे भाग में दो या अधिक अच्** हों, ऐसे अव्यक्तानुकरण प्रातिपदिक से 'डाच्' होता है—

(8) श्रत्करोति

'श्रत्' अव्यक्त का अनुकरण है, परन्तु इसके आधे भाग में दो अच् नहीं है। अतः 'डाच्' नहीं हुआ।

अवरग्रह०—जिसके आधे भाग में **कम से कम** दो अच् हों, ऐसे प्रातिपदिक से 'डाच्' होता है—

(9) खरटखरटाकरोति

'खरटत्' अव्यक्त ध्वनि है, आधे अर्ध भाग में तीन अच् हैं, अतः 'डाच्' हुआ।

(10) त्रपटत्रपटाकरोति (पूर्ववत्)।

अनितावि०—'इति शब्द परे न हो तो 'डाच्' होता है—

(11) पटितिकरोति

पटत् करोति—अव्यक्त का अनुकरण है, अर्धभाग में दो अच् हैं, 'इति' परे है, अतः 'डाच्' नहीं हुआ।

चकार स्वर के लिए है, स्वरित के बाध के लिए। यथा—पटपटासि।

यहाँ स्वरित नहीं होता है। कुछ विद्वान् 'द्व्यजवरार्धात्' ऐसा यकार का पाठ करते हैं। वह स्वार्थिक जानना चाहिए।

(2338) कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ *58* (2129)

द्वितीयतृतीयादिभ्यः शब्देभ्यः कृषावभिधेयायां डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे नान्यत्र। पुनः कृञ्ग्रहणं भ्वस्त्योर्निवृत्त्यर्थम्। द्वितीयाकरोति। द्वितीयं कर्षणं विलेखनं करोतीत्यर्थः। तृतीयाकरोति। शम्बाकरोति। अनुलोमकृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रतिलोमं कृषतीत्यर्थः। बीजाकरोति। सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः। कृषाविति किम्? द्वितीयं करोति पदम्।

अर्थ—'कृषि' अर्थ वाच्य हो तो द्वितीय, तृतीय, शम्ब और बीज—इन शब्दों से 'डाच्' होता है, यदि इन शब्दों का 'कृ' धातु के साथ योग हो। 'कृ' का अनुवर्त्तन सुलभ होने पर भी पुनः 'कृ' का ग्रहण 'भू' तथा 'अस्' की निवृत्ति के लिए है।

उदा० (1) द्वितीयाकरोति

द्वितीय डाच्—'दूसरी बार हल चलाता है' यह अर्थ सूचित होता है।

(2) तृतीयाकरोति (पूर्ववत्)।

(3) शम्बाकरोति

शम्ब डाच्—हल चलाए हुए खेत को समतल करता है—यह अर्थ सूचित होता है,

शम्बा करोति—ते प्राग्धातोः।

(4) बीजाकरोति

बीज डाच्—बीजाई के साथ हल चलाता है—यह अर्थ सूचित होता है।

कृषाविति—कृषि अर्थ अभिधेय हो तो 'डाच्' होता है—

द्वितीयं करोति पदम्—

यहाँ 'डाच्' नहीं हुआ।

(2339) संख्यायाश्च गुणान्तायाः *59* (2130)

कृञ इत्यनुवर्त्तते, कृषाविति च। संख्यावाचिनः शब्दस्य गुणशब्दोऽन्ते = समीपे यत्र सम्भवति सा संख्या गुणान्तेत्युच्यते, तादृशात् प्रातिपदिकात् कृषावभिधेयायां

डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे। द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम्। त्रिगुणाकरोति। कृषाविति किम्? द्विगुणां करोति रज्जुम्।

अर्थ—'कृञः' तथा 'कृषौ' का अनुवर्त्तन है। यदि 'कृषि' शब्द वाच्य हो तो गुण शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे संख्यावाची प्रातिपदिक से 'डाच्' होता है, यदि इस शब्द का 'कृ' धातु के साथ सम्बन्ध हो।

उदा० (1) द्विगुणाकरोति
द्विगुण डाच्—पूर्ववत्।

कृषाविति०—'कृषि' शब्द वाच्य हो तो 'डाच्' होता है। यथा—
द्विगुणां करोति रज्जुम्—
यहाँ नहीं हुआ।

(2340) समयाच्च यापनायाम् *60* (2131)

कृञ इत्येव। कृषाविति निवृत्तम्। कर्तव्यस्यावसरप्राप्तिः समयस्तस्यातिक्रमणं यापना। समयशब्दाद्यापनायां गम्यमानायां डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे। समयाकरोति। समयं यापयति, कालक्षेपं करोतीत्यर्थः। यापनायामिति किम्? समयं करोति।

अर्थ—'कृ' का अनुवर्त्तन है तथा 'कृषौ' की निवृत्ति हो गई है।

'समय' प्रातिपदिक से 'डाच्' प्रत्यय होता है, यदि इसका 'कृ' धातु के साथ योग हो तथा 'व्यतीत करना' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) समयाकरोति
समय डाच्—पूर्ववत्।

यापनाया०—व्यतीत करना अर्थ में ही प्रातिपदिक से 'डाच्' होता है—
(2) समयं करोति (= नियम करता है)
डाच् नहीं हुआ।

(2341) सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने *61* (2132)

कृञ इत्येव। सपत्रनिष्पत्रशब्दाभ्यामतिव्यथने डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे सति। अतिव्यथनमतिपीडनम्। सपत्राकरोति मृगं व्याधः। सपत्रं शरमस्य शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः। निष्पत्राकरोति। शरीराच्छरमपरपार्श्वे निष्क्रामयतीत्यर्थः। अतिव्यथन इति किम्? सपत्रं वृक्षं करोति जलसेचकः, निष्पत्रं वृक्षतलं करोति भूमिशोधकः।

अर्थ—'कृञः' का अनुवर्त्तन है। सपत्र तथा निष्पत्र प्रातिपदिकों से 'डाच्' होता है, यदि इन शब्दों का योग 'कृ' धातु के साथ हो तथा 'अतिपीडन' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) सपत्राकरोति मृगं व्याधः
सपत्र डाच् कृ—अनुबन्धलोप,
सपत्रा कृ तिप्—लकारकार्य।

(2) निष्पत्राकरोति
निष्पत्र डाच्—पूर्ववत्।

अतिव्यथन०—अतिपीडन अर्थ गम्यमान हो तो 'डाच्' होता है—
सपत्रं वृक्षं करोति—
यहाँ 'डाच्' नहीं हुआ।
निष्पत्रं वृक्षतलं करोति।
पूर्ववत् 'डाच्' नहीं हुआ।

(2342) निष्कुलान्निष्कोषणे *62* (2133)

कृञ इत्येव। निष्कुलशब्दान्निष्कोषणे वर्त्तमानात् कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति। निष्कोषणमन्तरवयवानां बहिर्निष्कासनम्। निष्कुलाकरोति पशून्। निष्कुष्णातीत्यर्थः। निष्कोषण इति किम्? निष्कुलान् करोति शत्रून्।

अर्थ—निष्कुल शब्द से 'डाच्' होता है, यदि उस शब्द का 'कृ' के साथ योग हो तथा 'निष्कोषण' अर्थ गम्यमान हो। अन्दर स्थित अंगों—अवयवों के बाहर निकालने को 'निष्कोषण' कहते हैं।

उदा० (1) निष्कुलाकरोति पशून्
यहाँ 'डाच्' हुआ।

निष्कोषण०—निष्कोषण गम्यमान हो तो 'डाच्' होता है—
निष्कुलान् करोति शत्रून्—
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(2343) सुखप्रियादानुलोम्ये *63* (2134)

सुखप्रियशब्दाभ्यामानुलोम्ये वर्त्तमानाभ्यां कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति। आनुलोम्यमनुकूलता, आराध्यचित्तानुवर्त्तनम्। सुखाकरोति। प्रियाकरोति। स्वाम्यादेश्चित्तमाराधयतीत्यर्थः। सुखं प्रियं वा कुर्वन्नप्यानुलोम्येऽवस्थित

एवमुच्यते। आनुलोम्य इति किम्? सुखं करोति, प्रियं करोत्यौषधपानम्।

अर्थ—सुख और प्रिय प्रातिपदिकों से 'डाच्' होता है, यदि इनका योग 'कृ' धातु से हो तथा 'अनुकूलता' गम्यमान हो।

उदा० (1) सुखाकरोति
सुख डाच्—पूर्ववत्।

(2) प्रियाकरोति (पूर्ववत्)।

आनुलोम्य—अनुकूलता गम्यमान हो तो 'डाच्' होता है—

(3) सुखं करोति
यहाँ प्रत्यय नहीं हुआ।

(4) प्रियं करोति
प्रत्यय नहीं हुआ।

(2344) दुःखात् प्रातिलोम्ये *64* (2135)

कृञ इत्येव। दुःखशब्दात् प्रातिलोम्ये गम्यमाने डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे। प्रातिलोम्यं प्रतिकूलता, स्वाम्यादेश्चित्तपीडनम्। दुःखाकरोति भृत्यः। प्रातिलोम्य इति किम्? दुखं करोति कदन्नम्।

अर्थ—'कृञः' का अनुवर्त्तन है। प्रतिकूलता अर्थ गम्यमान हो तो 'दुःख' शब्द से 'डाच्' होता है, यदि इस शब्द का योग 'कृ' के साथ हो।

उदा० (1) दुःखाकरोति
'डाच्' हुआ।

प्रातिलोम्य०—प्रतिकूलता अर्थ में ही 'डाच्' होता है—

(2) दुःखं करोति
यहाँ 'डाच्' नहीं हुआ।

(2345) शूलात् पाके *65* (2136)

कृञ इत्येव। शूलशब्दात् पाकविषये डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे। शूले पचति शूलाकरोति मांसम्। पाक इति किम्? शूलं करोति कदन्नम्।

अर्थ—'कृञः' का अनुवर्त्तन है। शूल शब्द से 'डाच्' होता है, यदि इसका योग 'कृ' धातु के साथ हो तथा 'पाक' विषय हो।

उदा० (1) शूलाकरोति
'डाच्' हो गया है।

पाक इति०—पाक विषय हो तो 'डाच्' होता है—

(2) शूलं करोति कदन्नम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2346) सत्यादशपथे *66* (2137)

कृञ इत्येव। सत्यशब्दादशपथे डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे। सत्यशब्दोऽनृतप्रतिपक्षवचनः, क्वचित्तु शपथे च वर्त्तते-सत्येन शापयेद्विप्रमिति, तस्यायं प्रतिषेधः। सत्याकरोति वणिक् भाण्डम्। मयैतत्क्रेतव्यमिति तथ्यं करोति। अशपथ इति किम्? सत्यं करोति ब्राह्मणः।

अर्थ—'कृञः' का अनुवर्त्तन है। 'सत्य' प्रातिपदिक से 'डाच्' प्रत्यय होता है, यदि इसका योग 'कृ' धातु के साथ हो और यह शब्द 'शपथ' अर्थ में वर्त्तमान हो। सत्य शब्द अनृत का विपरीतार्थक होता है तथा कहीं-कहीं शपथ अर्थ में वर्त्तमान होता है। सत्येन शापयेद् विप्रम्—इसका यह निषेध है।

उदा० (1) सत्याकरोति वणिग् भाण्डम्
'डाच्' हो गया।

अशपथ०—शपथ अर्थ में वर्त्तमान सत्य शब्द से 'डाच्' होता है—

(2) सत्यं करोति ब्राह्मणः
यहाँ नहीं हुआ।

(2347) मद्रात् परिवापणे *67* (2138)

कृञ इत्येव। मद्रशब्दात् परिवापणे डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे। परिवापणं मुण्डनम्। मद्रशब्दो मङ्गलार्थः। मङ्गलं मुण्डनं करोति मद्राकरोति। *भद्राच्चेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। भद्राकरोति नापितः कुमारम्। परिवापण इति किम्? भद्रं करोति।

अर्थ—'कृञः' का अनुवर्त्तन है। मद्र प्रातिपदिक से 'डाच्' होता है, यदि इसका योग 'कृ' धातु के साथ हो तथा मद्र शब्द मुण्डन अर्थ में वर्त्तमान हो। मद्र शब्द मंगलार्थ है।

उदा० (1) मुण्डाकरोति
'डाच्' होता है।

भद्राच्चे०—भद्रा शब्द से भी पूर्वोक्त प्रत्यय होता है—

(2) भद्राकरोति
पूर्ववत् 'डाच्' हुआ।

परिवापण—मुण्डन अर्थ में वर्त्तमान मद्र शब्द से 'डाच्' होता है—

(3) भद्रं करोति
यहाँ नहीं हुआ।

(2348) समासान्ताः *68* (676)

अधिकारोऽयम्। आपादपरिसमाप्तेर्ये प्रत्यया विहितास्ते समासस्यान्तावयवा एकदेशा भवन्ति, तद्ग्रहणेन गृह्यन्त इति वेदितव्यम्। प्रयोजनमव्ययीभावद्विगुद्वन्द्वतत्पुरुषबहुव्रीहि-संज्ञाः। उपराजम्। अधिराजम्। नाव्ययीभावादित्येष विधिर्भवति। अनश्चेति टच्। द्विपुरी, त्रिपुरीति। द्विगोरिति ङीब्भवति। कटकवलयिनी। शङ्खनूपुरिणी। कोशनिषदिनी। स्रक्त्वचिनी। द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात् (5.2.128) इतीनिर्भवति। विधुरः। प्रधुरः। तत्पुरुषे तुल्यार्थः (6.2.2) इत्येष स्वरो भवति। उच्चैर्धुरः। नीचैर्धुरः। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (6.2.1) इत्येतद्भवति।

अर्थ—पाद की समाप्तिपर्यन्त इसका अधिकार है। भाव यह है कि यहाँ से लेकर पाद की समाप्तिपर्यन्त जो प्रत्यय कहे जायेंगे, वे समासान्त जानने चाहिए और वे समास के एकदेश होंगे। इनका प्रयोजन अव्ययीभाव, द्विगु, द्वन्द्व, तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि सज्ञा करना है।

उदा० (1) उपराजम्
उप राजन्—समीप अर्थ में समास,
उप राज् टच्—अव्ययीभावे शरत्०, अनश्च।

(2) अधिराजम्
विभक्ति अर्थ में समास।

(3) द्विपुरी
यहाँ समासान्त होकर 'ङीप्' हुआ है।

(4) त्रिपुरी (पूर्ववत्)।
(5)कटकवलयिनी
कटकवलय इनि—द्वन्द्वोपताप०।

(6) शङ्खनूपुरिणी (पूर्ववत्)।
(7) विधुरः
विगतो धुरः—प्रादि समास,
वि धुर् अ—विभक्तिकार्य।

(8) प्रधुरः
प्रगतो धुरः—पूर्ववत्।
'तत्पुरुषे तुल्या' यह स्वर होता है।

(9) उच्चैर्धुरः
'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इससे होता है।

(2349) न पूजनात् *69* (954)

यान् शब्दानुपादाय समासान्ता विधीयन्ते, राजाहः-सखिभ्यष्टच् (5.4.91) इत्येवमादीन् यदा ते पूजनात् पूजनवचनात्परे भवन्ति तदा समासान्तो न भवति। सुराजा। अतिराजा। सुगौः। अतिगौः। *पूजायां स्वतिग्रहणं कर्तव्यम्* (म० भा०)। इह मा भूत्—परमराजः, परमगव इति। *प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं च कर्त्तव्यम्* (म० भा०)। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः (5.4.113) इत्येवमादौ प्रतिषेधो न भवति। सुसक्थः। अतिसक्थः। स्वक्षः। अत्यक्षः (म० भा०)।

अर्थ—'राजाऽहःसखिभ्यष्टच्' इत्यादि के द्वारा जिन शब्दों को लेकर समासान्त प्रत्ययों का विधान किया जाता है, जब वे शब्द पूजनवाची शब्द से परे हों तो समासान्त प्रत्यय नहीं होते हैं।

उदा० (1) सुराजा
शोभनो राजा—समास हुआ,
सुराजन्—प्राप्त 'टच्' का निषेध,
सुराजा—विभक्तिकार्य।

(2) अतिराजा (पूर्ववत्)।
(3) अतिगौः
अतिशयितो गौः—'गोरतद्धितलुकि' से प्राप्त 'टच्' का निषेध हुआ।

(4) सुगौः (पूर्ववत्)।

पूजायां०—सु तथा अति पूजनार्थक निपातों से पर समासान्त नहीं होता है—

(5) परमराजः
परमश्चाऽसौ राजा—यहाँ निषेध नहीं हुआ, समासान्त प्रत्यय होकर रूप बनता है।

(6) परमगवः (पूर्ववत्)।

प्राग् बहु०—प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित निषेध 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (5.4.113) से पहले-पहले प्रवृत्त होता है।

(7) सुसक्थः
सुशोभने सक्थिनी यस्य सः—यहाँ प्राप्त 'षच्' का निषेध नहीं होता है।

(8) अतिसक्थः (पूर्ववत्)।
(9) स्वक्षः
पूर्ववत् समासान्त हो गया है।

(10) अत्यक्षः
समासान्त हो गया है।

(2350) किमः क्षेपे *70* (955)

क्षेपे यः किंशब्दस्ततः परस्य समासान्तो न भवति। किंराजा यो न रक्षति। किंसखा योऽभिद्रुह्यति। किंगौर्यो न वहति। किं क्षेप (2.1.64) इति समासः। क्षेप इति किम्? कस्य राजा किंराजः। किंसखः। किंगवः।

अर्थ—निन्दा अर्थ में वर्त्तमान जो 'किम्' शब्द, उससे समासान्त नहीं होता है।

उदा० (1) किं राजा
किम् राजन्—प्राप्त 'टच्' का निषेध,
किंराजन् सु—अनुस्वार।

(2) किंसखा
किम् सखि—पूर्ववत् समासान्त का निषेध,
किंसखा—विभक्तिकार्य।

(3) किंगौः
पूर्ववत् समासान्त का निषेध।
'किं क्षेपे' से समास होता है।

निन्दा अर्थ में ही समासान्त का निषेध होता है—

(4) किंराजः
कस्य राजा—समासान्त 'टच्' हुआ है।

(5) किङ्गवः
समासान्त हुआ है।

(2351) नञस्तत्पुरुषात् *71* (956)

नञः परे वक्ष्यमाणा ये राजादयस्तदन्तात् तत्पुरुषात् समासान्तो न भवति। अराजा। असखा। अगौः। तत्पुरुषादिति किम्? अनृचो माणवकः। अधुरं शकटम्।

अर्थ—नञ् से परे जो राजन् आदि कहे जायेंगे, तदन्त तत्पुरुष से समासान्त नहीं होता है।

उदा० (1) अराजा
न राजा—समासान्त का निषेध।

(2) असखा
न सखा—समासान्त का निषेध।

(3) अगौः (पूर्ववत्)।

तत्पुरुषा०—तत्पुरुष से ही समासान्त का निषेध होता है—

(4) अनृचो माणवकः
अविद्यमाना ऋचो यस्य—'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा' से बहुव्रीहि समास, उत्तरपदलोप, नुट् आगम, ऋक्पूरब्धू०। निषेध नहीं हुआ।

(5) अधुरं शकटम् (पूर्ववत्)।

(2352) पथो विभाषा *72* (957)

नञस्तत्पुरुषादिति वर्त्तते। नञः परो यः पथिन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषात् समासान्तो विभाषा न भवति। पूर्वेण नित्यः प्रतिषेधः प्राप्तो विकल्प्यते। अपथम्। अपन्थाः।

अर्थ—'नञः' तथा 'तत्पुरुषात्' दोनों का अनुवर्तन है। नञ् से उत्तर जो पथिन् शब्द, तदन्त तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय विकल्प से होता है। पूर्व सूत्र के द्वारा निषेध नित्य प्राप्त था, अब विकल्प कहा गया है।

उदा० (1) अपथम्
न पन्थाः → नञ् पथिन् → अपथिन्—'ऋक्पूरब्ध०' से 'अ',
अपथ् अ सु—नस्तद्धिते, विभक्तिकार्य।

(2) अपन्थाः
पक्ष में समासान्त नहीं हुआ।

(2353) बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् *73* (851)

संख्येये यो बहुव्रीहिर्वर्त्तते तस्मादबहुगणान्ताड्डच् प्रत्ययो भवति। संख्ययाव्ययासन्नेति (2.2.25) यो बहुव्रीहिस्तस्येदं ग्रहणम्। उपदशाः। उपविंशाः। उपत्रिंशाः। आसन्नदशाः। अदूरदशाः। अधिकदशाः। द्वित्राः। पञ्चषाः। पञ्चदशाः। संख्येये इति किम्? चित्रगुः, शबलगुः। अबहुगणादिति किम्? उपबहवः। उपगणाः। अत्र स्वरे विशेषः। *डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यं निस्त्रिंशाद्यर्थम्* (म०भा०)।

निर्गतानि त्रिंशतः निस्त्रिंशानि वर्षाणि देवदत्तस्य। निश्चत्वारिंशानि यज्ञदत्तस्य। निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः।

अर्थ—संख्येय में वर्त्तमान बहुव्रीहि समास से 'डच्' समासान्त प्रत्यय होता है, यदि उसके अन्त में बहु तथा गण शब्द न हो। 'डच्' को चित् स्वरार्थ किया गया है।

उदा० (1) उपदशाः
'डच्' समासान्त होता है।
(2) उपविंशाः (पूर्ववत्)।
(3) उपत्रिंशाः (पूर्ववत्)।
(4) आसन्न दशाः (पूर्ववत्)।
(5) द्वित्राः
द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः (संख्याऽव्यया०)।
(6) पञ्चषाः
पञ्च वा षड् वा।
(7) पञ्चदशाः
पञ्च वा दश वा।

सङ्ख्येय०—संख्येय में वर्त्तमान बहुव्रीहि समास से 'डच्' होता है—

(8) चित्रगुः
चित्रा गावो यस्य सः—समास हुआ, समासान्त 'डच्' नहीं हुआ।
(9) शबलगुः (पूर्ववत्)।

अबहुग०—अन्त में नहीं है बहु व गण शब्द जिसके, ऐसे शब्द से 'डच्' होता है—

(10) उपबहवः
यहाँ 'डच्' नहीं हुआ।
(11) उपगणाः (पूर्ववत्)।
यहाँ स्वर का अन्तर है।

डाच् प्रकरणे०—यदि तत्पुरुष के उत्तरपद में संख्या हो तो तदन्त से 'डच्' होता है, निस्त्रिंश आदि शब्दों के लिए।

(12) निस्त्रिंशानि वर्षाणि
निर्गतानि त्रिंशतः—'डच्' हुआ, जस् हुआ।
(13) निश्चत्वारिंशानि
यहाँ 'डच्' हुआ।
(14) निस्त्रिंशः (पूर्ववत्)।

(2354) ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे *74* (940)

बहुव्रीहाविति न स्वर्य्यते। सामान्येन विधानम्। ऋक् पुर् अप् धुर् पथिन्–इत्येवमन्तानां समासानामकारः प्रत्ययो भवति समासान्तोऽक्षे न। सामर्थ्याद्धुर एतद्विशेषण-मृगादीनात्र भवति। अक्षसम्बन्धिनी या धूस्तदन्तस्य न भवति। अनृचः। बह्वृचः। अर्द्धर्च्चः। पुर्–ललाट-पुरम्। नान्दीपुरम्। अप्–द्वीपम्। अन्तरीपम्। समीपम्। धुर्–राजधुरा। महाधुरा। पथिन्–जलपथः (म० भा०)। अनक्ष इति किम्? अक्षस्य धूः अक्षधूः। दृढधूरक्षः। अनृचो माणवको ज्ञेयो बह्वृचश्चरणाख्यायाम्। अनृचो माणवकः। बह्वृचो ब्राह्मणः। अनृक्कं साम। बह्वृक्कं सूक्तमित्यत्र न भवति।

अर्थ—बहुव्रीहौ' इसका अधिकार नहीं है। यह सामान्य विधान है। ऋच्, पुर्, अप्, धुर् तथा पथिन् शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे समस्त पद से समासान्त 'अ' होता है, यदि ये शब्द धुर् व अक्षसम्बन्धी न हों। 'अक्ष' का सम्बन्ध केवल 'धुर्' के साथ है। अतः असामर्थ्य होने से ऋच् आदि का विशेषण नहीं है। अक्षसम्बन्धी जो 'धुर्', तदन्त से नहीं होता है।

उदा० (1) अनृचः
न ऋचोऽस्य—तस्मान्नुडचि, समासान्त 'अ',
अन् ऋच् अ सु—विभक्तिकार्य।
(2) बह्वृचः
बहव ऋचोऽस्य → बहु ऋच् अ सु।
(3) अर्द्धर्च्चः
ऋचोऽर्द्धम् → ऋच् अर्द्ध—अर्धं नपुंसकम्,
अर्द्ध ऋच् → अर्द्धर्च—पूर्वनिपात, आद्गुणः,

अर्द्धर्च्च् अ—अचो रहाभ्यां द्वे, समासान्त 'अ', परवल्लिङ्गता प्राप्त हुई, परन्तु 'अर्धर्चाः पुंसि च' से दोनों लिङ्ग होते हैं।

(4) अर्द्धर्च्चम्
पक्ष में नपुँसकलिङ्ग हुआ।
(5) ऋचोऽर्द्धम्
समास अभाव पक्ष में।
(6) ललाटपुरम्
ललाटस्य पूः—'षष्ठी' से समास,
ललाट पुर् अ सु—नपुँसकलिङ्ग।

(7) नान्दीपुरम् (पूर्ववत्)।

(8) द्वीपम्

द्विर्गता आपो यस्मिन्—अनेकमन्यपदार्थे,

द्वि अप्—समास,

द्वि अप् अ—ऋक्पूरब्धूः—, द्व्यन्तरुपसर्गे०,

द्वीप् सु—सु।

(9) अन्तरीपम्

अन्तर्गता आपो यस्मिन् (पूर्ववत्)।

(10) समीपम्

सङ्गता आपो यस्मिन् (पूर्ववत्)।

(11) राजधुरा

राज्ञो धूः → राजन् धुर्—पूर्ववत् समास,

राज धुर् अ—नलोपः प्रातिपदिका०, ऋक्पूरब्धू०, परवल्लिङ्गता के कारण 'टाप्' हुआ,

राजधुर टाप् सु—विभक्तिकार्य।

(12) महाधुरा

पूर्ववत्, आन्महतः समानाधि० से आकार।

(13) जलपथः

जलस्य पन्थाः → जल पथिन् अ—समासान्त हुआ,

अनक्ष०—यदि धुर् शब्द का सम्बन्ध अक्ष शब्द के साथ न हो तो समासान्त होता है—

(14) अक्षधूः

अक्षस्य धूः—समासान्त नहीं हुआ।

(15) दृढधूरक्षः

दृढा धूर्यस्य सः—अनेकमन्यपदार्थे से समास, स्त्रियाः पुँवद्भाषित० से पुँवद्भाव हुआ।

अनृच माणवक जानना चाहिए तथा बह्वृच चरण की आख्या है। द्र०—

अनृचो माणवकः। बह्वृचो ब्राह्मणः। अनृक् साम। बह्वृक् सूक्तम्।

(2355) अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः *75* (943)

प्रति, अनु, अव-इत्येवम्पूर्वात् सामान्ताल्लोमान्ताच्च समासादच् प्रत्ययो भवति। प्रतिसामम्। अनुसामम्। अवसामम्। प्रतिलोमम्। अनुलोमम्। अवलोमम्।

कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरच्प्रत्ययः स्मृतः।
गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि॥

कृष्णभूमः। पाण्डुभूमः। उदग्भूमः। पञ्चनदम्। सप्तगोदावरम्। नदीभिश्च (2.2.40) इत्यव्ययीभावः। भूमेरपि संख्यापूर्वाया अच् प्रत्यय इष्यते। द्विभूमः प्रासादः। त्रिभूमः। दशभूमकं सूक्तम्। अन्यत्रापि च दृश्यते। पद्मनाभः। ऊर्णनाभः। दीर्घरात्रः। समरात्रः। अरात्रः। तदेतत् सर्वमिह अच् इति योगविभागं कृत्वा साधयन्ति।

अर्थ—प्रति, अनु तथा अव हैं पूर्व में जिसके, ऐसे सामन् तथा लोमन् प्रातिपदिकों से समासान्त 'अच्' होता है।

उदा० (1) प्रतिसामम्

प्रतिगतं साम → प्रति सामन्—

प्रति साम् अच् सु—विभक्तिकार्य।

(2) अनुसामम्

अनुगतं साम—पूर्ववत्।

(3) अवसामम्

अवगतं साम—पूर्ववत्।

(4) प्रतिलोमम्

प्रतिगतं लोम।

(5) अनुलोमम् (पूर्ववत्)।

(6) अवलोमम् (पूर्ववत्)।

कृष्णोदक०—कृष्ण, उदक् तथा पाण्डु शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे 'भूमि' शब्द से 'अच्' समासान्त प्रत्यय होता है—

(7) कृष्णभूमः

'अच्' हुआ।

(8) उदग्भूमः (पूर्ववत्)।

(9) पाण्डुभूमः

पूर्ववत् 'अच्'।

गोदावर्या०—संख्या शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे गोदावरी तथा नदी शब्दों से समासान्त 'अच्' होता है।

(10) सप्तगोदावरम्

'अच्' हुआ। 'नदीभिश्च' से अव्ययीभाव हुआ।

(11) पञ्चनदम्

पूर्ववत् 'अच्' हुआ।

भूमेरपि०—संख्या शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे भूमि शब्द से 'अच्' होता है—

(12) द्विभूमः (प्रासादः)
'अच्' हुआ।

(13) त्रिभूमः (पूर्ववत्)।

(14) दशभूमकं सूक्तम् (पूर्ववत्)।

(15) पद्मनाभः
कारिकोक्त से अतिरिक्त स्थलों पर भी 'अच्' होता है।

(16) ऊर्णनाभः (पूर्ववत्)।

(17) दीर्घपात्रः (पूर्ववत्)।

(18) समरात्रः (पूर्ववत्)।

(19) अरात्रः (पूर्ववत्)।

प्रकृत सूत्र का योगविभाग करके ये सभी रूप सिद्ध होते हैं।

(2356) अक्ष्णोऽदर्शनात् *76* (944)

अजित्यनुवर्त्तते। दर्शनादन्यत्र योऽक्षिशब्दस्तदन्तादच् प्रत्ययो भवति। लवणाक्षम्। पुष्कराक्षम्। उपमितं व्याघ्रादिभिः (2.1.56) इति समासः। अदर्शनादिति किम्? ब्राह्मणाक्षि। कथं कबराक्षं गवाक्षमिति, अश्वादीनां मुखप्रच्छादनार्थं बहुच्छिद्रं कबराक्षं तेनापि हि दृश्यते गवाक्षेण च? नैष दोषः। चक्षुःपर्यायवचनो दर्शनशब्दः, प्राण्यङ्गवचन इहाश्रीयते।

अर्थ—'अच्' का अनुवर्त्तन है। अक्षि शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से 'अच्' होता है, यदि 'अक्षि' शब्द नेत्रवाची न हो।

उदा० (1) लवणाक्षम्
लवणस्याऽक्षीव—'अच्' हुआ।
यहाँ 'अक्षि' शब्द नेत्रवाची नहीं है, अपितु 'नेत्र के सदृश' इस अर्थ में लाक्षणिक है।

(2) पुष्कराक्षम् (पूर्ववत्)।
'उपमितं व्याघ्रादिभिः' से समास हुआ है।

अदर्शनात्०—यदि 'अक्षि' शब्द नेत्रवाची न हो तो 'अच्' होता है—

(3) ब्राह्मणाक्षि
ब्राह्मणस्याऽक्षि—समासान्त 'अच्' नहीं हुआ।

(4) कबराक्षम्
घोड़े आदि के मुख को ढ़कने के लिए अनेक छिद्रों वाला साधन 'कबराक्ष' होता है।

(5) गवाक्षः
गवामक्षीव—'षष्ठी',
ग् अवङ् अक्षि—अवङ् स्फोटायनस्य,
गव अक्षि अ—अकः सवर्णे दीर्घः, यचि भम्; यस्येति च,
गवाक्ष् अ सु—परवल्लिंगता का बाध।

दर्शन शब्द चक्षुःपर्याय है। यहाँ प्राणी के अंगवाची का आश्रय किया जाता है।

(2357) अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाऽक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिश्श्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः *77* (945)

अच्प्रत्ययान्ता एते शब्दा निपात्यन्ते। समासे व्यवस्थापि निपातनादेव प्रतिपत्तव्या। आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः। अदृश्यान्यविद्यमानानि वा चत्वारि यस्य सोऽचतुरः। विगतानि चत्वारि यस्य स विचतुरः। शोभनानि चत्वारि यस्य स सुचतुरः। ततः परे एकादश द्वन्द्वाः। स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ। इह न भवति–स्त्रियाः पुमान् स्त्रीपुमानिति। धेनुश्च अनड्वाँश्च धेन्वनडुहौ। ऋक्च साम च ऋक्सामे। वाक्च मनश्च वाङ्मनसे। अक्षि च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम्। दाराश्च गावश्च दारगवम्। ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम्। टिलोपो निपात्यते। पादौ च अष्ठीवन्तौ च पदष्ठीवम्। पादस्य पद्भावो निपात्यते। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम्। सप्तम्यर्थवृत्तयोरव्यययोः समासोऽपि निपातनादेव। रात्रौ च दिवा च रात्रिंदिवम्। पूर्वपदस्य मान्तत्वं निपात्यते। अहनि च दिवा च अहर्दिवम्। ननु च पर्यायावेतौ, कथमनयोर्द्वन्द्वः? वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते। अहन्यहनीत्यर्थः। एकोऽव्ययीभावः। साकल्ये-सरजसमभ्यवहरति। बहुव्रीहौ न भवति–सह रजसा सरजः पङ्कजमिति। ततस्तत्पुरुषः–निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्। निःश्रेयस्कः पुरुष इत्यत्र न भवति। ततः षष्ठीसमासः–पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम्। द्वन्द्वे न भवति–पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुषी। ततो द्विगुः–द्वे आयुषी समाहृते द्व्यायुषम्। त्र्यायुषम्। इह न भवति–द्वयोरायुः द्व्यायुस्त्र्यायुरिति। ततो द्वन्द्वः–ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम्। इह न भवति–ऋग्य-

जुरस्योन्मुग्धस्य ऋग्यजुरुन्मुग्धः । जातिदिक्पूर्वपदा उक्षन्-शब्दान्तास्त्रयः कर्मधारयाः-जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । बहुव्रीहौ न भवति-जातोक्षा ब्राह्मणः, महोक्षा, वृद्धोक्षेति । ततोऽव्ययीभावः-शुनः समीपमुपशुनम् । टिलोपाभावः सम्प्रसारणं च निपातनादेव । ततः सप्तमी-समासः-गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः । *चतुरोऽच्प्रकरणे त्र्युपाभ्या-मुपसंख्यानम्* (म० भा०) । त्रिचतुराः । उपचतुराः ।

अर्थ—सूत्रोक्त अच् प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जाता है। समास में व्यवस्था भी निपातन से ही जाननी चाहिए। आदि के तीन बहुव्रीहिसंज्ञक हैं—

(1) अचतुरः
अविद्यमानानि चत्वारि यस्य सः—अचतुरः ।

(2) विचतुरः
विगतानि चत्वारि यस्य सः—विचतुरः ।

(3) सुचतुरः
शोभनानि चत्वरि यस्य सः—सुचतुरः ।

(4) स्त्रीपुंसौ
स्त्री च पुमांश्च तौ—
स्त्रीपुंस औ ।

(5) धेन्वनडुहौ
धेनुश्चाऽनड्वाश्ंच तौ—पूर्ववत् द्वन्द्व,
धेन्वनडुह् औ ।

(6) ऋक्सामे
ऋक् च साम च ते—द्वन्द्व,
ऋक्साम औ ।

(7) वाङ्मनसे
वाक् च मनश्च ते—द्वन्द्व,
वाङ्मनस औ ।

(8) अक्षिभ्रुवम्
अक्षि च भ्रुवौ च—द्वन्द्व,
अक्षिभ्रुवम्—सु ।

(9) दारगवम्
दाराश्च गावश्च—द्वन्द्व,
दारगव सु ।

(10) ऊर्वष्ठीवम्
ऊरू चाष्ठीवन्तौ च—द्वन्द्व, निपात से टिलोप,
ऊर्वष्ठीवम्—यणादेश, सु ।

(11) पदष्ठीवम्
पादौ चाऽष्ठीवन्तौ च—पाद के स्थान पर 'पद्' आदेश,
पदष्ठीव सु—पूर्ववत् ।

(12) नक्तन्दिवम्
नक्तं च दिवा च—निपातन से समास,
नक्तन्दिव सु—पूर्ववत् ।

(13) रात्रिन्दिवम्
रात्रौ च दिवा च—द्वन्द्व, पूर्व शब्द की मान्तता का निपातन,
रात्रिन्दिव सु—पूर्ववत् ।

(14) अहर्दिवम्
अहनि च दिवा च—द्वन्द्व,
अहर्दिव सु—ये दोनों पर्याय हैं, तब द्वन्द्व कैसे हुआ ? वीप्सा अर्थ में द्वन्द्व का निपातन है ।

(15) सरजसम्
रजसां साकल्यम्—अव्ययीभाव,
सरजस सु—बहुव्रीहि में 'सरजः' बनता है ।

(16) निःश्रेयसम्
निश्चितं श्रेयः—पूर्ववत्,
निःश्रेयस सु ।

(17) पुरुषायुषम्
पुरुषस्याऽऽयुः—तत्पुरुष । द्वन्द्व में 'पुरुषायुषी' बनता है ।

(18) द्व्यायुषम्
द्वे आयुषी समाहृते—द्विगु,
द्व्यायुष सु—यणादेश ।

(19) त्र्यायुषम्
त्रीणि आयूंषि समाहृताः—द्विगु,
त्र्यायुष सु—इको यणचि ।

(20) ऋग्यजुषम्
ऋक् च यजुश्च—द्वन्द्व,
ऋग्यजुष सु—पूर्ववत् ।

(21) जातोक्षः
जातश्चाऽसावुक्षा च—कर्मधारय,
जातोक्ष सु—पूर्ववत् ।

(22) महोक्षः

महांश्चाऽसावुक्षा च—पूर्ववत्,
महा उक्षन् सु—आन्महतः० ।

(23) वृद्धोक्षः (पूर्ववत्) ।
(24) उपशुनम्
शुनः समीपम्—अव्ययीभाव, निपातन से टिलोप नहीं हुआ, उपशुन सु—निपातन से सम्प्रसारण ।

(25) गोष्ठश्वः
गोष्ठे श्वा—सप्तमी समास,
गोष्ठश्व सु—पूर्ववत् ।

चतुरोऽच्० —त्रि तथा उप शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे 'चतुर्' शब्द से 'अच्' होता है—

(26) त्रिचतुराः
त्रयो वा चतुरो वा—अच्,
त्रिचतुर् अ जस्—प्रथमा बहुवचन ।

(27) उपचतुराः (पूर्ववत्) ।

(2358) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः *78* (946)

ब्रह्महस्तिभ्यां परो यो वर्चःशब्दस्तदन्तात् समासादच् प्रत्ययो भवति । ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् । *पल्य-राजभ्याञ्चेति वक्तव्यम्* (म० भा०) । पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् (म० भा०) ।

अर्थ—ब्रह्मन् और हस्तिन् शब्द से उत्तर जो वर्चस् शब्द, तदन्त समास से 'अच्' होता है ।

उदा० (1) ब्रह्मवर्च्चसम्
ब्राह्मणो वर्चः → ब्रह्मन् वर्चस् अच्—अचो रहाभ्यां द्वे,
ब्रह्मवर्च्चस सु ।
(2) हस्तिवर्च्चसम् (पूर्ववत्) ।

पल्यराज०—पल्य और राजन् शब्दों से पर वर्चस् शब्द से 'अच्' होता है—
(3) पल्यवर्च्चसम् (पूर्ववत्) ।
(4) राजवर्च्चसम् (पूर्ववत्) ।

(2359) अवसमन्धेभ्यस्तमसः *79* (947)

अव, सम्, अन्ध-इत्येतेभ्यो यः परस्तमःशब्दस्तदन्तात् समासादच् प्रत्ययो भवति । अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् ।

अर्थ—अव, सम् तथा अन्ध शब्दों से पर जो तमस् शब्द, तदन्त समास से 'अच्' प्रत्यय होता है ।

उदा० (1) अवतमसम्
अवहीनं तमः → अवतमस् अच् ।
(2) सन्तमसम्
सङ्गन्तं तमः ।
(3) अन्धतमसम्
अन्धं तमः ।

(2360) श्वसो वसीयःश्रेयसः *80* (948)

श्वसः परौ यौ वसीयस्-श्रेयःशब्दौ तदन्तात् समासादच् प्रत्ययो भवति । श्वोवसीयसम् । श्वःश्रेयसम् । मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । स्वभावाच्चेह श्वःशब्द उत्तरपदार्थस्य प्रशंसामाशीर्विषयमाचष्टे । श्वःश्रेयसं ते भूयात् । शोभनं श्रेयस्ते भूयादित्यर्थः । श्वोवसीयसमित्यस्यैव पर्यायः ।

अर्थ—श्वस् शब्द से उत्तर जो वसीयस् तथा श्रेयस् शब्द, तदन्त समस्त पद से 'अच्' होता है ।

उदा० (1) श्वोवसीयसम्
श्वस् वसीयस्—समास हुआ,
श्वोवसीयस सु—पूर्ववत् ।
(2) श्वःश्रेयसम् (पूर्ववत्) ।

'मयूरव्यंसकादयश्च' से समास हुआ है । यहाँ स्वभावतः श्व शब्द से उत्तरपद की प्रशंसा को कहता है । यथा—
श्वः श्रेयसं ते भूयात् ।
शोभनं श्रेयस्ते भूयात् ।
ये 'श्वोवसीयस' के पर्याय हैं ।

(2361) अन्ववतप्ताद्रहसः *81* (949)

अनु, अव, तप्त-इत्येतेभ्यः परो यो रहश्शब्दस्तदन्तात् समासादच् प्रत्ययो भवति । अनुरहसम् । अवरहसम् । तप्तरहसम् ।

अर्थ—अनु, अव तथा तप्त शब्दों से उत्तर जो रहस् शब्द, तदन्त समस्त पद से समासान्त 'अच्' होता है ।

उदा० (1) अनुरहसम्
अनुगतं रहः → अनु रहस्—
अनुरहस् अच्—सु ।

(2) अवरहसम्
अवगतं रहः—पूर्ववत्,
अव रहस् अच्—सु।

(3) तप्तरहसम्
तप्तञ्च तद् रहश्च—पूर्ववत्।

(2362) प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् *82* (950)

प्रतेः परो य उरःशब्दस्तदन्तात् समासादच् प्रत्ययो भवति स चेदुरःशब्दः सप्तमीस्थो भवति। सप्तम्यर्थे वर्त्तत इत्यर्थः। उरसि वर्त्तते। विभक्त्यर्थे अव्ययमिति (2.1.6) समासः, प्रत्युरसम्। सप्तमीस्थादिति किम्? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः।

अर्थ—प्रति शब्द से पर सप्तमी अर्थ में वर्त्तमान जो उरस् शब्द, तदन्त समस्त पद से 'अच्' होता है।

उदा० (1) प्रत्युरसम्
उरसि वर्त्तते—विभक्ति के अर्थ में समास,
प्रति उरस् अच् सु।
सप्तमीस्था०—सप्तमीस्थ से ही 'अच्' होता है—

(2) प्रत्युरः
प्रतिगतमुरः—'अच्' नहीं हुआ।

(2363) अनुगवमायामे *83* (951)

अनुगवमित्यच्प्रत्ययान्तं निपात्यते आयामेऽभिधेये। अनुगवं यानम्। यस्य चायाम (2.1.16) इति समासः। आयाम इति किम्? गवां पश्चादनुगु।

अर्थ—आयाम अर्थ में अच् प्रत्ययान्त 'अनुगव' शब्द निपातित है।

उदा० (1) अनुगवम्
अनु गु—'यस्य चायामः' से समास,
अनु गु अच्—सु।
आयाम इति०—आयाम अर्थ में अच् होता है।

(2) अनुगु
पश्चाद् गवाम्—अच् नहीं हुआ।

(2364) द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः *84* (952)

द्विस्तावा त्रिस्तावेति निपात्यते वेदिश्चेदभिधेया भवति। अच्प्रत्ययष्टिलोपः समासश्च निपात्यते। यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा वा त्रिगुणा वा कस्याञ्चिद्विकृतौ तत्रेदं निपातनम्। द्विस्तावा वेदिः। त्रिस्तावा वेदिः। वेदिरिति किम्? द्विस्तावती, त्रिस्तावती रज्जुः।

अर्थ—द्विस्तावा तथा त्रिस्तावा शब्द निपातित किए जाते हैं, 'वेदि' अर्थ वाच्य हो तो।

उदा० (1) द्विस्तावा वेदिः
द्विस् तावत् अच्—टि का लोप, भस्याढे तद्धिते,
द्विस्ताव् अ टाप्—विभक्ति कार्य।
(2) त्रिस्तावा (पूर्ववत्)।
निपातन से अच् प्रत्यय, टिलोप तथा समास—ये कार्य होते हैं।

वेदिरिति०—'वेदि' अर्थ गम्यमान हो तो निपातन होता है—
(3) द्विस्तावती
यहाँ नहीं हुआ।

(2365) उपसर्गादध्वनः *85* (953)

उपसर्गात्परो योऽध्वन्शब्दस्तदन्तात् समासाद् अच् प्रत्ययो भवति। प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः। प्राध्वं शकटम्। निरध्वम्। प्रत्यध्वम्। उपसर्गादिति किम्? परमाध्वा, उत्तमाध्वा।

अर्थ—उपसर्ग से पर जो 'अध्वन्' शब्द, तदन्त समास से 'अच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) प्राध्वः
प्रगतोऽध्वानम् → प्र अध्वन्—
अच्, विभक्तिकार्य

(2) प्राध्वं शकटम् (पूर्ववत्)।
(3) निरध्वम् (पूर्ववत्)।
(4) प्रत्यध्वम् (पूर्ववत्)।

उपसर्गाद०—उपसर्ग से पर अध्वन् शब्द को 'अच्' होता है—

(5) परमाध्वा
परम अध्वन् सु—'अच्' नहीं हुआ।
(6) उत्तमाध्वा (पूर्ववत्)।

(2366) तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः *86* (786)

अङ्गुलिशब्दान्तस्य तत्पुरुषस्य संख्यादेरव्ययादेश्चाच् प्रत्ययो भवति। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। तद्धितार्थ (2.1.51) इति समासः। प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्

(6.2.12) इति मात्रचो लोपः। अव्ययादेः–निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्। अत्यङ्गुलम्। तत्पुरुषस्येति किम्? पञ्चाङ्गुलिः, अत्यङ्गुलिः पुरुषः। तत्पुरुषाधिकारश्च द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् (5.4.106) इति यावत्।

अर्थ—संख्यावाची शब्द या अव्यय शब्द जिसके आदि में है, अङ्गुलि शब्द जिसके अन्त में है, ऐसे तत्पुरुषसंज्ञक शब्द से 'अच्' होता है।

उदा० (1) द्व्यङ्गुलम्
द्वे अङ्गुली प्रमाणम् अस्य—अच् हुआ।

(2) त्र्यङ्गुलम् (पूर्ववत्)।

तद्धितार्थ में समास हुआ है। 'प्रमाणे लो द्विगोर्नि०' से 'मात्रच्' का लोप हो गया है।

(3) निरङ्गुलम्
निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः—अच् हुआ।

(4) अत्यङ्गुलम्
अतिक्रान्तम् अङ्गुलिम्—समास, पूर्वनिपात, प्रातिपदिक संज्ञा, सुप् लुक्, अच्, भसंज्ञा, यस्येति च।

तत्पुरुषे०—तत्पुरुष समास को 'अच्' होता है—

(5) पञ्चाङ्गुलिः
पञ्चाङ्गुलयो यस्य सः—बहुव्रीहि समास है, अच् नहीं हुआ।

(6) अत्यङ्गुलिः पुरुषः (पूर्ववत्)।

द्वन्द्वाच्चुदषहा० पर्यन्त तत्पुरुष का अधिकार है।

(2367) अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः *87* (787)

अहरादिभ्यः परो यो रात्रिशब्दस्तदन्तस्य तत्पुरुषस्याच् प्रत्ययो भवति चकारात् संख्यादेरव्ययादेश्च। *अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्* (म०भा०)। अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः। सर्वरात्रः। एकदेशे–पूर्वं रात्रेः पूर्वरात्रः, अपररात्रः। पूर्वपरावरेति (1.1.34) समासः। संख्याता रात्रिः संख्यातरात्रः। विशेषणं विशेष्येण (2.1.57) इति समासः। एवं पुण्या रात्रिः पुण्यरात्रः। संख्याव्ययादेः खल्वपि–द्वे रात्री समाहृते द्विरात्रः, त्रिरात्रः। अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः, नीरात्रः।

अर्थ—अहन्, सर्व, एकदेशवाची, संख्यात और पुण्य शब्दों से उत्तर जो रात्रि शब्द तथा संख्यावाची व अव्यय शब्द से उत्तर जो रात्रि शब्द, तदन्त तत्पुरुष समास से 'अच्' होता है।

अहन् शब्द का ग्रहण द्वन्द्व के लिए है; तत्पुरुष के लिए नहीं।

उदा० (1) अहोरात्रः
अहश्च रात्रिश्चाऽनयोः समाहारः—'चार्थे द्वन्द्वः' से समास,
अहन् रात्रि—अल्पाच्तरम्,
अहन् रात्र् अ—अच्, यचि भम्, यस्येति च,
अह रु रात्र—रूपरात्रिरथन्तरेषु० (वा०),
अहोरात्र सु—हशि च।

(2) पूर्वरात्रः
पूर्वं रात्रेः—पूर्वाऽपराधरो०,
पूर्व रात्रि अच्—पुंस्त्व,
पूर्वरात्रः—सु।

(3) अपररात्रः
अपरो रात्रेः—पूर्ववत्,
अपररात्रि अच्—विभक्तिकार्य।

(4) सङ्ख्यातरात्रः
सङ्ख्याता चाऽसौ रात्रिः—विशेषणं विशेष्येण०, अथवा पूर्वकालैकसर्वजरत्०,
सङ्ख्यातरात्रि अच्—कर्मधारयजातीय० से पुंवद्भाव,
सङ्ख्यातरात्र् अ—सु।

(5) पुण्यरात्रः (पूर्ववत्)।

(6) द्विरात्रः
द्वे रात्री समाहृते—अथवा द्वयो रात्र्योः समाहारः—
द्वि रात्रि—तद्धितार्थोत्तर० से समास, द्विगुसंज्ञा, शेष कार्य पूर्ववत्,
द्विरात्र सु—विभक्तिकार्य।

(7) त्रिरात्रः (पूर्ववत्)।

(8) द्विरात्रम्
संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् (वा०)[1] से नपुँसक लिंग।

(9) अतिरात्रः
अतिक्रान्तो रात्रिम्—पूर्ववत्।

(10) नीरात्रः
निर् रात्रि अच्—रो रि, ढ्रलोपे पूर्वस्य० विशेष है, शेष कार्य पूर्ववत्।

1. महा०5.4.87.

(2368) अह्नोऽह्न एतेभ्यः *88* (790)

राजाहःसखिभ्यष्टच् (5.4.91) इति वक्ष्यति। तस्मिन् परभूते अहन्नित्येतस्याह्न इत्ययमादेशो भवति एतेभ्य उत्तरस्य। संख्याव्ययादयः प्रक्रान्ताः सर्वनाम्ना प्रत्यवमृश्यन्ते। सामर्थ्याच्चाहःशब्दः पूर्वत्वेन नाश्रीयते। परिशिष्टानां ग्रहणम्। न ह्यहःशब्दात् परोऽहःशब्दः सम्भवति। संख्यायास्तावत्–द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः। त्र्यह्नः। अव्ययात्–अहरतिक्रान्तः अत्यह्नः। निरह्नः। सर्वाह्नः। पूर्वाह्नः। अपराह्नः। संख्याताह्नः। पुण्यशब्दात् प्रतिषेधं वक्ष्यति (5.4.90)।

अर्थ—'राजाऽहःसखिभ्यष्टच्' का आगे पाठ किया जायेगा। संख्यावाची, अव्यय शब्द, सर्व, एकदेशवाची, संख्यात तथा पुण्य शब्दों से पर तथा तत्पुरुष में वर्त्तमान 'अहन्' शब्द के स्थान पर 'अह्न' आदेश होता है।

यद्यपि अनुवृत्तिवशात् अहन् से पर अहन् शब्द के स्थान पर ही अह्न आदेश होना चाहिए; परन्तु सामर्थ्यवशात् अहन् शब्द से उत्तर अहन् शब्द सम्भव नहीं है। शेष का ग्रहण है।

उदा० (1) द्व्यह्नः
द्वयोरह्नोर्भवः—तद्धितार्थोत्तरपदसमा०, तत्र भवः से अण्, द्विगोर्लुगनपत्ये०,
द्वि अहन् → द्वि अह्न—
द्व्यह्न सु—विभक्तिकार्य।

(2) त्र्यह्नः
त्रिषु अहःसु भवः—पूर्ववत्,
त्रि अहन्—अण्, लुक्,
त्र्यह्न सु—विभक्तिकार्य।

(3) अत्यह्नः
अहरतिक्रान्तः → अति अहन्—पूर्ववत्,
अति अह्न सु—विभक्तिकार्य।

(4) निरह्नः
निर् अहन्—पूर्ववत्,
निर् अह्न—सु।

(5) सर्वाह्नः
सर्वञ्च तदहः—पूर्ववत्,
सर्व अह्न अ—सु।

(6) पूर्वाह्नः
पूर्व अहन्—पूर्ववत समास,
पूर्व अह्न अ—णत्व, सु।

(7) अपराह्नः
अपर अहन्—पूर्ववत्,
अपर अह्न अ—णत्व, सु।

(8) सङ्ख्याताह्नः
सङ्ख्यात अहन्—पूर्ववत्।
सङ्ख्यात अह्न—सु।

पुण्य शब्द से निषेध हो जाता है। द्र०—उत्तमैकाभ्यां च।

(2369) न संख्यादेः समाहारे *89* (793)

संख्यादेस्तत्पुरुषस्य समाहारे वर्त्तमानस्याहःशब्दस्याह्नादेशो न भवति। पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिद्ध्यते। द्वे अहनी समाहृते द्व्यहः। त्र्यहः। समाहार इति किम्? द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः। त्र्यह्नः। तद्धितार्थ (2.1.51) इति समासे कृतेऽण (4. 2.54) आगतस्य द्विगोरिति (4.1.88) लुक्।

अर्थ—समाहार अर्थ में विद्यमान, संख्यावाची शब्द है आदि में जिसके, ऐसे तत्पुरुषसंज्ञक अहन् शब्द के स्थान पर अह्न आदेश नहीं होता। पूर्व सूत्र से प्राप्त का निषेध किया जा रहा है।

उदा० (1) द्व्यहः
द्वे अहनी समाहृते—समाहार अर्थ,
द्वि अहन् सु—विभक्तिकार्य।

(2) त्र्यहः (पूर्ववत्)।

समाहार०—समाहार अर्थ में वर्त्तमान शब्द से नहीं होता है—

(3) द्व्यह्नः
द्वयोर् अह्नोर्भवः—यहाँ हो गया।
(4) त्र्यह्नः
पूर्ववत् 'अह्न' आदेश हुआ है।
तद्धितार्थ में समास करने पर 'अण्' हुआ। द्विगु से पर 'अण्' का लुक् हो गया।

(2370) उत्तमैकाभ्यां च *90* (794)

उत्तमैकशब्दाभ्यां च परस्याहःशब्दास्याह्न इत्ययमादेशो न भवति। उत्तमशब्दोऽन्त्यवचनः पुण्यशब्दमाचष्टे, पुण्य-

ग्रहणमेव न कृतं वैचित्र्यार्थम्। पुण्याहः। एकाहः। केचित्तु उपोत्तमस्यापि प्रतिपत्त्यर्थं वर्णयन्ति। तेन संख्यातशब्दादपि परस्य न भवति-संख्याताह इति।

अर्थ—उत्तम और एक शब्दों से उत्तर तत्पुरुष समास में वर्तमान 'अहन्' शब्द के स्थान पर 'अह्न' आदेश नहीं होता है। यहाँ उत्तम शब्द अन्त्यवाची है। विचित्रता के लिए पुण्य शब्द का ग्रहण नहीं किया गया है।

उदा० (1) पुण्याहः
पुण्यम् अहः—प्राप्त अह्न आदेश का निषेध,
पुण्याहः—विभक्तिकार्य।

कुछ विद्वान् उपोत्तम की प्रतिपति के लिए भी इसका वर्णन करते हैं; तब संख्यात शब्द से उत्तर अहन् को पूर्वोक्त निषेध हो जाता है।

(2) सङ्ख्याहः (पूर्ववत्)।

(2371) राजाहस्सखिभ्यष्टच् *91* (788)

राजन्, अहन्, सखि-इत्येवमन्तात् प्रातिपदिकात् टच् प्रत्ययो भवति। महाराजः। मद्रराजः। परमाहः। उत्तमाहः। राज्ञः सखा राजसखः। ब्राह्मणसखः। इह कस्मान्न भवति-मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी, लिङ्गविशिष्ट-परिभाषया प्राप्नोति? लघ्वक्षरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजन्शब्दस्य सवर्णदीर्घार्थं प्रथमं प्रयोगं कुर्वन्नेतज्ज्ञापयति-यस्याकारेण सवर्णदीर्घत्वं सम्भवति तस्येदं ग्रहणमिति।

अर्थ—राजन्, अहन् तथा सखि शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' समासान्त प्रत्यय होता है।

उदा० (1) महाराजः
महांश्चाऽसौ राजा—विशेषणं विशेष्येण० अथवा सन्महत्पर० से समास,
महत् राजन् टच्—सुप् लुक्, टच्, यचि भम्, नस्तद्धिते,
महाराज सु—आन्महतः०, परवल्लिंगता।

(2) मद्रराजः
पूर्ववत् 'टच्'।

(3) परमाऽहः
परमश्च तदहः—समास, टच्,
परम अह अ—अह्नष्टखोरेव, नस्तद्धिते,
परमाऽह सु—परवल्लिंगता को बाध कर 'रात्राह्नाहाः' से पुंस्त्व।

(4) राजसखः
राज्ञः सखा → राजन् सखि टच्—
राजसख् अ सु—नकार का लोप।

(5) ब्राह्मणसखः (पूर्ववत्)।

(6) मद्रराज्ञी
मद्राणां राज्ञी—समास,
लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के द्वारा 'टच्' नहीं हुआ।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में विरहित रूप भी प्राप्त होते हैं—

नागराज्ञा (भा०1.16.13)। काशिराज्ञे (भासनाटकचक्र, पृ०187)। सर्वराज्ञ (वही-पृ०445)। महाराजानम् (यज्ञफल नाटक, पृ०28)। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार ये प्रयोग अवश्य ही किसी व्याकरण के अनुसार साधु रहे होंगे।[1]

लघ्वक्षर के पूर्वनिपात प्राप्त होने पर सवर्ण दीर्घ के लिए 'राजन्' शब्द का प्रथम प्रयोग किया गया है। इससे ज्ञापित होता है कि जिसके अकार से सवर्णदीर्घ सम्भव होता है, उसका यहाँ ग्रहण है।

(2372) गोरतद्धितलुकि *92* (729)

गोशब्दान्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति स चेत्तत्पुरुष-स्तद्धितलुग्विषयो न भवति। परमगवः। उत्तमगवः। पञ्चगवम्। दशगवम्। अतद्धितलुकीति किम्? पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः, दशगुः। तेन क्रीतम् (5.1.37) इत्यागतस्यार्हीयस्य ठकोऽध्यर्द्धपूर्वद्विगोः (5.1.28) इति लुक्। तद्धितग्रहणं किम्? सुब्लुकि प्रतिषेधो मा भूत्-राजगवमिच्छति राजगवीयति। लुग्ग्रहणं किम्? तद्धित एव मा भूत्-पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम्। पञ्चगव-मयम्। दशगवरूप्यम्। दशगवमयम्।

अर्थ—गो शब्दान्त तत्पुरुष समास से पर 'टच्' होता है, यदि तद्धित प्रत्यय का लुक् न हुआ हो।

उदा० (1) परमगवः
परम गो टच्—प्रत्यय हुआ,
परम गव सु—विभक्तिकार्य।

(2) उत्तमगवः (पूर्ववत्)।

(3) पञ्चगवम्
पञ्चन् गो—नकार का लोप, यह अवान्तर तत्पुरुष है,
पञ्चगो टच्—अवादेश,
पञ्चगव सु—विभक्तिकार्य।

1. सं०व्या०—(प्रथम भाग)—पृ०38

(4) दशगवम् (पूर्ववत्)।

अतद्धित०—तद्धित प्रत्यय का लुक् न होने पर 'टच्' होता है—

(5) पञ्चगुः
पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः—'तेन क्रीतम्' से 'ठक्' हुआ, 'अध्यर्धपूर्व०' से लुक् हुआ, 'टच्' नहीं हुआ,
पञ्चगु सु—नकारलोप, विभक्तिकार्य।

(6) दशगुः
दशभिर्गोभिः क्रीतः—पूर्ववत्।
दशन् गु—पूर्ववत्,
दश गु सु—विभक्तिकार्य।

तद्धित०—तद्धित प्रत्यय का ही लुक् न होने पर 'टच्' होता है—

(7) राजगवीयति
राजगवम् इच्छति—सुप् का लुक् हुआ है, तद्धित का नहीं,
राजगवी य—'टच्' हुआ,
राजगवीयति—'तिप्' हुआ।

लुग्ग्रहणं०—लुक् का ग्रहण किया गया है, ताकि तद्धित में ही कार्य न हो।

(8) पञ्चगवरूप्यम्
पञ्चभ्यो गोभ्य आगतः—यहाँ तद्धित है, परन्तु लुक् नहीं है; अतः 'टच्' का निषेध नहीं हुआ।
पञ्च गो टच् रूप्य—नकारलोप, अवादेश, विभक्तिकार्य।

(9) पञ्चगवमयम्
पञ्चभ्यो गोभ्य आगतः—पूर्ववत्,
पञ्चन् गो टच्—पूर्ववत्।

(10) दशगवरूप्यम् (पूर्ववत्)।
(11) दशगवमयम्—पूर्ववत्।

(2373) अग्राख्यायामुरसः *93* (795)

उरःशब्दान्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति स चेदुरः-शब्दोऽग्राख्यायां भवति। अग्रं प्रधानमुच्यते। यथा शरीरावयवानामुच्यते उरः प्रधानम् एवमन्योऽपि प्रधानभूत उरः-शब्देनोच्यते। अश्वानामुरः अश्वोरसम्। हस्त्युरसम्। अग्राख्यायामिति किम्? देवदत्तस्योरः देवदत्तोरः।

अर्थ—'प्रधान' आख्या में वर्तमान 'उरस्' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से 'टच्' प्रत्यय होता है। अग्र = प्रधान। जिस प्रकार शरीर के अवयवों में 'उरस्' प्रधान होता है। इसी प्रकार अन्य प्रधानभूत उरस् शब्द के द्वारा कहा जाता है।

उदा० (1) अश्वोरसम्
अश्वानामुरः → समास,
अश्व उरस् टच्—आद्गुणः, सु।

(2) हस्त्युरसम्
हस्तिन् उरस् टच्—नकारलोप,
हस्त्युरस् अ—इको यणचि, सु।

आख्याया०—प्रधान के अर्थ में वर्त्तमान शब्द से 'टच्' होता है—

(3) देवदत्तोरः
देवदत्तस्योरः—'टच्' नहीं हुआ।

(2374) अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः *94* (796)

अनस्, अश्मन्, अयस्, सरस्–इत्येवमन्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति जातौ संज्ञायां च विषये। उपानसमिति जातिः। महानसमिति संज्ञा। अमृताश्म इति जातिः। पिण्डाश्म इति संज्ञा। कालायसमिति जातिः। लोहितायसमिति संज्ञा। मण्डूकसरसमिति जातिः। जलसरसमिति संज्ञा। जातिसंज्ञयोरिति किम्? सदनः। सदश्मा। सत्सरः।

अर्थ—जाति तथा संज्ञा के अर्थ में वर्त्तमान अनस्, अश्मन्, अयस् तथा सरस् शब्द हैं अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुषसंज्ञक से 'टच्' समासान्त प्रत्यय होता है।

उदा० (क) जातौ—
(1) उपानसम्
उपगतम् अनः—कुगतिप्रादयः,
उप अनस् टच्—विभक्तिकार्य।

(2) अमृताश्मः
अमृतश्चाश्मा—विशेषणं विशेष्येण बहुलम्,
अमृत अश्मन् टच्—नस्तद्धिते,
अमृत अश्म् अ—सु।

(3) कालायसम्
कालाश्च तदयः—पूर्ववत्।

(4) मण्डूकसरसम् (पूर्ववत्)।

(ख) सञ्ज्ञायाम्—
(5) महानसम्
महच्च तदनः → महत् अनस् टच्—
महा अनस् अ—अकार आदेश,
महानस सु—विभक्तिकार्य।

(6) लोहितायसम्
लोहित अयस् टच्।

(7) जलसरसम् (पूर्ववत्)।

जातिसञ्ज्ञ०—जाति व संज्ञा अर्थ में वर्तमान शब्द से 'टच्' होता है—

सदनः
(8) सत् अनस्—'टच्' नहीं हुआ।

(2375) ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः *95* (797)

जातिसंज्ञयोरिति नानुवर्त्तते। ग्रामकौटाभ्यां परो यस्तक्षन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति। ग्रामस्य तक्षा ग्राम-तक्षः। बहूनां साधारण इत्यर्थः। कुट्यां भवः कौटः, तस्य तक्षा कौटतक्षः। स्वतन्त्रः कर्मजीवी। न कस्यचित् प्रतिबद्ध इत्यर्थः। ग्रामकौटाभ्यामिति किम्? राज्ञस्तक्षा राजतक्षा।

अर्थ—ग्राम तथा कौट शब्दों से उत्तर जो 'तक्षन्' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से 'टच्' होता है। 'जातिसञ्ज्ञयोः' का अनुवर्तन है।

उदा० (1) ग्रामतक्षः
ग्रामस्य तक्षा—समास हुआ,
ग्राम तक्षन् टच्—टिलोप, सु।

(2) कौटतक्षः
कुट्यां भवः → कौटः, तस्य तक्षा—
कौट तक्ष् टच्—टिलोप।

ग्रामकौट०—ग्राम तथा कौट शब्दों से उत्तर 'तक्षन्' शब्द से 'टच्' होता है—
राज्ञस्तक्षा—'टच्' नहीं हुआ।

(2376) अतेः शुनः *96* (798)

अतिशब्दात् परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति। अतिक्रान्तः श्वानमतिश्वो वराहः। जववानित्यर्थः। अतिश्वः सेवकः। सुष्ठु स्वामिभक्त इत्यर्थः। अतिश्वी सेना। अतिनीचेत्यर्थः।

अर्थ—अति शब्द से उत्तर जो 'श्वन्' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से 'टच्' होता है।

उदा० (1) अतिश्वः
अतिक्रान्तः श्वानम्—अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे०,
अति श्वन् टच्—टिलोप, सु।

(2) अतिश्वी
स्त्रीलिंग में ङीप् हुआ।

(2377) उपमानादप्राणिषु *97* (799)

उपमानवाची यः श्वन्शब्दोऽप्राणिषु वर्त्तते तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति। आकर्षः श्वेव आकर्षश्वः। फलकश्वः। उपमितं व्याघ्रादिभिः (2.1.56) इति समासः। उपमानादिति किम्? न श्वा अश्वा लोष्टः। अप्राणिष्विति किम्? वानरः श्वेव वानरश्वा।

अर्थ—उपमानवाची 'श्वन्' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से 'टच्' होता है, यदि वह प्राणिवाची न हो।

उदा० (1) आकर्षश्वः
आकर्षः श्वा इव—उपमितं व्याघ्रा० से समास, टिलोप,
आकर्ष श्वन् अ—विभक्तिकार्य।

(2) फलकश्वः (पूर्ववत्)।

उपमानादि०—उपमानवाची से ही 'टच्' होता है—

(3) अश्वा
न श्वा—'टच्' नहीं हुआ।

अप्राणिष्विति०—यदि 'श्वन्' शब्द प्राणिवाची न हो तो 'टच्' होता है—

(4) वानरश्वा
वानरः श्वेव—'टच्' नहीं हुआ।

(2378) उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः *98* (800)

उत्तर, मृग, पूर्व-इत्येतेभ्यः परो यः सक्थिशब्दश्चकारादुपमानश्च, तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। उत्तरसक्थम्। मृगसक्थम्। पूर्वसक्थम्। उपमानात् खल्वपि-फलकमिव सक्थि फलकसक्थम्।

अर्थ—उत्तर, मृग, पूर्व तथा उपमानवाची शब्दों से पर जो 'सक्थि' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से 'टच्' होता है।

उदा० (1) उत्तरसक्थम्

उत्तरं सक्थ्न:—'पूर्वापर०' से समास, पूर्वनिपात,
उत्तर सक्थ् अ—यस्येति च, सु।

(2) मृगसक्थम्
मृगस्य सक्थि—पूर्ववत्,
मृग सक्थ् अ—सु।

(3) फलसक्थम् (पूर्ववत्)

(2379) नावो द्विगोः *99* (801)

नौशब्दान्ताद् द्विगोष्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। द्वे नावौ समाहृते द्विनावम्। त्रिनावम्। द्विनावधनः। पञ्चनावप्रियः। द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूप्यम्। द्विनावमयम्। द्विगोरिति किम्? राजनौः। अतद्धितलुकीत्येव-पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः। दशनौः।

अर्थ—नौ शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे द्विगुसंज्ञक तत्पुरुष समास से 'टच्' होता है।

उदा० (1) द्विनावम्
द्वे नावौ समाहृते—समास हुआ,
द्वि नौ टच्—'टच्' हुआ,
द्विनाव् अ—विभक्तिकार्य।

(2) त्रिनावम् (पूर्ववत्)।

(3) द्विनावधनः
यहाँ अवान्तर द्विगु है।

(4) पञ्चनावप्रियः
पूर्ववत् 'टच्'।

(5) द्विनावरूप्यम्
द्वाभ्यां नौभ्याम् आगतम्—समास हुआ,

(6) द्विनावमयम्
पूर्ववत् 'टच्' हुआ।

द्विगोरिति०—द्विगुसंज्ञक तत्पुरुष से ही टच् होता है—

(7) राजनौ
राजन् नौ—समास हुआ,
राज नौ—'टच्' नहीं हुआ।

अतद्धित०—तद्धित का लुक् न हुआ हो तो 'टच्' होता है—

(8) पञ्चनौः
पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः—समास हुआ, प्रत्यय का लुक्,
पञ्चन् नौ सु—टच् नहीं हुआ, नकारलोप।

(9) दशनौः (पूर्ववत्)।

(2380) अर्धाच्च *100* (802)

अर्द्धशब्दात् परो यो नौशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति। अर्द्धं नावः अर्द्धनावम्। अर्धं नपुंसकम् (2.2.2) इति समासः। परवल्लिङ्गं न भवति, लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य।

अर्थ—अर्द्ध शब्द से पर जो 'नौ' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से 'टच्' होता है।

उदा० (1) अर्द्धनावम्
अर्द्धं नावः—'अर्धं नपुँसकम्' से समास,
अर्द्ध नौ टच्—लिंग के लोकाश्रित होने से परवल्लिंगता नहीं होती है,
अर्द्धनाव सु—आवादेश।

(2381) खार्याः प्राचाम् *101* (803)

द्विगोरर्धाच्चेति द्वयमप्यनुवर्त्तते। खारीशब्दान्तात् द्विगोरर्धाच्च परो यः खारीशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति प्राचामाचार्याणां मतेन। द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम्। द्विखारि। त्रिखारम्। त्रिखारि। अर्द्धं खार्या अर्द्धखारम्। अर्द्धखारी।

अर्थ—द्विगोः, अर्द्धात्—दोनों का अनुवर्त्तन है। खारी शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे द्विगुसंज्ञक तत्पुरुष से तथा अर्द्ध शब्द से उत्तर खारी शब्द, तदन्त द्विगुसंज्ञक तत्पुरुष से 'टच् होता है, प्राचीन आचार्यों के मत में।

उदा० (1) द्विखारम्
द्वे खार्यौ समाहृते—समास,
द्वि खारी टच्—विभक्तिकार्य।

(2) द्विखारि
पक्ष में 'टच्' नहीं हुआ। ह्रस्वो नपुंसके प्राति०।

(3) त्रिखारम्
'टच्' हुआ।

(4) त्रिखारि
'टच्' नहीं हुआ।

(5) अर्द्धखारम्
अर्द्धं खार्याः—'टच्' हुआ।

(6) अर्द्धखारी (पूर्ववत्)।

(2382) द्वित्रिभ्यामञ्जलेः *102* (804)

द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति। द्वावञ्जली समाहृतौ द्व्यञ्जलम्। त्र्यञ्जलम्। द्विगोरित्येव-द्वयोरञ्जलिः द्व्यञ्जलिः। अतद्धितलुकीत्येव-द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्व्यञ्जलिः। त्र्यञ्जलिः। प्राचामित्येव-द्व्यञ्जलिप्रियः।

अर्थ—द्वि व त्रि शब्द से उत्तर जो अञ्जलि शब्द, तदन्त द्विगु तत्पुरुष से 'टच्' होता है।

उदा० (1) द्व्यञ्जलम्
द्वावञ्जली समाहृतौ—समास,
द्वि अञ्जलि टच्—इको यणचि,
द्व्यञ्जल् अ—विभक्तिकार्य।
(2) त्र्यञ्जलम्
पूर्ववत् 'टच्'।

द्विगोरि०—द्विगु से ही 'टच्' होता है—

(3) द्व्यञ्जलिः
द्वयोरञ्जलि—समास, टच् नहीं हुआ।

अतद्धित०—तद्धित का लुक् न हो, वहाँ 'टच्' होता है—

(4) द्व्यञ्जलिः
द्वाभ्याम् अञ्जलिभ्यां क्रीतः—तेन क्रीतम् से प्रत्यय हुआ, प्रत्यय का लुक् हुआ,
द्वि अञ्जलि सु—'टच्' नहीं हुआ।
(5) त्र्यञ्जलिः (पूर्ववत्)।

प्राचीन आचार्यों के मत में होता है—

(6) द्व्यञ्जलिप्रियः
'टच्' नहीं हुआ।

(2383) अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि *103* (3505)

अन्नन्तादसन्ताच्च नपुंसकलिङ्गात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। हस्तिचर्मे जुहोति। ऋषभचर्मे-ऽभिषिञ्चति (काठ०सं० 37.3)। असन्तात्-देवच्छन्द-सानि (मै०सं० 3.2.9)। मनुष्यच्छन्दसानि (तै०सं० 5.4.8.6)। अनसन्तादिति किम्? बिल्वदारु जुहोति। नपुंसकादिति किम्? सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम् (ऋ० 10.63.10)। *अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वावचनम्* (म० भा०)। ब्रह्मसाम (तां ब्रा० 4.3.1)। देवच्छन्दः (शां ब्रा० 1.5)। ब्रह्मसामम् (तै०सं० 1.8.18.1)। देवच्छन्दसम् (तै०सं० 5.4.8.5)।

अर्थ—नपुँसकलिंग में वर्त्तमान अन् अन्त वाले तथा अस् अन्त वाले तत्पुरुष शब्द से 'टच्' होता है।

उदा० (1) हस्तिचर्मे
हस्तिनः चर्म—समास,
हस्तिन् चर्मन् टच्—टि का लोप, नकारलोप,
हस्ति चर्म् अ—सु।
(2) देवच्छन्दसानि
देव छन्दस् टच्—तुक् आगम, स्तोः श्चुना श्चुः,
देवच्छन्दस् अ—'जस्' विभक्ति।
(3) मनुष्यच्छन्दसानि (पूर्ववत्)।

अनसन्ता०—अन् अन्त वाले तथा अस् अन्त वाले प्रातिपदिक से 'टच्' होता है—

(4) बिल्वदारु
'टच्' नहीं हुआ।

नपुँसका०—नपुंसक लिंग में वर्त्तमान शब्द से 'टच्' होता है—

(5) सुत्रामाणम्
'टच्' नहीं हुआ।
(6) अनेहसम्
'टच्' नहीं हुआ।

अनसन्ता०—वेद में सूत्रोक्त 'टच्' विकल्प से होता है—

(7) ब्रह्मसाम
'टच्' नहीं हुआ।
(8) देवच्छन्दः
'टच्' नहीं हुआ। 'तुक्' हुआ।
(9) ब्रह्मसामम्
'टच्' हुआ।
(10) देवच्छन्दसम्
'टच्' हुआ।

(2384) ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् *104* (805)

ब्रह्मन्शब्दान्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासेन चेद् ब्रह्मणो जानपदत्वमाख्यायते। जनपदेषु भवो जानपदः।

यस्य तत्पुरुषस्य जनपदशब्दः पूर्वपदं तस्मादेतत्प्रत्ययविधानम्। सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः। अवन्तिब्रह्मः। योगविभागात् सप्तमीसमासः। जानपदाख्यायामिति किम्? देवब्रह्मा नारदः।

अर्थ—'जनपद में रहने वाला' इस अर्थ में वर्तमान जो 'ब्रह्मन्' शब्द, तदन्त तत्पुरुष से 'टच्' होता है। जिस तत्पुरुष का पूर्व पद जनपद शब्द हो, उससे यह समासान्त होता है।

उदा० (1) सुराष्ट्रब्रह्मः
सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा—समास हुआ, टच्,
सुराष्ट्र ब्रह्म् अ—विभक्तिकार्य।

(2) अवन्तिब्रह्मः (पूर्ववत्)।
योगविभाग से सप्तमी तत्पुरुष होता है।

जानपदा०—जानपद में रहने वाला इस अर्थ में वर्त्तमान शब्द से 'टच्' होता है—

(3) देवब्रह्मा नारदः
'टच्' नहीं हुआ।

(2385) कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् *105* (806)

कुमहद्भ्यां परो यो ब्रह्मन्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्याम्। कुब्रह्मः, कुब्रह्मा। महाब्रह्मः, महाब्रह्मा। ब्राह्मणपर्यायो ब्रह्मन्शब्दः।

अर्थ—कु और महत् से परे जो ब्रह्मन् शब्द, तदन्त तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय विकल्प से होता है।

उदा० (1) कुब्रह्मः
कुत्सितो ब्रह्मा—कुगतिप्रादयः, टच्,
कु ब्रह्म् अ—विभक्तिकार्य।

(2) कुब्रह्मा
'टच्' नहीं हुआ।

(3) महाब्रह्मः
'टच्' हुआ।

(4) महाब्रह्मा
'टच्' नहीं हुआ।

(2386) द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे *106* (930)

तत्पुरुषाधिकारो निवृत्तः। द्वन्द्वाच्चवर्गान्ताद् दकारान्तात् षकारान्तात् हकारान्ताच्च टच् प्रत्ययो भवति स चेद् द्वन्द्वः समाहारे वर्त्तते, नेतरेतरयोगे। वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम्। स्रक्च त्वक्च स्रक्त्वचम्। श्रीस्रजम्। इडूर्जम्। वागूर्जम्। समिद्दृषदम्। सम्पद्विपदम्। वाग्विप्रुषम्। छत्रोपानहम्। धेनुगोदुहम्। द्वन्द्वादिति किम्? तत्पुरुषान्मा भूत्-पञ्च वाचः समाहृताः पञ्चवाक्। चुदषहान्तादिति किम्? वाक्समित्। समाहार इति किम्? प्रावृट्शरदौ।

अर्थ—समाहार में वर्तमान चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त तथा हकारान्त शब्द, तदन्त द्वन्द्व से 'टच्' होता है।

उदा० (क) चवर्गान्तात्—
(1) वाक्त्वचम्
वाक् च त्वक् च → वाच् त्वच् टच्—
वाक्त्वच—सु।

(2) स्रक्त्वचम्
स्रक् च त्वक् च—पूर्ववत् 'टच्',
स्रक्त्वच् अ—सु।

(3) श्रीस्रजम्
श्रीश्च स्रक्च।

(4) इडूर्जम्
इट् च ऊर्क् च।

(5) वागूर्जम्
वाक् च ऊर्क् च।

(ख) दकारान्तात्—
(6) समिद्दृषदम्
समिच्च दृषच्च—
समिद्दृषद् अ—विभक्तिकार्य।

(7) सम्पद्विपदम्
सम्पच्च विपच्च।

(ग) षकारान्तात्—
(8) वाग्विप्रुषम्
वाक् च विप्रुट् च।
वाग् विप्रुष् अ—विभक्तिकार्य।

(घ) हकारान्तात्—
(9) छत्रोपानहम्
छत्रं चोपानच्च—
छत्रोपानह् अ—विभक्तिकार्य।

(10) धेनुगोदुहम्
धेनुश्च गोदुह् च।

द्वन्द्वा०—समाहार में वर्तमान द्वन्द्व से ही 'टच्' होता है; ताकि तत्पुरुष से न हो—

(11) पञ्चवाक्
पञ्च वाचः समाहृताः—'टच्' नहीं हुआ।

चुदषहा०—चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त व हकारान्त, तदन्त से 'टच्' होता है—

(12) वाक्
यहाँ 'टच्' नहीं हुआ।

(13) समित्
'टच्' नहीं हुआ।

समाहार०—समाहार में ही शब्द से 'टच्' होता है—

(4) प्रावृट्शरदौ
समाहार अर्थ नहीं है। अतः 'टच्' नहीं हुआ।

(2387) अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः *107*
(677)

शरदित्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यष्टच् प्रत्ययो भवत्यव्ययीभावे। शरदः समीपम् उपशरदम्। प्रतिशरदम्। उपविपाशम्। प्रतिविपाशम्। अव्ययीभाव इति किम्? परमशरत्। येऽत्र झयन्ताः पठ्यन्ते, तेषां नित्यार्थं ग्रहणम्। स्वर्यते चेदम-व्ययीभावग्रहणं प्राग्बहुव्रीहेः। शरत्। विपाश्। अनस्। मनस्। उपानह्। दिव्। हिमवत्। अनडुह्। दिश्। दृश्। चतुर्। यद्। तद्। *जराया जरस्* (ग०सू० 157)। सदृश्। *प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः* (ग०सू० 158)। प्रत्यक्षम्। परोक्षम्। समक्षम्। अन्वक्षम्। *पथिन्*। प्रतिपथम्। परपथम्। सम्पथम्। अनुपथम्-शरदादिः।

अर्थ—अव्ययीभाव समास में शरद् आदि प्रातिपदिकों से समासान्त 'टच्' होता है।

उदा० (1) उपशरदम्
शरदः समीपम्—अव्ययं विभक्ति०, 'उप' का पूर्वनिपात,
उप शरद् टच्—विभक्तिकार्य,
उपशरदम्—'टच्' समासान्त के अधिकार में पठित है। अतः 'उपशरद' की भी अव्ययीभाव संज्ञा हुई।

(2) प्रतिशरदम्
शरदं प्रति—पूर्ववत्,
प्रति शरद् टच्—सु।

(3) उपविपाशम्
विपाशः समीपम्—समास,
उप विपाश् टच्।

(4) प्रतिविपाशम्
विपाशं प्रति—पूर्ववत् समास आदि,
प्रति विपाश् टच्—सु।

अव्ययीभाव०—अव्ययीभाव में शरद् आदि से 'टच्' होता है—

(5) परमशरत्
परमश्चाऽसौ शरद्—तत्पुरुष हुआ, 'टच्' नहीं हुआ।

जो यहाँ झयन्त शब्द पठित हैं, उनके नित्य के लिए यह है। बहुव्रीहि से पूर्व तक अव्ययीभाव का ग्रहण है।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

प्रतिपरसम०—प्रति, पर, सम् तथा अनु से पर 'अक्षि' शब्द से 'टच्' होता है—

(6) प्रत्यक्षम्
अक्षि अक्षि प्रति—समास, पूर्वनिपात,
प्रति अक्ष् टच्—टच्,
प्रत्यक्ष सु—विभक्तिकार्य।

(7) परोक्षम्
अक्ष्णः परम्—समास, टच्,
परोक्ष् अ सु—विभक्तिकार्य।

(8) समक्षम्
सम् अक्षि टच्—पूर्ववत्।

(9) अन्वक्षम्
अनु अक्षि टच् सु।

पथिन्—प्रति, पर, सम् तथा अनु से पर जो 'पथिन्' शब्द, तदन्त से 'टच्' होता है—

(10) प्रतिपथम्
प्रति पथिन् टच्—समास, टच्,
प्रति पथ् अ सु—विभक्तिकार्य।

(11) परपथम्
पर पथिन् टच्।

(12) सम्पथम्
सम् पथिन् टच्।

(13) अनुपथम्
अनु पथिन् टच्।

जराया जरस्—अव्ययीभाव समास में जरा शब्द से समासान्त 'टच्' करने पर जरा के स्थान पर 'जरस्' होता है। अनेकाल् होने से यह सर्वादेश होता है।

'जराया जरसन्यतरस्याम्' के द्वारा अजादि विभक्ति परे रहते विकल्प से जरस् आदेश होता है। 'टच्' अजादि तो है, परन्तु विभक्तिसंज्ञक नहीं है। अतः गणसूत्र के द्वारा नित्य 'जरस्' आदेश कहा गया है।

(14) उपजरसम्
जरायाः समीपम्—टच् आदि।

(2388) अनश्च *108* (678)

अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। उपराजम्। अध्यात्मम्। प्रत्यात्मम्।

अर्थ—अव्ययीभाव समास में वर्त्तमान अन्नन्त प्रातिपदिक से 'टच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) उपराजम्
राज्ञः समीपम् → उप राजन्—अव्ययं विभक्ति०,
उप राज् अ—यचि भम्, अल्लोपोऽनः, नस्तद्धिते,
उपराज सु—विभक्तिकार्य।

(2) अध्यात्मम्
आत्मनीति—अव्ययं विभक्ति०,
अधि आत्मन् टच्—पूर्ववत्।

(3) प्रत्यात्मम्
प्रति आत्मन् टच्—पूर्ववत्।

(2389) नपुंसकादन्यतरस्याम् *109* (680)

अन इत्येव। नपुंसकग्रहणमुत्तरपदविशेषणम्। अन्नन्तं यन्नपुंसकं तदन्तादव्ययीभावादन्यतरस्यां टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते। प्रतिचर्मम्। प्रतिचर्म। उपचर्मम्। उपचर्म।

अर्थ—अव्ययीभाव समास में वर्त्तमान अन् अन्त वाले नपुंसक शब्द से समासान्त 'टच्' विकल्प से होता है। 'नपुंसक' पद का ग्रहण उत्तर पद का विशेषण है। पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य प्राप्त होने पर विकल्प कहा गया है।

उदा० (1) प्रतिचर्मम्
प्रति चर्मन् टच्—पाक्षिक 'टच्',
प्रति चर्म् अ—विभक्तिकार्य।

(2) प्रतिचर्म
प्रमि चर्मन्—'टच्' नहीं हुआ।

(3) उपचर्मम्
चर्मणः समीपम्—पाक्षिक 'टच्'।

(4) उपचर्म
'टच्' नहीं हुआ।

(2390) नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः *110* (681)

नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी–इत्येवमन्तादव्ययीभावादन्यतरस्यां टच् प्रत्ययो भवति। नद्याः समीपम् उपनदम्। उपनदि। उपपौर्णमासम्। उपपौर्णमासि। उपाग्रहायणम्। उपाग्रहायणि।

अर्थ—अव्ययीभाव समास में वर्त्तमान नदी, पौर्णमासी तथा आग्रहायणी शब्द, तदन्त से 'टच्' विकल्प से होता है।

उदा० (1) उपनदम्
नद्याः समीपम्—समास, टच्,
उप नद् अ—विभक्तिकार्य।

(2) उपनदि
उप नदी—'टच्' नहीं हुआ, ह्रस्वो नपुँसके प्राति०,
उप नदि सु—विभक्तिकार्य।

(3) उपपौर्णमासम्
उप पौर्णमास् टच्—पूर्ववत्।

(4) उपपौर्णमासि
पक्ष में 'टच्' नहीं हुआ।

(5) उपाग्रहायणम्
'टच्' हुआ।

(6) उपाग्रहायणि
'टच्' नहीं हुआ।

(2391) झयः *111* (682)

क्षय इति प्रत्याहारग्रहणम्। झयन्तादव्ययीभावादन्यतर-

स्यां टच् प्रत्ययो भवति। उपसमिधम्। उपसमित्। उपदृषदम्। उपदृषत्।

अर्थ—झय् एक प्रत्याहार है। झय् वर्ण है अन्त में जिसके, ऐसे अव्ययीभाव समास से 'टच्' विकल्प से होता है।

उदा० (1) उपसमिधम्
समिधः समीपम्—समास, टच्,
उप समिध् अ—विभक्तिकार्य।

(2) उपसमिध्
उप समिध् सु—हल्ङ्याब्भ्यो०, झलां जशोऽन्ते।

(3) उपदृषदम्
पूर्ववत् 'टच्'।

(4) उपदृषद्
'टच्' नहीं हुआ।

(2392) गिरेश्च सेनकस्य *112* (683)

गिरिशब्दान्तादव्ययीभावाट्टच् प्रत्ययो भवति सेनकस्याचार्यस्य मतेन। अन्तर्गिरम्। अन्तर्गिरि। उपगिरम्। उपगिरि। सेनकग्रहणं पूजार्थम्। विकल्पोऽनुवर्त्तत एव।

अर्थ—गिरि शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे अव्ययीभाव समास से 'टच्' सेनक आचार्य के मत से होता है। अतः यह विधि विकल्प से प्रवृत्त होती है।

उदा० (1) अन्तर्गिरम्
गिरिष्विति—समास, टच्,
अन्तर् गिर् अ—पूर्ववत्।

(2) अन्तर्गिरि
'टच्' नहीं हुआ।

(3) उपगिरम्
उप गिरि टच्—पूर्ववत्।

(4) उपगिरि
'टच्' नहीं हुआ।

चूँकि विकल्प से अनुवर्त्तन यहाँ प्राप्त है। अतः 'सेनक' का उल्लेख सम्मान के लिए किया गया है।

(2393) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् *113* (852)

स्वाङ्गवाची यः सक्थिशब्दोऽक्षिशब्दश्च तदन्ताद् बहुव्रीहेः षच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। अयमर्थोऽभिप्रेतः, सूत्रे तु दुःश्लिष्टविभक्तीनि पदानि। दीर्घं सक्थि यस्य दीर्घसक्थः। कल्याणाक्षः। लोहिताक्षः। विशालाक्षः। बहुव्रीहाविति किम्? परमसक्थिः। परमाक्षिः। सक्थ्यक्ष्णोरिति किम्? दीर्घजानुः। सुबाहुः। स्वाङ्गादिति किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षिरिक्षुः। टचि प्रकृते षज्ग्रहणं स्वरार्थम्। चक्रसक्थी स्त्री, दीर्घसक्थी स्त्री। सक्थं चाक्रान्तात् (6.2.198) इति विभाषयोत्तरपदस्यान्तोदात्तता विधीयते। तत्र यस्मिन् पक्षे नास्त्युदात्तत्वं तत्र ङीपि सत्युदात्तनिवृत्तिस्वरस्याभावादनुदात्तः श्रूयेत। ङीषि तु सर्वत्रोदात्तः सिद्धो भवति। बहुव्रीहिग्रहणमापादपरिसमाप्तेरनुवर्त्तते।

अर्थ—स्वांगवाची जो सक्थि शब्द व अक्षि शब्द, तदन्त बहुव्रीहि से 'षच्' होता है। यहाँ अर्थ इष्ट है। सूत्रस्थ 'सक्थ्यक्ष्णोः' पद में दुःश्लिष्ट विभक्ति है। यहाँ पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी या सप्तमी है।

उदा० (1) दीर्घसक्थः
दीर्घे सक्थिनी यस्य सः—समास, षच् हुआ, षः प्रत्ययस्य, हलन्त्यम्,
दीर्घ सक्थ् अ—यस्येति च, विभक्तिकार्य।

(2) कल्याणाक्षः
कल्याणे अक्षिणी यस्य सः—'षच्' हुआ,
कल्याण अक्ष् अ—विभक्तिकार्य।

(3) लोहिताक्षः (पूर्ववत्)।

(4) विशालाक्षः
विशाले अक्षिणी यस्य सः—पूर्ववत्।

बहुव्रीहा०—बहुव्रीहि से ही 'षच्' होता है—

(5) परमसक्थिः
यहाँ 'षच्' नहीं हुआ।

(6) परमाक्षिः
'षच्' नहीं हुआ।

सक्थ्यक्ष्णो०—सक्थि व अक्षि जो शब्द, तदन्त से 'षच्' होता है—

(7) दीर्घजानुः
'षच्' नहीं हुआ।

(8) सुबाहुः
शोभनौ बाहूयस्य सः—'षच्' नहीं हुआ।

स्वाङ्गादिति—स्वांगवाची शब्द से ही 'षच्' होता है—

(9) दीर्घसक्थि शकटम्
'षच्' नहीं हुआ।

(10) स्थूलाक्षिरिक्षुः
'षच्' नहीं हुआ।

'टच्' के प्राप्त रहते 'षच्' का पाठ स्वर के लिए तथा ङीष् के लिए है—

(11) चक्रसक्थी
चक्र सक्थि षच्—पूर्ववत्,
चक्रसक्थ् अ ङीष्—षिद्गौरादिभ्यश्च,
चक्रसक्थी—विभक्तिकार्य।

(12) दीर्घसक्थी (पूर्ववत्)।
'बहुव्रीहिं' का अनुवर्तन पाद की समाप्तिपर्यन्त है।

(2394) अङ्गुलेर्दारुणि *114* (853)

अङ्गुलिशब्दान्ताद्बहुव्रीहेः षच् प्रत्ययो भवति समासान्तो दारुणि समासार्थे। द्व्यङ्गुलं दारु। त्र्यङ्गुलं दारु। पञ्चाङ्गुलम्। अङ्गुलिसदृशावयवं धान्यादीनां विक्षेपणकाष्ठमुच्यते। यस्य तु द्वे अङ्गुली प्रमाणं दारुणस्तत्र तद्धितार्थ (2.1.51) इति समासे कृते तत्पुरुषस्याङ्गुलेरित्यचा भवितव्यम्। दारुणीति किम्? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः।

अर्थ—अँगुलि शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहि से 'षच्' होता है, यदि 'लकड़ी' अभिधेय हो।

उदा० (1) द्व्यङ्गुलम्
द्वे अङ्गुले प्रमाणमस्य—तद्धितार्थ में समास, षच्,
द्वि अङ्गुल षच्—विभक्तिकार्य।

(2) त्र्यङ्गुलम् (पूर्ववत्)।

(3) पञ्चाङ्गुलम् (पूर्ववत्)।

यह अनाज आदि को फटकने के लिए प्रयुक्त अंगुलि जैसा काष्ठनिर्मित साधन होता है।

दारुणीति—लकड़ी वाच्य होने पर ही 'षच्' होता है—

(4) पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः
यहाँ 'षच्' नहीं हुआ।

(2395) द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः *115* (854)

द्वित्रिभ्यां षरो यो मूर्द्धन्शब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेः षः प्रत्ययो भवति समासान्तः। द्विमूर्द्धः। त्रिमूर्द्धः। द्वित्रिभ्यामिति किम्? उच्चैर्मूर्द्धा।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में द्वि और त्रि शब्दों से उत्तर जो मूर्धन् शब्द, तदन्त से 'ष' होता है।

उदा० (1) द्विमूर्द्धः
द्वौ मूर्धानौ यस्य सः—समास, ष,
द्वि मूर्द्धन् अ—षः प्रत्ययस्य, नस्तद्धिते,
द्विमूर्द्ध अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) त्रिमूर्द्धः (पूर्ववत्)।

द्वि और त्रि शब्दों से उत्तर मूर्धन् शब्द से 'ष' होता है—
उच्चैर्मूर्द्धा
'ष' नहीं हुआ।

(2396) अप्पूरणीप्रमाण्योः *116* (832)

पूरणप्रत्ययान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः पूरणीग्रहणेन गृह्यन्ते। प्रमाणीति स्वरूपग्रहणम्। पूरण्यन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् प्रत्ययो भवति समासान्तः। कल्याणी पञ्चमी आसां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। कल्याणीदशमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी एषां स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः। भार्याप्रधाना इत्यर्थः। *अपि प्रधानपूरणीग्रहणं कर्त्तव्यम्* (म० भा०)। यत्रान्यपदार्थे पूरण्यनुप्रविशति, न केवलं वर्त्तिपदार्थ एव, तत्र पूरण्याः प्राधान्यम्। पुंवद्भावप्रतिषेधोऽपि प्रधानपूरण्येव गृह्यते। इह न भवति–कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पक्षे कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति। *नेतुर्नक्षत्र उपसंख्यानम्* (म० भा०)। मृगो नेता आसां रात्रीणां मृगनेत्रा रात्रयः। पुष्यनेत्राः। नक्षत्र इति किम्? देवदत्तनेतृकाः। *छन्दसि च नेतुरुपसंख्यानम्*। बृहस्पतिनेत्राः देवाः (तै० सं० 1.8.20.1)। सोमनेत्राः (मै० सं० 2.6.3)। *मासाद् भृतिप्रत्ययपूर्वपदाट्ठज्विधिः* (म० भा०)। पञ्चको मासोऽस्य पञ्चकमासिकः कर्मकरः। दशकमासिकः। सोऽस्यांशवस्नभृतय (5.1.56) इति संख्याया अतिशदन्तायाः कन्।

अर्थ—पूरणप्रत्ययान्त जो स्त्रीलिंग शब्द, तदन्त बहुव्रीहि से तथा प्रमाणी शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहि से 'अप्' होता है। 'पूरणी' के द्वारा 'तस्य पूरणे डट्' आदि सूत्रों से पूरण अर्थ में विधीयमान 'डट्' आदि प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्दों का ग्रहण होता है।

'प्रमाणी' के द्वारा स्वरूप का ग्रहण होता है।

उदा० (1) कल्याणीपञ्चमा रात्रयः
कल्याणी पञ्चमी आसां (रात्रीणां) ताः—
कल्याणीपञ्चमाः (रात्रयः)—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास,
कल्याणी पञ्चमी अप्—'स्त्रियाः पुंवद्०' से पुंवद्भाव का निषेध, अप्, यस्येति च,
कल्याणी पञ्चम् अप् टाप्—स्त्रीत्व में टाप्, जस्।

(2) कल्याणीदशमा रात्रयः
पूर्ववत् 'अप्' आदि।

(3) स्त्रीप्रमाणाः
स्त्री प्रमाणी यस्य सः, ते—समास, अप्,
स्त्री प्रमाण् अप् जस्—विभक्तिकार्य।

अपि प्रधान०—यहाँ प्रधान पूरणी का ही ग्रहण होता है। जहाँ अन्य पदार्थ में पूरणी का अनुप्रवेश होता है; केवल वर्त्तिपदार्थ में ही नहीं, वहाँ पूरणी की प्रधानता होती है। पुँवद्भाव का निषेध होने पर भी प्रधान पूरणी का ही ग्रहण होता है। अतः निम्नलिखित में 'अप्' नहीं होता—

(4) कल्याणपञ्चमीकः पक्षः
कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पक्षे—'अप्' नहीं हुआ।

नक्षत्र अर्थ में 'नेतृ' शब्द से 'अप्' होता है—

(5) मृगनेत्रा रात्रयः
मृगो नेता आसां रात्रीणाम्—समास, अप्,
मृग नेत्र टाप् जस्—इको यणचि, टाप्, जस्।

(6) पुष्यनेत्राः (पूर्ववत्)।

नेतुर्न०—नक्षत्र अर्थ में ही 'अप्' होता है—

(7) देवदत्तनेतृकाः
देवदत्तो नेताऽऽसां रात्रीणाम्—'अप्' न हुआ।

छन्दसि०—वेद के विषय में नेतृ शब्द से 'अप्' होता है—

(8) बृहस्पतिनेत्रा देवाः (तै०सं०1.8.20.1)
बृहस्पति नेतृ अप्—समास आदि,
बृहस्पति नेत्र जस्—विभक्तिकार्य।

(9) सोमनेत्राः (पूर्ववत्)।

मासाद्०—जिस पद से वेतनार्थक प्रत्यय किया गया है, ऐसा पद यदि पूर्वपद में हो तो 'मास' शब्द से 'ठच्' होता है—

(10) पञ्चकमासिकः (कर्मकरः)
पञ्चको मासोऽस्य—'ठच्' हुआ, ठस्येकः। 'पञ्चन्' से 'कन्' हुआ है।

(11) दशकमासिकः (पूर्ववत्)।

(2397) अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः *117* (855)

अन्तर् बहिस्-इत्येताभ्यां परो यो लोमन्शब्दस्तदन्तात् बहुव्रीहेरप्प्रत्ययो भवति। अन्तर्गतानि लोमान्यस्यान्तर्लोमः प्रावारः। बहिर्लोमः पटः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में अन्तर् तथा बहिस् शब्दों से उत्तर लोमन् शब्द से 'अप्' होता है।

उदा० (1) अन्तर्लोमः (प्रावारः)
अन्तर्गतानि लोमानि यस्य सः—समास, अप्।
अन्तर् लोमन् अप्—यस्येति च,
अन्तर् लोम् अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) बहिर्लोमः पटः (पूर्ववत्)।

(2398) अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् *118* (856)

नासिकान्ताद् बहुव्रीहेरच् प्रत्ययो भवति नासिकाशब्दश्च नसमादेशमापद्यते। अस्थूलादिति नासिकाविशेषणम्, न चेत् स्थूलशब्दात् परा नासिका भवतीति। संज्ञायामिति समुदायोपाधिः। द्रुरिव नासिकाऽस्य द्रुणसः। वाद्ध्रीणसः। पूर्वपदात् संज्ञायामग (8.4.3) इति णत्वम्। गोनसः। संज्ञायामिति किम्? तुङ्गनासिकः। अस्थूलादिति किम्? स्थूलनासिको वराहः। *खुरखराभ्यां नस् वक्तव्यः* (म०भा०)। खुरणाः। खरणाः। पक्षेऽच्प्रत्ययोऽपीष्यते। खुरणसः। खरणसः। शितिनाः, अहिनाः, अर्चनाः इति निगम इष्यते।

अर्थ—नासिका शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहि से अच् प्रत्यय समासान्त होता है तथा 'नासिका' के स्थान पर 'नस' आदेश होता है। 'अस्थूलात्' पद 'नासिकायाः' का विशेषण है अर्थात् स्थूल शब्द से नहीं है उत्तर में जो 'नासिका' शब्द, उससे 'अच्' होता है। यह प्रत्यय संज्ञा के विषय में होता है।

उदा० (1) द्रुणसः
द्रुरिव नासिकाऽस्य—समास,
द्रु नस अच्—पूर्वपदात्० से णत्व,
द्रुणस सु—विभक्तिकार्य।

(2) वाद्ध्रीणसः (पूर्ववत्)।

(3) गोनसः
णत्व नहीं हुआ।

सञ्ज्ञाया०—संज्ञा के विषय में ही 'अच्' होता है—

(4) तुङ्गनासिकः

संज्ञा गम्यमान न होने से 'अच्' हुआ।

अस्थूला०—स्थूल को छोड़कर शेष से उत्तर 'नासिका' को 'अच्' होता है—

(5) स्थूलनासिकः

स्थूल से उत्तर नासिका है। अतः 'अच्' नहीं हुआ।

खुरखुरा०—खुर व खर शब्दों से उत्तर नासिका शब्द को 'नस्' होता है—

(6) खुरणाः

खुरम् इव नासिका यस्य सः → खुर नस्—

खुर नस् सु—विभक्तिकार्य।

(7) खरणाः

खर इव नासिका यस्य सः—पूर्ववत्।

पक्षे व्यत्ययो०—खुर व खर शब्दों से पर नासिका को 'नस्' आदेश तथा उससे 'अच्' समासान्त भी होता है—

(8) खुरणसः

खुर नासिका → खुर नस् अच्—

खुर णस सु—णत्व, विभक्तिकार्य।

(9) खरणसः (पूर्ववत्)।

शितिनाः—वेद में शितिनस्, अहिनस् तथा अर्चनस् शब्द साधु हैं—

(10) शितिनाः

शितिर्नासिका यस्य सः—समास,

शिति नस् सु—पूर्ववत्।

(11) अहिनाः

अहिरिव नासिका यस्य सः—पूर्ववत्।

(12) अर्चनाः

अर्चा इव नासिका यस्य सः—पूर्ववत्।

(2399) उपसर्गाच्च *119* (858)

उपसर्गात् परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरच् प्रत्ययो भवति नासिकाशब्दश्च नसमापद्यते। असंज्ञार्थं वचनम्। उन्नता नासिकाऽस्य उन्नसः। प्रणसः। उपसर्गाद् बहुलम् (8.4.28) इति णत्वम्। *वेर्ग्रो वक्तव्यः* (म०भा०)। विगता नासिकाऽस्य विग्रः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उपसर्ग से पर जो नासिका शब्द, तदन्त से 'अच्' समासान्त होता है तथा नासिका शब्द के स्थान पर 'नस' आदेश होता है। संज्ञा से अतिरिक्त स्थल के लिए यह विधान है।

उदा० (1) उन्नसः

उन्नता नासिकाऽस्य—समास,

उद् नस अच्—अनुनासिक

उन्नस सु—विभक्तिकार्य।

(2) प्रणसः

प्र नस अच्—पूर्ववत्, णत्व। द्र०—उपसर्गाद् बहुलम्।

वेर्ग्रो०—वि उपसर्ग से पर जो नासिका शब्द, उसके स्थान 'ग्र' आदेश होता है—

(3) विग्रः

विगता नासिका यस्य सः—समास,

वि ग्र सु—विभक्तिकार्य।

(2400) सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः *120* (860)

सुप्रातादयो बहुव्रीहिसमासा अच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। अन्यदपि च टिलोपादिकं निपातनादेव सिद्धम्। शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः (शौ०19.8.3)। शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः। शोभनं दिवाऽस्य सुदिवः (ऋ० 10.3.5)। शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः। चतस्रोऽश्रयोऽस्य चतुरस्रः। एण्या इव पादावस्य एणीपदः। अजस्येव पादावस्य अजपदः। प्रोष्ठो गौस्तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः (तै०सं० 4.4.10.7)।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में सुप्रात, सुश्व, सुदिव, शारिकुक्ष, चतुरश्र, एणीपद, अजपद तथा प्रोष्ठपद—ये अच् प्रत्ययान्त शब्द निपातनसिद्ध हैं। टिलोप आदि कार्य निपातन से जानने चाहिए।

उदा० (1) सुप्रातः

शोभनं प्रातरस्य—अच्,

सु प्रात् अ सु—टिलोप।

(2) सुश्वः

शोभनं श्वोऽस्य—पूर्ववत्,

सुश्व सु—अच्, टिलोप।

(3) सुदिवः

शोभनं दिवाऽस्य—अच् टिलोप,

सु दिव् अच् सु।

(4) शारिकुक्षः
शारेरिव कुक्षिरस्य—पूर्ववत्।

(5) चतुरश्रः
चतस्रोऽश्रयोऽस्य—अच् आदि पूर्ववत्।

(6) एणीपदः
एण्या इव पादावस्य—पूर्ववत्।

(7) अजपदः
अजस्येव पादावस्य—पूर्ववत्।

(8) प्रोष्ठपदः
प्रोष्ठस्येव पादावस्य—पूर्ववत्।

(2401) नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् *121* (861)

नञ्, दुस्, सु-इत्येतेभ्यः परौ यौ हलिसक्थिशब्दौ तदन्ताद् बहुव्रीहेरन्यतरस्यामच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। अविद्यमाना हलिरस्य अहलः। अहलिः। दुर्हलः। दुर्हलिः। सुहलः। सुहलिः। अविद्यमानं सक्थ्यस्य असक्थः। असक्थिः। दुःसक्थः। दुःसक्थिः। सुसक्थः। सुसक्थिः। हलिशक्त्योरिति केचित् पठन्ति। अविद्यमाना शक्तिरस्य अशक्तः। अशक्तिः। विरूपा शक्तिरस्य दुःशक्तः, दुःशक्तिः। शोभना शक्तिरस्य सुशक्तः, सुशक्तिः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में नञ्, दुस् तथा सु—इनसे उत्तर हलि व सक्थि शब्दों से 'अच्' विकल्प से होता है।

उदा० (1) अहलः
अविद्यमाना हलिरस्य—अच्,
अ हलि अ—विभक्तिकार्य।

(2) अहलिः
पक्ष में 'अच्' नहीं हुआ।

(3) दुर्हलः
दुष्टा हलिः—अच्।

(4) दुर्हलिः
'अच्' नहीं हुआ।

(5) सुहलः
'अच्' पक्ष में।

(6) सुहलिः
अच् के अभाव पक्ष में।

(7) असक्थः
अविद्यमानं सक्थ्यस्य—'अच्' हुआ,
अ सक्थ् अ सु—पूर्ववत्।

(8) असक्थः
'अच्' नहीं हुआ।

(9) दुःसक्थः
अच् पक्ष।

(10) दुःसक्थिः
अच् अभाव पक्ष।

(11) सुसक्थः
अच् पक्ष।

(12) सुसक्थिः
अच् अभाव पक्ष।

हलिश०—हल व शक्ति से अच् होता है—ऐसा पाठ कुछ विद्वान् मानते हैं। उनके अनुसार—

(13) अशक्तः
अच् हुआ।

(14) अशक्तिः
अच् अभाव पक्ष।

(15) दुःशक्तः
अच् पक्ष।

(16) दुःशक्तिः
अच् अभाव पक्ष।

(17) सुशक्तः
अच् पक्ष।

(18) सुशक्तिः
अच् अभाव पक्ष।

(2402) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः *122* (862)

नञ्दुस्सुभ्य इत्येव। नञ्, दुस्, सु-इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद् बहुव्रीहेर्नित्यमसिच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। अविद्यमाना प्रजाऽस्य अप्रजाः। दुष्प्रजाः। सुप्रजाः। अविद्यमाना मेधाऽस्य अमेधाः। दुर्मेधाः। सुमेधाः। नित्यग्रहणं किम्, यावता पूर्वसूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणं नैव स्वर्यते? एवं तर्हि नित्यग्रहणादन्यत्रापि भवतीति सूच्यते-

श्रोत्रियस्येव ते राजन्! मन्दकस्याल्पमेधसः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥

अर्थ—बहुव्रीहि समास में नञ्, दुस् और सु से उत्तर जो प्रजा और मेधा शब्द, तदन्त से 'असिच्' समासान्त प्रत्यय होता है।

उदा० (1) अप्रजाः
अविद्यमानाः प्रजा अस्य—समास,
अ प्रजा असिच्—यस्येति च,
अ प्रज् अस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) दुष्प्रजाः (पूर्ववत्)।
(3) सुप्रजाः (पूर्ववत्)।
(4) अमेधाः
अविद्यमाना मेधाऽस्य—पूर्ववत् 'असिच्'।

(5) दुर्मेधाः (पूर्ववत्)।
(6) सुमेधा (पूर्ववत्)।

नित्य०—पूर्व सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' पद का पाठ है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए 'नित्यम्' का पाठ किया गया है। इस प्रकार 'नित्य' का ग्रहण होने से अन्यत्र भी होता है—यह सूचित होता है। **द्र०**—

श्रोत्रियस्येव ते राजन्! मन्दकस्याल्पमेधसः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥

यहाँ अल्पपूर्वक मेधा शब्द से असिच् दृष्टिगोचर होता है।

(2403) बहुप्रजाश्छन्दसि *123* (3506)

बहुप्रजा इति छन्दसि निपात्यते। बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश (ऋ० 1.164.32)। छन्दसीति किम्? बहुप्रजो ब्राह्मणः।

अर्थ—वेद के विषय में 'बहुप्रजस्' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) बहुप्रजाः (ऋ०1.164.32)
बहवः प्रजा अस्य—बहुव्रीहि समास, असिच् प्रत्यय।

छन्दसि—वेद के विषय में ही यह निपातन होता है—

(2) बहुप्रजो ब्राह्मणः
असिच् नहीं हुआ।

(2404) धर्मादनिच् केवलात् *124* (863)

केवलाद् यो धर्मशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरनिच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। कल्याणो धर्मोऽस्य कल्याणधर्मा। प्रियधर्मा। केवलादिति किम्? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः। यद्येवं त्रिपदे बहुव्रीहौ प्राप्नोति–परमः स्वो धर्मोऽस्येति? एवं तर्हि केवलादिति पूर्वपदं निर्दिश्यते। केवलात् पदाद्यो धर्मशब्दो न पदसमुदायात्, तदन्ताद् बहुव्रीहेः प्रत्ययः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में केवल पूर्वपद से उत्तर जो धर्मन् शब्द, तदन्त से 'अनिच्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) कल्याणधर्मा
कल्याणो धर्मोऽस्य—अनिच्,
कल्याण धर्मन् अनिच्—इकार व चकार की इत्संज्ञा, टिलोप।

(2) प्रियधर्मा (पूर्ववत्)।

केवलादि०—केवल पूर्वपद से उत्तर धर्मन् शब्द से 'अनिच्' होता है—

(3) परमस्वधर्मः
परमः स्वो धर्मोऽस्य—यहाँ 'अनिच्' नहीं हुआ।
यदि ऐसा होता तो त्रिपद बहुव्रीहि में प्राप्त होता; अतः 'केवलात्' इस प्रकार निर्देश किया गया है। भाव यह है कि केवल पद से उत्तर जो धर्मन् शब्द, न कि पदसमुदाय से उत्तर धर्मन् शब्द, तदन्त से 'अनिच्' होता है।

(2405) जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः *125* (864)

बहुव्रीहौ समासे स्वादिभ्यः परं जम्भेति कृतसमासान्तमुत्तरपदं निपात्यते। जम्भशब्दोऽभ्यवहार्यवाची दन्तविशेषवाची च। शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा देवदत्तः। शोभनाभ्यवहार्यः, शोभनदन्तो वा। एवं हरितजम्भा। तृणजम्भा। सोमजम्भा। दन्तवचने–तृणमिव जम्भोऽस्य, सोम इव जम्भोऽस्येति विग्रहीतव्यम्। सुहरिततृणसोमेभ्य इति किम्? पतितजम्भः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में सु, हरित, तृण तथा सोम शब्दों से उत्तर जम्भा शब्द निपातनसिद्ध है। जम्भ शब्द अभ्यवहार्यवाची तथा दन्तवाची है।

उदा० (1) सुजम्भा
शोभनो जम्भाऽस्य—अनिच् हुआ।

(2) हरितजम्भा (पूर्ववत्)।
(3) तृणजम्भा (पूर्ववत्)।
(4) सोमजम्भा
पूर्ववत्। सोम इव जम्भोऽस्य।

सुहरित०—सु, हरित, तृण व सोम से उत्तर जो जम्भा निपातित है—

(5) पतितजम्भः

'जम्भा' नहीं हुआ।

(2406) दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे *126* (865)

दक्षिणेर्मेति कृतसमासान्तो निपात्यते बहुव्रीहौ समासे लुब्ध-योगे। लुब्धो व्याधः। दक्षिणमीर्ममस्य दक्षिणेर्मा मृगः। ईर्मं व्रणमुच्यते, दक्षिणमङ्गं व्रणितमस्य व्याधेनेत्यर्थः। लुब्धयोगे इति किम्? दक्षिणेर्म शकटम्।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में 'दक्षिणेर्मा' शब्द निपातित किया जाता है, यदि 'व्याध का सम्बन्ध' वाच्य हो।

उदा० (1) दक्षिणेर्मा

दक्षिणमीर्ममस्य → दक्षिण ईर्म अनिच्—

दक्षिणेर्म अन् सु—विभक्तिकार्य।

लुब्धयोगे०—व्याध के साथ सम्बन्ध वाच्य हो तो यह निपातन होता है—

(2) दक्षिणर्म शकटम्

यहाँ नहीं हुआ।

(2407) इच् कर्मव्यतिहारे *127* (866)

कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच् प्रत्ययो भवति। तत्र तेनेदमिति सरूप (2.2.27) इत्ययं बहुव्रीहिर्गृह्यते। केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि। कचाकचि। मुसलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं मुसलामुसलि। दण्डादण्डि। तिष्ठद्गुप्रभृतिषु (2.1.17) अयमिच् प्रत्ययः पठ्यते।

अर्थ—बहुव्रीहि समास से 'इच्' समासान्त प्रत्यय होता है, यदि कर्मव्यतिहार अर्थ वाच्य हो। तत्र तेनेदम्० के द्वारा जो बहुव्रीहि, उसका ग्रहण होता है।

उदा० (1) केशाकेशि

केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तम्—समास,

केश केश इच्—अन्येषामपि दृश्यते,

केशाकेशि सु—'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' में पाठ होने से अव्ययीभाव संज्ञा।

(2) मुसलामुसलि

मुसलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तम्—पूर्ववत्।

(3) दण्डादण्डि

दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तम्।

(2408) द्विदण्ड्यादिभ्यश्च *128* (867)

द्विदण्ड्यादयः शब्दा इच् प्रत्ययान्ताः साधवो भवन्ति। द्विदण्ड्यादिभ्य इति तादर्थ्ये एषा चतुर्थी, न पञ्चमी। द्विदण्ड्याद्यर्थमिच् प्रत्ययो भवति, तथा भवति यथा द्विद-ण्ड्यादयः सिद्ध्यन्तीत्यर्थः। समुदायनिपातनाच्चार्थविशेषे-ऽवरुध्यन्ते। द्विदण्डि प्रहरति। द्विमुसलि प्रहरति। इह न भवति–द्विदण्डा शालेति। बहुव्रीह्यधिकारेऽपि तपुरुषात्क्व-चिद्विधानमिच्छन्ति। निकुच्य कर्णौ धावति निकुच्यकर्णि धावति। प्रोह्य पादौ हस्तिनं वाहयति प्रोह्यपादि हस्तिनं वाहयति। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। द्विदण्डि। द्विमुसलि। उभाञ्जलि। उभयाञ्जलि। उभाकर्णि। उभया-कर्णि। उभादन्ति। उभयादन्ति। उभाहस्ति। उभया-हस्ति। उभापाणि। उभयापाणि। उभाबाहु। उभयाबाहु। एकपदि। प्रोह्यपदि। आढ्यपदि। सपदि। निकुच्य-कर्णि। संहतपुच्छि। उभाबाहु। उभयाबाह्विति निपातनादि-च्प्रत्ययलोपः। प्रत्ययलक्षणेनाव्ययीभावसंज्ञा–द्विदण्ड्यादिः।

अर्थ—द्विदण्डि आदि शब्द निपातित हैं। 'द्विदण्ड्यादिभ्यः' यहाँ तादर्थ्य में चतुर्थी है, पञ्चमी नहीं है। द्विदण्डि आदि के लिए 'इच्' प्रत्यय होता है ताकि द्विदण्डि आदि सिद्ध हो जायँ। समुदाय के निपातित किए जाने से तथा अर्थविशेष में यह अवरोध है।

उदा० (1) द्विदण्डि

द्वाभ्यां दण्डाभ्यां प्रहरति—

द्विदण्ड इच्—विभक्तिकार्य।

(2) द्विमुसलि (पूर्ववत्)।

(3) द्विदण्डा शाला

यहाँ 'इच्' नहीं होता है।

बहुव्रीहि का अधिकार होने पर भी कहीं-कहीं तत्पुरुष में कुछ लोग विधान स्वीकार करते हैं।

(4) निकुच्यकर्णि

निकुच्य कर्णौ धावति—'इच्' हुआ।

(5) प्रोह्यपदि

प्रोह्य पादौ हस्तिनं वाहयति—पूर्ववत्। मयूरव्यंसकादि से समास।

(6) उभाञ्जलि (पूर्ववत्)।

(7) उभयाञ्जलि (पूर्ववत्)।
(8) उभाकर्णि,
(9) उभयाकर्णि,

(10) उभादन्ति, (11) उभाहस्ति, (12) उभयाहस्ति, (13) उभापाणि, (14) उभयापाणि, (15) उभाबाहुः, (16) उभयाबाहुः, (17) एकपदि, (18) प्रोष्ठपदि, (19) आढ्यपदि, (20) सपदि, (21) संहतपुच्छि।

निपातन से इच् प्रत्यय का लोप होता है तथा प्रत्ययलक्षण से अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

(2409) प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः *129* (868)

प्र, सम्–इत्येताभ्यामुत्तरस्य जानुशब्दस्य ज्ञुरादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ। प्रकृष्टे जानुनी अस्य प्रज्ञुः। संज्ञुः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में प्र और सम् से उत्तर जो जानु शब्द, उसके स्थान पर 'ज्ञु' आदेश होता है।

उदा० (1) प्रज्ञुः
प्रकृष्टे जानुनी अस्य—समास,
प्र ज्ञ सु—विभक्तिकार्य।

(2) सञ्ज्ञुः (पूर्ववत्)।

(2410) ऊर्ध्वाद्विभाषा *130* (869)

ऊर्ध्वशब्दादुत्तरस्य जानुशब्दस्य विभाषा ज्ञुरित्ययमादेशो भवति। ऊर्ध्वे जानुनी अस्य ऊर्ध्वजानुः। ऊर्ध्वज्ञुः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में ऊर्ध्व शब्द से उत्तर जो जानु शब्द, उसके स्थान पर 'ज्ञु' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) ऊर्ध्वज्ञुः
ऊर्ध्वे जानुनी अस्य।

(2) ऊर्ध्वजानुः
पक्ष में नहीं हुआ।

(2411) ऊधसोऽनङ् *131* (483)

ऊधःशब्दान्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशो भवति समासान्तः। कुण्डमिव ऊधोऽस्याः सा कुण्डोध्नी। घटोध्नी। *ऊधसोऽनङि स्त्रीग्रहणं कर्त्तव्यम्* (म०भा०)। इह मा भूत्–महोधाः पर्जन्यः, घटोधो धैनुकम्।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में जो ऊधस् शब्द, तदन्त को अनङ् आदेश होता है।

उदा० (1) कुण्डोध्नी
कुण्डमिवोधोऽस्याः सा—समास,
कुण्ड ऊधस् → कुण्डोध अनङ्—आद्गुणः, ङिच्च,
कुण्डोधन्—अतो गुणे,
कुण्डोधन् ङीष्—अनो बहुव्रीहेः, डाबुभाभ्याम्०,
कुण्डोध्नी सु—यचि भम्, भस्य, अल्लोपोऽनः आदि।

(2) घटोध्नी (पूर्ववत्)।

ऊधस् के स्थान पर अनङ् करने पर स्त्रीलिंग होता है।

(3) महोधाः पर्जन्यः.
यहाँ 'अनङ्' नहीं हुआ।

(4) घटोधो धैनुकम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2412) धनुषश्च *132* (870)

धनुःशब्दान्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशो भवति। शार्ङ्गं धनुरस्य शार्ङ्गधन्वा। गाण्डीवधन्वा। पुष्पधन्वा। अधिज्यधन्वा।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में स्थित धनुस् शब्द, तदन्त को अनङ् आदेश होता है।

उदा० (1) शार्ङ्गधन्वा
शार्ङ्गं धनुर्यस्य सः—समास,
शार्ङ्गधन्वनङ्—'अनङ्' हुआ,
शार्ङ्गधन्वा—सु।

(2) गाण्डीवधन्वा
गाण्डीवं धनुरस्य—समास,
गाण्डीव धन् अन् सु—विभक्तिकार्य।

(3) अधिज्यधन्वा
अधिज्यं धनुरस्य—समास,
अधिज्य धन् व् अनङ्—सु।

(2413) वा संज्ञायाम् *133* (871)

धनुःशब्दान्ताद् बहुव्रीहेरनङादेशो वा भवति संज्ञायां विषये। पूर्वेण नित्यः प्राप्तो विकल्प्यते। शतधनुः। शतधन्वा। दृढधनुः। दृढधन्वा।

अर्थ—बहुव्रीहि में जो धनुस् शब्द, तदन्त को विकल्प से 'अनङ्' आदेश होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) शतधनुः

शतं धनूंषि यस्य सः—समास,
शत धनु सु—अनङ् नहीं हुआ।

(2) शतधन्वा
शत धन् अनङ्—अनङ् हुआ,
शतधवन् सु—विभक्तिकार्य।

(3) दृढधनुः
अनङ् अभाव।

(4) दृढधन्वा
अनङ् पक्ष।

(2414) जायाया निङ् *134* (872)

जायाशब्दान्तस्य बहुव्रीहेर्निङादेशो भवति। युवतिर्जाया यस्य युवजानिः। वृद्धजानिः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में जो 'जाया' शब्द, तदन्त को 'निङ्' समासान्त होता है। ङकार की इत् संज्ञा होती है।

उदा० (1) युवजानिः
युवतिर्जाया यस्य सः—समास, स्त्रियाः पुंवद्भाषित०,
युवन् जाय् निङ् सु—लोपो व्योर्वलि।

(2) वृद्धजानिः (पूर्ववत्)।

(2415) गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः *135* (874)

उत्, पूति, सु, सुरभि-इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य इकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। तकार उच्चारणार्थः। उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः। पूतिगन्धिः। सुगन्धिः। सुरभिगन्धिः। एतेभ्य इति किम्? तीव्रगन्धो वातः। *गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम्* (म० भा०)। तेन शोभनो गन्धोऽस्य सुगन्ध आपणः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उद्, पूति, सु तथा सुरभि शब्दों से उत्तर गन्ध शब्द को 'इत्' समासान्त प्रत्यय होता है। 'इत्' का तकार मुखसुख के लिए है।

उदा० (1) उद्गन्धिः
उद्गतो गन्धोऽस्य—समास,
उद् गन्ध् इत्—विभक्तिकार्य।

(2) पूतिगन्धिः (पूर्ववत्)।
(3) सुगन्धिः (पूर्ववत्)।
(4) सुरभिगन्धिः (पूर्ववत्)।

एतेभ्य०—उद्, पूति, सु तथा सुरभि शब्दों से उत्तर गन्ध शब्द को 'इत्' होता है—

(5) तीव्रगन्धो वातः
यहाँ नहीं हुआ।

गन्धस्येत्त्वे०—गन्ध शब्द से इत्त्व करने में एकान्त का ग्रहण किया जाता है, अतः यहाँ इत्त्व नहीं हुआ—

(6) सुगन्धः
शोभनो गन्धोऽस्य।

(2416) अल्पाख्यायाम् *136* (875)

अल्पाख्यायां यो गन्धशब्दस्तस्येकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। सूपोऽल्पोऽस्मिन्सूपगन्धि भोजनम्। अल्पमस्मिन्भोजने घृतम् घृतगन्धि। क्षीरगन्धि। अल्पपर्यायो गन्धशब्दः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में वर्त्तमान गन्ध शब्द से 'इत्' आदेश होता है, यदि 'अल्प' अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) सूपगन्धिः
सूपोऽल्पोऽस्मिन्—समास,
सूप गन्ध् इत्—विभक्तिकार्य।

(2) घृतगन्धिः
अल्पं घृतस्मिन् (पाके)—समास,
घृत गन्ध् इत्—सु।

(3) क्षीरगन्धिः (पूर्ववत्)।
गन्ध शब्द अल्पवाची है।

(2417) उपमानाच्च *137* (876)

उपमानात् परो यो गन्धशब्दस्तस्येकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः। उत्पलगन्धिः। करीषगन्धिः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उपमानवाची जो शब्द, उससे उत्तर गन्ध शब्द को 'इत्' समासान्त होता है।

उदा० (1) पद्मगन्धिः
पद्मस्येव गन्धोऽस्य—
पद्म गन्ध इत्—विभक्तिकार्य।
(2) उत्पलगन्धिः (पूर्ववत्)।
(3) करीषगन्धिः (पूर्ववत्)।

(2418) पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः *138*
(877)

उपमानादित्येव। उपमानाद्धस्त्यादिवर्जितात्परस्य पादशब्दस्य लोपो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। स्थानिद्वारेण लोपस्य समासान्तता विज्ञायते। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्। सिंहपात्। अहस्त्यादिभ्य इति किम्? हस्तिपादः। कटोलपादः। हस्तिन्। कटोल। गण्डोल। गण्डोलक। महिला। दासी। गणिका। कुसूल–हस्त्यादिः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में हस्तिन् आदि शब्दों से अतिरिक्त उपमानवाची शब्द से उत्तर पाद शब्द का समासान्त लोप होता है। स्थानी के द्वारा लोप की समासान्तता बताई गई है। अतः दकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होता है।

उदा० (1) व्याघ्रपात्
व्याघ्रपादाविव पादावस्य—समास,
व्याघ्रपाद्—सप्तम्युपमानपूर्व० (वा०),
व्याघ्रपात्—विभक्तिकार्य।

(2) सिंहपात् (पूर्ववत्)।

अहस्त्या०—हस्तिन् आदि को छोड़कर शेष शब्दों से उत्तर पाद का समासान्त लोप होता है—

(3) हस्तिपादः
हस्तिपादाविव पादावस्य—समास,
हस्तिपाद सु—समासान्त लोप नहीं हुआ।

(4) कटोलपादः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

'आदेः परस्य' परिभाषा के द्वारा 'पाद' शब्द के पकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु लोप को समासान्त (= समास का अन्तावयव) कहा गया है। अतः अलोऽन्त्यस्य के द्वारा दकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होता है।

लोप को समासान्त कहने का दूसरा फल यह है कि 'शेषाद् विभाषा' (5.4.154) द्वारा पाक्षिक कप् प्रत्यय नहीं होता है। जहाँ दूसरा समासान्त न किया गया हो, वहाँ पर 'शेषाद् विभाषा' की प्रवृत्ति होती है।

चूँकि यहाँ लोपरूप समासान्त होता है; अतः कप् नहीं हुआ।

(2419) कुम्भपदीषु च *139* (878)

कुम्भपदीप्रभृतयः कृतपादलोपाः पठ्यन्ते समुदाया एव। तत्रैवं सूत्रं ज्ञेयम्। पादस्य लोपो भवति कुम्भपद्यादिविषये। यथा कुम्भपद्यादयः सिद्ध्यन्ति। समुदायपाठस्य च प्रयोजनं विषयनियमः–स्त्रियामेव, तत्र ङीष्प्रत्यये एव, नान्यत्र। कुम्भपदी। शतपदी। यच्चेहोपमानपूर्वं संख्यापूर्वं च पठ्यते तस्य सिद्धे लोपे नित्यङीबर्थं वचनम्। पादोऽन्यतरस्यामिति (4.1.8) विकल्पो न भवति। कुम्भपदी। शतपदी। अष्टापदी। जालपदी। एकपदी। मालापदी। मुनिपदी। गोधापदी। गोपदी। कलशीपदी। घृतपदी। दासीपदी। निष्पदी। आर्द्रपदी। कुणपदी। कृष्णपदी। द्रोणपदी। द्रुपदी। शकृत्पदी। सूपपदी। पञ्चपदी। अर्वपदी। स्तनपदी–कुम्भपद्यादिः।

अर्थ—कुम्भपदी आदि शब्दों में 'पाद' शब्द का समासान्त लोप करके निपातन किया जाता है। यहाँ इसी प्रकार सूत्र जानना चाहिए। कुम्भपदी आदि के विषय में 'पाद' का समासान्त लोप होता है; ताकि ये कुम्भपदी आदि शब्द सिद्ध हो जायँ। समुदाय के पाठ का प्रयोजन यह है कि स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय में ही ये शब्द साधु हैं, अन्यत्र नहीं।

उदा० (1) कुम्भपदी
कुम्भाविव पादावस्य—समास,
कुम्भपाद् ङीप्—पादोऽन्यतरस्याम्, पादः पत्, सु।

(2) शतपदी (पूर्ववत्)।

यच्चेहो०—यहाँ जो उपमानपूर्वक तथा संख्यापूर्वक शब्दों का पाठ है, उनका लोप पूर्वतः सिद्ध ही है, तथापि ङीप् के लिए उनका पाठ किया गया है। तब 'पादोऽन्यतरस्याम्' से विकल्प से नहीं होता है।

(3) अष्टापदी (पूर्ववत्)।
(4) जालपदी (पूर्ववत्)।
(5) एकपदी, (6) गोपदी, (7) कलशीपदी, (8) घृतपदी सभी पूर्ववत्।

(9) मालापदी, (10) दासीपदी, (11) निष्पदी, (12) आर्द्रपदी—सभी पूर्ववत्।

(13) मुनिपदी, (14) कुणपदी, (15) कृष्णपदी, (16) द्रोणपदी—सभी पूर्ववत्।

(17) गोधापदी, (18) द्रुपदी, (19) शकृत्पदी, (20) सूपपदी, (21) पञ्चपदी, (22) अर्वपदी, (23) स्तनपदी—सभी पूर्ववत्।

(2420) संख्यासुपूर्वस्य *140* (879)

संख्यापूर्वस्य सुपूर्वस्य च बहुव्रीहेः पादशब्दान्तस्य लोपो भवति समासान्तः। द्वौ पादावस्य द्विपात्। त्रिपात्। शोभनौ पादावस्य सुपात्।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में संख्या व सु शब्द हैं पूर्वपद में जिसके, ऐसे पाद शब्द का समासान्त लोप होता है।

उदा० (1) द्विपात्
द्वौ पादावस्य—समास,
द्वि पाद् सु—विभक्तिकार्य।

(2) त्रिपात् (पूर्ववत्)।

(3) सुपात्
शोभनौ पादावस्य—पूर्ववत्।

(2421) वयसि दन्तस्य दतृ *141* (880)

संख्यापूर्वस्य सुपूर्वस्य च बहुव्रीहेर्यो दन्तशब्दस्तस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति समासान्तो वयसि गम्यमाने। ऋकार उगित्कार्यार्थः। द्वौ दन्तावस्य द्विदन्। त्रिदन्। चतुर्दन्। शोभना दन्ता अस्य समस्ता जाताः सुदन् कुमारः। वयसीति किम्? द्विदन्तः कुञ्जरः। सुदन्तो दाक्षिणात्यः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में संख्या या सु शब्द है पूर्व में जिसके, ऐसे दन्त शब्द को समासान्त 'दतृ' आदेश होता है, यदि अवस्था गम्यमान हो। ऋकार की इत्संज्ञा है। 'उगिदचां०' से 'नुम्' होता है।

उदा० (1) द्विदन्
द्वौ दन्तावस्य—समास,
द्वि द नुम् त् सु—हल्ङ्यादि लोप, संयोगान्त लोप।

(2) त्रिदन् (पूर्ववत्)।

(3) चतुर्दन् (पूर्ववत्)।

(4) सुदन्
शोभना दन्ता अस्य—पूर्ववत्।

वयसीति०—अवस्था गम्यमान हो तो 'दत्' आदेश होता है—

(5) द्विदन्तः कुञ्जरः
यहाँ नहीं हुआ।

(2422) छन्दसि च *142* (3507)

छन्दसि च दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। त्रयदतमालभेत। उभयदत आलभते (ऋ० 10.90.10)।

अर्थ—वेद के विषय में बहुव्रीहि समास में 'दन्त' शब्द के स्थान पर 'दतृ' आदेश होता है।

उदा० (1) त्रयदतमालभेत
त्रय द नुम् त्—द्वितीया एकवचन।

(2) उभयदत आलभते (पूर्ववत्)।

(2423) स्त्रियां संज्ञायाम् *143* (881)

स्त्रियामन्यपदार्थे संज्ञायां विषये दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति। अयोदती। फालदती। संज्ञायामिति किम्? समदन्ती, स्निग्धदन्ती।

अर्थ—संज्ञा के विषय में बहुव्रीहि समास में यदि अन्य पदार्थ स्त्रीवाच्य हो तो 'दन्त' शब्द को 'दतृ' होता है।

उदा० (1) अयोदती
अय इव दन्ता यस्याः सा—ङीप् हुआ।

(2) फालदती
पूर्ववत् 'दतृ' आदेश, ङीप् आदि।

सञ्ज्ञायामि०—संज्ञा गम्यमान हो तो 'दन्त' को 'दतृ' होता है—

(3) समदन्ती
'दतृ' नहीं हुआ।

(4) स्निग्धदन्ती
पूर्ववत् 'दतृ' नहीं हुआ।

(2424) विभाषा श्यावारोकाभ्याम् *144* (882)

श्याव, अरोक-इत्येताभ्यां परस्य दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति विभाषा समासान्तो बहुव्रीहौ। श्यावदन्। श्यावदन्तः। अरोकदन्। अरोकदन्तः। अरोको निर्दीप्तिः। संज्ञायामित्येव। श्यावदन्तः। अरोकदन्तः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में श्याव तथा अरोक शब्दों से उत्तर 'दन्त' शब्द के स्थान पर 'दतृ' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) श्यावदन्
श्यावा दन्ता यस्य सः—समास,
श्याव द नुम् त् सु—हल्ङ्यादि लोप, संयोगान्त लोप।

(2) श्यावदन्तः
पक्ष में 'दतृ' नहीं हुआ।

(3) अरोकदन्
अरोका दन्ता यस्य सः—समास, शेष पूर्ववत्।

(4) अरोकदन्तः (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञायामि०—संज्ञा गम्यमान हो तो 'दतृ' होता है—

(5) श्यावदन्तः
'दतृ' आदेश नहीं हुआ।

(6) अरोकदन्तः
'दतृ' आदेश नहीं हुआ।

(2425) अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च *145* (883)

विभाषेत्येव। अग्रान्ताच्छब्दात्, शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह- इत्येतेभ्यश्च परस्य दन्तशब्दस्य विभाषा दतृ इत्ययमादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। कुड्मलाग्रदन्। कुड्मलाग्रदन्तः। शुद्धदन्। शुद्धदन्तः। शुभ्रदन्। शुभ्रदन्तः। वृषदन्। वृषदन्तः। वराहदन्। वराहदन्तः। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। अहिदन्। अहिदन्तः। मूषिकदन्। मूषिकदन्तः। गर्दभदन्। गर्दभदन्तः। शिखरदन्। शिखरदन्तः।

अर्थ—'विभाषा' का अनुवर्त्तन है। बहुव्रीहि समास में 'अग्र' शब्द है अन्त में जिसके; ऐसे शुद्ध, शुभ्र, वृष और वराह शब्दों से उत्तर 'दन्त' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'दतृ' आदेश होता है।

उदा० (1) कुड्मलाग्रदन्
कुड्मलाऽग्राणीव दन्ताः—समास,
कुड्मलाऽग्रद नुम् त् सु—पूर्ववत्।

(2) कुड्मलाग्रदन्तः
पक्ष में 'दतृ' आदेश नहीं हुआ।

(3) शुद्धदन्
'दतृ' पक्ष में।

(4) शुद्धदन्तः
'दतृ' अभाव पक्ष।

(5) शुभ्रदन्तः
'दतृ' आदेश।

(6) शुभ्रदन्तः
'दतृ' अभाव पक्ष।

(7) वृषदन् (पूर्ववत्)।

(8) वृषदन्तः (पूर्ववत्)।
(9) वराहदन् (पूर्ववत्)।
(10) वराहदन्तः (पूर्ववत्)।
चकार के द्वारा अनुक्त समुच्चय का ग्रहण होता है।

(11) अहिदन्
'शुद्धदन्' की तरह।

(12) अहिदन्तः
'शुद्धदन्तः' की तरह।

(13) मूषिकदन्
'शुद्धदन्' की तरह।

(14) मूषिकदन्तः
'शुद्धदन्तः' की तरह।

(15) गर्दभदन् (पूर्ववत्)।
(16) गर्दभदन्तः (पूर्ववत्)।
(17) शिखरदन् (पूर्ववत्)।
(18) शिखरदन्तः (पूर्ववत्)।

(2426) ककुदस्यावस्थायां लोपः *146* (884)

ककुदशब्दान्तस्य बहुव्रीहेर्लोपो भवति समासान्ताऽवस्थायां गम्यमानायाम्। कालादिकृता वस्तुधर्मा वयःप्रभृतयोऽवस्था इत्युच्यते। असञ्जातं ककुदमस्य असञ्जातककुत्। बाल इत्यर्थः। पूर्णककुत्। मध्यमवया इत्यर्थः। उन्नतककुत्। वृद्धवया इत्यर्थः। स्थूलककुत्। बलवानित्यर्थः। यष्टिककुत्। नातिस्थूलो नातिकृशो इत्यर्थः। अवस्थायामिति किम्? श्वेतककुदः।

अर्थ—ककुद शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे बहुव्रीहि समास का समासान्त लोप होता है, यदि अवस्था गम्यमान हो। काल आदि के आधार पर वय इत्यादि वस्तुओं के धर्म 'अवस्था' कहलाते हैं।

उदा० (1) असञ्जातककुत्
असञ्जातं ककुदम् अस्य—समास,
असञ्जातककुद् सु—विभक्तिकार्य।

(2) पूर्णककुत् (पूर्ववत्)।
(3) उन्नतककुत् (पूर्ववत्)।
(4) स्थूलककुत् (पूर्ववत्)।
(5) यष्टिककुत् (पूर्ववत्)।

अवस्थाया०—अवस्था गम्यमान हो तो ककुद का समासान्त लोप होता है—

(6) श्वेतककुदः
यहाँ नहीं हुआ।

(2427) त्रिककुत् पर्वते *147* (885)

त्रिककुदि बहुव्रीहौ ककुदशब्दस्य लोपः समासान्तो निपात्यते पर्वतेऽभिधेये। त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुत् पर्वतः। ककुदाकारं पर्वतस्य श्रृङ्गं ककुदमित्युच्यते। न च सर्वस्त्रिशिखरः पर्वतस्त्रिककुत्, किं तर्हि? संज्ञैषा पर्वत-विशेषस्य। पर्वत इति किम्? त्रिककुदोऽन्यः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में ककुद शब्द का समासान्त लोप होता है, यदि पर्वत अर्थ गम्यमान हो।

उदा० (1) त्रिककुत् पर्वतः
त्रीणि ककुदान्यस्य—समास, समासान्त लोप।
तीन शिखरों वाले सभी पर्वत त्रिककुत् नहीं होते। यह पर्वत-विशेष की संज्ञा है।

पर्वत इति०—पर्वत अभिधेय हो तो समासान्त लोप होता है—

(2) त्रिककुदः
लोप नहीं हुआ।

(2428) उद्विभ्यां काकुदस्य *148* (886)

उत्, वि-इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य लोपो भवति बहुव्रीहौ समासे। उद्गतं काकुदमस्य उत्काकुत्। विकाकुत्। तालु काकुदमुच्यते।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उद् तथा वि शब्दों से उत्तर काकुद शब्द का समासान्त लोप होता है।

उदा० (1) उत्काकुत्
उद्गतं काकुदमस्य—समास,
उद् काकुद् सु—खरि च, हल्ङ्यादि लोप।

(2) विकाकुत्
विगतं काकुदम् अस्य—पूर्ववत्।

(2429) पूर्णाद्विभाषा *149* (887)

पूर्णात्परस्य काकुदशब्दस्य विभाषा लोपो भवति बहुव्रीहौ समासे। पूर्णं काकुदमस्य पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः।

अर्थ—पूर्ण शब्द से उत्तर काकुद शब्द का समासान्त लोप विकल्प से होता है, बहुव्रीहि समास में।

उदा० (1) पूर्णकाकुत्
पूर्णं काकुदम् अस्य—पूर्ववत्।

(2) पूर्णकाकुदः
पक्ष में नहीं हुआ।

(2430) सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः *150* (888)

सुहृत्, दुर्हृत्-इति निपात्येते यथासंख्यं मित्रामित्रयोरभि-धेययोः। सुशब्दात् परस्य हृदयशब्दस्य हृद्भावो निपात्यते बहुव्रीहौ, तथा दुःशब्दात् परस्य। शोभनं हृदयमस्य सुहृन्मित्रम्। दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रम्। मित्रामित्रयोरिति किम्? सुहृदयः कारुणिकः। दुर्हृदयश्चोरः।

अर्थ—मित्र तथा शत्रु अर्थ वाच्य हों तो यथासंख्य करके सुहृद् व दुर्हृद् शब्द निपातित होते हैं। बहुव्रीहि समास में सु तथा दु शब्दों से पर हृदय शब्द के स्थान पर हृद् आदेश निपातन से होता है।

उदा० (1) सुहृद्
शोभनं हृदयम् अस्य—समास,
सु हृद् सु—विभक्तिकार्य।

(2) दुर्हृद्
दुष्टं हृदयम् अस्य—पूर्ववत्।

मित्राऽमित्रयो०—मित्र और शत्रु अर्थ वाच्य हो तो सूत्रोक्त शब्द निपातित हैं—

(3) सुहृदयः कारुणिकः
'हृद्' आदेश नहीं हुआ।

(4) दुर्हृदयश्चोरः
'हृद्' आदेश नहीं हुआ।

(2431) उरःप्रभृतिभ्यः कप् *151* (889)

उरःप्रभृत्यन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति। व्यूढमुरो-ऽस्य व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः। अवमुक्तोपानत्कः। पुमान् अनड्वान् पयो नौर्लक्ष्मीरिति विभक्त्यन्ताः पठ्यन्ते न प्रातिपदिकानि। तत्रेदं प्रयोजनम्-एकवचनान्तानामेव ग्रहणमिह विज्ञायेत, द्विवचनबहुवचनान्तानां मा भूदिति। तत्र शेषाद्विभाषेति (5.4.154) विकल्प एव भवतीति। द्विपुमान्। द्विपुंस्कः। बहुपुमान्। बहुपुंस्कः। उरस्।

सर्पिस्। उपनाह्। पुमान्। अनड्वान्। नौः। पयः। लक्ष्मीः। दधि। मधु। शालिः। *अर्थान्नञः* अनर्थकः-उरःप्रभृति।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उरस् प्रभृति जो शब्द, तदन्त से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होता है।

उदा० (1) व्यूढोरस्कः
व्यूढम् उरोऽस्य—समास,
व्यूढ उरस् कप्—विभक्तिकार्य।

(2) प्रियसर्पिष्कः
प्रियं सर्पिरस्य—समास,
प्रियसर्पिस् कप्—सु।

(3) अवमुक्तोपानत्कः (पूर्ववत्)।

पुमान्०—पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः—ये विभक्त्यन्त शब्द पठित है, प्रातिपदिकरूप में नहीं। यहाँ यह प्रयोजन है कि एकवचनान्त शब्दों का ही ग्रहण जानना चाहिए; द्विवचनान्त व बहुवचनान्त शब्दों का नहीं। 'शेषाद् विभाषा' से विकल्प ही होता है।

(4) द्विपुंस्कः
'कप्' हुआ।

(5) द्विपुमान्
पक्ष में 'कप्' नहीं हुआ।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2432) इनः स्त्रियाम् *152* (890)

इन्नन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति स्त्रियां विषये। बहवो दण्डिनोऽस्यां शालायां बहुदण्डिका शाला। बहुच्छत्रिका। बहुस्वामिका नगरी। बहुवाग्मिका सभा। स्त्रियामिति किम्? बहुदण्डी राजा। बहुदण्डिकः। शेषाद्विभाषेत्येतद्भवति।

अर्थ—इन् अन्त वाले बहुव्रीहि समास से 'कप्' समासान्त प्रत्यय होता है, स्त्रीलिंग के विषय में।

उदा० (1) बहुदण्डिका
बहवो दण्डिनो यस्यां शालायाम्—समास,
बहु दण्डिन् कप्—अत इनिठनौ, कप्,
बहुदण्डिक टाप् सु—नकारलोप, टाप्, सु।

(2) बहुच्छत्रिका (पूर्ववत्)।
(3) बहुस्वामिका (पूर्ववत्)।
(4) बहुवाग्मिका (पूर्ववत्)।

स्त्रियामि०—स्त्रीलिंग के विषय में ही 'कप्' होता है—

(5) बहुदण्डी राजा
यहाँ 'कप्' नहीं हुआ।

(6) बहुदण्डिकः
'शेषाद् विभाषा' से हुआ है।

(2433) नद्यृतश्च *153* (833)

नद्यन्ताद् बहुव्रीहेर्ऋकारान्ताच्च कप् प्रत्ययो भवति। बह्व्यः कुमार्योऽस्मिन् देशे बहुकुमारीको देशः। बहुब्रह्मबन्धूकः। ऋतः खल्वपि-बहुकर्तृकः। तकारो मुखसुखोच्चारणार्थः।

अर्थ—नदीसंज्ञक तथा ऋकारान्त बहुव्रीहि समास से समासान्त 'कप्' होता है। 1.4.3 तथा 1.4.6 के द्वारा नदीसंज्ञा कही गई है।

उदा० (1) बहुकुमारीकः
बह्व्यः कुमार्योऽस्मिन्—समास,
बहुकुमारी कप्—पुँवद्भाव, विभक्तिकार्य।

(2) बहुब्रह्मबन्धूकः—पूर्ववत् 'कप्'।
(3) बहुकर्तृकः (पूर्ववत्)।

'ऋतः' में तकार मुखसुख के लिए है।

(2434) शेषाद्विभाषा *154* (891)

यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः स शेषः, तस्माद्विभाषा कप्प्रत्ययो भवति। बह्व्यः खट्वा अस्मिन् बहुखट्वकः। बहुमालकः। बहुवीणकः। बहुखट्वाकः। बहुमालाकः। बहुवीणाकः। बहुखट्वः। बहुमालः। बहुवीणः। कथमनृक्कं साम, बह्वृक्कं सूक्तमिति, यावता विहितोऽत्र सामान्येन समासान्त ऋक्पूरिति? नैतदस्ति-विशेषे स इष्यते। अनृचो माणवको ज्ञेयो बह्वृचश्चरणाख्यामिति। शेषादिति किम्? प्रियपथः, प्रियधुरः।

अर्थ—शेष अर्थात् जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त न कहा गया हो, उससे समासान्त 'कप्' विकल्प से होता है।

उदा० (1) बहुखट्वकः
बह्व्यः खट्वा यस्मिन्—'कप्' हुआ,

(2) बहुखट्वाकः
बहु खट्वा कप्—ह्रस्व नहीं हुआ।

(3) बहुखट्व:
'कप्' अभाव पक्ष।

(4) बहुवीणक:
बह्व्यो वीणा यस्मिन्—पूर्ववत् 'कप्',
बहुवीण क—ह्रस्व, सु।

(5) बहुवीणाक:
'कप्' पक्ष, ह्रस्व अभाव।

(6) बहुवीण:
'कप्' अभाव, ह्रस्व पक्ष।

(7) बहुमालाक:
बह्व्यो माला यस्मिन्—'कप्'।
बहुमाला क—सु।

(8) बहुमालक:
कप् पक्ष, ह्रस्वादेश।

(9) बहुमाल:
कप् अभाव, ह्रस्वादेश।

(10) अनृक्कं साम
(11) बह्वृक्कं सूक्तम्।
यह नहीं है। वह विशेष में होता है। अनृच माणवक होता है तथा बह्वृच चरण की आख्या में है।

शेष से ही कप् होता है—

(12) प्रियपथ:
यहाँ 'कप्' नहीं हुआ।

(13) प्रियधुर:
'कप्' नहीं हुआ।

(2435) न संज्ञायाम् *155* (893)

संज्ञायां विषये बहुव्रीहौ समासे कप् प्रत्ययो न भवति। पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते। विश्वे देवा अस्य विश्वदेवः। विश्वयशाः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास से 'कप्' समासान्त नहीं होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो।

उदा० (1) विश्वदेव:
विश्वे देवा अस्य—'कप्' नहीं हुआ।

(2) विश्वयशा:
'कप्' नहीं हुआ।

(2436) ईयसश्च *156* (894)

ईयसन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो न भवति। सर्वा प्राप्तिः प्रतिषिध्यते। बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्। शेषाद्विभाषेत्यस्य प्रतिषेधः। बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी। नद्यृतश्चेत्यस्य प्रतिषेधः। ह्रस्वत्वमपि न भवति, ईयसो बहुव्रीहौ पुंवदिति वचनात्।

अर्थ—जिसके अन्त में 'ईयसुन्' प्रत्यय है, ऐसे बहुव्रीहि समास में 'कप्' समासान्त नहीं होता है।

उदा० (1) बहुश्रेयान्
बहवः श्रेयांसोऽस्य—'कप्' नहीं हुआ,
बहुश्रेयस् सु—विभक्तिकार्य।
'शेषाद् विभाषा' इसका प्रतिषेध है।

(2) बहुश्रेयसी
बहुश्रेयस् ङीप्—'उगितश्च', विभक्तिकार्य।

'नद्यृतश्च' से कप् का प्रतिषेध है। ईससुन् का ह्रस्व भी नहीं होता है।

(2437) वन्दिते भ्रातुः *157* (895)

वन्दितेऽर्थे यो भ्रातृशब्दो वर्त्तते तदन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो न भवति। वन्दितः स्तुतः पूजित इत्युच्यते। शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता। वन्दित इति किम्? मूर्खभ्रातृकः। दुष्टभ्रातृकः।

अर्थ—वन्दित अर्थ में वर्त्तमान भ्रातृ शब्द, तदन्त बहुव्रीहि से 'कप्' नहीं होता है। वन्दित = पूजित।

उदा० (1) सुभ्राता
शोभनो भ्राताऽस्य—समास, 'कप्' का निषेध,
सु भ्रातृ सु—विभक्तिकार्य।

वन्दित०—वन्दित अर्थ में वर्त्तमान 'भ्रातृ' शब्द से 'कप्' का निषेध होता है—

(2) मूर्खभ्रार्तृक:
निषेध नहीं हुआ।

(3) दुष्टभ्रातृक:
'कप्' का निषेध नहीं हुआ।

(2438) ऋतश्छन्दसि *158* (3508)

ऋवर्णान्ताद् बहुव्रीहेश्छन्दसि विषये कप् प्रत्ययो न भवति। हता माताऽस्य हतमाता (अथ० 2.32.4)।

हतपिता। हतस्वसा (अथर्व० 2.67.3)। सुहोता (ऋ० 7.67.3)।

अर्थ—ऋकारान्त बहुव्रीहि से समासान्त 'कप्' नहीं होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) हतमाता (अथ० 2.32.4)

हता माताऽस्य—'कप्' नहीं हुआ, 'नद्यृतश्च' से 'कप्' प्राप्त था,

हतमातृ सु—विभक्तिकार्य।

(2) हतपिता (पूर्ववत्)।

(3) हतस्वसा (अथ०2.32.4) (पूर्ववत्)।

(4) सुहोता (ऋ०7.67.3) (पूर्ववत्)।

(2439) नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे *159* (896)

स्वाङ्गे यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ तदन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो न भवति। बह्व्यो नाड्योऽस्य बहुनाडिः कायः। बहुतन्त्रीर्ग्रीवा। धमनीवचनस्तन्त्रीशब्दः। स्वाङ्ग इति किम्? बहुनाडीकः स्तम्भः, बहुतन्त्रीका वीणा।

अर्थ—स्वांग में वर्त्तमान जो नाडी तथा तन्त्री शब्द, तदन्त बहुव्रीहि समास से 'कप्' नहीं होता है।

उदा० (1) बहुनाडिः

बह्व्यो नाड्योऽस्य—'नद्यृतश्च' से 'कप्' प्राप्त हुआ, निषेध हुआ,

बहु नाडि सु—विभक्तिकार्य।

(2) बहुतन्त्रीः (पूर्ववत्)।

तन्त्री शब्द धमनीवाची है।

स्वाङ्ग इति० अर्थात् स्वांग में वर्त्तमान नाडी व तन्त्री शब्द, तदन्त से 'कप्' का निषेध होता है—

(3) बहुनाडीकः

'कप्' हुआ।

(4) बहुतन्त्रीका

'कप्' हुआ।

(2440) निष्प्रवाणिश्च *160* (897)

निष्प्रवाणिरिति नदीलक्षणस्य कपः प्रतिषेधो निपात्यते। प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी। प्रवयन्ति तयेति वा प्रवाणी। करणसाधनोऽयं ल्युट्। तन्तुवायशलाका भण्यते। निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्रवाणिः पटः। निष्प्रवाणिः कम्बलः। अपनीतशलाकः समाप्तवानः प्रत्यग्रो नवक उच्यते।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥

समाप्तश्चाऽयं पञ्चमाऽध्यायः॥5॥

अर्थ—निष्प्रवाणि शब्द में नदीलक्षण 'कप्' समासान्त का निषेध होता है—

उदा० (1) निष्प्रवाणिः

प्रोयतेऽस्याम्—प्रवाणी

प्रवयन्ति तया—प्रवाणी

तन्तुवायशाला को 'प्रवाणी' कहते हैं।

निर्गता प्रवाणी यस्य सः—समास,

निर् प्रवाणी—नदीलक्षण 'कप्' प्राप्त हुआ, निपातन से निषेध,

निष्प्रवाणिः पटः—सु।

इसी प्रकार—निष्प्रवाणिः कम्बलः।

(2) अपनीतशलाकः (पूर्ववत्)।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
पञ्चमाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

समाप्तश्चाऽयं पञ्चमोऽध्यायः॥5॥



अथ
षष्ठाऽध्यायस्य प्रथमः पादः

(2441) एकाचो द्वे प्रथमस्य *1* (2175)

अधिकारोऽयम्। 'एकाचः' इति च, 'द्वे' इति च, प्रथमस्येति च त्रितयमधिकृतं वेदितव्यम्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः प्राक्सम्प्रसारणविधानात् (6.1.12) तत्रैकाचः प्रथमस्य द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति-लिटि धातोरनभ्यासस्य (6.1.8) इति। तत्र धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे भवतः। जजागार। पपाच। इयाय। आर। एकाचः इति बहुव्रीहिनिर्देशः। एकोऽच् यस्य सोऽयमेकाच् इत्यवयवेन विग्रहः। तत्र समुदायः समासार्थः। अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवो भवतीति साच्कस्यैव द्विर्वचनं भवति। एवं च-पच् इत्यत्र येनैवाचा समुदाय एकाच् तेनैव तदवयवोऽच्छब्दः पशब्दश्च। तत्र पृथगवयवैकाचो न द्विरुच्यन्ते, किं तर्हि? समुदायैकाजेव। तथाहि-सकृच्छास्त्रप्रवृत्त्या सावयवः समुदायोऽनुगृह्यते। पपाचेत्यत्र प्रथमत्वं व्यपदेशिवद्भावात्। इयाय, आरेत्यत्रैकाच्त्वमपि व्यपदेशिवद्भावादेव। द्विःप्रयोगश्च द्विर्वचनमिदम्। आवृत्तिसंख्या हि 'द्वे' इति विधीयते। तेन स एव शब्दो द्विरुच्चार्यते, न च शब्दान्तरं तस्य स्थाने विधीयते।

अर्थ—यह अधिकार है। एकाचः, द्वे, प्रथमस्य—इन तीनों का अधिकार है। इससे आगे जो कुछ कहा जायेगा, वहाँ सम्प्रसारण के विधान से पहले-पहले प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है—ऐसा जानना चाहिए। आगे कहा जायेगा—लिटि धातोरनभ्यासस्य। इसका भाव यह है कि अभ्यासरहित, धातु के अवयव, प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है।

उदा० (1) जजागार
जागृ लिट् → जागृ तिप्—परस्मैपदानां णलतुसु०,
जाग् जागृ णल्—प्रथम एकाच् को द्वित्व, पूर्वोऽभ्यासः,
जा जागार् अ—हलादिः शेषः, गुण, अत उपधायाः,
जजागार—ह्रस्वः।

(2) पपाच
पच णल्—पूर्ववत् लिट्, तिप्,
पच् पच् अ—पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास कार्य,
पपाच् अ—अत उपधायाः।

(3) इयाय
इ णल् (लिट्, प्र०पु० एकव०),
इ अ (चुटू, हलन्त्यम्, तस्य लोपः), 'अचो ञ्णिति' (7.2.115) से वृद्धि तथा 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (6.1.8) से द्वित्व युगपत् प्राप्त हुए। 'द्विर्वचनेऽचि' से प्रथम द्वित्व, पश्चात् वृद्धि आदेश, इ ऐ अ। 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' (6.4.78) से इयङ् तथा 'एचोऽयवायावः' से 'आय्' प्राप्त हैं। यद्यपि 'अचः परस्मिन्०' से ऐकार को स्थानिवद्भाव होकर प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, तदपि 'असवर्णे' पद ज्ञापक है कि यहाँ स्थानिवद् नहीं होता है। अङ्गकार्य के बलवान् होने से प्रथम इयङ् हुआ।
इयङ् ऐ अ—आय् आदेश—इयाय।

(4) आर
ऋ ल् (लिट् लकार), ऋ णल् प्र०पु० एकव०; ऋ अ (अनुबन्ध लोप); अर् अ (गुण); अ अर् अ (द्वित्व), आ अर् अ (अत आदेः); आ आर् अ (अत उपधायाः), आर् अ (दीर्घ)।

एकाच०—'एकाचः' यह बहुव्रीहि का निर्देश है। यथा—एकोऽच् यस्य सः—एकाच्।

अवयव के द्वारा विग्रह है तथा समुदाय समासार्थ है। समुदाय के अन्दर अवयव होता है। उसी अच् वाले अवयव को द्वित्व होता है। 'पच्' यहाँ जिस अच् के द्वारा समुदाय एकाच् है, उसी के द्वारा उसका अवयवस्वरूप अच् शब्द और प शब्द है। वहाँ पृथक् अवयव एकाच् को द्वित्व नहीं कहा जाता; अपितु समुदाय एकाच् को ही द्वित्व होता है। एक बार शास्त्र की प्रवृति से अवयवसहित समुदाय का अनुग्रहण होता है।

पपाचेत्य०—'पपाच' यहाँ प्रथमता व्यपदेशिवद्भाव से होती है। 'इयाय' व 'आर'—यहाँ भी एकाच् तो व्यपदेशिवद्भाव से होता है। द्विर्वचन का अर्थ है—दो बार प्रयोग होना। 'द्वे' यह आवृत्तिसंख्या का विधान किया जाता है। अतः वह शब्द ही दो बार उच्चरित किया जाता है। उसके स्थान पर शब्द का विधान नहीं किया जाता।

(2442) अजादेर्द्वितीयस्य *2* (2176)

प्रथमद्विर्वचनापवादोऽयम्। अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्विर्व-

चनमधिक्रियते अच् आदिर्यस्य धातोस्तदवयवस्य द्वितीयस्यैकाचो द्वे भवतः। अटिटिषति। अशिशिषति। अरिरिषति। अर्तेः स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि (7.2.74) इति इट् क्रियते, तस्मिन् कृते गुणे च रपरत्वे च द्विर्वचनेऽचि (1.1.59) इति स्थानिवद्भावः प्राप्नोति। तत्र प्रतिविधानं द्विर्वचननिमित्तेऽचीत्युच्यते। न चात्र द्विर्वचननिमित्तमिट्, किं तर्हि? कार्यी। न च कार्यी निमित्तत्वेनाश्रीयते। तथाहि–क्ङिन्निमित्तयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधो विधीयमानः शयितेत्यत्र न भवति। न हि कार्यिणः शीङो गुणं प्रति निमित्तभाव इति। अत्र केचिदजादेरिति कर्मधारयात् पञ्चमीमिच्छन्ति–अच्चासावादिश्चेत्यजादिः, तस्मादजादेरुत्तरस्यैकाचो द्वे भवत इति। तेषां द्वितीयस्येति विस्पष्टार्थं द्रष्टव्यम्।

अर्थ—प्रथम एकाच् के द्विर्वचन का यह अपवाद है। अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है—यह अधिकार है। अच् है आदि में जिस धातु के, उसके अवयवस्वरूप द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

उदा० (1) अटिटिषति
अटितुम् इच्छति → अट् सन्—आर्धधातुक संज्ञा, आर्धधातुक इट्,
अटिस—सन्यङोः, द्वितीय एकाच् को द्वित्व,
अ टिस् टिस् अ—अभ्यास कार्य, आदेशप्रत्यययोः,
अटिटिषति—धातुसंज्ञा, तिप्, शप् आदि।

(2) अशिशिषति
अश् सन्—पूर्ववत्,
अश् इट् स—पूर्ववत्।
अ शिस् शिस् अ—अभ्यास कार्य,
अशिशिषति—पूर्ववत्।

(3) अरिरिषति
ऋ सन् → अर् इट् स—'स्मिपूङ्रञ्ज०' से 'इट्',
अरिस् रिस—पूर्ववत्,
अरिरिषति—पूर्ववत्।

यहाँ इट् किया गया है। उसके करने पर और गुण करने पर 'उरण् रपरः' से रपर करने पर 'द्विर्वचनेऽचि' से स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है। उसका प्रतिविधान 'द्विर्वचननिमित्तेऽचि' ऐसा कहा गया है। यहाँ द्विर्वचन का निमित्त इट् नहीं है। कार्यी है।

क्ङिन्निमि०—'क्ङिति च' के द्वारा कित् ङित् निमित्तक गुण व वृद्धि का विधीयमान निषेध 'शयित' यहाँ नहीं होता है। कार्यी शीङ् का गुण के प्रति निमित्तभाव नहीं है।

अत्र केचिद्०—'अजादि' पद में काशिकाकार बहुव्रीहि समास मानते हैं[1]।

काशिकाकार के अनुसार प्रकृत सूत्र में 'द्वितीय' पद का योग सिद्ध करता है कि 'अजादि' पद में बहुव्रीहि समास है। यदि अच्चाऽसौ आदिश्च अजादिः—इस प्रकार कर्मधारय समास माना जाय तो 'द्वितीय' पद व्यर्थ हो जाता है। पतञ्जलि यहाँ कर्मधारय मानते हैं। उनके अनुसार 'द्वितीयस्य' पद व्यर्थ है (द्र०—महा० 6.1.2)।

यद्यपि काशिकाकार परोक्षतः यहाँ कर्मधारय समास मानते हैं और 'द्वितीयस्य' पद का योग अत्यधिक स्पष्टता के लिए मानते हैं।[2] वस्तुतः 'अजादि' में कर्मधारय मानना उचित प्रतीत होता है। यदि बहुव्रीहि समास मान लिया जाय तो इन्द्रम् आत्मन इच्छति–इन्द्रीयति तथा इन्द्रीयितुम् इच्छति–इन्द्रिदीयिषति आदि में दकार को द्वित्व का निषेध हो जाता है।

(2443) न न्द्राः संयोगादयः *3* (2446)

द्वितीयस्येति वर्त्तते। द्वितीयस्यैकाचोऽवयवभूतानां न्द्राणां तदन्तर्भावात् प्राप्तं द्विर्वचनं प्रतिषिध्यते। नकारदकाररेफा द्वितीयैकाचोऽवयवभूताः संयोगादयो न द्विरुच्यन्ते। उन्दिदिषति। अड्डिडिषति। अर्चिचिषति। न्द्रा इति किम्? ईचिक्षिषते। संयोगादय इति किम्? प्राणिणिषति। अनितेः (8.4.19), उभौ साभ्यासस्य (8.4.21), इति णत्वम्। अजादेरित्येव–दिद्रासति। केचिदजादेरित्यपि पञ्चम्यन्तं कर्मधारयमनुवर्त्तयन्ति, तस्य प्रयोजनम्–इन्दिद्रीयिषतीति। अजादेरनन्तरत्वाभावाद् दकारो द्विरुच्यत एव, नकारो न द्विरुच्यते। इन्द्रमिच्छति क्यच्। तदन्तात्–इन्द्रीयितुमिच्छतीति सन्। *बकारस्याप्ययं प्रतिषेधो वक्तव्य*। उब्जिजिषति। यदा बकारोपध उब्जिरुपदिश्यते तदायं प्रतिषेधः। दकारोपदेशे तु न वक्तव्यः। बत्वं तु तदा दकारस्य विधातव्यम्। *यकारपरस्य रेफस्य प्रतिषेधो न भवतीति वक्तव्यम्*। अरार्यते। अर्तेः अत्यर्तिशूर्णोतीनामुपसंख्यानम् (7.4.82) इति यङ्। तत्र यङि च (7.4.30) इति गुणस्ततो द्विर्वचनम्। *ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। कस्य तृतीयस्य? केचिदाहुर्व्यञ्जनस्येति। ईर्ष्यियिषति। अपरे पुनस्तृतीयस्यैकाच इति व्याचक्षते। ईर्ष्यिषिषति। *कण्ड्वादीनां तृतीय-

1. काशि० 6.1.2 अच् आदिर्यस्य धातोस्तदवयवस्य।
2. काशि० 6.1.2 तेषां 'द्वितीयस्य' इति विस्पष्टार्थम्।

स्यैकाचो द्वे भवत इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। कण्डूयियिषति। असूयियिषति। *वा नामधातूनां तृतीयस्यैकाचो द्वे भवत इति वक्तव्यम्* (म०भा०) अश्वीयियिषति। अशिश्वीयिषति। अपर आह—*यथेष्टं नामधातुष्विति वक्तव्यम्* (म०भा०)। पुपुत्रीयिषति। पुतित्रीयिषति। पुत्रीयियिषति। पुपुतित्रीयियिषति। पुत्रीयियिषति।

अर्थ—'द्वितीयस्य' का अनुवर्त्तन है। द्वितीय एकाच् के अवयवभूत व संयोग के आदि में स्थित नकार, दकार व रेफ के द्विर्वचन का निषेध किया जाता है। द्वितीय एकाच् के अपवादभूत संयोगादि नकार व रेफ को द्वित्व नहीं होता। सूत्र का भाव इस प्रकार है—

(क) धातु के आदि में अच् हो,
(ख) उसका जो द्वितीय एकाच्,
(ग) द्वितीय एकाच् में जो संयोग,
(घ) उस संयोग के आदि में स्थित,
(ङ) नकार, दकार या रेफ वर्ण को द्वित्व नहीं होता है।

अर्थात् यदि द्वितीय एकाच् समुदाय के संयोग के आदि वाला अक्षर नकार, दकार या रेफ हो तो उसे द्वित्व नहीं होता है।

उदा० (1) उन्दिदिषति
उन्द् सन् → उन्द् इट् स—वलादिक इट्,
उन्दिष—षत्व, द्वितीय एकाच् 'न्दिष्' है, 'न्द्' की संयोग संज्ञा हुई, इसके आदि में नकार है, उसे द्वित्व नहीं हुआ,
उन् दिष् दिष् अ—अभ्यासकार्य, धातुसंज्ञा,
उन् दि दिष अ ति—अनुस्वार, परसवर्ण, तिप्, शप्।

(2) अड्डिडिषति
अड्ड् इट् सन्—पूर्ववत्, दकार को द्वित्व नहीं हुआ,
अद् डिष् डिष् अ—द्वित्व,
अड्डिडिषति—पूर्ववत्।

(3) अर्चिचिषति
अर्च् इट् सन् → अर्चिष—रेफ को द्वित्व नहीं हुआ,
अर् चिष् चिष् अ—शेष द्वितीय एकाच् को द्वित्व,
अर्चिचिषति—लकार कार्य।

न्द्रा इति—नकार, दकार व रेफ को ही द्वित्व नहीं होता—

(4) ईचिक्षिषते
ईक्ष् इट् सन्—'क्षिष्' द्वितीय एकाच् है, 'क्ष्' की संयोग संज्ञा है; परन्तु इसके आदि में नकार, दकार या रेफ नहीं है; अतः द्वित्व का निषेध नहीं हुआ,
ई क्षिष् क्षिष—अभ्यास कार्य, हलादिः शेषः,
ई कि क्षिष—कुहोश्चुः, धातुसंज्ञा,
ईचिक्षिषते—त, शप्।

संयोगादय०—संयोग के आदि में जो नकार, दकार व रेफ, उनके द्वित्व का निषेध होता है—

(5) प्राणिणिषति
प्र अन् इट् सन्—'निष्' द्वितीय एकाच् के आदि में नकार है, परन्तु उसकी संयोगसंज्ञा नहीं है, द्वित्व का निषेध नहीं हुआ,
प्र अ निष् निष—अभ्यास कार्य, णत्व, धातुसंज्ञा,
प्राणिणिषति—लकार कार्य।

अजादेरि०—आदिभूत अच् से परे ही यह निषेध होता है—

(6) दिद्रासति
द्रा सन्—यहाँ संयोग के आदि में (द्) है, द्वित्व का निमित्त भी है; परन्तु आदिभूत अच् नहीं है, निषेध नहीं होता है,
द्रा द्रा स—अभ्यास कार्य,
दिद्रासति—लकारकार्य।

अजादेरनन्त०—कुछ विद्वान् 'अजादि' शब्द में कर्मधारय समास स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'अजादेः' पद में पञ्चमी है। तदनुसार ही सूत्र का निम्नलिखित अर्थ किया जाता है—

आदिभूत अच् से परे द्वितीय एकाच् रूप समुदाय के संयोग के आदि में स्थित नकार, दकार तथा रेफ को द्विर्वचन नहीं होता। इसका फल निम्नलिखित स्थल पर देखा जाता है—

(7) इन्द्रिद्रीयिषति
इन्द्रम् इच्छति—इस अर्थ में 'क्यच्' हुआ,
इन्द्र य—'क्यचि च', धातुसंज्ञा,
इन्द्रीयति—लकारकार्य।
इन्द्रीयितुम् इच्छति—इस अर्थ में 'सन्',
इन्द्रीय इट् सन्—वलादिक 'इट्',
इन् द्री द्री यिष—अजादि के अनन्तर होने से दकार को द्वित्व होता है, नकार को नहीं। अभ्यास को ह्रस्वादेश,
इन्द्रिद्रीयिषति—धातुसंज्ञा, लकारकार्य।

नकारस्याऽप्य०—संयोग के आदि में जो नकार, उसे द्वित्व नहीं होता है—

(8) उब्जिजिषति
उब्ज् सन् → उब्ज् इट् स—वलादिक इट्,
उब् जि जिष—बकार को द्वित्व नहीं हुआ, धातुसंज्ञा,

उब्जिजिषति—लकारकार्य।

जहाँ 'उब्जि' इस प्रकार नकारोपध का उपदेश होता है, वहाँ यह निषेध होता है। दकार उपदेश की दशा में यह नहीं होता। दकार के स्थान पर बकार होता है।

यकारपरस्य०—यकार है परे जिसके, ऐसे रेफ को द्वित्व का निषेध नहीं होता है—

(9) अरार्यते

ऋ यङ्—'अट्यर्त्तिशूर्णोतीनामुपस'० (वा०),

अर्य—यङि च, उरण् रपरः,

अर्य र्य—सन्यङोः, नन्द्राः संयोगादयः, वार्त्तिक से रेफ को द्वित्व,

अरार्य—हलादिः शेषः, दीर्घोऽकितः,

अरार्य शप् त—लकारकार्य।

ईर्ष्यतिस्तृ०—ईर्ष्य धातु के तृतीय व्यञ्जन अथवा तृतीय एकाच् को द्वित्व होता है—

(10) ईर्ष्यियिषति

ईर्ष्य सन् → ईर्ष्य इट् स—'इट्' हुआ,

ईर्ष् यि यि स—तृतीय व्यञ्जन को द्वित्व हुआ,

ईर्ष्यियिषति—तिप्, शप्।

(11) ईर्ष्यिषिषति

ईर्ष्यिष—इस दशा में 'सन्यङोः' से द्वित्व हुआ,

ईर्ष्यिषिषति—तृतीय एकाच् को द्वित्व, लकारकार्य।

कण्ड्वादी०—कण्डू आदि धातुओं के तृतीय एकाच् को द्वित्व होता है :

(12) कण्डूयियिषति

कण्डू यक्—कण्ड्वादिभ्यो यक्,

कण्डूय सन्—इच्छति अर्थ में,

कण्डूय इट् स—सन्यङोः,

कण्डूयिष् यिष् अ—अभ्यास कार्य, धातुसंज्ञा,

कण्डूयियिषति—लकारकार्य।

(13) असूयियिषति

असूय इट् सन्—पूर्ववत् तृतीय एकाच् को द्वित्व,

असू यि यि ष् अ—लकारकार्य।

वा नामधा०—नामधातु के तृतीय एकाच् को द्वित्व विकल्प से होता है,

(14) अश्वीयियिषति

आत्मनोऽश्वम् इच्छति—इस अर्थ में 'क्यच्' हुआ,

अश्व क्यच्—क्यचि च, सन्,

अश्वीय सन्—वलादिक इट्,

अश्वीय इट् स—सन्यङोः,

अश्वी यि यिष् अ—अभ्यास कार्य,

अश्वीयियिषति—लकारकार्य।

(15) अशिश्वीयिषति

अश्वीय इट् सन्—इस दशा में तृतीय एकाच् को द्वित्व के अभाव पक्ष में द्वितीय एकाच् को द्वित्व हुआ,

अ श्वी श्वी यि ष—अभ्यास कार्य, हलादि शेष, ह्रस्व,

अशिश्वीयिषति—लकारकार्य।

यथेष्टं०—कुछ विद्वानों के अनुसार नामधातुओं के विषय में किसी को भी (अर्थात् यथेच्छ) द्वित्व होता है—

(16) पुपुत्रीयिषति

पुत्रम् आत्मन इच्छति—क्यच् हुआ,

पुत्रीय सन्—सन्, वलादिक इट्, सन्यङोः,

पुत्रीय इट् स—प्रथम एकाच् को द्वित्व,

पुपुत्रीयिषति—तिप्, शप्।

(17) पुतित्रीयिषति

पुत्रीय इट् स—इस दशा में द्वितीय एकाच् को द्वित्व,

पुत्री त्री यिष—हलादि शेषः, ह्रस्वः,

पुतित्रीयिषति—लकारकार्य।

(18) पुत्रीयियिषति

पुत्रीय इट् स—तृतीय एकाच् को द्वित्व,

पुत्री यिष् यिष् अ—अभ्यास कार्य,

पुत्रीयियि षति—लकारकार्य।

(19) पुत्रीयिषिषति—

पुत्रीय इट् सन्—चतुर्थ एकाच् को द्वित्व,

पुत्री यिष् इष् अ—तिप्,

पुत्रीयिषिषति—शप् आदि।

(20) पुपुतित्रीयियिषति—

पुपु त्री त्री यिष् यिष् अ—तीनों एकाचों को द्वित्व,

पुपुतित्रीयियिषति—अभ्यासकार्य, लकार।

(2444) पूर्वोऽभ्यासः *4* (2178)

द्वे इति प्रथमान्तं यदनुवर्त्तते तदर्थादिह षष्ठ्यन्तं जायते। तत्र प्रत्यासत्तेरस्मिन् प्रकरणे ये द्वे विहिते तयोर्यः पूर्वोऽवयवः, सोऽभ्याससंज्ञो भवति। पपाच। पिपक्षति।

पापच्यते। जुहोति। अपीपचत्। अभ्यासप्रदेशास्तु 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (7.4.58) इत्येवमादयः।

अर्थ—'द्वे' यह प्रथमान्त पद षष्ठ्यन्त में विभक्तिविपरिणाम से बना लेते हैं। इस प्रकारण में जो दो उच्चारण कहे गए हैं, उनमें पूर्व जो अवयव, उसकी अभ्याससंज्ञा होती है।

उदा० (1) पपाच

पच् पच् अ—लिट्, तिप्, णल्, लिटि धातोरनभ्यासस्य से प्रथम एकाच् को द्वित्व, पूर्व अवयव 'पच्' की अभ्यास संज्ञा,

प पच् अ—हलादिः शेषः,

पपाच—अत उपधायाः।

(2) पिपक्षति

पच् सन्—'सन्यङोः' से द्वित्व,

पच् पच् स—हलादिः शेषः,

पि पक् ष—इकार, कुत्व, ष,

पिपक्षति—लकार।

(3) पापच्यते

पच् यङ्—प पच् य—'सन्यङोः' से द्वित्व, पूर्वोऽभ्यासः, हलादिः शेषः,

पा पच् य—'दीर्घोऽकितः' से दीर्घ, सनाद्यन्ता धातवः, लट् प्र० पु० एकव०, शप्, अतो गुणे, टित आत्मनेपदानां टेरे।

(4) जुहोति

हु तिप्—लट्, तिप्, शप्, जुहोत्यादिभ्यः श्लुः, श्लौ,

हु हु ति—अभ्यास संज्ञा, कुहोश्चुः,

झु हु ति—अभ्यासे चर्च,

जु हु ति—गुण,

जुहोति—रूप बना।

(5) अपीपचत्

पच् णिच्।

(2445) उभे अभ्यस्तम् *5* (426)

द्वे इति वर्त्तमाने उभेग्रहणं समुदायसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम्। ये द्वे विहिते ते उभे अपि समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे भवतः। ददति। ददत्। दधतु। उभेग्रहणं किम्? नेनिजतीत्यत्र अभ्यस्तानामादिः (6.1.169) इति समुदाये उदात्तत्वं यथा स्यात्, प्रत्येकं पर्यायेण वा मा भूदिति। अभ्यस्तप्रदेशाः– अभ्यस्तानामादिः (6.1.189) इत्येवमादयः।

अर्थ—'द्वे' पद वर्त्तमान होने पर भी 'उभे' पद का ग्रहण समुदाय की संज्ञा के ज्ञान के लिए है। षष्ठाऽध्याय के द्वित्व प्रकरण में द्वित्व के द्वारा जिन दो शब्दस्वरूपों का विधान है, उन दोनों की समुदित रूप से अभ्यस्त संज्ञा होती है।

अष्टाध्यायी में द्वित्वविधान दो स्थलों पर प्राप्त होता है— 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (6.1.1) तथा 'सर्वस्य०' (8.1.1)। अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा (परि०) अर्थात् विधि और निषेध समीप पठित के ही होते हैं, दूर पठित के नहीं। चूँकि प्रकृत सूत्र षष्ठ अध्याय का है। अतः उक्त संज्ञा की प्रवृत्ति षाष्ठ द्वित्व प्रकरण में ही होती है।

प्रकृत सूत्र में 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' से 'द्वे' पद का अनुवर्त्तन सम्भव होने पर भी यहाँ 'उभे' पद के ग्रहण के द्वारा सूचित होता है कि इस प्रकार में समुदित दोनों पदों की अभ्यस्त संज्ञा होती है। यदि प्रत्येक की पृथक्-पृथक् मानेंगे तो 'नेनिजति' आदि में 'अभ्यस्तानामादिः' (6.1.183) के द्वारा प्रत्येक को आद्युदात्त होकर अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

'उभे अभ्यस्तम्' यहाँ 'उभे' की प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव हुआ है।

उदा० (1) ददति

दा झि—लट्, प्र०पु०, बहुव०,

दा शप् झि—श्लुत्व, 'श्लौ' से द्वित्व;

दा दा झि—ददा झि—अभ्यस्तसंज्ञा, 'श्नाऽभ्यस्तयो०' आकारलोप; 'अत्' आदेश।

(2) ददत्

दा लट् → दा शतृ—लटः शतृशानच०,

दा शप् अत्—अनुबन्धलोप, तिङ् शित् सार्वधातुकम्, कर्त्तरि शप्, श्लुत्व,

दा दा अत्—श्लौ, अभ्यस्त संज्ञा,

द दा अत् → द द् अत्—श्नाऽभ्यस्तयोरातः,

ददत् सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु लुक्।

(3) दधतु

धा झि—लोट्, शप्, श्लुत्व, अभ्यास संज्ञा, अदभ्यस्तात्,

धा धा अति—अभ्यास संज्ञा, ह्रस्वः, अभ्यासे चर्च,

द धा अति—

द ध् अ ति—श्नाऽभ्यस्तयोरातः,

दधतु—एरुः।

उभेग्रह०—'उभे' पद का ग्रहण किया गया है, ताकि 'नेनिजति' यहाँ 'अभ्यस्तानामादिः' के द्वारा समुदाय में ही कार्य हो; प्रत्येक को पर्यायेण कार्य न हो।

(2446) जक्षित्यादयः षट् *6* (428)

अभ्यस्तमिति वर्त्तते। जक्ष इत्ययं धातुरित्यादयश्चान्ये षट् धातवोऽभ्यस्तसंज्ञा भवन्ति। सेयं सप्तानां धातूनामभ्यस्तसंज्ञा विधीयते। जक्ष भक्षहसनयोः (धा०पा० 1072) इत्यतः प्रभृति वेवीङ् वेतिना तुल्य (धा०पा० 1078) इति यावत्। जक्षति। जाग्रति। दरिद्रति। चकासति। शासति। दीध्यते। वेव्यते—इत्यत्राभ्यस्तानामादिरित्येष स्वरः प्रयोजनम्। दीध्यदिति च शतरि व्यत्ययेन सम्पादिते नाभ्यस्ताच्छतुः (7.1.78) इति नुमः प्रतिषेधः।

अर्थ—'अभ्यस्तम्' का अनुवर्त्तन है। जक्ष् धातु की तथा जक्षादि अन्य छः धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होती है। जक्ष्, जागृ, दरिद्रा, शासु, चकासृ, दीधीङ् तथा वेवीङ्—इन सात धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होती है।

उदा० (1) जक्षति
जक्ष् झि—लट्, प्र० पु० बहुवचन,
जक्ष् शप् झि—अदिप्रभृतिभ्यः शपः, अभ्यस्त संज्ञा,
जक्ष् अ ति—अदभ्यस्तात्,
जक्षति—रूप बना।

(2) जाग्रति
जागृ झि—शप्, लुक्, अदभ्यस्तात्,
जाग्रति—यणादेश।

(3) दरिद्रति
दरिद्रा अ ति—झि, पूर्ववत्, अभ्यस्त संज्ञा,
दरिद्रति—श्नाऽभ्यस्तयोरातः।

(4) चकासति
चकास् अ ति—पूर्ववत्।

(5) शासति
शास् अ ति—पूर्ववत्।

(6) दीध्यते
दीधी अत् अ—झ, आत्मनेपदेष्वनतः, टि को एत्व।

(7) वेव्यते
वेवी अत् अ—पूर्ववत्।

यहाँ 'अभ्यस्तानामादिः' के द्वारा आद्युदात्त होता है—दीध्यंते, वेव्यंते।

(8) दीध्यत्
दी धी शतृ—इस दशा में 'शप्' हुआ, 'उगिदचाम्०' से 'नुम्' प्राप्त हुआ, 'नाऽभ्यस्ताच्छतुः' से निषेध,
दीध्यत्—विभक्तिकार्य।

(2447) तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य *7* (3509)

तुजादीनामिति प्रकारे आदिशब्दः। कश्च प्रकारः? तुजेर्दीर्घोऽभ्यासस्य न विहितः, दृश्यते च, ये तथाभूतास्ते तुजादयस्तेषामभ्यासस्य दीर्घः साधुर्भवति। तूतुजानः (ऋ० 1.3.6)। मामहानः (तै०सं० 4.6.3.2)। अनड्वान् दाधार (अथ० 4.11.1)। व्रतं मीमाय (अथ० 5.11.3)। दाधार। स तूताव (ऋ० 1.94.2)। दीर्घश्चैषां छन्दसि प्रत्ययविशेषे एव दृश्यते, ततोऽन्यत्र न भवति-तुतोज शबलान्।

अर्थ—यहाँ प्रकार अर्थ में 'आदि' शब्द है। कैसा प्रकार? तुज् के अभ्यास को दीर्घ का विधान नहीं है, परन्तु दृष्टिगोचर होता है। तुज् आदि धातुओं के अभ्यास को दीर्घ होता है।

उदा० (1) तूतुजानः
तुज् कानच्—छन्दसि लिट्, लिटः कानज्वा,
तुज् तुज् कानच्—द्वित्व (स्थानिवद्भाव से), लशक्वतद्धिते,
तुतुज् आन—पूर्वोऽभ्यासः, प्रकृत सूत्र से दीर्घादेश,
तूतुजान सु—विभक्तिकार्य।

(2) मामहानः
मह् मह् कानच्—पूर्ववत् द्वित्व,
ममह् आन—अभ्यास संज्ञा, दीर्घादेश,
मामहानः—सु।

(3) दाधार
धृ धृ णल्—लिट्, णल्, द्वित्व,
धर् धृ अ—उरत्, हलादि शेष,
द ध र् अ—अभ्यासे चर्च, गुण,
दाधार—अत उपधायाः, अभ्यास को दीर्घादेश।

(4) मीमाय
मि णल्—(लिट्, प्र०पु० एकव०), अनुबन्धलोप,
मि मि अ—द्वित्व, प्रकृत सूत्र से अभ्यास को दीर्घआदेश;
मि मै अ—अचो ञ्णिति;

मीमाय् अ—एचोऽयवायावः ।

(5) तूताव
तु-णल्—पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यास को दीर्घ,
आव् आदेश ।

वेद के विषय में पूर्वोक्त धातुओं के अभ्यास को दीर्घादेश प्रत्ययविशेष में ही दृष्टिगोचर होता है। उससे अन्य स्थलों पर नहीं होता है—

(6) तुतोज शबलान्
यहाँ अभ्यास को दीर्घादेश नहीं हुआ।

(2448) लिटि धातोरनभ्यासस्य *8* (2177)

लिटि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। पपाच। पपाठ। प्रोर्णुनाव। 'वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भाव' इति वचनाद् ऊर्णोतेरिजादेरित्याम्न भवति। लिटीति किम्? कर्त्ता, हर्त्ता। धातोरिति किम्? ससृवांसो विशृण्विरे (ऋ० 4.8.6), सोममिन्द्राय सुन्विरे (ऋ० 7.32.4)। अनभ्यासस्येति किम्? कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् (ऋ० 1.79.2)। नोनूयतेर्नोनाव। सम्मान्या मरुतः सम्मिमिक्षुः। (ऋ० 1.165.1) लिटि उसन्तः। *द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्* (म० भा०)। यो जागार तमृचः कामयन्ते (ऋ० 5.44.14)। दाति प्रियाणीति (ऋ० 4.8.3)।

अर्थ—लिट् परे रहते अभ्यासरहित धातु के अवयवभूत प्रथम एकाच् अथवा द्वितीय एकाच् को अर्थात् यथायोग द्वित्व होता है।

उदा० (1) पपाच
पच् णल्—लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व नहीं हुआ,
पच पच् अ—अभ्यास कार्य,
पपाच—अत उपधायाः।

(2) पपाठ
पठ् णल्—पूर्ववत्।

(3) ऊर्णुनाव
ऊर्णु णल्—लिट् प्र० पु० एकवचन, द्वितीय एकाच् 'र्णु' को द्वित्व प्राप्त हुआ, 'न न्द्राः संयोगादयः' से रेफ को द्वित्व का निषेध हुआ, 'नु' को द्वित्व हुआ; कारण कि द्वित्वविधायक सूत्र की दृष्टि में 'रषाभ्यां नो णः०' सूत्र असिद्ध है,

ऊर् नु नु अ—'ऊर्णोर्णुवद्भावो वाच्यः' इस वचन से 'आम्' नहीं होता है,
ऊर् नु नाव् अ—वृद्धि आवादेश,
ऊर्णुनाव—णत्व।

लिटीति—लिट् परे रहते ही द्वित्व होता है:

(4) कर्त्ता
कृ तृच्—लिट् परे नहीं, अतः द्वित्व नहीं हुआ,
कर्तृ सु—आर्धधातुक गुण, विभक्तिकार्य।

(5) हर्त्ता
पूर्ववत् द्वित्व नहीं हुआ।

धातोरि०—धातु को यथायोग द्वित्व होता है—

(6) ससृवांसो विशृण्विरे (ऋ० 4.8.6)—
यहाँ नहीं हुआ।

अनभ्यास०—अभ्यासरहित धातु को यथायोग द्वित्व होता है—

(7) कृष्णो नोनाव (ऋ० 1.79.2)
णु यङ्—सन्यङोः, द्वित्व, गुण, गुणो यङ्लुकोः,
नो नू य—यङोऽचि च,
नोनू लिट्—णल् हुआ, द्वित्व की प्राप्ति, परन्तु 'नोनू' अभ्यासरहित नहीं है, अतः द्वित्व नहीं हुआ,
नोनाव—वृद्धि, आवादेश।

द्विर्वचनप्रकरणे०—द्विर्वचन के प्रकरण में वेद में विकल्प से द्वित्व होता है—

(8) जागार
जागृ णल्—लिट् स्थानिक तिप्,
जागार—द्वित्व नहीं हुआ।

(9) दाति
दा तिप्—शप्, जुहोत्यादिभ्यः श्लुः, द्वित्व प्राप्त हुआ,
दाति—द्वित्व नहीं हुआ।

विशेष—चूँकि 'लिट्' धातु से ही हुआ करता है। अतः यहाँ 'धातोः' पद का अनुवर्त्तन अर्थलभ्य है। प्रकृत सूत्र में 'धातोः' पद का पुनः ग्रहण किया गया है। अर्थलभ्य 'धातोः' पद पञ्चम्यन्त है, उसे यहाँ षष्ठ्यन्त करना पड़ता। इस झंझट से बचने के लिए षष्ठ्यन्त 'धातोः' पद का प्रयोग किया गया है। ऐसा न करने पर सूत्र में अन्य कई दोष उपस्थित हो जाते हैं। यथा—

उस दशा में 'लिट् परे होने पर एक अच् वाले प्रथम भाग को द्वित्व होता है—' ऐसा अर्थ होता है। तब 'पपाच' आदि रूप तो सिद्ध हो जाते, परन्तु 'जागृ णल्' इस दशा में 'जाग्' को द्वित्व नहीं होगा, कारण कि 'जाग्' से परे लिट् नहीं है।

(2449) सन्यङोः *9* (2395)

धातोरनभ्यासस्येति वर्त्तते। सन्यङोरिति च षष्ठ्यन्त-मेतत्। सन्नन्तस्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। पिपक्षति। पिपतिषति। अरिरिषति। उन्दिदिषति। यङ-न्तस्य-पापच्यते। अटाट्यते। यायज्यते। अरार्यते। प्रोर्णोनूयते। अनभ्यासस्येत्येव-जुगुप्सिषते, लोलूयिषते।

अर्थ—'धातोरनभ्यासस्य' का अनुवर्त्तन है। 'सन्यङोः' यह षष्ठ्यन्त है। सन्नन्त और यङन्त के अभ्यासरहित धातु को यथायोग (अर्थात् प्रथम एकाच् अथवा द्वितीय एकाच् को) द्वित्व होता है।

उदा० (क) सन्नन्तस्य—

(1) पिपक्षति

पच् सन् → पच् पच् स—सन्यङोः, एकाचो द्वे प्रथमस्य,

प पच् स → प पक् ष—हलादिः शेषः, चोः कुः, आदेश-प्रत्यययोः,

पिपक्षति—इकार, तिप्, शप्।

(2) पिपतिषति

पत् पत् सन्—पूर्ववत्,

प पत् इ स—वलादिक इट्,

पिपतिषति—पूर्ववत्।

(3) अरिरिषति

ऋ इट् सन् → अर् इ स—इट् गुण,

अ रि रि ष—द्वितीय एकाच् को द्वित्व,

अरिरिषति—तिप्, शप्।

(4) उन्दिदिषति

उन्द् इट् सन् → उन् दि दिष् अ—न न्द्राः संयोगादयः,

उन्दि दिष तिप्—धातुसंज्ञा, तिप्,

उन्दिदिषति—शप्।

(ख) यङन्तस्य—

(5) पापच्यते

पच् यङ्—प पच् य—'सन्यङोः' से द्वित्व, हलादि शेष,

पापच् य—दीर्घोऽकितः, धातुसंज्ञा,

पापच्य अ त—शप्, एत्व।

(6) यायज्यते

यज् यङ्—पूर्ववत् 'सन्यङोः' से द्वित्व, शेष सभी।

(7) अरार्यते

ऋ यङ्—अर् य—'यङि च' से गुण;

अर् अर् य—'सन्यङोः' से द्वित्व;

अरार्य शप् त—धातुसंज्ञा, लकार।

(8) प्रोर्णोनूयते

ऊर्णु यङ्—'न न्द्राः संयोगादयः' से रेफ को द्वित्व का निषेध हो गया, 'सन्यङोः' से 'नु' को द्वित्व हुआ;

ऊर् नु नु य—अभ्यास को गुण; 'नु' को दीर्घ आदेश;

ऊर् णो नू य—णत्व; 'प्र' उपसर्ग, आद्गुणः, लकार उत्पत्ति।

अभ्यासरहित को ही द्वित्व होता है—

(9) जुगुप्सिषते

गुप् सन्—स्वार्थ में,

जुगुप्स सन्—धातुसंज्ञा, धातोः कर्मणः समान०, इट्, द्वित्व प्राप्त हुआ, निषेध,

जुगुप्सिषते—धातुसंज्ञा, त, शप्।

(10) लोलूयिषते

लू यङ् → लोलूय—धातुसंज्ञा,

लोलूय इट् सन्—पूर्ववत् सन्, इट्, द्वित्व नहीं हुआ,

लोलूयिषते—लकारकार्य।

विशेष—'सन्यङोः' पद षष्ठ्यन्त है। यदि सप्तमी मान ली जाय तो 'इण् सन् → इस' दशा में 'इ' को द्वित्व होकर अनिष्ट रूप बनता है।

दूसरे, यङ्लुक् प्रक्रिया में द्वित्व षष्ठ्यन्त 'सन्यङोः' से ही सिद्ध हो सकता है। यदि यहाँ सप्तमी मान लेंगे तो 'न लुमताङ्गस्य' के द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर द्वित्व नहीं हो सकेगा।

(2450) श्लौ *10* (2490)

श्लौ परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। जुहोति। बिभेति। जिह्रेति।

अर्थ—श्लु परे रहते धातु के अभ्यासरहित प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है।

उदा० (1) जुहोति
हु शप् तिप्—जुहोत्यादिभ्यः श्लुः, श्लौ, न लुमताङ्गस्य,
हु हु ति → झु हु ति—कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,
जुहोति—गुण।

(2) बिभेति
भी शप् तिप् → भी भी ति—पूर्ववत्,
बी भी ति—अभ्यासे चर्च,
बिभेति—ह्रस्वः, गुण।

(3) जिहेति
ह्री ह्री तिप्—पूर्ववत्,
झी ह्री ति—हलादिः शेष, कुहोश्चु,
जिहेति—ह्रस्वः, अभ्यासे चर्च, गुण।

(2451) चङि *11* (2315)

चङि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। अपीपचत्। अपीपठत्। आटिटत्। आशिशत्। आर्दिदत्। पचादीनां ण्यन्तानां चङि कृते णिलोप उपधाह्रस्वत्वं द्विर्वचनमित्येषां कार्याणां प्रवृत्तिक्रमः। तथा च सन्वल्लघुनि चङ्पर (6.4.93) इति सन्वद्भावो विधीयमानो ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावान्न प्रतिषिद्ध्यते। यो ह्यनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावो भवति। न चास्मिन् कार्याणां क्रमेणाऽनादिष्टादचः पूर्वोऽभ्यासो भवतीति। आटिटदिति द्विर्वचनेऽचि (1.1.59) इति स्थानिवद्भावाद् द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनं भवति।

अर्थ—चङ्, परे रहते अभ्यासरहित धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है।

उदा० (1) अपीपचत्
पच् णिच् → पाचि—हेतुमति च, अत उपधायाः, धातुसंज्ञा,
पाचि अ तिप्—लुङ्, तिप्, च्लि, चङ्, णिश्रिद्रु०,
पाच् अ ति—णेरनिटि,
पच् अ तिप्—णौ चङ्युपधाया०,
पच् पच् अ ति—चङि, अभ्यास संज्ञा,
पपच् अ ति—सन्वल्लघु०, सन्यतः,
पिपच् अ ति—दीर्घो लघोः, अंगसंज्ञा,
अ पीपच् अ ति—अट् आगम।
अपीपचत्—इतश्च।

(2) अपीपठत्
पठ् अ तिप्—पूर्ववत् णिच्, लकार, चङ्, णिच् लोप, ह्रस्व,
पि पठ् अ ति—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
अपीपठत्—पूर्ववत्।

(3) आटिटत्
अट् णिच् चङ् त्—पूर्ववत्,
अ टि ट् अ त्—द्वितीय एकाच् को द्वित्व, रूपातिदेश,
आ अटि टत्—अंगसंज्ञा, आट् आगम।

(4) आशिशत्
अश् णिच् चङ् त्—पूर्ववत्,
अ शि श् अ त्—णिच् लोप, द्वितीय एकाच् को द्वित्व, रूपातिदेश,
आ अशि श् अ त्—आट् आगम।

(5) आर्दिदत्
अर्द् णिच् चङ् त्—पूर्ववत् सभी, द्वित्व,
अर्दि द् अ त्—न न्द्राः संयोगादयः, रूपातिदेश,
आ अर्दि द त्—अंगसंज्ञा, आट्,
आर्दिदत्—आटश्च।

(2452) दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च *12* (3629)

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वानित्येते शब्दाश्छन्दसि भाषायां चाविशेषेण निपात्यते। दाश्वानिति दाशृ दान (धा०पा० 883) इत्येतस्य धातोः क्वसावद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपात्येते। दाश्वांसो दाशुपः सुतम् (ऋ० 1.3.5) इति। साह्वानिति षह मर्षणे (धा०पा० 853) इत्येतस्य परस्मैपदमुपधादीर्घत्वमद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपातनात्। साह्वान् बलाहकः। मीढ्वानिति मिह सेचने (धा०पा० 993) इत्येतस्याद्वित्वम्, अनिट्त्वम्, उपधादीर्घत्वं, ढत्वं च निपातनात्। मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृडय (ऋ० 2.33.14)। एकवचनमतन्त्रम्। *कृञादीनां के द्वे भवत इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। क्रियतेऽनेनेति चक्रम्। चिक्लिदम्। कृञः क्लिदेश्च घञर्थे कविधानम् (वा० 306) इति कप्रत्ययः। *चरिचलिपतिवदीनां द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य* (म०भा०)। चरादीनां धातूनामचि प्रत्यये परतो द्वे भवतः, अभ्यासस्यागागमो भवति। आगागमविधानसामर्थ्याच्च हलादिशेषो न भवति। हलादिःशेषे हि सत्यागमस्यादेशस्य च विशेषो नास्ति। चराचरः। चलाचलः।

पतापतः। वदावदः। *वेति वक्तव्यम्*। तेन—चरः पुरुषः। चलो रथः। पतं यानम्। वदो मनुष्यः—इत्येवमाद्यपि सिद्धं भवति। *हन्तेर्घत्वं च* (म०भा०)। हन्तेरचि प्रत्यये परतो द्वे भवतोऽभ्यासस्य च हकारस्य च घत्वमाक् चागमो भवति। परस्याभ्यासाच्चेति कुत्वम्। घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् (ऋ० 10.103.1)। *पाटेर्णिलुक् चोक् च दीर्घश्चाभ्यासस्य* (म०भा०)। पाटेरचि परतो द्वे भवतो णिलुक् च भवति। अभ्यासस्य चोगागमो दीर्घश्च भवति। पाटूपटः।

अर्थ—दाश्वस्, साह्वस् तथा मीढ्वस् शब्दों का निपातन वेद में तथा लोक में किया जाता है।

उदा० (1) दाश्वान्

दाश् लिट् → दाश् क्वसु—क्वसुश्च, द्विर्वचन नहीं हुआ, 'वस्वेकाज०' से इट् प्राप्त,

दाश्वस्—इट् का अभाव निपातन से,

दाश्वस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) साह्वान्

षड् → सह् क्वसु—धात्वादेः षः सः, पूर्ववत् क्वसु, परस्मैपद, उपधादीर्घ, द्विर्वचन का अभाव तथा इट् का निषेध—ये सभी कार्य निपातन से होते हैं—

साह्वस् सु—विभक्तिकार्य।

(3) मीढ्वान्

मिह् क्वसु—पूर्ववत् क्वसु, प्राप्त द्वित्व का निपातन से अभाव,

मीढ् वस्—प्राप्त इट् का निपातन से निषेध, निपातन से उपधा दीर्घ व ढकार,

मीढ्वस् सु—विभक्तिकार्य।

एकवचन अयुक्त है।

कृञादीनां०—'क' प्रत्यय के परे रहते 'कृञ्' को द्वित्व होता है—

(4) चक्रम्

क्रियतेऽनेन—घञर्थे कः,

कृ कृ क—लशक्वतद्धिते,

क कृ अ—उरत्, हलादिः शेषः,

चक्र सु—कुहोश्चुः।

(5) चिक्लिदम्

क्लिद् क → चिक्लिद् अ सु—पूर्ववत्।

चरिचलि०—अच् परे रहते चर्, चल्, पत् तथा वद् धातुओं को द्वित्व होता है तथा अभ्यास को 'आक्' आगम होता है—

(6) चराचरः

चर् अच् → चर् आक् चर् अ—'नन्दिग्रहिपचादि०' से 'अच्,' आगम-विधानसामर्थ्य से हलादिशेष नहीं होता है,

चराचर सु—विभक्तिकार्य।

(7) चलाचलः (पूर्ववत्)।

(8) वदावदः (पूर्ववत्)।

वेति वक्तव्यम्—पूर्वोक्त चर् आदि धातुओं को द्वित्व विकल्प से होता है—

(9) चरः

चर् अच् सु।

(10) चलः (पूर्ववत्)।

(11) वदः (पूर्ववत्)।

हन्तेर्घत्वं च—अच् परे रहते 'हन्' को द्वित्व होता है, अभ्यास को 'आक्' आगम तथा घत्व होता है—

(12) घनाघनः

हन् अच् → घन् अ—कुत्व,

घन् आक् घन् अ—द्वित्व, आक् आगम, सु।

पाटेर्णिलुक्०—पाटि धातु के णि का लुक् होता है, अभ्यास को 'ऊक्' आगम होता है तथा दीर्घादेश होता है—

(13) पाटूपटः

पाटि अच् → पट् अच्—णि लुक्,

पट् पट् अ—द्वित्व,

पाट् ऊक् पट् अ—दीर्घादेश, आगम, सु।

(2453) ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे *13* (1003)

पुत्र-पति-इत्येतयोरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति। यणः स्थाने इग्भवतीत्यर्थः। कारीषगन्धीपुत्रः। कारीषगन्धीपतिः। कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपतिः। करीषस्येव गन्धोऽस्य, कुमुदस्येव गन्धोऽस्येति बहुव्रीहिस्तत्रोपमानाच्च (5.4.137) इति गन्धस्येदन्तादेशः, करीषगन्धेरपत्यमित्यण् (4.1.92), तदन्तात् स्त्रियामणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्र (4.1.78) इति ष्यङ्, ततश्चापि विहिते षष्ठीसमासः। सम्प्रसारणस्य

(6.3.139) इति दीर्घत्वम्। ष्यङ इति किम्? इभ्यापुत्रः। क्षत्रियापुत्रः। पुत्रपत्योरिति किम्? कारीषगन्ध्याकुलम्। कौमुदगन्ध्याकुलम्। तत्पुरुष इति किम्? कारीषगन्ध्यापतिरस्य ग्रामस्य कारीषगन्ध्यापतिरयं ग्रामः। ष्यङ इति स्त्रीप्रत्ययग्रहणम् स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने नेति प्रत्ययग्रहणपरिभाषया यस्मात् स विहितस्तदादेरित्येष नियमो नास्ति। तेन परमकारीषगन्ध्यायाः पुत्रः परमकारीषगन्धीपुत्रः, परमकारीषगन्धीपतिरित्यपि भवति। उपसर्जने तु ष्यङि न भवति—अतिक्रान्ता कारीषगन्ध्यामतिकारीषगन्ध्या तस्याः पुत्रोऽतिकारीषगन्ध्यापुत्रः। अतिकारीषगन्ध्यापतिः। पुत्रपत्योः केवलयोरुत्तरपदयोरिदं सम्प्रसारणं तदादौ तदन्ते च न भवति—कारीषगन्ध्यापुत्रकुलम्, कारीषगन्ध्यापरमपुत्र इति। ष्यङन्ते यद्यप्यन्येऽपि यणः सन्ति तथापि ष्यङ एव सम्प्रसारणं निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति। सम्प्रसारणमिति चाधिक्रियते, विभाषा परेः (6.1.44) इति यावत्।

अर्थ—तत्पुरुष समास में पुत्र व पति शब्द उत्तर पद में हों तो 'ष्यङ्' को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) कारीषगन्धीपुत्रः
कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः—समास,
कारीषगन्ध् इ आ पुत्र—सम्प्रसारण,
कारीषगन्धि पुत्र—सम्प्रसारणाच्च,
कारीषगन्धीपुत्र सु—सम्प्रसारणस्य०, विभक्तिकार्य।

(2) कारीषगन्धीपतिः (पूर्ववत्)।
(3) कौमुदीगन्धीपुत्रः
कौमुदीगन्ध्याः पुत्रः—पूर्ववत्।

(4) कौमुदीगन्धीपतिः (पूर्ववत्)।

करीषस्येवस—करीषस्येव गन्धोऽस्य—इस दशा में बहुव्रीहि समास हुआ, 'उपमानाच्च' से 'गन्ध' को 'इत्' आदेश हुआ।

अब 'करीषगन्धेरपत्यम्' इस अर्थ में 'अण्' किया। तदनन्तर 'कारीषगन्ध' शब्द से गोत्र अर्थ में 'ष्यङ्' होकर 'कारीषगन्ध्य' हुआ। स्त्रीत्व में 'आप्' होकर 'कारीषगन्ध्या' बनता है।

ष्यङ इति०—ष्यङ् को ही सम्प्रसारण होता है:
(5) इभ्यापुत्रः
इभम् अर्हति—'दण्डादिभ्यो यत्' से 'यत्',
इभ्य टाप्—विभक्तिकार्य,
इभ्यापुत्र—सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(6) क्षत्रियापुत्रः
पूर्ववत् सम्प्रसारण नहीं हुआ।

पुत्रपत्यो—पुत्र तथा पति शब्द उत्तर पद में हो तो 'ष्यङ्' को सम्प्रसारण होता है—

(7) कारीषगन्ध्याकुलम्
यहाँ 'ष्यङ्' तो है, परन्तु उत्तर पद में न तो पति शब्द है; न ही पुत्र शब्द है। अतः सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(8) कौमुदगन्ध्याकुलम् (पूर्ववत्)।

तत्पुरुष इति—तत्पुरुष में ही 'ष्यङ्' को सम्प्रसारण होता है—

(9) कारीषगन्ध्यापतिः ग्रामः
कारीषगन्ध्याः पतिरस्य ग्रामस्य—बहुव्रीहि है, अतः सम्प्रसारण नहीं हुआ।

'ष्यङ' यह स्त्री प्रत्यय का ग्रहण है। स्त्रीप्रत्यय करने पर प्रत्ययग्रहण परिभाषा के द्वारा जिससे वह प्रत्यय विहित है, तदादि से यह नियम नहीं होता है।

(10) परमकारीषगन्धीपुत्रः
यहाँ सम्प्रसारण हो जाता है।

(11) परमकारीषगन्धीपतिः
यहाँ भी सम्प्रसारण होता है।

उपसर्जन में ष्यङ् नहीं होता है। यथा—

अतिक्रान्ता कारीषगन्ध्या—
तस्य पुत्रः—अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः।
इसी प्रकार—अतिकारीषगन्ध्यापतिः।

केवल पुत्र व पति के उत्तरपद रहते सम्प्रसारण होता है। तदादि और तदन्त में नहीं होता, यथा—

(12) कारीषगन्ध्यापुत्रकुलम्
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(13) कारीषगन्ध्या परमपुत्रः
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

ष्यङन्त में यद्यपि अन्य यण् हैं, तथापि 'ष्यङ्' को ही सम्प्रसारण होता है। द्र०—निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा भवन्ति।

'विभाषा परेः' पर्यन्त 'सम्प्रसारणम्' का अधिकार है।

(2454) बन्धुनि बहुव्रीहौ *14* (1005)

ष्यङः सम्प्रसारणमित्यनुवर्त्तते। बन्धुशब्द उत्तरपदे बहु-

व्रीहौ समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति। कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः। कौमुदगन्धीबन्धुः। बहुव्रीहाविति किम्? कारीषगन्ध्याया बन्धुः कारीषगन्ध्याबन्धुः। अत्रापि पूर्ववदेव परमकारीषगन्धीबन्धुरित्यत्र भवति। अतिकारीषगन्ध्याबन्धुरिति च न भवति, तथा कारीषगन्ध्याबन्धुधनः, कारीषगन्ध्यापरमबन्धुरित्यादौ न। बन्धुनीति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः शब्दरूपापेक्षया, पुँल्लिङ्गाभिधेयस्त्वयं बन्धुशब्दः। *मातच्मातृकमातृषु* (म०भा०)। ष्यङः सम्प्रसारणं भवति विभाषया बहुव्रीहावेव। कारीषगन्ध्या माताऽस्येत्येवं बहुव्रीहौ कृते एतस्मादेवोपसंख्यानात् पक्षे मातृशब्दस्य मातजादेशः। तत्र चित्करणसामर्थ्याद्बहुव्रीहिस्वरम् (6.2.1), अन्तोदात्तत्वं (6.1.163) बाधते। मातृमातृकशब्दयोश्च भेदेनोपादानाद्, नद्यृतश्च (5.4.153) इति कबपि विकल्प्यते। कारीषगन्धीमातः। कारीषगन्ध्यामातः। कारीषगन्धीमातृकः। कारीषगन्ध्यामातृकः। कारीषगन्धीमाता। कारीषगन्ध्यामाता।

अर्थ—'ष्यङः सम्प्रसारणम्' का अनुवर्त्तन है। बन्धु शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे बहुव्रीहि समास में 'ष्यङ्' को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) कारीषगन्धीबन्धुः
कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य—पूर्ववत् सम्प्रसारण।

(2) कौमुदगन्धीबन्धुः (पूर्ववत्)।

बहुव्रीहौ०—बहुव्रीहि में ही सम्प्रसारण होता है—

(3) कारीषगन्ध्याबन्धुः
कारीषगन्ध्याया बन्धुः—तत्पुरुष हुआ। अतः सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(4) परमकारीषगन्धीबन्धुः
यहाँ पूर्ववत् सम्प्रसारण हुआ।

(5) अतिकारीषगन्ध्याबन्धुः
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(6) कारीषगन्ध्याबन्धुधनः
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(7) कारीषगन्ध्यापरमबन्धुः
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

'बन्धु' यह पुँल्लिग होता है। शब्दरूप की अपेक्षा से 'बन्धुनि' यह नपुँसक लिंग का निर्देश है।

मातच्मातृ०—मातृच्, मातृक व मातृ—इन शब्दों के परे रहते 'ष्यङ्' को सम्प्रसारण होता है और बहुव्रीहि में विकल्प से होता है :

(8) कारीषगन्धीमातः
मातृच्, सम्प्रसारण।

(9) कारीषगन्ध्यामातः
मातृच्, सम्प्रसारणाऽभाव।

(10) कारीषगन्धीमातृकः
मातृक्, सम्प्रसारण।

(11) कारीषगन्ध्यामातृकः
मातृक, सम्प्रसारण अभाव।

(12) कारीषगन्धीमाता
मातृ, सम्प्रसारण।

(13) कारीषगन्ध्यामाता
मातृ, सम्प्रसारण अभाव।

कारीषगन्ध्या माताऽस्य—इस प्रकार बहुव्रीहि कर लेने पर इससे सम्प्रसारण के विषय में 'मातृ' शब्द को पक्ष में 'मातच्' होता है। 'च्' अनुबन्ध विधानसामर्थ्य से बहुव्रीहि स्वर का बाध अन्तोदात्त स्वर करता है। मातृ तथा मातृक—इस प्रकार पृथक्-पृथक् उपादान करने से 'नद्यृतश्च' से विहित 'कप्' विकल्प से होता है।

(2455) वचिस्वपियजादीनां किति *15* (2409)

सम्प्रसारणमिति वर्त्तते। ष्यङ इति निवृत्तम्। वचि–वच परिभाषणे (धा०पा० 1064)। ब्रुवो वचिः (2.4.53) इति च। स्वपि–ञिष्वप् शये (धा०पा० 1069)। यजादयो–यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (धा०पा० 1003) इत्यतः प्रभृति आ गणान्ताः (धा०पा० 1011)। तेषां वचिस्वपियजादीनां किति प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति। वचि–उक्तः, उक्तवान्। स्वपि–सुप्तः, सुप्तवान्। यज–इष्टः, इष्टवान्। वप्–उप्तः, उप्तवान्। वह–ऊढः, ऊढवान्। वस–उषितः, उषितवान्। वेञ्–उतः, उतवान्। व्येञ्–संवीतः, संवीतवान्। ह्वेञ्–हूतः, हूतवान्। वद–उदितः, उदितवान्। टुओश्वि–शूनः, शूनवान्। धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यं विज्ञायते। तेनेह न भवति–वाच्यति, वाचिक इति।

अर्थ—'सम्प्रसारणम्' का अनुवर्तन है। 'ष्यङः' की निवृत्ति हो गई है। कित् प्रत्यय परे रहते वच्, स्वप् तथा यजादि धातुओं को सम्प्रसारण होता है। धातुपाठ में यज् धातु से लेकर भ्वादिगण की अन्तिम धातु टुओश्वि तक निम्नलिखित नौ धातु यजादि कहलाते हैं—यज्, वप्, वह, वस्, वेञ्, व्येञ्, ह्वेञ्, वद् तथा श्वि।

विशेष—'वचिस्वपियजादीनाम्' पद का दो प्रकार से विग्रह हो सकता है—

(क) वचादयः स्वपादयः यजादयः,
(ख) वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च।

प्रथम विग्रह सूत्रकार को इष्ट नहीं है। वच परिभाषणे आदादिक व चौरादिक है। यदि वच् से आदादिक का ग्रहण करें तो सूत्र में 'स्वपि' का पृथक् उल्लेख व्यर्थ हो जाता है। कारण कि 'स्वप्' धातु तो वच्यादि में ही गृहीत हो जाता है। यदि चौरादिक वच् का ग्रहण करें तो भी उचित नहीं है। कारण कि चौरादिक वच्यादि धातुओं में वच् को छोड़कर अन्य किसी भी धातु में सम्प्रसारण का विषय नहीं है।

जव प्रकृत सूत्र में 'वच्यादयः' ऐसा इष्ट नहीं है तो 'स्वप्यादयः' भी स्वतः निरस्त हो जाता है। कारण कि 'आदि' पद या तो सभी पदों से सम्बद्ध होगा; अन्यथा केवल अन्तिम 'यज्' पद से ही सम्बद्ध होगा। अतः 'वचिः' व 'स्वपि' का पृथक् ग्रहण है। 'वच्' के द्वारा आदादिक वच्, ब्रू को प्राप्त वच् आदेश तथा चौरादिक (णिजभाव पक्ष में) वच् का ग्रहण होता है।

सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत् (परि०) अर्थात् सम्प्रसारण तथा सम्प्रसारण के आश्रित (पूर्वरूप आदि) कार्य बलवान् होते हैं। अतः यदि द्वित्वादि व सम्प्रसारण की युगपत् प्रवृत्ति हो तो सर्वप्रथम सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) उक्तः
वच् क्त → वच् त—क्तक्तवतू निष्ठा,
उच् त → उक्त—सम्प्रसारण, कुत्व,
उक्त सु—विभक्तिकार्य।

(2) उक्तवान्
वच् क्तवतु—पूर्ववत्।

(3) सुप्तः
स्वप् क्त—पूर्ववत्।

(4) सुप्तवान्
क्तवतु।

(5) इष्टः
यज् क्त सु।

(6) इष्टवान्
यज् क्तवतु।

(7) उप्तः
वप् क्त।

(8) उप्तवान्
वप् क्तवतु।

(9) ऊढः
वह् क्त → उह् त—सम्प्रसारण,
उढ् ढ—हो ढः, झषस्तथो०,
उढ सु—ढो ढे लोपः, ढ्रलोपे पूर्वस्य०।

(10) ऊढवान्
वह् क्तवतु—सम्प्रसारण,
उढ् ढवत् सु—पूर्ववत्।

(11) ऊषितः
वस् क्त → उस् त—सम्प्रसारण,
ऊषित सु—इट्, षत्व।

(12) ऊषितवान्
क्तवतु, पूर्ववत्।

(13) उतः
वे क्त → उ ए त → उ त—सम्प्रसारण,
उत सु—विभक्तिकार्य।

(14) उतवान्
क्तवतु में।

(15) संवीतः
सम् व्ये क्त।[1] 'हलः' से दीर्घ।

(16) संवीतवान्
सम् व्ये तवत्।

1. 'व्ये' धातु के सम्प्रसारण करते समय प्रश्न उठता है कि वकार को सम्प्रसारण हो या यकार को? यहाँ 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र ज्ञापक है कि वकार को सम्प्रसारण न हो। यदि वकार को सम्प्रसारण होता तो प्रकृत सूत्र के द्वारा किया जाने वाला सम्प्रसारण-निषेध व्यर्थ हो जाता। अतः यकार को सम्प्रसारण हुआ। तब वकार को प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हो गया।

(17) हूतः
ह्वे क्त।

(18) हूतवान्
क्तवतु।

(19) उदितः
वद् क्त → उद् इट् त—सम्प्रसारण।

(20) उदितवान्
क्तवतु।

(21) शूनः
श्वि क्त → शू त—'ओदितश्च' से नत्व,
शू न सु—'श्वीदितो निष्ठायाम्' से प्राप्त वलादिक इट् का निषेध।

(22) शूनवान्
क्तवतु।

धातु का स्वरूप ग्रहण होने से यहाँ कार्य होता है। तब यहाँ नहीं होता है—

(23) वाच्यति
यहाँ सम्प्रसारण नहीं हुआ।
(24) वाचिकः (पूर्ववत्)।

(2456) ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च *16* (2412)

ग्रह उपादाने (धा०पा० 1534), ज्या वयोहानौ (धा० पा० 1500), वेञो वयिः (2.4.41), व्यध ताडने (धा०पा० 1182), वश कान्तौ (धा०पा० 1081), व्यच व्याजीकरणे (धा०पा० 1294), ओव्रश्चू छेदने (धा०पा० 1293), प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (धा०पा० 1414), भ्रस्ज पाके (धा०पा० 1285)-इत्येतेषां धातूनां ङिति प्रत्यये परतश्चकारात्किति च सम्प्रसारणं भवति। ग्रह–गृहीतः। गृहीतवान्। ङिति–गृह्णाति, जरीगृह्यते। ज्या–जीनः, जीनवान्। ल्वादिभ्यः (8.2.44) निष्ठानत्वम्। ङिति–जिनाति। जेजीयते। हलः (6.4.2) इति सम्प्रसारणदीर्घे कृते प्वादीनाम् (7.3.80) इति ह्रस्वः क्रियते। वयिः–लिटि परतो वेञो वयिरादेशस्तस्य ङिद्भावात् किदेवोदाह्रियते–उयतुः। ऊयुः। यद्येवं वयिग्रहणमनर्थकम्, यजादिषु वेञ् पठ्यते? नैवं शक्यम्। लिटि तस्य वेञ (6.1.40) इति प्रतिषेधो वक्ष्यते। तत्र यथैव स्थानिवद्भावाद्वयेर्विधिरेवं प्रतिषेधोऽपि प्राप्नोति? नैष दोषः। लिटि वयो य (6.1.38) इति यकारस्य सम्प्रसारणप्रतिषेधात् वयेर्विधौ ग्रहणं प्रतिषेधे चाऽग्रहणमनुमास्यते। सत्यमेतत्। एष एवार्थः साक्षान्निर्देशेन वयेः स्पष्टीक्रियते। व्यध–विद्धः, विद्धवान्। ङिति–विध्यति, वेविध्यते। वश–उशितः, उशितवान्। ङिति–उष्टः, उशन्ति। व्यच–विचितः, विचितवान्। ङिति–विचति, वेविच्यते। व्यचेः कुटादित्वमनसि (रा० 18) प्रतिपादितम्। तेन सर्वत्राञ्णिति प्रत्यये सम्प्रसारणं भवति–उद्विचिता। उद्विचितुम्। उद्विचितव्यमिति। व्रश्चेः–वृक्णः, वृक्णवान्। अथ कथमत्र कुत्वम्, व्रश्चभ्रस्ज (8.2.36) इति हि षत्वेन भवितव्यम्? *निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययविधीड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः*। तत्र षत्वं प्रति नत्वस्य सिद्धत्वाद् झलादिर्निष्ठा न भवति। कुत्वे तु कर्त्तव्ये तदसिद्धमेवेति प्रवर्तते कुत्वम्। ङिति–वृश्चति, वरीवृश्च्यते। प्रच्छ–पृष्टः, पृष्टवान्। ङिति–पृच्छति, परीपृच्छ्यते, प्रश्नः। नङि तु प्रश्ने चासन्नकाल (3.2.117) इति निपातनादसम्प्रसारणम्। भ्रस्ज–भृष्टः, भृष्टवान्। ङिति–भृज्जति। बरीभृज्ज्यते। सकारस्य झलां जश् झशि (8.4.52) इति जश्त्वेन दकारः, स्तोः श्चुना श्चुः (8.4.40) इति श्चुत्वेन जकारः।

अर्थ—ङित् व कित् प्रत्यय परे रहते ग्रह, ज्या, वय, व्यध, वश, व्यच्, व्रश्च, प्रच्छ् तथा भ्रस्ज् धातुओं को सम्प्रसारण होता है। 'वयि' यह इगन्त निर्देश है। इस प्रकार के दो धातु हैं—अय वयपय···गतौ (भ्वा० 14.1) तथा दूसरा 'वे' का आदेशभूत 'वय्'। यहाँ आदेशभूत 'वय' का ही ग्रहण है। कारण कि सभी धातु परस्मैपदी हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'वय्' के ग्रहण को व्यर्थ बताया है। जिज्ञासु जन वहाँ देखें।

उदा० (क) किति—
(1) गृहीतः
ग्रह् क्त → गृह् त—सम्प्रसारण,
गृह् इट् त—इट्,
गृहीत सु—ग्रहोऽलिटि दीर्घः।

(2) गृहीतवान्
ग्रह् क्तवतु—पूर्ववत्।
गृहीतवत् सु—विभक्तिकार्य।

(ख) ङिति—

(3) गृह्णाति

ग्रह् श्ना तिप्—तिप्, शप् को बाध कर 'श्ना', सार्वधातुकमपित्,

गृह् ना ति—सम्प्रसारण,

गृह्णाति—णत्व।

(4) जरीगृह्यते

ग्रह् यङ्—द्वित्व, रीक् आगम,

जरीगृह्य—अभ्यास कार्य, धातुसंज्ञा,

जरीगृह्यते—लकारकार्य।

(क) किति—

(5) जीनः

ज्या क्त → जि त—सम्प्रसारण,

जि न—ल्वादिभ्यः,

जीनः—हलः, सु।

(6) जीनवान्

ज्या क्तवतु—सम्प्रसारण,

जीनवत् सु—पूर्ववत्।

(ख) ङिति—

(7) जिनाति

ज्या श्ना ति—'शप्' को बाध कर 'श्ना',

जि ना ति—पूर्ववत् सम्प्रसारण,

जिनाति—रूप बना।

(8) जेजीयते

ज्या यङ्—सम्प्रसारण, सन्यङोः, 'हलः' से दीर्घ, प्वादीनां ह्रस्वः,

जि जि य—गुणो यङ्लकोः,

जेजीयते—धातुसंज्ञा, लट्।

(क) किति—

(9) ऊयतुः

वेञ् → वयि अतुस्—लिट प्र० पु० द्विवचन, 'वेञो वयिः' से 'वयि' आदेश, 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' किद्वत्,

उय् अतुस्—दीर्घ हुआ।

(10) ऊयुः

वेञ् उस्—लिट्, प्र० पु० बहुवचन, शेष कार्य पूर्ववत्।

(ख) ङिति—

ङित् में कोई उदाहरण नहीं है।

यद्येवं०—यदि ऐसा है तो 'वयि' का ग्रहण अनर्थक है। यजादिगण में 'वेञ्' का पाठ है ही। यह सम्भव नहीं है। लिट् में उसे वेञ् का निषेध कहा जायेगा। वहाँ उसी प्रकार स्थानिवद्भाव से 'वेयि' से प्रतिषेध भी प्राप्त होता है। इसमें कोई दोष नहीं है। लिट् में 'वय्' के 'य' के सम्प्रसारण का निषेध हो जाने से वयि की विधि में ग्रहण तथा प्रतिषेध में ग्रहण समान है। यह उचित है। वस्तुतः 'वयि' के साक्षात् निर्देश से यह अर्थ स्पष्ट होता है।

(क) किति—

(11) विद्धः

व्यध् क्त → विध् त—सम्प्रसारण,

विध् ध—झषस्तथो०,

विद् ध सु—झलां जश् झशि।

(12) विद्धवान्

व्यध् क्तवतु—पूर्ववत्।

(ख) ङिति—

(13) विध्यति

व्यध् श्यन् ति—शप् को बाध कर श्यन्, सार्वधातुकमपित्,

विध् यति—सम्प्रसारण,

विध्यति—रूप बना।

(क) किति—

(14) उशितः

वश् क्त → उश् इट् क्त—सम्प्रसारण।

(15) उशितवान्

पूर्ववत् सम्प्रसारण।

(ख) ङिति—

(16) उशन्ति

वश् झि—सम्प्रसारण, झोऽन्तः,

उश् अन्ति—रूप बना।

(क) किति—

(17) विचितः

व्यच् क्त—सम्प्रसारण,

विच् इट् त—सु।

(18) विचितवान्

क्तवतु।

(ख) ङिति—

(19) विचति

व्यच् श तिप्—शप् को बाध कर 'श', सार्वधातुकमपित्,

विच् अ ति—सम्प्रसारण।

(20) वेविच्यते

व्यच् यङ्—सम्प्रसारण,

वि विच् य—द्वित्व,

वेविच्यते—गुण, 'त' प्रत्यय।

व्यच् का प्रतिपादन कुटादिगण में है, 'अस्' को छोड़ कर शेष प्रत्यय में। अतः सर्वत्र ञित् व णित् से भिन्न प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है।

(21) उद्विचिता

सम्प्रसारण हुआ।

(22) उद्विचितुम्

सम्प्रसारण।

(23) उद्विचितव्यम्

सम्प्रसारण।

(क) किति—

(24) वृक्णः

व्रश्च् क्त → वृश्च् त—सम्प्रसारण,

वृश्च् न—ओदितश्च,

वृच् न—स्कोः संयोगाद्योरन्ते० से लोप, 'स्तोः श्चुना श्चुः' (8.4.39) से सकार को हुआ था, जो 'स्को संयोगाद्यो०' (8.2.29) की दृष्टि में असिद्ध है,

वृक् न सु—चोः कुः।

(25) वृक्णवान्

क्तवतु, पूर्ववत्।

अथ कथ०—यहाँ कुत्व कैसे होता है ? 'व्रश्चभ्रस्ज०' से षत्व होना चाहिए।

निष्ठादेशः—षत्वविधि में, स्वरविधि में, प्रत्ययविधि में तथा इड्विधि में निष्ठादेश सिद्ध होता है। अतः षत्व के प्रति नत्व के असिद्ध होने से झलादि निष्ठा नहीं होता है। कुत्व करना हो तो वह असिद्ध ही होता है—इस प्रकार कुत्व प्रवृत्त होता है।

(ख) ङिति—

(26) वृश्चति

व्रश्च् श तिप्—शप् को बाध कर 'श' हुआ,

वृश्चति—सम्प्रसारण।

(27) वरीवृश्च्यते

व्रश्च् यङ्—सम्प्रसारण, सन्यङोः,

वृश्च् वृश्च् य—द्वित्व, अभ्यास कार्य,

वरी वृश्च् य—रीक् आगम, धातुसंज्ञा,

वरीवृश्च्यते—'त' प्रत्यय।

(क) किति—

(28) पृष्टः

प्रच्छ् क्त → पृच्छ् त—सम्प्रसारण,

पृश् त—च्छ्वोः शूडनुना०,

पृष् त—व्रश्चभ्रस्ज०, ष्टुना ष्टुः, सु।

(29) पृष्टवान्

क्तवतु।

(ख) ङिति—

(30) पृच्छति

प्रच्छ् श तिप्—'शप्' को बाध कर 'श' हुआ,

पृच्छति—सम्प्रसारण।

(31) परीपृच्छ्यते

प्रच्छ् यङ् → पृच्छ् य—सम्प्रसारण,

पृच्छ् पृच्छ् य—द्वित्व, अभ्यास कार्य,

परी पृच्छ् य—रीक् आगम, धातुसंज्ञा,

परीपृच्छ्यते—'त' हुआ।

(32) प्रश्नः

प्रच्छ् नङ्—इस दशा में प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण प्राप्त हुआ, 'प्रश्ने चाऽऽसन्नकाले' इस सूत्रपाठ से ज्ञापित होता है कि निपातन से सम्प्रसारण का निषेध हो गया,

प्रश् न सु—च्छ्वोः०।

(क) किति—

(33) भृष्टः

भ्रस्ज् क्त → भृस्ज् त—सम्प्रसारण,

भृ स् श् त—व्रश्चभ्रस्ज०,

भृश् त → भृष् त—स्कोः संयोगा०,

भृष्ट सु—ष्टुना ष्टुः।

(34) भृष्टवान्

क्तवतु।

(ख) ङिति—

(35) भृज्जति

भ्रस्ज् श तिप्—'शप्' को बाध कर 'श' हुआ, सम्प्रसारण,
भृस्ज् अ ति—झलां जश् झशि,
भृद् ज् अ ति—स्तोः श्चुना श्चुः,
भृज्जति—रूप बना।

(36) बरीभृज्ज्यते

भ्रस्ज् यङ्—सम्प्रसारण, द्वित्व,
भृस्ज् भृस्ज् य—अभ्यासकार्य, अभ्यासे चर्च, उरत्, हलादिः शेषः,
बरी भृस्ज् य—रीक् आगम,
बरी भृज्ज् य—झलां जश् झशि, स्तोः श्चुना श्चुः,
बरीभृज्ज्यते—'त'।

(2457) लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् *17* (2408)

उभयेषां वच्यादीनां ग्रह्यादीनां च लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति। वचि–उवाच, उवचिथ। स्वप्–सुष्वाप, सुष्वपिथ। यज–इयाज, इयजिथ। टुवप्–उवाप, उवपिथ। ग्रह्यादीनाम्, तत्र ग्रहेरविशेषः। जग्राह, जग्रहिथ। ज्या–जिज्यौ, जिज्यिथ। वयि–उवाय, उवयिथ। व्यध–विव्याध, विव्यधिथ। वश–उवाश, उवशिथ। व्यच–विव्याच, विव्यचिथ। वृश्चतेः सत्यसति वा योगे नास्ति विशेषः? योगारम्भे तु सति यदि सम्प्रसारणमकृत्वा हलादिः शेषेण (7.4.60) रेफो निवर्त्यते तदा वकारस्य सम्प्रसारणं प्राप्नोति। अथ रेफस्य सम्प्रसारणं कृत्वा उरदत्वं रपरत्वं च क्रियते तदानीमुरदत्वस्य स्थानिवद्भावात् न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् (6.1.35) इति प्रतिषेधो भवतीत्यस्ति विशेषः। वव्रश्च, वव्रश्चिथ। पृच्छतिभृज्जत्योरविशेषः। अकिदर्थं चेदमभ्यासस्य सम्प्रसारणं विधीयते। किति हि परत्वाद्धातोः सम्प्रसारणे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् द्विर्वचनम्। ऊचतुः, ऊचुरिति। अधिकारादेवोभयेषां ग्रहणे सिद्धे पुनरुभयेषामिति वचनं हलादिःशेषमपि बाधित्वा सम्प्रसारणमेव यथा स्यादिति–विव्याध।

अर्थ—लिट् परे रहते दोनों (अर्थात् वचिस्वपियजादि तथा ग्रहिज्यादि) धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।

विशेष—लिडादेश दो प्रकार का होता है—पित् (तिप्, सिप्, मिप्) तथा अपित् (तस् आदि)। अपित् लिडादेश कित् होता है (असंयोगाल्लिट् कित्)। अतः कित् होने के कारण अपित् लिट् परे रहते पूर्वोक्त बीस धातुओं (वच्, स्वप्, यजादि नौ, ग्रहादि नौ) को पूर्ववर्ती दो सूत्रों के द्वारा भी सम्प्रसारण सिद्ध था। प्रकृत सूत्र के विधान का फल यह है कि उक्त बीस धातुओं के अभ्यास को पित् लिट् में भी सम्प्रसारण हो जाय। द्वित्व करने के पश्चात् अभ्यासकार्य (हलादिः शेष आदि) से पूर्व ही अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) उवाच

वच् णल्—लिट् प्र० पु० एकवचन,
वच् वच् अ—लिटि धातोरनभ्यासस्य०,
उच् वच् अ—सम्प्रसारण, अभ्यासकार्य,
उवाच् अ—अत उपधायाः।

(2) उवचिथ

वच् इट् थल्—'सिप्' को 'थल्' आदेश, इट्,
उच् वच् इ थ—पूर्ववत्,
उवचिथ—रूप बना।

(3) सुष्वाप

स्वप् णल्—लिट् प्र० पु० एकवचन,
स्वप् स्वप् अ—द्वित्व,
सु स्वाप् अ—अत उपधायाः, मूर्धन्य।

(4) सुष्वपिथ

स्वप् स्वप् इट् थल्—'उवचिथ' की तरह,
सुस्वपिथ—सम्प्रसारण,
सुष्वपिथ—मूर्धन्य।

(5) इयाज

यज् यज् णल्—द्वित्व,
इज् यज् अ—सम्प्रसारण,
इयाज् अ—अत उपधायाः।

(6) इयजिथ

यज् यज् इट् थल्—पूर्ववत्,
इ यज् इ थ—सम्प्रसारण।

(7) उवाप

उप् वप् णल्—द्वित्व, सम्प्रसारण,
उवाप अ—उपधादीर्घ।

(8) उवपिथ

उप् वप् इट् थल्—द्वित्व, सम्प्रसारण,
उवपिथ—अभ्यास कार्य।

(9) जग्राह

गृह् ग्रह् णल्—द्वित्व, सम्प्रसारण, अभ्यास कार्य,
ग ग्रह् अ—उरत्, हलादिः शेषः, कुहोश्चुः,
ज ग्राह् अ—अत उपधायाः ।

(10) जग्रहिथ
गृह् ग्रह् इट् थल्—सम्प्रसारण, अभ्यास कार्य ।
जग्रहिथ—कुहोश्चुः,
जग्रहिथ—रूप बना ।

(11) जिज्यौ
ज्या ज्या णल्—द्वित्व, आत औ णलः,
जि ज्या औ—सम्प्रसारण,
जि ज्यौ—वृद्धि ।

(12) जिज्यिथ
ज्या ज्या इट् थल्—द्वित्व,
जिज्यिथ—सम्प्रसारण ।

(13) उवाय
वय् वय् णल्—द्वित्व,
उय् वय् अ—सम्प्रसारण,
उवाय् अ—अत उपधायाः,

(14) उवयिथ
उय् वय् इट् थल्—सम्प्रसारण,
उवयिथ—अभ्यास कार्य ।

(15) विव्याध
व्यध् व्यध् णल्—द्वित्व,
विध् व्यध् अ—सम्प्रसारण,
वि व्याध् अ—अत उपधायाः ।

(16) विव्यधिथ
विध् व्यध् इट् थल्—सम्प्रसारण,
विव्यधिथ—अभ्यास कार्य ।

(17) उवाश
उश् वश् णल्—सम्प्रसारण ।

(18) उवशिथ
उश् वश् इट् थल्—सम्प्रसारण,
उवशिथ—अभ्यास कार्य ।

(19) विव्यांच
व्यच् णल्—लिट्,
वि व्यच् णल्—सम्प्रसारण,
वि व्याच् अ—अभ्यास कार्य ।

(20) विव्यचिथ
विच् व्यच् इट् थल्—सम्प्रसारण,
विव्यचिथ—अभ्यास कार्य ।

व्रश्च् धातु का योग हो चाहे योग न हो—दोनों में कोई अन्तर नहीं है । योग होने पर यदि सम्प्रसारण विना किये हलादि शेष के द्वारा रेफ की निवृत्ति की जाती है तो वकार को सम्प्रसारण प्राप्त होता है । तब रेफ का सम्प्रसारण करके 'उरत्' से अत्व व रपरत्व किया जाता है । तब उरदत्व के स्थानिवद्भाव होने से 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से प्रतिषेध होता है—यह विशेष है ।

(21) वव्रश्च
व्रश्च् व्रश्च् णल् → वृश्च् व्रश्च् अ—'उरत्',
व व्रश्च् अ—'हलादिः शेषः' ।

(22) वव्रश्चिथ
वृश्च् व्रश्च् इट् थल्—पूर्ववत्,
वव्रश्चिथ—'उरत्' आदि ।

प्रच्छ् और भ्रस्ज् में कोई विशेष नहीं है । अकित् के लिए अभ्यास के सम्प्रसारण का विधान किया जा रहा है । कित् में पर होने के कारण धातु का सम्प्रसारण कर लेने पर पुनः प्रसंग से द्विर्वचन होता है—

(23) ऊचतुः
वच् अतुस्—लिट् प्र० पु० द्विवचन,
उच् उच् अतुस् → ऊचतुः ।

(24) ऊचुः
वच् उस्—पूर्ववत् ।

अधिकार से 'उभयेषाम्' का ग्रहण सिद्ध रहने पर पुनः 'उभयेषाम्' यह पाठ 'हलादिः शेषः' का बाध करके सम्प्रसारण ही हो—इसके लिए है ।

(25) विव्याध
विध् व्यध् णल् → विव्याध ।

(2458) स्वापेश्चङि *18* (2584)

स्वापेरिति स्वपेर्ण्यन्तस्य ग्रहणम्, तस्य चङि परतः सम्प्रसारणं भवति । असूषुपत् । असूषुपन् । द्विर्वचनात् पूर्वमत्र सम्प्रसारणम्, तत्र कृते लघूपधगुणः (7.3.86), तस्य णौ चङ्युपधाया (7.4.1) इति ह्रस्वत्वम्, ततो

द्विर्वचनम्, दीर्घो लघोः (7.4.94) इति दीर्घत्वम्। चङीति किम्? स्वाप्यते। स्वापितः। कितीति निवृत्तम्, ङितीति केवलमिहानुवर्त्तत इत्येतद्दुर्विज्ञानम्।

अर्थ—चङ् परे रहते स्वापि (= णिच् प्रत्ययान्त स्वप्) धातु का सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) असूषुपत्
स्वप् णिच् → स्वापि ल्—हेतुमति च, अत उपधायाः, लुङ्,
स्वापि चङ् त्—तिप्, इतश्च, च्लि, चङ्,
स्वप् अ त् → सुप् सुप् अ त—णेरनिटि, सम्प्रसारण, लघूपधगुण, ह्रस्वादेश, द्विर्वचन,
अट् सु सुप् अ त्—दीर्घो लघोः, षत्व।

(2) असूषुपताम्
सुप् चङ् ताम्—इस स्थिति में,
सोप् → सुप् → सुप् सुप् अ ताम्—सभी पूर्ववत्।

(3) असूषुपन्
सुप् सुप् अन्ति—झोऽन्तः, इतश्च, संयोगान्तलोप,
असूषुप् अन्—दीर्घ आदि पूर्ववत्।

द्विर्वचन से पूर्व यहाँ सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण के पश्चात् लघूपधगुण होता है। 'णौ चङ्युपधाया०' से ह्रस्वादेश। तब द्विर्वचन होता है। 'दीर्घो लघोः' से दीर्घादेश।

चङीति०—चङ् परे रहते सम्प्रसारण होता है।

(4) स्वाप्यते
स्वप् णिच्—अत उपधायाः, कर्मवाच्य में 'त' प्रत्यय,
स्वापि यक् त—सार्वधातुके यक्, सम्प्रसारण नहीं हुआ,
स्वाप्यते—णेरनिटि।

(5) स्वापितः
स्वप् णिच् क्त—सम्प्रसारण नहीं हुआ,
स्वापित सु—विभक्तिकार्य।

'किति' की निवृत्ति हो गई है। यहाँ केवल 'ङिति' का अनुवर्त्तन है। यह अत्यधिक कठिनता से जानने योग्य है।

(2459) स्वपिस्यमिव्येञां यङि *19* (2645)

ञिष्वप् शये (धा०पा० 1069), स्यमु (धा०पा० 827) स्वन (धा०पा० 828) ध्वन (धा०पा० 829) शब्दे, व्येञ् संवरणे (धा०पा० 1008)—इत्येतेषां धातूनां यङि परतः सम्प्रसारणं भवति। सोषुप्यते। सेसिम्यते। वेवीयते। यङीति किम्? स्वप्नक् (3.2.172)।

अर्थ—यङ् परे रहते स्वप्, स्यम् तथा व्ये धातुओं को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) सोषुप्यते
स्वप् यङ् → सुप् यङ्—सम्प्रसारण, सन्यङोः,
सुप्य् सुप्य → सु सुप्य त—लकार,
सोषुप्यते—गुणो यङ्लुकोः।

(2) सेसिम्यते
स्यम् यङ् → सिम्य—सम्प्रसारण, द्वित्व,
सिम्य् सिम्य त—लकार,
सेसिम्यते—गुण।

(3) वेवीयते
व्ये यङ् → वि विय—सम्प्रसारण, द्वित्व,
वि वीय → वे वीय—दीर्घ, गुण,
वेवीयते—लकार।

यङीति—यङ् प्रत्यय में ही सम्प्रसारण होता है :

(4) स्वप्नक्
स्वप् नजिङ्—'स्वपितृषोर्नजिङ्' से 'नजिङ्',
स्वप् नज्—अनुबन्धलोप, यङ् परे नहीं है, अतः सम्प्रसारण नहीं हुआ,
स्वप्नज् सु—हल्ङ्याब्भ्यो० सुप्तिङन्तं पदम्, चोः कुः।

(2460) न वशः *20* (2646)

यङीति वर्त्तते। वशेर्द्धातोर्यङि परतः सम्प्रसारणं न भवति। वावश्यते। वावश्येते। वावश्यन्ते। यङीति किम्? उष्टः, उशन्ति।

अर्थ—यङ् परे रहते वश् धातु को सम्प्रसारण नहीं होता। यहाँ सम्प्रसारण प्राप्त था।

उदा० (1) वावश्यते
वश् वश् यङ्—द्वित्व,
वा वश्य—दीर्घ, धातुसंज्ञा,
वावश्यते—लकार।

(2) वावश्येते
वश् यङ् आताम्—प्र० पु० द्विवचन,
वावश्येते—पूर्ववत्।

(3) वावश्यन्ते
वश् यङ् झ—झोऽन्तः,

वावश्यन्ते—टि को एत्व।

यङीति०—यङ् में ही सम्प्रसारण का निषेध होता है—

(4) उष्टः
वश् तस्—लट् प्र० पु० द्विवचन,
उश् तस्—सम्प्रसारण,
उष्टः—ष्टुना ष्टुः।

(5) उशन्ति
वश् झि—लट्, झि, झोऽन्तः, सम्प्रसारण का निषेध नहीं हुआ,
उशन्ति—पूर्ववत्।

(2461) चायः की *21* (2647)

यङीति वर्त्तते। चायृ पूजानिशामनयोः (धा०पा० 881) इत्येतस्य धातोर्यङि परतः कीत्ययमादेशो भवति। चेकीयते। चेकीयेते। चेकीयन्ते। दीर्घकरणं यङ्लुगर्थम्—चेकीतः।

अर्थ—यङ् परे रहते 'चाय्' को 'की' आदेश होता है। 'यङि' का यहाँ अनुवर्त्तन है।

उदा० (1) चेकीयते
चाय् यङ् → की यङ्
की की य → ची की य
चेकीय शप् त—गुण, लकारकार्य।

(2) चेकीयेते
चाय् यङ् → 'की' आदेश,
चेकीय आताम्—लकारकार्य।

(3) चेकीयन्ते
चाय् यङ्—प्र० पु० बहुवचन
यङ्लुक् के लिए दीर्घ किया गया है।

(4) चेकीतः
यहाँ यङ्लुक् में रूप बनता है।

(2462) स्फायः स्फी निष्ठायाम् *22* (3044)

स्फायी ओप्यायी (धा०पा० 487, 488) वृद्धाविर्त्यस्य धातोर्निष्ठायां परतः स्फीत्ययमादेशो भवति। स्फीतः। स्फीतवान्। निष्ठायामिति किम्? स्फातिः। स्फातीभवतीत्येतदपि क्तिन्नन्तस्यैव रूपम्, न निष्ठान्तस्य। निष्ठायामित्येतदधिक्रियते लिड्यङोश्च (6.1.29) इति प्रागेतस्मात् सूत्रात्।

अर्थ—निष्ठासंज्ञक प्रत्यय परे रहते 'स्फायी' धातु को 'स्फी' आदेश होता है।

उदा० (1) स्फीतः
स्फाय् क्त—क्तक्तवतू निष्ठा,
स्फी त—विभक्तिकार्य।

(2) स्फीतवान्
'क्तवतू' में रूप बना।
स्फी तवत्—विभक्तिकार्य।

निष्ठायामि०—निष्ठा परे रहते 'स्फी' होता है—

(3) स्फातिः
स्फाय् क्तिन्—स्फाति सु।

'लिड्यङोश्च' इस सूत्र से पूर्व तक 'निष्ठायाम्' पद का अधिकार है।

(2463) स्त्यः प्रपूर्वस्य *23* (3033)

निष्ठायामिति वर्त्तते सम्प्रसारणमिति च। स्फी इत्येतन्न स्वर्यते। स्त्यै ष्ट्यै (धा०पा० 911, 912) शब्दसंघातयोर्द्वयोरप्येतयोर्धात्वोः स्त्यारूपमापन्नयोः सामान्येन ग्रहणम्। स्त्या इत्येतस्य प्रपूर्वस्य धातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति। प्रस्तीतः। प्रस्तीतवान्। सम्प्रसारणे कृते यणवत्त्वं विहतमिति निष्ठानत्वं न भवति। प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् (8.2.54) इति तु पक्षे मकारः क्रियते–प्रस्तीमः। प्रस्तीमवान्। प्रपूर्वस्येति किम्? संस्त्यानः, संस्त्यानवान्। प्रस्त्य इत्येव सिद्धे पूर्वग्रहणमिहापि यथा स्यात्–प्रसंस्तीतः, प्रसंस्तीतवान्। तत्कथम्? प्रपूर्वस्येति षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः। प्रः पूर्वो यस्य धातूपसर्गसमुदायस्य स प्रपूर्वस्तदवयवस्य स्त्य इति व्यधिकरणे षष्ठ्यौ, तत्र प्रसंस्तीत इत्यत्रापि प्रपूर्वसमुदायावयवः स्त्याशब्दो भवति।

अर्थ—निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्—इनका अनुवर्त्तन है। 'स्फी' का अनुवर्त्तन नहीं है। स्त्यै दोनों शब्दसंघातों का भी स्त्या रूप को प्राप्त धातुओं का सामान्य ग्रहण है। प्र पूर्वक स्त्यै धातु को सम्प्रसारण होता है, निष्ठा परे रहते।

उदा० (1) प्रस्तीतः
प्र स्त्यै क्त → प्रस्त्या त—आदेच उपदेशेऽशिति,

प्र स्ति त—सम्प्रसारण,
प्रस्तीत सु—हल: ।

(2) प्रस्तीतवान्
क्तवतु ।

सम्प्रसारण करने पर यण्वत्ता का विधान किया गया है। अत: निष्ठा को नत्व नहीं होता है।

(3) प्रस्तीम:
'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' से पक्ष में 'मकार' हुआ।

(4) प्रस्तीमवान्
क्तवतु ।
प्र पूर्वक स्त्यै को सम्प्रसारण होता है—

(5) संस्त्यान
सम् स्त्यै क्त—सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(6) संस्त्यानवान्
क्तवतु ।

'प्र' पूर्वक स्त्यै को सम्प्रसारण होता है। इस प्रकार सिद्ध होने पर पूर्व का ग्रहण यहाँ पर भी ताकि हो जाय—

(7) प्रसंस्तीत:
प्र सम् स्त्यै क्त—सम्प्रसारण हुआ।

(8) प्रसंस्तीतवान्
पूर्ववत् सम्प्रसारण हुआ।
तब 'प्रपूर्वस्य' इस प्रकार षष्ठी के अर्थ में बहुव्रीहि कैसे हुआ ?
प्र: पूर्वो यस्य धातूपसर्गसमुदायस्य—प्रपूर्व: ।

उसका अवयव जो 'स्त्यै' । यह व्याधिकरण बहुव्रीहि हुआ। तब 'प्रसंस्तीत:' यहाँ भी प्रपूर्वक समुदाय स्त्या शब्द होता है।

(2464) द्रवमूर्त्तिस्पर्शयो: श्य: *24* (3020)

द्रवमूर्त्तौ द्रवकाठिन्ये स्पर्शे वर्त्तमानस्य श्यैङ् (धा०पा० 964) गतावित्यस्य धातोर्निष्ठायां परत: सम्प्रसारणं भवति। शीनं घृतम्, शीना वसा, शीनं मेद:। द्रवावस्थाया: काठिन्यं गतमित्यर्थ:। श्योऽस्पर्शे (8.2.45) इति निष्ठानत्वम्। स्पर्शे-शीतं वर्त्तते। शीतो वायु:। शीतमुदकम्। गुणमात्रे तद्वति चास्य शीतशब्दस्य वृत्तिर्द्रष्टव्या। द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोरिति किम्? संश्यानो वृश्चिक:।

अर्थ—निष्ठा परे रहते 'श्यै' धातु को सम्प्रसारण होता है, द्रवमूर्त्ति तथा स्पर्श अर्थों में।

उदा० (1) शीनं घृतम्
श्यै क्त → श्यै न—श्योऽस्पर्शे,
श्या न → शि न → शीन सु—विभक्तिकार्य।

(2) शीना वसा
द्रव अवस्था से ठोस अवस्था को प्राप्त हो गया है। 'श्योऽस्पर्शे' से निष्ठा को नकार हुआ है।

(3) शीतम्
स्पर्श अर्थ में नकार नहीं हुआ।

(4) शीतो वायु: (पूर्ववत्)।
(5) शीतम् उदकम् (पूर्ववत्)।

गुणमात्र में इस शीत शब्द की वृत्ति द्रष्टव्य है।

द्रवमूर्त्ति०—द्रवमूर्त्ति तथा स्पर्श अर्थ में ही सम्प्रसारण होता है:

(6) संश्यानो वृश्चिक:
सम् श्यै क्त—सम्प्रसारण नहीं हुआ,
सम् श्या न—आकार,
संश्यान सु—अनुस्वार।

(2465) प्रतेश्च *25* (3022)

श्य इति वर्त्तते। प्रतेरुत्तरस्य श्यायतेर्निष्ठायां परत: सम्प्रसारणं भवति। प्रतिशीन:, प्रतिशीनवान्। द्रवमूर्त्तिस्पर्शाभ्यामन्यत्रापि यथा स्यादिति सूत्रारम्भ:।

अर्थ—'श्य:' की अनुवृत्ति है। प्रति से पर श्यै धातु को सम्प्रसारण होता है, निष्ठा परे रहते।

उदा० (1) प्रतिशीन:
प्रति श्यै क्त → प्रति शि न—सम्प्रसारण,
प्रति शी न सु—दीर्घ।

(2) प्रतिशीनवान्
क्तवतु ।

द्रवमूर्त्ति व स्पर्श से अतिरिक्त से उत्तर भी कार्य हो जाय-इसलिए सूत्र का पाठ है।

(2466) विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य *26* (3023)

श्य इति वर्त्तते। अभि, अव-इत्येवम्पूर्वस्य श्यायतेर्निष्ठायां विभाषा सम्प्रसारणं भवति। अभिशीनम्, अभिश्यानम्। अवशीनम्, अवश्यानम्। द्रवमूर्त्तिस्पर्शविवक्षा-

यामपि विकल्पो भवति। अभिशीनं घृतम्, अभिश्यानं घृतम्। अवशीनं मेदः, अवश्यानं मेदः। अभिशीतो वायुः, अभिश्यानः। अवशीतमुदकम्, अवश्यानमुदकम्। सेयमुभयत्र विभाषा द्रष्टव्या। पूर्वग्रहणस्य च प्रयोजनं समभिश्यानम्, समवश्यानमित्यत्र मा भूदिति केचिद्व्याचक्षते। न किलायमभ्यवपूर्वः समुदाय इति। योऽत्राभ्यवपूर्वः समुदायस्तदाश्रयो विकल्पः कस्मान्न भवति? तस्मादत्र भवितव्यमेव। यदि तु नेष्यते ततो यत्नान्तरमास्थेयमस्माद्विभाषाविज्ञानात् व्यवस्थेयम्। पूर्वग्रहणस्य चान्यत् प्रयोजनं वक्तव्यम्–अभिसंशीनमभिसंश्यानं वा, अत्र विकल्पो यथा स्याद् इति पूर्वग्रहणं स्त्यः प्रपूर्वस्येतिवत्।

अर्थ—'श्यः' का अनुवर्त्तन है। अभि अथवा अव उपसर्गपूर्वक 'श्यै' धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है, निष्ठा परे रहते।

उदा० (1) अभिशीनम्
अभि श्यै क्त—सम्प्रसारण, दीर्घादेश,
अभिशीन—सु।

(2) अभिश्यानम्
अभि श्यै क्त—सम्प्रसारण नहीं हुआ,
अभिश्यान—सु।

(3) अवशीनम्
पूर्ववत् सम्प्रसारण।

(4) अवश्यानम्
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

द्रवमूर्त्ति स्पर्श की विवक्षा में भी विकल्प होता है।

(5) अभिशीनं घृतम्
अभि श्यै क्त—पूर्ववत्,
अभि शी न—सु।

(6) अभिश्यानं घृतम्
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(7) अवशीनं मेदः
सम्प्रसारण।

(8) अवश्यानं मेदः
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(9) अभिशीतो वायुः
अभि श्यै क्त—सम्प्रसारण,
अभि शी त—सु।

(10) अवशीतम् उदकम्
अभि श्यै क्त—पूर्ववत्,
अभि शी त—सु।

(11) अवश्यानम् उदकम्
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

सेयमुभ०—यह उभयत्र (प्राप्ताप्राप्त) विभाषा है। 'समवश्यानम्' इस स्थल पर पूर्व ग्रहण का प्रयोजन न हो—ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं। कारण कि यह अभ्यवपूर्वक समुदाय नहीं है। जो यहाँ अभ्यवपूर्वक समुदाय है, उसका आश्रित विकल्प क्यों नहीं होता? अतः यहाँ अवश्य होना चाहिए। यदि यह नहीं होता है तो अन्य यत्न इस विभाषा से करना चाहिए। पूर्व ग्रहण का कोई अन्य प्रयोजन बताना चाहिए। या तो 'अभिसंशीन' अथवा 'अभिसंश्यान'। या तो 'अवसंशीन' अथवा 'अवसंश्यान'। यहाँ विकल्प ताकि हो जाय—इसलिए 'स्त्यः प्रपर्वस्य' इसके समान 'पूर्व' पद का ग्रहण है।

(2467) शृतं पाके *27* (3067)

विभाषेत्यनुवर्त्तते। श्रा पाके (धा०पा० 810) इत्येतस्य धातोर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च पाकेऽभिधेये क्तप्रत्यये परतः शृभावो निपात्यते विभाषा। शृतं क्षीरम्। शृतं हविः। व्यवस्थितविभाषा चेयम्। तेन क्षीरहविषोर्नित्यं शृभावो भवति। अन्यत्र न भवति–श्राणा यवागूः, श्रपिता यवागूरिति। यदापि बाह्ये प्रयोजके द्वितीयो णिजुत्पद्यते तदापि नेष्यते–श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेनेति। श्रातिरयमकर्मकः कर्मकर्तृविषयस्य पचेरर्थे वर्त्तते, स ण्यन्तोऽपि प्राकृतं पच्यर्थमाह। तदत्र द्वयोरपि शृतमितीष्यते। शृतं क्षीरं स्वयमेव, शृतं क्षीरं देवदत्तेन। पाकग्रहणं निपातनविषयप्रदर्शनार्थम्, तेन क्षीरहविषोरेव।

अर्थ—'विभाषा' का अनुवर्त्तन है। पाक अर्थ में वर्तमान 'शृत' शब्द का विकल्प से निपातन किया जाता है।

उदा० (1) शृतं हविः
श्रा क्त → शृ त सु।

यह व्यवस्थित विभाषा है। तब क्षीर व हविस् अर्थों में नित्य 'शृ' आदेश होता है; अन्यत्र नहीं होता।

(2) श्राणा यवागूः
यहाँ नहीं हुआ।

(3) श्रपिता यवागूः
श्रा णिच् क्त—पुक् आगम,
श्रापि त टाप्—टाप्, णिच् लुक्, ह्रस्व,
श्रपिता—सु।

जब बाह्य प्रयोजक में द्वितीय णिच् होता है, तब भी नहीं होता है।

क्षपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेन

'श्रा' धातु आकर्मक है। कर्मकर्तृ विषय के पच् के अर्थ में यह वर्त्तमान है। वह णिच् प्रत्ययान्त पच् के अर्थ को कहता है। अतः यहाँ दोनों के स्थान पर 'शृत' भाव होता है।

शृतं क्षीरं देवदत्तेन

निपातन विषय को प्रदर्शित करने के लिए 'पाक' शब्द का ग्रहण है। अतः 'क्षीर' और 'हविस्' अर्थों में ही होता है।

(2468) प्यायः पी *28* (3072)

विभाषेत्येव। ओप्यायी (धा०पा० 488) वृद्धावित्यस्य धातोर्निष्ठायां विभाषा पीत्ययमादेशो भवति। पीनं मुखम्। पीनौ बाहू। पीनमुरः। इयमपि व्यवस्थितविभाषैव। तेनानुपसर्गस्य नित्यं भवति, सोपसर्गस्य तु नैव भवति। आप्यानश्चन्द्रमाः। आङ्पूर्वस्यान्ध्यूधसोर्भवत्येव-आपीनोऽन्धुः, आपनमूध इति।

अर्थ—'विभाषा' का अनुवर्त्तन है। प्यायी धातु को विकल्प से 'पी' आदेश होता है, निष्ठा परे रहते।

उदा० (1) पीनं मुखम्
प्याय् क्त → पी त—ओदितश्च,
पीन सु—विभक्तिकार्य।

(2) पीनौ बाहू (पूर्ववत्)।
(3) पीनम् उरः (पूर्ववत्)।

यह भी व्यवस्थित विभाषा है। अनुपसर्ग 'प्याय्' को 'पी' भाव नित्य होता है। सोपसर्ग की दशा में नहीं होता है।

(4) प्रप्यानः
प्र प्याय् क्त—ओदितश्च,
प्र प्या न सु—यकारलोप,

(5) आप्यानश्चन्द्रमा (पूर्ववत्)।

आङ् पूर्वक 'प्याय्' धातु को 'पी' भाव होता है, अन्धु तथा ऊधस् अर्थों में।

(6) आपीनोऽन्धुः
आ प्याय् क्त—'पी' हुआ।

(7) आपीनमूधः
'पी' हुआ है।

(2469) लिड्यङोश्च *29* (2327)

विभाषेति निवृत्तम्। प्यायः पीत्येतच्चशब्देनानुकृष्यते। लिटि यङि च परतः प्यायः पीत्ययमादेशो भवति। आपिप्ये। आपिप्याते। आपिप्यिरे। परत्वात् पीभावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् द्विर्वचनमेरनेकाच (6.4.82) इति यणादेशः। यङि-आपेपीयते। आपेपीयन्ते।

अर्थ—'विभाषा' का अनुवर्त्तन नहीं है। 'प्यायः पी' का अनुवर्त्तन है। लिट् तथा यङ् परे रहते 'प्याय्' धातु को 'पी' आदेश होता है।

उदा० (1) आपिप्ये
आ प्याय् त—लिट्, प्र० पु० एकवचन,
आ पी एश्—लिटस्तझयोरे०, द्वित्व को बाध कर 'पी' हुआ, पुनः द्वित्व प्राप्त हुआ, 'सकृद् गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' (परि०) से द्वित्व का बाध हुआ, 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्' (परि०) से द्वित्व हुआ,
आ पी पी एश्—अभ्यास कार्य,
आ पि पी ए—'इको यणचि' से प्राप्त यणादेश को बाध कर 'अचिश्नुधातु०' से इयङ् प्राप्त हुआ, 'एरनेकाचो०' से यण् हुआ,
आपिप्ये—रूप बना।

(2) आपिप्याते
आ प्याय् आताम्—प्र० पु० द्विवचन,
आ पि पी आताम्—पूर्ववत्।

(3) आपिप्यिरे
आ प्याय् झ—लिटस्तझयोरे०,
आ पि पी इरेच्—पूर्ववत्।

(4) आपेपीयते
आ प्याय् यङ्—'पी' भाव, सन्यङोः,
आ पी पी य—गुणो यङ्लुकोः, धातुसंज्ञा,
आपेपीयते—'त' प्रत्यय।

(5) आपेपीयन्ते
यङ्, झ प्रत्यय।

(2470) विभाषा श्वेः *30* (2420)

लिड्यङोरिति वर्त्तते, सम्प्रसारणमिति च। लिटि यङि च श्वयतेर्धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति। शुशाव, शिश्वाय। शुशुवतुः, शिश्वियतुः। यङि—शोशूयते, शेश्वीयते। तदत्र यङि सम्प्रसारणमप्राप्तं विभाषा विधीयते। लिटि तु किति यजादित्वात् नित्यं प्राप्तं तत्सर्वत्र विकल्पेन भवतीत्येषोभयत्र विभाषा। यदा च धातोर्न भवति तदा लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (6.1.17) इत्यभ्यासस्यापि न भवति।

अर्थ—'लिड्यङोः' तथा 'सम्प्रसारणम्' का अनुवर्त्तन है। 'श्वि' धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है, लिट् व यङ् परे रहते।

उदा० (1) शुशाव
श्वि णल्—लिट्, तिप्, णल्,
शु अ—द्वित्व की अपेक्षा पर होने से सम्प्रसारण हुआ,
शु शु अ—द्वित्व,
श शाव् अ—वृद्धि, आवादेश।

(2) शिश्वाय
श्वि णल्—पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ, द्वित्व,
श्वि श्वि अ—हलादिः शेषः, वृद्धि,
शि श्वाय् अ—आयादेश।

(3) शुशुवतुः
श्वि अतुस्—प्र० पु० द्विवचन,
शु शु अतुस्—सम्प्रसारण, द्वित्व,
शुशुवतुस्—यणादेश को बाध कर उवङ्।

(4) शिश्वियतुः
श्वि श्वि अतुस्—पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ,
शि श्विय् अतुस्—इयङ् आदेश।

(5) शोशूयते
श्वि यङ्—सम्प्रसारण,
शु शु य—द्वित्व, गुण, धातुसंज्ञा,
शोशूयते—लकारकार्य।

(6) शेश्वीयते
श्वि श्वि यङ्—सम्प्रसारण नहीं हुआ, द्वित्व,
शि श्वि य—गुण, दीर्घादेश,
शेश्वीयते—लकारकार्य।

तदत्र—यहाँ यङ् में अप्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प कहा गया है। लिट् में कित् प्रत्यय परे रहते यजादि होने से नित्य प्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प कहा गया है। अतः यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। जब धातु को सम्प्रसारण नहीं होता; तब 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से अभ्यास को भी नहीं होता है।

(2471) णौ च संश्चङोः *31* (2579)

विभाषा श्वेरिति वर्त्तते। सन्परे चङ्परे च णौ परतः श्वयतेर्धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति। शुशावयिषति। चङि—अशूशवत्, अशिश्वयत्। सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च बलीयो भवतीति वचनादन्तरङ्गमपि वृद्ध्यादिकं सम्प्रसारणेन बाध्यते। कृते तु सम्प्रसारणे वृद्धिरावादेशश्च। ततः ओः पुयण्ज्यपरे (7.4.80) इत्येतद्वचनं ज्ञापकं णौ कृतस्थानिवद्भावस्येति स्थानिवद्भावात् शुशब्दो द्विरुच्यते।

अर्थ—'विभाषा श्वेः' का अनुवर्त्तन है। सन् या चङ् है परे जिस णिच् के, ऐसे णिच् के परे रहते 'श्वि' धातु को विकल्प से सम्प्रसारण होता है।

उदा० (क) सनि—
(1) शुशावयिषति
श्वि णिच्—हेतुमति च, धातुसंज्ञा,
श्वि णिच् सन्—सन्, सम्प्रसारण,
शु इ स → शौ इ स—अचो ञ्णिति,
शावि इट् स—वलादिक इट्,
शु शावि इ स—सन्यङोः, द्विर्वचनेऽचि,
शु शाव य् इ स—आर्धधातुक गुण, अयादेश, धातुसंज्ञा,
शुशावयिषति—मूर्धन्य, लकारकार्य।

(2) शिश्वाययिषति
श्वि णिच् सन्—पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ, द्वित्व,
शि श्वि इ इट् स—पूर्ववत् इट्, वृद्धि,
शिश्वाययिषति—पूर्ववत्।

(ख) चङि—
(3) अशूशवत्
श्वि णिच् ल्—पूर्ववत् धातुसंज्ञा, लुङ्,
श्वि इ अ तिप्—तिप्, च्लि, च्लेश्चङ्,
शु इ अ त्—इतश्च, सम्प्रसारण,
शाव् इ अ त्—वृद्धि, आवादेश,
शु शाव् इ अ त्—चङि, 'द्विर्वचनेऽचि' से रूपातिदेश,
शू शाव् अ त्—दीर्घादेश, णेरनिटि,
अशूशवत्—अट् आगम।

(4) अशिश्वयत्
श्वि णिच् चङ् त्—इस स्थिति में सम्प्रसारण नहीं हुआ,
शि श्वाय् अ त्—द्वित्व, णिलोप,
अशिश्वय् अ त्—अट् आगम।

सम्प्रसार०—सम्प्रसारण और सम्प्रसारणाश्रय कार्य बलवान् होता है—इस वचन से वृद्धि आदि के अन्तरंग होने पर भी वृद्धिकार्य का बाध सम्प्रसारण से हो जाता है। सम्प्रसारण करने पर वृद्धि तथा आवादेश होते हैं। तब 'ओः पुयण् ज्यपरे' यह वचन ज्ञापक है कि णिच् में जिसे स्थानिवद्भाव किया गया है, उसके स्थानिवद्भाव से 'शु' शब्द दो बार कहा जाता है।

(2472) ह्वः सम्प्रसारणम् *32* (2586)

णौ च संश्चङोरिति वर्त्तते। सन्परे चङ्परे च णौ परतो ह्वः सम्प्रसारणं भवति। जुहावयिषति। जुहावयिषतः। जुहावयिषन्ति। अजूहवत्। अजूहवताम्। अजूहवन्। सम्प्रसारणस्य बलीयस्त्वात् शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (7.3.37) इति प्रागेव युङ्न भवति। सम्प्रसारणमिति वर्त्तमाने पुनः सम्प्रसारणमित्युक्तं विभाषेत्यस्य निवृत्त्यर्थम्। ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्येत्येकयोगेन सिद्धे पृथग्योगकरणमनभ्यस्तनिमित्तप्रत्ययव्यवधाने सम्प्रसारणाभावज्ञापनार्थम्—ह्वायकमिच्छति ह्वायकीयति। ह्वायकीयतेः सन्–जिह्वायकीयिषति।

अर्थ—'णौ च संश्चङोः' का अनुवर्त्तन है। सन् या चङ् है परे जिसके, ऐसे णिच् के परे रहते 'ह्वे' धातु को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (क) सनि—
(1) जुहावयिषति
ह्वे णिच्—धातुसंज्ञा,
ह्वे इ सन्—सन्, सम्प्रसारण,
हु हु इ स—द्वित्व, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,
जु हावि इट् स—इट्, वृद्धि,
जुहावयिषति—गुण, अयादेश, मूर्धन्य, तिप्।

(2) जुहावयिषतः
प्र० पु० द्विवचन।

(3) जुहावयिषन्ति
प्र० पु० बहुवचन।

(ख) चङि—
(4) अजूहवत्
ह्वे णिच् त्—णिच्, तिप्, चङ्, सम्प्रसारण, 'चङि' से द्वित्व,
हु हु इ अ त्—अभ्यासकार्य,
जु हो अ त्—गुण, णेरनिटि,
अ जू ह व् अ त्—दीर्घ।

(5) अजूहवताम्
'तस् में'।

(6) अजूहवन्
'झि' में।

सम्प्रसारण०—सम्प्रसारण के बलवान् होने से 'शाच्छासाह्वा०' से सम्प्रसारण से पूर्व ही 'युक्' नहीं होता। 'सम्प्रसारणम्' इस पद का अनुवर्त्तन सुलभ होने पर भी पुनः 'सम्प्रसारणम्' ऐसा कहा गया है, ताकि विकल्पविधि की निवृत्ति हो जाय। 'ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य' इस प्रकार एकयोग के द्वारा सिद्ध होने पर भी योगविभाग किया गया है। इसके द्वारा ज्ञापित होता है कि अभ्यस्त निमित्त प्रत्यय का व्यवधान होने पर सम्प्रसारण का अभाव होता है।

(7) ह्वायकीयति
ह्वायकम् इच्छति—क्यच्, क्यचि च, धातुसंज्ञा।

(8) जिह्वायकीयिषति
ह्वायकीय सन्—द्वित्व,
जिह्वायकीय इट् स—अभ्यासकार्य, इट्,
जिह्वायकीयिषति—लकारकार्य।

(2473) अभ्यस्तस्य च *33* (2417)

ह्व इति वर्त्तते, तदभ्यस्तस्य चेत्यनेन व्यधिकरणम्—अभ्यस्तस्य यो ह्वयतिः। कश्चाभ्यस्तस्य ह्वयतिः? कारणम्, तेनाभ्यस्तकारणस्य ह्वयतेः प्रागेव द्विर्वचनात् सम्प्रसारणं भवति। जुहाव। जोहूयते। जुहूषति।

अर्थ—'ह्वः' का अनुवर्त्तन है। 'अभ्यस्तस्य च' इससे व्यधिकरण है। (सन् या चङ् है परे जिसके, ऐसे णिच् के परे रहते ह्वे धातु को सम्प्रसारण होता है तथा) अभ्यस्त के निमित्त ह्वे धातु को भी सम्प्रसारण होता है।

अभ्यस्त का जो 'ह्वे' धातु। अभ्यस्त का 'ह्वे' धातु कौन-सा है? कारण है। तब अभ्यस्त का जो निमित्त 'ह्वे' धातु; उसे द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) जुहाव

ह्वे णल्—हु हु अ—
जु हाव् अ—वृद्धि, आवादेश।

(2) जोहूयते
ह्वे यङ्—सम्प्रसारण,
हु हु य → जोहूय—अभ्यास कार्य, धातुसंज्ञा,
जोहूयते—'त' प्रत्यय।

(3) जुहूषति
ह्वे सन्—सम्प्रसारण,
हु हु सन्—द्वित्व, अभ्यास कार्य,
जुहूषति— धातुसंज्ञा।

(2474) बहुलं छन्दसि *34* (3510)

ह्व इति वर्त्तते। छन्दसि विषये ह्वयतेर्धातोर्बहुलं सम्प्रसारणं भवति। इन्द्राग्नी हुवे। देवीं सरस्वतीं हुवे (ऋ० 5.46.3)। ह्वेञो लट्यात्मनेपदोत्तमैकवचने बहुलं छन्दसि (2.4.76) इति शपो लुकि कृते सम्प्रसारणमुवङादेशश्च। न च भवति—ह्वयामि मरुतः शिवान्, ह्वयामि विश्वान् देवान् (ऋ० 7.34.8)।

अर्थ—'ह्वे' धातु को बहुलता से सम्प्रसारण होता है, वेद के विषय में। सभी विधियों के व्यभिचारार्थ 'बहुलम्' का प्रयोग हुआ है।

उदा० (1) हुवे (ऋ० 5.46.3)
ह्वे इट्—लट्, उ० पु० एकव०, बहुलं छन्दसि से शप् लुक्,
हु इ → हुवङ् इ—उवङ् आदेश,
हुव् ए—एत्व।
(2) (सरस्वतीं) हुवे (पूर्ववत्)।
(3) ह्वयामि (ऋ०7.34.8)
ह्वे मिप्—शप्, सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(2475) चायः की *35* (3511)

बहुलं छन्दसीति वर्त्तते। चायतेर्धातोश्छन्दसि विषये बहुलं कीत्ययमादेशो भवति। वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् (ऋ० 1.164.38)। लिट्युसि रूपम्। न भवति—अग्निर्ज्योतिर्निचाय्यः (वा०सं० 11.1)।

अर्थ—'बहुलं छन्दसि' का अनुवर्त्तन है। 'चाय्' धातु को बहुलता से 'की' आदेश होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) निचिक्युः (ऋ० 1.164.38)
चाय् उस्—लिट्, झि, परस्मैपदानां णलतुसुस्०
की की उस् → चिक्युस्—अभ्यास कार्य,
निचिक्युस्—उपसर्ग।
(2) निचाय्यः (मा०सं०11.1)
नि चाय्—'की' आदेश नहीं हुआ।

(2476) अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्त्ताः *36* (3512)

छन्दसीति वर्त्तते। अपस्पृधेथामिति—स्पर्द्ध संघर्षे (धा० पा० 3) इत्यस्य लङि आथामि द्विर्वचनं रेफस्य सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात्। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्। अस्पर्धेथामिति भाषायाम्। अपर आह—स्पर्धेरपपूर्वस्य लङ्याथामि सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात्। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (6.4.75) इत्यडागमाभावः। अत्र प्रत्युदाहरणमपास्पर्द्धेथामिति भाषायाम्। आनृचुरानृहुरिति—अर्च पूजायाम् (धा०पा० 204), अर्ह पूजायाम् (धा०पा० 740) इत्यनयोर्धात्वोर्लिट्युसि सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात्। ततो द्विर्वचनमुरदत्वमत आदेः (7.4.40) इति दीर्घत्वम्। तस्मान्नुड् द्विहल (7.4.71) इति नुडागमः य उग्रा अर्कमानृचुः (ऋ० 1.19.4)। न वसून्यानृहुः (अथ० 2.35.1)। आनर्चुः, आनर्हुरिति भाषायाम्। चिच्युषे। च्युङ् (धा० पा० 936) गतावित्यस्य धातोर्लिटि सेशब्देऽभ्यासस्य सम्प्रसारणमनिट् च निपातनात्। चिच्युषे (ऋ० 4.30. 22)। चुच्युविष इति भाषायाम्। तित्याज। त्यज (धा०पा० 987) हानावित्यस्य धातोर्लिट्यभ्यासस्य सम्प्रसारणं निपात्यते। तित्याज (ऋ० 10.71.6)। तत्याजेति भाषायाम्। श्राता इति। श्रीञ् पाक (धा०पा० 1376) इत्येतस्य धातोर्निष्ठायां श्राभावः। श्रातास्त इन्द्रसोमाः (मै०सं० 1.9.1)। श्रितमिति। तस्यैव श्रीणातेर्ह्रस्वत्वम्। सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० 9.12.3)। श्रिता नो गृहाः। अनयोः श्राभावश्रिभावयोर्विषयविभागमिच्छन्ति—सोमेषु बहुषु श्राभाव एव, अन्यत्र श्रिभाव एव। सोमादन्यत्र क्वचिदेकस्मिन्नपि श्राभावो दृश्यते—यदि श्रातो जुहोतन (ऋ० 10.179.1)। तस्य श्राता इति बहुवचनस्याविवक्षितत्वादुपसंग्रहो द्रष्टव्यः। आशीराशीर्त्त इति। तस्यैव श्रीणातेराङ्पूर्वस्य क्विपि निष्ठायां च शीरादेशो निष्ठायाश्च नत्वाभावो निपातनात्। तामाशीरा दुहन्ति। आशीर्त्त ऊर्ज्जम्। क्षीरैर्मध्यत आशीर्त्तः (ऋ० 8.2.9)।

अर्थ—'छन्दसि' का अनुवर्त्तन है। वेद के विषय में अपस्पृधेथाम्, आनृचुः, आनृहुः, चिच्युषे, तित्याज, श्रात, श्रित, आशीर् तथा आशीर्त्त—ये शब्द निपातित हैं।

उदा० (1) अपस्पृधेथाम् (मै० सं० 2.4.4)
स्पर्ध आथाम्—लङ्, म०पु० द्विवचन,
प स्पर्ध् आथाम्—निपातन से द्वित्व, रेफ का सम्प्रसारण तथा अकारलोप,
प स्पृध् अ आथाम्—शप्, आतो ङितः, लोपो व्योर्वलि,
अपस्पृधेथाम्—अट् आगम।

कुछ व्याख्याकारों के अनुसार अपपूर्वक स्पर्ध् से रूप बनता है। उनके अनुसार सम्प्रसारण तथा अकारलोप निपातन से होते हैं। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' के द्वारा अट् आगम का अभाव होता है।

(2) अस्पर्धेथाम्
लोक में रूप बनता है।

(3) अपास्पर्धेथाम्
अप स्पर्ध् आथाम्—लोक में रूप बनता है।

(4) आनृचुः (ऋ० 1.19.4)
अर्च् उस्—लिट्, प्र०पु० बहुवचन रेफ का सम्प्रसारण, अकारलोप, अत आदेः,
आ न् ऋच् उस्—निपातन,
आ नृ च् उस्—पूर्ववत्।

(5) आनर्चुः
लोक में।

(6) आनृहुः
अर्ह् उस्—पूर्ववत्।

(7) आनर्हुः
भाषा में।

(8) चिच्युषे (ऋ० 4.30.22)
च्युङ् थास्—लिट्,
च्यु च्यु से—थासः से, द्वित्व, निपातन से अभ्यास को सम्प्रसारण तथा प्राप्त इट् का अभाव,
चि च्यु से—मूर्धन्य।

(9) चुच्युविषे
च्यु च्यु से—लोक में द्वित्व, अभ्यास कार्य,
चु च्यु इट् से—इट्, उवङ्,
चुच्युविषे—मूर्धन्य।

(10) तित्याज (ऋ० 10.71.6)
त्यज्, त्यज् अ—द्वित्व,
ति त्यज् अ—निपातन से अभ्यास को सम्प्रसारण,
ति त्याज् अ—अत उपधायाः।

(11) तत्याज
त्यज् णल्—लोक में द्वित्व, हलादि शेष,
त त्याज् अ—अत उपधायाः।

(12) श्राताः (मै०सं० 1.9.1)
श्री क्त—श्रा त—निपातन से 'श्रा',
श्रात जस्—प्र०पु० बहुवचन।

(13) श्रितम्
श्री क्त—निपातन से ह्रस्व,
श्रित सु—विभक्तिकार्य।

इनका श्राभाव व श्रिभाव का विषयविभाग कहा गया है। 'सोम' में बहुवचन में श्राभाव होता है, अन्यत्र श्रिभाव होता है। 'सोम' से अन्यत्र कहीं-कहीं एकत्व में भी श्राभाव दृष्टिगोचर होता है—

यदि श्रातो जुहोतन।

उसका 'श्राताः' इस प्रकार बहुवचन के विवक्षित न होने से उपसंग्रह द्रष्टव्य है।

(14) आशीरः (शौ०सं० 2.29.3)
आ श्री क्विप्—निपातन से 'शीर्',
आ शीर् जस्—विभक्तिकार्य।

(15) आशीर्ताः (ऋ० 8.2.9)
आ श्री क्त—निपातन से नत्व का अभाव,
आ शीर् त जस्—अचो रहाभ्यां द्वे।

(2477) न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् *37*
(363)

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न भवति। व्यध–विद्धः। व्यच–विचितः। व्येञ्–संवीतः। एकयोगलक्षणमपि सम्प्रसारणमत एव वचनात् प्रथमं परस्य यणः क्रियते, पूर्वस्य च प्रसक्तं प्रतिषिद्ध्यते। सम्प्रसारणमिति वर्त्तमाने पुनः सम्प्रसारणग्रहणं विदेशस्थस्यापि सम्प्रसारणस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिति–श्वयुवमघोनामतद्धिते (6.4.133)। यूनः। यूना। सम्प्रसारणग्रहणसाम-

थ्यदिव पूर्वस्य प्रतिषेधे वक्तव्ये सवर्णदीर्घत्वमेकादेशो न स्थानिवद्भवति। सति वा स्थानिवत्त्वे व्यवधानमेतावदाश्रयिष्यते। *ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि* (म० भा०)। ऋचि परतस्त्रेः सम्प्रसारणं भवति, उत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि विषये। तिस्र ऋचो यस्मिन् तत् तृचं सूक्तम्, तृचं साम। ऋक्पूरब्धूःपथामानक्ष (5.4.74) इति समासान्तः। छन्दसीति किम्? त्यृचं कर्म। *रयेर्मतौ बहुलम्* (म०भा०)। रयिशब्दस्य छन्दसि विषये मतौ परतो बहुलं सम्प्रसारणं भवति। आ रेवानेतु नो विशः। न च भवति–रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः (वा०सं० 3.40)।

अर्थ—सम्प्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। दो अव्यवहित या व्यवहित यण् हों तो प्रथम अन्त्य यण् को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) विद्धः
व्यध् क्त → विध् त—ग्रहिज्यावयिव्यधि०,
विध् ध—न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्, झषस्तथो०,
विद् ध सु—झलां जश् झशि।

(2) विचितः
व्यच् क्त—सम्प्रसारण,
विच् इट् त—इट्,
विचित सु—विभक्तिकार्य।

(3) संवीतः
सम् व्ये क्त—सम्प्रसारण,
सम् वि त—अनुस्वार, दीर्घ।

एकयोग०—एकयोग लक्षण भी सम्प्रसारण होता है। अतः इस वचन से प्रथम पर यण् को सम्प्रसारण होता है। पूर्व के स्थान पर प्रसक्त सम्प्रसारण का प्रतिषेध किया जाता है। 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी पुनः 'सम्प्रसारणम्' पद के ग्रहण से सूचित होता है कि विदेशस्थ सम्प्रसारण का भी निषेध होता है। यथा—

श्वयुवमघोनामतद्धिते।

(4) यूनः
युवन् शस् → यु उन् अस्—सम्प्रसारण,
यून् अस्—अकः सवर्णे दीर्घ, न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्,

यहाँ सम्प्रसारण-ग्रहणसामर्थ्य से ही पूर्व का निषेध कहे जाने पर सवर्ण दीर्घ एकादेश स्थानिवत् नहीं होता है। स्थानिवद्भाव होने पर व्यवधान हो जायेगा।

ऋचि त्रे०—ऋच् परे रहते त्रि शब्द को सम्प्रसारण व उत्तर पद का लोप होता है, वेद के विषय में।

(5) तृचं सूक्तम्
तिस्र ऋचो यस्मिन् तत्—सम्प्रसारण व उत्तरपद का लोप हुआ,
तृ ऋच् → तृच् अ—ऋक्पूरब्धूःपथा०,
तृच् सु—विभक्तिकार्य।

(6) तृचं साम (पूर्ववत्)।

छन्दसीति०—वेद में ही सम्प्रसारण व उत्तर पद का लोप होता है—

(7) त्यृचं कर्म
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

रयेर्मतौ०—मतुप् परे रहते रयि शब्द को बहुलता से सम्प्रसारण होता है, वेद के विषय में।

(8) (आ) रेवानेतु नो विशुः (ऋ० 1.18.2)
रयि मतुप्—सम्प्रसारण,
रि मत् → रेमान्—सु।

(9) रयिमान्
लोक में सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(2478) लिटि वयो यः*38* (2413)

न सम्प्रसारणमित्यनुवर्त्तते। लिटि परतो वयो यकारस्य सम्प्रसारणं न भवति। उवाय। ऊयतुः। ऊयुः। लिड्ग्रहणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—'न सम्प्रसारणम्' का अनुवर्त्तन है। लिट् प्रत्यय परे रहते 'वय्' के यकार को सम्प्रसारण नहीं होता है।

उदा० (1) उवाय
वय् णल्—'लिट्यभ्यासस्यो०' तथा 'ग्रहिज्यावयि०' से प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध, द्वित्व,
व वय् अ—हलादि शेष, 'व्' को सम्प्रसारण,
उवाय् अ—अत उपधायाः।

(2) ऊयतुः
वय् अतुस्—'य्' को सम्प्रसारण का निषेध,
उय् उय् अतुस्—'व्' को सम्प्रसारण, द्वित्व,
ऊय् अतुस्—सवर्णदीर्घ।

(3) ऊयुः
'उस्' में।

'लिटि' का उत्तर शास्त्र के लिए ग्रहण है।

(2479) वश्चास्यान्यतरस्यां किति *39* (2414)

अस्य वयो यकारस्य किति लिटि परतो वकारादेशो भवत्यन्यतरस्याम्। ऊवतुः। ऊवुः। ऊयतुः। ऊयुः। कितीति किम्? उवाय, उवयिथ।

अर्थ—कित् लिट् प्रत्यय परे रहते 'वय्' के यकार के स्थान पर विकल्प से वकार होता है।

उदा० (1) ऊवतुः
वय् अतुस् → उय् उय् अतुस्—असंयोगाल्लिट्०,
ऊय् → ऊव् अतुस्।

(2) ऊवुः
उय् उय् उस्—पूर्ववत्।

ऊव् उस्—पूर्ववत्।

(3) ऊयतुः
उय् उय् अतुस्—पक्ष में वकार नहीं हुआ,
ऊय् अतुस्—पूर्ववत्।

(4) ऊयुः
उय् उय् उस्—वकार नहीं हुआ,
ऊय् उस्—पूर्ववत्।

कितीति०—कित् परे रहते ही वकार होता है—

(5) उवाय
उ वय् णल्—कित् न होने से वकार नहीं हुआ।

(6) उवयिथ
उ वय् इट् थल्—पूर्ववत् वकार नहीं हुआ।

(2480) वेञः *40* (2415)

लिटीत्यनुवर्त्तते। वेञ् तन्तुसन्तान इत्यस्य धातोर्लिटि परतः सम्प्रसारणं न भवति। ववौ। ववतुः। ववुः। किति यजादित्वाद्धातोः प्राप्तमकित्यपि लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (6.1.17) इत्यभ्यासस्यात उभयं प्रतिषिध्यते।

अर्थ—'लिटि' का अनुवर्त्तन है। 'वे' धातु को सम्प्रसारण नहीं होता है, लिट् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) ववौ
वे णल् → वा णल्—आदेच उपदेशेऽशिति,
वा वा औ—लिट्यभ्यासस्योभ० से प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध, आत औ णलः, द्वित्व, अभ्यास कार्य।

(2) ववतुः
वे अतुस्—'वचिस्वपियजा०' से प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हुआ,
वा वा अतुस्—द्वित्व, आतो लोप इटि च।

किति०—कित् परे रहते यजादि होने से इस धातु से सम्प्रसारण प्राप्त था। तब अकित् में भी कह दिया है। 'लिट्यभ्यासस्योभ०' से अभ्यास को प्राप्त सम्प्रसारण का भी निषेध होता है।

(2481) ल्यपि च *41* (3339)

वेञ इत्यनुवर्त्तते। ल्यपि च परतो वेञः सम्प्रसारणं न भवति। प्रवाय। उपवाय। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—'वेञः' का अनुवर्त्तन है। 'वे' धातु को सम्प्रसारण नहीं होता है, ल्यप् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) प्रवाय
प्र वे त्त्वा → प्र वा त्वा—आदेच उपदेशे०, ल्यप्, स्थानिवद्भाव से ल्यप् कित् हुआ, 'वचिस्वपि०' से प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हुआ।

(2) उपवाय
उप वे त्त्वा—पूर्ववत्।
पृथक् योग उत्तरशास्त्र के लिए है।

(2482) ज्यश्च *42* (3340)

ल्यपीत्येव। ज्या वयोहानौ (धा०पा० 1500) इत्यस्य धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति। प्रज्याय। उपज्याय।

अर्थ—ज्या धातु को सम्प्रसारण नहीं होता है, ल्यप् प्रत्यय परे रहते। 'ग्रहिज्यावयि०' से सम्प्रसारण प्राप्त था।

उदा० (1) प्रज्याय
प्र ज्या त्त्वा—सम्प्रसारण नहीं हुआ,
प्र ज्या य—पूर्ववत्।

(2) उपज्याय
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(2483) व्यश्च *43* (3341)

ल्यपीत्येव। व्येञ् संवरण (धा०पा० 1008) इत्येतस्य

धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति। प्रव्याय। उपव्याय। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—'व्ये' धातु को सम्प्रसारण नहीं होता है, 'ल्यप्' परे रहते। यहाँ भी 'ग्रहिज्या०' से सम्प्रसारण प्राप्त था।

उदा० (1) प्रव्याय
प्र व्ये क्त्वा → प्र व्या ल्यप्—आदेश उपदेशेऽशिति, ल्यप्,
प्र व्या य सु—पूर्ववत्।

(2) उपव्याय
उप व्ये क्त्वा—पूर्ववत्,
उप व्या य—पूर्ववत्।

(2484) विभाषा परेः *44* (3342)

ल्यपि च व्यश्चेत्यनुवर्त्तते। परेरुत्तरस्य व्येञित्येतस्य धातोर्ल्यपि परतो विभाषा सम्प्रसारणं न भवति। परिवीय यूपम्। परिव्याय। सम्प्रसारणे कृते परपूर्वत्वे च ह्रस्वस्य (6.1.71) इति तुक् प्राप्नोति। स हल (6.4.2) इति दीर्घत्वेन परत्वाद् बाध्यते।

अर्थ—परि उपसर्ग से उत्तर जो 'व्ये' धातु, उसे विकल्प से सम्प्रसारण नहीं होता है, ल्यप् परे रहते।

उदा० (1) परिवीय
परि वि ल्यप्—सम्प्रसारण हुआ,
परि वी य सु—हलः, दीर्घ।

(2) परिव्याय
सम्प्रसारण नहीं हुआ।

सम्प्रसारणे०—सम्प्रसारण करने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति०' से 'तुक्' प्राप्त होता है, वह पर होने के कारण 'हलः' के द्वारा बाधित होता है। 'हलः' (6.4.2) 'ह्रस्वस्य पिति०' (6.1.71) की अपेक्षा पर है।

(2485) आदेच उपदेशेऽशिति *45* (2370)

धातोः (6.1.8) वर्त्तते। एजन्तो यो धातुरुपदेशे तस्याकारादेशो भवति, शिति तु प्रत्यये न भवति। ग्लै–ग्लाता। ग्लातुम्। ग्लातव्यम्। शो–निशाता। निशातुम्। निशातव्यम्। एच इति किम्? कर्त्ता। हर्त्ता। उपदेश इति किम्? चेता। स्तोता। अशितीति किम्? ग्लायति। म्लायति। कथं जग्ले, मम्ले? नैवं विज्ञायते–शकार इद्यस्य सोऽयं शिदिति, किं तर्हि? श एव इत् शित्, तत्र 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' (व्या०प० 127) इति शिदादौ प्रत्यये प्रतिषेधः। एश् शकारान्तो भवति। अशीतीति च प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्। तेनैतदात्वमनैमित्तिकं प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्भवतीति–सुग्लः, सुम्ल इति। आतश्चोपसर्गे (3.1.136) इति कप्रत्ययः। सुग्लानः, सुम्लान इति आतो युच् (3.3.128) इत्येवमादि सिद्धं भवतीति। आकाराधिकारस्त्वयं नित्यं स्मयतेः (6.1.57) इति यावत्।

अर्थ—'धातोः' का अनुवर्त्तन है। उपदेश अवस्था में जो एजन्त धातु, उसके अन्त्य अल् के स्थान पर आकार आदेश होता है, अशित् प्रत्यय परे रहते। एच् प्रत्याहार में चार वर्ण होते हैं—

ए, ओ, ऐ, औ।

प्रकृत सूत्र के द्वारा लिट्, लुट्, आशीर्लिङ्, लुङ्, लृङ्, णिच्, सन्, यङ् तथा शिद् भिन्न प्रत्ययों में एजन्त धातु (यथा—धे) का स्वरूप आकारान्त (यथा—धा) हो जाता है।

उदा० (1) धाता
धे तृच् → धा तृ सु—विभक्तिकार्य।

(2) निशाता
नि शो तृ—नि शा तृ—पूर्ववत्।

(3) निशातुम्
नि शो तुमुन्—पूर्ववत्।

(4) निशातव्यम्
नि शो तव्यत्—पूर्ववत्।

(5) ग्लाता
(6) ग्लातुम्
(7) ग्लातव्यम्

एच इति०—उपदेश में जो एजन्त धातु, उसको आकार अन्तादेश होता है—

(8) कर्त्ता
कृ तृच्—आर्धधातुक गुण।

(9) हर्त्ता
हृ तृच्—पूर्ववत्।

उपदेशे०—उपदेश में जो एजन्त धातु, उसे आकार अन्तादेश होता है :

(10) चेता

चि तृच् → चे तृ—उपदेश में एजन्त नहीं है, आकार नहीं हुआ।

(11) स्तोता

स्तु तृच् → स्तो तृ—पूर्ववत् आकार अन्तादेश नहीं हुआ।

अशितीति०—शित् से अतिरिक्त प्रत्यय परे रहते आकार अन्तादेश होता है—

(12) ग्लायति

ग्लै तिप्—'कर्त्तरि शप्' से 'शप्' हुआ, अतः आकार अन्तादेश नहीं हुआ,

ग्लाय् अ ति—आयादेश।

(13) म्लायति (पूर्ववत्)।

(14) जग्ले

ग्लै एश्—लिट्, त, एश्,

ग्ला ग्ला एश् → ग ग्ला ए—द्वित्व, अभ्यास कार्य,

जग्ल् ए—आकारलोप।

(15) मम्ले

म्लै एश्—पूर्ववत्।

नैवं विज्ञा०—'अशिति' के 'शित्' अंश में कर्मधारय समास है (द्र०—श् एव इत्–शित्) यदि यहाँ 'श् इत् यस्य सः–शित्' इस प्रकार बहुव्रीहि मानते हैं तो–म्लै त (भाववाच्य में लिट् प्र० पु० एकवचन) इस दशा में 'त' को होने वाला 'एश्' भी शित् रहेगा। तब धातु को आकार आदेश नहीं होगा। यदि 'शित्' अंश में कर्मधारय मानते हैं तो तदादि विधि करके 'इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय न हो तो आकार होता है' ऐसा अर्थ करेंगे। तब एश् के इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय न होने से इसके परे रहते धातु को निर्बाध आकार हो जायेगा। यथा—

म्ला म्ला ए—मम्ला ए—मम्ल् ए—मम्ले।

'अशिति' में प्रसज्य प्रतिषेध है। यदि इसमें पर्युदास प्रतिषेध मानते हैं तो शित् से अतिरिक्त शित् सदृश (अर्थात् प्रत्ययों) में इसकी प्रवृत्ति हो सकेगी। यथा—

सु ग्लै से 'आतश्चोपसर्गे' के द्वारा तब तक 'क' प्रत्यय नहीं होगा, जब तक धातु आकारान्त न हो तथा धातु तब तक आकारान्त नहीं होगा, जब तक कि कोई प्रत्यय इससे आगे न आ जाय। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। यदि 'अशिति' में प्रसज्य प्रतिषेध मानते हैं तो यहाँ कोई दोष नहीं आता। सु ग्ला क—सुग्ल सु—सुग्लः। यह आत्त्व आदेश निर्निमित्त है। अतः यह प्रत्यय से पूर्व ही हो जाता है। 'आत्' पद में तकार उच्चारणार्थ है।

(2486) न व्यो लिटि *46* (2416)

व्येञ् इत्येतस्य धातोर्लिटि परत आकारादेशो न भवति। संविव्याय। संविव्ययिथ। लिट्यभ्यासस्योभयेषामित्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। णलि अचो ञ्णिति (7.2.115) इति वृद्धिः।

अर्थ—उपदेश अवस्था में जो एजन्त 'व्ये' धातु, उसे आकार अन्तादेश नहीं होता है, लिट् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) संविव्याय

व्ये णल् → व्ये व्ये अ—अन्तादेश नहीं हुआ,

वि व्ये अ—लिट्यभ्यासस्यो०, न सम्प्रसारणे सम्प्र०,

सम् वि व्यै अ—आयादेश, अनुस्वार।

(2) संविव्ययिथ

सम् व्ये थल्—आकार अन्तादेश नहीं हुआ,

सम् वि व्ये इट् थल्—इट्, द्वित्व, सम्प्रसारण,

सम् वि व्यय् इथ—अयादेश,

संविव्यय् इथ—अनुस्वार।

(2487) स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि *47* (3185)

आदेच (6.1.45) इति वर्त्तते। स्फुर स्फुल चलने (धा०पा० 1390, 1391) इत्येतयोर्धात्वोरेचः स्थाने घञि परत आकारादेशो भवति। विस्फारः। विस्फालः। विष्फारः। विष्फालः। स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः (8.3.76) इति वा षत्वम्।

अर्थ—'आदेचः' का अनुवर्त्तन है। स्फुर् व स्फुल् धातुओं के 'एच्' के स्थान पर आकार आदेश होता है, घञ् परे रहते।

उदा० (1) विस्फारः

वि स्फुर घञ् → वि स्फोर् अ—गुण,

वि स्फार् अ सु—आकार हुआ।

(2) विस्फालः

वि स्फुल् घञ्—पूर्ववत्।

(3) विष्फारः

'स्फुरतिस्फुलत्यो०' से पाक्षिक षत्व हुआ।

(4) विष्फालः

पूर्ववत् षत्व।

(2488) क्रीङ्जीनां णौ *48* (2600)

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (धा०पा० 1474), इङ् अध्ययने धा०पा० 1047), जि जये (धा०पा० 937) इत्येतेषां धातूनामेचः स्थाने णौ परत आकारादेशो भवति। क्रापयति। अध्यापयति। जापयति।

अर्थ—क्रीञ्, इङ् तथा जि धातुओं के 'एच्' के स्थान पर आकार होता है, णिच् परे रहते।

उदा० (1) क्रापयति
क्री णिच् → क्रे इ → क्रा पुक् इ—पुक् आदि,
क्रापि शप् तिप्—लकारकार्य।

(2) अध्यापयति
अधि इ णिच् → अधि ए इ → अधि आ पुक् इ—पूर्ववत्,
अध्यापि शप् तिप्—लकारकार्य।

(3) जापयति
जि णिच् → जे इ → जाप् इ—पूर्ववत्।

(2489) सिध्यतेरपारलौकिके *49* (2602)

णाविति वर्त्तते। षिधु हिंसासंराद्ध्योः (धा०पा० 1193) इत्यस्य धातोरपारलौकिकेऽर्थे वर्त्तमानस्यैचः स्थाने णौ परत आकारादेशो भवति। अन्नं साधयति। ग्रामं साधयति। अपारलौकिक इति किम्? तपस्तापसं सेधयति। स्वान्येवैनं कर्माणि सेधयन्ति। अत्र हि सिध्यतिः पारलौकिके ज्ञानविशेषे वर्त्तते। तापसः सिध्यति। ज्ञानविशेषमासादयति। तं तपः प्रयुङ्क्ते। स च ज्ञानविशेष उत्पन्नः परलोके जन्मान्तरे फलमभ्युदयलक्षणमुपसंहरन् परलोकप्रयोजनो भवति। इह कस्मान्न भवति—अन्नं साधयति, ब्राह्मणेभ्यो दास्यामीति? सिध्यतेरत्रार्थो निष्पत्तिः। तस्याः प्रयोजनमन्नम्। तस्य यद्दानं तत्पारलौकिकम्, न पुनः सिद्धिरेवेति न आत्वं पर्युदस्यते। साक्षात्परलोकप्रयोजने च सिध्यर्थे कृतावकाशं वचनमेवं विषयं नावगाहते। सिध्यतेरिति श्यना निर्देशः षिधु गत्याम् (धा०पा० 47) इत्यस्य भौवादिकस्य निवृत्त्यर्थः।

अर्थ—पारलौकिक से अतिरिक्त अर्थ में वर्त्तमान 'सिध्' धातु के 'एच्' को आकार आदेश होता है, णिच् परे रहते।

उदा० (1) (अन्नं) साधयति
सिध् णिच् → सेधि → साधि—तिप्, शप्।

(2) साधयति (ग्रामम्)
सिध् णिच् → सेध् णिच्—
साध् इ शप् तिप्—पूर्ववत्।

अपारलौ०—पारलौकिक से अतिरिक्त अर्थ में ही आकार होता है—

(3) सेधयति तपस्तापसम्
यहाँ आकार आदेश नहीं हुआ।
यहाँ सिध् धातु पारलौकिक ज्ञानविशेष में वर्त्तमान है।

(4) अन्नं साधयति
यहाँ नहीं होता है।

(2490) मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च *50* (2508)

आदेच उपदेश (6.1.45) इति वर्त्तते। मीङ् हिंसायाम् (धा०पा० 1477), डुमिञ् प्रक्षेपणे (धा०पा० 1251), दीङ् क्षय (धा०पा० 1135) इत्येतेषां धातूनां ल्यपि विषये चकारादेचश्च विषये उपदेश एव प्राक्प्रत्ययोत्पत्तेरलोऽन्त्यस्य (1.1.52) स्थाने आकारादेशो भवति। प्रमाता। प्रमातव्यम्। प्रमातुम्। प्रमाय। निमाता। निमातुम्। निमातव्यम्। निमाय। उपदाता। उपदातव्यम्। उपदातुम्। उपदाय। उपदेश एवात्वविधानादिवर्णान्तलक्षणः प्रत्ययो न भवति। आकारान्तलक्षणश्च भवति—उपदायो वर्त्तते। ईषदुपदानमिति घञ्युचौ भवतः।

अर्थ—'आदेच उपदेशे' का अनुवर्त्तन है। उपदेश अवस्था में ल्यप् परे रहते तथा एच् भाव के विषय में मीञ्, मिञ् तथा दीङ् धातुओं को आकार अन्तादेश होता है। उपदेश में ही आकार अन्तादेश होता है। 'ल्यपि' में विषयसप्तमी है। कारण कि उपदेश अवस्था में ल्यप् परे हो नहीं सकता। चूँकि उपदेश अवस्था में भी, मि तथा दी धातुओं में एच् की प्राप्ति सम्भव नहीं है; फलतः 'एचः' को इन धातुओं का विशेषण नहीं मान सकते। अतः 'एचः' पद को भी 'विषये' से सम्बद्ध कर लिया जाता है। 'एच् भाव के विषय में' इसका अर्थ है—'एच् को उत्पन्न करने वाले प्रत्यय के विषय में'।

इसका दूसरा लाभ यह है कि 'भावे' के द्वारा 'उपदी' से घञ् होकर युच् आगम करके 'उपदाय' रूप बन जाता है, अन्यथा 'एरच्' से अच् होकर अनिष्ट रूप बन जायेगा। एच् भाव पूर्व सूत्र से प्राप्त होता है। अशित् प्रत्यय ही एच् भावनिमित्तक हैं।

उदा० (1) प्रमाता

प्र मी तृच् → प्र मा तृ—विभक्तिकार्य।

(2) प्रमातव्यम्
प्र मी तव्यत् → प्र मे तव्य—
प्रमातव्य सु—पूर्ववत्।

(3) प्रमातुम्
प्र मी तुमुन्—पूर्ववत्।

(4) प्रमाय
प्र मी ल्यप्—पूर्ववत्।

(5) निमाता
नि मी तृच्।

(6) निमातुम्
नि मी तुमुन्।

(7) निमातव्यम्
नि मी तव्यत्।

(8) निमाय
नि मि ल्यप्—पूर्ववत्।

(9) उपदाता
उप दी तृच् → उप दे तृ–
उप दा तृ—विभक्तिकार्य।

(10) उपदातव्यम्
उप दी तव्यत्—पूर्ववत्।

(11) उपदातुम्
उप दी तुमुन्—पूर्ववत्।

उपदेश०—उपदेश की दशा में ही अत्व का विधान होने से इवर्णान्त लक्षण प्रत्यय नहीं होता तथा आकारान्त लक्षण होता है।

(13) उपदायो वर्त्तते
उप दीङ् घञ्।

(14) ईषदुपदानम्—'युच्' हुआ।

(2491) विभाषा लीयतेः *51* (2509)

ल्यपीति (6.1.41) वर्त्तते, आदेच उपदेश (6.1.45) इति च। लीङ् श्लेषण इति दिवादिः, ली श्लेषण (धा०पा० 1502) इति क्र्यादिस्तयोरुभयोरपि यका निर्देशः स्मर्यते। लीयतेर्धातोर्ल्यपि च एचश्च विषये उपदेश एवालोऽन्त्यस्य स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति। विलाता, विलातुम्, विलाय, विलातव्यम्। विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम्, विलीय। *निमिमीलियां खलचोः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। ईषत्प्रमयः प्रमयो वर्त्तते। ईषन्निमयः नियमो वर्त्तते। ईषद्विलयः विलयो वर्त्तते। अत्र तु लियो व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् सिद्धम्। एवं च प्रलम्भनशालिनीकरणयोश्च णौ नित्यमात्वं भवति–कस्त्वामुल्लापयते, श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते।

अर्थ—ल्यपि, आदेचः, उपदेशे—इनका अनुवर्त्तन है। लीङ् दिवादिगणी है तथा ली क्र्यादिगणी है। इन दोनों का यक् के द्वारा निर्देश है। उपदेश अवस्था में ल्यप् के विषय में तथा एच् के भाव के विषय में 'ली' धातु को विकल्प से आकार अन्तादेश होता है।

उदा० (1) विलाता
वि ली तृच्—वि ले तृ—
विलाता—विभक्तिकार्य।

(2) विलातुम्
वि ली तुमुन्—पूर्ववत्।

(3) विलातव्यम्
वि ली तव्यत्—पूर्ववत्।

(4) विलाय
वि ली ल्यप्—पूर्ववत्।

(5) विलेता
वि ली तृच् → विलेता—पक्ष में आकार नहीं हुआ।

(6) विलेतुम्
पूर्ववत् आकार अभाव पक्ष।

(7) विलेतव्यम्
पक्ष में आकार नहीं हुआ।

(8) विलीय
आकार नहीं हुआ।

निमिमिलि०—खल् और अच् प्रत्ययों के परे रहते निमी, मि तथा ली—इन धातुओं को आकार अन्तादेश नहीं होता है—

(9) ईषत्प्रमयः
अन्तादेश नहीं हुआ।

(10) ईषन्निमयः
आकार नहीं हुआ।

(11) ईषद्विलयः

अन्तादेश नहीं हुआ।

यहाँ 'ली' धातु का व्यवस्थित विभाषा विज्ञान से ही सिद्ध है। इस प्रकार प्रलम्भन व शालिनीकरण अर्थों में णि में नित्य आत्व होता है।

उल्लापयते कस्त्वाम् ?

(2492) खिदेश्छन्दसि *52* (3513)

विभाषेति वर्त्तते। खिद दैन्ये (धा०पा० 1171) इत्यस्य धातोरेचः स्थाने छन्दसि विषये विभाषा आकार आदेशो भवति। चित्तं चिखाद। चित्तं चिखेद। छन्दसीति किम्? चित्तं खेदयति।

अर्थ—'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है। वेद के विषय में 'खिद् दैन्ये' इस धातु के एच् वर्ण के स्थान पर विकल्प से आकार आदेश होता है।

उदा० (1) चिखाद चित्तम्
खिद् णल् → खिखिद् अ—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
चि खेद् अ—गुण,
चिखाद् अ—आकार हुआ।

(2) चिखेद चित्तम्
खिद् णल्—लिट्, प्र०पु० एकवचन, आत्व नहीं हुआ,
खिद् खिद् अ—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
चिखेद् अ—लघूपधगुण।

छन्दसीति०—वेद में ही खिद् धातु को आकार आदेश होता है—

(3) खेदयति चित्तम्
खिद् णिच्—लोक में आकार आदेश नहीं हुआ।

(2493) अपगुरो णमुलि *53* (3375)

गुरी उद्यमने (धा०पा० 1397) इत्यस्य धातोरपपूर्वस्य णमुलि परत एचः स्थाने विभाषा आकार आदेशो भवति। अपगारमपगारम्। अपगोरमपगोरम्। अभीक्ष्ण्ये णमुल्च (3.4.22) इति णमुल्। अस्यपगारं युध्यन्ते, अस्यपगोरं युध्यन्त इत्यत्र द्वितीयायां च (3.4.53) इति णमुल्।

अर्थ—अपपूर्वक गुर् धातु के 'एच्' के स्थान पर आकार आदेश विकल्प से होता है, णमुल् परे रहते।

उदा० (1) अपगारम् अपगारम्
अप गुर् णमुल्—आभीक्ष्ण्ये णमुल् च,
अप गोर् अम्—पुगन्तलघूपधस्य च, आकार,
अपगारम् अपगारम्—आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः (वा०)।

(2) अपगोरम् अपगोरम्
अप गुर् णमुल्—पूर्ववत् गुण,
अप गोर् अम्—पक्ष में आकार नहीं हुआ,
अपगोरम् अपगोरम्—पूर्ववत्।

(2494) चिस्फुरोर्णौ *54* (2569)

चिञ् (धा०पा० 1252) स्फुर (धा०पा० 1390) इत्येतयोर्धात्वोर्णौ परत एचः स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति। चापयति, चाययति। स्फारयति, स्फोरयति।

अर्थ—चि तथा स्फुर् धातुओं के 'एच्' के स्थान पर आकार आदेश विकल्प से होता है, णिच् परे रहते।

उदा० (1) चापयति
चि णिच् → चै इ—अचो ञ्णिति,
चा पुक् इ—आकार पुक्, अर्त्तिह्रीव्ली०,
चापि शप् तिप्—लकारकार्य।

(2) चाययति
चि णिच् → चै इ—पक्ष में आकार नहीं हुआ,
चाय इ शप् तिप्—पूर्ववत्।

(3) स्फारयति
स्फोर् णिच्—लगूपधगुण, आकार आदेश,
स्फारयति—तिप्, शप्।

(4) स्फोरयति
स्फुर् णिच्—पक्ष में आकार नहीं हुआ,
स्फोरयति—पूर्ववत्।

(2495) प्रजने वीयतेः *55* (2603)

णाविति वर्त्तते। वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु (धा० पा० 1049) इत्यस्य धातोः प्रजने वर्त्तमानस्य णौ परतो विभाषा आकारादेशो भवति। पुरोवातो गाः प्रवापयति। पुरोवातो गाः प्रवाययति। गर्भं ग्राहयतीत्यर्थः। प्रजनो हि जन्मन उपक्रमो गर्भग्रहणम्।

अर्थ—'णौ' का अनुवर्त्तन है। प्रजनन अर्थ में वर्त्तमान 'वी' धातु के 'एच्' को आकार अन्तादेश विकल्प से होता है, णिच् परे रहते।

उदा० (1) वापयति
वी णिच् → वै इ—वा इ—आकार अन्तादेश,
वा पुक् इ शप् तिप्—वापयति।

(2) वाययति
वै णिच् → वायि इ—पक्ष में आकार नहीं हुआ,
वाययति—तिप्, शप्।

(2496) बिभेतेर्हेतुभये *56* (2593)

णाविति वर्त्तते, विभाषेति च। हेतुरिह पारिभाषिकः स्वतन्त्रस्य प्रयोजकः, ततो यद्भयं स यस्य भयस्य साक्षाद्धेतुः तद्भयं हेतुभयम्। तत्र वर्त्तमानस्य ञिभि भये (धा०पा० 1084) इत्यस्य धातोर्णौ परतो विभाषा आकारादेशो भवति। मुण्डो भापयते, मुण्डो भीषयते। जटिलो भापयते, जटिलो भीषयते। भीस्म्योर्हेतुभये इत्यात्मनेपदम्। भियो हेतुभये षुक् (7.3.40), स चात्वपक्षे न भवति। लिभियोरीकारप्रश्लेषनिर्देशादीकारान्तस्य भियः षुग्विधीयते। हेतुभय इति किम्? कुञ्चिकयैनं भाययति (म०भा०)। अत्र हि कुञ्चिकातो भयं करणात्र हेतोर्देवदत्तात्।

अर्थ—'णौ', 'विभाषा'—इनका अनुवर्त्तन है। 'हेतु' शब्द यहाँ पारिभाषिक है। 'हेतु से भय' इस अर्थ में वर्त्तमान 'भी' धातु के 'एच्' के स्थान पर विकल्प से आकार अन्तादेश होता है, णिच् परे रहते।

उदा० (1) भापयते मुण्डः
भि णिच् → भै इ—वृद्धि,
भा पुक् इ—आकार, भीस्म्योर्हे०,
भापि शप् त—लकारकार्य।

(2) भीषयते मुण्डः
भी णिच् → भी षुक् इ—भियो हेतुभये षुक्,
भी ष् इ शप् त—त, शप्,
भी ष य् अ त—गुण, अयादेश।

(3) भापयते जटिलः
भी णिच् → पूर्ववत्, आकार, पुक्,
भापि शप् त—पूर्ववत्।

(4) भीषयते जटिलः
भी षुक् णिच्—पूर्ववत्,
भीषि शप् त—पूर्ववत्।

लिभियो०—लिभियोः यहाँ ईकार के प्रश्लेष का निर्देश होने से ईकारान्त 'भी' को षुक् के आगम का विधान किया जाता है।

हेतुभय०—हेतु से भय—इस अर्थ में आकार होता है—

(5) भाययति कुञ्चिकयैनम्
यहाँ आकार अन्तादेश नहीं हुआ। यहाँ कुञ्चिक से भय है तथा देवदत्त हेतु से भय उपस्थित नहीं है।

(2497) नित्यं स्मयतेः *57* (2596)

णाविति वर्त्तते, हेतुभय इति च। नित्यग्रहणाद्विभाषेति निवृत्तम्। ष्मिङ् ईषद्धसने (धा०पा० 949) इत्यस्य धातोर्हेतुभयेऽर्थे णौ परतो नित्यमाकारादेशो भवति। मुण्डो विस्मापयते। जटिलो विस्मापयते। भय इति किम्? कुञ्चिकयैनं विस्मापयति। भयशब्देन हेत्वर्थसामान्यादिह स्मयतेरर्थोऽभिधीयते। न हि मुख्ये भये स्मयतेर्वृत्तिरस्ति।

अर्थ—'णौ' हेतुभये—इनका अनुवर्त्तन है। 'नित्यम्' का ग्रहण होने से 'विभाषा' की निवृत्ति हो गई है। णिच् परे रहते हेतुभय अर्थ में वर्त्तमान 'स्मि' धातु के 'एच्' के स्थान पर नित्य आकार होता है।

उदा० (1) विस्मापयते मुण्डः
वि स्मि णिच् → वि स्मै इ—आकार,
वि स्मा पुक् इ—पुक्, लकारकार्य।

भय इति०—भय अर्थ में ही आकार होता है—

(2) विस्मापयति कुञ्चिकयैनम्
वि स्मै पुक् णिच्—यहाँ नहीं हुआ,
वि स्मा यि शप् तिप्—लकारकार्य।

भय शब्द के द्वारा हेत्वर्थ सामान्य से यहाँ 'स्मि' धातु का अर्थ कहा जाता है। मुख्य भय होने पर 'स्मि' की वृत्ति नहीं होती है।

(2498) सृजिदृशोर्झल्यमकिति *58* (2405)

सृज् विसर्गे (धा०पा० 1415), दृशिर् प्रेक्षणे (धा०पा० 989) इत्येतयोर्धात्वोर्झलादावकिति प्रत्यये परतोऽमागमो भवति। स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्। द्रष्टा, द्रष्टुम्। द्रष्टव्यम्। लघूपधगुणापवादोऽयममागमः। अस्राक्षीत्। अद्राक्षीत्। सिचि वृद्धिरमि कृते भवति, पूर्वं तु बाध्यते। झलीति किम्? सर्जनम्, दर्शनम्। अकितीति किम्? सृष्टः, दृष्टः। धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानादिह न भवति—रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्यामिति।

अर्थ—सृज् और दृश् धातुओं को 'अम्' आगम होता है, कित् से भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) स्रष्टा

सृज् तृच् → सृ अम् ज् तृ—मिदचोऽन्त्यात्परः,
स्रज् तृ → स्रष् तृ—यण्, व्रश्चभ्रस्ज०,
स्रष् टृ—ष्टुना ष्टुः,
स्रष्टा—सु।

(2) स्रष्टुम्

सृज् तुमुन् → सृ अम् ज् तुम्—पूर्ववत्,
स्रष्टुम्—ष्टुत्व, सु।

(3) स्रष्टव्यम्

सृ अम् ज् तव्यत्—पूर्ववत्,
स्रष्टव्य—सु।

(4) द्रष्टा

दृश् तृच् → दृ अम् श् तृ–
द्रश् तृ → द्रष् तृ–
द्रष्टा—सु।

(5) द्रष्टुम्

दृ अम् श् तुमुन्—पूर्ववत्,
द्रष् तुम् → पूर्ववत् सु।

(6) द्रष्टव्यम्

दृ अम् श् तव्यत्—पूर्ववत्,
द्रष् तव्य—सु।

यह आगम लघूपध गुण का अपवाद है।

(7) अस्राक्षीत्

सृज् त्—लुङ्, 'इतश्च' से इकारलोप, अम् आगम, यण्, सिच्, 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व,

स्रज् स् ई त्—अस्तिसिचो०, वदव्रजहल० से वृद्धि,
अ स्राक् ष् ईत्—षढोः कः सि, अट् आगम।

यहाँ उल्लेखनीय है कि अम् आगम विशेष विधान है तथा लघूपधगुण एवं सिज् लक्षण वृद्धि सामान्य विधान है। अतः प्राप्त गुण का बाध होकर अम् आगम होता है,

पश्चात् वृद्धि होती है। चूँकि अम् आगम होने पर निमित्त के विहत हो जाने से गुण भी नहीं होता है।[1]

(8) अद्राक्षीत्

दृ अम् श् स् ई त्—पूर्ववत्, अम्, सिच्, ईट्,
द्राक् ष् ई त्—षढोः कः सि,
अद्राक्षीत्—अट् आगम।

झलीति०—झल् प्रत्यय परे रहते 'अम्' होता है—

(9) सर्ज्जनम्

सृज् ल्युट् → सर्ज् अन—लघूपध गुण, युवोरनाकौ,
सर्ज्ज् अ न—'अम्' नहीं, अचो रहाभ्यां द्वे,
सर्ज्जन सु—विभक्तिकार्य।

(10) दर्शनम्

दृश् ल्युट्—लघूपध गुण,
दर्शन सु—विभक्तिकार्य।

अकिती०—कित् भिन्न प्रत्यय परे रहते 'अम्' होता है—

(11) सृष्टः

सृज् क्त → सृष् त—'अम्' नहीं हुआ,
सृष् ट—ष्टुत्व, सु।

(12) दृष्टः

दृश् क्त—'अम्' नहीं हुआ,
दृष् त—ष्टुत्व, सु

धातु का स्वरूप ग्रहण होने पर कार्यविज्ञान से यहाँ आगम नहीं होता है—

(13) रज्जुसृड्भ्याम्

रज्जु सृज् भ्याम्—धातु का अधिकार है, 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इस परिभाषा के बल पर अकित् झल् (भ्याम्) को आश्रय करके अम् आगम होना चाहिए, परन्तु नहीं होता है।

(14) देवदृग्भ्याम्

देवदृश् भ्याम्—पूर्ववत् अम् आगम प्राप्त था; परन्तु नहीं होता है।

(2499) अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् *59* (2402)

उपदेशे इति वर्त्तते, झल्यमकिति इति च। उपदेशेऽनुदात्तस्य धातोर्ऋदुपधस्य झलादावकिति प्रत्यये परतोऽन्यतरस्याममागमो भवति। त्रप्ता, तर्पिता, तर्प्ता। द्रप्ता, दर्पिता, दर्प्ता। तृप प्रीणने (धा०पा० 1196), दृप हर्षणमोचनयोः (धा०पा० 1197)–इत्येतौ रधादी धातू, तयोरिडागमः 'रधादिभ्यश्च' (7.2.45) इति विकल्प्यते। अनुदात्तोपदेशः पुनरमर्थ एव। अनुदात्तस्येति किम्? वर्ढा,

1. न्यास० 6.1.58

वर्द्धुम, वर्द्धव्यम्। वृहू उद्यमने (धा०पा० 1348) इत्ययमुदात्तोपदेश ऊदित्वाच्चास्येड् विकल्प्यते। ऋदुपधस्येति किम्? भेत्ता। छेत्ता। झलीत्येव-तर्पणम्। दर्पणम्। अकितीत्येव-तृप्तः। दृप्तः।

अर्थ—उपदेशे, झलि, अम्, अकिति—इनका अनुवर्त्तन है। उपदेश में अनुदात्त तथा ऋकारोपध धातु को 'अम्' आगम होता है विकल्प से, कित् भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) त्रप्ता
तृप् तृच् → तृ अम् प् तृ—'अम्' हुआ,
त्रप् तृ सु—यण्, विभक्तिकार्य।

(2) तर्पिता
तृप् तृच् → तृप इट् तृच्—पक्ष में 'अम्' नहीं हुआ।
'रधादिभ्यश्च' से पाक्षिक इट्,
तर्प् इ तृ सु—लघूपधगुण।

(3) तर्प्ता
तृप् तृच् → अम् अभाव, इट् अभाव,
तर्प् तृच् सु—गुण।

(4) द्रप्ता
दृप् तृच् → दृ अम् प् तृ—अम्,
द्रप् तृ—यण्,
द्रप् तृ सु—विभक्तिकार्य।

(5) दर्पिता
दृप् इट् तृच्—अम् अभाव, इट् पक्ष,
दर्पिता—सु।

(6) दर्प्ता
दृप् तृच्—अम् अभाव, इट् अभाव,

तृप प्रीणने, दृप हर्षणमोचनयोः—ये दोनों धातु रधादि हैं। इनको 'रधादिभ्यश्च' से पाक्षिक इट् होता है। अनुदात्तोपदेश 'अम्' के लिए है।

अनुदात्त०—उपदेश में जो अनुदात्त हो, उसे 'अम्' आगम होता है—

(7) वर्द्धा
वृह् तृच् → वृढ् तृ—हो ढः, 'अम्' नहीं हुआ,
वर्ढ् तृ—गुण,
वर्ढ् ढृ—झषस्तथो०,
वर्द्धा—ढो ढे लोपः, सु।

(8) वर्द्धुम्
वृह् तुमुन्—'अम्' नहीं हुआ,
वर्ढ् ढुम्—पूर्ववत्।

(9) वर्द्धव्यम्
वृह् तव्यत्—पूर्ववत्।
वृह् के ऊदित् होने से इट् का विकल्प होता है।

ऋदुपध०—ऋकारोपध धातु से 'अम्' होता है—

(10) भेत्ता
भिद् तृच्—'अम्' नहीं हुआ, लघूपधगुण,
भेद् तृ—खरि च,
भेत् तृ सु—विभक्तिकार्य।

(11) छेत्ता
छिद् तृच्—पूर्ववत्।

झलीत्येव०—झलादि प्रत्यय परे रहते 'अम्' होता है—

(12) तर्प्पणम्
तृप् ल्युट्—'अम्' नहीं हुआ,
तर्प् अन—लघूपध गुण, अन,
तर्प्प् अन—अचो रहाभ्यां द्वे, सु।

(13) दर्प्पणम्
दृप् ल्युट्—पूर्ववत्।

अकिती०—कित् भिन्न प्रत्यय परे रहते 'अम्' होता है—

(14) तृप्तः
तृप् क्त—'अम्' नहीं हुआ,
तृप् त सु—विभक्तिकार्य।

(15) दृप्तः
दृप् क्त—पूर्ववत्।

(2500) शीर्षंश्छन्दसि *60* (3514)

'शीर्षन्' इति शब्दान्तरं शिरःशब्देन समानार्थं छन्दसि विषये निपात्यते, न पुनरयमादेशः शिरःशब्दस्य। सोऽपि हि छन्दसि प्रयुज्यत एव। शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं हरन्ति। यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम्। छन्दसीति किम्? शिरः।

अर्थ—'शीर्षन्' शब्द वेद के विषय में निपातित है। यह 'शिरस्' शब्द के स्थान पर आदेश नहीं है, अपितु शिरस् शब्द के समानार्थ 'शीर्षन्' इस शब्दान्तर का निपातन किया गया है। वह भी वेद में ही प्रयुक्त होता है।

उदा० (1) शीर्ष्णा (ऋ० 1.116.12)
शीर्षन् टा—उपधालोप,
शीर्ष्ण् आ—णत्व।

छन्दसी०—वेद के विषय में 'शीर्षन्' होता है।

(2) शिरः
शिरस् सु—'शीर्षन्' नहीं हुआ।

(2501) ये च तद्धिते *61* (1667)

'शीर्षन्' इति वर्तते। आदेशोऽयमिष्यते, स कथम्? 'तद्धिते' इति हि परं निमित्तमुपादीयते, स तदनुरूपां प्रकृतिं शिरःशब्दमाक्षिपति। यकारादौ तद्धिते परतः शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशो भवति। शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति। शीर्षण्यः स्वरः। शिरसि भव इति 'शरीरावयवाच्च' (4.3.55) इति यत्, 'ये चाभावकर्मणोः' (6.4.138) इति प्रकृतिभावः। तद्धित इति किम्? शिर इच्छति शिरस्यति। *वा केशेषु* (म०भा०)। शिरसः शीर्षन्नादेशो वक्तव्यः। शीर्षण्याः केशाः शिरस्याः केशाः।

अर्थ—'शीर्षन्' का अनुवर्त्तन है। यह आदेश है। 'तद्धित परे रहते'–ऐसा क्यों है? पर निमित्त का उपादान किया जाता है। तदनुरूप प्रकृति शिरस् शब्द को आक्षिप्त करता है। यकारादि तद्धित प्रत्यय परे रहते शिरस् शब्द के स्थान पर 'शीर्षन्' आदेश होता है।

उदा० (1) शीर्षण्यः
शिरसि भवः—'यत्' हुआ,
शिरस् यत्—शरीरावयवा०,
शीर्षन् यत्—नस्तद्धिते, ये चाऽभावकर्मणोः,
शीर्षण्य सु—विभक्तिकार्य।

तद्धिते०—**तद्धित प्रत्यय** परे रहते 'शीर्षन्' होता है—

(2) शिरस्यति
शिर इच्छति—'शीर्षन्' नहीं हुआ, 'सुप आत्मनः क्यच्'।

वा केशेषु—केश अर्थ में शीर्षन् आदेश विकल्प से होता है—

(3) शीर्षण्याः केशाः
शीर्षन् हुआ।

(4) शिरस्याः केशाः
पक्ष में शीर्षन् नहीं हुआ।

(2502) अचि शीर्षः[1] *62*

अजादौ तद्धिते शिरसः शीर्षशब्द आदेशो भवति। हस्तिशिरसोऽपत्यं हास्तिशीर्षिः। 'बाह्वादिभ्यश्च' (4.1.96) इति इञ्। स्थूलशिरस इदं स्थौलशीर्षम्। शीर्षन्भावे हि 'अन्' (6.4.167) इति प्रकृतिभावः स्यात्। हास्तिशीर्षिशब्दात् स्त्रियामिञः 'अणिञोरनार्षयोः' (4.1.78) ष्यङादेशे कृते सीर्षस्य शिरःशब्दग्रहणेन ग्रहणात् शीर्षन्नादेशः प्राप्नोति, तत्र प्रकृतिभावे सति हास्तिशीर्षण्येत्यनिष्टं रूपं स्यात्, इष्यते तु हास्तिशीर्ष्येति, तत्कथम्? कर्त्तव्योऽत्र यत्नः। अणिञन्ताद् वा परः प्रत्ययः ष्यङाश्रयितव्यः, तत्र यस्येतिलोपस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानम्।

अर्थ—अजादि तद्धित प्रत्यय परे रहते शिरस् शब्द को 'शीर्ष' आदेश होता है।

उदा० (1) हास्तिशीर्षिः
हस्तिशिरसोऽपत्यम्—'बाह्वादिभ्यश्च' से 'इञ्',
हस्तिशीर्ष इ—आदिवृद्धि, सु।

(2) स्थौलशीर्षम्
स्थूलशिरस इदम्—अण्, आदिवृद्धि।

शीर्षन्०—शंका होती है कि पूर्व सूत्र से 'शीर्षन्' आदेश अनुवृत्ति-लभ्य है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'शीर्ष' इस प्रकार अन्य आदेश के विधान की क्या आवश्यकता थी? 'शीर्षन्' आदेश की दशा में 'नस्तद्धिते' से टि का लोप होकर इष्टसिद्धि भी हो जाती है।

(समा०) यदि यहाँ 'शीर्षन्' आदेश स्वीकार करते हैं तो 'अन्' से प्रकृतिभाव होने लगेगा।

हास्तिशीर्षा०—हास्तिशीर्षि शब्द से स्त्रीत्व में 'अणिञोरना०' के द्वारा ष्यङ् आदेश करने पर शीर्ष के स्थान पर शिरस् शब्द के ग्रहण से 'शीर्षन्' आदेश प्राप्त होता है। तब प्रकृतिभाव होने पर 'हास्तिशीर्षण्या' यह अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

इष्यते०—'हास्तिशीर्ष्या' रूप यहाँ इष्ट है। समान व्यवस्थित विभाषा के द्वारा शीर्ष शब्द का शिरस् शब्द के द्वारा ग्रहण से यहाँ शीर्षन् आदेश नहीं होगा। ष्यङ् होकर, 'यङश्चाप्' से चाप् होकर रूप बनता है।

---

1. भट्टोजिदीक्षितेन सूत्रमिदं वार्त्तिकत्वेन पठितम्। द्र०—अचि शीर्ष इति वाच्यम्—वै०सि०कौ०, सूत्र 1667 (वा० 3494)

(2503) पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छक-न्नुदन्नासञ्छसप्रभृतिषु *63* (228)

पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आसन-इत्येतेषां शब्दानां स्थाने शस्प्रभृतिप्रत्ययेषु परतः-पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन्-इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति। पद्-निपदश्चतुरो जहि। पदा वर्त्तय गोदुहम्। 'पादस्य पत्' । दत्-'या दतो धावति तस्यै श्यावदन्' (तै०सं० 2.5.1.7)। 'नस्-सूकरस्त्वखनन्नसा' (अथ० 2.27.2)। मास्-'मासि त्वा पश्यामि चक्षुषा' (तै०सं० 2.5.6.6)। हृद्-'हृदा पूतं मनसा जातवेदो' (अथ० 4.39)। निश्-अमावास्यायां निशि (वि० 2.1.8) यजेत'। असन्-'आसिक्तोऽस्नावरोहति' (मै० सं० 3.15.8)। यूषन्-'या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि' (ऋ० 1.162.13)। दोषन्-'यत्ते दोष्णो (मै०सं० 3.10.3) दौर्भाग्यम्'। यकन्-यक्नोऽवद्यति। शकन्-शक्नोऽवद्यति (अथ० 12.4.4)। उदन्-'उद्नो दिव्यस्य नोदेहि' (तै०सं० 2.4.8.2)। आसन्-'आसनि (ऋ० 1.75.1) किं लभे मधूनि'। शस्प्रभृतिष्विति किम्? पादौ ते प्रतिपीड्यौ, नासिके ते कृशे। केचिदत्र छन्दसीत्यनुवर्त्तयन्ति। अपरे पुनरविशेषेणेच्छन्ति। तथा हि-भाषायामपि पदादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते।

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति वैनतेयमिवोरगाः॥

इत्येवमादयः।

अन्यतरस्यामित्येतदनुवर्तयन्ति, तेन पादादयोऽपि प्रयुज्यन्ते। शस्प्रभृतिष्विति प्रकारार्थे प्रभृतिशब्द इति 'शला दोषणी' (काठ०सं० 16.21) इत्यत्रापि दोषन्नादेशो भवति। *पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्* (म० भा०)। मांस, पृतना, सानु-इत्येतेषां स्थाने यथासंख्यं मांस्, पृत्, स्नु-इत्येते आदेशा भवति। 'मांस्पचन्या उखायाः' (ऋ० 1.162.13)। मांसपचन्या इति प्राप्ते। 'पृत्सु मर्त्त्यम्' (ऋ० 1.27.7)। पृतनासु मर्त्त्यमिति प्राप्ते। 'न ते दिवो न पृथिव्या अधिस्नुषु' (वाज०सं० 17.14)। अधिसानुष्विति प्राप्ते। *नस् नासिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु* (म०भा०)। नासिकाया नस्भावो वक्तव्यो यत्, तस्, क्षुद्र-इत्येतेषु परतः। नस्यम्। 'नस्तः' (काठ०सं० 12.12)। नः क्षुद्रः। *यदि वर्णनगरयोर्नेति वक्तव्यम्* (म०भा०)। नासिक्यो वर्णः। नासिक्यं नगरम्।

अर्थ—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक तथा आसन—इन शब्दों के स्थान पर यथासंख्य पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन् तथा आसन् आदेश होते हैं, शस् प्रभृति प्रत्ययों के परे रहते।

चूँकि सूत्र में स्थानी का उल्लेख नहीं है। अतः अर्थ के अनुसार तथा आदेश के अनुरूप स्थानी की कल्पना की गई है।

उदा० (1) निपदः
नि पाद शस् → निपद् अस्—निपदः।

(2) पदा
पाद टा → पद् आ—पदा।

(3) दतो धावति तस्यै श्यावदन् (तै०सं०2.5.1.7)
दन्त शस् → दत् अस्—दतः।

(4) (सूकरस्त्वखन्) नसा (शौ०सं० 2.27.2)
नासिका टा—नस् आ।

(5) मासि त्वा (तै०सं०2.5.6.6)
मास ङि → मास् इ।

(6) हृदा पूतेन (शौ०सं० 4.39.1)
हृदय टा—हृद् आ।

(7) (आमावास्यायां) निशि
निशा ङि → निश् इ।

(8) (आसिक्तो) ऽस्नाऽवरोहति
असन् टा → अस् न् टा—अल्लोपोऽनः।

(9) (या पात्राणि) यूष्णः (ऋ० 1.162.13)
यूष शस् → यूषन् अस्-
यूष् न् अस्—अकारलोप।

(10) (यत्ते) दोष्णो दौर्भाग्यम् (मै०सं०3.10.3)
दोष ङस् → दोषन् अस्।

(11) यक्नोऽवद्यति
यकृत् शस् → यकन् अस्-
यक्न् अस्—अकारलोप।

(12) शक्नोऽवद्यति (शौ०सं० 12.4.4)
शकृत् शस् → शकन् अस्-

शक् न् अस्—अकारलोप।

(13) उद् नो दिव्यस्य (तै॰सं॰2.4.8.2)
उदक शस् → उदन् अस्-
उद् न् अस्—अकारलोप।

(14) आसनि (ऋ॰ 1.75.1)
आ सन ङि → आसन् इ।

शस्प्रभृति॰—शस् प्रभृति प्रत्ययों के परे रहते सूत्रोक्त आदेश होते हैं—

(15) पादौ
पाद औ—यहाँ 'पद्' आदेश नहीं हुआ।

(16) नासिके
'नस्' आदेश नहीं हुआ।

केचिदत्र॰—कुछ विद्वान् यहाँ 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन मानते हैं। अन्य विद्वान् सामान्य मानते हैं, क्योंकि लोक में भी 'पद्' आदि आदेश प्रचुरतया दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति वैनतेयमिवोरगाः ।।

इसी प्रकार। यहाँ 'अन्यतरस्याम्' का अनुवर्त्तन करते हैं। अतः पक्ष में 'पाद' आदि का भी प्रयोग होता है। 'शस्प्रभृतिषु' पद में प्रभृति शब्द प्रकार अर्थ में है।

दोषणी—यहाँ 'दोषन्' आदेश होता है।

पदादिषु॰—मांस, पृतना तथा सानु शब्दों के स्थान पर क्रमशः मांस्, पृत् तथा स्नु आदेश होते हैं, शस् प्रभृति प्रत्ययों के परे रहते।

(17) मांस् पचन्या (ऋ॰ 1.162.13)

(18) पृत्सु मर्त्यम् (ऋ॰ 1.27.1)
पृतना सुप् → पृत् सु।

(19) (न ते दिवो न पृथिव्या अधि) स्नुषु (मा॰सं॰ 17.14)
सानु सुप् → स्नु सु—मूर्धन्य।

नस् नासि॰—यत्, तस् तथा क्षुद्र शब्दों के परे रहते नासिका शब्द के स्थान पर 'नस्' आदेश होता है—

(20) नस्यम्
नासिकायां भवम्—'यत्' हुआ,
नस् यत्—विभक्तिकार्य।

(21) नस्तः
नासिकायाः—अपादाने चाहीयरुहोः,
नस् तस् सु—पूर्ववत्।

(22) नः क्षुद्रः
नासिका क्षुद्रा यस्य सः-
नस् क्षुद्र सु—विभक्तिकार्य।

यति वर्ण॰—यत् परे रहते वर्ण और नगर अर्थों में 'नस्' आदेश नहीं होता है—

(23) नासिक्यो वर्णः
नासिकायां भवो वर्णः—'नस्' नहीं हुआ,

(24) नासिक्यं नगरम्
नस् नहीं हुआ।

(2504) धात्वादेः षः सः *64* (2264)

धातोरादेः षकारस्य स्थाने सकारादेशो भवति। षह–सहते। षिच–सिञ्चति। धातुग्रहणं किम्? षोडश। षोडन्। षडिकः। षण्डः। आदेरिति किम्? कषति। लषति। कृषति। 'आदेशप्रत्यययोः' (8.3.59) इत्यत्र षत्वव्यवस्थार्थं षादयो धातवः केचिदुपदिष्टाः। के पुनस्ते? ये तथा पठ्यन्ते। अथवा, लक्षणं क्रियते-'अज्दन्त्यपराः सादयः षोपदेशाः स्मिस्विदिस्वदिस्वञ्जिस्वपितयश्च', सृपि-सृजिस्तृस्त्यासेक्सृवर्जम्। *सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म॰भा॰)। षोडीयति। षण्डीयति। ष्ठीवति। ष्वष्कते। 'ष्ठिवु'-इत्येतस्य द्वितीयस्थकारष्ठकारश्चेष्यते। तेन तेष्ठीव्यते, टेष्ठीव्यते इति चाभ्यासरूपं द्विधा भवति।

अर्थ—(उपदेश अवस्था में) धातु के आदि में जो षकार, उसके स्थान पर 'सकार' होता है।

उदा॰ (1) सहते
षह → सह् त—शप् आदि।

(2) सिञ्चति
षिच् → सिच् तिप्—शप्, नुम्,
सिन् च् अ ति—अनुस्वार,
सिञ्चति—परसवर्ण।

धातो—धातु के आदि में स्थित जो षकार, उसके स्थान पर सकार होता है—

(3) षोडश।

(4) षडिक: ।

(5) षण्ड: ।

यहाँ सकार नहीं हुआ ।

आदे०—धातु के आदि में स्थित जो षकार, उसके स्थान पर सकार होता है—

(6) कर्षति

कृष् शप् तिप्—षकार आदि में नहीं है। अत: सकार नहीं हुआ।

(7) कृषति

कृष् श ति—पूर्ववत् ।

'आदेशप्रत्यययो:' के द्वारा मूर्धन्य आदेश किया जाता है। इसके लिए आचार्य ने षादि धातुओं का पाठ किया है। वे धातु कौन से हैं ? उनका धातुपाठ में पाठ है। उनका लक्षण किया जाता है। यथा—

अज् दन्त्य०—जो अच् पर व दन्त्य पर है, वे सभी सादि धातु षोपदेश है। इसके अतिरिक्त ष्मिङ्, ञिष्विदा, ष्वद, ष्वञ्ज तथा ञिष्वप—ये धातु षोपदेश हैं। सृपि, सृजि, स्तृ, स्त्यै, सेक तथा सृ—इन धातुओं को छोड़कर जो शेष अच् पर व दन्त्य पर धातु हैं, वे सभी षोपदेश जानने चाहिए।

सुब् धातु०—नामधातु, ष्ठिवु तथा ष्वष्क—इनके आदि में स्थित जो षकार, उसके स्थान पर सकार नहीं होता है—

(8) षोडीयति

षोडीय—क्यच् होकर धातुसंज्ञा, आदि में षकार है; परन्तु इसके स्थान पर सकार नहीं होता है।

(9) षण्डीयति

षण्डीय—नामधातु है, आदि षकार के स्थान पर सकार नहीं हुआ।

(10) ष्ठीवति

पूर्ववत् सकार नहीं हुआ। 'ष्ठिवुक्लमुचमां०' से दीर्घ होता है।

(11) ष्वष्कते

सकार नहीं हुआ।

(12) तेष्ठीव्यते, टेष्ठीव्यते

ष्ठिव् धातु का द्वितीय वर्ण ठकार है या थकार ? यदि ठकार मानें तो 'टेष्ठीव्यते' सिद्ध हो जाता है तथा 'तेष्ठीव्यते' सिद्ध नहीं होता; क्योंकि 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के ठकार के स्थान पर टकार प्राप्त होता है, तकार नहीं। यदि ष्ठिव् धातु का द्वितीय वर्ण थकार मानें तो 'तेष्ठीव्यते' सिद्ध होता है, 'टेष्ठीव्यते' नहीं। इसलिए कहा गया है कि 'ष्ठिव्' धातु का द्वितीय वर्ण ठकार व थकार दोनों होता है।

(2505) णो नः *65* (2286)

'धातोरादेः' इत्यनुवर्तते। धातोरादेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति। णीञ्–नयति। णम्–नमति। णह–नह्यति। धात्वादेरित्येव–अणति। सुब्धातोरयमपि नेष्यते–णकारमिच्छति णकारीयति। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (8.4.14) इत्यत्र णत्वविधेर्व्यवस्थार्थं णादयो धातवः केचिदुपदिश्यन्ते। के पुनस्ते? ये तथा पठ्यन्ते। अथ वा, लक्षणं क्रियते–'सर्वे णादयो णोपदेशाः नृतीनन्दिनर्दिनक्कनाटिनाथृनाधृनॄवर्जम्'।

अर्थ—'धात्वादे:' का अनुवर्त्तन है। (उपदेश में) धातु के आदि में स्थित जो णकार, उसके स्थान पर नकार आदेश होता है।

उदा० (1) नयति

णीञ् → नी तिप्—शप्, सार्वधातुकार्धधातुकयो:,

(2) नमति

णम् → नम् शप्, तिप्।

(3) नह्यति

णह् → नह् श्यन् तिप्।

धातु के आदि में स्थित जो णकार, उसके स्थान पर नकार होता है—

(4) अणति

अण् शप्, तिप्—नकार नहीं हुआ।

नामधातु के आदि में स्थित णकार को नकार नहीं होता है—

(5) णकारीयति

णकारम् इच्छति—नकार नहीं हुआ।

'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' के द्वारा णत्व कहा जाता है। इसके लिए णादि धातु पठित हैं। ये धातु कौन-से हैं ? ये धातुपाठ में पठित हैं। यहाँ लक्षण किया जाता है। नृती, टुनदि, नर्द, नक्क, नट (चुरा०), नाथृ तथा नाधृ—इन धातुओं को छोड़कर सभी णादि धातु णोपदिष्ट हैं।

(2506) लोपो व्योर्वलि *66* (873)

धातोरिति प्रकृतं यत् तद् धात्वादेरिति पुनर्धातुग्रहणान्निवृत्तम्। तेन धातोरधातोश्च वकारयकारयोर्वलि परतो लोपो भवति। दिव्–दिदिवान्, दिदिवांसौ, दिदिवांसः। ऊयी–ऊतम्। क्नूयी–क्नूतम्। 'गोधाया ढ्रक्' (4.1.129) गौधेरः। पचेरन्। यजेरन्। वकारस्य–'जीवेरदानुक्' (द०उ० 1.163) जीरदानुः। स्रिवेः–आस्रेमाणम्। 'उणादयो बहुलम्' (3.3.1) इति बहुलवचनात् 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (6.4.19) इति ऊठ् न भवति। वलीति किम्। ऊय्यते। क्नूय्यते। पूर्वं लोपग्रहणं किम्? वेरपृक्तलोपात्पूर्वं वलि लोपो यथा स्यात्–कण्डूयतेः क्विप्–कण्डूः। लोलूयतेः–लोलूः। व्रश्चादीनामुपदेशसामर्थ्याद् वलि लोपो न भवति। वृश्चति, वव्रश्चेत्यत्रापि हि सम्प्रसारणहलादिःशेषयोर्वहिरङ्गत्वात्प्राप्नोति।

अर्थ—'धातोः' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी 'धात्वादेः' इस प्रकार पुनः 'धातु' का पाठ होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है। वल् परे रहते वकार और यकार का लोप होता है।

उदा० (1) दिदिवान्
दिव् क्वसु → दिव् दिव् वस्—द्वित्व,
दि दिवस्—वकार का लोप,
दिदिवस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) दिदिवांसौ
दिदिवस् औ।

(3) दिदिवांसः
दिदिवस् जस्।

(4) ऊतम्
ऊय् क्त → ऊत सु।

(5) क्नूतम्
क्नूय् क्त—यकारलोप।

(6) गौधेरः
गोधा ढ्रक्—गोधाया ढ्रक्,
गौध् एय्र्—आदिवृद्धि, एयादेश,
गौधेर सु—यकारलोप।

(7) पचेरन्
पच् झ—लिङ्,
पच् शप् सीयुट् रन्—झस्य रन्,
पच् अ ईय् रन्—यकारलोप,
पचेरन्—आद् गुणः।

(8) यजेरन्
'पचेरन्' की तरह।

(9) जीरदानुः
जीव् रदानु—जीवेरदानुक्,
जीरदानु सु—वकार का लोप।

(10) आस्रेमाणम्
आ स्रिव् मनिन्—औणादिक,

आ स्रेव् मन्—पर होने से 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा के द्वारा यहाँ 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से 'ऊठ्' प्राप्त हुआ, 'उणादयो बहुलम्' से बाहुलकात् 'ऊठ्' नहीं हुआ, वकारलोप,
आस्रेमाणम्—द्वितीया एकवचन।

वलीति०—वल् परे रहते वकार व यकार का लोप होता है—

(11) ऊय्यते
ऊय् यक् त—यहाँ यकारलोप नहीं हुआ।

(12) क्नूय्यते (पूर्ववत्)।

पूर्वलोप०—'लोपो व्योर्वलि' के स्थान पर 'व्योर्वलि लोप' ऐसा न्यास उचित प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा करने में दोष है। सूत्र में 'लोपः' पद का पूर्व न्यास का प्रयोजन यह है कि 'वि' के अपृक्त लोप से पहले वल् परे लोप हो जाय। यथा—कण्डूय क्विप्—कण्डूय् क्वि—कण्डूय् क्व—कण्डूय् व्—कण्डू व्—कण्डू सु—कण्डूः धातु के अकार का लोप करने के पश्चात् कृताकृत प्रसंगी होने के कारण वलोप (जो नित्य है) की प्राप्ति होती है। परन्तु ऐसा करने पर आगे वल् नहीं रहेगा। तब कण्डूय् के 'य्' का लोप नहीं हो सकेगा। चूँकि सूत्र में पूर्व 'लोपः' ऐसा निर्देश है, अतः प्रथम वल् निमित्तक लोप होगा। पश्चात् अपृक्त का लोप होगा।

(13) इसी प्रकार—लोलूः
लोलूय क्विप्—पूर्ववत्।

व्रश्च् धातु में वल् (रेफ) परे रहते पूर्व वकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु उपदेशसामर्थ्य के कारण वकार का लोप नहीं होता।

(14) वृश्चति
व्रश्च् श तिप्—इस दशा में बहिरंग होने से सम्प्रसारण होता है; वकारलोप नहीं होता।

(15) वव्रश्च

व्रश्च् व्रश्च् णल्—लिट् प्र०पु० एकवचन में द्वित्व होकर बहिरंग होने से हलादिशेष हुआ, वकारलोप नहीं हुआ,

व व्रश्च् अ—रूप बनता है।

वायु ओस्—वाय्वोः। यहाँ वल् (वकार) परे रहते यकार का लोप होना चाहिए। वस्तुतः यहाँ यण् किया गया है। 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से वकार को स्थानिवद्भाव हो जाता है अर्थात् वकार को उकार मान लिया जाता है। अतः यलोप नहीं होता। पुनः शंका होती है कि 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०' के द्वारा यलोपविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। अतः यलोप होना चाहिए। समाधान यह है कि—स्वरदीर्घयलोपेषु लोपा जादेश एव न स्थानिवद्' । अतः यलोप नहीं हुआ।

(2507) वेरपृक्तस्य *67* (375)

'लोपः' इति वर्तते। 'वेः' इति क्विबादयो विशेषानुबन्धानुत्सृज्य सामान्येन गृह्यन्ते। वेरपृक्तस्य लोपो भवति। 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (3.2.87) ब्रह्महा, भ्रूणहा। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (2.2.58)-घृतस्पृक्, तैलस्पृक्। 'भजो ण्विः' (3.2.62) अर्धभाक्, पादभाक्, तुरीयभाक्। अपृक्तस्येति किम्? 'वृदृभ्यां विन्' (उ० 502)-दर्विः। 'कृगृशृसृजागृभ्यः क्विः'-जागृविः।

अर्थ—'लोपः' का अनुवर्त्तन है। 'वेः' पद के द्वारा सामान्यतः क्विन्, क्विप् तथा ण्वि आदि का ग्रहण होता है। अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है।

उदा० (1) ब्रह्महा

ब्रह्म हन् क्विप् → ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्,

ब्रह्म हन् व्—'हलन्त्यम्' से पकार की, 'उपदेशेऽजनुना०' से इकार की तथा 'लशक्वतद्धिते' से ककार की इत् संज्ञा होकर, इन सबका 'तस्य लोपः' से लोप,

ब्रह्म हन्—'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से वकार की अपृक्तसंज्ञा, प्रकृत सूत्र से लोप,

ब्रह्महा—विभक्तिकार्य।

(2) भ्रूणहा (पूर्ववत्)।

(3) घृतस्पृक्

घृत स्पृश् क्विन्—स्पृशोऽनुदके क्विन्,

घृत स्पृश्—पूर्ववत् नकार, इकार, ककार का लोप, वकार का प्रकृत सूत्र से लोप,

घृतस्पृश् सु—प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमां एकवचन,

घृतस्पृक्—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से सुलोप, 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' के द्वारा कुत्व।

(4) तैलस्पृक् (पूर्ववत्)।

(5) अर्द्धभाक्

अर्द्ध भज् ण्वि—भजो ण्विः,

अर्द्ध भाज्—'चुटू' से णकार की इत् संज्ञा, इकार की पूर्ववत् इत् संज्ञा, प्रकृत सूत्र से वकार का लोप, सु,

अर्द्धभाक्—'चोः कुः' कुत्व।

(6) पादभाक् (पूर्ववत्)।

(7) तुरीयभाक् (पूर्ववत्)।

अपृक्तस्ये०—अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है—

(8) दर्विः

दृ विन्—वृदृभ्यां विन्,

दृ वि—'हलन्त्यम्' से नकार की इत् संज्ञा, 'तस्य लोपः' से नकार का लोप, 'वि' की अपृक्त संज्ञा नहीं हुई, तब इसका लोप नहीं हुआ,

दर्वि सु—विभक्तिकार्य।

(9) जागृविः

जागृ क्वि—कृगृशृसृजागृभ्यः क्विः,

जागृ वि—वकार का लोप नहीं हुआ,

जागृ वि सु—विभक्तिकार्य।

(2508) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् *68* (252)

लोप इति वर्तते। तदिह लौकिकेनार्थेनार्थवत् कर्मसाधनं द्रष्टव्यम्-लुप्यते इति लोपः। हलन्ताद्, ङ्यन्तादाबन्ताच्च दीर्घात् परं सु, ति, सि-इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते। हलन्तात् सुलोपः-राजा, तक्षा, उखास्रत्, पर्णध्वत्। ङ्यन्तात्-कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। आबन्तात्-खट्वा, बहुराजा, कारीषगन्ध्या। हलन्तादेव तिलोपः, सिलोपश्च। तत्र तिलोपस्तावत्-अबिभर्भवान्। भृञो लङि तिपि 'श्लौ', 'भृञामित्' (7.4.76) इत्यभ्यासस्येत्त्वम्। अजागर्भवान्। सिलोपः-अभिनोऽत्र (म०भा०) अच्छिनोऽत्र। दस्य रेफः। हल्ङ्याब्भ्य इति किम्? ग्रामणीः। सेनानीः। दीर्घादिति किम्? निष्कौशाम्बिः। अतिखट्वः। सुतिसीति किम्। अभैत्सीत्। तिपा सहचरितस्य सिशब्दस्य ग्रहणात्सिचो ग्रहणं नास्ति। अपृक्तमिति किम्? भिनत्ति,

छिनत्ति। हलिति किम्। बिभेद। चिच्छेद। अथ किमर्थं हलन्तात्सुतिसीनां लोपो विधीयते, संयोगान्तलोपेनैव सिद्धम्? न सिद्ध्यति; राजा तक्षेत्यत्र संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न स्यात्। उखास्रत्, पर्णध्वदित्यत्रापदान्तत्वाद्दत्वं च न स्यात्। अभिनोऽत्रेत्यत्र 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (6.1.113) इत्युत्वं न स्यात्। अबिभर्भवानित्यत्र तु 'रात्सस्य' (8.3.24) इति नियमाल्लोप एव न स्यात्।

संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिद्ध्यति।
रात्तु ते नैव लोपः स्याद् हलस्तस्माद्विधीयते॥

अर्थ—'लोपः' का अनुवर्त्तन है। यहाँ लौकिक अर्थ द्वारा कर्म का साधन द्रष्टव्य है। हलन्त अंग, दीर्घ 'ङी' प्रत्ययान्त, आप् प्रत्ययान्त—इनसे पर सु, ति तथा सि प्रत्ययों के अपृक्तसंज्ञक हल् का लोप होता है।

उदा० (क) हलन्तात् सुलोपः—

(1) राजा
राजन् सु—प्रातिपदिक संज्ञा, सु,
राजन्—'स्' का लोप,
राजान् → राजा—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य।

(2) तक्षा
तक्षन् स् → तक्षन्—हल् लोप,
तक्षान् → तक्षा।

(3) उखास्रत्
उखास्रस् स् → उखास्रस्—हल् का लोप,
उखा स्रत्—सकार को तकार।

(4) पर्णध्वत् (पूर्ववत्)।

(ख) हलन्तात् तिलोपः—

(5) अबिभः
भृञ् लङ् → भृ ति—'इतश्च' से इकारलोप, श्लौ,
भृ भृ त् → ब भर् त्—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
बिभर्—भृञामित्,
अबिभर्—अट्, विसर्जनीय।

(6) अजागः
जागृ ति—लङ्, इतश्च, गुण,
जागर् त्—'त्' का लोप, अट्,

(ग) हलन्तात् सिलोपः—

(7) अभिनो
भिनद् सिप्—लङ्, इतश्च, शप् को बाध कर श्नम्,
भिनद् स्—'स्' का लोप, 'दश्च' से रुत्व, 'अतो रोरप्लुताद०' से उत्व, 'आद् गुणः' से गुण एकादेश,
अभिनो—अट् आगम।

(8) अच्छिनो
छिद् सिप्—पूर्ववत्।

हल्ङ्याब्भ्यः—हलन्त, दीर्घ ङ्यन्त व दीर्घ आबन्त से पर सु, ति व सि के अपृक्त हल् का लोप होता है—

(9) ग्रामणीः
ग्रामणी सु—क्विप् प्रत्ययान्त से पर 'स्' का लोप नहीं हुआ।

(10) सेनानीः (पूर्ववत्)।

दीर्घादिति०—दीर्घ ङ्यन्त व आबन्त से पर सु, ति व सि के अपृक्त हल् का लोप होता है—

(11) निष्कौशाम्बिः
यहाँ समास में ह्रस्व हो गया। अतः 'स्' का लोप नहीं हुआ।

(12) अतिखट्वः
यहाँ 'खट्वा' शब्द को ह्रस्व हो गया है। अतः हल् का लोप नहीं हुआ।

सुतिसी०—सु, ति तथा सि के अपृक्त हल् का ही लोप होता है—

(13) अभैत्सीत्
भिद् तिप्—लुङ्, प्र०पु० एकवचन,
भिद् सिच् ईट् त्—इतश्च, सिच्, ईट्,
भैद् स् ई त्—अनुबन्ध लोप, वृद्धि आदेश,
अ भैत् सी त्—खरि च, तकार से पर अपृक्त हल् (सिच् का 'स्') है, परन्तु वह न तो 'सु' का है, न 'ति' का तथा न ही 'सि' का है, अतः उसका लोप नहीं हुआ।

ध्यातव्य है कि 'ति' के साथ निर्देश होने से 'सि' के द्वारा सिप् का ही ग्रहण होता है; सिच् का नहीं।

अपृक्तमि०—अपृक्तसंज्ञक हल् का ही लोप होता है—

(14) भिनत्ति
भिद् तिप्—शप् को बाध कर 'श्नम्' हुआ,
भि श्नम् द् ति—अनुबन्ध लोप, खरि च,
भिनत् ति—हलन्त अंग 'भिनत्' से पर अपृक्त हल् नहीं है, 'ति' है। अतः लोप नहीं हुआ।

(15) छिनत्ति (पूर्ववत्)।

हलिति०—अपृक्तसंज्ञक हल् का ही लोप होता है—

(16) चिच्छेद
छिद् णल्—लिट्, प्र० पु० एकवचन,
छिद् छिद् अ—द्वित्व,
चि छिद् अ—हलादिः शेषः, अभ्यासे चर्च,
चि च् छिद् अ—'तुक्' आगम, श्चुत्व,
चि च्छेद् अ—हलन्त अंग से पर अपृक्त 'अ' है; परन्तु हल् नहीं है, अतः लोप नहीं हुआ।

(17) बिभेद (पूर्ववत्)।

अथ किम०—हलन्त अंग से पर सु, ति तथा सि के हल् का 'संयोगान्तस्य लोपः' के द्वारा लोप सिद्ध है। तब प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है ?

यह लोप संयोगान्त लोप से सिद्ध नहीं होता है। (समा०) राजान् स् व तक्षान् स्—इस दशा में संयोगान्त लोप कर देने पर राजान् व तक्षान् यह स्थिति होती है। अब संयोगान्त लोप (8.2.23) के नलोपः (8.2.7) की दृष्टि में असिद्ध होने से नलोप नहीं हो पाता। इसी प्रकार उखास्रत् व पर्णध्वत् स्थलों पर 'उखास्रस् स्' इस दशा में 'स्कोः संयोगा०' के द्वारा आदि सकार को लोप कर देने पर अवशिष्ट प्रत्यय 'सु' के सकार को 'वसुस्रंसु०' से पदान्त न होने से दत्व नहीं हो पाता। इसी प्रकार 'अट् भि श्नम् द् स्' इस दशा में 'दश्च' के द्वारा 'रु' आदेश होता है–अभि न र् स्। अब यदि 'स्' का संयोगान्त लोप कर दिया जाय तो संयोगान्त लोप (8.2.23) के उत्व (अतो रोरप्लुताद०–6.1.109) की दृष्टि में असिद्ध होने से 'अभिनोऽत्र' इस स्थल पर उत्व नहीं हो पायेगा।

रात्तु तेनैव लोपः स्याद्, हलस्तस्माद् विधीयते अर्थात् रेफ से पर तकार का लोप नहीं हो सकता। अतः हलन्त अङ्ग से पर हल के लोप का विधान किया गया है। यथा—

अट् बिभर् त् (लङ् प्र०पु० एकवचन)—इस दशा में संयोगान्त लोप की प्रवृत्ति नहीं होती है। कारण कि, 'रात्सस्य' सूत्र नियम करता है कि रेफ से पर सकार का ही लोप हो। चूँकि यहाँ रेफ से पर 'त्' है। अतः लोप नहीं होगा।

कांशिकाकार ने उपर्युक्त सभी शंकाओं और समाधानों को कारिकाबद्ध कर दिया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

संयोगान्त०—(सु, ति तथा सि के अपृक्त हल् का) संयोगान्त लोप कर देने पर (राजा आदि में) नलोप आदि सिद्ध नहीं होता है।

रात्तु तेनैव०—रेफ से पर तकार का लोप नहीं हो सकता। अतः हलन्त अंग से पर हल् के लोप का विधान किया गया है।

विशेष—'दीर्घात्' अर्थात् दीर्घ ङ्यन्त, दीर्घ आबन्त अंग से परे सूत्रोक्त हल् का लोप होता है। यद्यपि ङी और आप् स्वतः दीर्घ होते हैं। अतः इनके लिए पुनः 'दीर्घ' का निर्देश व्यर्थ प्रतीत होता है, परन्तु यह सकारण है। समास की दशा में ङी व आप् ह्रस्व हो जाते हैं। यथा—'निष्कौशाम्बि'। अतः यहाँ 'स्' का लोप नहीं होता। द्र०—निष्कौशाम्बिः।

(2509) एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः *69* (193)

'लोपः' इति वर्त्तते, 'हल्' इति च। 'अपृक्तम्' इति नाधिक्रियते, तथा च पूर्वसूत्रे पुनरपृक्तग्रहणं कृतम्। एङन्तात्प्रातिपदिकाद् ह्रस्वान्ताच्च परो हल्लुप्यते स चेत्सम्बुद्धेर्भवति। एङन्तात्–हे अग्ने, हे वायो। ह्रस्वान्तात्–हे देवदत्त, हे नदि, हे वधु, हे कुण्ड!। कुण्डशब्दाद् 'अतोऽम्' (7.1.24) इत्यम्, 'अमि पूर्वः' (6.1.107) इति पूर्वत्वे कृते हल्मात्रस्य मकारस्य लोपः। हे कतरदित्यत्र ङिदयमद्डादेशः (7.1.25), तत्र टिलोपे सति ह्रस्वाभावान्नास्ति सम्बुद्धिलोपः। एङ्ग्रहणं क्रियते सम्बुद्धिगुणबलीयस्त्वात्।

अर्थ—'लोपः' 'हल्' का अनुवर्त्तन है। 'अपृक्तम्' की अनुवृत्ति नहीं है। पूर्वसूत्र में पुनः 'अपृक्तम्' का ग्रहण किया गया है। एङन्त अंग तथा ह्रस्वान्त अंग से पर हल् का लोप होता है, यदि वह सम्बुद्धि का हो।

उदा० (क) एङन्तात्—
(1) (हे) अग्ने
अग्नि सु—ह्रस्वस्य गुणः,
अग्ने स्—हल् लोप,
अग्ने—रूप बना।

(2) (हे) वायो
वायु सु—ह्रस्वस्य गुणः,
वायो स्—हल् लोप,
वायो—रूप बना।

(ख) ह्रस्वान्तात्—
(3) (हे) देवदत्त
देवदत्त सु,

देवदत्त स्—हल् लोप।

(4) (हे) नदि
नदी सु—अम्बार्थनद्यो०,
नदि स्—हल् लोप।

(5) (हे) वधु
वधू सु—ह्रस्वादेश,
वधु स्—'स्' का लोप।

(6) (हे) कुण्ड
कुण्ड सु—अतोऽम्,
कुण्डम्—अमि पूर्वः,
कुण्ड—मकार का लोप।

(7) (हे) कतरत्
कतर् अद्ड् सु—नपुंसक लिंग, अद्ड् आदेश, डित् सामर्थ्य-वशाद् टिलोप, रेफोत्तरवर्ती ह्रस्व आकार से पर हल् दकार का लोप प्राप्त होता है[1] परन्तु 'कतरद्'; ह्रस्वान्त अंग नहीं, अपितु रेफान्त है, अतः हल् का लोप नहीं होता है।

कतरत्—हल् ('स्') का लोप।

(2510) शेश्छन्दसि बहुलम् *70* (3516)

'शि' इत्येतस्य बहुलं छन्दसि विषये लोपो भवति। या क्षेत्रा। 'या वना' (अथ० 14.2.7)। 'यानि क्षेत्राणि' (अथ० 14.2.7)। यानि वनानि।

अर्थ—'शि' का लोप बहुल करके होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) या क्षेत्रा
यद् जस् → य अ जस्—त्यदादीनामः,
य शि—जश्शसोः शिः,
य नुम् शि—प्रत्ययलक्षण से नुम्, नपुंसकस्य झलचः,
यान् शि—सर्वनामस्थाने०, शि का लोप,
या—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य।

(2) या वना (पूर्ववत्)।
(3) पक्ष में यानि क्षेत्राणि, यानि वनानि।

1. 'एङ् ह्रस्वात्' पद के साथ विशेष्य के रूप में 'अंगात्' पद जोड़ना आवश्यक है। ऐसा करने पर प्रकृत स्थल पर कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। यदि 'अङ्गात्' विशेषण नहीं जोड़ते हैं तो 'कतरद्' इस स्थल पर दकार का लोप होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है।

(2511) ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् *71* (2858)

पिति कृति परतो ह्रस्वान्तस्य धातोः तुगागमो भवति। अग्निचित्। सोमसुत्। प्रकृत्य। प्रहृत्य। उपस्तुत्य। ह्रस्वस्येति किम्? आलूय। ग्रामणीः। पितीति किम्? कृतम्। हृतम्। कृतीति किम्? पटुतरः। पटुतमः। ग्रामणि ब्राह्मणकुलमित्यत्र ह्रस्वस्य बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात् तुग्न भवति।

अर्थ—पित् कृत् परे रहते ह्रस्व का अवयव 'तुक्' होता है।

उदा० (1) अग्निचित्
अग्नि चि क्विप्—'अग्नौ चेः' से क्विप्, सर्वापहारलोप, प्रत्यय-लक्षण से 'तुक्' आगम,
अग्निचित्—प्रातिपदिक संज्ञा, सु, हल्ङ्यादि लोप।

(2) सोमसुत्
सोम सु—'सोमे सुञः'; शेष कार्य पूर्ववत्। उपपद समास।
(3) प्रकृत्य
प्र कृ ल्यप्—प्रादि समास हुआ,
प्रकृत्य—समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्, तुक्, सु, लुक्।
(4) प्रहृत्य
प्र हृ ल्यप्—पूर्ववत्।
(5) उपस्तुत्य
उप स्तु ल्यप्—पूर्ववत्।

ह्रस्वस्ये०—ह्रस्व को ही 'तुक्' आगम होता है—

(6) आलूय
आ लू ल्यप्—ह्रस्व न होने से 'तुक्' नहीं हुआ,
आ लूय सु—सु का लोप।

(7) ग्रामणीः
पूर्ववत् 'तुक्' नहीं हुआ।

पितीति०—पित् कृत् परे रहते ही 'तुक्' होता है—

(8) कृतम्
कृ क्त—ह्रस्व है, कृत् (त) भी है, परन्तु पित् न होने से 'तुक्' नहीं हुआ।
कृत सु—विभक्तिकार्य।

कृतीति०—कृत् संज्ञक प्रत्यय के परे रहते 'तुक्' आगम होता है—

(9) पटुतरः
पटु तरप्—'तुक्' नहीं हुआ,
पटुतर सु—विभक्तिकार्य।

(10) पटुतमः (पूर्ववत्)।

ग्रामणिकुलम्—यहाँ ह्रस्वादेश के बहिरंग के असिद्ध होने से तुक् नहीं होता है।

(2512) संहितायाम् *72* (145)

अधिकारोऽयम् 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (6.1.158) इति यावत्। प्रागेतस्मात्सूत्रादित उत्तरं यद्वक्ष्यामः संहितायामित्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति–'इको यणचि (6.1.77), दध्यत्र'। संहितायामिति किम्? दधि अत्र। मधु अत्र।

अर्थ—'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (6.1.155) पर्यन्त यह अधिकार चलता है। इस सूत्र से पूर्व जो भी कहा जायेगा, वह सब संहिता के विषय में जानना चाहिए।

उदा० (1) दध्यत्र

(2) मध्वत्र

इन सभी की सिद्धि 'इको यणचि' (6.1.77) के अन्तर्गत देखें।

संहिताया०—संहिता के विषय में ही होता है—

दधि अत्र
यणादेश नहीं हुआ।
इसी प्रकार—मधु अत्र।

(2513) छे च *73* (146)

'ह्रस्वस्य तुक्' इति वर्तते। छकारे परतः संहितायां विषये ह्रस्वस्य तुगागमो भवति। इच्छति। गच्छति। ह्रस्व एवात्रागमी, न त्वदन्तः। तेन चिच्छिदतुः, चिच्छिदुरित्यत्र तुगभ्यासस्य ग्रहणेन न गृह्यत इति हलादिःशेषेण न निवर्त्त्यते। नावयवावयवः समुदायावयवो भवतीति।

अर्थ—'ह्रस्वस्य तुक्' का अनुवर्त्तन है। संहिता के विषय में ह्रस्व को 'तुक्' आगम होता है, छकार परे रहते।

उदा० (1) इच्छति
इष् तिप्—इषुगमियमां छः,
इ छ् श ति—तुदादिभ्यः शः, छे च,
इच्छति—स्तोः श्चुना श्चुः।

(2) गच्छति
गम् तिप्—लट्, 'छ्' आदेश, शप्,
ग त् छ् शप् ति—छे च,
गच्छ् अ ति—श्चुत्व।

ह्रस्व०—ह्रस्व ही आगमी है तथा अदन्त नहीं है। अतः 'चिच्छिदतुः' तथा 'चिच्छिदुः' इन स्थलों पर तुक् अभ्यास के ग्रहण से गृहीत नहीं होता। तब 'हलादिः शेषः' के द्वारा उसकी निवृत्ति नहीं होती है। अवयव का अवयव समुदाय का अवयव नहीं होता है।

(2514) आङ्माङोश्च *74* (147)

'तुक्' इत्यनुवर्तते, 'छे' इति च। आङो ङित ईषदादिषु चतुर्ष्वर्थेषु वर्त्तमानस्य माङश्च प्रतिषेधवचनस्य छकारे परतस्तुगागमो भवति। 'पदान्ताद्वा' (6.1.76) इति विकल्पे प्राप्ते नित्यं तुगागमो भवति। ईषदर्थे–ईषच्छाया = आच्छाया। क्रियायोगे–आच्छादयति। मर्यादाभिविध्योः–आच्छायायाः। आच्छायम्। माङः खल्वपि–माच्छैत्सीत्। माच्छिदत्। ङिद्विशिष्टग्रहणं किम्? आछाया, आच्छाया। प्रमाछन्दः, प्रमाच्छन्दः।

अर्थ—'तुक्', 'छे'—इनका अनुवर्त्तन है। ईषत् आदि चार अर्थों में ङित् आङ् होता है। आङ् तथा प्रतिषेधवाची माङ् को 'तुक्' आगम होता है, छकार परे रहते संहिता के विषय में। 'पदान्ताद्वा' के द्वारा विकल्प प्राप्त होने पर नित्य 'तुक्' आगम होता है।

उदा० (क) ईषदर्थे—

(1) आच्छाया
ईषच्छाया—इस अर्थ में,
आ छाया—'तुक्' हुआ,
आ त् छाया—स्तोः श्चुना श्चुः,
आच्छाया—सु।

(ख) क्रियायोगे—

(2) आच्छादयति
आ छादयति—पूर्ववत्।

(ग) मर्यादाऽभिविध्योः—

(3) आच्छायम्
आ छायायाः—इस अर्थ में,
आ छाया—'तुक्' आगम,

आ त् छाया—श्चुत्व,
आ च् छाय—श्चुत्व, ह्रस्वादेश,
आच्छायम्—सु।

(4) माच्छैत्सीत्
मा छैत्सीत्—पूर्ववत्।

(5) माच्छिदत्
मा छिदत्—पूर्ववत्।

ङिद्विशि०—सूत्र में ङित् आङ् का ग्रहण है—

(6) आछाया
'तुक्' नहीं हुआ। 'आ' ङित् नहीं है।

(7) आच्छाया
'तुक्' हुआ है।

(8) प्रमाछन्दः
'तुक्' नहीं हुआ।

(9) प्रमाच्छन्दः
'तुक्' हुआ।

(2515) दीर्घात् *75* (148)

'छे तुक्' इति वर्त्तते। दीर्घात्परो यश्छकारस्तस्मिन्पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्य तुगागमो भवति। ह्रीच्छति। म्लेच्छति। अपचाच्छायते। विचाच्छायते।

अर्थ—'छे तुक्' का अनुवर्त्तन है। दीर्घ से पर जो छकार, उसके परे रहते पूर्व दीर्घ को 'तुक्' आगम होता है।

उदा० (1) ह्रीच्छति
ह्रीच्छ् तिप्—तुक् हुआ,
ह्रीच्छ् शप् ति—शप्।

(2) म्लेच्छति
म्लेच्छ् शप् तिप्—पूर्ववत्।

(3) आपचाच्छायते
अप छो यङ्—आदेच उपदेशेऽशिति, तुक्, श्चुत्व,
अपचाच्छायते—लकारकार्य।

(4) विचाच्छयते (पूर्ववत्) द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'दीर्घोऽकितः' से अभ्यास को दीर्घ॥

प्रश्न यह है कि तुक् किसका अवयव हो ? 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' के अनुसार तुक् आगम छकार को होना चाहिए। परन्तु पाणिनि का सूत्र 'विभाषा सेनासुरांच्छायाशाला-निशानाम्' (2.4.25) ज्ञापक है कि तुक् दीर्घ को होता है। कारण कि 'तुक्' कित् है; अतः अन्त में होता है।

(2516) पदान्ताद्वा *76* (149)

'दीर्घाच्छे तुक्' इति वर्त्तते। पदान्ताद्दीर्घात्परो यश्छकारस्तस्मिन्पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्य पूर्वेण नित्यं प्राप्तो वा तुगागमो भवति। कुटीच्छाया। कुटीछाया। कुवलीच्छाया। कुवलीछाया। *विश्वजनादीनां छन्दसि वा तुगागमो भवतीति वक्तव्यम्* (म०भा०)। विश्वजनच्छत्रम्। विश्वजनछत्रम्। 'नच्छायां कुरवोऽपराम्' (अथ० 13.3.56) नछायां कुरवोऽपरम्।

अर्थ—दीर्घात्, छे, तुक्—इनका अनुवर्त्तन है। पदान्त दीर्घ से उत्तर जो छकार, उसके परे रहते पूर्व दीर्घ को 'तुक्' आगम विकल्प से होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) कुटीच्छाया
कुटीत् छाया—तुक्,
कुटीच्छाया सु—श्चुत्व।

(2) कुटीछाया
पक्ष में 'तुक्' नहीं हुआ।

(3) कुवलीच्छाया
'तुक्' हुआ।

(4) कुवलीछाया
पक्ष में 'तुक्' नहीं हुआ।

विश्वजना०—वेद के विषय में विश्वजन आदि शब्दों को विकल्प से 'तुक्' आगम होता है, छकार परे रहते।

(5) विश्वजनच्छत्रम्
विश्वजन त् छत्र—'तुक्' हुआ,
विश्वजनच्छत्र सु—पूर्ववत्।

(6) विश्वजनछत्रम्
'तुक्' नहीं हुआ।

(7) नच्छायाम् (शौ०सं० 13.3.56)
'तुक्' हुआ।

(8) नछायाम्
'तुक्' नहीं हुआ।

(2517) इको यणचि *77* (47)

अचि परत इको यणादेशो भवति । दध्यत्र । मध्वत्र । कर्त्रर्थम् । हर्त्रर्थम् । लाकृतिः । *इकः प्लुतपूर्वस्य सवर्ण-दीर्घबाधनार्थं यणादेशो वक्तव्यः* (म०भा०) । भो3 इ इन्द्रम् । भो3 यिन्द्रम् । अचीति चायमधिकारः सम्प्रसार-णाच्च (6.1.108) इति यावत् ।

अर्थ—अच् परे रहते 'इक्' के स्थान पर 'यण्' आदेश होता है, संहिता के विषय में ।

अच् और इक् अविधीयमान हैं । अतः 'अणुदित् सवर्णस्य०' के द्वारा अपने सवर्णों के भी ग्राहक हैं । यण् विधीयमान है । अतः अपने सवर्णों (यँ, लँ, वँ,) का ग्राहक नहीं है ।

उदा० (1) दद्ध्यत्र

दधि अत्र—'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' के द्वारा अच् (अकार) के परे रहते व्यवधान रहित पूर्व वर्ण इक् (इकार) के स्थान पर यण् आदेश प्राप्त हुआ, स्थानी इक् चार वर्ण हैं तथा सवर्णों को भी मिला लेने पर यह संख्या छियासठ हो जाती है; परन्तु आदेश यण् केवल चार ही वर्ण हैं, 'स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के द्वारा स्थानकृत सादृश्य के आधार पर इकार के स्थान पर यण् (य्) हुआ,

दध् य् अत्र—'अनचि च' से पांक्षिक द्वित्व,
दध् ध् य् अत्र—झलां जश् झशि,
दद् ध् य् अत्र—संयोगान्तस्य लोपः से यकार का लोप प्राप्त हुआ, 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' से निषेध,
दद्ध्यत्र—रूप बना ।

(2) दध्यत्र
पक्ष में धकार को द्वित्व नहीं हुआ ।

(3) मद्ध्वत्र
पूर्ववत् सभी कार्य ।

(4) मध्वत्र
द्वित्व नहीं हुआ ।

(5) कर्त्त्रर्थम्
कर्तृ अर्थम्—पूर्ववत् ।

(6) कर्त्रर्थम्
द्वित्व नहीं हुआ ।

(7) हर्त्त्रर्थम् (पूर्ववत्) ।
(8) हर्त्रर्थम् (पूर्ववत्) ।

(9) लाकृतिः
लृ आकृतिः—पूर्ववत् ।

इकः०—प्लुत है पूर्व में जिसके, ऐसे इक् के सवर्ण दीर्घ आदेश का बाध करने के लिए यण् होता है—

(10) भो3 यिन्द्रम्
भो3 इ इन्द्रम्—'अकः सवर्णे दीर्घः' को बाध कर यणादेश हुआ,
भो3 य् इन्द्रम्—रूप बना ।
'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र पर्यन्त 'अचि' का अधिकार है ।

(2518) एचोऽयवायावः *78* (61)

एचः स्थानेऽचि परतोऽय्, अव्, आय्, आव्—इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति । चयनम् । लवनम् । चायकः । लावकः । कयेते । ययेते । वायाववरुणद्धि ।

अर्थ—अच् परे रहते एच् के स्थान पर यथासंख्य अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं, संहिता के विषय में ।

उदा० (1) चयनम्
चि ल्युट् → चे अन—युवोरनाकौ, सार्वधातुकार्धधातु०,
चय् अन सु—विभक्तिकार्य ।

(2) लवनम्
लू ल्युट् → लो अन—पूर्ववत्,
लव् अन—सु ।

(3) चायकः
चि ण्वुल् → चै अक—वृद्धि,
चाय् अक—सु ।

(4) लावकः
लू ण्वुल्—पूर्ववत् वृद्धि,
लौ अक—आवादेश ।

(5) कयेते
के एते → कय् एते ।

(6) व्ययेते
व्ये एते ।

(7) यावर्वरुणद्धि
यौ अवरुणद्धि ।

(2519) वान्तो यि प्रत्यये *79* (63)

योऽयमेचः स्थाने वान्तादेशः–ओकारस्य अव्, औकार-

स्याव्, स यकारादौ प्रत्यये परतो भवति। बाभ्रव्यः। माण्डव्यः। शङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पासः। नाव्यो ह्रदः। वान्त इति किम्? रायमिच्छति रैयति। यौति किम्? गोभ्याम्, नौभ्याम्। प्रत्यय इति किम्? गोयानम्, नौयानम्। *गोर्यूतौ छन्दसि* (म० भा०)। गोशब्दस्य यूतौ परतश्छन्दसि विषये वान्तादेशो वक्तव्यः। 'आ नो मित्र-वरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्' (ऋ० 3.62.16)। छन्दसीति किम्? गोयूतिः। *अध्वपरिमाणे च* (म० भा०)। गोर्यूतौ परतो वान्तादेशो वक्तव्यः। गव्यूतिमात्रमध्वानं गतः।

अर्थ—यह जो एच् के स्थान पर वान्त आदेश होता है, वह ओकार के स्थान पर 'अव्' तथा औकार के स्थान पर 'आव्' आदेश होता है, यकारादि प्रत्यय परे रहते संहिता के विषय में।

उदा० (1) बाभ्रव्यः
बभ्रु यञ्—मधुबभ्र्वो०, यञ्, आदिवृद्धि,
बाभ्रो य → बाभ्रव् य—विभक्तिकार्य।

(2) माण्डव्यः
मण्डु यञ्—पूर्ववत्।

(3) शङ्कव्यं दारु
शङ्कु यत् → शङ्को य—गुण,
शङ्क व् य—सु।

(4) पिचव्यः कार्पासः
पिचु यत्—पूर्ववत्।

(5) नाव्यः
नौ यत्—नौवयोर्धर्म०,
नाव् य—सु।

वान्त इति०—यकारादि प्रत्यय परे रहते अव् तथा आव् आदेश होते हैं—

(6) रैयति
रायम् इच्छति—आदेश नहीं हुआ।

यौति०—यकारादि प्रत्यय परे रहते वान्त आदेश होता है—

(7) गोभ्याम्
गो भ्याम्—अव् आदेश नहीं हुआ।

(8) नौभ्याम्
नौ भ्याम्—आव् आदेश नहीं हुआ।

यकारादि प्रत्यय के परे रहते वान्त आदेश होता है—

(9) गोयानम्
गो यान सु—अव् नहीं हुआ।

(10) नौयानम्
नौ यान् सु—आव् नहीं हुआ।

गोर्यूतौ०—वेद के विषय में 'यूति' परे रहते 'गो' शब्द को अवादेश होता है—

(11) गव्यूतिः (ऋ० 3.62.16)
गो यूति → गव् यूति—
गव्यूति सु—विभक्तिकार्य।

(12) गोयूतिः
लोक में 'अव्' आदेश नहीं होता है।
वेद में ही उक्त अवादेश होता है।

अध्वपरि०—यदि 'मार्ग का परिमाण' अर्थ गम्यमान हो तो 'गो' शब्द को वान्त आदेश होता है, यूति शब्द परे रहते।

(13) गव्यूतिः
गो यूति—अव् आदेश हुआ।
पक्ष में 'गोयूति' बनता है।

(2520) धातोस्तन्निमित्तस्यैव *80* (64)

'एच' इति वर्त्तते। 'वान्तो यि प्रत्यये' इति च। धातोर्य एच् तन्निमित्तो यकारादिप्रत्ययनिमित्तस्तस्य यकारादौ प्रत्यये परतो वान्तादेशो भवति। लव्यम्। पव्यम्। अवश्य-लाव्यम्। अवश्यपाव्यम्। धातोरिति किम्? प्रातिपदिकस्य नियमो मा भूत्। तत्र को दोषः? बाभ्रव्य इत्यत्रैव स्यात्, इह न स्याद्-गव्यम्, नाव्यमिति। तन्निमित्तस्येति किम्। अतन्निमित्तस्य मा भूत्-उपोयते। औयत। लौयमानिः। पौयमानिः। अत इञ् (4.1.95)। एवकारकरणं किम्? धात्ववधारणं यथा स्यात्, तन्निमित्तावधारणं मा भूदिति तन्निमित्तस्य हि धातोश्चाधातोश्च भवति-बाभ्रव्यः, अवश्य-लाव्यम्, लव्यम्।

अर्थ—एचः, वान्तो यि प्रत्यये—इनका अनुवर्त्तन है। धातु का जो एच्, तत् निमित्त यकारादि प्रत्यय का निमित्त, उसको वान्त आदेश होता है, यकारादि प्रत्यय परे रहते संहिता के विषय में।

उदा० (1) लव्यम्
लू यत्—अचो यत्,
लो य → लव् य सु।

(2) पव्यम्
पू यत्—पूर्ववत्।

(3) अवश्यलाव्यम्
अवश्य लू ण्यत्—ओरावश्यके,
अवश्य लौ य—आव् आदेश,
अवश्यलाव् य सु।

धातोरि॰—धातु के एच् के स्थान पर ही वान्त आदेश होता है। प्रातिपदिक का अनियम न हो। इसमें क्या दोष है ?

(समा॰) 'बाभ्रव्य' आदि में ही हो; 'गव्य' व 'नाव्य' में न हो।

तन्निमित्त॰—तन्निमित्तक जो धातु का एच्, उसके स्थान पर वान्त आदेश होता है; ताकि अनिमित्तक को न हो जाय।

(4) उपोयते
वे → वा यक् त—आदेच उपदेशे॰, लट्, भावकर्मणोः, यक्,
उप ऊयते—वचिस्वपियजा॰, अकृत् सार्वधातुक॰, आद् गुणः।

(5) औयत
वे → वा यक् त—लङ्, पूर्ववत् यक् आदि,
ऊयत—पूर्ववत् सम्प्रसारण आदि,
आट् ऊयत—आडजादीनाम्, आटश्च।

(6) लौयमानिः
लूयमानस्याऽपत्यम्—अत इञ्, तद्धितेष्वचामादेः,
लौयमानि सु—विभक्तिकार्य।

(7) पौयमानिः (पूर्ववत्)।

एवकार॰—'एव' पद के ग्रहण का क्या फल है ? ताकि धातु का अवधारण हो जाय। तन्निमित्त का अवधारण न हो। तन्निमित्त धातु तथा अधातु को वान्त आदेश होता है। यथा—

बाभ्रव्यः, अवश्यलाव्यम्, लव्यम्।

(2521) क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे *81* (65)

'क्षि' 'जि'-इत्येतयोर्धात्वोर्यति प्रत्यये परतः शक्यार्थे गम्यमाने एकारस्यायादेशो निपात्यते। शक्यः क्षेतुं क्षय्यः। शक्यो जेतुं जय्यः। शक्यार्थ इति किम्? क्षेयं पापम्। जेयो वृषलः।

अर्थ—शक्य अर्थ में क्षय्य तथा जय्य शब्दों का निपातन किया जाता है, संहिता के विषय में।

उदा॰ (1) क्षय्यः
शक्यः क्षेतुम् → क्षि यत्—अचो यत्,
क्षे य → क्षय् य सु।

(2) जय्यः
शक्यो जेतुम्—पूर्ववत्।

शक्यार्थ॰—शक्य अर्थ में ही ये निपातन होते हैं—

(3) क्षेयम्
'अय्' नहीं हुआ।

(4) जेयः
'अय्' नहीं हुआ।

(2522) क्रय्यस्तदर्थे *82* (66)

क्रीणातेर्धातोस्तदर्थे क्रयार्थे यत्तस्मिन्नभिधेये यति प्रत्यये परतोऽयादेशो निपात्यते। क्रय्यो गौः। क्रय्यः कम्बलः। क्रयार्थं यः प्रसारितः स उच्यते। तदर्थ इति किम्? क्रेयं नो धान्यम्, न चास्ति क्रय्यम्।

अर्थ—तदर्थ में क्रय्य शब्द का निपातन किया जाता है, संहिता के विषय में।

उदा॰ (1) क्रय्यो गौः
इसी प्रकार—क्रय्यः कम्बलः।

तदर्थ॰—तदर्थ में ही यह निपातन होता है—

(2) क्रेयम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2523) भय्यप्रवय्ये चच्छन्दसि *83* (3517)

बिभेतेर्धातोः प्रपूर्वस्य च 'वी' इत्येतस्य यति प्रत्यये परतश्छन्दसि विषयेऽयादेशो निपात्यते। 'भय्यं किलासीत्' (काठ॰सं॰ 13.4)। वत्सतरो प्रवय्या। भय्येति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (3.3.113) इत्यपादाने यत्प्रत्ययः। बिभेत्यस्मादिति भय्यम्। 'प्रवय्या' इति स्त्रियामेव निपातनम्। अन्यत्र प्रवेयमित्येव भवति। छन्दसीति किम्? भेयम्। प्रवेयम्। *हृदय्या आप उपसंख्यानम्* (म॰भा॰)। हृदय्या आपः (म॰भा॰)। हृदे भवा—'भवे छन्दसि' (4.4.110) इति यत्प्रत्ययः।

अर्थ—भय्य तथा प्रवय्य शब्दों का निपातन किया जाता है, संहिता के विषय में तथा वेद के विषय में।

उदा० (1) भय्यम्
भी यत्—कृत्यल्युटो०
भय् यत् सु—विभक्तिकार्य।
(2) प्रवय्या
प्र वी यत् → प्र वे य-
प्रवय्य टाप् सु—स्त्रीलिंग में।
अन्यत्र 'प्रवेय' बनता है।

छन्दसी०—वेद में ही ये निपातन होते हैं—

(3) भेयम्
भी यत्—'अय्' नहीं हुआ।
(4) प्रवेयम् (पूर्ववत्)।

ह्रदय्या०—जल अर्थ में ह्रदय्या शब्द निपातित है—

(5) ह्रदय्याः (आपः)
ह्रदे भवाः—'भवे छन्दसि' से 'यत्',
ह्रद यत् → ह्रदय्य जस्।

(2524) एकः पूर्वपरयोः *84* (68)

अधिकारोऽयम्। 'ख्यत्यात्परस्य' (6.1.112) इति प्रागेतस्मात्सूत्रादित उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र पूर्वस्य परस्य द्वयोरपि स्थाने एकादेशो भवतीत्येतत् वेदितव्यम्। वक्ष्यति–'आद्गुणः' (6.1.87) इति। तत्राचि पूर्वस्यावर्णाच्च परस्य स्थाने एको गुणो भवति–खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः। पूर्वपरग्रहणं द्वयोरपि युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम्। (अन्यथा) एकस्यैव हि स्यात्, नोभे सप्तमीपञ्चम्यौ युगपत्प्रकल्पिके भवत इति। एकग्रहणं पृथगादेशनिवृत्त्यर्थम्, स्थानिभेदाद्धि भिन्नादिषु नत्ववद् द्वावादेशौ स्याताम्।

अर्थ—यह अधिकार है। 'ख्यत्यात् परस्य' इस सूत्र से पहले-पहले यहाँ से आगे जो भी कहा जायेगा, वह पूर्व और पर दोनों के स्थान पर एकादेश होता है। आगे कहा जायेगा—आद् गुणः। वहाँ अच् वर्ण परे रहते पूर्व वर्ण तथा अवर्ण से पर वर्ण—इन दोनों के स्थान पर गुण एकादेश होता है। यथा—

उदा० (1) खट्वेन्द्रः, (2) मालेन्द्रः
दोनों की सिद्धि 6.1.87 के अन्तर्गत देखिये।

पूर्व व पर का ग्रहण करने से दोनों का ज्ञान एक साथ होता है। प्रत्येक का यही विधान है। सप्तमी व पञ्चमी—ये दोनों एक साथ नहीं होते हैं। 'एक' पद का ग्रहण पृथक् आदेश की निवृत्ति के लिए है। स्थानियों का भेद होने से भिंन्न आदि शब्दों में नत्व की तरह दो आदेश होते हैं।

(2525) अन्तादिवच्च *85* (75)

'एकः' इति वर्त्तते, 'पूर्वपरयोः' इति च। 'एकः पूर्वपरयोः' (6.1.84) इति योऽयमेकादेशो विधीयते स पूर्वस्यान्तवद्भवति, परस्यादिवद्भवति। यथा तस्यान्त आदिर्वा तदन्तर्भूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते, तद्वदेकादेशोऽपि तद्ग्रहणेन गृह्यते–इत्येषोऽतिदेशस्यार्थः। ब्रह्मबन्धूरित्यत्र ब्रह्मबन्ध्विति प्रातिपदिकम्, ऊङित्यप्रातिपदिकम्, तयोः प्रातिपदिकाप्रातिपदिकयोर्य एकादेशः स प्रातिपदिकस्यान्तवद् भवति। यथा शक्यते कर्त्तुम्–'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (4.1. 1) इति स्वादिविधिः। वृक्षावित्यत्र सुबौकारः असुबकारः तयोः सुबसुपोरेकादेशः सुप आदिवद्भवति। यथा शक्यते वक्तुम्–'सुबन्तं पदम्' (1.4.14) इति। वर्णाश्रयविधावयमन्तादिवद्भावो नेष्यते, तथा हि खट्वाभिरित्यत्रान्तवद्भावाभावाद् 'अतो भिस ऐस्' (7.1.9) इति न भवति। ह्वयतेः–जुहावेति सम्प्रसारणपूर्वत्वस्यादिवद्भावाभावाद् 'आतः औ णलः' (7.1.34) इति न भवति। अस्यै अश्वः, अस्या अश्व इति 'वृद्धिरेचि' (6.1.88) इति वृद्धिः, 'एङः पदान्तादति' (6.1.109) इत्यत्र विधावादिवन्न भवति।

पूर्वपरसमुदाय एकादेशस्य स्थानी, स हि तेन निवर्त्यते। तत्रावयवयोरानुमानिकं स्थानित्वमिति तदाश्रयं कार्यं स्थानिवद्भावादप्राप्तमित्यन्तादिवद्भावो विधीयते।

अर्थ—एकः पूर्वपरयोः—इनका अनुवर्तन है। पूर्व सूत्र के द्वारा विहित एकादेश पूर्व के विषय में अन्त के समान तथा पर के विषय में आदि के समान होता है।

चूँकि एकादेश अखण्ड होता है, इनमें अन्त व आदि का व्यवहार सम्भव नहीं है; अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा अतिदेश किया गया है कि पूर्व से कार्य पड़ने पर वह अन्त के समान जानना चाहिए तथा पर से कार्य पड़ने पर आदि के समान जानना चाहिए।

उदा० (1) ब्रह्मबन्धूः
ब्रह्मबन्धु ऊङ् → ब्रह्म बन्धू—सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ, यहाँ 'ब्रह्मबन्धु' प्रातिपदिक है तथा 'ऊङ्' अप्रातिपदिक है, अतः प्रातिपदिक व अप्रातिपदिक—इन दोनों का यह एकादेश प्रातिपदिक

का अन्त के समान हुआ, तब 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' से स्वादि विधि होती है।

(2) वृक्षौ

वृक्ष औ—'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश हुआ, औकार सुप् है तथा अकार सुप् नहीं है, सुप् व असुप्—इन दोनों का एकादेश सुप् का आदि के समान हुआ, तब 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पद-संज्ञा हुई।

वर्णाश्रय०—वर्णाश्रित विधि के विषय में यह अन्तवत्, आदिवत् भाव नहीं होता है। यथा—

(3) खट्वाभिः

खट्वा भिस्—यहाँ अन्तवद्भाव के अभाव के कारण 'अतो भिस ऐस्' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

(4) जुहाव

ह्वे णल्—सम्प्रसारण, द्वित्व, अभ्यासकार्य,

हु हु अ → जु हाव् अ—यहाँ सम्प्रसारण पूर्वत्व के आदिवद्भाव का अभाव होने से 'आत औ णलः' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

(5) अस्या अश्वः

अस्यै अश्वः—'एचोऽयवायावः' से आय् आदेश, यकार का लोप,

अस्या अश्वः—'वृद्धिरेचि' यहाँ वृद्धि 'एङः पदान्तात्' यहाँ इस विधि के विषय में आदिवत् नहीं होती है।

पूर्व तथा पर समुदाय एकादेश का स्थानी है। उसकी निवृत्ति हो जाती है। तब अवयवों का आनुमानिक स्थानिभाव नहीं होता है। अतः तदाश्रित कार्य स्थानिवद्भाव होने से अप्राप्त होता है। तब अन्तवत् व आदिवत् का विधान किया जा रहा है।

(2526) षत्वतुकोरसिद्धः *86* (3333)

षत्वे तुकि च कर्तव्ये एकादेशोऽसिद्धो भवति। सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थः। 'असिद्धवचनमादेशलक्षण-प्रतिषेधार्थम्, उत्सर्गलक्षणभावार्थं च' (म०भा०)। 'कोऽसिचद्' इत्यत्र 'एङः पदान्तादति' (6.1.109) इत्येकादेशस्य परं प्रत्यादिवद्भावादपदादेरिण उत्तरस्यादेशस्य सकारस्य षत्वं प्राप्नोति, तदसिद्धत्वान्न भवति। कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै-इत्येकादेशस्यासिद्धत्वाद् 'इणः' (8.3.39) इति षत्वं न भवति। तुग्विधौ-अधीत्य, प्रेत्येति। अत्रैकादेशस्यासिद्धत्वात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (6.1.71) इति तुग्भवति। *सम्प्रसारणङीट्सु प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। सम्प्रसारणे-ब्रह्महूषु। परिवीषु। सम्प्रसारणपूर्वत्वस्यासिद्धत्वात्षत्वं न प्राप्नोति। ङौ-वृक्षेच्छत्रम्, वृक्षे छत्रम्। इटि-अपचेच्छत्रम्, अपचे छत्रम् (म०भा०)। आद्गुणस्यासिद्धत्वाद् ह्रस्वलक्षणो (6.1.71) नित्योऽत्र तुक् प्राप्नोति, 'दीर्घात्' (6.1.75) 'पदान्ताद्वा' (6.1.76) इति तुग्विकल्प इष्यते।

अर्थ—षत्व तथा तुक् विधि करने में एकादेश असिद्ध होता है। यह असिद्धवचन आदेशलक्षण के निषेध के लिए तथा उत्सर्गलक्षण के भाव के लिए है।

उदा० (1) कोऽसिचत्

को असिचत्—'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश हुआ है। इण् (ओ) से पर 'स्' को 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा षत्व प्राप्त हुआ, एकादेश के असिद्ध होने से षत्व नहीं हुआ।

(2) कोऽस्य

पूर्ववत् षत्व नहीं हुआ।

(3) योऽस्य, (4) कोऽस्मै, (5) योऽस्मै

इन सभी में षत्व नहीं हुआ।

(6) अधीत्य

अधि इ ल्यप्—इस दशा में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ,

अधी त् य—अब ह्रस्व के न रहने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' की प्रवृत्ति नहीं हुई, एकादेश के असिद्ध होने से 'तुक्' हुआ,

अधीत्य सु—विभक्तिकार्य।

(7) प्रेत्य

प्र इ ल्यप्—'आद् गुणः' से गुण एकादेश हुआ,

प्रे त् य—ह्रस्व के न रहने से तुक् आगम प्राप्त नहीं हुआ, प्रकृत सूत्र के द्वारा एकादेश के असिद्ध होने से तुक् हुआ।

सम्प्रसारण०—सम्प्रसारण, ङि तथा इट्—इन विधियों में एकादेश सिद्ध होता है—

(क) सम्प्रसारणे—

(8) ब्रह्महूषु

ब्रह्माणं ह्वयति—क्विप्, यजादि होने से सम्प्रसारण, 'हलः' से दीर्घ,

ब्रह्महू सु—सप्तमी बहुवचन,

ब्रह्महूषु—आदेशप्रत्यययोः।

(9) परिवीषु
परि व्ये क्विप्—सर्वापहार लोप,
परि वी—पूर्ववत् सम्प्रसारण, दीर्घ,
परिवीषु—सुप्।

(ख) ङौ—
(10) वृक्षेच्छत्रम्

वृक्षे छत्रम्—'वृक्ष ङि'; यहाँ 'आद् गुणः' से गुण एकादेश हुआ, प्रकृत सूत्र से उसके असिद्ध रहने पर तुक् प्राप्त नहीं हुआ, वार्तिक से असिद्धभाव का निषेध हुआ, तब 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' के द्वारा पाक्षिक तुक् हुआ,
वृक्षेच्छत्रम्—श्चुत्व।

(11) वृक्षे छत्रम्
पक्ष में 'तुक्' नहीं हुआ।

(ग) इटि—
(12) अपचेच्छत्रम्
अपच् शप् इट्—लङ्, उ०पु० एकवचन, शप्, अट् आगम,
अपचे—'आदगुणः' से गुण एकादेश,
अपचे छत्रम्—एकादेश के असिद्ध होने से ह्रस्वलक्षण तुक् नित्य प्राप्त हुआ, वार्तिक के द्वारा असिद्धभाव का निषेध होने से पूर्ववत् वैकल्पिक तुक् हुआ,
अपचेच्छत्रम्—श्चुत्व।

(13) अपचे छत्रम्
पक्ष में तुक् नहीं हुआ।

(2527) आद् गुणः *87* (69)

'अची' इत्यनुवर्तते। अवर्णात्परो योऽच्, अचि च पूर्वो योऽवर्णः, तयोः पूर्वपरयोरवर्णाचोः स्थाने एको गुण आदेशो भवति। तवेदम्। खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः। तवेहते, खट्वेहते। तवोदकम्, खट्वोदकम्। तवर्श्यः, खट्वर्श्यः। तवल्कारः, खट्वल्कारः। ऌकारस्य स्थाने योऽण् तस्य लपरत्वमिष्यते।

अर्थ—'अचि' पद का अनुवर्तन है। अवर्ण से उत्तर अच् परे रहने पर पूर्व व पर दोनों के स्थान पर गुण एकादेश होता है।

अदेङ् गुणः से अ, ए, ओ की गुणसंज्ञा होती है। तपर दो प्रकार का होता है—(क) तत्काल का बोधक तपर (यथा–अदेङ् गुणः में अत् का तपर) तथा (ख) विभक्ति तपर (यथा–आद् गुणः में आत् का तपर)। इसमें 'उपसर्गादृति धातौ' सूत्र ज्ञापक है। 'उपसर्गात्' में पञ्चमी का 'त्' है। यदि यहाँ 'त्' को तत्काल के ग्रहण के लिए मान लिया जाय तो 'उपसर्गाद् ऋति धातौ' सूत्रस्थ 'ऋति' में तकार ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। अवर्ण से अवर्ण होने पर सवर्णदीर्घ हुआ करता है। अवर्ण से ए, ओ, ऐ तथा औ के परे रहते वृद्धि आदेश हुआ करता है। अतः अवर्ण से केवल इ, उ, ऋ तथा ऌ परे रहते ही गुण एकादेश होता है।

उदा० (1) तवेदम्
तव इदम्—अकार इकार के स्थान पर स्थानकृत सादृश्य से एकार एकादेश,
तवेदम्—रूप बना।

(2) खट्वेन्द्रः
खट्वा इन्द्र—एकार एकादेश,
खट्वेन्द्र सु—पूर्ववत्।

(3) मालेन्द्रः
माला इन्द्रः—पूर्ववत्।

(4) तवेहते
तव ईहते—पूर्ववत्।

(5) खट्वेहते
खट्वा ईहते—पूर्ववत्।

(6) तवोदकम्
तव उदकम्—ओकार एकादेश।

(7) खट्वोदकम्
खट्वा उदकम्—पूर्ववत्।

(8) तवर्श्य
तव ऋश्यः—'उरण् रपरः' से रपर होकर अर् एकादेश हुआ।

(9) खट्वर्श्यः
खट्वा ऋश्यः—पूर्ववत् 'अर्' एकादेश,
खट्वर् श्यः—पूर्ववत्।

(10) तवल्कारः
तव ऌकारः—'उरण् रपरः' से लपर होकर,
तवल् कारः—'अल्' एकादेश।

(11) खट्वल्कारः
खट्वा ऌकारः—'अल्' हुआ है।

विशेष—सूत्रस्थ 'आत्' पद में पञ्चमी है तथा 'अचि' में सप्तमी है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' तथा 'तस्मिन्निति०' परिभाषाएँ उपस्थित होती हैं। पञ्चमी के द्वारा निर्देश बलवान् होता है। इस परिभाषा के बल पर तथा विप्रतिषेध की दशा में पर कार्य बलवान् होता है—इस परिभाषा के बल पर पञ्चमी का नियम बलवान् होना चाहिए। परन्तु 'पूर्वपरयोः' के अनुवर्त्तन के कारण एकादेश ही होता है।

(2528) वृद्धिरेचि *88* (72)

'आत' इति वर्तते। अवर्णात्परो य एच्, एचि च पूर्वो योऽवर्णः, तयोः पूर्वपरयोरवर्णैचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति। आद्गुणस्यापवादः। ब्रह्मैडका, खट्वैडका। ब्रह्मैतिकायनः, खट्वैतिकायनः। ब्रह्मौदनः, खट्वौदनः। ब्रह्मौपगवः, खट्वौपगवः।

अर्थ—'आत्' का अनुवर्त्तन है। अवर्ण से उत्तर एच् वर्ण परे रहते दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है, संहिता के विषय में। 'एच्' में चार वर्ण होते हैं—ए, ओ, ऐ, औ। 'स्थानेऽन्तरतमः' से ए, ऐ के परे रहते 'ऐ' एकादेश होता है तथा ओ, औ परे रहते 'औ' एकादेश होता है। यह 'आद् गुणः' का अपवाद है।

उदा० (1) ब्रह्मैडका

ब्रह्म एडका—अकार व एकार के स्थान पर ऐकार एकादेश हुआ।

(2) खट्वैडका

खट्वा एडका—पूर्ववत् ऐकार एकादेश।

(3) ब्रह्मैतिकायन:

ब्रह्म ऐतिकायनः—अकार व ऐकार के स्थान पर ऐकार एकादेश।

(4) खट्वैतिकायन:

खट्वा ऐतिकायनः—ऐकार एकादेश।

(5) ब्रह्मौदन:

ब्रह्म ओदनः—अकार ओकार के स्थान पर औकार एकादेश हुआ।

(6) खट्वौदन:

खट्वा ओदनः—आकार व ओकार के स्थान पर औकार एकादेश।

(7) ब्रह्मौपगव:

ब्रह्म औपगवः—आकार व औकार के स्थान पर औकार एकादेश।

(8) खट्वौपगव:

खट्वा औपगवः—आकार व औकार के स्थान पर औकार एकादेश।

(2529) एत्येधत्यूठ्सु *89* (73)

'वृद्धिरेचि' इति वर्तते, 'आत्' इति च। तदेतदेज्ग्रहणमेतेरेव विशेषणम्, न पुनरेधतेः; अव्यभिचाराद्, ऊठश्चासम्भवात्। 'इण् गतौ' (धा०पा० 1046) इत्येतस्मिन् धातावेचि, 'एध वृद्धौ' (धा०पा० 2) इत्येतस्मिन् ऊठि च पूर्वं यदवर्णं ततश्च परो योऽच्, तयोः पूर्वपरयोरवर्णाचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति। उपैति, उपैषि, उपैमि। उपैधते, प्रैधते। प्रष्ठौह, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे। ऊठ्यादगुणापवादो वृद्धिर्विधीयते। एत्येधत्योः-एङि पररूपापवादः। 'ओमाङोश्च' (6.1.95) इत्येतत्तु पररूपं न बाध्यते; 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' (व्या०प० 49) इति, 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते' (व्या०प० 9) इति वा। तेनेह न भवति- उप + आ + इतः = उपेत इति। एचीत्येव—उप + इतः = उपेतः। *अक्षादूहिन्यां वृद्धिर्वक्तव्या* (म०भा०)। अक्षौहिणी। *स्वादीरेरिण्योर्वृद्धिर्वक्तव्या* (म०भा०)। स्वैरम्। स्वैरिणी। *प्रादूढोढ्येषैष्येषु वृद्धिर्वक्तव्या* (म०भा०) (प्रौहः) प्रौढः। प्रौढि। प्रैषः। प्रैष्यः। *ऋते च तृतीयासमासेऽवर्णाद् वृद्धिर्वक्तव्या* (म०भा०)। सुखेन ऋतः सुखार्तः। दुःखेन ऋतो दुःखार्तः। ऋत इति किम्? सुखेन इतः सुखेतः। तृतीयेति किम्? परमर्तः। समास इति किम्? सुखेनर्तः। *प्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणे वृद्धिर्वक्तव्या* (म०भा०)। प्र—प्रार्णम्। वत्सतर—वत्सतरार्णम्। कम्बल—कम्बलार्णम्। वसन—वसनार्णम्। *ऋणदशाभ्यां वृद्धिर्वक्तव्या* (म०भा०)। ऋणार्णम्। दशार्णम्।

अर्थ—'वृद्धिरेचि' व 'आत्' का अनुवर्त्तन है। जो 'एच्' का ग्रहण है, वह 'एति' का विशेषण है; 'एध्' का नहीं है। अव्यभिचार से 'ऊठ्' में एच् सम्भव नहीं है। अवर्ण से पर एच् वर्ण वाला इण् तथा एध् धातु हों अथवा ऊठ् हो तो पूर्व तथा पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) उपैति

उप एति—ऐकार एकादेश हुआ,
उप् ऐ ति—रूप बना।

(2) उपैषि
उप एषि—पूर्ववत्।

(3) उपैमि
उप एमि—पूर्ववत्।

(4) उपैधते
उप एधते—ऐकार एकादेश,
उप् ऐधते—पूर्ववत्।

(5) प्रैधते
प्र एधते—पूर्ववत्।

(6) प्रष्ठौहः
प्रष्ठ वाह् ण्वि → प्रष्ठ वाह् ङस्—भसंज्ञा, 'वाह ऊठ्',
प्रष्ठ ऊह् अस्—'आद् गुणः' से प्राप्त गुणादेश को बाध कर वृद्धि एकादेश हुआ।

(7) प्रष्ठौहा
प्रष्ठ ऊह्—पूर्ववत्।
प्रष्ठौहा—टा।

(8) प्रष्ठौहे
'ङे' विभक्ति।

ऊठ्याद्०—यहाँ गुण का अपवाद कर वृद्धि एकादेश का विधान किया जा रहा है। इण् व एध् के विषय में पररूप (एङि पररूपम्) का अपवाद है। 'ओमाङोश्च' यहाँ पररूप का बाध नहीं होता। जिसके द्वारा अप्राप्त न होने पर जो विधि आरम्भ की जाती है, वह उसका बाधक होता है। अथवा पूर्ववर्त्ती अपवाद भी पश्चाद्वर्त्ती विधियों का बाध कर देते हैं। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(9) उपेतः
उप आ इतः—वृद्धि नहीं हुई, गुण हुआ।

एचीत्येव०—एच् परे रहते ही वृद्धि एकादेश होता है—

उप इतः (= दोनों पास जाते हैं)—इस दशा में प्रकृत सूत्र से वृद्धि नहीं होती है, गुण हुआ।

अक्षादूहि०—अक्ष शब्द के अन्त्य अवर्ण से ऊहिनी शब्द का आदि ऊकार परे होने पर पूर्व व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है—

(10) अक्षौहिणी
अक्ष ऊहिनी—वृद्धि एकादेश हुआ,
अक्षौहिणी—'पूर्वपदात्०' से णत्व, सु।

स्वादीरे०—स्व शब्द से ईर तथा ईरिणी शब्दों के परे रहते वृद्धि एकादेश होता है—

(11) स्वैरम्
स्व ईर—वृद्धि एकादेश,
स्वैर सु—विभक्तिकार्य।

(12) स्वैरिणी
स्व ईरिणी—पूर्ववत्।

प्रादूह०—प्र शब्द के अन्त्य अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्दों का आदि वर्ण अच् परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है—

(13) प्रौहः
प्र ऊह—वृद्धि एकादेश, सु।

(14) प्रौढः
प्र ऊढ सु—पूर्ववत्।

(15) प्रौढिः
प्र ऊढि सु—पूर्ववत्।

(16) प्रैषः
प्र एष सु—वृद्धि एकादेश, यहाँ पररूप प्राप्त था।

(17) प्रैष्यः
प्र एष्य सु—पूर्ववत्।

ऋते च०—तृतीया समास में अवर्ण से 'ऋत' शब्द परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है—

(18) सुखार्तः
सुखेन ऋतः → सुख ऋत—गुण प्राप्त हुआ,
सुखार्त सु—वृद्धि एकादेश हुआ।

(19) दुःखार्तः
दुःखेन ऋतः—पूर्ववत्।

ऋत इति०—ऋत शब्द परे रहते ही वृद्धि एकादेश होता है—

(20) सुखेतः
सुखेन इतः—'ऋत' परे नहीं है, अतः वृद्धि एकादेश नहीं हुआ, गुण एकादेश हुआ।

तृतीयेति॰—तृतीया समास में ही वृद्धि एकादेश होता है—

(21) परमर्तः

परमश्चाऽसौ ऋतः—तृतीया समास नहीं है, अतः वृद्धि एकादेश नहीं हुआ, गुण एकादेश हुआ।

समास॰—**समास** में ही वृद्धि एकादेश होता है—

(22) सुखेनर्तः

सुखेन ऋतः—समास नहीं हुआ, अतः वृद्धि एकादेश नहीं हुआ।

प्रवत्स॰—प्र, वत्सतर, कम्बल तथा वसन शब्दों से उत्तर ऋण शब्द के रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है—

(23) प्रार्णम्
प्र ऋण—वृद्धि एकादेश,
प्रार्ण सु—विभक्तिकार्य।

(24) वत्सतरार्णम्
वत्सतर ऋण—पूर्ववत्।

(25) कम्बलार्णम्
कम्बल ऋण—पूर्ववत्।

(26) वसनार्णम्
वसन ऋण—पूर्ववत्।

ऋणदशा॰—ऋण और दश शब्दों से पर ऋण शब्द के रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है—

(27) ऋणार्णम्
ऋण ऋण—पूर्ववत्।

(28) दशार्णम्
दश ऋण—पूर्ववत्।

(2530) आटश्च *90* (269)

'एचि' इति निवृत्तम्। 'अचि' इत्यनुवर्त्तते। आटः परो योऽच्, अचि च पूर्वो य आट्-तयोः पूर्वपरयोराडचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति। ऐक्षिष्ट। ऐक्षत। ऐक्षिष्यत। औभीत्। आर्ध्नोत्। औब्जीत्। चकारोऽधिकविधानार्थः-'उसि' (6.1.96) 'ओमाङोश्च' (6.1.95) इति पररूपबाधनार्थः। औस्रीयत्। औङ्कारीयत्। आ + ऊढा ओढा, तामैच्छत् औढीयत्।

अर्थ—'एचि' का अनुवर्त्तन नहीं है। 'अचि' का अनुवर्त्तन है। आट् से पर जो अच् तथा अच् परे रहते जो पूर्व आट्—इन दोनों पूर्व व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है।

उदा॰ (1) ऐक्षत
ईक्ष् त—लङ्, प्र॰ पु॰ एकवचन,
आट् ईक्ष् शप् त—आडजादीनाम्, शप्,
ऐक्षत—वृद्धि एकादेश।

(2) ऐक्षिष्ट
ईक्ष् त—लुङ्, प्र॰पु॰ एकवचन,
आट् ईक्ष् सिच् त—आट्, सिच्,
आ ईक्ष् इट् स् त—आर्धधातुक वलादि इट्,
ऐक्षिष् ट—वृद्धि एकादेश, मूर्धन्य, ष्टुत्व।

(3) ऐक्षिष्यत
ईक्ष् स्य त—लृङ्, स्यतासी लृलुटोः,
आट् ईक्ष् इट् स्य त—इट्, आट्,
आ ईक्षिष्यत—आदेशप्रत्यययोः,
ऐक्षिष्यत—वृद्धि एकादेश।

(4) औभीत्
उभ् स् ईट् त्—लुङ्, इतश्च, सिच्, अस्तिसिचो॰,
आट् उभ् ईत्—इट्, इट ईटि, आट्,
औभीत्—आटश्च।

(5) आर्ध्नोत्
ऋध् श्नु त्—इतश्च, शप् को बाध कर 'श्नु',
आ ऋध् नोत्—गुण, आट्,
आर्ध् नोत्—आटश्च,
आर्ध्नोत्—अचो रहाभ्यां द्वे, झलां जश् झशि।

(6) औब्जीत्
उब्ज् त्—लुङ्, तिप्, इतश्च,
उब्ज् इस् ई त्—सिच्, ईट्, इट्,
आट् उब्ज् इ ई त्—इट ईटि, आडजादीनाम्,
औब्जीत्—अकः सवर्णे दीर्घः, आटश्च।

चकार का ग्रहण अधिक विधान के लिए है। उस् में 'ओमाङोश्च' इस प्रकार पररूप के बाध के लिए है।

(7) औस्रीयत्
उस्र क्यच् लुङ्—सुप आत्मनः क्यच्, क्यचि च, धातुसंज्ञा,
उस्रीय त्—'उस्यपदान्तात्' पररूप का बाधक प्राप्त हुआ,
औस्रीयत्—आटश्च।

(8) औङ्कारीयत्
औङ्कारीय लुङ्—पूर्ववत् क्यच्, लुङ्,
ओङ्कारीय त्—पूर्ववत् आट् तथा वृद्धि,
औङ्कारीयत्—रूप

(9) औढीयत्
आ ऊढा → औढा,
औढाम् ऐच्छत्—क्यच्, धातुसंज्ञा,
औढीय लुङ्—पूर्ववत्, 'ओमाङोश्च' से पररूप बाधक के प्राप्त होने पर वृद्धि हुई।

(2531) उपसर्गादृति धातौ *91* (74)

'आत्' इत्येव। अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति। आद्गुणापवादः। उपार्च्छति। प्रार्च्छति। उपार्ध्नोति। उपसर्गादिति किम्? खट्वर्च्छति। मालर्च्छति। प्रगता ऋच्छका अस्माद्देशात् प्रर्च्छको देशः। 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञकाः' (जै०प० 99) इति। ऋतीति किम्? उप+इत उपेतः। तपरकरणं किम्? उप+ ॠकारीयति उपर्कारीयति। 'वा सुप्यापिशलेः' (6.1.92) इति विकल्पः स्यात्। उपसर्गग्रहणादेव धातुग्रहणे सिद्धे धातुग्रहणं शाकल्यनिवृत्त्यर्थम्। 'ऋत्यकः' (6.1.128) इति हि शाकल्यस्य प्रकृतिभावः प्राप्नोति।

अर्थ—'आत्' का अनुवर्त्तन है। अवर्णान्त उपसर्ग से पर ऋकारादि धातु परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यह 'आद् गुणः' का अपवाद है।

उदा० (1) उपार्च्छति
उप ऋच्छति—अकार व ऋकार के स्थान पर वृद्धि एकादेश,
उपार् च्छति—'आर्' रपर होकर,
उपार्च्छति—रूप बना।

(2) प्रार्च्छति
प्र ऋच्छति—पूर्ववत्।

(3) उपार्ध्नोति
उप ऋध्नोति—पूर्ववत्।

उपसर्गा०—अवर्णान्त उपसर्ग से पर ऋकारादि धातु रहते वृद्धि एकादेश होता है—

(4) खट्वर्च्छति
खट्वा ऋच्छति—उपसर्ग का अवर्ण नहीं है, वृद्धि एकादेश नहीं हुआ, सामान्य गुण एकादेश, रपर हुआ।

(5) मालर्च्छति
माला ऋच्छति—सामान्य गुण हुआ।
प्रगता ऋच्छका अस्माद् देशात्—अर्च्छको देशः।

क्रिया से युक्त जो 'प्र' आदि हैं, उसके प्रति गति व उपसर्ग-संज्ञक होते हैं।

ऋतीति०—ऋकारादि धातु परे रहते वृद्धि एकादेश होता है—

(6) उपेतः
उप इतः—वृद्धि नहीं हुई, सामान्य गुण हुआ।

तपर०—'ऋति' पद में तपर किया गया है ताकि ह्रस्व ऋकारादि के परे रहते ही वृद्धि एकादेश हो—

(7) उप ॠकारीयति—वृद्धि एकादेश नहीं हुआ, 'वा सुप्यापिशलेः' से विकल्प होता है।

उपसर्गग्र०—चूँकि उपसर्ग संज्ञा क्रिया के योग में होती है। अतः प्रकृत सूत्र में 'उपसर्गात्' इस प्रकार उपसर्ग ग्रहण से ही आक्षेप से धातुग्रहण सम्भव था। पुनः 'धातौ' इस प्रकार पाठ का फल है—शाकल्य के वचन की निवृत्ति। यथा—

उप ऋच्छति—'ऋत्यकः' से प्रकृतिभाव प्राप्त होता है, इसके बाध के लिए सूत्र में 'धातौ' पद का पाठ है।

(2532) वा सुप्यापिशलेः *92* (77)

'आत्' इत्येव, 'उपसर्गादृति धातौ' इति च। सुबन्तावयवे धातावृकारादौ परतोऽवर्णान्तादुपसर्गात् पूर्वपरयोरापिशलेराचार्यस्य मतेन वा वृद्धिरेकादेशो भवति। उपर्षभीयति, उपार्षभीयति। उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति। 'ऋकारलृकारयोः सावर्ण्यविधिः' इति ऋतीति लृकारोऽपि गृह्यते। आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्, वेति ह्युच्यत एव।

अर्थ—'आत्' का अनुवर्त्तन है। संहिता के विषय में अवर्णान्त उपसर्ग से पर सुबन्त अवयव वाले ऋकारादि धातु परे रहते पूर्व और पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश विकल्प से आपिशालि के मत में होता है।

उदा० (1) उपार्षभीयति
उप ऋषभीयति—वृद्धि एकादेश।

(2) उपर्षभीयति
पक्ष में गुण हुआ।

(3) उपाल्कारीयति
उप ऌकारीयति—वृद्धि एकादेश।

(4) उपल्कारीयति
पक्ष में गुण हुआ।

ऋकार व ऌकार की सवर्णविधि होती है। अतः 'ऋति' के द्वारा ऌकार का भी ग्रहण होता है। आपिशलि का उल्लेख सम्मान के लिए है। 'वा' के द्वारा विकल्प कहा जा चुका है।

(2533) औतोऽम्शसोः *93* (285)

ओतोऽमि शसि च परतः पूर्वपरयोराकार आदेशो भवति। गां पश्य, गाः पश्य। द्यां पश्य, द्याः पश्य। द्योशब्दोऽप्योकारान्त एव विद्यते, ततोऽपि परं सर्वनामस्थानं णिदिष्यते, तेन नाप्राप्तायां वृद्धावयमाकारो विधीयमानस्तां बाधते। अमिति द्वितीयैकवचनं गृह्यते; शसा साहचर्यात्, 'सुपि' इति चाधिकारात्। तेनाचिनवम्, असुनवमित्यत्र न भवति।

अर्थ—ओकार से उत्तर अम् तथा शस् विभक्ति के अच् के परे रहते पूर्व व पर के स्थान पर आकार एकादेश होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) गाम्
गो अम्—द्वितीया एकवचन,
ग् आ म्—आकार एकादेश।

(2) गाः
गो शस्—द्वितीया एकवचन,
ग् आ स्—'आ' एकादेश,
गाः—विसर्जनीय।

(3) द्याम्
द्यो अम्—पूर्ववत्,
द्य् आ म्—आकार।

(4) द्याः
द्यो शस्—आकार अन्तादेश।

द्योशब्दो०—'द्यो' शब्द भी ओकारान्त होता है। उससे पर सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् होता है। उसके द्वारा वृद्धि के अप्राप्त न होने पर विधीयमान यह आकार एकादेश उसका बाध करता है।

अमिति० 'अम्' दो विभक्तियाँ हैं—

(क) सुप्—द्वितीया एकवचन,

(ख) तिङ्—उ० पु० एकवचन के मिप् के स्थान पर आदेश-भूत 'अम्'।

यहाँ 'शस्' के साहचर्यवशात् 'अम्' के द्वारा द्वितीया एकवचन 'अम्' का ही ग्रहण होता है। इसके अतिरिक्त 'सुपि' का यहाँ अधिकार भी है। तब निम्नलिखित में आकार अन्तादेश नहीं होता है—

(5) अचिनवम्
चि मिप्—लङ्,
चि श्नु अम्—'अम्' आदेश, शप् को बाध कर 'श्नु',
चि नो अम्—गुण, आकार एकादेश नहीं हुआ,
अचिनवम्—अवादेश, अट्।

(6) असुनवम्
सु श्नु मिप्—पूर्ववत्।

(2534) एङि पररूपम् *94* (78)

'आत्' इत्येव, 'उपसर्गाद्धातौ' इति च। अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशो भवति। 'वृद्धिरेचि' (6.1.88) इत्यस्यापवादः। उपेलयति। प्रेलयति। उपोषति। प्रोखति। केचिद् 'वा सुप्यापिशलेः' इत्यनुवर्त्तयन्ति, तच्च वाक्यभेदेन सुब्धातौ विकल्पं करोति- उपेडकीयति, उपैडकीयति। उपोदनीयति, उपौदनीयति। *शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्* (म० भा०)। शक + अन्धुः = शकन्धुः। कुल + अटा = कुलटा। *सीमन्तः केशेषु* (म० भा०)। सीम्नोऽन्तः सीमन्तः। अन्यत्र सीमान्तः। *एवे चानियोगे पररूपं वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह + एव = इहेव। अद्य + एव = अद्येव। अनियोगे इति किम्? इहैव भव माऽन्यत्र गाः। *ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्* (म० भा०)। स्थूल + ओतुः स्थूलौतुः, स्थूलोतुः। बिम्बौष्ठी, बिम्बोष्ठी। समास इति किम्? तिष्ठ देवदत्तौष्ठं पश्य। *एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्* (म० भा०)। अपां त्वा एमन्, 'अपां त्वेमन्' (मै० सं० 2.7.18.1)। अपां त्वा ओद्मन्, 'अपां त्वोद्मन्' (मै० सं० 2.7.18.1)।

अर्थ—आत्, उपसर्गात्, धातौ—इनका अनुवर्तन है। अवर्णान्त उपसर्ग से पर एङादि धातु परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

उदा० (1) उपेलयति
उप एलयति—वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ,
उपेलयति—पररूप हुआ।

(2) प्रेलयति
प्र एलयति—पूर्ववत्।

(3) उपोषति
उप ओषति—पूर्ववत्।

(4) प्रोषति
प्र ओषति—पूर्ववत्।

केचिद्वा०—कुछ विद्वान् 'वा सुप्यापिशलेः' का अनुवर्तन करते हैं। उनके अनुसार सुबन्त अवयव वाले धातु के परे रहते भी विकल्प से पररूप होता है—

(5) उपेडकीयति
उप एडकीयति—पररूप।

(6) उपैडकीयति
पक्ष में वृद्धि एकादेश हुआ।

(7) उपोदनीयति
पररूप।

(8) उपौदनीयति
वृद्धि एकादेश।

शकन्ध्वा०—शकन्धु आदि शब्दों में पररूप होता है—

(9) शकन्धुः
शक अन्धुः—सवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ,
शकन्धुः—पररूप।

(10) कुलटा
कुल अटा—पूर्ववत्।

(11) सीमन्तः
सीम्नोऽन्तः—सीमन् अन्तः–
सीमन्तः—'केश' अर्थ में ही पररूप होता है।

(12) सीमान्तः
अन्य अर्थ में पररूप नहीं होता है।

एवे चानि०—अनियम अर्थ में 'एव' परे रहते पररूप होता है—

(13) इहेव
इह एव—पररूप हुआ।

(14) अद्येव
अद्य एव—पूर्ववत्।

अनियोग०—अनियम अर्थ में ही यह पररूप होता है—

(15) इहैव
पररूप नहीं हुआ। वृद्धि एकादेश हुआ।

ओत्वोष्ठ०—समास में ओतु तथा ओष्ठ शब्दों के परे रहते पररूप विकल्प से होता है—

(16) स्थूलोतुः
स्थूल ओतुः—पररूप हुआ।

(17) स्थूलौतुः
पक्ष में वृद्धि एकादेश हुआ।

(18) बिम्बोष्ठी
पररूप हुआ।

(19) बिम्बौष्ठी
वृद्धि एकादेश हुआ।

समास०—समास में ही यह पर रूप होता है—

(20) (तिष्ठ), देवदत्तौष्ठं पश्य
यहाँ समास नहीं है। अतः पररूप नहीं हुआ। सामान्य वृद्धि एकादेश हुआ है।

एमन्नादि०—वेद के विषय में 'एमन्' आदि शब्दों के परे रहते पररूप होता है—

(21) (अपां) त्वेमन्
अपां त्वा एमन्—पररूप हुआ।

(22) (अपां) त्वोद्मन्
अपां त्वा ओद्मन्—पररूप हुआ।

(2535) ओमाङोश्च *95* (80)

'आत्' इत्येव। अवर्णान्तादोमि आङि च परतः पूर्व-परयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति। का + ओमित्य-वोचत्, कोमित्यवोचत्। योमित्यवोचत्। आङि खल्वपि—आ + ऊढा ओढा। अद्य + ओढा अद्योढा। कदा + ओढा कदोढा। तदा + ओढा तदोढा। 'वृद्धिरेचि' (6.1.88) इत्यस्यापवादः। इह तु-आ ऋश्यात् अर्श्यात्, अद्य अर्श्यात् अद्यर्श्यादिति 'अकः सवर्णे दीर्घत्वं' (6.1.101) बाधते।

अर्थ—'आत्' का अनुवर्त्तन है। संहिता के विषय में अवर्ण से उत्तर ओम् तथा आङ् के परे रहते पररूप एकादेश होता है।

उदा० (1) कोम्
का ओम्—पररूप एकादेश।

(2) योम्
या ओम्—पूर्ववत्।

(3) अद्योढा
आ ऊढा—ओढा।
अद्य ओढा—पररूप।

(4) कदोढा
कदा ओढा—पूर्ववत्।

(5) तदोढा (पूर्ववत्)।

यह 'वृद्धिरेचि' इसका अपवाद है।

(6) अर्श्यात्
आ ऋश्यात्—गुण एकादेश।

(7) अद्यर्श्यात्
अद्य अर्श्यात्—पररूप हुआ। सवर्णदीर्घ का बाध।

(2536) उस्यपदान्तात् *96* (2214)

'आत्' इत्येव। अवर्णादपदान्तादुसि पूर्वपरयोराद्गुणापवादः पररूपमेकादेशो भवति। भिन्द्या + उस भिन्द्युः। छिन्द्या + उस् छिन्द्युः। अदा + उस् अदुः। अया + उस् अयुः। अपदान्तादिति किम्? का + उस्रा कोस्रा (म० भा०)। का + उषिता कोषिता। आदित्येव—चक्रुः। अबिभयुः।

अर्थ—'आत्' का अनुवर्त्तन है। संहिता के विषय में अपदान्त अवर्ण से उत्तर 'उस्' का अच् परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

उदा० (1) भिन्द्युः
भिद् झि—लिङ्, प्र०पु० बहुवचन,
भि श्नम् द् यास् झि—यासुट् परस्मैपदेषू०, शप् को बाध कर श्नम्,
भिनद् यास् जुस्—झेर्जुस्, श्नसोरल्लोपः, लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य,
झि न् द् या उस्—प्रकृत सूत्र से पररूप।

(2) छिन्द्युः
छिनद् यासुट् जुस्—पूर्ववत्।
छिन्द् या उस्—पूर्ववत्।

(3) अदुः
दा झि—लुङ्, आतः, सिच्, गातिस्था०,
अ दा उस्—आद् गुणः पररूप।

(4) अयुः
अ या उस्—पूर्ववत्।

अपदान्ता०—अपदान्त से ही पर रूप होता है—

(5) कोस्रा
का उस्रा—यहाँ पररूप नहीं हुआ।

(6) कोषिता
का उषिता—पररूप नहीं हुआ।

आदित्येव०—अवर्ण से पर 'उस्' रहते पररूप होता है—

(7) चक्रुः
कृ कृ उस्—लिट्, प्र० पु० बहुवचन, द्वित्व,
चकृ उस्—अभ्यास कार्य,
चक्रुस्—पररूप नहीं हुआ, यण् हुआ।

(8) अबिभयुः
भी भी झि—लङ्, शप् को बाध कर श्लु, द्वित्व, अभ्यास कार्य,
अ बि भे उस्–'सिजभ्यस्तविदिभ्यः' से 'जुस्, 'जुसि च' से गुण, अट्।

(2537) अतो गुणे *97* (191)

'अपदान्तात्' इति वर्त्तते। अकारादपदान्ताद् गुणे परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति। पचन्ति। यजन्ति। अकः सवर्णे दीर्घस्यापवादः (6.1.101)। पचे, यजे–इत्यत्र 'वृद्धिरेचि' (6.1.88) इति वृद्धिः प्राप्नोति। अत इति किम्? यान्ति। वान्ति। गुण इति किम्। अपचे। अयजे। अपदान्तादित्येव–दण्डाग्रम्। यूपाग्रम्।

अर्थ—'अपदान्तात्' का अनुवर्त्तन है। अपदान्त अत् से गुण परे रहते दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) पचन्ति
पच् झि—लट्,
पच् शप् अन्ति—कर्त्तरि शप्, झोऽन्तः
पचन्ति—'अकः सवर्णे दीर्घः' को बाध कर पररूप।

(2) यजन्ति
यज् झि—पूर्ववत्।

(3) पचे
पच् इट्—लट्, उ० पु० एकवचन,
पच् शप् इ—शप्,
पच् अ ए—टित आत्मनेपदानां० 'वृद्धिरेचि' को बाधकर परस्प।

(4) यजे
यज् इट्—पूर्ववत्।

अत इति०—ह्रस्व अकार से उत्तर गुणसंज्ञक वर्ण परे रहते पररूप होता है—

(5) यान्ति
या झि—झोऽन्तः, शप्, शप् का लुक्,
या अन्ति—सवर्णदीर्घ।

(6) वान्ति (पूर्ववत्)।

गुण इति०—गुण वर्ण परे रहते ही पररूप होता है—

(7) अपचे
पच् शप् इट्—लङ्, उ० पु० एकवचन, शप्,
अ पच् अ इ—पररूप नहीं हुआ।

(8) अयजे (पूर्ववत्)।

अपदान्ता०—अपदान्त अत् से उत्तर गुणसंज्ञक वर्ण रहते पररूप होता है—

(9) दण्डाऽग्रम्
दण्ड अग्रम्—पररूप नहीं हुआ, सवर्णदीर्घ हुआ।

(10) यूपाऽग्रम्
यूप अग्रम्—पूर्ववत्।

(2538) अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ *98* (81)

अव्यक्तम् = अपरिस्फुटवर्णम्, तदनुकरणं परिस्फुटवर्णमेव केनचित्सादृश्येन तदव्यक्तमनुकरोति तस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति। पटत् इति पटिति। घटत् इति घटिति। झटत् इति झटिति। छमत् इति छमिति। अव्यक्तानुकरणस्येति किम्? जगत् इति जगदिति। अत इति किम्? मरट् इति मरडिति। इताविति किम्? पटत् अत्र पटदत्र। *अनेकाच इति वक्तव्यम्* (म० भा०)। इह मा भूत्–स्रत् इति स्रदिति। कथं घटदिति गम्भीरमम्बुदैर्नदितमिति? दकारान्तमेतदनुकरणं द्रष्टव्यम्।

अर्थ—अव्यक्त = जो वर्ण स्पष्ट न हो। संहिता के विषय में अव्यक्त के अनुकरण का जो 'अत्' शब्द, उससे उत्तर 'इति' शब्द परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

उदा० (1) पटिति
पटत् इति—'अत्' को पररूप हुआ।

(2) झटिति
झटत् इति—पूर्ववत्।

(3) छमिति
छमत् इति—पूर्ववत्।

अव्यक्तानु०—अव्यक्त के अनुकरण का जो 'अत्' शब्द, उससे उत्तर 'इति' शब्द, तब पररूप होता है—

(4) जगदिति
जगत् इति—पररूप नहीं हुआ।

अत इति०—अत् शब्द पर 'इति' हो तो पररूप होता है—

(5) मरडिति
मरट् इति—पररूप नहीं हुआ।

इताविति०—इति शब्द परे रहते पररूप होता है—

(6) पटदत्र
पटत् अत्र—पररूप नहीं हुआ।

अनेकाच०—अनेक अच् वाले अव्यक्त अनुकरण का पररूप होता है। अतः यहाँ नहीं होता—

(7) स्रदिति
स्रत् इति—यहाँ नहीं हुआ।

(8) घटदिति
घटद् इति—यह दकारान्त अनुकरण है, अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा पररूप नहीं हुआ।

(2539) नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा *99* (82)

अव्यक्तानुकरणस्याम्रेडितस्य योऽच्छब्द इतौ तस्य पररूपं न भवति, तस्य योऽन्त्यस्तकारस्तस्य वा भवति। पटत्पटदिति, पटत्पटेति करोति। 'नित्यवीप्सयोः' (8.1.4) इति द्विर्वचनम्। यदा तु समुदायानुकरणं तदा भवत्येव पूर्वेण पररूपम्–पटत्पटेति करोति।

अर्थ—आम्रेडितसंज्ञक अव्यक्तानुकरण का जो 'अत्' शब्द, उससे पर 'इति' शब्द के रहते पररूप एकादेश नहीं होता है, परन्तु उस आम्रेडित का जो अन्त्य तकार, उसे विकल्प से पररूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) पटत् पटदिति

पटत् पटेति करोति—'तस्य परमाम्रेडितम्' से द्वितीय 'पटत्' की आम्रेडित संज्ञा, 'त्' को पररूप, 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व हुआ है।

जब समुदाय का अनुकरण होता है, तब पूर्व सूत्र के द्वारा पररूप होता ही है।

(2540) नित्यमाम्रेडिते डाचि[1] *100*

'अव्यक्तानुकरणस्य', 'अतः' 'अन्त्यस्य' इति चानुवर्त्तते। डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्पूर्वस्याव्यक्तानुकरणस्याच्छब्दस्य योऽन्त्यस्तकारस्तस्य पूर्वस्य परस्य चाद्यस्य वर्णस्य नित्यं पररूपमेकादेशो भवति। पटपटाकरोति। दमदमाकरोति। पटदित्यस्माद् 'अव्यक्तानुकरणाद्' इति डाचि विहिते 'डाचि बहुलम्' (वा० 691) इति द्विर्वचनम्, तच्च टिलोपात् पूर्वमेवेष्यते।

अर्थ—अव्यक्तानुकरणस्यातः, अन्त्यस्य—इनका अनुवर्त्तन है। 'डाच्' है परे जिससे, ऐसे आम्रेडितसंज्ञक शब्द के परे रहते पूर्व जो अव्यक्तानुकरण, उसके 'अत्' शब्द का जो अन्त्य तकार वर्ण, उसके तथा पर के आदि वर्ण के स्थान पर एकादेश पररूप होता है।

उदा० (1) पटपटाकरोति

पटत् पटत् करोति—'डाच्' हुआ,

पट पटत् डाच्—पूर्व 'पटत्' के तकार तथा पर 'पटत्' के पकार के स्थान पर 'प' पररूप एकादेश हुआ।

(2) दमदमाकरोति

दमत् दमत् डाच्—पूर्ववत्।

'डाचि बहुलम्' से द्वित्व होता है। टिलोप से पूर्व ही होता है।

(2541) अकः सवर्णे दीर्घः *101* (85)

अकः सवर्णेऽचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घ एकादेशो भवति। दण्डाग्रम्। दधीन्द्रः। मधूदके। होतॄश्यः। अकः इति किम्? अग्नये। सवर्ण इति किम्? दध्यत्र। अचीत्येव—कुमारी शेते। 'नाज्झलौ' (1.1.10) इत्यत्र यदजिति प्रत्याहारग्रहणं तत्र ग्रहणकशास्त्रस्यानभिनिर्वृत्तत्वात्सवर्णा न गृह्यन्त इति सवर्णत्वमीकारशकारयोरप्रतिषिद्धम्। *सवर्णदीर्घत्वे ऋति ऋ वा वचनम्* (म० भा०)। ऋति सवर्णे परभूते तत्र ऋ वा भवतीति वक्तव्यम्। होतृ + ऋकारः होतृकारः। यदा न ऋ, तदा दीर्घ एव होतॄकारः। *लृति ऌ वा वचनम्* (म० भा०)। लृति सवर्णे परतो ऌ वा भवतीति वक्तव्यम्। होतृ + लृकारः। होतॣकारः। होतॄकारः। ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञाविधिरुक्तः। दीर्घपक्षे तु समुदायान्तरतमस्य लृवर्णस्य दीर्घस्याभावात् ॠकारः क्रियते।

अर्थ—अक् से उत्तर सवर्ण अच् परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर दीर्घ एकादेश होता है, संहिता के विषय में।

अक् में पाँच वर्ण हैं—अ, इ, उ, ऋ, ऌ। अक् अविधीयमान है। अतः अपने सवर्णों का भी ग्राहक है।

आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ओ, ऐ तथा औ—ये आठ वर्ण दीर्घसंज्ञक हैं, परन्तु 'स्थानेऽन्तरतमः' से वही दीर्घ आदेश होता है, जो पूर्व व पर दोनों स्थानियों के सदृश होता है।

उदा० (1) दण्डाऽग्रम्

दण्ड अग्रम्—अकार व अकार के स्थान पर आकार हुआ।

(2) दधीन्द्रः

दधि इन्द्रः—दीर्घ ईकार हुआ।

(3) मधूदके

मधु उदके—दीर्घ ऊकार हुआ।

(4) होतॄश्यः

होतृ ऋश्यः—दीर्घ ॠकार हुआ।

अक इति०—अक् वर्ण से उत्तर सवर्ण अक् परे रहते ही दीर्घ एकादेश होता है—

(5) अग्नये

अग्नि ङे—लशक्वतद्धिते, तस्य लोपः,

अग्ने ए—ङिति ह्रस्वस्य, सवर्णदीर्घ नहीं हुआ,

अग्नय् ए—अयादेश।

सवर्ण०—सवर्ण अक् परे रहते ही सवर्णदीर्घ होता है—

(6) दध्यत्र

1. भट्टोजिदीक्षितेन सूत्रमिदं वार्त्तिकत्वेन पठितम्। द्र०—नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्—वै०सि०कौ०, सू. २१२८ (वा० 3638)

दधि अत्र—सवर्ण अक् परे नहीं है, अतः दीर्घ एकादेश नहीं हुआ,

दध्य् अत्र—यणादेश हुआ।

अचीत्ये०—यद्यपि इकार व शकार सवर्ण है, तथापि अच् का अनुवर्त्तन होने से 'कुमारी शेते' यहाँ सवर्णदीर्घ नहीं होता है। 'नाज्झलौ' से जो 'अच्' यह प्रत्याहार ग्रहण है, वहाँ 'अणुदित् सवर्णस्य०' इस ग्रहणक शास्त्र के अभिनिर्वृत्त होने से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। अतः ईकार व शकार की सवर्णता का निषेध किया गया है।

नाज्झलौ—'नाज्झलौ' यहाँ जो अच् प्रत्याहार का ग्रहण है, वहाँ ग्रहणकशास्त्र के अभिनिवृत्त होने से सवर्णों का ग्रहण नहीं होता है। अतः इकार व शकार की सवर्णता का निषेध किया गया है।

सवर्ण०—सवर्णदीर्घ करने में ह्रस्व ऋकार परे रहते विकल्प से ॠ होता है। अर्थात् सवर्ण ह्रस्व ऋकार परभूत हो तो वहाँ विकल्प से ॠ होता है। यथा—

होतृ ऋकारः होतॄकारः।

जब ॠ नहीं होता है तो दीर्घ ही होता है—होतॄकारः।

लृति—लृकार परे रहते विकल्प से ल्लृ होता है। अर्थात् सवर्ण लृकार परे रहते विकल्प से ल्लृ होता है। यथा—

होतृ लृकारः होतृल्लृकारः होतॄकारः।

ऋकार तथा लृकार की सवर्ण संज्ञा की विधि कही गई है। दीर्घपक्ष में समुदाय के अन्तरतम स्वरूप दीर्घ लृवर्ण का अभाव होने से ऋकार ही किया जाता है।

(2542) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः *102* (164)

'अकः' इति 'दीर्घः' इति वर्तते। प्रथमाशब्दो विभक्तिविशेषे रूढः, तत्साहचर्यात् द्वितीयापि प्रथमेत्युक्ता। तस्यां प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि अकः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो भवति। अग्नी। वायू। वृक्षाः। प्लक्षाः। वृक्षान्। प्लक्षान्। 'अतो गुणे' (6.1.97) इति यदकारे पररूपं तदकः सवर्णे दीर्घत्वमेव (6.1.101) बाधते, न तु पूर्वसवर्णदीर्घत्वम्, 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' (व्या०प० 9) इति। अचीत्येव। वृक्षः, प्लक्षः। अक इत्येव-नावौ। पूर्वसवर्णग्रहणं किम्? अग्नी इत्यत्र पक्षे परसवर्णो मा भूत्। दीर्घग्रहणं किम्? त्रिमात्रे स्थानिनि त्रिमात्रादेशनिवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—अकः, दीर्घः—का अनुवर्त्तन है। विभक्तिविशेष अर्थ में 'प्रथमा' शब्द रूढ है। उसके साहचर्य से 'प्रथमयोः' के द्वारा द्वितीया का भी ग्रहण होता है। अक् वर्ण से प्रथमा और द्वितीया के अच् के परे रहते पूर्व और पर दोनों के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) अग्नी
अग्नि औ—'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्त हुआ,
अग्नी—पूर्वसवर्णदीर्घ हुआ।

इसी प्रकार 'हरी'।

(2) वायू
वायु औ—यण् प्राप्त हुआ,
वायू—पूर्वसवर्णदीर्घ।

(3) वृक्षाः
वृक्ष जस्—'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ प्राप्त, अतो गुणे,
वृक्षास्—पूर्वसवर्णदीर्घ हुआ।

(4) प्लक्षाः (पूर्ववत्)।
(5) वृक्षान्
वृक्ष शस्—लशक्वतद्धिते,
वृक्षास्—पूर्वसवर्णदीर्घ,
वृक्षान्—तस्माच्छसो नः पुंसि, अट्कुप्वाङ्नुम्०, न पदान्तस्य।

(6) प्लक्षान् (पूर्ववत्)।

'अतो गुणे' से जो अकार परे रहते पररूप होता है, वह 'अकः सवर्णे दीर्घः' का बाध करता है तथा पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध नहीं करता। पूर्ववर्ती अपवाद पश्चाद्वर्ती विधियों का बाध करते हैं।

अचीत्येव०—अच् परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ होता है—
(7) वृक्षः
वृक्ष सु—पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं हुआ।
(8) प्लक्षः (पूर्ववत्)।

अक इत्येव०—अक् वर्ण के स्थान पर ही पूर्वसवर्णदीर्घ होता है—
(9) नावौ
नौ औ—पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं हुआ, आव् आदेश हुआ।

पूर्वसवर्ण०—पूर्वसवर्ण दीर्घ ही होता है, परसवर्ण नहीं—

(10) अग्नी

अग्नि औ—यदि परसवर्ण कर दिया जाता है तो 'अग्नौ' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

दीर्घग्रहणं०—पूर्वसवर्ण दीर्घादेश होता है; तब स्थानी के त्रिमात्र होने पर आदेश त्रिमात्र नहीं होता।

(2543) तस्माच्छसो नः पुंसि *103* (196)

तस्मात्पूर्वसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसोऽवयवस्य सकारस्य पुंसि नकारादेशो भवति। वृक्षान्। अग्नीन्। वायून्। कर्तॄन्। हर्तॄन्। षण्डकान्। षण्ढकान्। स्थूरकान्। अररकान्पश्य। सर्व एते पुंल्लिङ्गविशिष्टं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति। इह तु चञ्चेव चञ्चा, 'लुम्मनुष्ये' (5.3.58) इति कनो लुपि कृते 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (1.2.5) इति पुंसोऽपि स्त्रीलिङ्गता, तेन नत्वं न भवति—चञ्चाः पश्य, वध्रिकाः पश्येति। तस्मादिति किम्? एतांश्चरतो गाः पश्य। शस इति किम्? वृक्षाः। प्लक्षाः। पुंसीति किम्? धेनूः। बह्वीः। कुमारीः।

अर्थ—(पूर्व सूत्र से प्राप्त) पूर्वसवर्णदीर्घ से पर शस् के अवयव सकार के स्थान पर 'न्' होता है, पुँल्लिग में तथा संहिता के विषय में।

उदा० (1) वृक्षान्

वृक्ष शस्—लशक्वतद्धिते, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः,

वृक्षास्—'न्' हुआ।

(2) अग्नीन्

अग्नि शस् → अग्नीस्—सवर्ण दीर्घ,

अग्नीन्—पूर्ववत्।

(3) वायून्

वायु शस् → वायू स्—दीर्घ,

वायून्—पूर्ववत्।

(4) कर्तॄन्

कर्तृ शस् → कर्तॄस्—दीर्घ,

कर्तॄन्—पूर्ववत्।

(5) हर्तॄन् (पूर्ववत्)।

(6) षण्डकान् (पूर्ववत्)।

(7) स्थूरान् (पूर्ववत्)।

(8) अरकान् (पूर्ववत्)।

ये सभी पुँल्लिगविशिष्ट स्वार्थ का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ तो-चञ्चेव-चञ्चा। 'लुम्मनुष्ये' के द्वारा 'कन्' प्रत्यय का लोप कर देने पर 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' से पुँल्लिग के स्थान पर भी स्त्रीलिंगता होती है। तब 'न्' नहीं होता। यथा—

चञ्चाः पश्य, वध्रिकाः पश्य—यहाँ नत्व नहीं हुआ।

तस्मादि०—कृत पूर्वसवर्णदीर्घ से पर 'शस्' के स्थान पर नकार होता है—

(9) गाः

गो शस्—'औतोऽम्शसोः' से आकार एकादेश,

गास्—नत्व नहीं हुआ।

शस इति०—शस् के अवयव 'स्' को 'न्' होता है—

(10) वृक्षाः

वृक्ष जस्—चुटू, पूर्वसवर्णदीर्घ,

वृक्षास्—नत्व नहीं हुआ।

(11) प्लक्षाः

पूर्ववत् नत्व नहीं हुआ।

पुंसीति०—पुँल्लिग में ही नत्व होता है—

(12) धेनूः

धेनु शस् → धेनूस्—पूर्वसवर्णदीर्घ,

धेनूः—पुँल्लिग नहीं है, नत्व नहीं हुआ।

(13) बह्वीः

पूर्ववत् नत्व नहीं हुआ।

(14) कुमारीः (पूर्ववत्)।

(2544) नादिचि *104* (165)

अवर्णादिचि पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति। वृक्षौ। प्लक्षौ। खट्वे। कुण्डे। आदिति किम्? अग्नी। इचीति किम्? वृक्षाः।

अर्थ—अवर्ण से इच् वर्ण परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) वृक्षौ

वृक्ष औ—'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ, निषेध हुआ,

वृक्षौ—वृद्धिरेचि।

(2) प्लक्षौ (पूर्ववत्)।

(3) खट्वे

खट्वा औ—'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ, 'नादिचि' से निषेध,

खट्वा शी—शीभाव, लशक्वतद्धिते,

खट्वा ई—आद् गुणः।

(4) कुण्डे

कुण्ड औ—पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध,

आदिति०—अवर्ण से पर इच् परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होता है—

(5) अग्नी

अग्नि औ—पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध नहीं हुआ।

इचीति०—इच् वर्ण परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होता है—

(6) वृक्षाः

वृक्ष जस्—निषेध नहीं हुआ,

वृक्षास्—विसर्जनीयः।

(2545) दीर्घाज्जसि च *105* (239)

दीर्घाज्जसि इचि च परतः पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति। कुमार्यौ। कुमार्यः। ब्रह्मबन्ध्वौ। ब्रह्मबन्ध्वः।

अर्थ—संहिता के विषय में दीर्घ वर्ण से उत्तर इच् वर्ण और जस् प्रत्यय के परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होता है।

उदा० (1) कुमार्यौ

कुमारी औ—'इको यणचि' को बाध कर 'प्रथमयोः०' का निषेध हुआ,

कुमार् य् औ—यण् हुआ।

(2) कुमार्यः

कुमारी जस्—चुटू, पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध,

कुमार् य् अस्—यण्।

(3) ब्रह्मबन्ध्वौ (पूर्ववत्)।

(4) कुमारी शेते

नाज्झ०—'नाज्झलौ' यहाँ 'अच्' के द्वारा जो प्रत्याहार का ग्रहण है, वहाँ ग्रहणक शास्त्र की अभिनिवृत्ति होने से सवर्णों का ग्रहण नहीं होता है। इस प्रकार ईकार व शकार की सवर्णता का निषेध नहीं होता है।

सवर्णदीर्घ०—सवर्णदीर्घ होने में ऋकार परे रहते विकल्प से 'ॠ' होता है—

(5) होतॄकारः

होतृ ऋकारः—सवर्णदीर्घ हुआ।

(6) होत्रृकारः

'ऋ' हुआ।

लृति०—सवर्णदीर्घ होने में लृकार परे रहते विकल्प से 'ल्लृ' होता है—

(7) होत् ल्लृकारः

होतृ लृकारः—ल्लृ हुआ।

(8) होतॄकारः

ल्लृ अभाव पक्ष दीर्घ ॠकार हुआ।

ऋकार व लृकार की सवर्णविधि कही गई है। दीर्घपक्ष में समुदाय के अन्तरतम आदेश दीर्घ लृकार का अभाव होने से दीर्घ ॠकार ही किया जाता है।

(9) ब्रह्मबन्ध्वः

पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध।

(2546) वा छन्दसि *106* (3515)

दीर्घाच्छन्दसि विषये जसि च इचि च परतो वा पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति। मारुतीश्चतस्रः (काठ०सं० 11.10)। पिण्डीः। मारुत्यश्चतस्रः (ऋ०सर्वा०)। पिण्ड्यः। वाराही (मै०सं० 4.4.5)। उपानही। वाराह्यौ। उपानह्यौ।

अर्थ—संहिता के विषय में दीर्घ वर्ण से उत्तर इच् वर्ण और जस् प्रत्यय परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश का विकल्प से निषेध होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) मारुतीः (काठ०सं० 11.10)

मारुती जस्—पूर्वसवर्णदीर्घ।

(2) मारुत्यः

पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हुआ।

(3) पिण्ड्यः

पिण्डी जस्—पूर्ववत्।

(4) वाराही (मै०सं० 4.4.5)

पूर्ववत्।

(5) उपानही (पूर्ववत्)।

(6) वाराह्यौ

वाराही औ।

(7) उपानह्यौ

उपानही औ।

(2547) अमि पूर्वः *107* (194)

'अकः' इत्येव। अमि परतोऽकः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति। वृक्षम्। प्लक्षम्। अग्निम्। वायुम्। पूर्वग्रहणं किम्? पूर्व एव यथा स्यात्, पूर्वसवर्णोऽन्तरतमो मा भूदिति कुमारीमित्यत्र हि त्रिमात्रः स्यात्। 'वा छन्दसि' (6.1.106) इत्येव-शमीं च (काठ०सं०36.6) शम्यं च। गौरीं च गौर्यं च (ऋ० 10.126.8)।

अर्थ—'अकः' का अनुवर्तन है। अक् वर्ण से उत्तर अम् प्रत्यय के अच् के परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है।

उदा० (1) वृक्षम्

वृक्ष अम्—'अकः सवर्णे दीर्घः' को बाध कर 'अतो गुणे' को बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इसे बाध कर,

वृक्षम्—पूर्वरूप एकादेश।

(2) प्लक्षम् (पूर्ववत्)।

(3) अग्निम्

अग्नि अम्—पूर्ववत्।

(4) वायुम्

वायु अम्—पूर्ववत्।

पूर्व०—पूर्वरूप ही होता है तथा पूर्वसवर्ण अन्तरतम नहीं होता है—

(5) कुमारीम्

कुमारी अम्—ईकार द्विमात्र है, अकार एकमात्र है। यहाँ पूर्वसवर्ण-सदृशतम त्रिमात्र नहीं होता है।

(6) शमीम्

शमी अम्—वेद में विकल्प से पूर्वरूप होता है।

(7) शम्यम्

यहाँ पक्ष में पूर्वरूप नहीं हुआ।

(8) गौरीम्

पूर्वरूप हुआ।

(9) गौर्यम्

पूर्वरूप नहीं हुआ।

(2548) सम्प्रसारणाच्च *108* (330)

'पूर्वः' इत्येव। सम्प्रसारणादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति। यजि-इष्टम्। वपि-उप्तम्। ग्रहि-गृहीतम्। सम्प्रसारणविधानसामर्थ्याद्विगृहीतस्य श्रवणे प्राप्ते पूर्वत्वं विधीयते। 'वा छन्दसि' (6.1.106) इत्येव-'मित्रो नो अत्र वरुणौ यज्यमानः' (अथ० 18.1.39)। परपूर्वत्वविधाने सत्यर्थवत्सम्प्रसारणविधानमिति इष्ट इत्येवमादिषु पूर्वत्वाभावे यणादेशो भवत्येव। अन्तरङ्गे चाचि कृतार्थं वचनमिति बाह्ये पश्चात्सन्निपतिते पूर्वत्वं न भवति-शकह्वौ, शकह्वर्थम्।

अर्थ—'पूर्व' का अनुवर्तन है। सम्प्रसारणसंज्ञक वर्ण से उत्तर अच् के परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है।

उदा० (1) इष्टम्

यज् क्त—वचिस्वपियजा०,

इ अज् त—पूर्वरूप,

इष् त—ष्टुत्व, सु।

(2) उप्तम्

वप् क्त—सम्प्रसारण,

उप् त—पूर्वरूप,

उप्त—सु।

(3) गृहीतम्

ग्रह् क्त—ग्रहिज्यावयि०,

ग् ऋ अ ह् इट् त—ग्रहोऽलिटि०,

गृह् इ त सु—विभक्तिकार्य।

सम्प्रसारण-विधानसामर्थ्य से विगृहीत का श्रवण प्राप्त होने पर पूर्वरूप का विधान किया जाता है। वेद में विकल्प से होता है।

परपूर्व—पर और पूर्व का विधान होने पर सम्प्रसारण विधान अर्थवान् होता है—ऐसा इष्ट होने पर इस प्रकार के स्थलों पर पूर्वत्व का अभाव होने पर यणादेश होता ही है। अच् के अन्तरङ्ग होने से तथा बाह्य के पश्चात् सन्निपतित होने से पूर्वत्व नहीं होता है। यथा—शकह्वौ, शक ह्वर्थम्।

(2549) एङः पदान्तादति *109* (86)

एङ् यः पदान्तस्तस्मादति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति। अग्नेऽत्र। वायोऽत्र। अयवादेशयोरयमपवादः। एङ इति किम्? दध्यत्र। मध्वत्र। पदान्तादिति किम्? चयनम्। लवनम्। अतीति किमं? वायो इति। भानो इति। वायविति। भानविति। तपरकरणं किम्? वायवायाहि।

अर्थ—पदान्त एङ् से पर अत् परे रहते पूर्व व पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) अग्नेऽत्र
अग्नि सु—सम्बुद्धि में, सुप्तिङन्तं पदम्,
अग्ने अत्र—पूर्वरूप।

(2) वायोऽत्र
वायो अत्र—पूर्ववत्।
वायोऽत्र—पूर्वरूप।

यह अयादेश व अवादेश का अपवाद है।

एङ इति०—पदान्त एङ् से पर अत् को पूर्वरूप होता है—

(3) दध्यत्र
दधि अत्र—एङ् नहीं है, पूर्वरूप नहीं हुआ,
दध् य् अत्र—यण्।

(4) मध्वत्र
मधु अत्र—पूर्ववत्।

पदान्ता०—पदान्त एङ् से पर अत् को पूर्वरूप होता है—

(5) चयनम्
चि ल्युट्—सार्वधातुकार्धधातु०,
चे अन सु—अय् आदेश।

(6) लवनम्
लू ल्युट्—अन आदेश, गुण,
लो अन—अव् आदेश।

अतीति०—अत् परे रहते पूर्वरूप होता है—

(7) वायो इति
'वायो' पद है, पदान्त में एङ् (ओ) है; परन्तु 'अत्' परे नहीं है। अतः पूर्वरूप नहीं हुआ।

(8) भानो इति (पूर्ववत्)।

(9) वायविति
पूर्वरूप नहीं हुआ।

(10) भानविति
पूर्वरूप नहीं हुआ।

तपर०—ह्रस्व अकार के परे रहते ही पूर्वरूप होता है—

(11) वायवायाहि
वायो आयाहि—पूर्वरूप नहीं हुआ।
वायव् आयाहि—अव् आदेश।

(2550) ङसिङसोश्च *110* (246)

'एङ' इति वर्त्तते, 'अति' इति च। एङ उत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति। अग्नेरागच्छति। अग्नेः स्वम्। वायोरागच्छति। वायोः स्वम्। अपदान्तार्थ आरम्भः।

अर्थ—एङ् से उत्तर जो ङसि व ङस् का आकार, उसके परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है। एङः तथा अति—इनका अनुवर्त्तन है।

उदा० (1) अग्नेः
अग्नि ङसि—घेर्ङिति, लशक्वतद्धिते,
अग्ने अस्—गुण,
अग्नेस्—पूर्वरूप।

(2) वायोः
वायु ङस्—गुण,
वायोस्—पूर्वरूप।

यह पदान्त से अतिरिक्त के लिए विधान है।

(2551) ऋत उत् *111* (279)

'ङसिङसोः' इत्येव। ऋकारान्तादुत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोरुकार एकादेशो भवति। होतुरागच्छति। होतुः स्वम्। द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने यः स लभतेऽन्यतरव्यपदेशमिति 'उरण् रपरः' (1.1.51) इति रपरत्वमत्र कृत्वा 'रात्सस्य' (8.2.24) इति सलोपः कर्तव्यः।

अर्थ—'ङसिङसोः' का अनुवर्त्तन है। ह्रस्व ऋकार से उत्तर ङसि व ङस् का जो ह्रस्व अकार, उसके परे रहते पूर्व व पर दोनों के स्थान पर एकादेश 'उत्' होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) होतुः
होतृ ङसि/ङस् → होतुर् स्—उरण् रपरः,
होतुर्—संयोगान्तस्य लोपः,
होतुः—विसर्जनीय।

षष्ठी के द्वारा निर्दिष्ट (पूर्वस्य, परस्य) दोनों के स्थान पर जो ह्रस्व उकार एकादेश होता है, वह 'उरण् रपरः' से रपर होता है। तब 'रात्सस्य' से सकार का लोप होता है।

विशेष—'ऋतः' में तपर करण दीर्घ की निवृत्ति के लिए है। द्र०—उन्त्योर्ग्रः। यहाँ 'गॄ ङस्' इस दशा में दीर्घ ॠकार से पर ह्रस्व अकार परे रहते उत् एकादेश नहीं हुआ।

इसी प्रकार 'प्रेव्रोऽयज्ञे' में भी जानना चाहिए।

यद्यपि विधीयमान अण् (उ) अपने सवर्ण का ग्राहक नहीं होता, तदपि 'उत्' में तपरकरण से सूचित होता है कि भाव्यमानोऽप्यण् क्वचित् सवर्णान् गृह्णाति अर्थात् विधीयमान भी अण् कहीं-कहीं सवर्णों का ग्राहक होता है। द्र०—काशि० (पदम० 6.1.111)

यहाँ प्रमाण यह है कि यवलपरे यवला वा (वा०) के द्वारा अनुनासिक यकारादि का विधान होता है। इसी प्रकार अदसोऽसेर्दादुदो मः में उकार से ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों का ग्रहण किया जाता रहा है।

(2552) ख्यत्यात् परस्य *112* (255)

'ङसिङसोः' इति वर्त्तते, 'उत्' इति च। ख्यत्यादिति खिशब्दखीशब्दयोस्तिशब्दतीशब्दयोश्च कृतयणादेशयोरिदं ग्रहणम्, ताभ्यां परस्य ङसिङसोरत उकारादेशो भवति। सख्युरागच्छति। सख्युः स्वम्। पत्युरागच्छति। पत्युः स्वम्। खीशब्दस्योदाहरणम्—सह खेन वर्त्तत इति सखस्तमिच्छतीति क्यच्—सखीयति, सखीयतेः क्विप् सखी, तस्य ङसिङसोः—सख्युरिति। तीशब्दस्यापि—लूनमिच्छति लूनीयति, लूनीयतेः क्विपि लुप्ते लून्युरागच्छति। लून्युः स्वम्। निष्ठानत्वम् (8.2.44) 'पूर्वत्रासिद्धम्' (8.2.1) इत्यसिद्धम्। विकृतनिर्देशादेवेह न भवति—अतिसखेरागच्छति, सेनापतेरागच्छतीति। सखिशब्दस्य केवलस्य घिसंज्ञा प्रतिषिध्यते (1.4.7), न तदन्तस्य।

अर्थ—ङसिङसोः, उत्—इनका अनुवर्त्तन है। जिनके स्थान पर यणादेश किया गया है, ऐसे खि शब्द, ति शब्द, खी शब्द तथा ती शब्द—इनसे उत्तर जो ङसि व ङस् का ह्रस्व अकार, उसके परे रहते उस ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है; संहिता के विषय में।

उदा० (1) सख्युः
सखि ङसि/ङस्—लशक्वतद्धिते,
सख्य् अस्—यण् हुआ,
सख्युस्—ह्रस्व उकार।

(2) पत्युः
पति ङसि/ङस्—अनुबन्धलोप,
पत्य् अस्—यण् हुआ,
पत्युस्—ह्रस्व उकार।

खीशब्द०—खेन सह वर्त्तते–सखः।

सखम् इच्छति → सखीयति—'क्यच्' हुआ,
सखीय क्विप्—अकारलोप, यकारलोप,
सखीः—सु होकर रूप बनता है।

सखी ङसि/ङस्—पूर्ववत्,
सख्युस्—उकार आदेश।

इसी प्रकार—लूनम् इच्छति—लूनीयति।
लूनीय क्विप्–सर्वापहार लोप, अकारलोप, यकारलोप,
लूनीः—सु।
लूनी ङसि/ङस्—पूर्ववत् उकार आदेश,
लुन्युस्—विसर्जनीय।

यहाँ निष्ठा के स्थान पर होने वाला नत्व 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध है। अतः 'लूनी' को 'लूती' ऐसा जानना चाहिए।

विकृत०—'ख्यत्यात्' इस प्रकार विकृत निर्देश के कारण निम्नलिखित में नहीं होता है—

(3) अतिसखेः

अतिसखि ङसि/ङस्—'शेषो घ्यसखि' के द्वारा केवल 'सखि' शब्द का निषेध किया गया है, तदन्त का नहीं; अतः घि संज्ञा हो गई, 'घेर्ङिति' से गुण हुआ,
उकार आदेश नहीं हुआ,
अतिसखे अस्—ङसिङसोश्च,
अतिसखे स्—विसर्जनीय।

(4) सेनापतेः
सेनापति ङसि/ङस्—पूर्ववत् 'उत्' आदेश नहीं हुआ,
सेनापते अस्—पूर्वरूप हुआ।

विशेष—'ख्यत्यात्' इस पद में 'ख्य' तथा 'त्य' अकारयुक्त निर्देश हैं। यह अकार उच्चारणार्थ है, अन्यथा 'सङ्ख्य' व 'अपत्य' आदि शब्दों में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होकर 'सख्युर्यः'

तथा 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इत्यादि आचार्यवचनों में अनिष्ट रूप प्राप्त हो जायेंगे।

(2553) अतो रोरप्लुतादप्लुते *113* (163)

'अति' इति, 'उत्' इति वर्त्तते। अकारादप्लुतादुत्तरस्य रोः रेफस्य उकारानुबन्धविशिष्टस्य अकारेऽप्लुते परत उकारादेशो भवति। वृक्षोऽत्र। प्लक्षोऽत्र। 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (8.3.17) इत्यस्मिन्प्राप्ते उत्वं विधीयते। रुत्वस्याश्रयत्वात् 'पूर्वत्रासिद्धम्' (8.2.1) इत्यसिद्धं न भवति। अत इति किम्? अग्निरत्र। तपरकरणं किम्? वृक्षा अत्र। सानुबन्धग्रहणं किम्? स्वरत्र। प्रातरत्र। अतीत्येव-वृक्ष इह। तस्यापि तपरत्वादत्र न भवति-वृक्ष आश्रितः। अप्लुतादिति किम्? सुस्रोत्रा3 अत्र न्वसि। अप्लुत इति किम्? तिष्ठतु पय आ3श्विन्। अत्र प्लुतस्यासिद्धत्वादुत्वं प्राप्नोतीति 'अप्लुतादप्लुते' इत्युच्यते।

अर्थ—अति, उत्—इनका अनुवर्त्तन है। संहिता के विषय में अप्लुत ह्रस्व अकार से उत्तर जो अप्लुत ह्रस्व अकार, उसके परे रहते रु के रेफ के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है।

उदा० (1) वृक्षोऽत्र
वृक्षस् अत्र → वृक्ष रु अत्र—ससजुषो रुः,
वृक्ष उ अत्र—भोभगोअघो० को बाध कर उकार, रुत्व के आश्रय से 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' से असिद्ध भी नहीं होता है, 'ससजुषो रुः' (8.2.66) 'अतो रोरप्लुताद०' (6.1.109) के प्रति असिद्ध है।
वृक्षो अत्र—आद् गुणः, एङः पदान्तादति।
(2) प्लक्षोऽत्र (पूर्ववत्)।

अत इति०—ह्रस्व अकार से उत्तर 'रु' के रेफ को उकार होता है—
(3) अग्निरत्र
अग्निस् अत्र—'रु' हुआ,
अग्नि रु अत्र—उकार नहीं हुआ;
अग्निर् अत्र—अनुबन्धलोप।

तपर०—तपरकरण का फल यह है कि ह्रस्व अकार से उत्तर रेफ को उकार होता है—
(4) वृक्षा अत्र
वृक्षास् अत्र—'रु' हुआ,
वृक्षा रु अत्र—यकार,
वृक्षा अत्र—यलोप।

सानुबन्ध०—सूत्र के द्वारा विहित 'उत्' आदेश 'रु' के अनुबन्धरहित स्वरूप अर्थात् रेफ के स्थान पर होता है। सूत्र में 'रु' के निर्देश का फल यह है कि यह उकार 'रु' के रेफ को ही होता है; अन्य रेफ के स्थान पर नहीं होता। तब निम्नलिखित में उकार नहीं होता—
(5) स्वरत्र
स्वर् अत्र।
(6) प्रातरत्र
प्रातर् अत्र।

अतीत्ये०—ह्रस्व अकार परे रहते उकार आदेश होता है—
(7) वृक्ष इह
वृक्षस् इह → वृक्ष रु इह-
वृक्ष य् इह → वृक्ष इह—यकार।

तस्याऽपि०—तकार के तपर होने से यहाँ नहीं होता है—
(8) वृक्ष आश्रितः
उत्व नहीं हुआ।

अप्लुता०—अप्लुत अकार से पर उत्व होता है—
(9) सुस्रोता3 अत्र
यहाँ उत्व नहीं हुआ।

अप्लुत०—अप्लुत अकार परे रहते उत्व होता है—
(10) पय आ3श्विन्
प्लुत अकार परे है। अतः उत्व नहीं हुआ।

यहाँ प्लुत के असिद्ध होने से उत्व प्राप्त होता है। अतः 'अप्लुतादप्लुते'—इस प्रकार कहा गया है।

(2554) हशि च *114* (166)

हशि च परतोऽत उत्तरस्य रोरुकारादेशो भवति। पुरुषो याति। पुरुषो हसति। पुरुषो ददाति।

अर्थ—हश् वर्ण के परे रहते अकार से उत्तर 'रु' के रेफ को ह्रस्व उकार होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) पुरुषो याति
पुरुषस् याति—ससजुषो रुः,
पुरुष रु याति—उकार हुआ,
पुरुष उ याति—आद् गुणः।

(2) पुरुषो हसति (पूर्ववत्)।
(3) पुरुषो ददाति (पूर्ववत्)।

(2555) प्रकृत्याऽन्तः पादमव्यपरे *115* (3518)

एङोऽति (6.1.109) इत्येव। 'एङः' इति यत्पञ्चम्यन्तमनुवर्त्तते तदर्थादिह प्रथमान्तं भवति। प्रकृतिरिति स्वभावः कारणं वाऽभिधीयते। अन्तरित्यव्ययमधिकरणभूतं मध्यमाचष्टे। *पादशब्देन च ऋक्पादस्यैव ग्रहणमिष्यते, न तु श्लोकपादस्य*। अवकारयकारपरेऽति परत एङ् प्रकृत्या भवति। स्वभावेनावतिष्ठते कारणात्मना वा भवति न विकारमापद्यते। तौ चेन्निमित्तकार्यिणावन्तःपादम् = ऋक्पादमध्ये भवतः। 'ते अग्ने अश्वमायुञ्जन्' (वा०सं० 9.7)। 'ते अस्मिन् जवमादधुः' (वा०सं० 9.7)। 'उपप्रयन्तो अध्वरम्' (ऋ० 1.74.1)। 'शिरो अपश्यम्' (ऋ० 1.163.6)। 'सुजाते अश्वसूनृते' (ऋ० 5.79.1)। 'अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्' (ऋ० 9.51.1)। अन्तः-पादमिति किम्? 'कया मती कुत एतास एतेऽर्चयन्ति' (ऋ० 1.165.1)। अव्यपर इति किम्? 'तेऽवदन्' (ऋ० 10.109.1)। 'तेजोऽयस्मयम्' (वा०सं० 12.63)। एङीति किम्? 'अन्वग्निरुषसामग्रमख्यत्' (अथ० 7.82.4)। केचिदिदं सूत्रम् 'नान्तःपादमव्यपरे' इति पठन्ति, ते संहितायामिह यदुच्यते तस्य सर्वस्य प्रतिषेधं वर्णयन्ति।

अर्थ—एङः, अति—इनका अनुवर्त्तन है। 'एङः' यह जो पञ्चम्यन्त पद का अनुवर्त्तन है, वह यहाँ प्रथमान्त हो जाता है। प्रकृति का अर्थ है—कारण या स्वभाव। 'अन्तः' यह अव्यय अधिकरणभूत है तथा मध्य अर्थ को कहता है। 'पाद' शब्द के द्वारा ऋक् पाद का ही ग्रहण होता है; श्लोक के पाद का नहीं। वकार तथा यकार नहीं है जिसके परे, ऐसे ह्रस्व अकार के परे रहते पाद के मध्य में वर्तमान एङ् को प्रकृतिभाव होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) ते अग्ने
ते अग्ने—ऋक्पाद के मध्य है, पूर्वरूप का बाध हुआ, प्रकृतिभाव हुआ।
(2) ते अस्मिन् (पूर्ववत्)।
(3) उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० 1.74.01)
पूर्ववत्।
(4) शिरो अवश्यम् (पूर्ववत्)।
काशिकाकार ने यह उदाहरण दिया है, जो उचित नहीं है। अकार से पर वकार है। अतः प्रकृतिभाव प्राप्त था।
(5) सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० 5.79.01)
पूर्ववत्।

अन्तःपाद०—पाद के मध्य में वर्त्तमान एङ् को प्रकृतिभाव होता है—
(6) एतेऽर्चयन्ति (ऋ० 1.165.1)
प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

अव्यप०—वकार तथा यकार नहीं है जिसके परे, ऐसे अकार के परे रहते प्रकृतिभाव होता है—
(7) तेऽवदन्।
अकार से पर वकार है। प्रकृतिभाव नहीं हुआ।
(8) तेऽयस्मयन् (पूर्ववत्)।

एङीति०—एङ् को प्रकृतिभाव होता है—
(9) अन्वग्निः (शौ० सं० 7.82.4)
अनु अग्नि—एङ् नहीं है। अतः प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

कुछ विद्वान् इस सूत्र के स्थान पर 'नाऽन्तःपादमव्यपरे' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार संहिता के विषय में जो कहा गया है, उन सबका निषेध हो जाता है।

(2556) अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च *116* (3519)

अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु—इत्येतेषु यकारवकारपरेऽप्यति परतोऽन्तःपादमेङ् प्रकृत्या भवति। 'अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्' (तै०सं० 2.1.11.2)। 'मित्रमहो अवद्यात्' (ऋ० 4.4.15)। 'मा शिवासो अवक्रमुः' (ऋ० 7.32.27)। ते नो अव्रताः। शतधारो अयं मणिः। 'ते नो अवन्तु पितरः' (ऋ० 10.15.1)। 'कुशिकासो अवस्यवः' (ऋ० 3.42.9)।

अर्थ—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु तथा अवस्यु—इन शब्दों के अकार के परे रहते पाद के मध्य में वर्त्तमान एङ् को प्रकृतिभाव होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) वसुभिर्नो अव्यात् (तै० सं० 2.1.11.2)
प्रकृतिभाव हो गया।

(2) मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० 4.4.15)—पूर्ववत्।
(3) शिवासो अवक्रमुः (ऋ० 7.32.27)—पूर्ववत्।
(4) नो अव्रताः (पूर्ववत्)।
(5) शतधारो अयम् (शौ० सं० 19.36.5)—पूर्ववत्।
(6) नो अवन्तु (ऋ० 10.15.1)—पूर्ववत्।
(7) कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० 3.42.9)—पूर्ववत्।

(2557) यजुष्युरः *117* (3520)

उरःशब्द एङन्तो यजुषि विषयेऽति प्रकृत्या भवति। उरो अन्तरिक्षम् (वाज०सं० 4.7)। अपरे यजुष्युरो इति सूत्रं पठन्ति, उकारान्तमुरुशब्दं सम्बुद्ध्यन्तमधीयते। त इदमुदाहरन्ति–उरो अन्तरिक्षं सजूरिति। यजुषि पादानामभावादनन्तःपादार्थं वचनम्।

अर्थ—संहिता के विषय में तथा यजुर्मन्त्र में एङन्त जो उरस् शब्द, उससे अकार परे रहते प्रकृतिभाव होता है।

उदा० (1) उरो अन्तरिक्षं

विशेष—काशिकाकार ने यहाँ 'उरो अन्तरिक्षं सजूः' उदाहरण दिया है। उन्होंने प्रथमान्त 'उरस्' शब्द के सकार के रुत्व, उत्व होकर 'उरो' एङन्त रूप का ग्रहण किया है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वैदिक संहिताओं में अकार के परे रहते एङन्त 'उरस्' शब्द एक बार भी प्राप्त नहीं होता।

यजुर्वेद में 'उरो अन्तरिक्ष' प्रयोग कई बार प्राप्त होता है (द्र०—मै० 3.6.4, 1.2.2, क० 1.14, तै० 1.3.8.1)। महीधर ने 'उरो' शब्द को सम्बुद्ध्यन्त माना है।[1] महर्षि दयानन्द ने भी उक्त मन्त्र में प्रथमा के अर्थ में सम्बुद्धि का प्रयोग माना है।[2] अतः काशिकोद्धृत पाठ (उरो अन्तरिक्षं सजूः) लिपिकार का दोष प्रतीत होता है।

वस्तुतः आचार्य पाणिनि ने सूत्रों की रचना संहितारूप में की थी। ऐसा आचार्य के सूत्रों के अर्थ से भी प्रतीत होता है। यथा—

'स्थानेऽन्तरतमः' का स्वरूप 'स्थानेऽन्तरतम' ऐसा भी हो सकता है।

प्रकृत सूत्र का पाठ देखकर प्रतीत होता है कि 'यजुष्युर आपो जुषाणो०' इस प्रकार संहितापाठ का उभयविध सन्धिच्छेद सम्भव है। यथा—

1. यजु० (मही०) 4.7 हे उरो विस्तीर्ण अन्तरिक्ष।
2. यजु० (दया०) प्रथमार्थे सम्बुद्धिः।

(क) यजुष्युरः आपो० तथा
(ख) यजुष्युरो आपो०।

काशिकाकार ने स्वयं इस ओर संकेत किया है।[1] अतः वैदिक साहित्य में प्राप्त प्रयोगों के आधार पर सूत्र का द्वितीय स्वरूप ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

यजुर्वेद में पाद का अभाव होता है। अतः यह पादमध्य से अतिरिक्त के लिए विधान है।

(2558) आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिके पूर्वे *118* (3521)

'यजुषि' इत्येव। आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे–इत्येते शब्दा अम्बे, अम्बाले–इत्येतौ च यावम्बिकेशब्दात्पूर्वौ यजुषि पठितौ ते अति परतः प्रकृत्या भवन्ति। 'आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु' (वा०सं० 4.2)। 'जुषाणो अप्तुराज्यस्य' (वा०सं० 5.35)। 'वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः' (वा०सं० 7.1)। 'वर्षिष्ठे अधिनाके' (तै.सं० 1.1.8.1)। 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके' (तै. सं० 7.4.19.1)–यजुषीदमीदृशमेव पठ्यते। अस्मादेव निपातनाद् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (7.4.107) इति ह्रस्वत्वं न भवति।

अर्थ—'यजुषि' का अनुवर्त्तन है। यजुर्मन्त्र में आपो, जुषाणो, वृष्णो तथा वर्षिष्ठे—इन शब्दों से तथा अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे व अम्बाले—इन शब्दों से अकार परे रहते प्रकृतिभाव होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) आपो अस्मान् (मा०सं० 4.2)
प्रकृतिभाव हुआ।

(2) जुषाणो अप्तु-(मा०सं० 5.35)
प्रकृतिभाव हुआ।

(3) वृष्णो अशभ्याम् (मा०सं० 7.1)—पूर्ववत्।
(4) वर्षिष्ठे अधिनाके (मै०सं० 1.1.9)—पूर्ववत्।
(5) अम्बे अम्बाले अम्बालिके (पूर्ववत्)।

यजुर्मन्त्र में इसी प्रकार पाठ होता है। इसीलिए 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से प्राप्त ह्रस्वादेश निपातन से नहीं होता।

(2559) अङ्ग इत्यादौ च *119* (3522)

अङ्गशब्दे य एङ् तदादौ चाकारे यः पूर्वः स यजुषि विषयेऽति प्रकृत्या भवति। ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे

1. काशि० 6.1.117 अपरे यजुष्युरो इति सूत्रं पठन्ति।

अदीध्यत्। ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् (वा०सं० 6.20)। ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम्।

अर्थ—'यजुर्मन्त्र' में अंग शब्द में वर्त्तमान जो एङ्, उससे पर अकार हो तो उस एङ् को प्रकृतिभाव होता है तथा अंग शब्द के अकार के परे रहते एङ् को प्रकृतिभाव होता है।

उदा० (1) प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत्
'अङ्गे अदीध्यत्' तथा 'प्राणे अङ्गे' दोनों स्थलों पर प्रकृतिभाव हुआ है।

(2) प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत (पूर्ववत्)।
(3) प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम् (मै०सं० 1.2.17) पूर्ववत्।

(2560) अनुदात्ते च कुधपरे *120* (3523)

'यजुषि' इत्येव। अनुदात्ते चाति कवर्गधकारपरे परतो यजुषि विषये एङ् प्रकृत्या भवति। 'अयं सो अग्निः' (वा०सं० 5.37)। अयं सो अध्वरः। अनुदात्ते इति किम्? अधोऽग्रे। अग्रशब्द आद्युदात्तो निपात्यते। कुधपरे इति किम्? 'सोऽयमग्निः सहस्त्रियः' (वा०सं० 15.52)।

अर्थ—'यजुषि' का अनुवर्त्तन है। यजुर्मन्त्र में कवर्ग और धकार है परे जिससे, ऐसे अनुदात्त अकार के परे रहते एङ् को प्रकृतिभाव होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) अयं सो अग्निः (मा०सं० 12.47)
प्रकृतिभाव हुआ।

(2) अयं सो अध्वरः (पूर्ववत्)।

अनुदात्त०—अनुदात्त अकार परे रहते प्रकृतिभाव होता है—
(3) अधोऽग्रे
अधो अग्रे—अकार अनुदात्त नहीं है, प्रकृतिभाव नहीं हुआ। अग्र शब्द आद्युदात्त निपातित है।

कुधपरे०—कवर्ग और धकार है परे जिसके, ऐसे अकार के परे रहते प्रकृतिभाव होता है—
(4) सोऽयमग्निः
प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

(2561) अवपथासि च *121* (3524)

'यजुषि' इत्येव। 'अनुदात्ते' इति चशब्देनानुकृष्यते। अवपथाः-शब्देऽनुदात्तेऽकारादौ परतो यजुषि विषय एङ् प्रकृत्या भवति। 'स्त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः' (काठ सं० 30. 6.32)। वपेर्लङि थासि 'तिङ्ङतिङः' (8.1.28) इति निघातेनानुदात्तत्वम्। अनुदात्त इत्येव-यद्रुद्रेभ्योऽवपथाः। 'निपातैर्यद्यदिह हन्त' (8.1.30) इति निघातः प्रतिषिध्यते।

अर्थ—'यजुषि' का अनुवर्त्तन है। 'अनुदात्ते' का अनुकर्षण चकार के द्वारा होता है। संहिता के विषय में यजुर्मन्त्र में 'अवपथाः' शब्द के अनुदात्त-विशिष्ट अकार के परे रहते एङ् को प्रकृतिभाव होता है।

उदा० (1) रुद्रेभ्यो अवपथाः
वप् धातु से लङ् म०पु० एकवचन में 'थास्' करके 'अवपथाः' बनता है। 'तिङ्ङतिङः' से निघात होता है।

(2) रुद्रेभ्योऽवपथाः
अकार अनुदात्तविशिष्ट नहीं है। अतः प्रकृतिभाव नहीं हुआ। निघात का निषेध किया गया है।

(2562) सर्वत्र विभाषा गोः *122* (87)

सर्वत्र = छन्दसि भाषायां च, अति परतो गोरेङ् प्रकृत्या भवति विभाषा। गोऽग्रम्, गो अग्रम्। छन्दसि-'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वान्' (तै०सं० 5.2. 9.4)।

अर्थ—संहिता के विषय में लोक तथा वेद दोनों में पदान्त में वर्त्तमान एङन्त 'गो' शब्द को अकार परे रहते प्रकृतिभाव विकल्प से होता है।

उदा० (1) गो अग्रम्
प्रकृतिभाव होता है।
(2) गोऽग्रम्
काशिकाकार ने पक्ष में पूर्वरूप दिखाया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता।

यह सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' का अपवाद है, 'एङः पदान्तादति' का नहीं। अतः पक्ष में 'अवङ् स्फो०' की प्रवृत्ति होती है। यथा—

गो अग्रम् 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप की प्राप्ति हुई। उसको बाध कर 'अवङ् स्फोटायनस्य' की प्रवृत्ति हुई। उसे बाध कर प्रकृत सूत्र से पाक्षिक प्रकृतिभाव हुआ। जिस पक्ष में प्रकृतिभाव नहीं होगा, वहाँ अवङ् हो जायेगा।

अवङ् के पक्ष में पूर्वरूप भी होगा। अतः अगले सूत्र पर पक्ष में पूर्वरूप दिखाया गया है।

(3) गो अश्वेभ्यः
वेद में प्रकृतिभाव हुआ।

(4) गोऽश्वाः
प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

(2563) अवङ् स्फोटायनस्य *123* (88)

'अति' इति निवृत्तम्। 'अचि' इत्येतत्पुनरनुवर्त्तत एव। अचि परतो गोः स्फोटायनस्याचार्यस्य मतेनावङादेशो भवति। गवाग्रम्, गोऽग्रम्। गवाजिनम्, गोऽजिनम्। गवोदनम्, गवौदनम्। गवोष्ट्रम्, गवुष्ट्रम्। आद्युदात्तश्चायमादेशो निपात्यते। स निपातनस्वरो बहुव्रीहौ प्रकृतिस्वरविधाने भवति–गावो अग्रमस्य गवाग्र इति। अन्यत्र तु समासान्तोदात्तत्वेन बाध्यते। स्फोटायनग्रहणं पूजार्थम्, 'विभाषा' इत्येव हि वर्त्तते। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन गवाक्ष इत्यत्र नित्यमवङ् भवति।

अर्थ—'अति' का अधिकार नहीं है। 'अचि' का अनुवर्त्तन है। पदान्त में जो एङ्, तदन्त 'गो' शब्द को अवङ् आदेश होता है, अच् परे रहते तथा स्फोटायन आचार्य के मत में।

उदा० (1) गवाग्रम्
गो अग्र—'अनेकाल् शित् सर्वस्य' को बाध कर 'ङिच्च' से अन्त्य अल् के स्थान पर अवङ् हुआ,
गवङ् अग्र—अकः सवर्णे दीर्घः,
गवाग्र सु—विभक्तिकार्य।

(2) गोऽग्रम्
पक्ष में 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप।

(3) गवाजिनम्
गो अजिन—पूर्ववत्।

(4) गोऽजिनम्
पक्ष में पूर्वरूप।

(5) गवौदनम्
गो ओदन—अवङ् आदेश।

(6) गवोदनम्
अव् आदेश।

(7) गवोष्ट्रम्
अवङ् आदेश।

(8) गवुष्ट्रम्
अव् आदेश।

यह आद्युदात्त आदेश का निपातन किया जाता है। वह निपातन-स्वर बहुव्रीहि में प्रकृति-स्वर के विधान में होता है।

(9) गवाग्रः
गावो अग्रम् अस्य—यहाँ हुआ है।

अन्यत्र तो समासान्त उदात्त होने से बाधित हो जाता है। 'विभाषा' पद का अनुवर्त्तन है। अतः 'स्फोटायन' का ग्रहण सम्मान के लिए है। यह व्यवस्थित विभाषा है। अतः निम्नलिखित में नित्य अवङ् होता है—

(10) गवाक्षः
गो अक्ष → गव अक्ष–
गवाक्ष सु—विभक्तिकार्य।

विशेष—अवङ् के ङकार की इत्संज्ञा होती है तथा वकारोत्तरवर्ती अकार की इत् संज्ञा नहीं होती है। इसमें 'गवाश्वप्रभृतीनि च' सूत्र प्रमाण है।

(2564) इन्द्रे च नित्यम् *124* (89)

इन्द्रशब्दस्थेऽचि परतो गोर्नित्यमवङादेशो भवति। गवेन्द्रः। गवेन्द्रयज्ञस्वरः।

अर्थ—संहिता के विषय में इन्द्र शब्द परे रहते एङन्त 'गो' शब्द को अवङ् आदेश नित्य होता है।

उदा० (1) गवेन्द्रः
गो इन्द्र—अवङ्,
गव इन्द्र सु—आद् गुणः।

(2565) प्लुतप्रगृह्या अचि *125* (90)

प्लुताश्च प्रगृह्याश्चाचि प्रकृत्या भवन्ति। देवदत्ता 3 अत्र न्वसि। यज्ञदत्ता 3 इदमानय। आश्रयादत्र प्लुतः सिद्धः। प्रगृह्याः–अग्नी इति। वायू इति। खट्वे इति। माले इति। अचीत्यनुवर्त्तमाने पुनरज्ग्रहणमादेशनिमित्तस्याचः परिग्रहार्थम्। तेनेह न भवति–जानु उ अस्य रुजति = जान्वस्य रुजति (म०भा०)। प्रगृह्यादुकारात्परस्याकारस्य सवर्णदीर्घत्वं प्रत्ययनिमित्तत्वादत्र प्रकृतिभावो न भवति। नित्यग्रहणमिहानुवर्त्तते। प्लुतप्रगृह्याणां नित्यमयमेव प्रकृतिभावो यथा स्यात्, 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (6.1.127) इत्येतन्मा भूदिति।

अर्थ—संहिता के विषय में अच् परे रहते प्लुत तथा प्रगृह्य-संज्ञक शब्दों को प्रकृतिभाव होता है।

उदा० (1) देवदत्ता3 अत्र
'अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त सवर्णदीर्घ को बाध कर प्रकृतिभाव हुआ।

(2) यज्ञदत्ता3 इदम्
गुण एकादेश को बाध कर प्रकृतिभाव हुआ।
यहाँ प्लुत सिद्ध है।

(3) अग्नी इति
अग्नी—ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्,
अग्नी इति—सवर्ण दीर्घ को बाध कर प्रकृतिभाव।

(4) वायू इति (पूर्ववत्)।
(5) खट्वे इति (पूर्ववत्)।
(6) माले इति (पूर्ववत्)।

अची०—'अचि' पद का अधिकार होने पर भी पुनः अच् पद का ग्रहण आदेश के निमित्त अच् के परिग्रह के लिए है। तब निम्नलिखित स्थल पर नहीं होता है—

जानु उ अस्य → जान्वस्य।

प्रगृह्यसंज्ञक उकार से पर अकार के सवर्णदीर्घत्व के प्रति निमित्त न होने से वहाँ प्रकृतिभाव नहीं होता है। यहाँ 'नित्यम्' पद का अधिकार है। तब प्लुत व प्रगृह्यसंज्ञक को नित्य प्रकृतिभाव होता है तथा 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य०' से ह्रस्वादेश नहीं होता है।

(2566) आङोऽनुनासिकश्छन्दसि *126* (3525)

आङोऽचि परतः संहितायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो भवति, स च प्रकृत्या भवति। 'अभ्रआँ अपः' (ऋ० 5.48.1)। 'गभीरआँ उग्रपुत्रे जिघांसत' (ऋ० 8.67.11)। केचिद् 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्' इत्यधीयते। तेनेह न भवति–इन्द्रो बाहुभ्यामातरत्। आ अतरत्।

अर्थ—वेद के विषय में अच् परे रहते 'आङ्' को अनुनासिक आदेश होता है और उस अनुनासिक आदेश को प्रकृतिभाव होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) अभ्र आँ अपः
अभ्र आ अपः—अनुनासिक आदेश,
अभ्र आँ अपः—प्रकृतिभाव।

(2) गभीर आँ उग्रपुत्रे (पूर्ववत्)।

कुछ विद्वान् इस सूत्र के साथ 'बहुलम्' पद जोड़ कर 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्' ऐसा पाठ मानते हैं। उनके अनुसार निम्नलिखित स्थल पर अनुनासिक नहीं होता है—

(3) इन्द्रो बाहुभ्याम् आतरत्
सवर्णदीर्घ हो गया।

(2567) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च *127* (91)

इकोऽसवर्णेऽचि परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्येकः स्थाने भवति। दधि अत्र, दध्यत्र। मधु अत्र, मध्वत्र। कुमारि अत्र, कुमार्यत्र। किशोरि अत्र, किशोर्यत्र। इक इति किम्? खट्वेन्द्रः। असवर्ण इति किम्? कुमारीन्द्रः। शाकल्यग्रहणं पूजार्थम्, आरम्भसामर्थ्यादेव हि यणादेशेन सह विकल्पः सिद्धः। *सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। सिति–'अयं ते योनिर्ऋत्वियः' (ऋ० 3.29.10) नित्यसमासे–व्याकरणम्। कुमार्यर्थम्। *ईषाअक्षादिषु च्छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं वक्तव्यम्* (म०भा०)। 'ईषा अक्षो हिरण्ययः' (ऋ० 8.5.29)। का ईमरे पिशङ्गिला (वा०सं० 23.55)। पथा अगमन्।

अर्थ—शाकल्य आचार्य के मत में असवर्ण अच् परे रहते पदान्त में स्थित इक् को प्रकृतिभाव होता है तथा उस इक् के स्थान पर ह्रस्व आदेश होता है।

उदा० (1) दधि अत्र
प्रकृतिभाव हुआ।

(2) दध्यत्र
पक्ष में यण् आदेश हुआ।

(3) मधु अत्र
प्रकृतिभाव।

(4) मध्वत्र
यण् आदेश।

(5) कुमारि अत्र
कुमारी अत्र—ह्रस्व, प्रकृतिभाव।

(6) कुमार्यत्र

पक्ष में यण् आदेश।

(7) किशोरि अत्र
पूर्ववत् ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव।

(8) किशोर्यत्र
पक्ष में यण् आदेश।

इक इति०—इक् के स्थान पर ह्रस्व होता है—

(9) खट्वेन्द्रः
खट्वा इन्द्र—इक् नहीं है, ह्रस्व नहीं हुआ, गुण हुआ।

असवर्ण०—असवर्ण अच् परे रहते ह्रस्व होता है—

(10) कुमारीन्द्रः
कुमारी इन्द्र—असवर्ण अच् परे नहीं है, ह्रस्व नहीं हुआ,
कुमारीन्द्र सु—सवर्णदीर्घ हुआ।

आरम्भ-सामर्थ्य से ही यण् आदेश के साथ विकल्प सिद्ध है। अतः आचार्य शाकल्य का ग्रहण सम्मान के लिए है।

सिन्नित्य०—सित् परे रहते और नित्य समास विधि में ह्रस्व नहीं होता है—

(11) अयं ते योनिर् ऋत्वियः
ऋतु घस्—इयादेश, हलन्त्यम्,
ऋतु इय—प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव प्राप्त हुआ, उसका निषेध हुआ,
ऋत्विय सु—यण्।

(12) व्याकरम्
वि आकरम्—ह्रस्वादेश प्राप्त था, यण् हुआ।

(13) कुमार्यर्थम्
कुमारी अर्थ—ह्रस्वादेश का निषेध हुआ।

ईषा अक्षा०—ईषा अक्ष आदि में केवल प्रकृतिभाव होता है, वेद के विषय में—

(14) ईषा अक्षः (ऋ० 8.5.29)
प्रकृतिभाव हुआ है।

(15) का ईमरे (पूर्ववत्)।

(16) पथा आगमन्
प्रकृतिभाव हुआ।

(2568) ऋत्यकः *128* (92)

'शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्येतदनुवर्त्तते। ऋकारे परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनाकः प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्याकः स्थाने भवति। खट्व ऋश्यः। माल ऋश्यः। कुमारि ऋश्यः। होतृ ऋश्यः। ऋतीति किम्? खट्वेन्द्रः। अक इति किम्? वृक्षावृश्यः। सवर्णार्थमनिगर्थं च वचनम्।

अर्थ—शाकल्यस्य, ह्रस्वः—इनका अनुवर्त्तन है। शाकल्य आचार्य के मत में ह्रस्व ऋकार परे रहते पदान्त में स्थित अक् के स्थान पर ह्रस्व आदेश होता है।

उदा० (1) खट्व ऋश्यः
खट्वा ऋश्यः—ह्रस्वादेश, प्रकृतिभाव।

(2) माल ऋश्यः (पूर्ववत्)।

(3) कुमारि ऋश्यः
कुमारी ऋश्यः—पूर्ववत्।

ऋतीति०—ह्रस्व ऋकार परे रहते ही ह्रस्वादेश होता है—

(4) खट्वेन्द्रः
खट्वा इन्द्र—ह्रस्व ऋकार परे नहीं है, ह्रस्व नहीं हुआ,
खट्वेन्द्र सु—गुण हुआ।

अक इति०—अक् के स्थान पर ह्रस्व होता है—

(5) वृक्षावृश्यः
यहाँ नहीं हुआ।
सवर्ण के लिए तथा अनिगर्थ यह विधान है।

(2569) अप्लुतवदुपस्थिते *129* (98)

उपस्थितं नामानार्ष इतिकरणः समुदायादवच्छिद्य पदं येन स्वरूपेऽवस्थाप्यते तस्मिन्परतः प्लुतोऽप्लुतवद्भवति। प्लुतकार्यं प्रकृतिभावं न करोति। सुश्लोका३ इति, सुश्लोकेति। सुमङ्गला३ इति, सुमङ्गलेति। वत्करणं किम्? अप्लुत इत्युच्यमाने प्लुत एव प्रतिषिध्येत। तत्र को दोषः? प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतस्य श्रवणं न स्यात्—अग्नी३ इति। वायू३ इति।

अर्थ—उपस्थित = अनार्ष अर्थात् जो वेद से अतिरिक्त हो। 'इति' यह स्वरूप का ग्रहण है। वेद के विषय से अतिरिक्त जो 'इति' पद, उसके परे रहते प्लुत अप्लुत के समान होता है। प्लुतभाव प्रकृतिभाव को नहीं करता है।

उदा० (1) सुश्लोकेति
सुश्लोका३ इति—'दूराद्धूते च' से प्लुत हुआ, प्रकृत सूत्र से वह अप्लुत हुआ, 'आद् गुणः' से गुण एकादेश।

(2) सुमङ्गलेति
सुमङ्गला3 इति—पूर्ववत्।

वत्करण०—वत् करण का फल यह है कि 'अप्लुत' ऐसा कहे जाने पर प्लुत का ही निषेध किया जाता है। इसमें क्या दोष है?

(समा०) ताकि प्रगृह्य का श्रवण न हो। यथा—

(3) अग्नी3 इति।
(4) वायू3 इति।

(2570) ई3 चाक्रवर्मणस्य *130* (99)

ई3कारः प्लुतोऽचि परतश्चाक्रवर्मणस्याचार्यस्य मतेनाप्लुतवद्भवति। अस्तु हीत्यब्रूताम्, अस्तु ही3 इत्यब्रूताम्। चिनु हीदम्, चिनुही3 इदम्। चाक्रवर्मणग्रहणं विकल्पार्थम्-तदुपस्थिते निवृत्त्यर्थम्, अनुपस्थिते प्राप्त्यर्थमित्युभयत्र विभाषेयम्। ईकारादन्यत्राप्ययमप्लुतवद्भाव इष्यते। वशा3 इयम्, वशेयम्।

अर्थ—चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अच् परे रहते प्लुत ई3 अप्लुत के समान होता है।

उदा० (1) अस्तु हीत्यब्रवीत्
अस्तु ही3 इत्यब्रवीत्—अप्लुतवत् हुआ, सवर्णदीर्घ हुआ।

(2) अस्तु ही3 इत्यब्रवीत्
पक्ष में अप्लुत नहीं हुआ। सन्धिकार्य नहीं हुआ।

(3) चिनुहीदम्
चिनुही3 इदम्—पूर्ववत्।

(4) चिनुही3 इदम्
अप्लुतवत् नहीं हुआ।

'चाक्रवर्मण' का ग्रहण विकल्प-विधि के लिए है। उपस्थित में निवृत्ति के लिए है। उपस्थित न होने पर प्राप्ति के लिए है। अतः यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। इकार से अतिरिक्त स्थल पर भी यह अप्लुतभाव होता है—

(5) वशेयम्
वशा3 इयम्—पूर्ववत् सन्धिकार्य।

(6) वशा3 इयम्
सन्धिकार्य नहीं हुआ।

(2571) दिव उत् *131* (337)

'एङः पदान्तादति' (6.1.109) इत्यतः पदग्रहणमनुवर्त्तते। 'दिवः' इति प्रातिपदिकं गृह्यते, न धातुः; सानुबन्धकत्वात्। दिवः पदस्य उकारादेशो भवति। दिवि कामो यस्य द्युकामः। द्युमान्। विमलद्यु दिनम्। द्युभ्याम्। द्युभिः। निरनुबन्धकग्रहणादिह न भवति-अक्षद्यूभ्याम्, अक्षद्यूभिरिति। तपरकरणमूठो निवृत्त्यर्थम्-द्युभ्याम्, द्युभिरिति। अत्र हि परत्वादूठ् प्राप्नोति। पदस्येति किम्? दिवौ। दिवः।

अर्थ—'एङः पदान्तादति' इससे पद का अनुवर्त्तन है। 'दिव्' के द्वारा धातु का ग्रहण नहीं होता है, अपितु 'दिव्' प्रातिपदिक का ग्रहण होता है। पदान्त में स्थित 'दिव्' शब्द के स्थान पर 'उत्' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य वर्ण (वकार) के स्थान पर यह आदेश होता है।

उदा० (1) द्युकामः
दिवि कामः → दिव् काम—सुप् का लोप,
दि3 काम—उकार अन्तादेश,
द्युकाम सु—यण्।

(2) द्युमान् (पूर्ववत्)।

(3) विमलद्यु दिनम्।
विमल दिव्—उकार अन्तादेश।

(4) द्युभ्याम्
दिव् भ्याम्—पद संज्ञा, उकार अन्तादेश,
द्युभ्याम्—पूर्ववत्।

(5) द्युभिः (पूर्ववत्)।

निरनुबन्ध०—अनुबन्धरहित ग्रहण होने से निम्नलिखित में नहीं होता है—

(6) अक्षद्यूभ्याम्
(7) अक्षद्यूभिः (पूर्ववत्)।

तपरकरण०—'उत्' में तपरकरण 'ऊठ्' की निवृत्ति के लिए है—

(8) द्युभ्याम्
यहाँ परत्व के कारण 'ऊठ्' प्राप्त था।

(9) द्युभिः (पूर्ववत्)।

पदस्ये०—पद में स्थित को ही उकार अन्तादेश होता है—

(10) दिवौ
दिव् औ—पद संज्ञा न होने से अन्तादेश नहीं हुआ।

(11) दिवः
दिव् जस्।

(2572) एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि *132* (176)

एतत्तदौ यावककारौ नञ्समासे न वर्त्तेते तयोर्यः सुशब्दः कश्च तयो सुशब्दः? यस्तदर्थेन सम्बद्धः तस्य संहितायां विषये हलि परतो लोपो भवति। एष ददाति। स ददाति। एष भुङ्क्ते। स भुङ्क्ते। एतत्तदोरिति किम्? यो ददाति। यो भुङ्क्ते। सुग्रहणं किम्? एतौ गावौ चरतः। अकोरिति किम्? एषको ददाति। सको ददाति। 'तन्मध्यपतित-स्तद्ग्रहणेन गृह्यते' (व्या०प० 21) इति रूपभेदेऽपि साकच्कावेतत्तदावेव भवतः। अनञ्समास इति किम्? अनेषो ददाति। असो ददाति। उत्तरपदार्थप्रधानत्वात् नञ्स-मासस्यैतत्तदोरेवात्र सम्बद्धः सुशब्दः। हलीति किम्? एषोऽत्र। सोऽत्र।

अर्थ—ककार नहीं है जिसमें तथा जो नञ् समास में वर्त्तमान नहीं है, ऐसे एतद् व तद् शब्दों का जो 'सु', उसका लोप होता है, हल् वर्ण परे रहते, संहिता के विषय में।

उदा० (1) एष ददाति
एषः ददाति—'सु' का लोप हुआ,
एष ददाति—रूप बना।

(2) स ददाति
सः ददाति—पूर्ववत्।

(3) एष भुङ्क्ते
एषः भुङ्क्ते—पूर्ववत्।

(4) स भुङ्क्ते
सः भुङ्क्ते—पूर्ववत्।

एतत्तदो०—एतद् व तद् के 'सु' का लोप होता है—

(5) यो ददाति
यः ददाति—'सु' का लोप नहीं हुआ।

(6) यो भुङ्क्ते (पूर्ववत्)।

सुग्रहणं०—सु का ही लोप होता है—

(7) एतौ गावौ
एतद् औ—'त्यदादीनामः' से अकार अन्तादेश,
एतौ गावौ—हल् वर्ण परे है, परन्तु 'सु' नहीं है; अतः लोप नहीं हुआ।

अकोरि०—ककार नहीं है जिसमें, ऐसे एतद् व तद् के 'सु' का लोप होता है—

(8) एषको ददाति
एषकः—ककार है, अतः 'सु' का लोप नहीं हुआ।

(9) सको ददाति (पूर्ववत्)।

तन्मध्य०—तन्मध्यपतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते—इस परिभाषा के बल पर ककारयुक्त को भी एतद् व तद् ही जानना चाहिए।

अनञ्स०—नञ् समास न हो तो 'सु' का लोप होता है—

(10) अनेषो ददाति
अनेषः—नञ् समास है, 'सु' का लोप नहीं हुआ।

(11) असो ददाति (पूर्ववत्)।

उत्तरपद के प्रधान होने से नञ् समास के एतद् व तद् शब्दों का 'सु' से सम्बन्ध है।

हलीति०—हल् वर्ण परे रहते ही 'सु' का लोप होता है—

(12) एषोऽत्र
एषः अत्र—हल् वर्ण परे नहीं है, सुलोप नहीं हुआ,
एषोऽत्र—पूर्वरूप।

(13) सोऽत्र
सः अत्र—पूर्ववत्।

(2573) स्यश्छन्दसि बहुलम् *133* (3526)

'स्य' इत्येतस्य च्छन्दसि हलि परतो बहुलं सोर्लोपो भवति। 'उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि' (ऋ० 4.40.4)। 'एष स्य ते पवत इन्द्र सोमः' (ऋ० 9.97.46)। न च भवति-यत्र स्यो निपतेत्।

अर्थ—वेद के विषय में हल् वर्ण परे रहते 'स्यः' के सु का लोप बहुलता से होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) एष स्य वाजो
एषः स्यः वाजो—हल् परे रहते 'सु' का लोप हुआ।
एष स्य वाजो।

(2) एष स्य ते
पूर्ववत् 'सु' का लोप हुआ।

(3) यत्र स्यो निपतेत्
लोप नहीं हुआ।

(2574) सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् *134* (177)

'स' इत्येतस्याचि परतः सुलोपो भवति, लोपे सति चेत्पादः पूर्यते। 'सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्' (ऋ० 1.32.15)। 'सौषधीरनुरुध्यसे' (ऋ० 8.43.9)। लोपे चेत्पादपूरणमिति किम्? स इव व्याघ्रो भवेत्। अचीति विस्पष्टार्थम्। पादग्रहणेनात्र श्लोकपादस्यापि ग्रहणं केचिदिच्छन्ति, तेनेदमपि सिद्धं भवति–

सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥

अर्थ—यदि लोप करने पर पादपूर्त्ति होती हो तो अच् परे रहते 'तद्' शब्द के 'सु' का लोप होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) सेदु राजा
यहाँ 'सु' का लोप हुआ। सन्धिकार्य हुआ। सन्धिकार्य होने पर पाद की पूर्त्ति हो जाती है।

(2) सौषधिरनुरुध्यसे
सः औषधि०—सुलोप, सन्धिकार्य।

लोपे०—यदि लोप करने पर पादपूर्त्ति होती हो तो लोप होता है—

सः इव व्याघ्रो भवेत्—लोप करने पर पादपूर्त्ति नहीं होती है। अतः सुलोप नहीं हुआ, यकार आदेश हुआ।

अचीति०—अच् परे रहते—स्पष्टता के लिए ऐसा कहा गया है। कुछ विद्वान् यहाँ 'पाद' शब्द के द्वारा श्लोकपाद का भी ग्रहण करते हैं। उनके मत में निम्नलिखित में 'सु' का लोप साधु होता है—

सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥

(2575) सुट् कात् पूर्वः *135* (2553)

अधिकारोऽयम् 'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' (6.1.157) इति यावत्। इत उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र 'सुट्' इति, 'कात्पूर्वः' इति चैतदधिकृतं वेदितव्यम्। वक्ष्यति–'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' (6.1.137)। संस्कर्त्ता। संस्कर्तुम्। संस्कर्तव्यम्। कात्पूर्वग्रहणं सुटोऽभक्तत्वज्ञापनार्थम्। तथा हि–संस्कृषीष्ट, संस्क्रियते इति संयोगादिलक्षणाविड्गुणौ (7.2.43) न भवतः। 'तिङ्ङतिङः' (8.1.18) इति निघातोऽपि तर्हि न प्राप्नोति, सुटा व्यवहितत्वात्? 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' (व्या०प० 27) इति वचनान्नास्ति व्यवधानम्। सञ्चस्करतुः, सञ्चस्करुः–इति गुणः कथम्? 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' (व्या०प० 21) इति। संयोगोपधग्रहणं च 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (7.4.10) इत्यत्र कर्त्तव्यम्। टित्करणम्–'सुट्स्तुस्वञ्जाम्' (8.3.70) इत्यत्र विशेषणार्थम्।

अर्थ—'पारस्करप्रभृतीनि च०' सूत्र पर्यन्त यह अधिकार चलता है। इससे आगे जो कहा जायेगा, वहाँ ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है—ऐसा अधिकार जानना चाहिए। आगे कहा जायेगा—'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' इत्यादि।

उदा० (1) संस्कर्त्ता, (2) संस्कर्त्तव्यम्
इनकी सिद्धि अगले सूत्र पर देखें।

ककार से पूर्व हो—ऐसा कहने का फल यह है कि सुट् ककार से पूर्व होता है। तब—

(3) संस्कृषीष्ट, (4) संस्क्रियते
सिद्धि अगले सूत्र पर देखें।

यहाँ संयोगादि लक्षण से इट् व गुण नहीं होते हैं। 'तिङ्ङतिङः' से निघात भी प्राप्त नहीं होता है। स्वरविधि में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है—

इस वचन के द्वारा व्यवधान नहीं होता है।

(5) सञ्चस्करतुः, (6) सञ्चस्करुः
यहाँ गुण कैसे हुआ?

(समा०) 'तन्मध्यपतित०' परिभाषा के द्वारा हुआ है। संयोगोपध का ग्रहण 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' यहाँ करना चाहिए। सुट् को टित् 'सुट्स्तुस्वञ्जाम्' इसमें ग्रहण के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त 'परिनिविभ्यः सेव०' में ग्रहण हो जाय, इसके लिए भी 'ट्' अनुबन्ध जोड़ दिया गया है।

(2576) अड्भ्यासव्यवायेऽपि[1] *136*

अड्व्यवाये, अभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वो भवति। समस्करोत्। समस्कार्षीत्। सञ्चस्कार। परिचस्कार। किमर्थं पुनरिदमुच्यते, 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते' इति तत्र

1. सिद्धान्तकौमुद्यामिदं सूत्रं वार्त्तिकत्वेन पठितम्। द्र०—वै०सि०कौ० 2553

'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति पूर्वं सुट् क्रियते, पश्चादडभ्यासौ ? 'अभक्तश्च सुट्' इत्युक्तम्, ततः सकारादुत्तरावडभ्यासावनिष्टे देशे स्याताम्। एतस्मिंस्तु सत्यत एव वचनात् कृतयोरडभ्यासयोस्तद्व्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वः क्रियत इति सिद्धमिष्टं भवति।

अर्थ—संहिता के विषय में अट् का तथा अभ्यास का व्यवधान होने पर भी ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है।

उदा० (1) समस्करोत्
सम् कृ त्—लङ्, इतश्च,
सम् अट् कर् उ त्—अट्,
सम स् करोत्—सुट्।

(2) समस्कार्षीत्
सम् कृ सिच् त्—लुङ्, इतश्च, सिच्,
सम् अट् कार् ष् ई त्—ईट्, सिचि वृद्धिः, षत्व,
सम स् कार्षीत्—सुट्।

(3) सञ्चस्कार
सम् कृ कृ णल्—लिट्, णल्, द्वित्व, वृद्धि, अनुस्वार,
सञ्चस्कार—परसवर्ण, सुट्।

(4) परिचस्कार
पूर्ववत् सुट्।

किमर्थ०—पुनः इसका विधान क्यों किया गया है। धातु उपसर्ग के साथ पूर्व प्रयुक्त होता ही है। वहाँ धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरंग होने से पहले सुट् किया जाता है, बाद में अट् व अभ्यास होते हैं। सुट् अभक्त है—यह कहा जा चुका है। तब सकार से उत्तर ये अट् और अभ्यास अनिष्ट देश में नहीं होते हैं। ऐसा होने पर इस वचन से अट् और अभ्यास किये जाने पर उनका व्यवधान होने पर भी ककार से पूर्व 'सुट्' किया जाता है। यह सिद्ध है।

(2577) सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे *137* (2550)

सम्, परि, उप-इत्येतेभ्यो भूषणार्थे करोतौ परतः सुट् कात्पूर्वो भवति। संस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्तुम्, संस्स्कर्तव्यम्-अत्र 'सम्पुंकानां सत्वम्' (8.3.34 वा०) इति समो मकारस्य सकारः, पूर्वस्य चाकारस्यानुनासिकः। परिष्कर्त्ता, परिष्कर्तुम्, परिष्कर्तव्यम्-'सुट्स्तुस्वञ्जाम्' (8.3.70) इति षत्वम्। उपस्कर्ता, उपस्कर्तुम्, उपस्कर्तव्यम्। भूषण इति किम्? उपकरोति। सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुडिष्यते-संस्कृतमन्नमिति।

अर्थ—भूषण अर्थ में सम्, परि तथा उप उपसर्गों से उत्तर 'कृ' धातु के परे रहते ककार से पूर्व 'सुट्' का आगम होता है।

उदा० (1) संस्कर्त्ता
सम् कर्त्ता—सम्पुंकानां सत्वम् (वा०),
सस् सुट् कर्त्ता—अत्रानुनासिकः पूर्वस्य०,
सँ स् स् कर्त्ता—पक्ष में 'अनुनासिकात् परोऽनु०' से अनुस्वार, 'अयोगवाहानामट्सु०' (वा०) के द्वारा अनुस्वार का अट् वर्णों में परिगणन होने से हल् से उत्तर होने पर 'झरो झरि सवर्णे' से एक सकार का लोप,
संस्कर्त्ता—रूप बना।

(2) संस्स्कर्त्ता
संस् स् कर्त्ता—अनुस्वार को अच् मान कर 'अनचि च' से सकार को द्वित्व हुआ, एक सकार का लोप होकर,
संस्स्कर्त्ता—रूप।

(3) संस्स्स्कर्त्ता
सकार लोप तथा द्वित्व-दोनों के पाक्षिक होने से तीन सकार वाला रूप बनता है।

(4) संस्कर्तुम् (पूर्ववत्)।
(5) संस्कर्त्तव्यम् (पूर्ववत्)।

यहाँ 'सम्पुङ्कानाम्' से मकार के स्थान पर सकार होता है तथा पूर्ववर्त्ती अकार को अनुनासिक होता है।

(6) परिष्कर्त्ता
परि सुट् कर्त्ता—'परिनिविभ्यः सेव०' से हुआ।

(7) परिष्कर्तुम् (पूर्ववत्)।
(8) परिष्कर्त्तव्यम् (पूर्ववत्)।

'सुट्स्तुस्वञ्जाम्' से षत्व होता है।

(9) उपस्कर्त्ता
'सुट्' हुआ।

(10) उपस्कर्तुम् (पूर्ववत्)।
(11) उपस्कर्त्तव्यम् (पूर्ववत्)।

भूषणे०—भूषण अर्थ में ही 'सुट्' होता है—

(12) उपकरोति
'सुट्' नहीं हुआ।

'संस्कृतं भक्षाः' सूत्र ज्ञापक है कि भूषण अर्थ से अन्यत्र भी सम् पूर्वक कृ से पूर्व सुट् का आगम होता है।

(2578) समवाये च *138* (2551)

समवायः = समुदायः, तस्मिंश्चार्थे करोतौ सम्पर्युपेभ्यः कात्पूर्वः सुडागमो भवति। तत्र नः संस्कृतम्। तत्र नः परिष्कृतम्। तत्र नः उपस्कृतम्। समुदितमित्यर्थः।

अर्थ—समुदाय अर्थ में सम्, परि तथा उप से उत्तर जो 'कृ' उसके ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) संस्कृतम्
सम् कृत्—सुट् हुआ,
सम् स् कृत सु—पूर्ववत्।

(2) परिष्कृतम्
'सुट्' हुआ।

(3) उपस्कृतम् (पूर्ववत्)।

(2579) उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु *139* (2552)

सतो गुणान्तराधानमाधिक्याय वृद्धस्य वा तादवस्थ्याय समीहा = प्रतियत्नः। विकृतमेव वैकृतम्, प्रज्ञादित्वादण् (5.4.38)। गम्यमानार्थस्य वाक्यस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्यस्याध्याहारः। एतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु करोतौ धातौ परत उपात् सुट् कात्पूर्वो भवति। प्रतियत्ने तावत्–एधोदकस्योपस्कुरुते। काण्डगुणस्योपस्कुरुते। वैकृते–उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं गच्छति। वाक्याध्याहारे–उपस्कृतं जल्पति। उपस्कृतमधीते। एतेष्विति किम्? उपकरोति।

अर्थ—किसी वस्तु में नये गुणों का आधान 'प्रतियत्न' कहलाता है। वैकृत = विकृत। प्रज्ञादिगण में पाठ होने से 'अण्' हुआ है। गम्यमान अर्थ का वाक्य-स्वरूप के द्वारा उपादान ही 'वाक्याध्याहार' कहलाता है। प्रतियत्न, वैकृत तथा वाक्याध्याहार—इन अर्थों में उप से उत्तर जो 'कृ', उसके ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है।

उदा० (क) प्रतियत्ने—

(1) एधोदकस्योपस्कुरुते (=लकड़ी पानी को उपस्कृत करती है)
उप सुट् कृ—लट् प्र० पु० एकवचन
उपस्कुरुते—लकारकार्य।

(2) काण्डगुणस्योपस्कुरुते
पूर्ववत् 'सुट्'।

(ख) वैकृते—

(3) उपस्कृतं भुङ्क्ते (= विकृत रीति से खाता है)
पूर्ववत् 'सुट्'।

(4) उपस्कृतं गच्छति
पूर्ववत् 'सुट्'।

(ग) वाक्याऽध्याहारे—

(5) उपस्कृतं जल्पति
'सुट्' हुआ।

(6) उपस्कृतमधीते (पूर्ववत्)।

एतेष्विति०—सूत्रोक्त अर्थों में ही 'सुट्' होता है—

(7) उपकरोति
'सुट्' नहीं हुआ।

(2580) किरतौ लवने *140* (2539)

'उपात्' इत्येव। उपादुत्तरस्मिन्किरतौ धातौ लवनविषये सुट् कात्पूर्वो भवति। उपस्कारं मद्रका लुनन्ति। उपस्कारं काश्मीरा लुनन्ति। विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थः। *णमुलत्र वक्तव्यः*। लवन इति किम्। उपकिरति देवदत्तः।

अर्थ—लवन अर्थ में वर्त्तमान 'उप' से उत्तर जो 'कृ', उसके ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) उपस्कारं मद्रका लुनन्ति
उप कृ णमुल्—णकार, उकार व लकार अनुबन्धों का लोप,
उप सुट् कृ अम्—वृद्धि आदेश।

लवन अर्थ में ही 'सुट्' होता है—

(2) उपकिरति देवदत्तः
यहाँ नहीं हुआ।

(2581) हिंसायां प्रतेश्च *141* (2540)

'किरतौ' इत्येव। उपात्प्रतेश्चोत्तरस्मिन्किरतौ विषये सुट् कात्पूर्वो भवति हिंसायां विषये। उपस्कीर्णं हं ते वृषल भूयात्। प्रतिस्कीर्णं हं ते वृषल भूयात्। तथा ते वृषल! विक्षेपो भूयाद् यथा हिंसामनुबध्नातीत्यर्थः। हिंसायामिति किम्? प्रतिकीर्णम्।

अर्थ—किरतौ, उपात्—इनका अनुवर्त्तन है। संहिता के विषय में प्रति तथा उप से उत्तर हिंसा अर्थ में वर्त्तमान 'कृ' धातु, उसके ककार से पूर्व 'सुट्' आगम होता है।

उदा० (1) उपस्कीर्ण हं ते
'सुट्' हुआ।

हिंसाया०—हिंसा अर्थ में ही 'सुट्' होता है—

(2) प्रतिकीर्णम्
प्रति कॄ क्त—यहाँ नहीं हुआ।

(2582) अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने *142* (2688)

'किरतौ' इत्येव। अपादुत्तरस्मिन्किरतौ चतुष्पाच्छकुनिषु यदालेखनं तस्मिन् विषये सुट् कात्पूर्वो भवति। अपस्किरते वृषभो हृष्टः। अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी। अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी (म०भा०)। आलिख्य विक्षिपतीत्यर्थः। चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम्? अपकिरति देवदत्तः। *हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम्* (म०भा०)। इह मा भूत्-अपकिरति श्वा ओदनपिण्डमाशितः। *हर्षजीविकाकुलायकरणेष्वेव किरतेरात्मनेपदस्योपसंख्यानम्*।

अर्थ—'किरतौ' का अधिकार है। संहिता में चतुष्पाद् तथा पक्षी के द्वारा कुरेदना अर्थ गम्यमान हो तो 'अप' उपसर्ग से उत्तर 'कॄ' धातु के ककार से पूर्व 'सुट्' होता है।

उदा० (1) अपस्किरते वृषभः
अप सुट् कॄ त—लकारकार्य।

(2) अपस्किरते कुक्कुटः (पूर्ववत्)।
(3) अपस्किरते श्वा (पूर्ववत्)।

चतुष्पाच्छ०—चतुष्पाद् व शकुनि के द्वारा आलेखन अर्थ में 'सुट्' होता है—

(4) अपकिरति देवदत्तः
यहाँ 'सुट्' नहीं हुआ।

हर्षजीविका०—हर्ष जीविका तथा कुलायकरण अर्थों में ही 'सुट्' होता है—

(5) अपकिरति श्वा
यहाँ 'सुट्' नहीं हुआ।

हर्षजीविका०—हर्ष, जीविका तथा कुलायकरण अर्थों में ही 'कॄ' धातु से आत्मनेपद होता है—

(6) अपस्किरते

(2583) कुस्तुम्बुरूणि जातिः *143* (1058)

'कुस्तुम्बुरूणि' इति सुट् निपात्यते जातिश्चेद्भवति। कुस्तुम्बुरुर्नामौषधिजातिः = धान्यकम्। तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरूणि। सूत्रनिर्देशे नपुंसकलिङ्गमविवक्षितम्। जातिरिति किम्? कुत्सितानि तुम्बुरूणि कुतुम्बुरूणि। तुम्बुरुशब्देनात्र तिन्दुकीफलान्युच्यन्ते, समासेन तेषां कुत्सा।

अर्थ—संहिता के विषय में कुस्तुम्बुरु शब्द में 'सुट्' आगम का निपातन किया जाता है; यदि वह 'जाति' अर्थ वाला हो।

उदा० (1) कुस्तुम्बुरुणि
कुस्तुम्बुरु—औषधि की जातिविशेष है। उसके फल को भी कुस्तुम्बुरु कहते हैं।

सूत्रनिर्देश में नपुँसकलिंग अविवक्षित है।

जातिरिति०—जाति अर्थ में ही 'सुट्' होता है—

(2) कुतुम्बुरूणि
कुत्सितानि तुम्बुरूणि—'सुट्' नहीं हुआ।

(2584) अपरस्पराः क्रियासातत्ये *144* (1059)

'अपरस्परा' इति सुट् निपात्यते क्रियासातत्ये गम्यमाने। अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति। सन्ततमविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः। क्रियासातत्य इति किम्? अपरपराः सार्थाः गच्छन्ति। अपरे परे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः। नात्र गमनस्य सातत्यप्रबन्धो विवक्षितः। किमिदं सातत्यमिति? सततस्य भावः सातत्यम्। कथं सततम्? समस्तते विकल्पेन मकारलोपो विधीयते।

लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि।
समो वा हिततततयोर्मासस्य पचि युड्घञोः॥

अर्थ—संहिता के विषय में क्रियासातत्य गम्यमान हो तो 'अपस्पराः' शब्द में 'सुट्' का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अपस्पराः सार्था गच्छन्ति
यहाँ निपातन से 'सुट्' हुआ।

क्रियासा—क्रियासातत्य अर्थ में ही यह 'सुट्' होता है—

(2) अपरपराः सार्था गच्छन्ति
'सुट्' नहीं हुआ।

यहाँ गमन का सातत्य प्रबन्ध उक्त नहीं है। सातत्य क्या

है ? सतत के भाव को 'सातत्य' कहते हैं। सतत किस प्रकार होता है ? विकल्प से मकार के लोप का विधान किया जाता है।

लुम्पेद—कृत्य प्रत्ययान्त शब्द परे रहते 'अवश्यम्' का लोप होता है। यह लोप अलोऽन्त्य परिभाषा से अन्त्य (अर्थात् मकार) का होता है। यथा—

(3) अवश्यकर्त्तव्यम्
अवश्यम् कर्त्तव्यम्।

तुङ्काम०—काम तथा मनस् शब्द परे रहते तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द का लोप होता है—

(4) कर्त्तुकामः
कर्त्तुं कामोऽस्य—अलोऽन्त्य परिभाषा से मकार का लोप हुआ।

(5) हर्त्तुमनाः
हर्त्तुं मनोऽस्य—पूर्ववत् मकार का लोप,
हर्त्तु मनस् सु—विभक्तिकार्य।

समो वा०—हित तथा तत शब्द परे रहते 'सम्' का लोप विकल्प से होता है। यहाँ भी अन्त्य अल् का लोप होता है।

(6) सततम्
सम् तत—लोप, विभक्तिकार्य। कुगतिप्रादयः।

(7) सन्ततम्
पक्ष में लोप नहीं हुआ।

(8) सहितम्
सम् हित सु—लोप हुआ।

मांसस्य०—ल्युट् तथा घञ् प्रत्ययान्त पच् धातु के परे रहते 'मांस' शब्द का विकल्प से लोप होता है—

(9) मांस्पचनम्
मांस पच् ल्युट् सु—कृद्योगा च षष्ठी समस्यते, अन्त्य का लोप।

(10) मांसपचनम्
लोप नहीं हुआ।

(11) मांस्पाकः
मांस पच् घञ् सु—अन्त्य लोप हुआ।

(12) मांसपाकः
लोप नहीं हुआ।

(2585) गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु *145* (1060)

गोष्पदमिति सुट् निपात्यते, तस्य च षत्वं सेवितेऽसेविते प्रमाणे च विषये। गोष्पदो देशः। गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो देशो गोष्पद इत्युच्यते। असेविते-अगोष्पदान्यरण्यानि। असेविते गोष्पदशब्दो न सम्भवतीत्यगोष्पदशब्दार्थं निपातनम्। यद्येवम्, नार्थ एतेन, गोष्पद-प्रतिषेधादगोष्पदं भविष्यति? सत्यमेतत्; यत्र तु सेवित-प्रसङ्गोऽस्ति तत्रैव स्याद्-गोष्पदमिति। यत्र त्वत्यन्तासम्भव एव, तत्र न स्याद्-अगोष्पदान्यरण्यानीति; असेवितग्रहणात्तत्रापि भवति। यानि हि महान्त्यरण्यानि येषु गवामत्यन्तासम्भवः, तान्येवमुच्यन्ते। प्रमाणे-गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। नात्र गोष्पदं स्वार्थप्रतिपादनार्थमुपादीयते, किं तर्हि? क्षेत्रस्य वृष्टेश्च परिच्छेत्तुमियत्ताम्। सेवितासेवितप्रमाणेष्विति किम्? गोः पदं गोपदम्।

अर्थ—संहिता के विषय में सेवित, असेवित तथा प्रमाण—इन विषयों में 'गोष्पद' शब्द में निपातन से सुट् आगम तथा षत्व होता है।

उदा० (1) गोष्पदो देशः
गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः सेवितः—
गोस् पद सु—सुट्, षत्व।

(2) अगोष्पदान्यरण्यानि
इसका निपातन किया गया है।

यदि ऐसा है। इससे कोई प्रयोजन नहीं। गोष्पद के निषेध से 'अगोष्पद' होता है। यह उचित है। जहाँ सेवित का प्रसंग है, वहाँ पर ही 'अगोष्पद' होता है। जहाँ अत्यन्त असम्भव ही होता है, वहाँ 'अगोष्पदान्यरण्यानि' नहीं होता है। असेवित का ग्रहण होने से वहाँ भी होता है। जो महान् अरण्य हैं, जिनमें गायों का अत्यन्त सम्भव है, उन्हें ही कहा जाता है।

(3) गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् (पूर्ववत्)।
(4) गोष्पदपूरं वृष्टो देवः (पूर्ववत्)।

यहाँ स्वार्थ के प्रतिपादन के लिए 'गोष्पद' शब्द का उपादान नहीं किया जाता है।

सेवितासे०—सेवित, असेवित तथा प्रमाण अर्थों में ही 'गोष्पद' शब्द होता है—

(5) गोपदम्

गोः पदम्—'सुट्' नहीं हुआ।

(2586) आस्पदं प्रतिष्ठायाम् *146* (1061)

आत्मयापनाय स्थानम् = प्रतिष्ठा, तस्यामास्पदमिति सुट् निपात्यते। आस्पदमनेन लब्धम्। प्रतिष्ठायामिति किम्? आ पदात्–आपदम्।

अर्थ—आत्मयापन के लिए जो स्थान होता है, उसे 'प्रतिष्ठा' कहते हैं। संहिता के विषय में प्रतिष्ठा गम्यमान हो तो 'आस्पद' शब्द निपातित होता है।

उदा० (1) आस्पदम्
आ सुट् पद—निपातन से 'सुट्' हुआ।

प्रतिष्ठा०—प्रतिष्ठा अर्थ में ही 'आस्पद' शब्द निपातित होता है—

(2) आपदम्
आ पदात्—'सुट्' नहीं हुआ।

(2587) आश्चर्यमनित्ये *147* (1062)

अनित्यतया विषयभूतयाऽद्भुतत्वमिह लक्ष्यते, तस्मिन्नाश्चर्यं निपात्यते। 'चरेराङि चागुरौ' (वा० 215) इति यत्प्रत्यये कृते निपातनात्सुट्। आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत। आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत। चित्रमद्भुतमित्यर्थः। अनित्य इति किम्? आचर्यं कर्म शोभनम्।

अर्थ—अद्भुतता गम्यमान हो तो 'आश्चर्य' शब्द का निपातन किया जाता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) आश्चर्यम्
आ चर् यत्—चरेराङि चाऽगुरौ (वा०),
आ स् चर् य—निपातन से 'सुट्'।
इसी प्रकार—आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत।

अनित्य०—अद्भुतता अर्थ में ही 'आश्चर्य' शब्द होता है—

(2) आचर्यम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2588) वर्चस्केऽवस्करः *148* (1063)

कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम् = अन्नमलम्, तस्मिन्नभिधेयेऽवस्कर इति निपात्यते। अवपूर्वस्य किरतेः कर्मणि 'ऋदोरप्' (3.3.57) इत्यप्, निपातनात्सुट्। अवकीर्यत इत्यवस्करः = अन्नमलम्, तत्सम्बन्धाद्देशोऽपि तथोच्यते। वर्चस्क इति किम्? अवकरः।

अर्थ—कुत्सित वर्चस् को 'वर्चस्क' कहते हैं। संहिता के विषय में 'वर्चस्क' अर्थ अभिधेय हो तो 'अवस्कर' शब्द का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अवस्करः
अव कृ अप्—कर्म में 'ऋदोरप्' से 'अप्',
अवस् कर् अ—निपातन से 'सुट्', गुण,
अवस्करः—सु।
अवकीर्यत इति—अवस्करः। तत् सम्बन्ध से देश को भी यह होता है।

वर्चस्क०—कुत्सित वर्चस् अर्थ में ही 'सुट्' होता है—

(2) अवकरः
'सुट्' नहीं हुआ।

(2589) अपस्करो रथाङ्गम् *149* (1064)

'अपस्कर' इति निपात्यते रथाङ्गं चेद्भवति। अथपूर्वात्किरतेः 'ऋदोरप्' (3.3.57) इत्यप्, निपातनात् सुट्। अपस्करो रथावयवः। रथाङ्गमिति किम्? अपकरः।

अर्थ—'रथांग' अर्थ में वर्त्तमान 'अपस्कर' का निपातन किया जाता है।

उदा० (1) अपस्करः
अप कृ अप्—ऋदोरप्,
अपस् कर् अ—निपातन से सुट्,
रथाङ्ग—रथांग अर्थ में ही 'सुट्' होता है—

(2) अपकरः
यहाँ 'सुट्' नहीं हुआ।

(2590) विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा *150* (1065)

'विकिर' इति किरतेर्विपूर्वस्य 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (3.1.135) इति कप्रत्यये विहिते सुट् निपात्यते शकुनिश्चेद्भवति, विकिरशब्दाभिधेयो वा शकुनिर्भवति।

सर्वे शकुनयो भक्ष्या विष्किराः कुक्कुटादृते।

'विष्किरो वा शकुनौ' इति वाग्रहणादेव सुड्विकल्पे सिद्धे विकिरग्रहणमिह–तस्यापि शकुनेरन्यत्र प्रयोगो मा भूत्।

अर्थ—संहिता के विषय में 'शकुनि' गम्यमान हो तो 'विष्किर' शब्द में विकल्प से 'सुट्' होता है।

उदा० (1) विष्किरः
वि कॄ क—इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः,
वि सुट् किर् अ—निपातन से 'सुट्' हुआ।

(2) विकिरः
वि कॄ क—पक्ष में 'सुट्' नहीं हुआ।

(2591) ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे *151* (3527)

चन्द्रशब्द उत्तरपदे ह्रस्वात्परः सुडागमो भवति मन्त्रविषये। 'सुश्चन्द्रो (तै०सं० 4.4.4.6) युष्मान्'। ह्रस्वादिति किम्? 'सूर्याचन्द्रमसाविव' (ऋ० 5.51.15)। मन्त्र इति किम्? सुचन्द्रा पौर्णमासी। उत्तरपदं समास एव भवतीति प्रसिद्धम्, तत इह न भवति-शुक्रमसि, चन्द्रमसि।

अर्थ—संहिता के विषय में वेदमन्त्र में चन्द्र शब्द के उत्तर पद में रहते ह्रस्व शब्द से पर सुट् आगम होता है।

उदा० (1) द्युश्चन्द्रः
द्यु सुट् चन्द्र सु।

ह्रस्वादि०—ह्रस्व से उत्तर ही 'सुट्' होता है—

(2) सूर्याचन्द्रमसौ
यहाँ 'सुट्' नहीं हुआ।

मन्त्र०—मन्त्र में 'सुट्' होता है—

(3) सुचन्द्रा
यहाँ 'सुट्' नहीं हुआ।

उत्तर पद समास में ही होता है। यह प्रसिद्ध ही है। तब यहाँ नहीं होता है—

(4) शुक्रमसि चन्द्रमसि
यहाँ 'सुट्' नहीं हुआ।

(2592) प्रतिष्कशश्च कशेः *152* (1066)

'कश गतिशासनयोः' (धा०पा० 1025) इत्येतस्य धातोः प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि कृते सुट् निपात्यते, तस्यैव षत्वम्। 'ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः'। वार्त्तापुरुषः, सहायः, पुरोयायी वा प्रतिष्कश इत्यभिधीयते। कशेरिति किम्? प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्वः। अत्र यद्यपि कशेरेव कशाशब्दः, तथापि कशेरिति धातोरुपादानं तदुपसर्गस्य प्रतेः प्रतिपत्त्यर्थम्। तेन धात्वन्तरोपसर्गान्न भवति।

अर्थ—गति व शासन अर्थों में 'कश' धातु होता है। संहिता के विषय में 'प्रतिष्कश' शब्द निपातित होता है।

उदा० (1) प्रतिष्कशः
प्रति कश् अच्—पचादि गण में पाठ होने से 'अच्' हुआ,
प्रति ष् कश् अ सु—निपातन से सुट् तथा षत्व हुआ।

वार्तापुरुष, सहायक अथवा पुरोयायी को 'प्रतिष्कश' कहते हैं।

कशे०—कश् धातु से ही सूत्रोक्त निपातन होता है—

(2) प्रतिकशोऽश्वः
प्रतिगतः कशाम्—यहाँ नहीं हुआ।

यद्यपि यहाँ कश् से ही 'कशा' शब्द है, तथापि कश् धातु का उपादान प्रति उपसर्ग की प्रतिपत्ति के लिए है। तब अन्य धातु या अन्य उपसर्ग से नहीं होता है।

(2593) प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी *153* (1067)

प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र-इति सुट् निपात्यते, ऋषी चेदभिधेयौ भवतः। प्रस्कण्व ऋषिः। हरिश्चन्द्र ऋषिः। हरिश्चन्द्रग्रहणममन्त्रार्थम्। ऋषी इति किम्? प्रकण्वो देशः। हरिचन्द्रो माणवकः।

अर्थ—ऋषि अर्थ में प्रस्कण्व तथा हरिश्चन्द्र शब्दों का निपातन किया जाता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) प्रस्कण्व ऋषिः
प्र कण्व—सुट् हुआ, सु।

(2) हरिश्चन्द्रः (ऋ० 9.66.26)
पूर्ववत्।

'हरिश्चन्द्र' शब्द का ग्रहण मन्त्र से अतिरिक्त के लिए है।

ऋषी०—ऋषि अर्थ में ही सूत्रोक्त निपातन होता है—

(3) प्रकण्वो देशः
यहाँ नहीं हुआ।

(4) हरिचन्द्रो माणवकः
यहाँ नहीं हुआ।

(2594) मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः *254* (1068)

मस्कर, मस्करिन्-इत्येतौ यथासंख्यं वेणौ परिव्राजके च

निपात्येते। मकरशब्दो ह्यव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्, तस्य वेणावभिधेये सुट् निपात्यते, परिव्राजके त्विनिरपि। मस्करो वेणुः, मस्करी परिव्राजकः। वेणुपरिव्राजकयोरिति किम्? मकरो ग्राहः, मकरी समुद्रः। केचित्पुनरत्र माङ्युपपदे करोतेः करणेऽच्प्रत्ययमपि निपातयन्ति, माङश्च ह्रस्वत्वम्, सुट् च। मा क्रियते येन = प्रतिषिध्यते, स मस्करो वेणुः। वेणुग्रहणं च प्रदर्शनार्थम्। अन्यत्रापि भवति–मस्करो दण्ड इति। परिव्राजकेऽपि माङ्युपपदे करोतेस्ताच्छील्य इनिर्निपात्यते, माङो ह्रस्वत्वं सुट् च तथैव। माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात्परिव्राजक उच्यते। स ह्येवमाह–मा कुरुत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीति।

अर्थ—बाँस तथा संन्यासी—ये अर्थ गम्यमान हों तो यथासंख्य मस्कर तथा मस्करिन् शब्दों का निपातन होता है।

उदा० (1) मस्करः
मा कृ अच्—मकर शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है, उससे 'सुट्' निपातन से होता है,

मस् कर् अ—विभक्तिकार्य।

(2) मस्करी
म सुट् कृ इनि—निपातन से 'सुट्' तथा 'इनि' होते हैं।

वेणु०—बाँस तथा संन्यासी अर्थों में ही सूत्रोक्त निपातन होते हैं—

(3) मकरो ग्राहः
यहाँ नहीं हुआ।

(4) मकरी समुद्रः
यहाँ नहीं हुआ।

केचित्०—कुछ विद्वान् यहाँ माङ् उपपदपूर्वक 'कृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार माङ् को ह्रस्वादेश तथा सुट् का आगम निपातन से होता है—

मा क्रियते येन प्रतिषिद्ध्यते—मस्करो वेणुः।

'वेणु' का ग्रहण प्रदर्शन के लिए है। अन्यत्र स्थलों पर भी सुट् देखा जाता है।

(5) मस्करो दण्डः
परिव्राजक अर्थ में भी माङ् उपपदपूर्वक 'कृ' धातु से ताच्छील्य अर्थ में 'इनि' का निपातन किया जाता है। पूर्ववत् माङ् को ह्रस्वादेश तथा सुट् का आगम निपातन से होता है।

मस्करी
माकरणशीलः—पूर्ववत्।

(2595) कास्तीराजस्तुन्दे नगरे *155* (1069)

कास्तीर, अजस्तुन्द–इत्येतौ शब्दौ निपात्येते नगरेऽभिधेये। ईषत्तीरमस्य, अजस्येव तुन्दमस्येति व्युत्पत्तिरेव क्रियते, नगरं तु वाच्यमेतयोः। कास्तीरं नाम नगरम्। अजस्तुन्दं नाम नगरम्। नगर इति किम्? कातीरम्। अजतुन्दम्।

अर्थ—संहिता के विषय में नगर गम्यमान हो तो कास्तीर और अजस्तुन्द शब्दों को निपातित किया जाता है।

उदा० (1) कास्तीरम्
ईषत् तीरमस्य → का सुट् तीर—सुट् हुआ।

(2) अजस्तुन्दम्
'सुट्' हुआ।

नगर०—नगर अर्थ में ही यह निपातन होता है—

(3) कातीरम्
'सुट्' नहीं हुआ।

(4) अजतुन्दम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2596) कारस्करो वृक्षः *156* (1070)

'कारस्कर' इति सुट् निपात्यते, वृक्षश्चेद्भवति। कारं करोतीति 'दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्त' (3.2.21) इति टप्रत्ययः। कारस्करो वृक्षः। वृक्ष इति किम्? कारकरः। केचित् पारस्करप्रभृतिष्वेव कारस्करो वृक्ष इति पठन्ति।

अर्थ—वृक्ष अर्थ गम्यमान हो तो 'कारस्कर' शब्द निपातित है।

उदा० (1) कारस्करो वृक्षः
कारं करोति—दिवाविभानिशा० से 'ट' हुआ,
कार कृ ट—'सुट्' निपातन से हुआ।

वृक्ष०—वृक्ष अर्थ में ही सुट् होता है—

(2) कारकरः
यहाँ नहीं हुआ।

कुछ विद्वान् इस सूत्र का पाठ नहीं करते हैं। उनके अनुसार 'पारस्करप्रभृतीनि०' सूत्र से ही यह सिद्ध है।

(2597) पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् *157* (1071)

पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते संज्ञायां विषये। पारस्करो देशः। कारस्करो वृक्षः। रथस्पा नदी। किष्कुः प्रमाणम्। किष्किन्धा गुहा। *तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च* (ग०सू० 160)। तस्करश्चोरः। बृहस्पतिर्देवता। चोरदेवतयोरिति किम्? तत्करः। बृहत्पतिः। संज्ञाग्रहणादुपाधिपरिग्रहे सिद्धे गणे चोरदेवताग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। *प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि* (ग०सू० 161)। तुम्पतौ धातौ प्रशब्दात्परस्सुट् भवति गवि कर्तरि। प्रस्तुम्पति गौः। गवीति किम्? प्रतुम्पति वनस्पतिः। पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः। अविहितलक्षणः सुट् पारस्करप्रभृतिषु द्रष्टव्यः। प्रायश्चित्तम्। प्रायश्चित्तिः। यदुक्तम्-'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः सुडस्कारो वा' (म०भा०) इति, तत्संगृहीतं भवति।

अर्थ—संज्ञा के विषय में पारस्कर आदि शब्दों का निपातन किया जाता है, संहिता के विषय में।

उदा० (1) पारस्करो देशः
पार सुट् कृ ट—'सुट्' निपातन से।

(2) कारस्करो वृक्षः (पूर्ववत्)।
(3) रथस्पा नदी (पूर्ववत्)।
(4) किष्कुः प्रमाणम् (पूर्ववत्)।
(5) किष्किन्धा गुहा (पूर्ववत्)।

तद्बृह०—चोर और देवता अर्थों में तद् तथा बृहत् से उत्तर कर और पति शब्दों से पूर्व 'सुट्' आगम होता है—

(6) तस्करः
तद् सुट् कृ अच्—तकार का लोप निपातन से,
तस् कर् अ सु—विभक्तिकार्य।

(7) बृहस्पतिः
बृहत् सुट् पति—निपातन से तकारलोप।

संज्ञा के ग्रहण से उपाधि परिग्रह के सिद्ध होने पर भी गण में चौर व देवता का ग्रहण प्रपञ्च के लिए है। प्र शब्द से उत्तर 'तुम्प्' धातु परे रहते 'प्र' से 'सुट्' आगम होता है; गो कर्त्ता अर्थ में—

(8) प्रस्तुम्पति गौः
'सुट्' हुआ।

गवीति०—गो अर्थ में वर्त्तमान 'तुम्प्' परे रहते 'प्र' को 'सुट्' होता है—

(9) प्रतुम्पति वनस्पतिः
यहाँ आगम नहीं हुआ।

पारस्करादि आकृतिगण है। अविहितलक्षण सुट् आगम पारस्कर आदि शब्दों में देखा जाता है।

(10) प्रायश्चित्तम्
'सुट्' हुआ।

(11) प्रायश्चित्तिः (पूर्ववत्)।

'प्रायस्य चितिचित्तयोः सुडस्कारो वा'—यह जो कहा गया है, वह भी संगृहीत हो जाता है।

(2598) अनुदात्तं पदमेकवर्जम् *158* (3650)

परिभाषेयं स्वरविधिविषया। यत्रान्यः स्वर उदात्तः स्वरितो वा विधीयते, तत्रानुदात्तं पदमेकं वर्जयित्वा भवतीत्येतदुपस्थितं द्रष्टव्यम्। अनुदात्ताच्कमनुदात्तम्। कः पुनरेको वर्ज्यते? यस्यासौ स्वरो विधीयते। वक्ष्यति-'धातोः' (6.1.162) अन्त उदात्तो भवतीति; गोपायतिं, धूपायतिं। धातोरन्त्यमचं वर्जयित्वा परिशिष्टमनुदात्तं भवति। धातुस्वरं श्नास्वरो बाधते-लुनातिं, पुनातिं। श्नास्वरं तस्स्वरः-लुनीतः, पुनीतः। तस्स्वरमाम्स्वरः-लुनीतस्तराम्, पुनीतस्तराम्।

आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः॥
(म०भा०,)

आगमस्य-'चतुरनडुहोरामुदात्तः' (7.1.98) चत्वारः, अनड्वाहः। आगमस्वरः प्रकृतिस्वरं बाधते। विकारस्य-अस्थनि, दधनि इत्यनङ्स्वरः (7.1.75) प्रकृतिस्वरं बाधते। प्रकृतेः-गोपायतिं, धूपायतिं। प्रकृतिस्वरः प्रत्ययस्वरं बाधते। प्रत्ययस्य-कर्त्तव्यम्, हर्त्तव्यम्। प्रत्ययस्वरः प्रकृतेः स्वरस्य बाधकः। परनित्यान्तरङ्गापवादैः स्वरैर्व्यवस्था, सतिशिष्टेन च। यो हि यस्मिन् सति शिष्यते, स तस्य बाधको भवति। तथा हि-गोपायतीत्यत्र धातुस्वरापवादः प्रत्ययस्वरः, तेनैव धातुस्वरेण प्रत्ययान्तस्य धातोः सतिशिष्टत्वाद् बाध्यते। कार्ष्णोत्तरासङ्गपुत्र इत्यत्र च समासस्वरापवादो बहुव्रीहिस्वरः सतिशिष्टेन समासान्तो-

दात्तत्वेन बाध्यते। विकरणस्वरस्तु सतिशिष्टोऽपि सार्वधातुकस्वरं न बाधते। लुनीत इति तस एव स्वरो भवति। *विभक्तिस्वरान्नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। अंतिस्र इत्यत्र 'तिसृभ्यो जसः' (6.1.166) इति सतिशिष्टोऽपि विभक्तिस्वरो नञ्स्वरेण बाध्यते। *विभक्तिनिमित्तस्वराच्च नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्* (म० भा०)। अचंत्वारः, अनंनड्वाह इति। यस्य विभक्तिर्निमित्तमामस्तस्य यदुदात्तत्वं तन्नञ्स्वरेण बाध्यते। पदग्रहणं किम्? देवंदुत्त गामंभ्याजं शुक्ला दण्डेनेति वाक्ये हि प्रतिपदं स्वरः पृथग् भवति। परिमाणार्थं चेदं पदग्रहणं पदाधिकारस्य निवृत्तिं करोति। तेन प्रागेव पदव्यपदेशात् स्वरविधिसमकालमेव शिष्टस्यानुदात्तत्वं भवति। तथा च– कुवल्या विकारः कौवलमित्यत्रानुदात्तादिलक्षणोऽञ् सिद्धो भवति। तथा गर्भिणीशब्दश्चानुदात्तादिलक्षणस्याञो बाधनार्थं भिक्षादिषु पठ्यते। कुवलगर्भशब्दावाद्युदात्तौ।

अर्थ—स्वरविधि के विषय में यह एक परिभाषा है। जहाँ एक पद में उदात्त अथवा स्वरित स्वर का विधान किया जाता है, वहाँ उसे छोड़ कर शेष पद अनुदात्त अच् वाला हो जाता है—ऐसा अधिकार जानना चाहिए। किस एक का वर्जन किया जाता है?

(समा०) जिसके स्वर का विधान किया जाता है। आगे कहा जायेगा।

उदा० (1) गोपायतिं

गोपाय—'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा, 'धातोः' के द्वारा अन्तोदात्त हुआ,

गोपाय—शेष सभी अच् अनुदात्त हो गये हैं,

गोपाय शप् तिप्—लट्, शप् व तिप् अनुदात्त हैं,

गोपायति—'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से एकादेश उदात्त हुआ,

गोपायतिं—'उदात्तादनुदा०' से इकार स्वरित हुआ।

(2) धूपायतिं (पूर्ववत्)।

धातु के अन्त्य अच् को छोड़ कर शेष सभी अच् अनुदात्त हो जाते हैं। धातु के स्वर को श्ना स्वर बाध देता है।

(3) लुनातिं

लू तिप् → लू श्ना ति—प्वादीनां ह्रस्वः,

लुनाति।

श्ना स्वर को तस् स्वर बाध लेता है।

(4) लुनीतः

लू श्ना तस्—प्र०पु० द्विवचन,

लुनीतः—ईत्व, ई हल्यघोः।

(5) पुनीतः (पूर्ववत्)।

तस् स्वर का आम् स्वर बाध कर लेता है।

(6) लुनीतस्तराम्

लुनीतस् तर आमु—तिङश्च, किमेत्तिङव्यय०।

(7) पुनीतस्तराम् (पूर्ववत्)।

आगमस्य०—आगम का, विकार का, प्रकृति का तथा प्रत्यय का पृथक् स्वर की निवृत्ति के लिए एक अच् को छोड़कर पदस्वर होता है।

(क) आगमस्य—

'चतुरनडुहोरामुदात्तः' से 'आम्' होता है, जो उदात्त होता है—

(8) चत्वारः

चतुर् जस् → चतु आम् र् अस्–

चत्वार स्—

(9) अनंड्वाहः

अनडुह् जस् → अनडु आम् ह् अस्–

अनड्वाहः—यणादेश

आगम स्वर प्रकृति स्वर का बाध करता है।

(ख) विकारस्य—

(10) अस्थंनि

अस्थि ङि—'अस्थिदधिस०' से 'अनङ्'।

'असिसञ्जिभ्यां क्थिन्' के द्वारा 'अस्' धातु से 'क्थिन्' प्रत्यय होकर 'अस्थि' शब्द बनता है।

(11) दधंनि

दधि ङि—धा धातु से 'आदृगमहन' तथा 'किकिनौ लिट् च' से 'किन्' होकर 'दधि' शब्द बनता है। पूर्ववत्।

प्रकृति स्वर प्रत्यय के स्वर का बाध करता है।

(12) गोपायतिं (पूर्ववत्)।

(13) धूपायतिं (पूर्ववत्)।

(14) कर्त्तव्यंम्

कृ तव्यत्—'सार्वधातुकार्धधातु०' से गुण,

कर्त्तव्य सु—अचो रहाभ्यां द्वे,

प्रत्यय को आद्युदात्त होता है।

(15) हुर्त्तव्यम् (पूर्ववत्)।

प्रत्यय स्वर प्रकृति स्वर का बाधक होता है।

पर, नित्य, अन्तरंग तथा अपवाद स्वरों के द्वारा तथा सति विशिष्ट स्वर के द्वारा व्यवस्था होती है। जिसके होने पर जो शेष रहता है, वह उसका बाधक होता है—

गोपायति—यहाँ धातु स्वर का अपवाद प्रत्यय स्वर उसी धातु स्वर के द्वारा प्रत्ययान्त धातु का सतिशिष्ट होने से बाधित होता है।

कार्ष्णोत्तरासत्रपुत्रः—यहाँ समास स्वर का अपवाद बहुव्रीहि स्वर सतिशिष्ट के द्वारा समासान्तोदात्त होने से बाधित होता है। विकरण स्वर सतिशिष्ट होते हुए भी सार्वधातुक स्वर का बाध नहीं करता है।

(7) लुनीतः
यहाँ तस् का स्वर ही होता है।

विभक्तिस्व०—विभक्ति स्वर की अपेक्षा नञ् स्वर बलवान् होता है—

(8) अंतिस्रः
'तिसृभ्यो जसः' से सतिशिष्ट भी विभक्ति स्वर पहले नञ् स्वर होने के बाद 'जस्' होने पर उसका स्वर उदात्त सतिशिष्ट होने से बलवान् है। परन्तु नञ् स्वर बलवान् होता है।

विभक्तिनि०—विभक्तिनिमित्त स्वर से भी नञ् स्वर बलवान् होता है—

(9) अचंत्वारः
'चतुरनडुहोराम्०' से 'आम्' उदात्त हुआ। विभक्ति के कारण होने से यह सतिशिष्ट है, परन्तु नञ् का प्रकृति स्वर बलवत्तर है।

पदग्रहण०—सूत्र में 'पद' के ग्रहण का फल यह है कि निम्नलिखित वाक्य में प्रतिपद स्वर पृथक् होता है—

(10) देवदत्त गाम् शुक्लां दण्डेन।

तथा परिमाण के लिए 'पद' का ग्रहण पदाधिकार की निवृत्ति करता है। तब पदव्यपदेश से पूर्व ही स्वरविधि के समकाल ही शिष्ट की अनुदात्तता होती है।

(11) कौवलम्
कुवल्या विकारः—यहाँ अनुदात्तादि लक्षण सिद्ध होता है। 'गर्भिणी' शब्द अनुदात्तादि लक्षण अञ् के बाधनार्थ भिक्षादि गण में पठित है। कुवल तथा गर्भ शब्द आद्युदात्त हैं।

(2599) कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः *159* (3680)

कर्षतेर्धातोराकारवतश्च घञन्तस्यान्त उदात्तो भवति। कर्षः। पाकः। त्यागः। रागः। दायः। धायः। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (6.1.197) इत्यस्यापवादः। कर्ष इति विकृतनिर्देशः कृषतेर्निवृत्त्यर्थः। तौदादिकस्य घञन्तस्य कर्ष इत्याद्युदात्त एव भवति।

अर्थ—कृष् धातु तथा आकारवान् घञन्त शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) कर्षः
कृष् घञ् सु—उपधा को गुण, अन्तोदात्त हुआ, शेष अनुदात्त।

(2) पाकः
पच् घञ्—पूर्ववत्।

(3) त्यागः
त्यज् घञ्—पूर्ववत्।

(4) रागः
रञ्ज् घञ्—पूर्ववत्।

(5) दायः
दा युक् अ—आतो युक् चिण् कृतोः,
दाय सु—विभक्तिकार्य।

(6) धायः (पूर्ववत्)।

ञ्नित्या०—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्०' इसका यह अपवाद है। कृष् धातु की निवृत्ति के लिए 'कर्ष' यह विकृत निर्देश है। घञ् प्रत्ययान्त तौदादिक 'कर्ष' इसे आद्युदात्त ही होता है।

(2600) उञ्छादीनां च *160* (3681)

'उञ्छ' इत्येवमादीनामन्त उदात्तो भवति। उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्झः, जल्पः-एते घञन्ता इति, ञित्स्वरः प्राप्तः। जपः, व्यधः-इत्यबन्तौ, तयोर्धातुस्वरः प्राप्तः। केचित्तु वध इति पठन्ति। युगः। युजेर्घञन्तस्य निपातनादगुणत्वं विशिष्टविषये च निपातनमिदमिष्यते। कालविशेषे रथाद्युपकरणे च युगशब्दस्य प्रयोगः, अन्यत्र हि योग एव भवति। *गरो दूष्येऽबन्तः *(ग०सू० 162) गरबन्तोऽबन्तः, स दूष्य एवान्तोदात्तः। गरः = विषम्। अन्यत्राद्युदात्त एव। *वेदवेगवेष्टबन्धाः करणे* (ग०सू० 163)। 'हलश्च' (3.3.121) इति घञन्ताः, एते करणेऽन्तोदात्ता भवन्ति।

भावे आद्युदात्ता एव। *स्तुयुद्रुवश्छन्दसि* (ग०सू० 164)। उपसमस्तार्थमेतत्। परिष्टुत्। संयुत्। परिद्रुत्। *वर्त्तनिः स्तोत्रे* (ग०सू० 165)। स्तोत्रम् = साम, तत्स्थो वर्त्तनिशब्दोऽन्तोदात्तो भवति, अन्यत्र मध्योदात्तः। *श्वभ्रे दुरः* (ग०सू० 166)। श्वभ्रेऽभिधेये दरशब्दोऽन्तोदात्तः। अन्यत्राबन्तत्वादाद्युदात्तः। *साम्बतापौ भावगर्हायाम्* (ग०सू० 167)। अन्तोदात्तौ, अन्यत्राद्युदात्तौ। *उत्तमशश्वत्तमशब्दौ सर्वत्र* (ग०सू० 168)। केचित्तु 'भावगर्हायाम्' इति अत्राप्यनुवर्तयन्ति। *भक्षमन्थभोगदेहाः* (ग०सू० 169)। एते घञन्ताः। भक्षिर्ण्यन्तोऽपि घञन्त एव; 'एरच्' (3.3.56) अण्यन्तानाम् इति वचनात्।

अर्थ—उञ्छ आदि शब्दों को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) उञ्छः

उञ्छ् घञ् सु—अन्तोदात्त हुआ।

(2) म्लेच्छः (पूर्ववत्)।

(3) जञ्जः (पूर्ववत्)।

(4) जल्पः (पूर्ववत्)।

एते०—ये सभी घञन्त हैं। अतः ञित् स्वर प्राप्त था। जव तथा व्यध अप् प्रत्ययान्त हैं। इन्हें धातु स्वर प्राप्त था। कुछ लोग 'वध' ऐसा पाठ मानते हैं।

घञ् प्रत्ययान्त युज् धातु को निपातन से गुण का अभाव तथा विशिष्ट विषय में यह निपातन होता है। कालविशेष में रथादि उपकरण अर्थ में 'युग' शब्द का प्रयोग होता है, अन्यत्र 'योग' शब्द ही होता है।

(5) गरः

दूष्य अर्थ में 'गर' शब्द अन्तोदात्त होता है; अन्यत्र आद्युदात्त होता है।

गॄ अप् सु।

करण अर्थ में वेद, वेग, वेष्ट तथा बन्ध शब्द अन्तोदात्त होते हैं—

(6) वेदः, (7) वेगः, (8) वेष्टः, (9) बन्धः।

'हलश्च' से 'घञ्' हुआ है। भाव में ये आद्युदात्त ही होते हैं।

वेद में स्तु, यु, द्रु अन्तोदात्त होते हैं—

(7) परिष्टुत्

परि स्तु क्विप्—सर्वापहार लोप, तुक्, सु।

(8) संयुत् (पूर्ववत्)।

(9) परिद्रुत् (पूर्ववत्)।

स्तोत्र में 'वर्त्तनि' शब्द अन्तोदात्त होता है—

(10) वर्त्तनिः

अन्यत्र मध्योदात्त होता है।

(11) श्वभ्रेदुरः

'दर' शब्द अन्तोदात्त है। अन्यत्र अप् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त है।

(12) साम्बः, (13) तापः

ये शब्द भावगर्हा अर्थ में अन्तोदात्त होते हैं, अन्यत्र आद्युदात्त हैं।

(14) उत्तमः; (15) शश्वत्तमः

ये शब्द सर्वत्र अन्तोदात्त होते हैं। कुछ विद्वान् यहाँ भी 'भावगर्हायाम्' का अनुवर्तन मानते हैं।

(16) भक्षः, (17) मन्थः, (18) भोगः, (19) देहः,

ये शब्द अन्तोदात्त होते हैं। भक्ष् धातु से घञ् णिच् में किया गया है। 'एरच्' इस वचन से 'ण्यन्त' को भी होता है।

(2601) अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः *161* (3651)

'उदात्त' इति वर्तते। यस्मिन्ननुदात्ते परत उदात्तो लुप्यते, तस्यानुदात्तस्यादिरुदात्तो भवति। कुमार ई कुमारी। कुमारशब्दोऽन्तोदात्तः, तस्य ङीप्यनुदात्ते उदात्तो लुप्यते। अनुदात्तो ङीब् उदात्तः, 'भस्य टेर्लोपः' (7.1.88)। पथः। पथा। पथे। पथिन् शब्दोऽन्तोदात्तः। 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' (4.2.87) कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्। कुमुदादयोऽन्तोदात्ताः। ड्मतुबनुदात्तः। अनुदात्तस्येति किम्? प्रासङ्गं वहति प्रासङ्ग्यः। प्रासङ्गशब्दः थाथादिस्वरेण (6.2.144) अन्तोदात्तः। तस्य यति 'तित्स्वरितम्' (6.1.185) इति स्वरिते उदात्तो लुप्यते? नैतदस्ति; स्वरिते हि विधीयमाने परिशिष्टमनुदात्तम्, तत् कुत उदात्तलोपः? तदेतदनुदात्तग्रहणमादेरनुदात्तस्योदात्तार्थम्। 'अन्तः' इति हि प्रकृतत्वादन्तस्य स्यात्—मा हि धुक्षातांम्, मा हि धुक्षाथांम्। यत्रेति किम्? भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः। प्राक् सुबुत्पत्तेर्गोत्रप्रत्ययस्य लुक्। उदात्तग्रहणं किम्? बैदीं। और्वी।

अर्थ—'उदात्तः' का अनुवर्त्तन है। जिस अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप होता है, उस अनुदात्त को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) कुमारी
कुमार—अन्तोदात्त है, स्त्रीत्व में 'ङीप्' हुआ,
कुमार ङीप्—'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से 'ई' अनुदात्त है, 'यस्येति च' से अकार (उदात्त) का लोप हुआ,
कुमारी सु—'ई' उदात्त हो गया,
कुमारी—शेष अनुदात्त हुआ।

(2) पथः
पथिन् शस्—भसंज्ञा, टिलोप,
पथ् अस्—पूर्ववत् उदात्त हुआ।

(3) पथा
पथिन् टा—पूर्ववत्।

(4) पथे
पथिन् ङे—पूर्ववत्।
'पथिन्' अन्तोदात्त है।

(5) कुमुद्वान्
कुमुद मतुप्—कुमुदनडवेत० से 'ड्मतुप्' हुआ,
कुमुद्वत् सु—पूर्ववत् उदात्त हुआ।

(6) नड्वान् (पूर्ववत्)।
कुमुद आदि अन्तोदात्त हैं।

अनुदात्त को ही उदात्त होता है—

(7) प्रासङ्ग्यः
प्रासङ्गं वहति—प्रासंग शब्द अन्तोदात्त है, थाथघञ०,
प्रासङ्ग यत्—स्वरित 'यत्' के परे रहते उदात्त (अकार) का लोप हुआ, अतः आद्युदात्त नहीं हुआ।

स्वरिते०—स्वरित के विधीयमान होने पर परिशिष्ट अनुदात्त होता है। तब उदात्तलोप किस प्रकार होता है। यह जो 'अनुदात्त' का ग्रहण है, यह आदि अनुदात्त के स्थान पर उदात्त के लिए है। 'अन्तः' का अर्थ यह है कि प्रकृत सूत्र के द्वारा अन्त के स्थान पर हो।

(8) मा हि धुक्षाताम्
यहाँ हो गया है।

(9) मा हि धुक्षायाथाम् (पूर्ववत्)।

यत्रेति०—यत्र का फल यह है कि जहाँ उदात्त का लोप होता है, वहाँ ही होता है—

(10) भार्गवः
यहाँ नहीं हुआ।

(11) भार्गवौ (पूर्ववत्)।

(12) भृगवः (पूर्ववत्)।

सुप् की उत्पत्ति से पूर्व प्रत्यय का लुक् होता है।

उदात्त०—उदात्त का ग्रहण है, ताकि निम्नलिखित में न हो—

(13) बैदीं
बिंदस्य गोत्राऽपत्यम्–'अनृष्यानन्तर्ये बिदादि०' से 'अञ्',
बैद ङीप् सु—आदिवृद्धि।

(14) औवीं (पूर्ववत्)।

(2602) धातोः *162* (3671)

'अन्तः' इत्येव। धातोरन्त उदात्तो भवत्ति। पचंति। पठंति। उर्णोति। गोपायति। यातिं।

अर्थ—'अन्तः' का अनुवर्त्तन है। धातु को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) पचंति
पच् तिप्—अनुदात्तौ सुप्पितौ,
पच् शप् ति—धातु के अन्तोदात्त होने से 'शप्' के अकार को स्वरित हुआ।

(2) पठंति (पूर्ववत्)।
(3) ऊर्णोतिं (पूर्ववत्)।
(4) गोपायतिं (पूर्ववत्)।
(5) यातिं (पूर्ववत्)।

(2603) चितः *163* (3710)

चितोऽन्त उदात्तो भवति। 'भञ्जभासमिदो घुरच्' (3.2.161) भङ्गुरम्। भासुरम्। मेदुरम्। 'आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच्' (2.4.70), कुण्डिनाः। चिति प्रत्यये प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्त उदात्त इष्यते। बहुपटवः। उच्चकैः।

अर्थ—'चित्' शब्द अन्तोदात्त है। चित् = जिसका चकार इत् है।

उदा० (1) भङ्गुरम्
भञ्ज् घुरच्—भञ्जभासभिदो०,
भङ्ग उर सु—अन्तोदात्त।

(2) भारम् (पूर्ववत्)।
(3) मेदुरम् (पूर्ववत्)।
(4) कुण्डिना:
आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्ति०।

चित् प्रत्यय में प्रकृति-प्रत्यय समुदाय का अन्तोदात्त होता है।

(5) बहुपटव:
(6) उच्चकै:।

(2604) तद्धितस्य *164* (3711)

'चितः' इत्येव। चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति। 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' (4.1.18) कौञ्जायनाः। मौञ्जायनाः। किमर्थमिदम्? परमपि ञित्स्वरं बाधित्वाऽन्तोदात्तत्वमेव यथा स्यादिति।

अर्थ—'चितः' का अनुवर्त्तन है। तद्धित जो चित् प्रत्यय, उसे अन्तोदात्त होता है।

चित् शब्द से मत्वर्थीय 'अ' प्रत्यय होकर 'चित' शब्द बनता है।

उदा० (1) कौञ्जायना:
कुञ्ज च्फञ्—गोत्रे कुञ्जादिभ्य०,
कौञ्जायन जस्—प्रथमा बहुवचन,
कौञ्जायना:—अन्तोदात्त।

(2) मौञ्जायना: (पूर्ववत्)।

किमर्थ०—यह किसलिए है? पर ञित् स्वर का बाध करके अन्तोदात्त ही होता है।

(2605) कितः *165* (3712)

'तद्धितस्य' इत्येव। तद्धितस्य कितोऽन्त उदात्तो भवति। 'नडादिभ्यः फक्' (4.1.99), नाडायनः। चारायणः। 'प्राग्वहतेष्ठक्' (4.4.1) आक्षिकः। शालाकिकः।

अर्थ—'तद्धितस्य' का अनुवर्त्तन है। तद्धित कित् प्रत्यय अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) नाडायन:
नड फक्—नडादिभ्य: फक्,
नाड आयन सु—अन्तोदात्त हुआ।

(2) चारायण:
चर फक्—पूर्ववत्।

(3) आक्षिक:
अक्ष ठक्—प्राग्वहतेष्ठक्,

(4) शालाकिक:
शलाका ठक्—पूर्ववत्।

(2606) तिसृभ्यो जसः *166* (3713)

तिसृभ्य उत्तरस्य जसोऽन्त उदात्तो भवति। तिस्रस्तिष्ठन्ति। 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इत्यस्यापवादः। शसि 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (6.1.174) इति सिद्धे, अन्यत्र बहुवचने 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (6.1.179) इति विधानाज्जसेव लभ्यत इति जस्ग्रहणमुपसमस्तार्थमेक इच्छन्ति, अतितिस्राावित्यत्र स्वरो मा भूदिति।

अर्थ—तिसृ शब्द से उत्तर जस् विभक्ति अन्तोदात्त होती है।

उदा० (1) तिस्र:
त्रि → तिसृ जस्—'तिसृ' आदेश,
तिस्र स्—अन्तोदात्त हुआ।

उदात्त०—'त्रि' शब्द को अन्तोदात्त (फिट् सू० 1) होता है। फलत: 'तिसृ' शब्द भी अन्तोदात्त हुआ। यणादेश होने से 'उदात्तस्वरितयो०' के द्वारा अनुदात्त (अनुदात्तौ सुप्पितौ) 'जस्' को स्वरित प्राप्त था, परन्तु अन्तोदात्त हुआ।

शसि०—शस् विभक्ति में 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' के द्वारा सिद्ध होने पर अन्यत्र बहुवचन में 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलात्' विधान से प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'जस्' का ग्रहण उप समस्त के लिए है। ताकि 'अतितिस्रौ' यहाँ स्वर न हो।

(2607) चतुरः शसि *167* (3682)

चतुरः शसि परतोऽन्त उदात्तो भवति। चतुरः पश्य। चतस्रादेशे आद्युदात्तनिपातनाद् यणादेशस्य च पूर्वविधौ स्थानिवत्त्वादयं स्वरो न भवति–चतस्रः पश्येति।

अर्थ—'शस्' परे रहते 'चतुर्' शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) चतुर:
चतुर्—ञ्नित्यादि०,
चतुर् शस्—अन्तोदात्त हुआ।

चतसृ आदेश करने पर आद्युदात्त निपातन से यणादेश के पूर्वविधि में स्थानिवत् होने से यह स्वर नहीं होता है।

(2) चतस्रः
चतसृ शस्।

(2608) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः *168* (3714)

'सौ' इति सप्तमीबहुवचनस्य सुशब्दस्य ग्रहणम्। तत्र सौ य एकाच् तस्मात्परा तृतीयादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति। वाचा, वाग्भ्याम्, वाग्भिः। वाग्भ्यः। याता, याद्भ्याम्, याद्भिः। सावितिं किम्? राज्ञां। राज्ञें। एकाच इति किम्? हरिंणा। गिरिंणा। राजंसु। तृतीयादिरिति किम्? वाचौं। वाचंः। विभक्तिरिति किम्। वाक्तंरा। वाक्तंमा। सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणादिह न भवति-त्वंयां, त्वयींति।

अर्थ—'सौ' यह सप्तमी बहुवचन 'सु' प्रत्यय का ग्रहण है। 'सु' परे रहते एकाच् शब्द से उत्तर तृतीयादि विभक्ति को उदात्त होता है।

उदा० (1) वाचा
वाच् टा—तृतीया एकवचन,
वाचा—उदात्त हुआ।
(2) वाग्भ्याम्
वाच् भ्याम्—पूर्ववत्।
(3) वाग्भिः
वाच् भिस्—पूर्ववत्।
(4) वाग्भ्यः (पूर्ववत्)।
(5) याता—यात टाप् (पूर्ववत्)।
(6) याद्भ्याम्
यात् भ्याम्।
(7) याद्भिः
यात् भिस्।

सावितिं०—सु परे रहते एकाच् से उत्तर तृतीयादि को उदात्त होता है—

(8) राज्ञा
राजन् सु—राज सु यह 'सुप्' परे रहते एकाच् नहीं रहता है। अतः 'टा' विभक्ति को उदात्त नहीं हुआ।

(9) राज्ञे (पूर्ववत्)।

एकाच०—'सु' परे रहते जो एकाच्, उससे उत्तर तृतीयादि विभक्ति को उदात्त होता है—

(10) हरिणा
यहाँ अनेकाच् से उत्तर तृतीयादि विभक्ति है। अतः उदात्त नहीं हुआ।

(11) गिरिणा (पूर्ववत्)।

(12) राजसु।

तृतीयादि०—तृतीयादि विभक्तियों को ही उदात्त होता है—

(13) वाचौ
वाच् औ—यहाँ तृतीयादि विभक्ति नहीं है, अतः इसे उदात्त नहीं हुआ।

(14) वाचः
वाच् जस्—पूर्ववत्।

विभक्ति०—विभक्तिसंज्ञक को ही उदात्त होता है—

(15) वाक्तरा
यहाँ तृतीयादि विभक्ति है, परन्तु यह विभक्तिसंज्ञक नहीं है, अतः उदात्त नहीं हुआ।

(16) वाक्तमा (पूर्ववत्)।

सप्तमी०—सप्तमी बहुवचन का ग्रहण होने से निम्नलिखित में नहीं होता है—

(17) त्वयां
युष्मद् सु—युष्मासु। यहाँ 'सुप्' परे रहते अनेकाच् है। अतः तृतीयादि में एकाच् रहने पर भी उदात्त नहीं हुआ।

(18) त्वयिं
पूर्ववत् उदात्त नहीं हुआ।

(2609) अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे *169* (3715)

'एकाच' इति वर्तते, 'तृतीयादिर्विभक्तिः' इति च। नित्यशब्दः स्वर्यते, तेन नित्याधिकारविहितः समासः पर्युदस्यते। नित्यसमासादन्यत्रानित्यसमासे यदुत्तरपदमन्तोदात्तमेकाच्च तस्मात्परा तृतीयादिर्विभक्तिरन्यतरस्यामुदात्ता भवति। परमवाचा, परमवाचे। परमत्वचा, परमत्वचे। यदा विभक्तिरुदात्ता न भवति तदा समासान्तोदात्तत्वमेव। परमवाचां। परमवाचें। परमत्वचां। परमत्वचें। अन्तोदात्तादिति किम्? अवांचा। सुवांचा। सुत्वंचा तत्पुरुषोऽयम्। तत्र 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय' (6.2.2) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। उत्तरपद-

ग्रहणमेकाच्त्वेनोत्तरपदं विशेषयितुम्, अन्यथा हि समास-विशेषणमेतत्स्यात्। तत्र शुनः ऊर्क् श्वोर्ज्जा–इत्यत्रैवायं विधिः स्यात्। अनित्यसमास इति किम्? अग्निचितां। सोमसुतां। 'उपपदमतिङ्' (2.2.19) इत्ययं नित्याधिकारे समासो विधीयते, तत्र 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (6.2.139) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण चित्-शब्द उदात्तः। यस्तु विग्रहाभावेन नित्यसमासस्तत्र भवत्येव विकल्पः–अवाचां ब्राह्मणेन, सुवाचा ब्राह्मणेनेति। 'बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम्' (6.2.172) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं भवति।

अर्थ—एकाचः, तृतीयादिः, विभक्तिः—इनका अनुवर्त्तन है। 'नित्य' शब्द का पाठ है। अतः नित्य के अधिकार में विहित समास का निषेध होता है। अनित्य समास में जो अनुदात्त एकाच् उत्तर पद, उससे उत्तर तृतीयादि विभक्तियों को विकल्प से उदात्त होता है।

अनित्य समास का दो प्रकार से ग्रहण होता है—

(क) जिसका स्वपद विग्रह होता है,
(ख) नित्य अधिकार में जो समास नहीं होता है।

यहाँ द्वितीय प्रकार का ग्रहण इष्ट है।

उदा० (1) परमवाचा
यहाँ 'सन्महत् परमोत्त०' के द्वारा समास हुआ है, अतः 'टा' को विकल्प से उदात्त हुआ। पक्ष में अनुदात्त होता है।

(2) परमवाचे
अन्तोदात्त।
पक्ष में—परमवाचे अनुदात्त हुआ।

(3) परमत्वचा (पूर्ववत्)।

यदा०—जब विभक्ति उदात्त नहीं होती है, तब समासान्तोदात्त होता है।

अन्तो०—अन्तोदात्त से उत्तर विभक्ति को उदात्त होता है—

(4) अवांचा
यहाँ नहीं हुआ।

(5) सुवांचा
यहाँ नहीं हुआ।

(6) सुत्वंचा (पूर्ववत्)।

यह तत्पुरुष है। वहाँ 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्यु०' के द्वारा पूर्वपद-प्रकृतिस्वर होता है। अन्यथा वह समास का विशेषण होता है। वहाँ शुन ऊर्क् → श्वोर्ज्ज—यह वह विधि होती है।

अनित्य—अनित्य समास में ही सूत्रोक्त उदात्त होता है—

(7) अग्निचिता
यहाँ नहीं हुआ।

(8) सोमसुता
यहाँ नहीं हुआ।

'उपपदमतिङ्' से नित्य के अधिकार में यह समास होता है। यहाँ गतिकारकोपपदात्० से उत्तरपद प्रकृतिस्वर के द्वारा चित् शब्द अन्तोदात्त होता है। जो विग्रह के कारण नित्य समास होता है, वहाँ विकल्प होता ही है।

(9) अवाचा ब्राह्मणेन।
(10) सुवाचा ब्राह्मणेन।

'बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम्' से उत्तर पद अन्तोदात्त होता है।

(2610) अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् *170* (3716)

अञ्चेः पराऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति छन्दसि विषये। 'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः'। (ऋ० 1.84.13)। 'चौ' (6.1.122) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वं प्राप्तम्। 'तृतीयादिः' इति वर्तमाने शसोऽपि परिग्रहार्थमसर्वनाम-स्थानग्रहणम्। इहापि यथा स्यात्–प्रतीचो बाहून्प्रतिभङ्ग्ध्येषामिति।

अर्थ—अञ्चु धातु से उत्तर विभक्ति को उदात्त होता है, परन्तु सर्वनामस्थानसंज्ञक को नहीं होता, वेद के विषय में।

उदा० (1) दधीचः (ऋ० 1.84.13)
दधि अञ्च् क्विन्—ऋत्विग्दधृक्०, सर्वापहार लोप,
दध्यञ्च् ङस्—उदात्त हुआ, अनुनासिकलोप,
दध्यच् अस्—अकारलोप (अचः), दीर्घादेश (चौ),
दधीच् अस्—रूप बना।

'चौ' से पूर्वपद अन्तोदात्त प्राप्त है। पूर्व सूत्र से 'तृतीय' की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी 'असर्वनामस्थानम्' का पाठ के ग्रहण के लिए है। यहाँ पर भी होता है—

(2) प्रतीचः।

(2611) ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः *171* (3717)

ऊद्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै, दिव्–इत्येते-

भ्योऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति। ऊठ्–प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा। *ऊठ्युपधाग्रहणं कर्त्तव्यम्*। इह मा भूत्–अक्षद्युवा। अक्षद्युवे। इदम्–आभ्याम्, एभिः। 'अन्तोदात्तात्' इत्यधिकारादन्वादेशे न भवति–अथो आभ्यां निपुणमधीतमिति। पदादयः–'पद्दन्नोमास्' (6.1.63) इत्येवमादयो निश्पर्यन्ता इह गृह्यन्ते। 'निपदश्चतुरो जहि' (खि० 2.16.1)। 'या दुतो धावति' (तै०सं० 2.5.1.7)। असन्प्रभृतिभ्यो विभक्तिरनुदात्तैव भवति। 'ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि' (ऋ० 4.40.4)। 'मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्' (ऋ० 10.68.8)। अप्–अपः पश्य। अद्भिः। अद्भ्यः। पुम्–पुंसः, पुम्भ्याम्, पुम्भ्यः। पुंसा, पुंसे। रै–रायः पश्य। राभ्याम्। राभिः। दिव्–दिवः पश्य। दिवा। दिवे।

अर्थ—अन्तोदात्त जो ऊठ्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै तथा दिव्—इनसे उत्तर सर्वनामस्थान से अतिरिक्त विभक्ति उदात्त होती है।

उदा० (1) प्रष्ठौहः
प्रष्ठवाह् → प्रष्ठ ऊठ् ह्—
प्रष्ठौह् शस्—उदात्त हुआ।

(2) प्रष्ठौहा (पूर्ववत्)।

ऊठ् में 'उपधा' का ग्रहण करना चाहिए, ताकि निम्नलिखित में न हो—

(3) अक्षद्युवा
उपधा में 'ऊठ्' नहीं है। अतः उदात्त नहीं हुआ।

(4) अक्षद्युवे (पूर्ववत्)।

(5) आभ्याम्
इदम् भ्याम्—उदात्त हुआ।

(6) एभिः (पूर्ववत्)।

'अन्तोदात्तात्' इसका अधिकार होने से अन्वादेश में नहीं होता है—

अथो आभ्यां निपुणम् अधीतम्।

'पदादि' के द्वारा 'पद्दन्नोमास्०' इत्यादि निश् पर्यन्त का ग्रहण होता है—

(7) निपदः (पूर्ववत्)।

(8) या दुतः (पूर्ववत्)।

असन् प्रभृतियों से विभक्ति अनुदात्त ही होती है—

(9) आसनि (पूर्ववत्)।

(10) उदनि (पूर्ववत्)।

(11) अपः (पूर्ववत्)।

(12) अद्भिः (पूर्ववत्)।

(13) अद्भ्यः (पूर्ववत्)।

(14) पुंसः
पुमान् शस्।

(15) पुम्भ्याम् (पूर्ववत्)।

(16) पुम्भ्य (पूर्ववत्)।

(17) पुंसा (पूर्ववत्)।

(18) पुंसे (पूर्ववत्)।

(19) रायः (पूर्ववत्)।

(20) राभ्याम् (पूर्ववत्)।

(21) राभिः
रै भिस्—पूर्ववत्।

(22) दिवः
दिव् जस्।

(23) दिवा
दिव् टा।

(2612) अष्टनो दीर्घात् *172* (3718)

अष्टनो दीर्घान्तादसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टासु। घृतादिपाठादष्टन्शब्दोऽन्तोदात्तः, तत्र 'झल्युपोत्तमम्' (6.1.180) इत्येतस्यापवादो विभक्तेरेवोदात्तत्वं विधीयते। दीर्घादिति किम्? अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत (म०भा०)। इदमेव दीर्घग्रहणमष्टन आत्वविकल्पं ज्ञापयति, कृतात्वस्य च षट्संज्ञां ज्ञापयति; अन्यथा ह्यात्वपक्षे सावकाशोऽष्टनः स्वरः परत्वादनात्वपक्षे षट्स्वरेण बाधिष्यत इति किं दीर्घग्रहणेन?।

अर्थ—दीर्घ अन्त वाला जो अष्टन् शब्द, उससे उत्तर सर्वनामस्थान से भिन्न विभक्ति उदात्त होती है।

उदा० (1) अष्टाभिः
अष्टन् भिस्—अष्टन आ विभक्तौ,
अष्ट आ भिस्—उदात्त।

(2) अष्टासु

अष्टन् सुप्—पूर्ववत्।

(3) अष्टाभ्यः (पूर्ववत्)।

घृतादि०—घृतादि गण में पाठ होने से अष्टन् शब्द अन्तोदात्त होता है। वहाँ 'झल्युपोत्तमम्' इसका अपवाद है। विभक्ति को उदात्त का विधान किया जाता है।

दीर्घादि०—दीर्घ अन्त वाला जो अष्टन् शब्द, उससे उत्तर विभक्ति उदात्त होती है—

(4) अष्टसु
यहाँ नहीं हुआ।

यह दीर्घ का ग्रहण अष्टन् के आत्व के विकल्प को ज्ञापित करता है और ज्ञापित करता है कि जिसे आत्व किया जा चुका है, उसकी षट् संज्ञा होती है। अन्यथा आत्व पक्ष में सावकाश 'अष्टन्' शब्द का स्वर पर होने से अनात्व पक्ष में षट् संज्ञा लक्षण स्वर के द्वारा बाधित हो जायेगा। तब दीर्घ का ग्रहण किसलिए?

(2613) शतुरनुमो नद्यजादी *173* (3719)

'अन्तोदात्तात्' इति वर्तते। अनुम् यः शतृप्रत्ययस्तदन्ता-दन्तोदात्तात्परा नदी अजादिर्विभक्तिरसर्वनामस्थानमुदात्ता भवति। तुदती, नुदती। लुनती, पुनती। तुदता, नुदता। लुनता, पुनता। अनुम इति किम्? तुदन्ती, नुदन्ती। अत्राप्यदुपदेशादिति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे (6.1.186) एकादेशः, तस्य 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (8.2.5) इत्यु-दात्तत्वम्, तस्य पूर्वत्रासिद्धत्वं (8.2.1) नेष्यत इति शत्रन्तमन्तोदात्तं भवति। नद्यजादी इति किम्? तुदद्भ्याम्, नुदद्भ्याम्। तुदद्भिः, नुदद्भिः। अन्तोदात्तादित्येव-ददती। दधतः। 'अभ्यस्तानामादि' (6.1.189) इत्याद्युदात्ता-वेतौ। *बृहन्महतोरुपसंख्यानम्* (म०भा०)। बृहती, महती। बृहता, महता।

अर्थ—'अन्तोदात्तात्' का अनुवर्त्तन है। नुम् रहित, अन्तोदात्त, शतृ प्रत्ययान्त शब्द, तदन्त से उत्तर नदीसंज्ञक और अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है।

उदा० (1) तुदती
तुद् शतृ → तुदत्—श विकरण,
तुदत् ङीप्—उगितश्च,

(2) नुदती (पूर्ववत्)।
(3) लुनती (पूर्ववत्)।
(4) पुनती (पूर्ववत्)।
(5) तुदता
तुद् शतृ—तुदत्,
तुदत् टा—अजादि विभक्ति ष्ट

(6) नुदता (पूर्ववत्)।
(7) लुनता (पूर्ववत्)।
(8) पुनता (पूर्ववत्)।

अनुम०—नुम् रहित से उत्तर विभक्ति उदात्त होती है—

(9) तुदन्ती
यहाँ नुम् हुआ। अतः उदात्त नहीं हुआ।

(10) नुदन्ती (पूर्ववत्)।

अत्रा०—यहाँ भी उपदेश के कारण लसार्वधातुकलक्षण अनुदात्त होने पर एकादेश होता है। उसका एकादेश होने पर उदात्तेनोदात्त० से उदात्त होता है तथा उसका 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' से असिद्धभाव नहीं होता है। तब शत्रन्तलक्षण अन्तोदात्त होता है।

नद्यजा०—नदीसंज्ञक व अजादि विभक्ति को उदात्त होता है—

(11) तुदद्भ्याम्
'भ्याम्' अजादि नहीं है। अतः उदात्त नहीं हुआ। सामान्य अनुदात्त हुआ।

(12) तुदद्भिः (पूर्ववत्)।

अन्तोदात्ता०—अन्तोदात्त से उत्तर ही विभक्ति उदात्त होती है—

(13) ददतिं
यहाँ नहीं हुआ।

(14) दधतिं (पूर्ववत्)।
'अभ्यस्तानामादिः' के द्वारा ये दोनों शब्द आद्युदात्त हैं।

बृहन्मह०—बृहत् और महत् शब्दों से उत्तर नदी और अजादि असर्वनाम स्थान संज्ञक विभक्ति उदात्त होते हैं—

(15) बृहती
उदात्त हुआ।

(16) महती
ङीप् उदात्त हुआ।

(17) बृहता
'टा' विभक्ति उदात्त हुई।

(18) मुहुता
'टा' उदात्त हुई।

(2614) उदात्तयणो हल्पूर्वात् *174* (3720)

उदात्तस्थाने यो यण् हल्पूर्वस्तस्मात्परा नदी अजादिर्या‌ऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता (सा) भवति। कर्त्री, हर्त्री। प्रलवित्री, प्रसवित्री। कर्त्रा, हर्त्रा, प्रलवित्रा, प्रसवित्रा। तृजन्ता एतेऽन्तोदात्ताः। उदात्तग्रहणं किम्? कर्त्री, हर्त्री। कर्त्रा, हर्त्रा। तृन्नन्तोऽयमाद्युदात्तः। हल्पूर्वादिति किम्? बहुतितवा ब्राह्मण्या। *नकारग्रहणं कर्त्तव्यम्* (म० भा०)। वाक्पत्लीयं कन्या।

अर्थ—हल् है पूर्व में जिसके, ऐसे उदात्त के स्थान पर जो यण्, उससे उत्तर नदीसंज्ञक प्रत्यय तथा असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति उदात्त होते हैं।

उदा० (1) कर्त्री
कर्तृ ङीप्—ऋन्नेभ्यो ङीप्।

(2) हुर्त्री (पूर्ववत्)।
(3) प्रलवित्री (पूर्ववत्)।
(4) प्रसवित्री (पूर्ववत्)।
(5) कर्त्रा
कर्तृ टा—अजादि विभक्ति उदात्त हुई।

(6) हुर्त्रा (पूर्ववत्)।
(7) प्रलवित्रा
'टा' उदात्त।

(8) प्रसवित्रा (पूर्ववत्)।
ये तृच् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त हैं।

उदात्त०—उदात्त को जो यण्, उससे उत्तर विभक्ति को उदात्त होता है—

(9) कर्तृ—तृन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त है। अनुदात्त के स्थान पर यण् हुआ है,
कंर्त्री—ङीप् उदात्त नहीं हुआ।

(10) हंर्त्री (पूर्ववत्)।
(11) कंर्त्रा (पूर्ववत्)।
(12) हंर्त्रा (पूर्ववत्)।

हल्पूर्वा०—हल् है पूर्व में जिसके, ऐसे शब्द से उत्तर विभक्ति को उदात्त होता है—

(13) वहति नावा ब्राह्मण्या
यहाँ नहीं हुआ।

नकार०—यहाँ नकार का भी ग्रहण करना चाहिए।

(14) वाक्पत्लीयं कन्या
यहाँ 'विभाषा सपूर्वस्य' के द्वारा नकारान्त आदेश, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से 'ङीप्' हुआ। 'पति' शब्द अन्तोदात्त है। यहाँ यण् नहीं हुआ, नकार आदेश है। अतः ङीप् उदात्त हुआ।

(2615) नोङ्धात्वो *175* (3721)

ऊङो धातोश्च य उदात्तयण् हल्पूर्वः, तस्मात्परा तृतीयादिर्विभक्तिर्नोदात्ता भवति। ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वे। वीरबन्ध्वा, वीरबन्ध्वे। ऊङ् प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। तेन सह य एकादेशः सोऽप्युदात्त इति उदात्तयणवकारः, तस्मादुदात्तत्वे प्रतिषिद्धे 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इति विभक्तिः स्वर्यते। धातुयणः खल्वपि—सकूल्ल्वा। सकूल्ल्वे। खलप्वे। क्विबन्तस्य कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तस्य 'ओः सुपि' (6.4.83) इति यणादेशः।

अर्थ—हल् पूर्व में है जिससे, ऐसा ऊङ् या धातु के उदात्त के स्थान पर जो यण्, उससे उत्तर सर्वनामस्थानभिन्न अजादि विभक्ति उदात्त नहीं होती है।

उदा० (1) ब्रह्मबन्ध्वा
ब्रह्मा बन्धुर्यस्य सः—ब्रह्मबन्धुः—बहुव्रीहि हुआ,
ब्रह्मबन्धु ऊङ्—ऊङुतः, यह प्रत्यय स्वर से उदात्त है,
ब्रह्मबन्धू—उकार (अनुदात्त) व ऊङ् (उदात्त) का एकादेश हुआ, एकादेश उदात्तेनोदात्तः से उदात्त हुआ,
ब्रह्मबन्धू टा—'टा' अनुदात्त है,
ब्रह्मबन्ध्वा—यण्, पूर्व सूत्र से 'आ' को उदात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हुआ, 'उदात्तस्वरितयोः' के द्वारा विभक्ति को स्वरित हुआ।

(2) ब्रह्मबन्ध्वे (पूर्ववत्)।
(3) वीरबन्ध्वा (पूर्ववत्)।
(4) वीरबन्ध्वे (पूर्ववत्)।
(5) सकूल्ल्वा।
सकूल्लू—यह क्विबन्त है, 'गतिकारक०' के द्वारा उत्तर पद प्रकृति स्वर है, धातु (लू) उदात्त है,
सकूल्लू आ—यहाँ उदात्त को यण् हुआ, इससे पर 'आ' विभक्ति को उदात्त प्राप्त हुआ, उसका निषेध हुआ।

(6) सुकूल्ल्वें (पूर्ववत्)।
(7) खुलुप्वां (पूर्ववत्)।
(8) खुलुप्वें (पूर्ववत्)।

'ओः सुपि' से यणादेश होता है।

(2616) ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् *176* (3722)

'अन्तोदात्तात्' इत्येव। ह्रस्वान्तादन्तोदात्तान्नुटश्च परो मतुब् उदात्तो भवति। अग्निमान्। वायुमान्। कर्तृमान्। हर्तृमान्। नुटः खल्वपि–अक्षण्वतां। शीर्षण्वतां। 'अन्तोदात्तात्' इत्येव–वसुंमान् (तै०सं० 1.6.6.2)। वसुशब्द आद्युदात्तः, तस्मान्मतुप् अनुदात्त एव भवति। अत्र च 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' (व्या०प० 37), इत्येषा परिभाषा नाश्रीयते; नुड्ग्रहणात्। तेन मरुत्वांनित्यत्र न भवति। *रेशब्दाच्च मतुप उदात्तत्वं वक्तव्यम्* (म० भा०)। आरेवान्। *त्रेश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म० भा०)। 'त्रिवतीर्याज्यानुवाक्या भवति' (काठ०सं० 11. 1) इति।

अर्थ—'अन्तोदात्तात्' का अनुवर्त्तन है। अन्तोदात्त, ह्रस्वान्त तथा नुट् से उत्तर मतुप् उदात्त होता है।

उदा० (1) अग्निमान्
अग्नि मतुप्—विभक्तिकार्य।

(2) वायुमान् (पूर्ववत्)।
(3) कर्तृमान् (पूर्ववत्)।
(4) हर्तृमान् (पूर्ववत्)।

(5) अक्षण्वतां
अक्षण्वत् टा।

(6) शीर्षण्वतां (पूर्ववत्)।

अन्तोदा०—अन्तोदात्त से उत्तर मतुप् उदात्त होता है—

(7) वसुंमान्
यहाँ 'मतुप्' उदात्त नहीं हुआ।

यहाँ स्वरविधि में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है, इस परिभाषा का आश्रय नहीं होता, नुट् का ग्रहण होने से। तब 'मरुत्वान्' में नहीं होता है।

रेशब्दाच्च०—'रै' शब्द से उत्तर 'मतुप्' उदात्त होता है—

(8) आरेवान्
'मतुप्' उदात्त हुआ।

त्रेश्च—'त्रि' शब्द से उत्तर 'मतुप्' उदात्त नहीं होता है—

(9) त्रिवती:
उदात्त नहीं हुआ।

(2617) नामन्यतरस्याम् *177* (3723)

ह्रस्वग्रहणमनुवर्तते, मतुब्ग्रहणं च, तेन मतुपा ह्रस्वो विशेष्यते। मतुपि यो ह्रस्वस्तदन्तादन्तोदात्तादन्यतरस्यां नाम् उदात्तो भवति। अग्नीनाम्। अग्नीनांम्। वायूनाम्। वायूनांम्। कर्तृणाम्। कर्तृणांम्। मतुपा ह्रस्वविशेषणं किम्? भूतपूर्वेऽपि ह्रस्वे यथा स्यात्, अन्यथा हि साम्प्रतिक एव स्यात्–तिसृणाम्, चतसृणामिति। सनुट्कस्य ग्रहणं किम्? धेन्वाम्। शकुत्याम्। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (6.1.174) इत्ययमन्तोदात्तः। ह्रस्वादित्येव–कुमारीणांम्। अन्तोदात्तादित्येव–त्रपूंणाम्। वसूंनाम्।

अर्थ—'ह्रस्व' तथा 'मतुप्' का ग्रहण यहाँ अनुवृत्त है। मतुप् प्रत्यय के परे रहते ह्रस्वान्त, अन्तोदात्त से उत्तर 'नाम्' को उदात्त विकल्प से होता है।

उदा० (1) अग्नीनाम्
उदात्त हुआ।

(2) अग्नीनांम्
उदात्त नहीं हुआ।

(3) वायूनाम्
उदात्त हुआ।

(4) वायूनांम्
उदात्त नहीं हुआ।

(5) कर्तृणाम्
उदात्त हुआ।

(6) कर्तृणांम्
उदात्त नहीं हुआ।

मतुपा०—मतुप् के द्वारा ह्रस्व विशेषण किसलिए है। भूतपूर्व में भी ह्रस्व में ताकि हो जाय। अन्यथा साम्प्रतिक में ही हो जाय।

(7) तिसृणाम्
यहाँ हुआ।

(8) चतसृणाम् (पूर्ववत्)।

सनुट्०—नुट् सहित का ग्रहण किसलिए है?

(9) धेन्वाम्
(10) शकट्याम्
यहाँ नहीं होता है। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' से यह अन्तोदात्त होता है।

ह्रस्वादि०—ह्रस्वान्त से उत्तर 'आम्' को विकल्प से उदात्त होता है—

(11) कुमारीणाम्
यहाँ नहीं हुआ।

अन्तोदा०—अन्तोदात्त से उत्तर 'आम्' को विकल्प से उदात्त होता है—

(12) त्रपूणाम्
(13) वसूनाम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2618) ङ्याश्छन्दसि बहुलम् *178* (3724)

ङ्यन्ताच्छन्दसि विषये नामुदात्तो भवति बहुलम्। 'देवसेनानामभिभञ्जतीनाम्' (ऋ० 10.103.8)। 'बह्वीनां पिता' (ऋ० 6.75.5)। न च भवति–नदीनां पारे। 'जयन्तीनां मरुतः'। (ऋ० 10.103.8)।

अर्थ—वेद के विषय में ङ्यन्त शब्द से उत्तर 'नाम्' बहुलता से उदात्त होता है।

उदा० (1) अभिभञ्जतीनाम् (ऋ० 10.103.8)
उदात्त हुआ।

(2) बह्वीनाम् (ऋ० 6.75.5)
उदात्त हुआ।

(3) नदीनाम् (मा० सं० 26.15)
उदात्त नहीं हुआ।

(2619) षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः *179* (3725)

'अन्तोदात्तात्' इत्येतन्निवृत्तम्। षट्संज्ञकेभ्यः, त्रि, चतुर्–इत्येताभ्यां च परा हलादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति। षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्। 'पञ्चानाम्' (तै०सं० 1.6.1.2)। सप्तानाम् (ऋ० 8.28.5)। त्रि–'त्रिभिः' (ऋ० 1.34.21), त्रिभ्यः, 'त्रयाणाम्' (तै०सं० 3.4.3.8)। चतुर्–चतुर्भ्यः (तै०सं० 7.2.11.1), चतुर्णाम् (ऋ० 8.74.13) हलादिरिति किम्? चतस्रः (ऋ० 1.62.6) पश्य।

अर्थ—'अन्तोदात्तात्' की निवृत्ति हो गई है। षट् संज्ञक शब्द, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्तर हलादि विभक्ति उदात्त होती है।

उदा० (1) षण्णाम्
षट् आम्—ष्णान्ताः षट्, उदात्त हुआ।

(2) षड्भिः (पूर्ववत्)।
(3) षड्भ्यः (पूर्ववत्)।
(4) पञ्चानाम् (पूर्ववत्)।
(5) सप्तानाम् (पूर्ववत्)।
(6) त्रिभिः (पूर्ववत्)।
(7) त्रिभ्यः (पूर्ववत्)।
(8) त्रयाणाम् (पूर्ववत्)।
(9) चतुर्भ्यः (पूर्ववत्)।
(10) चतुर्णाम् (पूर्ववत्)।

हलादि०—हलादि विभक्ति ही उदात्त होती है—

(11) चतस्रः
चतसृ शस्—हलादि न होने से उदात्त नहीं हुआ।

(2620) झल्युपोत्तमम् *180* (3683)

षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पदे उपोत्तममुदात्तं भवति। त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तमम्, तत्समीपे च यत्तदुपोत्तमम्। 'पञ्चभिस्तपस्तपति' (तै०सं० 5.2.7.5)। सप्तभिः परान् जयति। तिसृभिश्च वहंसे त्रिंशतां (अथ० 7.4.1)। चतुर्भिः (वा०सं० 23.13)। झलीति किम्? पञ्चानाम् (तै०सं० 1.6.1.2)। सप्तानाम् (ऋ० 8.28.5)। उपोत्तममिति किम्? षड्भिः (ऋ० 2.18.4)। षड्भ्यः (तै०सं० 7.2.13.1)।

अर्थ—षट् संज्ञक शब्द त्रि शब्द व चतुर् शब्द—इनसे उत्तर जो झलादि विभक्ति, तदन्त शब्द के उपोत्तम को उदात्त होता है।

उदा० (1) पञ्चभिः
पञ्चन् भिस्—षट् संज्ञा, तदन्त के उपोत्तम को उदात्त हुआ।

(2) सप्तभिः (पूर्ववत्)।
(3) तिसृभिः (पूर्ववत्)।
(4) चतुर्भिः (पूर्ववत्)।

झलीति०—झलादि विभक्ति, तदन्त के उपोत्तम को उदात्त होता है—

(5) पञ्चानाम्
झलादि विभक्ति नहीं है। अतः उदात्त नहीं हुआ।

उपोत्तम०—उपोत्तम को ही उदात्त होता है—

(6) षड्भिः
यहाँ झलादि विभक्ति है; परन्तु उपोत्तम नहीं है। उदात्त नहीं हुआ।

(7) षड्भ्यः (पूर्ववत्)।

(2621) विभाषा भाषायाम् *181* (3684)

षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पदे उपोत्तममुदात्तं भवति विभाषा भाषायां विषये। पञ्चभिंः। पञ्चभिः। सप्तभिंः। सप्तभिः। तिसृभिंः। तिसृभिः। चतसृभिंः। चतसृभिः।

अर्थ—षट्संज्ञक शब्द, त्रि शब्द व चतुर् शब्द से उत्तर जो झलादि विभक्ति, तदन्त उपोत्तम को विकल्प से उदात्त होता है, भाषा के विषय में।

उदा० (1) पञ्चभिंः
उपोत्तम उदात्त हुआ।

(2) पञ्चभिः
उदात्त नहीं हुआ।

(3) सप्तभिंः
उदात्त हुआ।

(4) सप्तभिः
उदात्त नहीं हुआ।

(5) तिसृभिंः
उदात्त हुआ।

(6) तिसृभिः
उदात्त नहीं हुआ।

(7) चतसृभिंः
उदात्त हुआ।

(8) चतसृभिः
उदात्त नहीं हुआ।

(2622) न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः *182* (3726)

गो, श्वन्, साववर्णः = सौ प्रथमैकवचने यदवर्णान्तम्, राड्, अङ्, क्रुङ्, कृद्–इत्येतेभ्यो यदुक्तं तन्न भवति। गवां। गवें। गोभ्यांमिति। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (6.1.168) इति प्राप्तिः प्रतिषिध्यते। सुगुनां। सुगवें। सुगुभ्यांम्। 'अन्तोदात्तादुत्तरपदात्' (6.1.169)। इति प्राप्तिः। श्वन्–शुनां। शुनें। श्वभ्यांम्। परमशुनां। परमशुनें। परमश्वभ्यांम्। पूर्ववत्प्राप्तिः। साववर्णः = सौ प्रथमैकवचने यदवर्णान्तं तस्य ग्रहणम्–येभ्यंः। तेभ्यंः। केभ्यंः। राट्–राजतिः क्विबन्तः। राजां। परमराजः। अङ्–अञ्चतिः क्विबन्तः, तस्य सनकारस्य ग्रहणं विषयावधारणार्थम्, यत्रास्य नलोपो नास्ति तत्र प्रतिषेधो यथा स्यात्। 'नाञ्चेः पूजायाम्' (6.4.60) इति प्रतिषिध्यते नलोपः। प्राञ्चां। प्राङ्भ्यांम्। नलोपविषये तु भवत्येव विभक्तेरुदात्तत्वम्। प्राचा। प्राचे। प्राग्भ्याम्। क्रुङ् क्विन्नन्त एव–क्रुञ्चां परमक्रुञ्चां। कृत्–करोतिः कृतिर्वा क्विबन्तः। कृतां। परमकृतां।

अर्थ—गो, श्वन्, सु अर्थात् प्रथमा एकवचन में जो अवर्णान्त प्रातिपदिक, राट्, अङ्, क्रुङ् तथा कृत्—इनसे पूर्वोक्त स्वर नहीं होता है।

उदा० (1) गवां
गो टा—'सावकाचस्तृ०' से 'टा' को उदात्त प्राप्त था, निषेध हो गया, 'गो' उदात्त हुआ।

(2) गवें (पूर्ववत्)।
(3) गोभ्यांम् (पूर्ववत्)।
(4) सुगवां (पूर्ववत्)।
(5) सुगवें (पूर्ववत्)।
(6) सुगुभ्यांम् (पूर्ववत्)।
'अन्तोदात्तात् उत्तरपदात्' से प्राप्ति थी।

(7) शुनां (पूर्ववत्)।
(8) शुनें (पूर्ववत्)।
(9) श्वभ्यांम् (पूर्ववत्)।
(10) परमशुनां (पूर्ववत्)।
(11) परमशुनें (पूर्ववत्)।
(12) परमश्वभ्यांम् (पूर्ववत्)।
पूर्ववत् प्राप्ति थी।

साववर्ण—'सु' प्रथमा एकवचन में जो अवर्णान्त, उसका यहाँ ग्रहण है।

(13) येभ्यंः

'त्यदादीनामः' से यद् प्रातिपदिक 'सु' परे रहते अवर्णान्त है।

(14) तेभ्यंः (पूर्ववत्)।
(15) केभ्यंः (पूर्ववत्)।
(16) राज्ञां (पूर्ववत्)।
(17) पु॒र॒म॒राज्ञंः (पूर्ववत्)।

अञ्०—अञ्चु धातु से क्विन् हुआ। विषय के अवधारण के लिए नकारसहित उसका ही ग्रहण है। जहाँ इसके नकार का लोप नहीं है, वहाँ निषेध होता है। 'नाञ्चेः पूजायाम्' से नकार-लोप का निषेध होता है।

(18) प्राञ्चां (पूर्ववत्)।
(19) प्राङ्भ्यांम् (पूर्ववत्)।

नलोप के विषय में विभक्ति को उदात्त होता ही है।

(20) प्राचां (पूर्ववत्)।
(21) प्राचें (पूर्ववत्)।
(22) प्राग्भ्याम् (पूर्ववत्)।
(23) क्रुञ्चां (पूर्ववत्)।
(24) प॒र॒म॒क्रुञ्चां (पूर्ववत्)।
(25) कृतां (पूर्ववत्)।
(26) प॒र॒म॒कृतां (पूर्ववत्)।

(2623) दिवो झल् *183* (3727)

दिवः परा झलादिर्विभक्तिर्नोदात्ता भवति। द्युभ्यांम्। द्युभिंः। 'सावेकाचः' (6.1.168) इति 'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (6.1.171) इति वा प्राप्तिः प्रतिषिध्यते। झलिति किम्? दिवा।

अर्थ—दिव् शब्द से उत्तर झलादि विभक्ति उदात्त नहीं होती है।

उदा० (1) द्युभिंः
दिव् भिस्—दिव उत्,
द्युभिस्—उदात्त नहीं हुआ।

(2) द्युभ्याम् (पूर्ववत्)।
'सावेकाच०' से अथवा 'ऊडिदम्पदा०' से प्राप्त था। उसका निषेध किया जाता है।

झलादि विभक्ति उदात्त नहीं होती है—

(3) दिवा
दिव् टा—झलादि नहीं है। अतः निषेध नहीं हुआ।

(2624) नृ चान्यतरस्याम् *184* (3728)

'नृ' इत्येतस्मात्परा झलादिर्विभक्तिरन्यतरस्यां नोदात्ता भवति। नृभ्यांम्। 'नृभिंः' (ऋ० 10.19.7.4)। 'नृभ्य॒ः' (ऋ० 1.43.2)। 'नृषु॒' (ऋ० 1.180.8)। झलित्येव-न्रा। न्रे।

अर्थ—'नृ' प्रातिपदिक से उत्तर झलादि विभक्ति को विकल्प से उदात्त नहीं होता है।

उदा० (1) नृभ्यांम्
नृ भ्याम्—उदात्त नहीं हुआ।

(2) नृ॒भ्याम्
पक्ष में उदात्त हुआ।

(3) नृभिंः
उदात्त नहीं हुआ।

(4) नृ॒भिः
उदात्त हुआ।

(5) नृभ्यंः
उदात्त नहीं हुआ।

(6) नृ॒भ्यः
उदात्त हुआ।

(7) नृषुं
उदात्त का निषेध हुआ।

(8) नृ॒षु
उदात्त हुआ।

झलित्ये०—झलादि विभक्ति को ही पाक्षिक निषेध होता है—

(9) न्रा
झलादि नहीं है, निषेध नहीं हुआ।

(10) न्रे (पूर्ववत्)।

(2625) तित्स्वरितम् *185* (3729)

तित् स्वरितं भवति। सन्नन्ताद्यत्–चि॒की॒र्ष्यंम्, जि॒ह्री॒र्ष्यंम्। 'ऋहलोर्ण्यत्' (3.1.114)–का॒र्यंम्, हा॒र्यंम्। प्रत्ययाद्युदात्तस्यापवादः।

अर्थ—तित् प्रत्यय स्वरित होता है।

उदा० (1) चि॒की॒र्ष्यंम्
कृ सन् → चिकीर्ष—धातुसंज्ञा,

चिकीर्ष यत्—अचो यत्, 'य' स्वरित हुआ।

(2) जिहीर्ष्यम्

हृ सन्—पूर्ववत् 'यत्'।

(3) कार्यम्

कृ ण्यत्—ऋहलोर्ण्यत्।

(4) हार्यम् (पूर्ववत्)।

प्रत्ययलक्षण आद्युदात्त का अपवाद है।

(2626) तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः *186* (3730)

तासेरनुदात्तेतो ङितोऽकारान्तोपदेशाच्च शब्दात्परं लसार्वधातुकमनुदात्तं च भवति ह्नुङ्, इङ्-इत्येताभ्यां परं वर्जयित्वा। तासेस्तावत्-कर्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः। प्रत्ययस्वरापवादोऽयम्। अनुदात्तेतः-आस-आस्ते। वस-वस्ते। ङित्-षूङ्-सूते। शीङ्-शेते। अदुपदेशात्-तुदतः। नुदतः। पचतः। पठतः। अनुबन्धस्यानैकान्तिकत्वादकारान्तोपदेश एव शप्। पचमानः। यजमानः। यद्यत्र मुक् अकारमात्रस्य स्यात्, तदा लसार्वधातुकमदुपदेशादनन्तरमिति सिद्धो निघातः। अथाकारान्तस्याङ्गस्य, तथापि लसार्वधातुकानुदात्तत्वे कर्तव्ये बहिरङ्गत्वादसिद्ध इति सिद्धम्। चित्स्वरोऽप्यनेन लसार्वधातुकानुदात्तत्वेन परत्वाद् बाध्यते। तास्यादिभ्य इति किम्? चिनुतः। चिन्वन्ति। ङिदयं श्नुः। पूर्वस्य कार्यं प्रति न तु परस्य। उपदेशग्रहणं किम्? इह च यथा स्यात्—पचावः, पचाम इति। इह च मा भूत्-हृतः, हृथ इति। लग्रहणं किम्? कतीह पचमानाः। सार्वधातुकमिति किम्? शिश्ये। शिश्याते। शिश्यिरे। अह्न्विङोरिति किम्? ह्नुते। यदधीते।

अर्थ—तासि प्रत्यय, अनुदात्त है इत् जिसका ऐसा धातु, ङित् धातु तथा उपदेश अवस्था में जो अवर्णान्त है ऐसा धातु—इनसे उत्तर लकार के स्थान में सार्वधातुकसंज्ञक 'तस्' आदि प्रत्यय अनुदात्त होते हैं; ह्नुङ् तथा इङ् धातु से पर 'तस्' अनुदात्त नहीं होता है।

उदा० (क) तासेः—

(1) कर्त्ता

कृ तासि डा—लुट्, तास्, डा,

कृ त् आ—गुण, अनुदात्त हुआ।

(2) कर्त्तारौ

प्रथमा द्विवचन में 'रौ' हुआ।

(3) कर्त्तारः

पूर्ववत् अनुदात्त।

यह प्रत्ययलक्षण स्वर का अपवाद है।

(ख) अनुदात्तेतः—

(4) आस्ते

आस्—अनुदात्तेत् धातु है, शेष पूर्ववत्।

(5) वस्ते (पूर्ववत्)।

(ग) ङितः—

(6) सूते

षूङ्—ङित् धातु है, शेष पूर्ववत्।

(7) शेते

शीङ्—पूर्ववत्।

(घ) अदुपदेशात्—

(8) तुदतः

तुद—उपदेश अवस्था में अकारान्त है, धातु स्वर उदात्त हुआ, शेष पूर्ववत्।

(9) नुदतः (पूर्ववत्)।

(10) पचतः (पूर्ववत्)।

(11) पठतः (पूर्ववत्)।

अनुबन्ध के अनैकान्तिक होने से अकारान्त उपदेश में ही शप् होता है।

(12) पचमानः

(13) यजमानः

यद्यत्र०—यदि यहाँ अकार मात्र को 'मुक्' हो जाय तो लसार्वधातुक उपदेश के अनन्तर हो जाता है—इस प्रकार निघात सिद्ध ही है। अकारान्त अंग का। तथापि लसार्वधातुक के अनुदात्त किये जाने में बहिरंग होने से असिद्ध है—यह सिद्ध हुआ। लसार्वधातुक के अनुदात्त होने से पर होने के कारण चित् स्वर का इसके द्वारा बाध होता है।

तास्यादि०—तास् आदि से उत्तर ही होता है—

(14) चिनुतः

चि श्नु तस्—शप् को बाध कर श्नु हुआ, 'सार्वधातुकमपित्'

से श्नु ङिद्वत् हुआ, 'सार्वधातुकमपित्' के द्वारा पूर्व के कार्य का अतिदेश होता है, पर कार्य का नहीं, अतः अनुदात्त नहीं हुआ।

(15) चिन्वन्ति (पूर्ववत्)।

उपदेश०—उपदेश में जो अवर्णान्त, उससे पर प्रत्यय अनुदात्त होता है—

(16) पचावः
पच उपदेश में अवर्णान्त है, अतः यहाँ होता है।

(17) पचामः
यहाँ होता है।

(18) हतः
यहाँ नहीं होता। 'हन्' उपदेश में अवर्णान्त नहीं है; परन्तु अनुनासिक लोप होकर पश्चात् अवर्णान्त बन जाता है।

(19) हथ:
यहाँ नहीं हुआ।

लग्रहणं—'ल' का ग्रहण किया गया है, ताकि निम्नलिखित में न हो—

(20) कतीह पचमानाः
'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु' से 'चानश्' हुआ, जो प्रत्यय है; लादेश नहीं है; अतः यहाँ अनुदात्त नहीं हुआ।

सार्वधातुक का ग्रहण किया गया है, ताकि निम्नलिखित में न हो—

(21) शिश्ये
शी त—लिटस्तझयोरेशि०
शी एश्—द्वित्व, अभ्यास कार्य,
शि शी ए—'एरनेकाचः' से यणादेश, 'लिट् च' से आर्धधातुक हुआ,
शिश्ये—अनुदात्त नहीं हुआ।

(22) शिश्याते
शी आताम्—पूर्ववत्।

(23) शिश्यिरे
शी झ—पूर्ववत्।

अह्न्विङो—ह्नुङ् तथा इङ् से उत्तर नहीं होता है—

(24) ह्नुते
यहाँ नहीं हुआ।

(25) यदधीते
'इङ्' धातु है। अतः अनुदात्त नहीं हुआ।

(2627) आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् *187*
(3731)

'उदात्तः' इति वर्तते। सिजन्तस्यान्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति। मा हि कार्ष्टाम्। मा हि कार्ष्टाम्। एकोऽत्राद्युदात्तः, अपरोऽन्तोदात्तः। मा हि लाविष्टाम्, मा हि लाविष्टाम्। एकोऽत्राद्युदात्तः, अपरो मध्योदात्तः। सिचश्चित्करणादागमानुदात्तत्वं हि बाध्यते। *सिच आद्युदात्तत्वेऽनिटः पितः पक्षे उदात्तत्वं वक्तव्यम्* (म० भा०)। मा हि कार्षम् मा हि कार्षम्। अनिट इति किम्। मा हि लाविषम्। मध्योदात्त एवाद्युदात्ताभावपक्षे भवति।

अर्थ—'उदात्तः' का अनुवर्त्तन है। सिच् अन्त वाले शब्द को विकल्प से आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) मा हि कार्ष्टाम्
कृ सिच् तस्—लुङ्,
कृ स् ताम्—'ताम्' आदेश,
कार्ष्टाम्—वृद्धि, षत्व, ष्टुत्व, आदि को उदात्त।

(2) मा हि कार्ष्टाम्
पक्ष में नहीं हुआ।
यहाँ एक आद्युदात्त है तथा दूसरा अन्तोदात्त है।

(3) मा हि लाविष्टाम्
आद्युदात्त हुआ।

(4) मा हि लाविष्टाम्
मध्योदात्त।

सिचश्चि०—सिच् को चित् करने से आगम को अनुदात्त का बाध होता है।

सिच०—सिच् के आद्युदात्त विषय में अनिट् पित् का पक्ष में उदात्तत्व होता है—

(5) मा हि कार्षम्
कृ मिप्—लुङ्,
कृ स् अम्—अमादेश, सिच्,
कार् ष् अम्—वृद्धि, षत्व।

अनिट०—अनिट् पित् का पक्ष में उदात्तत्व होता है—

(6) मा हि लाविषम्
अनिट् नहीं है, पित् है, उदात्त नहीं हुआ, मध्योदात्त हुआ।

(2628) स्वपादिहिंसामच्यनिटि *188* (3672)

लसार्वधातुकग्रहणं यदनुवर्तते, तद् 'अच्यनिटि' इति सम्बन्धादिह सप्तम्यन्तमुपजायते। स्वपादिरावृत्करणात्। स्वपादीनां हिंसेश्चाजादावनिटि लसार्वधातुके परतोऽन्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति। स्वपन्ति। स्वपन्तिं। श्वसंन्ति श्वसन्तिं। हिंसेः खल्वपि-हिंसंन्ति। हिंसन्तिं। प्रत्ययस्वरेण पक्षे मध्योदात्तः। अचीति किम्। स्वप्यात्। हिंस्यात्। अनिटीति किम्? स्वपितः। श्वसितः। ङित्यजादावयं विधिरिष्यते। इह न भवति-स्वपानिं। हिनसानिं।

अर्थ—'लसार्वधातुक' का अनुवर्त्तन है। उसका 'अच्यनिटि' इसके साथ सम्बन्ध होने से यहाँ सप्तम्यन्त में विपरिणत हो जाता है। स्वपादि धातुओं के तथा हिंस् धातु के उत्तर अजादि, अनिट् लसार्वधातुक परे रहते आदि को उदात्त विकल्प से होता है।

उदा० (1) स्वपंन्ति
स्वप् झि—झोऽन्तः, शप् का लुक्,
स्वप् अन्ति—आदि उदात्त,
स्वपन्ति—शेष अनुदात्त।

(2) श्वसंन्ति (पूर्ववत्)।

(3) हिंसंन्ति (पूर्ववत्)।

(4) स्वपन्तिं
पक्ष में प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त हुआ।

(5) श्वसन्तिं (पूर्ववत्)।

(6) हिंसन्तिं (पूर्ववत्)।

अचीति०—अजादि लसार्वधातुक परे रहते आद्युदात्त होता है—

(7) स्वप्यात्
अजादि नहीं है। अतः आदि को उदात्त नहीं हुआ।

(8) हिंस्यात् (पूर्ववत्)।

अनिटीति०—अनिट् लसार्वधातुक परे रहते आदि को उदात्त होता है—

(9) स्वपितः
इट् हुआ, अतः आद्युदात्त नहीं हुआ।

(10) श्वसितः (पूर्ववत्)।

ङित्य०—ङित् तथा अजादि में यह विधि होती है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है।

(11) स्वपानि
स्वप् आट् नि—मेर्निः, आडुत्तमस्य पिच्च,
स्वपानि—यहाँ आद्युदात्त नहीं हुआ।

(12) हिनसानि
यहाँ भी नहीं हुआ।

(2629) अभ्यस्तानामादिः *189* (3673)

अभ्यस्तानामजादावनिटि लसार्वधातुके परत आदिरुदात्तो भवति। ददंति, ददंतु। दधंति, दधंतु। जक्षंति, जक्षंतु। जाग्रंति, जाग्रंतु। अचीत्येव-दद्यात्। अनिटीत्येव-जक्षितः। 'आदिः' इति वर्त्तमाने पुनरादिग्रहणं नित्यार्थम्।

अर्थ—अजादि अनिट् लसार्वधातुक परे रहते अभ्यस्तसंज्ञक को आदि उदात्त होता है।

उदा० (1) ददंति
दद—अभ्यस्त संज्ञा हुई, आदि को उदात्त हुआ।

(2) ददंतु (पूर्ववत्)।

(3) दधंति (पूर्ववत्)।

(4) दधंतु (पूर्ववत्)।

(5) जक्षंति (पूर्ववत्)।

(6) जक्षंतु (पूर्ववत्)।

(7) जाग्रंति (पूर्ववत्)।

(8) जाग्रंतु (पूर्ववत्)।

अचीत्ये०—अजादि लसार्वधातुक परे रहते आद्युदात्त होता है—

(9) दद्यात्
आदि उदात्त नहीं हुआ।

अनिटी०—अनिट् लसार्वधातुक परे रहते आद्युदात्त होता है—

(10) जक्षितः
आदि उदात्त नहीं हुआ।

आदिः०—'आदिः' पद का अनुवर्त्तन सुलभ होने पर भी पुनः 'आदि' पद का ग्रहण नित्य विधि के लिए है।

(2630) अनुदात्ते च *190* (3674)

अविद्यमानोदात्ते च लसार्वधातुके परतोऽभ्यस्तानामादि-

रुदात्तो भवति। अनजाद्यर्थ आरम्भः। दर्दाति। जहाति। दधाति। जिहीते। मिमीते (तै०सं० 7.1.9.6)। अनुदात्त इति बहुव्रीहिनिर्देशो लोपयणादेशार्थः (म०भा०)। मा हि स्म दधात्। दधात्यत्र।

अर्थ—उदात्त से रहित लसार्वधातुक के परे रहते अभ्यस्त-संज्ञक को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) दर्दाति
दद तिप्—'उभेऽभ्यस्तम्' से अभ्यस्त संज्ञा,
ददाति—आदि उदात्त हुआ।
(2) जहाति (पूर्ववत्)।
(3) दधाति (पूर्ववत्)।
(4) जिहीते (पूर्ववत्)।
(5) मिमीते (पूर्ववत्)।

अनुदात्त०—'अनुदात्ते' यह बहुव्रीहि का निर्देश लोप व यण् आदेश के लिए है।

(6) मा हि स्म दधात्
'इतश्च' से इकार का लोप करने पर तथा यण् आदेश करने पर उदात्त न हो। कारण कि शास्त्रीय अनुदात्त का अभाव होने से।

(2631) सर्वस्य सुपि *191* (3685)

सर्वशब्दस्य सुपि परत आदिरुदात्तो भवति। सर्वः, सर्वौ, सर्वे। सुपीति किम्? सर्वतरः। सर्वतमः। *प्रत्ययलक्षणेनाप्ययं स्वर इष्यते*। सर्वस्तोमः (तै०सं० 5.4.12.3) इति। *सर्वस्वरोऽनच्कस्येति वक्तव्यम्* (म०भा०)। सर्वकः। चित्स्वरेणान्तोदात्तो भवति।

अर्थ—सुप् (विभक्ति) परे रहते 'सर्व' शब्द को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) सर्वः
आदि उदात्त हुआ।
(2) सर्वौ (पूर्ववत्)।
(3) सर्वे (पूर्ववत्)।

सुपीति०—सुप् परे रहते ही आदि उदात्त होता है—

(4) सर्वतरः
सुप् परे नहीं है। अतः आदि को उदात्त नहीं हुआ।
(5) सर्वतमः (पूर्ववत्)।

प्रत्यय०—प्रत्ययलक्षण के द्वारा भी यह स्वर होता है—

(6) सर्वस्तोमः
यहाँ प्रत्ययलक्षण के द्वारा हुआ है।

सर्वस्वरो०—सर्व शब्द का जो स्वर का विधान किया जाता है, वह उसके अविद्यमान अकच्क को होता है—

(7) सर्वकः
चित् स्वर से अन्तोदात्त होता है।

(2632) भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति *192* (3675)

भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा, जागृ-इत्येतेषामभ्यस्तानां लसार्वधातुके पिति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवति। बिभेति। जिह्रेति। 'बिभर्ति' (तै०आ० 3.11.4)। 'जुहोति' (तै०ब्रा० 2.1.8.3)। ममत्तु नः परिज्मा (तै०सं० 2.1.11.1)। मदेः 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः। 'जजनदिन्द्रम्' (तै०आ० 3.2.1)। 'जन जनने' (धा०पा० 1106) इत्यस्य पञ्चमे लकारे रूपम्। 'धन धान्ये' (धा०पा० 1105) इत्यस्य पञ्चमे लकारे-दधनत् (तै०ब्रा० 2.8.25)। दरिद्राति। जागर्ति। भ्यादीनामिति किम्? दर्दाति। पितीति किम्? दरिद्रति।

अर्थ—भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा तथा जागृ—इन धातुओं के अभ्यस्तसंज्ञक को प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है, पित् लसार्वधातुक परे रहते।

उदा० (1) बिभेति
'अनुदात्ते च' से अभ्यस्त को आद्युदात्त प्राप्त था।
(2) जिह्रेति (पूर्ववत्)।
(3) बिभर्ति (पूर्ववत्)।
(4) जुहोति (पूर्ववत्)।
(5) ममत्तु (पूर्ववत्)।
मद् तिप्—लोट्, एरुः, दिवादिभ्यः श्यन्, 'बहुलं छन्दसि' से उसको 'श्लु' भाव, द्वित्व,
म मद् तु—अभ्यास कार्य, खरि च।
(6) जजनत्
यह लेट् का रूप है।
(7) दधनत्

लेट्, पूर्ववत्।

(8) दुरिद्रति (पूर्ववत्)।

(9) जागर्ति (पूर्ववत्)।

भ्यादी०—भी आदि धातुओं के अभ्यस्त को प्रत्यय से पूर्व उदात्त होता है—

(10) ददाति

उदात्त नहीं हुआ।

पितीति०—पित् सार्वधातुक परे रहते उदात्त होता है—

(11) दरिद्रति

'झि' प्रत्यय है, जो पित् नहीं है। उदात्त नहीं हुआ।

(2633) लिति *193* (3576)

लिति (=लकारेत्संज्ञके) प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवति। चिकीर्षकः। जिहीर्षकः। भौरिकिविधम्। भौलिकिविधम्। ऐषुकारिभक्तम्।

अर्थ—लकार इत् है जिसका, ऐसे प्रत्यय से पूर्व को उदात्त स्वर होता है।

उदा० (1) चिकीर्षकः

कृ सन्—द्वित्वादि,

चिकीर्ष ण्वुल्—धातुसंज्ञा,

चिकीर्ष अक सु—युवोरनाकौ।

(2) जिहीर्षकः (पूर्ववत्)।

(3) भौरिकिविधम्

'भौरिक्याद्यैषु कार्या०' से 'विधल्' प्रत्यय हुआ।

(4) भौलिकिविधम् (पूर्ववत्)।

(5) ऐषुकारिभक्तम्

पूर्ववत् 'भक्तल्' प्रत्यय हुआ।

(2634) आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम् *194* (3677)

णमुलि परतोऽन्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति। लोलूयं लोलूयम्, लोलूयं लोलूयम्। पोपूयं पोपूयम्। पोपूयं पोपूयम्। आम्रेडितानुदात्तत्वे कृते पूर्वो लोलूयंशब्द एकत्राद्युदात्तः, अपरत्र लित्स्वरेण मध्योदात्तः।

अर्थ—धातु को विकल्प से आद्युदात्त होता है, णमुल् परे रहते।

उदा० (1) लोलूयं लोलूयम्

'णमुल्' हुआ। प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त हुआ। 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः' से द्वित्व, 'तस्य परमाम्रेडितम्', 'अनुदात्तं च' से अनुदात्त, सभी अनुदात्तों की एकश्रुति हो गई।

(2) लोलूयं लोलूयम्

पक्ष में नहीं हुआ। 'लिति' से मध्योदात्त।

(2635) अचः कर्तृयकि *195* (3678)

'उपदेश' इति वर्तते। अजन्ता ये उपदेशे धातवस्तेषां कर्तृयकि अन्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति। लूयते केदारः स्वयमेव, लूयते केदारः स्वयमेव। स्तीर्यते केदारः स्वयमेव, स्तीर्यते केदारः स्वयमेव। यदाऽऽद्युदात्तत्वं न भवति, तदा लसार्वधातुकनिघाते कृते अदुपदेशभक्तयक एव स्वरो भवति। जनादीनामुपदेश एवात्वं द्रष्टव्यम्, तत्राप्ययं स्वर इष्यते। जायते स्वयमेव। सायते स्वयमेव। खायते स्वयमेव। अच इति किम्? भिद्यते स्वयमेव। कर्तृग्रहणं किम्? लूयते केदारो देवदत्तेन।

अर्थ—कर्तृवाच्य सार्वधातुक में विहित 'यक्' प्रत्यय के परे रहते उपदेश में अजन्त धातु को विकल्प से आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) लूयते केदारः स्वयमेव

सामान्यतः कर्मवाच्य में सार्वधातुक लकारों में धातु से 'यक्' होता है, परन्तु कर्मकर्तृ स्थलों पर कर्मवद्भाव होने से 'यक्' होता है। द्र०—सार्वधातुके यक्।

(2) लूयते केदारः स्वयमेव

पक्ष में 'तास्यनुदात्ते०' के द्वारा निघात करके प्रत्ययस्वर से यक् को उदात्त हुआ।

(3) स्तीर्यते केदारः स्वयमेव

आदि को उदात्त हुआ।

(4) स्तीर्यते केदारः स्वयमेव

पूर्ववत् 'यक्' को उदात्त।

यदाद्यु०—जहाँ आदि को उदात्त नहीं होता, वहाँ लसार्वधातुक निघात करने पर अत् उपदेशभक्त यक् को ही स्वर होता है। जन् आदि का उपदेश में ही आत्व देखा जाता है। वहाँ पर भी यह स्वर होता है।

(5) जायते स्वयमेव (पूर्ववत्)।

(6) सायते स्वयमेव (पूर्ववत्)।

(7) खायते स्वयमेव (पूर्ववत्)।

अच इति०—उपदेश में जो अजन्त, उससे आद्युदात्त होता है—

(8) भिद्यते स्वयमेव
आद्युदात्त नहीं हुआ।

कर्तृ०—कर्तृवाच्य में जो 'यक्', उसके परे रहते आद्युदात्त होता है—

(8) लूयते केदारो देवदत्तेन
कर्मवाच्य में 'यक्' है। आद्युदात्त नहीं हुआ।

(2636) थलि च सेटीडन्तो वा *196* (3732)

सेटि थलि इट् वा उदात्तो भवति अन्तो वा आदिर्वाऽन्यतरस्याम्। लुलविथं लुलविथं, लुलविथं। यदा नैते त्रयः स्वराः, तदा 'लिति' (6.1.193) प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवति। तेनैते चत्वारः स्वराः पर्यायेण भवन्ति। सेटीति किम्? ययाथं। 'लिति' प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तम्–इत्ययमेवात्र स्वरो भवति।

अर्थ—सेट् थल् परे रहते इट् को विकल्प से उदात्त होता है तथा आदि एवं अन्त को विकल्प से उदात्त होता है।

उदा० (1) लुलविथ
उदात्त हुआ।

(2) लुलविथ
आदि को उदात्त हुआ।

(3) लुलविथं
अन्त को उदात्त हुआ।

(4) लुलविथ
'लिति' से स्वर हुआ।
इस प्रकार चार स्वर पर्यायेण होते हैं।

सेटीति०—सेट् थल् परे रहते उदात्त होता है।

(5) ययाथ
सेट् थल् नहीं है। अतः उदात्त नहीं हुआ। 'लिटि' से स्वर हुआ।

(2637) ञ्नित्यादिर्नित्यम् *197* (3686)

ञिति निति च नित्यमादिरुदात्तो भवति। 'गर्गादिभ्यो यञ्', (4.1.105) गार्ग्यः। वात्स्यः। 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (4.3.98)–वासुदेवकः, अर्जुनकः। प्रत्ययस्वरापवादोऽयं योगः। प्रत्ययलक्षणमत्र नेष्यते, तेन गर्गाः, बिदाः, चञ्चाः–इत्यत्र यञि कनि च लुप्ते न भवति।

अर्थ—ञित् व नित् प्रत्यय के परे रहते आदि को उदात्त होता है।

उदा० (1) गार्ग्यः
गर्ग यञ्—गर्गादिभ्यो यञ्,
गार्ग्य सु—आदि उदात्त।

(2) वात्स्यः (पूर्ववत्)।

(3) वासुदेवकः
वसुदेव वुन्—वासुदेवाऽर्जुनाभ्यां वुन्,
वासुदेव अक—आदि वृद्धि।

(4) अर्जुनकः
यह प्रत्यय स्वर का अपवाद है। यहाँ प्रत्ययलक्षण नहीं होता है।

(5) गर्गाः।

(6) बिदाः।

(7) चञ्चाः।
यहाँ यञ् व कन् का लुप्त होने पर नहीं होता है।

(2638) आमन्त्रितस्य च *198* (3653)

आमन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति। देवदत्त! देवदत्तौ, देवदत्ताः। अत्र 'कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिष' (6.2.148) इति प्राप्तिर्बाध्यते। लुमतापि लुप्ते प्रत्ययलक्षणमत्रेष्यते। सर्पिरागच्छ, सप्तागच्छतेति।

अर्थ—आमन्त्रितसंज्ञक को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) देवदत्त
'साऽऽमन्त्रितम्' के द्वारा आमन्त्रित संज्ञा होती है।

(2) देवदत्तौ (पूर्ववत्)।

(3) देवदत्ताः (पूर्ववत्)।

अत्र०—यहाँ 'कारकाद्दत्तश्रुतयो०' से प्राप्ति का बाध होता है। लुमत् के द्वारा लुप्त होने पर भी यहाँ प्रत्ययलक्षण होता है—

(4) सर्पिरागच्छ
सर्पिस्—'स्वमोर्नपुंसकात्' से विभक्ति का लुक् हुआ है।

(5) सप्तागच्छत
'षड्भ्यो लुक्' से लुक् हुआ है।

(2639) पथिमथोः सर्वनामस्थाने *199* (3687)

पथिमथिशब्दावौणादिकाविनिप्रत्ययान्तौ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तौ, तयोः सर्वनामस्थाने परत आदिरुदात्तो भवति। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः। मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः। सर्वनामस्थान इति किम्? पथः पश्य। मथ पश्यः। उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तो भवति। प्रत्ययलक्षणमत्रापि नेष्यते। पथिप्रियः-इत्यत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः पथिशब्दः।

अर्थ—पथिन् व मथिन् शब्द औणादिक 'विनि' प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं। प्रत्यय स्वर से इन्हें अन्तोदात्त होता है।

पथिन् व मथिन् शब्दों को आद्युदात्त होता है, सर्वनामस्थान-संज्ञक विभक्ति परे रहते।

उदा० (1) पन्थाः
पथिन् सु → पन्था स्—विभक्तिकार्य।
(2) पन्थानौ (पूर्ववत्)।
(3) पन्थानः (पूर्ववत्)।
(4) मन्थाः (पूर्ववत्)।
(5) मन्थानौ (पूर्ववत्)।
(6) मन्थानः (पूर्ववत्)।

सर्वनाम०—**सर्वनामस्थान** विभक्ति परे रहते ही आद्युदात्त होता है—

(7) पथः पश्य
पथिन् शस्—'शस्' की सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं है। अतः आद्युदात्त नहीं हुआ।

(8) मथः पश्य (पूर्ववत्)।
उदात्तनिवृत्ति स्वर से अन्तोदात्त होता है। यहाँ प्रत्ययलक्षण भी नहीं होता है।

(9) पथिप्रियः
यहाँ पूर्वपद प्रकृति स्वर के द्वारा पथिन् शब्द अन्तोदात्त है।

(2640) अन्तश्च तवै युगपत् *200* (3688)

तवैप्रत्ययान्तस्यान्तः, चशब्दादादिश्च युगपदुदात्तौ भवतः। कर्त्तवै। हर्त्तवै। प्रत्ययाद्युदात्तत्वापवादः। युगपद्ग्रहणं पर्यायनिवृत्त्यर्थम्। 'एकवर्जम्' इति वचनाद्यौगपद्यं न स्यात्।

अर्थ—'तवै' प्रत्यय है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द को एक साथ आद्युदात्त व अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) कर्त्तवै
कृ तवै—गुण हुआ।
(2) हर्त्तवै (पूर्ववत्)।

यह प्रत्ययलक्षण आद्युदात्त का अपवाद है। युगपत् शब्द का ग्रहण पर्याय की निवृत्ति के लिए है। 'एकवर्जम्' के द्वारा युगपत् भाव नहीं होता है।

(2641) क्षयो निवासे *201* (3689)

क्षयशब्दो निवासेऽभिधेये आद्युदात्तो भवति। क्षियन्ति = निवसन्त्यस्मिन्निति क्षयः, 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (3.3.118) इति घप्रत्ययान्तस्य प्रत्ययस्वरः प्राप्तः। क्षये जागृहि प्रपश्यन् (ऋ० 10.118.1)। निवास इति किम्? क्षयो वर्तते दस्यूनाम्। 'एरच्' (3.3.56) इत्ययमजन्तः।

अर्थ—'निवास' अर्थ में वर्त्तमान 'क्षय' शब्द आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) क्षयः
क्षि घ—'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण' से प्रत्यय हुआ,
क्षय सु—प्रत्ययस्वर प्राप्त था।

निवास०—निवास अर्थ में वर्त्तमान 'क्षय' आद्युदात्त होता है—

(2) क्षयो वर्त्तते दस्यूनाम्
यहाँ नहीं हुआ। 'एरच्' से 'अच्' हुआ है।

(2642) जयः करणम् *202* (3690)

जयशब्दः करणवाची आद्युदात्तो भवति। जयन्ति तेनेति तेनेति जयः। 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (3.3.118) इति घ, तस्य प्रत्ययस्वरः प्राप्तः। जयोऽश्वः। करणमिति किम्? जयो वर्तते ब्राह्मणानाम्। अत्रापि 'एरच्' (3.3 56) इत्ययमजन्तः।

अर्थ—करणवाची 'जय' शब्द आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) जयः
जयन्ति तेन—इस अर्थ में 'पुंसि सञ्ज्ञायां०' से 'घ' हुआ
जि घ सु—गुण, प्रत्ययस्वर प्राप्त था।

करणमि०—करण अर्थ में वर्त्तमान 'जय' आद्युदात्त होत है—

(2) जुयो वर्त्तते ब्राह्मणानाम्
यहाँ आद्युदात्त नहीं हुआ।
यहाँ भी 'एरच्' से 'अच्' हुआ है।

(2643) वृषादीनां च *203* (3691)

'वृष' इत्येवमादीनामादिरुदात्तो भवति। वृषः। जनः। ज्वरः। ग्रहः। हयः। गयः। सर्वे एते पचाद्यच्प्रत्ययान्ताः। गय इत्यत्र गायतेर्निपातनादेत्वम्। नयः। तयः। अयः। अंशः। वेदः। अशः। दवः। एतेऽपि तथैवाच्प्रत्ययान्ताः। सूदः–इगुपधात् (3.1.135) इति कप्रत्ययान्तः। गुहा–भिदादिः, अङ्प्रत्ययान्तः (3.3.104)। *शमरणौ संज्ञायां सम्मतौ भावकर्मणोः* (ग०सू० 170)। शमो भावे। रणः कर्मणि। अजन्तावेतौ निपातनाद् भावकर्मणोर्भवतः। मन्त्रः पचाद्यजन्तः। शान्तिः–इति क्तिजन्तः। कामः, यामः–घञन्तावेतौ। आरा, धारा, कारा–भिदादयः। वहः–गोचरादिषु घप्रत्ययान्तः। कल्पः–अजन्तः। पादः–घञन्तः। तत्र क्वचित्प्रत्ययस्वरः प्राप्तः, क्वचित् 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' (6.1.159) इति। वृषादिराकृतिगणः। अविहितमाद्युदात्तत्वं वृषादिषु द्रष्टव्यम्।

अर्थ—वृष आदि शब्दों को आदि उदात्त होता है।

उदा० (1) वृषः
वृष् क—इगुपधज्ञा० से 'क' हुआ,
वृष सु—अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था।

(2) जनः (पूर्ववत्)।
(3) ज्वरः (पूर्ववत्)।
(4) ग्रहः (पूर्ववत्)।
(5) हयः (पूर्ववत्)।
(6) गयः (पूर्ववत्)।

सभी शब्दों में पचादि होने से अच् हुआ। 'गय' में 'गै' धातु से निपातन से एत्व हुआ है।

(7) नयः (पूर्ववत्)।
(8) तयः (पूर्ववत्)।
(9) अयः (पूर्ववत्)।
(10) अंशः (पूर्ववत्)।
(11) वेदः (पूर्ववत्)।
(12) अशः (पूर्ववत्)।
(13) दवः (पूर्ववत्)।

ये सभी शब्द भी उसी प्रकार अच् प्रत्ययान्त हैं।

(14) सूदः
'इगुपधज्ञा०' से 'क' हुआ।

(15) गुहा
'भिदादिभ्योऽङ्' से 'अङ्'।

शमरणौ०—भाव तथा कर्म अर्थों में यथासंख्य शम और रण शब्द आद्युदात्त होते हैं, संज्ञा के विषय में।

(16) शमः
यह भाव में होता है। अच् हुआ।

(17) रणः
यह कर्म में होता है। अच् हुआ।

(18) मन्त्रः
पचादि गण में पाठ होने से अच् हुआ।

(19) शान्तिः
शम् णिच् क्तिच्—'क्तिच्क्तौ च सञ्ज्ञायाम्',
शान्ति सु—पूर्ववत्।

(20) कामः
कम् घञ् सु—पूर्ववत्।

(21) यामः
यम् घञ् सु।

(22) आरा
ऋ अङ्—भिदादिभ्योऽङ्, निपातन से वृद्धि।

(23) धारा
धृ अङ्—पूर्ववत्।

(24) कारा
कृ अङ्—पूर्ववत्।

(25) वहः
वह् घ सु—पूर्ववत्।

(26) कल्पः
कल्प् अच् सु।

(27) पादः
पद् घञ् सु।

तत्र०—इन स्थलों पर कहीं प्रत्ययस्वर प्राप्त था तथा कहीं

'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' से स्वर प्राप्त था। वृषादि एक आकृतिगण हैं। जहाँ आद्युदात्त का विधान नहीं किया गया है, वहाँ वृषादि गण जानना चाहिए।

(2644) संज्ञायामुपमानम् *204* (3692)

उपमानशब्दः संज्ञायामाद्युदात्तो भवति। चञ्चा। वर्ध्रिका। खरकुटी। दासी। उपमानशब्दा एते उपमेयस्य संज्ञाः। तत्र 'इवे प्रतिकृतौ' (5.3.96) इति यः कन् तस्य 'लुम्मनुष्ये' (5.3.98) इति लुप्। यद्येवम्, किमर्थमिदमुच्यते, प्रत्ययलक्षणेन सिद्धमाद्युदात्तत्वम्? एतदेव ज्ञापयति–क्वचिदिह स्वरविधौ प्रत्ययलक्षणं न भवतीति। तथा च पूर्वत्रोदाहृतम्। संज्ञायामिति किम्? अग्निर्माणवकः। उपमानमिति किम्? देवदत्तः।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में उपमानवाची शब्द आद्युदात्त होता है :

उदा० (1) चञ्चा
यहाँ 'कन्' का लुप् हुआ है। कन् का लुप होने पर भी प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिद्ध है। नित् स्वर से आद्युदात्त हुआ।

(2) वर्ध्रिका (पूर्ववत्)।
(3) खरकुटी (पूर्ववत्)।
(4) दासी (पूर्ववत्)।

ये उपमान शब्द उपमेय की संज्ञा हैं। 'इवे प्रतिकृतौ' से जो 'कन्' होता है, उसका 'लुम्मनुष्ये' से 'लुप्' होता है।

यद्येवम्०—यदि ऐसा है तो यह किसलिए कहा जाता है कि प्रत्ययलक्षण के द्वारा आद्युदात्त होता है। यह ज्ञापित करता है कि यहाँ स्वरविधि में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। पहले उदाहरण दिया जा चुका है।

सञ्ज्ञाया०—संज्ञा में ही आद्युदात्त होता है—

(5) अग्निर्माणवकः
यहाँ नहीं हुआ।

उपमान०—उपमानवाची शब्द आद्युदात्त होता है—

(6) देवदत्तः
यह संज्ञा है, उपमानवाची नहीं है। आदि उदात्त नहीं हुआ।

(2645) निष्ठा च द्व्यजनात् *205* (3693)

निष्ठान्तं च द्व्यच् संज्ञायां विषये आद्युदात्तं भवति स चेदादिराकारो न भवति। दत्तः। गुप्तः। बुद्धः। प्रत्ययस्वरापवादः। निष्ठेति किम्? देवः। भीमः। द्व्यजिति किम्? चिन्तितः। रक्षितः। अनादिति किम्? त्रातः। आप्तः। संज्ञायामिति किम्? कृतम्। हृतम्।

अर्थ—संज्ञा के विषय में दो अच् वाला निष्ठान्त शब्द आद्युदात्त होता है, आकार को नहीं होता है।

उदा० (1) दत्तः
दा क्त → दद् त—खरि च,
दत्त सु—आदि को उदात्त हुआ।

(2) गुप्तः
गुप् क्त—पूर्ववत्।

(3) बुद्धः
बुध् क्त—बुध् ध–
बुद् ध सु—पूर्ववत् स्वर।
यह प्रत्ययस्वर का अपवाद है।

निष्ठेति०—निष्ठान्त शब्द आद्युदात्त होता है—

(4) देवः
निष्ठान्त नहीं है, आद्युदात्त नहीं हुआ।

(5) भीमः
'भियः षुक् च' से मन् प्रत्ययान्त है। आद्युदात्त नहीं हुआ।

द्व्यजि०—दो अच् वाला आद्युदात्त होता है—

(6) चिन्तितः
चिन्त् क्त—दो अच् वाला नहीं है, अतः आद्युदात्त नहीं हुआ।

(7) रक्षितः (पूर्ववत्)।

अनात्०—आकार से आद्युदात्त नहीं होता है—

(8) त्रातः
त्रै क्त—दो अच् वाला है, निष्ठान्त है परन्तु आकार है। अतः आद्युदात्त नहीं हुआ।

(9) आप्तः (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञाया०—संज्ञा के विषय में ही आद्युदात्त होता है—

(10) कृतम्
कृ क्त—निष्ठान्त है, दो अच् वाला है, परन्तु संज्ञा का विषय न होने से आद्युदात्त नहीं हुआ।

(11) हृतम् (पूर्ववत्)।

(2646) शुष्कधृष्टौ *206* (3694)

'आदिरुदात्तः' इति वर्तते। शुष्क, धृष्ट-इत्येतावाद्युदात्तौ भवतः। शुष्कः। धृष्टः। असंज्ञार्थ आरम्भः।

अर्थ—'आदिरुदात्तः' का अनुवर्त्तन है। शुष्क व धृष्ट—ये दो शब्द आद्युदात्त होते हैं।

उदा० (1) शुष्कः
शुष् क्त—शुषः कः,
शुष्क सु—आद्युदात्त।

(2) धृष्टः
धृष् क्त—ष्टुत्व।

यहाँ असंज्ञा के लिए विधान है।

(2647) आशितः कर्ता *207* (3695)

आशितशब्दः कर्तृवाची आद्युदात्तो भवति। आशितो देवदत्तः। अशेरयमाङ्पूर्वादविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः, तत्र 'थाथघञ्' (6.2.144) इति प्राप्तः स्वरो बाध्यते। कर्तरीति किम्? आशितमन्नम्। आशितं देवदत्तेन। पूर्वत्र कर्मणि क्तः, उत्तरत्र भावे।

अर्थ—कर्तृवाची आशित शब्द आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) आशितः
आ अश् क्त—कर्त्ता अर्थ में 'क्त' का निपातन,
आश् इट् त—इट्,
आशित सु—आद्युदात्त।

कर्त्तरी०—कर्त्ता अर्थ में ही 'आशित' आद्युदात्त होता है—

(2) आशितम् अन्नम्
कर्म में 'क्त' हुआ।

(3) आशितं देवदत्तेन
भाव में 'क्त' हुआ है।

(2648) रिक्ते विभाषा *208* (3696)

रिक्तशब्दे विभाषा आदिरुदात्तो भवति। रिक्तः रिक्तः 'संज्ञायाम्' (6.1.204) 'निष्ठा च द्व्यजनात्' (6.1.205) इत्यनेन पूर्वविप्रतिषेधेन नित्यमाद्युदात्तः।

अर्थ—रिक्त शब्द विकल्प से आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) रिक्तः
रिच् क्त सु।

(2) रिक्तः
पक्ष में अन्तोदात्त।

संज्ञा के विषय में 'निष्ठा च द्व्यजनात्' से पूर्वविप्रतिषेध से नित्य आद्युदात्त होता है।

(2649) जुष्टार्पिते चच्छन्दसि *209* (3697)

जुष्ट, अर्पित-इत्येते शब्दरूपे छन्दसि विषये विभाषा आद्युदात्ते भवतः। जुष्टः जुष्टः। अर्पितः। अर्पितः। छन्दसीति किम्? भाषायां प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तावेतौ।

अर्थ—जुष्ट और अर्पित शब्द विकल्प से आद्युदात्त होते हैं, वेद के विषय में।

उदा० (1) जुष्टः
जुष् क्त—निष्ठा,
जुष्ट सु—ष्टुत्व।

(2) जुष्टः
पक्ष में नहीं हुआ।

(3) अर्पितः
ऋ णिच् क्त—'अर्त्तिह्री०' से पुक्।

(4) अर्पितः
पक्ष में आद्युदात्त नहीं हुआ।

छन्दसी० अर्थात् वेद में ही होता है। लोक में प्रत्ययस्वर के द्वारा ये शब्द अन्तोदात्त होते हैं।

(2650) नित्यं मन्त्रे *210* (3698)

जुष्ट, अर्पित-इत्येते शब्दरूपे छन्दसि विषये नित्यमाद्युदात्ते भवतः। जुष्टं देवानाम्। अर्पितं पितॄणाम्। पूर्वेणात्र विकल्पः प्राप्तः। केचिदत्र 'जुष्ट'-इत्येतदेवानुवर्तयन्ति। अर्पितशब्दस्य विभाषा मन्त्रेऽपीच्छन्ति। अन्तोदात्तोऽपि ह्ययं मन्त्रे पठ्यते-'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता' (ऋ० 1.164.48) इति।

अर्थ—मन्त्र के विषय में जुष्ट और अर्पित शब्दों को नित्य आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) जुष्टं देवानाम्
आद्युदात्त।

(2) अर्पितं पितॄणाम्
आद्युदात्त।

पूर्व सूत्र के द्वारा यहाँ विकल्प प्राप्त था।

केचिदत्र०—कुछ विद्वान् यहाँ केवल 'जुष्ट' का अनुवर्त्तन स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'अर्पित' शब्द पूर्ववत् पाक्षिक आद्युदात्त होता है। मन्त्रों में यह अन्तोदात्त भी प्राप्त होता है—

शङ्कवोऽर्पि॒ताः।

(2651) युष्मदस्मदोर्ङसि *211* (3699)

युष्मदस्मदी मदिक्प्रत्ययान्तेऽन्तोदात्ते, तयोर्ङसि परत आदिरुदात्तो भवति। तवं स्वम्। ममं स्वम्।

अर्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्द आद्युदात्त होते हैं, ङस् विभक्ति परे रहते।

उदा० (1) तवं
युष्मद् ङस्।

(2) ममं
अस्मद् ङस्।

(2652) ङयि च *212* (3700)

'युष्मदस्मदो' इति वर्तते, 'आदिरुदात्त' इति च। 'ङे' इत्येतस्मिंश्च परतो युष्मदस्मदोरादिरुदात्तो भवति। 'तुभ्यंम्' (तै०सं० 1.3.14.3)। मह्यंम्। पृथग्योगकरणं यथासंख्यशङ्कानिवृत्त्यर्थम्।

अर्थ—'युष्मदस्मदोः' का अनुवर्त्तन है। 'आदिरुदात्तः' का अनुवर्त्तन है। युष्मद् व अस्मद् शब्द आद्युदात्त होते हैं, ङे परे रहते।

उदा० (1) तुभ्यंम् (पूर्ववत्)।
(2) मह्यंम् (पूर्ववत्)।

यथासंख्य की शंका की निवृत्ति के लिए पृथक् पाठ किया गया है।

(2653) यतोऽनावः *213* (3701)

'निष्ठा च द्व्यजनात्' (6.1.215) इत्यतो द्व्यज्ग्रहणमनुवर्त्तते। यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति, न चेन्नौशब्दात्परो भवति। 'अचो यत्' (3.1.97)-चेयंम्, जेयंम्। 'शरीरावयवाद्यत्' (5.1.6)-कण्ठ्यंम्, ओष्ठ्यंम्। 'तित्स्वरितम्' (6.1.185) इत्यस्यापवादः। अनाव इति किम्? ना॒व्यम्। द्व्यच इत्येव-चि॒की॒र्ष्यम्। ल॒ला॒ट्यंम्।

अर्थ—'निष्ठा च द्व्यजनात्' इससे 'द्व्यच्' का अनुवर्त्तन है। यत् प्रत्ययान्त तथा दो अच् वाले शब्द को आद्युदात्त होता है, परन्तु 'नौ' शब्द को नहीं होता है।

उदा० (1) चेयंम्
चि यत्—अचो यत्,
चेय सु—आद्युदात्त।

(2) जेयंम् (पूर्ववत्)।

(3) कण्ठ्यंम्
कण्ठ यत्—शरीरावयवाद्यत्।

(4) ओष्ठ्यंम्
ओष्ठ यत् सु।

यह 'तित् स्वरितम्' का अपवाद है।

अनाव०—नौ शब्द को नहीं होता है—

(5) ना॒व्यम्
नावा तार्यम्—'नौवयोर्धर्म०' से 'यत्,
नाव्य सु—वान्तो यि०।

द्व्यच०—दो अच् वाला शब्द आद्युदात्त होता है—

(6) चि॒कीर्ष्यम्
कृ सन्—धातु संज्ञा,
चिकीर्ष यत्—पूर्ववत्।

(7) ल॒लाट्यम्
ललाट यत्—नहीं हुआ।

(2654) ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः *214* (3702)

ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह्-इत्येतेषां यो ण्यत् तदन्तस्यादिरुदात्तो भवति। ईड्यंम्। वन्द्यंम्। वार्यम्। संस्यंम्। दोह्यां धेनुः। द्व्यनुबन्धकत्वाद् ण्यतो यद्ग्रहणेन ग्रहणं नास्तीति 'तित्स्वरितम्' (6.1.185) इत्येतत् प्राप्तम्। वार्यमिति-'वृङ् सम्भक्तौ' इत्यस्यायं ण्यत्। क्यब्विधौ हि वृञ एव ग्रहणमिष्यते।

अर्थ—ण्यत् प्रत्ययान्त ईड, वन्द, वृ, शंस तथा दुह को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) ईड्यंम्
ईड् ण्यत्—अनुबन्ध लोप,
ईड् य सु—आद्युदात्त।

(2) वन्द्यम्
वन्द् ण्यत् सु।

(3) वार्यम्
वृङ् ण्यत्—क्यप् विधि में 'वृञ्' का ग्रहण होता है।

(4) शंस्यम्
शंस् ण्यत्—पूर्ववत्,
शंस्य सु—पूर्ववत्।

(5) दोह्या धेनुः
दुह् ण्यत्—गुण,
दोह् य टाप् सु—टाप्।

दो अनुबन्धों वाला होने से 'ण्यत्' का यत् के ग्रहण से ग्रहण नहीं होता। 'तित् स्वरितम्' से प्राप्त हुआ।

(2655) विभाषा वेण्विन्धानयोः *215* (3703)

वेणु, इन्धान-इत्येतयोर्विभाषा आदिरुदात्तो भवति। वेणुंः, वेणुः। इन्धांनः, इन्धानः। इन्धानंः। वेणुशब्दोऽयम् 'अजिवृरीभ्यो नित्' (उ०सू० 318) इति णुप्रत्ययान्तो नित्त्वान्नित्यमाद्युदात्तः प्राप्तः। इन्धानशब्दोऽपि यदा चानशन्तदा चित्त्वादन्तोदात्तः। अथ शानजन्तस्तदा लसार्वधातुकानुदात्तत्वे कृते उदात्तनिवृत्तिस्वरेण मध्योदात्तः। तदेवमिन्धाने सर्वथाऽप्राप्तमाद्युदात्तत्वं पक्षे विधीयते। वेणुरिव वेणुरित्युपमानं यदा संज्ञा भवति, तदा 'संज्ञायामुपमानम्' (6.1.204) इति नित्यमाद्युदात्तत्वमिष्यते।

अर्थ—वेणु तथा इन्धान शब्द विकल्प से आद्युदात्त होते हैं।

उदा० (1) वेणुंः
वी नु सु।

(2) वेणुः
आद्युदात्त नहीं हुआ।

(3) इन्धांनः
आद्युदात्त हुआ।

(4) इन्धानः
अन्तोदात्त।

वेणु०—'अजिवृरीभ्यो नित्' से णुप्रत्ययान्त 'वेणु' शब्द नित् होने से नित्य आद्युदात्त प्राप्त है।

'इन्धान' शब्द भी जब चानश् प्रत्ययान्त होता है, तब चित् होने से अन्तोदात्त होता है। जब 'शानच्' होता है तो लसार्वधातुक अनुदात्त करने पर उदात्तनिवृत्ति स्वर के द्वारा मध्योदात्त होता है। इस प्रकार 'इन्धान' शब्द के विषय में सर्वथा अप्राप्त आद्युदात्त स्वर का पक्ष में विधान किया जाता है।

'वेणुरिव वेणुः'—इस प्रकार से उपमान जब संज्ञा होता है तो 'सञ्ज्ञायामुपमानम्' से नित्य आद्युदात्त स्वर होता है।

(2656) त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् *216* (3704)

त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ-इत्येतेषां विभाषा आदिरुदात्तो भवति। त्यागंः, त्यागः। रागंः, रागः। हासंः, हासः-एते घञन्ताः, तेषां पक्षे 'कर्षात्वतो घञोन्त उदात्तः' (7.1.159) इत्युदात्तत्वमेव भवति। कुहंः, कुहः। श्वठंः, श्वठः। क्रथंः, क्रथः-एते पचाद्यजन्ताः।

अर्थ—त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ—इन शब्दों को विकल्प से आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) त्यागंः
त्यज् घञ्।

(2) त्यागः
पक्ष में 'कर्षात्वतो घञन्त०' से अन्तोदात्त।

(3) रागंः
रञ्ज् घञ्।

(4) रागः
पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त।

(5) हासंः
हस् घञ्—आद्युदात्त।

(6) हासः
पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त।

(7) कुहंः
पचादि गण में होने से 'अच्' होता है।

(8) कुहः
आद्युदात्त नहीं हुआ।

(9) श्वठंः
आद्युदात्त।

(10) श्वठः
आद्युदात्त नहीं हुआ।

(11) क्रथः
आद्युदात्त।

(12) क्रुथः
पूर्ववत् आद्युदात्त नहीं हुआ।

(2657) उपोत्तमं रिति *217* (3733)

रिदन्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति। त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तमं तस्य समीपे यत्तदुपोत्तमम्। करणीयम्। हरणीयम्। पटुजातीयः। मृदुजातीयः। प्रत्ययस्वरापवादोऽयम्।

अर्थ—रित् प्रत्ययान्त शब्द का उपोत्तम उदात्त होता है। तीन आदि का जो अन्त्य, वह 'उत्तम' कहलाता है। उत्तम के जो पास, उसे उपोत्तम कहते हैं।

उदा० (1) करणीयम्
कृ अनीयर्—अनीयर् रित् है,
'नी' उपोत्तम है।

(2) हरणीयम् (पूर्ववत्)।
(3) पटुजातीयः
पटु जातीयर्—रित् प्रत्यय, शेष पूर्ववत्।

(4) मृदुजातीयः (पूर्ववत्)।
यह प्रत्यय स्वर का अपवाद है।

(2658) चङ्यन्यतरस्याम् *218* (3679)

चङन्तेऽन्यतरस्यामुपोत्तममुदात्तं भवति। मा हि चीकरताम्। मा हि चीकरंताम्। 'न माङ्योगे' (6.4.74) इत्यटि प्रतिषिद्धे 'हि च' (8.1.34) इति निघातेऽदुपदेशादिति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे (6.1.186) कृते चङ एव स्वरे प्राप्ते पक्षे धात्वकार उदात्तो भवति। उपोत्तमग्रहणाद् द्व्यचोर्न भवति-'मा हि दुधत्'।

अर्थ—'चङ्' है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द का उपोत्तम विकल्प से उदात्त होता है।

उदा० (1) मा हि चीकरंताम्
उपोत्तम उदात्त हुआ।

(2) मा हि चीकरंताम्
पक्ष में नहीं हुआ।

न माङ्०—'न माङ्योगे' से अट् का निषेध हुआ। 'हि च' के द्वारा निघात हुआ। अदुपदेशात्० से लसार्वधातुक अनुदात्त करने पर चङ् का स्वर प्राप्त हुआ। पक्ष में धात्वधिकार उदात्त होता है।

उपोत्तम का ग्रहण होने से दो अच् में यह नहीं होता है—

(3) मा हि दधत्
यहाँ नहीं हुआ।

(2659) मतो पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम् *219* (3705)

मतोः पूर्व आकार उदात्तो भवति तच्चेन्मत्वन्तं स्त्रीलिङ्गे संज्ञा भवति। उदुम्बरावंती। पुष्करावंती। वीरणावंती। शरावंती। 'शरादीनां च' (6.3.120) इति दीर्घः। आदिति किम्? इक्षुमती। द्रुमवती। संज्ञायामिति किम्? खट्वांवती। स्त्रियामिति किम्? शरावान्। मतोरिति किम्? गवादिनी।

अर्थ—मतुप् प्रत्यय से पूर्व आकार उदात्त होता है, यदि मतुप् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग में संज्ञाविषयक हो।

उदा० (1) उदुम्बरावंती
उदुम्बर मतुप्—स्त्रीलिंग में संज्ञा है, आकार उदात्त हुआ। 'नद्याम् मतुप्' से 'मतुप्' हुआ, 'मतौ बह्वचोऽनजिरादी०' से दीर्घादेश हुआ।

(2) पुष्करावंती (पूर्ववत्)।
(3) वीरणावंती (पूर्ववत्)।
(4) शरावंती
शर मतुप्—'शरादीनाञ्च' से दीर्घ,
शरावत् ङीप्—पूर्ववत्।

आदिति०—आकार को ही उदात्त होता है—

(5) इक्षुमती
मतुप् है, परन्तु इससे पूर्व आकार नहीं है। उदात्त नहीं हुआ।

(6) द्रुमवती
यहाँ नहीं हुआ।

संज्ञाया०—संज्ञा में ही आकार को उदात्त होता है—

(7) खट्वावती
मतुप् है, इससे पूर्व आकार है परन्तु संज्ञा का विषय न होने से आकार उदात्त नहीं हुआ।

स्त्रिया०—स्त्रीलिंग में ही आकार उदात्त होता है—

(8) शरावान्

मतुप् है, इससे पूर्व आकार उदात्त नहीं हुआ, क्योंकि स्त्रीलिंग में नहीं है।

मतोरि०—मतुप् प्रत्यय से पूर्व आकार उदात्त होता है—

(9) गवादिनी
यहाँ आकार मतुप् से पूर्व नहीं है।

(2660) अन्तोऽवत्याः *220* (3706)

'संज्ञायाम्' इत्येव। अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायामन्त उदात्तो भवति। अजिरवती। खदिरवती। हंसवती। कारण्डवती। ङीपः पित्त्वादनुदात्तत्वं प्राप्तम्। 'अवत्या' इति किमुच्यते, न वत्या इत्येवमुच्येत? नैवं शक्यम्; इहापि स्यात्–राजवती। स्वरविधौ नलोपस्यासिद्धत्वान्नायमवतीशब्दः, वत्वं पुनराश्रयात्सिद्धम्।

अर्थ—'संज्ञायाम्' का अनुवर्त्तन है। 'अवती' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द को अन्तोदात्त होता है, संज्ञा के विषय में।

उदा० (1) अजिरवती
'अवती' अन्त में है, अन्तोदात्त हुआ। पूर्ववत् मतुप् हुआ, ङीप् हुआ, पित् होने से अनुदात्त प्राप्त था।

(2) खदिरवती (पूर्ववत्)।
(3) हंसवती (पूर्ववत्)।
(4) कारण्डवती (पूर्ववत्)।

ङीप् के पित् होने से 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से अनुदात्त प्राप्त था।

अवत्या०—'अवत्याः' किसलिए कहा गया है? 'न वत्याः' इतने मात्र से काम चल जाता। यह सम्भव नहीं है। ऐसा कहने पर निम्नलिखित में भी हो जाता है—

(5) राजवती
'अवत्याः' का पाठ होने से यहाँ अन्तोदात्त प्राप्त नहीं होता है।

स्वरविधि के विषय में नलोप के असिद्ध होने से यह 'अवती' शब्द नहीं है। वत्व आश्रयवश सिद्ध है।

(2661) ईवत्या *221* (3707)

ईवतीशब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति स्त्रियां संज्ञायां विषये। अहीवती। कृषीवती। मुनिवती।

अर्थ—ईवती शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द को अन्तोदात्त होता है, स्त्रीलिंग में तथा संज्ञा के विषय में।

उदा० (1) अहीवती
'सञ्ज्ञायाम्' से वत्व तथा शरादीनाञ्च से दीर्घ हुआ है, अन्तोदात्त हुआ।

(2) कृषिवती (पूर्ववत्)।
(3) मुनीवती (पूर्ववत्)।

(2662) चौ *222* (3652)

'चौ' इत्यञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते। तस्मिन्परतः पूर्वस्यान्त उदात्तो भवति। दधीचः पश्य। दधीचा। दधीचे। मधूचः पश्य। मधूचा। मधूचे। उदात्तनिवृत्तिस्वरापवादोऽयम्। *चावतद्धित इति वक्तव्यम्* (म०भा०) दाधीचः। माधूचः। प्रत्ययस्वर एवात्र भवति।

अर्थ—अञ्चु धातु के अकार व नकार का लोप करके जो 'चु' रूप बनता है, उसी का यहाँ ग्रहण है। 'चु' परे रहते पूर्व को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) दधीचः
दधि अञ्च् क्विन्—'गतिकारकोपपदात्' से उत्तर पद प्रकृति स्वर से अञ्च् का अकार उदात्त हुआ, 'अचः' से अकारलोप हुआ, 'अनुदात्तस्य च०' से उदात्त निवृत्ति लक्षण स्वर प्राप्त होता है, उसका यह अपवाद है।

(2) दधीचा (पूर्ववत्)।
(3) दधीचे (पूर्ववत्)।
(4) मधूचः (पूर्ववत्)।
(5) मधूचा (पूर्ववत्)।
(6) मधूचे (पूर्ववत्)।

यह उदात्तनिवृत्ति स्वर का अपवाद है।

चावतद्धित०—'चु' परे रहते जो स्वर, वह तद्धित परे रहते नहीं होता है—

(7) दाधीचः
तद्धित प्रत्यय 'अण्' हुआ। अन्त उदात्त नहीं हुआ। प्रत्यय स्वर हुआ।

(8) माधूचः (पूर्ववत्)।

यहाँ प्रत्यय स्वर ही होता है।

(2663) समासस्य *223* (3734)

समासस्यान्त उदात्तो भवति। राजपुरुषः। ब्राह्मणकम्बलः। कन्यास्वनः। पट्टहशब्दः। नदीघोषः। राजपृषतः। ब्राह्मणसमित्। 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' (व्या०प० 37) इति हलन्तेष्वप्यन्तोदात्तत्वं भवति। नानापदस्वरस्यापवादः।

इति श्रीवामनविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

अर्थ—समास को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) राजपुरुषः
अन्त उदात्त हुआ।

(2) ब्राह्मणकम्बलः (पूर्ववत्)।
(3) कन्यास्वनः (पूर्ववत्)।
(4) पट्टहशब्द (पूर्ववत्)।
(5) नदीघोषः (पूर्ववत्)।
(6) राजपृषत् पूर्ववत्।
(7) ब्राह्मणसमित् (पूर्ववत्)।

स्वर०—'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्य०' से हलन्त में भी अन्तोदात्त होता है। यह नानापद स्वर का अपवाद है।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
षष्ठाऽध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।



67 का०द्वि०

षष्ठाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः

(2664) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् *1* (3735)

पूर्वपदग्रहणमत्र पूर्वपदस्थे स्वरे उदात्ते स्वरिते वा वर्त्तते। बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदस्य यः स्वरः स प्रकृत्या भवति = स्वभावेनावतिष्ठते, न विकारमनुदात्तत्वमापद्यते। समासान्तोदात्तत्वे हि सति 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (6.1.158) इति सोऽनुदात्तः स्यादिति समासान्तोदात्तत्वापवादोऽयमारभ्यते। कार्ष्णोत्तरासङ्गः। कृष्णो मृगः, तस्य विकारः कार्ष्णः, 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (4.3.154) इत्यञ्प्रत्ययान्तो ञित्स्वरेणाद्युदात्तः। यूपंवलजः। यूपशब्द उणादिषु 'कुसुयुभ्यश्च' (उ०सू० 307) इति पप्रत्ययान्तः। तत्र च 'दीर्घः' इति, 'नित्' इति च वर्त्तते, तेनाद्युदात्तः। ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः। ब्रह्मचारिन्शब्दः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। स्नातकपुत्रः। स्नातशब्दः कन्प्रत्ययान्तो नित्स्वरेणाद्युदात्तः। अध्यापकपुत्रः। लित्स्वरेणाध्यापकशब्दो मध्योदात्तः। श्रोत्रियपुत्रः। श्रोत्रियशब्दो नित्त्वादाद्युदात्तः। मनुष्यनाथः। मनुष्यशब्दः 'तित्स्वरितम्' (6.1.185) इति स्वरितान्तः। उदात्तग्रहणं स्वरितग्रहणं चात्रानुवर्त्तते, तेन सर्वानुदात्ते पूर्वपदे विधिरेव नास्तीति समासान्तोदात्तत्वं भवति। सुमभाग इति समशब्दो हि सर्वानुदात्तः।

अर्थ—'पूर्वपद' का ग्रहण पूर्वपदस्थ उदात्त या स्वरित स्वर में वर्त्तमान है। बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का जो स्वर, वह प्रकृतिस्वर होता है। अनुदात्त होने पर अनुदात्त ही हो—इस प्रकार समासान्तोदात्त का यह अपवाद-विधान किया जा रहा है।

उदा० (1) कार्ष्णोत्तरसङ्गः

कृष्णस्य (मृगस्य) विकारः—कार्ष्णः

'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' हुआ, तब यह शब्द ञित् स्वर से आद्युदात्त हुआ।

(2) यूपंलवजः

'यूप' शब्द का उणादि में पाठ है। 'कुसुयुभ्यश्च' से 'प' प्रत्यय हुआ। 'दीर्घम्' व 'नित्' से आद्युदात्त हुआ।

(3) ब्रह्मचारि परिस्कन्दः

'ब्रह्मचारिन्' शब्द कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त होता है।

(4) स्नातकपुत्रः

'स्नातक' शब्द कन् प्रत्ययान्त है। अतः नित् स्वर से आद्युदात्त हुआ।

(5) अध्यापकपुत्रः

'अध्यापक' शब्द ण्वुल् प्रत्ययान्त है। अतः लित् स्वर से मध्योदात्त हुआ।

(6) श्रोत्रियपुत्रः

'श्रोत्रिय' शब्द नित् होने से आद्युदात्त हुआ।

(7) मनुष्यनाथः

'तित् स्वरितम्' से 'मनुष्य' शब्द स्वरितान्त है।

उदात्त ग्रहण तथा स्वरित ग्रहण का यहाँ अनुवर्त्तन है। तब पूर्वपद को सर्वानुदात्त होने पर विधि नहीं होती है। इस प्रकार समासान्तोदात्त होता है। सम शब्द सर्वानुदात्त है।

(2665) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः *2* (3736)

तत्पुरुषे समासे तुल्यार्थं तृतीयान्तं सप्तम्यन्तमुपमानवाचि अव्ययं द्वितीयान्तं कृत्यान्तं च यत्पूर्वपदं तत्प्रकृतिस्वरं भवति। तुल्यार्थं–तुल्यश्वेतः। तुल्यलोहितः। तुल्यमहान्। सदृक्छ्वेतः। सदृग्लोहितः। सदृग्महान्। सदृशश्वेतः। सदृशलोहितः। सदृशमहान्। एते 'कृत्यतुल्याख्या अजात्या' (2.1.68) इति कर्मधारयाः। तत्र तुल्यशब्दः 'यतोऽनाव' (6.1.213) इत्याद्युदात्तः। सदृक्शब्दः 'समानान्ययोश्च' (का० वा०) इति क्विन्प्रत्ययान्तः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। सदृशशब्दोऽपि कञन्तो मध्योदात्तः। तुल्यार्थः। तृतीया–शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखंण्डः। किरिणा काणः किरिकाणः। शङ्कुपूर्वाल्लातेः 'घञर्थे कविधानम्' (का०वा०) इति वा कप्रत्ययान्तः शङ्कुलाशब्दोऽन्तोदात्तः। किरिशब्दोऽपि किरतेः 'कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिच्छिदिभ्यश्च' (उ०सू० 580) इतीकारप्रत्ययः, किदौणादिकः, तेनासावन्तोदात्तः। तृतीया। सप्तमी–अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः। पानशौण्डः। 'अशेर्देवने' (उ०सू० 630) इति सप्रत्ययान्तोऽक्षशब्दोऽन्तोदात्तः। पानशब्दो ल्युडन्तो लित्स्वरेणाद्युदात्तः।

सप्तमी। उपमान–शस्त्रीश्यामा। कुमुदश्येनी। हंसगद्गदा। न्यग्रोधपरिमण्डला। दूर्वाकाण्डश्यामा। शरकाण्डगौरी। 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (2.1.55) इति समासः। शस्त्रीशब्दो ङीष्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः। कुमुदशब्दोऽपि कौ मोदते इति मूलविभुजादित्वात् (का०वा०) कप्रत्ययान्तः, 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि०सू० 26) इति वाऽऽद्युदात्तः। हंसशब्दः 'वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः' (उ०सू० 342) इति सप्रत्ययान्तः। न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः, पचादित्वाद् अच्प्रत्ययान्तः, तस्य 'न्यग्रोधस्य च केवलस्य' (7.3.5) इति निपातनाद् हकारस्य धकारः, मध्योदात्तत्वं च। दूर्वाकाण्डशरकाण्डशब्दौ षष्ठीतत्पुरुषावुत्तरपदाद्युदात्तौ। उपमान। अव्यय–अब्राह्मणः। अवृषलः। कुब्राह्मणः। कुवृषलः। निष्कौशाम्बिः। निर्वाराणसिः। अतिखट्वः। अतिमालः। एतान्यव्ययान्याद्युदात्तानि। *अव्यये नञ्कुनिपातानामिति वक्तव्यम्* (का०वा०)। इह मा भूत्–स्नात्वाकालक इति। अव्यय। द्वितीया–मुहूर्त्तसुखम्। मुहूर्त्तरमणीयम्। सर्वरात्रकल्याणी। सर्वरात्रशोभना। अत्यन्तसंयोगे च' (2.2.29) इति द्वितीयासमासः। पृषोदरादिरन्तोदात्तः। सर्वरात्रशब्दोऽप्यच्प्रत्ययान्तः। द्वितीया। कृत्य–भोज्योष्णम्। भोज्यलवणम्। पानीयशीतम्। हरणीयचूर्णम्। भोज्यशब्दो ण्यदन्तोऽन्तस्वरितः। पानीयहरणीयशब्दयोः 'उपोत्तमं रिति' (6.1.217) इति ईकार उदात्तः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में तुल्य अर्थ वाला, तृतीयान्त, सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय द्वितीयान्त तथा कृत्यप्रत्ययान्त जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (क) तुल्यार्थ०—

(1) तुल्यलोहितः

पूर्वपद में तुल्यार्थ है, प्रकृतिस्वर हुआ।

(2) तुल्यमहान् (पूर्ववत्)।

(3) सदृक्च्छ्वेतः

अन्तोदात्त।

(4) सदृग्लोहितः (पूर्ववत्)।

(5) सदृग्महान् (पूर्ववत्)।

(6) सदृशश्वेतः

मध्योदात्त।

(7) सदृशलोहितः

मध्योदात्त।

(8) सदृशमहान्

मध्योदात्त।

ये सभी कर्मधारय हैं। तुल्य शब्द 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त होता है।

सदृक् शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है। कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर से अन्तोदात्त होता है। सदृश शब्द में 'कञ्' प्रत्यय है। अतः मध्योदात्त हुआ।

(ख) तृतीयान्त०—

(9) शङ्कुलाखण्डः

शङ्कुलया खण्डः—समास हुआ,

शङ्कुला क—घञर्थ में 'क' होकर रूप बनता है। अतः यह अन्तोदात्त हुआ।

(10) किरिकाणः

किरिणा काणः—समास।

कृ इ—कृगृशॄपृकुटि० से 'इ' हुआ। अन्तोदात्त हुआ।

(ग) सप्तम्यन्त०—

(11) अक्षशौण्डः

अक्षेषु शौण्डः—सप्तमी तत्पुरुष।

अश् से 'स' होकर 'अक्ष' बनता है। अन्तोदात्त हुआ।

(12) पानशौण्डः

'पानं' ल्युट् प्रत्ययान्त है। लित् स्वर से आद्युदात्त है।

(घ) उपमान०—

(13) शस्त्रीश्यामा

'शस्त्री' शब्द ङीष् प्रत्ययान्त है। अतः अन्तोदात्त हुआ। शेष अचों को अनुदात्त हुआ।

(14) कुमुदश्येनी

कौ मोदते—मूलविभुजादि में पाठ होने से कप्रत्ययान्त है। पाक्षिक आद्युदात्त हुआ।

(15) हंसगद्गदा

हन् स—वृतॄवदिहनिकमि० से 'स' प्रत्यय, अतः अन्तोदात्त हुआ।

(16) न्यग्रोधपरिमण्डला

'न्यग्रोध' शब्द का पचादिगण में पाठ होने से यह अच् प्रत्ययान्त है।

'न्यग्रोधस्य च केवल०' से हकार को धकार तथा मध्योदात्त स्वर निपातनसिद्ध हैं।

(17) दूर्वाकाण्डश्यामा
ये षष्ठीतत्पुरुष हैं। उत्तरपद आद्युदात्त हैं।

(18) शरकाण्डगौरी (पूर्ववत्)।
'उपमानानि समान्यवचनैः' के द्वारा समास हुआ।

(ङ) अव्यय०—
(19) अब्राह्मणः
अव्यय आद्युदात्त हैं।

(20) अवृषलः (पूर्ववत्)।
(21) कुब्राह्मणः (पूर्ववत्)।
(22) कुवृषलः (पूर्ववत्)।
(23) निष्कौशाम्बिः (पूर्ववत्।
(24) निर्वाराणसिः (पूर्ववत्)।
(25) अतिखट्वः
अतिक्रान्तः खट्वाम्—समास, ह्रस्वादेश, अतिखट्व।

(26) अतिमालः (पूर्ववत्)।

अव्यये०—अव्यय के विषय में नञ्, कु तथा निपातों को ही प्रकृतिस्वर होता है।

(27) स्नात्वाकालकः
मयूरव्यंसकादि होने से समास हुआ।

(च) द्वितीयान्त०—
(28) मुहूर्तसुखम्
'मुहूर्त' शब्द पृषोदरादि होने से 6.3.108 से अन्तोदात्त होता है।

(29) मुहूर्तरमणीयम् (पूर्ववत्)।
(30) सर्वरात्रकल्याणी
सर्वरात्र शब्द अच् प्रत्ययान्त है। अतः अन्तोदात्त हुआ।

(31) सर्वरात्रशोभना (पूर्ववत्)।
यहाँ सर्वत्र 'अत्यन्तसंयोगे च' से द्वितीया समास हुआ है।

(छ) कृत्य०—
(32) भोज्योष्णम्
'भोज्य' शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त है। अतः स्वरितान्त है।

(33) भोज्यलवणम् (पूर्ववत्)।

(34) पानीयशीतम्
'उपोत्तमं रिति' से अनीयर् प्रत्ययान्त शब्द 'पानीय' का उपोत्तम उदात्त है।

(35) हरणीयचूर्णम् (पूर्ववत्)।

(2666) वर्णो वर्णेष्वनेते *3* (3737)

'प्रकृत्या पूर्वपदम्' 'तत्पुरुषे' इति च वर्त्तते। वर्णं = वर्णवाची पूर्वपदं वर्णवाचिष्वेवोत्तरपदेषु एतशब्दवर्जितेषु परतस्तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति। कृष्णसारङ्गः, लोहितसारङ्गः। कृष्णकल्माषः, लोहितकल्माषः। 'कृषेर्वर्णे' (उ०सू० 282) इति कृष्णशब्दो नक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः। लोहितशब्दोऽपि 'रुहे रश्च लो वा' (उ०सू० 374) इतीतन्प्रत्ययान्त आद्युदात्तः। वर्ण इति किम्? परमकृष्णः। वर्णेष्विति किम्? कृष्णतिलाः। अनेत इति किम्? कृष्णैतः। लोहितैतः।

अर्थ—प्रकृत्या, पूर्वपदम् तथा तत्पुरुषे—इनका अनुवर्त्तन है। तत्पुरुष समास में वर्णवाची शब्द उत्तरपद में रहते वर्णवाची जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, यदि 'एत' शब्द उत्तरपद में न हो।

उदा० (1) कृष्णसारङ्गः
'कृष्ण' शब्द नक्प्रत्ययान्त है। पूर्वपद में वर्णवाची 'कृष्ण' शब्द है। इसे प्रकृतिस्वर हुआ।

(2) लोहितसारङ्गः
'लोहित' शब्द पूर्वपद में है। 'सारङ्ग' वर्णवाची शब्द उत्तरपद में है। 'लोहित' को प्रकृतिस्वर हुआ।

(3) कृष्णकल्माषः (पूर्ववत्)।
(4) लोहितकल्माषः (पूर्ववत्)।

'रुहेरश्चलो वा' से लोहित शब्द तन् प्रत्ययान्त है। आद्युदात्त होता है।

वर्णे०—पूर्वपद में जो **वर्णवाची**, उससे प्रकृतिस्वर होता है—

(5) परमकृष्णः
पूर्वपद में 'परम' शब्द है, जो वर्णवाची नहीं है। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

वर्णेषु—**वर्णवाची** उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(6) कृष्णतिला:
उत्तरपद में वर्णवाची नहीं है। पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

अनेत०—उत्तरपद में एत शब्द न हो तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(7) कृष्णैत:
'कृष्ण' को प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(8) लोहितैत:
'लोहित' वर्णवाची शब्द पूर्वपद में है, परन्तु उत्तरपद में 'एत' शब्द है। अत: पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2667) गाधलवणयोः प्रमाणे *4* (3738)

प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे गाध, लवण-इत्येतयोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। शम्बंगाधमुदकम्। अरित्रंगाधमुदकम्। तत्प्रमाणमित्यर्थः। गोलंवणम्। अश्वलंवणम्। यावद् गवे दीयते तावदित्यर्थः। षष्ठीसमासा एते। तत्र 'शमेर्बन्' (उ०सू० 534) इति बन्प्रत्ययान्तत्वाच्छम्बशब्दः आद्युदात्तः। अरित्रशब्दः 'अर्त्तिलूधूसू' (3.2.184) इतीत्रप्रत्ययान्तो मध्योदात्तः। गोशब्दो डोप्रत्ययान्तः (उ०सू० 226) अन्तोदात्तः। अश्वशब्दः 'अशूप्रुषि' (उ०सू० 149) इति क्वन्प्रत्ययान्त आद्युदात्तः। प्रमाणम् = इयत्तापरिच्छेदमात्रमिह द्रष्टव्यम्, न पुनरायाम एव। स्वरव्यञ्ज्यं च प्रमाणविशेषविषयत्वमेतेषाम्। प्रमाण इति किम्? परमगाधम्। परलवणम्।

अर्थ—प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, यदि उत्तरपद में गाध व लवण शब्द हों।

उदा० (1) शम्बंगाधम्
'शमेर्बन्' से बन् प्रत्ययान्त 'शम्ब' शब्द आद्युदात्त हुआ।

(2) अरित्रंगाधम्
'अरित्र' प्रमाणवाची है। प्रकृतिस्वर हुआ। मध्योदात्त हुआ।

(3) गोलंवणम्
गो शब्द 'डो' प्रत्ययान्त है। अत: अन्तोदात्त होता है। शेष अच् अनुदात्त हुए।

(4) अश्वंलवणम्

'अशूप्रुषि०' से क्वन् होकर 'अश्व' बनता है। यह आद्युदात्त हुआ। ये सभी षष्ठी तत्पुरुष हैं। वन् प्रत्ययान्त होने से 'शम्' शब्द आद्युदात्त है। 'अर्तिलूधूसू०' के द्वारा 'अरित्र' में 'इत्र' प्रत्यय है। अत: मध्योदात्त हुआ। प्रमाण के द्वारा इयत्तापरिच्छेदमात्र जानना चाहिए; आयाम नहीं।

प्रमाण०—प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में ही पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(5) परमगाधम्
यहाँ नहीं हुआ।

(6) परमलवणम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2668) दायाद्यं दायादे *5* (3739)

तत्पुरुषे समासे दायादशब्द उत्तरपदे दायाद्यवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। विद्यादायादः। धनंदायादः। 'संज्ञायां समजनिषद' (3.3.99) इति विद्याशब्दः क्यप्प्रत्ययान्तः। 'उदात्तः' इति च तत्र वर्त्तते, तेनायमन्तोदात्तः 'कृपृवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः' (उ०सू० 239) इति बहुलवचनात् केवलादपि धाञः क्युप्रत्ययः, तेन धनशब्दः प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः। अथ विद्यादायाद इति केन षष्ठी? 'स्वामीश्वराधिपतिदायाद' (2.3.39) इति। यद्येवम्, 'प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यते' (का०वा०) इति समासप्रतिषेधः प्राप्नोति? एवं तर्हि शेषलक्षणा (2.3.50) एवात्र षष्ठी, तस्यास्तु सप्तम्री विधीयमाना बाधिका मा विज्ञायीति पुनरभ्यनुज्ञायते। दायाद्यमिति किम्? परमदायादः। अत्र समासान्तोदात्तत्वमेव भवति।

अर्थ—तत्पुरुष समास में दायाद्यवाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, दायाद शब्द उत्तरपद में हो तो।

उदा० (1) विद्यादायादः
विद्या शब्द क्यप् प्रत्ययान्त है। अन्तोदात्त हुआ।

(2) धनंदायादः
'क्यु' (उ०सू० 239) प्रत्यय होकर 'धन' शब्द निष्पन्न होता है। अत: आद्युदात्त हुआ।

विद्यादायाद में किससे षष्ठी होती है 'स्वामीश्वराधिपतिदा०' से। यदि ऐसा है तो प्रतिपदविधाना षष्ठी का समास नहीं होता है। अत: समास का निषेध प्राप्त होता है। तब तो शेषलक्षणा षष्ठी होती है।

दायाद्यं०—दायाद्यवाची जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है—

(3) परमदायादः
'परम' को प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समासलक्षण अन्तोदात्त हुआ।

(2669) प्रतिबन्धि चिरकृच्छ्रयोः *6* (3740)

तत्पुरुषे समासे चिरकृच्छ्रयोरुत्तरपदयोः प्रतिबन्धिवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। गमनंचिरम्। गमनंकृच्छ्रम्। व्याहरंणचिरम्। व्याहरंणकृच्छ्रम्। गमनव्याहरणशब्दौ ल्युडन्तौ, तयोर्लित्स्वरः। गमनं च यच्चिरं चेति विशेषणसमासोऽयम् (2.1.57), मयूरव्यंसकादिः (2.1.72) वैष द्रष्टव्यः। गमनं हि कारणविकलतया चिरकालभावि कृच्छ्रयोगि वा प्रतिबन्धि जायते। प्रतिबन्धीति किम्? मूत्रकृच्छ्रम्।

अर्थ—तत्पुरुष समास में प्रतिबन्धिवाची जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, चिर तथा कृच्छ्र उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गमंनचिरम्
गम् ल्युट्—अतः लित् स्वर हुआ।

(2) गमंनकृच्छ्रम् (पूर्ववत्)।

(3) व्यवंहरणचिरम्
वि अव हृ ल्युट्—पूर्ववत् लित् स्वर।

(4) व्याहंरणकृच्छ्रम् (पूर्ववत्)।

गमनं च यच्चिरं च—इस प्रकार यह विशेषणसमास है अथवा मयूरव्यंसकादि जानना चाहिए।

प्रतिब०—प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(5) मूत्रकृच्छ्रम्
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2670) पदेऽपदेशे *7* (3741)

अपदेशः = व्याजः, तद्वाचिनि तत्पुरुषे समासे पदशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। मूत्रंपदेन प्रस्थितः। उच्चारपदेन प्रस्थितः। मूत्रशब्दः 'सिचिमुच्योष्टेरूच' (उ०सू० 602) इति ष्ट्रन्प्रत्ययान्तः, मूत्रयतेर्वा घञन्त आद्युदात्तः। उच्चारशब्दोऽपि घञन्तः 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (6.2.144) इत्यन्तोदात्तः। विशेषणसमासोऽयम्, मयूरव्यंसकादिर्वा। अपदेश इति किम्? विष्णोः पदम् विष्णुपदम्।

अर्थ—अपदेशवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, पद शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) मूत्रंपदेन
'सिचिमच्योष्टे०' से 'ष्ट्रन्' होकर अथवा चुरा० 'मूत्र्' धातु से 'घञ्' होकर 'मूत्र' शब्द बनता है। आद्युदात्त हुआ।

(2) उच्चारपंदेन
'घञ्' होकर उच्चार बनता है। 'थाथघञ् क्ताज०' से अन्तोदात्त हुआ।

यह विशेषण समास है अथवा मयूरव्यंसकादि है।

अपदेश०—अपदेशवाची तत्पुरुष में ही प्रकृतिस्वर होता है—

विष्णुपदम्
विष्णोः पदम्—यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2671) निवाते वातत्राणे *8* (3742)

निवातशब्दे उत्तरपदे वातत्राणवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। कुट्येव निवातं कुटीनिंवातम्। शमीनिंवातम्। कुड्यंनिवातम्। वातस्याभावो निवातम्, 'अर्थाभाव' (2.1.6) इत्यव्ययीभावः। निरुद्धो वातोऽस्मिन्निति वा निवातमिति बहुव्रीहिः। तत्र कुड्यादिहेतुके निवाते कुड्यादयो वर्त्तमानाः समानाधिकरणेन निवातशब्देन सह समस्यन्ते। कुटीशमीशब्दौ गौरादिङीषन्तावन्तोदात्तौ। कुड्यशब्दोऽपि 'कवतेर्यत् डक्किच्च' (उणादिसूत्रम्) इति यत्प्रत्ययान्त आद्युदात्त इत्येके। ड्यक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्त इत्यपरे। वातत्राण इति किम्? राजनिवाते वसति। सुखं मातृनिवातम्। निवातशब्दोऽयं पार्श्ववाची रूढिशब्दः, तत्रोभयत्र षष्ठीसमासः।

अर्थ—वातत्राणवाची तत्पुरुष में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, यदि 'निवात' शब्द उत्तरपद में हो।

उदा० (1) कुटीनिंवातम्
कुटी—'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् प्रत्ययान्त है। अन्तोदात्त हुआ।

(2) शमीनिंवातम्
ङीष् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त हुआ।

(3) कुड्यंनिवातम्
कु यत्—आद्युदात्त हुआ।

वातस्या०—वायु का अभाव 'निवात' कहलाता है। अर्थाभाव में समास हुआ है अथवा निरुद्धो वातोऽस्मिन्निति इस प्रकार बहुव्रीहि

हुआ है। यहाँ कुड्यादिहेतुक निवात अर्थ में वर्त्तमान कुडी आदि का समानाधिकरण निवात शब्द के साथ समास होता है।

कुड्य०—कुछ विद्वान् 'कु' धातु से 'यत्' करके 'कुड्य' शब्द मानते हैं। तब आद्युदात्त हुआ। अन्य विद्वान् ड्यक् प्रत्ययान्त स्वीकार करते हैं। तब अन्तोदात्त हुआ।

वातत्राण०—वातत्राणवाची तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर होता है—

(4) राजनिवाते वसति

प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समास अन्तोदात्त स्वर हुआ।

(5) मातृनिवातम् (पूर्ववत्)।

यह निवात शब्द पार्श्ववाची रूढि शब्द है। दोनों स्थलों पर षष्ठी समास है।

(2672) शारदेऽनार्तवे *9* (3743)

ऋतौ भवमार्तवम्। अनार्तववाचिनि शारदशब्दे उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। रज्जुंशारदमुदकम्। दृषत्शांरदाः सक्तवः। शारदशब्दोऽयं प्रत्यग्रवाची, तस्य नित्यसमासः, अस्वपदविग्रह इष्यते। सद्यो रज्जूद्धृतमुदकं प्रत्यग्रमनुपहतं रज्जुशारदमुच्यते। रज्जुशब्दः 'सृजेरसुम् च' (उ०सू० 15) इति उप्रत्ययान्त आदिलोपश्च। 'धान्ये नित्' इति च तत्र वर्त्तते, तेनाद्युदात्तः। दृषत्शब्दः 'दृणातेः षुग् ह्रस्वश्च' (उ०सू० 128) इति अदिक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः। अनार्त्तव इति किम्? परमशारदम्। उत्तमशारदम्। शरदि ऋतुविशेषे भवं यत्तदिह शारदम्।

अर्थ—ऋतो भवम् आर्त्तवम्। तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, उत्तरपद में आर्त्तववाची शब्द न हो तो।

उदा० (1) रज्जुंशारदम्

यह शारद शब्द प्रत्ययवाची है। उसका नित्य समास हुआ है। अतः यहाँ अस्वपद विग्रह हुआ। यथा—

सद्यो रज्जूद्धृतम् उदकम्—रज्जुशारदम्।

रज्जु शब्द 'सृजेरसुम्' से उप्रत्ययान्त है। आदि लोप होता है। आद्युदात्त है।

(2) दृषतः शारदा सक्तवः

'दॄ' धातु से 'अदिक्' प्रत्यय 'षुक्' आगम तथा ह्रस्वादेश होकर 'दृषद्' शब्द निष्पन्न होता है। अन्तोदात्त हुआ।

अनार्त्तव०—आर्त्तववाची शब्द उत्तरपद में न हो तो पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(3) परमशारदम्

प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समासलक्षण अन्तोदात्त हुआ है।

(4) उत्तमशारदम् (पूर्ववत्)।

शरदि (ऋतु विशेषे) भवम्—शारदम्।

(2673) अध्वर्युकषाययोर्जातौ *10* (3744)

अध्वर्यु, कषाय-इत्येतयोर्जातिवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। प्राच्यांध्वर्युः। कठांध्वर्युः। कलापांध्वर्युः। एते समानाधिकरणसमासा जातिवाचिनो नियतविषयाः। तत्र प्राच्यशब्दो यत्प्रत्ययान्त आद्युदात्तः। कठशब्दः पचाद्यचि व्युत्पादितः, ततः कठेन प्रोक्तमिति 'वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च' (4.3.104) इति णिनिः, तस्य 'कठचरकाल्लुक्' (4.3.107) इति लुक्। कलापिना प्रोक्तमिति 'कलापिनोऽण्' (4.3.108) तस्मिन् 'इनण्यनपत्ये' (6.4.164) इति प्रकृतिभावे प्राप्ते 'नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारिपीठसर्पिकलापिकौथुमितैतिलिजाजलिलाङ्गलिशिलालिशिखण्डिसूकरसद्मसुपर्वणामुपसंख्यानम्' (का०वा०) इति टिलोपः। तदेवं कलापशब्दोऽन्तोदात्तः। सर्पिर्मण्डकंषायम्। उमापुष्पकंषायम्। दौवारिककंषायम्। षष्ठीसमासव्युत्पादिता रूढिशब्दा एते। तत्र सर्पिर्मण्डशब्दः, उमापुष्पशब्दश्च षष्ठीसमासावन्तोदात्तौ। दौवारिकशब्दोऽपि 'द्वारे नियुक्तः' इति ठकि सत्यन्तोदात्त एव। जाताविति किम्? परमाध्वर्युः परमकषायः।

अर्थ—जातिवाची तत्पुरुष में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है, उत्तरपद में अध्वर्यु तथा कषाय शब्दों के रहते।

उदा० (1) प्राच्यांऽध्वर्युः

आद्युदात्त।

(2) कठाऽध्वंर्युः

अन्तोदात्त।

(3) कलापाऽध्वंर्युः

अन्तोदात्त।

एते०—ये सभी समानाधिकरण समास हैं, जातिवाची हैं तथा नियत विषय वाले हैं। यत् प्रत्यय होकर प्राच्य शब्द बनता है। अतः आद्युदात्त हुआ। पचादि गण में पाठ होने से अच् प्रत्यय होकर कठ शब्द व्युत्पादित होता है। कठेन प्रोक्तम्—

'वैशम्पायनाऽन्तेवासिभ्यः' से 'णिनि' होता है। तब कठ णिनि—इस दशा में 'कठचरकाल्लुक्' से इसका लुक् होता है।

कलापिना०—कलापिना प्रोक्तम्—यहाँ 'कलापिनोऽण्' से अण् प्रत्यय हुआ। उसे प्रकृतिभाव प्राप्त होने पर नान्त का टिलोप करने पर 'सब्रह्मचारिपीठसर्पि०' (वा०) से कलाप शब्द अन्तोदात्त होता है।

(4) सर्पिर्मुण्डकंषायम्
अन्तोदात्त।

(5) उमापुष्पकंषायम्
अन्तोदात्त।

(6) दौवारिककंषायम्
अन्तोदात्त।

षष्ठी०—ये सभी षष्ठी समास में व्युत्पादित रूढि शब्द हैं। सर्पिर्मण्ड तथा उमापुष्प शब्द अन्तोदात्त हैं। 'द्वारे नियुक्तः' इस प्रकार 'ठक्' करने पर 'दौवारिक' शब्द निष्पन्न होता है। यह अन्तोदात्त है।

जातावि०—जातिवाची तत्पुरुष में ही पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(7) परमाऽध्वर्युः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।
(8) परमकषायः (पूर्ववत्)।

(2674) सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये *11* (3745)

सदृश, प्रतिरूप-इत्येतयोरुत्तरपदयोः सादृश्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। पितृसंदृशः। मातृसंदृशः। पितृमातृशब्दावुणादिष्वन्तोदात्तौ निपातितौ। षष्ठीसमासार्थं च सदृशग्रहणमिह तदलुकि षष्ठ्याः प्रयोजति-दास्याः सदृशः, वृषल्याः सदृश इति। अत्र दासी-वृषलीशब्दयोरन्तोदात्तत्वाद् 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (6.1.174) इति विभक्तिरन्तोदात्ता। पितृप्रतिरूपः। मातृप्रतिरूपः। सादृश्ये इति किम्? परमसदृशः। उत्तमसदृशः। समासार्थोऽत्र पूज्यमानता, न सादृश्यम्।

अर्थ—सादृश्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, सदृश तथा प्रतिरूप शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) पितृसंदृशः

पितृ तथा मातृ शब्द उणादियों में अन्तोदात्त निपातित हैं। षष्ठी समास के लिए 'सदृश' शब्द का ग्रहण है। उसका अलुक् करने पर 'दास्याः सदृशः' तथा 'वृषल्याः सदृशः' होते हैं।

यहाँ 'दासी' तथा 'वृषली' शब्दों के अन्तोदात्त होने से 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' से विभक्ति अन्तोदात्त होती है।

(2) पितृप्रतिरूपः
अन्तोदात्त।

(3) मातृप्रतिरूपः
अन्तोदात्त।

सादृश्य०—सादृश्यवाची तत्पुरुष में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(4) परमसदृशः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समासलक्षण अन्तोदात्त स्वर हुआ।

(5) उत्तमसदृशः (पूर्ववत्)।
यहाँ समास का अर्थ पूज्यमानता है; सादृश्य नहीं।

(2675) द्विगौ प्रमाणे *12* (3746)

द्विगावुत्तरपदे प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। प्राच्यंसप्तशमः। गान्धारिसप्तशमः। सप्त शमाः प्रमाणमस्येति मात्रच उत्पन्नस्य 'प्रमाणे लो' (का०वा०) 'द्विगोर्नित्यम्' (का०वा) इति लुक्। प्राच्यश्चासौ सप्तशमश्चेति प्राच्यसप्तशमः। प्राच्यशब्द आद्युदात्तः, गान्धारिशब्दः कर्दमादित्वादाद्युदात्तः, मध्योदात्तो वा। द्विगाविति किम्? व्रीहिप्रस्थः। प्रमाण इति किम्? परमसप्तशमः।

अर्थ—प्रमाणवाची तत्पुरुष में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, द्विगु उत्तरपद रहते।

उदा० (1) प्राच्यंसप्तशमः
सप्तशमाः च प्रमाणमस्य—इस अर्थ में 'मात्रच्' हुआ, 'प्रमाणे लो द्विगो०' से लुक्,
प्राच्यश्चाऽसौ सप्तशमश्च—समास हुआ।

(2) गान्धारिसप्तशमः
कर्दमादिगण में पाठ होने से गान्धारि शब्द आद्युदात्त अथवा मध्योदात्त है।

द्विगावि०—द्विगु उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(3) व्रीहिप्रस्थः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समासलक्षण अन्तोदात्त हुआ।

प्रमाण०—प्रमाणवाची तत्पुरुष में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(4) परमसप्तशमः
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2676) गन्तव्यपण्यं वाणिजे *13* (3747)

वाणिजशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे गन्तव्यवाचि पण्यवाचि च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। मुद्रवाणिजः। काश्मीरवाणिजः। गान्धारिवाणिजः। मद्रादिषु गत्वा व्यवहरन्तीत्यर्थः। सप्तमीसमासा एते। तत्र मद्रशब्दो रक्प्रत्ययान्तत्वादन्तोदात्तः। काश्मीरशब्दोऽपि पृषोदरादिषु मध्योदात्तः। गान्धारिशब्दः कर्दमादिषु पठ्यते, तत्र 'कर्दमादीनां वा' इति पक्षे आद्युदात्तो भवति, द्वितीयो वा। पण्य–गोवाणिजः। अश्ववाणिजः। गोशब्दोऽन्तोदात्तः। अश्वशब्द आद्युदात्तः। गन्तव्यपण्यमिति किम्? परमवाणिजः। उत्तमवाणिजः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में गन्तव्यवाची तथा पण्यवाची जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, वाणिज शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) मुद्रवाणिजः
यहा सप्तमी समास है। मद्र शब्द रक् प्रत्ययान्त है। अन्तोदात्त हुआ।

(2) काश्मीरवाणिजः
काश्मीर शब्द पृषोदरादि में पठित होने से मध्योदात्त है।

(3) गान्धारिवाणिजः
कर्दमादि में पाठ होने से गान्धारि शब्द आद्युदात्त है।

(4) गो वाणिजः
गो शब्द अन्तोदात्त है।

(5) अश्ववाणिजः
अश्व शब्द आद्युदात्त है।

गन्तव्य०—गन्तव्यवाची तथा पण्यवाची जो पूर्वपद, उसे ही प्रकृतिस्वर होता है—

(6) परमवाणिजः
'परम' पूर्वपद है। यह न तो गन्तव्यवाची है तथा न ही पण्यवाची है। अतः प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समासलक्षण अन्तोदात्त स्वर हुआ।

(7) उत्तमवाणिजः
'उत्तम' शब्द पूर्वपद है। यह न तो गन्तव्यवाची है; न ही पण्यवाची है। अतः प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समासलक्षण स्वर हुआ।

(2677) मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके *14* (3748)

मात्रा, उपज्ञा, उपक्रम, छाया–एतेषूत्तरपदेषु नपुंसकवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। भिक्षामात्रं न ददाति याचितः। समुद्रमात्रं न सरोऽस्ति किञ्चन। मात्राशब्दोऽयं वृत्तिविषय एव तुल्यप्रमाणे वर्त्तते। तत्र भिक्षायास्तुल्यप्रमाणमित्यस्वपदविग्रहः षष्ठीसमासः। तत्र भिक्षाशब्दः 'गुरोश्च हलः' (3.3.103) इत्यप्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः। समुद्रशब्दोऽपि फिषि 'पाटलापालङ्काम्बासागरार्थानाम्' (फि०सू० 2) इत्यन्तोदात्त एव। उपज्ञा–पाणिनोपज्ञम् अकालकं व्याकरणम्। व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्। आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्। षष्ठीसमासा एते। तत्र पाणिनोऽपत्यमित्यणन्तः पाणिनशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। व्याडिरिञन्तत्वादाद्युदात्तः। तद्वदापिशलिः। उपक्रम–आढ्योपक्रमं प्रासादः। दर्शनीयोपक्रमम्। सुकुमारोपक्रमम्। नन्दोपक्रमाणि मानानि। एतेऽपि षष्ठीसमासा एव। तत्रैत्यैनं ध्यायन्तीत्याढ्यः। 'घञर्थे कविधानम्' (का०वा०) इति कप्रत्ययः। आङ्पूर्वाद् ध्यायतेः पृषोदरादित्वाद् हस्य ढत्वम्। तदयमाढ्यशब्दस्थाथादिस्वरेण (6.2.144) अन्तोदात्तः। दर्शनीयशब्दो रित्त्वादुपोत्तमोदात्तः। सुकुमारशब्दो 'नञ्सुभ्याम्' (6.2.172) इत्यन्तोदात्तः। नन्दशब्दः पचाद्यचि व्युत्पादितः। उपज्ञोपक्रमान्तस्य तत्पुरुषस्य नपुंसकलिङ्गता 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' (2.4.21) इति। छाया–इषुच्छायम्। धनुश्छायम्। इषुशब्दः 'इषेः किच्च' (उ०सू० 13) इत्युप्रत्ययान्तः, तत्र च 'धान्ये नित्' (उ०सू० 9) इति वर्त्तते, तेनाद्युदात्तः। धनुःशब्दोऽपि 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' (फि०सू० 26) इत्याद्युदात्त एव। इषूणां छायेति षष्ठीसमाप्तः। 'छाया बाहुल्ये' (2.4.22) इति नपुंसकलिङ्गता। नपुंसक इति किम्? कुड्यच्छाया।

अर्थ—नपुँसकवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है; यदि मात्रा, उपज्ञा, उपक्रम तथा छाया शब्द उत्तरपद में हों।

उदा० (1) भिक्षामांत्रम्
यहाँ मात्र शब्द वृत्तिविषय में ही तुल्यप्रमाण में वर्त्तमान है। भिक्षाया: तुल्यप्रमाणम्—यह अस्वपद विग्रह षष्ठी समास हुआ। भिक्षा शब्द 'गुरोश्च हल:' से अप्रत्ययान्त है। अत: अन्तोदात्त हुआ।

(2) समुद्रमांत्रम्
'फिष्' में समुद्र शब्द भी 'पाटलापालङ्का०' से अन्तोदात्त हुआ।

(3) पाणिनोपज्ञम्
पाणिनोपज्ञकालकं व्याकरणम्। अन्तोदात्त।

(4) व्याड्युंपज्ञम्
आद्युदात्त।

(5) आपिशल्युपज्ञम्
आद्युदात्त।

षष्ठी०—ये सभी षष्ठी समास हैं। पणिनोऽपत्यम्—पाणिन:। यह अण् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त हुआ। व्याडि शब्द इञ् प्रत्ययान्त है। अत: आद्युदात्त है। इसी प्रकार आपिशलि शब्द आद्युदात्त है।

(6) आद्योपंक्रमम्
अन्तोदात्त।

(7) दर्शनीयोंपक्रमम्
उपोत्तम उदात्त।

(8) सुकुमारोपंक्रमम्
अन्तोदात्त।

(9) नन्दोपंक्रमाणि मानानि
उदात्त हुआ।

एतेऽपि—ये सभी षष्ठी समास हैं। एत्यैनं ध्यायन्ति—आढ्य:। 'घञर्थे कविधानम्' से 'क' हुआ। आङ् पूर्वक ध्यै धातु को पृषोदरादि से ढत्व हुआ। आढ्य शब्द थाथादि स्वर से अन्तोदात्त हुआ।

दर्शनीय०—दृश् अनीयर् सु—दर्शनीय:। रित् स्वर से यह शब्द उपोत्तम उदात्त हुआ। सुकुमार शब्द 'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्त हुआ। पचादिलक्षण अच् होकर नन्द शब्द व्युत्पादित है।

उपज्ञोप०—'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचि०' से उपज्ञोपक्रमान्त तत्पुरुष की नपुँसकलिङ्गता होती है।

(10) इषुंच्छायम्
'इषे: किच्च' से 'उ' प्रत्यय होकर 'इषु' शब्द बनता है। 'धान्ये नित्' भी है। अत: आद्युदात्त हुआ।

(11) धनुंश्छायम्
'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' से धनुस् शब्द आद्युदात्त है।

'इषूणां छाया' यह षष्ठी समास हुआ। 'छाया बाहुल्ये' से नपुँसकत्व हुआ।

नपुंसक०—नपुँसकवाची तत्पुरुष में ही पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(11) कुड्यच्छाया
पूर्वपद प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2678) सुखप्रिययोर्हिते *15* (3749)

सुख, प्रिय–इत्येतयोरुत्तरपदयोर्हितवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। गमंनसुखम्। वचंनसुखम्। व्याहरंणसुखम्। सुख। प्रिय–गमंनप्रियम्। वचंनप्रियम्। व्यांहरंणप्रियम्। समानाधिकरणसमासा एते। तत्र सुखप्रियशब्दौ तद्धेतावायत्यां प्रीतिकरे वर्त्तेते। तद्धि हितं यदायत्यां प्रीतिं करोति। गमनादिषु ल्युडन्तेषु लित्स्वर:। हित इति किम्? प॒र॒म॒सु॒ख॒म्। प॒र॒म॒प्रि॒य॒म्।

अर्थ—हितवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, सुख तथा प्रिय शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गमंनसुखम्
आद्युदात्त।

(2) वचंनसुखम्
आद्युदात्त।

(3) व्याहंरणसुखम्
आद्युदात्त।

(4) गमंनप्रियम्
आद्युदात्त।

(5) वचंनप्रियम्
आद्युदात्त।

(6) व्याहंरणप्रियम्
आद्युदात्त।

समाना०—ये सभी समानाधिकरण समास हैं। सुख व प्रिय शब्द प्रीतिकर अर्थ में वर्त्तमान हैं।

गमन आदि सभी शब्द ल्युट् प्रत्ययान्त हैं। अतः लित् स्वर होता है।

हित इति०—हितवाची तत्पुरुष में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(7) परमसुखम्
समास को अन्तोदात्त हुआ।

(8) परमप्रियम् (पूर्ववत्)

(2679) प्रीतौ च *16* (3750)

प्रीतौ गम्यमानायां सुख, प्रिय-इत्येतयोरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। ब्राह्मणसुखं पायसम्। छात्रप्रियोऽनध्यायः। कन्याप्रियो मृदङ्गः। सुखप्रिययोः प्रीत्यव्यभिचारादिह प्रीतिग्रहणं तदतिशयप्रतिपत्त्यर्थम्। ब्राह्मणच्छात्रशब्दौ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तौ। कन्याशब्दः स्वरितान्तः। प्रीताविति किम्? राजसुखम्। राजप्रियम्।'

अर्थ—प्रीति अर्थ गम्यमान हो तो तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, सुख तथा प्रिय शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) ब्राह्मणसुखम्
अन्तोदात्त।

(2) छात्रप्रियः
अन्तोदात्त।

(3) कन्याप्रियः
स्वरितान्त।

ब्राह्मण व छात्र शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं। कन्या शब्द स्वरितान्त है।

प्रीतावि०—प्रीति अर्थ गम्यमान हो तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(4) राजसुखम्
अन्तोदात्त हुआ।

(5) राजप्रियम् (पूर्ववत्)।

(2680) स्वं स्वामिनि *17* (3751)

स्वामिन्शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे स्ववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। गोस्वामी। अश्वस्वामी। धनस्वामी। अश्वधनगवां कथित एव स्वरः। स्वमिति किम्? परमस्वामी।

अर्थ—तत्पुरुष समास में स्ववाची जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, स्वामिन् शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गोस्वामी
आद्युदात्त।

(2) अश्वस्वामी
आद्युदात्त।

(3) धनस्वामी
आद्युदात्त।

स्वमिति०—स्ववाची पूर्वपद को ही प्रकृतिस्वर होता है—

(4) परमस्वामी
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2681) पत्यावैश्वर्ये *18* (3752)

पतिशब्द उत्तरपदे ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। गृहपतिः। सेनापतिः। नरपतिः। धान्यपतिः। 'गेहे कः' (3.1.144) इति प्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तो गृहशब्दः। सह इनेन वर्त्तते इति 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (6.2.1) इति सेनाशब्द आद्युदात्तः। 'नॄ नये' (धा०पा० 1946) एतस्माद् 'ऋदोरप्' (3.3.57) इति अप्प्रत्ययान्त आद्युदात्तो नरशब्दः। धान्यमन्तः स्वरितम्। ऐश्वर्यमिति किम्? ब्राह्मणो वृषलीपतिः। वृषल्या भर्त्तेत्यर्थः।

अर्थ—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है, पति शब्द के उत्तरपद में रहते।

उदा० (1) गृहपतिः
अन्तोदात्त।

(2) सेनापतिः
आद्युदात्त।

(3) नरपतिः
आद्युदात्त।

(4) धान्यपतिः
अन्तः स्वरित।

गेहे—'गेहे कः' से कप्रत्ययान्त गृह शब्द होता है। यह अन्तोदात्त हुआ। सह इनेन वर्त्तते—इस प्रकार सेना शब्द बहुव्रीहि समास हुआ। सेना शब्द आद्युदात्त हुआ। नॄ नये से 'ऋदोरप्' से 'अप्' होकर नर शब्द निष्पन्न होता है। अतः आद्युदात्त हुआ। धान्य शब्द अन्तःस्वरित है।

ऐश्वर्यमि०—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(5) ब्राह्मणो वृषलीपतिः
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2682) न भूवाक्चिद्दिधिषु *19* (3753)

पत्यावैश्वर्ये। धान्यमन्तःस्वरित इति। ण्यदन्तत्वात् तित्स्वरेण। पतिशब्द उत्तरपदे ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे भू, वाक्, चित्, दिधिषू–इत्येतानि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि न भवन्ति। पूर्वेण प्राप्तः स्वरः प्रतिषिध्यते। भूपतिः। वाक्पतिः। चित्पतिः। दिधिषूपतिः। षष्ठीसमासा एते समासस्वरेणान्तोदात्ता भवन्ति।

अर्थ—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद में जो भू, वाच्, चित् तथा दिधिषू शब्द, इन्हें प्रकृतिस्वर नहीं होता है, पति शब्द के उत्तरपद रहते। पूर्व सूत्र के द्वारा प्राप्त स्वर का निषेध किया जा रहा है।

उदा० (1) भूपतिः
अन्तोदात्त।

(2) वाक्पतिः
अन्तोदात्त।

(3) चित्पत्तिः
अन्तोदात्त।

(4) दिधिषूपतिः
अन्तोदात्त।
ये सभी षष्ठीसमास हैं। समासस्वर से अन्तोदात्त हैं।

(2683) वा भुवनम् *20* (3754)

पतिशब्द उत्तरपदे ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे भुवनशब्दः पूर्वपदं वा प्रकृतिस्वरं भवति। भुवनपतिः (तै० ब्रा० 3.7.6.1) भुवनपतिः। पूर्वपदप्रकृतिस्वरपक्षे आदिरुदात्तः। 'रञ्जेः क्युन्' (उ०सू० 237) इति वर्त्तमाने 'भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि' (उ०सू० 238) इति क्युन्प्रत्ययान्तो भुवनशब्द आद्युदात्तो व्युत्पादितः। कथं भुवनपतिरादित्य इति? 'उणादयो बहुलम्' (3.2.1) इति बहुलवचनाद्भाषायामपि प्रयुज्यते।

अर्थ—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद में जो भुवन शब्द, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, पति शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) भुवनपतिः
आद्युदात्त।

(2) भुवनपतिः
पक्ष में प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

रञ्जेः—रञ्जेः क्युन् इसके वर्त्तमान रहते 'भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि' से 'क्युन्' होकर भुवन शब्द निष्पन्न होता है। यह आद्युदात्त होता है। भुवनपतिरादित्यः—यह प्रयोग 'उणादयो बहुलम्' से लोक में भी प्रयुक्त होता है।

(2684) आशङ्काबाधनेदीयस्सु सम्भावने *21* (3755)

'प्रकृत्या पूर्वपदम्', 'तत्पुरुषे' इति वर्त्तते। आशङ्क, आबाध, नेदीयस्–इत्येतेषूत्तरपदेषु सम्भावनवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। अस्तित्वाध्यवसायः = सम्भावनम्। गमनाशङ्कं वर्त्तते। गमनमाशङ्क्यते इति सम्भाव्यते। वचनाशङ्कम्। व्याहरणाशङ्कम्। आबाध–गमनाबाधम्। वचनाबाधम्। व्याहरणाबाधम्। गमनं बाध्यत इति सम्भाव्यते। नेदीयस्–गमननेदीयः। व्याहरणनेदीयः। गमनमतिनिकटतरमिति सम्भाव्यते। सम्भावन इति किम्? परमनेदीयः। पूर्वपदानि ल्युडन्तान्युक्तस्वराणि।

अर्थ—प्रकृत्या, पूर्वपदम्, तत्पुरुषे—इन सबका अनुवर्त्तन है। सम्भावनवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है; आशङ्क, अबाध तथा नेदीयस् शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) वचनाशङ्कम्
प्रत्यय से पूर्व अच् उदात्त।
(2) व्याहरणाशङ्कम् (पूर्ववत्)।
(3) गमनाबाधम् (पूर्ववत्)।
(4) वचनाबाधम् (पूर्ववत्)।
(5) व्याहरणाबाधम् (पूर्ववत्)।
(6) गमननेदीयः (पूर्ववत्)।
(7) व्याहरणनेदीयः (पूर्ववत्)।

सम्भावन०—सम्भावनवाची तत्पुरुष में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(8) परमनेदीयः
समासलक्षण स्वर हुआ।

सभी पूर्वपद ल्युट् प्रत्ययान्त हैं। उनके स्वर कहे जा चुके हैं।

(2685) पूर्वे भूतपूर्वे *22* (3756)

पूर्वशब्दे उत्तरपदे भूतपूर्ववाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। आढ्यो भूतपूर्व आढ्यपूर्वः। पूर्वशब्दो वृत्तिविषये भूतपूर्वे वर्त्तते तत्र, 'विशेषणं विशेष्येण' (2.1.57) इति समासः। मयूरव्यंसकादिः (2.1.72) वा द्रष्टव्यः। दर्शनीयपूर्वः। सुकुमारपूर्वः। भूतपूर्व इति किम्? परमपूर्वः। उत्तमपूर्वः। अत्र परमश्चासौ पूर्वश्चेति समासः, न तु परमो भूतपूर्व इति। तथा च सत्युदाहरणमेव भवति।

अर्थ—भूतपूर्ववाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है, पूर्व शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) आढ्यपूर्वः
आढ्यो भूतपूर्वः।

पूर्व शब्द वृत्तिविषय में भूतपूर्व अर्थ में वर्त्तमान है। 'विशेषणं विशेष्येण' से समास हुआ है। अथवा मयूरव्यंसकादि से हुआ है।

(2) दर्शनीयपूर्वः
पूर्वपद को रित् स्वर हुआ।

(3) सुकुमारपूर्वः
पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हुआ।

भूतपूर्व०—भूतपूर्ववाची तत्पुरुष में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(4) परमपूर्वः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(5) उत्तमपूर्वः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

यहाँ परमश्चाऽसौ पूर्वश्च—इस प्रकार समास जानना चाहिए। परमो भूतपूर्वः—इस प्रकार समास नहीं हुआ है।

(2686) सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु सामीप्ये *23* (3757)

सविध, सनीड, समर्याद, सवेश, सदेश—इत्येतेषूत्तरपदेषु सामीप्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। मद्रसंविधम्। गान्धारिसविधम्। काश्मीरसविधम्। मद्रसंनीडम्। गान्धारिसनीडम्। काश्मीरसनीडनम्। मद्रसंमर्यादम्। गान्धारिसमर्यादम्। काश्मीरसमर्यादम्। मद्रसंवेशम्। गान्धारिसवेशम्। काश्मीरसवेशम्। मद्रसंदेशम्। गान्धारिसदेशम्। काश्मीरसदेशम्। पूर्वपदान्युक्तस्वराणि। सविधादीनां सह विधयेत्येवमादिका व्युत्पत्तिरेव केवलम्। समीपवाचिनस्त्वेते समुदायः। मद्राणां सविधम् = समीपमित्यर्थः। सामीप्य इति किम्? सह मर्यादया वर्तते समर्यादं क्षेत्रम्। देवदत्तस्य समर्यादं देवदत्तसमर्यादम्। देवदत्तसमया।

अर्थ—सामीप्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है; सविध, सनीड, समर्याद, सवेश तथा सदेश—इन शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (क) सविधे—
(1) मद्रसंविधम्
अन्तोदात्त।

(2) गान्धारिसविधम्
(3) काश्मीरसविधम्।

(ख) सनीडे—
(4) मद्रसंनीडम् (पूर्ववत्)
(5) गान्धारिसनीडम्
(6) काश्मीरसनीडम्

(ग) समर्यादे—
(7) मद्रसंमर्यादम् (पूर्ववत्)।
(8) गान्धारिसमर्यादम्
(9) काश्मीरसमर्यादम्

(घ) सवेशे—
(10) मद्रसंवेशम् (पूर्ववत्)।
(11) गान्धारिसवेशम्
(12) काश्मीरसवेशम्

(ङ) सदेशे—
(13) मद्रसंदेशम्
(14) गान्धारिसदेशम्
(15) काश्मीरसदेशम्

पूर्वपदा०—पूर्वपदों का स्वर कहा जा चुका है। सविध आदि सभी समुदाय समीपवाची हैं। यथा—

मद्राणां सविधम् समीपम्।

सामीप्य०—सामीप्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(16) देवदत्तसमर्यादम्
सह मर्यादया वर्तते—समर्यादम्।
देवदत्तस्य समर्यादम्।

सविधादि०—उत्तरपद में सविध आदि शब्दों के रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(17) देवदत्तसमया
यहाँ नहीं हुआ।

(2687) विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु *24* (3758)

विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि गुणवचनेषूत्तरपदेषु प्रकृतिस्वराणि भवन्ति। विस्पष्टकटुकम्। विचित्रकटुकम्। व्यक्तकटुकम्। विस्पष्टलवणम्। विचित्रलवणम्। व्यक्तलवणम्। विस्पष्टं कटुकमिति विगृह्य 'सुप्सुपा' (1.1.4) इति समासः। विस्पष्टादयो ह्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तस्य विशेषणम्। कटुकादिभिश्च शब्दैर्गुणवद् द्रव्यमभिधीयते इत्यसामानाधिकरण्यम्, अतो नास्ति कर्मधारयः। विस्पष्टशब्दो 'गतिरनन्तरः' (5.1.49) इत्याद्युदात्तः, विचित्रशब्दोऽप्यव्ययस्वरेण। विचित्तशब्दमन्ये पठन्ति, सोऽपि बहुव्रीहिस्वरेणाद्युदात्त एव। व्यक्तशब्दः 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.6.4) इत्यादिस्वरितः। ये चात्रापरे पठ्यन्ते, तत्र सम्पन्नशब्दस्थाथादिस्वरेणान्तोदात्तः। पटुपण्डितशब्दौ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तौ। कुशलशब्दः कृत्स्वरेणान्तोदात्तः। चपलशब्दश्चित्स्वरेणान्तोदात्तः, 'चुपेरच्चोपधायाः' (उ०सू० 1.18) इत्यत्र हि चिदिति वर्तते। निपुणशब्दस्थाथादिस्वरेणान्तोदात्तः, पुणेरिगुपधलक्षणः कप्रत्ययोऽयम्। विस्पष्टादीनीति किम्? परमलवणम्। उत्तमलवणम्। गुणवचनेष्विति किम्? विस्पष्टब्राह्मणः। विस्पष्ट। विचित्र। व्यक्त। सम्पन्न। कटु। पण्डित। कुशल। चपल। निपुण-विस्पष्टादिः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में विस्पष्ट आदि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, गुणवाची के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) विस्पष्टकटुकम्
आद्युदात्त।

(2) विचित्रकटुकम्
आद्युदात्त।

(3) व्यक्तकटुकम्
आदि स्वरित।

(4) विस्पष्टलवणम्
आद्युदात्त।

(5) विचित्रलवणम्
आद्युदात्त।

(6) व्यक्तलवणम्
आदि स्वरित।

विस्पष्टं०—विस्पष्टं कटुकम्—इस प्रकार विग्रह करके 'सुप्सुपा' से समास हुआ। विस्पष्ट आदि यहाँ प्रवृत्तिनिमित्त के विशेषण हैं। कटुक आदि शब्दों के द्वारा गुणवान् तद् द्रव्य का कथन होता है। इस प्रकार असामानाधिकरण्य वाला कर्मधारय नहीं है। 'गतिरनन्तरः' से विस्पष्ट शब्द आद्युदात्त है। विचित्र शब्द भी अव्यय स्वर से आद्युदात्त है। कुछ लोग विचित्र शब्द के स्थान पर विचित्त शब्द का पाठ स्वीकार करते हैं। वह भी बहुव्रीहि. स्वर से आद्युदात्त ही होता है।

विचित्तकटुकम्।

व्यक्त०—व्यक्त आदि शब्द 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' से आदि स्वरित होते हैं। कुछ अन्य शब्दों का पाठ है। सपत्र शब्द थाथादि स्वर से अन्तोदात्त होता है। पटु शब्द तथा पण्डित शब्द प्रत्ययस्वर से होते हैं। कुशल शब्द कृत् स्वर से अन्तोदात्त होता है। चपल शब्द चित् स्वर से अन्तोदात्त होता है। निपुण शब्द भी थाथादि स्वर से अन्तोदात्त है। इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय होता है।

विस्पष्टा०—विस्पष्ट आदि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(7) परमलवणम्
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(8) उत्तमलवणम् (पूर्ववत्)।

गुणवचने०—गुणवाची शब्द के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(9) विस्पष्टब्राह्मणः
यहाँ नहीं हुआ।

(2688) श्रज्यावमकन्पापवत्सु भावे कर्मधारये *25* (3759)

श्र, ज्य, अवम, कन्-इत्येतेषु पापशब्दवति चोत्तरपदे

कर्मधारये समासे भाववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। गमंनश्रेष्ठम्। गमंनश्रेयः। ज्य–वचंनज्येष्ठम्, वचंनज्यायः। अवम–गमंनावमम्, वचंनावमम्। कन्–गमंनकनिष्ठम्, गमंनकनीयः। पापवत्–गमंनपापिष्ठम्, गमंनपापीयः। ल्युडन्तान्येतानि पूर्वपदानि लित्स्वरेणाद्युदात्तानि। श्रज्यकनामादेशानां ग्रहणमिति सामर्थ्यात्तद्वदुत्तरपदं गृह्यते। श्रादिष्विति किम्? गमनशोभनम्। भाव इति किम्? गम्यतेऽनेनेति गमनम्, तत् श्रेयो गमनश्रेयः। कर्मधारये इति किम्? गमनस्य श्रेयो गमनश्रेयः।

अर्थ—कर्मधारय समास में श्र, ज्य, अवम, कन् और पापवत् शब्दों के उत्तरपद रहते भाववाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (क) श्रे—

(1) गमंनश्रेष्ठम्
प्रकृतिस्वर।

(2) गमंनश्रेयः (पूर्ववत्)।

(ख) ज्ये—

(3) वचंनज्येष्ठम् (पूर्ववत्)।
(4) वचंनज्यायः (पूर्ववत्)।

(ग) अवमे—

(5) गमंनावमम् (पूर्ववत्)।
(6) वचंनावमम् (पूर्ववत्)।

(घ) कनि—

(7) गमंनकनिष्ठम् (पूर्ववत्)।
(8) गमंनकनीयः (पूर्ववत्)।

(ङ) पापवति—

(9) गमंनपापिष्ठम् (पूर्ववत्)।
(10) गमनपापीयः (पूर्ववत्)।

ल्युड०—ये पूर्वपद ल्युट् प्रत्ययान्त हैं। लित् स्वर से आद्युदात्त है। श्रज्य० आदि आदेशों के ग्रहण के सामर्थ्य से 'वति' उत्तरपद गृहीत होता है।

श्रादि०—श्र आदि शब्दों के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(11) समानशोभनम्
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

भाव०—भाववाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(12) गमनश्रेयः
गम्यतेऽनेनेति गमनम्—भाव में प्रत्यय नहीं हुआ। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

कर्मधारय०—कर्मधारय समास में प्रकृतिस्वर होता है—

(13) गमनश्रेयः
गमनस्य श्रेयः—यहाँ नहीं हुआ।

(2689) कुमारश्च *26* (3760)

कुमारशब्दः पूर्वपदं कर्मधारये समासे प्रकृतिस्वरं भवति। कुमारश्रंमणा। कुमारकुंलटा। कुमारतांपसी। कुमारशब्दोऽन्तोदात्तः। अत्र केचिल्लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया (व्या०प० 3) 'कुमारः श्रमणादिभिः' (2.1.70) इत्यत्रैव समासे स्वरमेतमिच्छन्ति। केचित्पुनरविशेषेण सर्वत्रैव कर्मधारये।

अर्थ—कर्मधारय समास में पूर्वपद में जो कुमार शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) कुमारश्रंमणा
अच् प्रत्यय। अन्तोदात्त स्वर।

(2) कुमारकुंलटा (पूर्ववत्)।
(3) कुमारतांपसी (पूर्ववत्)।

कुमार शब्द अन्तोदात्त है। यहाँ कुछ विद्वान् लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा के द्वारा 'कुमारश्रमणादिभिः' इस समास के विषय में ही स्वर स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वान् सर्वत्र कर्मधारय में प्रकृतिस्वर मानते हैं।

(2690) आदिः प्रत्येनसि *27* (3761)

'कर्मधारये' इति वर्त्तते। प्रतिगत एनसा, प्रतिगतमेनो वा यस्य स प्रत्येनाः। तस्मिन्नुत्तरपदे कर्मधारये कुमारस्यादिरुदात्तो भवति। कुमांरप्रत्येनाः। 'उदात्तः' इत्येतदत्र सामर्थ्याद्विदितव्यम्। पूर्वपदप्रकृतिस्वर एव ह्ययमादेरुपदिश्यते।

अर्थ—'कर्मधारये' का अनुवर्त्तन है। कर्मधारय समास में पूर्वपद में जो कुमार शब्द, वह आद्युदात्त होता है, यदि 'प्रत्येनस्' शब्द उत्तरपद में हो।

उदा० (1) कुमांरप्रत्येनाः
यहाँ सामर्थ्यवशात् उदात्त का ग्रहण होता है। पूर्वपद का प्रकृतिस्वर ही इस 'आदिः' पद के द्वारा उपदिष्ट है।

(2691) पूगेष्वन्यतरस्याम् *28* (3762)

पूगाः = गणाः, तद्वाचिन्युत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमारस्यान्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति। कुमांरचातकाः। कुमारचांतकाः। कुमांरलोहध्वजाः। कुमारलोंहध्वजाः। कुमांरबलाहकाः। कुमारबंलाहकाः। कुमांरजीमूताः। कुमारजींमूताः। कुमारचातकाः। कुमारलोहध्वजाः। कुमारबलाहकाः। कुमारजीमूताः। चातकादयः पूगशब्दाः, तेभ्यः 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' (5.3.112) इति ञ्यः प्रत्ययः, तस्य 'तद्राजस्य बहुषु' (2.4.62) इति लुक्। अत्र यदाऽऽद्युदात्तत्वं न भवति, तदा 'कुमारश्च' (6.2.26) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमेके कुर्वन्ति। ये तु तत्र प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणमिच्छन्ति तेषां समासान्तोदात्तत्वमेव भवति।

अर्थ—कर्मधारय समास में पूर्वपद में जो 'कुमार' शब्द, उसे विकल्प से आद्युदात्त होता है; पूगवाची शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) कुमांरचातकाः
आद्युदात्त।

(2) कुमारचांतकाः
पक्ष में अन्तोदात्त।

(3) कुमांरलोहध्वजाः
आद्युदात्त।

(4) कुमारलोंहध्वजाः
अन्तोदात्त।

(5) कुमांरबलाहकाः
आद्युदात्त।

(6) कुमारबंलाहकाः
अन्तोदात्त।

(7) कुमांरजीमूताः
आद्युदात्त।

(8) कुमारजींमूताः
अन्तोदात्त।

चातका०—चातक आदि जो पूग शब्द, उनसे 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' से 'ञ्य' होता है। उसका 'तद्राजस्य बहुषु' से लुक् हुआ। जब आद्युदात्त नहीं होता है, तब कुछ लोग 'कुमार' शब्द को प्रकृतिस्वर करते है। जो यहाँ प्रतिपदोक्त का ग्रहण मानते हैं, उनके मत में समासलक्षण अन्तोदात्त स्वर होता है।

(2692) इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ *29* (3763)

इगन्त उत्तरपदे कालवाचिनि, कपाल, भगाल, शराव- इत्येतेषु च द्विगौ समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। इगन्त- पञ्चांरत्निः। दशांरत्निः। पञ्चारत्नयः प्रमाणमस्य, दशारत्नयः प्रमाणमस्येति तद्धितार्थे द्विगुः, 'प्रमाणे लो' (का०-वा०) 'द्विगोर्नित्यम्' (का०वा०) इति मात्रचो लोपः। इगन्त। काल–पञ्चंमास्यः। दशंमास्यः। पञ्च मासान्भृतो भूतो भावी वा (5.1.80) इति तद्धितार्थे द्विगोर्यप् (5.1.82)। पञ्चंवर्षः। दशंवर्षः। वर्षाल्लुक् च' (5.1.88) इति ठञो लुक्। काल। कपाल–पञ्चंकपालः। दशंकपालः। कपाल। भगाल–पञ्चंभगालः। दशंभगालः। भगाल। शराव–पञ्चंशरावः। दशंशरावः। 'संस्कृतं भक्षाः' (4.2.16) इति तद्धितार्थ एते समासाः 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (4.1.88) इति कृताण् प्रत्ययलोपा द्रष्टव्याः। इगन्तादिष्विति किम्? पञ्चभिरश्वैः क्रीतः पञ्चाश्वः दशाश्वः। द्विगाविति किम्? परमारत्निः। परमशरावः। पञ्चारत्न्यो दशारत्न्य इति पञ्चारत्नयो दशारत्नय इति च यण्गुणयोर्बहिरङ्गलक्षणयोरसिद्धत्वात् (म०भा०) स्थानिवद्भावाद्वा द्विगुस्वर इगन्तलक्षणः प्रवर्त्तते।

अर्थ—द्विगु समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, इगन्त शब्द, कालवाची शब्द, कपाल शब्द, भगाल शब्द तथा शराव शब्द—इनके उत्तरपद रहते।

उदा० (क) इगन्ते—
(1) पञ्चांरत्निः
पञ्चारत्नयः प्रमाणमस्य—तद्धितार्थ में द्विगु हुआ, 'प्रमाणे लो द्विगो०' से 'मात्रच्' का लोप होता है।

(2) दशांरत्निः
दशारत्नयः प्रमाणमस्य।

(ख) काले—
(3) पञ्चंमास्यः
पञ्च मासान् भृतो भूतो भावी वा—तद्धितार्थ में 'यप्' हुआ।

(4) दशंमास्यः (पूर्ववत्)।

(5) पञ्चंवर्षः
'ठञ्' हुआ, 'वर्षाल्लुक्' से लुक्।

(6) दशंवर्षः (पूर्ववत्)।

(ग) कपाले—
(7) पञ्चकपालः
आद्युदात्त।

(8) दशकपालः (पूर्ववत्)।

(घ) भगाले—
(9) पञ्चभगालः
आद्युदात्त।

(10) दशभगालः (पूर्ववत्)।

(ङ) शरावे—
(11) पञ्चशरावः
आद्युदात्त।

(12) दशशरावः (पूर्ववत्)।

'संस्कृतं भक्षाः' से तद्धितार्थ में ये समास हैं। इनमें किये गये अण् प्रत्यय का 'द्विगोर्लुगनपत्ये' से लुक् हुआ।

इगन्ता०—इगन्ता आदि के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(13) पञ्चाश्वः
पञ्चभिरश्वैः क्रीतः—समास हुआ,
पञ्चन् अश्व सु—नकारलोप।

(14) दशाश्वः (पूर्ववत्)।

द्विगावि०—द्विगु समास में ही पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—

(15) परमारत्निः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(16) परमशरावम् (पूर्ववत्)।

पञ्चारत्न्यो०—पञ्चारत्न्यः, दशारत्नयः—बहिरङ्गलक्षण यण् व गुण के असिद्ध होने से अथवा स्थानिवद्भाव से इगन्तलक्षण द्विगुस्वर होता है।

(2693) बह्वन्यतरस्याम् *30* (3764)

बहुशब्दः पूर्वपदमिगन्तादिषूत्तरपदेषु द्विगौ समासेऽन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः। बह्वरत्निः। बह्वरत्निः। बहुमास्यः। बहुमास्यः। बहुकपालः। बहुकपालः। बहुभगालः। बहुभगालः। बहुशरावः। बहुशरावः। बहुशब्दोऽन्तोदात्तः, तस्य प्रकृतिस्वरे कृते यत्र यणादेशस्तत्र 'उदात्तस्वरितोयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इत्येषु स्वरो भवति।

अर्थ—द्विगु समास में पूर्वपद में जो बहु शब्द, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है; इगन्त शब्द, कालवाची शब्द, कपाल शब्द, भगाल शब्द तथा शराव शब्द—इनके उत्तरपद रहते। पूर्व सूत्र के द्वारा नित्य प्रकृतिस्वर प्राप्त था। प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प कह दिया है।

उदा० (1) बह्वरत्निः
अन्तोदात्त।

(2) बह्वरत्निः
समासस्वर हुआ।

(3) बहुमास्यः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(4) बहुमास्यः
समासस्वर।

(5) बहुकपालः
पूर्वपद प्रकृतिस्वर।

(6) बहुकपालः
समासस्वर।

(7) बहुभगालः
प्रकृतिस्वर।

(8) बहुभगालः
समासस्वर।

(9) बहुशरावः
प्रकृतिस्वर।

(10) बहुशरावः
समासस्वर।

बहु०—बहु शब्द अन्तोदात्त है। उसका प्रकृतिस्वर करने पर जहाँ यणादेश होता है, वहाँ 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' से स्वर होता है।

(2694) दिष्टिवितस्त्योश्च *31* (3765)

दिष्टि-वितस्ति-इत्येतयोरुत्तरपदयोर्द्विगौ समासे पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। पञ्चदिष्टिः पञ्चदिष्टिः। पञ्चवितस्तिः पञ्चवितस्तिः। दिष्टिवितस्त्योः प्रमाणे, तेनात्र मात्रचो लुक्।

अर्थ—द्विगुसमास में पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, दिष्टि तथा वितस्ति शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) पुञ्चदिष्टिः
दिष्टिवितस्ती प्रमाणे—मात्रच् हुआ, लुक् हुआ।

(2) पञ्चंदिष्टिः
प्रकृतिस्वर हुआ।

(2695) सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्व-कालात् *32* (3766)

सप्तम्यन्तं पूर्वपदं सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध–इत्येतेषूत्तरपदेषु प्रकृतिस्वरं भवति, सा चेत्सप्तमी कालान्न भवति। सांकाश्यसिद्धः, सांकाश्यंसिद्धः। काम्पिल्यसिद्धः। काम्पिल्यंसिद्धः। सांकाश्यकाम्पिल्यशब्दौ ण्यप्रत्ययान्तावन्तोदात्तौ। फिषि तु 'सांकाश्यकाम्पिल्यनासिक्यदार्वाघाटानामन्तः पूर्वं वा' (फि०सू० 65) इति पठ्यते, तत्र पक्षे मध्योदात्तावपि भवतः। शुष्क–ऊकशुंष्कः। निधनंशुष्कः। ऊकशब्दो बहुलवचनादवतेः कक्प्रत्ययान्तोदात्तः। निधनशब्दो निधात्रः क्युप्रत्यये मध्योदात्तः। पक्व–कुम्भीपंक्वः। कलशीपंक्वः। भ्राष्ट्रपंक्वः। कुम्भीकलशीशब्दौ ङीषन्तावन्तोदात्तौ। भ्राष्ट्रशब्दः ष्ट्रन्प्रत्ययान्त आद्युदात्तः। बन्ध–चक्रबंन्धः। चारंकबन्धः। चक्रशब्दोऽन्तोदात्तः। चारकशब्दो ण्वुलन्त आद्युदात्तः। अकालादिति किम्? पूर्वाह्णसिद्धः। अपराह्णसिद्धः। सप्तमीस्वरः कृत्स्वरेण बाधितः पुनरयं विधीयते।

अर्थ—कालवाची से अतिरिक्त सप्तम्यन्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है; सिद्ध, शुष्क, पक्व तथा बन्ध शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (क) सिद्धे—
(1) साङ्काश्यसिंद्धः
अन्तोदात्त।

(2) काम्पिल्यसिंद्धः (पूर्ववत्)

साङ्काश्य०—साङ्काश्य व काम्पिल्य शब्द ण्यप्रत्ययान्त हैं। अतः अन्तोदात्त हैं। साङ्काश्य आदि शब्द मध्योदात्त भी होते हैं।

(ख) शुष्के—
(3) ऊकशुंष्कः
पूर्वपद अन्तोदात्त।
(4) निधनंशुष्कः
पूर्वपद मध्योदात्त।

ऊक०—ऊक शब्द बाहुलकात् कक् प्रत्ययान्त है। अतः अन्तोदात्त होता है। निपूर्वक धा धातु से क्यु प्रत्यय करने पर निधन शब्द निष्पन्न होता है। अतः मध्योदात्त हुआ।

(ग) पक्वे—
(5) कुम्भीपंक्वः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(6) विलासीपंक्वः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(7) भ्राष्ट्रंपक्वः
पूर्वपद आद्युदात्त।

कुम्भी०—कुम्भी तथा विलासी शब्द ङीष् प्रत्ययान्त हैं। अतः अन्तोदात्त हैं। भ्राष्ट्र शब्द ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है। अतः आद्युदात्त है।

(घ) बन्धे—
(8) चक्रबंन्धः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(9) चारंकबन्धः
ण्वुल् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त है।

चक्र०—चक्र शब्द अन्तोदात्त है।

अकाला०—कालवाची को छोड़कर ही पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—
(10) पूर्वाह्णसिद्धः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(11) अपराह्णसिद्धः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2696) परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रा-वयवेषु *33* (3767)

परि, प्रति, उप, अप–इत्येते पूर्वपदभूता वर्ज्यमानवाचिनि अहरवयववाचिनि रात्र्यवयववाचिनि चोत्तरपदे प्रकृतिस्वरा भवन्ति। परिंत्रिगर्तं वृष्टो देवः। परिंसौवीरम्। परिंसार्वसेनि। प्रति–प्रतिंपूर्वाह्णम्। प्रत्यंपराह्णम्। प्रतिंपूर्वरात्रम्। प्रत्यंपररात्रम्। उप–उपंपूर्वाह्णम्। उपांपराह्णम्। उपंपूर्वरात्रम्। उपांपररात्रम्। अप–अपंत्रिगर्तं वृष्टो देवः। अपंसौवीरम्। अपंसार्वसेनि। 'निपाता आद्युदात्ताः' (फि० सू० 80) 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि०सू० 81) इति आद्युदात्तानि पूर्वपदानि। तत्पुरुषे बहुव्रीहौ च सिद्धत्वादव्ययीभावार्थोऽयमारम्भः तत्र 'अपपरी वर्जने' (1.4.88) वर्तेते इति तयोरेव वर्ज्यमानमुत्तरपदम्, नेतरयोः। अहोरात्रावयवा अपि वर्ज्यमाना एव तयोर्भवन्तीति न पृथगुदाह्रियते। वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेष्विति किम्? प्रत्यग्नि

शलभाः पतन्ति। परिवनमित्यत्र 'वनं समासे' (6.2.178) इत्येतद्भवति।

अर्थ—(अव्ययीभाव समास में) परि, प्रति, उप और अप पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है; वर्ज्यमानवाचक, दिन के अवयववाची तथा रात्रि के अवयववाची शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (क) परि—

(1) परिंत्रिगर्त्तम्
पूर्वपद आद्युदात्त।

(2) परिंसौवीरम् (पूर्ववत्)।
(3) परिंसार्वसेनि (पूर्ववत्)।

(ख) प्रति—

(4) प्रतिंपूर्वाह्णम् (पूर्ववत्)।
(5) प्रत्यंपराह्णम् (पूर्ववत्)।
(6) प्रतिंपूर्वरात्रम् (पूर्ववत्)।
(7) प्रत्यंपररात्रम् (पूर्ववत्)।

(ग) उप—

(8) उपंपूर्वाह्णम् (पूर्ववत्)।
(9) उपांपराह्णम् (पूर्ववत्)।
(10) उपंपूर्वरात्रम् (पूर्ववत्)।
(11) उपांऽपररात्रम् (पूर्ववत्)।

(घ) अप—

(12) अपंत्रिगर्त्तम् (पूर्ववत्)।
(13) अपंसौवीरम् (पूर्ववत्)।
(14) अपंसार्वसेनि (पूर्ववत्)।

निपाता०—पूर्वपद आद्युदात्त हैं। तत्पुरुष में तथा बहुव्रीहि में सिद्ध होने से अव्ययीभाव के लिए यह विधान है। 'अपपरी वर्जने' से कहा गया है। उन दोनों के द्वारा वर्ज्यमान उत्तरपद के रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, अन्य शब्दों के उत्तरपद न रहते। अहोरात्र के अवयव भी वर्ज्यमान हैं। अतः उनका ही होता है। पृथक् उदाहरण नहीं होता है।

वर्ज्यमाना०—वर्ज्यमानवाची, दिन के अवयववाची तथा रात्रि के अवयववाची शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति—
यहाँ नहीं हुआ।
इसी प्रकार—'परिवनम्' में नहीं हुआ।

(2697) राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु *34* (3768)

राजन्यवाचिनां बहुवचनान्तानां यो द्वन्द्वोऽन्धकवृष्णिषु वर्त्तते तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। श्वाफल्कचैत्रकाः। चैत्रकरोंधकाः। शिनिंवासुदेवाः। श्वाफल्कशब्दः, चैत्रकशब्दश्च 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (4.1.114) इति अणन्तावन्तोदात्तौ। शिनिशब्द आद्युदात्तः, स तदपत्येष्वभेदेन वर्त्तते। राजन्य इति किम्? द्वैप्यहैमायनाः। द्वीपे भवा इति 'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' (4.3.10)। हैमेरपत्यं युवा हैमायनः। अन्धकवृष्णय एते, न तु राजन्याः। राजन्यग्रहणमिहाभिषिक्तवंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्। एते च नाभिषिक्तवंश्याः। बहुवचनग्रहणं किम्? सङ्कर्षणवासुदेवौ। द्वन्द्व इति किम्? वृष्णीनां कुमारा वृष्णिकुमाराः। अन्धकवृष्णिष्विति किम्? कुरुपञ्चालाः (तै०ब्रा० 1.8.4.2)।

अर्थ—अन्धक और वृष्णि वंशों में विद्यमान राजन्यवाची बहुवचनान्त द्वन्द्व समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) श्वाफल्कचैत्रंकरोधकाः
ये अन्धक वंशवाची बहुवचनान्त शब्द हैं। श्वाफल्क शब्द तथा चैत्रक शब्द 'ऋष्यन्धकवृष्णि०' से अण् प्रत्ययान्त हैं। अतः अन्तोदात्त हैं।

(2) शिनिंवासुदेवाः
'शिनि' शब्द आद्युदात्त है।

राजन्य०—राजन्यवाची द्वन्द्व में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(3) द्वैप्यहैमायनाः
द्वीपे भवाः—द्वैप्याः—द्वीपादनुसमुद्रं यञ्,
हैमेरपत्यं युवा—हैमायनाः।

अन्धक०—ये अन्धक वृष्णिवंशी तो हैं; परन्तु सूत्र में 'राजन्य' शब्द का ग्रहण अभिषिक्त वंश्यों के क्षत्रियों के ग्रहण के लिए है। यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। ये अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय नहीं है।

बहुवचन०—बहुवचनान्त शब्दों में प्रकृतिस्वर होता है—

(4) सङ्कर्षणवासुदेवौ
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

द्वन्द्व०—द्वन्द्व समास में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(5) वृष्णिकुमाराः

वृष्णीनां कुमाराः—द्वन्द्व समास नहीं है। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

अन्धक०—अन्धक व वृष्णि वंश्यों का द्वन्द्व हो तो प्रकृतिस्वर होत है—

(6) कुरुपञ्चालाः
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2698) संख्या *35* (3769)

द्वन्द्वसमासे संख्यावाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। एकादश (तै०सं० 4.7.11.1)। द्वादश। त्रयोदश। 'इणभीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' (उ०सू० 323) इति नित्त्वादाद्युदात्त एकशब्दः। त्रेस्त्रयस् आदेशोऽन्तोदात्तो निपात्यते–त्रयोदश।

अर्थ—द्वन्द्व समास में संख्यावाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) एकादश
एकश्च दश च।

(2) द्वादश (पूर्ववत्)।
(3) त्रयोदश (पूर्ववत्)।

इणभी०—'इणभीकापा०' के द्वारा कन् हुआ। एक शब्द आद्युदात्त हुआ। 'त्रेस्त्रयः' से 'त्रयस्' आदेश अन्तोदात्त निपातित है।

(2699) आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी *36* (3770)

आचार्योपसर्जनान्तेवासिनां यो द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। आपिशलपाणिनीयाः। पाणिनीयरौढीयाः। रौढीयकाशकृत्स्नाः। अपिशलस्यापत्यमापिशलिराचार्यः, 'अत इञ्' (4.1.95), 'तेन प्रोक्तम्' (4.3.101) आपिशलम्, 'इञश्च' (4.2.112) इत्यण्, तदधीयते येऽन्तेवासिनस्तेऽप्यापिशलाः, 'प्रोक्ताल्लुक्' (4.2.64) इति तस्य तद्धितस्याध्येतरि विहितस्य लुक् क्रियते। आपिशलेर्वा छात्रा आपिशला इत्युभयथाप्याचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी भवति। आचार्योपसर्जनग्रहणं द्वन्द्वविशेषणार्थम्–सकलो द्वन्द्व आचार्योपसर्जनो यथा विज्ञायेत, इह मा भूत्–पाणिनीयदेवदत्तौ। आचार्योपसर्जन इति किम्? छान्दसवैयाकरणाः। अन्तेवासीति किम्? आपिशलपाणिनीये शास्त्रे।

अर्थ—आचार्य का कथन गौण हो तो शिष्यवाची शब्दों के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) आपिशलपाणिनीयाः
पूर्वपद अन्तोदात्त हुआ।

(2) रौढीयकाशकृत्स्नाः
मध्योदात्त।
अपिशलस्याऽपत्यम् → आपिशलिः—अत इञ्।
तेन प्रोक्तम् आपिशलम्—'इञश्च' से 'अण्'।
अधीयते येऽन्तेवासिनस्तेऽप्यापिशलाः
'प्रोक्ताल्लुक्' से उस तद्धित प्रत्यय का लुक् हुआ।
अथवा अपिशलेश्छात्राः आपिशलाः।

आचार्यो०—आचार्योपसर्जन का ग्रहण द्वन्द्व के विशेषण के लिए है। समग्र द्वन्द्व से आचार्योपसर्जन का ज्ञान होता है। निम्नलिखित में नहीं होता है—

(3) पाणिनीयदेवदत्तौ
मध्योदात्त।

आचार्यो०—आचार्योपसर्जन की दशा में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(4) छान्दसवैयाकरणाः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।
अन्तेवासियों के द्वन्द्व में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(5) आपिशलपाणिनीये शास्त्रे
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2700) कार्तकौजपादयश्च *37* (3771)

कार्तकौजपादयो ये द्वन्द्वास्तेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। प्रकृतिस्वरपूर्वपदाः कार्तकौजपादयो भवन्ति। विभक्त्यन्तानां पाठो वचनविवक्षार्थः। चकारो द्वन्द्वाधिकारानुवृत्त्यर्थः। कार्तकौजपौ। कृतस्यापत्यम्, कुजपस्यापत्यम्–इत्यणन्तावेतौ। सार्वर्णिमाण्डूकेयौ। सार्वर्णिरिञन्तः। अवन्त्यश्मकाः। अवन्तेरपत्यानि बहूनि तन्निवासो जनपदोऽवन्तयः। तथा अश्मकाः। पैलश्यापर्णेयाः। युवद्वन्द्वोऽयम्। पीलाया अपत्यं पैलः, तस्यापत्यं युवा (4.1.92) इति 'अणो द्व्यचः' (4.1.156) इति विहितस्य फिञः 'पैलादिभ्यश्च' (2.4.59) इति लुक्। श्यापर्णशब्दो बिदादिः, तस्यापत्यं स्त्री श्यापर्णी, तदपत्यं युवा श्यापर्णेयः। बहुवचनमतन्त्रम्, तेन पैलश्यापर्णेयावित्यत्रापि

भवति। कुपिश्यांपर्णेयाः। कपिरन्तोदात्तः, तस्यापत्यम् बहुत्वे 'कपिबोधादाङ्गिरसे' (4.1.107) इत्युत्पन्नस्य यञः 'यञञोश्च' (2.4.64) इति लुक्, तेनात्र बहुत्वमाश्रीयत एव। शैतिकाक्षपांञ्चालेयाः। शितिकाक्षो नाम ऋषिः, तस्यापत्यमिति ऋष्यण्, तदपत्ये यूनि य इञ्, तस्य 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि' (2.4.58) इति लुक्। पाञ्चालस्यापत्यं स्त्री पाञ्चाली, तदपत्यं युवा पाञ्चालेयः। अत्रापि बहुवचनमविवक्षितमिति शैतिकाक्षपाञ्चालेयावित्यत्रापि भवति। कटुंकवार्चलेयाः। कटुकस्यापत्यमिति 'अत इञ्' (4.1.95), तस्य 'बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु' (2.4.66) इति बहुषु लुक्। वर्चलाया अपत्यं वार्चलेयः। शाकुलशुंनकाः। शकलस्यापत्यं शाकल्यः, तस्य छात्राः शाकलाः। 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' (2.4.111) इत्यण्। शुनकस्यापत्यमिति 'बिदादिभ्योऽञ्' (4.1.104) तस्य बहुषु लुक्। शाकलशणका इति केचित्पठन्ति। तेषां शणकशब्दादुत्पन्नस्येञः 'बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु' (2.4.66) इति बहुषु लुक्। शुनंकधात्रेयाः। धात्र्या अपत्यं धात्रेयः। शणंकबाभ्रवाः। बभ्रोरपत्यं बाभ्रवः। आर्चाभिमौंद्गलाः। ऋचाभेन प्रोक्तमधीयते आर्चाभिनः। वैशम्पायनान्तेवासित्वाद् णिनिः। मुद्गलः कण्वादिः, तदपत्यस्य छात्रा मौद्गलाः। कुन्तिसुंराष्ट्राः। कुन्तेः सुराष्ट्रस्य चापत्येषु बहुषु तन्निवासे वा जनपदे द्वन्द्वोऽयम्। कुन्तिचिन्तिशब्दावन्तोदात्तौ। चिन्तिंसुराष्ट्राः। कुन्तिसुराष्ट्रवत्। तुण्डवंतण्डाः। पचाद्यच्प्रत्ययान्तावन्तोदात्तावेतौ गर्गादिषु पठ्यते। तत्रापत्यबहुत्वे यञो लुक् क्रियते। गर्गवत्साः। अत्रापि अपत्यबहुत्वे यञो लुक्। अविंमत्तकामविद्धाः। अविमत्तशब्दो नञ्स्वरेणाद्युदात्तः। द्वयोरप्येतयोरपत्येषु बहुषु इञः 'बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु' (2.4.66) इति लुक् क्रियते। बाभ्रवशांलङ्कायनाः। बभ्रोरत्यं बाभ्रवः 'शलङ्कु शलङ्कं च' (ग०सू० 171) इति शालङ्कायनः। बाभ्रवदांनच्युताः। दानच्युतशब्दादिञः 'बह्वचः' (2.4.66) इति लुक्। कठंकालापाः। कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः, वैशम्पायनान्तेवासित्वाद् णिनिः, तस्य 'कठचरकाल्लुक्' (4.3.107)। कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः, 'कलापिनोऽण्' (4.3.108) इत्यण्प्रत्ययः, तस्मिन् 'इनण्यनपत्ये' (6.2.164) इति प्रकृतिभावे प्राप्ते 'नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारिपीठसर्पि' (का०वा०) इत्यादिनोपसंख्यानेन टिलोपः। कठंकौथुमाः। कुथुमिना प्रोक्तमधीयते इति 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (4.1.83), तस्य पूर्ववत् टिलोपः। कौथुमलौंकाक्षाः। लोकाक्षेण प्रोक्तमधीयते लौकाक्षाः, लोकाक्षस्य वाऽपत्यं लौकाक्षिः, तस्य छात्रा लौकाक्षाः। स्त्रीकुंमारम्। स्त्रीशब्दोऽन्तोदात्तः। मौदपैप्पलादाः। मुदस्यापत्यं मौदिः, तस्य छात्रा मौदाः। तथा पैप्पलादाः। मौदपैप्पलादा इति द्विः पठ्यते, तस्य प्रयोजनम्–पक्षे समासान्तोदात्तत्वमेव यथा स्यादिति। वत्सजरंत्। वत्सश्च जरच्च, वत्सशब्दोऽन्तोदात्तः। सौश्रुतापंर्थवाः। सुश्रुतस्य पृथोश्च छात्राः। 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (4.1.82)। जरामृंत्यू। याज्यांनुवाक्ये। यजेर्ण्यत्। 'यजयाच' (4.3.66) इति कुत्वाभावः। 'तित्स्वरितम्' (6.1.185) इत्यन्तस्वरितः। अनुवाक्येति वचेरनुपूर्वाद् ण्यत्। आचार्योपसर्जनान्तेवासिनामिह पाठः प्रपञ्चार्थः।

अर्थ—कार्त्तकौजपादि शब्दों के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। कार्त्तकौजपादि के पूर्वपद में प्रकृतिस्वर होता है। विभक्त्यन्त शब्दों का पाठ वचन की अविवक्षा के लिए है। द्वन्द्व के अधिकार की अनुवृत्ति के लिए चकार का ग्रहण है।

उदा० (1) कार्त्तकौंजपौ
कृतस्याऽपत्यम्—कार्त्तः।
कुजपस्याऽपत्यम्—कौजपः।
ये दोनों शब्द अण् प्रत्ययान्त हैं।

(2) सावर्णिमाण्डूकेयौ
'सावर्णि' शब्द इञ् प्रत्ययान्त है। आद्युदात्त है।

(3) आवन्त्यश्मंकाः
अवन्तेरपत्यानि बहूनि, तन्निवासो जनपदोऽवन्तयः।
यह युवगोत्राऽपत्य का द्वन्द्व है।

(4) पैलंश्यापर्णेयौ
पीलाया अपत्यम्—पैलः।

तस्याऽपत्यं युवा—यहाँ 'द्व्यचः' से विहित फिञ् का 'पैलादिभ्यश्च' से लुक् हुआ।
श्यापर्णस्याऽपत्यं स्त्री—श्यापर्णी। बिदादिगण में पाठ है।
तदपत्यं युवा—श्यापर्णेयः।
सूत्र में बहुवचन का ग्रहण उचित नहीं है।

(5) कपिश्यांपर्णेयाः
कपि शब्द अन्तोदात्त है। तस्याऽपत्यम्—काप्यः। 'कपिबाधादाङ्गिरसः' से 'यञ्' हुआ। 'यञञोश्च' से प्रत्यय का लुक् हुआ। अतः बहुत्व का आश्रय किया गया है।

(6) शैतिकाक्षपाञ्चालेयाः

शितिकाक्ष नामक ऋषि। तस्याऽपत्यम्। तस्याऽपत्यं युवा। 'इञ्' प्रत्यय हुआ। प्रत्यय का 'ण्यक्षत्रियार्षञितो०' से लुक् हुआ। पञ्चालस्याऽपत्यं स्त्री—पाञ्चाली। तदपत्यं युवा—पाञ्चालेयः। यहाँ भी बहुवचन अविवक्षित है।

पटुकस्याऽपत्यम्—पाटुकिः। अतः इञ्। 'बह्वच इञः प्राच्य०' से लुक् हुआ। शकलाया अपत्यम्—शाकल्यः। तस्य छात्राः—शाकलाः। 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' से अण् हुआ।

शुनकस्याऽपत्यम्—शौनकः। बिदादि होने से 'अञ्' हुआ तथा बहुवचन में लुक् हुआ।

(7) शाकलसणकाः

कुछ लोग ऐसा पाठ करते हैं। उनके अनुसार सणक शब्द से उत्पन्न इञ् प्रत्यय का बहुत्व की विवक्षा में 'बह्वच इञः प्राच्य०' से लुक् हुआ।

(8) शुनकधात्रेयाः

धात्र्या अपत्यम्—धात्रेयाः।

(9) सणकबाभ्रवाः

बभ्रोरपत्यम्—बाभ्रवः।

(10) आर्चाभिमौद्गलाः

ऋचाभेन प्रोक्तम् अधीयते—आर्चाभिनः। 'णिनि' हुआ। मुद्गलस्य छात्राः—मौद्गलाः। कण्वादि होने से अण् हुआ।

(11) कुन्तिसुराष्ट्राः

कुन्तेः सुराष्ट्रस्य अपत्यम्—प्रत्यय होकर द्वन्द्व हुआ। कुन्ति शब्द अन्तोदात्त है।

(12) चिन्तिसुराष्ट्राः

अन्तोदात्त है।

(13) गर्गवत्साः

यहाँ भी बहुत्व में प्रत्यय का लुक् हुआ।

(14) अविमत्तकामविद्धाः

अविमत्त शब्द नञ्स्वर से आद्युदात्त है। दोनों शब्दों से अपत्य अर्थ में प्रत्यय हुआ। बहुत्व की विवक्षा में पूर्ववत् प्रत्यय का लुक् हुआ।

(15) बाभ्रवशालङ्कायनाः

बभ्रोरपत्यम्—बाभ्रवः। 'शलङ्कुशलङ्कञ्च' से 'शालङ्कायन' बनता है।

(16) बाभ्रवदानच्युताः

दानच्युत शब्द से 'इञ्' हुआ। बहुत्व में प्रत्यय का लुक् हुआ।

(17) कठकालापाः

कठेन प्रोक्तमधीयते—कठाः। वैशम्पायनान्तेवासी होने से 'णिनि' हुआ। 'कठचरकाल्लुक्' से प्रत्यय का लुक् हुआ। कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः। 'कलापिनोऽण्' से 'अण्' प्रत्यय हुआ, 'इनण्यनपत्ये' से प्रकृतिभाव प्राप्त हुआ। नान्त के टिलोप करने पर 'सब्रह्मचारिपीठ०' (वा०) से टिलोप हुआ।

(18) कठकौथुमाः

कुथुमिना प्रोक्तमधीयते—'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्' हुआ। पूर्ववत् टि का लोप हुआ।

(19) कौथुमलौकाक्षाः

लोकाक्षेण प्रोक्तमधीयते—लौकाक्षाः।

लोकाक्षस्याऽपत्यम्—लौकाक्षिः।

तस्य छात्राः—लौकाक्षाः।

(20) स्त्रीकुमारम्

स्त्री शब्द अन्तोदात्त है।

(21) मौदपैप्पलादाः

मुदस्याऽपत्यम्—मौदिः, तस्य छात्राः—मौदाः।

इसी प्रकार—पैप्पलादः।

मौदपैप्पलादाः—यह दो बाद पठित है। इसका फल यह है कि समासलक्षण अन्तोदात्त हो जाय।

(22) वत्सजरः

वत्सश्च जरच्च। 'वत्स' अन्तोदात्त है।

(23) सौश्रुतपार्थवाः

तस्य छात्राः अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' से 'अण्' हुआ।

(24) जरामृत्यू

जरा च मृत्युश्च।

(25) याज्यानुवाक्ये

यज् धातु से 'ण्यन्' हुआ। 'तित् स्वरितम्' से अन्तःस्वरित हुआ।

अनुपूर्वक वच् धातु से 'ण्यत्' हुआ। आचार्योपसर्जन व अन्तेवासी का पाठ प्रपञ्च के लिए है।

(2701) महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु *38* (3772)

'प्रकृत्या पूर्वपदम्' इति वर्त्तते, 'द्वन्द्वे' इति निवृत्तम्। महानित्येतत्पूर्वपदं व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, आबाल,

भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध-इत्येतेषूत्तरपदेषु प्रकृतिस्वरं भवति। महाव्रीहिः। महापराह्णः। महागृष्टिः। महेष्वासः। महाजाबालः। महाभारः। महाभारतः। महाहैलिहिलः। महारौरवः। महाप्रवृद्धः। महच्छब्दोऽन्तोदात्तः तस्य प्रतिपदोक्तो यः समासः 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः' (2.1.61) इति, तत्रैव स्वरः। तेनैषां षष्ठीसमासोऽन्तोदात्त एव भवति-महतो व्रीहिः महद्व्रीहिरिति। 'कर्मधारयेऽनिष्ठा' (6.2.46) इत्ययमपि श्रेण्यादिसमासे विधिरिति प्रवृद्धशब्द इह पठ्यते।

अर्थ—प्रकृत्या, पूर्वपदम्—इनका अनुवर्त्तन है। 'द्वन्द्वे' की निवृत्ति हो गई है। पूर्वपद में जो महान् शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है, व्रीहि; अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल, भार, भारत, हैलिहिल, रौरव तथा प्रवृद्ध शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) महाव्रीहिः
प्रकृतिस्वर अन्तोदात्त।

(2) महापराह्णः (पूर्ववत्)।
(3) महागृष्टिः (पूर्ववत्)।
(4) महेष्वासः (पूर्ववत्)।
(5) महाजाबाल: (पूर्ववत्)।
(6) महाभारः (पूर्ववत्)।
(7) महाभारतः (पूर्ववत्)।
(8) महाहैलिहिल: (पूर्ववत्)।
(9) महारौरवः (पूर्ववत्)।
(10) महाप्रवृद्धः (पूर्ववत्)।

महत् शब्द अन्तोदात्त है। उसका प्रतिपदोक्त जो समास 'सन्महत्परमो०' से होता है; वह षष्ठी समास होने पर अन्तोदात्त होता है। कर्मधारय में निष्ठा यह भी श्रेण्यादि समास में विधि होती है। 'प्रवृद्ध' शब्द का पाठ है।

(2702) क्षुल्लकश्च वैश्वदेवे *39* (3773)

'क्षुल्लक' इत्येतत्पूर्वपदम्, महांश्च, वैश्वदेव उत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति। क्षुल्लकवैश्वदेवम्। महावैश्वदेवम्। क्षुधं लातीति क्षुल्लः। तस्मादज्ञातादिषु प्रागिवात्केऽन्तोदात्तः। क्षुल्लकशब्दः।

अर्थ—पूर्वपद में जो क्षुल्लक व महान् शब्द, उन्हें प्रकृतिस्वर होता है, 'वैश्वदेव' शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) क्षुल्लकवैश्वदेवम्
क्षुधं लाति—क्षुल्लः। 'प्रागिवात्कः' से 'क' हुआ। अन्तोदात्त हुआ।

(2) महावैश्वदेवम्
पूर्वपद को अन्तोदात्त।

(2703) उष्ट्रः सादिवाम्योः *40* (3774)

उष्ट्रशब्दः पूर्वपदं सादिवाम्योरुत्तरपदयोः प्रकृतिस्वरं भवति। उष्ट्रसादि। उष्ट्रवामि। उष्ट्रशब्द 'उषेः ष्ट्रन्' (उणादि० 4.162) प्रत्ययान्त आद्युदात्तः। कर्मधारयोऽयम्, षष्ठीसमासो वा।

अर्थ—पूर्वपद में जो उष्ट्र शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है, सादि और वामी शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) उष्ट्रसादिः
उष् शब्द से ष्ट्रन् होकर 'उष्ट्र' शब्द निष्पन्न होता है। आद्युदात्त हुआ। यह कर्मधारय है अथवा षष्ठी समास है।

(2) उष्ट्रवामी
आद्युदात्त।

(2704) गौः सादसादिसारथिषु *41* (3775)

गोशब्दः पूर्वपदं साद, सादि, सारथि-इत्येतेषूत्तरपदेषु प्रकृतिस्वरं भवति। गोः सादः गोसादः। गां सादयतीति वा गोसादः। गोः सादिः गोसादिः। गोसारथिः।

अर्थ—'गो' शब्द है पूर्वपद में, ऐसे 'गो' को प्रकृतिस्वर होता है; साद, सादि व सारथि शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गोसादः
गोः सादः अथवा गां सादयति।

(2) गोसादिः
गोः सादिः।
(3) गोसारथिः (पूर्ववत्)।

(2705) कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा पारेवडवा तैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च *42* (3776)

कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल-इत्येते समासास्तेषां दासीभारादीनां च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। कुरूणां

गार्हपतं कुरुगार्हपतम्। 'कृग्रोरुच्च' (उ०सू० 24) इति कुरुशब्दः कुप्रत्ययान्तोऽन्तोऽदात्तः। *कुरुवृज्योर्गार्हपत इति वक्तव्यम्* (मा०भा०)। वृजीनां गार्हपतं वृजिगार्हपतम्। वृजिशब्द आद्युदात्तः। रिक्तो गुरुः रिक्तगुरुः रिक्तगुरुः। 'रिक्ते विभाषा' (6.1.208) इति पूर्वपदमाद्युदात्तम्, अन्तोदात्तं वा। असूता जरती असूतजरती। अश्लीला दृढरूपा अश्लीलदृढरूपा। अश्लीलशब्दो नञ्समासत्वादाद्युदात्तः। श्रीर्यस्यास्ति तत् श्लीलम्, सिध्मादेराकृतिगणत्वाल्लच्। कपिलकादित्वाच्च लत्वम्। अश्लीलदृढरूपेति हि संस्थानमात्रेण शोभना निःश्रीका लावण्यविरहितोच्यते। पारे वडवेव पारेवडवा। निपातनादिवार्थे समासो विभक्त्यलोपश्च। पारशब्दो घृतादित्वादन्तोदात्तः। तैतिलानां कद्रूः तैतिलकद्रूः। तितिलिनोऽपत्यं छात्रो वा तैतिल इत्यणन्तः। पण्यकम्बलः। पण्यशब्दो यदन्तत्वादाद्युदात्तः। *पण्यकम्बलः संज्ञायामिति वक्तव्यम्* (का०वा०)। अन्यत्र पणितव्ये कम्बले समासान्तोदात्तत्वमेव। प्रतिपदोक्ते हि कृत्यानां समासे 'द्वितीया कृत्या' (6.2.2) इत्येष विहितः स्वरितः। दास्या भारो दासीभारः। देवहूतिः। देवजूतिः। देवसूतिः। देवनीतिः। अन्तोदात्तं पूर्वपदम्। वसुनीतिः। वसुशब्द आद्युदात्तः। 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि' (उ०सू० 10) इत्यत्र हि 'धान्ये नित्' (उ०सू० 9) इति वर्तते। ओषधिः। ओषो धीयतेऽस्यामिति 'कर्मण्यधिकरणे च' (3.3.93) इति किप्रत्ययः। ओषशब्दो घञन्तत्वादाद्युदात्तः। चन्द्रमा–'चन्द्रे मोऽसिः' (उ०सू० 667) इत्यसिप्रत्ययान्तोऽयम्। चन्द्रशब्दस्तु रक्प्रत्ययान्तत्वादन्तोदात्तः। यस्य तत्पुरुषस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमिष्यते, न च विहितम्, स सर्वो दासीभारादिषु द्रष्टव्यः।

अर्थ—कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू तथा पण्यकम्बल—ये जो समास, उनके दासीभार आदि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) कुरुगार्हपतम्

कुरुणां गार्हपतम्। (उ०सू० 1.24) से 'कु' होकर 'कुरु' बनता है। यह अन्तोदात्त है।

कुरु०—गार्हपत शब्द परे रहते कुरु तथा वृजि शब्दों को प्रकृतिस्वर होता है—

(2) वृजिगार्हपतम्

वृजि शब्द आद्युदात्त है।

(3) रिक्तगुरुः

रिक्तो गुरुः। 'रिक्ते विभाषा' (6.1.202) से 'रिक्त' पाक्षिक आद्युदात्त होता है। पक्ष में अन्तोदात्त हुआ।

(4) असूतजरती

असूता जरती। 6.2.2 से आद्युदात्त।

(5) अश्लीलदृढरूपा

अश्लीला दृढरूपा। अश्लील शब्द नञ् समासस्वर से आद्युदात्त है। श्रीर्यस्याऽस्ति तत् श्लीलम्। सिध्मादि के आकृतिगण होने से 'लच्' हुआ। कपिलकादि होने से लत्व हुआ है।

(6) पारेवडवा

पारेवडवा इव। फि० सू० 21 से 'पार' शब्द अन्तोदात्त हुआ। इव अर्थ में समास तथा विभक्तिलुक् निपातन से हुआ है।

(7) तैतिलकद्रूः

तैतिलानां कद्रूः। तितिलिनोऽपत्यम् छात्रो वा—अण् हुआ। अन्तोदात्त।

(8) पण्यकम्बलः

'यत्' प्रत्यय होकर 'पण्य' बनता है। अतः आद्युदात्त हुआ।

सञ्ज्ञाया०—'पण्यकम्बल' शब्द को संज्ञा में ही प्रकृतिस्वर होता है। अन्यत्र पणितव्यः कम्बलः इस दशा में समासलक्षण अन्तोदात्त ही होता है।

(9) दासीभारः

दास्या भारः। पूर्वपद अन्तोदात्त।

(10) देवहूतिः

अन्तोदात्त।

(11) देवजूतिः (पूर्ववत्)।

(12) देवसूतिः (पूर्ववत्)।

(13) देवनीतिः (पूर्ववत्)।

(14) वसुनीतिः

आद्युदात्त।

(15) ओषधिः

ओषो धीयतेऽस्याम्—कर्मण्यधिकरणे० से 'कि' प्रत्यय। 'ओष' शब्द घञ् प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त।

(16) चन्द्रमाः

चन्द्रं मोऽसिः। यह 'असि' प्रत्ययान्त है। चन्द्र शब्द रक् प्रत्ययान्त है। अन्तोदात्त हुआ।

जिस शब्द का तत्पुरुष समास करने पर पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है और विधान न किया गया हो, उसे दासीभारादि गण में जानना चाहिए।

(2706) चतुर्थी तदर्थे *43* (3777)

चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं तदर्थे उत्तरपदे तदभिधेयार्थं यत्तद्वाचिन्युत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति। तदिति चतुर्थ्यन्तस्यार्थः परामृश्यते। यूपंदारु। कुण्ड्लहिंरण्यम्। यूपशब्द आद्युदात्तः। 'कुसुयुभ्यश्च' (उ०सू० 307) इत्यत्र निदिति वर्त्तते। कुण्डलशब्दोऽपि 'वृषादिभ्यश्चित्' (उ०सू० 106) इति कलप्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः। रथंदारु। वृल्लीहिंरण्यम्। रथशब्द आद्युदात्तः। 'हनिकुषि' (उ०सू० 159) इत्यादिना क्थन्प्रत्ययः। वल्लीशब्दो ङीषः स्वरेणान्तोदात्तः। तदर्थ इति किम्? कुवे्रबुलिः। प्रकृतिविकारभावे स्वरोऽयमिष्यते।

अर्थ—पूर्वपद में जो 'चतुर्थी' शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है, तदर्थ के उत्तरपद रहते। 'तद्' के द्वारा चतुर्थ्यन्त का अर्थ सूचित होता है।

उदा० (1) यूपंदारु
आद्युदात्त।
(2) कुण्ड्लहिंरण्यम्
अन्तोदात्त।

यूपशब्द आद्युदात्त है। 'कुसुयुभ्यश्च' से यह नित् है। 'वृषादिभ्यः' से कुण्डल शब्द कल प्रत्ययान्त है। अन्तोदात्त हुआ।

(3) रथंदारु
आद्युदात्त प्रकृतिस्वर।
(4) वृल्लीहिंरण्यम्
अन्तोदात्त।

रथ०—रथ शब्द आद्युदात्त है। इसमें क्थन् प्रत्यय है। वल्ली शब्द ङीष् प्रत्ययान्त है। अन्तोदात्त स्वर हुआ।

तदर्थ०—तदर्थ के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(5) कुबे्रबुलिः
यहाँ नहीं हुआ।

70 का०द्वि०

प्रकृतिविकारभाव में ही यह स्वर होता है।

(2707) अर्थे *44* (3778)

'चतुर्थी' इति वर्तते। अर्थशब्द उत्तरपदे चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। मात्रे इदं मात्रर्थम्। पित्रर्थम्। देवतांर्थम्। अतिंथ्यर्थम्। मातृपितृशब्दावन्तोदात्तावुणादिषु निपातितौ। देवताशब्दो लित्स्वरेण मध्योदात्तः। अतिथिरिति 'अतेरिथिन्' इतीथिन्प्रत्ययान्तः। तदर्थविशेषा एव दारुहिरण्यादयो भवन्ति, न त्वर्थशब्दवाच्यं सामान्यमित्यतदर्थार्थोऽयमारम्भः। केचित्पुनराहुः–ज्ञापकार्थमिदम्, एतदनेन ज्ञाप्यते–पूर्वो विधिः प्रकृतिविकृत्योः समासे भवति। अश्वघासः श्वश्रूसुरमित्यत्र सत्यपि तादर्थ्ये न भवति।

अर्थ—'चतुर्थी' का अनुवर्त्तन है। चतुर्थ्यन्त जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, अर्थ शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) मात्रर्थम्
मात्र इदम्
(2) देवतांर्थम्
देवतायै इदम्
(3) अतिंथ्यर्थम्
अतिथये इदम्

मातृ०—मातृ-पितृ शब्द उणादि में अन्तोदात्त होते हैं। देवता शब्द लित् स्वर से मध्योदात्त है। इथिन् प्रत्यय होकर अतिथि शब्द निष्पन्न होता है। दारुहिरण्य आदि शब्द तदर्थविशेष हैं। अर्थ शब्दवाच्य सामान्य नहीं है। इसलिए अतदर्थ के लिए विधान किया गया है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि यह ज्ञापक के लिए है। इससे ज्ञापित होता है कि पूर्वविधि प्रकृति-विकृति के समास में होती है। निम्नलिखित में तादर्थ्य में नहीं होता है—

(4) अश्वघासः।
(5) श्वश्रूसुखम्।

(2708) क्ते च *45* (3779)

क्तान्ते चोत्तरपदे चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। गोहिंतम्। अश्वंहितम्। मनुष्यंहितम्। गोरंक्षितम्। अश्वंरक्षितम्। वनं तापसरंक्षितम्। अश्वशब्द आद्युदात्तः, मनुष्यशब्दोऽन्तस्वरितः, परिशिष्टपूर्वपदमन्तोदात्तम्। गोभ्यो रक्षितमिति 'सम्प्रदाने' चतुर्थी।

अर्थ—चतुर्थ्यन्त जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, क्तप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गोहितम्
अन्तोदात्त।

(2) अश्वंहितम्
आद्युदात्त।

(3) मनुष्यंहितम्
अन्तस्वरित।

(4) गोरंक्षितम्
अन्तोदात्त।

(5) अश्वंरक्षितम्
आद्युदात्त।

(6) तापसरक्षितम्
आद्युदात्त।

अश्व०—अश्व शब्द आद्युदात्त है। मनुष्य शब्द अन्तस्वरित है। गोभ्यो रक्षितम् यहाँ सम्प्रदान में चतुर्थी है।

(2709) कर्मधारयेऽनिष्ठा *46* (3780)

कर्मधारये समासे क्तान्त उत्तरपदेऽनिष्ठान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। श्रेणिंकृताः। ऊकंकृताः। पूगकृताः। निधनकृताः। श्रेणिशब्द आद्युदात्तः। ऊकपूगशब्दावन्तोदात्तौ। निधनशब्दोऽयं मध्योदात्तः। कर्मधारय इति किम्? श्रेण्या कृतं श्रेणिकृतम्। अनिष्ठेति किम्? कृताकृतम्।

अर्थ—कर्मधारय समास में निष्ठान्त शब्द नहीं है पूर्वपद में, ऐसे शब्द को प्रकृतिस्वर होता है, क्तप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) श्रेणिंकृताः
आद्युदात्त प्रकृतिस्वर।

(2) ऊकंकृताः
अन्तोदात्त।

(3) पूगकृताः
अन्तोदात्त।

(4) निधनंकृताः
अन्तोदात्त।

श्रेणि शब्द आद्युदात्त है। ऊक शब्द व पूग शब्द अन्तोदात्त हैं। निधन शब्द मध्योदात्त है।

कर्मधारय०—कर्मधारय समास में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(5) श्रेणिकृतम्
श्रेण्या कृतम्—कर्मधारय नहीं है। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

अनिष्ठे०—अनिष्ठान्त शब्द पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(6) कृताकृतम्
कर्मधारय समास है, परन्तु पूर्वपद में निष्ठान्त पद है। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2710) अहीने द्वितीया *47* (3781)

अहीनवाचिनि समासे क्तान्त उत्तरपदे द्वितीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। कष्टश्रिंतः। त्रिशंकलपतितः। ग्रामंगतः। कष्टशब्दोऽन्तोदात्तः। त्रीणि शकलान्यस्येति त्रिशकलः, बहुव्रीहिस्वरेणाद्युदात्तः। ग्रामशब्दो नित्स्वरेणाद्युदात्तः। अहीन इति किम्? कान्तारातीतः। योजनातीतः। *द्वितीयानुपसर्ग इति वक्तव्यम्* (का०वा०) इह मा भूत्—सुखप्राप्तः, दुःखप्राप्तः। सुखापन्नः, दुःखापन्नः। 'अन्तः' (6.2.143) 'थाथ' (4.2.144) इत्यस्यापवादोऽयम्।

अर्थ—अहीनवाची समास में द्वितीयान्त जो पूर्वपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, क्तप्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) कष्टश्रिंतः
अन्तोदात्त।

(2) त्रिशंकलपतितः
आद्युदात्त।

(3) ग्रामंगतः
प्रकृतिस्वर आद्युदात्त।

कष्ट०—कष्ट शब्द अन्तोदात्त है। त्रीणि शकलान्यस्य—त्रिशकलः यह बहुव्रीहि समास से आद्युदात्त है। ग्राम शब्द नित् स्वर से आद्युदात्त है।

अहीन०—अहीनवाची समास में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(4) कान्तारातीतः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(5) योजनातीतः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

द्वितीया०—अनुपसर्ग की दशा में द्वितीयान्त को प्रकृतिस्वर होता है। तब निम्नलिखित में नहीं होता है—

(6) सुखप्राप्तः
प्राप्त में 'प्र' उपसर्ग है। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(7) दुःखप्राप्तः (पूर्ववत्)।

(8) सुखापन्नः (पूर्ववत्)।

(9) दुःखापन्नः (पूर्ववत्)।

(2711) तृतीया कर्मणि *48* (3782)

कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे तृतीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। अहिहतः। वज्रहतः। महाराजहतः। नखनिर्भिन्ना। दात्रलूना। 'आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च' (उ०सू० 577) इति अहिरन्तोदात्तो व्युत्पादितः। केचिदाद्युदात्तमिच्छन्ति (अहिहतः)। वज्रो रक्प्रत्ययान्तः। महाराजष्टच्प्रत्ययान्तः। नास्य खमस्तीति 'बहुव्रीहौ नकुलनख' इति नखशब्दो निपातितः। तेन 'नञ्सुभ्याम्' (6.2.172) इत्यन्तोदात्तः। दात्रशब्दः 'दाम्नीशस' (3.2.182) इति ष्ट्रन्प्रत्ययान्तः। कर्मणीति किम्? रथेन यातो रथयातः। गत्यर्थत्वात्कर्तरि क्तः।

अर्थ—पूर्वपद में जो तृतीयान्त पद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, कर्मवाची क्तप्रत्ययान्त के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) अहिहतः
अन्तोदात्त।

(2) वज्रहतः
प्रकृतिस्वर।

(3) महाराजहतः
प्रकृतिस्वर।

(4) नखनिर्भिन्ना
अन्तोदात्त।

(5) दात्रलूना
प्रकृतिस्वर हुआ।

आङि०—आङ्पूर्वक हन् धातु से 'श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च' से अहि शब्द निष्पन्न होता है। यह अन्तोदात्त है। कुछ विद्वान् इसे आद्युदात्त मानते हैं। रक् प्रत्यय होकर वज्र शब्द बनता है। महाराज शब्द में 'टच्' समासान्त हुआ है। 'नाऽस्य खम् अस्ति' इस प्रकार नख शब्द निष्पन्न होता है। 'नञ्दुःसुभ्याम्०' से अन्तोदात्त होता है। 'दाम्नीशस०' से दात्र शब्द में 'ष्ट्रन्' हुआ है।

कर्मणी०—कर्मवाची क्तप्रत्ययान्त उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(6) रथयातः
रथेन यातः—प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। गत्यर्थ होने से कर्त्ता में 'क्त' हुआ है।

(2712) गतिरनन्तरः *49* (3783)

'क्ते', 'कर्मणि' इति वर्त्तते। कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे गतिरनन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति। प्रकृतः। प्रहृतः। अनन्तर इति किम्? अभ्युद्धृतः। समुद्धृतः। समुदाहृतः। व्यवहितस्य गतेरयं स्वरो न भवति। अनन्तरे पुनरिष्यते। कारकपूर्वस्य तु सति शिष्टत्वात् थाथादिस्वर एव भवति—दूरादागत इति। अनन्तरग्रहणसामर्थ्यदिव 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि' (व्या०प० 126) इत्येतन्नाश्रीयते। कर्मणीत्येव-प्रकृतः कटं देवदत्तः। थाथादिस्वरापवादो योगः।

अर्थ—क्ते, कर्मणि—इनका अनुवर्त्तन है। पूर्वपद में स्थित अव्यवहित जो गतिसंज्ञक शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है, कर्मवाची क्तप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) प्रकृतः
आद्युदात्त।

(2) प्रहृतः
आद्युदात्त।

अनन्तर०—अव्यवहित गतिसंज्ञक ही प्रकृतिस्वर होता है—

(3) अभ्युद्धृतः
व्यवहित होने से प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(4) समुद्धृतः (पूर्ववत्)।

(5) समुदाहृतः (पूर्ववत्)।

व्यवहि०—व्यवहित गतिसंज्ञक का प्रकृतिस्वर नहीं होता है। अनन्तर को ही होता है। कारकपूर्वक शब्द सतिशिष्ट होने से थाथादिस्वर होता है। यथा—

(6) दूरादागतः
अनन्तर ग्रहणसामर्थ्य से ही कृत् के ग्रहण में गतिपूर्व व कारक़पूर्व शब्द को यह नहीं होता है।

कर्मणी०—कर्मवाची शब्द के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

प्रकृतः कटं देवदत्तः
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।
यह थाथादिस्वर का अपवाद है।

(2713) तादौ च निति कृत्यतौ *50* (3784)

तकारादौ च तुशब्दवर्जिते निति कृति परतो गतिरनन्तरः प्रकृतिस्वरो भवति। प्रकर्त्ता। प्रकर्तुम्। प्रकृतिः। 'प्रकर्ता' इति तृन्नन्तः। कृत्स्वरबाधनार्थं वचनम्। तादाविति किम्? प्रजल्पाकः। नितीति किम्? प्रकर्त्ता। तृजन्तः। *कृद्ग्रहणमुपदेशे ताद्यर्थम्* (का०वा०) इहापि यथा स्यात्–प्रलंपिता, प्रलंपितुमिति। अताविति किम्? आगन्तुः।

अर्थ—अव्यवहित गतिसंज्ञक शब्द को प्रकृतिस्वर होता है, 'तु' शब्द को छोड़कर तकारादि, नित् कृत्संज्ञक प्रत्यय के परे रहते।

उदा० (1) प्रकर्त्ता
प्रकृतिस्वर हुआ।
(2) प्रकर्त्तुम्
तुमुन् हुआ है।
(3) प्रकृतिः
क्तिन् हुआ है।
प्रकृतृन्—प्रकर्त्ता। कृत्स्वर के बाध के लिए यह विधान है।
तादावि०—तकारादि परे रहते ही प्रकृतिस्वर होता है—
(4) प्रजल्पाकः
यहाँ षाकन् प्रत्यय है। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।
नितीति—नित् परे रहते प्रकृतिस्वर होता है—
(5) प्रकर्त्ता
प्र कृ तृच्। नित् परे न रहते प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। कृत् का ग्रहण उपदेश में तकारादि के लिए किया गया है ताकि यहाँ भी हो जाय—
(6) प्रलंपिता
प्रत्यय को इट् हुआ है। परन्तु उपदेश में तकारादि होने से प्रकृतिस्वर हो गया।
(7) प्रलंपितुम्
अतावि०—तु को छोड़कर शेष के परे रहते प्रकृतिस्वर होता है—
(8) आगन्तुः
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। 'सितनिगमिमसि' से तुन् प्रत्यय हुआ है।

(2714) तवै चान्तश्च युगपत् *51* (3785)

तवैप्रत्ययस्यान्त उदात्तो भवति गतिश्चानन्तरः प्रकृतिस्वर इति एतदुभयं युगपद्भवति। अन्वेतवै (तै०सं० 1.4.45.1)। परिस्तरितवै। परिपातवै। तस्मादग्निचिन्नाभिचरितवै (तै०सं० 5.6.3.1)। उपसर्गा आद्युदात्ता अभिवर्जम् (फि०सू० 80,81) इत्यभिरन्तोदात्तः। कृत्स्वरापवादो योगः।

अर्थ—तवै प्रत्यय को अन्तोदात्त होता है तथा इससे पूर्व अव्यवहित गतिसंज्ञक शब्द को प्रकृतिस्वर होता है। 'युगपत' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि एक साथ दो उदात्त भी हो जायेंगे।

उदा० (1) अन्वेतवै
'अनु' आद्युदात्त। 'तवै' अन्तोदात्त।
(2) परिस्तरितवै
आद्युदात्त।
(3) परिपातवै
आद्युदात्त।
(4) अभिचरितवै
अन्तोदात्त।

उपसर्गा०—'अभि' को छोड़कर अन्य उपसर्ग आद्युदात्त होते हैं। अभि' अन्तोदात्त होता है। यह कृत् आश्रित स्वर का अपवाद है।

(2715) अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये *52* (3786)

अनिगन्तो गतिः प्रकृतिस्वरो भवत्यञ्चतौ वप्रत्यये परतः। प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः। प्रांङ्, प्रांञ्चौ, प्रांञ्चः। 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' (8.2.6) इत्ययमेकादेश उदात्तः स्वरितो वा। परांङ्, परांञ्चौ, परांञ्चः (तै०सं० 3.1.10.3)। अनिगन्त इति किम्? प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर इह भवति। वप्रत्यय इति किम्? उदञ्चनः। 'चोरनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यय' (म०भा०) इत्येष स्वरो भवति विप्रतिषेधेन। परांचः। परांचा।

अर्थ—इक् नहीं है अन्त में जिसके, ऐसे गतिसंज्ञक पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, वप्रत्ययान्त अञ्च् धातु के उत्तरपद में रहते।

उदा० (1) प्राङ्

प्र अञ्चु क्विन्—'ऋत्विग्दधृक्०', 'उगिदचा०' से नुम्, हल्ङ्यादिलोप तथा संयोगान्तलोप, क्विन् प्रत्ययस्य०।

(2) प्राञ्चौ

प्राञ्च् औ—'औ' अनुदात्त है।

(3) प्राञ्चः

प्र अञ्चु—क्विन्, सर्वापहार लोप,

प्राञ्च् जस्—'स्वरितो वाऽनुदात्तेऽप०' से उदात्त या स्वरित होता है।

(4) पराङ्

परा अञ्चु क्विन्—पूर्ववत्।

(5) पराञ्चौ

आद्युदात्त।

(6) पराञ्चः

आद्युदात्त।

अनिगन्त०—इक् नहीं है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द को प्रकृतिस्वर होता है—

(7) प्रत्यङ्

'प्रति' इगन्त है। अतः प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(8) प्रत्यञ्चौ

प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(9) प्रत्यञ्चः

प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

यहाँ कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर नहीं होता है।

वप्रत्यय०—वप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(10) उदञ्चनः

उद् अञ्चु ल्युट्—उत्तरपद प्रकृतिस्वर हुआ।

चोरनिग०—'चौ' से पूर्वपद को अन्तोदात्त का विधान किया जाता है, वह 'चु' शब्द के द्वारा लक्षित होता है। व प्रत्ययान्त अञ्चु धातु परे रहते अनिगन्त को यह स्वर विप्रतिषेध से होता है।

(11) पराचः

पर अञ्चु क्विन्—सर्वापहार लोप, अनुनासिक लोप।

(12) पराचा

पराच् टा—पूर्ववत् अनुनासिकलोप आदि कार्य होकर 'टा' विभक्ति हुई है।

(2716) न्यधी च *53* (3787)

नि, अधि-इत्येतौ चाञ्चतौ वप्रत्यये परतः प्रकृतिस्वरौ भवतः। न्यङ्, न्यञ्चौ, न्यञ्चः। 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इत्यञ्चतेरकारः स्वरितः। अध्यङ्, अध्यञ्चौ, अध्यञ्चः। अधीचः। अधीचा।

अर्थ—'नि' और 'अधि' शब्दों को प्रकृतिस्वर होता है, वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के परे रहते।

उदा० (1) न्यङ्

नि अञ्चु—प्रत्यय का सर्वापहार लोप।

(2) न्यञ्चः

'नि' उदात्त है।

'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' से अञ्चु धातु के अकार को स्वरित होता है।

(3) अध्यङ्

आदेश उदात्त है।

(4) अध्यञ्चौ (पूर्ववत्)।

(5) अध्यञ्चः (पूर्ववत्)।

(6) अधीचः

आकार का लोप हुआ।

(7) अधीचा (पूर्ववत्)।

(2717) ईषदन्यतरस्याम् *54* (3788)

'ईषत्' इत्येतत्पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। ईषत्कडारः। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः। ईषदित्ययमन्तोदात्तः। ईषद्भेदं इत्येवमादौ कृत्स्वर एव भवति।

अर्थ—पूर्वपद में जो 'ईषत्' शब्द, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) ईषत्कडारः

अन्तोदात्त हुआ।

(2) ईषत्कडारः

समासस्वर हुआ।

(3) ईषत्पिङ्गलः

अन्तोदात्त।

(4) ई॒ष॒त्पि॒ङ्ग॒लः
समासस्वर।
'ईषत्' यह अन्तोदात्त है। ईषद्भेदः।

(2718) हिरण्यपरिमाणं धने *55* (3789)

हिरण्यपरिमाणवाचि पूर्वपदं धनशब्द उत्तरपदेऽन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। द्विसु॒व॒र्णधनम् द्विसु॒व॒र्ण॒ध॒न॒म्। द्वौ सुवर्णौ परिमाणमस्य द्विसुवर्णं तदेव धनमिति कर्मधारयः। बहुव्रीहावपि परत्वाद्विकल्प एव भवति। द्विसुंवर्णधनः, द्वि॒सु॒व॒र्ण॒ध॒नः। हिरण्यग्रहणं किम्? प्र॒स्थ॒ध॒न॒म्। परिमाणग्रहणं किम्? का॒ञ्च॒न॒ध॒नम्। धन इति किम्? नि॒ष्क॒मा॒ला।

अर्थ—हिरण्य और परिमाण अर्थों को कहने वाला जो पूर्वपद, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, धन शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) द्विसुवर्णधनम्
द्वौ सुवर्णौ परिमाणमस्य द्विसुवर्णम्, तदेव धनम्—कर्मधारय हुआ।

(2) द्विसुवर्णधनम् (पूर्ववत्)।

हिरण्य०—हिरण्य अर्थ को कहने वाले पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(3) प्र॒स्थ॒ध॒नम्
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

परिमाण०—परिमाण अर्थ को कहने वाले पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(4) का॒ञ्च॒न॒ध॒नम्
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

धन०—धन शब्द के उत्तरपद रहते ही प्रकृतिस्वर होता है—

(5) नि॒ष्क॒मा॒ला
समासस्वर हुआ।

(2719) प्रथमोऽचिरोपसम्पत्तौ *56* (3790)

प्रथमशब्दः पूवपदमचिरोपसम्पत्तौ गम्यमानायामन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। अचिरोपसम्पत्तिः = अचिरोपश्लेषः, अभिनवत्वम्। प्र॒थ॒मवैयाकरणः, प्र॒थ॒म॒वै॒या॒क॒र॒णः। अभिनववैयाकरणः। सम्प्रति व्याकरणमध्येतुं प्रवृत्त इत्यर्थः। प्रथमशब्दः 'प्रथेरमच्' (उ०सू० 746) इति चित्त्वादन्तोदात्तः। अचिरोपसम्पत्ताविति किम्? प्र॒थ॒म॒वै॒या॒क॒र॒णः। वैयाकरणानामाद्यो मुख्यो वा यः स नित्यमन्तोदात्त एव।

अर्थ—पूर्वपद में जो प्रथम शब्द, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, 'अभिनव' अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) प्र॒थ॒मवैंयाकरणः
सम्प्रति व्याकरणम् अध्येतुं प्रवृत्तः—यह अर्थ हुआ। प्रथम शब्द प्रथ् धातु से 'अमच्' होकर बनता है। चित् होने से अन्तोदात्त हुआ।

अचिरोप०—अभिनव अर्थ गम्यमान हो तो विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है—

(2) प्र॒थ॒म॒वै॒या॒क॒र॒णः
यह समास स्वर हुआ है।
प्रथमवैयाकरणों में जो आद्य या मुख्य है, वह नित्य अन्तोदात्त होता है।

(2720) कतरकतमौ कर्मधारये *57* (3791)

कतरशब्दः कतमशब्दश्च पूर्वपदं कर्मधारये समासेऽन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। क॒त॒रकंठः। क॒त॒र॒क॒ठः। क॒त॒मकंठः। क॒त॒म॒क॒ठः। कर्मधारयग्रहणमुत्तरार्थम्। इह तु प्रतिपदोक्तत्वादेव सिद्धम्।

अर्थ—कर्मधारय समास में पूर्वपद में जो कतर व कतम शब्द, उन्हें विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) क॒त॒रकंठः
अन्तोदात्त हुआ।

(2) क॒त॒र॒क॒ठः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। समासस्वर हुआ।

(3) क॒त॒मकंठः
अन्तोदात्त हुआ।

(4) क॒त॒म॒क॒ठः
समासस्वर हुआ।

कर्मधारय का ग्रहण उत्तरशास्त्र के लिए है। यहाँ तो प्रतिपदोक्त होने से सिद्ध ही है।

(2721) आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः *58* (3792)

आर्यशब्दः पूर्वपदं ब्राह्मणकुमारशब्द्योरुत्तरपदयोः कर्म-

धारये समासेऽन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। आर्यब्राह्मणः आर्यब्राह्मणः। आर्यकुमारः आर्यकुमारः। आर्यशब्दो ण्यदन्तोऽन्तस्वरितः। आर्य इति किम्? परमब्राह्मणः। परमकुमारः। ब्राह्मणकुमारयोरिति किम्? आर्यक्षत्रियः। कर्मधारये इत्येव-आर्यस्य ब्राह्मणः आर्यब्राह्मणः।

अर्थ—कर्मधारय समास में पूर्वपद में जो 'आर्य' शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है, ब्राह्मण व कुमार शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) आर्यब्राह्मणः
अन्तस्वरित हुआ।

(2) आर्यब्राह्मणः
समासस्वर हुआ।

(3) आर्यकुमारः (पूर्ववत्)।
(4) आर्यकुमारः (पूर्ववत्)।

आर्य०—ण्यत् प्रत्यय से आर्य शब्द निष्पन्न होता है। अन्तस्वरित हुआ।

आर्य इति०—आर्य शब्द को ही प्रकृतिस्वर होता है—

(5) परमब्राह्मणः
समासस्वर।

(6) परमकुमारः
समासस्वर।

ब्राह्मणः—ब्राह्मण और कुमार शब्दों के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(7) आर्यक्षत्रियः
समासस्वर।

कर्मधारय०—कर्मधारय समास में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(8) आर्यब्राह्मणः
आर्यस्य ब्राह्मणः।

(2722) राजा च *59* (3793)

राजा च पूर्वपदं ब्राह्मणकुमारयोरुत्तरपदयोः कर्मधारये समासेऽन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। राजब्राह्मणः। राजब्राह्मणः। राजकुमारः। राजकुमारः। कर्मधारय इत्येव-राज्ञो ब्राह्मणो राजब्राह्मणः। राजकुमारः। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—कर्मधारय समास में पूर्वपद में जो 'राजन्' शब्द, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, ब्राह्मण और कुमार शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) राजब्राह्मणः
आद्युदात्त हुआ।

(2) राजब्राह्मण
समासस्वर।

(3) राजकुमारः
आद्युदात्त हुआ।

(4) राजकुमारः
समासस्वर।

कर्मधार०—कर्मधारय समास में ही पाक्षिक प्रकृतिस्वर होता है—

(5) राजब्राह्मणः
राज्ञो ब्राह्मणः।

(6) राजकुमारः
राज्ञः कुमारः।

पृथक् योग उत्तर शास्त्र के लिए है।

(2723) षष्ठी प्रत्येनसि *60* (3794)

'राजा' इति वर्त्तते, 'अन्यतरस्याम्' इति च। षष्ठ्यन्तो राजशब्दः पूर्वपदं प्रत्येनस्युत्तरपदेऽन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। राज्ञः प्रत्येनाः राजप्रत्येनाः राजप्रत्येनाः। षष्ठीति किम्? राजा चासौ प्रत्येनाश्च राजप्रत्येनाः।

अर्थ—राजा, अन्यतरस्याम्—इनका अनुवर्त्तन है। पूर्वपद में जो षष्ठ्यन्त 'राजन्' शब्द, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, प्रत्येनस् शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) राजप्रत्येनाः
राज्ञः प्रत्येनाः

षष्ठीति०—षष्ठ्यन्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(2) राजप्रत्येनाः
राजा चाऽसौ प्रत्येनाश्च। प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

(2724) क्ते नित्यार्थे *61* (3795)

क्तान्त उत्तरपदे नित्यार्थे समासे पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति। नित्यप्रहसितः, नित्यप्रहसितः। सतत-

प्रहसितः । सततप्रहसितः । 'कालाः' (2.1.28) इति द्वितीयासमासोऽयम् । नित्यशब्दः 'त्यब्नेर्ध्रुवे' (का०वा०) इति त्यबन्त आद्युदात्तः । सततम् इति–यदा भावे क्तस्तदा थाथादिस्वरेणान्तोदात्तः । नित्यार्थ इति किम् ? मुहूर्त्तप्रहसितः ।

अर्थ—जिसका नित्य अर्थ है, ऐसे समास में पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है; क्तप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते ।

उदा० (1) नित्यंप्रहसितः
आद्युदात्त हुआ ।

(2) नित्यप्रहसितः
समासस्वर हुआ ।

(3) सततंप्रहसितः
प्रकृतिस्वर ।

(4) सततप्रहसितः
समासस्वर ।

काला०—'कालाः' यह द्वितीया समास है । त्यप् प्रत्यय होकर नित्य शब्द होता है । आद्युदात्त हुआ । 'सततः' यहाँ जब भाव में 'क्त' होता है, तब थाथादिस्वर से अन्तोदात्त होता है ।

नित्यार्थ०—नित्यार्थ समास में ही प्रकृतिस्वर होता है—

(5) मुहूर्त्तप्रहसितः
समासस्वर ।

(2725) ग्रामः शिल्पिनि *62* (3796)

ग्रामशब्दः पूर्वपदं शिल्पिवाचिन्युत्तरपदेऽन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति । ग्रामंनापितः, ग्रामनापितः । ग्रामंकुलालः ग्रामकुलालः । ग्रामशब्द आद्युदात्तः । ग्राम इति किम् ? परमनापितः । शिल्पिनीति किम् ? ग्रामरथ्या ।

अर्थ—पूर्वपद में जो ग्रामशब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है, शिल्पिवाची शब्द के उत्तरपद रहते ।

उदा० (1) ग्रामंनापितः
आद्युदात्त हुआ ।

(2) ग्रामनापितः
समासस्वर ।

(3) ग्रामंकुलालः
आद्युदात्त हुआ ।

(4) ग्रामकुलालः
समासस्वर ।
ग्राम शब्द आद्युदात्त है ।

ग्राम इति०—पूर्वपद में जो ग्राम शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है—

(5) परमनापितः
समासस्वर हुआ ।

शिल्पिनी०—शिल्पिवाची शब्द के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(6) ग्रामरथ्या
समासस्वर हुआ ।

(2726) राजा च प्रशंसायाम् *63* (3797)

राजशब्दः पूर्वपदं शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे प्रशंसायां गम्यमानायामन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति । राजंनापितः, राजनापितः । राजंकुलालः, राजकुलालः । कर्मधारये राजगुणाध्यारोपेणोत्तरपदार्थस्य प्रशंसा । षष्ठीसमासे च राजयोग्यतया तस्य । राजेति किम् ? परमनापितः । प्रशंसायामिति किम् ? राजनापितः । शिल्पिनीत्येव–राजहस्ती ।

अर्थ—प्रशंसा अर्थ में पूर्वपद में जो 'राजन्' शब्द, उसे विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है, शिल्पिवाची शब्द के उत्तरपद रहते ।

उदा० (1) राजंनापितः
आद्युदात्त हुआ ।

(2) राजनापितः
समासस्वर ।

(3) राजंकुलालः
आद्युदात्त ।

(4) राजकुलालः
समासस्वर ।

कर्मधार०—कर्मधारय में राजगुणों के अध्यारोप से उत्तरपदार्थ की प्रशंसा होती है । षष्ठी समास में भी होता है ।

राजेति०—राजन् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है—

(5) परमनापितः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ ।

प्रशंसाया०—प्रशंसा अर्थ गम्यमान हो तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है—

(6) राजनापितः
समासस्वर हुआ।

शिल्पिनी०—शिल्पिवाची शब्द के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है—

(7) राजहस्ती
समासस्वर हुआ।

(2727) आदिरुदात्तः *64* (3798)

'आदिरुदात्तः' इत्येतदधिकृतम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः, तत्र पूर्वपदस्यादिरुदात्तो भवतीत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति— 'सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे' (6.2.65) इति। स्तूपैंशाणः। मुकुंटेकार्षापणम्। याज्ञिंकाश्वः। वैयांकरणहस्ती। दृषंदिमाषकः। 'आदिः' इति प्रागन्ताधिकारात् (6.2.143)। 'उदात्तः' इति 'प्रकृत्या भगालम्' (6.2.137) इति यावत्।

अर्थ—यह अधिकार है। इससे आगे जो कहा जायेगा, वहाँ-वहाँ पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—ऐसा जानना चाहिए।

उदा० आगे कहा जायेगा—सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे। यहाँ जो उदाहरण दिखाये गये हैं, उनकी सिद्धि आगे तत्-तत् सूत्रों पर देखें।

आदिरिति० 'अन्तोदात्त' इस अधिकार से पूर्व-पूर्व 'आदिः' यह अधिकार जानना चाहिए। 'उदात्तः' इसका अधिकार 'प्रकृत्या भगालम् (6.2.137) पर्यन्त जानना चाहिए।

(2728) सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे *65* (3799)

सप्तम्यन्तं हारिवाचि च पूर्वपदं धर्म्यवाचिनि हरणशब्दादन्यस्मिन्नुत्तरपदे आद्युदात्तं भवति। हारीति देयं यः स्वीकरोति सोऽभिधीयते। 'धर्म्यम्' इत्याचारनियतं देयमुच्यते। धर्मो ह्यनुवृत्त आचारः, तस्मादनपेतं तेन वा प्राप्यमिति। स्तूपैंशाणः। मुकुंटेकार्षापणम्। हलेंद्विपदिका। हलेंत्रिपदिका। दृषंदिमाषकः। 'संज्ञायाम्' (2.1.44) इति सप्तमीसमासः, 'कारनाम्नि च' (6.3.10) इति विभक्तेरलुक्। हारिणि—याज्ञिंकाश्वः। वैयांकरणहस्ती। मातुंलाश्वः। पितृंव्यगवः। क्वचिदयमाचारो व्यवस्थितः— स्तूपादिषु शाणादि दातव्यम्, याज्ञिकादीनामश्वादीनि। धर्म्य इति किम्? स्तम्बेरमः। कर्मकरवर्द्धितकः। अहरण इति किम्? वाडवहरणम्। वडवाया अयं वाडवः, तस्य बीजनिषेकादुत्तरकालं शरीरपुष्ट्यर्थं यद्दीयते हरणमिति तदुच्यते। परोऽपि कृत्स्वरो हारिस्वरेण बाध्यते विप्रतिषेधेन— इत्येतदहरण इत्यनेन ज्ञाप्यते, तेन वाडवहार्यमिति हारिस्वरः सिद्धो भवति।

अर्थ—पूर्वपद में जो सप्तम्यन्त तथा हारिवाची शब्द, उसे आद्युदात्त होता है, धर्म्यवाची शब्दों के उत्तरपद रहते; परन्तु 'हरण' शब्द के उत्तरपद रहते नहीं होता है।

धर्माद् अनपेतम्—धर्म्यम्। धर्मेण प्राप्यम्—धर्म्यम्।

सूत्र में 'सप्तमी' इस प्रकार निर्देश होने से साहचर्यवशात् 'हारिन्' पद के द्वारा स्वरूप का ग्रहण नहीं होता है।

उदा० (1) स्तूपेंशाणः
आद्युदात्त हुआ।

(2) मुकुंटेकार्षापणम् (पूर्ववत्)।

(3) हलेंद्विपदिका (पूर्ववत्)।

(4) हलेंत्रिपदिका (पूर्ववत्)।

(5) दृषंदिमाषकः (पूर्ववत्)।

'सञ्ज्ञायाम्' से सप्तमी समास हुआ। 'कारनाम्नि०' से विभक्ति का अलुक्।

(6) याज्ञिंकाश्वः (पूर्ववत्)।

(7) वैयांकरणहस्ती (पूर्ववत्)।

(8) मातुंलाश्वः (पूर्ववत्)।

(9) पितृंव्यगणः (पूर्ववत्)।

धर्म्य०—धर्म्यवाची शब्दों के उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है—

(10) स्तम्बेरमः
समासस्वर।

(11) कर्मकरवर्द्धितकः (पूर्ववत्)।

अहरण०—हरण शब्द को छोड़कर अतिरिक्त के उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है—

(12) वाडवहरणम्
समासस्वर।

वडवाया अयम्—वाडवः। उसका बीजनिषेक से उत्तरकाल में शरीर की पुष्टि के लिए जो दिया जाता है, उसे 'हरण' कहा जाता है। पर होने पर भी कृत् स्वर का हारि स्वर के द्वारा बाध

होता है विप्रतिषेध के द्वारा। तब 'वाडवहार्यम्' यहाँ हारिस्वर सिद्ध होता है।

(2729) युक्ते च *66* (3800)

युक्तवाचिनि च समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। गोबंल्लवः। अश्वबंल्लवः। गोमंणिन्दः। अश्वंमणिन्दः। गौसंख्यः। अश्वंसंख्यः। युक्त इति = समाहितः, कर्त्तव्ये तत्परो यः स उच्यते।

अर्थ—युक्तवाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) गोबंल्लव
आद्युदात्त हुआ।

(2) अश्वबल्लवः (पूर्ववत्)।
(3) गोमंणिन्दः (पूर्ववत्)।
(4) अश्वंमणिन्दः (पूर्ववत्)।
(5) गोसंङ्ख्यः (पूर्ववत्)।
(6) अश्वंसङ्ख्यः (पूर्ववत्)।

(2730) विभाषाऽध्यक्षे *67* (3801)

अध्यक्षशब्द उत्तरपदे विभाषा पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। गवांध्यक्षः। गवाध्यक्षः। अश्वांध्यक्षः। अश्वाध्यक्षः।

अर्थ—पूर्वपद विकल्प से आद्युदात्त होता है, 'अध्यक्ष' शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गवांध्यक्षः
आद्युदात्त हुआ।

(2) गवाध्यक्षः
समासस्वर।

(3) अश्वांध्यक्षः
आद्युदात्त।

(4) अश्वाध्यक्षः
समासस्वर।

(2731) पापं च शिल्पिनि *68* (3802)

पापशब्दः शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे विभाषाऽऽद्युदात्तो भवति। पापंनापितः। पापनापितः। पापंकुलालः। पापकुलालः। 'पापाणके कुत्सितैः' (2.1.54) इति पापशब्दस्य प्रतिपदोक्तः समानाधिकरणसमास इति षष्ठीसमासे न भवति–पापस्य नापितः पापनापित इति।

अर्थ—पूर्वपद में जो पाप शब्द, वह विकल्प से आद्युदात्त होता है, शिल्पिवाची शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) पापंनापितः
आद्युदात्त।

(2) पापनापितः
समासस्वर।

(3) पापंकुलालः
आद्युदात्त।

(4) पापकुलालः
समासस्वर।

पापाणके०—'पापाणके कुत्सितैः' इस प्रकार प्रतिपदोक्त पाप शब्द का समानाधिकरण समास है। वह षष्ठी समास में नहीं होता है। यथा—

(5) पापनापितः
पापस्य नापितः—यहाँ आद्युदात्त नहीं हुआ। समासस्वर हुआ है।

(2732) गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे *69* (3803)

गोत्रवाचिन्यन्तेवासिवाचिनि चोत्तरपदे माणवब्राह्मणयोश्च क्षेपवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। जङ्घांवात्स्यः। यो जङ्घादानं ददान्यहमिति वात्स्यः सम्पद्यते स जङ्घावात्स्य इति क्षिप्यते। भार्यासौश्रुतः। सुश्रुतापत्यस्य भार्याप्रधानतया क्षेपः। वशांब्राह्मकृतेयः। ब्रह्मकृतशब्दः शुभ्रादिषु पठ्यते। गोत्र। अन्तेवासि–कुमांरीदाक्षाः। कम्बंलचारायणीयाः। घृतंरौढीयाः। ओदंनपाणिनीयाः। कुमार्यादिलाभकामा ये दक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते तच्छिष्यतां वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते। अन्तेवासि। माणव–भिक्षांमाणवः। भिक्षां लप्स्येऽहमिति माणवो भवति। माणव। ब्राह्मण–दासींब्राह्मणः। वृषंलीब्राह्मणः। भयंब्राह्मणः। यो भयेन ब्राह्मणः सम्पद्यते। अत्र यस्यान्यत् समासलक्षणं नास्ति, 'सुप्सुपा' इत्येव तत्र समासः कर्त्तव्यः। गोत्रादिष्विति किम्? दासीश्रोत्रियः। क्षेप इति किम्? महाब्राह्मणः।

अर्थ—निन्दा गम्यमान हो तो पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, गोत्रवाची, अन्तेवासिवाची तथा माणव व ब्राह्मण शब्द—इनके उत्तरपद रहते।

उदा० (1) जङ्घांवात्स्यः
'सुप्सुपा' से समास हुआ।

(2) भार्यासौश्रुतः
आद्युदात्त हुआ।

(3) वशांब्राह्मकृतेयः
ब्रह्मकृत शब्द का शुभ्रादि गण में पाठ है।

(4) कुमांरीदीक्षा
आद्युदात्त।

(5) कम्बंलचारायणेयाः (पूर्ववत्)।
(6) घृतंरौढीयाः (पूर्ववत्)।
(7) ओदंनपाणिनीयाः (पूर्ववत्)।

जो कुमारी आदि लाभ के इच्छुक दाक्षादि के द्वारा प्रोक्त शास्त्रों का अध्ययन करते हैं—यह निन्दा अर्थ है।

(8) भिक्षांमाणवः
भिक्षा मिलेगी—यह सोचकर माणव बनता है।

(9) दासींब्राह्मणः
आद्युदात्त।

(10) वृषंलीब्राह्मणः
आद्युदात्त।

(11) भयंब्राह्मणः
जो भयवशात् ब्राह्मण है।

यहाँ जिसका समासलक्षण अन्य प्रकार से नहीं होता है, वहाँ 'सुप्सुपा' से समास करना चाहिए।

गोत्रादि०—गोत्र आदि शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(12) दासीश्रोत्रियः
आद्युदात्त नहीं हुआ। समासस्वर नहीं हुआ।

क्षेप०—निन्दा गम्यमान हो तो पूर्वपद आद्युदात्त होता है—

(13) महाब्राह्मणः
समासस्वर हुआ।

(2733) अङ्गानि मैरेये *70* (3804)

मैरेयशब्द उत्तरपदे तदङ्गवाचीनि पूर्वपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति। गुडंमैरेयः। मधुंमैरेयः। मद्यविशेषो मैरेयः, तस्य गुडविकारस्य गुडोऽङ्गं भवति। मधुविकारस्य तस्य मधु मध्वङ्गम्। अङ्गानीति किम्? परममैरेयः। मैरेय इति किम्? पुष्पासवः। फलासवः।

अर्थ—मैरेय शब्द के उत्तरपद रहते उसके उपादान कारण-वाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) गुडंमैरेयः
आद्युदात्त हुआ।

(2) मधुंमैरेयः (पूर्ववत्)।

मद्य०—मैरेय एक मद्य का नाम है। वह गुड़ का विकार है। अतः गुड़ इसका अंग कहा जायेगा। इसी प्रकार मधु के विषय में भी जानना चाहिए।

अङ्गानी०—उपादानकारणवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(3) परममैरेयः।
आद्युदात्त नहीं हुआ।

मैरेय०—मैरेय शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद आद्युदात्त होता है—

(4) पुष्पासवः
पूर्ववत् समासस्वर।

(2734) भक्ताख्यास्तदर्थेषु *71* (3805)

भक्तम् = अन्नम्, तदाख्याः = तद्वाचिनः शब्दाः, तदर्थेषूत्तरपदेषु आद्युदात्ता भवन्ति। भिक्षांकंसः। श्राणांकंसः। भाजींकंसः। भिक्षादयोऽन्नवचनाः। भक्ताख्या इति किम्? समाशशालयः। समशनं समाश इति क्रियामात्रमुच्यते, न द्रव्यम्। तदर्थेष्विति किम्? भिक्षाप्रियः। बहुव्रीहिरयमत्र पूर्वपदमन्तोदात्तम्।

अर्थ—अन्नविशेषवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, उन अन्नविशेषों के लिए पात्रवाची शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) भिक्षांकंसः
आद्युदात्त।

(2) श्राणांकंसः
आद्युदात्त।
भिक्षा व श्राणा अन्नवाची है।

भक्ताख्या—अन्नविशेषवाची को ही आद्युदात्त होता है—

(3) समाशशालयः

समासस्वर हुआ।

समशन के द्वारा समाश क्रियामात्र कहा जाता है; द्रव्य नहीं।

तदर्थे०—इसका प्रयोजन यह है कि निम्नलिखित में आद्युदात्त नहीं होता है—

(4) भि॒क्षा॒प्रि॒यः

आद्युदात्त नहीं हुआ। यह बहुव्रीहि है। पूर्वपद अन्तोदात्त हुआ।

(2735) गोबिडालसिंहसैन्धवेषूपमाने *72* (3806)

गवादिषूपमानवाचिषूत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। धान्यंगवः। हिरंण्यगवः। भिक्षांविडालः। तृणंसिंहः। काष्ठंसिंहः। सक्तुंसैन्धवः। पानंसैन्धवः। धान्यं गौरिवेति विगृह्य व्याघ्रादेराकृतिगणत्वाद् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' (2.1.56) इति समासः। उपमानार्थोऽपि यथासम्भवं यथाप्रसिद्धि च योजयितव्यः। गवाकृत्या सन्निवेशितं धान्यगवशब्देनोच्यते। उपमान इति किम्? प॒र॒म॒सिं॒हः।

अर्थ—पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, उपमानवाची गो, विडाल, सिंह तथा सैन्धव शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) धान्यंगवः

आद्युदात्त।

(2) हिरंण्यगवः

आद्युदात्त।

(3) भिक्षांविडालः

आद्युदात्त।

(4) तृणांसिंहः (पूर्ववत्)।

(5) काष्ठंसिंहः (पूर्ववत्)।

(6) सक्तुंसैन्धवः (पूर्ववत्)।

(7) पानंसैन्धवः (पूर्ववत्)।

विगृह्य०—विग्रह करके व्याघ्रादिगण के आकृतिगण होने से 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' से समास होता है। उपमानार्थ का भी यथा-सम्भव योग करना चाहिए। गवाकृति से अवस्थित धान्य धान्यगव शब्द के द्वारा कहा जाता है।

उपमान०—उपमानवाची शब्द के उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है—

(7) प॒र॒म॒सिं॒हः

आद्युदात्त नहीं हुआ। समासस्वर हुआ।

(2736) अके जीविकार्थे *73* (3807)

अकप्रत्ययान्त उत्तरपदे जीविकार्थवाचिनि समासे पूर्व-पदमाद्युदात्तं भवति। दन्तंलेखकः। नखंलेखकः। अवं-स्करशोधकः। रमंणीयकारकः। दन्तलेखनादिभिर्येषां जीविका त एवमुच्यन्ते। 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' (2.2.17) इति समासः। अक इति किम्? र॒म॒णी॒य॒क॒र्त्ता। जीविकार्थ इति किम्? इ॒क्षु॒भ॒क्षि॒कां मे धारयसि।

अर्थ—जीविकार्थवाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) दन्तंलेखकः

आद्युदात्त।

(2) नखंलेखकः

आद्युदात्त।

(3) अवंस्करशोधकः

आद्युदात्त।

(4) रमंणीयकारकः (पूर्ववत्)।

दन्त०—दन्तलेखन आदि के द्वारा जिनकी जीविका होती है, वे ही इसके द्वारा कहे जाते हैं। 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' से समास होता है।

अक०—अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(5) र॒म॒णी॒य॒क॒र्त्ता

आद्युदात्त नहीं हुआ।

जीविकार्थ०—जीविकार्थवाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(6) इ॒क्षु॒भ॒क्षि॒कां मे धारयसि

आद्युदात्त नहीं हुआ।

(2737) प्राचां क्रीडायाम् *74* (3808)

प्राग्देशवर्त्तिनां या क्रीडा तद्वाचिनि समासेऽकप्रत्ययान्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। उद्दांलकपुष्पभञ्जिका। वीरंणपुष्पप्रचायिका। शालंभञ्जिका। तालंभञ्जिका। 'संज्ञायाम्' (3.3.109) इति ण्वुल्, 'नित्यं क्रीडाजी-विकयोः' (2.2.17) इति षष्ठीसमासः। प्राचामिति किम्? जी॒व॒पु॒त्र॒प्र॒चा॒यिका। इयमुदीचां क्रीडा। क्रीडा-यामिति किम्? तव पु॒ष्प॒प्र॒चा॒यिका। पर्याये ण्वुच्प्रत्ययो भवति।

अर्थ—पूर्व देशवाची लोगों की जो क्रीडा, तद्वाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) उद्दालकपुष्पभञ्जिका
आद्युदात्त हुआ।

(2) वीरणपुष्पप्रचायिका
आद्युदात्त।

(3) शालभञ्जिका
आद्युदात्त।

(4) तालभञ्जिका
आद्युदात्त।

'सञ्ज्ञायाम्' से 'ण्वुल्' हुआ। 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' से षष्ठीसमास हुआ।

प्राचामि०—प्राच्य लोगों की जो क्रीडा, तद्वाची समास में आद्युदात्त होता है—

(5) जीवपुत्रप्रचायिका
समासस्वर हुआ।
पर्याय में ण्वुच् प्रत्यय होता है।

(2738) अणि नियुक्ते *75* (3809)

अणन्त उत्तरपदे नियुक्तवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। छत्रधारः। तूणीरधारः। कमण्डलुग्राहः। भृङ्गारधारः। नियुक्तः = अधिकृतः, स च कस्मिंश्चित्कर्तव्ये तत्परो न भवतीति 'नियुक्तः' इत्यनेन सिध्यति। नियुक्त इति किम्? काण्डलावः। शरलावः।

अर्थ—नियुक्तवाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, अण् प्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) छत्रधारः
'कर्मण्यण्' से 'अण्' हुआ।

(2) तूणीधारः
आद्युदात्त हुआ।

(3) कमण्डलुग्राहः (पूर्ववत्)।

(4) भृङ्गारधारः (पूर्ववत्)।

नियुक्त०—नियुक्तवाची समास में ही आद्युदात्त होता है—

(5) काण्डलावः
समासस्वर।

(6) शरलावः
समासस्वर।

(2739) शिल्पिनि चाकृञः *76* (3810)

शिल्पिवाचिनि समासेऽणन्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, स चेदण् कृञो न भवति। तन्तुवायः। तुन्नवायः। वालवायः। शिल्पिनीति किम्। काण्डलावः। शरलावः। अकृञ इति किम्? कुम्भकारः। अयस्कारः।

अर्थ—शिल्पिवाची समास में यदि उत्तरपद में अणप्रत्ययान्त शब्द हो तो पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह 'अण्' कृ से परे न हो।

उदा० (1) तन्तुवायः
आद्युदात्त।

(2) तुन्नवायः
आद्युदात्त।

(3) वालवायः (पूर्ववत्)।

शिल्पिनी०—शिल्पिवाची समास में ही आद्युदात्त होता है—

(4) काण्डलावः
समासस्वर।

अकृञ०—यदि वह 'अण्' कृ से परे न हो तो पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(5) कुम्भकारः
समासस्वर।

(6) अयस्कारः
समासस्वर।

(2740) संज्ञायां च *77* (3811)

संज्ञायां विषयेऽणन्त उत्तरपदेऽकृञः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। तन्तुवायो नामः कीटः। वालवायो नाम पर्वतः। अकृञ इत्येव-रथकारो नाम ब्राह्मणः।

अर्थ—संज्ञा के विषय में अण् प्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह 'अण्' प्रत्यय 'कृ' धातु से उत्तर न हो।

उदा० (1) तन्तुवायः
यह एक कीट का नाम है।

(2) वालंवायः
यह एक पर्वत का नाम है।

अकृञ०—यदि अण् प्रत्यय 'कृ' से उत्तर न हो तो आद्युदात्त होता है—

(3) रथकारः
यह एक ब्राह्मण का नाम है। आद्युदात्त नहीं हुआ।

(2741) गोतन्तियवं पाले *78* (3812)

गो, तन्ति, यव–इत्येतानि पूर्वपदानि पालशब्द उत्तरपदे आद्युदात्तानि भवन्ति। गोपालः। तन्तिंपालः। यवंपालः। अनियुक्तार्थ आरम्भः। गोतन्तियवमिति किम्? वत्सपालः। पाल इति किम्? गोरक्षः।

अर्थ—पूर्वपद में जो गो, तन्ति यथा यव शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है, 'पाल' शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गोपालः
आद्युदात्त।

(2) तन्तिंपालः
आद्युदात्त।

(3) यवंपालः
आद्युदात्त।
अनियुक्तवाची समास के लिए विधान है।

गोतन्ति०—पूर्वपद में जो गो आदि शब्द, उन्हें आद्युदात्त कहते हैं—

(4) वत्सपालः
समासस्वर हुआ।

पाल०—पाल शब्द के उत्तरपद रहते ही आद्युदात्त होता है। यथा—

(5) गोरक्षः
समासस्वर हुआ।

(2742) णिनि *79* (3813)

णिनन्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। पुष्पंहारी। फलंहारी। पर्णंहारी।

अर्थ—पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, णिन् प्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) फलंहारी
आद्युदात्त।

(2) पर्णंहारी
आद्युदात्त।

(2743) उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव *80* (3814)

उपमानवाचि पूर्वपदं शब्दार्थप्रकृतावेव णिनन्त उत्तरपद आद्युदात्तं भवति। उपमानं नियम्यते। उष्ट्रंक्रोशी। ध्वाङ्क्षंरावी खरंनादी। उपमानग्रहणमस्य पूर्वस्य च योगस्य विषयविभागार्थम्। शब्दार्थप्रकृताविति किम्? वृकवञ्ची। वृकप्रेक्षी। प्रकृतिग्रहणं किम्? प्रकृतिरेव यत्रोपसर्गनिरपेक्षा शब्दार्था भवति तत्रैव यथा स्याद्, इह मा भूत्–गर्दभोच्चारी, कोकिलाभिव्याहारीति। एवकारकरणमुपमानावधारणार्थम्। शब्दार्थप्रकृतौ त्वनुपमानमुपमानं चाद्युदात्तं भवति। सिंहंविनर्दी। पुष्कंलजल्पी।

अर्थ—पूर्वपद में जो उपमानवाची शब्द, उसे आद्युदात्त होता है, शब्दार्थ धातु वाले णिनि प्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) पुष्पंहारः
आद्युदात्त।

(2) उष्ट्रंक्रोशी
आद्युदात्त।

(3) ध्वाङ्क्षंरावी (पूर्ववत्)।
(4) खरंनादी (पूर्ववत्)।

उपमान०—उपमान का ग्रहण इस पूर्वयोग के विषयविभाग के लिए है।

शब्दार्थ०—शब्दवाची धातु वाले उत्तर पद के रहते आद्युदात्त होता है—

(5) वृकवञ्ची
समासस्वर।

(6) वृकप्रेक्षी (पूर्ववत्)।

प्रकृति—'प्रकृति' का ग्रहण किया गया है। जहाँ प्रकृति ही उपसर्गनिरपेक्ष शब्दवाची हो, वहाँ पर ही आद्युदात्त होता है—

(7) गर्दभोच्चारी
समासस्वर।

(8) कोकिलाभिव्याहारी (पूर्ववत्)।

एवकार का ग्रहण उपमान के अवधारण के लिए है। शब्दार्थ की प्रकृति में अनुपमान जो उपमान, वह आद्युदात्त होता है।

(9) सिंहविनर्दी
समासस्वर।

(10) पुष्कलजल्पी
समासस्वर।

(2744) युक्तारोह्यादयश्च *81* (3815)

युक्तारोह्यादयः समासा आद्युदात्ता भवन्ति। युक्तारोही। आगंतरोही। आगंतयोधी। आगंतवञ्ची। आगंतनर्दी। आगंतप्रहारी। एते णिनन्ताः 'णिनि' इत्यस्यैवोदाहरणार्थं पठ्यन्ते। पूर्वोत्तरपदनियमार्था इति केचित्। इह मा भूत्– वृक्षारोही, युक्ताध्यायीति। आगंतमत्स्या। क्षीरंहोता। भगिनीभर्त्ता। याजकादित्वात् षष्ठीसमासावेतौ। ग्रामंगोधुक्। अश्वंत्रिरात्रः। गर्गत्रिरात्रः। व्युष्टंत्रिरात्रः। शणंपादः। समंपादः। षष्ठीसमासा एते। एकंशितिपात्। एकः शितिः पादोऽस्येति त्रिपदबहुव्रीहिः। तत्रैकशितिशब्दः 'तद्धितार्थोत्तरपद' इति तत्पुरुषसंज्ञः, तस्य निमित्तिस्वरबलीयस्त्वाद् अन्तोदात्वं प्राप्तमित्याद्युदात्तत्वं विधीयते। एवमपि नार्थ एतेन, 'इगन्त० द्विगौ' (6.2.29) इति सिद्धत्वात्? एवं तर्हि ज्ञापनार्थम्, एतज् ज्ञापयति–शित्यन्तस्योत्तरपदे द्विगुस्वरो न भवतीति। तेन द्विशितिपादित्यत्र तिशब्द उदात्तो भवति। निमित्तिस्वरबलीयस्त्वस्याप्येकशितिपात्स्वरवचनमेव ज्ञापकं वर्णयन्ति। 'पात्रेसमितादयश्च' (2.1.48) युक्तारोह्यादयः, ततस्तेऽप्याद्युदात्ता भवन्ति।

अर्थ—युक्तारोही आदि समस्त पदों को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) युक्तारोही
आद्युदात्त हुआ।

(2) आगंतरोही
आद्युदात्त।

(3) आगंतबोधी
आद्युदात्त।

(4) आगंतवञ्ची
आद्युदात्त।

(5) आगंतनर्दी
आद्युदात्त हुआ।

(6) आगंतप्रहारी (पूर्ववत्)।

ये सभी णिन् प्रत्ययान्त 'णिनि' इसके उदाहरण के लिए पठित हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्वोत्तरपद के नियम के लिए हैं। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(7) वृक्षारोही
यहाँ नहीं हुआ।

(8) युक्ताध्यायी (पूर्ववत्)।
(9) आगतमत्स्या (पूर्ववत्)।
(10) क्षीरहोता
याजकादि होने से यह षष्ठी समास है।

(11) भगिनीभर्त्ता (पूर्ववत्)।
याजकादि होने से ये षष्ठी समास हैं।

(12) ग्रामगोधुक्
षष्ठी समास हुआ।

(13) अश्वत्रिरात्रः
तिस्रो रात्रयः समाहृताः—समाहार अर्थ में द्विगु।

(14) गर्गत्रिरात्रः (पूर्ववत्)।
(15) व्युष्टत्रिरात्रः (पूर्ववत्)।

(16) शणपादः
यह षष्ठी समास है।

(17) समपादः (पूर्ववत्)।
ये षष्ठी समास हैं।

(18) एकशितिपात्

एक०—एकशितिः पादोऽस्य—त्रिपद बहुव्रीहि है। यहाँ एकशिति शब्द तद्धितार्थोत्तरपद है। यह तत्पुरुषसंज्ञक है। उसका निमित्तस्वर बलवान् होने से अन्तोदात्त स्वर की प्राप्ति हुई। अतः आद्युदात्त का विधान किया जाता है। 'इगन्ते द्विगौ' इस प्रकार सिद्ध होने से इससे कोई प्रयोजन नहीं है। यह ज्ञापक के लिए है। इससे ज्ञापित होता है कि शिति है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द को द्विगुस्वर नहीं होता, उत्तरपद के परे रहते।

तेन द्विशि०—तब 'द्विशितिपात्' में ति शब्द उदात्त होता है। निमित्तस्वर बलवान् होता है।

(2745) दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे *82* (3816)

दीर्घान्तं पूर्वपदम्, काश, तुष, भ्राष्ट्र, वट–इत्येतानि च जे

उत्तरपदे आद्युदात्तानि भवन्ति। कुटींजः। शमींजः। काशंजः। तुषंजः। भ्राष्ट्रंजः। वटंजः।

अर्थ—पूर्वपद में जो दीर्घान्त शब्द, काश, तुष, भ्राष्ट्र तथा वट—इनको आद्युदात्त होता है, 'ज' शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (क) कुटींजः
आद्युदात्त।

(2) शमींजः (पूर्ववत्)।
(3) काशंजः (पूर्ववत्)।
(4) तुषंजः (पूर्ववत्)।
(5) भ्राष्ट्रंजः (पूर्ववत्)।
(6) वटंजः (पूर्ववत्)।

(2746) अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः *83* (3817)

जे उत्तरपदे बह्वचः पूर्वपदस्यान्त्यात्पूर्वमुदात्तं भवति। उपसंरजः। मन्दुरंजः। आमलकींजः। वडवांजः। बह्वच इति किम्? दुग्धजानिं तृणानि।

अर्थ—पूर्वपद में जो अनेकाच्, उसके अन्त्य वर्ण से पूर्व को उदात्त होता है, 'ज' के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) उपसरंजः
यहाँ हुआ।

(2) मन्दुरंजः (पूर्ववत्)।
(3) आमलंजः (पूर्ववत्)।
(4) वडवांजः (पूर्ववत्)।

बह्वच०—पूर्वपद में जो अनेकाच्, उसके अन्त्य से पूर्व को उदात्त होता है—

(5) दुग्धजानिं तृणानि
यहाँ नहीं हुआ।

(2747) ग्रामेऽनिवसन्तः *84* (3818)

ग्रामशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति न चेन्निवसद्वाचि भवति। मल्लंग्रामः। वणिंग्ग्रामः। ग्रामशब्दोऽत्र समूहवाची। देवग्रामः। देवस्वामिक इत्यर्थः। अनिवसन्त इति किम्? दाक्षिग्रामः। माहकिग्रामः। दाक्ष्यादयो निवसन्ति यस्मिन्ग्रामे स तेषामिति व्यपदिश्यते।

अर्थ—अनिवसन्त वाची जो पूर्वपद, उसे आद्युदात्त होता है, ग्राम शब्द उत्तरपद रहते।

(1) मल्लंग्रामः
पूर्वपद आद्युदात्त।

(2) वणिंग् ग्रामः (पूर्ववत्)।
यहाँ ग्राम शब्द समूहवाची है।

(3) देवंग्रामः (पूर्ववत्)।

अनिवस०—अनिवसद्वाची शब्द को आद्युदात्त होता है—

(4) दाक्षिग्रामः
समासस्वर हुआ।

(5) माहकिग्रामः (पूर्ववत्)।

दाक्ष्यादयो वसन्ति यस्मिन् ग्रामे सः तेषाम्—इस प्रकार अर्थ है।

(2748) घोषादिषु च *85* (3819)

घोषादिषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। दाक्षिंघोषः। दाक्षिंकटः। दाक्षिंपल्वलः। दाक्षिंह्रदः। दाक्षिंबदरी। दाक्षिंपिङ्गलः। दाक्षिंपिशङ्गः। दाक्षिंशाला। दाक्षिंरक्षा। दाक्षिंशिल्पी। दाक्ष्यंश्वत्थः। कुन्दंतृणम्। दाक्षिंशाल्मली। आश्रंममुनिः। शाल्मंलिमुनिः। दाक्षिंप्रेक्षा। दाक्षिंकूटः। यान्यत्र निवासनामधेयानि तेषु निवसद्वाचीन्यपि पूर्वपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति। अनिवसन्त इति नानुवर्त्तयन्ति केचित्। अपरे पुनरनुवर्त्तयन्ति।

अर्थ—पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, घोष आदि शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) दाक्षिंघोषः
पूर्वपद आद्युदात्त।
(2) दाक्षिंकटः (पूर्ववत्)।
(3) दाक्षिंपल्वलः (पूर्ववत्)।
(4) दाक्षिंह्रदः (पूर्ववत्)।
(5) दाक्षिंबदरी (पूर्ववत्)।
(6) दाक्षिंपिङ्गलः (पूर्ववत्)।
(7) दाक्षिंशालः (पूर्ववत्)।
(8) दाक्षिंरथः (पूर्ववत्)।
(9) दाक्षिंशिल्पी (पूर्ववत्)।
(10) दाक्ष्यंश्वत्थः (पूर्ववत्)।
(11) कुन्दंतृणम् (पूर्ववत्)।
(12) दाक्षिशाल्मली (पूर्ववत्)।
(13) आश्रंममुनिः (पूर्ववत्)।
(14) शाल्मंलिमुनिः (पूर्ववत्)।

(15) दाक्षिंप्रेक्षा (पूर्ववत्)।
(16) दाक्षिंकूटः (पूर्ववत्)।

यान्यत्र०—जो यहाँ निवासवाची हैं, उनमें निवसद्वाची पूर्वपद शब्द भी आद्युदात्त होते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार 'अनिवसन्तः' का अनुवर्त्तन नहीं है। अन्य विद्वान् इसका अनुवर्त्तन स्वीकार करते हैं।

(2749) छात्र्यादयः शालायाम् *86* (3820)

शालायामुत्तरपदे छात्र्यादय आद्युदात्ता भवन्ति। छात्रिंशाला। पेलिंशाला। भाण्डिंशाला। छात्रि। पेलि। भाण्डि। व्याडि। आपिशलि। आखण्डि। आपारि। गोमि—छात्र्यादिः। यदा शालान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, तदापि 'तत्पुरुषे शालायां नपुंसके' (6.2.123) इत्येतस्मात्पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। छात्रिंशालम्। पेलिंशालम्।

अर्थ—छात्रि आदि शब्द आद्युदात्त होते हैं, शाला शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) छात्रिंशाला
पूर्वपद आद्युदात्त।
(2) ऐलिंशाला (पूर्ववत्)।
(3) भाण्डिंशाला (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

यदा—जब शाला अन्त वाला तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग होता है, तब 'तत्पुरुषे शालायां नपुंसकः' इससे पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा पूर्वपद आद्युदात्त होता है।

(4) छात्रिंशालम्
आद्युदात्त।
(5) एलिंशालम् (पूर्ववत्)।

(2750) प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम् *87* (3821)

प्रस्थशब्द उत्तरपदे कर्क्यादिवर्जितमवृद्धं पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति। इन्द्रंप्रस्थः। कुण्डंप्रस्थः। ह्रदंप्रस्थः। सुवर्णप्रस्थः। अवृद्धमिति किम्? दाक्षिप्रस्थः। माहकिप्रस्थः। अकर्क्यादीनामिति किम्? कर्कीप्रस्थः। मघीप्रस्थः। कर्की। मघी। मकरी। कर्कन्धू। शमी। करीर। कटुक। कुरल। बदर—कर्क्यादिः।

अर्थ—कर्क्यादि शब्द तथा वृद्धसंज्ञक शब्द नहीं हैं पूर्वपद में जिसके, ऐसे शब्द को आद्युदात्त होता है, प्रस्थ शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) इन्द्रंप्रस्थः
पूर्वपद आद्युदात्त।
(2) कुण्डंप्रस्थः (पूर्ववत्)।
(3) ह्रदंप्रस्थः (पूर्ववत्।
(4) सुवर्णप्रस्थः (पूर्ववत्)।

अवृद्धमि—वृद्धसंज्ञक को छोड़कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(5) दाक्षिप्रस्थः
'दाक्षि' वृद्धसंज्ञक है। अतः आद्युदात्त नहीं हुआ।
(6) माहकिप्रस्थः (पूर्ववत्)।

अकर्क्या—कर्क्यादि गण में पठित शब्दों को छोड़कर आद्युदात्त होता है—

(7) कर्कीप्रस्थः
समासस्वर।
(8) मघीप्रस्थः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2751) मालादीनां च *88* (3822)

'प्रस्थे' इति वर्त्तते। प्रस्थ उत्तरपदे मालादीनामादिरुदात्तो भवति। मालांप्रस्थः। शालांप्रस्थः। माला। शाला। शोणा। द्राक्षा। क्षौमा। क्षामा। काञ्ची। एक। काम—मालादिः। वृद्धार्थ आरम्भः। एकशोणाशब्दयोः 'एङ् प्राचां देशे' (1.1.75) इति वृद्धसंज्ञा।

अर्थ—'प्रस्थे' का अनुवर्त्तन है। पूर्वपद में जो मालादि शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है, प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) मालांप्रस्थः
पूर्वपद आद्युदात्त।
(2) शालांप्रस्थः (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

यह वृद्धसंज्ञक के लिए विधान है। 'एक' तथा 'शोणा' शब्दों की 'एङ् प्राचां देशे' से वृद्धसंज्ञा होती है।

(2752) अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम् *89* (3823)

नगरशब्द उत्तरपदे महन्नवशब्दवर्जितं पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेदुदीचां न भवति। सुंह्मनगरम्। पुण्ड्रंनगरम्। अमहन्नवमिति किम्? महानगरम्। नवनगरम्। अनुदीचामिति किम्? नदीनगरम्। कान्तीनगरम्।

अर्थ—महत् तथा नव शब्दों को छोड़कर जो पूर्वपद, उसे आद्युदात्त होता है, नगर शब्द उत्तरपद रहते, यदि वह नगर उदीच्य प्रदेश का न हो।

उदा० (1) सुंह्मनगरम्
आद्युदात्त हुआ।

(2) पुण्ड्रंनगरम् (पूर्ववत्)।

अमहन्न०—महत् तथा नव शब्दों को छोड़कर आद्युदात्त होता है—

(3) महानगरम्
समासस्वर।

(4) नवनगरम् (पूर्ववत्)।

अनुदी०—यदि वह नगर उदीच्य प्रदेश का न हो; तो आद्युदात्त होता है—

(5) नदीनगरम्
समासस्वर।

(6) कान्तीनगरम् (पूर्ववत्)।

(2753) अर्मे चावर्णं द्व्यच् त्र्यच् *90* (3824)

अर्मशब्द उत्तरपदे द्व्यच्त्र्यच् पूर्वपदमवर्णान्तमाद्युदात्तं भवति। दत्तांर्मम्। गुप्तांर्मम्। कुक्कुंटार्मम्। वायंसार्मम्। अवर्णमिति किम्? बृहदुर्मम्। द्व्यच्त्र्यजिति किम्? कपिञ्जलार्मम्। अमहन्नवमित्येव—महार्मम्। नवार्मम्।

अर्थ—पूर्वपद में जो दो अच् वाला, तीन अच् वाला अकारान्त शब्द, उसे आद्युदात्त होता है, अर्म शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) दत्तांर्मम्
पूर्वपदं आद्युदात्त।
(2) गुप्तांर्मम् (पूर्ववत्)।

(3) कुक्कुंटार्मम् (पूर्ववत्)।
(4) वायंसार्मम् (पूर्ववत्)।

अवर्णम०—अवर्णान्त पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(5) बृहदुर्मम्,
समासस्वर।

द्व्यच्०—दो अच् वाला, तीन अच् वाला आद्युदात्त होता है—

(6) कपिञ्जलार्मम्
समासस्वर होता है।

अमहन्न०—महत् एवं नव शब्दों को छोड़कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(7) महार्मम्
समासस्वर।

(8) नवार्मम्
समासस्वर।

(2754) न भूताधिकसञ्जीवमद्राश्मकज्जलम् *91* (3825)

भूत, अधिक, सञ्जीव, मद्र, अश्मन्, कज्जल–इत्येतानि पूर्वपदानि अर्मशब्द उत्तरपदे नाद्युदात्तानि भवन्ति। भूतार्मम्। अधिकार्मम्। सञ्जीवार्मम्। मद्राश्मग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम्–मद्रार्मम्। अश्मार्मम्। मद्राश्मार्मम्। कज्जलार्मम्। समासान्तोदात्तत्वमेवात्र भवति। *आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्* (म० भा०)। दिवोंदासाय गायत। वध्र्यश्वायं दाशुषे। (दिवोंदासं वध्र्यश्वायं दाशुषे–ऋ० 6.61.1)।

अर्थ—पूर्वपद में जो भूत, अधिक, सञ्जीव, मद्र, अश्मन् तथा कज्जल शब्द, इन्हें आद्युदात्त नहीं होता है, अर्म शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) भूतार्मम्
पूर्वपद आद्युदात्त नहीं हुआ।

(2) अधिकार्मम्
पूर्ववत्। त्र्यच् होने से आद्युदात्त प्राप्त था।

(3) सञ्जीवार्मम् (पूर्ववत्)।

(4) मद्रार्मम् (पूर्ववत्)।

(5) अ॒श्मा॒र्मम् (पूर्ववत्)।

'मद्राश्म' का ग्रहण सङ्घात व विगृहीत दोनों दशाओं में होता है—

(6) म॒द्रा॒श्मा॒र्मम्
समासस्वर।

(7) कु॒ज्जला॒र्मम्
समासस्वर।

आद्युदात्त०—वेद में दिवोदास आदि शब्दों को आद्युदात्त होता है—

(8) दिवोदासाय
आद्युदात्त।

(9) वध्र्यश्वाय (पूर्ववत्)।

(2755) अन्तः *92* (3826)

'अन्तः' इत्यधिकृतम्, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यान्त उदात्तो भवतीत्येवं वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'सर्वं गुणकात्स्न्र्ये (6.2.93)। सर्वश्वेतः। स॒र्वकृ॒ष्णः। प्राक् 'उत्तरपदादिः' (6.2.111) इत्येतस्मादयमधिकारो वेदितव्यः।

अर्थ—यह अधिकार है। इससे आगे जो भी कहा जायेगा, वहाँ पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—यह जानना चाहिए। आगे कहा जायेगा—सर्वं गुणकात्स्न्र्ये इत्यादि।

उदाहरणों की सिद्धि अगले सूत्र पर देखें। 'उत्तरपदादिः' (6.2.111) से पूर्व-पूर्व यह अधिकार है।

(2756) सर्वं गुणकात्स्न्र्ये *93* (3827)

सर्वशब्दः पूर्वपदं गुणकात्स्न्र्ये वर्त्तमानमन्तोदात्तं भवति। स॒र्वश्वेतः। स॒र्वकृ॒ष्णः। स॒र्वमहान्। सर्वमिति किम्? प॒र॒म॒श्वे॒तः। आश्रयव्याप्त्या परमत्वं श्वेतत्वस्येति गुणकात्स्न्र्ये वर्त्तते। गुणग्रहणं किम्? स॒र्व॒सौ॒व॒र्णः। स॒र्व॒रा॒ज॒तः। कात्स्न्र्ये इति किम्? सर्वेषां श्वेततरः स॒र्व॒श्वे॒तः। 'गुणात्तरेण समासस्तरलोपश्च वक्तव्यः' (का०वा०) इत्येवमत्र समासः, तरब्लोपश्च।

अर्थ—'गुणों की सम्पूर्णता' इस अर्थ में वर्त्तमान पूर्वपद में जो सर्व शब्द, उसे अन्तोदात्त स्वर होता है।

उदा० (1) स॒र्वश्वेतः
पूर्वपद अन्तोदात्त। 'पूर्वकालैकसर्व०' से समास।

(2) स॒र्वकृ॒ष्णः (पूर्ववत्)।
(3) स॒र्वमहान् (पूर्ववत्)।

सर्वमि०—सर्व शब्द को अन्तोदात्त होता है—

(4) प॒र॒म॒श्वे॒तः
समासस्वर हुआ।

गुणग्रहणं०—गुणों की सम्पूर्णता इस अर्थ में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(5) स॒र्व॒सौ॒व॒र्णः
समासस्वर हुआ।

(6) स॒र्व॒रा॒ज॒तः (पूर्ववत्)।

कात्स्न्र्ये०—गुणों की सम्पूर्णता अर्थ में ही पूर्वोक्त स्वर होता है—

(7) स॒र्व॒श्वे॒तः
सर्वेषां श्वेततरः—यहाँ नहीं हुआ।

'गुणात्तरेण समासस्तरलोपश्च वक्तव्यः' से यहाँ समास होता है तथा तरप् प्रत्यय का लोप होता है।

(2757) संज्ञायां गिरिनिकाययोः *94* (3828)

संज्ञायां विषये गिरि, निकाय-इत्येतयोरुत्तरपदयोः पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। अ॒ञ्ज॒नागिरिः। निकाये-शा॒पि॒ण्डिनिकायः। मौ॒ण्डिनिकायः। चि॒खि॒ल्लिनिकायः। संज्ञायामिति किम्? प॒र॒म॒गि॒रिः। ब्रा॒ह्म॒ण॒नि॒का॒यः।

अर्थ—संज्ञा के विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है, गिरि शब्द तथा निकाय शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) अ॒ञ्ज॒नागिरिः
पूर्वपद अन्तोदात्त हुआ।

(2) शा॒पि॒ण्डिनिकायः (पूर्ववत्)।
(3) मौ॒ण्डिनिकायः (पूर्ववत्)।
(4) चि॒खि॒ल्लिनिकायः (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा गम्यमान हो तो अन्तोदात्त होता है—

(5) प॒र॒म॒गि॒रिः
समासस्वर हुआ।

(6) ब्रा॒ह्म॒ण॒नि॒का॒यः (पूर्ववत्)।

(2758) कुमार्यां वयसि *95* (3829)

कुमार्यामुत्तरपदे वयसि गम्यमाने पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। वृद्धकुमारी। जरत्कुमारी। कुमारीशब्दः पुंसा सहासम्प्रयोगमात्रं प्रवृत्तिनिमित्तमुपादाय प्रयुक्तो वृद्धादिभिर्वयोविशेषवचनैः समानाधिकरणो भवति। तच्च वय इह गृह्यते, न कुमारत्वमेव। वयसीति किम्? परमकुमारी।

अर्थ—'अवस्था' गम्यमान हो तो पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है, कुमारी शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) वृद्धकुमारी
पूर्वपद को अन्तोदात्त हुआ।

(2) जरत्कुमारी (पूर्ववत्)।

कुमारी०—कुमारी शब्द पुमान् शब्दों के साथ अप्रयुक्त वृद्ध आदि वयोविशेषवाची शब्दों के द्वारा समानाधिकरण होता है। यहाँ 'अवस्था' गृहीत होती है; 'कुमारता' नहीं।

वयसीति०—अवस्था गम्यमान हो तो पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(3) परमकुमारी
यहाँ अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(2759) उदकेऽकेवले *96* (3830)

अकेवलम् = मिश्रम्, तद्वाचिनि समासे उदकशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। गुडमिश्रमुदकम् गुडोदकम्। तिलोदकम्। स्वरे कृते एकादेशः 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (8.2.6) इति पक्षे स्वरितो भवति। गुडोदकम्। तिलोदकम्। अकेवल इति किम्? शीतोदकम्। उष्णोदकम्।

अर्थ—मिश्रवाची समास में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है, 'उदक' शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गुडोदकम्
गुडमिश्रम् उदकम्।

(2) गुडोदकम्
गुण एकादेश होने पर पक्ष में 'स्वरितो वानुदात्ते०' से स्वरित हुआ।

(3) तिलोदकम् (पूर्ववत्)।

अकेवल०—मिश्रवाची समास में ही अन्तोदात्त होता है—

(4) शीतोदकम्
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(5) उष्णोदकम् (पूर्ववत्)।

(2760) द्विगौ क्रतौ *97* (3831)

द्विगावुत्तरपदे क्रतुवाचिनि समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। गर्गत्रिरात्रः। चरकत्रिरात्रः। कुसुरुविन्दसप्तरात्रः। गर्गाणां त्रिरात्रः गर्गत्रिरात्रः। द्विगाविति किम्? अतिरात्रः। अचश्चित्त्वादन्तोदात्तः। क्रताविति किम्? बिल्वसप्तरात्रः। बिल्वशतस्य बिल्वहोमस्य वा सप्तरात्रो बिल्वसप्तरात्रः।

अर्थ—क्रतुवाची समास में पूर्वपद अन्तोदात्त होता है, द्विगु के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गर्गत्रिरात्रः
गर्गाणां त्रिरात्रः।

(2) चरकत्रिरात्रः
चरकाणां त्रिरात्रः।

द्विगावि०—द्विगु उत्तरपद रहते अन्तोदात्त होता है—

(3) अतिरात्रः
अच् चित् होने से अन्तोदात्त होता है।

क्रतावि०—क्रतुवाची समास में ही अन्तोदात्त होता है—

(4) बिल्वसप्तरात्रः
बिल्वहोमस्य सप्तरात्रः—समास हुआ।

(2761) सभायां नपुंसके *98* (3832)

सभाशब्द उत्तरपदे नपुंसकलिङ्गे समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। गोपालसभम्। पशुपालसभम्। स्त्रीसभम्। दासीसभम्। सभायामिति किम्? ब्राह्मणसेनम्? नपुंसकमिति किम्? राजसभा। ब्राह्मणसभा। सभायां प्रतिपदोक्तमिह नपुंसकलिङ्गं गृह्यत इति रमणीयसभं ब्राह्मणकुलमित्यत्र न भवति।

अर्थ—नपुँसक समास में अन्तोदात्त होता है, सभा शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गोपालसभम्
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(2) पशुपालसभम् (पूर्ववत्)।

(3) स्त्रीसभम् (पूर्ववत्)।

(4) दासीसभम् (पूर्ववत्)।

सभाया०—सभा शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(5) ब्राह्मणसेनम्
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

नपुँसक०—नपुँसकलिङ्ग समास में ही पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(6) राजसभा
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(7) ब्राह्मणसभा (पूर्ववत्)।

सभा शब्द के उत्तरपद रहते यहाँ प्रतिपदोक्त नपुँसक लिङ्ग का ग्रहण होता है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(8) रमणीयसभम्।
(9) ब्राह्मणकुलम्।

(2762) पुरे प्राचाम् *99* (3833)

पुरशब्द उत्तरपदे प्राचां देशे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। ललाटपुंरम्। काञ्चीपुंरम्। शिवदत्तपुंरम्। कार्णिपुंरम्। नार्मपुंरम्। प्राचामिति किम्? शिवपुरम्।

अर्थ— प्राच्य देश के कथन में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है, 'पुर' शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) ललाटपुंरम्
अन्तोदात्त हुआ।

(2) काञ्चीपुंरम् (पूर्ववत्)।
(3) कार्णिपुंरम् (पूर्ववत्)।
(4) नार्मपुंरम् (पूर्ववत्)।

प्राचा०—प्राच्य देश के कथन में अन्तोदात्त होता है—

(5) शिवपुरम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2763) अरिष्टगौडपूर्वे च *100* (3834)

अरिष्ट, गौड–इत्येवम्पूर्वे समासे पुरशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। अरिष्टपुंरम्। गौडपुंरम्। पूर्वग्रहणं किम्? इहापि यथा स्यात्–अरिष्टश्रितपुंरम्। गौडभृत्यपुंरम्।

अर्थ—'अरिष्ट' तथा 'गौड' शब्द जिसके पूर्व में हैं तथा 'पुर' शब्द जिसके उत्तरपद में है, ऐसे समास के पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अरिष्टपुंरम्
पूर्वपद को अन्तोदात्त।

(2) गौडपुंरम् (पूर्ववत्)।

पूर्व०—सूत्र में 'पूर्व' का ग्रहण है, ताकि यहाँ भी हो जाय—

(3) अरिष्टश्रितपुंरम्।
(4) गौडभृत्यपुंरम्।

(2764) न हास्तिनफलकमार्देयाः *101* (3835)

हास्तिन, फलक, मार्देय–इत्येतानि पूर्वपदानि पुरशब्द उत्तरपदे नान्तोदात्तानि भवन्ति। 'पुरे प्राचाम्' (6.2.99) इति प्राप्तिः प्रतिषिध्यते। हास्तिनपुरम्। फलकपुरम्। मार्देयपुरम्। मृदोरपत्यं मार्देयः। शुभ्रादित्वाद् (4.1.123) ढक्।

अर्थ—पुर शब्द उत्तरपद रहते हास्तिन, फलक व मार्देय—इन पूर्वपदों को अन्तोदात्त नहीं होता है। 'पुरे प्राचाम्' इससे अन्तोदात्त की प्राप्ति थी, उसका निषेध किया जाता है।

उदा० (1) हास्तिनपुरम्
पूर्वपद को अन्तोदात्त नहीं हुआ। समासस्वर हुआ।

(2) फलकपुरम् (पूर्ववत्)।
(3) मार्देयपुरम्
मृदोरपत्यम्—मार्देयः। शुभ्रादिगण में होने से 'ढक्' हुआ।

(2765) कुसूलकूपकुम्भशालं बिले *102* (3836)

कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला–इत्येतानि पूर्वपदानि बिलशब्दे उत्तरपदेऽन्तोदात्तानि भवन्ति। कुसूलबिंलम्। कूपबिंलम्। कुम्भबिंलम्। शालाबिंलम्। कुसूलादिग्रहणं किम्? सर्पबिलम्। बिल इति किम्? कुसूलस्वामी।

अर्थ—बिल शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद में जो कुसूल, कूप, कुम्भ और शाला शब्द, इन्हें अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) कुसूलबिंलम्
पूर्वपद को अन्तोदात्त हुआ।

(2) कूपबिंलम् (पूर्ववत्)।
(3) कुम्भबिंलम् (पूर्ववत्)।
(4) शालाबिंलम् (पूर्ववत्)।

कुसूलादि॰—कुसूल आदि शब्दों को अन्तोदात्त होता है—

(5) सुर्पुबिलम्
यहाँ अन्तोदात्त नहीं हुआ।

बिल इति॰—बिल उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(6) सुर्पच्छिद्रम्
पूर्ववत् समासस्वर हुआ।

(2766) दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु *103* (3837)

दिक्शब्दाः पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति ग्रामजनपदाख्यानवाचिषूत्तरपदेषु, चानराटशब्दे च। पूर्वेषुकामशमी। अपरेषुकामशमी। पूर्वकृष्णमृत्तिका। अपरकृष्णमृत्तिका। जनपद–पूर्वपञ्चालाः। अपरपञ्चालाः। आख्यान–पूर्वाधिरामम्। पूर्वयायातम्। अपरयायातम्। अधिराममधिकृत्य कृतो ग्रन्थ आधिरामम्। तथा यायातम्। चानराट–पूर्वचानराटम्। अपरचानराटम्। शब्दग्रहणं कालवाचिनोऽपि दिक्शब्दस्य परिग्रहार्थम्।

अर्थ—दिशावाची पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है, ग्रामवाची, जनपदवाची, आख्यानवाची तथा चानराट शब्द—इनके उत्तरपद रहते।

उदा॰ (क) ग्रामे—
(1) पूर्वेषुकामशमी
(2) अपरेषुकामशमी
(3) पूर्वकृष्णमृत्तिका
(4) अपरकृष्णमृत्तिका

(ख) जनपदे—
(5) पूर्वपञ्चालाः
(6) अपरपञ्चालाः

(ग) आख्याने—
(7) पूर्वाधिरामम्
(8) पूर्वयायातम्
(9) अपरयायातम्

अधिरामम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—अधिरामम्। इसी प्रकार 'यायातम्' के बारे में भी जानना चाहिए।

(घ) चानराटे—
(10) पूर्वचानराटम्
(11) अपरचानराटम्

सूत्रस्थ 'शब्द' का ग्रहण कालवाची दिशा शब्द के भी परिग्रहण के लिए है।

(2767) आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासिनि *104* (3838)

आचार्योपसर्जनान्तेवासिवाचिन्युत्तरपदे दिक्शब्दा अन्तोदात्ता भवन्ति। पूर्वपाणिनीयाः। अपरपाणिनीयाः। पूर्वकाशकृत्स्नाः। अपरकाशकृत्स्नाः। आचार्योपसर्जन इति किम्? पूर्वशिष्याः। अन्तेवासिनीति किम्? पूर्वपाणिनीयं शास्त्रम्।

अर्थ—दिशावाची शब्द जो पूर्वपद, उसे अन्तोदात्त होता है, यदि आचार्य का कथन गौण हो, उस शिष्यवाची शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा॰ (1) पूर्वपाणिनीयाः
पाणिनेश्छात्राः पाणिनीयाः, पूर्वे च ते पाणिनीयाः।
(2) अपरपाणिनीयाः
(3) पूर्वकाशकृत्स्नाः
(4) अपरकाशकृत्स्नाः

आचार्योप॰—यदि आचार्य का कथन गौण हो तो पूर्वपद अन्तोदात्त होता है—

(5) पूर्वशिष्याः
समासस्वर हुआ।

अन्तेवासि॰—शिष्यवाची शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

पूर्वपाणिनीयं शास्त्रम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2768) उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च *105* (3839)

'उत्तरपदस्य' (7.3.10) इत्येवमधिकृत्य या विहिता वृद्धिस्तद्वत्युत्तरपदे सर्वशब्दो दिक्शब्दाश्चान्तोदात्ता भवन्ति। सर्वपाञ्चालकः। पूर्वपाञ्चालकः। उत्तरपाञ्चालकः। सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यः 'जनपदस्य' इति तदन्तविधिना जनपदलक्षणो (4.2.123) वुञ्प्रत्ययः। 'सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य' (7.3.12), 'दिशोऽमद्राणाम्' (7.3.13) इति चोत्तरपदवृद्धिः। अधिकारलक्षणादिह न भवति–सर्वभासः। सर्वकारक इति।

अर्थ—'उत्तरपदस्य' (7.3.10) इसके अधिकार में विहित जो वृद्धि, उस वृद्धिमान् शब्द के उत्तरपद रहते सर्व शब्द और दिशावाची पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) सुर्वपाञ्चालक:
'सर्व' को अन्तोदात्त।

(2) पूर्वपाञ्चालक:
दिशावाची 'पूर्व' को अन्तोदात्त।

(3) उत्तरपाञ्चालक: (पूर्ववत्)।

सुसर्वा०—सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य० से तदन्त विधि के द्वारा जनपदलक्षण वुञ् प्रत्यय हुआ। सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य दिशो० से उत्तरपद वृद्धि हुई। अधिकारलक्षण से निम्नलिखित में नहीं होता है—

(4) सुर्वभाशः।
(5) सुर्वकारकः।

(2769) बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् *106* (3840)

बहुव्रीहौ समासे विश्वशब्दः पूर्वपदं संज्ञायां विषयेऽन्तोदात्तं भवति। विश्वदेवः। विश्वयंशाः। विश्वमंहान्। पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तत्वं प्राप्तम्। बहुव्रीहाविति किम्? विश्वे च देवाः विश्वदेवाः। संज्ञायामिति किम्? विश्वे देवा अस्य विश्वदेवः। विश्वामित्रः, विश्वाजिन इत्यत्र 'संज्ञायां मित्राजिनयोः' (6.2.165) इत्येतद्भवति परत्वात्। 'बहुव्रीहौ' इत्येतदधिक्रियते प्रागव्ययीभावसंज्ञानात् (6.2.121)।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में बहुव्रीहि समास में पूर्वपद में जो 'विश्व' शब्द, उसे अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) विश्वदेवः
अन्तोदात्त।
(2) विश्वयंशाः (पूर्ववत्)।
(3) विश्वमंहान् (पूर्ववत्)।
पूर्वपद प्रकृतिस्वर से आद्युदात्त प्राप्त था।

बहुव्रीहा०—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद अन्तोदात्त होता है—

(4) विश्वदेवाः
विश्वे च ते देवाः—बहुव्रीहि नहीं हुआ, अतः पूर्वपद अन्तोदात्त नहीं हुआ।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा के विषय में पूर्वपद अन्तोदात्त होता है—

(5) विश्वदेवः
विश्वे देवा अस्य—पूर्वपद अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(6) विश्वमित्रः
सञ्ज्ञायां मित्राजिनयो० से पर होने के कारण होता है।

(7) विश्वाजिनः (पूर्ववत्)।

बहुव्रीहा०—पा०सू० 6.2.123 से पूर्व-पूर्व 'बहुव्रीहौ' इसका अधिकार है।

(2770) उदराश्वेषुषु *107* (3841)

उदर, अश्व, इषु—इत्येतेषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। वृकोदरः। दामोदरः। हर्यश्वः। यौवनाश्वः। सुवर्णपुङ्खेषुः। महेषुः।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में बहुव्रीहि समास में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है; उदर, अश्व तथा इषु शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) वृकोदरः
यह भीम का नाम है।

(2) दामोदरः
यह श्रीकृष्ण का नाम है।

(3) हर्यश्वः
यह सञ्ज्ञा है।

(4) यौवनाश्वः
यह भी सञ्ज्ञा है।

(5) सुवर्णपुङ्खेषुः (पूर्ववत्)।

(6) महेषुः
यह सञ्ज्ञा है।

(2771) क्षेपे *108* (3842)

क्षेपे गम्यमाने उदरादिषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। कुण्डोदरः। घटोदरः। कटुकाश्वः। स्पन्दिताश्वः। अनिघातेषुः। चलाचलेषुः। अनुदरः, सूदर इत्यत्र 'नञ्सुभ्याम्' (6.2.172) इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में बहुव्रीहि समास में निन्दा अर्थ में वर्तमान पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है; उदर, अश्व तथा इषु शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) कुण्डोंदरः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(2) घटोदंरः (पूर्ववत्)।
(3) कटुकाश्वंः (पूर्ववत्)।
(4) स्यन्दिताश्वंः (पूर्ववत्)।
(5) अनिघातेषुंः (पूर्ववत्)।
(6) चलाचलेषुंः (पूर्ववत्)।
(7) अनुंदरः
'नञ्सुभ्याम्' से विप्रतिषेध से यहाँ हो जाता है।

(8) सूदंरः (पूर्ववत्)।

(2772) नदी बन्धुनी *109* (3843)

बहुव्रीहौ समासे बन्धुन्युत्तरपदे नद्यन्तं पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति। गार्गीबंन्धुः। वात्सीबंन्धुः। नदीति किम्? ब्रह्मं-बन्धुः। ब्रह्मशब्द आद्युदात्तः। बन्धुनीति किम्? गार्गी-प्रियः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में पूर्वपद में जो नदीसञ्ज्ञक शब्द, उसे अन्तोदात्त होता है, बन्धु शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) गार्गीबंन्धुः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(2) वात्सीबंन्धुः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

नदीति०—नदीसञ्ज्ञक को अन्तोदात्त होता है—

(3) ब्रह्मंबन्धुः
पूर्वपद अन्तोदात्त नहीं हुआ। ब्रह्म शब्द आद्युदात्त है।

बन्धुनी०—बन्धु शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(4) गार्गीप्रियः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(2773) निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम् *110* (3844)

बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तमुपसर्गपूर्वं पूर्वपदमन्यतर-स्यामन्तोदात्तं भवति। प्रधौतमुंखः। प्रक्षालितपांदः। यदि मुखशब्दः स्वाङ्गवाची, तदा पक्षे 'मुखं स्वाङ्गम्' (6.2.167) इत्येतद्भवति, न चेत्पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन 'गतिर-नन्तरः' (6.2.49) इत्येतद्भवति। प्रधौतमुखः, प्रधौंत-मुखः। प्रक्षांलितपादः। निष्ठेति किम्? प्रसेचंकमुखः। उपसर्गपूर्वमिति किम्? शुष्कमुंखः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उपसर्ग है पूर्व में जिसके, ऐसे निष्ठान्त पूर्वपद को अन्तोदात्त विकल्प से होता है।

उदा० (1) प्रधौतमुंखः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(2) प्रधौतमुखः
'मुख' स्वाङ्गवाची है। 'निष्ठोपमा०' के द्वारा अन्तोदात्त हुआ।

(3) प्रधौंतमुखः
'मुख' को अस्वाङ्गवाची मान लिया जाय तो 'गतिरनन्तरः' से प्रकृतिस्वर होता है।

(4) प्रक्षालितपांदः
पूर्वपद अन्तोदात्त।

(5) प्रक्षालितपादः
पक्ष में समासस्वर।

निष्ठेति०—निष्ठान्त पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(6) प्रसेचंकमुखः
यहाँ नहीं हुआ।

उपसर्ग०—उपसर्ग है पूर्व में जिसके ऐसे पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(7) शुष्कमुंखः
यहाँ नहीं हुआ।

(2774) उत्तरपदादिः *111* (3845)

'उत्तरपदादिः' इत्येतदधिकृतम्। यदित ऊर्ध्वमनु-क्रमिष्याम उत्तरपदस्यादिरुदात्तो भवतीत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'कर्णो वर्णलक्षणात्' (6.2.112)। शुक्ल-कर्णः, कृष्णकर्णः। 'उत्तरपदस्य'-इत्येतद् आपादपरि-समाप्तेः। 'आदिः' इति 'प्रकृत्या भगालम्' (6.2.126) इति यावत्।

अर्थ—यह अधिकार है। इससे आगे जो कहा जायेगा, वहाँ उत्तरपद के आदि को उदात्त होता है—ऐसा जानना चाहिए। आगे कहा जायेगा—कर्णो वर्णलक्षणात्।

उदा० (1) शुक्लकर्णः—सिद्धि अगले सूत्र पर देखें।

यह अधिकार पाद की समाप्तिपर्यन्त चलता है। 'आदिः' पद का अधिकार 'प्रकृत्या भगालम्' सूत्रपर्यन्त है।

(2775) कर्णो वर्णलक्षणात् *112* (3846)

बहुव्रीहौ समासे वर्णवाचिनो लक्षणवाचिनश्च कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति। शुक्लकर्णः। कृष्णकर्णः। लक्षणात्-दात्राकर्णः। शङ्कुकर्णः। 'लक्षणस्य' (6.3.115) इति दीर्घत्वम्। पशूनां विभागज्ञापनार्थं दात्रशङ्कु-प्रतिरूपकं कर्णादिषु चिह्नं यत् क्रियते तदिह लक्षणं गृह्यते, तेन स्थूलकर्ण इत्यत्र न भवति। कर्ण इति किम्? श्वेतपादः। कूटशृङ्गः। वर्णलक्षणादिति किम्? शोभनकर्णः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में वर्णवाची व लक्षणवाची जो शब्द, उससे उत्तर कर्ण शब्द आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) शुक्लकर्णः
उत्तरपद आद्युदात्त।

(2) कृष्णकर्णः (पूर्ववत्)।
(3) दात्राकर्णः
लक्षणवाची दात्र शब्द है।

(4) शङ्कुकर्णः
लक्षणवाची शङ्कु शब्द।

कर्णो०—'कर्णे लक्षणस्य' से दीर्घ होता है। पशुओं के विभाग के ज्ञापन के लिए दात्र व शङ्कु प्रतिरूपक कर्ण आदि में जो चिह्न किए जाते हैं, उनका यहाँ ग्रहण है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(5) स्थूलकर्णः।

कर्ण०—कर्ण शब्द को आद्युदात्त होता है—

(6) श्वेतपादः
उत्तरपद आद्युदात्त नहीं हुआ।
(7) कूटशृङ्गः (पूर्ववत्)।

वर्णलक्षण०—वर्णवाची तथा लक्षणवाची से उत्तर को आद्युदात्त होता है—
शोभनकर्णः
उत्तरपद आद्युदात्त नहीं हुआ।

(2776) संज्ञौपम्ययोश्च *113* (3847)

संज्ञायामौपम्ये च यो बहुव्रीहिर्वर्त्तते तत्र कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति। संज्ञायाम्-कुञ्चिकर्णः। मणिकर्णः। औपम्ये-गोकर्णः। खरकर्णः।

अर्थ—सञ्ज्ञा तथा उपमा के विषय में बहुव्रीहि समास में उत्तरपद में जो 'कर्ण' शब्द, उसे आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) कुञ्चिकर्णः
यह सञ्ज्ञा है।

(2) मणिकर्णः
यहा भी सञ्ज्ञा है।

(3) गोकर्णः
गोकर्णौ इव कर्णौ यस्य—उपमा में समास हुआ।

(4) खरकर्णः (पूर्ववत्)।

(2777) कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घं च *114* (3848)

कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा-इत्येतानि उत्तरपदानि बहुव्रीहौ समासे संज्ञौपम्ययोराद्युदात्तानि भवन्ति। कण्ठः संज्ञायाम्-शितिकण्ठः (तै०सं० 4.5.11.1)। नीलकण्ठः। औपम्ये-खरकण्ठः। उष्ट्रकण्ठः। पृष्ठः संज्ञायाम्-काण्डपृष्ठः। नाकपृष्ठः। औपम्ये-गोपृष्ठः। अजपृष्ठः। ग्रीवा संज्ञायाम्-सुग्रीवः। नीलग्रीवः। दशग्रीवः। औपम्ये-गोग्रीवः। अश्वग्रीवः। जङ्घा संज्ञायाम्-नारीजङ्घः। तालजङ्घः। औपम्ये-गोजङ्घः। अश्वजङ्घः। एणीजङ्घः।

अर्थ—सञ्ज्ञा तथा उपमा के विषय में बहुव्रीहि समास में उत्तरपद में जो कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा तथा जङ्घा शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (क) सञ्ज्ञायाम्—
(1) शितिकण्ठः
उत्तरपद आद्युदात्त।
(2) नीलकण्ठः (पूर्ववत्)।
(3) काण्डपृष्ठः (पूर्ववत्)।
(4) नाकपृष्ठः (पूर्ववत्)।
(5) सुग्रीवः (पूर्ववत्)।
(6) नीलग्रीवः (पूर्ववत्)।
(7) दशग्रीवः (पूर्ववत्)।
(8) नाडीजङ्घः (पूर्ववत्)।
(9) तालजङ्घः (पूर्ववत्)।

(ख) औपम्ये—

(10) खरकण्ठः

खरस्य कण्ठ इव कण्ठो यस्य।

(11) उष्ट्रकण्ठः (पूर्ववत्)।

(12) गोपृष्ठः (पूर्ववत्)

(13) अजपृष्ठः (पूर्ववत्)।

(14) गोग्रीवः (पूर्ववत्)।

(15) अश्वग्रीवः (पूर्ववत्)।

(16) गोजङ्घः (पूर्ववत्)।

(17) अश्वजङ्घः (पूर्ववत्)।

(18) एणीजङ्घः (पूर्ववत्)।

(2778) शृङ्गमवस्थायां च *115* (3849)

शृङ्गशब्द उत्तरपदमवस्थायां संज्ञौपम्ययोश्च बहुव्रीहौ आद्युदात्तं भवति। उद्गतशृङ्गः। द्व्यङ्गुलशृङ्गः। त्र्यङ्गुलशृङ्गः। अत्र शृङ्गोद्गमनादिकृतो गवादेर्वयोविशेषः = अवस्था। संज्ञायाम्–ऋष्यशृङ्गः। औपम्ये–गोशृङ्गः। मेषशृङ्गः। अवस्थादिष्विति किम्? स्थूलशृङ्गः।

अर्थ—सञ्ज्ञा तथा उपमा के विषय में बहुव्रीहि समास में अवस्था गम्यमान हो तो उत्तरपद में जो शृङ्ग शब्द, उसे आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) उद्गतशृङ्गः

उद्गते शृङ्गे यस्य सः।

(2) द्व्यङ्गुलशृङ्गः (पूर्ववत्)।

(3) त्र्यङ्गुलशृङ्गः (पूर्ववत्)।

यहाँ सीङ्गों के उद्गमन से सूचित गो आदि की अवस्थाविशेष का ज्ञान होता है।

(4) ऋष्यशृङ्गः

यहाँ सञ्ज्ञा है।

(5) मेषशृङ्गः (पूर्ववत्)।

अवस्था०—अवस्था अर्थ में वर्तमान उत्तरपद को आद्युदात्त होता है—

(6) स्थूलशृङ्गः

यहाँ नहीं हुआ।

(2779) नञो जरमरमित्रमृताः *116* (3850)

नञ उत्तरे जरमरमित्रमृता बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्ता भवन्ति। अजरः। अमरः। अमित्रः। अमृतः। नञ इति किम्? ब्राह्मणमित्रः। जरादय किम्? अशत्रुः। 'नञ्सुभ्याम्' (6.2.172) इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वमेवात्र भवति।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में नञ् से उत्तर जो जर, मर, मित्र तथा मृत शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) अजरः

न विद्यते जरो यस्य।

(2) अमरः (पूर्ववत्)।

(3) अमित्रः (पूर्ववत्)।

(4) अमृतः (पूर्ववत्)।

नञ०—नञ् से उत्तर को ही आद्युदात्त होता है—

(5) ब्राह्मणमित्रः

यहाँ नहीं हुआ।

जरादय०—जर आदि शब्दों को ही आद्युदात्त होता है—

अशत्रुः

उत्तरपद अन्तोदात्त।

'नञ्सुभ्याम्' से उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

(2780) सोर्मनसी अलोमोषसी *117* (3851)

सोरुत्तरमनन्तमसन्तं च बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्तं भवति लोमोषसी वर्जयित्वा। सुकर्मा। सुधर्मा। सुप्रथिमा। असन्तम्–सुपयाः। सुयशाः। सुस्रोताः। सुस्रत्। सुध्वत्। सोरिति किम्? कृतकर्मा। कृतयशाः। मनसी इति किम्? सुराजा। सुतक्षा। अलोमोषसी इति किम्? सुलोमा। सूषा। 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च' (व्या०प० 129) इत्यनर्थकयोरपि मनसोरिह ग्रहणम्। 'नञ्सुभ्याम्' (6.2.172) इत्यस्यायमपवादः। कपि तु परत्वात् 'कपि पूर्वम्' (6.2.173) इत्येतद्भवति। सुकर्मकः। सुस्रोतस्कः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में 'सु' से उत्तर मन्नन्त व असन्त शब्दों को आद्युदात्त होता है, परन्तु लोमन् तथा उषस् शब्दों को नहीं होता है।

उदा० (क) मन्नतम्—

(1) सुकर्म्मा

उत्तरपद को आद्युदात्त।

(2) सुधर्म्मा (पूर्ववत्)
(3) सुप्रथिमा (पूर्ववत्)

(ख) असन्तम्—
(4) सुपयाः (पूर्ववत्)।
(5) सुयशाः (पूर्ववत्
(6) सुस्रोताः (पूर्ववत्)।
(7) सुस्रत् (पूर्ववत्)।
(8) सुध्वत् (पूर्ववत्)।

सोरित्ति॰—सु से उत्तर को ही आद्युदात्त होता है—

(9) कृतकर्म्मा
पूर्वपद में 'सु' नहीं है।

(10) कृतयंशाः (पूर्ववत्)।

मनसी—मन्नन्त व असन्त शब्दों को आद्युदात्त होता है—

(11) सुराजा
उत्तर में 'राजन्' शब्द है।

(12) सुतक्षा (पूर्ववत्)।

अलोमो॰—लोमन् तथा उषस् शब्दों को आद्युदात्त नहीं होता है—

(13) सुलोमा
यहाँ नहीं हुआ।

(14) सूषा (पूर्ववत्)।

अनिन॰—'अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता॰' इस परिभाषा के द्वारा अनर्थक मन् व अस् का भी ग्रहण होता है। यह 'नञ्सुभ्याम्' का अपवाद है। 'कप्' में पर होने से 'कपि पूर्वम्' से यह होता है।

(15) सुकर्म्मकः
'शेषाद् विभाषा' से 'कप्' होता है।

(16) सुस्रोतस्कः (पूर्ववत्)।

(2781) क्रत्वादयश्च *118* (3852)

क्रत्वादयः सोरुत्तरे बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्ता भवन्ति। सुक्रतुः (तै॰सं॰ 1.2.6.1)। सुदृशीकः (तै॰सं॰ 3.4.11.1)। क्रतु। दृशीक। प्रतीक। प्रपूर्त्ति। हव्य। भग-क्रत्वादिः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में 'सु' से उत्तर जो क्रतु आदि शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा॰ (1) सुक्रतुः
आद्युदात्त हुआ।

(2) सुदृतीकः (पूर्ववत्)।

(2782) आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि *119* (3853)

यदाद्युदात्तं द्व्यच् उत्तरपदं बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरं तदाद्युदात्तमेव भवति छन्दसि विषये। स्वश्वांस्त्वा सुरथां मर्जयेम (तै॰सं॰ 1.2.14.4)। नित्स्वरेणाश्वरथशब्दावाद्युदात्तौ। आद्युदात्तमिति किम्? या सुबाहुः स्वङ्गुरिः (ऋक् 2.32.7)। बाहुशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। द्व्यजिति किम्? सुगुरसत्। सुहिरण्यः। 'नञ्सुभ्याम्' (6.1. 172) इत्यस्यायमपवादः।

अर्थ—वेद के विषय में बहुव्रीहि समास में 'सु' से उत्तर दो अच् वाले आद्युदात्त शब्द को आद्युदात्त ही होता है।

उदा॰ (1) स्वश्वांस्त्वा सुरथां मर्जयेम
नित् स्वर से अश्व तथा रथ शब्द आद्युदात्त हैं।

आद्युदात्त॰—आद्युदात्त ही होता है—

(2) या सुबाहुः स्वङ्गुरिः
बाहु शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।

द्व्यच॰—दो अच् वाला जो आद्युदात्त, उसे आद्युदात्त होता है—

(3) सुगुरसत्
यहाँ नहीं हुआ।

(4) सुहिरण्यः
यहाँ नहीं हुआ।

(5) स्वश्वः
यहाँ नहीं हुआ।
'नञ्सुभ्याम्' का यह अपवाद है।

(2783) वीरवीर्यौ च *120* (3854)

वीर, वीर्य-इत्येतौ च शब्दौ सोरुत्तरौ बहुव्रीहौ समासे छन्दसि विषये आद्युदात्तौ भवतः। सुवीरेण ते (सुवीरस्ते। ऋ॰ 4.17.4)। सुवीर्यस्य पतयः स्याम (तै॰सं॰ 1.7.13.4)। वीर्यमिति यत्प्रत्ययान्तम्, तत्र 'यतोऽनावः' (6.1.123) इति आद्युदात्तत्वं न भवतीत्येतदेव वीर्यग्रहणं ज्ञापकम्। तत्र हि सति पूर्वेणैव सिद्धं स्यात्।

अर्थ—वेद के विषय में बहुव्रीहि समास में 'सु' से उत्तर जो वीर तथा वीर्य शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) सुवीरेण
आद्युदात्त हुआ।

(2) सुवीर्यस्त (पूर्ववत्)।

वीर्य०—वीर्य शब्द यत् प्रत्ययान्त है। तब 'यतोऽनावः' से आद्युदात्त नहीं होता है, इसके लिए वीर्य शब्द का पाठ ज्ञापक है। ऐसा हो जाने पर पूर्व सूत्र के द्वारा ही सिद्ध होता है।

(2784) कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे *121* (3855)

कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, सम–इत्येतानि उत्तरपदानि अव्ययीभावसमास आद्युदात्तानि भवन्ति। परिकूलम्। उपकूलम्। परितीरम्। उपतीरम्। परितूलम्। उपतूलम्। परिमूलम्। उपमूलम्। परिशालम्। उपशालम्। उपाक्षम्। पर्यक्षम्। सुषमम्। विषमम्। निषमम्। दुःषमम्। तिष्ठद्गुप्रभृतिषु (2.1.17) एते पठ्यन्ते। कूलादिग्रहणं किम्? उपकुम्भम्। अव्ययीभाव इति किम्? परमकूलम्। उत्तमकूलम्। पर्यादिभ्यः कूलादीनामाद्युदात्तत्वं विप्रतिषेधेन भवति। परिकूलम्। उपकूलम्।

अर्थ—अव्ययीभाव समास में उत्तरपद में जो कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष तथा सम शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) परिकूलम्
आद्युदात्त हुआ।

(2) उपकूलम् (पूर्ववत्)।
(3) परितीरम् (पूर्ववत्)।
(4) उपतीरम् (पूर्ववत्)।
(5) परितूलम् (पूर्ववत्)।
(6) उपतूलम् (पूर्ववत्)।
(7) परिमूलम् (पूर्ववत्)।
(8) उपमूलम् (पूर्ववत्)।
(9) परिशालम् (पूर्ववत्)।
(10) उपशालम् (पूर्ववत्)।
(11) उपाक्षम् (पूर्ववत्)।
(12) पर्यक्षम् (पूर्ववत्)।
(13) सुषमम् (पूर्ववत्)।
(14) विषमम् (पूर्ववत्)।
(15) निषमम् (पूर्ववत्)।
(16) दुःषमम् (पूर्ववत्)।
इन सबका पाठ तिष्ठद्गुप्रभृति में है।

कूलादि०—कूल आदि शब्दों को आद्युदात्त होता है—

(17) उपकुम्भम्
समासस्वर हुआ।

अव्ययी०—अव्ययीभाव समास में ही आद्युदात्त होता है—

(18) परमकूलम्
यहाँ नहीं हुआ।

(19) उत्तमकूलम् (पूर्ववत्)।

परि आदि से उत्तर कूल आदि शब्दों को आद्युदात्त विप्रतिषेध से होता है।

(20) परिकूलम्

(2785) कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ *122* (3856)

कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड–इत्येतान्युत्तरपदानि द्विगौ समास आद्युदात्तानि भवन्ति। द्विकंसः। त्रिकंसः। द्विमन्थः। त्रिमन्थः। द्विशूर्पः। त्रिशूर्पः। द्विपाय्यः। त्रिपाय्यः। द्विकाण्डः। त्रिकाण्डः। द्विगाविति किम्? परमकंसः। उत्तमकंसः।

अर्थ—द्विगुसमास में उत्तरपद में जो कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य तथा काण्ड शब्द, इन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) द्विकंसः
आद्युदात्त।
(2) त्रिकंसः (पूर्ववत्)।
(3) द्विमन्थः (पूर्ववत्)।
(4) त्रिमन्थः (पूर्ववत्)।
(5) द्विशूर्प्पः (पूर्ववत्)।
(6) त्रिशूर्प्पः (पूर्ववत्)।
(7) द्विपाय्यः (पूर्ववत्)।
(8) त्रिपाय्यः (पूर्ववत्)।
(9) द्विकाण्डः (पूर्ववत्)।
(10) त्रिकाण्डः (पूर्ववत्)।

द्विगु समास में ही आद्युदात्त होता है—

(11) परमकंसः
यहाँ नहीं हुआ।

(12) उत्तमकंसः (पूर्ववत्)।

(2786) तत्पुरुषे शालायां नपुंसके *123* (3857)

शालाशब्दान्ते तत्पुरुषे समासे नपुंसकलिङ्गे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति। ब्राह्मणशालम्। क्षत्त्रियशालम्। 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (2.4.25) इति नपुंसकलिङ्गता। तत्पुरुष इति किम्? दृढशालं ब्राह्मणकुलम्। शालायामिति किम्? ब्राह्मणसेनम्। नपुंसक इति किम्? ब्राह्मणशाला।

अर्थ—नपुँसकलिङ्ग में शाला शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास में उत्तरपद को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) ब्राह्मणशालम्
ब्राह्मणानां शाला।

(2) क्षत्त्रियशालम्
विभाषा सेनासुराच्छायाशाला० से नपुँसकलिङ्ग होता है।

तत्पुरुष०—तत्पुरुष समास में ही आद्युदात्त होता है—

(3) दृढशालम्
यहाँ नहीं हुआ।

शालायामि०—शाला शब्द अन्त में है, ऐसे तत्पुरुष में आद्युदात्त होता है—

(4) ब्राह्मणसेनम्
आद्युदात्त नहीं हुआ।

नपुँसक०—नपुँसकलिङ्ग में ही आद्युदात्त होता है—

(5) ब्राह्मणशाला
यहाँ नहीं हुआ।

(2787) कन्था च *124* (3858)

तत्पुरुषे समासे नपुंसकलिङ्गे कन्थाशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति। सौशमिकन्थम्। आह्वरकन्थम्। चप्पकन्थम्। 'संज्ञायां कन्थोशीनरेषु' (2.4.20) इति नपुंसकलिङ्गता। षष्ठीसमासा एते। नपुंसक इत्येव-दाक्षिकन्था।

अर्थ—नपुँसकलिङ्ग में तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो कन्था शब्द, उसे आद्युदात्त कहते हैं।

उदा० (1) सौशमिकन्थम्
आद्युदात्त हुआ।

(2) आह्वरकन्थम् (पूर्ववत्)।

(3) चप्पकन्थम् (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञा०—'सञ्ज्ञायां कन्थोशीनरे०' से नपुँसकलिङ्ग होता है। ये षष्ठीसमास हैं।

नपुँसक०—नपुँसकलिङ्ग में ही आद्युदात्त होता है—

(4) दाक्षिकन्या
यहाँ नहीं हुआ।

(2788) आदिश्चिहणादीनाम् *125* (3859)

कन्थान्ते तत्पुरुषे समासे नपुंसकलिङ्गे चिहणादीनामादिरुदात्तो भवति। चिहंणकन्थम्। मडंरकन्थम्। 'मड्डर' इति केचित् पठन्ति। मड्डंरकन्थम्। चिहण। मडर। मड्डर। वैतुल। पटत्क। चैत्तालिकर्णः। वैतालिकर्णिरित्यन्ये पठन्ति। कुक्कुट। चिक्कण। चित्कण इत्यपरे पठन्ति-चिहणादिः। 'आदिः' इति वर्तमाने पुनरादिग्रहणं पूर्वपदाद्युदात्तार्थम्।

अर्थ—नपुँसकलिङ्ग में 'कन्था' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे तत्पुरुष समास में चिहणादि शब्दों को आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) चिहंणकन्थम्
आद्युदात्त हुआ।

(2) मडंरकन्थम् (पूर्ववत्)।
कुछ विद्वान् 'मडर' के स्थान पर 'मड्डुर' पाठ मानते हैं।

(3) मड्डंरकन्थम् (पूर्ववत्)।
शेष उदाहरण मूल में देखें।

'आदिः' पद की अनुवृत्ति होने पर भी पुनः 'आदिः' पद के ग्रहण से पूर्वपद को आदि उदात्त होता है।

(2789) चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम् *126* (3860)

चेल, खेट, कटुक, काण्ड-इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समासे गर्हायां गम्यमानायामाद्युदात्तानि भवन्ति। पुत्रचेलम्। भार्याचेलम्। उपानत्खेटम्। नगरखेटम्। दधिकटुकम्। उदश्वित्कटुकम्। भूतकाण्डम्। प्रजाकाण्डम्। चेलादीनां सादृश्येन पुत्रादीनां गर्हा, तत्र पुत्रश्चेल-

मिवेति विगृह्य व्याघ्रादेराकृतिगणत्वाद् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' (2.1.56) इति समासः। गर्हायामिति किम्? परमचेलम्।

अर्थ—निन्दा गम्यमान हो तो तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो चेल, खेट, कटुक तथा काण्ड शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) पुत्रचेलम्
चेल उत्तरपद को आद्युदात्त।

(2) भार्याचेलम् (पूर्ववत्)।
(3) उपानत्खेटम् (पूर्ववत्)।
(4) नगरखेटम् (पूर्ववत्)।
(5) दधिकटुकम् (पूर्ववत्)।
(6) उदश्वित्कटुकम् (पूर्ववत्)।
(7) भूतकाण्डम् (पूर्ववत्)।
(8) प्रजाकाण्डम् (पूर्ववत्)।

चेलादि०—चेल आदि सादृश्य के कारण पुत्र आदि की निन्दा लक्षित होती है। यहाँ पुत्रश्चेलम् इव—इस प्रकार विग्रह करके व्याघ्रादि के आकृतिगण होने से 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' से समास होता है।

गर्हाया०—निन्दा अर्थ में ही आद्युदात्त होता है—

(9) परमचेलम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2790) चीरमुपमानम् *127* (3861)

चीरमुत्तरपदमुपमानवाचि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तं भवति। वस्त्रं चीरमिव वस्त्रचीरम्। पटचीरम्। कम्बलचीरम्। उपमानमिति किम्? परमचीरम्।

अर्थ—तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो उपमानवाची 'चीर' शब्द, उसे आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) वस्त्रचीरम्
आद्युदात्त हुआ।
(2) पटचीरम् (पूर्ववत्)।
(3) कम्बलचीरम् (पूर्ववत्)।

उपमान०—उपमानवाची शब्द आद्युदात्त होता है—

(4) परमचीरम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2791) पललसूपशाकं मिश्रे *128* (3862)

पलल, सूप, शाक–इत्येतान्युत्तरपदानि मिश्रवाचिनि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति। गुडपललम्। घृतपललम्। घृतसूपः। मूलकसूपः। घृतशाकम्। मुद्गशाकम्। गुडेन मिश्रं पललं गुडपललम्। 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (1.1.35) इति समासः। मिश्र इति किम्? परमपललम्।

अर्थ—मिश्रवाची तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो पलल, सूप व शाक शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) गुडपललम्
गुडेन मिश्रं पललम्—समास हुआ।
(2) घृतपललम् (पूर्ववत्)।
(3) घृतसूपः (पूर्ववत्)।
(4) मूलकसूपः (पूर्ववत्)।
(5) घृतशाकम् (पूर्ववत्)।
(6) मुद्गशाकम् (पूर्ववत्)।

मिश्र इति०—मिश्रवाची तत्पुरुष में ही आद्युदात्त होता है—

(7) परमपललम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2792) कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम् *129* (3863)

कूल, सूद, स्थल, कर्ष–इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समासे संज्ञायां विषये आद्युदात्तानि भवन्ति। दाक्षिकूलम्। माहकिकूलम्। देवसूदम्। भाजीसूदम्। दाण्डायनस्थली। माहकिस्थली। दाक्षिकर्षः। ग्रामनामधेयान्येतानि। स्थलग्रहणम्–लिङ्गविशिष्टत्वात्स्थलीशब्दोऽपि गृह्यते। 'जानपदकुण्ड' (4.1.42) इत्येनन ङीष्। संज्ञायामिति किम्? परमकूलम्।

अर्थ—संज्ञा के विषय में तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो कूल, सूद, स्थल व कर्ष शब्द—इन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) दाक्षिकूलम्
आद्युदात्त हुआ।

(2) माहकिकूलम् (पूर्ववत्)।
(3) देवसूदम् (पूर्ववत्)।

(4) भाजीसूदंम् (पूर्ववत्)।
(5) दाण्डायनस्थलीं (पूर्ववत्)।
(6) माहकिस्थलीं (पूर्ववत्)।
(7) दाक्षिकर्षः (पूर्ववत्)।

ये सभी ग्रामों के नाम हैं। 'स्थल' का ग्रहण करने में लिङ्ग-विशिष्ट होने से स्थली शब्द भी गृहीत होता है। जानपदकुण्ड० से ङीष् होता है।

सञ्ज्ञा०—सञ्ज्ञा में ही आद्युदात्त होता है—

(8) परमकूलम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2793) अकर्मधारये राज्यम् *130* (3864)

कर्मधारयवर्जिते तत्पुरुषे समासे 'राज्यम्' इत्येतदुत्तर-पदमाद्युदात्तं भवति। ब्राह्मणराज्यंम्। क्षत्रियराज्यंम्। अकर्मधारय इति किम्? परमराज्यम्। 'चेलराज्यादि-स्वरादव्ययस्वरो भवति पूर्वविप्रतिषेधेन' (म०भा०)-कुचें-लम्, कुराज्यम्।

अर्थ—कर्मधारय को छोड़कर अन्यत्र तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो 'राज्य' शब्द, उसे आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) ब्राह्मणराज्यंम्
षष्ठी तत्पुरुष। आद्युदात्त हुआ।
(2) क्षत्रियराज्यंम् (पूर्ववत्)।

अकर्मधार०—कर्मधारय समास में नहीं होता है—

(3) परमराज्यम्
कर्मधारय समास है। यहाँ नहीं हुआ।

चेल राज्य आदि स्वर से पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा अव्ययस्वर होता है।

(4) कुचेंलम्
अव्ययस्वर हुआ।
(5) कुराज्यम् (पूर्ववत्)।

(2794) वर्ग्यादयश्च *131* (3865)

'वर्ग्य'-इत्येवमादीन्युत्तरपदानि अकर्मधारये तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति। वासुदेववर्ग्यः। वासुदेवपक्ष्यः। अर्जुनवर्ग्यः। अर्जुनपक्ष्यः। अकर्मधारय इत्येव-परमवर्ग्यः। वर्ग्यादयः प्रातिपदिकेषु न पठ्यन्ते। दिगादिषु (4.3.45) तु-वर्ग, पूग, गण, पक्ष-इत्येवमादयो ये पठिताः, त एव यत्प्रत्ययान्ता वर्ग्यादय इह प्रतिपत्तव्याः।

अर्थ—कर्मधारय को छोड़कर शेष तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो वर्ग्य आदि शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) वासुदेववर्ग्यः
आद्युदात्त हुआ।
(2) वासुदेवपक्ष्यः (पूर्ववत्)।
(3) अर्जुनवर्ग्यः (पूर्ववत्)।
(4) अर्जुनपक्ष्यः (पूर्ववत्)।

अकर्मधार०—कर्मधारय में नहीं होता है—

(5) परमवर्ग्यः
यहाँ नहीं हुआ।

वर्ग्य आदि का प्रातिपदिकों में पाठ नहीं है। दिगादि शब्दों में जो वर्ग, पूग, गण व पक्ष आदि शब्दों का पाठ है, वे ही यत् प्रत्ययान्त वर्ग्य आदि शब्द यहाँ जानने चाहिये।

(2795) पुत्रः पुम्भ्यः *132* (3866)

पुत्रशब्दः पुंशब्देभ्य उत्तरस्तत्पुरुषे आद्युदात्तो भवति। कौनटिपुत्रः। दामकपुत्रः। माहिषकपुत्रः। पुत्र इति किम्? कौनटिमातुलः। पुम्भ्य इति किम्? गार्गीपुत्रः। वात्सीपुत्रः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में पुँल्लिङ्गवाची शब्द से उत्तर जो 'पुत्र' शब्द, उसे आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) कौनटिपुत्रः
पुत्र आद्युदात्त हुआ।
(2) दामकपुत्रः (पूर्ववत्)।
(3) माहिषकपुत्रः (पूर्ववत्)।

पुत्र इति०—पुत्र शब्द आद्युदात्त होता है—

(4) कौनटिमातुलः
आद्युदात्त नहीं हुआ।

पुम्भ्य०—पुँल्लिङ्गवाची शब्दों से उत्तर पुत्र शब्द आद्युदात्त होता है—

(5) गार्गीपुत्रः
यहाँ नहीं हुआ।

(6) वात्सीपुत्रः
यहाँ नहीं हुआ।

(2796) नाचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः *133* (3867)

आचार्यः = उपाध्यायः। राजा = ईश्वरः। ऋत्विजः = याजकाः। संयुक्ताः = स्त्रीसम्बन्धिनः श्यालादयः। ज्ञातयः = मातृपितृसम्बन्धिनो बान्धवाः। आचार्याद्याख्येभ्यः परः पुत्रशब्दो नाद्युदात्तो भवति। आख्याग्रहणात्स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणं भवति। आचार्यपुत्रः। उपाध्यायपुत्रः। शाकटायनपुत्रः। राजपुत्रः। ईश्वरपुत्रः। नन्दपुत्रः। ऋत्विक्पुत्रः। याजकपुत्रः। होतुःपुत्रः। भ्रातुष्पुत्रः। 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' (6.3.23) इति षष्ठ्या अलुक्। संयुक्तपुत्रः। सम्बन्धिपुत्रः। श्यालपुत्रः। ज्ञातिपुत्रः। पुत्रस्वरे प्रतिषिद्धे समासान्तोदात्तत्वमेव भवति।

अर्थ—आचार्य = उपाध्याय। राजा = ईश्वर। ऋत्विज् = याजक। संयुक्त = स्त्री के सम्बन्धी; यथा—साला आदि। ज्ञाति = माता व पिता के सम्बन्धी बन्धु-बान्धव।

तत्पुरुष समास में आचार्यवाची, राजन् वाची, ऋत्विग्वाची, संयुक्तवाची तथा ज्ञातिवाची शब्दों से उत्तर जो 'पुत्र' शब्द, उसे आद्युदात्त नहीं होता है।

उदा० (1) आचार्यपुत्रः
पुत्र को आद्युदात्त हुआ।

(2) उपाध्यायपुत्रः (पूर्ववत्)।
'आख्या' पद का ग्रहण होने से पर्याय शब्दों का भी ग्रहण होता है।

(3) शाकटायनपुत्रः (पूर्ववत्)।
(4) राजपुत्रः (पूर्ववत्)।
(5) ईश्वरपुत्रः (पूर्ववत्)।
(6) नन्दपुत्रः (पूर्ववत्)।
(7) ऋत्विक्पुत्रः (पूर्ववत्)।
(8) याजकपुत्रः (पूर्ववत्)।
(9) होतुःपुत्रः (पूर्ववत्)।
(10) संयुक्तपुत्रः (पूर्ववत्)।
(11) श्यालपुत्रः (पूर्ववत्)।
(12) ज्ञातिपुत्रः (पूर्ववत्)।
(13) भ्रातुष्पुत्रः
'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' से षष्ठी का अलुक् हुआ। पुत्रस्वर के निषेध होने पर समासलक्षण अन्तोदात्त ही होता है।

(2797) चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठ्याः *134* (3868)

'उत्तरपदादिः' इति वर्त्तते, 'तत्पुरुष' इति च। चूर्णादीन्युत्तरपदानि अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात्पराणि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति। मुद्गचूर्णम्। मसूरचूर्णम्। अप्राणिषष्ठ्या इति किम्? मत्स्यचूर्णम्। षष्ठ्या इति किम्? परमचूर्णम्। चूर्ण। करिप। करिव। शाकिन। शाकट। द्राक्षा। तूस्त। कुन्दम। दलप। चमसी। चक्कन। चौल-चूर्णादिः। 'चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्' इति सूत्रस्य पाठान्तरम्। तत्र 'उपग्रह' इति षष्ठ्यन्तमेव पूर्वाचार्योपचारेण गृह्यते।

अर्थ—उत्तरपदादिः, तत्पुरुषे—इनका अनुवर्तन है। तत्पुरुष समास में प्राणिभिन्न षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर जो चूर्णादि शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) मुद्गचूर्णम्
चूर्ण को आद्युदात्त।

(2) मसूरचूर्णम् (पूर्ववत्)।

अप्राणि०—प्राणिभिन्न षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर शब्द को आद्युदात्त होता है—

(3) मत्स्यचूर्णम्
यहाँ नहीं हुआ।

षष्ठ्या०—षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर शब्द को आद्युदात्त होता है—

(4) परमचूर्णम्
यहाँ नहीं हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

'चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्' इस प्रकार भी सूत्र का स्वरूप प्राप्त होता है। 'उपग्रह' शब्द के द्वारा पूर्वाचार्यों के द्वारा षष्ठ्यन्त ही गृहीत होता है।

(2798) षट् च काण्डादीनि *135* (3869)

षट् पूर्वोक्तानि काण्डादीन्युत्तरपदानि अप्राणिषष्ठ्या

आद्युदात्तानि भवन्ति। 'काण्डं गर्हायाम्' (6.2.126) इत्युक्तम्, अगर्हायामपि भवति–दुर्भकाण्डम्, शरकाण्डम्। 'चीरमुपमानम्' (6.2.127) इत्युक्तम्, अनुपमानमपि भवति–दुर्भचीरम्, कुशचीरम्। 'पललसूपशाकं मिश्रे' (2.1.128) इत्युक्तम्, अमिश्रेऽपि भवति–तिलपललम्, मुद्गसूपः, मूलकशाकम्। 'कूलं संज्ञायाम्' (6.2.129) इत्युक्तम्, असंज्ञायामपि भवति–नदीकूलम्, समुद्रकूलम्। षडिति किम्? राजसूदः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में प्राणिभिन्न षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर जो काण्ड आदि छः शब्द, उन्हें आद्युदात्त होता है।

उदा० (1) दुर्भकाण्डम्
'काण्डं गर्हायाम्' से निन्दा अर्थ में भी होता है।

(2) शरकाण्डम्
'चीरमुपमानम्' यह कहा जा चुका है। अनुपमान को भी होता है।

(3) दुर्भचीरम् (पूर्ववत्)।
(4) कुशचीरम् (पूर्ववत्)।

'पललसूपशाकम्' यह कहा जा चुका है। अमिश्रवाची से भी होता है।

(5) तिलपललम् (पूर्ववत्)।
(6) मुद्गसूपः (पूर्ववत्)।
(7) मूलकशाकम् (पूर्ववत्)।

'कूलं संज्ञायाम्' ऐसा कहा जा चुका है। असंज्ञा के विषय में भी होता है।

(8) नदीकूलम् (पूर्ववत्)।
(9) समुद्रकूलम् (पूर्ववत्)।

षडिति०—छः शब्दों को ही आद्युदात्त होता है—
(10) राजसूदः
यहाँ नहीं हुआ।

(2799) कुण्डं वनम् *136* (3870)

'कुण्ड'-शब्दोऽत्र कुण्डसादृश्येन वने वर्त्तते। 'कुण्डम्' इत्येतदुत्तरपदं वनवाचि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तं भवति। दुर्भकुण्डम्। शरकुण्डम्। वनमिति किम्? मृत्कुण्डम्।

अर्थ—तत्पुरुष समास में उत्तरपद में जो वनवाची कुण्ड शब्द, उसे आद्युदात्त होता है। कुण्ड शब्द यहाँ कुण्डसदृश वन अर्थ में है।

उदा० (1) दुर्भकुण्डम्
कुण्ड आद्युदात्त।

(2) शरकुण्डम् (पूर्ववत्)।

वनमि०—वनवाची कुण्ड शब्द आद्युदात्त होता है—

(3) मृत्कुण्डम्
यहाँ नहीं हुआ।

(2800) प्रकृत्या भगालम् *137* (3871)

भगालवाच्युत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति। कुम्भीभगालम्। कुम्भीकपालम्। कुम्भीनदालम्। भगालादयो मध्योदात्ताः। 'प्रकृत्या' इत्येतदधिकृतम्; 'अन्तः' (6.2.143) इति यावद्वेदितव्यम्।

अर्थ—तत्पुरुष समास में भगालवाची जो उत्तरपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) कुम्भीभगालम्
मध्योदात्त हुआ।

(2) कुम्भीकपालम्
मध्योदात्त।

(3) कुम्भीनदालम् (पूर्ववत्)।

'प्रकृत्या' का अधिकार 'अन्तः' (6.2.143) तक जानना चाहिए।

(2801) शितेर्नित्याबह्वज् बहुव्रीहावभसत् *138* (3872)

शितेरुत्तरपदं नित्यं यदबह्वज् भसच्छब्दवर्जितं बहुव्रीहौ समासे तत्प्रकृतिस्वरं भवति। शितिपादः। शित्यंसः। शित्योष्ठः (तै०सं० 5.6.14.1)। पादशब्दो वृषादित्वादाद्युदात्तः। अंसौष्ठशब्दौ च प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तौ। शितेरिति किम्? दुर्शनीयपादः। नित्यग्रहणं किम्? शितिककुत् (तै०सं० 5.6.14.1)। ककुदस्यावस्थायां लोपो विधीयते। तत्रावस्थायां अन्यत्र शितिककुद इति बह्वजुत्तरपदं भवतीति तेन न नित्याबह्वच्। अबह्वजिति किम्? शितिललाटः। बहुव्रीहाविति किम्? शितेः पादः शितिपादः। अभसदिति किम्? शितिभसत् (तै०सं० 5.7.14.1)। शितिशब्द आद्युदात्तः। पूर्वपदप्रकृतिस्वरापवादो योगः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में शिति शब्द से उत्तर नित्य जो अबह्वच् उत्तरपद, उसे प्रकृतिस्वर होता है, परन्तु 'भसत्' शब्द को नहीं होता है।

उदा० (1) शितिपादः
आद्युदात्त। वृषादिगण में पाठ है।

(2) शित्योष्ठः
आद्युदात्त। प्रत्यय के नित् होने से अंस व ओष्ठ शब्द आद्युदात्त हैं।

शितेरि०—शिति से उत्तर को ही प्रकृतिस्वर होता है—

(3) दुर्शनीयपादः
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

नित्य०—'नित्य' का फल यह है कि निम्नलिखित में न हो—

(4) शितिककुत्

ककुद०—अवस्था गम्य हो तो ककुद शब्द का अन्त्यलोप होता है। अतः अवस्था अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में 'शितिककुद' यह बह्वच् उत्तरपद होता है, तब यह नित्य अबह्वच् न होने से प्रकृतिस्वर नहीं होता है।

अबह्वच०—बह्वच् को प्रकृतिस्वर नहीं होता है—

(5) शितिंललाटः
प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

बहुव्रीहा०—बहुव्रीहि समास में प्रकृतिस्वर होता है—

(6) शितिंपादः
शितेः पादः—प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

अभस०—भसत् को नहीं होता है—

(7) शितिंभसुत्
यहाँ प्रकृतिस्वर नहीं हुआ।

शिति शब्द आद्युदात्त होता है। यह पूर्वपद के प्रकृतिस्वर का अपवाद है।

(2802) गतिकारकोपपदात्कृत् *139* (3873)

'तत्पुरुषे' इति वर्त्तते, न 'बहुव्रीहौ' इति। गतेः कारकादुपपदाच्च कृदन्तमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति। प्रकारंकः। प्रकरंणम्। प्रहारंकः। प्रहरंणम्। कारकात्—इध्मप्रव्रश्चनः। पुलाशशातनः। श्मश्रुकल्पनः। उपपदात्—ईषत्करः। दुष्करः। सुकरः। सर्वत्रैवात्र लित्स्वरः। गतिकारकोपपदादिति किम्? देवदत्तस्य कारको देवदत्तकारकः। देवदत्तस्येति शेषलक्षणा षष्ठी। कृद्ग्रहणं विस्पष्टार्थम्। प्रपचतितराम्, प्रपचतितमाम्—इत्यत्र तरबाद्यन्तेन समासे कृते पश्चादाम्, तत्र सतिशिष्टत्वादाम एव स्वरो भवतीत्येके। प्रपचतिदेश्याद्यर्थं तु कृद्ग्रहणं दृश्यत एव।

अर्थ—तत्पुरुषे—इसका अनुवर्त्तन है। तत्पुरुष समास में गति, कारक तथा उपपद से उत्तर जो कृदन्त शब्द, उसे प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (क) गति०—
(1) प्रकारंकः
'कुगतिप्रादयः' से समास। गतिश्च। 'लिति' से प्रकृतिस्वरं।

(2) प्रकरंणम्
लित् स्वर।

(3) प्रहारंकः
'लिति' स्वर।

(4) प्रहरंणम्
लित् स्वर।

(ख) कारकात्—
(5) इध्मप्रव्रश्चनः
लिति स्वर।

(6) पुलाशशातनः
षष्ठी तत्पुरुष। लिति स्वर।

(ग) उपपदात्—
(7) ईषत्करः
लित् स्वर।

(8) दुष्करः
लित् स्वर।

(9) सुकरः
लित् स्वर।

गतिकार०—गति, कारक व उपपद से उत्तर कृदन्त शब्द को प्रकृतिस्वर होता है—

(10) देवदत्तकारकः
शेषलक्षणा षष्ठी है। 'कृत्' पद का ग्रहण स्पष्टता के लिए है।

(11) प्रपचतितराम्

प्रथम अतिशय की विवक्षा में 'तरप्', 'कुगतिप्रादयः' से समास। समास करने पर 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर। 'किमेत्तिङव्यय०' से 'आमु'। तब 'आद्युदात्तश्च' से आमन्त को प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ। अव्ययस्वर के होने पर वह सतिशिष्ट हुआ। यह बलवान् होता है।

(12) प्रपचतितमाम् (पूर्ववत्)।

यहाँ तरप् व तमप् प्रत्ययान्त के साथ समास करने के पश्चात् 'आम्' किया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ सतिशिष्ट होने से 'आम्' को ही स्वर होता है।

(13) प्रपचति।

(2803) उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् *140* (3874)

'प्रकृत्या' इति वर्त्तते। वनस्पत्यादिषु समासेषु उभे पूर्वोत्तरपदे युगपत् प्रकृतिस्वरे भवतः। वनस्पतिः (तै०सं० 2.6.20.5)। वन-पतिशब्दावाद्युदात्तौ, पारस्करप्रभृतित्वात् सुट्। बृहस्पतिः (तै०सं० 6.4.10.1)। बृहतां पतिः, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (ग०सू० 160) इति सुट् तकारलोपश्च। बृहदित्येतदन्तोदात्तं निपातयन्ति। तस्य केचिदाद्युदात्तत्वं वर्णयन्ति। शचीपतिः। शचीशब्दः 'कृदिकारादक्तिनः' (ग०सू० 50) इति ङीषन्तत्वादन्तोदात्तः। केचित्तु शार्ङ्गरवादिषु पठन्ति, तेषामाद्युदात्तः। तनूनपात् (तै०सं० 4.1.8.1)। तनोतेरौणादिक ऊप्रत्ययः, तेन तनूशब्दोऽन्तोदात्तः। न पाति न पालयति वा नपात्, क्विबन्तः, 'नभ्राण्नपात्' (6.3.75) इत्यादिनाऽऽद्युदात्तो निपातितः। तन्वा नपात्, तनूनपात्। नराशंसः (तै०सं० 4.1.8.1)। नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति नरा एनं शंसन्तीति वा नराशंसः। 'नॄ नये' (धा०पा० 810), अबन्तो नरशब्द आद्युदात्तः। शंसशब्दोऽपि घञन्तः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3. 167) इति दीर्घत्वम्। शुनःशेपः (तै०सं० 5.2.1.3)। शुन इव शेपोऽस्येति बहुव्रीहिः। 'तत्र शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायाम्' (6.3.21 वा०) इति षष्ठ्या अलुक्। उभावाद्युदात्तौ। शण्डापर्कौ (तै०सं० 6.4.10.1)। शण्डपर्कशब्दौ घञन्तत्वादाद्युदात्तौ। तयोर्द्वन्द्वे 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.167) इति दीर्घत्वम्। तृष्णावरूत्री। तृष्णाशब्द आद्युदात्तः, वरूत्रीशब्दो ग्रसितादि (7.2.34) सूत्रे निपातितोऽन्तोदात्तः। तत्र द्वन्द्वे दीर्घत्वं पूर्ववत्। 'बम्बाविश्ववयसौ' (तै०सं० 6.6.8.4) बम्बशब्दोऽन्तोदात्तः। विश्ववयःशब्दोऽपि 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (6.2.106) इति विश्वशब्दोऽन्तोदात्तः। तयोर्द्वन्द्वे दीर्घत्वं पूर्ववत्। मर्मृत्युः। मर् इति मृङो विच्प्रत्ययः। मृत्युशब्दोऽन्तोदात्तः। द्वन्द्वानामदेवताद्वन्द्वार्थः, अनुदात्ताद्युत्तरपदार्थश्च वनस्पत्यादिषु पाठः।

अर्थ—'प्रकृत्या' का अनुवर्त्तन है। वनस्पति आदि शब्दों में पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों को युगपत् प्रकृतिस्वर होता है।

उदा० (1) वनस्पतिः

वन तथा पति शब्द आद्युदात्त हैं। पारस्करप्रभृति से 'सुट्' हुआ है।

(2) बृहस्पतिः

'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' से तकारलोप तथा सुट् आगम हुआ। बृहत् शब्द अन्तोदात्त निपातन से होता है; परन्तु कुछ विद्वान् इसे आद्युदात्त स्वीकार करते हैं।

(3) शचीपतिः

शची शब्द 'कृदिकारादक्तिनः' से ङीष् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त होता है। कुछ विद्वान् इसका पाठ शार्ङ्गरवादि में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह आद्युदात्त है।

(4) तनूनपात्

तन् धातु से औणादिक 'ऊ' होकर 'तनू' निष्पन्न होता है। यह अन्तोदात्त है। न पाति (पालयति वा)—नपात्। यह क्विबन्त है। यह आद्युदात्त होता है। तन्वा नपात्—तनूनपात्।

(5) नराशंसः

नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति, नरा एवं शंसन्ति।

'नॄ नये' से 'अप्' होकर 'नर' शब्द बनता है, जो आद्युदात्त है। शंस् घञ् = शंस। 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ हुआ है।

(6) शुनःशेपः

शुन इन शेपोऽस्य—बहुव्रीहि समास। 'शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः सञ्ज्ञायाम्' से षष्ठी का अलुक् हुआ। दोनों आद्युदात्त हैं।

(7) शण्डामर्कौ

शण्ड और मर्क शब्द आद्युदात्त हैं। इनका द्वन्द्व करने पर 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ हुआ है।

(8) तृष्णावरूत्री

तृष्णा शब्द आद्युदात्त है। वरूत्री शब्द अन्तोदात्त है। द्वन्द्व समास में पूर्ववत् दीर्घ हुआ है।

(9) बुभ्राविश्वयसौ
बभ्र शब्द अन्तोदात्त है। विश्व शब्द अन्तोदात्त है। उनका द्वन्द्व करने पर पूर्ववत् दीर्घ हुआ है।

(10) मर्मृत्यु:
मृञ् धातु से 'विच्' करके 'मर' बनता है। मृत्यु शब्द अन्तोदात्त है।

(2804) देवताद्वन्द्वे च *141* (3875)

देवतावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र युगपदुभे पूर्वोत्तरपदे प्रकृतिस्वरे भवतः। इन्द्रासोमौ। इन्द्रावरुणौ। इन्द्राबृहस्पती। 'ऋज्रेन्द्राग्र' (उ०सू० 187) इति इन्द्रशब्द आद्युदात्तो निपातितः। सोम इति मन्प्रत्ययान्तः। वरुण उनन्प्रत्ययान्तः, तेनाद्युदात्तः। बृहस्पतिशब्दे वनस्पत्यादित्वाद् द्वावुदात्तौ, तेन इन्द्राबृहस्पती–इत्यत्र त्रय उदात्ता भवन्ति। देवताग्रहणं किम्? प्लक्षन्यग्रोधौ। द्वन्द्वग्रहणं किम्? अग्निष्टोमः।

अर्थ—देवतावाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास, उसमें पूर्वपद व उत्तरपद दोनों को युगपत् प्रकृतिस्वर होते हैं।

उदा० (1) इन्द्रासोमौ
दोनों आद्युदात्त।

(2) इन्द्रावरुणौ
दोनों आद्युदात्त।

(3) इन्द्राबृहस्पती
तीन उदात्त होते हैं।

इन्द्र शब्द आद्युदात्त है। सोम मन् प्रत्ययान्त है। वरुण शब्द उनन् प्रत्ययान्त है। अतः आद्युदात्त है। बृहस्पति शब्द में वनस्पत्यादि होने से दो उदात्त हैं।

देवता०—देवतावाची के द्वन्द्व में ही उभयपद स्वर होता है—

(4) प्लक्षन्यग्रोधौ
यहाँ नहीं हुआ।

द्वन्द्व—द्वन्द्व समास में ही उभयपद स्वर होता है—

(5) अग्निष्टोमः
यहाँ नहीं हुआ।

(2805) नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु *142* (3876)

उत्तरपदेऽनुदात्तादौ पृथिवीरुद्रपूषमन्थिवर्जिते देवताद्वन्द्वे नोभे युगपत्प्रकृतिस्वरे भवतः। इन्द्राग्नी (तै०सं० 2.2.2.1)। इन्द्रवायू (तै०सं० 6.6.8.3)। अग्निवायुशब्दावन्तोदात्तौ। उत्तरपदग्रहणम् 'अनुदात्तादौ' इत्युत्तरपदविशेषणं यथा स्याद्, द्वन्द्वविशेषणं मा भूदिति। 'अनुदात्तादौ' इति विधिप्रतिषेधयोर्विषयविभागार्थम्। अपृथिव्यादिष्विति किम्? द्यावापृथिव्यौ (तै०सं० 2.6.9.5)। द्यावाशब्द आद्युदात्तो निपातितः। पृथिवीशब्दो ङीष्प्रत्ययान्तत्वादन्तोदात्तः। रुद्र–सोमारुद्रौ (तै०सं० 1.8.22.5)। 'रोदेर्णिलुक्च' (उ०सू० 179) इति रुद्रशब्दो रक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः। पूषन्–इन्द्रापूषणौ। 'श्वन्नुक्षन्पूषन्' (उ०सू० 155) इति पूषान्तोदात्तो निपात्यते। मन्थिन्–शुक्रामन्थिनौ (तै०सं० 6.4.10.21)। मन्थोऽस्यास्तीति मन्थी, इन्नन्तत्वादन्तोदात्तः। पृथिव्यादिषु तु उभे युगपत् प्रकृतिस्वरे भवत एव।

अर्थ—अनुदात्तादि शब्द के उत्तरपद रहते पृथिवी, रुद्र, पूषा और मन्थी से अतिरिक्त देवतावाची द्वन्द्व समास में पूर्वपद व उत्तरपद को युगपत् प्रकृतिस्वर नहीं होता है।

उदा० (1) इन्द्राग्नी
अग्नि अन्तोदात्त।

(2) इन्द्रवायू
वायु अन्तोदात्त।

उत्तर०—उत्तरपद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'अनुदात्तादौ' इसमें उत्तरपद का विशेषण बन जाता है तथा द्वन्द्व का विशेषण नहीं होता है। 'अनुदात्तादौ' यह विधि तथा निषेध के विषयों के विभाग के लिए है।

अपृथिव्या०—पृथिवी आदि से अतिरिक्त देवतावाची द्वन्द्व समास में उभयपद प्रकृतिस्वर नहीं होता है—

(3) द्यावापृथिवी
द्यावा शब्द आद्युदात्त। पृथिवी शब्द ङीप् प्रत्ययान्त है। अतः अन्तोदात्त है।

(4) सोमारुद्रौ
रुद्र शब्द रुक् प्रत्ययान्त है। अन्तोदात्त है।

(5) इन्द्रापूषणौ
पूषन् शब्द अन्तोदात्त है। 'औ' विभक्ति अनुदात्त है।

(6) शुक्रामन्थिनौ
मन्थोऽस्याऽस्ति—मन्थी। अन्तोदात्त है।

पृथिवी आदि सूत्रोक्त शब्दों का समास होने पर उभयपदों को प्रकृतिस्वर होता ही है।

(2806) अन्तः *143* (3877)

'अन्तः' इत्यधिकारः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र समासस्योत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवतीत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (6.2.144) इति। सुनीथः। अवभृथः'।

अर्थ—यह अधिकार है। यहाँ से आगे जो कहा जायेगा, वहाँ समास के उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है—यह जानना चाहिए। आगे कहा जायेगा—थाथघञ्क्ताजबित्र० इत्यादि। उदाहरणों की सिद्धि अगले सूत्र पर देखिये।

(2807) थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् *144* (3878)

थ, अथ, घञ्, क्त, अप्, इत्र, क-इत्येवमन्तानामुत्तरपदानां गतिकारकोपपदात्परेषामन्त उदात्तो भवति। सुनीथः। अवभृथः (तै० सं० 1.7.5.3)। 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' (उ०सू० 157) इति 'अवे भृञः' (उ०सू० 158) इति च क्थन्प्रत्ययान्तावेतौ। तत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तमुत्तरपदं स्यात्। अथ-आवसथः (तै०ब्रा० 1.1.1.6)। उपवसथः। 'उपसर्गे वसेः' (उ०सू० 393) इत्यथन्प्रत्ययः। घञ-प्रभेदः। काष्ठभेदः। रज्जुभेदः। क्त-दूरादागतः। विशुष्कः। आतपशुष्कः। अच-प्रक्षयः। प्रजयः। 'क्षयो निवासे' (6.1. 201), 'जयः करणम्' (2.1.202) इति आद्युदात्तौ क्षयजयशब्दौ प्रयोजयतः। अप-प्रलवः। प्रसवः (तै०सं० 1.1.4.2)। इत्र-प्रलवित्रम्। प्रसवित्रम्। क-गोवृषः, खरीवृषः। गां वर्षति, खरीं वर्षतीति मूलविभुजादित्वात् (का०वा०) कप्रत्ययः। प्रवृषः। प्रहृषः। 'इगुपध' (3. 1.135) इति कप्रत्ययः। 'वृषादीनां च' (6.1.203) इति वृषशब्द आद्युदात्तः। गतिकारकोपपदादित्येव-सुस्तुतं भवता। कर्मप्रवचनीयेऽव्ययस्वर एव भवति।

अर्थ—गति, कारक व उपपद से उत्तर थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र तथा क—इन प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द को अन्तोदात्त होता है।

(क) थप्रत्ययान्त०—

उदा० (1) सुनीथः

उणा० 2.2 से क्थन् प्रत्यय हुआ। यहाँ कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर होने से उत्तरपद को आद्युदात्त प्राप्त था।

(2) अवभृथः

पूर्ववत् अन्तोदात्त।

(ख) अथप्रत्ययान्त०—

(3) आवसथः

आ वस् अथन्। अन्तोदात्त।

(4) उपवसथः (पूर्ववत्)।

(ग) घञन्त०—

(5) प्रभेदः

अन्तोदात्त।

(6) काष्ठभेदः

अन्तोदात्त।

(7) रज्जुभेदः (पूर्ववत्)

(घ) क्तान्तस्य—

(8) दूरादागतः (पूर्ववत्)।

(9) विशुष्कः (पूर्ववत्)।

(10) आतपशुष्कः (पूर्ववत्)।

(ङ) अजन्तस्य—

(11) प्रक्षयः

पूर्ववत्। आद्युदात्त प्राप्त था।

(12) प्रजयः

आद्युदात्त प्राप्त था।

(च) अबन्तस्य—

(13) प्रलवः (पूर्ववत्)।

(14) प्रसवः (पूर्ववत्)।

(छ) इत्रान्तस्य—

(15) प्रलवित्रम् (पूर्ववत्)।

(16) प्रसवित्रम् (पूर्ववत्)।

(ज) कान्तस्य—

(17) गोवृषः

गां वर्षति—मूलविभुजादि होने से कप्रत्यय।

(18) खरीवृषः

खरीं वर्षति—पूर्ववत् कप्रत्यय।

(19) प्रवृषः
इगुपधादिति कप्रत्यय। आद्युदात्त प्राप्त था।

(20) प्रहृषः (पूर्ववत्)।

गति०—गति आदि से उत्तर शब्द को अन्तोदात्त होता है—

(21) सुस्तुंतम्
यहाँ नहीं हुआ।
कर्मप्रवचनीय में अव्ययस्वर ही होता है।

(2808) सूपमानात् क्तः *145* (3879)

'सु' इत्येतस्मादुपमानाच्च परं क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। सुकृतम् (तै०सं० 4.7.2.2) सुभुक्तम्। सुपीतम्। उपमानात्–वृकावलुप्तम्। शशप्लुतम्। सिंहविनर्दितम्। सुशब्दाद् 'गतिरनन्तरः' (6.2.49) इति प्राप्ते उपमानादपि 'तृतीया कर्मणि' (6.2.48) इति, अयमपवादः। गतिकारकोपपदादित्येव–सुस्तुतं भवता।

अर्थ—सु तथा उपमानवाची शब्द से उत्तर क्तप्रत्ययान्त शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) सुकृतम्
अन्तोदात्त।

(2) सुभुक्तम् (पूर्ववत्)।
(3) सुपीतम् (पूर्ववत्)।
(4) वृकावलुप्तम् (पूर्ववत्)।
(5) शशप्लुतम् (पूर्ववत्)।
(6) सिंहविनर्दितम् (पूर्ववत्)।

सु शब्द से 'गतिरनन्तरः' से प्राप्त होने पर उपमानवाची शब्द से भी तृतीया कर्मणि का यह अपवाद है।

(2809) संज्ञायामनाचितादीनाम् *146* (3880)

संज्ञायां विषये गतिकारकोपपदात् क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति आचितादीन्वर्जयित्वा। सम्भूतो रामायणः। उपहूतः शाकल्यः। परिजग्धः कौण्डिन्यः। सम्भूत इति प्राप्त्यर्थाद् भवतेः कर्मणि क्तः। 'गतिरनन्तरः' (6.2.49) इत्यत्र हि 'कर्मणि' इत्यनुवर्त्तते, तद्बाधनार्थं चेदम्। धनुष्खाता नदी। कुद्दालखाता नगरी। हस्तिमृदिता भूमिः। 'तृतीया कर्मणि' (6.2.48) इति प्राप्तिरिह बाध्यते। अनाचितादीनामिति किम्? आंचितम्। पर्याचितम्। आस्थापितम्। परिंगृहीतम्। निरुक्तम्। प्रतिपंन्नम्। प्रश्लिंष्टम्। उपंहतम्। उपंस्थितम्। *संहिताऽगवि* (ग०सू० 171)। संहिताशब्दो यदा गोरन्यस्य संज्ञा, तदाऽन्तोदात्तो न भवति। यदा तु गोः संज्ञा, तदाऽन्तोदात्त एव।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में गति, कारक व उपपद से उत्तर क्तप्रत्ययान्त शब्द को अन्तोदात्त होता है, आचित आदि को नहीं होता है।

उदा० (1) सम्भूतः
कर्म में क्त। गतिरनन्तरः का बाध।

(2) उपहूतः (पूर्ववत्)।
(3) परिजग्धः (पूर्ववत्)।

गतिरनन्तरः—गतिरनन्तरः में कर्मणि की अनुवृत्ति होती है, जिसका बाध इस सूत्र से होता है—

(4) धनुष्खाता नदी

धनुर्भिः खाताया। 'कर्त्तरि करणे कृता' से समास। 'जनसनखन०' से आत्व। 'तृतीया कर्मणि' का बाध।

(5) कुद्दालखातं नगरम् (पूर्ववत्)।
(6) हस्तिमृदिता भूमिः (पूर्ववत्)।
'तृतीया कर्मणि' का बाध।

अनाचि०—आचित आदि को नहीं होता है—

(7) आचिंतम्
निषेध नहीं हुआ।

(8) पर्याचितम् (पूर्ववत्)।

(9) आस्थापितम्
(पूर्ववत्)। स्था णिच् क्त। 'अर्त्तिह्री०' से पुक्।

(10) परिंगृहीतम्
पूर्ववत्। ग्रहोऽलिटि दीर्घः।

(11) निरुंक्तम्
निर् वच् क्त—वचिस्वपियजा०। चोः कुः।

(12) प्रतिंपन्नम्
पूर्ववत्। रदाभ्यां निष्ठातो०।

(13) प्रश्लिंष्टम् (पूर्ववत्)।
(14) उपंहतम् (पूर्ववत्)।
(15) उपंस्थितम् (पूर्ववत्)।

संहिता०—संहिता शब्द जब 'गो' से भिन्न अर्थ की सञ्ज्ञा

होती है, तब अन्तोदात्त नहीं होता है। जब 'गो' शब्द की सञ्ज्ञा होती है, तो अन्तोदात्त होता है।

(2810) प्रवृद्धादीनां च *147* (3881)

प्रवृद्धादीनां च क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। प्रवृद्धं यानम्। प्रवृद्धो वृषलः। प्रयुक्ताः सक्तवः। आकर्षेऽवहितः। अवहितो भोगेषु। खट्वारूढः। कविशस्तः (तै०सं० 2.5.9.2)। यानादीनामत्र गणे पाठः प्रायोवृत्तिप्रदर्शनार्थः, न विषयनियमार्थः। यानादिभ्योऽन्यत्रापि तेषामन्तोदात्तत्वं भवत्येव। विषयनियमार्थ एवेत्येके। असंज्ञार्थोऽयमारम्भः। आकृतिगणश्च प्रवृद्धादिर्द्रष्टव्यः। तेन 'पुनरुत्स्यूतं वासो देयम् (मै०सं० 1.7.2), 'पुनर्निष्कृतो रथः (तै०सं० 1.5.2.4)–इत्येवमादि सिद्धं भवति।

अर्थ—प्रवृद्ध आदि शब्दों के क्तप्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) प्रवृद्धम्
अन्तोदात्त।

(2) प्रयुक्तः (पूर्ववत्)।
(3) अवहितः (पूर्ववत्)।
(4) खट्वारूढः (पूर्ववत्)।
(5) कविशस्तः (पूर्ववत्)।

याना०—यान आदि शब्दों का यहाँ गण में पाठ प्रायः वृत्ति के प्रदर्शन के लिए है, विषय के नियम के लिए नहीं। यान आदि से अन्यत्र भी उनको अन्तोदात्त होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह विषय के नियम के लिए है। सञ्ज्ञा से अतिरिक्त के लिए यह विधान है। प्रवृद्धादि आकृतिगण हैं। तब 'उत्स्यूतं वासो देयम्' तथा 'निष्कृतो रथः' इत्यादि सिद्ध हो जाते हैं।

(2811) कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि *148* (3882)

'संज्ञायाम्' इति वर्त्तते; 'क्तः' इति च। संज्ञायां विषये आशिषि गम्यमानायां कारकादुत्तरयोर्दत्तश्रुतयोरेव क्तान्तयोरन्त उदात्तो भवति। देवा एनं देयासुर्देवदत्तः। विष्णुरेनं श्रूयाद् विष्णुश्रुतः। कारकादिति किम्? कारकान्नियमो मा भूत्–सम्भूतो रामायणः। दत्तश्रुतयोरिति किम्? देवपालितः। एतस्मान्नियमादत्र संज्ञायामनाचितादीनाम्' (6.2.146) इत्यन्तोदात्तत्वं न भवति, 'तृतीया कर्मणि' (6.2.48) इत्येवात्र भवति। एवकारकरणं किम्? कारकावधारणं यथा स्याद्, दत्तश्रुतावधारणं मा भूत्। अकारकादपि दत्तश्रुतयोरन्त उदात्तो भवति–संश्रुतः, विश्रुतः। आशिषीति किम्? अनाशिषि नियमो मा भूत् (म०भा०)। देवैः खाता देवखाता। कारकाद्दत्तश्रुतयोराशिष्येव–इत्ययमप्यत्र नियम इष्यते, तेनाहतो नदति देवदत्त इत्यत्र न भवति। देवदत्त इति कस्यचित् शङ्खस्य नाम। तत्र 'तृतीया कर्मणि' (6.2.48) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमेव भवति।

अर्थ—सञ्ज्ञायाम्, क्त—इनका अनुवर्तन है। सञ्ज्ञा के विषय में आशीर्वाद अर्थ में वर्त्तमान कारक से उत्तर जो दत्त व श्रुत क्तप्रत्ययान्त शब्द, उन्हें अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) देवा एनं देयासुर्देवदत्तः
अन्तोदात्त हुआ।

(2) विष्णुरेनं श्रूयाद् विष्णुश्रुतः (पूर्ववत्)।

कारका०—कारक से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है, 'कारक से' यह नियम न हो।

(3) सम्भूतो रामायणः
यहाँ नहीं हुआ।

दत्तश्रुत०—दत्त और श्रुत शब्दों को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) देवपालितः
यहाँ नहीं हुआ।

एतस्मा०—इस नियम से यहाँ सञ्ज्ञा में अनाचित आदि शब्दों को प्राप्त अन्तोदात्त नहीं होता है। 'तृतीया कर्मणि' से ही होता है।

एव०—'एव' का ग्रहण है, ताकि कारक का अवधारण हो जाय तथा दत्त व श्रुत शब्दों का अवधारण न हो। कारक से भिन्न से उत्तर भी दत्त व श्रुत को अन्तोदात्त होता है।

(5) संश्रुतः।
(6) विश्रुतः।

आशिषी०—आशीर्वाद अर्थ में ही अन्तोदात्त होता है, ताकि आशीर्वाद से भिन्न में नियम न हो।

(7) देवखाता
देवैः खाता।

कारका०—कारक से उत्तर दत्त व श्रुत का आशीर्वाद अर्थ में ही यहाँ नियम होता है। तब आहतो नदति देवदत्तः यहाँ नहीं होता है। यहाँ किसी शङ्ख का नाम 'देवदत्त' है। यहाँ 'तृतीया कर्मणि' से प्रकृतिस्वर पूर्वपद को होता है।

(2812) इत्थम्भूतेन कृतमिति च *149* (3883)

इमं प्रकारमापन्नः = इत्थम्भूतः। 'इत्थम्भूतेन कृतम्' इत्येतस्मिन्नर्थे यः समासो वर्त्तते तत्र क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। सुप्तप्रलपितम्। उन्मत्तप्रलपितम्। प्रमत्तगीतम्। विपन्नश्रुतम्। 'कृतम्' इति क्रियासामान्ये करोतिर्वर्त्तते, नाभूतप्रादुर्भाव एव; तेन प्रलपिताद्यपि कृतं भवति। 'तृतीया कर्मणि (6.2.48) इत्यस्यायमपवादः। भावे तु यदि प्रलपितादयः, तदा थाथादिस्वरेणैव (6.2.144) सिद्ध-मन्तोदात्तत्वं भवति।

अर्थ—इत्थम्भूत = इस प्रकार को प्राप्त। इत्थम्भूत के द्वारा किया हुआ—इस अर्थ में तत्पुरुष समास में कारक से उत्तर क्तप्रत्ययान्त शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) सुप्तप्रलपितम्
सुप्तेन प्रलपितम्।

(2) उन्मत्तप्रलपितम् (पूर्ववत्)।
(3) प्रमत्तगीतम् (पूर्ववत्)।
(4) विपन्नश्रुतम् (पूर्ववत्)।

कृतमिति०—'कृतम्' इस प्रकार 'कृ' अभूतप्रादुर्भाव में वर्त्तमान नहीं है, अपितु क्रियासामान्य में है। तब प्रलपनादि भी 'कृत्' होते हैं।

'तृतीया कर्मणि' का यह अपवाद है। जब प्रलपित आदि भाव में होते हैं, तब थाथादिस्वर के द्वारा ही अन्तोदात्त सिद्ध है।

(2813) अनो भावकर्मवचनः *150* (3884)

अनप्रत्ययान्तमुत्तरपदं भाववचनं कर्मवचनं च कारकात्परमन्तोदात्तं भवति। ओदनभोजनं सुखम्। पयःपानं सुखम्। चन्दनप्रियङ्गुकालेपनं सुखम्। कर्मवचनः-राजभोजनाः शालयः। राजाच्छादनानि वासांसि। 'कर्मणि च येन संस्पर्शात्कर्तुः शरीरसुखम्' (3.3.116) इत्ययं योग उभयथा वर्ण्यते-कर्मण्युपपदे भावे ल्युड् भवति, कर्मण्यभिधेये ल्युड् भवतीति। तत्र पूर्वस्मिन् सूत्रार्थे भाववचनोदाहरणानि, उत्तरत्र कर्मवचनोदाहरणानि। अन इति किम्? हस्तहार्यमुदश्वित्। भावकर्मवचन इति किम्? दन्तधावनम्। करणे ल्युट्। कारकादित्येव-निदर्शनम्। अवलेखनम्। सर्वेषु प्रत्युदाहरणेषु प्रकृतिस्वरो भवति।

अर्थ—कारक से उत्तर भाववाची तथा कर्मवाची अन प्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) ओदनभोजनं सुखम्
भुज् अन (ल्यु) होकर।

(2) पयःपानं सुखम् (पूर्ववत्)।
(3) चन्दनप्रियङ्गुकालेपनम् (पूर्ववत्)।
(4) राजभोजनाः (पूर्ववत्)।
(5) राजाच्छादनानि वासांसि (पूर्ववत्)।

कर्मणि०—कर्मणि अर्थात् येन द्वारा स्पर्श से कर्त्ता को शरीर-सुख प्राप्त होता है—यह योग उभय प्रकार से वर्णित है। कर्म उपपद रहते भाव में ल्युट् होता है। कर्म वाच्य रहते ल्युट् होता है। पूर्व सूत्र के अर्थ में भाववाची के उदाहरण हैं। उत्तर में कर्मवाची के उदाहरण हैं।

अन०—अनप्रत्ययान्त को ही अन्तोदात्त होता है—

(6) हस्तहार्यम्
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

भावकर्म०—भाववाची व कर्मवाची उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है—

(7) दन्तधावनम्
अन्तोदात्त नहीं हुआ। करण में ल्युट् हुआ।

कारकादि०—कारक से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है—

(8) निदर्शनम्
लित् स्वर होता है।

(9) अवलेखनम् (पूर्ववत्)।
सभी प्रत्युदाहरणों में प्रकृतिस्वर होता है।

(2814) मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः *151* (3885)

मन्नन्तम्, क्तिन्नन्तम्, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान-इत्येतानि, याजकादयः, क्रीतशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। मन्-रथवर्त्म, शकटवर्त्म। क्तिन्-पाणिनिकृतिः, आपिशलिकृतिः। व्याख्यान-ऋगयनव्याख्यानम्, छन्दोव्याख्यानम्। शयन-राजशयनम्, ब्राह्मणशयनम्। आसन-राजासनम्। ब्राह्मणासनम्। स्थान-गोस्थानम्, अश्वस्थानम्। याजकादिः-ब्राह्मणयाजकः। क्षत्रिययाजकः। ब्राह्मण-पूजकः। क्षत्रियपूजकः। याजकादयो ये 'याजकादिभिश्च' (2.2.9) इति षष्ठीसमासार्थाः

पठ्यन्ते त एवेह गृह्यन्ते। क्रीत–गो॒क्री॒तः। अ॒श्व॒क्री॒तः। कृत्स्वरापवादोऽयं योगः। क्रीतशब्दे तु 'तृतीया कर्मणि' (6.2.48) इत्यस्यापवादः। व्याख्यानशयनासनस्थानानामभावकर्मार्थं ग्रहणम्। कारकादित्येव–प्रकृंतिः। प्रहृंतिः।

अर्थ—कारक से उत्तर जो मन् प्रत्ययान्त, क्तिन् प्रत्ययान्त, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान तथा याजकादि शब्द एवं क्रीत शब्द—इनके उत्तरपद रहते इन्हें अन्तोदात्त होता है।

उदा० (क) मन्नन्तम्—

(1) र॒थ॒व॒र्त्म

(2) श॒कु॒ट॒व॒र्त्म (पूर्ववत्)।

(ख) क्तिन्नन्तम्—

(3) पा॒णि॒नि॒कृ॒तिः

पूर्ववत्। पाणिनेः कृतिः।

(4) आ॒पि॒श॒लि॒कृ॒तिः (पूर्ववत्)।

(ग) व्याख्यान०—

(5) ऋ॒ग॒य॒न॒व्या॒ख्या॒नम् (पूर्ववत्)।

(6) छ॒न्दो॒व्या॒ख्या॒नम् (पूर्ववत्)।

(घ) शयन०—

(7) रा॒ज॒श॒य॒नम् (पूर्ववत्)।

(8) ब्रा॒ह्म॒ण॒श॒य॒नम् (पूर्ववत्)।

(ङ) आसन०—

(9) रा॒जा॒स॒नम् (पूर्ववत्)।

(10) ब्रा॒ह्म॒णा॒स॒नम् (पूर्ववत्)।

(च) स्थान०—

(11) गो॒स्था॒नम् (पूर्ववत्)।

(12) अ॒श्व॒स्था॒नम् (पूर्ववत्)।

(छ) याजकादि०—

(13) ब्रा॒ह्म॒ण॒या॒ज॒कः (पूर्ववत्)।

(14) क्ष॒त्रि॒य॒या॒ज॒कः (पूर्ववत्)।

(15) ब्रा॒ह्म॒ण॒पूजकः (पूर्ववत्)।

(16) क्ष॒त्रि॒य॒पूजकः (पूर्ववत्)।

याजका०—जो याजक आदि हैं तथा 'याजकादिभिश्च' इस प्रकार से षष्ठी समर्थ समास के लिए जिनका पाठ है, उनका यहाँ ग्रहण है।

(ज) क्रीतान्तम्—

(17) गो॒क्री॒तः (पूर्ववत्)।

(18) अ॒श्व॒क्री॒तः (पूर्ववत्)।

यह कृत् स्वर के अपवाद के लिए है। क्रीत शब्द परे रहते 'तृतीया कर्मणि' इसका अपवाद है। भाववाची व कर्मवाची से अतिरिक्त के लिए व्याख्यान, शयन; आसन तथा स्थान शब्दों का ग्रहण है।

कारक से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है—

(19) प्रकृंतिः।

(20) प्रहृंतिः।

(2815) सप्तम्याः पुण्यम् *152* (3886)

सप्तम्यन्तात्परं पुण्यमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। अध्ययने पुण्यम् अ॒ध्य॒य॒न॒पु॒ण्यम्। वेदे पुण्यं वे॒द॒पु॒ण्यम्। 'सप्तमी' (2.1.40) इति योगविभागात्समासः। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (6.2.2) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं प्राप्तमित्यन्तोदात्तत्वं विधीयते। उणादीनां तु व्युत्पत्तिपक्षे–कृत्स्वरेणाद्युदात्तः पुण्यशब्दः स्यादिति। सप्तम्या इति किम्? वेदेन पुण्यं वे॒द॒पुण्यम्।

अर्थ—सप्तम्यन्त से उत्तर पुण्य शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अ॒ध्य॒य॒न॒पुण्यम्

अध्ययने पुण्यम्।

(2) वे॒द॒पुण्यम् (पूर्ववत्)।

सप्तमी०—'सप्तमी' इस प्रकार योगविभाग से समास हुआ है। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था। तब अन्तोदात्त का विधान किया गया है। उणादि शब्दों के व्युत्पत्तिपक्ष में कृत्स्वर से आद्युदात्त पुण्य शब्द हो जाता है।

सप्तम्या०—सप्तम्यन्त से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है—

(3) वे॒द॒पुण्यम्

वेदेन पुण्यम्। यहाँ नहीं हुआ।

(2816) ऊनार्थकलहं तृतीयायाः *153* (3887)

ऊनार्थान्युत्तरपदानि, कलहशब्दश्च तृतीयान्तात् पराण्यन्तोदात्तानि भवन्ति। मा॒षो॒नम्। का॒र्षा॒प॒णो॒नम्। मा॒ष॒वि॒क॒लम्। का॒र्षा॒प॒ण॒वि॒क॒लम्। कलह–अ॒सि॒क॒ल॒हः। वा॒क्क॒ल॒हः। तृतीयापूर्वपदप्रकृतिस्वरापवादो योगः। अत्र केचिदर्थं इति स्वरूपग्रहणमिच्छन्ति। धान्येनार्थो

धान्यार्थः । ऊनशब्देनैव त्वर्थनिर्देशार्थेन तदर्थानां ग्रहणमिति प्रतिपदोक्तत्वादेव तृतीयासमासपरिग्रहे सिद्धे तृतीयाग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

अर्थ—तृतीयान्त से उत्तर ऊनार्थवाची तथा कलह शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) माषोनम्
अन्तोदात्त।

(2) कार्षापणोनम्
अन्तोदात्त।

(3) माषविकलम् (पूर्ववत्)।
(4) कार्षापणविकलम् (पूर्ववत्)।
(5) असिकलहः (पूर्ववत्)।
(6) वाक्कलहः (पूर्ववत्)।

तृतीया०—यह तृतीयालक्षण पूर्वपद को प्राप्त प्रकृतिस्वर का अपवाद है। कुछ विद्वान् यहाँ 'अर्थ' शब्द के द्वारा स्वरूप का ग्रहण करते हैं। तब—
(7) धान्यार्थः
धान्येनाऽर्थः—यहाँ अन्तोदात्त होता है।

ऊन०—कुछ विद्वानों के अनुसार 'अर्थनिर्देशार्थेन तदर्थानां ग्रहणम्' परिभाषा के द्वारा प्रतिपदोक्त होने से ही तृतीया समास का ग्रहण सिद्ध था, तदपि तृतीया का ग्रहण स्पष्टता के लिए किया गया है।

(2817) मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ *154* (3888)

'तृतीया' इति वर्त्तते। 'मिश्र'-इत्येतदुत्तरपदमनुपसर्गं तृतीयान्तात्परमन्तोदात्तं भवत्यसन्धौ गम्यमाने। गुडमिश्राः। तिलमिश्राः। सर्पिर्मिश्राः। मिश्रमिति किम्? गुडधानाः। अनुपसर्गमिति किम्? गुडसंम्मिश्राः। इहानुपसर्गग्रहणं ज्ञापकम्-अन्यत्र मिश्रग्रहणे सोपसर्गग्रहणस्य। तेन 'मिश्रश्लक्ष्णैः' (2.1.31) इति सोपसर्गेणापि मिश्रशब्देन तृतीयासमासो भवति। असन्धाविति किम्? ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणैः सह संहितः = ऐकार्थ्यमापन्नः। सन्धिरिति हि पणबन्धेनैकार्थ्यमुच्यते। केचित्पुनराहुः-गृह्यमाणविशेषा प्रत्यासत्तिः = सन्धिरिति, अत्र राज्ञो ब्राह्मणैः सह देश-प्रत्यासत्तावपि सत्यां मूर्त्तिविभागस्वरूपभेदो गृह्यत इति ब्राह्मणमिश्रो राजेति प्रत्युदाह्रियते। उदाहरणेष्वविभागापत्तिरेव-गुडमिश्रा इति।

अर्थ—'तृतीया' का अनुवर्तन है। 'असन्धि' अर्थ गम्यमान हो तो तृतीयान्त से पर उपसर्गरहित जो 'मिश्र' शब्द, ऐसे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) गुडमिश्राः
गुडैः मिश्राः।

(2) तिलमिश्राः (पूर्ववत्)।
(3) सर्पिर्मिश्राः (पूर्ववत्)।

मिश्रमिति०—मिश्र शब्द को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) गुडधानाः
यहाँ नहीं हुआ।

अनुपसर्ग०—उपसर्गरहित 'मिश्र' शब्द को ही अन्तोदात्त होता है—

(5) गुडसंम्मिश्राः
यहाँ नहीं हुआ।

इहा०—इहाँ अनुपसर्ग पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अन्यत्र 'मिश्र' के ग्रहण में सोपसर्ग का ग्रहण होता है। तब 'मिश्रश्लक्ष्णैः' से सोपसर्ग मिश्र शब्द के साथ भी तृतीया समास होता है।

असन्धावि०—सन्धि गम्यमान न हो तो अन्तोदात्त होता है—

(6) ब्राह्मणमिश्रो राजा
ब्राह्मणैः सह संहितः। यहाँ नहीं हुआ।

सन्धिरिति०—'सन्धि' शब्द के द्वारा पणबन्धन से एकार्थता कही जाती है। कुछ विद्वान् विशेष प्रत्यासत्ति को सन्धि कहते हैं। इस प्रकार की सन्धिप्रत्युदाहरण में नहीं है। यद्यपि राजा का ब्राह्मणों के साथ देशसामीप्य है, तथापि उसके रहते भी राजा और ब्राह्मणों के मूर्त्तिविशेष का ग्रहण होता है। अतः 'ब्राह्मणमिश्रो राजा' प्रत्युदाहरण होता है।

(2818) नञो गुणप्रतिषेधे सम्पाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः *155* (3889)

सम्पादि, अर्ह, हित, अलम्-इत्येवमर्था ये तद्धितास्तदन्तान्युत्तरपदानि नञो गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् पराण्यन्तोदात्तानि भवन्ति। सम्पादि-कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं कार्णवेष्टकिकम्, न कार्णवेष्टकिकम् अकार्णवेष्टकिकम्। अर्ह-छेदमर्हति छैदिकः, न छैदिकः अच्छैदिकः। हित-वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः, न वत्सीयः अवत्सीयः। अलमर्थ-

सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः, न सान्तापिकः असान्तापिकः। नञ इति किम्? गर्दभरथमर्हति गार्दभरथिकः। विगार्दभरथिकः। गुणप्रतिषेध इति किम्? गार्दभरथिकादन्योऽगार्दभरथिकः। 'गुण' इति तद्धितार्थप्रवृत्तिनिमित्तं सम्पादित्वाद्युच्यते। तत्प्रतिषेधो यत्रोच्यते समासे तत्रायं विधिः-कर्णवेष्टकाभ्यां न सम्पादि मुखमिति। सम्पाद्यर्हहितालमर्था इति किम्? पाणिनीयमधीते पाणिनीयः, न पाणिनीयोऽपाणिनीयः। तद्धिता इति किम्? कन्यां वोढुमर्हति कन्यावोढा, न वोढा अवोढा-'अर्हे कृत्यतृचश्च' (3.3. 169) इति तृच्।

अर्थ—तत्पुरुष समास में गुण के निषेध अर्थ में वर्तमान नञ् से उत्तर जो सम्पादि, अर्ह, हित और अलम् वाची तद्धित प्रत्ययान्त शब्द, उनके उत्तरपद रहते इन्हें अन्तोदात्त होता है।

उदा० (क) सम्पादि०—

(1) अकार्णवेष्टकिकम्
कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखम्।
कार्णवेष्टकिकम्
न कार्णवेष्टकिकम्।

(ख) अर्ह०—

(2) अच्छैदिकः
छेदमर्हति छैदिकः। न छैदिकः।

(ग) हित०—

(3) अवत्सीयः
वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः। न वत्सीयः।

(घ) अलमर्थ०—

(4) असान्तापिकः
सन्तापाय प्रभवति—सान्तापिकः। न सान्तापिकः।

नञ इति०—नञ् से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है—

(5) गार्दभरथिकः
गर्दभरथम् अर्हति। यहाँ नहीं हुआ।

(6) विगार्द्दभरथिकः (पूर्ववत्)।

गुणप्र०—गुण के निषेध अर्थ में ही अन्तोदात्त होता है—

(7) अगार्द्दभरथिकः
गार्द्दभरथिकाद् अन्यः। अन्तोदात्त नहीं हुआ।

'गुण' यह तद्धितार्थ प्रवृत्तिनिमित्त सम्पादी होने से कहा जाता है। जहाँ उसका प्रतिषेध कहा जाता है, वहाँ समास में यह विधि होती है—कर्णवेष्टकाभ्यां न सम्पादि मुखम्।

सम्पाद्य०—सम्पादि आदि शब्दों को ही अन्तोदात्त होता है—

(8) अपाणिनीयः
पाणिनीयम् अधीते पाणिनीयः। न पाणिनीयः।

तद्धिता०—तद्धितप्रत्ययान्त को ही अन्तोदात्त होता है—

(9) अवोढा
कन्यां वोढुम् अर्हति—कन्यावोढा। न वोढा।
'अर्हे कृत्यतृचश्च' से 'तृच्' हुआ है।

(2819) ययतोश्चातदर्थे *156* (3890)

य, यत्-इत्येतौ यौ तद्धितावतदर्थे वर्तेते तदन्तस्योत्तरपदस्य नञो गुणप्रतिषेधविषयादन्त उदातो भवति। पाशानां समूहः पाश्या, न पाश्या अपाश्या। अतृण्या। यत्-दन्तेषु भावं दन्त्यम्, न दन्त्यम् अदन्त्यम्। अकर्ण्यम्। अतदर्थ इति किम्? पादार्थमुदकं पाद्यम्, न पाद्यमपाद्यम्। तद्धिता इत्येव-अदेयम्। गुणप्रतिषेध इत्येव-दन्त्यादन्यत् अदन्त्यम्। निरनुबन्धकैकानुबन्धकयोर्ययतोर्ग्रहणादिह न भवति-'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' (4.2.5) वामदेव्यम्, न वामदेव्यम् अवामदेव्यमिति।

अर्थ—गुणप्रतिषेध अर्थ में जो नञ्, उससे उत्तर अतदर्थ में 'य' तथा 'यत्' तद्धितप्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अपाश्या
पाशानां समूहः—पाश्या। न पाश्या।

(2) अतृण्या (पूर्ववत्)।

(3) अदन्त्यम्
दन्तेषु भवम्—दन्त्यम्। न दन्त्यम्।

(4) अकर्ण्यम् (पूर्ववत्)।

अतदर्थ०—अतदर्थ में ही अन्तोदात्त होता है—

(5) अपाद्यम्
पादार्थम्—पाद्यम्। न पाद्यम्।

तद्धिता०—तद्धितान्त उत्तरपद को ही अन्तोदात्त होता है—

(6) अदेयम्
नहीं हुआ।

गुणप्रति०—गुणप्रतिषेध अर्थ में ही अन्तोदात्त होता है—

(7) अदंन्त्यम्
दन्त्यादन्यः । नहीं हुआ ।

निरनु०—निरनुबन्धक (य) तथा एकानुबन्धक (यत्) का ग्रहण होने से निम्नलिखित में नहीं होता है—

(8) अवांमदेव्यम्
वामदेव ड्य—वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ।
न वामदेव्यम् ।

(2820) अच्कावशक्तौ *157* (3891)

अच्, क–इत्येवमन्तमशक्तौ गम्यमानायामुत्तरपदं नञः परमन्तोदात्तं भवति । अपचो यः पक्तुं न शक्नोति । अजयः । कः खल्वपि–अविक्षिपः । अविलिखः । अशक्ताविति किम् ? अपंचः दीक्षितः । अपंचः परिव्राजकः ।

अर्थ—नञ् से उत्तर जो अच् प्रत्ययान्त व कप्रत्ययान्त उत्तरपद, उसे अन्तोदात्त होता है, अशक्ति अर्थ गम्यमान हो तो ।

उदा० (1) अपचः
यः पक्तुं न शक्नोति ।
(2) अजयः (पूर्ववत्) ।
(3) अविक्षिपः
वि क्षिप् क ।
(4) अविलिखः (पूर्ववत्) ।

अशक्ता०—अशक्ति अर्थ में ही अन्तोदात्त होता है—
(5) अपंचो दीक्षितः
यहाँ नहीं हुआ ।
(6) अपंचः परिव्राजकः (पूर्ववत्) ।

(2821) आक्रोशे च *158* (3892)

आक्रोशे च गम्यमाने नञ उत्तरमच्कान्तमन्तोदात्तं भवति । अपचोऽयं जाल्मः । अपठोऽयं जाल्मः । पक्तुं पठितुं शक्तोऽप्येवमाक्रुश्यते । अविक्षिपः । अविलिखः ।

अर्थ—नञ् से उत्तर जो अच् प्रत्ययान्त व कप्रत्ययान्त उत्तरपद, उसे अन्तोदात्त होता है, आक्रोश अर्थ गम्यमान हो तो ।

उदा० (1) अपचोऽयं जाल्मः
अन्तोदात्त ।
(2) अपठोऽयं जाल्मः (पूर्ववत्) ।
(3) अविक्षिपः (पूर्ववत्) ।
(4) अविलिखः (पूर्ववत्) ।

(2822) संज्ञायाम् *159* (3893)

आक्रोशे गम्यमाने नञः परमुत्तरपदं संज्ञायां वर्त्तमानमन्तोदात्तं भवति । अदेवदत्तः । अयज्ञदत्तः । अविष्णुमित्रः ।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में नञ् से उत्तर जो शब्द, उसे अन्तोदात्त होता है, आक्रोश अर्थ में ।

उदा० (1) अदेवदत्तः
अन्तोदात्त हुआ ।
(2) अयज्ञदत्तः (पूर्ववत्) ।
(3) अविष्णुमित्रः (पूर्ववत्) ।

(2823) कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च *160* (3894)

कृत्य, उक, इष्णुच्–इत्येवमन्ताश्चार्वादयश्च नञ उत्तरेऽन्तोदात्ता भवन्ति । कृत्य–अकर्त्तव्यम् । अकरणीयम् । उक–अनागामुकम् । अनपलाषुकम् । इष्णुच्–अनलङ्करिष्णुः । अनिराकरिष्णुः । इष्णुज्ग्रहणे 'कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्' (3.2.57) इत्यस्य द्व्यनुबन्धकस्यापि ग्रहणमिकारादेर्विधानसामर्थ्याद् भवति । अनाढ्यम्भविष्णुः । असुभगम्भविष्णुः । चार्वादयः–अचारुः । असाधुः । अयौधिकः । अवदान्यः । चारु । साधु । यौधिक । अनङ्गमेजय । अत्र द्वितीये नञ्समासेऽन्तोदात्तत्वम् । अनङ्गमेजयः । वदान्यः । अकस्मात् । अत्रापि द्वितीये नञ्समासेऽन्तोदात्तत्वम्–अनकस्मात् । *वर्त्तमानवर्द्धमानत्वरमाणध्रियमाणक्रियमाणरोचमानशोभमानाः संज्ञायाम्* (ग०सू० 172) । एते वर्त्तमानादयः संज्ञायां द्रष्टव्याः । *विकारसदृशे व्यस्तसमस्ते* (ग०सू० 173) । अविकारः । असदृशः । अविकारसदृशः । गृहपति । गृहपतिकः । *राजाह्नोश्छन्दसि* (ग०सू० 174) । अराजा । अनहः । भाषायां नञ्स्वर एव भवति । चार्वादिः ।

अर्थ—नञ् से उत्तर जो कृत्यसञ्ज्ञक, उकप्रत्यान्त, इष्णुच् प्रत्ययान्त तथा चार्वादि शब्द, उन्हें अन्तोदात्त होता है ।

उदा० (क) कृत्याः—
(1) अकर्त्तव्यम्
'तव्यत्' कृत्य है ।
(2) अकरणीयम् (पूर्ववत्) ।

(ख) उकप्रत्य०—
(3) अनागामुकम्
'उक' हुआ। 'लषपतपद०' से प्रत्यय।
(4) अनपलाषुकम् (पूर्ववत्)।
(ग) इष्णुच् प्रत्य०—
(5) अनलङ्करिष्णुः (पूर्ववत्)।
(6) अनिराकरिष्णुः (पूर्ववत्)।

इष्णुज्०—इष्णुच् प्रत्यय के ग्रहण में 'कर्त्तरि भुवः खिष्णुच्' इस दो अनुबन्ध वाले का भी ग्रहण इकारादि के विधानसामर्थ्य से होता है।

(7) अनाढ्यम्भविष्णुः
यहाँ अन्तोदात्त हुआ।
(8) असुभगम्भविष्णुः (पूर्ववत्)।
(घ) चार्वादयः—
(9) अचारुः (पूर्ववत्)।
(10) अयौधिकः (पूर्ववत्)।
(11) अवदान्यः (पूर्ववत्)।
(12) अनङ्गमेजयः (पूर्ववत्)।

अत्र०—यहाँ द्वितीय नञ् समास में अन्तोदात्त होता है।

(13) अकस्मात्
यहाँ भी द्वितीय समास में अन्तोदात्त हुआ है।

वर्त्तमान०—वर्त्तमान आदि शब्द सञ्ज्ञा के विषय में अन्तोदात्त होते हैं। उदाहरण गणसूत्र में देखिये।

विकार०—विकार व सदृश शब्द व्यस्त और समस्त दोनों दशाओं में अन्तोदात्त होते हैं।

(14) अविकारः
(15) असदृशः
(16) अविकारसदृशः

राजाह्नो०—वेद के विषय में राजन् शब्द तथा अहन् शब्द अन्तोदात्त होते हैं।

(17) अराजा।
(18) अनहः।
लोक में इन्हें नञ् स्वर ही होता है।

(2824) विभाषा तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु *161* (3895)

तृन्नन्त, अन्न, तीक्ष्ण, शुचि-इत्येतेषु नञ उत्तरेषु विभाषाऽन्त उदात्तो भवति। अकर्त्ता, अकर्त्ता। अन्न-अनन्नम्, अनन्नम्। तीक्ष्ण-अतीक्ष्णम्, अतीक्ष्णम्। शुचि-अशुचिः। अशुचिः। पक्षे-अव्ययस्वर एव भवति।

अर्थ—नञ् से उत्तर जो तृन् प्रत्ययान्त शब्द, अन्न शब्द, तीक्ष्ण शब्द तथा शुचि शब्द, इन्हें विकल्प से अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अकर्त्ता
अन्तोदात्त।
(2) अकर्त्ता
पक्ष में 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' से प्रकृतिस्वर होता है।
(3) अनन्नम्
अन्तोदात्त।
(4) अनन्नम्
(5) अतीक्ष्णम्
अन्तोदात्त।
(6) अतीक्ष्णम्
नञ् स्वर।
(7) अशुचिः
अन्तोदात्त।
(8) अशुचिः
नञ् स्वर।

(2825) बहुव्रीहाविदमेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने *162* (3896)

बहुव्रीहौ समासे इदम्, एतद्, तत्-इत्येतेभ्य उत्तरस्य प्रथमशब्दस्य पूरणप्रत्ययान्तस्य च क्रियागणने वर्त्तमानस्यान्त उदात्तो भवति। इदं प्रथमं गमनं भोजनं वा यस्य स इदम्प्रथमः, इदन्द्वितीयः, इदन्तृतीयः। एतत्प्रथमः, एतद्-द्वितीयः एतत्तृतीयः। तत्प्रथमः तद्द्वितीयः, तत्तृतीयः। बहुव्रीहाविति किम्? अनेन प्रथम इदम्प्रथमः। 'तृतीया' (2.1.30) इति योगविभागात्समासः। इदमेतत्तद्भ्य इति किम्? यत्प्रथमः। प्रथमपूरणयोरिति किम्? तानि बहून्यस्य तद्बहुः। क्रियागणन इति किम्? अयं प्रथम एषां त इदम्प्रथमाः। द्रव्यगणनमेतत्। गणन इति किम्? अयं प्रथम एषाम् ते इदम्प्रथमाः। इदम्प्रधाना इत्यर्थः। उत्तरपदस्य कार्यित्वात् कपि पूर्वम् (6.2.173) अन्तोदात्तं

भवति । इदम्प्रथमकाः । 'बहुव्रीहौ' इत्येतद् 'वनं समासे' (6.2. 178) इति प्रागेतस्मादधिकृतं वेदितव्यम् ।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में इदम्, एतद् व तद्—इन शब्दों से उत्तर क्रिया के गणन में वर्तमान जो प्रथम तथा पूरण प्रत्ययान्त शब्द, उन्हें अन्तोदात्त होता है ।

उदा० (1) इदम्प्रथमः
इदं प्रथमं गमनं भोजनं वा ।

(2) इदन्द्वितीयः (पूर्ववत्) ।
(3) इदन्तृतीयः (पूर्ववत्) ।
(4) एतत्प्रथमः (पूर्ववत्) ।
(5) एतद्द्वितीयः (पूर्ववत्) ।
(6) एतत्तृतीयः (पूर्ववत्) ।
(7) तत्प्रथमः (पूर्ववत्) ।
(8) तद्द्वितीयः (पूर्ववत्) ।
(9) तत्तृतीयः (पूर्ववत्) ।

बहुव्रीहा०—बहुव्रीहि समास में ही इन्हें अन्तोदात्त होता है—

(10) इदम्प्रथमः
अनेन प्रथमः ।
'तृतीया' इस प्रकार योगविभाग से समास हुआ है ।

इदमेत०—इदम्, एतत् तथा तद् से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है—

(11) यत्प्रथमः
अन्तोदात्त नहीं हुआ ।

प्रथम०—प्रथम व पूरण के उत्तरपद रहते अन्तोदात्त होता है—

(12) तद्बहुः
तानि बहून्यस्य ।

क्रियागण०—क्रिया के गणन में वर्तमान शब्द को अन्तोदात्त होता है—

(13) इदम्प्रथमाः
अयं प्रथम एषां ते ।
यह द्रव्य के गणन में है ।

गणन०—क्रिया के गणन में ही अन्तोदात्त होता है—

(14) इदम्प्रथमाः—अयं प्रथम एषामिदम् ।

उत्तरपद०—उत्तरपद के कार्यी होने से कप् प्रत्यय में पूर्वपद अन्तोदात्त होता है—

(15) इदम्प्रथमकाः
यह बहुव्रीहि में ही है । इसका अधिकार 'वनं समासे' से पूर्व तक जानना चाहिए ।

(2826) संख्यायाः स्तनः *163* (3897)

संख्यायाः परः स्तनशब्दो बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तो भवति । द्विस्तना । त्रिस्तना । चतुःस्तना । संख्याया इति किम् ? दर्शनीयस्तना । स्तन इति किम् ? द्विशिराः ।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में संख्या शब्द से उत्तर 'स्तन' शब्द को अन्तोदात्त होता है ।

उदा० (1) त्रिस्तना
अन्तोदात्त ।

(2) चतुःस्तना (पूर्ववत्) ।

सङ्ख्या०—संख्या शब्द से उत्तर 'स्तन' को अन्तोदात्त होता है ।

(3) दर्शनीयस्तना
अन्तोदात्त नहीं हुआ ।

स्तन०—स्तन शब्द को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) द्विशिराः
अन्तोदात्त नहीं हुआ ।

(2827) विभाषा छन्दसि *164* (3898)

छन्दसि विषये बहुव्रीहौ समासे संख्यायाः परः स्तनशब्दो विभाषाऽन्तोदात्तो भवति । द्विस्तनां कुर्याद्वामदेवः । द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय । चतुःस्तनां करोति पशूनां दोहायाष्टस्तनां करोति छन्दसां 'दोहाय' (तै०सं० 5.1. 6.4) ।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में संख्या शब्द से उत्तर 'स्तन' शब्द को विकल्प से अन्तोदात्त होता है, वेद के विषय में ।

उदा० (1) द्विस्तना
अन्तोदात्त ।

(2) चतुःस्तना (पूर्ववत्) ।
(3) द्विस्तना
पक्ष में प्रकृतिस्वर हुआ ।
(4) चतुःस्तना
पक्ष में आद्युदात्त ।

(2828) संज्ञायां मित्राजिनयोः *165* (3899)

संज्ञायां विषये बहुव्रीहौ समासे मित्र, अजिन-इत्येतयोरुत्तरपदयोरन्त उदात्तो भवति। देवमित्रः। ब्रह्ममित्रः। वृकाजिनः। कूलाजिनः। कृष्णाजिनः। संज्ञायामिति किम्? प्रियमित्रः। महाजिनः। *ऋषिप्रतिषेधो मित्रे (का०वा०)*। विश्वामित्र ऋषिः (तै०सं० 4.3.2.2)।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में बहुव्रीहि समास में उत्तरपद में जो मित्र तथा अजिन शब्द, उन्हें अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) देवमित्रः
अन्तोदात्त।

(2) ब्रह्ममित्रः (पूर्ववत्)।
(3) वृकाजिनः (पूर्ववत्)।
(4) कूलाजिनः (पूर्ववत्)।
(5) कृष्णाजिनः (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा के विषय में ही अन्तोदात्त होता है—

(6) प्रियमित्रः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(7) महाजिनः—अन्तोदात्त नहीं हुआ।

ऋषि०—मित्र शब्द परे रहते ऋषिवाची को निषेध होता है—

(8) विश्वामित्र ऋषिः।

(2829) व्यवायिनोऽन्तरम् *166* (3900)

व्यवायी = व्यवधाता, तद्वाचिनः परमन्तरं बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति। वस्त्रान्तरः। पटान्तरः। कम्बलान्तरः। वस्त्रमन्तरं व्यवधायकं यस्य स वस्त्रान्तरः। वस्त्रव्यवधायक इत्यर्थः। व्यवायिन इति किम्? आत्मान्तरः। आत्मा = स्वभावोऽन्तरः = अन्यो यस्यासावात्मान्तरः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में व्यवधायकवाची शब्द से उत्तर 'अन्तर' शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) वस्त्रान्तरः
वस्त्रमन्तरं व्यवधायकं यस्य सः।

(2) पटान्तरः (पूर्ववत्)।
(3) कम्बलान्तरः (पूर्ववत्)।

व्यवधायि०—व्यवधायकवाची शब्द से उत्तर 'अन्तर' शब्द को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) आत्मान्तरः
आत्मा स्वभावोऽन्तरोऽन्यो यस्य सः।

(2830) मुखं स्वाङ्गम् *167* (3901)

मुखमुत्तरपदं स्वाङ्गवाचि बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति। गौरमुखः। भद्रमुखः। स्वाङ्गमिति किम्? दीर्घमुखा शाला। स्वाङ्गमद्रवादिलक्षणमिह गृह्यते।

अर्थ—बहव्रीहि समास में जो स्वाङ्गवाची मुख शब्द उत्तरपद, उसे अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) गौरमुखः
अन्तोदात्त।

(2) भद्रमुखः (पूर्ववत्)।

स्वाङ्ग०—स्वाङ्गवाची मुख शब्द को अन्तोदात्त होता है—

(3) दीर्घमुखा शाला
स्वाङ्ग मद्रवाचिलक्षण का यहाँ ग्रहण होता है।

(2831) नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः *168* (3902)

अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स-इत्येतेभ्यः परं मुखं स्वाङ्गवाचि बहुव्रीहौ समासे नान्तोदात्तं भवति। अव्यय-उच्चैर्मुखः। नीचैर्मुखः। दिक्शब्द-प्राङ्मुखः। प्रत्यङ्मुखः। गो-गोमुखः। महत्-महामुखः। स्थूल-स्थूलमुखः। मुष्टि-मुष्टिमुखः। पृथु-पृथुमुखः। वत्स-वत्समुखः। पूर्वपदप्रकृतिस्वरो यथायोगमेषु भवति। गोमुष्टिवत्सपूर्वस्योपमानलक्षणो विकल्पः पूर्वविप्रतिषेधेन बाध्यते।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में अव्यय, दिशावाची शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु तथा वत्स—इन शब्दों से उत्तर स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द अन्तोदात्त नहीं होता है।

उदा० (क) अव्ययात्—
(1) उच्चैर्मुखः
प्रकृतिस्वर हुआ।
(2) नीचैर्मुखः (पूर्ववत्)।

(ख) दिक्शब्दात्—

(3) प्राङ्मुखः (पूर्ववत्)।

(4) प्रत्यङ्मुखः

(ग) गोशब्दात्—

(5) गोमुखः

गोरिव मुखं यस्य सः।

(घ) महत् शब्दात्—

(6) महामुखः

महद् मुखं यस्य सः।

(ङ) स्थूलशब्दात्—

(7) स्थूलमुखः (पूर्ववत्)।

(च) मुष्टिशब्दात्—

(8) मुष्टिमुखः (पूर्ववत्)।

(छ) पृथुशब्दात्—

(9) पृथुमुखः (पूर्ववत्)।

(ज) वत्स—

(10) वत्समुखः (पूर्ववत्)।

पूर्वपद०—इनमें पूर्वपद प्रकृतिस्वर यथायोग होता है। गो, मुष्टि तथा वत्स शब्द हैं पूर्व में जिसके, उनका उपमानलक्षण पाक्षिक स्वर का पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा बाध होता है।

(2832) निष्ठोपमानादन्यतरस्याम् *169* (3903)

निष्ठान्तादुपमानवाचिनश्च मुखं स्वाङ्गमुत्तरपदमन्यतरस्यां बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति। प्रक्षालितमुखः प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः। यदैतदुत्तरपदान्तोदात्तत्वं न भवति, तदा 'निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम्' (6.2.110) इति पक्षे पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्, तदभावपक्षेऽपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन गतिस्वर इति त्रीण्युदाहरणानि भवन्ति। उपमानात्–सिंहमुखः, सिंहमुखः। व्याघ्रमुखः, व्याघ्रमुखः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त व उपमानवाची शब्दों से उत्तर स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द को विकल्प से अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) प्रक्षालितमुखः

अन्तोदात्त हुआ।

यदैत०—यह जो उत्तरपद को अन्तोदात्त नहीं होता है, तब 'निष्ठोपसर्गपूर्व०' के द्वारा पक्ष में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है। उसके अभावपक्ष में भी पूर्वपद के प्रकृतिस्वर होने से गतिस्वर होता है। इस प्रकार तीन उदाहरण होते हैं।

(2) प्रक्षालितमुखः

पूर्वपद को अन्तोदात्त।

(3) प्रक्षालितमुखः

गतिस्वर हुआ।

(4) सिंहमुखः

अन्तोदात्त।

(5) सिंहमुखः

प्रकृतिस्वर हुआ।

(6) व्याघ्रमुखः

अन्तोदात्त।

(7) व्याघ्रमुखः

प्रकृतिस्वर।

(2833) जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः *170* (3904)

जातिवाचिन आच्छादनवर्जितात् कालवाचिनः सुखादिभ्यश्च परं क्तान्तं कृतमितप्रतिपन्नान् वर्जयित्वा बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति। सारङ्गजग्धः। पलाण्डुभक्षितः। सुरापीतः। काल–मासजातः। संवत्सरजातः। द्व्यहजातः। त्र्यहजातः। सुखादिभ्यः–सुखजातः। दुःखजातः। तृप्रजातः। जात्यादिभ्य इति किम्? पुत्रजातः। अहिताग्न्यादित्वात्परनिपातः। अनाच्छादनादिति किम्? वस्त्रच्छन्नः। वसनच्छन्नः। अकृतमितप्रतिपन्ना इति किम्? कुण्डकृतः। कुण्डमितः। कुण्डप्रतिपन्नः। एतेषु बहुव्रीहिषु निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातो न भवति; अस्मादेव ज्ञापकात्। प्रत्युदाहरणेषु पूर्वपदप्रकृतिस्वरो योजयितव्यः। सुखादयस्तृतीयेऽध्याये (3.1.18) पठ्यन्ते।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में आच्छादनवाची शब्द को छोड़कर जो जातिवाची, कालवाची तथा सुखादि शब्द, उनसे उत्तर क्तप्रत्ययान्त शब्द को अन्तोदात्त होता है; परन्तु कृत, मित तथा प्रतिपन्न शब्दों को नहीं होता है।

उदा० (क) जातेः—

(1) सारङ्गजग्धः

अन्तोदात्त।

(2) पुलाण्डुभक्षितः (पूर्ववत्)।

(ख) कालात्—

(3) मासजातः
मासो जातो यस्य सः।

(4) संवत्सरजातः (पूर्ववत्)।
(5) द्व्यहजातः (पूर्ववत्)।
(6) त्र्यहजातः (पूर्ववत्)।

(ग) सुखादिभ्यः—

(7) सुखजातः (पूर्ववत्)।
(8) दुःखजातः (पूर्ववत्)।
(9) तृप्रजातः (पूर्ववत्)।

जात्यादिभ्य०—जातिवाची शब्दों से उत्तर को अन्तोदात्त होता है—

(10) पुत्रजांतः
आहिताग्न्यादि होने से परनिपात हुआ है।

अनाच्छादना०—आच्छादनवाची को छोड़कर शेष से उत्तर शब्द को अन्तोदात्त होता है।

(11) वस्त्रंच्छन्नः (पूर्ववत्)।
(12) वसंनच्छन्नः।

अकृत०—कृत, मित तथा प्रतिपन्न शब्दों को अन्तोदात्त नहीं होता है—

(13) कुण्डंकृतः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(14) कुण्डंमितः (पूर्ववत्)।
(15) कुण्डंप्रतिपन्नः (पूर्ववत्)।

एतेषु०—इन बहुव्रीहि समासों में निष्ठान्त पद का पूर्व निपात इस ज्ञापक से नहीं होता है। प्रत्युदाहरणों में पूर्वपद प्रकृतिस्वर का योग करना चाहिए। सुखादि शब्दों का तृतीय अध्याय में पाठ है।

(2834) वा जाते *171* (3905)

जातशब्द उत्तरपदे वाऽन्त उदात्तो भवति बहुव्रीहौ समासे जातिकालसुखादिभ्यः। दन्तजातः। दन्तंजातः। स्तनजातः। स्तनंजातः। कालात्–मासजातः। मासंजातः। संवत्सरजातः। संवत्सरजांतः। सुखादिभ्यः–सुखजातः। सुखजांतः। दुःखजातः। दुःखजांतः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में जातिवाची, कालवाची तथा सुखादि शब्दों से उत्तर 'जात' शब्द को विकल्प से अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) दन्तजातः
अन्तोदात्त।

(2) दन्तंजातः
पूर्वपद आद्युदात्त।

(3) मासजातः
अन्तोदात्त।

(4) मासंजातः
पूर्वपद आद्युदात्त।

(5) सुखजातः
अन्तोदात्त।

(6) सुखजांतः
पूर्वपद आद्युदात्त।

(7) दुःखजातः
अन्तोदात्त।

(8) दुःखजांतः
पूर्वपद आद्युदात्त।

(2835) नञ्सुभ्याम् *172* (3906)

नञ्सुभ्यां परमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति। अयवो देशः। अव्रीहिः। अमाषः। सुयवः। सुव्रीहिः। सुमाषः। *समासस्यैतदन्तोदात्तत्वमिष्यते*। समासान्ताश्चावयवा भवन्तीति–अनृचः, बह्वृच इत्यत्र कृते समासान्तेऽन्तोदात्तत्वं भवति।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में नञ् तथा सु से उत्तर शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अयवः
न विद्यन्ते यवा यस्मिन्।

(2) अव्रीहिः (पूर्ववत्)।
(3) अमाषः (पूर्ववत्)।
(4) सुयवः (पूर्ववत्)।
(5) सुव्रीहिः (पूर्ववत्)।
(6) सुमाषः (पूर्ववत्)।

समास०—समासलक्षण अन्तोदात्त होता है। समासान्त

अवयव होते हैं। अतः 'अनृचः' तथा 'बह्वृचः' यहाँ समासान्त करने पर अन्तोदात्त होता है।

(2836) कपि पूर्वम् *173* (3907)

नञ्सुभ्यां कपि परतः पूर्वमन्तोदात्तं भवति। अकुमारीको देशः। अवृषलीकः। अब्रह्मबन्धूकः। सुकुमारीकः। सुवृषलीकः। सुब्रह्मबन्धूकः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में नञ् और सु से उत्तर जो शब्द, उसे 'कप्' प्रत्यय से पूर्व अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अकुमारीकः

'नद्यृतश्च' से 'कप्' होता है।

(2) अवृषलीकः (पूर्ववत्)।

(3) अब्रह्मबन्धूकः (पूर्ववत्)।

(4) सुवृषलीकः (पूर्ववत्)।

(5) सुब्रह्मबन्धूकः (पूर्ववत्)।

(2837) ह्रस्वाऽन्तेऽन्त्यात्पूर्वम् *174* (3908)

ह्रस्वोऽन्तो यस्य तदिदं ह्रस्वान्तमुत्तरपदं समासो वा, तत्रान्त्यात् पूर्वमुदात्तं भवति कपि परतो नञ्सुभ्यां परं बहुव्रीहौ समासे। अयवको देशः। अव्रीहिकः। अमाषकः। सुयवकः। सुव्रीहिकः। सुमाषकः। पूर्वमिति वर्त्तमाने पुनः पूर्वग्रहणं प्रवृत्तिभेदेन नियमप्रतिपत्त्यर्थम्–ह्रस्वान्तेऽन्त्यादेव पूर्वमुदात्तं भवति, न कपि पूर्वमिति। तेन अज्ञकः, सुज्ञकः इत्यत्र कबन्तस्यैवान्तोदात्तत्वं भवति।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में नञ् तथा सु शब्दों से उत्तर ह्रस्वान्त उत्तरपद के अन्त्य स्वर से पूर्व को उदात्त होता है, कप् परे रहते।

उदा० (1) अयवकः

पूर्व को उदात्त।

(2) अव्रीहिकः (पूर्ववत्)।

(3) अमाषकः (पूर्ववत्)।

(4) सुयवकः (पूर्ववत्)।

(5) सुव्रीहिकः (पूर्ववत्)।

(6) सुमाषकः (पूर्ववत्)।

'पूर्वम्' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी पुनः 'पूर्व' पद का ग्रहण प्रवृत्तिभेद के द्वारा नियम की प्रतिपत्ति के लिए है। ह्रस्वान्त उत्तरपद के रहते ही पूर्व को उदात्त होता है; कप् के परे रहते 'पूर्व' को नहीं होता। तब निम्नलिखित कप् प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है—

(7) अज्ञकः।

(8) सुज्ञकः।

(2838) बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि *175* (3909)

उत्तरपदार्थबहुत्वे यो बहुशब्दो वर्त्तते तस्मान्नञ इव स्वरो भवति। 'नञ्सुभ्याम्' (6.2.172) इत्युक्तम्, बहोरपि तथा भवति–बहुयवो देशः, बहुव्रीहिः, बहुतिलः। 'कपि पूर्वम्' (6.2.173) इत्युक्तम्, बहोरपि तथा भवति–बहुकुमारीको देशः, बहुवृषलीकः, बहुब्रह्मबन्धूकः। ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम्' (6.2.174) इत्युक्तम्, बहोरपि तथा भवति–बहुयवको देशः, बहुव्रीहिकः, बहुमाषकः। 'नञो जरमरमित्रमृताः' (6.2.116) इत्युक्तम्, बहोरपि तथा भवति–बहुजरः। बहुमरः। बहुमित्रः। बहुमृतः। उत्तरपदभूम्नीति किम्? बहुषु मनोऽस्य बहुमना अयम्।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उत्तरपद के बहुत्व अर्थ में विद्यमान 'बहु' शब्द से उत्तर शब्द को नञ् के समान स्वर होता है।

उदा० (1) बहुयवः

'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्त।

(2) बहुव्रीहिः (पूर्ववत्)।

(3) बहुतिलः (पूर्ववत्)।

कपि०—'कपि पूर्वम्' यह कहा जा चुका है। अतः बहुपूर्वक से भी वैसा होता है।

(4) बहुकुमारीको देशः

'कप्' से पूर्व को हुआ।

(5) बहुवृषलीकः (पूर्ववत्)।

(6) बहुब्रह्मबन्धूकः (पूर्ववत्)।

ह्रस्वान्ते—'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्' यह कहा जा चुका है।

(7) बहुमरः

उत्तरपद आद्युदात्त।

(8) बहुमित्रः (पूर्ववत्)।

(9) बहुमृतः (पूर्ववत्)।

उत्तरपद०—निम्नलिखित में नञ् स्वर नहीं होता है—

(10) बहुमना अयम्

बहुषु मनोऽस्य।

(2839) न गुणादयोऽवयवाः *176* (3910)

गुणादयोऽवयववाचिनो बहोरुत्तरे बहुव्रीहौ नान्तोदात्ता भवन्ति। बहुगुणा रज्जुः। बह्वक्षरं पदम्। बहुच्छन्दोमानम्। बहुसूक्तः। बह्वध्यायः। गुणादिराकृतिगणो द्रष्टव्यः। अवयवा इति किम्? बहुगुणो ब्राह्मणः। अध्ययनश्रुतसदाचारादयोऽत्र गुणाः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में 'बहु' से उत्तर अवयववाची गुणादि शब्दों को अन्तोदात्त नहीं होता है।

उदा० (1) बहुगुंणा
बहुव्रीहौ प्रकृत्या०। लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च (उ०सू० 1.29)

(2) बह्वक्षरम् (पूर्ववत्)।
(3) बहुच्छंन्दो मानम् (पूर्ववत्)।
(4) बहुसूंक्तः (पूर्ववत्)।
(5) बह्वध्यांयः (पूर्ववत्)।

गुणादि०—गुणादि आकृतिगण हैं।

अवयवा०—अवयववाची शब्द से ही निषेध होता है—

(6) बहुगुणो ब्राह्मणः
यहाँ निषेध नहीं हुआ।
यहाँ अध्ययन, श्रुत तथा सदाचार आदि गुण हैं।

(2840) उपसर्गात् स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु *177* (3911)

उपसर्गात् स्वाङ्गं ध्रुवं पर्शुवर्जितमन्तोदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे। प्रपृष्ठः। प्रोदरः। प्रललाटः। 'ध्रुवम्' इत्येकरूपमुच्यते। ध्रुवमस्य शीतमिति यथा। सततं यस्य प्रगतं पृष्ठं भवति स प्रपृष्ठः। उपसर्गादिति किम्? दर्शनीयललाटः। स्वाङ्गमिति किम्? प्रशांखो वृक्षः। ध्रुवमिति किम्? उद्बांहुः क्रोशति। उपर्श्विति किम्? उत्पंर्शुः। विपंर्शुः।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में उपसर्ग से उत्तर पशु शब्द से अतिरिक्त अन्य ध्रुव स्वाङ्गवाची शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) प्रपृष्ठः
सततं यस्य प्रगतं पृष्ठं भवति।
(2) प्रोदरः (पूर्ववत्)।
(3) प्रललाटः (पूर्ववत्)।

ध्रुवम्०—ध्रुव शब्द अवयव अर्थ में भी होता है। यथा—'ध्रुवमपायेऽपादानम्'। ध्रुव शब्द एकस्वरूप में भी होता है। यथा—ध्रुवमस्य शीतम् इति।

(4) प्रपृष्ठः
सततं यस्य प्रगतं पृष्ठं भवति—इस अर्थ में समास हुआ। पृष्ठ शब्द अन्तोदात्त है।

उपसर्गा०—उपसर्ग से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है—

(5) दर्शनींयललाटः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

स्वाङ्ग—स्वाङ्गवाची को ही अन्तोदात्त होता है—

(6) प्रशांखः (पूर्ववत्)।

ध्रुव०—ध्रुव स्वाङ्गवाची को ही अन्तोदात्त होता है—

(7) उद्बांहुः क्रोशति
यहाँ नहीं हुआ।

अपर्श्वि०—पर्शु शब्द को छोड़कर अन्तोदात्त होता है—

(8) उत्पंर्शु
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(9) विपंर्शुः (पूर्ववत्)।

(2841) वनं समासे *178* (3912)

समासमात्रे 'वनम्' इत्येतदुत्तरपदमुपसर्गात्परमन्तोदात्तं भवति। प्रवणे यष्टव्यम्। निर्वणे प्रणिधीयते। 'प्रनिरन्तः' (8.4.5) इति णत्वम्। समासग्रहणं समासमात्रपरिग्रहार्थम्, बहुव्रीहावेव हि स्यात्।

अर्थ—समासमात्र में उपसर्ग से उत्तर जो 'वन' शब्द, ऐसे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) प्रवणम्
अन्तोदात्त।
(2) निर्वणम् (पूर्ववत्)।

प्रनि०—'प्रनिरन्तर्' से णत्व होता है। 'समास' पद का ग्रहण समासमात्र के परिग्रह के लिए बहुव्रीहि में ही होता है।

(2842) अन्तः *179* (3913)

अन्तश्शब्दादुत्तरं वनमन्तोदात्तं भवति। अन्तर्वणो देशः। अनुपसर्गार्थ आरम्भः।

अर्थ—'अन्तः' से उत्तर जो 'वन' शब्द, ऐसे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अन्तर्वणः
अन्तोदात्त।

अनुप०—यह उपसर्ग से रहित के लिए विधान है।

(2843) अन्तश्च *180* (3914)

अन्तशशब्दश्चोत्तरपदमुपसर्गादन्तोदात्तं भवति। प्रान्तः। पर्यन्तः। बहुव्रीहिरयम्, प्रादिसमासो वा।

अर्थ—उपसर्ग से उत्तर जो 'अन्तः' शब्द, ऐसे उत्तरपद को अन्तोदात्त; होता है।

उदा० (1) प्रान्तः
अन्तोदात्त।

(2) पर्यन्तः (पूर्ववत्)।
यह बहुव्रीहि समास अथवा प्रादिसमास है।

(2844) न निविभ्याम् *181* (3915)

नि, वि–इत्येताभ्यामुत्तरोऽन्तशब्दो नान्तोदात्तो भवति। न्यंन्तः। व्यंन्तः (तै०ब्रा० 2.1.3.1)। पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे कृते यणादेशः। तत्र 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इति स्वरितो भवति।

अर्थ—नि तथा वि उपसर्गों से उत्तर 'अन्त' शब्द को अन्तोदात्त नहीं होता है।

उदा० (1) न्यंन्तः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।
(2) व्यंन्तः (पूर्ववत्)।

पूर्वपद०—पूर्वपद को प्रकृतिस्वर करने पर यणादेश होता है। यहाँ 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' से स्वरित होता है।

(2845) परेरभितोभावि मण्डलम् *182* (3916)

परेरुत्तरमभितोभाविवचनं मण्डलं चान्तोदात्तं भवति। परिकूलम्। परितीरम्। परिमण्डलम्। बहुव्रीहिरयम्, प्रादिसमासः, अव्ययीभावो वा। अव्ययीभावपक्षेऽपि हि 'परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु' (6.2.33) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं प्राप्तमनेन बाध्यते। अभित इत्युभयतः, अभितो भावोऽस्यास्तीति तदभितोभावि। यच्चैवं स्वभावं कूलादि, तदभितोभाविग्रहणेन गृह्यते।

अर्थ—परि उपसर्ग से उत्तर अभितोभाविवाची तथा मण्डल शब्द को अन्तोदात्त स्वर होता है।

उदा० (1) परिकूलम्
अन्तोदात्त।

(2) परितीरम् (पूर्ववत्)।
(3) परिमण्डलम् (पूर्ववत्)।

बहुव्रीहि०—यह बहुव्रीहि है अथवा प्रादिसमास है अथवा अव्ययीभाव है। अव्ययीभाव पक्ष में भी 'परिप्रत्युपापावर्ज्यमानाऽहो०' से प्राप्त पूर्वपद के प्रकृतिस्वर का बाध होता है।

'अभितो भवनं यस्य स्वभावः' उसका अभितोभावी के द्वारा ग्रहण होता है; उसके विपरीत स्वभाव का नहीं। जो इस प्रकार के स्वभाव वाला कूल आदि है, उसका अभितोभावी के द्वारा ग्रहण होता है।

(2846) प्रादस्वाङ्गं संज्ञायाम् *183* (3917)

प्रादुत्तरपदमस्वाङ्गवाचि संज्ञायां विषयेऽन्तोदात्तं भवति। प्रकोष्ठम्। प्रगृहम्। प्रद्वारम्। अस्वाङ्गमिति किम्? प्रहंस्तम्। प्रपंदम्। संज्ञायामिति किम्? प्रपींठम्।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में 'प्र' उपसर्ग से उत्तर अस्वाङ्गवाची शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) प्रकोष्ठम्
'उषिकुषिगातिभ्यस्थन्' से 'थन्' प्रत्यय होकर 'कोष्ठ' शब्द आद्युदात्त होता है। अन्तोदात्त हुआ।

(2) प्रगृहम्
'गेहे कः' से 'क' होकर 'गृह' शब्द बनता है। गृह शब्द अन्तोदात्त है।

(3) प्रद्वारम्
'नव्विषयस्यानिसन्तस्य' से द्वार शब्द आद्युदात्त होता है। यहाँ पर अन्तोदात्त हुआ।

अस्वाङ्ग०—स्वाङ्गवाची को छोड़कर अन्तोदात्त होता है—
(4) प्रहंस्तम्
'हसिमृगिणवामिदमि' से 'तन्' हुआ। आद्युदात्त हुआ।
(5) प्रपंदम्
पद शब्द आद्युदात्त है।

सञ्ज्ञा०—सञ्ज्ञा के विषय में ही अन्तोदात्त होता है—
प्रपींठम्
अतः अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(2847) निरुदकादीनि च *184* (3918)

निरुदकादीनि च शब्दरूपाण्यन्तोदात्तानि भवन्ति।

निरुदकम्। निरुलपम्। निरुपलमित्यन्ये पठन्ति। निर्मक्षिकम्। निर्मशकम्। एषां प्रादिसमासः, बहुव्रीहिर्वा। अव्ययीभावे तु समासान्तोदात्तत्वेनैव सिद्धम्। निष्कालकः। निष्क्रान्तः कालकादिति कन्प्रत्ययान्तेन कालशब्देन प्रादिसमासः। निष्कालिकः-इत्यन्ये पठन्ति। निष्पेषः, दुस्तरीपः 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्यः ईः' (उ०सू० 438)-तरीः, तां पातीति तरीपः, कुत्सितस्तरीपो दुस्तरीपः। निस्तरीप इति केचित् पठन्ति। अपरे-निस्तरीक इति। ते तरीशब्दान्ते बहुव्रीहौ कपं कुर्वन्ति। निरजिनम्। उदजिनम्। उपाजिनम्। *परेर्हस्तपादकेशकर्षाः* (ग०सू० 175)। परिहस्तः। परिपादः। परिकेशः। परिकर्षः। निरुदकादिराकृतिगणः।

अर्थ—निरुदकादि शब्दों को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) निरुदकम्
अन्तोदात्त हुआ।

(2) निरुपलम्
कुछ लोग 'निरुपल' पाठ स्वीकार करते हैं।

(3) निर्मशकम् (पूर्ववत्)।
(4) निर्मक्षिकम् (पूर्ववत्)।

इनका बहुव्रीहि समास है अथवा प्रादिसमास है। अव्ययीभाव की दशा में समासान्तोदात्त से सिद्ध ही है।

(5) निष्कालकः (पूर्ववत्)।
(6) निष्क्रान्तः (पूर्ववत्)।

कालका०—'कालकात्' से कन् प्रत्ययान्त काल शब्द के साथ प्रादि समास है। कुछ विद्वान् 'निष्कालिक' पाठ स्वीकार करते हैं।

(7) निष्पेषः
घञ् होने से 'पेष' शब्द आद्युदात्त है।

(8) दुस्तरीपः
'तरीप' शब्द अन्तोदात्त है।

अवितॄ०—'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' से 'ई' होता है। तरीः। तां पातीति तरीपः। कुत्सितस्तरीपो दुस्तरीपः। कुछ विद्वान् 'निस्तरीप' पाठ मानते हैं। अन्य 'निस्तरीक' पाठ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार तरीशब्दान्त बहुव्रीहि से 'कप्' करते हैं।

(9) निरजिनम्
अजिन शब्द अन्तोदात्त है।

(10) उदजिनम् (पूर्ववत्)।
(11) उपाजिनम् (पूर्ववत्)।

परि शब्द से उत्तर हस्त, पाद, केश तथा कर्ष शब्दों को आद्युदात्त होता है।

(12) परिहस्तः
आद्युदात्त।

(13) परिपादः (पूर्ववत्)।
(14) परिकेशः (पूर्ववत्)।
(15) परिकर्षः (पूर्ववत्)।

'निरुदकादि गण' आकृतिगण हैं।

(2848) अभेर्मुखम् *185* (3919)

अभेरुत्तरं मुखमन्तोदात्तं भवति। अभिमुखः। बहुव्रीहिरयम्, प्रादिसमासो वा। अव्ययीभावे तु समासान्तोदात्तत्वेनैव सिद्धम्। 'उपसर्गात्स्वाङ्गम्' (6.2.177) इति सिद्धे वचनमबहुव्रीह्यर्थम्, अध्रुवार्थम्, अस्वाङ्गार्थं च। अभिमुखा शाला।

अर्थ—अभि उपसर्ग से उत्तर जो 'मुख' शब्द, ऐसे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अभिमुखः
अन्तोदात्त हुआ।

यह बहुव्रीहि है अथवा प्रादिसमास है। अव्ययीभाव की दशा में समासान्तोदात्त से ही सिद्ध है। 'उपसर्गात् स्वाङ्गम्०' से सिद्ध होने पर भी पुनः विधान बहुव्रीहि, ध्रुव तथा स्वाङ्गवाची—इनसे अतिरिक्त विषय के लिए किया गया है।

(2849) अपाच्च *186* (2920)

अपाच्चोत्तरं मुखमन्तोदात्तं भवति। अपमुखः। अपमुखम्। अव्ययीभावोऽप्यत्र प्रयोजयति। तत्रापि हि परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु' (6.2.33) इत्युक्तम्। योगविभाग उत्तरार्थः।

अर्थ—अप उपसर्ग से उत्तर जो 'मुख' शब्द, ऐसे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अपमुखः
अन्तोदात्त हुआ।

(2) अपमुखम् (पूर्ववत्)।

यहाँ अव्ययीभाव भी प्रयुक्त होता है। यहाँ योगविभाग उत्तर शास्त्र के लिए है।

(2850) स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनामनाम च *187* (3921)

स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि—इत्येतान्युत्तरपदानि सीरनामानि च नामशब्दश्च अपादुत्तराण्यन्तोदात्तानि भवन्ति। अपस्फिगम्। अपपूतम्। अपवीणम्। अपाञ्जः। अपाध्वा। 'उपसर्गादध्वनः' (5.4.85) इति यदा समासान्तो नास्ति, तदाऽनेनान्तोदात्तत्वं भवति। तस्मिन् हि सत्यच्प्रत्ययस्य चित्त्वादेव सिद्धम्। 'अनित्यश्च समासान्तः' इत्येतदेव ज्ञापकम्। अपकुक्षिः। अपसीरः। अपहलम्। अपलाङ्गलम्। अपनाम। सर्वत्र प्रादिसमासः, बहुव्रीहिः, अव्ययीभावो वा। स्फिगपूतकुक्षीणां ग्रहणमबहुव्रीह्यर्थम्, अध्रुवार्थम्, (म० भा०) अस्वाङ्गार्थं च।

अर्थ—अप उपसर्ग से उत्तर स्फिग, पूत वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि, सीर तथा नाम शब्दों को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अपस्फिगम्
अन्तोदात्त।

(2) अपपूतम् (पूर्ववत्)।
(3) अपवीणम् (पूर्ववत्)।
(4) अपाञ्जः (पूर्ववत्)।
(5) अपाध्वा (पूर्ववत्)।

उपसर्गा०—'उपसर्गादध्वनः' से जब समासान्त नहीं होता है, तब इससे अन्तोदात्त होता है। ऐसा होने पर अच् प्रत्यय होकर उसके चित् होने से ही सिद्ध है। समासान्त अनित्य होता है—यह ज्ञापक है।

(6) अपकुक्षिः (पूर्ववत्)।
(7) अपसीरः (पूर्ववत्)।
(8) अपहलम् (पूर्ववत्)।
(9) अपलाङ्गलम् (पूर्ववत्)।
(10) अपनाम (पूर्ववत्)।

सर्वत्र बहुव्रीहि, प्रादि समास अथवा अव्ययीभाव—इनमें से कोई है। बहुव्रीहि, ध्रुव तथा स्वाङ्गवाची से अतिरिक्त विषय के लिए स्फिग, पूत आदि शब्दों का ग्रहण है।

(2851) अधेरुपरिस्थम् *188* (3922)

अधेरुत्तरमपरिस्थवाचि अन्तोदात्तं भवति। अधिदन्तः। अधिकर्णः। अधिकेशः। अध्यारूढो दन्त इति प्रादिसमासः। अध्यारूढो वा दन्त इति समानाधिकरण उत्तरपदलोपी समासः। दन्तस्योपरि योऽन्यो दन्तो जायते स उच्यते = अधिदन्त इति। उपरिस्थमिति किम्? अधिकरणम्।

अर्थ—अधि उपसर्ग से उत्तर उपरिस्थवाची उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अधिदन्तः
अध्वारूढो दन्तः—प्रादि समास अथवा समानाधिकरण उत्तरपदलोपी समास है।

(2) अधिकर्णः (पूर्ववत्)
(3) अधिकेशः (पूर्ववत्)।

दन्तस्यो०—दन्त के ऊपर जो दन्त उत्पन्न होता है, उसे अधिदन्त कहते हैं।

उपरिस्थ०—उपरिस्थवाची शब्द को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) अधिकरणम्
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(2852) अनोरप्रधानकनीयसी *189* (3923)

अनोरुत्तरमप्रधानवाचि कनीयश्चान्तोदात्तं भवति। अनुगतो ज्येष्ठमनुज्येष्ठः। अनुमध्यमः। पूर्वपदार्थप्रधानः प्रादिसमासोऽयम्। अनुगतः कनीयान् अनुकनीयान्। उत्तरपदार्थप्रधानोऽयम्। प्रधानार्थं च कनीयोग्रहणम्। अप्रधानकनीयसी इति किम्? अनुगतो ज्येष्ठोऽनुज्येष्ठः।

अर्थ—अनु उपसर्ग से उत्तर अप्रधानवाची शब्द को तथा कनीयस् शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अनुज्येष्ठः
अनुगतो ज्येष्ठम्।

(2) अनुमध्यमः
यह पूर्वपदप्रधान प्रादि समास है।

(3) अनुकनीयान्
अनुगतः कनीयान्। यह उत्तरपदप्रधान समास है। प्रधानार्थ कनीयस् का ग्रहण है।

अप्रधान०—अप्रधानवाची शब्द को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) अनुंज्येष्ठः
अनुगतो ज्येष्ठः—यहाँ नहीं हुआ।

(2853) पुरुषश्चान्वादिष्टः *190* (3924)

पुरुषशब्दोऽन्वादिष्टवाची चानोरुत्तरोऽन्तोदात्तो भवति। अन्वादिष्टः पुरुषः अनुपुरुषः। अन्वादिष्टः = अन्वाचितः, कथितानुकथितो वा। अन्वादिष्ट इति किम्? अनुगतः पुरुषोऽनुंपुरुषः।

अर्थ—अनु उपसर्ग से उत्तर अन्वादिष्टवाची 'पुरुष' शब्द को अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अनुपुरुषः
अन्वादिष्टः पुरुषः।

अन्वादिष्ट०—अन्वादिष्टवाची को ही अन्तोदात्त होता है—

(2) अनुपुरुषः
अनुगतः पुरुषः—यहाँ नहीं हुआ।

(2854) अतेरकृत्पदे *191* (3925)

अतेः परमकृदन्तं पदशब्दश्चान्तोदात्तो भवति। अत्यङ्कुशो नागः। अतिकशोऽश्वः। पदशब्दः खल्वपि–अतिपदा शक्वरी। अकृत्पदे इति किम्? अतिंकारकः। *अतेर्धातुलोप इति वक्तव्यम्* (का०वा०)। इह मा भूत्–शोभनो गार्ग्यः अंतिगार्ग्यः। इह च यथा स्यात्–अतिक्रान्तः कारकादतिकारक इति।

अर्थ—अति उपसर्ग से उत्तर जो अकृदन्त शब्द तथा पद शब्द इन्हें अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) अत्यङ्कुशः
अतिक्रान्तः अङ्कुशम्

(2) अतिकेशः (पूर्ववत्)।
(3) अतिपदा शक्वरी (पूर्ववत्)।

अकृत्पदे०—अकृदन्त शब्द और पद शब्द को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) अतिंकारकः
यहाँ नहीं हुआ।

अतेर्धातु०—अति से पर धातुलोप में अन्तोदात्त होता है। अतः यहाँ नहीं होता है।

(5) अतिंगार्ग्यः—शोभनो गार्ग्यः।
निम्नलिखित में होता है—

(6) अतिकारकः
अतिक्रान्तः कारकात्।

(2855) नेरनिधाने *192* (3926)

नेः परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवत्यनिधाने। निधानम् = अप्रकाशता, (तद्भिन्नमनिधानम् = प्रकाशनम्।) निमूलम्। न्यक्षम्। नितृणम्। बहुव्रीहिरयम्, प्रादिसमासो वा। अव्ययीभावे तु समासान्तोदात्तत्वेनैव सिद्धम्। अनिधान इति किम्? निवांग्वृषलः। निदंण्डः। निहितवाक्, निहितदण्ड इत्यर्थः। निशब्दोऽत्र निधानार्थं ब्रवीति। प्रादयो हि वृत्तिविषये ससाधनां क्रियामाहुः।

अर्थ—नि उपसर्ग से उत्तर जो शब्द उसे अन्तोदात्त होता है, प्रकाशन अर्थ में।

उदा० (1) निमूलम्
अन्तोदात्त।

(2) न्यक्षम् (पूर्ववत्)।
(3) नितृणम्

यह बहुव्रीहि है या प्रादिसमास है। अव्ययीभाव की दशा में समासलक्षण अन्तोदात्त से ही सिद्ध है।

अनिधान०—प्रकाशन अर्थ में ही अन्तोदात्त होता है—
निवांग् वृषलः—यहाँ नहीं हुआ।

(4) निदंण्डः
यहाँ नहीं हुआ।

निशब्द यहाँ निधान अर्थ को कहता है। प्रादि वृत्तिविषय में साधनसहित क्रिया को कहते हैं।

(2856) प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे *193* (3927)

प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्ता भवन्ति। प्रतिगतोंऽशु प्रत्यंशुः। प्रतिजनः। प्रतिराजा। राजशब्दः समासान्तस्यानित्यत्वाद्यदा टज् नास्ति तदा प्रयोजयति। तस्मिन्हि सति चित्वादेवान्तोदात्तत्वं सिद्धम्। तत्पुरुष इति किम्? प्रतिगता अंशवोऽस्य प्रत्यंशुरयमुष्ट्रः। अंशु। जन। राजन्। उष्ट्र। खेटक। अजिर। आर्द्रा। श्रवण। कृत्तिका। अर्द्ध। पुर–अंश्वादि।

अर्थ—तत्पुरुष समास में प्रति उपसर्ग से उत्तर जो अंशु आदि शब्द, उन्हें अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) प्रत्यंशुः
प्रतिगतोंऽशुः।

(2) प्रतिजनः (पूर्ववत्)।
(3) प्रतिराजा (पूर्ववत्)।

राजशब्द०—समासान्त के अनित्य होने से जब 'टच्' नहीं होता है, तब राज शब्द का प्रयोग होता है। उसके होने पर चित् होने से अन्तोदात्त सिद्ध होता है।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

तत्पुरुष०—तत्पुरुष में ही अन्तोदात्त होता है—

(4) प्रत्यंशुः
प्रतिगता अंशवोऽस्य।

(2857) उपाद् द्व्यजजिनमगौरादयः *194* (3928)

उपादुत्तरं द्व्यजजिनं चान्तोदात्तं भवति तत्पुरुषे समासे गौरादीन् वर्जयित्वा। उपगतो देवमुपदेवः। उपसोमः। उपेन्द्रः। उपहोडः। अजिन–उपाजिनम्। अगौरादय इति किम्? उपगौरः। उपतैषः। तत्पुरुष इत्येव–उपगतः सोमोऽस्य उपसोमः। गौर। तैष। नैष। तैट। लोट। जिह्वा। कृष्णा। कन्या। गुड। कल्य। वाह–गौरादिः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में उप उपसर्ग से उत्तर दो अच् वाले शब्द को तथा अजिन शब्द को अन्तोदात्त होता है, परन्तु 'गौर' आदि शब्दों को नहीं होता।

उदा० (1) उपदेवः
उपगतो देवम्।

(2) उपसोमः (पूर्ववत्)।
(3) उपेन्द्रः (पूर्ववत्)।
(4) उपहोडः (पूर्ववत्)।
(5) उपाजिनम् (पूर्ववत्)।

अगौराद०—गौरादि को छोड़कर अन्तोदात्त होता है—

(6) उपगौरः
यहाँ नहीं हुआ।

(7) उपनैषः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

तत्पुरुष०—तत्पुरुष समास में ही अन्तोदात्त होता है—

(8) उपसोमः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(2858) सोरवक्षेपणे *195* (3929)

सुशब्दात्परमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्तं भवति अवक्षेपणे गम्यमाने। अवक्षेपणम् = निन्दा। इह खल्विदानीं सुस्थण्डिले सुस्फिगाभ्यां सुप्रत्यवसितः। सुशब्दोऽत्र पूजायामेव। वाक्यार्थस्तु अवक्षेपणम्, असूयया तथाभिधानात्। सोरिति किम्? कुब्राह्मणः। अवक्षेपण इति किम्? शोभनेषु तृणेषु सुतृणेषु।

अर्थ—निन्दा अर्थ में वर्त्तमान तत्पुरुष समास में 'सु' उपसर्ग से उत्तर जो शब्द उसे अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) सुस्थण्डिलः
अन्तोदात्त।

(2) सुस्फीतः (पूर्ववत्)।
(3) सुप्रत्यवसितः (पूर्ववत्)।
सु शब्द यहाँ पूजा अर्थ में है।

सोरिति०—'सु' उपसर्ग से उत्तर को ही अन्तोदात्त होता है—

(4) कुब्राह्मणः
अव्ययस्वर हुआ।

अवक्षेप०—निन्दा अर्थ में ही अन्तोदात्त होता है।

(5) सुतृणेषु
शोभनेषु तृणेषु। अव्ययस्वर।

(2859) विभाषोत्पुच्छे *196* (3930)

उत्पुच्छशब्दे तत्पुरुषे विभाषाऽन्त उदात्तो भवति। उत्क्रान्तः पुच्छाद् उत्पुच्छः, उत्पुच्छः। यदा तु पुच्छमुदस्यति उत्पुच्छयति, उत्पुच्छयतेरच् उत्पुच्छः, तदा थाथादिसूत्रेण (6.2.144) नित्यमन्तोदात्तत्वे प्राप्ते विकल्पोऽयमिति सेयमुभयत्र विभाषा भवति। तत्पुरुष इत्येव–उदस्तं पुच्छमस्य उत्पुच्छः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में उत्पुच्छ शब्द को विकल्प से अन्तोदात्त स्वर होता है।

उदा० (1) उत्पुच्छः
पुच्छम् उदस्यति—उत्पुच्छयति। जब इस धातु से 'अच्' होता है, तब थाथादि सूत्र के द्वारा नित्य अन्तोदात्त प्राप्त होने पर यह विकल्प होता है। यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। पक्ष में—उत्पुच्छः।

तत्पुरुष—तत्पुरुष समास में ही अन्तोदात्त होता है—

(2) उत्पुच्छः

उत्क्रान्तः पुच्छात्।

(2860) द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ *197* (3931)

द्वि, त्रि–इत्येताभ्यामुत्तरेषु पाद, दत्, मूर्धन्–इत्येषूत्तरपदेषु यो बहुव्रीहिस्तत्र विभाषाऽन्त उदात्तो भवति। द्वौ पादावस्य द्विपात् (मै०सं० 2.6.8.3), द्विपा॑त्। त्रिपात्, त्रिपा॑त्। द्विदन्, द्विद॑न्। त्रिदन्, त्रिद॑न्। द्विमूर्धा, द्विमू॑र्धा। त्रिमूर्धा, त्रिमू॑र्धा। पादिति कृताकारलोपः पादशब्दो गृह्यते। ददिति कृतददादेशो दन्तशब्दः। मूर्धन्निति त्वकृतसमासान्तो नान्त एव मून्शब्दः। तस्यैतत्प्रयोजन्–असत्यपि समासान्तेऽन्तोदात्तत्वं यथा स्यात्। एतदेव ज्ञापकम्–अनित्यः समासान्तो भवतीति। यदापि समासान्तः क्रियते, तदापि बहुव्रीहेः कार्यित्वात् तदेकदेशत्वाच्च समासान्तस्यान्तोदात्तत्वं पक्षे भवत्येव–द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः। द्वित्रिभ्यामिति किम्? कल्याणमू॑र्धा। पादादिष्विति किम्? द्विहं॑स्तम्। बहुव्रीहाविति किम्? द्वयोर्मूर्धा द्विमूर्धा।

अर्थ—बहुव्रीहि समास में द्वि तथा त्रि शब्दों से उत्तर जो पाद्, दत् और मूर्द्धन् शब्द, ऐसे उत्तरपद को विकल्प से अन्तोदात्त होता है।

उदा० (1) द्विपात्
अन्तोदात्त।

(2) द्विपा॑त्
पक्ष में अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(3) त्रिपात् (पूर्ववत्)।
(4) त्रिपा॑त्
पक्ष में पूर्ववत्।

(5) द्विदन् (पूर्ववत्)।
(6) द्विद॑न्
पक्ष में पूर्ववत्।

(7) त्रिदन्
अन्तोदात्त।

(8) त्रिद॑न्
पक्ष में पूर्ववत्।

(9) द्विमूर्द्धा
अन्तोदात्त।

(10) द्विमू॑र्द्धा (पूर्ववत्)।
(11) त्रिमूर्द्धा
पूर्ववत् अन्तोदात्त।

(12) त्रिमू॑र्द्धा
पक्ष में पूर्ववत्।

पादिति०—'पाद्' के द्वारा अकारलोप करके 'पाद' शब्द का ग्रहण होता है। 'दद्' के द्वारा दद् आदेश करके 'दन्त' शब्द का ग्रहण होता है। 'मूर्द्धन्' के द्वारा समासान्त न करके नकारान्त 'मूर्द्धन्' शब्द का ग्रहण होता है। नकार का यहाँ प्रयोजन न होने पर भी समासान्त में अन्तोदात्त होता है। यह ज्ञापित होता है कि समासान्त अनित्य होता है। जब समासान्त किया जाता है, तब बहुव्रीहि के कार्यी होने से उसका एकदेश होने से पक्ष में समासान्त का अन्तोदात्त होता है।

(13) द्विमूर्द्धः
अन्तोदात्त हुआ।

(14) त्रिमूर्द्धः
अन्तोदात्त।

द्वित्रिभ्या०—द्वि तथा त्रि शब्दों से पर उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है—

(15) कल्याण॑मूर्द्धा
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

पादादि०—पाद् आदि शब्दों को अन्तोदात्त होता है—
द्विहं॑स्तम्
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

बहुव्रीहा०—बहुव्रीहि समास में ही अन्तोदात्त होता है—
द्विमूर्द्धा
द्वयोर्मूर्द्धा। अन्तोदात्त नहीं हुआ।

(2861) सक्थं चाक्रान्तात् *198* (3932)

सक्थमिति कृतसमासान्तः सक्थिशब्दोऽत्र गृह्यते, सोऽक्रान्तात्परो विभाषान्तोदात्तो भवति। गौरसं॑क्थः गौरसक्थः। श्लक्ष्णसं॑क्थः श्लक्ष्णसक्थः। अक्रान्तादिति किम्? चक्रसक्थः। षचश्चित्त्वान्नित्यमन्तोदात्तत्वं भवति।

अर्थ—'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०' से समासान्त 'षच्' प्रत्यय करके 'सक्थ' शब्द के द्वारा 'सक्थि' शब्द का ग्रहण होता है। 'क्र' शब्द नहीं है परे जिसके, ऐसे शब्द से उत्तर जो 'सक्थ' शब्द, उसे विकल्प से अन्तोदात्त होता है बहुव्रीहि में।

उदा० (1) गौरसक्थः
अन्तोदात्त हुआ।

(2) गौ॒रसं॑क्थः
पक्ष में पूर्वपद को अन्तोदात्त हुआ।

(3) श्ल॒क्ष्ण॒स॒क्थः
अन्तोदात्त हुआ।

(4) श्॒लक्ष्णसं॑क्थः
अन्तोदात्त नहीं हुआ।

अक्रान्तादि०—'क्र' शब्द नहीं है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द से उत्तर 'सक्थ' शब्दों को पाक्षिक अन्तोदात्त होता है—

(5) च॒क्र॒स॒क्थः
नित्य अन्तोदात्त हुआ है।
षच् के चित् होने से नित्य अन्तोदात्त हुआ।

(2862) परादिश्छन्दसि बहुलम् *199* (3933)

छन्दसि विषये परादिरुदात्तो भवति बहुलम्। परशब्देनात्र सक्थशब्द एव गृह्यते। अ॒ञ्जि॒सक्थ॑मालभेत। त्वा॒ष्ट्रौ लौ॑मश॒सक्थौ॑ (तै०सं० 5.5.23.1)। ऋ॒जु॒बा॒हुः। वा॒क्पतिः॑। चि॒त्पतिः॑।

परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते।
पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं ततः॥
(म० भा०)

परादिरुदाहृतः। परान्तश्च-*अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्* (मा०भा०)। त्रि॒ब॒न्धु॒रेण॑ त्रि॒वृता॒ रथे॑न त्रिच॒क्रेण॑ (ऋ० 1.118.2)। पूर्वान्तः-*पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृद्धादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्*। म॒रुद्वृ॑द्धः। पूर्वादिः-*पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्*। 'दिवो॑दासाय सामगाय ते' इत्येवमादि सर्वं संगृहीतं भवति।

इति श्रीवामनविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

अर्थ—वेद के विषय में समासमात्र में उत्तरपद को आद्युदात्त बहुलता से होता है। पर शब्द के द्वारा यहाँ सक्थ शब्द का ग्रहण होता है।

उदा० (1) अ॒ञ्जि॒सक्थ॑म्
'विशेषणं विशेष्येण०' से समास हुआ।

(2) लो॒म॒सक्थ॑ः (पूर्ववत्)।

(3) ऋ॒जु॒बा॒हुः॑ (पूर्ववत्)।

(4) वा॒क्पतिः॑
बहुलता से यहाँ भी आद्युदात्त हुआ।

(5) चि॒त्पतिः॑ (पूर्ववत्)।

परादिश्च—(वेद में) उत्तरपद को आद्युदात्त होता है। यथा—
अ॒ञ्जि॒सक्थ॑ः।

परान्तश्च—उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है। यथा—
त्रि॒च॒क्रः।

पूर्वान्तश्चाऽपि दृश्यते—पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है। यथा—
म॒रुद्वृ॑द्धः।

पूर्वादयश्च दृश्यन्ते—पूर्वपद को आद्युदात्त होता है। यथा—
दिवो॑दासः।

व्यत्ययो०—इस प्रकार वेद में बहुलता से विधि देखी जाती है।

अन्तो०—वेद के विषय में त्रिचक्र आदि शब्दों के उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है।

(6) त्रि॒च॒क्रः।

(7) त्रि॒वृ॒ता।

पूर्व०—वेद में मरुद्वृद्ध आदि शब्दों के पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है—

(8) म॒रुद्वृ॑द्धः।

पूर्वपदा०—वेद में दिवोदास आदि शब्दों के पूर्वपद को आद्युदात्त होता है—

(9) दिवो॑दासाय।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
षष्ठाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।



षष्ठाऽध्यायस्य तृतीयः पादः

(2863) अलुगुत्तरपदे *1* (958)

'अलुक्' इति च 'उत्तरपदे' इति च एतदधिकृतं वेदितव्यम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽलुगत्तरपद इत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' (6.3.2)। स्तोकान्मुक्तः। 'अल्पान्मुक्तः'। उत्तरपद इति किम्? निष्क्रान्तः स्तोकाद् निःस्तोकः। अन्यार्थमिदमुत्तरपदग्रहणमिहाप्यलुको निवृत्तिं करोतीत्येवमर्थं 'लक्षणप्रतिपदोक्त' (व्या०प० 3) परिभाषा नाश्रयितव्या। अलुगाधिकारः प्रागानङः (6.3.25)। उत्तरपदाधिकारः प्रागङ्गाधिकारात् (6.4.1)।

अर्थ—अलुक्, उत्तरपदे—इनका अधिकार जानना चाहिए। इससे आगे जो कहा जायेगा, वहाँ उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है—ऐसा अधिकार जानना चाहिए।

पूर्वपद व उत्तरपद का व्यवहार समास की दशा में ही सम्भव है। अतः प्रकृत अधिकार का क्षेत्र समासविधि ही है। आगे कहा जायेगा—'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्यादि। उदाहरण अगले सूत्र के अन्तर्गत देखिये।

उत्तरपद०—उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है—

उदा० (1) निस्तोकः
निष्क्रान्तः स्तोकात्
यहाँ नहीं हुआ।

अन्यथा०—अन्यथा अर्थ वाला यह उत्तरपद अलुक् की निवृत्ति कर देता है—इसके लिए लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा का आश्रय नहीं करना चाहिए। 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' (6.3.25) से पूर्व-पूर्व 'अलुक्' पद का अधिकार है। 'अङ्गस्य' से पूर्व-पूर्व 'उत्तरपदे' का अधिकार है।

(2864) पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः *2* (959)

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि स्तोकादीनि, तेभ्यः परस्याः पञ्चम्या उत्तरपदेऽलुग्भवति। स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रान्मुक्तः। समासे कृते प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि प्राप्ते प्रतिषेधः क्रियते। द्विवचनबहुवचनान्तानां तु स्तोकादीनामनभिधानात्समास एव न भवति–स्तोकाभ्यां मुक्तः, स्तोकेभ्यो मुक्त इति। तेनात्र न कदाचिदप्यैकपद्यम् ऐकस्वर्यं च भवति। *ब्राह्मणाच्छंसिन उपसंख्यानं कर्तव्यम्* (का०वा०)। ब्राह्मणादादाय शंसतीति ब्राह्मणाच्छंसी इति। ऋत्विग्विशेषस्य रूढिरियम्। तस्या व्युत्पत्तिरसता सता वाऽवयवार्थेन क्रियते।

अर्थ—स्तोक आदि शब्दों से उत्तर पञ्चमी विभक्ति का अलुक् होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) स्तोकान्मुक्तः
स्तोकाद् मुक्तः

(2) अल्पान्मुक्तः
अल्पाद् मुक्तः—पूर्ववत्।

(3) अन्तिकादागतः
अन्तिकाद् आगतः—पूर्ववत्।

(4) विप्रकृष्टादागतः (पूर्ववत्)।
(5) कृच्छ्रान्मुक्तः (पूर्ववत्)।

समासे०—समास करने पर प्रातिपदिक होने से सुप् का लुक् प्राप्त होता है। उसका निषेध किया जाता है। कथनं न होने से द्विवचनान्त व बहुवचनान्त स्तोकादि शब्दों का तो समास ही नहीं होता। यथा—
स्तोकाभ्यां मुक्तः।
इससे यहाँ कभी भी ऐकपद्य व एकस्वरता नहीं होती है।

ब्राह्मणाच्छं०—ब्राह्मण शब्द से पर विभक्ति का अलुक् होता है, शंसीन् शब्द परे रहते।

(6) ब्राह्मणाच्छंसी
ब्राह्मणाद् आदाय शंसति—यहाँ पञ्चमी का अलुक् हो गया है।

(2865) ओजःसहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः *3* (960)

ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस्–इत्येतेभ्य उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग्भवति उत्तरपदे। ओजसाकृतम्। सहसा-

कृतम्। अम्भसाकृतम्। तमसाकृतम्। *अञ्जस उपसंख्यानं कर्तव्यम्* (का०वा०)। अञ्जसाकृतम्। *पुंसानुजो जनुषान्ध इति वक्तव्यम्* (का०वा०)। पुंसानुजः।

अर्थ—ओजस्, सहस्, अम्भस् तथा तमस्—इन शब्दों से उत्तर तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) ओजसाकृतम्
ओजसा कृतम्

(2) सहसाकृतम् (पूर्ववत्)।
(3) अम्भसाकृतम् (पूर्ववत्)।
(4) तमसाकृतम् (पूर्ववत्)।

अञ्जस०—अञ्जस् शब्द से उत्तर तृतीया का अलुक् होता है—

(5) अञ्जसाकृतम् (पूर्ववत्)।

पुंसानु०—पुंसानज तथा जनुषान्ध शब्दों में विभक्ति का अलुक् होता है—

(6) पुंसानुजः
पुंसा हेतुनाऽनुजः।

(7) जनुषाऽन्धः
जनुषा हेतुना अन्धः.।

'तृतीया' इस प्रकार योगविभाग से समास होता है। जनुस् = जन्म।

(2866) मनसः संज्ञायाम् *4* (961)

मनस उत्तरस्यास्तृतीयायाः संज्ञायामलुग्भवति। मनसादत्ता। मनसागुप्ता। मनसासङ्गता। संज्ञायामिति किम्? मनोदत्ता। मनोगुप्ता।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में 'मनस्' से उत्तर तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है।

उदा० (1) मनसादत्ता
मनसा दत्ता।
(2) मनसागुप्ता (पूर्ववत्)।
(3) मनसासङ्गता (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञा०—सञ्ज्ञा के विषय में ही अलुक् होता है—

(4) मनोदत्ता
सञ्ज्ञा नहीं है। अतः अलुक् नहीं हुआ।

(5) मनोगुप्ता (पूर्ववत्)।

(2867) आज्ञायिनि च *5* (962)

आज्ञायिन्युत्तरपदे मनस उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग्भवति। मनसाऽऽज्ञातुं शीलमस्य मनसाज्ञायी।

अर्थ—आज्ञायिन् उत्तरपद रहते 'मनस्' शब्द से उत्तर तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है।

उदा० (1) मनसाऽऽज्ञायी
मनसाऽऽज्ञातुं शीलमस्य।

(2868) आत्मनश्च पूरणे *6* (963)

आत्मन उत्तरस्यास्तृतीयायाः पूरणप्रत्ययान्त उत्तरपदेऽलुग्भवति। आत्मनापञ्चमः। आत्मनाषष्ठः। 'तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (का०वा०) इति तृतीया। 'तृतीया' (2.1.30) इति योगविभागात्समासः। आत्मना वा कृतः पञ्चम आत्मनापञ्चमः। कथं 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव' इति? बहुव्रीहिरयम्—आत्मा चतुर्थोऽस्यासावात्मचतुर्थः (मा०भा०)।

अर्थ—'आत्मन्' शब्द से उत्तर तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है, पूरणप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) आत्मनापञ्चमः
आत्मना पञ्चमः।

(2) आत्मनाषष्ठः (पूर्ववत्)।

तृतीया०—'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' से तृतीया होती है। 'तृतीया' इस प्रकार योगविभाग से समास होता है। आत्मना वा कृतः पञ्चमः—आत्मनापञ्चमः।

जनादर्दनस्त्वात्मचतुर्थः—यह किस प्रकार साधु है।

यहाँ बहुव्रीहि समास है। अयमात्मा चतुर्थोऽस्यासौ। इस प्रकार इसकी साधुता होती है।

(2869) वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः *7* (964)

वैयाकरणानामाख्या वैयाकरणाख्या। आख्या = संज्ञा। यया संज्ञया वैयाकरणा एव व्यवहरन्ति तस्यामात्मन उत्तरस्याश्चतुर्थ्या अलुग्भवति। आत्मनेपदम्। आत्मनेभाषा। *तादर्थ्ये चतुर्थी* (का०वा०)। 'चतुर्थी' इति योगविभागात्समासः।

अर्थ—आख्या = सञ्ज्ञा। जिस सञ्ज्ञा के द्वारा वैयाकरण लोग व्यवहार करते हैं, उसका 'आत्मन्' शब्द से उत्तर चतुर्थी विभक्ति का अलुक् होता है।

उदा० (1) आत्मनेपदम्
आत्मने पदम्।

(2) आत्मनेभाषा
आत्मने भाषा।

यहाँ तादर्थ्य में चतुर्थी हुई है। 'चतुर्थी' इस प्रकार योगविभाग से समास हुआ है।

(2870) परस्य च *8* (965)

परस्य च या चतुर्थी तस्या वैयाकरणाख्यायामलुग्भवति। परस्मैपदम्। परस्मैभाषा।

अर्थ—वैयाकरण लोगों के कथन के विषय में 'पर' शब्द से उत्तर चतुर्थी विभक्ति का अलुक् होता है।

उदा० (1) परस्मैपदम्
परस्मै पदम्।

(2) परस्मैभाषा
परस्मै भाषा।

(2871) हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् *9* (966)

हलन्तादन्ताच्चोत्तरस्याः सप्तम्याः संज्ञायामलुग्भवति। युधिष्ठिरः। त्वचिसारः। गविष्ठिर इत्यत्र तु 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' (8.3.95) इत्यत एव वचनादलुक्। अदन्तात्–अरण्येतिलकाः। अरण्येमाषकाः। वनेकिंशुकाः। वनेहरिद्रकाः। वनेबल्बजकाः। पूर्वाह्णेस्फोटकाः। कूपेपिशाचकाः। हलदन्तादिति किम्? नद्यां कुक्कुटिका नदीकुक्कुटिका। भूम्यां पाशाः भूमिपाशाः। संज्ञायामिति किम्? अक्षशौण्डः। *हृद्द्युभ्यां ङे* (का०वा०)। हृद्, दिव्–इत्येताभ्यामुत्तरस्य ङेरलुक् भवति। हृदिस्पृक्। दिविस्पृक्।

अर्थ—संज्ञा अर्थ में हलन्त और अदन्त शब्दों से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) युधिष्ठिरः
युधि स्थिरः—ष्टुत्व।
(2) त्वचिसारः (पूर्ववत्)।
(3) गविष्ठिरः
गवियुधिभ्यां स्थिरः। गवि स्थिरः।
(4) अरण्येतिलकाः (पूर्ववत्)।
(5) अरण्येमाषकाः (पूर्ववत्)।
(6) वनेकिंशुकाः (पूर्ववत्)।
(7) वनेहरिद्रकाः (पूर्ववत्)।
(8) वनेबल्वजकाः (पूर्ववत्)।
(9) पूर्वाह्णेस्फोटकाः (पूर्ववत्)।
(10) कूपेपिशाचकाः (पूर्ववत्)।

हलदन्ता०—हलन्त व अदन्त से पर सप्तमी का अलुक् होता है।

(11) नदीकुक्कुटिका
नद्यां कुक्कुटिका—अलुक् नहीं हुआ।

(12) भूमिपाशा
भूम्यां पाशा—अलुक् नहीं हुआ।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा के अर्थ में ही अलुक् होता है—

(13) अक्षशौण्डः
अक्षेषु शौण्डः—सञ्ज्ञा नहीं है। अलुक् नहीं हुआ।

हृद्द्यु०—हृद् और दिव शब्दों से उत्तर 'ङि' विभक्ति का अलुक् होता है।

(14) हृदिस्पृक्
हृदि स्पृशतीति।

(15) दिविस्पृक् (पूर्ववत्)।

(2872) कारनाम्नि च प्राचां हलादौ *10* (968)

प्राचां देशे यत्कारनाम तत्र हलादावुत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या अलुग्भवति। कूपेशाणम्। दृषदिमाषकः। हलेद्विपदिका। हलेत्रिपदिका। कारविशेषस्य संज्ञा एताः, तत्र पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्। एते च त्रयो नियमविकल्पा अत्रेष्यन्ते–कारनाम्न्येव, प्राचामेव, हलादावेवेति। कारनाम्नीति किम्? अभ्यर्हिते पशुः अभ्यर्हितपशुः। कारादन्यस्यैतद्देयस्य नाम। प्राचामिति किम्? यूथे पशुः यूथपशुः। हलादाविति किम्? अविकटे उरणः अविकटोरणः। हलदन्तादित्येव–नद्यां दोहनी नदीदोहनी।

अर्थ—प्राच्य देश में जो कार नाम वाले शब्द, उनमें हलन्त

व अदन्त से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है, हलादि उत्तरपद रहते।

उदा० (1) सूपेशाणः
सूपे शाणः।

(2) दृषदिमाषकः (पूर्ववत्)।
(3) हलेद्विपदिका (पूर्ववत्)।
(4) हलेत्रिपदिका (पूर्ववत्)।

कार०—ये सभी कारविशेष के नाम हैं। यह पूर्व सूत्र के द्वारा सिद्ध है। तथापि नियमार्थ विधान है। यहाँ निम्नलिखित प्रकार से नियम होता है—

(क) कारनाम में ही उक्त अलुक् होता है,
(ख) प्राच्य देश में ही सूत्रोक्त अलुक् होता है,
(ग) हलादि उत्तरपद के रहते ही सूत्रोक्त अलुक् होता है।

कारनाम्नी०—कार के नाम वाले शब्द में ही सूत्रोक्त अलुक् होता है—

(5) अभ्यर्हितपशुः
अभ्यर्हिते पशुः—यहाँ नहीं हुआ।

प्राचामि०—प्राच्य देश में ही सूत्रोक्त अलुक् होता है—

(6) यूथपशुः
यूथे पशुः—अलुक् नहीं हुआ।

हलादावि०—हलादि शब्द उत्तरपद रहते अलुक् होता है—

(7) अविकटोरणः
अविकटे उरणः—यहाँ नहीं हुआ।

हलदन्ता०—हलन्त व अदन्त शब्दों से उत्तर विभक्ति का अलुक् होता है—

(8) नदीदोहनी
नद्यां दोहनी—यहाँ नहीं हुआ।

(2873) मध्याद् गुरौ *11* (969)

मध्यादुत्तरस्याः सप्तम्या गुरावुत्तरपदेऽलुग्भवति। मध्येगुरुः। *अन्ताच्चेति वक्तव्यम्* (का०वा०)। अन्तेगुरुः। 'सप्तमी' इति योगविभागात् समासः।

अर्थ—'मध्य' शब्द से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है, 'गुरु' शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) मध्येगुरुः
मध्ये गुरुः।

अन्ता०—अन्त शब्द से उत्तर सप्तमी का अलुक् होता है—

(2) अन्तेगुरुः (पूर्ववत्)।

सप्तमी०—'सप्तमी' इस प्रकार योगविभाग करने से समास होता है।

(2874) अमूर्द्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे *12* (970)

मूर्द्धमस्तकवर्जितात् स्वाङ्गादुत्तरस्याः सप्तम्या अकाम उत्तरपदेऽलुग्भवति। कण्ठे कालोऽस्य कण्ठेकालः। उरसिलोमा। उदरेमणिः। अमूर्द्धमस्तकादिति किम्? मूर्द्धशिखः। मस्तकशिखः। अकाम इति किम्? मुखे कामोऽस्य मुखकामः। स्वाङ्गादिति किम्? अक्षशौण्डः। हलदन्तादित्येव–अङ्गुलित्राणः। जङ्घावलिः।

अर्थ—मूर्द्धन् व मस्तक शब्दों को छोड़कर अन्य स्वाङ्गवाची जो हलन्त व अदन्त शब्द, उससे उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है, यदि 'काम' से अतिरिक्त अन्य कोई शब्द उत्तरपद हो।

उदा० (1) कण्ठेकालः
कण्ठे कालो यस्य।

(2) उरसिलोमा (पूर्ववत्)।
(3) उदरेमणिः (पूर्ववत्)।

अमूर्द्ध०—मूर्द्धन् व मस्तक शब्दों को छोड़कर शेष स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर अलुक् होता है—

(4) मूर्द्धशिखः
मूर्द्धनि शिखा।

अकाम०—काम शब्द को छोड़कर अन्य शब्द के उत्तरपद रहते अलुक् होता है—

(5) मुखकामः
मुखे कामो यस्य।

स्वाङ्ग०—स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर अलुक् होता है—

(6) अक्षशौण्डः
अक्षेषु शौण्डः—अलुक् नहीं हुआ।

हलन्ता०—हलन्त व अदन्त शब्दों से उत्तर अलुक् होता है—

(7) अङ्गुलित्राणः
यहाँ अलुक् नहीं हुआ।

(8) जङ्घावलिः
यहाँ अलुक् नहीं हुआ।

(2875) बन्धे च विभाषा *13* (971)

'बन्धे' इति घञन्तो गृह्यते, तस्मिन्नुत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग्भवति। हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः। चक्रेबन्धः, चक्रबन्धः। उभयत्र विभाषेयम्। स्वाङ्गाद्धि बहुव्रीहौ पूर्वेण नित्यमलुक् प्राप्नोति; तत्पुरुषे तु स्वाङ्गादस्वाङ्गाच्च 'नेन्तिसिद्धबध्नातिषु च' (6.3.19) इति प्रतिषेधः प्राप्नोति। हलदन्तादित्येव–गुप्तिबन्धः।

अर्थ—घञ् प्रत्ययान्त 'बन्ध' शब्द यहाँ गृहीत है। हलन्त व अदन्त शब्दों से उत्तर सप्तमी विभक्ति का विकल्प से अलुक् होता है, बन्ध शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) हस्तेबन्धः
अलुक् हुआ।

(2) हस्तबन्धः
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

(3) चक्रेबन्धः
अलुक् हुआ।

(4) चक्रबन्धः
अलुक् नहीं हुआ।

उभयत्र०—यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। बहुव्रीहि समास में स्वाङ्गवाची से उत्तर विभक्ति का नित्य अलुक् प्राप्त है। तत्पुरुष समास में स्वाङ्गवाची तथा अस्वाङ्गवाची दोनों से 'नेन्तिसिद्धबध्नातिषु' से अलुक् का निषेध प्राप्त होता है।

हलदन्ता०—हलन्त व अदन्त शब्दों से उत्तर विभक्ति का पाक्षिक अलुक् होता है—

(5) गुप्तिबन्धः
यहाँ अलुक् नहीं हुआ।

(2876) तत्पुरुषे कृति बहुलम् *14* (972)

तत्पुरुषे समासे कृदन्त उत्तरपदे सप्तम्या बहुलमलुग्भवति। स्तम्बेरमः। कर्णेजपः। न च भवति–कुरुचरः, मद्रचरः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में सप्तमी विभक्ति का बहुलता से अलुक् होता है, कृदन्त शब्द उत्तरपद रहते।

उदा० (1) स्तम्बेरमः
अलुक् हुआ।

(2) कर्णेजपः
अलुक् हुआ।

निम्नलिखित में नहीं होता है—

(3) कुरुचरः
कुरुषु चरतीति—बाहुलकात् अलुक् नहीं हुआ।

(4) मद्रचरः (पूर्ववत्)।

(2877) प्रावृट्शरत्कालदिवां जे *15* (973)

प्रावृट्, शरत्, काल, दिव–इत्येतेषां जे उत्तरपदे सप्तम्या बहुलमलुग्भवति। प्रावृषिजः। शरदिजः। कालेजः। दिविजः। पूर्वस्यैवायं प्रपञ्चः।

अर्थ—प्रावृष्, शरद्, काल तथा दिव्—इनसे उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है, 'ज' उत्तरपद रहते।

उदा० (1) प्रावृषिजः
प्रावृषि जायते।

(2) शरदिजः (पूर्ववत्)।
(3) कालेजः (पूर्ववत्)।
(4) दिविजः (पूर्ववत्)।
यह पूर्व सूत्र का ही प्रपञ्च है।

(2878) विभाषा वर्षक्षरशरवरात् *16* (974)

वर्ष, क्षर, शर, वर–इत्येतेभ्यः उत्तरस्याः सप्तम्या ज उत्तरपदे विभाषाऽलुग्भवति। वर्षेजः, वर्षजः। क्षरेजः, क्षरजः। शरेजः, शरजः। वरेजः, वरजः।

अर्थ—वर्ष, क्षर, शर तथा वर—इनसे उत्तर सप्तमी विभक्ति का विकल्प से अलुक् होता है, 'ज' उत्तरपद रहते।

उदा० (1) वर्षेजः
अलुक् हुआ।

(2) वर्षजः
अलुक् नहीं हुआ।

(3) क्षरेजः
अलुक् हुआ।

(4) क्षरजः
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

(5) शरेजः
अलुक् हुआ।

(6) शरजः
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

(7) वरेजः
अलुक् हुआ।

(8) वरजः
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

(2879) घकालतनेषु कालनाम्नः *17*
(975)

घसंज्ञके प्रत्यये कालशब्दे तनप्रत्यये च परतः कालनाम्न उत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग्भवति। घ-पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे। पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे। काल-पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले। तन-पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने। कालनाम्न इति किम्? शुक्लतरे, शुक्लतमे। हलदन्तादित्येव-रात्रितरायाम्। उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नेष्यते; 'हृदयस्य हृल्लेख' (6.3.50) इति लेखग्रहणाल्लिङ्गात्। तेन घतनग्रहणे तदन्तग्रहणं न भवति। कालेति न स्वरूपग्रहणम्।

अर्थ—घसंज्ञक प्रत्यय काल, शब्द तथा तन प्रत्यय के उत्तरपद रहते काल के नामवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी विभक्ति का विकल्प से अलुक् होता है।

उदा० (क) घप्रत्यये—
(1) पूर्वाह्णेतरे
अलुक् हुआ। पूर्वापरा०, राजाऽहः०, अह्नोऽह्न एतेभ्यः, अह्नोऽदन्तात्।

(2) पूर्वाह्णतरे
अलुक् नहीं हुआ।

(3) पूर्वाह्णेतमे
अलुक् हुआ।

(4) पूर्वाह्णतमे
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

(ख) कालशब्दे—
(5) पूर्वाह्णेकाले
अलुक् हुआ।

(6) पूर्वाह्णकाले
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

(ग) तनप्रत्यये—
(7) पूर्वाह्णेतने
अलुक् हुआ।

(8) पूर्वाह्णतने
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

कालनाम्न०—कालवाची शब्द से उत्तर विभक्ति का अलुक् होता है—

(9) शुक्लतरे
अलुक् नहीं हुआ।

(10) शुक्लतमे (पूर्ववत्)।

हलद०—हलन्त व अदन्त शब्दों से उत्तर विभक्ति का अलुक् होता है—

(11) रात्रितरायाम्
अलुक् नहीं हुआ।

उत्तरपद०—'उत्तरपदे' के अधिकार में प्रत्ययग्रहण में तदन्त विधि नहीं होती है। 'हृदयस्य हृल्लेख' से 'लेख' शब्द के ग्रहण के द्वारा। तब घ, तन के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण नहीं होता है। 'काल' के द्वारा स्वरूप का ग्रहण होता है।

(2880) शयवासवासिष्वकालात् *18*
(976)

शय, वास, वासिन्-इत्येतेषूत्तरपदेष्वकालवाचिन उत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग्भवति। खेशयः, खशयः। ग्रामेवासः, ग्रामवासः। ग्रामेवासी, ग्रामवासी। अकालादिति किम्? पूर्वाह्णशयः। हलन्तादित्येव-भूमिशयः। *अपो योनियन्मतुषु सप्तम्या अलुग्वक्तव्यः*। अप्सुयोनिः। अप्सव्यः। अप्सुमन्तौ। अप्सु भव इति दिगादित्वात् (4.3.54) यत् प्रत्ययः। सर्वत्र 'सप्तमी' इति योगविभागात्समासः।

अर्थ—कालवाची से भिन्न शब्द से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् विकल्प से होता है; शय, वास तथा वासिन् शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) खेशयः
अलुक् हुआ। 'अधिकरणे शेतेः' से अच् हुआ।

(2) खशय
अलुक् नहीं हुआ।

(3) ग्रामेवासः
(4) ग्रामवासः
(5) ग्रामेवासी
(6) ग्रामवासी

अकाला०—कालवाची से भिन्न शब्द से उत्तर विभक्ति का अलुक् होता है—

(7) पूर्वाह्णशयः
अलुक् नहीं हुआ।

हलद०—हलन्त व अदन्त शब्दों से उत्तर विभक्ति का अलुक् होता है—

(8) भूमिशयः
यहाँ नहीं हुआ।

अपो योनि०—योनि, यत् प्रत्यय तथा मतुप् प्रत्यय परे रहते 'अप्' शब्द से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है।

(9) अप्सुयोनिः
अलुक् हुआ।

(10) अप्सव्यः
अप्सु भवः। दिगादि होने से 'यत्' हुआ।

(11) अप्सुमन्तौ
अप्सु मतुप् औ।

'सप्तमी' इस प्रकार योगविभाग से सर्वत्र समास होता है।

(2881) नेन्सिद्धबध्नातिषु च *19* (977)

इन्नन्ते उत्तरपदे सिद्धशब्दे बध्नातौ च परतः सप्तम्या अलुग्न भवति। स्थण्डिलवर्ती। सिद्ध-सांकाश्यसिद्धः। काम्पिल्यसिद्धः। बध्नाति-चक्रबद्धः। चारबद्धः। 'सप्तमी' इति योगविभागात् समासः। चक्रबन्ध इति केचिदुदाहरन्ति, तत्पचाद्यजन्तं द्रष्टव्यम्। घञन्ते हि 'बन्धे च विभाषा' (6.3.13) इत्युक्तम्।

अर्थ—इन् प्रत्ययान्त शब्द, सिद्ध शब्द तथा बन्ध् धातु के उत्तरपद रहते सप्तमी विभक्ति का अलुक् नहीं होता है।

उदा० (1) स्थण्डिलशायी
स्थण्डिले शायी—'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' से अलुक् प्राप्त है। निषेध हो गया है।

(2) साङ्काश्यसिद्धः (पूर्ववत्)।
(3) काम्पिल्यसिद्धः (पूर्ववत्)।
(4) चक्रबन्धकः
चक्रे बन्धकः।

(5) चरकबन्धकः
चरके बन्धकः।

सप्तमी०—'सप्तमी' इस प्रकार योगविभाग से समास होता है। कुछ विद्वान् 'चक्रबन्ध' इस प्रकार उदाहरण देते हैं। उनके अनुसार पचादि लक्षण अच् होता है।

(2882) स्थे च भाषायाम् *20* (978)

स्थे चोत्तरपदे भाषायां सप्तम्या अलुग्न भवति। समस्थः। विषमस्थः। कूटस्थः। पर्वतस्थः। भाषायामिति किम्? कृष्णोऽस्याखरेष्ठः (कृष्णोम्यारेष्ठः-वा०स० 2.1)। 'पूर्वपदात्' (8.3.106) इति षत्वम्।

अर्थ—'स्थ' उत्तरपद रहते लोक में सप्तमी का अलुक् नहीं होता है।

उदा० (1) समस्थः
समे स्थः।

(2) विषमस्थः (पूर्ववत्)।
(3) कूटस्थः (पूर्ववत्)।
(4) पर्वतस्थः (पूर्ववत्)।

भाषाया०—लोक में ही सूत्रोक्त अलुक् का निषेध होता है।

(5) कृष्णोऽस्याखरेष्ठः (वा०सं० 2.1)।
अलुक् का निषेध नहीं हुआ। 'पूर्वपदात्०' से षत्व।

(2883) षष्ठ्या आक्रोशे *21* (979)

आक्रोशे गम्यमाने उत्तरपदे षष्ठ्या अलुग्भवति। चौरस्य कुलम्। वृषलस्य कुलम्। आक्रोशे इति किम्? ब्राह्मणकुलम्। *षष्ठीप्रकरणे वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु यथासंख्यमलुग् वक्तव्यः* (का०वा०)। वाचोयुक्तिः। दिशोदण्डः। पश्यतोहरः। *आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति चालुग्वक्तव्यः* (का०वा०)। अमुष्यापत्यमामुष्यायणः। नडादित्वात् (4.1.99) फक्। अमुष्य पुत्रस्य भाव आमुष्यपुत्रिका। मनोज्ञादित्वाद्वुञ् (5.1.

133)। तथा–आमुष्यकुलिकेति। *देवानाम्प्रिय इत्यत्र च षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः* (का०वा०)। देवानाम्प्रियः। *शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायां षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः* (का०वा०)। शुनःशेपः। शुनःपुच्छ। शुनोलाङ्गूलः। *दिवश्च दासे षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः* (का०वा०)। दिवोदासाय गायति।

अर्थ—आक्रोश अर्थ में उत्तरपद परे रहते षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है।

उदा० (1) चोरस्यकुलम्
चोरस्य कुलम्।

(2) वृषलस्यकुलम् (पूर्ववत्)।

आक्रोश अर्थ में ही अलुक् होता है।

(3) ब्राह्मणकुलम्
अलुक् नहीं हुआ।

षष्ठी०—युक्ति, दण्ड तथा हर—इन शब्दों के उत्तरपद रहते यथासंख्य वाच्, दिश् तथा पश्यत् शब्दों से उत्तर षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है।

(4) वाचोयुक्तिः
वाचः युक्तिः।

(5) दिशोदण्डः
दिशः दण्डः।

(6) पश्यतोहरः
पश्यतः हरः।

आमुष्याय०—आमुष्यायण, आमुष्यपुत्रिका तथा आमुष्यकुलिका—इनमें षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है।

(7) आमुष्यायणः
अमुष्याऽपत्यम्—नडादिलक्षण फक्। आदिवृद्धि।

(8) आमुष्यपुत्रिका
अमुष्य पुत्रस्य भावः। मनोज्ञादिलक्षण वुञ् हुआ है।

(9) आमुष्यकुलिका
पूर्ववत् अलुक्।

देवाना०—'देवानाम्प्रिय' शब्द में षष्ठी का अलुक् होता है।

(10) देवानाम्प्रियः (पूर्ववत्)।

शेपपुच्छ०—सञ्ज्ञा के विषय में शेप, पुच्छ तथा लांगूल शब्दों के उत्तरपद रहते श्वन् शब्द से उत्तर षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है।

(11) शुनःशेपः
अलुक् हुआ।

(12) शुनःपुच्छः (पूर्ववत्)।

(13) शुनोलाङ्गूलः (पूर्ववत्)।

दिवश्च०—'दास' शब्द के उत्तरपद रहते 'दिव्' शब्द से उत्तर षष्ठी का अलुक् होता है।

(14) दिवोदासः
दिवः दासः।

(2884) पुत्रेऽन्यतरस्याम् *22* (980)

पुत्रशब्द उत्तरपदे आक्रोशे गम्यमानेऽन्यतरस्यां षष्ठ्या अलुग् भवति। दास्याः पुत्रः, दासीपुत्रः। वृषल्याः पुत्रः, वृषलीपुत्रः। आक्रोश इत्येव–ब्राह्मणीपुत्रः।

अर्थ—'पुत्र' शब्द के उत्तरपद रहते आक्रोश अर्थ में षष्ठी विभक्ति का विकल्प से अलुक् होता है।

उदा० (1) दास्याः पुत्रः
अलुक् हुआ।

(2) दासीपुत्रः
पक्ष में अलुक् नहीं हुआ।

(3) वृषल्याः पुत्रः (पूर्ववत्)।

(4) वृषलीपुत्रः (पूर्ववत्)।

आक्रोश०—आक्रोश अर्थ में ही पाक्षिक अलुक् होता है—

(5) ब्राह्मणीपुत्रः
अलुक् नहीं हुआ।

(2885) ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः *23* (981)

ऋकारान्तेभ्यो विद्यासम्बन्धवाचिभ्यो योनिसम्बन्धवाचिभ्यश्चोत्तरस्याः षष्ठ्या अलुग्भवति। होतुरन्तेवासी। होतुः पुत्रः। पितुरन्तेवासी। पितुः पुत्रः। ऋत इति किम्? आचार्यपुत्रः। मातुलपुत्रः। *विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यस्तत्पूर्वोत्तरपदग्रहणम्* (का०वा०)। विद्यायोनिसम्बन्धवाचिन्येवोत्तरपदे यथा स्याद्, अन्यत्र मा भूत्–होतृधनम्। पितृधनम्। होतृगृहम्। पितृगृहम्।

अर्थ—विद्याकृत सम्बन्धवाची तथा योनिकृत सम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्द से उत्तर षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) होतुरन्तेवासी
होतुः अन्तेवासी।

(2) होतुःपुत्रः (पूर्ववत्)।
(3) पितुरन्तेवासी
पितुः अन्तेवासी।

(4) पितुःपुत्रः (पूर्ववत्)।

ऋत०—ऋकारान्त शब्द से उत्तर विभक्ति का अलुक् होता है।

(5) आचार्यपुत्रः
आचार्यस्य पुत्रः। अलुक् नहीं हुआ।

(6) मातुलपुत्रः (पूर्ववत्)।

विद्या०—'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' इससे पूर्वपद व उत्तरपद का ग्रहण है। ताकि विद्याकृत सम्बन्धवाची तथा योनिकृत सम्बन्धवाची शब्दों के उत्तरपद रहते ही यह अलुक् हो; अन्यत्र न हो। यथा—

(7) होतृधनम्
अलुक् नहीं हुआ।
(8) होतृगृहम् (पूर्ववत्)।
(9) पोतृगृहम् (पूर्ववत्)।

(2886) विभाषा स्वसृपत्योः *24* (982)

स्वसृ, पति-इत्येतयोरुत्तरपदयोर्ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिसम्बन्धवाचिभ्यो विभाषाऽलुग्भवति। मातुःष्वसा। मातुःस्वसा। मातृष्वसा। पितुःष्वसा। पितुःस्वसा। पितृष्वसा। यदा लुक् तदा 'मातृपितृभ्यां स्वसा' (8.3.84) इति नित्यं षत्वम्। यदा त्वलुक् तदा 'मातृपितृभ्यामन्यतरस्याम्' (8.3.85) इति विकल्पेन षत्वम्। दुहितुःपतिः। दुहतृपतिः। ननान्दुःपतिः। ननान्दृपतिः।

अर्थ—विद्याकृत सम्बन्धवाची तथा योनिकृत सम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्द से उत्तर षष्ठी विभक्ति का विकल्प से अलुक् होता है, स्वसृ तथा पति शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) मातुःष्वसा
मातुः स्वसा—अलुक्, 'मातृपितृभ्यामन्यतरस्याम्' से पाक्षिक षत्व हुआ।

(2) मातुःस्वसा
पक्ष में षत्व नहीं हुआ।

(3) मातृष्वसा
जब लुक् होता है तो 'मातृपितृभ्यां०' से नित्य षत्व होता है।

(4) पितुःष्वसा (पूर्ववत्)।
(5) पितुःस्वसा (पूर्ववत्)।
(6) पितृष्वसा (पूर्ववत्)।
(7) दुहितुःपतिः
अलुक्।
(8) दुहितृपतिः
अलुक् नहीं हुआ।
(9) ननान्दुःपतिः (पूर्ववत्)।
(10) ननान्दृपतिः (पूर्ववत्)।

(2887) आनङ् ऋतो द्वन्द्वे *25* (921)

ऋकारान्तानां विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्रोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङादेशो भवति। होतापोतारौ। नेष्टोद्गातारौ। प्रशास्ताप्रतिहर्त्तारौ। योनिसम्बन्धेभ्यः—मातापितरौ। यातानानान्दरौ। नकारोच्चारणं रपरत्वनिवृत्त्यर्थम्। ऋत इति किम्? पितृपितामहौ। 'पुत्रे' इत्यत्रानुवर्त्तते, 'ऋतः' इति च। तेन पुत्रशब्देऽप्युत्तरपदे ऋकारान्तस्यानङादेशो भवति। पितापुत्रौ। मातापुत्रौ।

अर्थ—उत्तरपद परे रहते, विद्याकृत सम्बन्धवाची तथा योनिकृत सम्बन्धवाची ऋकारान्त द्वन्द्व समास में आनङ् आदेश होता है।

उदा० (1) होतापोतारौ
होता च पोता च—समास हुआ,
होतानङ् पोतृ औ—विभक्तिकार्य।

(2) नेष्टोद्गातारौ
नेष्टृ उद्गातृ—अनङ् हुआ,
नेष्टानङ् उद्गातृ औ—विभक्तिकार्य।

(3) प्रशास्ताप्रतिहर्त्तारौ (पूर्ववत्)।

योनि०—योनिकृत सम्बन्धवाची से ही आनङ् होता है।

(4) मातापितरौ
मातृपितृ—आनङ्,

मातापितृ औ—विभक्ति।

(5) यातानानान्दरौ (पूर्ववत्)।

नकारो०—नकार का उच्चारण रपर की निवृत्ति के लिए है।

ऋत०—ऋकारान्त शब्दों के समास में आनङ् आदेश होता है।

(6) पितृपितामहौ
पिता च पितामहश्च—आनङ् नहीं हुआ।
पितृपितामह औ—पूर्ववत्।

पुत्र इति०—पुत्रे तथा ऋतः—इनका अनुवर्तन है। तब पुत्र शब्द के उत्तरपद रहते ऋकारान्त शब्द से आनङ् आदेश होता है।

(7) पितापुत्रौ
पिता च पुत्रश्च।

(8) मातापुत्रौ
माता च पुत्रश्च।

(2888) देवताद्वन्द्वे च *26* (922)

देवतावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्रोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङादेशो भवति। इन्द्रावरुणौ (ऋ० 6.68.1)। इन्द्रासोमौ (ऋ० 6.72.3)। इन्द्राबृहस्पती (ऋ० 4.69.1)। 'द्वन्द्वे' इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यार्थम्। अत्यन्तसहचरिते लोकविज्ञाते द्वन्द्वमित्येतन्निपात्यते। तत्र ये लोके प्रसिद्ध-साहचर्याः वेदे च ये सहवापनिर्दिष्टास्तेषामिह ग्रहणं भवति। तेन ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणावित्येवमादौ न भवति। *उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (का०वा०)। अग्नि-वायू। वाय्वग्नी।

अर्थ—उत्तरपद परे रहते देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है।

उदा० (1) इन्द्रावरुणौ
इन्द्रानङ् वरुण औ—पूर्ववत्।

(2) इन्द्रासोमौ (पूर्ववत्)।
(3) इन्द्राबृहस्पती (पूर्ववत्)।

द्वन्द्व०—पूर्वसूत्र से 'द्वन्द्वे' यह अधिकार प्राप्त होने पर भी पुनः द्वन्द्व पद का ग्रहण प्रसिद्ध साहचर्य के ज्ञान के लिए है। (भाव यह है कि) अत्यन्त सहचरित लोकविख्यात में द्वन्द्व शब्दों का निपातन किया जाता है। यहाँ जो लोक में प्रसिद्ध साहचर्य से युक्त हैं और वेद में सहभाव के द्वारा जो निर्दिष्ट हैं, उनका ही ग्रहण होता है। तब निम्नलिखित में आनङ् आदेश नहीं होता है।

(4) ब्रह्मप्रजापती।
(5) शिववैश्रवणौ।

उभयत्र०—लोक और वेद दोनों में 'वायु' शब्द परे रहते आनङ् आदेश का निषेध होता है।

(6) अग्निवायू
अग्निश्च वायुश्च—आनङ् नहीं हुआ।

(7) वाय्वग्नी
वायुश्चाऽग्निश्च—पूर्ववत्।

(2889) ईदग्नेः सोमवरुणयोः *27* (923)

सोम, वरुण—इत्येतयोर्देवताद्वन्द्वेऽग्नेरीकारादेशो भवति। अग्नीषोमौ (ऋ० 1.93.1)। अग्नीवरुणौ। 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' (8.3.82) इति षत्वम्।

अर्थ—सोम तथा वरुण शब्दों के उत्तरपद रहते देवतावाची द्वन्द्व समास में अग्नि शब्द को ईकारादेश होता है।

उदा० (1) अग्नीषोमौ
अग्निश्च सोमश्च—'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' से षत्व होता है। 'ईत्' हुआ।

(2) अग्नीवरुणौ (पूर्ववत्)।

(2890) इद् वृद्धौ *28* (925)

कृतवृद्धावुत्तरपदे देवताद्वन्द्वेऽग्नेरिकारादेशो भवति। आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत (काठ० 13.6) आग्नि-मारुतं कर्म क्रियते। अग्नीवरुणौ देवते अस्य, अग्नीमरुतौ देवते अस्येति तद्धितः। तत्र 'देवताद्वन्द्वे च' (7.3.21) इत्युभयपदवृद्धौ कृतायामानङ्, ईत्वं च बाधितुमिकारः क्रियते। वृद्धाविति किम्? आग्नेन्द्रः। 'नेन्द्रस्य परस्य' (7.3.24) इत्युत्तरपदवृद्धिः प्रतिषिध्यते। *इद् वृद्धौ विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा०)। आग्नावैष्णवं चरुं निर्वपेत् (मै०सं० 1.5.1)।

अर्थ—देवता द्वन्द्व समास में अग्नि शब्द को इकारादेश होता है, वृद्धि आदेशयुक्त उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) आग्निवारुणीम्

'अग्नि' शब्द को ह्रस्व इकारादेश हुआ।

(2) आग्निमारुतम् (पूर्ववत्)।

अग्नी०—अग्नीवरुणौ देवताऽस्य। अग्नीमरुतौ देवताऽस्य। इस प्रकार तद्धितप्रत्यय हुआ है। तब 'देवताद्वन्द्वे च' से उभयपद वृद्धि करने पर प्राप्त आनङ् आदेश व ईत् आदेश के बाध के लिए इत् आदेश किया गया है।

वृद्धावि०—वृद्धि आदेशयुक्त शब्द के उत्तरपद रहते इकारादेश होता है।

(3) आग्नेन्द्रः
'नेन्द्रस्य परस्य' से उत्तरपद की वृद्धि का निषेध होता है।

इद्वृद्धौ—वृद्धि वाले शब्द के उत्तरपद रहते विष्णु शब्द को ईकारादेश नहीं होता है।

(4) आग्नावैष्णवम्
इकारादेश नहीं हुआ।

(2891) दिवो द्यावा *29* (926)

दिवित्येतस्य 'द्यावा' इत्ययमादेशो भवति देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे। द्यावाक्षामे (ऋ० 8.18.16)। द्यावाभूमी (ऋ० 10.65.4)।

अर्थ—उत्तरपद परे रहते देवताद्वन्द्व समास में पूर्वपद में स्थित 'दिव्' शब्द के स्थान पर 'द्यावा' आदेश होता है।

उदा० (1) द्यावाक्षामे
'द्यावा' आदेश हुआ।
(2) द्यावाभूमि (पूर्ववत्)।

(2892) दिवसश्च पृथिव्याम् *30* (927)

पृथिव्यामुत्तरपदे देवताद्वन्द्वे दिवः 'दिवस्'-इत्ययमादेशो भवति, चकाराद् 'द्यावा' च। दिवस्पृथिव्यौ (ऋ० 2.2.3) द्यावापृथिव्यौ। अकारोच्चारणं सकारस्य विकाराभावप्रतिपत्त्यर्थम्। तेन रुत्वादीनि न भवन्ति। कथम् 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते' (ऋ० 2.12.13) इति? कर्तव्योऽत्र यत्नः।

अर्थ—पृथिवी शब्द के उत्तरपद रहते देवताद्वन्द्व समास में दिव् शब्द के स्थान पर 'दिवस्' तथा 'द्यावा' आदेश होते हैं।

उदा० (1) दिवस्पृथिव्यौ
'दिवस्' हुआ।

(2) द्यावापृथिव्यौ
'द्यावा' हुआ।

अकारो०—'दिवस' यह अकारवान् पाठ रुत्व आदि कार्यों की निवृत्ति के लिए है। तब रुत्व आदि नहीं होता है।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी—काशिकाकार ने इस प्रयोग की साधुता सिद्ध करने में असमर्थता दिखाई है।

(2893) उषासोषसः *31* (928)

उषसः 'उषासा' इत्ययमादेशो भवति देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे। उषासासूर्यम्। उषासानक्ता (ऋ० 1.122.2)।

अर्थ—उत्तरपद परे रहते देवताद्वन्द्व समास में 'उषस्' शब्द को उषासा आदेश होता है।

उदा० (1) उषासासूर्यम्
उषाश्च सूर्यश्च।

(2) उषासोनक्ता (पूर्ववत्)।

(2894) मातरपितरावुदीचाम् *32* (929)

'मातरपितरौ' इत्युदीचामाचार्याणां मतेनारङादेशो मातृशब्दस्य निपात्यते। मातरपितरौ। उदीचामिति किम्? मातापितरौ।

अर्थ—उदीच्य आचार्यों के मत में 'मातरपितरौ' शब्द निपातित है।

उदा० (1) मातरपितरौ
माता च पिता च—मातृ शब्द को 'अरङ्' आदेश हुआ।

उदीचा०—उदीच्य आचार्यों के मत में ही सूत्रोक्त निपातन होता है।

(2) मातापितरौ
यहाँ 'अरङ्' आदेश नहीं हुआ।

(2895) पितरामातरा च च्छन्दसि *33* (3528)

'पितरामातरा' इति छन्दसि निपात्यते। आ मा गन्तां पितरामातरा च (वा०सं० 9.19)। पूर्वपदस्य अराङादेशो निपात्यते। उत्तरपदे तु 'सुपां सुलुक्' (7.1.39) इति आकारादेशः, तत्र 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (7.3.110) इति गुणः। छन्दसीति किम्? मातापितरौ।

अर्थ—वेद के विषय में 'पितरामातरा' शब्द निपातित है।

उदा० (1) पितरामातरा (यजु० 9.19)

पिता च माता च—'पितृ' शब्द को 'अराङ्' आदेश निपातन से हुआ,

पितराङ् मातृ औ—'औ' विभक्ति के स्थान पर आकार आदेश 'सुपां सुलुक्०' से हुआ है। 'ऋतो ङिसर्वनाम०' से गुण हुआ है।

छन्दसि०—वेद में ही 'पितरामातरा' होता है।

(2) मातापितरौ

लोक में होता है। 'आनङ्' आदेश।

विशेष—सूत्रस्थ 'च' पद के द्वारा 'मातरपितरौ' पद का भी ग्रहण होता है।[1] इस प्रकार वेद में उक्त दोनों प्रकार के शब्दों का निपातन किया गया है।

(3) मातरापितरौ (ऋ० 4.6.7)

(2896) स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु *34* (831)

भाषितः पुमान्येन समानायामाकृतावेकस्मिन्प्रवृत्तिनिमित्ते स भाषितपुंस्कः शब्दः। तदेतदेवं कथं भवति? भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्ते स भाषितपुंस्कशब्देनोच्यते, तस्य प्रतिपादको यः शब्दः सोऽपि भाषितपुंस्कः। ऊङोऽभावः अनूङ्, भाषितपुंस्कादनूङ् यस्मिन् स्त्रीशब्दे स भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रीशब्दः। बहुव्रीहिरयम्, अलुग् निपातनात् पञ्चम्याः। तस्य भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दस्येव रूपं भवति समानाधिकरणे उत्तरपदे स्त्रीलिङ्गे पूरणीप्रियादिवर्जिते। दर्शनीयभार्यः। श्लक्ष्णचूडः। दीर्घजङ्घः। स्त्रिया इति किम्? ग्रामणि ब्राह्मणकुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः। भाषितपुंस्कादिति किम्? खट्वाभार्यः। समानायामाकृताविति किम्? द्रोणीभार्यः। कथं गर्भिभार्यः, प्रसूतभार्यः, प्रजातभार्य इति। कर्तव्योऽत्र यत्नः। अनूङ इति किम्? ब्रह्मबन्धूभार्यः। समानाधिकरण इति किम्? कल्याण्या माता कल्याणीमाता। स्त्रियामिति किम्? कल्याणी प्रधानमेषां कल्याणीप्रधाना इमे। अपूरणीति किम्? कल्याणी पञ्चमी यासां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। कल्याणीदशमाः। प्रधानपूरणीग्रहणं कर्त्तव्यम्, इह मा भूत्—कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति। 'अप् पूरणीप्रमाण्योः (5.4.116) इत्यत्रापि प्रधानपूरणीग्रहणमेवेत्यप्रत्ययो न भवति। अप्रियादिष्विति किम्? कल्याणीप्रियः। प्रिया। मनोज्ञा। कल्याणी। सुभगा। दुर्भगा। भक्तिः। सचिवा। अम्बा। कान्ता। क्षान्ता। समा। चपला। दुहिता। वामा–प्रियादिः। दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षितत्वात् सिद्धमिति समाधेयम्।

1. वै०सि० कौ० सूत्र 3149

अर्थ—समान आकृति में एक ही प्रवृत्तिनिमित्त में जिसके द्वारा जो शब्द पुँल्लिङ्ग में तथा अन्य लिङ्ग में भी प्रवृत्त हो तो उसे भाषितपुंस्क कहते हैं। उसका प्रतिपादक शब्द भाषितपुंस्क ही कहलाता है। भाव यह है कि जो शब्द जिस प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुँल्लिङ्ग में प्रवृत्त होता है, यदि वह उसी प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर अन्य लिङ्ग में भी प्रवृत्त हो तो उसे 'भाषितपुंस्क' कहा जाता है।

जिससे परे ऊङ् प्रत्यय न किया गया हो, ऐसे भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुँवद्भाव हो जाता है, यदि समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे हो, परन्तु पूरणी और प्रिया आदि के परे रहते पुंवद्भाव नहीं होता है।

पुंवद् का अर्थ है—स्त्रीलिङ्ग शब्द के पश्चात् जुड़ा हुआ स्त्रीप्रत्यय निवृत्त हो जाता है। 'ऊङ्' एक स्त्रीप्रत्यय है। द्र०—

ऊङ् उतः, पङ्गोश्च, ऊरूत्तरपदादौ०, संहितशफलक्षणवामादेश्च, 'पूरणी' के द्वारा पूरणार्थ प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ग्रहण होता है। यथा—द्विताया। 'प्रियादि' एक गण है।

शब्द के वाच्य को बोधन कराने का जो निमित्त होता है, उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यथा—'पट' शब्द का 'पट' को बोधन कराने का निमित्त 'पटत्व' है। 'पटत्व' ही 'पट' का प्रवृत्तिनिमित्त है।

उदा० (1) दर्शनीयभार्यः

दर्शनीया भार्या यस्य सः—'अनेकमन्यपदार्थे' से समास, विशेषण का पूर्व निपात, प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सुप् का लुक्,

दर्शनीया भार्या—'दर्शनीय' शब्द पुँल्लिङ्ग में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, 'दर्शनीया' शब्द भाषितपुंस्क है, इससे 'ऊङ्' प्रत्यय नहीं हुआ है,

दर्शनीयभार्या—पुंवद्भाव हुआ, 'गोस्त्रियोरुपसर्ज०' से ह्रस्वादेश,

दर्शनीयभार्य सु—विशेष्यानुसार लिङ्ग होकर।

(2) श्लक्ष्णचूडः
श्लक्ष्णा चूडा यस्य सः—पूर्ववत्।

(3) दीर्घजङ्घः
दीर्घे जङ्घे यस्य सः—पूर्ववत्।

स्त्रियाः—स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है।

(4) ग्रामणिदृष्टिः
ग्रामणि ब्राह्मणकुलं दृष्टिरस्य—यहाँ पुंवद्भाव नहीं हुआ।

भाषितपुँस्का०—भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को ही पुंवद्भाव होता है।

(5) खट्वाभार्यः
यहाँ पुंवद्भाव नहीं हुआ।

समानाकृ०—समान आकृति में ही स्त्रीलिङ्ग को पुंवद्भाव होता है।

(6) द्रोणीभार्यः
यहाँ नहीं हुआ।

(7) गर्गिभार्यः
(8) प्रजातभार्यः

काशिकाकार पूर्वोक्त दोनों की साधुता प्रदर्शित नहीं कर सके हैं।

अनूङ०—जिससे **ऊङ्** प्रत्यय **नहीं** हुआ है, ऐसे स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है।

(9) ब्रह्मबन्धूभार्यः
यहाँ 'ऊङ्' हुआ है। अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ।

समानाधि०—समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते ही स्त्रीलिङ्ग शब्द पुँवत् होता है।

(10) कल्याणीमाता
कल्याण्या माता—समानाधिकरण न होने से पुंवद्भाव नहीं हुआ।

स्त्रियामि०—समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तर रहते ही पुंवद्भाव होता है।

(11) कल्याणीप्रधानाः
कल्याणी प्रधानमेषाम्—पुंवद्भाव नहीं हुआ।

(12) कल्याणीपञ्चमा रात्रयः
कल्याणी पञ्चमी यासां ताः—यहाँ पुंवद्भाव नहीं हुआ।

(13) कल्याणीदशमाः (पूर्ववत्)।

प्रधान०—प्रधानपूरणी का ग्रहण यहाँ नहीं करना चाहिए।

(14) कल्याणपञ्चमीकः

अप्०—'अप्पूरणीप्रमाण्योः' इसमें भी प्रधानपूरणी का ग्रहण है। अतः अप् प्रत्यय नहीं होता है।

अप्रिया०—प्रिया आदि शब्द उत्तरपद में न रहते पुंवद्भाव होता है।

(15) कल्याणीप्रियः
कल्याणी प्रिया यस्य सः—पुंवद्भाव नहीं हुआ।
शेष उदाहरण मूल में देखिये।

दृढ०—'दृढभक्तिः' इत्यादि प्रयोगों में पूर्वपद के अविवक्षित होने से सिद्ध ही है।

(2897) तसिलादिष्वाकृत्वसुचः *35* (836)

'पञ्चम्यास्तसिल्' (5.3.7) इत्यतः प्रभृति 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (5.4.17) इति प्रागेतस्माद् ये प्रत्ययास्तेषु भाषितपुंस्कादनूङ्स्त्रियाः पुंवद्भवति। तस्याः शालायाः = ततः। तस्यां = तत्र। यस्या = यतः। यस्यां = यत्र। तसिलादिषु परिगणनं कर्तव्यम्-त्रतसौ (5.3.10), (5.3.7)। तरप्तमपौ (5.3.57) (5.3.55)। चरट्जातीयरौ (5.3.53), (5.3.69)। कल्पब्देश्यदेशीयरः (5.3.67)। रूपप्पाशपौ (5.3.66), (5.3.47)। थम्थालौ (5.3.24), (5.3.33)। दार्हिलौ (5.3.15-16)। तिल्तातिलौ (5.4.41)। *शसि बह्वल्पार्थस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः* (म० भा०)। बह्वीभ्यो देहि, अल्पाभ्यो देहि = बहुशो देहि, अल्पशो देहि। *त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः* (म० भा०)। पट्व्या भावः पटुत्वम्। पटुता। गुणवचनस्येति किम्? कठ्या भावः कठीत्वम्, कठीता। कथमाग्नायो देवताऽस्य आग्नेयः स्थालीपाक इति? कर्तव्योऽत्र यत्नः। *भस्याढे तद्धिते पुंवद्भावो वक्तव्यः* (म० भा०)। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। अढ इति किम्? श्यैनेयः। रौहिणेयः। *ठक्छसोश्च पुंवद्भावो वक्तव्यः* (का० वा०)। भवत्याश्छात्रा भावत्काः। भवदीयाः।

अर्थ—तसिल् आदि प्रत्ययों से लेकर कृत्वसुच् पर्यन्त जो प्रत्यय, उनके परे रहते ऊङ् वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है। यहाँ 'पञ्चम्यास्तसिल्' में पठित 'तसिल्'

का ग्रहण होता है। 'सङ्ख्यायाः क्रियाभ्या०' में पठित 'कृत्वसच्' पर्यन्त सभी प्रत्ययों का ग्रहण है।

उदा० (1) ततः
तस्याः (शालायाः)—पुंवत्।

(2) तत्र
तस्यां (शालायाम्)—पूर्ववत्।

(3) यतः
यस्याः (शालायाः)।

(4) यत्र
यस्याम् (शालायाम्)।

तसिला०—तसिल् आदि का परिगणन इस प्रकार है—
त्र, तस्, तरप्, तमप्, चरट्, जातीयर्, कल्पप्, देश्य, देशीयर्, रूपप्, पाशप्, थम्, थाल्, दा, र्हिल्, तिल्, तातिल्।

शसि०—शस् प्रत्यय परे रहते बह्वर्थक तथा अल्पार्थक शब्द को पुंवद्भाव होता है—

(5) बहुशो देहि
बह्वीभ्यो देहि—पुंवद्भाव।

(6) अल्पशो देहि
अल्पाभ्यो देहि—पूर्ववत्।

त्वतलो०—त्व और तल् प्रत्यय परे रहते गुणवाची शब्द को पुंवद्भाव होता है।

(7) पटुत्वम्
पट्व्या भावः—पुंवद्भाव।

(8) पटुता (पूर्ववत्)।

गुणवच०—गुणवाची शब्द को ही पुंवद्भाव होता है, त्व तथा तल् परे रहते।

(9) कटीत्वम्
कट्या भावः—पुंवद्भाव नहीं हुआ।

(10) कटीता
पूर्ववत् जानना चाहिए।

भस्याऽढे०—'ढ' से अतिरिक्त तद्धित परे रहते भसंज्ञक शब्द को पुंवद्भाव होता है।

(11) हास्तिकम्
हस्तिनीनां समूहः—पुंवद्भाव हुआ।

अढ इति०—'ढ' से अतिरिक्त प्रत्यय के परे रहते पूर्वोक्त पुँवद्भाव होता है।

(12) श्यैनेयः
'ढ' प्रत्यय है। अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ।

(13) रौहिणेयः (पूर्ववत्)।

(14) आग्नेयः
अग्नायी देवताऽस्य—यह प्रयोग विचारणीय है।

ठक्छसो०—ठक् तथा छस् प्रत्ययों के परे रहते पुंवद्भाव होता है।

(15) भावत्काः
भवत्याश्छात्राः—पुंवद्भाव हुआ। इसुसुक्ता०।

(16) भवदीयाः
भवत्याश्छात्राः—'छस्' हुआ।

(2898) क्यङ्मानिनोश्च *36* (837)

क्यङि परतो मानिनि च स्त्रिया भाषितपुंस्कादनूङ् पुंवद्भवति। एनी-एतायते। श्येनी-श्येतायते। मानिनि-दर्शनीयमानी अयमस्याः। दर्शनीयमानिनीयमस्याः। *मानिनीग्रहणमस्त्र्यर्थम्, असमानाधिकरणार्थं च* (का०वा०)। इह तु दर्शनीयमात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनीति पूर्वेणैव सिद्धम्।

अर्थ—ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है, क्यङ् तथा मानिन् परे रहते।

उदा० (1) एतायते
एनीवाऽऽचरति → एनी क्यङ्—पुंवद्भाव हुआ, ङीप् की निवृत्ति,
एत क्यङ्—धातुसञ्ज्ञा, 'त' प्रत्यय।

(2) श्येतायते
श्येनी क्यङ्—पूर्ववत्।

(3) दर्शनीयमानी अयम् अस्याः।
दर्शनीयमानिनीयमस्याः।

मानिनो०—'मानिन्' का ग्रहण स्त्री से अतिरिक्त विषय के लिए है तथा समानाधिकरण के लिए है। यहाँ दर्शनीयात्मानं मन्यते—दर्शनीयमानिनी, यह पूर्वसूत्र के द्वारा सिद्ध ही है।

(2899) न कोपधायाः *37* (838)

कोपाधायाः स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति। पाचिका-

भार्यः। कारिकाभार्यः। मद्रिकाभार्यः। वृजिकाभार्यः। मद्रिकाकल्पा। वृजिकाकल्पा। मद्रिकायते। वृजिकायते। मद्रिकामानिनी। वृजिकामानिनी। विलेपिकाया धर्म्यं वैलेपिकम् (म०भा०)। *कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणं कर्तव्यम्* (का०वा०)। इह मा भूत्–पाकभार्यः, भेकभार्य इति।

अर्थ—ककार उपधा वाले भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग को पुंवद्भाव नहीं होता है।

उदा० (1) पाचिकाभार्यः
पाचिका भार्या यस्य सः—पुंवद्भाव नहीं हुआ।
(2) कारिकाभार्यः (पूर्ववत्)।
(3) वृजिकाभार्यः (पूर्ववत्)।
(4) मद्रिकाभार्यः (पूर्ववत्)।
(5) मद्रिकाकल्पा (पूर्ववत्)।
(6) मद्रिकायते
मद्रिका क्यङ्—पूर्ववत्।
(7) वृजिकायते (पूर्ववत्)।
(8) मद्रिकामानिनी (पूर्ववत्)।
(9) वृजिकामानिनी (पूर्ववत्)।
(10) वैलेपिकम्
विलेपिकाया धर्म्यम्।

कोपध०—'वु' तद्धित प्रत्यय में कोपध स्त्रीलिङ्ग को पुंवद्भाव का निषेध होता है। तब निम्नलिखित में निषेध नहीं होता है।

(11) पाकभार्यः, भेकभार्यः।

(2900) संज्ञापूरण्योश्च *38* (839)

संज्ञायाः पूरण्याश्च स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति। दत्ताभार्यः। गुप्ताभार्यः। दत्तापाशा। गुप्तापाशा। दत्तायते। गुप्तायते। दत्तामानिनी। गुप्तामानिनी। पूरण्याः–पञ्चमीभार्यः। दशमीभार्यः। पञ्चमीपाशा। दशमीपाशा। पञ्चमीयते। दशमीयते। पञ्चमीमानिनी। दशमीमानिनी।

अर्थ—सञ्ज्ञावाची व पूरणीप्रत्ययान्त भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता है।

उदा० (1) दत्ताभार्यः
दत्ता भार्या यस्य सः।
(2) गुप्ताभार्य (पूर्ववत्)।
(3) दत्तापाशा (पूर्ववत्)।
(4) गुप्तापाशा (पूर्ववत्)।
(5) दत्तायते
दत्तेवाऽऽचरति—पुंवद्भाव नहीं हुआ।
(6) गुप्तायते (पूर्ववत्)।
(7) दत्तामानिनी (पूर्ववत्)।
(8) गुप्तामानिनी (पूर्ववत्)।
(9) पञ्चमीभार्यः
पञ्चमी भार्या यस्य सः—पुंवद्भाव नहीं हुआ।
(10) दशमीभार्यः (पूर्ववत्)।
(11) पञ्चमीपाशा (पूर्ववत्)।
(12) दशमीपाशा (पूर्ववत्)।
(13) पञ्चमीयते
पञ्चमीवाऽऽचरति—पूर्ववत्।
(14) दशमीयते (पूर्ववत्)।
(15) पञ्चमीमानिनी (पूर्ववत्)।
(16) दशमीमानिनी (पूर्ववत्)।

(2901) वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे *39* (840)

'न' इति वर्तते। वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन् स वृद्धिनिमित्तस्तद्धितः, स यदि रक्तेऽर्थे विकारे च न विहितः, तदन्तस्य स्त्रीशब्दस्य न पुंवद्भवति। स्रौघ्नीभार्यः। माथुरीभार्यः। स्रौघ्नीपाशा। स्रौघ्नीयते। माथुरीयते। स्रौघ्नीमानिनी। माथुरीमानिनी। वृद्धिनिमित्तस्येति किम्? मध्यमभार्यः। तद्धितस्येति किम्? काण्डलावभार्यः। बहुव्रीहिपरिग्रहः किमर्थः? तावद्भार्यः। यावद्भार्यः। अरक्तविकार इति किम्? कषायेण रक्ता काषायी, काषायी बृहतिका यस्य स काषायबृहतिकः। लोहस्य विकारो लौही, लौही ईषा यस्य रथस्य स लौहेषः। खादिरेषः।

अर्थ—'न' का अनुवर्त्तन है। रक्त व विकार अर्थों को छोड़कर शेष अर्थों में जो वृद्धिनिमित्त प्रत्ययविहित, तदन्त स्त्रीलिङ्ग भाषितपुंस्क शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता है।

उदा० (1) स्रौघ्नीभार्यः
स्रुघ्ने भवा—स्रौघ्नी—भाव अर्थ में 'अण्' हुआ।
अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ।
(2) माथुरीभार्यः (पूर्ववत्)।
(3) स्रौघ्नीपाशा (पूर्ववत्)।
(4) माथुरीपाशा (पूर्ववत्)।

(5) स्रौघ्नीयते

'आचरति' अर्थ में क्यङ् हुआ; पुंवद्भाव नहीं हुआ।

(6) माथुरीयते (पूर्ववत्)।

(7) स्रौघ्नीमानिनी (पूर्ववत्)।

(8) माथुरीमानिनी (पूर्ववत्)।

वृद्धिनिमि०—वृद्धिनिमित्त जो तद्धित प्रत्यय, तदन्त को पुंवद्भाव नहीं होता है।

(9) मध्यमभार्यः

मध्यमा भार्या यस्य सः—पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

तद्धितस्ये०—तद्धितप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव का निषेध होता है।

(10) काण्डलावभार्यः

काण्डलावा भार्या यस्य सः—पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ। काण्डं लुनाति—काण्डलू अण् 'कर्मण्यण्' से 'अण्'।

(11) तावद्भार्यः

बहुव्रीहि का परिग्रहण किया गया है। अतः पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

(12) यावद्भार्यः (पूर्ववत्)।

अरक्तवि०—**रक्त अर्थक व विकार अर्थक** प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों को पुंवद्भाव होता है।

(13) काषायबृहतिकः

कषायेण रक्ता—काषायी। काषायी बृहतिका यस्य सः। निषेध नहीं हुआ।

(14) लौहेषः

लोहस्य विकारो—लौही। लौही ईषा यस्य रथस्य सः।

(2902) स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि *40* (841)

स्वाङ्गादुत्तरो य ईकारस्तदन्तायाः स्त्रिया न पुंवद्भवति अमानिनि परतः। दीर्घकेशीभार्यः। श्लक्ष्णकेशीभार्यः। दीर्घकेशीपाशा। श्लक्ष्णकेशीपाशा। दीर्घकेशीयते। श्लक्ष्णकेशीयते। स्वाङ्गादिति किम्? पटुभार्यः। ईत इति किम्? अकेशभार्यः। अमानिनीति किम्? दीर्घकेशमानिनी।

अर्थ—स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर जो ईकार, तदन्त भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द पुंवत् नहीं होता है, यदि उससे पर 'मानिन्' शब्द न हो।

उदा० (1) दीर्घकेशीभार्यः

दीर्घकेशी भार्या यस्य सः—'स्वाङ्गाच्चोप०' से ङीष् होकर 'दीर्घकेशी' बनता है, पुंवद्भाव का निषेध हुआ।

(2) दीर्घकेशीपाशा (पूर्ववत्)।

(3) श्लक्ष्णकेशीभार्यः (पूर्ववत्)।

(4) श्लक्ष्णकेशीपाशा (पूर्ववत्)।

(5) दीर्घकेशीयते

क्यङ् हुआ।

(6) श्लक्ष्णकेशीयते (पूर्ववत्)।

स्वाङ्गादि०—स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर जो ईकार, तदन्त शब्द पुंवत् नहीं होता है।

(7) पटुभार्यः

पट्वी भार्या यस्य सः—पटु ई (वोतो गुणवचनात्०), परन्तु यह स्वाङ्गवाची नहीं है। अतः पुंवत् हुआ।

ईत इति०—**ईकार** प्रत्यय, तदन्त शब्द पुंवत् नहीं होता है।

(8) अकेशभार्यः

अविद्यमाना केशा यस्याः सा—'सहनञ्विद्यमा०' से ङीप् का निषेध हुआ, ईत् न होने से पुंवद्भाव का निषेध नहीं हुआ।

अमानिनी०—मानिन् शब्द के परे न रहते ही पुंवद्भाव का निषेध होता है।

(9) दीर्घकेशमानिनी

पुंवद्भाव हुआ।

(2903) जातेश्च *41* (842)

जातेश्च स्त्रिया न पुंवद्भवति अमानिनि परतः। कठीभार्यः। बह्वृचीभार्यः। कठीपाशा। बह्वृचीपाशा। कठीयते। बह्वृचीयते। अमानिनीत्येव-कठमानिनी। बह्वृचमानिनी। अयं प्रतिषेध औपसङ्ख्यानिकस्य पुंवद्भावस्य नेष्यते (म० भा० 6.3.35.11)। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्।

अर्थ—जातिवाची भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द पुंवत् नहीं होता है, यदि 'मानिन्' शब्द परे न हो।

उदा० (1) कठीभार्यः

कठी भार्या यस्य सः—जातिवाची होने से पुंवद्भाव का निषेध हुआ।

(2) बह्वृचीभार्यः (पूर्ववत्)।
(3) कठीपाशा (पूर्ववत्)।
(4) बह्वृचीयते
क्यङ् हुआ।

अमानिनी०—'मानिन्' शब्द परे रहते पुंवद्भाव का निषेध नहीं होता है।

(5) कठमानिनी
पुंवद्भाव हुआ।
(6) बह्वृचमानिनी (पूर्ववत्)।

अयं—यह प्रतिषेध औपसंख्यानिक पुंवद्भाव का नहीं होता है।

(7) हास्तिकम्
हस्तिनीनां समूहः।

(2904) पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु *42* (746)

कर्मधारये समासे जातीय, देशीय-इत्येतयोश्च प्रत्यययोर्भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद्भवति। प्रतिषेधार्थोऽयमारम्भः। 'न कोपधायाः' (6.3.37) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति। पाचकवृन्दारिका। पाचकजातीया। पाचकदेशीया। 'संज्ञापूरण्योश्च' (6.3.38) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति। दत्तवृन्दारिका। दत्तजातीया। दत्तदेशीया। पूरण्याः-पञ्चमवृन्दारिका। पञ्चमजातीया। पञ्चमदेशीया। 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' (6.3. 39) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति। स्रौघ्नजातीया। स्रौघ्नदेशीया। 'स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि' (6.3.40) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति। श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका। श्लक्ष्णमुखजातीया। श्लक्ष्णमुखदेशीया। 'जातेश्च' (6.3.41) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति। कठवृन्दारिका। कठजातीया। कठदेशीया। भाषितपुंस्कादित्येव-खट्वावृन्दारिका। अनूङित्येव-ब्रह्मबन्धूवृन्दारिका। *कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु पुंवद्भावो वक्तव्यः* (का०वा०)। कुक्कुट्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्। मृग्याः पदं मृगपदम्। मृग्याः क्षीरं मृगक्षीरम्। काक्याः शावः काकशावः। *न वाऽस्त्रीपूर्वपदस्य विवक्षितत्वात् (का०वा०)। स्त्रीत्वेन विना पूर्वपदार्थोऽत्र जातिः सामान्येन विवक्षितः। *पुंवद्भावाद् ह्रस्वत्वं खिद्घादिषु भवति विप्रतिषेधेन* (म०भा०)। खित्-कालिम्मन्या। हरिणिम्मन्या। घादि-पट्वितरा। पट्वितमा। पट्विरूपा। पट्विकल्पा। क-पट्विका। मृद्विका। इहेडबिड्, दरद्, पृथ, उशिजित्येते जनपदशब्दाः क्षत्रियवचनाः। तत्र तद्राजप्रत्ययस्य स्त्रियाम् 'अतश्च' (4.1.177) इति लुकि कृते इडबिद्वृन्दारिकेति विगृह्य समासः क्रियते। ततः पुंवद्भावेन ऐडबिड़ादयः पुंशब्दाः क्रियन्ते। ऐडबिडवृन्दारिका। औशिजवृन्दारिका। दारदवृन्दारिका। पार्थवृन्दारिका।

अर्थ—कर्मधारय समास में तथा जातीयर् व देशीयर् प्रत्ययों के परे रहते ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव होता है। यह निषेध के लिए विधान है। 'न कोपधायाः' कहा जा चुका है। वहाँ भी होता है।

उदा० (1) पाचकवृन्दारिका
यहाँ 'न कोपधायाः' से निषेध प्राप्त हुआ। उसका बाध होकर पुंवद्भाव हुआ।

(2) पाचकजातीया (पूर्ववत्)।
(3) पाचकदेशीया (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञा०—'सञ्ज्ञापूरण्योश्च' यह कहा जा चुका है। तब होता है।

(4) दत्तवृन्दारिका
पुंवद्भाव हुआ।

(5) दत्तजातीया (पूर्ववत्)।
(6) दत्तदेशीया (पूर्ववत्)।
(7) पञ्चमवृन्दारिका (पूर्ववत्)।
(8) पञ्चमजातीया (पूर्ववत)।
(9) पञ्चमदेशीया (पूर्ववत्)।

वृद्धिनि०—वृद्धि का निमित्त जो तद्धित प्रत्यय, तदन्त को पुंवद्भाव का निषेध होता है। वहाँ भी पुंवद्भाव होता है।

(10) स्रौघ्नजातीया
पुंवद्भाव हुआ।
(11) स्रौघ्नदेशीया (पूर्ववत्)।

स्वाङ्गाच्चे०—स्वाङ्गवाची से उत्तर शब्द को पुंवद्भाव का निषेध कहा गया है। वहाँ भी पुंवद्भाव होता है।

(12) श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका (पूर्ववत्)।
(13) श्लक्ष्णमुखजातीया (पूर्ववत्)।
(14) श्लक्ष्णमुखदेशीया (पूर्ववत्)।

जातेश्चे०—जातिवाची स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव का निषेध होता है, यह कहा गया है। वहाँ भी पुंवद्भाव होता है।

(15) कठवृन्दारिका (पूर्ववत्)।
(16) कठजातीया (पूर्ववत्)।
(17) कठदेशीया (पूर्ववत्)।

भाषितपुं०—**भाषितपुंस्क** स्त्रीलिङ्ग शब्द को ही सूत्रोक्त पुंवद्भाव होता है।

(18) खट्वावृन्दारिका
यह भाषितपुंस्क शब्द नहीं है। अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ।

अनूङि०—ऊङ् वर्जित शब्द को ही सूत्रोक्त पुंवद्भाव होता है।

(19) ब्रह्मबन्धूवृन्दारिका
'ब्रह्मबन्धू' शब्द में 'ऊङ् प्रत्यय' हुआ है। अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ।

कुक्कुट्या०—अण्ड आदि शब्द परे रहते कुक्कटी आदि स्त्रीलिङ्ग शब्द पुंवत् होते हैं।

(20) कुक्कुटाऽण्डम्
कुक्कुट्या अण्डम्—पुंवद्भाव हुआ।

(21) मृगपदम्
मृग्याः पदम्—पूर्ववत्।

(22) मृगक्षीरम्
मृग्याः क्षीरम्—पूर्ववत्।

(23) काकशावः
काक्याः शावः।

न वाऽस्त्री०—अथवा पूर्वोक्त कथन की आवश्यकता नहीं है। कारण कि अस्त्री पूर्वपद की विवक्षा की जाती है। वहाँ लक्ष्यों में स्त्रीत्व को छोड़कर पूर्व पदार्थ जाति सामान्य रूप से विवक्षित है। खित् तथा घ आदि के परे रहते पुंवद्भाव की अपेक्षा ह्रस्वादेश विप्रतिषेध से होता है।

खिति—
(24) कालिम्मन्या
कालीम् आत्मानं मन्यते—इस अर्थ में 'खश्' हुआ,
कालीम् मन् श्यन् खश्—शप् को बाध कर श्यन् हुआ, आत्ममाने खश्च, दिवादिभ्यः श्यन्,
कालीम् मन्य टाप्—पुंवद्भाव व ह्रस्वादेश की युगपत् प्राप्ति हुई, ह्रस्वादेश हुआ।
कालिम्मन्या—सु।

(25) हरिणिम्मन्या (पूर्ववत्)।

घादिषु—
(26) पट्विवतरा
घसंज्ञक 'तरप्' हुआ। ह्रस्वादेश हुआ।

(27) पट्विवतमा (पूर्ववत्)।
(28) पट्विवरूपा (पूर्ववत्)।
(29) पट्विवकल्पा (पूर्ववत्)।

कप्रत्यये—
(30) पट्विवका
पट्वी क टाप्—ह्रस्वादेश हुआ।

(31) मृद्विका (पूर्ववत्)।

इहेडवि०—इडविड, दरद, पृथु तथा उशिच्—ये शब्द जनपदवाची तथा क्षत्रियवाची हैं। तब स्त्रीलिङ्ग में तद्राजप्रत्यय का लुक् करने पर इडविडवृन्दारिका—इस प्रकार विग्रह करके समास किया जाता है। तब पुंवद्भाव से ऐड व बिदादि पुल्लिङ्ग शब्द निष्पन्न किये जाते हैं।

(32) ऐडविडवृन्दारिका।
(33) औशिजवृन्दारिका।

(2905) घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः *43* (985)

घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत-इत्येतेषु परतो भाषितपुंस्कात् परो यो ङीप्रत्ययस्तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वो भवति। घ-ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा। रूप-ब्राह्मणिरूपा। कल्प-ब्राह्मणिकल्पा। चेलट्-ब्राह्मणिचेली। ब्रुव-ब्राह्मणिब्रुवा। गोत्र-ब्राह्मणिगोत्रा। मत-ब्राह्मणिमता। हत-ब्राह्मणिहता। घरूपकल्पाः प्रत्ययाश्चेलडादीन्युत्तरपदानि। 'ब्रुव' इति-ब्रवीतीति ब्रुवः पचाद्यचि, वच्यादेशो गुणश्च निपातनान्न भवति। ङ्य इति किम्? दत्तातरा। गुप्तातरा। अनेकाच इति किम्? 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम्' (6.3.44) इति वक्ष्यति। भाषितपुंस्कादित्येव-आमलकीतरा। कुवलीतरा।

अर्थ—घसञ्ज्ञक प्रत्यय, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत तथा हत—इनके परे रहते भाषितपुंस्क शब्द से उत्तर जो 'ङी', तदन्त अनेकाच् शब्द को ह्रस्व होता है।

उदा० (क) घ—
(1) ब्राह्मणितरा
ब्राह्मणी तरप् टाप्—'तरप्तमपौ घः'। ह्रस्व हुआ।

(2) ब्राह्मणितमा (पूर्ववत्)।

(ख) रूपप्—
(3) ब्राह्मणीरूपा
(5.3.66) से 'रूपप्' हुआ है। शेष पूर्ववत्।

(ग) कल्पप्—
(4) ब्राह्मणीकल्पा
(5.3.67) से 'कल्पप्' हुआ है।

(घ) चेलट्—
(5) ब्राह्मणिचेली
कुत्सितानि कुत्सनैः। चेलट् कुत्सार्थवाची प्रत्यय है।

(ङ) ब्रुव—
(6) ब्राह्मणिब्रुवा (पूर्ववत्)।

(च) गोत्र—
(7) ब्राह्मणिगोत्रा (पूर्ववत्)।

(छ) मत—
(8) ब्राह्मणिमता
विशेषणं विशेष्येण बहुलम्। शेष पूर्ववत्।

(ज) हत—
(9) ब्राह्मणिहता (पूर्ववत्)।

घरूप०—घ, रूप, कल्प—ये प्रत्यय हैं तथा चेल आदि उत्तरपद है। 'ब्रू' धातु से पचादि अच् हुआ। निपातन से वचि आदेश नहीं हुआ।

ङ्य इति०—ङी है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द को ह्रस्व होता है।

(10) दत्तातरा
'दत्ता' में 'ङी' नहीं है। ह्रस्व नहीं हुआ।

(11) गुप्तातरा (पूर्ववत्)।

अनेकाच०—अनेकाच् को ही ह्रस्व होता है। 'नद्याः शेषस्याऽन्यतरस्याम्' का पाठ किया जायेगा।

भाषित०—भाषितपुंस्क शब्द को ही ह्रस्व होता है।

(12) आमलकीतरा
ह्रस्व नहीं हुआ।

(13) कुवलीतरा (पूर्ववत्)।

(2906) नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् *44* (986)

नद्याः शेषस्य घादिषु परतो ह्रस्वो भवति अन्यतरस्याम्। कश्च शेषः? अङी च या नदी ङ्यन्तं च यदेकाच्। ब्रह्मबन्धूतरा, ब्रह्मबन्धुतरा। वीरबन्धूतरा, वीरबन्धुतरा। स्त्रितरा, स्त्रीतरा। स्त्रितमा, स्त्रीतमा। *कृन्नद्याः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (म०भा० सौनागवा०)। लक्ष्मीतरा। तन्त्रीतरा।

अर्थ—घसंज्ञक प्रत्यय, रूपप्, कल्पप्, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत तथा हत—इनके परे रहते नदीसञ्ज्ञक शेष शब्दों को विकल्प से ह्रस्व होता है। शेष किसे कहते हैं? जो नदीसञ्ज्ञक शब्द ङी प्रत्ययान्त नहीं हैं तथा जो ङी प्रत्ययान्त शब्द अनेकाच् नहीं हैं, वे शेष शब्द के द्वारा गृहीत होते हैं।

उदा० (1) ब्रह्मबन्धुतरा
ह्रस्व हुआ।

(2) ब्रह्मबन्धूतरा
पक्ष में ह्रस्व नहीं हुआ।

(3) वीरबन्धुतरा (पूर्ववत्)।
(4) वीरबन्धूतरा (पूर्ववत्)।
(5) स्त्रितरा
ङ्यन्त, नदीसञ्ज्ञक, एकाच्।

(6) स्त्रीतरा
ह्रस्व नहीं हुआ।

(7) स्त्रितमा (पूर्ववत्)।
(8) स्त्रीतमा (पूर्ववत्)।

कृन्नद्या०—कृदन्त, नदीसञ्ज्ञक को सूत्रोक्त ह्रस्व नहीं होता है।

(9) लक्ष्मीतरा
'ई' कृद् प्रत्यय होकर 'लक्ष्मी' शब्द बनता है। अतः ह्रस्व नहीं हुआ।

(10) तन्त्रीतरा (पूर्ववत्)।

(2907) उगितश्च *45* (987)

उगितश्च परस्या नद्या घादिषु अन्यतरस्यां ह्रस्वो भवति। श्रेयसितरा, श्रेयसीतरा, श्रेयस्तरा। विदुषितरा, विदुषीतरा,

विद्वत्तरा। *पुंवद्भावोऽप्यत्र पक्षे वक्तव्यः*। प्रकर्षयोगात्प्राक् स्त्रीत्वस्याविवक्षितत्वाद्वा सिद्धम्।

अर्थ—घसञ्ज्ञक प्रत्यय, रूपप्, कल्पप्, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत तथा हत—इनके परे रहते उगित् शब्द से सम्बन्धित नदीसञ्ज्ञक शब्द को विकल्प से ह्रस्व होता है।

उदा० (1) श्रेयसितरा

श्रेयस् ङीप्—श्रेयसी यह नदीसञ्ज्ञक है। अतः पाक्षिक ह्रस्व हुआ।

(2) श्रेयसीतरा

पक्ष में ह्रस्व नहीं हुआ।

(3) श्रेयस्तरा

पक्ष में पुंवद्भाव हुआ है।

(4) विदुषितरा

ह्रस्व हुआ।

(5) विदुषीतरा

ह्रस्व नहीं हुआ।

(6) विद्वत्तरा

विद्वस् तरप् टाप्—पूर्ववत् पुंवद्भाव।

(2908) आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः *46* (807)

समानाधिकरण उत्तरपदे जातीये च प्रत्यये परतो महत आकारादेशो भवति। महादेवः। महाब्राह्मणः। महाबाहुः। महाबलः। जातीये-महाजातीयः। समानाधिकरणजातीययोरिति किम्? महतः पुत्रो महत्पुत्रः। लक्षणोक्तत्वादेवात्र न भविष्यतीति चेत्? बहुव्रीहावपि न स्याद्-महाबाहुरिति। तदर्थं समानाधिकरणग्रहणं वक्तव्यम्। अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमाः-इत्यत्र गौणत्वान्महदर्थस्य न भवत्यात्त्वम्। *महदात्त्वे घासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं चासमानाधिकरणार्थम्* (का०वा०)। महत्या घासः महाघासः। महत्या करः महाकरः। महत्या विशिष्टः महाविशिष्टः। *अष्टनः कपाले हविष्युपसंख्यानम्* (का०वा०)। अष्टकपालं चरुं निर्वपेत्। हविषीति किम्? अष्टकपालं ब्राह्मणस्य। *गवि च युक्तेऽष्टन उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्* (का०वा०)। अष्टागवेन शकटेन। युक्त इति किम्? अष्टगवं ब्राह्मणस्य। तरपरकणं विस्पष्टार्थम्।

अर्थ—समानाधिकरण पद के उत्तरपद रहते, जातीयर् प्रत्यय के परे रहते 'महत्' शब्द को आकार अन्तादेश होता है।

उदा० (1) महादेवः

महांश्चाऽसौ देवः—मह आ देव सु।

(2) महाब्राह्मणः (पूर्ववत्)।

(3) महाबाहुः (पूर्ववत्)।

(4) महाबलः (पूर्ववत्)।

(5) महाजातीयः

'प्रकारवचने जातीयर्' से जातीयर् प्रत्यय हुआ।

समानाधि०—समानाधिकरण उत्तरपद रहते अथवा जातीयर् प्रत्यय के परे रहते ही आकार आदेश होता है।

(6) महत्पुत्रः

महतः पुत्रः—अन्तादेश नहीं हुआ।

लाक्षणि०—लाक्षणिक होने से यहाँ नहीं होगा—यदि ऐसा है तो 'महाबाहु' में बहुव्रीहि में भी नहीं होगा। इसलिए समानाधिकरण का ग्रहण करना चाहिए।

अमहान् महान् सम्पन्नः—महद्भूतश्चन्द्रमाः।

यहाँ गौण होने से महत् को आकार नहीं होता है।

महदा०—असमानाधिकरण अर्थ के लिए घास, कर तथा विशिष्ट—इनके उत्तरपद रहते महत् शब्द को पुंवद्भाव होता है, आकार अन्तादेश करना हो तो—

(7) महाघासः

महत्या घासः—पुंवद्भाव हुआ,

महत् घास—आकार अन्त्यादेश,

मह आ घास सु—विभक्तिकार्य।

(8) महाकरः

महत्याः करः—पूर्ववत्।

(9) महाविशिष्टः

महत्या विशिष्टः—पूर्ववत्।

अष्टनः—हविष् अर्थ में अष्टन् शब्द को आकार अन्तादेश होता है, कपाल शब्द परे रहते।

(10) अष्टाकपालम्

अष्टन् कपाल सु—पूर्ववत्।

हविषी०—हविष् अर्थ में ही अकार अन्तादेश होता है।

(11) अष्टकपालं ब्राह्मणस्य

यहाँ अन्तादेश नहीं हुआ।

गवि च०—युक्त अर्थ में अष्टन् शब्द को आकार अन्तादेश होता है, 'गो' शब्द परे रहते।

(12) अष्टागवं शकटम्
अष्टन् गो अ—पूर्ववत्।

युक्त—युक्त अर्थ में ही अन्तादेश होता है।

(13) अष्टगवं ब्राह्मणस्य
यहाँ अन्तादेश नहीं हुआ।

तपर०—'आत्' में तपर स्पष्टता के लिए किया गया है।

(2909) द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्य-शीत्योः *47* (808)

द्वि, अष्टन्-इत्येतयोराकारादेशो भवति संख्यायामुत्तर-पदे अबहुव्रीह्यशीत्योः। द्वादश। द्वाविंशतिः। द्वात्रिंशत्। अष्टादश। अष्टाविंशतिः। अष्टात्रिंशत्। द्व्यष्टन इति किम्? पञ्चदश। संख्यायामिति किम्? द्वैमातुरः। आष्टमातुरः। अबहुव्रीह्यशीत्योरिति किम्? द्वित्राः। द्विदशाः। द्व्यशीतिः। *प्राक् शतादिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। इह मा भूत्-द्विशतम्। द्विसहस्रम्। अष्टशतम्। अष्टसहस्रम्।

अर्थ—संख्यावाचक के उत्तरपद रहते 'द्वि' तथा 'अष्टन्' शब्दों को आकार अन्तादेश होता है, परन्तु बहुव्रीहि समास में तथा अशीति उत्तरपद रहते नहीं होता है।

उदा० (1) द्वादश
द्वौ च दश च—'अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः' (वा०) से 'द्वि' का पूर्वनिपात, ष्णान्ता षट्, षड्भ्यो लुक्,
द्वा दशन्—नलोपः प्रातिपदिका०।

(2) द्वाविंशतिः (पूर्ववत्)।
(3) द्वात्रिंशत् (पूर्ववत्)।
(4) अष्टादश
अष्टौ च दश च—पूर्ववत्।
(5) अष्टाविंशतिः (पूर्ववत्)।
(6) अष्टात्रिंशत् (पूर्ववत्)।

अष्टन०—द्वि तथा अष्टन् शब्दों को ही आकार अन्तादेश होता है।

(7) पञ्चदश
अन्तादेश नहीं हुआ।

सङ्ख्याया०—संख्या उत्तरपद रहते ही अन्तादेश होता है।

(8) द्वैमातुरः
यहाँ अन्तादेश नहीं हुआ।

(9) आष्टमातुरः (पूर्ववत्)।

अबहुव्री०—बहुव्रीहि समास व अशीति के उत्तरपद रहते अन्तादेश नहीं होता है।

(10) द्वित्राः
द्वौ वा त्रयो वा—सङ्ख्ययाऽव्ययाऽस० से समास, अन्तादेश नहीं हुआ।

(11) त्रिदशाः (पूर्ववत्)।
(12) द्व्यशीतिः (पूर्ववत्)।

प्राक्शता०—शत शब्द से पूर्व जो संख्या, उसके उत्तरपद रहते अन्तादेश होता है।

(13) द्विशतम्
अन्तादेश नहीं हुआ।

(14) द्विसहस्रम् (पूर्ववत्)।
(15) अष्टशतम् (पूर्ववत्)।
(16) अष्टसहस्रम् (पूर्ववत्)।

(2910) त्रेस्त्रयः *48* (809)

'त्रि' इत्येतस्य 'त्रयस्' इत्ययमादेशो भवति संख्यायाम-बहुव्रीह्यशीत्योः। त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्। 'संख्यायाम्' इत्येव-त्रैमातुरः। 'अबहुव्रीह्यशीत्योः' इत्येव-त्रिदशाः। त्र्यशीतिः। 'प्राक् शतात्' इत्येव-त्रिशतम्। त्रिसहस्रम्।

अर्थ—संख्या के उत्तरपद रहते 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश होता है, परन्तु बहुव्रीहि समास में तथा अशीति उत्तरपद रहते नहीं होता है।

उदा० (1) त्रयोदश
त्रयश्च दश च।
(2) त्रयोविंशति (पूर्ववत्)।
(3) त्रयस्त्रिंशत् (पूर्ववत्)।

सङ्ख्या०—संख्या उत्तरपद रहते ही त्रयस् आदेश होता है।

(4) त्रिमातुरः
यहाँ नहीं हुआ।

अबहुव्री०—बहुव्रीहि समास को छोड़कर तथा अशीति के उत्तरपद न रहते ही त्रयस् आदेश होता है—

(5) त्रिदशाः
त्रयस् आदेश नहीं हुआ।
(6) त्र्यशीतिः (पूर्ववत्)।

प्राक्०—शत शब्द से पूर्व 'त्रि' को त्रयस् नहीं होता है।

(7) त्रिशतम् (पूर्ववत्)।
(8) त्रिसहस्रम् (पूर्ववत्)।

(2911) विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् *49* (810)

चत्वारिंशत्प्रभृतौ सङ्ख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः सर्वेषां द्व्यष्टन्, त्रि-इत्येतेषां यदुक्तं तद्विभाषा भवति। द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्। त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत्। अष्टपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत्। सर्वेषाम्-ग्रहणं त्रयाणामपि यथा स्यात्। प्राक् शतादित्येव-द्विशतम्। अष्टशतम्। त्रिशतम्।

अर्थ—चत्वारिंशत् आदि संख्या शब्दों के उत्तरपद रहते द्वि, अष्टन् और त्रि शब्दों के स्थान पर पूर्वोक्त आदेश (अर्थात् अन्तादेश व त्रयस् आदेश) विकल्प से होते हैं।

उदा० (1) द्वाचत्वारिंशत्
आकार अन्तादेश हुआ।

(2) द्विचत्वारिंशत्
पक्ष में अन्तादेश नहीं हुआ।

(3) अष्टाचत्वारिंशत्
आकार अन्तादेश।

(4) अष्टचत्वारिंशत्
पक्ष में आकार नहीं हुआ।

(5) त्रयश्चत्वारिंशात्
त्रयस् आदेश हुआ।

(6) त्रिचत्वारिंशात्
त्रयस् नहीं हुआ।

(7) द्वापञ्चाशत्
आकार अन्तादेश।

(8) द्विपञ्चाशत्
अन्तादेश नहीं हुआ।

(9) अष्टापञ्चाशत्
आकार हुआ।

(10) अष्टपञ्चाशत्
आकार नहीं हुआ।

(11) त्रयःपञ्चाशत्
त्रयस् हुआ।

(12) त्रिपञ्चाशत्
पक्ष में त्रयस् नहीं हुआ।

शता०—शत शब्द से पूर्व उक्त कार्य नहीं होते हैं।

(13) द्विशतम्
आकार अन्तादेश नहीं हुआ।

(14) अष्टशतम्
आकार अन्तादेश नहीं हुआ।

(15) त्रिशतम्
त्रयस् आदेश नहीं हुआ।

(2912) हृदयस्य हृल्लेखयदणलासेषु *50* (988)

हृदयस्य 'हृत्' इत्ययमादेशो भवति लेख, यत्, अण्, लास-इत्येतेषु परतः। हृदयं लिखतीति हृल्लेखः। यत्-हृदयस्य प्रियं हृद्यम्। अण्-हृदयस्येदं हार्दम्। लास-हृदयस्य लासो हृल्लासः। 'लेख' इत्यणन्तस्य ग्रहण-मिष्यते। घञि तु-हृदयस्य लेखो हृदयलेखः। एतदेव लेखग्रहणं ज्ञापकम्-उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्ता-ग्रहणस्य।

अर्थ—हृदय शब्द के स्थान पर 'हृत्' आदेश होता है; लेख, यत्, अण् तथा लास—इनके परे रहते।

उदा० (1) हृल्लेखः
हृदयं लिखति → हृत् लेख—तोर्लि।

(2) हृद्यम्
हृदयस्य प्रियम्—यत् प्रत्यय,
हृत् य सु—विभक्तिकार्य।

(3) हार्दः
हृदयस्याऽयम् → हृत् अण्—वृद्धि,
हार्त् अ → हार्द अ—विभक्तिकार्य।

(4) हृल्लासः

हृदयस्य लासः—पूर्ववत्।

लेख०—'लेख' के द्वारा अण् प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। घञ् प्रत्यय में हृदयस्य लेखः—हृदयलेखः इस प्रकार होता है। लेख शब्द के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि उत्तरपद के अधिकार में प्रत्यय ग्रहण में तदन्त का ग्रहण नहीं होता है।

(2913) वा शोकष्यञ्रोगेषु *51* (989)

शोक, ष्यञ्, रोग–इत्येतेषु परतो हृदयस्य वा 'हृत्' इत्ययमादेशो भवति। हृच्छोकः, हृदयशोकः। ष्यञ्–सौहार्द्यम्, सौहृदयम्। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् (5.1.124)। हृदादेशपक्षे 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (7.3.19) इत्युभयपदवृद्धिः। रोगे–हृद्रोगः, हृदयरोगः। हृदयशब्देन समानार्थो हृत्-शब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति, तेनैव सिद्धे विकल्पविधानं प्रपञ्चार्थम्।

अर्थ—हृदय शब्द के स्थान पर 'हृत्' आदेश विकल्प से होता है; शोक, ष्यञ् तथा रोग—इनके परे रहते।

उदा० (1) हृच्छोकः

हृदयस्य शोकः → हृत् शोकः—स्तोः श्चुना श्चुः, शश्छोऽटि आदि।

(2) हृदयशोकः

पक्ष में नहीं हुआ।

(3) सौहार्द्यम्

सुहृद ष्यञ्—ब्राह्मणादि होने से ष्यञ्, हृत् आदेश, हृद्भगसिन्ध्व० से उभयपदवृद्धि।

(4) सौहृदयम्

(5) हृद्रोगः

'हृत्' आदेश हुआ।

(6) हृदयरोगः

हृत् आदेश नहीं हुआ।

हृदय०—हृदय शब्द का समानार्थक हृत् शब्द है। यह अन्य प्रकृति है। उसके द्वारा सिद्ध होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प का विधान प्रपञ्च के लिए है।

(2914) पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु *52* (990)

पादस्य 'पद' इत्ययमादेशो भवति आजि, आति, ग, उपहत–इत्येतेषूत्तरपदेषु। पादाभ्यामजतीति पदाजिः। पादाभ्यामततीति पदातिः। 'अज्यतिभ्यां पादे च' (उ०सू० 576-81) इत्यौणादिक इणप्रत्ययः। तत्राजेर्वीभावो न भवति, अत एव निपातनात्। पादाभ्यां गच्छतीति पदगः। पादेनोपहतः पदोपहतः। पादशब्दो वृषादित्वादाद्युदात्तः, तस्य स्थाने पदादेश उपदेश एवान्तोदात्तो निपात्यते। तेन पदोपहत इति 'तृतीया कर्मणि' (6.2.48) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वं भवति। पदाजिः, पदातिः, पदगः–इत्येतेषु कृत्स्वरेण समासस्यैवान्तोदात्तत्वम्।

अर्थ—पाद शब्द के स्थान पर 'पद' आदेश होता है; आजि, आति, ग तथा उपहत—शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) पदाजिः

पादाभ्यामजतीति—पद अजि सु।

(2) पदातिः

पादाभ्याम् अततीति—पूर्ववत्।

अज्यति०—अज् व अत् धातुओं से औणादिक इण् प्रत्यय होता है। निपातन से अज् के स्थान पर 'वी' नहीं होता है।

(3) पदगः

पादाभ्यां गच्छतीति।

(4) पदोपहतः

पादाभ्याम् (पादेन वा) उपहतः।

पाद०—पाद शब्द वृषादि होने से आद्युदात्त है। उसके स्थान पर होने वाला पद आदेश उपदेश अवस्था में ही अन्तोदात्त निपातित है। तब 'पदोपहतः' यहाँ 'तृतीया कर्मणि' के द्वारा पूर्वपद प्रकृतिस्वर से उदात्त होता है। पदाजिः, पदातिः, पदगः—इनमें कृत्स्वर के द्वारा समासलक्षण अन्तोदात्त होता है।

(2915) पद्यत्यतदर्थे *53* (991)

यत्प्रत्यये परतः पादस्य पदित्ययमादेशो भवत्यतदर्थे। पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः। पद्याः कण्टकाः। अतदर्थ इति किम्? पादार्थमुदकं पाद्यम् *पद्भावे इके चरतावुपसङ्ख्यानम्* (का०वा०)। पादाभ्यां चरति पदिकः। 'पर्पादिभ्यः ष्ठन्' (4.4.10) इति पादशब्दात् ष्ठन्प्रत्ययः। शरीरावयववचनस्य पादशब्दस्य ग्रहणमिहेष्यते, तेन 'पणपादमाषशताद्यत्' (5.1.34) इत्यत्र पदादेशो न भवति। द्विपाद्यम्। त्रिपाद्यम्।

अर्थ—अतदर्थ यत् प्रत्यय परे रहते पाद शब्द के स्थान पर

'पद्' आदेश होता है।

उदा० (1) पद्याः शर्कराः
पादौ विध्यन्ति → पद् यत्
पद्य जस्—विभक्तिकार्य।

(2) पद्याः कण्टकाः (पूर्ववत्)।

अतदर्थ०—अतदर्थ यत् परे रहते 'पद्' आदेश होता है।

(3) पाद्यम्
पादार्थम् उदकम्—पद आदेश नहीं हुआ।

पद्भावे०—'चरति' अर्थ में 'इक' परे रहते भी 'पद्' आदेश होता है।

(4) पदिकः
पादाभ्यां चरति—पद् इक सु।

पर्पादि०—'पर्पादिभ्यः ष्ठन्' के द्वारा पाद शब्द से ष्ठन् प्रत्यय होता है। यहाँ शरीर के अवयववाची पाद शब्द का ग्रहण होता है। अतः 'पणपादमाषशताद्यत्' से यत् होने पर 'पद्' आदेश नहीं होता है।

(5) द्विपाद्यम्
'पद्' आदेश नहीं हुआ।

(6) त्रिपाद्यम् (पूर्ववत्)।

(2916) हिमकाषिहतिषु च *54* (992)

हिम, काषिन्, हति-इत्येतेषु पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति। हिम-पद्धिमम्। काषिन्-अथ पत्काषिणो यान्ति। हति-पद्धतिः।

अर्थ—पाद शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होता है; हिम, काषिन् तथा हति—इनके उत्तरपद रहते।

उदा० (1) पद्धिमम्
पादस्य हिमम्—पद् हिम सु।

(2) पत्काषी
पद् काषिन् सु—खरि च।
द्र०—अथ पत्काषिणो यान्ति (भट्टि० 16.28)।

(3) पद्धतिः
पादाभ्यां हन्यते।

(2917) ऋचः शे *55* (993)

ऋक्सम्बन्धिनः पादशब्दस्य शे परतः पदित्ययमादेशो भवति। पच्छो गायत्रीं शंसति। पादंपादं शंसतीति 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (5.4.43) इति शस्प्रत्ययः। ऋच इति किम्? पादशः कार्षापणं ददातीति।

अर्थ—ऋचासम्बन्धी पाद शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होता है, 'श' परे रहते।

उदा० (1) पच्छः
पद् छ → पच्छ सु—शश्छोऽटि।

पादं०—पादं पादं शंसति—'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' से 'शस्' प्रत्यय होता है।

ऋच०—ऋचासम्बन्धी पाद शब्द को 'पद' आदेश होता है।

(2) पादशः कार्षापणं ददाति
यहाँ 'पद्' आदेश नहीं हुआ।

(2918) वा घोषमिश्रशब्देषु *56* (994)

घोष, मिश्र, शब्द-इत्येतेषु चोत्तरपदेषु पादस्य वा 'पद्' इत्ययमादेशो भवति। पद्घोषः। पादघोषः। पन्मिश्रः, पादमिश्रः। पच्छब्दः, पादशब्दः। *निष्के चेति वक्तव्यम्* (का०वा०)। पन्निष्कः, पादनिष्कः।

अर्थ—पाद शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश विकल्प से होता है; घोष, मिश्र तथा शब्द—इनके उत्तरपद रहते।

उदा० (1) पद्घोषः
आदेश नहीं हुआ।

(2) पादघोषः
पक्ष में आदेश नहीं हुआ।

(3) पन्मिश्रः
पद् मिश्र सु—यरोऽनुनासिकेऽनुना०।

(4) पादमिश्रः
'पद्' आदेश नहीं हुआ।

(5) पच्छब्दः
पद् शब्द सु—शश्छोऽटि।

(6) पादशब्दः
'पद्' आदेश नहीं हुआ।

निष्के०—निष्क शब्द परे रहते पाद शब्द को विकल्प से 'पद्' आदेश होता है।

(7) पन्निष्कः
पद् निष्क सु।

(8) पादनिष्कः
'पद्' आदेश नहीं हुआ।

(2919) उदकस्योदः संज्ञायाम् *57* (995)

उदकशब्दस्य संज्ञायां विषये 'उद'-इत्ययमादेशो भवति उत्तरपदे परतः। उदमेघो नाम यस्य औदमेघिः पुत्रः। उदवाहो नाम यस्य औदवाहिः पुत्रः। संज्ञायामिति किम्? उदकगिरिः। *संज्ञायामुत्तरपदस्य उदकशब्दस्य उदादेशो भवतीति वक्तव्यम्* (का०वा०)। लोहितोदः। नीलोदः। क्षीरोदः।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में उदक शब्द के स्थान पर 'उद' आदेश होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) औदमेघिः
उदमेघ किसी का नाम है। 'उद' आदेश हुआ है। उदमेघस्याऽपत्यम् इञ्, आदिवृद्धि होकर।

(2) औदवाहिः
उदवाह इञ्—पूर्ववत्।

सञ्ज्ञा०—सञ्ज्ञा के विषय में ही 'उद्' आदेश होता है।

(3) उदकगिरिः
यहाँ सञ्ज्ञा नहीं है। अतः 'उद्' आदेश नहीं हुआ।

सञ्ज्ञाया०—उत्तरपद में वर्त्तमान जो उदक शब्द, उसके स्थान पर 'उद' आदेश होता है।

(4) लोहितोदः
'उदक' को 'उद' हुआ।

(5) नीलोदः (पूर्ववत्)।
(6) क्षीरोदः (पूर्ववत्)।

(2920) पेषंवासवाहनधिषु च *58* (996)

पेषं, वास, वाहन, धि-इत्येतेषु चोत्तरपदेषु उदकस्य 'उद' इत्ययमादेशो भवति। उदपेषं पिनष्टि। 'स्नेहने पिषः' (3.4.38) इति णमुल्। वास-उदकस्य वास उदवासः। वाहन-उदकस्य वाहन उदवाहनः। धि-उदकं धीयते-ऽस्मिन्नित्युदधिः।

अर्थ—उदक शब्द के स्थान पर 'उद' आदेश होता है; पेषं, वास, वाहन तथा धि—इनके उत्तरपद रहते।

उदा० (1) उदपेषं पिनष्टि
पिष् णमुल्।

(2) उदवासः
उदकस्य वासः।

(3) उदवाहनः
उदकस्य वाहनः।

(4) उदधिः
उदकं धीयतेऽस्मिन्—कर्मण्यधिकरणे च।

(2921) एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् *59* (997)

'उदकस्योदः' इति वर्त्तते। एकः = असहायः तुल्यजातीयेनानन्तरेण हलादिना। हल् आदिर्यस्योत्तरपदस्य तदेकहलादिः, तस्मिन्नेकहलादौ पूरयितव्यवाचिन्यन्यतरस्यामुदकस्य 'उद' इत्ययमादेशो भवति। उदकुम्भः, उदककुम्भः। उदपात्रम्, उदकपात्रम्। एकहलादाविति किम्? उदकस्थालम्। पूरयितव्य इति किम्? उदकपर्वतः।

अर्थ—'उदकस्योदः' का अनुवर्त्तन है। 'एक' शब्द असहायवाची है। जिसे भरा जाना है, तद्वाची शब्द तथा एक ही हल् जिसके आदि में है, ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते उदक शब्द के स्थान पर 'उद' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) उदकुम्भः
उदक कुम्भ → उद कुम्भ सु।

(2) उदककुम्भः
पक्ष में 'उद' आदेश नहीं हुआ।

(3) उदपात्रम्
'उद' आदेश हुआ।

(4) उदकपात्रम्
आदेश नहीं हुआ।

एकहला०—एक ही हल् आदि में है, ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते 'उद' आदेश होता है।

(5) उदकस्थलम्
'स्थल' शब्द के आदि में एक हल् नहीं है, दो हल् हैं। अतः 'उद' आदेश नहीं हुआ।

पूरयित०—जिसे पूरा किया गया है, ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते 'उद' आदेश होता है।

(6) उदकपर्वतः
'उद' आदेश नहीं हुआ।

(2922) मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवध-गाहेषु च *60* (998)

मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह–इत्येतेषूत्तरपदेषूदकस्य 'उद' इत्ययमादेशो भवति अन्यतरस्याम्। उदकेन मन्थ उदमन्थः, उदकमन्थः। ओदन–उदकेनौदनः उदौदनः, उदकौदनः। सक्तु–उदकेन सक्तुः उदसक्तुः, उदकसक्तुः। बिन्दु–उदकस्य बिन्दुः उदबिन्दुः, उदकबिन्दुः। वज्र–उदकस्य वज्रः उदवज्रः, उदकवज्रः। भार–उदकं बिभर्तीति उदभारः, उदकभारः। हार–उदकं हरतीति उदहारः, उदकहारः। वीवध–उदकस्य वीवधः उदवीवधः, उदकवीवधः। गाह–उदकं गाहत इति उदगाहः, उदकगाहः।

अर्थ—उदक शब्द के स्थान पर 'उद' आदेश विकल्प से होता है; मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध तथा गाह शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) उदमन्थः
उदकेन मन्थः—उद मन्थ
उदमन्थ सु।

(2) उदकमन्थः
पक्ष में आदेश नहीं हुआ।

(3) उदौदनः
उदकेनौदनः (पूर्ववत्)।

(4) उदकौदनः
आदेश नहीं हुआ।

(5) उदसक्तुः
उदकेन सक्तुः—पूर्ववत्।

(6) उदकसक्तुः
आदेश नहीं हुआ।

(7) उदबिन्दुः
उदकस्य बिन्दुः—पूर्ववत्।

(8) उदकबिन्दुः
आदेश नहीं हुआ।

(9) उदवज्रः (पूर्ववत्)।

(10) उदकवज्रः
आदेश नहीं हुआ।

(11) उदभारः
उदकं बिभर्त्तीति।

(12) उदकभारः
आदेश नहीं हुआ।

(13) उदहारः
उदकं हरति।

(14) उदकहारः
आदेश नहीं हुआ।

(15) उदवीवधः (पूर्ववत्)।

(16) उदकवीवधः
आदेश नहीं हुआ।

(17) उदगाहः
उदकं गाहते।

(18) उदकगाहः
आदेश नहीं हुआ।

(2923) इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य *61* (999)

इगन्तस्याङ्यन्तस्योत्तरपदे ह्रस्वो भवति गालवस्याचार्यस्य मतेनान्यतरस्याम्। ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः। ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः। इक गति किम्? खट्वापादः। मालापादः। अङ्य इति किम्? गार्गीपुत्रः। वात्सीपुत्रः। गालवग्रहणं पूजार्थम्, 'अन्यतरस्याम्' इति हि वर्तते। व्यवस्थितविभाषा चेयम्। तेनेह न भवति–कारीषगन्धीपुत्र इति। *इयङुवङ्भाविनामव्ययानां च न भवति*–श्रीकुलम्, भ्रूकुलम्। काण्डीभूतम्, वृषलीभूतम्। भ्रुकुंसादीनां तु भवत्येव–भ्रुकुंसः, भ्रुकुटिः। अपर आह– *भ्रुकुंसादीनामकारो भवतीति वक्तव्यम्* (म० भा०) भ्रकुंसः। भ्रकुटिः।

अर्थ—गालव आचार्य के मत में इगन्त व अङ्यन्त शब्द को विकल्प से ह्रस्व होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) ग्रामणिपुत्रः
ग्रामण्याः पुत्रः।

(2) ग्रामणीपुत्रः

पक्ष में ह्रस्व नहीं हुआ।

(3) ब्रह्मबन्धुपुत्रः
ह्रस्व हुआ।

(4) ब्रह्मबन्धूपुत्रः
ह्रस्व नहीं हुआ।

इक०—इगन्त शब्द को ह्रस्व होता है।

(5) खट्वापादः
'खट्वा' इगन्त नहीं है। अतः ह्रस्व नहीं हुआ।

(6) मालापादः (पूर्ववत्)।

अङ्यन्त०—जो ङ्यन्त नहीं हैं, ऐसे शब्द को ह्रस्व होता है।

(7) गार्गीपुत्रः
गार्ग्याः पुत्र—'गार्गी' शब्द इगन्त तथा ङ्यन्त है। अतः ह्रस्व नहीं हुआ।

(8) वात्सीपुत्रः (पूर्ववत्)।

गालव०—'गालव' शब्द का पाठ सम्मान के लिए है। 'अन्यतरस्याम्' पद का अनुवर्त्तन पूर्वतः प्राप्त ही है। यह व्यवस्थित विभाषा है। अतः निम्नलिखित में ह्रस्व नहीं होता है—

(9) कारीषगन्धीपतिः
इयङ् उवङ् भावी शब्दों को तथा अव्ययों को ह्रस्व नहीं होता है।

(10) श्रीकुलम्
यहाँ नहीं हुआ।

(11) भ्रूकुलम् (पूर्ववत्)।
(12) काण्डीभूतम् (पूर्ववत्)।
(13) वृषलीभूतम् (पूर्ववत्)।

भ्रुकुंसा०—भ्रुकुंस आदि शब्दों को ह्रस्व होता है।

(14) भ्रुकुंसः (पूर्ववत)।
(15) भ्रुकुटिः (पूर्ववत्)।

भ्रुकुंसा०—कुछ विद्वान् कहते हैं कि भ्रुकुंस आदि शब्दों को अकार आदेश होता है।

(16) भ्रकुंसः
अकार आदेश हुआ।

(17) भ्रकुटिः (पूर्ववत्)।

(2924) एक तद्धिते च *62* (1000)

एकशब्दस्य तद्धिते उत्तरपदे च ह्रस्वो भवति। एकस्या आगतमेकरूप्यम्। एकमयम्। एकस्या भाव एकत्वम्। एकता। उत्तरपदे-एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्। एकदुग्धम्। लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणमेकशब्दह्रस्वत्वं प्रयोजयति। अचा हि गृह्यमाणमत्र विशेष्यते, न पुनरच् गृह्यमाणेनेति।

अर्थ—तद्धित प्रत्यय के परे रहते तथा उत्तरपद परे रहते 'एक' शब्द को ह्रस्व होता है। सामर्थ्यवशात् स्त्रीलिङ्ग 'एका' का ग्रहण होता है।

उदा० (क) तद्धिते—
(1) एकरूप्यम्
एकस्या आगतम्—ह्रस्व हुआ।

(2) एकमयम् (पूर्ववत्)।
(3) एकत्वम्
एकस्या भावः।

(4) एकता (पूर्ववत्)।

(ख) उत्तरपदे—
(5) एकक्षीरम्
एकस्याः क्षीरम्।

(6) एकदुग्धम्
एकस्या दुग्धम्।

लिङ्ग०—लिङ्गविशिष्ट ग्रहण परिभाषा से एक शब्द को ह्रस्व होता है।

(2925) ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् *63* (1001)

ङ्यन्तस्याबन्तस्य च संज्ञाछन्दसोर्बहुलं ह्रस्वो भवति। ङ्यन्तस्य संज्ञायाम्-रेवतिपुत्रः, रोहिणिपुत्रः, भरणिपुत्रः। न च भवति-नान्दीकरः, नान्दीघोषः, नान्दीविशालः। ङ्यन्तस्य छन्दसि-कुमारिदा, उर्विदा (कुमारिदा प्रफर्विदा। काठ० 39.9)। न च भवति-फाल्गुनीपौर्णमासी, जगतीच्छन्दः। आबन्तस्य संज्ञायाम्-शिलवहम्, शिलप्रस्थम्। न च भवति-लोमकागृहम्। लोमकाषण्डम्। आबन्तस्य छन्दसि-अजक्षीरेण जुहोति, ऊर्णम्रदा (ऊर्णम्रदा) पृथिवीं विश्वधायसम्। न च भवति-ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।

अर्थ—वेद के विषय में तथा संज्ञा के विषय में ङ्यन्त और आबन्त शब्दों को बहुलता से ह्रस्व होता है, उत्तरपद परे रहते।

(क) ङ्यन्तस्य सञ्ज्ञायाम्—

(1) रेवतिपुत्रः

रेवत्याः पुत्रः—'रेवती' ङ्यन्त है। सञ्ज्ञा होने से इसे ह्रस्व हुआ।

(2) रोहिणिपुत्रः

ह्रस्व हुआ।

(3) भरणिपुत्रः

ह्रस्व हुआ।

(4) नान्दीकरः

'नान्दी' ङ्यन्त है। बाहुलकात् ह्रस्व नहीं हुआ।

(5) नान्दीघोषः

ह्रस्व नहीं हुआ।

(6) नान्दीविशालः (पूर्ववत्)।

(ख) ङ्यन्तस्य छन्दसि—

(7) कुमारिदा

ह्रस्व हुआ।

(8) प्रदर्विदा (पूर्ववत्)।

(9) फाल्गुनीपौर्णमासी

यहाँ ह्रस्व नहीं हुआ।

(10) जगतीछन्दः

ह्रस्व न हुआ।

(ग) आबन्तस्य सञ्ज्ञायाम्—

(11) शिलवहम्

'शिला' का ह्रस्व हुआ।

(12) शिलप्रस्थम् (पूर्ववत्)।

(13) लोमकागृहम्

ह्रस्व नहीं हुआ।

(14) लोमकाखण्डः

ह्रस्व नहीं हुआ।

(घ) आबन्तस्य छन्दसि—

(15) अजक्षीरेण

'अजा' को ह्रस्व हुआ।

(16) ऊर्णम्रदा

ह्रस्व हुआ।

(17) ऊर्णासूत्रेण

ह्रस्व नहीं हुआ।

(2926) त्वे च *64* (1002)

त्वप्रत्यये परतो ङ्यापोर्बहुलं ह्रस्वो भवति। तदजाया भावः अजत्वम्। अजात्वम्। तद्रोहिण्या भावो रोहिणित्वम्। रोहिणीत्वम् (काठ०सं० 81) संज्ञायामसम्भवाच्छन्दस्येवोदाहरणानि भवन्ति।

अर्थ—ङ्यन्त और आबन्त शब्द को बहुल करके ह्रस्व होता है, त्व प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) अजत्वम्

अजाया भावः—ह्रस्व हुआ।

(2) अजात्वम्

ह्रस्व नहीं हुआ।

(3) रोहिणित्वम्

रोहिण्या भावः।

(4) रोहिणीत्वम्

ह्रस्व नहीं हुआ।

सञ्ज्ञा०—सञ्ज्ञा में सम्भव न होने से वेद के विषय में ही उदाहरण दिखाये गये हैं।

(2927) इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु *65* (1006)

इष्टकेषीकामालानां चित, तूल, भारिन्–इत्येतेषूत्तरपदेषु यथासंख्यं ह्रस्वो भवति। इष्टकचितम्। इषीकतूलम्। मालभारिणी कन्या। *इष्टकादिभ्यस्तदन्तस्यापि ग्रहणं भवति*। पक्वेष्टकचितम्। मुञ्जेषीकतूलम्। उत्पलमालभारिणी कन्या।

अर्थ—चित्त, तूल तथा भारिन् शब्दों के उत्तरपद रहते यथासंख्य इष्टका, इषीका और माला शब्दों को ह्रस्व होता है।

उदा० (1) इष्टकचित्तम्

'इष्टका' को ह्रस्व हुआ।

(2) इषीकतूलम् (पूर्ववत्)।

(3) मालभारिणी कन्या (पूर्ववत्)।

इष्टका०—इष्टका आदि के विषय में तदन्त का भी ग्रहण होता है।

(4) पक्वेष्टकचित्तम्

ह्रस्व हो गया है।

(5) मुञ्जेषीकतूलम् (पूर्ववत्)।

(6) उत्पलमालभारिणी कन्या (पूर्ववत्)।

(2928) खित्यनव्ययस्य *66* (2943)

खिदन्ते उत्तरपदेऽनव्ययस्य ह्रस्वो भवति। कालिम्मन्या। हरिणिम्मन्या। मुमा ह्रस्वो न बाध्यते; अन्यथा हि ह्रस्वशासनमनर्थकं स्यात्। अनव्ययस्येति किम्? दोषामन्यमहः। दिवामन्या रात्रिः। 'अनव्ययस्य' इत्येतदेव ज्ञापकमिह खिदन्तग्रहणस्य।

अर्थ—खित् प्रत्यय है अन्त में जिसके, ऐसे उत्तरपद के परे रहते पूर्वपद को ह्रस्व आदेश होता है, परन्तु अव्यय को नहीं होता है।

उदा० (1) कालिम्मन्या

कालीम् आत्मनं मन्यते—समास हुआ, आत्ममाने खश्च, खश्,

काली मन् श्यन् खश्—शप् को बाध कर श्यन्,

काली मन्य—अतो गुणे,

कालिम् मन्य—ह्रस्व, मुम्

कालिम्मन्या—टाप्, सु।

(2) हरिणिम्मन्या (पूर्ववत्)।

मुमा०—मुम् के द्वारा ह्रस्वादेश का बाध नहीं होता है। अन्यथा ह्रस्व का विधान व्यर्थ हो जायेगा।

अनव्यय०—**अव्यय** को ह्रस्व आदेश नहीं होता है।

(3) दोषामन्यम् अहः

दोषा आत्मानं मन्यते—यहाँ ह्रस्व नहीं होता है।

(4) दिवामन्या रात्रिः

ह्रस्व नहीं हुआ।

अनव्य०—'अनव्ययस्य' यह वचन ज्ञापक है खिदन्त के ग्रहण का।

(2929) अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् *67* (2942)

अरुस्, द्विषत्–इत्येतयोरजन्तानां च खिदन्त उत्तरपदे मुमागमो भवति अनव्ययस्य। अरुन्तुदः। द्विषन्तपः। अजन्तानाम्–कालिम्मन्या। अरुर्द्विषदजन्तस्येति किम्? विद्वन्मन्यः। अनव्ययस्येत्येव–दोषामन्यमहः। दिवामन्या रात्रिः। अन्तग्रहणं किम्? कृताजन्तकार्यप्रतिपत्त्यर्थम्। अतो ह्रस्वे कृते मुम्भवति।

अर्थ—अरुस्, द्विषत् तथा अजन्त शब्दों को मुम् आगम होता है, खिदन्त उत्तरपद परे रहते; परन्तु अव्यय को यह आगम नहीं होता है।

उदा० (1) अरुन्तुदः

अरुस्तुदति—'विध्वरुषोस्तुदः' से खश् हुआ,

अरुस् तुद् श खश्—शप् को बाध कर 'श' हुआ,

अरु म् स् तुद—'अतो गुणे' से पररूप, मुम्,

अरुन्तुदः—संयोगान्तस्य लोपः, अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(2) द्विषन्तपः

द्विषन्तं तापयति—द्विषत्परयोस्तापे, खच्, णेरनिटि, खचि ह्रस्वः,

द्विष म् त् तप् अ अ—अतो गुणे आदि पूर्ववत्।

(3) कालिम्मन्या

इसकी सिद्धि पूर्वसूत्र पर देखें।

अरुर्द्विष०—**अरुस्** आदि शब्दों को ही मुम् आगम होता है—

(4) विद्वन्मन्या

आत्मानं विद्वांसं मन्यते—मुम् नहीं हुआ।

अनव्य०—**अव्यय** को मुम् आगम नहीं होता है।

(5) दोषामन्यमहः

मुम् नहीं हुआ।

(6) दिवामन्या रात्रिः (पूर्ववत्)।

अन्त०—'अन्त' पद के ग्रहण के द्वारा कृत अजन्त कार्य का ज्ञान होता है। फलतः ह्रस्वादेश करने के पश्चात् मुम् होता है।

(2930) इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च *68* (2994)

इजन्तस्य एकाचः खिदन्ते उत्तरपदेऽमागमो भवति, अम्प्रत्ययवच्च द्वितीयैकवचनवच्च स भवति। अमिति हि द्विरावर्तते। गाम्मन्यः। स्त्रीम्मन्यः, स्त्रियम्मन्यः। नरम्मन्यः। श्रियम्मन्यः। भ्रुवम्मन्यः। 'अम्प्रत्ययवच्च'–इत्यतिदेशादात्वपूर्वसवर्णगुणेयङुवङादेशा भवन्ति। इच इति किम्? त्वङ्मन्यः। एकाच इति किम्? लेखाभ्रुम्मन्यः। अथेह कथं भवितव्यम्–श्रियमात्मानं ब्राह्मणकुलं मन्यत इत्युपक्रम्य? 'श्रिमन्यमिति भवितव्यम्' इति भाष्ये स्थि-

तम्। तत्रेदं भाष्यकारस्य दर्शनम्–अत्र विषये परित्यक्त-स्वलिङ्गः श्रीशब्दो ब्राह्मणकुले वर्तते, यथा–प्रष्ठादयः स्त्रियाम्। तत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' (7.1.23) इत्यमो लुग्भवति।

अर्थ—इजन्त एकाच् शब्द को अम् आगम होता है, खिदन्त उत्तरपद परे रहते तथा वह 'अम्' आगम् अम् प्रत्यय के समान होता है। अम् प्रत्यय द्वितीया एकवचन में होता है। यहाँ उसी का ग्रहण है। 'अम्' इसकी दो बार आवृत्ति होती है।

उदा० (1) गाम्मन्यः
गाम आत्मानं मन्यते—खश्, श्यन्,
गो मन् श्यन् खश्—अम्, अम्प्रत्ययवत् अतिदेश, विभक्ति सञ्ज्ञा,
गो अम् मन्य—अतो गुणे, औतोऽम्श०,
गाम् मन्य सु—अमि पूर्वः।

(2) स्त्रीम्मन्यः
स्त्री अम् मन् श्यन् खश्—पूर्ववत्,
स्त्रीम्मन्य सु—अमि पूर्वः।

(3) स्त्रियम्मन्यः
पक्ष में 'वाऽम्शसोः' से इयङ् हुआ।

(4) श्रियम्मन्यः
श्री अम् मन् श्यन् खश्—इयङ् हुआ।

(5) भ्रुवम्मन्यः
उवङ् आदेश।

अम्प्रत्य०—अम् प्रत्ययवत्—इस प्रकार अतिदेश कह देने से आत्व (औतोऽम्शसोः), पूर्वसवर्ण (अमि पूर्वः), गुण (ऋतो ङि सर्व०), इयङ् आदेश (वाऽम्शसोः) तथा उवङ् आदेश होते हैं।

इच इति०—इच् वर्ण है अन्त में जिसके, ऐसे शब्द को ही 'अम्' होता है।

(6) त्वङ्मन्यः
यहाँ 'अम्' नहीं हुआ।

एकाच०—एकाच् शब्द को ही 'अम्' प्रत्यय होता है।

(7) लेखाभ्रूम्मन्यः
एकाच् न होने से 'अम्' नहीं हुआ।

यहाँ किस प्रकार होना चाहिए—श्रियम् आत्मानं ब्राह्मणकुलं मन्यते' यह उपक्रम करके 'श्रिमन्यम्' ऐसा होना चाहिए। यह महाभाष्य में कहा गया है। यहाँ भाष्यकार का मत है कि ऐसे विषय में अपने लिङ्ग का त्याग करके श्री शब्द ब्राह्मणकुल अर्थ में वर्तमान है। यथा प्रष्ठ आदि शब्द स्त्री अर्थ में। इस प्रकार 'स्वमोर्नपुंसकात्' से 'अम्' का लुक् होता है।

(2931) वाचंयमपुरन्दरौ च *69* (2957)

वाचंयम, पुरन्दर–इत्येतौ निपात्येते। वाचंयम आस्ते। पुरं दारयतीति पुरन्दरः।

अर्थ—वाचंयम तथा पुरन्दर शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) वाचंयमः
वाचं यच्छति—वाचि यमो व्रते, निपातन से अम् हुआ।

(2) पुरन्दरः
पुरं दारयति—पूः सर्वयोर्दा०।

(2932) कारे सत्यागदस्य *70* (1007)

कारशब्द उत्तरपदे सत्य, अगद–इत्येतयोर्मुमागमो भवति। सत्यं करोतीति, सत्यस्य वा कारः सत्यङ्कारः। एवम्–अगदङ्कारः। *अस्तुसत्यागदस्य कार इति वक्तव्यम्* (का० वा०)। अस्तुङ्कारः। *भक्षस्य छन्दसि कारे मुम् वक्तव्यः* (का०वा०)। भक्षं करोतीति, भक्षस्य वा कारः भक्षङ्कारः। छन्दसीति किम्? भक्षकारः। *धेनोर्भव्यायां मुम्वक्तव्यः* (का०वा०)। धेनुम्भव्या। *लोकस्य पृणे मुम्वक्तव्यः* (का०वा०) लोकम्पृणः। *इत्येऽनभ्याशस्य मुम्वक्तव्यः* (का०वा०) अनभ्याशमित्यः। *भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे मुम्वक्तव्यः* (का०वा०) भ्राष्ट्रमिन्धः। अग्निमिन्धः। *गिलेऽगिलस्य मुम्वक्तव्यः* (का०वा०) तिमिङ्गिलः। अगिलस्येति किम्? गिलगिलः। *गिलगिले चेति वक्तव्यम्* (का०वा०) तिमिङ्गिलगिलः। *उष्णभद्रयोः करणे मुम्वक्तव्यः* (का०वा०) उष्णङ्करणम्। भद्रङ्करणम्। *सूतोग्रराजभोजमेर्विभ्यः उत्तरस्य दुहितृशब्दस्य पुत्रडादेशो वा वक्तव्यः* (का०वा०) सूतपुत्री। सूतदुहिता। उग्रपुत्री। उग्रदुहिता। राजपुत्री। राजदुहिता। भोजपुत्री। भोजदुहिता। मेरुपुत्री। मेरुदुहिता। केचित्तु शार्ङ्गरवादिषु पुत्रशब्दं पठन्ति, तस्य पुत्रीति भवति। अन्यत्रापि हि दृश्यते–शैलपुत्रीति।

अर्थ—सत्य तथा अगद शब्दों को मुम् आगम होता है, कार शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) सत्यङ्कारः
सत्यस्य कारः—समास हुआ,

सत्यं करोति—अण् प्रत्यय होता है।
सत्य म् कृ अण्—मुम्, नश्चाऽपदान्तस्य०,
सत्यङ्कार सु—परसवर्ण, वृद्धि।

(2) अगदङ्कारः (पूर्ववत्)।

अस्तु०—अस्तु, सत्य तथा अगद शब्दों को मुम् होता है, कार शब्द के उत्तरपद रहते।

(3) अस्तुङ्कारः (पूर्ववत्)।

भक्षस्य०—वेद के विषय में कार शब्द के उत्तरपद रहते भक्ष शब्द को मुम् आगम होता है।

(4) भक्षङ्कारः (पूर्ववत्)।

छन्दसी०—वेद के विषय में ही उक्त मुम् आगम होता है।

(5) भक्षकारः
लोक में 'मुम्' नहीं हुआ है।

धेनोर्भ०—'होनेवाली' इस अर्थ में धेनु शब्द से मुम् आगम होता है, वेद के विषय में।

(6) धेनुम्भव्या (पूर्ववत्)।

लोकस्य०—लोक शब्द को 'मुम्' आगम होता है, पृण शब्द के उत्तरपद रहते।

(7) लोकम्पृणः
'मुम्' हुआ।

इत्येऽन०—अनभ्याश शब्द को 'मुम्' आगम होता है, इत्य शब्द के उत्तरपद रहते।

(8) अनभ्यासमित्यः (पूर्ववत्)।

भ्राष्ट्रा०—भ्राष्ट्र तथा अग्नि शब्दों को 'मुम्' आगम होता है, इन्ध शब्द के उत्तरपद रहते।

(9) भ्राष्ट्रमिन्धः (पूर्ववत्)।
(10) अग्निमिन्धः (पूर्ववत्)।

गिलेऽगि०—गिल से अतिरिक्त शब्द को मुम् आगम होता है, गिल शब्द के उत्तरपद रहते।

(11) तिमिङ्गिलः (पूर्ववत्)।

अगिल०—गिलभिन्न शब्द को ही 'मुम्' होता है।

(12) गिलगिलः
यहाँ 'मुम्' नहीं हुआ।

गिलगिले०—गिलगिल शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को 'मुम्' होता है।

(13) तिमिङ्गिलगिलः
'मुम्' हुआ है।

उष्ण०—करण शब्द के उत्तरपद रहते उष्ण और भद्र शब्दों को 'मुम्' आगम होता है।

(14) उष्णङ्करणम्
मुम् हुआ।

(15) भद्रङ्करणम् (पूर्ववत्)।

सूतोग्र०—सूत, उग्र, राज, भोज तथा मेरु शब्दों से उत्तर 'दुहितृ' शब्द को विकल्प से 'पुत्रट्' आदेश होता है।

(16) सूतपुत्री
सूतस्य दुहिता—पुत्रट् आदेश, ङीप् हुआ।

(17) सूतदुहिता
पक्ष में 'पुत्रट्' नहीं हुआ।

(18) उग्रपुत्री (पूर्ववत्)।
(19) उग्रदुहिता
पक्ष में नहीं हुआ।
(20) राजपुत्री (पूर्ववत्)।
(21) राजदुहिता
'पुत्रट्' नहीं हुआ।

(22) भोजपुत्री
पुत्रट्, ङीप्।

(23) भोजदुहिता
पक्ष में नहीं हुआ।

(24) मेरुपुत्री
पुत्रट् आदेश।

(25) मेरुदुहिता
पक्ष में नहीं हुआ।

केचित्तु०—कुछ विद्वान् 'पुत्र' शब्द का पाठ शार्ङ्गरवादि में स्वीकार करते हैं। अतः 'पुत्री' होता है। अन्यत्र भी प्राप्त होता है।

(26) शैलपुत्री
पुत्रट् आदेश हुआ।

(2933) श्येनतिलस्य पाते ञे *71* (1268)

श्येन, तिल–इत्येतयोः पातशब्द उत्तरपदे ञप्रत्यये परे मुमागमो भवति। श्येनपातोऽस्यां क्रीडायाम् श्यैनम्पाता मृगया। तैलम्पाता। ञ इति किम्? श्येनपातः।

अर्थ—'पात' शब्द के उत्तरपद रहते तथा 'ञ' प्रत्यय के परे रहते श्येन तथा तिल शब्दों को 'मुम्' आगम होता है।

उदा० (1) श्यैनम्पाता
श्येनस्य पातोऽस्यां क्रीडायां—श्येन पात ञ—
श्येन म् पात टाप् सु—मुम्, विभक्तिकार्य।

(2) तैलम्पाता (पूर्ववत्)।

ञ इति०—ञ प्रत्यय परे रहते ही 'मुम्' होता है।

(3) श्येनपातः
'ञ' प्रत्यय परे नहीं है। अतः 'मुम्' नहीं हुआ।

(2934) रात्रेः कृति विभाषा *72* (1008)

रात्रेः कृदन्ते उत्तरपदे विभाषा मुमागमो भवति। रात्रिञ्चरः, रात्रिचरः। रात्रिमटः, रात्र्यटः। अप्राप्त-विभाषेयम्। खिति हि नित्यं मुम् भवति–रात्रिम्मन्यः।

अर्थ—रात्रि शब्द को विकल्प से 'मुम्' आदेश होता है, कृदन्त उत्तरपद रहते।

उदा० (1) रात्रिञ्चरः
रात्रि मुम् चर् ट—चरेष्टः,
रात्रिञ्चर सु—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) रात्रिचरः
पक्ष में 'मुम्' नहीं हुआ।

(3) रात्रिमटः
'मुम्' हुआ।

(4) रात्र्यटः
'मुम्' नहीं हुआ।

अप्राप्त०—यह अप्राप्त विभाषा है। खित् प्रत्यय परे रहते नित्य मुम् होता है।

(5) रात्रिम्मन्यः
'मुम्' हुआ।

(2935) नलोपो नञः *73* (757)

नञो नकारस्य लोपो भवत्युत्तरपदे। अब्राह्मणः। अवृषलः। असुरापः। असोमपः। *नञो नलोपोऽवक्षेपे तिङ्युपसंख्यानं कर्तव्यम्* (का०वा०)। अपचसि त्वं जाल्म। अकरोषि त्वं जाल्म।

अर्थ—नञ् के नकार का लोप होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) अब्राह्मणः
न ब्राह्मण—अब्राह्मण सु।

(2) अवृषलः
न वृषलः।

(3) असुरापः
न सुरापः।

(4) असोमपः
न सोमपः।

नञो नलो०—अवक्षेप अर्थ में तिङ् में नञ् के नकार का लोप होता है।

(5) अपचसि त्वं जाल्म
नकारलोप हुआ।

(6) अकरोषि त्वं जाल्म (पूर्ववत्)।

(2936) तस्मान्नुडचि *74* (758)

तस्माल्लुप्तनकारान्नञः नुडागमो भवति अजादावुत्तरपदे। अनजः। अनश्वः। तस्मादिति किम्? नञ एव हि स्यात्। पूर्वान्ते हि 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' (8.3.32) इति ङमुट् प्राप्नोति।

अर्थ—जिसके नकार का लोप हो चुका है, ऐसे नञ् से उत्तर अजादि उत्तरपद को 'नुट्' का आगम होता है।

उदा० (1) अनजः
न अजः → नञ् अज—
अ अज—नकार का लोप हुआ,
अ न् अज सु—नुट् आगम।

(2) अनश्वः
न अश्वः—पूर्ववत्।

तस्मादि०—जिसके नकार का लोप हो चुका है, ऐसे नञ् से उत्तर अजादि उत्तरपद को 'नुट्' होता है। नञ् को ही यह

आगम होता तो 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्०' से ङमुट् होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

अचीति०—अजादि उत्तरपद रहते ही 'नुट्' होता है।

(3) अब्राह्मणः
यहाँ नुट् आगम नहीं हुआ।

विशेष—टित् होने से नुट् आदि अवयव होता है। 'तस्मात्' पद में पञ्चमी का प्रयोग होने से उससे पर अव्यवहित नुट् होना चाहिए। 'अचि' में सप्तमी का निर्देश है। अतः अच् के परे रहते अव्यवहित पूर्व को नुट् होना चाहिए।

इस दशा में 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा निर्णय करती है कि पञ्चमी विभक्ति सप्तमी से बलवान् होती है। फलतः 'तस्मात्' (नञः) यह निर्देश बलवान् हुआ। इस प्रकार नुट् लुप्त नकार नञ् से अव्यवहित पर अजादि उत्तरपद का ही अवयव होगा।

(2937) नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या *75*
(759)

नभ्राट्, नपात्, नवेदाः, नासत्याः, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक-इत्येतेषु नञ् प्रकृत्या भवति। न भ्राजत इति नभ्राट्-भ्राजतेः क्विबन्तस्य नञ्समासः। न पातीति नपात्-पातिः शत्रन्तः। न वेत्तीति नवेदाः-वेत्तिरसुन्प्रत्ययान्तः। नासत्याः-सत्सु साधवः सत्याः, न सत्या असत्याः, न असत्याः नासत्याः। न मुञ्चतीति नमुचिः-मुचेरौणादिकः किप्रत्ययः। नास्य कुलमस्ति नकुलः। नख-नास्य खमस्तीति नखम्। नपुंसक-न स्त्री न पुमान्नपुंसकम्-स्त्रीपुंसयोः पुंसकभावो निपात्यते। नक्षत्र-न क्षरते क्षीयत इति वा नक्षत्रम्-क्षियः, क्षरतेर्वा क्षत्रमिति निपात्यते। नक्र-न क्रामतीति नक्रः-क्रमेर्डप्रत्ययो निपातनात्। नाक-नास्मिन्नकमस्ति नाकम्।

अर्थ—सूत्रोक्त नभ्राट् आदि शब्दों में नञ् को प्रकृतिभाव होता है। भाव यह है कि इन शब्दों में 'नलोपो नञः' तथा 'तस्मान्नुडचि' सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती है।

उदा० (1) नभ्राट्
न भ्राजते—क्विप् प्रत्ययान्त भ्राज् शब्द के साथ समास हुआ, भ्राजभास०, व्रश्चभ्रस्ज०।

(2) नपात्
न पाति—पूर्ववत्। पा शतृ।

(3) नवेदाः
न वेत्तीति—न विद् असुन् (औणादिक)।

(4) नासत्याः
सत्सु साधवः—सत्याः।
न सत्याः—असत्याः। न असत्याः।

(5) नमुचिः
न मुञ्चति—पूर्ववत्। मुच् कि (औणादिक)।

(6) नकुलः
नाऽस्य कुलमस्य।

(7) नखम्
नाऽस्य खमस्ति।

(8) नपुंसकम्
न स्त्री न पुमान्। स्त्रीपुंस् के स्थान पर 'पुंसक' यह आदेश निपातन से होता है।

(9) नक्षत्रम्
न क्षरते (क्षीयते वा)।

(10) नक्रः
न क्रामति—क्रम् से 'ड' प्रत्यय निपातन से हुआ।

(11) नाकम्
नास्मिन्नकम्।

(2938) एकादिश्चैकस्य चादुक् *76*
(811)

एकादिश्च नञ्प्रकृत्या भवति एकशब्दस्य चादुगागमो भवति। एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः। एकान्नविंशत्। 'तृतीया' इति योगविभागात्समासः। पूर्वान्तोऽयमादुक् क्रियते। पदान्तलक्षणोऽत्रानुनासिको विकल्पेन यथा स्याद् इति।

अर्थ—एक शब्द है आदि में जिसके, ऐसे नञ् को प्रकृतिभाव होता है, उत्तरपद के परे रहते तथा एक शब्द को 'आदुक्' आगम होता है। आदुक् के ककार व उकार की इत्संज्ञा होती है।

यद्यपि सभी वृत्तिकारों ने इस सूत्र के द्वारा 'आदुक्' आगम माना है, परन्तु पतञ्जलि के अनुसार यहाँ 'अदुक्' आगम है।

सम्भवतः पतञ्जलि की दृष्टि में न्यायशास्त्रीय लाघव रहा हो; जबकि वृत्तिकार का उद्देश्य सूत्रकार्य को सरल बनाना होता है।[1]

उदा० (1) एकान्नविंशतिः

न विंशतिः—पहले नञ् तथा विंशति का समास होता है। तब एक शब्द के साथ समास होता है—

एक आदुक् न विंशति — एकाद् नविंशति—

अनुनासिक आदेश हुआ।

पक्ष में—एकाद् नविंशतिः

तृतीये०—'तृतीया' इस प्रकार योगविभाग से समास होता है। 'आदुक्' आगम किया जाता है। यहाँ पदान्तलक्षण पाक्षिक अनुनासिक होता है।

(2939) नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् *77* (760)

नञ्प्रकृत्या भवत्यन्यतरस्याम्। नगा वृक्षाः, अगा वृक्षाः। नगाः पर्वताः, अगाः पर्वताः। न गच्छन्तीति नगाः। गमेर्डप्रत्ययः (उ०सू० 227)। अप्राणिष्विति किम्? अगो वृषलः शीतेन।

अर्थ—प्राणिभिन्न अर्थ में वर्त्तमान 'नग' शब्द के नञ् को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है।

उदा० (1) नगः

न गच्छति—प्रकृतिभाव हुआ। गमेर्डः।

(2) अगः

प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

अप्राणि०—प्राणिभिन्न अर्थ में ही सूत्रोक्त कार्य होता है।

(3) अगो वृषलः शीतेन

प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

(2940) सहस्य सः संज्ञायाम् *78* (1009)

सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति संज्ञायां विषये। साश्वत्थम्। सपलाशम्। सशिंशपम्। संज्ञायामिति किम्? सहयुध्वा। सहकृत्वा। सादेश उदात्तो निपात्यते (म० भा०)। उदात्तानुदात्तवतो हि सहशब्दस्यान्तर्यतः स्वरितः स्यात्। स च निपातस्वरः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं यत्र, तत्र उपयुज्यते। अन्यत्र समासान्तोदात्तत्वेन बाध्यत एव-सेष्टि, सपशुबन्धमिति।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में उत्तरपद परे रहते सह शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है।

उदा० (1) सशिंशपम्

सह शिंशपेन—'स' हुआ।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा के विषय में ही 'स' आदेश होता है।

(2) सहयुध्वा

यहाँ 'स' नहीं हुआ।

(3) सहकृत्वा (पूर्ववत्)।

सादेश०—'स' आदेश निपातन से उदात्त होता है। उदात्त व अनुदात्त सह शब्द को स्वरित होता है। वह निपातन स्वर पूर्वपद प्रकृतिस्वर जहाँ होता है वहाँ उपयुक्त होता है। अन्यत्र समासलक्षण अन्तोदात्त होने से बाधित होता है।

(4) सेष्टिः

सह इष्ट्या।

(5) सपशुबन्धम् (पूर्ववत्)।

(2941) ग्रन्थान्ताधिके च *79* (1010)

ग्रन्थान्ते, अधिके च वर्त्तमानस्य सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति। सकलं ज्यौतिषमधीते। समुहूर्तम्। ससंग्रहं व्याकरणमधीयते। कलान्तम्, मुहूर्त्तान्तम्, संग्राहन्तमिति 'अन्तवचने' (2.1.6)–अव्ययीभावः समासः। तत्र 'अव्ययीभावे चाकाले' (6.3.81) इति कालवाचिन्युत्तरपदे सभावो न प्राप्नोतीत्ययमारम्भः। अधिके–सद्रोणा खारी। समाषः कार्षापणः। सकाकिणीको माषः।

अर्थ—ग्रन्थ के अन्त व अधिक अर्थ में वर्त्तमान 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश होता है, उत्तरपद के परे रहते।

उदा० (1) समुहूर्त्तम्

सह मुहूर्त्तेन।

(2) सकलम्

सह कलेन।

(3) ससङ्ग्रहम्

सह सङ्ग्रहेण।

अन्तवचन०—अन्तवाची यह अव्ययीभाव समास है। यहाँ

1. महा० (प्र०) 6.3.75

'अव्ययीभावे चाऽकाले' से कालवाची शब्द के उत्तरपद रहते समास नहीं होता है।

(4) सद्रोणा खारी
अधिक अर्थ में।

(5) समाषः कार्षापणः (पूर्ववत्)।

(2942) द्वितीये चानुपाख्ये *80* (1011)

द्वयोः सहयुक्तयोरप्रधानो यः स द्वितीयः। उपाख्यायते = प्रत्यक्षत उपलभ्यते यः स उपाख्यः, उपाख्यादन्योऽनुपाख्यः = अनुमेयस्तस्मिन् द्वितीयेऽनुपाख्ये सहस्य स इत्ययमादेशो भवति। साग्निः कपोतः। सपिशाचा वात्या। सराक्षसीका शाला। अग्न्यादयः साक्षादनुपलभ्यमानाः कपोतादिभिरनुमीयमानास्तदुपाख्या भवन्ति।

अर्थ—सह से युक्त दो में जो अप्रधान है, वह 'द्वितीय' है। जो प्रत्यक्षतया उपलब्ध होता है, उसे 'उपाख्य' कहते हैं। उपाख्य से अतिरिक्त द्वितीय के परे रहते सह शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है।

उदा० (1) साग्निः कपोतः
सह अग्निना वर्त्तते—'स' आदेश हुआ।

(2) सपिशाचा वात्या
'स' हुआ।

(3) सराक्षसीका शाला (पूर्ववत्)।

अग्नि आदि साक्षात् अनुपलभ्यमान हैं, जो कपोत आदि के द्वारा अनुमीयमान हैं। अतः उपाख्य कहलाते हैं।

(2943) अव्ययीभावे चाकाले *81* (660)

अव्ययीभावे च समासेऽकालवाचिन्युत्तरपदे सहस्य स इत्ययमादेशो भवति। सचक्रं धेहि। सधुरं प्राज। अकाल इति किम्? सहपूर्वाह्णम्।

अर्थ—अव्ययीभाव समास में कालवाची से भिन्न शब्द के उत्तरपद रहते सह शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है।

उदा० (1) सचक्रम्
चक्रेण सह—अव्ययं विभक्तिसमीप० से समास हुआ।

(2) सधुरम् (पूर्ववत्)।

अकाल०—**कालवाची से भिन्न शब्द के उत्तरपद रहते 'स' आदेश होता है।**

(3) सहपूर्वाह्णम्
'स' आदेश नहीं हुआ।

(2944) वोपसर्जनस्य *82* (849)

उपसर्जनसर्वावयवः समास उपसर्जनम्, यस्य सर्वेऽवयवा उपसर्जनीभूताः स सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिर्गृह्यते। तदवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति। सपुत्रः। सहपुत्रः। सच्छात्रः। सहच्छात्रः। उपसर्जनस्येति किम्? सहयुध्वा। सहकृत्वा। सहकृत्वप्रियः, प्रियसहकृत्वेति, इह बहुव्रीहौ यदुत्तरपदं तत्परः सहशब्दो न भवतीति सभावो न भवति।

अर्थ—जिसमें सब अवयव उपसर्जन हैं, उस बहुव्रीहि का ग्रहण यहाँ होता है। सर्वोपसर्जन बहुव्रीहि समास के अवयवभूत सह शब्द को विकल्प से 'स' आदेश होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) सपुत्रः
सह पुत्रेण विद्यमानः।

(2) सहपुत्रः
पक्ष में 'स' आदेश नहीं हुआ।

उपसर्ज०—**उपसर्जन समास** के अवयवभूत सह शब्द के स्थान पर ही 'स' आदेश होता है।

(3) सहयुध्वा
'स' आदेश नहीं हुआ।
(4) सहकृत्वा (पूर्ववत्)।
(5) सहकृत्वप्रियः (पूर्ववत्)।

यहाँ बहुव्रीहि में जो उत्तरपद है, उसके परे रहते सह शब्द के स्थान पर 'स' आदेश नहीं होता है।

(2945) प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु *83* (850)

प्रकृत्या सहशब्दो भवति आशिषि विषयेऽगोवत्सहलेषु। स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय सहच्छात्राय सहामात्याय। अगोवत्सहलेष्विति किम्? स्वस्ति भवते सहगवे, सगवे। सहवत्साय, सवत्साय। सहहलाय, सहलाय। 'वोपसर्जनस्य' (6.3.82) इति पक्षे भवत्येव सभावः।

अर्थ—आशीर्वाद अर्थ में सह शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है; परन्तु गो, वत्स तथा हल शब्दों के परे रहते नहीं होता है।

उदा० (1) स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय
'स' आदेश नहीं हुआ।
(2) सहच्छात्राय (पूर्ववत्)।
(3) सहाऽमात्याय (पूर्ववत्)।

अगोवत्स०—गो, वत्स तथा हल—इन शब्दों के परे रहते प्रकृतिभाव नहीं होता है—

(4) स्वस्ति भवते सहगवे
प्रकृतिभाव पक्ष।
(5) स्वस्ति भवते सगवे
प्रकृतिभाव का अभाव।
(6) सहवत्साय
प्रकृतिभाव।
(7) सवत्साय
प्रकृतिभाव का अभाव।
(8) सहहलाय (पूर्ववत्)।
(9) सहलाय (पूर्ववत्)।

वोपस०—'वोपसर्जनस्य' से पक्ष में 'स' आदेश होता है।

(2946) समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्यु-दर्केषु *84* (1012)

'सः' इति वर्तते। समानस्य 'स' इत्ययमादेशो भवति छन्दसि विषये मूर्द्धन्, प्रभृति, उदर्क-इत्येतान्युत्तरपदानि वर्ज्जयित्वा। अनुभ्राता सुगर्भ्यः (वा०सं० 4.20)। अनुसखा सयूथ्यः (वा०सं० 4.20) यो नः सनुत्यः (ऋ० 2.30.9)। समानो गर्भः सगर्भः, तत्र भवः सगर्भ्यः। 'सगर्भसयूथसनुताद्यत्' (4.4.134) इति यत्प्रत्ययः। अमूर्धप्रभृत्युदर्केष्विति किम्? समानमूर्धा। समानप्रभृतयः। समानोदर्काः। 'समानस्य' इति योग-विभाग इष्टप्रसिध्यर्थः क्रियते। तेन सपक्षः, साधर्म्यम्, सजातीयः-इत्येवमादयः सिद्धा भवन्ति।

अर्थ—वेद के विषय में उत्तरपद परे रहते 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है; परन्तु मूर्धन्, प्रभृति और उदर्क—इनके उत्तरपद रहते नहीं होता है।

उदा० (1) सगर्भ्यः
समानो गर्भः—पूर्वापरप्रथम० से समास, 'तत्र भवः' तथा 'सगर्भसयूथ०' से प्रत्यय।
स गर्भ य सु।
(2) सयूथ्यः (पूर्ववत्)।
(3) सनुत्यः (पूर्ववत्)।

अमूर्द्ध०—मूर्द्धन् आदि शब्दों के उत्तरपद रहते 'स' आदेश नहीं होता है।

(4) समानमूर्द्धा
(5) समानप्रभृतयः
(6) समानोदर्काः।

समान०—'समानस्य' इस प्रकार योगविभाग करने पर इष्टसिद्धि हो जाती है। तब निम्नलिखित प्रयोग होते हैं।

(7) सपक्षः, (8) साधर्म्यः, (9) सजातीयः।

(2947) ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप-स्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु *85* (1013)

ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नामन्, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु-इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य 'स' इत्ययमादेशो भवति। सज्योतिः। सजनपदः। सरात्रिः। सनाभिः। सनामा। सगोत्रः। सरूपः। सस्थानः। सवर्णः। सवयाः। सवचनः। सबन्धुः।

अर्थ—'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है; ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन तथा बन्धु—इन शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) सज्योतिः।
(2) सजनपदः।
(3) सरात्रिः।
(4) सनाभिः।
(5) सनामा।
(6) सगोत्रः।
(7) सरूपः।
(8) सस्थानः।
(9) सवर्णः।
(10) सवयाः—अत्वसन्तस्य०।
(11) सवचनः।
(12) सबन्धुः।

(2948) चरणे ब्रह्मचारिणि *86* (1014)

चरणे गम्यमाने ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी। ब्रह्म =

वेदः, तदध्ययनार्थं यद् व्रतं तदपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी। समानः, तस्यैव ब्रह्मणः समानत्वादित्ययमर्थो भवति। समाने ब्रह्मणि व्रतचारी = सब्रह्मचारीति।

अर्थ—चरण अर्थ में समान शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है, ब्रह्मचारी शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) सब्रह्मचारी
समानो ब्रह्मचारी।

(2949) तीर्थ ये *87* (1015)

तीर्थशब्दे उत्तरपदे यत्प्रत्ययपरे परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। सतीर्थ्यः। 'समानतीर्थे वासी' (4.4.107) इति यत्प्रत्ययः।

अर्थ—तीर्थ शब्द उत्तरपद रहते तथा 'य' प्रत्यय परे रहते समान शब्द के स्थान पर 'स' आदेश होता है।

उदा० (1) सतीर्थ्यः
समाने तीर्थे वसति—'यत्' हुआ।

(2950) विभाषोदरे *88* (1016)

उदरशब्द उत्तरपदे यत्प्रत्ययान्ते समानस्य विभाषा स इत्ययमादेशो भवति। सोदर्यः, समानोदर्यः। 'समानोदरे शयित ओ चोदात्तः' (4.4.108) इति यत्।

अर्थ—उदर शब्द उत्तरपद रहते तथा 'य' प्रत्यय परे हो तो 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) सोदर्यः
समान उदर य—'सोदराद्यः' से 'य' हुआ,
स उदर य सु—आद् गुणः,
(2) समानोदर्यः
पक्ष में 'स' भाव हुआ।

(2951) दृग्दृशवतुषु *89* (1017)

दृक्, दृश, वतु-इत्येतेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। सदृक्, सदृशः। 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' (3.2.60) इत्यत्र 'समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्' (का० वा०) इति कञ्क्विनौ प्रत्ययौ क्रियेते। *दृक्षे चेति वक्तव्यम्* (का०वा०)। सदृक्षः। *दृशेः क्सप्रत्ययोऽपि तत्रैव वक्तव्यः* (म०भा०)। वतुग्रहणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—दृश, दृक् तथा वतु—इनके उत्तरपद रहते समान शब्द को 'स' आदेश होता है।

उदा० (1) सदृक्
दृश् क्विन् → दृक्—सर्वापहारलोप।
समान दृश् → सदृश् सु—विभक्तिकार्य।

(2) सदृशः
दृश् कञ् सु → दृशः।
समान दृश सु—पूर्ववत्।

त्यदा०—'त्यदादिषु दृशो०' तथा 'समानाऽन्ययोश्चेति वक्तव्यम्' से कञ् तथा किन् प्रत्यय होते हैं।

दृक्षे०—'दृक्ष' शब्द परे रहते समान शब्द को 'स' आदेश होता है।

(3) सदृक्षः
समान दृक्ष सु—पूर्ववत्।
दृशेः—दृश् से 'क्स' प्रत्यय होता है।
दृश् कस → दृश् स → दृक्ष सु।

(2952) इदंकिमोरीश्की *90* (1018)

इदम् किम्-इत्येतयोरीश्, की-इत्येतौ यथासङ्ख्यमादेशौ भवतो दृग्दृशवतुषु। ईदृक्, ईदृशः, इयान्। कीदृक्, कीदृशः, कियान्। 'किमिदम्भ्यां वो घः' (5.2.40) इति वतुप्। *दृक्षे चेति वक्तव्यम्* (मा०भा०)। ईदृक्षः। कीदृक्षः।

अर्थ—इदम् तथा किम् शब्दों के स्थान पर यथासंख्य 'ईश्' तथा 'की' आदेश होते हैं; दृश्, दृश तथा वतु के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) ईदृक्
इदम् दृश् → ईश् दृश्—शित् होने से सर्वादेश,
ईदृश् सु—सु का लोप
ईदृक्—षत्व, गकार और चर्त्व।

(2) ईदृशः
इदम् दृश—ईश् आदेश,
ईश् दृश सु—पूर्ववत्।

(3) इयान्
इदम्—'किमिदम्भ्यां वो घ०' से वतुप् तथा वकार को 'घ' दोनों होते हैं, 'घ' को इयादेश,
ईश् इयत्—भसंज्ञा, ईकार का लोप, विभक्तिकार्य।

(4) कीदृक्
किम् दृश्—की दृश् सु—'स्' का लोप,

कीदृक्।

(5) कीदृशः
किम् दृश—कीदृश सु।

(6) कियान्
किम्—पूर्ववत्।

दृक्षे०—दृक्ष शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वोक्त आदेश होते हैं।

(7) ईदृक्षः
इदम् दृक्ष—ईश् दृक्ष सु।

(8) कीदृक्षः
किम् दृक्ष → की दृक्ष सु।

(2953) आ सर्वनाम्नः *91* (430)

सर्वनाम्न आकारादेशो भवति दृग्दृशवतुषु। तादृक्, तादृशः, तावान्। यादृक्, यादृशः, यावान्। *दृक्षे चेति वक्तव्यम्* (मा०भा०)। तादृक्षः। यादृक्षः।

अर्थ—सर्वनाम को आकार अन्तादेश होता है; दृश्, दृक्ष और वतु के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) तादृक्
तद् दृश् → तादृश सु—आकार, सवर्ण दीर्घ, सु का लोप,
तादृक्—'क्विन् प्रत्ययस्य०' (8.2.62) के असिद्ध होने से 'व्रश्च०' (8.2.36) से षकार, 'झलां जशोऽन्ते' से उकार तथा 'क्विन् प्रत्ययस्य०' से गकार होता है।

(2) तादृशः
तद् दृश → त आ दृश — तादृश सु।

(3) तावान्
तद् वतुप् → त आ वत्—अन्तादेश,
तावान्—विभक्तिकार्य।

(4) यादृक्
यद् दृश् → य आ दृश् → यादृश् सु—'स्' का लोप,
यादृश् → यादृष् → यादृड् → यादृग्, क्।

(5) यादृशः
यद् दृश → य आ दृश्—
या दृश सु—सवर्णदीर्घ।

(6) यावान्
'तावान्' की तरह।

दृक्षे०—दृक्ष परे रहते भी आकार अन्तादेश होता है।

(7) तादृक्षः
तद् दृक्ष → त आ दृक्ष → तादृक्ष सु।

(8) यादृक्षः
'तादृक्ष' की तरह।

(2954) विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये *92* (418)

विष्वक्, देव—इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेः अद्रीत्ययमादेशो भवति अञ्चतौ वप्रत्ययान्त उत्तरपदे। विष्वगञ्चतीति विष्वद्र्यङ् (7.25.1)। देवद्र्यङ्। सर्वनाम्नः—तद्र्यङ् (तै० सं० 5.5.1.2)। यद्र्यङ् (तै०सं० 5.5.1.1)। *अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तनिपातनं कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम्* (का० वा०)। तत्र यणादेशे कृते 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (8.2.4) इत्येष स्वरो भवति। विष्वग्देवयोरिति किम्? अश्वाची। अञ्चताविति किम्? विष्वग्युक्। वप्रत्यय इति किम्? विष्वगञ्चनम्। वप्रत्ययग्रहणमन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिप्रतिपत्त्यर्थम्। तेनायस्कृतम्, अयस्कार इत्यत्र 'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्र' (8.3.46) इति सत्वं भवति। *छन्दसि स्त्रियां बहुलमिति वक्तव्यम्* (मा०भा०)। विश्वाची च घृताची च (ऋ० 7.43.3)। ऋ० 1.167.3) इत्यत्र न भवति। कद्रीचीत्यत्र तु भवत्येव।

अर्थ—वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के परे रहते विष्वग् व देव शब्दों के तथा सर्वनाम शब्दों के टि भाग के स्थान पर 'अद्रि' आदेश होता है।

क्विप् व क्विन् प्रत्ययों का 'व' शेष रहता है। इसी का यहाँ ग्रहण है।

उदा० (1) विष्वद्र्यङ्
विष्वग् अञ्चतीति—ऋत्विग्दधृक्० से क्विन्,
विष्वग् अच्—सर्वापहार लोप, अनुनासिक लोप,
विष्व् अद्रि अच्—अद्रि आदेश, इको यणचि,
विष्वद्र्यच् सु—सु का लोप, विभक्तिकार्य।

(2) देवद्र्यङ् (पूर्ववत्)।

(3) तद्र्यङ्
तद् अच्—क्विन्, लोप, अनुनासिक लोप,
त् अद्रि अच्—पूर्ववत्,
तद्र् यङ्—विभक्तिकार्य।

(4) यद्र्यङ् (पूर्ववत्)।

असि०—अद्रि तथा सध्रि की अन्तोदात्तता का निपातन कृल्लक्षण स्वर का बाध करने के लिए है। यहाँ यणादेश करने पर 'उदात्तस्वरितयो०' से स्वर होता है।

विष्वग्दे०—**विष्वग्** तथा **देव** शब्दों के टि के स्थान पर 'अद्रि' आदेश होता है।

(5) अश्वाची
'अद्रि' आदेश नहीं हुआ।

अञ्चता०—वप्रत्ययान्त **अञ्च्** धातु के परे रहते उक्त आदेश होता है।

(6) विश्वग्युक्
विश्वग् युज्—यहाँ अञ्च् धातु परे नहीं है। अत: उक्त आदेश नहीं हुआ।

वप्रत्यय०—**वप्रत्ययान्त** अञ्च् धातु के परे रहते उक्त आदेश होता है।

(7) विष्वगञ्चनम्
यहाँ अञ्च् धातु परे है; परन्तु वह वप्रत्ययान्त नहीं है; अत: 'अद्रि' आदेश नहीं हुआ।

वप्रत्ययग्र०—वप्रत्ययान्त का ग्रहण किया गया है, ताकि अन्यत्र धातु के ग्रहण में तदादि विधि की प्रतिपत्ति हो जाय। तब 'अयस्कृत' तथा 'अयस्कार' में 'अत: कृकमिकंस०' से सत्व हो जाता है।

छन्दसि०—वेद के विषय में बहुलता से पूर्वोक्त 'अद्रि' आदेश होता है।

(8) विश्वाची
यहाँ 'अद्रि' नहीं हुआ।

(9) घृताची
यहाँ भी नहीं हुआ।

(10) कद्रीची
यहाँ हो गया है।

(2955) समः समि *93* (421)

समित्येतस्य 'समि'-इत्ययमादेशो भवति अञ्चतौ वप्रत्ययान्ते उत्तरपदे। सम्यक्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः।

अर्थ—वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के उत्तरपद रहते 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होता है।

उदा० (1) सम्यङ्
सम् अञ्च् क्विन्—ऋत्विग्दधृक्०, अनिदितां हल०,
सम् अच् → समि अ नुम् च् स्—सु, उगिदचां०,
सम्य न् च्—सुलोप, संयोगान्तस्य लोपः,
सम्यन् → सम्यङ् → क्विन् प्रत्ययस्य कुः।

(2) सम्यञ्चौ
समि अ नुम् च् औ—पूर्ववत् क्विन् आदि।

(3) सम्यञ्चः—जस् में।

(2956) तिरसस्तिर्यलोपे *94* (423)

'तिरस्' इत्येतस्य 'तिरि' इत्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ वप्रत्ययान्त उत्तरपदेऽलोपे = यदाऽस्य लोपो न भवति। तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः। अलोप इति किम्? तिरश्चा। तिरश्चे। 'अचः' इत्यकारलोपः।

अर्थ—वप्रत्ययान्त अञ्च् धातु के उत्तरपद रहते 'तिरस्' शब्द के स्थान पर 'तिरि' आदेश होता है, यदि अञ्च् के अकार का लोप न हुआ हो।

उदा० (1) तिर्यङ्
तिरस् अञ्च् क्विन्—क्विन्, अनुनासिक लोप,
तिरि अच् → तिरि अन् च् सु—नुम् आगम, सु, सुलोप, अनुस्वार,
तिर्यञ्च्—परसवर्ण, संयोगान्त लोप,
तिर्यन् → तिर्यङ्—क्विन् प्रत्ययस्य कुः।

(2) तिर्यञ्चौ
तिर्यञ्च् औ—पूर्ववत्।

(3) तिर्यञ्चः
'जस्' में।

अलोप०—**अकार का लोप न होने की दशा में ही** 'तिरि' आदेश होता है।

(3) तिरश्चा
तिरस् अञ्च्—क्विन्, सर्वापहार लोप,
तिरस् च्—अनुनासिक लोप, भसञ्ज्ञा, 'अचः' से अकार लोप, 'तिरि' आदेश नहीं हुआ।
तिरश्च् टा—श्चुत्व।

(5) तिरश्चे
तिरश्च् ङे—पूर्ववत्।

(2957) सहस्य सध्रिः *95* (422)

सहेत्यस्य 'सध्रि' इत्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ वप्रत्ययान्ते उत्तरपदे। सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः। सध्रीचः। सध्रीचा।

अर्थ—सह शब्द के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होता है, वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) सध्र्यङ्
सह अञ्चु क्विन्—सर्वापहार लोप,
सह अच्—अनुनासिक लोप,
सध्रि अच् सु—सध्रि आदेश, सु, सुलोप,
सध्र्य न् च्—नुम् आदि पूर्ववत्।

(2) सध्र्यञ्चौ
सध्र्यञ्च् औ—पूर्ववत्।

(3) सध्र्यञ्चः
'जस्' में।

(4) सध्रीचः
जस् में पूर्ववत्। अकारलोप हुआ।

(5) सध्रीचा
'टा' में।

(2958) सध मादस्थयोश्छन्दसि *96* (3529)

छन्दसि विषये माद, स्थ-इत्येतयोरुत्तरपदयोः सहस्य 'सध'-इत्ययमादेशो भवति। सधमादो द्युम्न्य एकास्ताः (स॒ध॒मादो॑ द्यु॒म्निनी॒राप॑ः। वा०सं० 10.7) सधस्थाः (तै०सं० 5.7.7.1)।

अर्थ—वेद के विषय में सह शब्द के स्थान पर 'सध' आदेश होता है, 'माद' तथा 'स्थ' शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) सधमादः (ऋ० 8.2.3)
सह माद—'सध' आदेश,
सधमाद सु—विभक्तिकार्य।
(2) सधस्थ
सध स्थ सु—पूर्ववत्।

(2959) द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् *97* (941)

द्वि, अन्तर्-इत्येताभ्यामुपसर्गाच्चोत्तरस्याबित्येतस्य ईकारादेशो भवति। द्वीपम्। अन्तरीपम्। उपसर्गात्-समीपम्। वीपम्। नीपम्। *समाप ईत्वे प्रतिषेधो वक्तव्यः* (का०वा०)। समापं नाम देवयजनम्। अपर आह-*इत्वमनवर्णादिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। इह मा भूत्-प्रापम्, परापम्। अप्शब्दं प्रति क्रियायोगाभावाद् उपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणार्थम्।

अर्थ—द्वि, अन्तर् तथा उपसर्ग—इनसे उत्तर 'अप्' शब्द को ईकार आदेश होता है। 'आदेः परस्य' से आदि वर्ण के स्थान पर होता है।

उदा० (1) द्वीपः → द्विर्गता आपोऽस्मिन्
द्वि अप् → द्वि ईप्—समासान्त (ऋक्पूरब्धू०),
द्वि ईप् अ सु—सवर्णदीर्घ।

(2) अन्तरीपः
अन्तर्गता आपोऽस्मिन् → अन्तर् आप्—
अन्तर् ईप् अ सु—पूर्ववत्।

(3) नीपम्
निर्गता आपोऽस्मिन् → नि आप्
नि ईप् अ सु—पूर्ववत्।

(4) वीपम्
विगता आपोऽस्मिन्—वि ईप् अ सु।

(5) समीपम्
सङ्गता आपोऽस्मिन्।

समाप०—'समाप' शब्द में सूत्रोक्त ईकार नहीं होता है।

(6) समापम्
समा आपोऽस्मिन्—ईकार नहीं हुआ।

ईत्वम०—अकार से भिन्न वर्ण से पर ईत्व होता है। ऐसा दूसरे विद्वान् कहते हैं।

(7) प्रापम्
प्र अप्—अकार से परे होने से ईत्व नहीं हुआ।

(8) परापम्
पर अप्—पूर्ववत्।
अप् शब्द के प्रति क्रियायोग नहीं है। अतः 'उपसर्ग' का ग्रहण 'प्र' आदि के उपलक्षणार्थ है।

(2960) ऊदनोर्देशे *98* (942)

अनोरुत्तरस्याप ऊकारादेशो भवति देशाभिधाने। अनूपो

देशः। देश इति किम्? अन्वीपम्। दीर्घोच्चारणमवग्रहार्थम्। अनु ऊपोऽनूप इति।

अर्थ—देश अर्थ में वर्त्तमान 'अन्' से उत्तर 'अप्' शब्द को ऊकार आदेश होता है। यह पूर्ववत् अकार के स्थान पर होता है।

उदा० (1) अनूपो देशः

अन् अप् → अन् ऊप् अ सु।

देश इति०—**देश अर्थ** में ही उक्त आदेश होता है।

(2) अन्वीपम्

यहाँ देश अर्थ नहीं है। अतः ऊकार आदेश नहीं हुआ। दीर्घ (ऊ) का उच्चारण अवग्रह के लिए है। अनु ऊपः—अनूपः। अन्यत्र 'अनु उप' इस प्रकार सवर्णदीर्घ करके निर्वाह हो सकता था।

(2961) अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु *99* (1025)

अषष्ठीस्थस्य अतृतीयास्थस्य चान्यशब्दस्य दुगागमो भवति आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ–इत्येतेषु परतः। अन्या आशीः अन्यदाशीः। अन्या आशा अन्यदाशा। अन्या आस्था अन्यदास्था। अन्य आस्थितः अन्यदास्थितः। अन्य उत्सुकः अन्यदुत्सुकः। अन्या ऊतिः अन्यदूतिः। अन्यः कारकः अन्यत्कारकः। अन्यो रागः अन्यद्रागः। अन्यस्मिन् भवः अन्यदीयः। गहादिष्वन्यशब्दो (4.2.138) द्रष्टव्यः। अषष्ठ्यतृतीयास्थस्येति किम्? अन्यस्य आशीः अन्याशीः। अन्येन आस्थितः अन्यास्थितः।

दुगागमोऽविशेषेण वक्तव्यः कारकच्छयोः।
षष्ठीतृतीययोर्नेष्ट आशीरादिषु सप्तसु॥

अन्यस्य कारकम् अन्यत्कारकम्। अन्यस्येदम् अन्यदीयम्। अस्य च द्विर्नञ्ग्रहणं लिङ्गम्।

अर्थ—आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग तथा छ—इनके परे रहते अन्य शब्द को 'दुक्' आगम होता है, यदि वह षष्ठी या तृतीया में स्थित न हो।

उदा० (1) अन्यदाशीः

अन्य आशिस् → अन्य द् आशिस्—

अन्यदाशिस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) अन्यदाशा

अन्यद् आशा—पूर्ववत्।

(3) अन्यदास्था

अन्यद् आस्था।

(4) अन्यदास्थितः (पूर्ववत्)।

(5) अन्यदुत्सुकः (पूर्ववत्)।

(6) अन्यदूतिः (पूर्ववत्)।

(7) अन्यत्कारकः

खरि च।

(8) अन्यद्रागः (पूर्ववत्)।

(9) अन्यदीयः

अन्यस्मिन् भवः—'छ' हुआ,

अन्यद् ईय सु—पूर्ववत्।

गहादिष्व०—गहादि गण में 'अन्य' शब्द द्रष्टव्य है।

अषष्ठ्य०—षष्ठी व तृतीया में स्थित न हो तो दुक् आगम होता है—

(10) अन्याशीः

अन्यस्याशीः—षष्ठ्यन्त है। आगम नहीं हुआ।

(11) अन्यास्थितः

अन्येनास्थितः—आगम नहीं हुआ।

दुगागमो०—कारक और छ प्रत्यय के परे रहते सामान्यतया दुक् का आगम कहना चाहिए। आशिस् आदि सात शब्दों के परे रहते ही यह दुक् आगम होता है। षष्ठी व तृतीया विभक्तियों में यह (अर्थात् दुक् आगम) इष्ट नहीं है।

शङ्का होती है कि निम्नलिखित स्थलों पर दुक् किस प्रकार होता है?

अन्यस्य कारकम्—अन्यत्कारकम्।

अन्यस्येदम्—अन्यदीयम्।

(समा०) यह दुक् आगम अनित्य है। अतः उपर्युक्त स्थलों पर होता है। अषष्ठ्यतृतीयास्थ० इस प्रकार दो बार नञ् का ग्रहण है। इससे ज्ञापित होता है कि दुक् आगम अनित्य है।

(2962) अर्थे विभाषा *100* (1026)

अर्थशब्दे उत्तरपदे अन्यस्य विभाषा दुगागमो भवति। अन्यदर्थः, अन्यार्थः।

अर्थ—अर्थ शब्द उत्तरपद रहते अन्य शब्द को 'दुक्' आगम विकल्प से होता है। यदि वह षष्ठी व तृतीया में स्थित न हो।

उदा० (1) अन्यदर्थः
अन्यस्मै अयम्—'दुक्' हुआ।
अन्य द् अर्थ सु—रूप बना

(2) अन्यार्थः
पक्ष में आगम नहीं हुआ।

(2963) कोः कत्तत्पुरुषेऽचि *101* (1027)

'कु' इत्येतस्य कदित्ययमादेशो भवति तत्पुरुषे समासेऽजादावुत्तरपदे। कदजः। कदश्वः। कदुष्ट्रः। कदन्नम्। तत्पुरुष इति किम्? कूष्ट्रो राजा। अचीति किम्? कुब्राह्मणः। कुपुरुषः। *कद्भावे त्रावुपसंख्यानम्* (का० वा०)। कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः।

अर्थ—तत्पुरुष समास में 'कु' को 'कत्' आदेश होता है, अजादि शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) कदजः
कुत्सितोऽजः → कु अज—कुगतिप्रादयः,
कत् अज सु—झलां जशोऽन्ते।

(2) कदश्वः
कुत्सितोऽश्वः—पूर्ववत् समास, कत् आदेश, सु हुआ।

(3) कदुष्ट्रः
कुत्सित उष्ट्रः।

(4) कदन्नम्
कुत्सितम् अन्नम्।

तत्पुरुष०—तत्पुरुष समास में ही 'कत्' होता है।

(5) कूष्ट्रो राजा
कुत्सित उष्ट्रो यस्य सः—यहाँ नहीं हुआ।

अचीति०—अजादि उत्तरपद रहते 'कत्' आदेश होता है।

(6) कुब्राह्मणः
कुत्सितो ब्राह्मणः—अजादि उत्तरपद नहीं है। कत् आदेश नहीं हुआ।

(7) कुपुरुषः
कुत्सितः पुरुषः—पूर्ववत्।

कद्भावे—'त्रि' परे रहते भी 'कु' शब्द के स्थान पर 'कत्' होता है।

(8) कत्त्रयः
कुत्सितास्त्रयः—'कत्' हुआ।

(2964) रथवदयोश्च *102* (1028)

'रथ', 'वद'-इत्येतयोश्चोत्तरपदयोः कोः 'कत्' इत्ययमादेशो भवति। कद्रथः। कद्वदः।

अर्थ—कु शब्द को 'कत्' आदेश होता है, रथ तथा वद शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) कद्रथः
कत् रथ सु।

(2) कद्वदः
कत् वद सु—पूर्ववत्।

(2965) तृणे च जातौ *103* (1029)

तृणशब्दे उत्तरपदे जातावभिधेयायां कोः कदादेशो भवति। कत्तृणा नाम जातिः। जाताविति किम्? कुत्सितानि तृणानि कुतृणानि।

अर्थ—जाति अर्थ में वर्तमान कु शब्द के स्थान पर 'कत्' आदेश होता है, तृण शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) कत्तृणा नाम जातिः
कत् तृण—पूर्ववत्।

जातावि०—जाति अर्थ में ही सूत्रोक्त आदेश होता है।

(2) कुतृणानि
कुत्सितानि तृणानि—जाति अर्थ नहीं है। अतः कत् आदेश नहीं हुआ।

(2966) का पथ्यक्षयोः *104* (1030)

पथिन्, अक्ष-इत्येतयोरुत्तरपदयोः कोः 'का' इत्ययमादेशो भवति। कापथः। काक्षः।

अर्थ—कु शब्द के स्थान पर 'का' आदेश होता है, पथिन् तथा अक्ष शब्दों के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) कापथः
कुत्सितः पन्थाः—ऋक्पूरब्धू०, नस्तद्धिते,
का पथ् अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) काक्षः
कुत्सिते अक्षिणी यस्य सः। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः।

(2967) ईषदर्थे च *105* (1031)

ईषदर्थे वर्त्तमानस्य कोः 'का' इत्ययमादेशो भवति।

कामधुरम्। कालवणम्। अजादावपि परत्वात् कादेश एव भवति। काम्लम्। कोष्णम्।

अर्थ—ईषत् अर्थ में वर्त्तमान कु शब्द को 'का' होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) कामधुरम्
ईषद् मधुरम् → कु मधुर—
कामधुर सु—विभक्तिकार्य।

(2) कालवणम् (पूर्ववत्)।
(3) काम्लम् (पूर्ववत्)।

अजादाव०—अजादि उत्तरपद परे रहते भी पर होने से 'का' आदेश ही होता है।

(4) कोष्णम्
ईषद् उष्णम् → का उष्ण सु—आद् गुणः।

(2968) विभाषा पुरुषे *106* (1032)

पुरुषशब्दे उत्तरपदे विभाषा कोः 'का' इत्ययमादेशो भवति। कापुरुषः। कुपुरुषः। अप्राप्तविभाषेयम्। ईषदर्थे तु पूर्वविप्रतिषेधेन नित्यं 'का' भवति। ईषत्पुरुषः कापुरुषः।

अर्थ—पुरुष शब्द के उत्तरपद रहते कु शब्द के स्थान पर 'का' आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) कापुरुषः
कुत्सितः पुरुषः—'का' आदेश हुआ,
का पुरुष सु—विभक्तिकार्य।

(2) कुपुरुषः
पक्ष में 'का' नहीं हुआ।

अप्राप्त०—यह अप्राप्त विभाषा है। ईषत् अर्थ में तो पूर्वविप्रतिषेध के द्वारा नित्य 'का' आदेश होता है।

(3) ईषत्पुरुषः
यहाँ 'का' नहीं हुआ।
(4) कापुरुषः
'का' हो गया है।

(2969) कवञ्चोष्णे *107* (1033)

उष्णशब्द उत्तरपदे कोः कवमित्ययमादेशो भवति, का च विभाषा। कवोष्णम्। कोष्णम्। कदुष्णम्।

अर्थ—उष्ण शब्द के उत्तरपद रहते कु शब्द को 'कव' आदेश होता है तथा विकल्प से 'का' आदेश होता है।

उदा० (1) कवोष्णम्
कव उष्ण—'कव' पक्ष में, आद्गुणः,
कवोष्णम्—सु।
(2) कोष्णम्
का उष्ण सु।
(3) कदुष्णम्
'का' के अभाव पक्ष में 'कत्' हुआ।

(2970) पथि चच्छन्दसि *108* (3530)

पथिशब्द उत्तरपदे छन्दसि विषये कोः कव, का–इत्येतावादेशौ भवतो विभाषा। कवपथः। कापथः। कुपथः।

अर्थ—वेद के विषय में 'पथिन्' शब्द उत्तरपद रहते कु शब्द के स्थान पर 'कव' आदेश होता है तथा विकल्प से 'का' आदेश होता है।

उदा० (1) कवपथः
कव पथिन्—टि का लोप, समासान्त,
कव पथ सु—
(2) कापथः
का पथ् अ सु।
(3) कुपथः
पक्ष में 'कु' रहा।

(2971) पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् *109* (1034)

पृषोदरादीनि शब्दरूपाणि, येषु लोपागमवर्णविकाराः शास्त्रेण न विहिताः, दृश्यन्ते च, तानि यथोपदिष्टानि साधूनि भवन्ति। यानि यथोपदिष्टानि = शिष्टैरुच्चारितानि, प्रयुक्तानि, तानि तथैवानुगन्तव्यानि। पृषदुदरं यस्य पृषोदरम्। पृषद् उद्वानं यस्य पृषोद्वानम्। अत्र तकारलोपो भवति। वारिवाहको बलाहकः। पूर्वशब्दस्य बशब्द आदेश उत्तरपदादेश्च लत्वम्। जीवनस्य मूतो जीमूतः। वनशब्दस्य लोपः। शवानां शयनं श्मशानम्। शवशब्दस्य श्मादेशः शयनशब्दस्यापि शानशब्द आदेशः। ऊर्ध्वं खमस्येति उलूखलम्। ऊर्ध्वखशब्दयोरुलू, खल–इत्येतावादेशौ

भवतः। पिशिताशः पिशाचः। पिशिताशशब्दयोर्यथायोगं पिशाचशब्दावादेशौ। ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी। सदेरधिकरणे डट् प्रत्ययः। ब्रुवच्छब्दस्य चोपपदस्य वृशब्द आदेशो भवति। मह्यां रौतीति मयूरः। रौतेरचि टिलोपः। महीशब्दस्य मयूभावः। एवमन्येऽपि अश्वत्थकपित्थप्रभृतयो यथायोगमनुगन्तव्याः। *दिक्शब्दस्य उत्तरस्य तीरस्य तारभावो वा भवति* (का०वा०)। दक्षिणतीरम्, दक्षिणतारम्, उत्तरतीरम्, उत्तरतारम्। *वाचो वादेर्डत्वं च ल्भावश्चोत्तरपदस्येञि प्रत्यये भवति* (का०वा०)। वाचं वदतीति वाग्वादः। तस्यापत्यं वाड्वालिः। *षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेष्टुत्वं च भवति (का०वा०)*। षड् दन्ता अस्य षोडन्। षट् च दश च षोडश। *धासु वा षष उत्वं भवति उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्* (म०भा०)। षोढा, षड्धा कुरु। बहुवचननिर्देशो नानाधिकरणवाचिनो धाशब्दस्य प्रतिपत्त्यर्थः। इह मा भूत्–षट् दधाति धयति वा षड्धेति। *दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्*। (म०भा०) कृच्छ्रेण दाश्यते नाश्यते दभ्यते च यः स दूडाशः। दूणाशः। दूडभः। दम्भेः खल्वनुनासिकलोपो निपातनात्। दुष्टं ध्यायतीति दूढ्यः। दुःशब्दोपपदस्य ध्यायतेः, 'आतश्चोपसर्गे' (3.1.136) इति कप्रत्ययः। *स्वरो रोहतौ छन्दस्युत्वं वक्तव्यम्* (का० वा०)। जाय एहि सुवो (स्वो) रोहाव (तै०सं० 1.7.9.1)। *पीवोपवसनादीनां च लोपो वक्तव्यः* (का०वा०)। पीवोपवसनानां (ऋ०खि० 5.7.2) पयोपवसनानाम्।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

अर्थ—पृषोदर आदि शब्द जिस रूप में उच्चारित हैं, उसी रूप में वे साधु हैं। इनमें लोप, आगम तथा वर्णविकार आदि का विधान शास्त्र में नहीं किया गया है।

उदा० (1) पृषोदरम्
पृषद् उदरं यस्य सः—बहुव्रीहि हुआ,
पृष उदर—अन्त्य (दकार) का लोप,
पृषोदर सु—आद्गुणः।

(2) पृषोद्वानम्
पृषद् उद्वानं यस्य—पूर्ववत्।

(3) बलाहकः
वारिवाहकः—निपातन से पूर्व शब्द (वारि) के स्थान पर 'ब' आदेश, उत्तरपद के आदि वर्ण को लत्व हुआ है,
बलाहक सु—विभक्तिकार्य।

(4) जीमूतः
जीवनस्य मूतः—'वन' शब्द का लोप निपातन से,
जीमूत सु—पूर्ववत्।

(5) श्मशानम्
शवानां शयनम्—'शव' के स्थान पर 'श्म' आदेश,
श्म शयन—'शयन' के स्थान पर 'शान',
श्मशान सु—पूर्ववत्।

(6) उलूखलम्
ऊर्ध्वं खम् अस्य—पूर्वपद को 'उलू'
उलू ख—उत्तरपद को 'खल',
उलूखल सु—पूर्ववत्।

(7) पिशाचः
पिशिताशः—'पिशित' के स्थान पर पिश 'तथा' अश के स्थान पर 'अच',
पिश अच सु—पूर्ववत्।

(8) बृसी
ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्ति—अधिकरण अर्थ में 'डट्' प्रत्यय,
ब्रू सद् डट्—'बृ' आदेश,
बृसी—विभक्तिकार्य।

(9) मयूरः
मह्यां रौति—अच् प्रत्यय, टि का लोप,
मही र् अ—'मयू' आदेश,
मयूर सु—पूर्ववत्।

एवमन्ये०—इसी प्रकार अश्वत्थ, कपित्थ आदि अन्य शब्दों के बारे में जानना चाहिए।

दिक्शब्द०—दिशावाची शब्द से उत्तर 'तीर' शब्द को विकल्प से 'तार' आदेश होता है।

(10) दक्षिणतारम्
'तार' हुआ।

(11) दक्षिणतीरम्
पक्ष में नहीं हुआ।

वचो वादे०—वाद शब्द परे रहते 'वाच्' को 'ड्' आदेश तथा 'वाद' को 'ल्' आदेश होता है, इञ् प्रत्यय परे रहते।

(12) वाङ्वालिः
वाचं वदति—वाग्वादः।
वाग्वादस्याऽपत्यम्—अत इञ्,
वाग्वाद इञ् → वाङ्वाल इ सु।

षष उत्व०—दत्, दश तथा धा—इनके उत्तरपद रहते 'षष्' को उत्व तथा उत्तरपद के आदि वर्ण को ष्टुत्व होता है।

(13) षोडन्
षड् दन्ता अस्य → षष् दन्त्—
ष उ डन्त्—आद्गुणः, सु।

(14) षोडश
षष् दशन्—ष उ डशन् सु—आद् गुण, नकार लोप।

धासु०—धा परे रहे षष् को उत्व विकल्प से होता है तथा उत्तरपद के आदि वर्ण को ष्टुत्व पूर्ववत् होता है।

(15) षोढा
षष् धा → ष उ ढा—गुणादि पूर्ववत्।

(16) षड्धा
पक्ष में उत्व नहीं हुआ। न पदान्ताट्टोरनाम्। तब ष्टुत्व भी नहीं हुआ।

बहुवच०—बहुवचन का निर्देश नानाधिकरणवाची धा शब्द के ज्ञान के लिए है। अतः यहाँ नहीं होता है।

(17) षट् दधाति
(18) षट् धयति

दुरो०—दुर् से उत्तर दाश, नाश, दम तथा ध्य हों तो 'दुर्' के रेफ के स्थान पर उत्व तथा उत्तरपद के आदि वर्ण के स्थान पर ष्टुत्व होता है।

(19) दूडाशः
कृच्छ्रेण दाश्यते → दुर् दाश् अ—
दु उ डाश सु—अकः सवर्णे दीर्घः, सु।

(20) दूणाशः
कृच्छ्रेण नाश्यते → दुर् नाश् अ—
दु उ णाश सु—पूर्ववत्।

(21) दूडभः
कृच्छ्रेण दभ्यते—दम्भ् के अनुनासिक का लोप निपातन से हुआ, पूर्ववत् सभी कार्य।

(22) दूढ्यः
दुष्टं ध्यायति — दुर् ध्यै क—आतश्चोपसर्गे कः,
दु उ ढ्य सु—पूर्ववत्।

स्वरो०—वेद के विषय में 'रोह' धातु परे रहते 'स्वर्' के रेफ को उत्व होता है।

(23) स्वो रोहाव (तै०सं० 1.7.9.1)
स्वर् रोहाव → स्व उ रोहाव।

पीवोप०—वेद के विषय में पीवोपवसनादि शब्दों के विषय में लोप होता है।

(24) पीवोपवसनः
पीवस् उपवसन—अन्त्य (सकार) का लोप,
पीवोपवसन सु—गुण एकादेश।

(25) पयोपवसनः
पयस् उपवसन—पूर्ववत्।

वर्णागमो०—प्रकृत सूत्र से पाँच प्रकार का निर्वचन होता है—

(क) वर्णागम—अपूर्व वर्ण का आगम होना। यथा—

(26) कुञ्जरः
कौ जीर्यते—इस अर्थ में
कु न् जर् अ—नुक् आगम,
कुञ्जर सु—अनुनासिक, परसवर्ण।

(ख) वर्णविपर्यय—एक वर्ण का दूसरे के स्थान पर तथा दूसरे का प्रथम के स्थान पर होना। यथा—

(27) सिंहः
हिंस् अच् सु—वर्णविपर्यय हो गया है।

(ग) वर्णविकार—आदेश अर्थात् एक वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण का होना। यथा—

(28) षोडन्
षष् दन्त्—यहाँ षकार के स्थान पर उत्व हुआ है।

(घ) वर्णनाश—वर्ण का लोप होना। यथा—
'पृषोदरम्' में वर्ण तकार का लोप हुआ है।

(ङ) धातु का अर्थातिशय के साथ योग—धातु का प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग होना। यथा—
'मयूरः' में 'रु' धातु का रमण अर्थ में प्रयोग हुआ है।[1]

(2972) संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्यां ङौ *110* (238)

संख्या, वि, साय-इत्येवम्पूर्वस्याह्नशब्दस्य स्थाने अह-

1. न्यास० 6.3.109

नित्ययमादेशो भवत्यन्यतरस्यां ङौ परतः। द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः। त्र्यह्नः। द्व्यह्नि, द्व्यहनि। त्र्यह्नि, त्र्यहनि। द्व्यह्ने। त्र्यह्ने। व्यपगतमहो व्यह्नः। व्यह्नि, व्यहनि। व्यह्ने। सायमह्नः सायाह्नः। सायाह्नि, सायाहनि। सायाह्ने। एकदेशिसमासः पूर्वादिभ्योऽन्यस्यापि भवतीत्येतदेव विसायपूर्वस्याह्नस्य ग्रहणं ज्ञापकम्। तेन मध्यमह्नो मध्याह्न इत्यपि भवति। संख्याविसायपूर्वस्येति किम्? पूर्वाह्णे। अपराह्णे।

अर्थ—संख्या, वि तथा साय शब्द हैं पूर्व में जिसके, ऐसे 'अह्न' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'अहन्' आदेश होता है, 'ङि' प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) द्व्यहनि
द्वयोरह्नोर्भवः—द्व्यह्नः,
'तस्मिन्' इस अर्थ में 'ङि' हुआ,
द्व्यहन् ङि—'अहन्' आदेश हुआ।

(2) द्व्यह्नि
पक्ष में 'अहन्' नहीं हुआ।

(3) त्र्यह्नि
'अहन्' हुआ।

(4) त्र्यह्नि
'अहन्' नहीं हुआ।

(5) द्व्यह्ने
पक्ष में।

(6) त्र्यह्ने
पक्ष में।

(7) व्यह्नि
व्यपगतम् अहः—व्यह्नः।
'अहन्' नहीं हुआ।

(8) व्यहनि
'अहन्' हुआ।

(9) व्यह्ने
पक्ष में।

(10) सायाहनि
सायमह्नः—सायाह्नः।
'अहन्' हुआ।

(11) सायाह्नि
'अहन्' नहीं हुआ।

(12) सायाह्ने
पक्ष में।

एकदेशि०—शङ्का है कि इनका 'पूर्वापरा०' सूत्र में पाठ न होने से समास किस प्रकार होता है?

(समा०) यहाँ विसायपूर्वक अह्न शब्द के ग्रहण से ज्ञापित होता है कि पूर्व आदि से भिन्न शब्दों का भी एकदेशि समास होता है। अतः निम्नलिखित में हो जाता है।

(13) मध्याह्नः—मध्यम् अह्नः।

सङ्ख्या०—**संख्या, वि तथा साय** शब्द पूर्व में हों तो 'अहन्' आदेश होता है।

(13) पूर्वाह्णे
यहाँ नहीं हुआ।

(14) अपराह्णे (पूर्ववत्)।

(2973) ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः *111* (174)

ढकाररेफयोर्लोपो यस्मिन् स ढ्रलोपः, तत्र पूर्वस्याणो दीर्घो भवति। लीढम्। मीढम्। उपगूढम्। मूढः। रलोपे-नीरक्तम्। अग्नीरथः। इन्दूरथः। पुनारक्तं वासः। प्रातारजक्रयः। पूर्वग्रहणमनुत्तरपदेऽपि पूर्वमात्रस्य दीर्घार्थम्। अण इति किम्? आतृढम्, आवृढम्।

अर्थ—ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत जो ढकार और रेफ, उनके परे रहते पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घ होता है।

'ढ्र' में अकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) लीढम्
लिह् क्त—लिढ् ढ—हो ढः, ष्टुत्व,
लि ढ—ढो ढे लोपः,
लीढ सु—दीर्घ।

(2) मीढम्
मिह् क्त सु।

(3) उपगूढम्
उप गुह् क्त—पूर्ववत्।

(4) मूढः
मुह् क्त सु—पूर्ववत्।

(5) नीरक्तम्

निर् रक्त—रो रि,
नि रक्त → नीरक्त सु—दीर्घ।

(6) अग्नीरथः
अग्निस् रथ → अग्निर् रथ—
अग्नी रथ सु—रो रि, दीर्घ।

(7) इन्दूरथः
इन्दुस् रथ—पूर्ववत्।

(8) पुना रक्तम्
पुनर् रक्त → पुन रक्त—रेफ लोप,
पुना रक्त सु—दीर्घ।

(9) प्राताराजक्रयः
प्रातर् राजक्रय—पूर्ववत्।

पूर्व०—'पूर्व' पद का ग्रहण किया गया है, ताकि उत्तरपद के न रहते भी पूर्व मात्र को दीर्घ हो जाय।

अण०—अण् को ही दीर्घ होता है।

(10) आतृढम्
आ तृह् क्त → आ तृढ् त—हो ढः,
आ तृढ् ढ—ष्टुत्व,

आतृढ सु—ढो ढे लोपः, पूर्व में ऋकार है, जो अण् नहीं है। अतः दीर्घ नहीं हुआ।

(11) आवृढम् (पूर्ववत्)।

(2974) सहिवहोरोदवर्णस्य *112*
(2357)

सहि, वहि-इत्येतयोरवर्णस्यौकार आदेशो भवति ढूलोपे। सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्। वोढा, वोढुम्, वोढव्यम्। अवर्णस्येति किम्? ऊढः। ऊढवान्। वर्णग्रहणं किम्? कृतायामपि वृद्धौ यथा स्यात्-उदवोढाम्। उदवोढम्। तादपि परस्तपरः, तपरत्वादाकारस्य ग्रहणं न स्यात्।

अर्थ—ढकार का लोप हुआ हो तो सह् और वह् धातुओं के अकार को ओकार होता है।

उदा० (1) सोढा
सह् तृच् → सढ् ढृ—हो ढः, ष्टुत्व,
सोढृ सु—ढो ढे लोपः, ओकार, विभक्तिकार्य।
(2) सोढुम्
सह् तुमुन्—पूर्ववत्।

(3) सोढव्यम्
सह् तव्य → सढ् ढव्य—हो ढः,
सोढव्य सु—ओकार।

(4) वोढा
'सोढा' की तरह।

(5) वोढुम्
'सोढुम्' की तरह।

(6) वोढव्यम्
'सोढव्यम्' की तरह।

अवर्ण०—अकार के स्थान पर ओकार होता है।

(7) ऊढः
वह् क्त—वचिस्वपियजादीनां०,
उह् त → उढ् ढ—हो ढः, ढो ढे लोपः,
ऊढ सु—अकार नहीं है, अतः ओकार नहीं हुआ।

(8) ऊढवान्
वह् क्तवतु—पूर्ववत्।

वर्ण०—'वर्ण' पद का ग्रहण किया गया है, ताकि वृद्धि कर लेने पर भी ओकार होता है।

(9) उदवोढाम्
वह् ताम्—लुङ, तस्, ताम् आदेश,
वाह् स ताम्—सिच्, ढत्व के असिद्ध रहते भी ढत्व से पहले ही 'वदव्रज०' के द्वारा वृद्धि, झलो झलि।
अट् वा ढाम्—सिच् का लुक्, दत्व, झषस्तथो०, ष्टुना ष्टुः, ढकारलोप, अट्,
उद् अ वोढाम्—ओकार।

(10) उदवोढम्
लुङ् थस्—शेष कार्य पूर्ववत्।

तादपि०—'तादपि परस्तपरः' परिभाषा से 'ओदवर्णस्य' में ओकार व अकार दोनों तपर हैं। अतः अकार के तपर होने से अकार के द्वारा आकार का ग्रहण नहीं होता।

(2975) साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे *113*
(3531)

साढ्यै, साढ्वा, साढा-इति निगमे निपात्यन्ते। साढ्यै समन्तात् (मै०सं० 1.6.31)। साढ्वा शत्रून् (मै०सं० 3.8.5)। सहेः क्त्वाप्रत्यये ओत्वाभावः। पक्षे क्त्वा-

प्रत्ययस्य ध्यैभावः। साढा-इति तृचि रूपमेतत्। निगम इति किम्? सोढ्वा, सोढेति भाषायाम्।

अर्थ—वेद के विषय में साढ्यै, साढ्वा तथा साढा शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) साढ्यै समन्तात्
सह् क्त्वा → सह् ध्यै—
साढ्यै → प्राप्त ओकार का निषेध।

(2) साढ्वा शत्रून्
सह् त्वा—ओकार का निषेध,
साद् ढ्वा—ढो ढे लोपः।

(3) साढा (ऋ० 7.56.23)
सह् तृन्—साढा—दत्व, ढो ढे लोपः।

निगम०—निगम में ही पूर्वोक्त निपातन होता है।

(4) सोढ्वा
सह् क्त्वा—लोक में होता है।

(5) सोढा
सह् तृन्—लोक में होता है।

(2976) संहितायाम् *114* (1035)

'संहितायाम्' इत्ययमधिकारः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः संहितायामित्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति–'द्व्यचोऽतस्तिङः' (6.3.135) इति। विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूर गोनाम् (ऋ० 10.46.1)। संहितायामिति किम्? विद्म, हि, त्वा, सत्पतिं, शूर, गोनाम्।

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। यह अधिकार पाद की समाप्ति-पर्यन्त चलता है। इससे आगे जो-जो कहा जायेगा, वह संहिता के विषय में होता है—ऐसा जानना चाहिए। आगे पाठ किया जायेगा 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इत्यादि। उदाहरण आगे देखिये।

संहिताया०—संहिता के विषय में ही होता है।
विद्म, हि, त्वा, सत्पति—यहाँ नहीं हुआ।

(2977) कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य *115* (1036)

कर्णशब्दे उत्तरपदे लक्षणवाचिनो दीर्घो भवति विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक-इत्येतान्वर्जयित्वा। दात्राकर्णः। द्विगुणाकर्णः। त्रिगुणाकर्णः। द्व्यङ्गुलाकर्णः। अङ्गुलाकर्णः। यत्पशूनां स्वामिविशेषसम्बन्धज्ञापनार्थं दात्राकारादि क्रियते तदिह लक्षणं गृह्यते। लक्षणस्येति किम्? शोभनकर्णः। अविष्टादीनामिति किम्? विष्टकर्णः। अष्टकर्णः। पञ्चकर्णः। मणिकर्णः। भिन्नकर्णः। छिन्नकर्णः। छिद्रकर्णः। स्रुवकर्णः। स्वस्तिककर्णः।

अर्थ—कर्ण शब्द के उत्तरपद रहते लक्षणवाची शब्द को दीर्घादेश होता है; परन्तु विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव तथा स्वस्तिक शब्दों को नहीं होता है।

उदा० (1) दात्राकर्णः
दात्रमिव दात्रम्, दात्रं कर्णे यस्य सः—समास हुआ,
दात्रा कर्ण सु—दीर्घ आदेश।

(2) द्विगुणाकर्णः
द्वौ गुणौ यस्य सः—द्विगुणः, पूर्ववत् बहुव्रीहि, दीर्घ।

(3) त्रिगुणाकर्णः (पूर्ववत्)।

(4) द्व्यङ्गुलाकर्णः
पूर्ववत् दीर्घ।

(5) अङ्गुलाकर्णः
पूर्ववत् दीर्घः।

यत्पशू०—स्वामिविशेष के साथ सम्बन्ध सूचित करने के लिए पशुओं के कान आदि में जो दात्र आदि के समान पहचान बना दी जाती है, उसी का यहाँ ग्रहण होता है।

लक्षणस्ये०—लक्षणवाची शब्द को दीर्घ होता है।

(6) शोभनकर्णः
शोभन शब्द लक्षणवाची नहीं है। अतः दीर्घ नहीं हुआ।

अविष्टा०—विष्ट आदि शब्दों को दीर्घ नहीं होता है।

(7) विष्टकर्णः,
(8) अष्टकर्णः,
(9) पञ्चकर्णः,
(10) मणिकर्णः,
(11) भिन्नकर्णः,
(12) छिन्नकर्णः,
(13) छिद्रकर्णः,
(14) स्रुवकर्णः,
(15) स्वस्तिककर्णः।

(2978) नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ *116* (1037)

नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, तनि–इत्येतेषु क्विप्रत्ययान्तेषूत्तरपदेषु पूर्वपदस्य दीर्घो भवति संहितायां विषये। नहि–उपानत्, परीणत्। वृति–नीवृत्, उपावृत्। वृषि–प्रावृट्, उपावृट्। व्यधि–मर्मावित्, हृदयावित्, श्वावित्। रुचि–नीरुक्, अभिरुक्। सहि–ऋतीषट्। तनि–तरीतत्। गमः क्वाविति (6.4.40) गमादीनामिष्यते। ततस्तनोतेरप्यनुनासिकलोपः। क्वाविति किम्? परिणहनम्।

अर्थ—संहिता के विषय में क्विप्रत्ययान्त नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि तथा तनि धातुओं के उत्तरपद रहते पूर्वपद को दीर्घ आदेश होता है।

उदा० (क) नहि—
(1) उपानत्
उपनह्यते → उप नह् क्विप्—सम्पदादि होने से क्विप्,
उपानह् सु → उपानध्—सर्वापहार लोप, दीर्घ, नहो धः,
उपानद् → उपानत्—झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने।

(2) परीणत्
परिणह्यति—परि नह् क्विप्—पूर्ववत् सभी कार्य, केवल 'उपसर्गादसमासे' से णत्व विशेष होता है।

(ख) वृति—
(3) नीवृत्
निवर्त्तते → निवृत् क्विप्—अन्येभ्योऽपि दृश्यते,
नीवृत् सु—पूर्ववत्।

(4) उपावृत् (पूर्ववत्)।

(ग) वृषि—
(5) प्रावृट्
प्रवर्षति—प्र वृष्—क्विप्, सर्वापहार लोप,
प्रावृष् सु → प्रावृष्—झलां जशोऽन्ते,
प्रावृट्—वाऽवसाने।

(6) उपावृट् (पूर्ववत्)।

(घ) व्यधि—
(7) मर्मावित्
मर्माणि विध्यति → मर्म व्यध् क्विप्—सर्वापहार लोप,
मर्मा विध्—दीर्घ, ग्रहिज्या० से सम्प्रसारण, सु, लोप,
मर्मावित्—जश्त्व, चर्त्व।

(8) हृदयावित् (पूर्ववत्)।

(9) श्वावित् (पूर्ववत्)।

(ङ) रुचि—
(10) नीरुक्
नि रुच्—क्विप्, सर्वापहार लोप,
नीरुच् सु—सु का लोप,
नीरुक्—चोः कुः।

(11) अभीरुक् (पूर्ववत्)।

(च) सहि—
(12) ऋतीषट्
ऋति सहते → ऋति सह्—पूर्ववत् प्रत्यय का लोप,
ऋतीसह्—सु, सु का लोप,
ऋतीषट्—ढत्व, डत्व, चर्त्व।

(छ) तनि—
(13) परीतत्,
परि तनोति → परि तन् क्विप्—सर्वापहार लोप,
परी त—अनुनासिक लोप,
परीतत्—तुक्, विभक्तिकार्य।

गमः क्वा०—क्वि परे रहते गम् के अनुनासिक का लोप होता है। इससे गम् आदि के अनुनासिक का लोप इष्ट है। अतः तन् के अनुनासिक का भी लोप होता है।

क्वाविति०—क्विप्रत्ययान्त के परे रहते ही पूर्वपद को दीर्घ होता है।

(14) परिणहनम्
यहाँ दीर्घ नहीं हुआ।

(2979) वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम् *117* (1038)

वन, गिरि–इत्येतयोरुत्तरपदयोर्यथासंख्यं कोटरादीनां किंशुलकादीनां च दीर्घो भवति संज्ञायां विषये। वने कोटरादीनाम्–कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, सारिकावणम्। गिरौ किंशुलकादीनाम्–किंशुलकागिरिः। अञ्जनागिरिः। कोटरकिंशुलकादीनामिति किम्? असिपत्रवनम्। कृष्णगिरिः। कोटर। मिश्रक। पुरक। सिध्रक। सारिक–कोटरादिः। किंशुलक। शाल्वक। अञ्जन। भञ्जन। लोहित। कुक्कुट–किंशुलकादिः।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में तथा संहिता के विषय में वन तथा गिरि शब्दों के उत्तरपद रहते यथासंख्य कोटर आदि तथा किंशुलक आदि शब्दों को दीर्घ होता है।

उदा० (1) कोटरावणम्
कोटर वन—षष्ठी समास, दीर्घादेश, 'वनं पुरगा०' से णत्व, कोटरावण सु—विभक्तिकार्य।

(2) मिश्रकावणम् (पूर्ववत्)।
(3) सिध्रकावणम् (पूर्ववत्)।
(4) सारिकावणम् (पूर्ववत्)।
(5) किंशुलकागिरिः
पूर्ववत् दीर्घादेश।
(6) अञ्जलागिरिः (पूर्ववत्)।

कोटरकिंशु०—कोटरादि व किंशुलकादि शब्दों को ही दीर्घ होता है।

(7) असिपत्रवनम्
दीर्घ नहीं हुआ।
(8) कृष्णगिरिः
दीर्घ नहीं हुआ।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

(2980) वले *118* (1040)

वले परतः पूर्वस्य दीर्घो भवति। आसुतीवलः। कृषीवलः। दन्तावलः। 'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (5.2.112) इति वलच्प्रत्ययो गृह्यते, न प्रातिपदिकम्। अनुत्साहभ्रातृपितृणामित्येव। उत्साहवलः। भ्रातृवलः। पितृवलः।

अर्थ—वल परे रहते पूर्व को दीर्घ होता है।

उदा० (1) आसुतीवलः
आसुति वल सु—दीर्घ।
(2) कृषीवलः (पूर्ववत्)।
(3) दन्तावलः (पूर्ववत्)।

रजःकृष्या०—'रजःकृष्यासुतिपरि०' से विहित 'वलच्' का ग्रहण होता है; 'वल' प्रातिपदिक का ग्रहण नहीं होता।

अनुत्साह०—उत्साह, भ्रातृ तथा पितृ शब्दों को दीर्घ नहीं होता।

(4) उत्साहवलः।
(5) भ्रातृवलः।
(6) पितृवलः।

(2981) मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् *119* (1041)

मतौ परतो बह्वचोऽजिरादिवर्जितस्य दीर्घो भवति संज्ञायां विषये। उदुम्बरावती। मशकावती। वीरणावती। पुष्करावती। अमरावती। 'नद्यां मतुप्' (4.2.85) इति मतुप्रत्ययः। 'संज्ञायाम्' (8.2.11) इति मतोर्वत्वम्। बह्वच इति किम्? व्रीहिमती। अनजिरादीनामिति किम्? अजिरवती। खदिरवती। हंसकारण्डववती। चक्रवाकवती। 'संज्ञायाम्' इत्येव—वलयवती।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में तथा संहिता के विषय में मतुप् प्रत्यय के परे रहते अनेकाच् शब्द को दीर्घादेश होता है, परन्तु अजिरादि शब्दों को नहीं होता है।

उदा० (1) उदुम्बरावती
'नद्यां मतुप्' से मतुप्, 'मादुपधायाः०' से वत्व सिद्ध है, तदपि 'सञ्ज्ञायाम्' इसके पर होने से इसी के द्वारा वत्व होता है।

(2) मशकावती
मशक मतुप्—वत्व, दीर्घ,
मशका वत् ङीप्—उगितश्च, विभक्तिकार्य।
(3) वीरणावती (पूर्ववत्)।
(4) पुष्करावती (पूर्ववत्)।
(5) अमरावती (पूर्ववत्)।

बह्वच०—अनेकाच् शब्द को ही दीर्घ होता है।

(6) व्रीहिमती
यहाँ अनेकाच् नहीं है। अतः दीर्घ नहीं हुआ।

अनजिरा०—अजिर आदि को दीर्घ नहीं होता है।

(7) अजिरवती
दीर्घ नहीं हुआ।
(8) खदिरवती (पूर्ववत्)।
(9) पुलिनवती (पूर्ववत्)।
(10) हंसकारण्डववती (पूर्ववत्)।
(11) चक्रवाकवती (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा के विषय में ही दीर्घ होता है।

(12) वलयवती

'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' से मतुप् हुआ, सञ्ज्ञा न होने से दीर्घ नहीं हुआ।

(2982) शरादीनां च *120* (1042)

शरादीनां च मतौ दीर्घो भवति संज्ञायां विषये। शरावती। वंशावती। शर। वंश। धूम। अहि। कपि। मणि। मुनि। शुचि। हनु-शरादिः। 'संज्ञायाम्' (8.2.11) इति मतोर्वत्वम्। यवादित्वाद् व्रीह्यादिभ्यो न भवति।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में तथा संहिता के विषय में मतुप् प्रत्यय परे रहते शरादि शब्दों को दीर्घ होता है।

उदा० (1) शरावती
शर मतुप्—नद्यां मतुप्, सञ्ज्ञायाम्,
शरा वत् ङीप्—विभक्तिकार्य।

(2) वंशावती (पूर्ववत्)।

शेष उदाहरण मूल में देखें।

सञ्ज्ञाया०—'सञ्ज्ञायाम्' से मकार को वकार होता है। यवादि होने से व्रीहि आदि से नहीं होता है।

(2983) इको वहेऽपीलोः *121* (1043)

इगन्तस्य पूर्वपदस्य पीलुवर्जितस्य वह उत्तरपदे दीर्घो भवति। ऋषीवहम्। कपीवहम्। मुनीवहम्। इक इति किम्? पिण्डवहम्। अपीलोरिति किम्? पीलुवहम्। *अपील्वादीनामिति वक्तव्यम्* (म०भा०) इह मा भूत्—दारुवहम्।

अर्थ—संहिता के विषय में वह शब्द के उत्तरपद रहते इगन्त शब्द पूर्वपद को दीर्घ होता है, परन्तु पीलु शब्द को नहीं होता है।

उदा० (1) ऋषीवहम्
ऋषि वह् अच्—षष्ठी समास, पचादिलक्षण अच्,
ऋषीवह सु—दीर्घ।

(2) कपीवहम् (पूर्ववत्)।
(3) मुनीवहम् (पूर्ववत्)।

इक०—इगन्त शब्द को ही दीर्घ होता है।

(4) पिण्डवहम्
यहाँ नहीं हुआ।

अपीलो०—पीलु शब्द को दीर्घ नहीं होता है।

(5) पीलुवहम्
यहाँ दीर्घ नहीं हुआ।

अपील्वा०—पीलु आदि शब्दों को छोड़कर शेष को दीर्घ होता है।

(6) दारुवहम्
दीर्घ नहीं हुआ।

(2984) उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् *122* (1044)

उपसर्गस्य घञन्ते उत्तरपदेऽमनुष्येऽभिधेये बहुलं दीर्घो भवति। वीक्लेदः। वीमार्गः। अपामार्गः। न च भवति—प्रसेवः, प्रसारः। *सादकारयोः कृत्रिमे दीर्घो भवति* (का०वा०)। प्रासादः। प्राकारः। कृत्रिम इति किम्? प्रसादः। प्रकारः। *वेशादिषु विभाषा दीर्घो भवति* (म०भा०)। प्रतिवेशः, प्रतीवेशः। प्रतिरोधः, प्रतीरोधः। अमनुष्य इति किम्? निषादो मनुष्यः।

अर्थ—यदि 'मनुष्य' अर्थ गम्यमान न हो तो घञ् प्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते उपसर्ग को बहुलता से दीर्घ होता है।

उदा० (1) वीक्लेदः
वि क्लिद् घञ्—अकर्तरि च कारके,
वी क्लेद सु—दीर्घ, उपधा को गुण।

(2) वीमार्गः
वि मृज् घञ्—मृजेर्वृद्धिः, चजोः कु घिण्ण्यतोः,
वि मार्ग् अ—अनुबन्ध लोप,
वीमार्ग सु—दीर्घ।

(3) अपामार्गः
अप मृज् घञ्—पूर्ववत्।

(4) प्रसेवः
प्र सिव् घञ्—बाहुलकात् दीर्घ नहीं हुआ।

(5) प्रसारः
प्र सृ घञ्—पूर्ववत्।

सादकार०—कृत्रिम अर्थ में साद व कार शब्दों के उत्तरपद रहते उपसर्ग को दीर्घ होता है।

(6) प्रासादः
प्र साद → प्रा साद सु।

(7) प्राकारः (पूर्ववत्)।

कृत्रिम०—कृत्रिम अर्थ में ही दीर्घ होता है।

(8) प्रसादः
दीर्घ नहीं हुआ।

(9) प्रकारः
दीर्घ नहीं हुआ।

वेशादि०—वेशादि शब्दों के उत्तरपद रहते उपसर्ग को विकल्प से दीर्घ होता है।

(10) प्रतीवेशः
प्रति वेश सु—दीर्घ हुआ।

(11) प्रतिवेशः
पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ।

(12) प्रतीरोधः
दीर्घ हुआ।

(13) प्रतिरोधः
दीर्घ नहीं हुआ।

अमनु०—मनुष्य अभिधेय न हो तो उपसर्ग को दीर्घ होता है।

(14) निषादो मनुष्यः
नि सद् घञ्—मनुष्य अर्थ है। अतः दीर्घ नहीं हुआ, 'हलश्च' से 'घञ्' हुआ है।

(2985) इकः काशे *123* (1045)

इगन्तस्योपसर्गस्य काशशब्द उत्तरपदे दीर्घो भवति। नीकाशः। वीकाशः। अनूकाशः। पचाद्यजन्तोऽयं काश-शब्दः, न तु घञन्तः। इक इति किम्? प्रकाशः।

अर्थ—काश शब्द के उत्तरपद रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है।

उदा० (1) नीकाशः
नि काश् अच्—यह शब्द घञ् प्रत्ययान्त नहीं है। यदि घञन्त होता तो पूर्व सूत्र के द्वारा ही दीर्घत्व सिद्ध था[1], यहाँ पचादिलक्षण अच् हुआ,
नी काश सु—दीर्घ।

(2) वीकाशः
वि काश सु—पूर्ववत्।

(3) अनूकाशः (पूर्ववत्)।

इक इति०—इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है।

(4) प्रकाशः
प्र काश् अच्—दीर्घ नहीं हुआ।

(2986) दस्ति *124* (3079)

'दा' इत्येतस्य यस्तकारादिरादेशस्तस्मिन्परत इगन्तस्यो-पसर्गस्य दीर्घो भवति। नीत्तम्। वीत्तम्। परीत्तम्। 'अच उपसर्गात्तः' (7.4.47) इत्यन्तस्य यद्यपि तकारः क्रियते, तथापि चर्त्वस्याश्रयात्सिद्धत्वमिति तकारादिर्भवति। इक इत्येव-प्रत्तम्, अवत्तम्। द इति किम्? वितीर्णम्। नितीर्णम्। तीति किम्? सुदत्तम्।

अर्थ—'दा' के स्थान पर जो तकारादि आदेश, उसके परे रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है।

उदा० (1) नीत्तम्
नि दा क्त—दीर्घ हुआ।

(2) वीत्तम् (पूर्ववत्)।

(3) परीत्तम्
परि दा क्त—पूर्ववत्।

अच उप०—यहाँ 'अच उपसर्गात्तः' के द्वारा अन्त्य 'आ' के स्थान पर 'त' किया जाता है। तथापि चर्त्व के आश्रय के सिद्ध होने से सिद्ध रहता है। अतः तकारादि ही रहता है। वस्तुतः चर्त्व असिद्ध नहीं होता है।

इक०—इगन्त को ही दीर्घ होता है।

(4) प्रत्तम्
प्र दा क्त—प्र द् त सु—यहाँ दीर्घ नहीं हुआ।

(5) अवत्तम् (पूर्ववत्)।

द इति०—दा के स्थान में जो तकारादि आदेश, उसके पर रहते दीर्घ होता है।

(6) वितीर्णम्
वि तॄ क्त—ॠत इद् धातोः,
वि तिर् त—'हलि च' से दीर्घ, अट्कुप्वाङ्नु०,
वि तीर् ण सु—दीर्घ नहीं हुआ।

(7) नितीर्णम् (पूर्ववत्)।

1. पदम० 6.3.123

तीति०—तकारादि परे रहते ही इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है।

(8) सुदत्तम्
सु दा क्त—दो दद् घोः,
सु दत् त सु—खरि च, दीर्घ नहीं हुआ।
दा को निम्नलिखित आठ दद् आदेश प्राप्त हैं—[1]

(2987) अष्टनः संज्ञायाम् *125* (1046)

अष्टन्-इत्येतस्योत्तरपदे संज्ञायां दीर्घो भवति। अष्टावक्रः। अष्टाबन्धुरः। अष्टापदम्। संज्ञायामिति किम्? अष्टपुत्रः। अष्टभार्यः।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में उत्तरपद परे रहते अष्टन् शब्द को दीर्घ होता है।

उदा० (1) अष्टावक्रः
अष्टौ वक्राण्यस्य—बहुव्रीहि,
अष्टन् वक्र—नलोप, दीर्घ, सु।

(2) अष्टाबन्धुरः (पूर्ववत्)।
(3) अष्टापदम् (पूर्ववत्)।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा में ही 'अष्टन्' को दीर्घ होता है।

(4) अष्टपुत्रः
सञ्ज्ञा न होने से दीर्घ नहीं हुआ।

(5) अष्टभार्यः (पूर्ववत्)।

(2988) छन्दसि च *126* (3532)

छन्दसि विषयेऽष्टन उत्तरपदे दीर्घो भवति। 'आ॒ग्ने॒यम॒ष्टाक॑पालं॒ निर्व॑पेत् च॒रुम्।' (मै०सं० 1.2.7) अष्टाहिरण्या दक्षिणा। अष्टापदी देवता सुमती। अष्टौ पादावस्या इति बहुव्रीहौ पादस्य लोपे कृते 'पादोऽन्यतरस्याम्' (4.1.8) इति ङीप्। *गवि च युक्ते भाषायामष्टनो दीर्घो भवतीति वक्तव्यम्*। अष्टागवं शकटम्।

अर्थ—वेद के विषय में अष्टन् शब्द को दीर्घ होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) अष्टाकपालम्
दीर्घ हो गया।
(2) अष्टाहिरण्या (पूर्ववत्)।

1. न्यास० 6.3.124
अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तं चेति चेष्यते॥

(3) अष्टापदी (पूर्ववत्)।

अष्टौ पादा०—'अष्टौ पादावस्या' इस प्रकार बहुव्रीहि करने पर तथा पाद का लोप कर देने पर 'पादोऽन्यतरस्याम्' से ङीप् होता है।

गवि च०—गो शब्द से युक्त होने पर लोक में अष्टन् शब्द को दीर्घ आदेश होता है।

(4) अष्टागवम्
अष्टन् गो—दीर्घ हुआ।

(2989) चितेः कपि *127* (1047)

चितिशब्दस्य कपि परतो दीर्घो भवति। एकचितीकः। द्विचितीकः। त्रिचितीकः।

अर्थ—कप् प्रत्यय परे रहते चिति शब्द को दीर्घ होता है।

उदा० (1) एकचितीकः
एका चितिरस्या—बहुव्रीहि, स्त्रियाः पुंवद्०, 'शेषाद् विभाषा' से कप्,
एकचितीक सु—दीर्घ।

(2) त्रिचितीकः (पूर्ववत्)।

(2990) विश्वस्य वसुराटोः *128* (379)

विश्वशब्दस्य वसु, राट्-इत्येतयोरुत्तरपदयोदीर्घ आदेशो भवति। विश्वावसुः। विश्वाराट्। राडिति विकारनिर्देशः-यत्रास्यैतद्रूपं तत्रैव यथा स्यात्। इह न भवति-विश्वराजौ। विश्वराजः।

अर्थ—वसु तथा राट्—इन शब्दों के उत्तरपद रहते विश्व शब्द को दीर्घ होता है।

उदा० (1) विश्वावसुः
विश्वं वसु यस्य सः—बहुव्रीहि, दीर्घ,
विश्वा वसु सु—विभक्तिकार्य।

(2) विश्वाराट्
विश्वस्मिन् राजते—क्विप्, दीर्घ, व्रश्चादि० से षत्व, जशत्व।

राडिति०—'राट्'—इस प्रकार विकार का निर्देश किया गया है। जहाँ इसका ऐसा रूप होगा, वहाँ पर ही यह दीर्घ होता है; अन्यत्र नहीं होता।

(3) विश्वराजौ
विश्वराज् औ—यहाँ नहीं हुआ।

(4) विश्वराजः—पूर्ववत्।

(2991) नरे संज्ञायाम् *129* (1048)

नरशब्द उत्तरपदे संज्ञायां विषये विश्वस्य दीर्घो भवति। विश्वानरो नाम यस्य वैश्वानरिः पुत्रः। संज्ञायामिति किम्? विश्वे नरा यस्य स विश्वनरः।

अर्थ—सञ्ज्ञा के विषय में विश्व शब्द को दीर्घ होता है, नर शब्द के उत्तरपद रहते।

उदा० (1) वैश्वानरिः
'विश्वानर' किसी का नाम है। दीर्घ हुआ। अपत्य अर्थ में 'अत इञ्' से 'इञ्' हुआ।

सञ्ज्ञाया०—सञ्ज्ञा के विषय में ही दीर्घ होता है।

(2) विश्वनरः
विश्वे नरा यस्य सः—सञ्ज्ञा न होने से दीर्घ नहीं हुआ।

(2992) मित्रे चर्षौ *130* (1049)

मित्रे चोत्तरपदे ऋषावभिधेये विश्वस्य दीर्घो भवति। विश्वामित्रो नाम ऋषिः। ऋषाविति किम्? विश्वमित्रो माणवकः।

अर्थ—ऋषि अर्थ में वर्त्तमान विश्व शब्द को दीर्घ होता है, 'मित्र' शब्द के परे रहते।

उदा० (1) विश्वामित्रः
यह ऋषि का नाम है।

ऋषावि०—ऋषि अर्थ में ही दीर्घ होता है।

(2) विश्वमित्रो माणवकः
यहाँ नहीं हुआ।

(2993) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ *131* (3533)

मन्त्रविषये सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य-इत्येतेषां मतुप्प्रत्यये परतो दीर्घो भवति। सोमावती (ऋ० 10.97.7)। अश्वावती (ऋ० 10.97.7)। इन्द्रियावती (तै०सं० 2.4.2.1)। विश्वदेव्यावती (तै०सं० 4.1.6.1)।

अर्थ—मन्त्रसंहिताओं में सोम, अश्व, इन्द्रिय तथा विश्वदेव्य शब्दों को दीर्घ होता है, मतुप् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) सोमावती (ऋ० 10.97.7)
सोम मतुप्—दीर्घ, 'उगितश्च' से ङीप्।

(2) अश्वावती (ऋ० 10.97.7) (पूर्ववत्)।

(3) इन्द्रियावती (तै०सं० 2.4.2.1) (पूर्ववत्)।

(4) विश्वदेव्यावती (तै०सं० 4.1.6.1)
विश्वदेव्य वतुप्—दीर्घ,
विश्वदेव्यावत् ङीप्—पूर्ववत्।

(2994) ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् *132* (3534)

'मन्त्रे' इति वर्तते। ओषधिशब्दस्य विभक्तावप्रथमायां परतो दीर्घो भवति। ओषधीभिरपीपतत्। नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः। (तै०आ० 2.12.1)। विभक्ताविति किम्? ओषधिपते। अप्रथमायामिति किम्? स्थिरेयमस्त्वोषधिः।

अर्थ—'मन्त्रे' का अनुवर्त्तन है। मन्त्रसंहिताओं के विषय में ओषधि शब्द को दीर्घ होता है, प्रथमा से अतिरिक्त अन्य विभक्ति के परे रहते।

उदा० (1) ओषधीभ्यः (तै०आ० 2.12.1)
ओषधि भ्यस्—दीर्घ हुआ।

(2) ओषधिभिः
दीर्घ नहीं हुआ।

विभक्तिवि०—विभक्ति परे रहते ही दीर्घ होता है।

(3) ओषधिपते
विभक्ति परे न होने से दीर्घ नहीं हुआ।

अप्रथमा०—प्रथमा से अतिरिक्त किसी विभक्ति के परे रहते दीर्घ होता है।

(4) ओषधिः
प्रथमा एकवचन है। अतः दीर्घ नहीं हुआ।

(2995) ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् *133* (3535)

ऋचि विषये तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कुत्र, उरुष्य-इत्येतेषां दीर्घो भवति। आ तू नं इन्द्र वृत्रहन् (वा०सं० 3.65) नु-नू करणे। घ-उत वां घा स्यालात् (ऋ० 1.109.2)। मक्षु-मक्षू गोमन्तमीमहे (ऋ० 8.33.3)। तङ्-भरंता जातवेदसम् (ऋ० 10.176.2)। तङिति थादेशस्य ङित्त्वपक्षे ग्रहणम्, तेनेह न भवति-शृणोत ग्रावाणः

(तै०सं० 1.3.13.1) कु–कूमनः । त्र–अत्रा गौः । उरुष्य–उरुष्या णोऽग्ने: (ऋ० 1.91.15) ।

अर्थ—ऋचा के विषय में तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कुत्र तथा उरुष्य को दीर्घ होता है।

उदा० (1) आ तू न (ऋ० 4.32.1)
दीर्घ हुआ है।
(2) नू करणे (पूर्ववत्)।
(3) उत वा घा (ऋ० 1.109.2) (पूर्ववत्)।
(4) मक्षू गोमन्तम् (ऋ० 8.33.3) (पूर्ववत्)।
(5) भरता जातवेदसम् (ऋ० 10.176.2)
तङ्, 'त' को दीर्घ हुआ।

तङिति०—'तङ्' के द्वारा 'थ' के स्थान पर अतिदेश से आदेशभूत का ङित्व पक्ष में ग्रहण होता है। अतः निम्नलिखित में नहीं होता है—

(6) शृणोत ग्रावाण:
दीर्घ नहीं हुआ।
(7) कूमनः (पूर्ववत्)।
(8) अत्रा गौ: (पूर्ववत्)।
(9) उरुष्या णोऽग्ने: (ऋ० 1.91.15) (पूर्ववत्)।

(2996) इकः सुञि *134* (3536)

सुञ् निपातो गृह्यते। इगन्तस्य सुञि परतो मन्त्रविषये दीर्घो भवति। अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० 4.31.3)। ऊर्ध्व ऊ षु णं ऊतये (ऋ० 1.36.13)। 'सुञः' (8.3.107) इति षत्वम्, 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (8.4.27) इति णत्वम्।

अर्थ—यहाँ 'सुञ्' निपात का ग्रहण है। ऋङ्मन्त्र के विषय में 'सुञ्' निपात के परे रहते इगन्त शब्द को दीर्घ होता है।

उदा० (1) अभी षु णः (ऋ० 4.31.3)
'अभि' दीर्घ हुआ।
(2) ऊ षु ण (ऋ० 1.36.13)
पूर्ववत्। 'सुञः' से षत्व होता है। 'नश्च धातुस्थो०' से णत्व हुआ है।

(2997) द्व्यचोऽतस्तिङः *135* (3537)

'ऋचि' इति वर्तते। द्व्यचस्तिङन्तस्यात ऋग्विषये दीर्घो भवति। विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० 10.47.1)। विद्मा शरस्य पितरम् (अ०वे० 1.2.1)। द्व्यच इति किम्? अश्वा भवत वाजिनः (वा०सं० 9.6)। अत इति किम्? आ देवान्वक्षि यक्षि च (ऋ० 5.26.1)।

अर्थ—'ऋचि' का अनुवर्त्तन है। ऋङ्मन्त्र के विषय में दो अच् वाले तिङन्त के अकार को दीर्घ होता है।

उदा० (1) विद्मा हि त्वा (ऋ० 10.47.1)
दीर्घ हुआ।

द्व्यच०—दो अच् वाले तिङन्त के अकार को दीर्घ होता है।

(2) भवत वाजिनः
यहाँ नहीं हुआ।

अत इति०—अकार को ही दीर्घ होता है।

(3) आ देवान्वक्षि यक्षि च (ऋ० 5.26.1)
दीर्घ नहीं हुआ।

(2998) निपातस्य च *136* (3538)

'ऋचि' इत्येव। निपातस्य च ऋग्विषये दीर्घ आदेशो भवति। एवा ते (ऋ० 10.20.10)। अच्छा ते (ऋ० 1.2.2)।

अर्थ—'ऋचि' का अनुवर्त्तन है। ऋङ्मन्त्र के विषय में निपात शब्द को दीर्घ होता है।

उदा० (1) एवा ते (ऋ० 10.20.10)
'एव' को दीर्घ हुआ।
(2) अच्छा ते (ऋ० 1.2.2) (पूर्ववत्)।

(2999) अन्येषामपि दृश्यते *137* (3539)

अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते स शिष्टप्रयोगादनुगन्तव्यः। यस्य दीर्घत्वं न विहितम्, दृश्यते च प्रयोगे, तदनेन कर्त्तव्यम्। केशाकेशि। कचाकचि। जलाषाट्। नारकः पूरुषः। *शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु*। श्वादन्तः। श्वादंष्ट्रः। श्वाकर्णः। श्वाकुन्दः। श्वावराहः। श्वापुच्छः। श्वापदः।

अर्थ—पूर्वोक्त सूत्रों के स्थलों से अन्यत्र भी दीर्घ दृष्टिगोचर होता है। उसे शिष्ट प्रयोग से जानना चाहिए। जिसे दीर्घादेश

का विधान न किया गया हो, परन्तु उपलब्ध होता हो, वहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा जानना चाहिए।

उदा० (1) केशाकेशि
केश केश इच्—तत्र तेने०, इच् कर्म०,
केशाकेशि—दीर्घ, विभक्तिकार्य।

(2) कचाकचि (पूर्ववत्)।
(3) जलाषाट्
जलं सहते—छन्दसि सहः,
जल सह् ण्वि—सर्वापहार लोप,
जलासाह्—दीर्घ, सहेः साडः षः,
जलाषाट्—हो ढः, जश्त्व, चर्त्व।

(4) नारकः (पूर्ववत्)।
(5) पूरुषः (पूर्ववत्)।

शुनो०—दन्त, दंष्ट्र, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ तथा पद शब्दों के उत्तर में रहते 'श्वन्' शब्द को दीर्घ होता है।

(6) श्वादन्तः
श्वन् दन्त—श्वादन्त सु।
(7) श्वादंष्ट्रः (पूर्ववत्)।
(8) श्वाकर्णः (पूर्ववत्)।
(9) श्वाकुन्दः (पूर्ववत्)।
(10) श्वावराहः (पूर्ववत्)।
(11) श्वापुच्छः (पूर्ववत्)।
(12) श्वापदः (पूर्ववत्)।

(3000) चौ *138* (417)

चौ परतः पूर्वपदस्य दीर्घो भवति। 'चौ' इत्यञ्चतिर्लुप्तनकाराकारो गृह्यते। दधीचः पश्य। दधीचा। दधीचे। मधूचः पश्य। मधूचा। मधूचे। अन्तरङ्गोऽपि हि यणादेशो दीर्घविधानसामर्थ्यान्न प्रवर्त्तते।

अर्थ—पूर्वपद को दीर्घ होता है, लुप्त अकार नकार वाले अञ्च् धातु के परे रहते। 'चौ' के लुप्त नकार व अकार वाले अञ्च् धातु का ग्रहण होता है।

उदा० (1) दधीचः
दधि अच् शस्—'अचः' अकार का लोप हुआ है,
दधि च् अस् → दधीचः—दीर्घ हुआ।
(2) दधीचा (पूर्ववत्)।
(3) मधूचः
'शस्' में रूप।
(4) मधूचा (पूर्ववत्)।
(5) मधूचे (पूर्ववत्)।

अन्तरङ्गो०—(शङ्का) 'दधि अच् शस्' इस दशा में अन्तरङ्ग होने से यण् की प्रवृत्ति होती है।

(समा०) दीर्घ विधानसामर्थ्य से यहाँ यणादेश प्रवृत्त नहीं होता है।

भाव यह है कि यणादेश कर देने पर दीर्घविधान व्यर्थ हो जाता।

(3001) सम्प्रसारणस्य *139* (1004)

'उत्तरपदे' इति वर्तते। सम्प्रसारणान्तस्य पूर्वपदस्योत्तरपदे दीर्घो भवति। कारीषगन्धीपुत्रः। कारीषगन्धीपतिः। कौमुदगन्धीपुत्रः। कौमुदगन्धीपतिः। करीषस्येव गन्धोऽस्य, कुमुदस्येव गन्धोऽस्य–'अल्पाख्यायाम्' (5.4.136), 'उपमानाच्च' (5.4.137) इति इकारः समासान्तः। करीषगन्धेरपत्यं कारीषगन्ध्या, कुमुदगन्धेरपत्यं कौमुदगन्ध्या, तस्याः पुत्रः कौमुदगन्धीपुत्रः, (तस्याः पतिः) कौमुदगन्धीपतिः। 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' (6.3.61) इत्येतन्न भवति, व्यवस्थितविभाषा हि सा। अकृत एव दीर्घत्वे ह्रस्वाभावपक्षे कृतार्थेनापि दीर्घेण पक्षान्तरे परत्वाद् ह्रस्वो बाध्यते। पुनः प्रसङ्गविज्ञानं न च भवति; 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' (व्या०प० 40) इति।

इति श्रीवामनविरचितायां काशिकायां वृत्तौ
षष्ठाऽध्यायस्य तृतीयः पादः॥

अर्थ—'उत्तरपदे' का अनुवर्तन है। सम्प्रसारण है अन्त में जिसके, ऐसे पूर्वपद के अण् को दीर्घ होता है, उत्तरपद परे रहते।

उदा० (1) कारीषगन्धीपुत्रः
कारीषगन्धेरपत्यम्—तस्याऽपत्यम्, अणिञोरनार्षयोः से ष्यङ् आदेश, 'यङश्चाप्' से चाप् हुआ,
कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः—षष्ठी समास,
कारीषगन्धिपुत्र—'ष्यङः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण, दीर्घ, सु।
(2) कारीषगन्धीपतिः (पूर्ववत्)।

(3) कौमुदगन्धीपुत्रः (पूर्ववत्)।
(4) कौमुदगन्धीपतिः (पूर्ववत्)।

करीषस्ये०—करीषस्येव गन्धोऽस्य—अल्पाख्यायाम्, उपमानाच्च, इकार समासान्त हुआ, शेष पूर्व में दिखाया जा चुका है।

इको०—'इको ह्रस्वो०' यहाँ ह्रस्व नहीं होता है। यह व्यवस्थित विभाषा है। दीर्घ न करने पर ह्रस्वाभाव पक्ष में चरितार्थ भी दीर्घ के द्वारा पक्षान्तर में पर होने से ह्रस्व का बाध कर दिया जाता है।

(दीर्घ करने पर भी ह्रस्व करना सम्भव है)। 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' इस नियम से ह्रस्व होना चाहिए।

(समा०) ऐसा नहीं होता है। कारण कि 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे०' परिभाषा के द्वारा ह्रस्व का बाध ही रहता है।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां
षष्ठाऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।



षष्ठाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः

(3002) अङ्गस्य *1* (200)

अधिकारोऽयमा सप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽङ्गस्येत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति–'हलः' (6.4.2) । हूतः । जीनः । संवीतः । अङ्गस्येति किम् ? निरुतम् । दुरुतम् । नामि दीर्घः–अग्नीनाम् । वायूनाम् । अङ्गस्येति किम् ? क्रिमिणां पश्य । पामनां पश्य । 'अतो भिस् ऐस्' (7.1.9)–वृक्षैः । प्लक्षैः । अङ्गस्येति किम् ? ब्राह्मणभिस्सा । ओदनभिस्सिटा । अङ्गाधिकारः कृतोऽन्यार्थः 'नामि'–दीर्घत्वाद्यपि व्यवस्थापयतीति तदर्थमर्थवद्ग्रहणपरिभाषा (व्या०प०) नाश्रयितव्या भवति । अङ्गस्येति सम्बन्धसामान्ये एषा षष्ठी यथायोगं विशेषेष्ववतिष्ठते । अथ वा–प्रातिपदिकार्थमात्रविवक्षितविभक्त्यर्थमधिक्रियते । तदुत्तरत्र यथायोगं विपरिणम्यते । ततोऽकारान्तादङ्गाद् भिस ऐसित्येवमाद्यपि सम्यक् सम्पन्नं भवति ।

अर्थ—यह अधिकार है । सप्तम अध्याय की समाप्तिपर्यन्त यह अधिकार चलता है । इससे आगे जो कहा जायेगा, वह 'अंग' को होता है—ऐसा जानना चाहिए । आगे पाठ किया जायेगा—'हलः' इत्यादि ।

उदा० (1) जीनः, (2) संवीतः–उदाहरण अगले सूत्र पर देखें ।

अङ्गस्य०—अंग को ही होता है ।

(3) निरुतम्
निर् वे क्त—सम्प्रसारण, अंगसंज्ञा नहीं होने से दीर्घ नहीं होता है ।

(4) दुरुतम् (पूर्ववत्) ।

(5) अग्नीनाम्, (6) वायूनाम्—सिद्धि आगे देखें ।

अङ्गस्य०—अंग को ही होता है ।

(7) क्रिमिणां पश्य
अंग न होने से दीर्घ नहीं हुआ । 'लोमादि०' से न प्रत्यय, टाप्, द्वितीया एकवचन ।

(8) पामनां पश्य
दीर्घ नहीं हुआ ।

(9) वृक्षैः, (10) प्लक्षैः–'अतो भिस ऐस्' से 'ऐस्' हुआ ।

अङ्गस्य०—अंग को ही होता है ।

(11) ब्राह्मणभिस्सा
'भिस्सा' शब्द टाप् प्रत्ययान्त है । अतः अंगसंज्ञा न होने से 'ऐस्' आदेश नहीं हुआ ।

(12) ओदनभिस्सिटा (पूर्ववत्) ।

अङ्गाधि०—अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है । अतः 'ब्राह्मणभिस्सा' इत्यादि स्थलों पर 'ऐस्' प्राप्त ही नहीं होता है । इसलिये 'अंगस्य' इस अधिकार की आवश्यकता नहीं है ।

(समा०) अन्य कार्यों के लिए किया गया अंगाधिकार 'नाम्' परे रहते भी दीर्घत्व आदि आदेशों की व्यवस्था करता है । अतः इन कार्यों के लिए अर्थवद्ग्रहण परिभाषा की आवश्यकता नहीं होती है ।

अङ्गस्ये०—'अङ्गस्य' यह सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है । अन्य स्थलों पर यथायोग विशेष अर्थों में भी इसकी संगति कर ली जाती है ।

अथवा—अथवा 'अङ्गस्य' इसमें केवल प्रातिपदिक का अर्थ, जिसमें षष्ठी विभक्ति के अर्थ की विवक्षा नहीं है, का ही अधिकार किया जाता है । यह अधिकार उत्तर शास्त्र में यथायोग विपरिणत होता रहता है । अकारान्त अंग से पर 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' होता है—इत्यादि की संगति भली प्रकार लग जाती है ।

(3003) हलः *2* (2559)

अङ्गावयवाद्धलो यदुत्तरं सम्प्रसारणं तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति । हूतः । जीनः । संवीतः । हल इति किम् ? उतः । उतवान् । अङ्गावयवादिति किम् ? निरुतम् । तदन्तस्येति किम् ? विद्धः । विचितः । अण इत्येव—तृतीयः । 'तृतीयेति' (2.3.18) वा निपातनादत्र दीर्घाभावः । अङ्गग्रहणमावर्तयितव्यम्–हल्विशेषणार्थम्, अङ्गकार्यप्रतिपत्त्यर्थं च ।

अर्थ—अंग का अवयव जो हल्, उससे उत्तर जो सम्प्रसारण, तदन्त अंग को दीर्घ होता है ।

उदा० (1) हूतः
ह्वे क्त → हु त—सम्प्रसारण,
हू त सु—दीर्घ।

(2) जीनः
ज्या क्त—एकाच उपदेशेऽनु०, ग्रहिज्यावयि०,
जि त—सम्प्रसारणाच्च, सार्वधातुकार्धधातु०, क्ङिति च,
जी न सु—हलः, ल्वादिभ्यः।

(3) संवीतः
सम् व्ये क्त → सम् वि त—
संवीत सु—अनुस्वार, दीर्घ।

हल इति०—हल् से उत्तर को ही दीर्घ होता है।

(4) उतः
वेञ् क्त → उ त—सम्प्रसारण, 'उ' की अंगसंज्ञा है, व्यपदेशिवद्भाव से इसके अन्त में सम्प्रसारण भी है, परन्तु वह हल् से उत्तर न होने से यहाँ दीर्घ नहीं हुआ।

अङ्गावय०—**अंग का अवयव** जो हल्, उससे पर सम्प्रसारण, तदन्त को दीर्घ होता है।

(5) निरुतम्
निर् वे क्त—सम्प्रसारण हुआ,
निर् उ त—हल् (रेफ) अंग का अवयव नहीं है, अतः दीर्घ नहीं हुआ।

तदन्त०—हल् से उत्तर जो सम्प्रसारण, तदन्त को दीर्घ होता है।

(6) विद्धः
व्यध् क्त—ग्रहिज्यावयिव्यधि० से सम्प्रसारण,
विध् ध—झषस्तथोर्धो०,
विद् ध—झलां जश् झशि, हल् (वकार) से उत्तर सम्प्रसारण (इकार) है; परन्तु उसके तदन्त न होने से यहाँ दीर्घ नहीं हुआ।

(7) विचितः
व्यच् क्त—पूर्ववत् दीर्घ नहीं हुआ।

अण०—अण् के स्थान पर ही दीर्घ होता है।

(8) तृतीयः
त्रि तीय—द्वेस्तीयः, त्रेः सम्प्रसारणञ्च,
तृ तीय सु—दीर्घ नहीं हुआ अथवा निपातन से दीर्घ नहीं हुआ।

अङ्गग्रह०—प्रकृत सूत्र में 'अङ्ग' पद की आवृत्ति करनी चाहिए।

(क) हल् का विशेषण बनाने के लिए,
(ख) अंगसम्बन्धी कार्य का ज्ञान कराने के लिए।

(3004) नामि *3* (209)

'नाम्'—इत्येतत्षष्ठीबहुवचनमागतनुट्कं गृह्यते। तस्मिन्परतोऽङ्गस्य दीर्घो भवति। अग्नीनाम्। वायूनाम्। कर्तॄणाम्। 'अणः' इत्येतदत्र निवृत्तम्। आगतनुट्कग्रहणमुत्तरार्थम्, कृते च नुटि दीर्घप्रतिपत्त्यर्थम्, अन्यथा हि नुडेव न स्यात्।

नामिदीर्घ आमि चेत्स्यात् कृते दीर्घे न नुड् भवेत्।
वचनाद्यत्र तत्रास्ति नोपधायाश्च चर्म्मणाम्॥
(म० भा०)

अर्थ—'नाम्' यह षष्ठी बहुवचन नुट् आगमसहित का ग्रहण है। 'नाम्' परे रहते अंग को दीर्घ होता है।

उदा० (1) अग्नीनाम्
अग्नि आम्—ह्रस्वनद्यापो नुट्,
अग्नि न् आम्—दीर्घ।

(2) वायूनाम्
वायु न् आम्—पूर्ववत्।

(3) कर्तॄणाम्
कर्तृ न् आम्—दीर्घ, णत्व।

अण०—अणः का अनुवर्त्तन नहीं है।

आगत०—नुट् आगमसहित का ग्रहण उत्तर कार्य के लिए है। नुट् करने पर दीर्घ किया जाता है। प्रथम दीर्घ कर लेने पर नुट् ही नहीं हो पायेगा।

नामि दीर्घ०—'नाम्' के स्थान पर 'आम्' परे रहते दीर्घ हो जाय-ऐसा करने में लाघव है; परन्तु इस प्रकार सूत्रपाठ की दशा में प्रथम दीर्घ कर चुकने पर ह्रस्वान्त अंग नहीं रहेगा। तब नुट् भी प्राप्त नहीं होगा।

वचनाद्यत्र०—इसका समाधान यह है कि दीर्घ कर लेने पर भी वचनसामर्थ्य से 'नुट्' हो ही जायेगा।

तत्रास्ति०—ऐसा उचित नहीं है। 'तिसृणाम्' आदि में नुट् चरितार्थ है। यहाँ दीर्घ नहीं होता है। अतः आरम्भसामर्थ्य से नुट् सम्भव नहीं है।

नोपधाया०—इसके अतिरिक्त 'नोपधायाश्च' सूत्र का आगे पाठ किया जायेगा। इसके द्वारा नाम् परे रहते नोपध अंग को दीर्घ होता है।

इन स्थलों पर प्रथम नुट् किया जाना अनिवार्य है, अन्यथा 'चर्मन् आम्' इस दशा में दीर्घत्व अनिष्ट की प्राप्ति होती है। 'नामि' इस प्रकार सूत्रपाठ की दशा में नाम् परे रहते ही नोपध अंग को दीर्घ होगा। चूँकि 'चर्मन् आम्' यहाँ नुट् प्राप्त नहीं है; अत: दीर्घ नहीं हो पायेगा।

(3005) न तिसृचतसृ *4* (300)

तिसृ, चतसृ–इत्येतयोर्नामि दीर्घो न भवति। तिसृणाम्। चतसृणाम्। इदमेव 'नामि' इति दीर्घप्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्–'अचि र ऋत:' (7.2.100) इत्येतस्मात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुडागमो भवतीति।

अर्थ—नाम् परे रहते तिसृ व चतसृ अंग को दीर्घ नहीं होता है।

उदा० (1) तिसृणाम्
त्रि आम्—'त्रेस्त्रय:' को बाध कर 'त्रिचतुरो०' से तिसृ आदेश,
तिसृ न् आम्—अब 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (7.1.54) से नुट् तथा 'अचि र ऋत:' (7.2.100) से रेफ आदेश की युगपत् प्राप्ति होती है। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के बल पर रेफादेश होना चाहिए, परन्तु 'न तिसृचतसृ' सूत्र ज्ञापक है कि रेफादेश को बाध कर नुट् आगम होता है। यदि पहले रेफादेश कर दिया जाय (तिस्र आम्) तो न तो नुट् प्राप्त होगा और अच् न रहने से न ही दीर्घ प्राप्त होगा। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घप्रतिषेधवचन व्यर्थ हो जाता है। अत: 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो०' (वा०) के द्वारा प्रथम नुट् हुआ। तब रेफादेश की प्राप्ति न होकर प्रकृत सूत्र से निषेध होता है। प्राप्त दीर्घ का निषेध।

(2) चतसृणाम्
पूर्ववत् दीर्घ का निषेध हुआ।

इदमेव०—इसकी व्याख्या ऊपर 'तिसृणाम्' की सिद्धि में देखिये।

(3006) छन्दस्युभयथा *5* (3540)

छन्दसि विषये तिसृचतसृ–इत्येतयोर्नामि परत उभयथा दृश्यते—दीर्घश्च, अदीर्घश्च। तिसृणां (मै०सं० 4.5.9) मध्यदिने, तिसॄणां (ऋ० 5.69.2) मध्यदिने। चतसृणां (का०सं० 27.9) मध्यदिने, चतसॄणां मध्यं दिने।

अर्थ—वेद के विषय में तिसृ व चतसृ अंग को दोनों प्रकार से होता है, नाम् परे रहते। 'उभयथा' का अर्थ है—दीर्घ व दीर्घाभाव दोनों होते हैं।

उदा० (1) तिसृणाम् (मै०सं० 4.5.9)
दीर्घ नहीं हुआ।

(2) तिसॄणाम् (ऋ० 5.69.2)
दीर्घ हो गया है।

(3) चतसृणाम् (काठ०सं० 27.9)
दीर्घ नहीं हुआ।

(4) चतसॄणाम्
दीर्घ हुआ।

विशेष—'उभयथा' पद के स्थान पर 'वा' का ग्रहण करने में लाघव होता है; परन्तु पर्याय शब्दों के विषय में आचार्य पाणिनि गौरव-लाघव की अपेक्षा नहीं करते हैं।[1]

न्यासकार के अनुसार विचित्रता के लिए 'उभयथा' पद का ग्रहण है।[2]

(3007) नृ च *6* (283)

'नृ' इत्येतस्य नामि परे उभयथा भवति। त्वं नृणाम् (पै० 2.10.4) नृपते, त्वं नॄणाम् (ऋ० 143.7) नृपते। केचिदेतत् 'छन्दसि' इति नानुवर्तयन्ति, तेन भाषायामपि विकल्पो भवति।

अर्थ—नाम् परे रहते 'नृ' शब्द को दीर्घ व अदीर्घ दोनों प्रकार से होता है।

उदा० (1) नृणाम्
नृ आम्—नृ न् आम्—'नुट्, नामि' से दीर्घ प्राप्त हुआ,
नृणाम्—दीर्घ का निषेध।

(2) नॄणाम्
दीर्घ हुआ।

केचिदे०—कुछ विद्वान् यहाँ 'छन्दसि' पद का अनुवर्त्तन स्वीकार नहीं करते हैं। तब लोक में भी उक्त विकल्प होता है।

(3008) नोपधाया: *7* (370)

नान्तस्याङ्गस्योपधाया नामि परतो दीर्घो भवति।

1. परि० 124 पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते।
2. काशि० (न्यास) 6.4.5 उभयथेति वचनं वैचित्र्यार्थम्।

पञ्चानाम्। सप्तानाम्। नवानाम्। दशानाम्। न इति किम्? चतुर्णाम्। नामीत्येव—चर्मणाम्।

अर्थ—नाम् परे रहते नकार है अन्त में जिसके, ऐसे अंग के उपधा को दीर्घ होता है।

उदा० (1) पञ्चानाम्
पञ्चन् आम्—ष्णान्ता षट्, षट्चतुर्भ्यश्च,
पञ्चन् न् आम्—दीर्घ हुआ,
पञ्चान् आम्—'स्वादिष्वसर्वनाम०' से पदसंज्ञा, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से प्राप्त नकारलोप के असिद्ध होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा उपधा को दीर्घ।

(2) सप्तानाम् (पूर्ववत्)।

न इति०—नकारान्त शब्द के उपधा को दीर्घ होता है।

(3) चतुर्णाम्
चतुर् आम्—नुट्, अंगसंज्ञा, अन्त में 'न्' नहीं है, अतः दीर्घ नहीं हुआ।

नामी०—नाम् परे रहते ही उपधा को दीर्घ होता है।

(4) चर्मणाम्
चर्मन् आम्—नुट् प्राप्त न रहने से नाम् परे नहीं है। अतः दीर्घ नहीं हुआ।

(3009) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ *8* (250)

सर्वनामस्थाने च परतोऽसम्बुद्धौ नोपधाया दीर्घो भवति। राजा, राजानौ, राजानः। राजानम्, राजानौ। सामानि तिष्ठन्ति। सामानि पश्य। सर्वनामस्थान इति किम्? राजनि। सामनि। असम्बुद्धाविति किम्? हे राजन्। हे तक्षन्।

अर्थ—सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय परे रहते नकारान्त अंग के उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धि में नहीं होता है।

उदा० (1) राजा
राजन् सु—सुडनपुंसकस्य,
राजान् स्—दीर्घ,
राजान्—हल्ङ्यादि लोप, नलोप।

(2) राजानौ
राजन् औ—पूर्ववत्।

(3) राजानः
राजन् जस्—पूर्ववत्।

(4) राजानम्
राजन् अम्—पूर्ववत्।

(5) राजानौ
राजन् औ—पूर्ववत्।

(6) सामानि
सामन् जस्—जश्शसोः शिः, शि सर्वनामस्थानम्, दीर्घ।

(7) सामानि
सामन् शस्—पूर्ववत्।

सर्वनाम०—सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परे रहते ही उपधा को दीर्घ होता है।

(8) राजनि
राजन् ङि—'ङि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं है, दीर्घ नहीं हुआ।

(9) सामनि (पूर्ववत्)।

असम्बु०—सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं होता है।

(10) (हे) राजन्
राजन् सु—राजन्—दीर्घ नहीं हुआ।

(11) (हे) तक्षन् (पूर्ववत्)।

(3010) वा षपूर्वस्य निगमे *9* (3541)

षपूर्वस्याचो नोपधाया निगमविषये सर्वनामस्थाने परतोऽसम्बुद्धौ वा दीर्घो भवति। सं तंक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत्, (मै० 2.4.1) स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत्। ऋभुक्षाणमिन्द्रम्, ऋभुक्षणमिन्द्रम् (ऋ० 1.111.4)। निगम इति किम्? तक्षा, तक्षाणौ, तक्षाणः।

अर्थ—वेद के विषय में यदि अकारान्त अंग के उपधा से पूर्व षकार हो तो, ऐसे उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है, सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परे रहते; परन्तु सम्बुद्धि में यह कार्य नहीं होता है।

उदा० (1) तक्षाणम्
तक्षन् अम् → तक्षाण् अम्—दीर्घ हुआ।

(2) तक्षणम्
पक्ष में दीर्घाभाव।

(3) ऋभुक्षाणम्
ऋभुक्षिन् अम्—इतोऽत् सर्वनाम०,

ऋभुक्षन् अम्—पूर्ववत् दीर्घ।

(4) ऋभुक्षणम्
दीर्घाभाव।

निगम०—लोक में उपधा को पाक्षिक दीर्घ नहीं होता है।

(5) तक्षा
तक्षन् सु—नित्य दीर्घ हुआ।

(6) तक्षाणौ (पूर्ववत्)।
(7) तक्षाणः (पूर्ववत्)।

(3011) सान्तमहतः संयोगस्य *10* (317)

सकारान्तस्य संयोगस्य यो नकारः महतश्च तस्योपधाया दीर्घो भवति सर्वनामस्थाने परतोऽसम्बुद्धौ। श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः। श्रेयांसि। पयांसि। यशांसि। महतः खल्वपि-महान्। महान्तौ। महान्तः। असम्बुद्धाविति किम्? हे श्रेयन्। हे महन्।

अर्थ—सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय परे रहते सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को तथा महत् के नकार की उपधा को दीर्घ होता है, परन्तु सम्बुद्धि में नहीं होता है।

उदा० (1) श्रेयान्
प्रशस्य ईयसुन्—द्विवचनविभज्योप०, प्रशस्यस्य श्रः, आद्-गुणः,
श्रेयस् सु—सु, उगिदचां सर्व० से नुम्, दीर्घ,
श्रेयान् स् स्—हल्ङ्याब्भ्यो०, संयोगान्तस्य०,
श्रेयान्—रूप।

(2) श्रेयांसौ
श्रेयस् औ—पूर्ववत्।

(3) श्रेयांसः
श्रेयस् जस्—पूर्ववत्।

(4) श्रेयांसि
श्रेयस् जस्—श्रेयान् स् शि—जश्शसोः शिः,
श्रेयांसि—नश्चाऽपदान्तस्य०।

(5) पयांसि
पयस्—पूर्ववत्।

(6) यशांसि (पूर्ववत्)।
(7) महान्
महत् सु → महन् त् स्—नुम् हुआ, उगिदचां०,
महान्त् स्—हल्ङ्याब्भ्यो०,
महान्—संयोगान्तलोप।

(8) महान्तौ
महत् औ।
(9) महान्तः
महत् जस्—पूर्ववत्।

असम्बु०—सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं होता है।

(10) (हे) श्रेयन्
हे श्रेयस् सु—हल्ङ्यादि लोप, दीर्घ नहीं हुआ,
हे श्रेयन् स् स्—संयोगान्तलोप।

(11) (हे) महन् (पूर्ववत्)।

(3112) अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृ-पोतृप्रशास्तॄणाम् *11* (277)

अप्—इत्येतस्य यतृनन्तस्य तृजन्तस्य, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ-इत्येतेषां चाङ्गानामुपधाया दीर्घो भवति सर्वनामस्थाने परतोऽसम्बुद्धौ। अप्-आपः। बह्वाम्पि तडागानीति केचिदिच्छन्ति, तत्र 'समासान्तो विधिरनित्यः' इति समासान्तो न क्रियते। नित्यमपि च नुममकृत्वा दीर्घत्वमिष्यते। तृन्-कर्त्तारौ कटान्। वदितारौ जनापवादान्। कर्त्तारः। तृच्-कर्त्तारौ कटस्य। कर्त्तारः। हर्त्तारौ भारस्य, हर्त्तारः। स्वसृ-त्वसा। स्वसारौ। स्वसारः। नप्तृ-नप्ता। नप्तारौ। नप्तारः। नेष्टृ-नेष्टा। नेष्टारौ। नेष्टारः। त्वष्टृ-त्वष्टा। त्वष्टारौ। त्वष्टारः। क्षत्तृ-क्षत्ता। क्षत्तारौ। क्षत्तारः। होतृ-होता। होतारौ। होतारः। पोतृ-पोता। पोतारौ। पोतारः। प्रशास्तृ-प्रशास्ता। प्रशास्तारौ। प्रशास्तारः। नप्त्रादीनां ग्रहणमव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थम्। व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्-एवम्भूतानामन्येषां संज्ञाशब्दानां दीर्घो मा भूदिति। पितरौ, पितरः। मातरौ, मातरः। असम्बुद्धाविति किम्? हे कर्तः। हे स्वसः।

अर्थ—सम्बुद्धि से अतिरिक्त सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परे रहते अप्, तृन् प्रत्ययान्त, तृच् प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ तथा प्रशास्तृ—इन अंगसंज्ञक शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है।

उदा० (1) आपः
अप् जस्—आप् अस्।

बह्वाम्पि०—कुछ विद्वान् 'बह्वाम्पि तडागानि' को साधु मानते हैं। यहाँ समासान्त विधि के अनित्य होने से समासान्त नहीं होता

है। नित्य नुम् को पहले न करके दीर्घ किया जाता है। दीर्घ करने के पश्चात् नुम्, अनुस्वार व परसवर्ण आदि होते हैं।

(2) कर्त्तारौ
कृ तृन् → कर्त्तृ औ → कर्त्तर् औ—गुण,
कर्त्तार् औ → कर्त्तार् औ—दीर्घ।

(3) वदितारौ
वद् तृच्—इट्, गुण, दीर्घ।

(4) कर्त्तारौ
कृ तृच् औ—पूर्ववत्।

(5) कर्त्तारः
कर्त्तृ जस्।

(6) हर्त्तारौ
हृ तृच् औ—पूर्ववत्।

(7) हर्त्तारः
हर्तृ जस्—पूर्ववत्।

(8) स्वसा
स्वसृ सु → स्वसर् स्—गुण, दीर्घ,
स्वसार् स्—हल्ङ्यादि लोप।

(9) स्वसारौ
स्वसृ औ—पूर्ववत्।

(10) स्वसारः
स्वसृ जस्—पूर्ववत्।

(11) नप्ता
नप्तृ सु → नप्तर् स्—नप्तार् स्।

(12) नप्तारौ
नप्तृ औ।

(13) नप्तारः
नप्तृ जस्—पूर्ववत्।

(14) नेष्टा
नेष्टृ सु—पूर्ववत्।

(15) नेष्टारौ
नेष्टृ औ।

(16) नेष्टारः
नेष्टृ जस्।

(17) त्वष्टा
त्वष्टृ सु—पूर्ववत्।

(18) त्वष्टारौ
औ, पूर्ववत्।

(19) त्वष्टारः
त्वष्टृ जस्—पूर्ववत्।

(20) क्षत्ता
क्षत्तृ सु।

(21) क्षत्तारौ
औ, पूर्ववत्।

(22) क्षत्तारः
क्षत्तृ जस्—पूर्ववत्।

(23) होता
होतृ सु → होतर् स् → होतार् स्—पूर्ववत्।

(24) होतारौ
होतृ औ—पूर्ववत्।

(25) होतारः
होतृ जस्—पूर्ववत्।

(26) पोता
पोतृ सु—पूर्ववत्।

(27) पोतारौ
पोतृ औ—पूर्ववत्।

(28) पोतारः
पोतृ जस्—पूर्ववत्।

(29) प्रशास्ता
प्रशास्तृ सु।

(30) प्रशास्तारौ
औ, पूर्ववत्।

(31) प्रशास्तारः
जस्, पूर्ववत्।

नप्त्रादीनां०—तीन औणादिक सूत्रों[1] के द्वारा बीस शब्द व्युत्पादित हैं। अब शंका होती है कि जब नेष्टृ आदि सातों शब्द

1. (क) तृन्तृचो शंसिक्षदादिभ्य संज्ञायां चाबिटौ (उ०सू० 250); यथा–शंस्तृ, शास्तृ, क्षत्तृ, क्षोतृ, प्रशास्तृ, उन्नेतृ, प्रतिहर्तृ, उद्गातृ।
(ख) बहुलमन्यत्रापि (उ०सू० 251); यथा–हन्तृ, मन्तृ।
(ग) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ (उ०सू० २५२); यथा—नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, होतृ, पोतृ, भ्रातृ, जामातृ, मातृ, पितृ और दुहितृ।

तृन्नन्त व तृजन्त हैं तो इनकी उपधा को 'अप्तृन्तृच्स्वसृ०' इतने मात्र सूत्र से दीर्घ हो जायेगा। पुनः इनका पृथक् उल्लेख व्यर्थ है।

इसका समाधान काशिकाकार ने इस प्रकार दिया है—

औणादिक शब्दों के विषय में दो मत हैं—
अव्युत्पत्तिपक्ष व व्युत्पत्तिपक्ष।

(क) नप्त्रादीनां ग्रहणम् अव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थम् (काशि० 6.4.11) अर्थात्–जो लोग औणादिक शब्दों को अव्युत्पन्न मानते हैं, उनके अनुसार 'नप्तृ' आदि शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का विभाग सम्भव नहीं है। अतः इनके तृच् वा तृन् प्रत्ययान्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दशा में 'अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ' इतने सूत्र से काम नहीं चल सकता। फलतः नप्तृ आदि शब्दों के उपधा के दीर्घ-विधान के लिए ग्रहण आवश्यक है।

(ख) (नप्त्रादीनां ग्रहणम्) व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् (काशि० 6.4.11) अर्थात्–जो लोग औणादिक शब्दों को व्युत्पन्न मानते हैं, उनके अनुसार 'नप्तृ' आदि शब्द पूर्वोक्त रीत्या तृच् वा तृन् प्रत्ययान्त हैं। इस दशा में इन शब्दों का ग्रहण नियमार्थ है। भाव यह है कि यदि तृन् प्रत्ययान्त व तृच् प्रत्ययान्त शब्दों को उपधादीर्घ करना हो तो केवल नप्तृ आदि सात शब्दों को ही होता है, अन्य को नहीं।

(32) पितरौ
पितृ औ—पितर् औ—दीर्घ नहीं हुआ।

(33) पितरः
पूर्ववत् दीर्घाभाव।

(34) मातरौ
मातृ औ—पूर्ववत्।

(35) मातरः (पूर्ववत्)।

सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं होता है।

(36) (हे) कर्त्तः
(हे) कर्तृ सु → कर्त्तर् स्—गुण हुआ, दीर्घ नहीं हुआ,
कर्त्तर् → कर्त्तः।

(37) (हे) स्वसः
पूर्ववत् दीर्घाभाव।

(3013) इन्हन्पूषार्यम्णां शौ *12* (356)

इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन्–इत्येवमन्तानामङ्गानां शौ परत उपधाया दीर्घो भवति। बहुदण्डीनि। बहुच्छत्रीणि। बहुवृत्रहाणि। बहुभ्रूणहाणि। बहुपूषाणि। बह्वर्यमाणि। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः–'इन्हन्पूषार्यम्णामुपधायाः शावेव दीर्घो भवति, नान्यत्र' (म०भा०)। दण्डिनौ। छत्रिणौ। वृत्रहणौ। पूषणौ। अर्यमणौ।

दीर्घविधिर्य इहेन्प्रभृतीनां
तं विनियम्य सुटीति सुविद्वान्।
शौ नियमं पुनरेव विदध्याद्
भ्रूणहनीति तथास्य न दुष्येत्॥
शास्मि निवर्त्य सुटीत्यविशेषे
शौ नियमं कुरु वाऽप्यसमीक्ष्य।
दीर्घविधेरुपधानियमान्मे
हन्त! यि दीर्घविधौ च न दोषः॥
सुट्यपि वा प्रकृतेऽनवकाशः
शौ नियमोऽप्रकृतप्रतिषेधे।
यस्य हि शौ नियमः सुटि नैत-
त्तेन न तत्र भवेद्विनियम्यम्॥
(म०भा० श्लो०वा० 1-3)

हन्तेः 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (2.4.15) इति दीर्घत्वं यत् तदपि नियमेन बाध्यते–वृत्रहणि, भ्रूणहनीति। कथम्? योगविभागः क्रियते–इन्हन्पूषार्यम्णां सर्वनामस्थान एव दीर्घो भवति, नान्यत्रेति। ततः 'शौ' इति द्वितीयो नियमः–शावेव सर्वनामस्थाने दीर्घो भवति, नान्यत्रेति। सर्वस्योपधालक्षणस्य दीर्घस्य नियमेन निवृत्तिः क्रियते। यस्तु न उपधालक्षणः, स भवत्येव–वृत्रहायते, भ्रूणहायते। अथ वा–अनुवर्त्तमानेऽपि सर्वनामस्थानग्रहणे सामर्थ्यादयमविशेषेण नियमः। शिशब्दो हि सर्वनामस्थानं नपुंसकस्य, न च तस्यान्यत् सर्वनामस्थानमस्तीत्यविशेषेण नियमः। तत्र तु 'नपुंसकस्य' इत्येतन्नाश्रीयते। तेनानपुंसकस्यापि दीर्घो न भवति। सर्वनामस्थानसंज्ञाविधाने तु नपुंसकस्य व्यापारोऽस्तीति तत्र नियमः क्रियमाणो नपुंसकस्य स्यात्।

अर्थ—'शि' विभक्ति परे रहते इन्नन्त, हन् शब्दान्त, पूषन् शब्दान्त तथा अर्यमन् शब्दान्त अंगसंज्ञक की उपधा को ही दीर्घ होता है।

उदा० (1) बहुदण्डीनि
बहवो दण्डिन एषां सन्ति—बहुव्रीहि,

बहुदण्डिन् जस्—जश्शसोः शिः
बहुदण्डीन् इ—दीर्घ हुआ।

(2) बहुच्छत्रीणि
बहुच्छत्रिन् शि—पूर्ववत् दीर्घ।

(3) बहुवृत्रहाणि
बहुवृत्रहन् शि—पूर्ववत्।

(4) बहुभ्रूणहानि
बहुभ्रूणहन् शि—पूर्ववत्।

(5) बहुपूषाणि
बहुपूषन् शि—पूर्ववत्।

(6) बह्वर्यमाणि
पूर्ववत् दीर्घ।

सिद्धे०—'शि सर्वनामस्थानम्' से नपुसंकलिंग में 'शि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है। यह नियमसूत्र है। 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' के द्वारा दीर्घादेश सिद्ध है ही। प्रकृत सूत्र नियम करता है कि सूत्रोक्त शब्दों की उपधा को दीर्घ हो तो केवल 'शि' परे रहते ही हो।

दीर्घविधि०—इस शास्त्र में इन्नन्त आदि शब्दों की उपधा को जो दीर्घविधि कही गई है, विद्वान् लोग उस विधि को सुट् प्रत्ययों में करें। पश्चात् 'शि प्रत्यय परे रहते दीर्घ हो'-ऐसा नियम करें। इस प्रकार 'भ्रूणहानि' रूप दोषयुक्त नहीं होता है।

इस कारिका का भाव यह है कि प्रकृत सूत्र का योगविभाग किया जाना चाहिए।

(क) इन्हन्पूषाऽर्यम्णाम् अर्थात् सम्बुद्धिवर्जित सुट् (सर्वनामस्थानसंज्ञक) प्रत्ययों के परे रहते इन्नन्त आदि की उपधा को दीर्घ होता है।

(ख) शौ अर्थात् शि विभक्ति परे रहते पूर्वोक्त दीर्घ होता है।

इस प्रकार प्रथम योग में सुट् प्रत्ययों में नियम होता है तथा द्वितीय योग में शि प्रत्यय में नियम होता है। फलतः इन प्रत्ययों से भिन्न प्रत्यय के परे रहते कहीं दीर्घ नहीं होता है। यथा—

भ्रूणहन् ङि—भ्रूणहनि; दीर्घ नहीं हुआ।

अगली कारिका में विना योगविभाग किये समाधान प्रस्तुत किया गया है।

शास्मि निवर्त्त्य०—अनुवृत्त सुट् को अविशेष अर्थात् प्रत्ययमात्र में निवृत्त करके अथवा शास्त्रीय अधिकार और लौकिक अधिकार की उपेक्षा करके उपधालक्षण दीर्घविधि का नियम होता है। भाव यह है कि इस प्रकार प्रत्ययमात्र परे रहते 'शि' में ही उक्त दीर्घ होता है। ऐसा नियम व्याख्याकार करता है।

दीर्घविधे०—दीर्घविधि में इस प्रकार उपधानियम करने से यप्रत्यय परे रहते हन् धातु को दीर्घविधि करने में कोई दोष प्रसक्त नहीं होता है। यथा—

(7) भ्रूणहायते
भ्रूणहन् क्यङ्—नकारलोप, दीर्घ हुआ।

सुट्यपि०—(इस कारिका में बताया गया है कि योगविभाग की आवश्यकता नहीं है तथा सुट् का अनुवर्त्तन होने पर भी कोई दोष नहीं है)।

प्रकृत सूत्र में 'सुट्' का अनुवर्त्तन कर लेने पर भी यह अनवकाश है। 'शौ' इसमें किया गया नियम चरितार्थ न होने वाला है। सर्वनामस्थान से अतिरिक्त प्रत्यय अप्रकृत है। अप्रकृत में निषेध अप्रकृत-प्रतिषेध कहलाता है। अप्रकृत-प्रतिषेध में 'शौ' लक्षण नियम अनवकाश है।

यस्य हि शौ०—'सुडनपुंसकस्य' से नपुंसक लिंग विभक्तियों की सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध किया गया है। अतः जिस नपुंसक का 'शि' परे रहते दीर्घ का नियम किया जा रहा है, वह सुट् परे रहते नपुंसक में नहीं लग सकता। तब उस सुट् के परे रहते नियम करने योग्य दीर्घत्व नहीं रह जाता है। (अतः सामान्यतः नियम किया जाता है कि इन्नन्त आदि का 'शि' ही सर्वनामस्थान परे रहते दीर्घ होता है; अन्य सर्वनामस्थान परे रहते नहीं होता)।

हन्तेः—'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' के द्वारा हन् धातु का जो दीर्घ होता है, उसका भी बाध प्रकृत सूत्र से हो जाता है।

(8) वृत्रहणि
दीर्घ नहीं हुआ।

(9) भ्रूणहनि (पूर्ववत्)।

यह कैसे होता है ? योगविभाग किया जाता है—

(क) इन्हन्पूषाऽर्यम्णाम् अर्थात् इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्नन्त तथा अर्यमणन्त शब्दों की उपधा को सर्वनामस्थान प्रत्यय परे रहते ही दीर्घ होता है, अन्यत्र नहीं। अतः ङि में दीर्घ नहीं हुआ।

(ख) 'शौ' अर्थात् 'शि' सर्वनामस्थान परे रहते पूर्वोक्त दीर्घ होता है; अन्यत्र नहीं। इस प्रकार नियम से अन्य सभी प्रकार के उपधादीर्घ की निवृत्ति कर दी जाती है।

यस्तु न०—जो उपधालक्षण दीर्घ नहीं होता है, वह होता है।

(10) वृत्रहायते
वृत्रं हतवान्—वृत्रहा—'क्विप्' हुआ है।
वृत्रहेवाऽऽचरति—क्यङ् हुआ। अकृत्सार्वधातुक०।
वृत्रहन् क्यङ्—दीर्घ हुआ।

(11) भ्रूणहायते (पूर्ववत्)।

अथवा०—अथवा सुट् के अनुवृत्त रहते भी अनवकाश रहने से सामर्थ्यवश यह नियम सामान्य रूप से होता है। नपुंसक लिंग में केवल 'शि' प्रत्यय की सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है; अन्य किसी की सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं होती। अतः सामान्य रूप से यह नियम किया जाता है।

तत्र तु०—इस नियम में 'नपुंसकस्य' इसका आश्रयण नहीं किया जाता। अतः अनपुंसक का भी दीर्घ नहीं होता है।

(11) भ्रूणहनि
तब यहाँ दीर्घ नहीं होता है।

सर्वनाम०—शि सर्वनामस्थानम् तथा सुडनपुंसकस्य इत्यादि सूत्र होने से सर्वनामस्थानसंज्ञा के विधान में नपुंसक का भी व्यापार है। अतः किया जाने वाला नियम नपुंसक का होगा।

(3014) सौ च *13* (357)

सावसम्बुद्धौ परत इन्हन्पूषार्यम्णामुपधाया दीर्घो भवति। दण्डी। वृत्रहा। पूषा। अर्यमा। असम्बुद्धाविति किम्? हे दण्डिन्। हे वृत्रहन्। हे पूषन्। हे अर्यमन्।

अर्थ—सम्बुद्धि को छोड़कर 'सु' प्रत्यय परे रहते इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन् शब्दान्त तथा अर्यमन् शब्दान्त अंग की उपधा को दीर्घ होता है।

उदा० (1) दण्डी
दण्डिन् सु—सर्वनामस्थाने चाऽ० से प्राप्त दीर्घ का इन्हन्पूषा० के द्वारा निषेध, प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ,
दण्डीन् स्—हल्ङ्यादि लोप, नकारलोप।

(2) वृत्रहा
वृत्रहन् सु—पूर्ववत्।

(3) पूषा (पूर्ववत्)।

(4) अर्यमा (पूर्ववत्)।

असम्बु०—सम्बुद्धि को छोड़ कर दीर्घ होता है।

(5) (हे) दण्डिन्
दण्डिन् सु—दीर्घ नहीं हुआ।

(6) (हे) वृत्रहन् (पूर्ववत्)।

(7) (हे) पूषन् (पूर्ववत्)।

(8) (हे) अर्यमन् (पूर्ववत्)।

(3015) अत्वसन्तस्य चाधातोः *14* (425)

अतु, अस्–इत्येवमन्तस्य अधातोरुपधायाः सावसम्बुद्धौ परतो दीर्घो भवति। डवतु–भवान्। क्तवतु–कृतवान्। मतुप्–गोमान्। यवमान्। अत्र कृते दीर्घे नुमागमः कर्त्तव्यः। यदि हि परत्वान्नित्यत्वाच्च नुम् स्यात्, दीर्घस्य निमित्तमतूपधा विहन्येत। असन्तस्य–सुपयाः। सुयशाः। सुश्रोताः। अधातोरिति किम्? पिण्डं ग्रसते इति पिण्डग्रः, चर्म वस्ते इति चर्मवः। अनर्थकोऽप्यसशब्दो गृह्यते; 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजनयन्ति' (व्या०प०) इति। अन्तग्रहणमुपदेशप्रयोगैकदेशस्याप्यत्वन्तस्य परिग्रहार्थम्, अन्यथा मतुपो ग्रहणं न स्याद्–उपदेशे रूपनिर्ग्रहहेतौ नायमत्वन्त इति। असम्बुद्धावित्येव–हे गोमन्। हे सुपयः।

अर्थ—'अतु' है अन्त में जिसके तथा धातु को छोड़ कर 'अस्' है अन्त में जिसके, ऐसे अंगसंज्ञक शब्द की उपधा को दीर्घ होता है; सम्बुद्धिवर्जित 'सु' प्रत्यय परे रहते।

'अतु' के द्वारा डवतु, क्तवतु, मतुप् तथा वतुप् आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) भवान्
भू डवतु → भवत् बनता है।
भवत् सु → भवन् त् स्—
भवान् त् स्—दीर्घ, हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप।

(2) कृतवान्
कृ क्तवतु → कृतवत्
कृतवत् सु → कृतवान् त् स्—पूर्ववत्।

(3) गोमान्
गो मतुप् → गो मत्

गोमत् सु—प्रकृत सूत्र (6.4.14) से उपधादीर्घ तथा उगिदचा० (7.1.70) से नुम् आगम—इनकी युगपत् प्राप्ति होती है, पर होने से तथा नित्य कार्य होने से नुम् प्रथम प्राप्त हुआ; परन्तु प्रथम उपधा दीर्घ हुआ।

गोमत् स्—यदि प्रथम नुम् कर दिया जाता है तो उपधा में नकार होने से अच् के न रहने से दीर्घ नहीं हो पायेगा,

गोमान् त् स्—शेष कार्य पूर्ववत्।

अत्र कृते०—यहाँ दीर्घ के विषय में नुम् आगम करना चाहिए। यदि परकार्य तथा नित्य होने से प्रथम नुम् होगा तो दीर्घादेश की निमित्तभूत उपधा नहीं रहेगी। (अतः दीर्घ नहीं हो पायेगा)।

(4) सुपयाः
सुपयस् (अस् प्रत्ययान्त) सु—दीर्घ हुआ,
सुपयास् स्—हल्ङ्यादि लोप।

(5) सुयशाः
सुयशस् सु—पूर्ववत्।

(6) सुश्रोताः (पूर्ववत्)।

अधातो०—धातु को छोड़कर जो अस्, तदन्त की उपधा को दीर्घ होता है।

(7) पिण्डग्रः
पिण्डं ग्रसते → पिण्डग्रस्।
पिण्डग्रस् सु—'ग्रस्' धातु से निष्पन्न है। अतः उपधा को दीर्घ नहीं हुआ,
पिण्डग्रस्—विसर्जनीय।

(8) चर्मवः
चर्म वस्ते—चर्मवस्। पूर्ववत् दीर्घ नहीं हुआ।

अनर्थको०—अनर्थक अस् शब्द का ग्रहण होता है। 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चाऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' के द्वारा।

अन्तग्रह०—'अन्त' शब्द का ग्रहण उपदेश-प्रयोग के एक-देश अत्वन्त का ग्रहण करने के लिए है। अन्यथा 'मतुप्' का ग्रहण नहीं हो सकेगा; कारण कि उपदेश काल में मतुप् अत्वन्त नहीं है।

असम्बु०—**सम्बुद्धि को छोड़कर** दीर्घ होता है।

(9) हे गोमत्
गोमत् सु—दीर्घ नहीं हुआ।

(10) हे सुपयः (पूर्ववत्)।

(3016) अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति *15* (2666)

अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य उपधायाः दीर्घो भवति क्विप्रत्यये परतो झलादौ च क्ङिति। प्रशान्। प्रतान्। झलादौ किति–शान्तः। शान्तवान्। शान्ता। शान्तिः। ङिति खल्वपि–शंशान्तः। तन्तान्तः। यङ्लुगन्तादयं तस्। अनुनासिकस्येति किम्। ओदनपक्। पक्वः। पक्ववान्। क्विझलोरिति किम्? गम्यते। रम्यते। क्ङितीति किम्? गन्ता। रन्ता।

अर्थ—अनुनासिक है अन्त में जिसके, ऐसे अंगसंज्ञक शब्द के उपधा को दीर्घ होता है, क्वि प्रत्यय तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

'क्वि' के द्वारा क्विप्, क्विन् आदि का ग्रहण होता है।

उदा० (क) क्वौ—

(1) प्रशान्
प्र शम् क्विप् → प्रशम्,
प्रशाम् → प्रशान्—दीर्घ हुआ, 'मो नो धातोः' से नकार। चूँकि 'मो नो धातोः' (8.2.64) सूत्र 'नलोपः प्राति०' (8.2.7) की दृष्टि में असिद्ध है; अतः नलोप नहीं होता है।

(2) प्रतान् (पूर्ववत्)।

(ख) झलादौ किति—

(3) शान्तः
शम् क्त → शाम् त—दीर्घ,
शान्त सु—अनुनासिक, परसवर्ण।

(4) शान्तवान्
शम् क्तवतु → शान्तवत्,
शान्तवत् सु—दीर्घ, नुम् आदि।

(5) शान्ता (पूर्ववत्)।

(6) शान्तिः
शम् क्तिन् → शाम् ति → शान्ति सु।

(ग) ङिति झलादौ—

(7) शंशान्तः
शम् यङ्—शंशान् तस्—यङ्लुक्, नुगतो०,
शंशान्तः—विसर्जनीय।

(8) तन्तान्तः
तन् यङ्—पूर्ववत्।

अनुनासि०—अनुनासिक है अन्त में जिसके, ऐसे अंगसंज्ञक शब्द के उपधा को दीर्घ होता है।

(9) ओदनपक्

ओदनं पचति → ओदन पच् क्विप्,

अंग के अन्त में अनुनासिक न होने से दीर्घ नहीं हुआ।

(10) पक्वः

पच् क्त—झलादि कित् परे है, अनुनासिकान्त न होने से दीर्घ नहीं हुआ,

पक् व सु—पचो वः।

(11) पक्ववान् (पूर्ववत्)।

क्विझलो०—क्वि प्रत्यय परे रहते तथा झलादि परे रहते उपधा को दीर्घ होता है।

(12) गम्यते

गम् यक्—उपधादीर्घ नहीं हुआ,

गम्य शप् त—टि को एत्व।

(13) रम्यते (पूर्ववत्)।

क्ङिती०—कित् व ङित् परे रहते ही उपधादीर्घ होता है।

(14) गन्ता

गम् तृच्—उपधादीर्घ नहीं हुआ।

(15) रन्ता (पूर्ववत्)।

(3017) अज्झनगमां सनि *16* (2614)

अजन्तानामङ्गानां हनिगम्योश्च सनि झलादौ परे दीर्घो भवति। अजन्तानाम्–विवीषति। तुष्टूषति। चिकीर्षति। जिहीर्षति। हन्–जिघांसति। गम्–अधिजिगांसते। *गमेरिङादेशस्येति वक्तव्यम्* (म०भा०)। इह मा भूत्–संजिगंसते वत्सो मात्रेति। 'स्वर्गलोकं समजिगांसदिति छन्दसि यदनिङादेशस्यापि दीर्घत्वं दृश्यते, तद् 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.137) इत्यनेन भवति। अथ वा–इहाज्ग्रहणं न कर्त्तव्यम्, सनि दीर्घो भवतीत्येतावदेव सूत्रं कर्त्तव्यम्। तत्राचा गृह्यमाणस्य विशेषणे सति सिद्धमजन्तस्य दीर्घत्वम्? तत्क्रियते प्रवृत्तिभेदेन गमेरपि विशेषणार्थम्–अजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति, अजादेशस्य गमेरिति। ततो न वक्तव्यमिदम्–गमेरिङादेशस्येति।

अर्थ—अजन्त धातु, हन् धातु तथा गम् धातुरूप अंगसंज्ञक शब्द को दीर्घ होता है, झलादि सन् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (क) अजन्तानाम्—

(1) विवीषति

वि सन् → विवीष—द्वित्व, अभ्यासकार्य, दीर्घ,

विवीष शप् त—टि को एत्व।

(2) तुष्टूषति

स्तु सन् → स्तु स्तु स → तु स्तु स–

तुष्टूस—दीर्घ, षत्व आदि,

तुष्टूषति—पूर्ववत्।

(3) चिकीर्षति

कृ सन्—इट् प्राप्त हुआ, एकाच उपदेशेऽनु०, आर्धधातुक गुण की प्राप्ति, इको झल्, क्क्ङिति च,

किर् स—ॠत इद् धातोः,

कीर् ष—हलि च, आदेशप्रत्यययोः,

कीर् कीर् ष—द्वित्व, अभ्यासकार्य,

चिकीर् ष शप् ति— शप् आदि।

(4) जिहीर्षति (पूर्ववत्)।

(ख) हनः—

(5) जिघांसति

हन् सन्—ह हन् स—द्वित्व, अभ्यासकार्य,

जिहान् स—कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च, दीर्घ, सन्यतः,

जिघांसति—अभ्यासाच्च, लकारकार्य।

(ग) गमः—

(6) अधिजिगांसते

अधि इ सन्—अधि ग गम्—गम् आदेश, द्वित्व,

अधिजिगांस—अभ्यासकार्य, दीर्घ, अनुस्वार,

अधिजिगांस शप् त—लकारकार्य।

गमेरि०—महाभाष्य के अनुसार 'गम्' के द्वारा इण् व इक् के स्थान पर होने वाले आदेशस्वरूप 'गम्' का ग्रहण होता है।

(7) सञ्जिगंसते वत्सो मात्रा

यहाँ दीर्घ नहीं हुआ। इङ् 'गम्' नहीं है। समो गम्यृच्छि० से आत्मनेपद हुआ है।

(8) समजिगांसत्

यह गम् धातु का रूप है। यह वैदिक प्रयोग 'अन्येषामपि दृश्यते' से हुआ है।

अथवा०—अथवा यहाँ 'अच्' का ग्रहण नहीं करना चाहिए। सन् में दीर्घ होता है, इतना ही सूत्र बनाना चाहिए। गृह्यमाण अंग को अच् से परे विशेषित करने पर इष्टसिद्धि हो जाती है

अर्थात् अजन्त अंग को दीर्घ होता है; परन्तु उस अच् का ग्रहण प्रवृत्तिभेद से गम् को भी विशेषित करने के लिए किया जाता है। अजन्त अंग को दीर्घ होता है, अजादेशभूत गम् को दीर्घ होता है। इङ् के स्थान पर जो गम् आदेश, उसको दीर्घ होता है—यह नहीं कहना पड़ेगा।

(3018) तनोतेर्विभाषा *17* (2622)

तनोतेरङ्गस्य सनि झलादौ विभाषा दीर्घो भवति। तितांसति। तितंसति। झलीत्येव–तितनिषति। 'सनीवन्तर्ध०' (7.2.49) इत्यत्र तनोतेरुपसंख्यानादिडागमो भवति विकल्पेन।

अर्थ—झलादि सन् प्रत्यय परे रहते तन् धातु के अंगसंज्ञक शब्द की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है।

उदा० (1) तितांसति
तन् सन् → तन् तन् स—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
ति तान् स—दीर्घ, सन्यतः, अनुस्वार,
तितांसति—लकारकार्य।

(2) तितंसति
पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ।

झलीत्ये०—झलादि सन् परे रहते पाक्षिक दीर्घ होता है।

(3) तितनिषति
तन् इट् सन्—इट् पक्ष में झलादि सन् न रहने से दीर्घ नहीं हुआ,
तितन् इ स—षत्व, लकारकार्य।

(3019) क्रमश्च क्त्वि *18* (3329)

क्रम उपधाया विभाषा दीर्घो भवति क्त्वाप्रत्यये झलादौ परतः। क्रन्त्वा, क्रान्त्वा। झलीत्येव–क्रमित्वा। प्रक्रम्य, उपक्रम्येति बहिरङ्गोऽपि ल्यबादेशः 'अन्तरङ्गानपि विधीन्बाधते' इति पूर्वमेव, दीर्घत्वं न प्रवर्त्तते।

अर्थ—झलादि क्त्वा प्रत्यय परे रहते क्रम् अंगसंज्ञक की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है।

उदा० (1) क्रान्त्वा
क्रम् क्त्वा—'अनुनासिकस्य क्विझलोः' से नित्य दीर्घ, प्रकृत सूत्र से पाक्षिक हुआ।

(2) क्रन्त्वा
पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ।

झलीत्येव०—झलादि क्त्वा परे रहते ही दीर्घ होता है।

(3) क्रमित्वा
क्रम् इ त्वा—'उदितो वा' से पाक्षिक इट् हुआ, झलादि क्त्वा न रहने से दीर्घ नहीं हुआ।

(4) प्रक्रम्य
प्र क्रम् क्त्वा—पाक्षिक दीर्घ तथा ल्यप्—इन दोनों की युगपत् प्राप्ति हुई, बहिरंग होने पर भी प्रथम ल्यप् हुआ,
प्रक्रम्य—दीर्घ भी नहीं हुआ।

(5) उपक्रम्य (पूर्ववत्)।

बहिरङ्गोऽपि—उपर्युक्त स्थलों पर बहिरंग होने पर भी ल्यप् होता है। अंतरंग विधियों का भी बाध होता है—यह परिभाषा पूर्व में कही जा चुकी है। 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति०' सूत्र से यह ज्ञापित होता है।

(3020) च्छ्वोः शूडनुनासिके च *19* (2561)

'छ' इत्येतस्य सतुक्कस्य, वकारस्य च स्थाने यथासंख्यं श, ऊठ्–इत्येतावादेशौ भवतः, अनुनासिकादौ प्रत्यये परतः क्वौ झलादौ च क्ङिति। प्रश्नः। विश्नः। अन्तरङ्गत्वात् 'छे च' (6.1.73) इति तुकि कृते सतुक्कस्य शादेशः। वकारस्य ऊठ्–स्योनः। सिवेरौणादिके नप्रत्यये (उ०सू० 289) लघूपधगुणात् पूर्वमुठ् क्रियते, तत्र कृतेऽन्तरङ्गत्वाद् यणादेशो नानाश्रयत्वाच्च न 'वार्णादङ्गं बलीयो' (व्या०प० 39) भवति। क्वौ छस्य–शब्दप्राट्। 'क्विब्वचि' (उ०सू० 215) इत्यादिनौणादिकः क्विप्, दीर्घश्च। गोविट्। वकारस्य–अक्षद्यूः। हिरण्यष्ठ्यूः। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (व्या०प०) इति 'नाजानन्तर्ये' (व्या०प०) इति प्रतिषिध्यते। झलादौ छस्य पृष्टः। पृष्टवान्। पृष्ट्वा। वकारस्य–द्यूतः। द्यूतवान्। द्यूत्वा। क्ङितीत्येव–द्युभ्याम्। द्युभिः। केचिदत्र 'क्ङिति' इति नानुवर्त्तयन्ति। कथं द्युभ्याम्, द्युभिरिति, ऊठि कृते ? 'दिव उत्' (6.1.131) इति तपरत्वान्मात्राकालो भविष्यति। 'छशां षः' (8.2.36) इत्यत्र छग्रहणं न कर्त्तव्यम्। अनेनैव हि सर्वत्र शकारो विधीयते। ऊठच्छित्करणम् 'एत्येधत्यूठ्सु' (6.1.189) इति विशेषणार्थम्। 'वाह ऊठ्' (6.4.132) इत्ययमपि ठिदेव।

अर्थ—तुक् सहित छकार तथा वकार के स्थान पर यथासंख्य 'श्' तथा 'ऊठ्' आदेश होते हैं, अनुनासिकादि प्रत्यय, क्वि प्रत्यय तथा झलादि कित्–ङित् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (क) छकारस्य शः—

(1) प्रश्नः
प्रच्छ् नङ् → प्रश् न—यजयाचयत०, शकार हुआ,
प्रश्न सु—विभक्तिकार्य।

(2) विश्नः
विच्छ् न → विश्न सु।
अन्तरंग होने से 'छे च' से विहित तुक् सहित 'च्छ' के स्थान पर 'श्' आदेश होता है।

(ख) वकारस्य ऊठ्—

(3) स्योनः
सिव् न → सि ऊठ् न—यणादेश,
स्यू न—आर्धधातुक गुण तथा सु।

सिवेरौ०—सिव् धातु से औणादिक (उणा० 3.9.) नप्रत्यय करने पर लघूपधगुण से पूर्व ऊठ् आदेश किया जाता है। तब 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा से गुणादेश के बलवान् होने पर भी अन्तरंग होने से यण् होता है।

(ग) छस्य शः क्वौ—

(4) शब्दप्राट्
शब्दं पृच्छति—क्विब्वचिप्रच्छ्याय० (वा०) से क्विप् हुआ,
शब्द प्राच्छ्—सर्वापहार लोप,
शब्द प्राश् सु—प्रत्ययलक्षण से 'श्' हुआ, हल्ङ्यादि लोप,
शब्दप्राट्—व्रश्चभ्रस्ज०, झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने।

(5) गोविट्
गां विच्छति—पूर्ववत् क्विप् आदि। 'क्विप् च'।

(घ) वकारस्य क्वौ—

(6) अक्षद्यूः
अक्ष दिव् क्विप्—सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षण से ऊठ्,
अक्ष दि ऊ सु—यणादेश।

(7) हिरण्यष्ठ्यूः
हिरण्य ष्ठिव् क्विप्—सर्वापहार लोप, ऊठ्,
हिरण्य ष्ठि ऊ सु—यणादेश।

असिद्धं०—'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा से यणादेश नहीं होना चाहिए। 'नाजानन्तर्ये' से इसका प्रतिषेध होता है।

(ङ) छस्य झलादौ—

(8) पृष्टः
प्रच्छ् क्त—ग्रहिज्यावयि० से सम्प्रसारण,
पृच्छ् त—'श' आदेश,
पृश् त → पृष् त—व्रश्चभ्रस्ज०,
पृष् त सु—ष्टुना ष्टुः।

(9) पृष्टवान्
प्रच्छ् क्तवतु—पूर्ववत्।

(10) पृष्ट्वा
प्रच्छ् क्त्वा—पृच्छ् त्वा—
पृष्ट्वा सु—पूर्ववत् 'श्' आदि।

(च) वकारस्य झलादौ—

(11) द्यूतः
दिव् क्त → दि ऊ त—'ऊठ्' आदेश,
द्यू स्—यण् सु।

(12) द्यूतवान्
दिव् क्तवतु—पूर्ववत्।

(13) द्यूत्वा
दिव् क्त्वा—पूर्ववत्।

क्ङिती०—कित् व ङित् प्रत्यय परे रहते ही पूर्वोक्त आदेश होते हैं।

(14) द्युभ्याम्
दिव् भ्याम्—दिव उत्, झलादि है परन्तु न तो कित् है और न ही ङित् है,
दि उ भ्याम्—यण्।

(15) द्युभिः (पूर्ववत्)।

केचिद०—कुछ विद्वान् यहाँ 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन नहीं करते।

(शंका) ऐसा मानने पर ऊठ् प्राप्त होता है। तब 'द्युभ्याम्' आदि रूप नहीं बन सकेंगे।

(समा०) 'दिव उत्' में 'उत्' इस प्रकार तपरकरण से ज्ञापित होता है कि यहाँ एक मात्रा काला वाला उकार ही हो; द्विमात्रा काला वाला (ऊ) कभी न हो।

छशां षः—'व्रश्चभ्रस्ज०' सूत्र में 'छशां षः' में 'छ' की आवश्यकता नहीं है। कारण कि प्रकृत सूत्र के द्वारा सर्वत्र 'श्' हो जायेगा।

ऊठ्०—'एत्येधत्यूठ्सु' को विशेषित करने के लिए ऊठ् को ठित् किया गया है। 'वाह ऊठ्' यहाँ भी ठित् ही है।

(3021) ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च *20* (2654)

ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव–इत्येतेषामङ्गानां वकारस्य उपधायाश्च स्थाने ऊडित्ययमादेशो भवति क्वौ परतोऽनुनासिके झलादौ च क्ङिति। जूः, जूरौ, जूरः। जूर्त्तिः। त्वर–तूः, तूरौ, तूरः। तूर्त्तिः। स्रिवि–स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः। स्रूतः। स्रूतवान्। स्रूतिः। अव्–ऊः, उवौ, उवः। ऊतिः। मव–मूः, मुवौ, मुवः। मूतः। मूतवान्। मूतिः। ज्वरत्वरोरुपधा वकारात् परा, स्रिव्यवमवां पूर्वा।

अर्थ—ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव् तथा मव्—इनके अंग की जो उपधा व वकार—उन दोनों के स्थान पर ऊठ् आदेश होता है, अनुनासिकादि प्रत्यय, क्वि प्रत्यय तथा झलादि कित् व ङित् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) जूः
ज्वर् क्विप्—सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा०),
ज्वर्—सर्वापहार लोप,
ज् ऊठ् र्—उपधा अकार तथा वकार दोनों के स्थान पर ऊठ्,
जूर् सु—हल्ङ्यादिलोप।

(2) जूरौ
जूर् औ—पूर्ववत्।

(3) जूरः
जस्—पूर्ववत्।

(4) जूर्त्तिः
ज्वर् क्तिन्—झलादि कित्,
जूर् ति सु—अचो रहाभ्यां द्वे।

(5) तूः
त्वर् क्विप्—पूर्ववत्।

(6) तूरौ
'जूरौ' की तरह।

(7) तूरः
'जूरः' की तरह।

(8) तूर्त्तिः
'जूर्त्तिः' की तरह।

(9) स्रूः
स्रिव् क्विप्—पूर्ववत्।

(10) स्रुवौ
पूर्ववत्। उवङ् आदेश।

(11) स्रुवः
स्रिव् क्विप्—पूर्ववत् जस्।

(12) स्रूतः
स्रू क्त—पूर्ववत्।

(13) स्रूतवान्
क्तवतु—पूर्ववत्।

(14) स्रूतिः
क्तिन्—पूर्ववत्।

(15) ओम्
अव् मन्—'अवतेष्टिलोपश्च' (उणा० 1.139);
अव् म्—प्रत्यय की टि का लोप,
ऊम्—अकार व वकार-दोनों के स्थान पर 'ऊठ्,'
ओम् सु—आर्धधातुक गुण, हल्ङ्यादि लोप।

(16) ऊः
अव् क्विप्—ऊ सु।

(17) उवौ
ऊ—पूर्ववत्,
ऊ औ—उवङ् आदेश।

(18) उवः
जस्, उवङ्।

(19) ऊतिः
अव् क्तिन् → ऊति—पूर्ववत्।

(20) मूः
मव् क्विप् → मू सु।

(21) मुवौ
उवङ्।

(22) मुवः
उवङ्।

(23) मूतः
मव् क्त → म् ऊठ् त सु।

(24) मूतवान्
क्तवतु, पूर्ववत्।

(25) मूर्तिः
मव् क्तिन्—पूर्ववत्।

ज्वर् तथा त्वर् में उपधा वकार से पर है तथा स्रिव, अव् व मव् में उपधा वकार से पूर्व है।

(3022) राल्लोपः *21* (2655)

रेफादुत्तरयोश्छ्वोर्लोपो भवति क्वौ परतो झलादौ क्ङिति च परतः। मुर्छा–मूः, मुरौ, मुरः। मूर्त्तः। मूर्त्तवान्। मूर्त्तिः। 'न ध्याख्यापॄमूर्छिमदाम्' (8.2.58) इति निष्ठानत्वाभावः। हुर्छा–हूः, हूरौ, हुरः। हूर्णः। हूर्णवान्। हूर्त्तिः। राल्लोपे सतुक्कस्य छस्याभावात् केवलो गृह्यते। वकारस्य–'तुर्वी'–तूः, तुरौ, तुरः। तूर्णः। तूर्णवान्। तूर्त्तिः। 'धुर्वी'–धूः। धुरौ। धुरः। धूर्णः। धूर्णवान्। धूर्त्तिः।

अर्थ—क्विप्रत्यय तथा झलादि कित् व ङित् प्रत्यय परे रहते रेफ से उत्तर छकार व वकार का लोप होता है।

उदा० (क) क्वौ छस्य लोपः—

(1) मूः
मुर्छ् क्विप्—सर्वापहार लोप,
मुर्छ्—प्रत्ययलक्षण से छकार का लोप,
मुर् औ—सुलोप, दीर्घ।

(2) मुरौ
मुर्छ् क्विप् → मुर्—पूर्ववत्,
मुर् औ।

(3) मुरः
जस्। शेष पूर्ववत्।

(ख) झलादौ किति—

(4) मूर्त्तः
मुर् त—पूर्ववत्, अचो रहाभ्यां द्वे, सु।

(5) मूर्त्तवान्
क्तवतु, पूर्ववत्।

(6) मूर्त्तिः
क्तिन्, पूर्ववत्।

'न ध्याख्यापॄ०' से निष्ठा को नकार आदेश का अभाव होता है।

(7) हूः
हुर्छ् क्विप्—हुर् सु।

(8) हुरौ
हुर्—पूर्ववत् औ।

(9) हुरः
हुर् जस्।

(10) हूर्णः
हुर् त—पूर्ववत्।
हूर् ण सु—नत्व, णत्व।

(11) हूर्णवान्
हुर्छ् क्तवतु—पूर्ववत्।

(12) हूर्त्तिः
हुर्छ् क्तिन्—पूर्ववत्।

राल्लोपे०—'र्' से उत्तर लोप में तुक् सहित छकार सम्भव नहीं है। अतः केवल 'छ्' का ही यहाँ ग्रहण होता है।

(ग) क्वौ वकारस्य—

(13) तूः
तुर्व् क्विप् → तुर्—सर्वापहारलोप, वकारलोप,
तुर् स्—विभक्तिकार्य।

(14) तुरौ
तुर् औ—पूर्ववत्।

(15) तुरः
जस्, पूर्ववत्।

(घ) झलादौ किति—

(16) तूर्णः
तुर्व् क्त—तुर् न—पूर्ववत् नत्व, णत्व।

(17) तूर्णवान्
'क्तवतु' में।

(18) तूर्त्तिः
तुर् ति—पूर्ववत्।

(19) धूः
धुर्व् क्विप्।

(20) धुरौ
धुर्व् → धुर् औ—पूर्ववत्।

(21) धुरः
धुर् जस्।

(22) धूर्णः
धुर्व् क्त—पूर्ववत्।

(23) धूर्णवान्
क्तवतु, पूर्ववत्।

(24) धूर्त्तिः
धुर्व् क्तिन्—पूर्ववत्।

(3023) असिद्धवदत्राभात् *22* (2183)

असिद्धवदित्ययमधिकारो यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम आ अध्यायपरिसमाप्तेस्तद् असिद्धवद्भवतीत्येवं वेदितव्यम्। आ भादिति विषयनिर्देशः। आभसंशब्दनाद् यदुच्यते तत्र कर्त्तव्ये। अत्रेति समानाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थम्। तच्चेदत्र यत्र भवति तदाभाद् शास्त्रीयं विधीयते तदाश्रयमेव भवति। व्याश्रयं तु नासिद्धवद्भवतीत्यर्थः। असिद्धवचनमुत्सर्ग-लक्षणभावार्थम्, आदेशलक्षणप्रतिषेधार्थं च (म०भा०)। एधि, शाधीत्यत्र एत्वशाभावयोः कृतयोर्झल्लक्षणं धित्वं न प्राप्नोति, असिद्धत्वाद्भवति। आगहि, जहीत्यत्रानुनासिक-लोपे जभावे च 'अतो हेः' (6.4.105) इति लुक् प्राप्नोति, असिद्धत्वान्न भवति। आ भादिति किम्? अभाजि। रागः। 'अत उपधायाः' (7.2.116) इति वृद्धौ कर्त्तव्यायां नलोपो नासिद्धो भवति। अत्रग्रहणं किम्? पपुषः पश्य। चिच्युषः पश्य। लुलुवुषः पश्य। वसुसम्प्रसारणमाल्लोपे यणादेशे उवङादेशे च कर्त्तव्ये नासिद्धं भवति। आल्लो-पादीनि वसौ, वस्वन्तस्य विभक्तौ सम्प्रसारणमिति समा-नाश्रयत्वं नास्ति। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (व्या०प०) इति? एतदप्यत्र न भवति, किं कारणम्? एषा हि परि-भाषा आ भाच्छास्त्रीया, तस्यां प्रवर्तमानायां वसुसम्प्रसारणा-दीनामाभाच्छास्त्रीयाणामेवासिद्धत्वादन्तरङ्गबहिरङ्गयोः युग-पत्समुपस्थानं नास्तीति परिभाषा न प्रवर्तते। *वुग्युटा-वुवङ्यणोः सिद्धौ भवत इति वक्तव्यम्* (का०वा०)। वुग् उवङादेशे-बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। युट् यणादेशे-उपदिदीये, उपदिदीयाते, उपदिदीयिरे। आ भादित्ययम-भिविधावाङ्। तेन भाधिकारेऽप्यसिद्धवद्भवति।

अर्थ—'असिद्धवत्' यह अधिकार है। यहाँ से आगे अध्याय की समाप्तिपर्यन्त जो भी कहा जायेगा, वह असिद्ध के समान होता है—ऐसा अधिकार जानना चाहिए। 'आ भात्' इसके द्वारा विषय का निर्देश है। 'आ भा' के द्वारा जो किया जाना है, उसके करने में यह असिद्धभाव जानना चाहिए।

विशेष—प्रकृत सूत्र से लेकर 'भस्य' (6.4.129) अधिकार की समाप्तिपर्यन्त होने वाले कार्य को आभीय कार्य कहते हैं। 'आभात्' पद में अभिविधि अर्थ में 'आङ्' का प्रयोग है।

अत्र०—'अत्र' का ग्रहण समानाश्रयत्व के द्योतन के लिए है। वह कार्य (जिसका असिद्धभाव करना है) यदि यहाँ-वहाँ होता है, वह आभात् शास्त्रीय कार्य का विधान किया जाता है, उसी को मानकर असिद्धभाव होता है; अन्य को आश्रय मानकर (असिद्धभाव) नहीं होता। आश्रय का अर्थ है—निमित्त।

भाव०—भाव यह है कि एक ही निमित्त है जिनका, उन्हें समानाश्रय कहते हैं। किसी निमित्त को लेकर यदि कोई आभीय कार्य हो चुका हो तो पुनः उसी निमित्त को लेकर होने वाले अन्य आभीय कार्य की दृष्टि में प्रथम आभीय कार्य असिद्ध होता है।

असिद्ध०—असिद्धभाव उत्सर्गलक्षण अर्थात् सामान्य शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए तथा आदेशलक्षण के निषेध के लिए होता है।

उदा० (1) एधि
अस् लोट्—म०पु० एकवचन,
अस् सि—शप्, शप् का लुक्,
अस् हि—सेर्ह्यपिच्च,
स् हि—श्नसोरल्लोपः,
ए हि—घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च, 'झल्' न होने से 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' की प्रवृत्ति नहीं हुई,
एधि—परन्तु 'हुझल्भ्यो०' की दृष्टि में एत्वरूप कार्य असिद्ध है, इसकी दृष्टि में 'स्' अर्थात् झल् ही है। अतः 'धि' हो गया है।

(2) शाधि
शास् हि—म०पु० एकवचन, 'हि' आदेश,
शाधि—शा हौ, शेष पूर्ववत्।

(3) आगहि
आ गम् हि—पूर्ववत् 'हि' आदेश, 'बहुलं छन्दसि' से शप् का लुक्,
आग हि—अनुदात्तोपदेश० मकार का लोप, 'अतो हेः' से 'हि' का लुक् प्राप्त हुआ, परन्तु मकारलोप के असिद्ध होने से लुक् नहीं हुआ।

(4) जहि
हन् सिप्—लोट्,
ज हि—'हि' आदेश, हन्तेर्जः, पूर्ववत् प्राप्त हिलुक् की प्राप्ति नहीं हुई।

आभात्०—'**भस्य**' अधिकारपर्यन्त ही पूर्वोक्त असिद्धभाव होता है।

(5) अभाजि
भञ्ज् चिण् त—लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणि' से नकारलोप,
अट् भज् इ—अट्, अत उपधायाः से वृद्धि हो गई है; कारण कि नकारलोप वृद्धिकार्य के प्रति असिद्ध नहीं है,
अ भाज् इ—वृद्धि हो गई है।

(6) रागः
रञ्ज् घञ्—'रञ्जेश्च' से नकारलोप,
राग् अ सु—नकारलोप के असिद्ध न होने से उपधावृद्धि होती है।

अत्र ग्रहण०—समानाश्रयत्व के द्योतन के लिए 'अत्र' का ग्रहण है।

(7) पपुषः
पा क्वसु—द्वित्व, 'वसोः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण,
प पा उस्—'आतो लोप इटि च' से आकारलोप व सम्प्रसारण—इन दोनों का समानाश्रय न होने से सम्प्रसारण आकारलोप के प्रति असिद्ध नहीं हुआ,
प प् उस्—आकारलोप,
पपुष् जस्—षत्व।

(8) चिच्युषः
पूर्ववत् यणादेश के प्रति सम्प्रसारण असिद्धवत् नहीं होता है।

(9) लुलुवुषः
लू क्वसु—पूर्ववत् द्वित्व, सम्प्रसारण,
लु लू उस्—उवङ् के प्रति सम्प्रसारण के असिद्धवत् न रहने से उवङ् हुआ,
लुलुवुस् जस्—पूर्ववत्।

आल्लोपा०—(वस् का सम्प्रसारण—आलोप, यणादेश तथा उवङादेश के करने के प्रसंग में असिद्ध नहीं होता है)। आलोप आदि कार्य तो वसु के परे रहते होते हैं; लेकिन सम्प्रसारण-विधि विभक्ति के परे रहते होती है। दोनों कार्यों का समान आश्रय नहीं होता।

अन्तरंग की कर्त्तव्यता में बहिरंग असिद्ध होता है—यह परिभाषा यहाँ लागू नहीं होती। कारण कि यह परिभाषा तो आभीय शास्त्र के अन्तर्गत है। इस परिभाषा की प्रवृत्ति होने में सम्प्रसारण आदि आभीय शास्त्रीय कार्यों के असिद्ध हो जाने से अन्तरंग व बहिरंग की एक साथ उपस्थिति नहीं होती है। अतः यह परिभाषा लागू नहीं होती।

वुग्युटावुव०—उवङ् तथा यण् की कर्त्तव्यता में यथासंख्य वुक् और युट् सिद्ध होते हैं।

(क) उवङादेशे वुक्—

(10) बभूव
भू णल्—लिट्, तिप्, णल्,
भू व् अ—'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' (6.4.88), द्वित्व, हलादि शेष,
भू भूव् अ—ह्रस्वः, अभ्यासे चर्चः, भवतेरः,
बभूव् अ—'असिद्धवदत्राभात्' से 'वुक्' आगम असिद्ध है; परन्तु प्रकृत वार्तिक के द्वारा उवङ् की कर्त्तव्यता में सिद्ध है,
बभूव—अचि श्नुधातु० से उवङ् नहीं हुआ।

(11) बभूवतुः
भू अतुस्—पूर्ववत्।

(12) बभूवुः (पूर्ववत्)।

(ख) यणादेशे युट्—

(13) उपदिदीये
उप दी त—लिट्, त,
उप दी एश्—लिटस्तझयोरेशि०,
उप दी दी य् ए—'दीङो युडचि' (6.4.63),
उप दि दी य् ए—द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'एरनेका०' (6.4.82) से प्राप्त यण् युट् के सिद्ध होने से नहीं होता है।

(14) उपदिदीयाते
उप दि दी य् आताम्—प्र०पु० द्विवचन,
उप दि दी याते—टि को एत्व।

(15) उपदिदीयिरे
प्र०पु० बहुवचन में पूर्ववत्।

आभादि०—'आभात्' यहाँ अभिविधि में 'आङ्' है। अतः भाधिकार में भी पूर्वोक्त असिद्धभाव होता है।

(3024) श्नान्नलोपः *23* (2544)

श्नादिति–श्नमयमुत्सृष्टमकारो गृह्यते, तत उत्तरस्य नका-

रस्य लोपो भवति। अनक्ति। भनक्ति। हिनस्ति। शकारवतो ग्रहणं किम्? यज्ञानाम्, यत्नानाम्-'सुपि च' (7.3.102) इति परत्वात् कृतेऽपि दीर्घत्वे स्थानिवद्भावान्नलोपः स्यादेव। विश्नानाम्, प्रश्नानामित्यत्र 'लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' (व्या०प०) इत्येवं न भवति।

अर्थ—'श्नात्' यहाँ मकाररहित 'श्नम्' का ग्रहण है। 'श्न' से उत्तर नकार का लोप होता है।

उदा० (1) अनक्ति
अञ्ज् तिप्—शप् को बाध कर श्नम्,
अ श्नम् ञ्ज् ति—अनुबन्धलोप,
अनज् ति—नकार (= ञकार) लोप,
अनक्ति—चोः कुः, खरि च।

(2) भनक्ति
भञ्ज् ति भ श्नम् ञ्ज् ति—पूर्ववत्,
भनक् ति—चोः कुः, खरि च।

(3) हिनस्ति
हिंसि ति—इदितो नुम् धातोः, तिप्,
हि श्नम् नुम् स् ति—शप् को बाध कर श्नम्,
हिनस्ति—नकारलोप।

शकार०—शकारविशिष्ट नकार का ग्रहण है, ताकि श्नम् से पर नकार का लोप होता है।

(4) यज्ञानाम्
यज् नङ्—यजयाचयत०,
यज्ञ आम्—नुट्, 'नामि' से दीर्घ,
यज्ञानाम्—दीर्घ होने पर भी स्थानिवद्भाव से नलोप प्रसक्त था; परन्तु श्नम् से उत्तर न होने से लोप नहीं होता है।

(5) यत्नानाम् (पूर्ववत्)।

विश्ना०—'श्नात्' में 'श्न' पद प्रतिपदोक्त है तथा 'श्नम्' का द्योतक है। अतः निम्नलिखित में नकारलोप नहीं होता है—

(6) विश्नानाम्
विच्छ् नङ् → विश्न आम्–
विश्नानाम्—यहाँ दीर्घ हुआ। स्थानिवद्भाव से 'श्न' से पर नकार का लोप प्राप्त हुआ; परन्तु 'विश्न' शब्द का 'श्न' लाक्षणिक अर्थात् सूत्र द्वारा निष्पन्न है। अतः इसका ग्रहण श्नम् के द्वारा नहीं होता है। तब लोप नहीं हुआ।

(3025) अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति *24* (415)

अनिदितामङ्गानां हलन्तानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति क्ङिति प्रत्यये परतः। स्रस्तः, ध्वस्तः। स्रस्यते, ध्वस्यते। सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते। अनिदितामिति किम्? नन्द्यते, नानन्द्यते। हल इति किम्? नीयते, नेनीयते। उपधाया इति किम्? नह्यते, नानह्यते। क्ङितीति किम्? स्रंसिता, ध्वंसिता। *अनिदितां नलोपे लङ्गिकम्प्योरुपतापशरीरविकारयोरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्* (का०वा०)। विलगितः। विकपितः। उपतापशरीरविकारयोरिति किम्? विलङ्गितः। विकम्पितः। *रञ्जेर्णौ मृगरमण उपसंख्यानं कर्त्तव्यम्* (का०वा०)। रजयति मृगान्। 'जनी-जॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' इति मित्त्वादुपधाह्रस्वत्वम्। मृगरमण इति किम्? रञ्जयति वस्त्राणि। *घिनुणि च रञ्जेरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्* (का०वा०)। रागो। 'त्यजरजभज' इति निपातनाद्वा सिद्धम्। *रजकरजनरजःसूपसंख्यानं कर्त्तव्यम्* (का०वा०)। रजकः। रजनम्। रजः।

अर्थ—जिनके इकार की इत्संज्ञा नहीं होती है, ऐसे हलन्त अंगसंज्ञक शब्द के उपधाभूत नकार का लोप होता है, कित् व ङित् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) स्रस्तः
स्रंस् क्त—कित् प्रत्यय परे रहते,
स्रस्त सु—नकारलोप।

(2) ध्वस्तः
ध्वंस् क्त—पूर्ववत्।

(3) स्रस्यते
स्रंस् यक् त—कर्मवाच्य; सार्वधातुके यक्,
स्रस्य त—नकारलोप।

(4) ध्वस्यते
ध्वंस् यक् त—पूर्ववत्।

(5) सनीस्रस्यते
स्रंस् यङ्—नकारलोप, सन्यङो, अभ्यासकार्य,
सनीस्रस्य—नीग्वञ्चु०, धातुसंज्ञा,
सनी स्रस्य शप् त—लकारकार्य।

(6) दनीध्वस्यते

ध्वंस् यङ्—पूर्ववत् नकारलोप, द्वित्व, अभ्यासकार्य,
दनीध्वस्यते—अभ्यासे चर्च, नीक्, लकारोत्पत्ति।

अनिदिता०—जिसका **इकार इत्संज्ञक नहीं है**, ऐसे हलन्त अंग की उपधा में नकार का लोप होता है।

(7) नन्द्यते
नदि → नन्द्—इदितो नुम् धातोः,
नन्द् यक् त—कित् परे है; परन्तु इकार की इत्संज्ञा होने से उपधाभूत नकार का लोप नहीं हुआ।

(8) नानन्द्यते
नदि → नन्द् यङ्—द्वित्व आदि, पूर्ववत् नकारलोप नहीं हुआ,
ना नन्द् य शप् त—लकारकार्य।

हल इति०—**हलन्त** की उपधाभूत नकार का लोप होता है।

(9) नीयते
नी यक् त—'नी' हलन्त नहीं है, अतः कित् 'क्त' परे रहते उपधाभूत नकार का लोप नहीं हुआ।

(10) नेनीयते
नी यङ् → नेनीय—ङित् (यङ्) परे रहते उपधाभूत नकार का लोप नहीं हुआ। 'नी' हलन्त नहीं है।
नेनीयते—धातुसंज्ञा, शप् आदि।

उपधाया०—**उपधाभूत** नकार का लोप होता है।

(11) नह्यते
नह् यक् त—कित् (यक्) परे है, 'नह्' हलन्त है; परन्तु नकार उपधा में नहीं है,
नह्यते—नकारलोप नहीं हुआ।

(12) नानह्यते
नह् यङ्—न नह् य—यङ्, द्वित्व,
नानह्य—धातुसंज्ञा, पूर्ववत् नकारलोप नहीं हुआ,
नानह्य शप् त—लकारकार्य।

क्ङिती०—**कित् व ङित्** परे रहते ही नकार का लोप होता है।

(13) स्रंसिता
स्रंस् इ तृच्—आर्धधातुक संज्ञा, वलादिक इट्, उपधाभूत नकार का लोप नहीं हुआ,
स्रंसितृ सु—विभक्तिकार्य।

(14) ध्वंसिता (पूर्ववत्)।

अनिदितां०—उपताप व शरीरविकार अर्थों में यथासंख्य लङ्ग् तथा कम्प् धातुओं के उपधाभूत नकार का लोप होता है।

(15) विलगितः
वि लङ्ग् क्त—इट्, नकारलोप,
विलग् इ त सु—सु हुआ।

(16) विकपितः
वि कम्प् क्त—पूर्ववत् नकारलोप, इट्, विभक्तिकार्य,
वि कप् इ त सु—विभक्तिकार्य।

उपताप०—**उपताप** तथा **शरीरविकार** अर्थों में ही पूर्वोक्त लोप होता है।

(17) विलङ्गितः
उपताप अर्थ न होने से नकारलोप नहीं हुआ।

(18) विकम्पितः
शरीरविकार गम्य न होने से नकारलोप नहीं हुआ।

रञ्जेर्णौ०—मृगरमण अर्थ में णि परे रहते रञ्ज् धातु के उपधाभूत नकार का लोप होता है।

(19) रजयति मृगान्
रञ्ज् णिच्—नकारलोप, 'अत उपधायाः' से उपधावृद्धि,
राज् इ—जनीजॄष्क्नसु० से उपधा ह्रस्व,
रजि शप् तिप्—धातुसंज्ञा, लकारकार्य।

मृगरम०—**मृगरमण** अर्थ में ही नकार का लोप होता है।

(20) रञ्जयति वस्त्राणि
मृगरमण अर्थ न होने से नकारलोप नहीं हुआ।

घिनुणि०—घिनुण् प्रत्यय परे रहते रञ्ज् के उपधाभूत नकार का लोप होता है-

(21) रागी
रञ्ज् घिनुण्—सम्पृचाऽनुरुचा०,
रज् इन् → रागिन्—विभक्तिकार्य।
अथवा 'त्यजरजभज०' इस प्रकार निपातन से नकारलोप सिद्ध है।

रजक०—रजक, रजन और रजस् में नकार का लोप होता है।

(22) रजकः
रञ्ज् ष्वुन्—शिल्पिनि ष्वुन्, नकारलोप,

रज् अक सु—युवोरनाकौ।

(23) रजनम्
रञ्ज् ल्युट्—नकारलोप,
रज् अन सु—अनादेश।

(24) रजः
रञ्ज् असुन्—सर्वधातुभ्योऽसुन्, नकारलोप,
रज् अस् सु—विभक्तिकार्य।

(3026) दंशसञ्जस्वञ्जां शपि *25* (2396)

दंश, सञ्ज, ष्वञ्ज-इत्येतेषामङ्गानां शपि परत उपधाया नकारस्य लोपो भवति। दशति। सजति। परिष्वजते।

अर्थ—शप् परे रहते दंश, सञ्ज और ष्वञ्ज—इन अंगसंज्ञक शब्दों के उपधाभूत नकार का लोप होता है।

उदा० (1) दशति
दंश् तिप्—शप् हुआ,
दश् अ ति—नकारलोप।

(2) सजति
सञ्ज् ति—शप्,
सज् शप् ति—पूर्ववत्।

(3) परिष्वजते
परि ष्वञ्ज् शप् त—नकारलोप,
परि ष्वज् अ ते—टि को एत्व।

(3027) रञ्जेश्च *26* (2397)

रञ्जेश्च शपि परत उपधाया नकारस्य लोपो भवति। रजति, रजतः, रजन्ति। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—शप् परे रहते रञ्ज् के अंगसंज्ञक के उपधाभूत नकार का लोप होता है।

उदा० (1) रजति
रञ्ज् शप् तिप्—नकारलोप,
रज् अ ति—अनुबन्धलोप।

(2) रजतः
रञ्ज् शप् तस्—पूर्ववत्।

(3) रजन्ति
रञ्ज् शप् झि—झोऽन्तः।
उत्तर शास्त्र के लिए पृथक् योग किया गया है।

(3028) घञि च भावकरणयोः *27* (3187)

भावकरणवाचिनि घञि परतो रञ्जेरुपधाया नकारस्य लोपो भवति। भावे-आश्चर्यो रागः। विचित्रो रागः। करणे-रज्यतेऽनेनेति रागः। भावकरणयोरिति किम्? रजन्ति तस्मिन्निति रङ्गः।

अर्थ—रञ्ज् के अंगसंज्ञक के उपधाभूत नकार का लोप होता है, भाव और करण अर्थों में विहित 'घञ्' प्रत्यय के परे रहते।

उदा० (क) भावे—

(1) रागः
रञ्ज् घञ्—भाव अर्थ में,
रज् अ → राग् अ—अत उपधायाः, 'चजोः कु०' से कुत्व,
राग सु—विभक्तिकार्य।

(ख) करणे—

(2) रागः
रज्यतेऽनेन—'हलश्च' से घञ् होकर रूप बनता है।

भावकरण०—भाव तथा करण अर्थों में विहित घञ् परे रहते नकार का लोप होता है।

(3) रङ्गः
रजन्ति तस्मिन्—अधिकरण अर्थ में घञ् हुआ, नकारलोप नहीं हुआ। अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्।

(3029) स्यदो जवे *28* (3188)

जवेऽभिधेये 'स्यदः' इति घञि निपात्यते। स्यन्देर्नलोपो वृद्ध्यभावश्च। इक्प्रकरणात् 'न धातुलोपः' (1.1.4) इति प्रतिषेधो नास्ति-गोस्यदः, अश्वस्यदः। जव इति किम्? तैलस्यन्दः। घृतस्यन्दः।

अर्थ—'जव' अर्थ में 'स्यद' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) गोस्यदः
गो स्यन्द् घञ्—नकारलोप, 'अत उपधायाः' से प्राप्त वृद्धि का अभाव,
गो स्यद् अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) अश्वस्यदः (पूर्ववत्)।

जव इति०—वेग अर्थ में ही 'स्यद' शब्द होता है।

(3) तैलस्यन्दः
तैल स्यन्द् अ—नकारलोप नहीं हुआ।

(4) घृतस्यन्दः (पूर्ववत्)।

(3030) अवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथाः *29* (3189)

अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ-इत्येते निपात्यन्ते। अवोद इति, उन्देरवपूर्वस्य घञि नलोपो निपात्यते। एध इति, इन्धेर्घञि नलोपो गुणश्च निपात्यते 'न धातुलोप आर्धधातुके' (1.1.4) इति हि प्रतिषेधः स्यात्। ओद्म इति, उन्देरौणादिके मन्प्रत्यये नलोपो गुणश्च निपात्यते। प्रश्रथ इति, प्रपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते। हिमश्रथ इति, हिमपूर्वस्य श्रन्थेर्घञ्येव निपातनम्।

अर्थ—अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ तथा हिमश्रथ—ये शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) अवोद
अव उन्द् घञ्—नकारलोप निपातन से होता है,
अव उद् अ सु—गुण एकादेश।

(2) एधः
इन्ध् घञ्— नकारलोप व गुण निपातन से होते हैं,
इध् अ → एध् अ सु। 'न धातुलोप आर्धधातुके' से निषेध प्राप्त है।

(3) ओद्मः
उन्द् मन्—'अर्तिस्तु०' (उ०सू० 1.137),
उद् म—नकारलोप तथा गुण निपातन से होते हैं,
ओद् म सु—विभक्तिकार्य।

(4) प्रश्रथः
प्र श्रन्थ् घञ्—नकारलोप व वृद्धि का अभाव निपातन से,
प्र श्रथ् अ सु—विभक्तिकार्य।

(5) हिमश्रथः
हिम श्रन्थ् घञ्—निपातन से नकारलोप,
हिम श्रथ् अ सु—निपातन से वृद्धि का अभाव।

प्रकृत सूत्र में 'श्रन्थ्' के लुप्तनकारक प्रयोग से सूचित होता है कि अष्टाध्यायी में अविहित कित्त्व पाणिनि को अन्यत्र भी अभीष्ट है।

न तो आचार्य पाणिनि ने तथा न ही वार्तिककार ने लिट् की कित् संज्ञा के प्रकरण में श्रन्थ ग्रन्थसन्दर्भे; दम्भु दम्भे तथा ष्वञ्ज परिष्वङ्गे के लिट् को कित्त्व-विधान किया है। पतञ्जलि के द्वारा 6.4.120 के भाष्य में 'देभतुः' प्रयोग का उल्लेख सूचित करता है कि पतञ्जलि 'दम्भ्' से परे लिट् कित् स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार 8.3.18 के भाष्य में 'परिषष्वजे' रूप के निर्देश से ज्ञापित होता है कि पतञ्जलि को संयोगान्त धातु से पर पाणिनि के द्वारा अविहित कित् अभिमत है।

(3031) नाञ्चेः पूजायाम् *30* (424)

अञ्चेः पूजायामर्थे नकारस्य लोपो न भवति। अञ्चिता अस्य गुरवः। अञ्चितमिव शिरो वहति। 'अञ्चेः पूजायाम्' (7.2.53) इति इडागमः। पूजायामिति किम्? उदक्तमुदकं कूपात्। उद्धृतमित्यर्थः। 'यस्य विभाषा' (7.2.15) इतीट्प्रतिषेधः।

अर्थ—पूजार्थक अञ्ज् धातु के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता है।

उदा० (1) अञ्चितः
अञ्च् क्त—'अञ्चेः पूजायाम्' आर्धधातुक इट्,
अञ्च् इ त सु—विभक्तिकार्य।
इसी प्रकार 'अञ्चितमिव शिरो वहति'।

पूजाया०—पूजार्थक अञ्च् धातु के नकारलोप का निषेध होता है। अञ्च् धातु के पूजा व गति—ये दो अर्थ होते हैं।

(2) उदक्तम् उदकं कूपात्
उद् अञ्ज् क्त—नकारलोप का निषेध नहीं हुआ,
उद् अक् त सु—कुत्व।

'यस्य विभाषा' से इट् का निषेध होता है।

(3032) क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः *31* (3321)

क्त्वाप्रत्यये परतः स्कन्द-स्यन्द-इत्येतयोर्नकारलोपो न भवति। स्कन्त्वा। स्यन्त्वा। इन्देरूदित्वात् (धा०पा० 761) पक्षे इडागमः (7.2.44) स्यन्दित्वा। तत्र यदा इडागमस्तदा 'न क्त्वा सेट्' (1.2.28) इति कित्त्व-प्रतिषेधादेव नलोपाभावः।

अर्थ—स्कन्द् और स्यन्द् अंगसंज्ञक के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता है, क्त्वा प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) स्कन्त्वा
स्कन्द् क्त्वा—प्राप्त नकारलोप का निषेध,
स्कन्त् त्वा सु—'झरो झरि सवर्णे' से तकारलोप।

(2) स्यन्त्वा (पूर्ववत्)।
(3) स्यन्दित्वा।

स्यन्दे०—'स्वरति' से पाक्षिक इट्। इट् पक्ष में 'न क्त्वा सेट्' से क्त्वा के अकित् होने से नलोप का अभाव होता है।

(3033) जान्तनशां विभाषा *32* (3330)

जान्तानामङ्गानां नशेश्च क्त्वाप्रत्यये परतो विभाषा नकारलोपो न भवति। रङ्क्त्वा, रक्त्वा। भङ्क्त्वा, भक्त्वा। नशः-नष्ट्वा, नंष्ट्वा। इट्पक्षे-नशित्वा।

अर्थ—जकारान्त अंगसंज्ञक व नश् अंगसंज्ञक के उपधाभूत नकार का विकल्प से निषेध होता है, क्त्वा प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) रङ्क्त्वा
रञ्ज् क्त्वा—नकारलोप का निषेध, चो कुः, खरि च,
र न् क् त्वा—अनुस्वार, परसवर्ण, सु।

(2) रक्त्वा
रज् त्वा—पक्ष में नकारलोप हुआ।

(3) भङ्क्त्वा
भञ्ज् क्त्वा—नकारलोप का निषेध।

(4) भक्त्वा
नकारलोप हुआ।

(5) नंष्ट्वा
नश् क्त्वा—'मस्जिनशोर्झलि' से नुम्,
न नुम् श् त्वा—नकारलोप का निषेध, अनुस्वार,
नंष् त्वा सु—व्रश्चभ्र०, ष्टुत्व।

(6) नष्ट्वा
पक्ष में नकारलोप हुआ, शेष कार्य पूर्ववत्।

(7) नशित्वा
इट् पक्षे नुम् नहीं हुआ।

(3034) भञ्जेश्च चिणि *33* (2764)

भञ्जेश्च चिणि परतो विभाषा नकारलोपो भवति। अभाजि, अभञ्जि। अप्राप्तोऽयं नलोपः पक्षे विधीयते, ततो नेति नानुवर्तते।

अर्थ—भञ्ज् अंगसंज्ञक के उपधाभूत नकार का विकल्प से लोप होता है, चिण् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) अभाजि

भञ्ज् त—लुङ्, च्लि, चिण्,
भञ्ज् चिण् त—नकारलोप,
अट् भाज् इत—अत उपधायाः, अट्,
अभाजि—चिणो लुक्।

(2) अभञ्जि
अ भञ्ज् इ त—नकारलोप का निषेध, शेष कार्य पूर्ववत्।

अप्राप्तो०—अप्राप्त नकारलोप का पक्ष में विधान किया जाता है। अतः 'न' का अनुवर्त्तन नहीं होता है।

(3035) शास इदङ्हलोः *34* (2486)

शास उपधाया इकारादेशो भवति अङि परतो हलादौ च क्ङिति। अन्वशिषत्, अन्वशिषताम्, अन्वशिषन्। हलादौ किति-शिष्टः। शिष्टवान्। ङिति-आवां शिष्वः। वयं शिष्मः। इत्त्वे कृते 'शासिवसिघसीनां च' (8.3.60) इति षत्वम्। अङ्हलोरिति किम्? शासति। शशासतुः, शशासुः। *क्वौ च शास इत्वं भवतीति वक्तव्यम्* (म०भा०)। आर्यान् शास्तीति आर्यशीः। मित्रशीः। यस्मात् शासेरङ् विहितः 'शासु अनुशिष्टौ' (धा०पा० 1076) इति, तस्यैवेदं ग्रहणमिष्यते। 'आङ् शासु इच्छायाम्' (धा०पा० 1023) इत्यस्य न भवति-आशास्ते, आशास्यमानः। *क्विप्प्रत्यये तु तस्यापि भवतीति वक्तव्यम्* (म०भा०)। आशीः, आशिषौ, आशिषः। 'क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्' (8.2.104) इति निपातनाद्वा सिद्धम्।

अर्थ—शास् अंगसंज्ञक के उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होता है, अङ् व हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (क) अङि—

(1) अन्वशिषत्
शास् च्लि त्—लुङ्, तिप्, इतश्च, च्लि,
शास् अङ् त्—च्लि को अङ्, सर्त्तिशास्त्यर्त्ति०,
अट् शिस् अ त्—उपधा को इकार, अट्,
अन्वशिषत्—षत्व।

(2) अन्वसिषताम्
प्र०पु० द्विवचन, पूर्ववत्।

(3) अन्वशिषन्
झि, झोऽन्तः, इतश्च, संयोगान्तलोप, शेष कार्य पूर्ववत्।

(ख) हलादौ किति—

(4) शिष्टः

शास् क्त—कित् हलादि परे रहते,
शिष् त—इकार, षत्व,
शिष् त सु—ष्टुत्व।

(5) शिष्टवान्

क्तवतु, पूर्ववत्।

(ग) हलादौ ङिति—

(6) शिष्वः (आवाम्)

शास् वस्—लट्, सार्वधातुकमपित्,
शिस् वस्—इकार,
शिष्वस्—षत्व।

(7) शिष्मः (वयम्)—पूर्ववत्।

अङ्ग०—अङ्ग व हलादि कित् ङित् परे रहते इकार होता है।

(8) शासति

शास् झि—लट्, झि, शप् का लुक्, जक्षित्यादयः षट्, अदभ्यस्तात्,
शास् अति—उपधा को इकार नहीं हुआ।

(9) शशासतुः

शास् अतुस्—लिट्, द्वित्व, अतुस् कित् है; परन्तु हलादि नहीं है, इकार नहीं हुआ।

(10) शशासुः

लिट्, झि, उस् आदेश, पूर्ववत्।

क्वौ च०—क्वि प्रत्यय परे रहते शास् की उपधा को इकार होता है।

(11) आर्यशीः

आर्यान् शास्ति—क्विप् हुआ, सर्वापहार लोप, इकार,
आर्य शिस् सु—हल्ङ्यादि लोप,
आर्यशीस्—सकार को रुत्व, र्वोरुपधाया०।

(12) मित्रशीः (पूर्ववत्)।

यस्मात्०—जिस शास् धातु (शासु अनुशिष्टौ) से सर्त्ति-शास्त्यर्त्ति० के द्वारा अङ् विहित है, उसकी का यहाँ ग्रहण है। 'आङः शासु इच्छायाम्' इसका ग्रहण नहीं है।

(13) आशास्ते

आ शास् त—हलादि ङित् परे है, परन्तु उपधा को इकार नहीं होता है।

(14) आशास्यमानः

आ शास् यक् शानच्—हलादि कित् परे है, परन्तु उपधा को इकार नहीं होता है,
आशास्य म् आन सु—आने मुक्, सु।

क्विप्०—क्विप्रत्यय परे रहते 'शासु इच्छायाम्' धातु की उपधा को भी इकार होता है।

(15) आशीः

आ शास् क्विप्—सर्वापहार लोप, इकार हुआ,
आ शिस् सु—सुलोप, दीर्घ।

(16) आशिषौ

आशिस्—पूर्ववत्,
आशिस् औ—षत्व।

(17) आशिषः

जस्, पूर्ववत्।

क्षिया०—अथवा 'क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्' से निपातन से यहाँ शास् की उपधा को इकार सिद्ध है।

(3036) शा हौ *35* (2487)

शासो हौ परतः 'शा' इत्ययमादेशो भवति। अनुशाधि। प्रशाधि। 'उपधायाः' इति निवृत्तम्, ततः 'शासः' इति स्थानेयोगा (1.1.49) षष्ठी भवति। 'क्ङिति' इत्येतदपि निवृत्तम्। तेन यदा 'वा छन्दसि' (3.4.88) इति पित्त्वं हिशब्दस्य, तदाप्यादेशो भवत्येव। शाधीत्याद्युदात्तमपि छन्दसि दृश्यते।

अर्थ—'हि' परे रहते शास् अंग को 'शा' आदेश होता है।

उदा० (1) अनुशाधि

अनु शास् सिप्—लट्, हि आदेश,
अनु शा हि—असिद्धवदत्राभात्,
अनुशाधि—हुझल्भ्यो हेर्धिः।

(2) प्रशाधि

प्र शास् हि—पूर्ववत्।

'उपधायाः'—'उपधायाः' अधिकार की निवृत्ति हो गई है। अतः 'शासः' में स्थानेयोगा षष्ठी होती है।

'क्ङिति'—'क्ङिति' अधिकार की निवृत्ति हो गई है। जहाँ

'वा छन्दसि' से 'हि' प्रत्यय पिद्वत् होता है, तब भी आदेश होता है। 'शाधि' यह वेद में आद्युदात्त भी उपलब्ध होता है।

(3037) हन्तेर्जः *36* (2431)

हन्तेर्धातोर्ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः। जहि शत्रून्।

अर्थ—'हन्' के स्थान पर 'ज' आदेश होता है, 'हि' प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) जहि
हन् हि—लोट्, सि, शप् लुक्, हि,
जहि—'ज' आदेश।

(3038) अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति *37* (2428)

(अनुनासिकान्तानाम्) अनुदात्तोपदेशानामङ्गानां वनतेस्तनोत्यादीनां चानुनासिकलोपो भवति झलादौ क्ङिति प्रत्यये परतः। यमु–यत्वा। यतः। यतवान्। यतिः। रमु–रत्वा। रतः। रतवान्। रतिः। अनुदात्तोपदेशा अनुनासिकान्ता यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयः। वनति–वतिः। क्तिनि रूपमेतत्। क्तिचि तु 'न क्तिचि दीर्घश्च' (6.4.39) इति भवति। अन्यत्र झलादाविटा भवितव्यम्। तनोत्यादयः–ततः। ततवान्। सनोतेरात्वं वक्ष्यति। क्षणु–क्षतः। क्षतवान्। ऋणु–ऋतः। ऋतवान्। तृणु–तृतः। तृतवान्। घृणु–घृतः। घृतवान्। वनु–वतः। वतवान्। मनु–मतः। मतवान्। ङिति–अतत। अतथाः। अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामिति किम्? शान्तः। शान्तवान्। तान्तः। तान्तवान्। दान्तः। दान्तवान्। अनुनासिकस्येति किम्? पक्वः। पक्ववान्। झलीति किम्? गम्यते। रम्यते। क्ङितीति किम्? यन्ता। यन्तव्यम्। उपदेशग्रहणं किम्? इह च यथा स्यात्–गतिः। इह च मा भूत्–शान्तः, शान्तवानिति।

अर्थ—झलादि कित् ङित् परे रहते अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातु, वन् धातु और अनुनासिकान्त तनोत्यादि धातु—इन अंगों का लोप होता है।

अनुनासिक 6:3 (लुप्तषष्ठ्यन्तरूपम्) पद अनुदात्तोपदेश, वन् तथा तनादि सभी का विशेषण है; परन्तु वन् धातु स्वतः अनुनासिकान्त है; अतः अर्थ में इसका विशेषण नहीं बनाया गया है।

अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा अंग के अन्त्य अर्थात् अनुनासिक वर्ण का लोप होता है।

अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातु छः हैं—

यम्, रम्, नम्, गम्, हन्, मन् (दिवादि-गणी)।

वन् (भ्वादि-गणी) के अर्थ इस प्रकार हैं—

(क) शब्द करना,
(ख) सेवा करना,
(ग) हिंसा करना।

वनु याचने धातु का तनोत्यादि में भी पाठ उपलब्ध है। इसका ग्रहण तनादित्वेन स्वतः गृहीत है। अतः सूत्रपठित 'वन्' के द्वारा भ्वादिगणी 'वन्' का ही ग्रहण होता है। अनुनासिकान्त तनादिगण पठित आठ धातु हैं—तन्, क्षण्, क्षिण्, ऋण्, तृण्, घृण्, वन्, मन्।

तनादि गण में षण् धातु का भी अनुनासिकान्त पाठ प्राप्त होता है; परन्तु 'जनसनखनां सञ्झलोः' के द्वारा उसमें आत्व का विशेष विधान किया गया है; अतः यहाँ उसका ग्रहण नहीं किया जाता।

उदा० (क) किति—

(1) यत्वा
यम् क्त्वा → य त्वा सु।

(2) यतः
यम् क्त सु।

(3) यतवान्
यम् क्तवतु सु।

(4) यतिः
यम् क्तिन् सु।

(5) रत्वा
रम् क्त्वा सु।

(6) रतः
रम् क्त सु।

(7) रतवान्
रम् क्तवतु सु।

(8) रतिः
रम् क्तिन् सु।

(9) वतिः
वन् क्तिन् सु।

क्तिचि०—क्तिच् प्रत्यय में 'न क्तिचि दीर्घश्च' से होता है। अन्यत्र झलादि इट् होना चाहिए।

(10) ततः
तन् क्त सु।

(11) ततवान्
तन् क्तवतु सु।

(12) तत्वा
तन् क्त्वा सु।

(13) ततिः
तन् क्तिन् सु।

सनो०—सन् धातु से आत्व कहा जायेगा।

(14) क्षतः
क्षण् क्त सु।

(15) क्षतवान्
क्षण् क्तवतु सु।

(16) ऋतः
ऋण् क्त सु।

(17) ऋतवान्
ऋण् क्तवतु सु।

(18) तृतः
तृण् क्त सु।

(19) तृतवान्
तृण् क्तवतु सु।

(20) घृतः
घृण् क्त सु।

(21) घृतवान्
घृण् क्तवतु सु।

(22) वतः
वन् क्त सु।

(23) वतवान्
वन् क्तवतु सु।

(24) मतः
मन् क्त सु।

(25) मतवान्
मन् क्तवतु सु।

(ख) ङिति—

(26) अतत
तन् त—लुङ्, प्र०पु० एकवचन,
तन् सिच् त—च्लि, सिच्,
अ तन् त—'तनादिभ्यस्तथासोः' से सिच् का लुक्,
अतत—अनुनासिकलोप।

(27) अतथाः
तन् थास्—लुङ्, म० पु० एकवचन,
अ त थास्—पूर्ववत् अनुनासिक का लोप, सिच् लुक्।

अनुदात्तो०—अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश, वन् तथा अनुनासिकान्त तनोत्यादि धातुओं के अनुनासिक का लोप होता है।

(28) शान्तः
शम् क्त—अनुनासिक का लोप नहीं हुआ;
शाम् त सु—उपधादीर्घ, अनुस्वार, परसवर्ण।

(29) शान्तवान्
शम् क्तवतु—पूर्ववत्।

(30) तान्तः
तम् क्त—अनुनासिकलोप नहीं हुआ।

(31) तान्तवान्
क्तवतु।

(32) दान्तः
दम् क्त सु। पूर्ववत्।

(33) दान्तवान्
क्तवतु, पूर्ववत्।

अनुनासि०—अनुनासिक का लोप होता है।

(34) पक्वः
पच् क्त—झलादि कित् परे है, अनुदात्तोपदेश है; परन्तु अनुनासिकान्त नहीं है। अतः लोप नहीं हुआ।
पच् व—पचो वः।

(35) पक्ववान्

पच् क्तवतु सु।

झलीति॰—झलादि प्रत्यय परे रहते अनुनासिक का लोप होता है।

(36) गम्यते
गम् यक् त—'गम्' अनुनासिकान्त है, यक् कित् परे है; परन्तु झलादि नहीं है। अतः अनुनासिक का लोप नहीं होता है,
गम्यते—टि को एत्व।

(37) रम्यते (पूर्ववत्)।

क्ङिती॰—कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते अनुनासिक का लोप होता है।

(38) यन्ता
यम् तृच्—अनुनासिकान्त है, झलादि प्रत्यय परे है, परन्तु न तो कित् है और न ही ङित् है। अतः अनुनासिक का लोप नहीं होता है।
यन्तृ सु—परसवर्ण सु।

(39) यन्तव्यम् (पूर्ववत्)।

उपदेश॰—उपदेश में जो अनुदात्त, उसके अनुनासिक का लोप होता है।

(40) गतिः
गम् क्तिन्—अनुनासिकलोप हुआ।

(41) शान्तः
शम् अनुनासिकान्त है; परन्तु अनुदात्तोपदेश नहीं है। अतः अनुनासिकलोप नहीं हुआ।

(42) शान्तवान्
क्तवतु, पूर्ववत्।

(3039) वा ल्यपि *38* (3334)

ल्यपि परतोऽनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो वा भवति। व्यवस्थितविभाषा चेयम्, तेन मकारान्तानां विकल्पो भवति। अन्यत्र नित्यमेव लोपः। प्रयत्य, प्रयम्य। प्ररत्य, प्ररम्य। प्रणत्य, प्रणम्य। आगत्य, आगम्य। आहत्य। प्रमत्य। प्रवत्य। प्रक्षत्य।

अर्थ—अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातु, वन् धातु तथा अनुनासिकान्त तनादिगणी धातु—इन अंगों के अनुनासिक का लोप विकल्प से होता है, ल्यप् परे रहते।

यह व्यवस्थित विभाषा है; अतः मकारान्त को विकल्प से तथा अन्यत्र नित्य लोप होता है।

उदा॰ (1) प्रयत्य
प्र यम् क्त्वा—ल्यप् हुआ,
प्र य य—अनुनासिकलोप,
प्र य त् य सु—तुक्।

(2) प्रयम्य
प्र यम् ल्यप्—पक्ष में लोप नहीं हुआ।

(3) प्ररत्य
प्र रम् ल्यप्—पूर्ववत्।

(4) प्ररम्य
प्र रम् य—अनुनासिकलोप नहीं हुआ।

(5) प्रणत्य
प्र नम् ल्यप्—अनुनासिकलोप, तुक्, णत्व;
प्र णत् य सु—सु।

(6) प्रणम्य
अनुनासिकलोप नहीं हुआ।

(7) आगत्य
आ गम् य—पूर्ववत्।

(8) आगम्य
अनुनासिक लोप का अभाव।

(9) आहत्य
आ हन् ल्यप्।

(10) प्रमत्य
प्र मन् ल्यप्।

(11) प्रवत्य
प्र वन् ल्यप्।

(12) प्रक्षत्य
प्र क्षण् ल्यप्।

(3040) न क्तिचि दीर्घश्च *39* (3314)

क्तिचि परतोऽनुदात्तोपदेशादीनामनुनासिकलोपो दीर्घश्च न भवति। यन्तिः। वन्तिः। तन्तिः। अनुनासिकलोपे प्रतिषिद्धे 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (6.4.15) इति दीर्घः प्राप्नोति, सोऽपि प्रतिषिध्यते।

अर्थ—अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातु, वन् धातु तथा अनुनासिकान्त तनादिगणी धातु—इन अंगसंज्ञक शब्दों के अनुनासिक का लोप तथा दीर्घ नहीं होता है, क्तिच् परे रहते।

उदा॰ (1) यन्तिः
यम् क्तिच्—'क्तिच् क्तौ च सञ्ज्ञायाम्' से क्तिच्,
यन्ति सु—अनुनासिकलोप नहीं हुआ।

(2) वन्तिः
वन् क्तिच्—पूर्ववत्।

(3) तन्तिः
तन् क्तिच्—पूर्ववत्।

अनुनासिकलोप का निषेध होने पर 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' से दीर्घ प्राप्त होता है, उसका भी निषेध होता है।

(3041) गमः क्वौ *40* (2986)

गमः क्वौ परतोऽनुनासिकलोपो भवति। अङ्गगत्। कलिङ्गगत्। अध्वगतो हरयः। *गमादीनामिति वक्तव्यम्* (म॰भा॰)। इहापि यथा स्यात्-संयत्। परीतत्। *ऊ च गमादीनामिति वक्तव्यम्* (म॰भा॰)। अग्रेगूः। अग्रेभ्रूः।

अर्थ—गम् के अनुनासिक का लोप होता है, क्वि प्रत्यय परे रहते।

उदा॰ (1) अङ्गगत्
अङ्गं गच्छति—क्विप् हुआ,
अङ्ग गम् → अङ्ग ग—सर्वापहारलोप, अनुनासिकलोप,
अङ्गगत्—तुक, विभक्तिकार्य।

(2) कलिङ्गगत् (पूर्ववत्)।

(3) अध्वगतः
अध्वनो गन्तारः—क्विप् च, शेष पूर्ववत्, जस्।

गमादी॰—गम् आदि का लोप होता है।

(4) संयत्
सम् यम् क्विप्—सर्वापहारलोप,
संयत्—अनुनासिकलोप, अनुस्वार, तुक्।

(5) परीतत्
परि तन् क्विप्—पूर्ववत्।

ऊ च गमा॰—गम् आदि के अनुनासिक का लोप होता है तथा ऊकार आदेश होता है।

(6) अग्रेगूः
अग्रे गम् क्विप्—अग्रे गम्—अग्रेगू सु।

(7) अग्रेभ्रूः
अग्रे भ्रम् क्विप्—पूर्ववत्।

(3042) विड्वनोरनुनासिकस्यात् *41* (2982)

विटि वनि च प्रत्यये परतोऽनुनासिकान्तस्याङ्गस्याकार आदेशो भवति। 'अब्जाः गोजाः ऋतजाः अद्रिजाः' (ऋ॰ 4.40.5)। 'गोषा इन्द्रो नृषा असि' (ऋ॰ 9.2.10)। 'कूपखाः। शतखाः। सहस्रखाः।' दधिक्राः। अग्रेगा उन्नेतॄणाम्। 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (3.2.67) इति विट् प्रत्ययः। 'सनोतेरनः' (8.3.108) इति षत्वम्-गोषा इन्द्रो नृषा असीत्यत्र। वन्-विजावा। अग्रेजावा। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (3.2.75) इति वनिप्प्रत्ययः। 'अनुनासिकस्य' इति वर्त्तमाने पुनरनुनासिकग्रहणमनुनासिकमात्रपरिग्रहार्थम्, अन्यथा ह्यनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामेव स्यात्।

अर्थ—अनुनासिकान्त अंगसंज्ञक शब्द को आकार आदेश होता है, विट् तथा वन् प्रत्ययों के परे रहते। यह अन्तादेश होता है।

उदा॰ (1) अब्जाः
अप् जन् विट्—जनसनखन॰, सर्वापहार लोप,
अप् जन् → अप् ज आ सु–

(2) गोजाः
गो जन् विट्—विट्,
गो ज आ सु—पूर्ववत्।

(3) ऋतजाः (पूर्ववत्)।

(4) अद्रिजाः (पूर्ववत्)।

(5) गोषा
गो सन् विट्—पूर्ववत्,
गो स आ सु—षत्व, सनोतेरनः।

(6) नृषा (पूर्ववत्)।

(7) कूपखाः
कूप खन् विट्—पूर्ववत्,
कूप ख आ सु—पूर्ववत्।

(8) शतखाः
शत खन् विट्—पूर्ववत्।

(9) सहस्रखाः (पूर्ववत्)।

(10) दधिक्राः
दधि क्रम् विट्—आकार,
दधि क्र आ सु—पूर्ववत्।

(11) अग्रेगाः
अग्रे गम् विट्—सर्वापहारलोप,
अग्रे ग आ सु—पूर्ववत्।

(12) विजावा
वि जन् वन्—अन्येभ्योऽपि दृश्यते,
वि ज आ वन् सु—आकार।

(13) अग्रेजावा
अग्रे जन् वन्—पूर्ववत्।

अनुनासि०—'अनुनासिकस्य' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी 'अनुनासिकस्य' का पाठ अनुनासिकमात्र के परिग्रहण के लिए है; अन्यथा अनुदात्तोपदेश धातुओं, वन् धातु तथा तनादिगणी धातुओं को हो ही जाता है।

(3043) जनसनखनां सञ्झलोः *42* (2504)

'झलि', 'क्ङिति' इति चानुवर्त्तते। जन, सन, खन-इत्येतेषामङ्गानां सनि झलादौ क्ङिति झलादौ (च) प्रत्यये परत आकार आदेशो भवति। जन्-जातः। जातवान्। जातिः। सन्-सनि, सिषासति। सातः। सातवान्। सातिः। खन्-खातः। खातवान्। खातिः। झल्ग्रहणं सन्विशेषणार्थं किमर्थमनुवर्त्यते? इह मा भूत्-जिजनिषति। सिसनिषति। चिखनिषति। सनोतेः 'सनीवन्तर्ध' (7.2.49) इति पक्षे इडागमः। तदिह सनोत्यर्थमेव सन्ग्रहणम्। अत्र झलादौ क्ङिति सनोतेर्विप्रतिषेधाद् आत्त्वमनुनासिकलोपं बाधते। 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (6.4.66) इति हल्ग्रहणं ज्ञापकम्-अस्मिन्नसिद्धप्रकरणे विप्रतिषेधो भवतीति।

अर्थ—जन्, सन् व खन्—इनके अंग को आकार आदेश होता है, झलादि सन् तथा झलादि कित् व ङित् परे रहते।

उदा० (1) जातः
जन् क्त—आकार,
ज अ त सु—सवर्णदीर्घ।

(2) जातवान्
जन् क्तवतु—पूर्ववत्।

(3) जातिः
जन् क्तिन्—पूर्ववत्।

(4) सिषासति
सन् सन्—आकार, द्वित्व, ह्रस्वः,
स सा स—सन्यतः, षत्व, धातुसंज्ञा,
सिषासति—तिप्, शप्।

(5) सातः
सन् क्त—पूर्ववत्।

(6) सातवान्
सन् क्तवतु—पूर्ववत्।

(7) सातिः
सन् क्तिन्—पूर्ववत्।

(8) खातः
खन् क्त—'जातः' की तरह।

(9) खातवान्
खन् क्तवतु।

(10) खातिः
खन् क्तिन्—पूर्ववत्।

झल्ग्रह०—झल् ग्रहण का सन् के विशेषण के रूप में किसलिए अनुवर्त्तन है? यहाँ नहीं होता है।

(11) जिजनिषति
जन् इट् सन्—इट् होने से झलादि सन् नहीं रहता,
ज जनि स—आकार आदेश नहीं होता है,
जिजनिषति—सन्यतः आदि।

(12) सिसनिषति
सन् इट् सन्—'सनीवन्तर्ध०' से पाक्षिक इट्,
सि सन् इ स—द्वित्व, अभ्यास कार्य,
सिसनिषति—आदेश।

(13) चिखनिषति
ख खन् इ सन्—इट्, द्वित्व, हलादि शेष,
चि खन् इ स—कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च, लकारकार्य।

तदिह०—यहाँ सन् धातु के लिए ही 'सन्' का ग्रहण किया गया है। यहाँ झलादि तथा कित् व ङित् परे रहते सन् धातु से विप्रतिषेध से आकार अन्तादेश अनुनासिकलोप का बाध करता है।

घुमा०—'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' में हल् ग्रहण से ज्ञापित होता है कि इस असिद्ध प्रकरण में विप्रतिषेध होता है।

(शंका)—यहाँ आभीय अधिकार में अनुनासिकलोप तथा आकार अन्तादेश—दोनों शास्त्र असिद्ध हैं। तब विप्रतिषेध किस प्रकार होगा ?

(समा०) 'घुमास्थागापा०' से हलादि प्रत्यय के परे रहते ईत्व का विधान है। आभीय अधिकार में विप्रतिषेध नहीं होता है—इस पक्ष में 'गो दा क' इस स्थल पर ईत्व करने पर इसके असिद्ध हो जाने से आकार का लोप हो सकता है। तब 'घुमास्थागा०' सूत्र में 'हलि' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि असिद्ध प्रकरण में विप्रतिषेध होता है।[1]

'आतो लोप इटि च' (6.4.64) से आकारलोप होता है। 'घुमास्थागापा०' (6.4.66) से ईत्व होता है। आकारलोप की अपेक्षा ईत्व आदेश पर है। हल् प्रत्यय परे रहते विप्रतिषेध से ईत्व न हो, अतः 'घुमास्थागापा०' में 'हलि' पद का ग्रहण ज्ञापक है कि असिद्ध में विप्रतिषेध होता है।

(3044) ये विभाषा *43* (2319)

यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतो जनसनखनामाकार आदेशो भवति विभाषा। जायते, जन्यते। जाजायते, जञ्जन्यते। सायते, सन्यते। सासायते, संसन्यते। खायते, खन्यते। चाखायते, चङ्खन्यते। जनेः श्यनि 'ज्ञाजनोर्जा' (7.3.79) इति नित्यं जादेशो भवति।

अर्थ—जन्, सन् व खन्—इनके अंग को आकार आदेश विकल्प से होता है, यकारादि कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते।

उदा० (1) जायते
जन् यक् त—आकार,
जायते—टि को एत्व।

(2) जन्यते
पक्ष में आकार नहीं हुआ।

(3) जाजायते
जन् यङ्—आकार, द्वित्व, ह्रस्वः,
ज जाय—अभ्यास को दीर्घ, दीर्घोऽकितः,
जाजायते—लकारकार्य।

(4) जञ्जन्यते
जन् यङ्—पक्ष में आकार नहीं हुआ, द्वित्व, हलादि शेष,
जन् जन् य—नुगतोऽनुनासि० से नुक्,
जञ्जन्यते—अनुस्वार, परसवर्ण, 'त' प्रत्यय।

(5) सायते
'जायते' की तरह।

(6) सन्यते
'जन्यते' की तरह।

(7) सासायते
सन् यङ्—'जाजायते' की तरह।

(8) संसन्यते
'जञ्जन्यते' की तरह।

(9) खायते
'जायते' की तरह।

(10) खन्यते
'जन्यते' की तरह।

(11) चाखायते
खन् यङ् → खा य—द्वित्व, ह्रस्वः, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,
चखा य—अभ्यास को दीर्घ,
चाखाय त—लकारकार्य।

(12) चङ्खन्यते
'जञ्जन्यते' की तरह।

जनेः—श्यन् परे रहते 'ज्ञाजनोर्जा' से नित्य जादेश होता है।

(3045) तनोतेर्यकि *44* (2759)

तनोतेर्यकि परतो विभाषा आकार आदेशो भवति। तायते, तन्यते। यकीति किम्? तन्तन्यते।

अर्थ—यक् प्रत्यय परे रहते तन् अंग को विकल्प से आकार आदेश होता है।

उदा० (1) तायते
तन् यक् त—आकार,
तायते—लकारकार्य।

(2) तन्यते
पक्ष में आकार नहीं हुआ।

यकीति०—**यक्** परे रहते ही पाक्षिक आकार होता है।

(3) तन्तन्यते

1. न्यास० 6.4.42.
पदम० 6.4.42.

तन् यङ्—आकार नहीं हुआ,
तन् तन् य त—द्वित्वादि।

(3046). सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम् *45* (3315)

सनोतेरङ्गस्य क्तिचि प्रत्यये परत आकार आदेशो भवति लोपश्चास्यान्यतरस्याम्। सातिः, सन्तिः, सतिः। अन्यतरस्यांग्रहणं विस्पष्टार्थम्। ये-सम्बद्धं हि विभाषाग्रहणमिह निवृत्तमित्याशङ्क्येत।

अर्थ—क्तिच् परे रहते सन् अंग को विकल्प से आकार आदेश होता है, तथा पक्ष में विकल्प से लोप होता है।

उदा० (1) सातिः
सन् क्तिच्—आकार,
सा ति सु—विभक्तिकार्य।

(2) सन्तिः
पक्ष में आकार नहीं हुआ।

(3) सतिः
आकार अभाव पक्ष में पाक्षिक लोप।

अन्यतर०—स्पष्टता के लिए 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण है। 'ये' से सम्बद्ध 'विभाषा' पद के निवृत्त हो जाने की आशंका रहती है।

(3047) आर्धधातुके *46* (2307)

'आर्धधातुके' इत्यधिकारः। 'न ल्यपि' (6.4.69) इति प्रागेतस्माद्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः 'आर्धधातुके' इत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति–'अतो लोपः' (6.4.48) चिकीर्षिता। जिहीर्षिता। आर्धधातुक इति किम्? भवति। भवतः। अदिप्रभृतिभ्यः शपो लुग्वचनं (2.4.72) प्रत्ययलोपलक्षणप्रतिषेधार्थं स्यादित्येतन्न ज्ञापकं शपो लोपाभावस्य। 'यस्य हलः (6.4.49)। बेभिदिता। बेभिदितव्यम्। आर्धधातुक इति किम्? बेभिद्यते। णेरनिटि (6.4.51)। कारणा। हारणा। आर्धधातुक इति किम्? कारयति। हारयति। आतो लोपः (6.4.64)। ययतुः। ययुः। ववतुः। ववुः। आर्धधातुक इति किम्? यान्ति। वान्ति। घुमास्थागापाजहातिसां हलि (6.4.66)। दीयते। धीयते। आर्धधातुक इति किम्? अदाताम्। अधाताम्। वाऽन्यस्य संयोगादेः (6.4.68)। स्नेयात्, स्नायात्। आर्धधातुक इति किम्? स्नायात्। आशीर्लिङोऽन्यत्र न भवति। स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च (6.4.62)। कारिषीष्ट। हारिषीष्ट। आर्धधातुक इति किम्? क्रियेत। ह्रियेत। यगन्तस्याजन्तत्वाच्चिण्वद्भावे सति वृद्धिः स्यात्, ततश्च युक् प्रसज्येत।

अतो लोपो यलोपश्च णिलोपश्च प्रयोजनम्।
आल्लोप ईत्वमेवं च चिण्वद्भावश्च सीयुटि॥
(म० भा०, श्लोक वा०)

अर्थ—यह अधिकार है। 'न ल्यपि' (6.4.69) सूत्र से पूर्व-पूर्व यहाँ से आगे जो कहा जायेगा, वह आर्धधातुक के विषय में होता है—यह जानना चाहिए। आगे 'अतो लोपः' का पाठ किया जायेगा।

उदा० (1) चिकीर्षिता
इसकी सिद्धि आगे देखें।

(2) जिहीर्षिता
सिद्धि आगे देखें।

आर्धधातु०—आर्धधातुक के विषय में ही अकारलोप होता है।

(3) भवति
भू शप् तिप्—'तिङ् शित् सावधार्तुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा, आर्धधातुक का विषय न होने से अकार का लोप नहीं हुआ,
भो अ ति—सार्वधातुकार्धधातु०, अवादेश।

(4) भवतः
भू शप् तस्—पूर्ववत्।

अदिप्रभृ०—'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से शप् का लुक् विधान प्रत्ययलोप के प्रत्ययलक्षण का निषेध करने के लिए होता है। अतः वह शप्-लोप के अभाव का ज्ञापक नहीं है।

भावार्थ—(शंका) 'भवति' आदि में शप् के लोप के अभाव में 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' सूत्र ज्ञापक हो सकता है। अतः यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'अतो लोपः' इस सामान्य सूत्र से शप् का लोप नहीं होता है।

(समा०) 'भवति' आदि में शप् के लोपाभाव में 'अदिप्रभृति०' सूत्र ज्ञापक नहीं है, अपितु इसका प्रयोजन यह है कि इसे मानकर प्रत्ययलक्षण से गुण आदि न हों। यथा—

(5) विद् तस्—शप् लुक्, प्रत्ययलक्षण से गुण प्राप्त,

वित्तस्—'न लुमताङ्गस्य' से निषेध।

यस्य०—यकार का लोप होता है। आगे 'यस्य हल:' का पाठ किया जायेगा।

(6) बेभिदिता।
(7) बेभिदितुम्।
(8) बेभिदितव्यम्।

आर्धधा०—आर्धधातुक के विषय में ही होता है।

(9) बेभिद्यते
सभी उदाहरणों की सिद्धि 6.4.49 पर देखें।

णेरनिटि०—आगे 'णेरनिटि' का पाठ किया जायेगा।

(10) कारणा (11) हारणा—सिद्धि 6.4.51 पर देखें।

आर्धधा०—आर्धधातुक के विषय में ही होता है।

(12) कारयति
कृ णिच् शप् तिप्—आर्धधातुक नहीं है, णि का लोप नहीं हुआ,
कारि अ ति—गुण,
कारयति—अयादेश।

(13) हारयति (पूर्ववत्)।

आतो लोप०—आगे 'आतो लोप इटि च' का पाठ किया जायेगा।

(14) ययतुः
या अतुस्—लिट्, तस्, अतुस् आदेश,
या या अतुस् —द्वित्व, अभ्यासकार्य,
य य् अतुस्—आकारलोप।

(15) ययुः
या उस्—लिट्, झि,
य य् उस्—पूर्ववत्।

(16) ववतुः
वा अतुस्—पूर्ववत्।

(17) ववुः
वा उस्—पूर्ववत्।

आर्धधा०—आर्धधातुक के विषय में ही होता है।

(18) यान्ति
या झि—तिङ् शित् सार्वधातुकम्, शप्, शप् लुक्, आर्धधातुक न होने से आकारलोप नहीं हुआ,
या अन्ति—झोऽन्तः।

(19) वान्ति (पूर्ववत्)।

घुमास्था०—आगे 'घुमास्थागापा०' सूत्र का पाठ किया जायेगा।

(20) दीयते
(21) धीयते।
सिद्धि 6.4.66 पर देखें।

आर्धधातुक के विषय में ही ईत्व होता है।

(22) अदाताम्
दा आताम्—लङ्, प्र०पु० द्विवचन,
अट् दा शप् आताम् –आर्धधातुक नहीं है।
अदाताम्—ईत्व नहीं हुआ।

(23) अधाताम्
धा आताम्—पूर्ववत्।

वाऽन्यस्य०—'वाऽन्यस्य संयोगादेः' से विकल्प से एत्व होता है। यथा—

(24) स्नेयात्
एत्व पक्ष।

(25) स्नायात्
एत्व अभाव पक्ष।

आर्ध०—आर्धधातुक में ही होता है। यथा—

(26) स्नायात्
आशीर्लिङ् से अन्यत्र नहीं होता है।

स्यसिच्०—आगे 'स्यसिच्सीयुट्तासिषु०' का पाठ किया जायेगा।

(27) कारिषीष्ट
(28) हारिषीष्ट।
सिद्धि 6.4.62 पर देखें।

आर्धधा०—आर्धधातुक के विषय में ही होता है—

(29) क्रियेत
कृ त—वि० लिङ्, 'त' प्रत्यय,
कृ श ई त—शप् आदि,
क्रिय् अ ईत—आद् गुणः।

(30) ह्रियेत
हृ—पूर्ववत्।

महाभाष्य में प्रकृत सूत्र के सात प्रयोजन बताये गये हैं, जिन्हें

काशिकाकार ने एक कारिका में निबद्ध कर दिया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

(क) अतो०—आर्धधातुक के विषय में 'अतो लोपः' से अकार का लोप होता है।

(ख) यलोप०—आर्धधातुक के विषय में 'यस्य लोपः' से यकार का लोप होता है।

(ग) णिला०—आर्धधातुक के विषय में 'णेरनिटि' से णि का लोप होता है।

(घ) आल्लो०—आर्धधातुक के विषय में 'आतो लोपः' से आकारलोप होता है।

(ङ) ईत्व०—आर्धधातुक के विषय में 'घुमास्थागा०' से ईत्व होता है।

(च) एत्व०—आर्धधातुक के विषय में 'वाऽन्यस्य०' से एत्व होता है।

(छ) चिण्वद्०—आर्धधातुक के विषय में 'स्यसिच्सीयुट्०' से चिण्वद्भाव होता है।

इन सभी की व्याख्या तत्-तत् सूत्रों पर देखें।

(3048) भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् *47* (2535)

भ्रस्जो रेफस्योपधायाश्च रमन्यतरस्यां भवति। 'रोपधयोः' इति स्थानषष्ठीनिर्देशादुपधा, रेफश्च निवर्त्तेते। मित्त्वाच्चायमचोऽन्त्यात्परो भवति। भ्रष्टा, भर्ष्टा। भ्रष्टुम्, भर्ष्टुम्। भ्रष्टव्यम्, भर्ष्टव्यम्। भ्रज्जनम्, भर्ज्जनम्। भृष्टः, भृष्टवान् इत्यत्र पूर्वविप्रतिषेधेन सम्प्रसारणं भवति। उपदेश इत्येव-बरीभृज्यते।

अर्थ—भ्रस्ज् अंग के रेफ और उपधा के स्थान पर विकल्प से 'रम्' होता है, आर्धधातुक के विषय में।

'रोपधयोः' में स्थानेयोगा षष्ठी का निर्देश होने से रेफ व उपधा की निवृत्ति हो जाती है। 'रम्' के मित् होने से 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से यह अन्त्य अच् से पर होता है। रेफ में अकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) भर्ष्टा
भ्रस्ज् तृच्—आर्धधातुक संज्ञा,
भ रम् ज् तृ—उपधा सकार तथा रेफ के स्थान पर 'रम्',
भर्ष् तृ सु—व्रश्चभ्रस्ज० से षत्व, ष्टुना ष्टुः।

(2) भ्रष्टा
भ्रज् तृ—'स्कोः संयोगाद्योः०' से सकारलोप,
भ्रष् तृ सु—शेष पूर्ववत्।

(3) भर्ष्टुम्
भ्रस्ज् तुमुन्—पूर्ववत् रम् हुआ,
भर्ष् तुम्—षत्व, ष्टुत्व।

(4) भ्रष्टुम्
पक्ष में 'रम्' नहीं हुआ।

(5) भर्ष्टव्यम्
'रम्' पक्ष में।

(6) भ्रष्टव्यम्
'रम्' अभाव पक्ष में।

(7) भर्ज्जनम्
भ्रस्ज् ल्युट्—'रम्' हुआ,
भर् ज् अन—युवोरनाकौ,
भर्ज्ज् अन सु—अचो रहाभ्यां द्वे।

(8) भ्रज्जनम्
भ्रस्ज् ल्युट्—पक्ष में 'रम्' नहीं हुआ,
भ्रज्ज् अन सु—सकार को जश्त्व।

(9) भृष्टः
भ्रस्ज् क्त—'त' कित् आर्धधातुक है, प्राप्त 'रम्' को बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से सम्प्रसारण।
भृस्ज् त—स्कोः संयोगा०,
भृष् त—व्रश्चभ्रस्ज०,
भृष्ट सु—ष्टुना ष्टु।

(10) भृष्टवान्
भ्रस्ज् क्तवतु—पूर्ववत्।

उपदेश०—उपदेश काल में पूर्वोक्त 'रम्' होता है।

(11) बरीभृज्यते
भ्रस्ज् यङ्—सम्प्रसारण, द्वित्व, अभ्यासकार्य,
भृ भृस्ज् य → भर् भृस्ज् य—उरत्,
बरी भृज् य—सकारलोप, 'रीगृदुपधस्य' से 'रीक्' आगम, उपदेश न होनें से 'बरी' के रेफ व उपधा के स्थान पर 'रम्' नहीं हुआ,
बरीभृज्यते—धातुसंज्ञा, 'त' प्रत्यय।

(3049) अतो लोपः *48* (2308)

अकारान्तस्यार्धधातुके लोपो भवति। चिकीर्षिता। चिकीर्षितुम्। चिकीर्षितव्यम्। धिनुतः। कृणुतः। अत इति किम्? चेता। स्तोता। तपरकरणं किम्? याता। वाता। आर्धधातुक इति किम्? वृक्षत्वम्। वृक्षता। *वृद्धिदीर्घाभ्यामतो लोपः पूर्वविप्रतिषेधेन* (म०भा०)। चिकीर्षकः। जिहीर्षकः। चिकीर्ष्यते। जिहीर्ष्यते।

अर्थ—आर्धधातुक के परे रहते अकारान्त अंग का लोप होता है।

उदा० (1) चिकीर्षिता
कृ सन् → चिकीर्ष—धातुसंज्ञा,
चिकीर्ष इट् तृच्—अकारलोप,
चिकीर्ष् इ तृ सु—विभक्तिकार्य।

(2) चिकीर्षितुम्
चिकीर्ष—पूर्ववत्,
चिकीर्ष् इट् तुमुन्—अकारलोप, विभक्तिकार्य।

(3) चिकीर्षितव्यम्
चिकीर्ष तव्यत्—पूर्ववत्।

(4) धिनुतः
धि नु तस्—लट्, प्र० पु० द्विवचन,
धिनुतः—पूर्ववत्।

(5) कृणुतः (पूर्ववत्)।

अत०—अदन्त अंग का लोप होता है।

(6) चेता
चि तृच्—आर्धधातुक परे है; परन्तु अदन्त अंग नहीं है,
चे तृ सु—लोप नहीं हुआ, गुण, सु।

(7) स्तोता
स्तु तृच्—पूर्ववत्।

तपर०—'अतः' में तपरकरण का फल यह है कि ह्रस्व अकारान्त अंग का लोप होता है।

(8) याता
या तृ सु—ह्रस्व अकारान्त नहीं है, लोप नहीं हुआ।

(9) वाता (पूर्ववत्)।

आर्धधा०—आर्धधातुक परे रहते अदन्त अंग का लोप होता है।

(10) वृक्षत्वम्
वृक्षस्य भावः → वृक्ष त्व—आर्धधातुक परे नहीं,
वृक्षत्व सु—अकारलोप नहीं हुआ।

(11) वृक्षता
वृक्ष तल् टाप्—पूर्ववत् अकार का लोप नहीं हुआ,
वृक्षता सु—विभक्तिकार्य।

वृद्धि—वृद्धि तथा दीर्घ की अपेक्षा अलोप पूर्वविप्रतिषेध से होता है।

(12) चिकीर्षकः
चिकीर्ष—पूर्ववत्,
चिकीर्ष ण्वुल्—प्रकृत सूत्र से अकारलोप तथा 'अचो ञ्णिति' (8.4.44) से वृद्धि—इनकी युगपत् प्राप्ति होती है, पूर्वविप्रतिषेध से अकारलोप,
चिकीर्ष् अक सु—सु।

(13) जिहीर्षकः
हृ सन् → जिहीर्ष—धातुसंज्ञा, शेष कार्य पूर्ववत्।

(14) चिकीर्ष्यते
चिकीर्ष त—पूर्ववत्, कर्मवाच्य में 'त' हुआ,
चिकीर्ष यक् शप् त—'अकृत्सार्वधातु०' (7.1.11) से दीर्घ तथा प्रकृत सूत्र से अकारलोप—दोनों युगपत् प्राप्त हुए, पूर्वविप्रतिषेध से अकारलोप,
चिकीर्ष् य अ ते—'टि' को एत्व।

(15) जिहीर्ष्यते (पूर्ववत्)।

इस सूत्र का काशिका में प्रदर्शित अर्थ दोषपूर्ण है। इसके अनुसार आर्धधातुक कर लेने के पश्चात् यदि ह्रस्व अकारान्त अंग होता है तो उसके अत् का भी लोप होकर अनिष्ट रूप बन जायेगा। यथा—अय् (गतौ) क्विप्—अय् व् (इकार, ककार, पकार का लोप)—अव् (लोपो व्योर्वलि)। अब काशिकासम्मत अर्थवशात् अकार का लोप होकर अनिष्ट रूप बनता है।

भट्टोजिदीक्षित ने वै० सि० कौ० में इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार दिया है—'उपदेशे (अनुदात्तोपदेशवनति० इत्यतः अनुवर्तते) आर्धधातुके आर्धधातुके (द्विरुक्तिः) अतः अंगस्य (अनुवृत्तः) लोपः' अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय के उपदेश की अवस्था में जो अदन्त अंग उसके अन्त्य (अर्थात् अत्) का लोप होता है, आर्धधातुक परे रहते।[1] इस अर्थ में कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

1. वै०सि०कौ० सूत्र 2308.

(3050) यस्य हलः *49* (2631)

हल उत्तरस्य यशब्दस्यार्धधातुके लोपो भवति। बेभिदिता। बेभिदितुम्। बेभिदितव्यम्। 'यस्य' इति सङ्घातग्रहणमेतत्। तत्र 'अलोऽन्त्यस्य' (1.1.52) इत्येतन्न भवति; 'अतो लोपः' (6.4.48) इत्यनेनैव तस्य सिद्धत्वात्। 'हलः' इति वा पञ्चमीनिर्देशः, तत्र 'आदेः परस्य' (1.1.54) इति यकारोऽनेन लुप्यते। सङ्घातग्रहणं किम्? ईर्ष्यिता। मव्यिता। हल इति किम्? लोलूयिता। पोपूयिता।

अर्थ—हल् से उत्तर 'य्' का लोप होता है, आर्धधातुक परे रहते।

उदा० (1) बेभिदिता
भिद् यङ् → बेभिद्य—धातुसंज्ञा,
बेभिद्य इट् तृच्—इट् हुआ,
बेभिद् इ तृ सु—यकारलोप।

(2) बेभिदितुम्
बेभिद्य तव्यत्—पूर्ववत् यकारलोप,
बेभिद् इ तव्य सु—इट्।
(3) बेभिदितव्यम्
बेभिद्य तव्यत्—पूर्ववत् यकार लोप,
बेभिद् इ तव्य सु—इट्।

'तव्यत्' परे रहते यकारलोप हुआ।

यस्य०—यस्य पद के द्वारा संघात का ग्रहण होता है अर्थात् यकार व अकार दोनों का लोप होता है। यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा लागू नहीं होती। 'अतो लोपः' से ही यह सिद्ध है।

हल०—'हलः' पद में पञ्चमी का निर्देश है। यहाँ 'आदेः परस्य' से यकारलोप होता है।

सङ्घात०—संघात अर्थात् यकार व अकार का लोप होता है।

(4) ईर्ष्यिता
ईर्ष्य् तृच्—इट् हुआ,
ईर्ष्य् इ तृ सु—यकारलोप नहीं हुआ।

(5) मव्यिता
मव्य → मव्य्—अकार की इत्संज्ञा,
मव्य इट् तृच् सु—यकार अकार का संघात न होने से यकार-लोप नहीं हुआ।

हल इति०—हल् से उत्तर यकार का लोप होता है।

(6) लोलूयिता
लू यङ् → लोलूय—धातुसंज्ञा,
लोलूय इट् तृच्—हल् से पर न होने से 'य' का लोप नहीं हुआ,
लोलूय् इ तृ सु—अतो लोपः।

(7) पोपूयिता (पूर्ववत्)।

(3051) क्यस्य विभाषा *50* (2660)

क्यस्य हल उत्तरस्य विभाषा लोपो भवति आर्धधातुके। समिधिता, समिध्यिता। दृषदिता, दृषद्यिता। समिधमात्मन इच्छति, समिधमिवात्मानमाचरति–इति वा क्यच्क्यङौ यथायोगं कर्त्तव्यौ।

अर्थ—आर्धधातुक परे रहते हल् से उत्तर 'क्य' का लोप विकल्प से होता है।

उदा० (1) समिधिता
आत्मनः समिधम् इच्छति—इस अर्थ में,
समिध् क्यच्—धातुसंज्ञा, 'नः क्ये' से पदसंज्ञा न होने से 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व नहीं हुआ,
समिध्य इ तास् डा—लुट्, तिप्, स्यतासी०, लुटः प्रथमस्य०, इट्,
समिध् इ त् आ—'यस्य हलः' से नित्य लोप प्राप्त हुआ,
समिधिता—वैकल्पिक लोप, अतो लोपः। स्थानिवद्भाव होने से लघूपधगुण नहीं हुआ, 'अचः परस्मिन्०'।

(2) समिध्यिता
पक्ष में 'अतो लोपः' से अकारलोप।

(3) दृषदिता
पूर्ववत् यकारलोप।

(4) दृषद्यिता
यकारलोप नहीं हुआ।

समिधमा०—समिधम् आत्मन इच्छति—इस दशा में 'सुप आत्मनः क्यच्' से 'क्यच्' होता है।

समिधमिवात्मनम् आचरति—इस दशा में 'उपमानादाचारे' से 'क्यच्' ही होता है।

समिदिवाऽऽचरति—इस दशा में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' से 'क्यङ्' होता है।

इस प्रकार यथायोग क्यच् व क्यङ् करना चाहिए।

(3052) णेरनिटि *51* (2313)

अनिडादावार्धधातुके णेर्लोपो भवति। इयङ्यण्गुण-वृद्धिदीर्घाणामपवादः। अततक्षत्। अररक्षत्। आटिटत्। आशिशत्। कारणा। हारणा। कारकः। हारकः। कार्यते। हार्यते। ज्ञीप्सति। अनिटीति किम्? कारयिता। हारयिता।

अर्थ—जिसके आदि में इट् न हो, ऐसे आर्धधातुक के परे रहते 'णि' का लोप होता है। यह इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि तथा दीर्घ—इन कार्यों का अपवाद है।

'णि' के द्वारा णिच् व णिङ्—दोनों का ग्रहण होता है।

उदा० (1) अततक्षत्

तक्ष णिच्—हेतुमत् अर्थ में णिच् हुआ, धातुसंज्ञा,

तक्षि त्—लुङ्, तिप्, इतश्च,

तक्षि चङ् त्—च्लि, णिश्रिद्रुस्रुभ्य०, ङित् होने से प्राप्त गुण का निषेध, इयङ् की प्राप्ति, उसका बाध करके पूर्वविप्रतिषेध 'णि' का लोप,

अ त तक्ष् अत्—द्वित्व, अट्।

(2) अररक्षत् (पूर्ववत्)।

(3) आटिटत्

अट् णिच् → आट् इ—वृद्धि,

आट् इ चङ् त्—पूर्ववत्,

आ टि टि अ त्—णौ चङ्युपधाया०, चङि, 'एरनेकाचः' (6.4.82) से यण् तथा 'णेरनिटि' (6.4.51) से णिलोप—दोनों की युगपत् प्राप्ति, पूर्वविप्रतिषेध से णिलोप,

आट् आ टि ट् अत्—अट्, आटश्च।

(4) आशिशत्

पूर्ववत् यण् का अपवाद णिलोप हुआ।

(5) कारणा

कृ णिच् → कारि—वृद्धि,

कारि युच्—स्त्रियाम्, ण्यासश्रन्थो युच्,

कारि अन—युवोरनाकौ, सार्वधातुकार्धधातु० (7.3.84) से गुण तथा 'णेरनिटि' (6.4.51) से णिलोप—दोनों युगपत् प्राप्त,

कार् अन टाप्—पूर्वविप्रतिषेध से णिलोप, टाप्, णत्व।

(6) हारणा

पूर्ववत् गुण का अपवाद, णिलोप हुआ।

(7) कारकः

कारि—पूर्ववत्, 'ण्वुल्तृचौ',

कारि ण्वुल्—'युवोरनाकौ',

करि अक—'अचो ञ्णिति' (7.2.115) से वृद्धि तथा 'णेरनिटि' (6.4.51) से णिलोप—दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं,

कार् अक सु—पूर्वविप्रतिषेध से णिलोप।

(8) हारकः

पूर्ववत् वृद्धि का अपवाद, णिलोप।

(9) कार्यते

कारि—पूर्ववत्,

कारि यक् त—कर्मवाच्य, सार्वधातुके यक्,

कार् य त—'अकृत्सार्वधातु०' (6.4.84) से दीर्घ तथा 'णेरनिटि' (6.4.51) से णिलोप—दोनों प्राप्त हैं, पूर्वविप्रतिषेध से णिलोप,

कार्यते—टि को एत्व।

(10) हार्यते (पूर्ववत्)।

(11) ज्ञीप्सति

ज्ञा पुक् णिच्—'अर्त्तिह्री०' से पुक्, घटादि में पाठ होने से 'घटादयो मितः' से मित् संज्ञा, 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व,

ज्ञपि सन्—धातुसंज्ञा, सनीवन्तर्ध० से पाक्षिक इट्,

ज्ञीप् स—इट् अभाव पक्ष, 'आब् ज्ञप्यृधामीत्' से ईत्,

ज्ञीप् स—द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से अभ्यासलोप,

ज्ञीप्सति—'अज्झनगमां सनि' से प्राप्त दीर्घत्व का बाध करके णिलोप होता है।

अनिटी०—इट् नहीं है आदि में जिसके, ऐसे आर्धधातुक के परे रहते णिलोप होता है।

(12) कारयिता

कारि इट् तृच्—तृच् हुआ, इट् हुआ, णि का लोप नहीं हुआ,

कारे इ तृ सु—गुण, अयादेश।

(13) हारयिता (पूर्ववत्)।

(3053) निष्ठायां सेटि *52* (3057)

निष्ठायां सेटि परतो णेर्लोपो भवति। कारितम्। हारितम्। गणितम्। लक्षितम्। सेटीति किम्। संज्ञपितः पशुः। इड्ग्रहणसामर्थ्यादिह पूर्वेणापि न भवति। 'सनीवन्तर्ध' (7.2.49) इति ज्ञपेरिटि विकल्पिते 'यस्य विभाषा' (7.3.15) इति निष्ठायां प्रतिषेधः। अथ पुनः

'एकाचः' इति तत्रानुवर्त्तते, तदा नित्यमत्र भवितव्य-मेवेडागमेनेति सेड्ग्रहणमनर्थकम्? तत् क्रियते काला-वधारणार्थम्–इडागमे कृते णिलोपो यथा स्यात्। अकृते हि तत्र णिलोपे सति कारितमित्यत्र 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (7.2.10) इतीटः प्रतिषेधः प्रसज्येत।

अर्थ—सेट् निष्ठा परे रहते णि का लोप होता है।

उदा० (1) कारितम्
कारि—पूर्ववत्,
कारि इट् क्त—'णि' का लोप,
कारि त सु—विभक्तिकार्य।

(2) हारितम्
हृ णिच् क्त—पूर्ववत्।

(3) गणितम्
गण् णिच्—चुरादिलक्षण णिच्,
गण् इ क्त सु—णिलोप।

(4) लक्षितम् (पूर्ववत्)।

सेटीति०—सेट् निष्ठा परे रहते ही णि का लोप होता है।

(5) सञ्ज्ञपितः पशुः
सम् ज्ञप् णिच् क्त—सनीवन्तर्ध० से इट् का विकल्प हुआ, 'यस्य विभाषा' से निष्ठा में निषेध,
सञ्ज्ञपित सु—सेट् न होने से णिलोप नहीं हुआ।

अथ पुनः—यदि 'एकाचः' पद का अनुवर्त्तन है तो यहाँ इट् आगम नित्य होना चाहिए। तब 'सेटि' पद व्यर्थ हो जाता है। अतः काल के अवधारण के लिए किया जाता है—इट् आगम करने पर णिलोप हो जाय। (इट् आगम) न करने पर वहाँ णिलोप होने पर 'कारित' इस स्थल पर 'एकाच उपदेशेऽनु०' से इट् का निषेध प्रसक्त होता है।

(3054) जनिता मन्त्रे *53* (3542)

जनितेति मन्त्रविषये इडादौ णिलोपो निपात्यते। 'यो नः पिता जनिता' (ऋ० 10.82.3)। मन्त्र इति किम्? जनयिता।

अर्थ—मन्त्र के विषय में सेट् तृच् परे रहते 'जनितृ' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) जनिता
जन् णिच्—धातुसंज्ञा,
जन् इ इट् तृच्—अप्राप्त णिलोप निपातन से हुआ,
जनितृ सु—विभक्तिकार्य।

मन्त्र०—वेदमन्त्र में ही पूर्वोक्त निपातन होता है।

(2) जनयिता
लोक में णिलोप नहीं हुआ।

(3055) शमिता यज्ञे *54* (3543)

यज्ञकर्मणि शमितेति इडादौ तृचि णिलोपो निपात्यते। शृतं हविः शमितः। तृचि सम्बुद्ध्यन्तमेतत्। यज्ञे इति किम्? शृतं हविः शमयितः।

अर्थ—यज्ञकर्म के विषय में 'शमितृ' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) शमिता
शम् णिच्—धातुसंज्ञा,
शम् इ इट् तृच् सु—निपातन से णिलोप।

यज्ञ०—यज्ञकर्म में ही पूर्वोक्त निपातन होता है।

(2) शमयिता
यज्ञकर्म से अन्यत्र णिलोप नहीं होता है।

(3056) अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु *55* (2311)

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु—इत्येतेषु परतो णेरयादेशो भवति। कारयाञ्चकार। हारयाञ्चकार। अन्त–गण्डयन्तः। मण्डयन्तः। आलु–स्पृहयालुः। गृहयालुः। आय्य–स्पृहयाय्यः (ऋ० 6.4.12)। गृहयाय्यः। इत्नु–स्तनयित्नुः। इष्णु–पोषयिष्णवः (मै० 4.2.14) पार-यिष्णवः। 'न' इति वक्तव्ये अयादेशवचनमुत्तरार्थम्।

अर्थ—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु तथा इष्णु—इनके परे रहते 'णि' के स्थान पर 'अय्' आदेश होता है।

उदा० (क) **आमि**—

(1) कारयाञ्चकार
कारि—धातुसंज्ञा, लिट्,
कारि आम् लिट्—कास्प्रत्यया०, आमः, अयादेश,
कारयाम् कृ लिट्—कृञ्चाऽनुप्र०, द्वित्व,
कारयाञ्चकार—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) हारयाञ्चकार (पूर्ववत्)।

(ख) अन्ते—

(3) गण्डयन्तः
गडि → गण्ड्—इदितो नुम् धातोः, अनुस्वार, परसवर्ण,
गण्ड् णि झच्—तृभूवहि० (उ०सू० 408), झोऽन्तः,
गण्डि अन्त सु—अयादेश।

(4) मण्डयन्तः
पूर्ववत् 'झच्' आदि।

(ग) आलुचि—

(5) स्पृहयालुः
स्पृहि—णिच्, स्पृह धातु चौरादिक व अदन्त है, 'अतो लोपः' से अकारलोप, अकारलोप के स्थानिवत् होने से गुण प्रसक्त नहीं हुआ, धातुसंज्ञा,
स्पृहि आलुच्—स्पृहिगृहि० से आलुच्,
स्पृहय् आलु सु—अयादेश।

(6) गृहयालुः (पूर्ववत्)।

(घ) आय्ये—

(7) स्पृहयाय्यः
स्पृहि—पूर्ववत्,
स्पृहि आय्य—तनुदक्षिस्पृहि० से 'आय्य',
स्पृह य् आय्य सु—अयादेश।

(8) गृहयाय्यः (पूर्ववत्)।

(ङ) इत्नुचि—

(9) स्तनयित्नुः
स्तन्—चौरादिक व अदन्त है, 'अतो लोपः' से अकारलोप,
स्तन् णिच् इत्नुच्—स्तनिहृषिपुषि० से इत्नुच्,
स्तन य् इत्नु सु—अय् आदेश, अकारलोप के स्थानिवत् होने से 'अत उपधायाः' से विहित वृद्धि प्रसक्त नहीं हुई।

(च) इष्णुचि—

(10) पोषयिष्णवः
पुष् णिच् → पोषि—लघूपधगुण, धातुसंज्ञा,
पोषि इष्णुच्—णेश्छन्दसि,
पोषयिष्णु जस्—अयादेश।

(11) पारयिष्णवः (पूर्ववत्)।

न इति०—प्रस्तुत सूत्र के द्वारा अयादेश किया गया है। इसके स्थान पर णिलोप का निषेध करने पर 'नामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' इस प्रकार लाघव भी होता है। तब गुण होकर अयादेश हो जाता है। 'णिलोपः' अनुवृत्ति-प्राप्त है। केवल 'न' पद के योग की आवश्यकता थी।

(समा०) अयादेश का विधान उत्तर शास्त्र के लिए है।

(3057) ल्यपि लघुपूर्वात् *56* (3336)

ल्यपि परतो लघुपूर्वाद्वर्णादुत्तरस्य णेरयादेशो भवति। प्रणमय्य, प्रतमय्य, प्रदमय्य, प्रशमय्य, सन्दमय्य गतः। प्रबेभिदय्य गतः। प्रगणय्य गतः। ह्रस्वयलोपाल्लोपानामसिद्धत्वं न भवति, असमानाश्रयत्वात्—ह्रस्वादयो हि णौ, ल्यपि णेरयादेशो भवति। लघुपूर्वादिति किम्? प्रपात्यः गतः।

अर्थ—लघु वर्ण है पूर्व में जिसके, ऐसे वर्ण से उत्तर जो 'णि', उसके स्थान पर 'अय्' आदेश होता है, ल्यप् परे रहते।

उदा० (1) प्रणमय्य
प्र नम् णिच्—धातुसंज्ञा, क्त्वा, ल्यप्,
प्रणमय् य सु—अय् आदेश, णत्व।

(2) प्रतमय्य (पूर्ववत्)।
(3) प्रदमय्य (पूर्ववत्)।
(4) प्रशमय्य (पूर्ववत्)।
(5) सन्दमय्य (पूर्ववत्)।

(6) प्रबेभिदय्य
भिद् यङ्—बेभिद्य—द्वित्व, अभ्यासकार्य, धातुसंज्ञा,
बेभिद्य णिच्—यस्य हलः,
प्र बेभिद् इ ल्यप्—प्र उपसर्ग, क्त्वा, ल्यप्,
प्रबेभिदय्य सु—अयादेश।

(7) प्रगणय्य
गण् णिच्—अतो लोपः,
प्र गणय् य—पूर्ववत्।

ह्रस्वयलो०—(शंका) ह्रस्वादि कार्य आभीय हैं और प्रकृत अय् आदेश भी आभीय है। 'असिद्धवदत्राभात्' से ह्रस्वादि कार्य असिद्ध हो जाते हैं। फलतः लघुपूर्वत्व समाप्त हो जाता है।

(समा०) दोनों कार्यों के निमित्त भिन्न-भिन्न होने से ह्रस्वादेश, यलोप, अलोप, आलोप आदि असिद्ध नहीं होते। 'णि' परे रहते ह्रस्वादेश होता है तथा ल्यप् परे रहते अय् आदेश होता है।

लघु०—लघु वर्ण है पूर्व में जिसके, ऐसे वर्ण से उत्तर णि को 'अय्' होता है।

(8) प्रपात्य

प्र पत् णिच् ल्यप्—अत उपधायाः,
प्र पाति य—अय् नहीं हुआ,
प्र पात् य सु—णेरनिटि।

(3058) विभाषाऽऽपः *57* (3337)

आप उत्तरस्य णेर्ल्यपि परतो विभाषाऽयादेशो भवति। प्रापय्य गतः। प्राप्य गतः। इङादेशस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति–अध्याप्य गतः।

अर्थ—आप् से उत्तर जो 'णि' उसके स्थान पर विकल्प से 'अय्' आदेश होता है, ल्यप् परे रहते।

उदा० (1) प्रापय्य
आप् णिच्—धातुसंज्ञा,
प्र आपि ल्यप्—क्त्वा, ल्यप्,
प्रापय् य सु—अयादेश।

(2) प्राप्य
पक्ष में 'णेरनिटि' से णिलोप।

(3) अध्याप्य
अधि इङ् णिच्—'क्रीङ्जीनां णौ' से आत्व,
अधि आ पुक् इ—अर्त्तिह्री० से पुक्, 'आप्' से उत्तर णि को अय् आदेश प्राप्त हुआ, परन्तु यह 'आप्' लाक्षणिक अर्थात् सूत्र से निष्पन्न है, अतः अय् नहीं हुआ,
अध्याप् य सु—इको यणचि, णेरनिटि।

इङादे०—इङ् आदेशभूत 'आप्' के लाक्षणिक होने से उससे उत्तर णि को अय् नहीं होता है।

(3059) युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि *58* (3544)

यु प्लु—इत्येतयोर्ल्यपि परतश्छन्दसि विषये दीर्घो भवति। 'दान्त्यंनुपूर्वं वियूयं' (ऋ० 10.131.2)। 'यत्रा यो दक्षिणा परिप्लूय' (काठ०सं० 25.3)। छन्दसीति किम्? संयुत्य। आप्लुत्य।

अर्थ—वेद के विषय में यु तथा प्लु अंग को दीर्घ होता है, ल्यप् परे रहते।

उदा० (1) वियूय (ऋ० 10.131.2)
वि यु ल्यप्—दीर्घ हुआ,
वि यू य सु—विभक्तिकार्य।

(2) परिप्लूय (काठ०सं० 25.3)
परि प्लु ल्यप्—पूर्ववत्।

छन्दसी०—वेद में ही दीर्घ होता है।

(3) संयुत्य
सम् यु ल्यप्—लोक में तुक् हुआ।

(4) आप्लुत्य
लोक में तुक् होता है।

(3060) क्षियः *59* (3338)

क्षियश्च दीर्घो भवति ल्यपि परतः। प्रक्षीय।

अर्थ—'क्षि' अंग को दीर्घ होता है, ल्यप् परे रहते।

उदा० (1) प्रक्षीय
प्र क्षि ल्यप्—क्त्वा, ल्यप्,
प्र क्षी य सु—दीर्घ।

(3061) निष्ठायामण्यदर्थे *60* (3014)

ण्यतः कृत्यस्यार्थौ = भावकर्मणी, ताभ्यामन्यत्र या निष्ठा तस्यां क्षियो दीर्घो भवति। आक्षीणः। प्रक्षीणः। परिक्षीणः। अकर्मकत्वात् क्षियः कर्त्तरि क्तः। प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्येति 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' (6.4.76) इत्यधिकरणे क्तः। अण्यदर्थ इति किम्? अक्षितमसि मा मेक्षेष्ठाः (तै०सं० 1.6.5.1)। क्षितमिति भावे दीर्घाभावात् 'क्षियो दीर्घात्' (8.2.46) इति निष्ठानत्वमपि न भवति।

अर्थ—ण्यत् भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो निष्ठा, उसके परे रहते 'क्षि' अंग को दीर्घ होता है।

उदा० (1) आक्षीणः
आ क्षि क्त—दीर्घ, णत्व, गत्यर्थाकर्म०, क्षियो दीर्घात् से नत्व,
आ क्षी ण सु—णत्व।

(2) प्रक्षीणः (पूर्ववत्)।
(3) परिक्षीणः (पूर्ववत्)।

अकर्म०—अकर्मक होने से क्षि धातु से कर्त्ता अर्थ में 'क्त' होता है। 'प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्य' यहाँ 'क्तोऽधिकरणे च०' से अधिकरण में 'क्त' हुआ है।

अण्यद०—ण्यत् से भिन्न अर्थ में 'क्षि' को दीर्घ होता है।

(4) अक्षितम्
यहाँ भाव में 'क्त' हुआ है। तब दीर्घ नहीं हुआ। दीर्घ न होने पर निष्ठा को नत्व भी नहीं हुआ।

(3062) वाऽऽक्रोशदैन्ययोः *61* (3081)

आक्रोशे गम्यमाने, दैन्ये च क्षियो निष्ठायामण्यदर्थे वा दीर्घो भवति। क्षितायुरेधि। क्षीणायुरेधि। दैन्ये-क्षितकः। क्षीणकः। क्षितोऽयं तपस्वी। क्षीणोऽयं तपस्वी।

अर्थ—आक्रोश और दैन्य अर्थों में तथा ण्यत् भिन्न अर्थ में वर्त्तमान निष्ठा के परे रहते 'क्षि' अंग को विकल्प से दीर्घ होता है।

उदा० (क) आक्रोशे—

(1) क्षीणायुः
क्षि क्त—पाक्षिक दीर्घ, नत्व, णत्व।

(2) क्षितायुः
पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ।

(ख) दैन्ये—

(3) क्षीणकः
दीर्घ हुआ।

(4) क्षितकः
पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ।

(5) क्षीणः (पूर्ववत्)।
(6) क्षितः
दीर्घ नहीं हुआ।

(3063) स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च *62* (2757)

स्य, सिच्, सीयुट्, तासि-इत्येतेषु भावकर्मविषयेषु परत उपदेशेऽजन्तानामङ्गानाम्, हन्, ग्रह, दृश्-इत्येतेषां च चिण्वत्कार्यं भवति वा। यदा चिण्वत् तदा इडागमो भवति। कस्य? स्यसिच्सीयुट्तासीनामेवेति वेदितव्यम्; ते हि प्रकृताः। अङ्गस्य तु लक्ष्यविरोधान्न क्रियते। कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि?

चिण्वद्वृद्धिर्युक्च हन्तेश्च घत्वं
दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति।
इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णि-
र्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती॥
(म०भा०, श्लो०वा०)

अजन्तानां तावत्-चायिष्यते, चेष्यते, अचायिष्यत, अचेष्यत। दायिष्यते, दास्यते, अदायिष्यत, अदास्यत। शामिष्यते, शमिष्यते, शमयिष्यते, अशामिष्यत, अशमिष्यत, अशमयिष्यत। हन्-घानिष्यते, हनिष्यते, अघानिष्यत, अहनिष्यत। ग्रह-ग्राहिष्यते, ग्रहीष्यते, अग्राहिष्यत, अग्रहीष्यत। 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (7.2.37) इति प्रकृतस्येटो दीर्घत्वम्। दृश्-दर्शिष्यते, द्रक्ष्यते, अदर्शिष्यत, अद्रक्ष्यत। सिच्यजन्तानाम्-अचायिषाताम्, अचेषाताम्। अदायिषाताम्, अदिषाताम्। अशामिषाताम्। अशमिषाताम्, अशमयिषाताम्। हन्-अघानिषाताम्, अवधिषाताम्, अहसाताम्। ग्रह्-अग्राहिषाताम्, अग्रहीषाताम्। दृश्-अदर्शिषाताम्, अदृक्षाताम्। सीयुटि अजन्तानाम्-चायिषीष्ट, चेषीष्ट। दायिषीष्ट, दासीष्ट। शामिषीष्ट, शमिषीष्ट, शमयिषीष्ट। हन्-घानिषीष्ट, वधिषीष्ट। ग्रह-ग्राहिषीष्ट, ग्रहीषीष्ट। दृश्-दर्शिषीष्ट, दृक्षीष्ट। तासावजन्तानाम्-चायिता, चेता। दायिता, दाता। शामिता, शमिता, शमयिता। हन्-घानिता, हन्ता। ग्रह-ग्राहिता, ग्रहीता। दृश्—दर्शिता, दर्ष्टा, द्रष्टा। स्यसिच्सीयुटतासिष्विति किम्? चेतव्यम्, दातव्यम्। भावकर्मणोरिति किम्? चेष्यति। दास्यति। उपदेश इति किम्? कारिष्यते-इति गुणे कृते रपरत्वे च न प्राप्नोति, उपदेशग्रहणाद् भवति। अज्झनग्रहदृशामिति किम्? पठिष्यते। अङ्गाधिकारविहितं कार्यमिहातिदिश्यते, तेन हनिणिङामादेशा न भवति। हनिष्यते, घानिष्यते। एष्यते, आयिष्यते। अध्येष्यते, अध्यायिष्यते। 'हनो वध लिङि' (2.4.42), 'लुङि च' (2.4.43), 'इणो गा लुङि' (2.4.45), 'विभाषा लुङ्लृङोः' (2.4.50) इत्येते विधयो न भवन्ति।

अर्थ—भाव तथा कर्म गम्यमान हों तो उपदेश में जो अच् वर्ण, तदन्त अंग तथा हन्, ग्रह् व दृश—इन अंगों को स्य, सिच्, सीयुट् तथा तास् परे रहते विकल्प से चिण्वद्भाव होता है तथा चिण्वद्भाव पक्ष में 'स्य' आदि को 'इट्' आगम होता है।

प्रकृत सूत्र में 'आर्धधातुके' का अधिकार है। अतः 'सीयुट्' के द्वारा आर्धधातुक सीयुट् (आशीर्लिङ्) का ग्रहण होता है। चिण्वद्भाव अंग को होता है तथा इट् आगम 'स्य' आदि को होता है[1]।

1. महा० 6.4.62 यावान् इण् नाम स सर्व आर्धधातुकस्यैव भवति।

चिण्वद्भाव का अर्थ यह है कि चिण् होने पर जो अंगकार्य होते हैं, वे सभी कार्य 'स्य' आदि के परे रहते होंगे। चिण् के णकार व चकार की इत्संज्ञा होती है।

कानि०—चिण्वद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ? इन प्रयोजनों को निम्नलिखित कारिका में निबद्ध कर दिया गया है—

चिण्वद्वृद्धिः—चिण् परे रहते णिन्निमित्तक (अत उपधायाः/ अचो ञ्णिति) वृद्धि होती है।

युक्च०—चिण् परे रहते आकारान्त धातु को युक् आगम (आतो युक् चिण्०) होता है।

हन्तेश्च घत्वम्०—चिण् परे रहते हन् धातु के हकार के स्थान पर घकार (हो हन्ते०) होता है।

दीर्घ—चिणीति—चिण् परे रहते मित् अंग की उपधा को पाक्षिक दीर्घ होता है (चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्य०)।

ईट्—णिः—चिण्वद्भाव करने पर 'स्य' आदि को जो इट् आगम होता है, वह आभीय कार्य होने से असिद्ध है। तब 'णेरनिटि' से णिलोप हो जाता है।

नित्य—विघाती—यह इट् आगम नित्य तथा वलादि लक्षण वाला इट् अनित्य होता है।[1]

उदा० (क) अजन्तानाम् स्ये—

(1) चायिष्यते
चि स्य त—कर्मवाच्य, लृट्, स्य,
चि इट् स्य त—चिण्वद्भाव, वृद्धि,
चै इ स्य त—आयादेश,
चायिष्यते—आदेशप्रत्यययोः, टित आत्मने०।

(2) चेस्यते
पक्ष में स्य, गुण।

(3) अचायिष्यत
अ चि स्य त—कर्मवाच्य, लृङ्,
अ चै इट् स्य त—चिण्वद्भाव, इट्, वृद्धि,
अ चाय् इ स्य त—आय्,
अचायिष्यत—षत्व।

(4) अचेष्यत
पक्ष में गुण हुआ।

(5) दायिष्यते
दा स्य त—कर्मवाच्य, लृट्,
दा युक् इट् स्य त—पूर्ववत्, युक्, इट्,
दायिष्यते—मूर्धन्य।

(6) दास्यते
पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं हुआ।

(7) अदायिष्यत
अ दा स्य त—लृङ्, चिण्वद्भाव,
अ दा य् इ स्य त—युक् आगम।

(8) अदास्यत
चिण्वद्भाव नहीं हुआ।

(9) शामिष्यते
शम् स्य त—चिण्वद्भाव, जनीजृष्क्नसु० भ्वा० गण सूत्र से मित् संज्ञा, मितां ह्रस्वः,
शाम् इ स्य त—अत उपधायाः। 'असिद्धवदत्राभात्' से इट् के असिद्ध होने से णिलोप।

(10) शमिष्यते
पक्ष में।

(11) शमयिष्यते
णिच् पक्ष, वलादिक इट्।

(12) अशामिष्यत
अट् शम् स्य त—लृङ्, चिण्वद्भाव,
अ शाम् इ स्य त—पूर्ववत्।

(13) अशमिष्यत
पक्ष में।

(14) अशमयिष्यत
णिच् इट्।

(ख) हनः स्ये—

(15) घानिष्यते
हन् स्य त—चिण्वद्भाव,
घान् इ स्य त—अत उपधायाः, हो हन्तेर्०,
घानि स्य ते—मूर्धन्य।

(16) हनिष्यते

---

1. भावि तास् त—इस स्थल पर 'स्यसिच्सीयुट्०' से चिण्वदिट् तथा 'आर्धधातुकस्येड्' से इट्—दोनों युगपत् प्राप्त हैं। परत्व से वलादि लक्षण इट् प्राप्त हुआ, परन्तु चिण्वदिट् नित्य है। अतः नित्य कार्य के बलवान् होने से चिण्वदिट् हुआ।
भाविता।

चिण्वद्भाव नहीं हुआ।

(17) अघानिष्यत
अट् हन् स्य त—चिण्वद्भाव,
अ घान् इ स्य त—पूर्ववत्।

(18) अहनिष्यत
चिण्वद्भाव नहीं हुआ।

(ग) ग्रहः स्ये—

(19) ग्राहिष्यते
ग्रह् स्य त—लृट्, अत उपधायाः, इट्,
ग्राह् इ स्य त—मूर्धन्य,
ग्राहिष्यते—एत्व।

(20) ग्रहीष्यते
चिण्वद्भाव नहीं हुआ, ग्रहोऽलिटि० से दीर्घ।

(21) अग्राहिष्यत
अट् ग्रह् स्य त—पूर्ववत्, उपधादीर्घ, इट्,
अ ग्राहि ष्य त—षत्व।

(22) अग्रहीष्यत
अट् ग्रह् स्य त—लृङ्, चिण्वद्भाव, वलादिक इट्,
अ ग्रहीष्य त—पूर्ववत् दीर्घ।

(घ) दृशः स्ये—

(23) दर्शिष्यते
दृश् स्य त—लृट्, चिण्वद्भाव,
दर्श् इ स्य त—गुण, मूर्धन्य।

(24) द्रक्ष्यते
दृश् स्य त—चिण्वद्भाव नहीं हुआ,
द्रक् स्यत—मूर्धन्य आदेश।

(25) अदर्शिष्यत
अट् दृश् स्य त—लृङ्, चिण्वद्भाव,
अदर्श् इ स्य त—गुण, मूर्धन्य।

(26) अद्रक्ष्यत
अद्रश् स्य त—पक्ष में,
अद्रक् ष्य त—पूर्ववत्।

(ङ) अजन्तानां सिचि—

(27) अचायिषाताम्
अ चि सिच् आताम्—लुङ्, सिच्, चिण्वद्भाव,
अ चै इ स् आताम्—अचो ञ्णिति,
अ चाय् इ साताम्—आय् आदेश,
अचायिषाताम्—षत्व।

(28) अचेषाताम्
अ चि स् आताम्—पक्ष में चिण्वत् नहीं हुआ,
अ चे स् आताम्—गुण,
अचेषाताम्—षत्व।

(29) अदायिषाताम्
अ दा सिच् आताम्—चिण्वद्भाव,
अ दा य् इ स् आताम्—आतो युक्०,
अदायिष् आताम्—मूर्धन्य।

(30) अदिषाताम्
अ दा स् आताम्—स्थाघ्वोरिच्च,
अ दि स् आताम्—षत्व,
अ दि ष् आताम्—आदेशप्रत्यययोः।

(31) अशामिषाताम्
अ शम् स् आताम्—लुङ्, सिच्,
अ शाम् इ स् आताम्—अत उपधायाः,
अशामि ष् आताम्—षत्व।

(32) अशमिषाताम्
अ शम् इट् स् आताम्—चिण्वद्भाव नहीं हुआ,
अशमिष् आताम्—वलादिलक्षण इट्, षत्व।

(33) अशमयिषाताम्
अ शम् णिच् इट् स् आताम्—गुण, अयादेश, षत्व आदि होकर।

(च) हनः सिचि—

(34) अघानिषाताम्
अ हन् स् आताम्—चिण्वद्भाव,
अ हान् इ स् आताम्—अत उपधायाः,
अघान् इ ष् आताम्—हो हन्ते०, षत्व।

(35) अवधिषाताम्
अ वध् इट् स् आताम्—चिण्वद्भाव नहीं हुआ, 'लुङि च' से 'वध' आदेश, वलादिलक्षण इट्।

(36) अहसाताम्
अ हन् स् आताम्—'हनः सिच्' से कित्व, 'अनुदात्तोपदेश-वन०' से नकारलोप।

(घ) ग्रहः सिचि—

(37) अग्राहिषाताम्

अ ग्रह् स् आताम्—लुङ्, चिण्वद्भाव, अत उपधायाः, षत्व आदि,

अ ग्राहिष् आताम्—पूर्ववत्।

(38) अग्रहीषाताम्

अ ग्रह् इ स् आताम्—पक्ष में वलादिलक्षण इट्, 'ग्रहोऽलि०' से दीर्घ।

(ज) दृशः सिचि—

(39) अदर्शिषाताम्

अ दृश् स् आताम्—चिण्वद्भाव, लघूपधगुण, इट्,

अ दर्श् इ ष् आताम्—षत्व।

(40) अदृक्षाताम्

अ दृश् स् आताम्—पक्ष में, लिङ्सिचावा०,

अदृक् स् आताम्—व्रश्चभ्रस्ज०, षढोः कः सि,

अदृक् ष् आताम्—मूर्धन्य।

(झ) अजन्तानां सीयुटि—

(41) चायिषीष्ट

चि सीयुट् त—आ० लिङ, लिङः सीयुट्०, चिण्वद्भाव, इट्,

चि इ सीयुट् सुट् त—सुट् तिथोः, अचो ञ्णिति,

चै इ सीय् स् त—आयादेश, यकारलोप,

चायि षी ष् ट—षत्व, ष्टुत्व।

(42) चेषीष्ट

चि सीयुट् सुट् त—पूर्ववत्, चिण्वद्भाव नहीं हुआ,

चेषीष्ट—आर्धधातुक गुण, शेष पूर्ववत्।

(43) दायिषीष्ट

दा सीयुट् सुट् त—चिण्वद्भाव,

दा य् इ सीय् स् त—आतो युक्०, इट्, यलोप,

दायि षी ष् ट—षत्व, ष्टुत्व।

(44) दासीष्ट

दा सीय् स् त—चिण्वद्भाव अभाव,

दा सीष् ट—षत्व, ष्टुत्व।

(45) शामिषीष्ट

शम् सीयुट् सुट् त—चिण्वद्भाव,

शाम् इ सीय् स् त—अत उपधायाः, इट्, यलोप,

शामि षी ष् ट—षत्व, ष्टुत्व।

(46) शमिषीष्ट

शम् इ सीय् स् त—चिण्वद्भाव अभाव, वलादिक इट्,

शमि षी ष् ट—षत्व, ष्टुत्व।

(47) शमयिषीष्ट

शम् णिच् इट् सीय् स् त—णिच्, वलादिक इट्,

शमे इ सी स् त—गुण, यलोप,

शमयि षी ष् ट—अयादेश, षत्व, ष्टुत्व।

(ञ) हनः सीयुटि—

(48) घानिषीष्ट

हन् सीयुट् सुट् त—चिण्वद्भाव, इट्,

घान् इ सीय् स् त—अत उपधायाः, हो हन्ते०, यलोप,

घानि षी ष् ट—षत्व, ष्टुत्व।

(49) वधिषीष्ट

वध् इ सीय् सुट् त—चिण्वद्भाव अभाव,

वधि षी ष् ट—वलादिक इट्, षत्व, ष्टुत्व।

(ट) ग्रहः सीयुटि—

(50) ग्राहिषीष्ट

ग्रह् सीयुट् सुट् त—चिण्वद्भाव, इट्,

ग्राह् इ सीय् स् त—अत उपधायाः, यलोप,

ग्राहि षी ष् ट—षत्व, ष्टुत्व।

(51) ग्रहीषीष्ट

ग्रह् इ सीय् स् त—पक्ष में वलादिलक्षण इट्,

ग्रही षी ष् ट—ग्रहोऽलिटि दीर्घः।

(ठ) दृशः सीयुटि—

(52) दर्शिषीष्ट

दृश् सीय् स् त—चिण्वद्भाव, इट्

दर्श् इ सीय् स् त—गुण, यलोप,

दर्शि षी ष् ट—पूर्ववत्।

(53) दृक्षीष्ट

दृश् सीय् स् त—पक्ष में,

दृक् षी ष् ट—व्रश्चभ्रस्ज०, षढो कः सि,

(ड) अजन्तानां तासि—

(54) चायिता

चि तास् डा—लुट्, तिप्, डा, चिण्वद्भाव, इट्,

चै इ त् आ—अचो ञ्णिति, टिलोप,

चाय् इ ता—आय्।

(55) चेता
चि तास् डा—पक्ष में,
चेता—गुण।

(56) दायिता
दा तास् डा—चिण्वद्भाव,
दा य् ता—टिलोप, युक्।

(57) दाता
दा तास् डा—पक्ष में,
दा त् आ—टिलोप।

(58) शामिता
शम् तास् डा—चिण्वद्भाव, इट्,
शाम् इ तास् डा—अत उपधायाः,
शामि त् आ—टिलोप।

(59) शमिता
शम् इ तास् डा—पक्ष में वलादिक इट्,
शमि त् आ—टिलोप।

(60) शमयिता
शम् णिच् इट् तास् डा—वलादिक इट्,
शमि इ त् आ—टिलोप।

(ढ) हनः तासि—

(61) घानिता
हन् तास् डा—चिण्वद्भाव, इट्,
हान् इ त् आ—अत उपधायाः, टिलोप,
घानि त् आ—हो हन्ते०।

(62) हन्ता
हन् तास् डा—पक्ष में,
हन् त् आ—टिलोप।

(ण) ग्रहः तासि—

(63) ग्राहिता
ग्रह् तास् डा—चिण्वद्भाव, इट्,
ग्राह् इ तास् डा—अत उपधायाः,
ग्राहि त् आ—टिलोप।

(64) ग्रहीता
ग्रह् इ तास् डा—पक्ष में वलादिक इट्,
ग्रही त् आ—ग्रहोऽलिटि०।

(त) दृशः तासि—

(65) दर्शिता
दृश तास् डा—चिण्वद्भाव, इट्,
दर्श् इ त् आ—गुण, टिलोप,
दर्शि त् आ—पूर्ववत्।

(66) दर्ष्टा
दृश तास् डा—पक्ष में,
दर्श् त् आ—टिलोप, गुण,
दर्ष् टा—व्रश्च०, ष्टुत्व।

(67) द्रष्टा
दृश् तास् डा—पक्ष में,
द्रश् त् आ—अम्, टिलोप,
द्रष् टा—व्रश्चभ्रस्ज०।

स्यसिच् आदि परे रहते चिण्वद्भाव होता है।

(68) चेतव्यम्
चि तव्यत्—कर्म में तव्यत् है, स्य आदि न होने से चिण्वद्भाव नहीं हुआ।

(69) दातव्यम् (पूर्ववत्)।

भाव व कर्म में ही चिण्वद्भाव होता है।

(70) चेष्यति
चि स्य तिप्—लृट्, न भाव है तथा न कर्म है, अतः चिण्वद्भाव नहीं हुआ।

(71) दास्यति
दा स्य तिप्—पूर्ववत् चिण्वद्भाव नहीं हुआ, तब युक् आगम नहीं हुआ।

उपदेश०—उपदेश में जो अजन्त, उसे चिण्वद्भाव होता है।

(72) कारिष्यते
कृ इ स्य त—'कर्' अजन्त नहीं है, तब चिण्वद्भाव नहीं हुआ, परन्तु 'कृ' उपदेश में अजन्त है। अतः चिण्वद्भाव हुआ,
कारि ष्यते—षत्व।

अज्झन०—अजन्त, हन्, ग्रह् तथा **दृश्**—इनको ही चिण्वद्भाव होता है।

(73) पठिष्यते

पठ् इ स्य त—कर्म अर्थ है, 'स्य' परे है; परन्तु उपदेश में अजन्त नहीं है। अतः चिण्वद्भाव नहीं हुआ। वलादिलक्षण इट् हुआ।

अङ्गाधि॰—अंगाधिकार में विहित कार्य का यहाँ अतिदेश किया जा रहा है। अतः हन्, इण् व इङ् को आदेश नहीं होते हैं।

(74) हनिष्यते
हन् स्य त—ऋद्धनोः स्ये,
हन् इ स्य त—षत्व।

(75) घानिष्यते
हन् स्य त—स्यतासी॰,
घान् इ स्य त—उपधावृद्धि, कुत्व।

(76) एष्यते
इ स्य त—सार्वधातुकार्धधातु॰,
ए स्य त—षत्व।

(77) आयिष्यते
इ स्य त—इट्,
ऐ इ स्य त—वृद्धि,
आयिस्यत—आय्, षत्व, एत्व।

(78) अध्येष्यते
अधि इ स्य त—इको यणचि,
अधि ए स्य त—गुण,
अध्ये ष्य ते—यण्, षत्व।

(79) अध्यायिष्यते
अधि इ स्य त—
अधि ऐ इ स्य त—वृद्धि,
अध्यायि ष्यते—आय्, षत्व, एत्व।

(3064) दीङो युडचि क्ङिति *63* (2507)

दीङो युडागमो भवति अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः। उपदिदीये, उपदिदीयाते, उपदिदीयिरे। 'दीङः' इति पञ्चमीनिर्देशादजादेर्युडागमो भवति। विधानसामर्थ्याच्च 'एरनेकाचः' (6.4.82) इति यणादेशे कर्त्तव्ये तस्यासिद्धत्वं न भवति। अचीति किम्? उपदेदीयते। क्ङितीति किम्? उपदानम्।

अर्थ—दीङ् से उत्तर अजादि कित् व ङित् प्रत्ययों को युट् आगम होता है। उकार व टकार की इत्संज्ञा है।

उदा॰ (1) उपदिदीये
दी त → दि ए—लिट्, लिटस्तझयो॰,
दी दीय् ए—असंयोगाल्लिट्॰, गुण का निषेध, युट्, द्वित्व, हलादि शेष,
उपदिदीये—ह्रस्वः।

(2) उपदिदीयाते
उप दि दीय् आताम्—सभी कार्य पूर्ववत्।

(3) उपदिदीयिरे
झ, 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'इरेच्' हुआ, शेष पूर्ववत्।

'दीङः' में पञ्चमी विभक्ति है। 'अचि' में सप्तमी निर्देश है। पञ्चमी का निर्देश बलवान् होता है। अतः दीङ् से उत्तर अव्यवहित अजादि का आदि अवयव युट् होता है।

दि दी य् ए—इस दशा में 'दीङो युडचि॰' (6.4.63) से विहित 'युट्' 'असिद्धवदत्राभात्' से असिद्ध हुआ। 'एरनेका॰' से यणादेश प्राप्त हुआ। 'वुग्युटावुवङ्यणो॰' से युट् आगम सिद्ध हो गया। यणादेश नहीं हुआ।

अचीति॰—अजादि प्रत्यय को 'युट्' होता है।

(4) उपदेदीयते
उप दी यङ्—सन्यङोः, ङित् है परन्तु अजादि नहीं है, युट् नहीं हुआ,
उपदेदीय—धातुसंज्ञा, लट्।

क्ङिती॰—कित् व ङित् को ही 'युट्' होता है।

(5) उपदानम्
उप दी ल्युट्—युवोरनाकौ,
उप दी अन—अजादि प्रत्यय है परन्तु न तो कित् है तथा न ही ङित् है, युट् नहीं हुआ,
उप दा अन सु—मीनातिमिनोति॰ से आत्व।

(3065) आतो लोप इटि च *64* (2372)

इट्यजादावार्धधातुके क्ङिति चाकारान्तस्याङ्गस्य लोपो भवति। इटि–पपिथ। तस्थिथ। किति–पपतुः, पपुः। तस्थतुः, तस्थुः। गोदः। कम्बलदः। ङिति–प्रदा। प्रधा। 'आर्धधातुके' इत्येव–यान्ति। वान्ति। व्यत्यरे। व्यत्यले। रातेर्लातेश्च लङि इटि रूपम्। अचीत्येव–ग्लायते। दासीय।

अर्थ—अंगसंज्ञक शब्द के आकार का लोप होता है, अजादि कित् व ङित् तथा अजादि आर्धधातुक इट् परे रहते।

उदा० (क) इटि—

(1) पपिथ

पा थल्—लिट्, सिप्, परस्मैपदानां णल०, एकाच उपदेशे०, कृसुभृवृ०, अचस्तास्व०, ऋतो भारद्वाजस्य,

प प् इ थ—आकारलोप।

(2) पपाथ—पक्ष में।

(3) तस्थिथ

स्था इ थ—पूर्ववत् थल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य,

त स्थ् इ थ—शर्पूर्वाः खयः, अभ्यासे चर्च, आकारलोप।

(ख) किति—

(4) पपतुः

पा अतुस्—असंयोगाल्लिट्०, लिट् च, आकारलोप व द्वित्व—दोनों की युगपत् प्राप्ति, परत्व के कारण आकारलोप, द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश, द्वित्व,

पा प् अतुस्—ह्रस्वः,

प प् अतुस्—रूप बना।

(5) पपुः

पा उस्—'झि' को 'उस्',

प प् उस्—शेष कार्य पूर्ववत्।

(6) तस्थतुः

स्था अतुस्—प्र० पु० द्विवचन,

त स्थ् अतुस्—पूर्ववत्।

(7) तस्थुः

स्था उस्—पूर्ववत्,

त स्थ् उस्—आकारलोप।

(8) गोदः

गो दा क—आतोऽनुपसर्गे कः,

गो द् अ सु—आकारलोप।

(9) कम्बलदः

कम्बल दा क—पूर्ववत्,

कम्बल द् अ सु—आकारलोप।

(ग) ङिति—

(10) प्रदा

प्र दा अङ्—आकारलोप,

प्र द् अ टाप् सु—टाप्, विभक्तिकार्य।

(11) प्रधा

प्र धा अङ्—पूर्ववत्,

प्र ध् अ टाप् सु—पूर्ववत्।

आर्धधा०—आर्धधातुक परे रहते आकारलोप होता है।

(12) यान्ति

या झि—झोऽन्तः, सार्वधातुकमपित्, ङित् है परन्तु आर्धधातुक न होने से आकारलोप नहीं होता है।

(13) वान्ति (पूर्ववत्)।

(14) व्यत्यरे

वि अति रा इट्—कर्मव्यतिहार अर्थ, कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे, से आत्मनेपद, लङ्, उ०पु० एकवचन,[1] अट्,

वि अति अ रा इ—अजादि है परन्तु आर्धधातुक नहीं है, आकारलोप नहीं हुआ, 'आद्गुणः' से गुण।

(15) व्यत्यले

वि अति अट् ला इ—पूर्ववत्।

अचीत्ये०—अजादि परे रहते ही आकारलोप होता है।

(16) ग्लायते

ग्लै यक् त—भाव में लकार, सार्वधातुके यक्,

ग्ला य ते—आदेच उपदेशेऽशिति, यक् कित् है परन्तु अजादि न होने से आकारलोप नहीं होता है।

(17) दासीय

दा सीयुट् इट्—आशीर्लिङ्, इटोऽत्,

दा सीय् अत्—लिङाशिषि, से आर्धधातुक संज्ञा, सीयुट् अजादि नहीं हैं,

दासीय् अ—आकारलोप नहीं हुआ।

(18) जाग्लायते[2]

ग्लै चङ्—आत्व, द्वित्व।

गा ग्ला य—हलादि शेष, ह्रस्वः, कुहोश्चुः, दीर्घ,

1. सूत्रस्थ 'इटि' पद के द्वारा इट् आगम का ग्रहण होता है या उ०पु० एकवचन के इट् प्रत्यय का ? इस विषय में दो मत हैं—

(क) नागेशप्रभृति विद्वान् यहाँ वलादिक इट् आगम का ग्रहण करते हैं। इस दशा में 'आर्धधातुके' पद के अध्याहार की कोई आवश्यकता नहीं है।

(ख) दीक्षितप्रभृति विद्वान् 'इट्' के द्वारा इट् आगम व इट् प्रत्यय दोनों का ग्रहण करते हैं। इनके मत में 'इटि' पद का 'आर्धधातुके' विशेषण अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा 'व्यत्यरे' आदि रूप सिद्ध नहीं हो पाते हैं (द्र०—वै०सि०कौ० सूत्र 2372 तथा बाल० सूत्र 2372)।

2. यह प्रत्युदाहरण काशिका में नहीं है।

जाग्लाय—धातुसंज्ञा, यङ् ङित् है, आर्धधातुक है परन्तु अजादि नहीं है, आकारलोप नहीं हुआ,

जाग्लायते—लट्, त, शप्।

(3066) ईद्यति *65* (2843)

ईकार आदेशो भवति आकारान्तस्याङ्गस्य यति परतः। देयम्। धेयम्। हेयम्। स्तेयम्।

अर्थ—आकारान्त अंग को 'ईत्' आदेश होता है, 'यत्' परे रहते।

उदा० (1) देयम्
दा यत्—अंगसंज्ञा,
दी य—ईत् आदेश,
देय सु—सार्वधातुकार्धधातु०।

(2) धेयम्
धा यत्—पूर्ववत्।

(3) हेयम् (पूर्ववत्)।
(4) स्तेयम् (पूर्ववत्)।

विशेष—चाहे ह्रस्व इकार के स्थान पर अथवा दीर्घ ईकार के स्थान पर गुण किया जाय—दोनों ही स्थितियों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः प्रकृत सूत्र में 'ईत्' के स्थान पर 'इत्' का पाठ करने में लाघव होता है।

(समा०) वस्तुतः 'ईत्' उत्तर शास्त्र के लिए है।[1]

ईत् में तकार उच्चारणार्थ है। ईकार के अण् में गृहीत न होने से यह अपने सवर्णों का ग्राहक नहीं बन सकता।[2]

(3067) घुमास्थागापाजहातिसां हलि *66* (2462)

घुसंज्ञकानामङ्गानां मा, स्था, गा, पा, जहाति, सा- इत्येतेषां हलादौ क्ङिति प्रत्यये परत ईकारादेशो भवति। दीयते, देदीयते। धीयते, देधीयते। मीयते, मेमीयते। स्थीयते, तेष्ठीयते। गीयते, जेगीयते। अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत। पीयते, पेपीयते। पातेरिह ग्रहणं नास्ति; लुग्विकरणत्वात्। पायते-इत्येव तस्य भवति। हीयते। जेहीयते। जहातेरिह निर्देशाद् जिहातेर्ग्रहणं न भवति। हायते। 'षोऽन्तकर्मणि' (धा०पा० 1148)- अवसीयते, अवसेसीयते। हलीति किम्? ददतुः, ददुः। आतो लोपाद्धि परत्वादीत्वं स्यात्। एतदेव हल्ग्रहणं ज्ञापकम्-अस्मिन् प्रकरणे विप्रतिषेधेनासिद्धत्वं भवति। 'क्ङिति' इत्येव-दाता। धाता।

अर्थ—घु, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् तथा षो—इन अंग-संज्ञकों के आकार के स्थान पर 'ईत्' होता है, हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे रहते।

उदा० (क) घुसञ्ज्ञकस्य—

(1) दीयते
दा यक् त—सार्वधातुके यक्,
दीयते—ईत्, एत्व।

(2) देदीयते
दा यङ् → दी यङ्—ईत्,
दी दी य—द्वित्व,
दे दीयत—गुण, लकार।

(3) धीयते
'दीयते' की तरह।

(4) देधीयते
'देदीयते' की तरह। 'अभ्यासे चर्च' विशेष होता है।

(ख) माधातोः—

(5) मीयते
मा यक् त—'ईत्' हुआ,
मीयते—एत्व।

(6) मेमीयते
मा यङ् → मी य—'ईत्' हुआ, द्वित्व,
मे मी य शप् त—गुण, लट्।

(ग) स्थाधातोः—

(7) स्थीयते
स्था यक् त—पूर्ववत्।

(8) तेष्ठीयते
स्था यङ् → स्थी यङ्—ईत् हुआ,
थी स्थी य—द्वित्व, शर्पूर्वाः खयः,
तेष्ठीयते—अभ्यासे चर्च, गुण, ष्टुत्व।

(घ) गारूपधातोः—

(9) गीयते

1. न्यास० ६.४.६५ दीर्घोच्चारणमुत्तरार्थम्।
2. न्यास० ६.४.६५ तकार उच्चारणार्थः।

गै → गा यक् त—आत्व,
गीयत—ईत्,
गीयते—एत्व।

(10) जेगीयते
गै → गा यङ्—गी यङ्—ईत्, द्वित्व,
जी गी य—कुहोश्चुः,
जेगीयते—गुण, धातुसंज्ञा, 'त'।

(11) अध्यगीष्ट
इङ् → गाङ् लुङ्—लुङ् की विवक्षा में पाक्षिक गाङ्,
अधि गा स् त—च्लि, सिच्, गाङ्कुटादि० से ङित्,
अधि गी ष् त—ईत्, षत्व,
अध्यगीष्ट—अट्, यण्, ष्टुत्व।

(12) अध्यगीषाताम्
अधि गा स् आताम्—प्र०पु० द्विवचन, शेष पूर्ववत्,
अधि अ गी ष् आताम्—ईत्, षत्व,
अध्यगीषाताम्—यण्।

(13) अध्यगीषत
अधि गा स् झ—आत्मनेपदेष्वनतः,
अधि अ गी स् अत—ईत्,
अध्यगीषत—षत्व, यण्।

(ङ) पाधातोः—
(14) पीयते
पा यक् त—ईत्,
पी य ते—एत्व।

(15) पेपीयते
पा यङ्—यङ्, ईत्,
पी पी य—द्वित्व, गुण,
पे यी य—धातुसंज्ञा,
पेपीय शप् त—शप्,
पेपीयते—रूप बना।

पातेरिह०—'पा' धातु का यहाँ ग्रहण नहीं है। 'पा' आदादिक धातु है। इससे शप् लुक् होता है।

(16) पायते
पा यक् त—'ईत्' नहीं हुआ।

(च) हाधातोः—
(17) हीयते
हा यक् त—ईत्।

(18) जेहीयते
हा यङ् → ही य—ईत्,
जिहीय—द्वित्व, ह्रस्वः, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,
जे हीय त—धातुसंज्ञा।

जहाते०—'जहाति' इस निर्देश से यहाँ 'जिहाति' (ओहाङ् गतौ) का ग्रहण नहीं होता है।

(19) हायते
हा यक् त—'ईत्' नहीं हुआ।

(छ) षोधातोः—
(20) अवसीयते
अव षो यक् त—धात्वादेः षः सः, ईत्,
अवसीयते—एत्व।

(21) अवसेसीयते
अव सो यङ्—ईत्,
अव सी सी य—द्वित्व,
अवसेसीयते—गुण, धातुसंज्ञा, 'त'।

हलीति०—हलादि परे रहते ही ईत् होता है।

(22) ददतुः
दा अतुस्—कित् है परन्तु हलादि नहीं है, अतः ईत् नहीं हुआ,
द् अतुस्—आकारलोप, रूपातिदेश, द्वित्व,
दा द् अतुस्—ह्रस्वः।

(23) ददुः
'झि' को 'उस्' आदेश, शेष पूर्ववत्।

आतो०—आकार के लोप की अपेक्षा पर होने से ईत्व होता। प्रस्तुत सूत्र में हल् ग्रहण ज्ञापक है कि इस प्रकरण में विप्रतिषेध से असिद्धभाव होता है।

प्रस्तुत सूत्र 'दीयते' आदि में (अर्थात् हल् परे रहते) सावकाश है तथा 'आतो लोप इटि च' सूत्र 'ययतुः' आदि में सावकाश है। 'ददतुः' में आलोप तथा ईत्व युगपत् प्राप्त होते हैं। ईत्व पर है। परशास्त्र के बलवान् होने से ईत्त्व होना चाहिए।

(शंका) यहाँ असिद्ध प्रकरण हैं। अतः आलोप तथा ईत्त्व—दोनों कार्य असिद्धवत् हैं। तब इनमें पूर्वता व परता का प्रश्न ही नहीं उठता है ?

(समा०) प्रकृत सूत्र में 'हलि' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता

है कि असिद्धभाव प्रकरण में विप्रतिषेध होता है। यदि असिद्ध प्रकरण में विप्रतिषेध न होता तो 'गो दा क' इस स्थल पर आलोप होकर 'गोद' शब्द बन जायेगा तथा परशास्त्र (ईत्त्व) की प्राप्ति ही नहीं होगी। तब प्रकृत सूत्र में 'हलि' पद व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि असिद्ध प्रकरण में विप्रतिषेध होता है।

क्ङिति०—कित् व ङित् में ही ईत् होता है।

(24) दाता

दा तृ—हलादि है परन्तु कित् व ङित् नहीं है, अतः ईत् नहीं हुआ।

(25) धाता (पूर्ववत्)।

(3068) एर्लिङि *67* (2374)

घुमास्थागापाजहातिसामङ्गानां लिङि परत एकारादेशो भवति। देयात्। मेयात्। धेयात्। स्थेयात्। गेयात्। पेयात्। अवसेयात्। 'क्ङिति' इत्येव-दासीष्ट। धासीष्ट।

अर्थ—घुसंज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, हा तथा षो—इन अंगों को एकार आदेश होता है, कित् व ङित् लिङ् परे रहते।

उदा० (1) देयात्
दा यासुट् ति—लिङ्, यासुट् परस्मैपदे०, किदाशिषि,
दा या स्त्—इतश्च,
दा या त्—सलोप,
देयात्—एत्व।

(2) धेयात्
धा यासुट् ति—पूर्ववत्,
धा यास् त्—इतश्च,
धेयात्—एत्व।

(3) मेयात्
मा यासुट् त्—पूर्ववत्
मे यास् त्—एकार,
मेयात्—सलोप।

(4) स्थेयात्
स्था यास् त्—पूर्ववत्,
स्थेयात्—एत्व।

(5) गेयात्
गै यास् त्—पूर्ववत्।

यहाँ गाङ् का ग्रहण नहीं होता है।

(6) पेयात्
पा यास् त्—पूर्ववत्,
पेयात्—एत्व।

(7) हेयात्
हा यास् त्—पूर्ववत्।

(8) अवसेयात्
षो → सो यास् त्—पूर्ववत्,
अवसेयात्—एत्व।

क्ङिति०—कित् व ङित् में ही एकार आदेश होता है।

(9) दासीष्ट
दा सीयुट् सुट् त—आत्मनेपद प्रत्यय,
दा सीय् स् त—कित् न होने से एत्व नहीं हुआ,
दासीष्ट—यकारलोप, षत्व, ष्टुत्व।

(10) धासीष्ट पूर्ववत्।

(3069) वाऽन्यस्य संयोगादेः *68* (2378)

घ्वादिभ्योऽन्यस्य संयोगादेराकारान्तस्य वा एकारादेशो भवति लिङि परतः। ग्लेयात्, ग्लायात्। म्लेयात्, म्लायात्। अन्यस्येति किम्? स्थेयात्। संयोगादेरिति किम्? यायात्। 'क्ङिति' इत्येव-ग्लासीष्ट। 'अङ्गस्य' इत्येव-निर्वायात्।

अर्थ—कित् लिङ् परे रहते घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, हा तथा षो धातुओं से अतिरिक्त संयोग है आदि में जिसके, ऐसे अंगसंज्ञक के आकार को एकार आदेश विकल्प से होता है।

उदा० (1) ग्लेयात्
ग्लै → ग्ला यासुट् त्—आ० लिङ्, इतश्च, 'यास्त्' की 'लिङाशिषि' से आर्धधातुक संज्ञा हुई, 'किदाशिषि' से कित् हुआ,
ग्लेयात्—एकार, सलोप।

(2) ग्लायात्
पक्ष में एकार नहीं हुआ।

(3) म्लेयात्
म्लै → म्ला यास् त्—पूर्ववत्।

(4) म्लायात्
पक्ष में एकार नहीं हुआ।

अन्यस्ये०—घु आदि से अतिरिक्त अंग को ही एकार होता है।

(5) स्थेयात्

स्था यास् त्—यहाँ पाक्षिक एकार नहीं हुआ, नित्य एकार हुआ।

संयोगा०—संयोग है आदि में जिसके, ऐसे अंग को एकार होता है।

(6) यायात्

या यास् त्—'या' आकारान्त अंग है तथा घु आदि से अतिरिक्त भी है, परन्तु आदि में संयोग नहीं है,

यायात्—एकार नहीं हुआ।

क्ङिति०—कित् व ङित् में ही एकार होता है।

(7) ग्लासीष्ट

ग्लै → ग्ला सीयुट् सुट् त—'ग्ला' संयोगादि है, 'घु' आदि से अतिरिक्त है, इसके परे आर्धधातुक लिङ् है, परन्तु वह कित् नहीं है,

ग्लासीष्ट—एकार नहीं हुआ।

अङ्गस्य—अंगसंज्ञक के आकार के स्थान पर एकार होता है।

(8) निर्वायात्

यहाँ नहीं हुआ।

(3070) न ल्यपि *69* (3335)

ल्यपि प्रत्यये परतो घुमास्थागापाजहातिसां यदुक्तं तन्न (भवति)। प्रदाय। प्रधाय। प्रमाय। प्रस्थाय। प्रगाय। प्रपाय। प्रहाय। अवसाय।

अर्थ—'घु' आदि अंग को जो कुछ विधान किया गया है, वह नहीं होता है, ल्यप् परे रहते। यहाँ ईत् का निषेध होता है।

उदा० (1) प्रदाय

प्र दा क्त्वा—'ल्यप्' हुआ,

प्र दा ल्यप्—ईत् नहीं हुआ,

प्रदाय सु—विभक्तिकार्य।

(2) प्रधाय (पूर्ववत्)।

(3) प्रमाय (पूर्ववत्)।

(4) प्रस्थाय (पूर्ववत्)।

(5) प्रगाय (पूर्ववत्)।

(6) प्रपाय (पूर्ववत्)।

(7) प्रहाय (पूर्ववत्)।

(8) अवसाय (पूर्ववत्)।

(3071) मयतेरिदन्यतरस्याम् *70* (3318)

मयतेरिकारादेशो वा भवति ल्यपि परतः। अपमित्य, अपमाय।

अर्थ—मेङ् अंग को विकल्प से 'ईत्' आदेश होता है, ल्यप् परे रहते।

उदा० (1) अपमित्य

अप मे ल्यप्—क्त्वा को ल्यप् हुआ,

अप मि य—इकार हुआ,

अपमि त् य सु—तुक्। उदीचां माङो०।

(2) अपमाय

पक्ष में इकार नहीं हुआ।

(3072) लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः *71* (2206)

लुङ्, लङ्, लृङ्-इत्येतेषु परतोऽङ्गस्याडामो भवति, उदात्तश्च स भवति। लुङ्-अकार्षीत्, अहार्षीत्। लङ्-अकरोत्, अहरत्। लृङ्-अकरिष्यत्, अहरिष्यत्।

अर्थ—लुङ्, लङ् तथा लृङ् परे रहते अंगसंज्ञक को 'अट्' आगम होता है और वह आगम उदात्त होता है।

उदा० (क) लुङि—

(1) अकार्षीत्

कृ स् त्—लुङ्, इतश्च, च्लि, सिच्,

कृ स् ई त्—अस्तिसिचो०, वृद्धि,

अकार्षीत्—अट्, षत्व।

(2) अहार्षीत् (पूर्ववत्)।

(ख) लङि—

(3) अकरोत्

कृ तिप्—लङ्, इतश्च, शप् को बाध कर 'उ',

कर् उ त्—तनादिकृञ्भ्य उः,

अकरोत्—अट्।

(4) अहरत् (पूर्ववत्)।

(ग) लृङि—

(5) अकरिष्यत्

कृ स्य तिप्—लृङ्, स्यतासी०,

कर् इट् स्य त्—इतश्च, वलादिक इट्, गुण,

अकरिष्यत्—षत्व, अट्।

(6) अहरिष्यत् (पूर्ववत्)।

(3073) आडजादीनाम् *72* (2254)

आडागमो भवत्यजादीनां लुङ्लङ्लृङ्क्षु परतः, उदात्तश्च स भवति। ऐक्षिष्ट। ऐहिष्ट। औब्जीत्। औम्भीत्। लङ्–ऐक्षत। ऐहत। औब्जत्। औम्भत्। लृङ्–ऐक्षिष्यत। ऐहिष्यत। औब्जिष्यत्। औम्भिष्यत्। इह ऐज्यत, औप्यत, औह्यतेति लङि कृते लावस्थायामाडागमादन्तरङ्गत्वाल्लादेशः क्रियते, तत्र कृते विकरणो नित्यत्वादडागमं बाधते। शब्दान्तरप्राप्तेरडागमस्यानित्यत्वम्; कृते हि विकरणान्तस्याङ्गस्य तेन भवितव्यम्, अकृते तु धातुमात्रस्य 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति' (परि०)। ननु शब्दान्तरादिति विकरणोऽनित्यः ? विकरणे कृते सम्प्रसारणमडागमान्नित्यत्वादेव भवति, सम्प्रसारणे च कृतेऽजाद्यङ्गं जातमिति 'आडजादीनाम्' इत्याडागमः।

अर्थ—लुङ्, लङ् तथा लृङ् प्रत्ययों के परे रहते अजादि अंग को आट् आगम होता है और वह आगम उदात्त होता है।

उदा० (1) ऐक्षिष्ट
ईक्ष् स् त—लुङ्, सिच्,
ईक्ष् इ स् त—वलादिक इट्,
आ ईक्ष् इ ष् त—आट्, षत्व,
ऐक्षिष्ट—'आटश्च' से वृद्धि, ष्टुत्व।

(2) ऐहिष्ट
ईह्—पूर्ववत्।

(3) औब्जीत्
उब्ज्—पूर्ववत्। 'इट ईटि' से सिच् का लोप।

(4) औम्भीत्
उम्भ् स् त्—लुङ्,
उभ् इ ई त्—सिच्, लोप, सवर्ण दीर्घ।

(5) ऐक्षत
ईक्ष् शप् त—लङ्, कर्त्तरि शप्,
आ ईक्षत—पूर्ववत् वृद्धि।

(6) ऐहत
ईह्—शप्, आट्, वृद्धि।

(7) औब्जत्
उब्ज् शप् त्—इतश्च, पूर्ववत् आट्।

(8) औम्भत्
उम्भ्—पूर्ववत्।

(9) ऐक्षिष्यत
ईक्ष् स्य त—लृङ्, स्य,
ईक्ष् इ स्य त—इट्,
आ ईक्षिष्यत—षत्व, आट्, वृद्धि।

(10) ऐहिष्यत
ईह् इ स्य त—पूर्ववत् आट्।

(11) औब्जिष्यत्
उब्ज्—पूर्ववत्।

(12) औम्भिष्यत्
उम्भ् इट् स्य त्—स्य, इतश्च, इट्,
आट् उम्भिष्यत्—षत्व, वृद्धि।

(13) ऐज्यत।

(14) औप्यत।

(15) औह्यत।

इह०—उपर्युक्त तीन स्थलों (संख्या 12,13,14) पर सम्प्रसारणजन्य अजादित्व प्राप्त है। इनमें लङ् करने पर लकार अवस्था में ही 'अट्' आगम की अपेक्षा अन्तरंग होने से लकार के आदेश ('त' आदि) कर दिये जाते हैं। तब ऐसा करने पर नित्य होने के कारण विकरण अट् आगम का बाध कर देता है। विकरणविशिष्ट शब्दान्तर को प्राप्त होने के कारण अट् आगम अनित्य हो जाता है, कारण कि विकरण के कर देने पर तो विकरणान्त अंग को अट् आगम होना चाहिए तथा यदि विकरण नहीं किया जाता है तो धातुमात्र विकरणरहित शब्दान्तर को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है।

ननु०—क्या शब्दान्तर से प्राप्त होने के कारण विकरण अनित्य है ? विकरण करने पर सम्प्रसारण अट् आगम के नित्य होने से होता है। यदि सम्प्रसारण के कर लिए जाने पर अंग धातुरूप अजादि हो जाता है।

अतः 'आडजादीनाम्' से 'आट्' हो जाता है।

(3074) छन्दस्यपि दृश्यते *73* (3545)

छन्दसि विषये आडागमो दृश्यते। यतो हि विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते। 'आडजादीनाम्' (6.4.72) इत्युक्तम्, अनजादीनामपि दृश्यते–'सुरुचो वे॒न आंवः' (वा०सं० 13.3)। आनक्। आयुनक्। 'आवः' इति

वृञो लुङि 'मन्त्रे घसह्वर' (2.4.80) इति लेर्लुकि कृते च भवति, तथा 'आनक्' इति नशेः। 'आयुनक्' इति युजेर्लङि।

अर्थ—वेद के विषय में आट् आगम दृष्टिगोचर होता है। जहाँ इसका विधान है, उससे भिन्न स्थल पर भी दृष्टिगोचर होता है। अजादि अंग को 'आट्' होता है। अजादि से अतिरिक्त अंग को भी 'आट्' दृष्टिगोचर होता है।

उदा० (1) सुरुचो वेन आवः (ऋ० 1.33.14)
वृ तिप्—इतश्च,
वर् त्—गुण, हल्ङ्यादि लोप,
आ वर्—आट्।

(2) आनक्
आ नश्—आनक्। 'नशेर्वा' से कुत्व।

(3) आयुनक्
युज् तिप्—लङ्, शप् को बाध कर श्नम्,
यु न ज् त्—इतश्च, हल्ङ्यादि लोप, चोः कुः,
आयुनक्—आट्।

(3075) न माङ्योगे *74* (2228)

माङ्योगे लुङ्लङ्लृङ्क्षु यदुक्तं तन्न भवति। मा भवान् कार्षीत्। मा भवान् हार्षीत्। मा स्म करोत्। मा स्म हरत्। मा भवानीहिष्ट, मा भवानीक्षिष्ट। मा स्म भवानीहत। मा स्म भवानीक्षत।

अर्थ—लुङ्, लङ् तथा लृङ् प्रत्ययों के परे रहते अंगसंज्ञक शब्द को जो कहा गया है, वह न हो 'माङ्' के योग में।

उदा० (1) (मा भवान्) कार्षीत्
कृ स् ई त्—लुङ्, सिच्, ईट्,
कार्षीत्—वृद्धि, षत्व, अट् प्राप्त था, निषेध हुआ।

(2) (मा भवान्) हार्षीत् (पूर्ववत्)।

(3) (मा स्म) करोत्
पूर्ववत् अट् नहीं हुआ।

(4) (मा स्म) हरत् (पूर्ववत्)।

(5) (मा भवान्) ओहिष्ट (पूर्ववत्)।

(6) (मा स्म भवान्) ईहत
आट् नहीं हुआ।

(7) (मा भवान्) ईक्षिष्ट
आट् नहीं हुआ।

(8) (मा स्म भवान्) ईक्षत (पूर्ववत्)।

(3076) बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि *75* (3546)

छन्दसि विषये माङ्योगेऽपि बहुलमडाटौ भवतः। अमाङ्योगेऽपि न भवतः। अमाङ्योगे तावत्—'जनिष्ठा उग्रः' (ऋ० 10.73.1)। 'काममूनयीः' (ऋ० 1.53.3)। काममर्दयीत्। माङ्योगेऽपि भवतः-'मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः' (आ०ध० 2.13.6)। मा अभित्थाः। मा आवः।

अर्थ—वेद के विषय में लुङ्, लङ् तथा लृङ् परे रहते माङ् के योग में अट् व आट् आगम बहुलता से होते हैं तथा माङ् का योग न होने पर अट् व आट् नहीं भी होते हैं।

उदा० (क) अमाङ्योगेऽपि न भवतः—

(1) जनिष्ठा उग्रः (ऋ० 10.73.1)
जन् थास्—लुङ्, म०पु० एकवचन,
जन् इट् स् थास्—सिच्, इट्,
जनिष्ठाः—षत्व, ष्टुत्व, अट् प्राप्त था, नहीं हुआ।

(2) काममूनयीः
ऊन् णिच् स् सिप्—चुरादिलक्षण णिच्, लुङ्, म०पु० एकवचन, सिच्,
ऊन् इ इ ई स्—इतश्च, इट ईटि, ह्म्यन्तक्षण० से वृद्धि-निषेध,
ऊनयीः—गुण, अयादेश, विसर्ग, आट् प्राप्त था।

(3) कामम् अर्दयीत्
अर्द् णिच् इ स् ई त्—लुङ् पूर्ववत्,
अर्दयीत्—आट् प्राप्त था।

(ख) माङ्योगेऽपि भवतः—

(4) मा·····अवाप्सुः
अव आप् झि—लुङ्, प्र०पु० बहुवचन,
अव आ आप् स् जुस्—सिच्, झेर्जुस्,
अवाप्सुः—माङ् का योग, आट् हुआ।

(5) मा अभित्थाः
भिद् स् थास्—लुङ्, म०पु० एकवचन, सिच्,
अट् भिद् थास्—झलो झलि,

अभित्थाः—खरि च, माङ् का योग, अट् हुआ।

(6) मा आवः
वृ तिप्—इतश्च,
वर् त्—गुण, हल्ङ्यादि लोप,
आवः—विसर्जनीय, माङ् का योग, आट् हुआ।

(3077) इरयो रे *76* (3547)

'इरे'—इत्येतस्य छन्दसि विषये बहुलं 'रे' इत्ययमादेशो भवति। गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋ० 10.82.5)। याऽस्य परिदध्रे। परिदद्दृश्रे। धाञो रेभावस्यासिद्धत्वादातो लोपो भवति। न च भवति–'परमाया धियोऽग्निकर्माणि चक्रिरे।' अत्र रेशब्दस्य सेटां धातूनामिटि कृते पुना रेभावः क्रियते, तदर्थम् 'इरयोः' इत्ययं द्विवचननिर्देशः।

अर्थ—वेद के विषय में 'इरे' के स्थान पर बहुलता से 'रे' आदेश होता है।

'इरे' के द्वारा 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' के द्वारा विहित 'इरेच्' का ग्रहण होता है। 'इरयोः' इस द्विवचन के निर्देश के द्वारा दोनों प्रकार के 'इरे' का ग्रहण इष्ट है—

(क) 'झ' को प्राप्त इरेच्,

(ख) 'इरेच्' के स्थान पर प्राप्त 'रे', जिसे इट् आगम होकर 'इरे' स्वरूप बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि 'इरेच्' के स्थान पर जो 'रे' आदेश होता है, उसे इट् आगम होकर पुनः जो 'इरे' बन जाता है, उसे भी 'रे' आदेश होता है।

उदा० (1) दध्र आपः (ऋ० 10.82.5)
धा झ → धा इरेच्—लिटस्तझयो०,
धा धा इरे—द्वित्व,
ध धा इरे—ह्रस्वः,
द ध् इरे—अभ्यासे चर्च, आतो लोप०,
दध् रे—'रे' आदेश।

(2) परिदध्रे (पूर्ववत्)।
(3) परिदद्दृश्रे
परि दृश् इरेच्—झ, इरेच्,
परि द दृश् रे—द्वित्व, 'रे' पूर्ववत्।

(4) चक्रिरे
कृ इरेच्—'रे' नहीं हुआ।

अत्र०—व्याख्या ऊपर देखें।

(3078) अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ *77* (271)

श्नुप्रत्ययान्तस्याङ्गस्य धातोरिवर्णोवर्णान्तस्य 'भ्रु' इत्येतस्य च इयङ्, उवङ्–इत्येतावादेशौ भवतोऽजादौ प्रत्यये परतः। आप्नुवन्ति। राध्नुवन्ति। शक्नुवन्ति। धातोः– चिक्षियतुः, चिक्षियुः। लुलुवतुः, लुलुवुः। नियौ, नियः। लुवौ, लुवः। भ्रुवौ, भ्रुवः। अचीति किम्? आप्नुयात्। शक्नुयात्। राध्नुयात्। श्नुधातुभ्रुवामिति किम्? लक्ष्म्यै। वध्वै। य्वोरिति किम्? चक्रतुः। चक्रुः। इयङुवङ्भ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन। चयनम्, चायकः। लवनम्, लावकः। *इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्* (म०भा०) तन्वं (अ०वे० 5.3.1) पुषेम तनुवं (तै०सं० 1.5.5.4) पुषेम। विष्वं पुषेम, विषुवं पुषेम। स्वर्गो लोकः, सुवर्गो (तै० 1.5.7.1) लोकः। त्र्यम्बकं (तै० 1.8.6) यजामहे, त्रियम्बकं यजामहे।

अर्थ—श्नु प्रत्ययान्त, इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु तथा भ्रू—इन अंगों को इयङ् तथा उवङ् आदेश होते हैं, अजादि प्रत्यय परे रहते।

ये आदेश 'ङिच्च' से अन्त्य वर्ण को होते हैं।

उदा० (1) आप्नुवन्ति
आप् झि → लट्,
आप् श्नु अन्ति—शप् को बाध कर श्नु, झोऽन्तः,
आप्न् उवङ् अन्ति—स्थानेऽन्तरतमः, ङकार व अकार की इत्संज्ञा,
आप्नुवन्ति—रूप बना।

(2) राध्नुवन्ति
राध् श्नु अन्ति—पूर्ववत्।

(3) चिक्षियतुः
क्षि अतुस्,—लिट्, तस्,
क्षि क्षि अतुस्—द्वित्व,
चि क्षियङ् अतुस्—हलादिः शेषः, कुहोश्चुः, स्थानेऽन्तरतमः से इयङ्।

(4) चिक्षियुः

क्षि उस्—झि, परस्मैपदानां०, शेष पूर्ववत्।

(5) लुलुवतुः
लू अतुस्—पूर्ववत्, स्थानेऽन्तरतमः से उवङ्।

(6) लुलुवुः
लू उस्—उवङ्।

(7) नियौ
नी औ—इको यणचि, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः,
नियङ् औ—इयङ्।

(8) नियः
नी जस्—इयङ्।

(9) लुवौ
औ—पूर्ववत्।

(10) लुवः
लू जस्—उवङ्।

(11) भ्रुवौ
भ्रू औ—उवङ् हुआ।

(12) भ्रुवः
भ्रू जस्—पूर्ववत्।

अचीति०—अजादि प्रत्यय परे रहते ही पूर्वोक्त आदेश होते हैं।

(13) आप्नुयात्
आप् श्नु यास् त्—लिङ्, तिप्, इतश्च, श्नु,
आप्नुयात्—अजादि प्रत्यय परे नहीं है, उवङ् नहीं हुआ, स्कोः संयो० से सकारलोप।

(14) शक्नुयात्
पूर्ववत् उवङ् नहीं हुआ।

श्नुभ्र०—श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णान्त एवं उवर्णान्त धातु तथा भ्रू अंगों को ही पूर्वोक्त आदेश होते हैं।

(15) लक्ष्म्यै
लक्ष्मी ङे—आण्नद्याः,
लक्ष्मी आ ए—आटश्च, इयङ् नहीं हुआ,
लक्ष्म्यै—इको यणचि।

(16) वध्वै
वधू आ ए—पूर्ववत्।

य्वोरिति०—इवर्णान्त व उवर्णान्त धातु को ही पूर्वोक्त आदेश होते हैं।

(17) चक्रतुः
कृ अतुस्—लिट्,
च क्र् अतुस्—इयङ्, उवङ् नहीं हुआ।

(18) चक्रुः (पूर्ववत्)।

इयङुव०—इयङ्, उवङ् की अपेक्षा विप्रतिषेध से गुण तथा वृद्धि होते हैं।

(19) चयनम्
चि अन—ल्युट्, युवोरनाकौ।

(20) चायकः (पूर्ववत्)।
(21) लवनम् (पूर्ववत्)।
(22) लावकः (पूर्ववत्)।

इयङुव०—वेद के विषय में तनु आदि को बहुलता से उवङ् होता है।

(23) तनुवम् (तै०सं० 1.5.5.4)
तनु अम्—उवङ् हुआ।

(24) तन्वम्
उवङ् नहीं हुआ।

(25) विषुवम्
उवङ्।

(26) विष्वम्
उवङ् नहीं हुआ।

(27) त्रियम्बकम्
त्रि अम्बक सु—इयङ् आदेश।

(28) त्र्यम्बकम्
इयङ् नहीं हुआ।

(3079) अभ्यासस्यासवर्णे *78* (2290)

अभ्यासस्येवर्णोवर्णान्तस्यासवर्णेऽचि परत इयङ्, उवङ्-इत्येतावादेशौ भवतः। इयेष। उवोष। इयर्त्ति। असवर्ण इति किम्? ईयतुः, ईयुः। ऊवतुः, ऊवुः। (ईषतुः, ईषुः। ऊषतुः, ऊषुः।) 'अचि' इत्येव-इयाज। उवाप।

अर्थ—इवर्णान्त उवर्णान्त अभ्यास को यथासंख्य इयङ् व उवङ् आदेश होते हैं, असवर्ण अच् परे रहते।

उदा० (1) इयेष

इष् णल्—लिट्, परस्मैपदानां०, 'पुगन्तलघूपधस्य' से लघूपधगुण तथा द्वित्व—दोनों प्राप्त हैं, तब 'द्विर्वचनेऽचि' से द्वित्व हुआ,

इ इष् अ—हलादि शेष, लघूपधगुण,
इ एष् अ—यण्, इयङ् आदेश,
इय् एष् अ—रूप बना।

(2) उवोष
उस् णल्—पूर्ववत् द्वित्वादि,
उ ओष् अ—उवङ् हुआ।

(3) इयर्त्ति
ऋ तिप्—शप्, जुहोत्यादिभ्यः श्लुः,
ऋ ऋ ति—द्वित्व, उरत्,
अर् ऋ ति—हलादि शेष,
इ ऋ ति—अर्त्तिपिपर्त्योश्च,
इयङ् अर् ति—इयङ् आदेश, गुण,
इयर्त्ति—अचो रहाभ्यां द्वे।

असवर्ण०—असवर्ण परे रहते ये आदेश होते हैं।

(4) ईयतुः
इ अतुस्—लिट्,
इ इ अतुस्—द्वित्व, इयङ्,
ईयतुः—सवर्णदीर्घ, विसर्ग।

(5) इयाय—(यह उदाहरण काशिका में नहीं है)

इ अ (लिट्, णल्, अनुबन्धलोप)–अब 'अचो ञ्णिति' (7.2.115) से वृद्धि तथा 6.1.8 से द्वित्व युगपत् प्राप्त होते हैं। 'द्विर्वचनेऽचि' से प्रथम द्वित्व हुआ। इ इ अ—इ ऐ अ (अचो ञ्णिति)—यहाँ 'एचोऽयवायावः' से 'आय्' आदेश (ऐ + अ) तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा इयङ् आदेश (इ + ऐ) प्राप्त है। इ ऐ अ—इस दशा में 'अचः परस्मिन्०' से ऐकार को स्थानिवद्भाव होने से असवर्ण वर्ण के प्राप्त न रहने से प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, परन्तु 'असवर्णे' पद का योग यहाँ ज्ञापक है कि इस स्थल पर स्थानिवद्भाव नहीं होता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो कहीं भी असवर्ण अच् की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। 'वार्णादाङ्गं बलीयः' परिभाषा के द्वारा अंगकार्य (इयङ् आदेश) के बलवान् होने से प्रथम इयङ् हुआ। इयङ् ऐ अ। इय् आय् अ (अब आय् हुआ)—इयाय।

(6) ईयुः
इ उस्—पूर्ववत्।

(7) ऊवतुः
पूर्ववत् अभ्यास को उवङ् नहीं हुआ।

(8) ऊवुः (पूर्ववत्)।

अचि०—अजादि परे रहते पूर्वोक्त आदेश होते हैं।

(9) इयाज
यज् णल्—द्वित्व, हलादि शेष,
य यज् अ—लिट्यभ्यासस्योभ०,
इ याज् अ—इयङ् नहीं हुआ, अत उपधायाः।

(10) उवाप
वप् णल्—पूर्ववत्।

(3080) स्त्रियाः *79* (301)

'स्त्री' इत्येतस्याजादौ प्रत्यये परत इयङादेशो भवति। स्त्री, स्त्रियौ, स्त्रियः। स्त्रीणाम्–इत्यत्र परत्वान्नुडागमः। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—'स्त्री' अंग को 'इयङ्' आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते। अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा ईकार को इयङ् आदेश होता है।

उदा० (1) स्त्रियौ
स्त्री औ—इको यणचि, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः,
स्त्रियङ् औ—इयङ्।

(2) स्त्रियः
स्त्री जस्—पूर्ववत्।

(3) स्त्रीणाम्
स्त्री आम्—पर होने से 'नुट्' हुआ।

पृथक्—पृथक् योग उत्तर शास्त्र के लिए है।

(3081) वाऽम्शसोः *80* (302)

अमि शसि परतः स्त्रियां वा इयङादेशो भवति। स्त्रीं पश्य, स्त्रियं पश्य। स्त्रीः पश्य, स्त्रियः पश्य।

अर्थ—'स्त्री' अंग को विकल्प से 'इयङ्' आदेश है अम् या शस् परे रहते।

उदा० (1) स्त्रियम्
स्त्री अम्—'अमि पूर्वः' को बाध कर इयङ्,
स्त्रियङ् अम्—अनुबन्धलोप।

(2) स्त्रीम्

पक्ष में पूर्वरूप।

(3) स्त्रियः
स्त्री शस्—इयङ्।

(4) स्त्रीः
पक्ष में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः।

(3082) इणो यण् *81* (2455)

इणोऽङ्गस्य यणादेशो भवति अचि परतः। यन्ति। यन्तु। आयन्। इयङादेशापवादोऽयम्। 'मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते' (व्या०प०) इति गुणवृद्धिभ्यां परात्वादयं बाध्यते। अनयम्। आयकः।

अर्थ—इण् अंग को यण् आदेश होता है, अच् परे रहते।

'इणः' पद के द्वारा व्याख्यानसामर्थ्य से इण् धातु का ग्रहण होता है, न कि इण् प्रत्याहार का। 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'इ' के स्थान पर 'य्' होता है।

उदा० (1) यन्ति
इ झि—झोऽन्तः, इको यणचि, अचि श्नु०,
इ अन्ति—इणो यण्, यणादेश।

(2) यन्तु
इ झि—झोऽन्तः एरुः, शेष पूर्ववत्।

(3) आयन्
इ झि—लङ्, इतश्च,
इ अन्त्—संयोगान्तलोप,
यन्—इणो यण्, यणादेश के असिद्ध होने से 'आट्' आगम,
आयन्—आडजादीनाम्।

इयङा०—यह इयङ् आदेश का अपवाद है। मध्यवर्त्ती अपवाद पूर्ववर्त्ती विधियों का बाध करते हैं।

शंका होती है कि इल्युट्—अयनम् तथा इण्वुल्—आयकः में उक्त यण् आदेश क्यों नहीं प्रसक्त होता है? 'इणो यण्' सूत्र 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' के पश्चात् पढ़ा गया है। 'अचो ञ्णिति' (7.2.115) तथा गुणविधायक सूत्र 'सार्वधातुकार्ध०' (7.3.84)—दोनों सप्तम अध्याय में पठित हैं। यणादेश पूर्वोक्त इयङ्, वृद्धि तथा गुण के मध्य पढ़ा गया है। 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' (प०) अर्थात् जो अपवाद मध्य में पठित हैं, वे पूर्व विधि का ही बाध करते हैं, बाद वाली विधि का नहीं। अतः 'इणो यण्' इयङ् का बाध करेगा, न कि गुण (अयनम्) का अथवा वृद्धि (आयकः) का।

(4) अयनम्
इ ल्युट्–पूर्ववत्।

(5) आयकः
इ ण्वुल्–पूर्ववत्।

(3083) एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य *82* (272)

धातोरिति वर्त्तते, तेन संयोगो विशेष्यते। धातोरवयवः संयोगः पूर्वो यस्मादिवर्णान्न भवति असावसंयोगपूर्वः, तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽचि परतो यणादेशो भवति। निन्यतुः, निन्युः। उन्न्यौ, उन्न्यः। ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः। एरिति किम्? असंयोगपूर्वग्रहणमिवर्णविशेषणं यथा स्याद्, अङ्गविशेषणं मा भूदिति। लुलुवतुः, लुलुवुः–इत्येतत्तु 'ओः सुपि' (6.4.83) इति नियमादपि सिध्यति। अनेकाच इति किम्? नियौ, नियः। असंयोगपूर्वस्येति किम्? यवक्रियौ। यवक्रियः। धातुना संयोगविशेषणं किम्। इहापि न स्याद्–उन्न्यौ, उन्न्य इति। *गतिकारकाभ्यामन्यपूर्वस्य नेष्यते*। परमनियौ। परमनिय इति।

अर्थ—'धातोः' का अनुवर्त्तन है। इसका विशेषण संयोग है। धातु का अवयव जो संयोग, वह नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसा इवर्ण, तदन्त धातु, वह धातु है अन्त में जिसके, ऐसे अनेकाच् अंग को यण् आदेश होता है, अजादि प्रत्यय परे रहते।

'अचि श्नुधातुभ्रुवां० से अनुवृत्त 'धातु' पद की द्विरुक्ति की जाती है। एक 'धातोः' पद 'एः' का विशेष्य बनता है और दूसरा 'धातोः' पद असंयोगपूर्वस्य पद के 'संयोग' अंश के साथ सम्बद्ध होता है।

उदा० (1) निन्यतुः
नी अतुस्—लिट्,
नी नी अतुस्—द्वित्व,
नि न्यतुस्—ह्रस्वः, इयङ् को बाध कर यण्।

(2) निन्युः
नी उस्—झि, उस् आदेश, शेष पूर्ववत्।

(3) उन्न्यौ
उन्नी औ—'इको यणचि' से प्राप्त यण् का बाध करके 'प्रथमयोः पूर्व०' से पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ, दीर्घाज्जसि च, इको यणचि, अचि श्नुधातु०,
उन्न्य् औ—यण् हुआ।

(4) उन्न्यः
उन्नी जस्—पूर्ववत्।

(5) ग्रामण्यौ
ग्रामणी औ—पूर्ववत्।

(6) ग्रामण्यः (पूर्ववत्)।

एरिति०—इवर्ण के स्थान पर ही यण् होता है। संयोग पूर्व में नहीं है, ऐसा इवर्ण। यहाँ अंग का विशेषण नहीं है।

(7) लुलुवतुः
लू अतुस्—लिट्, तस्,
लु लू अतुस्—'लुलू' अनेकाच् है, अन्त में 'लू' धातु है, इसके उकार से पूर्व संयोग नहीं है, अतः यण् प्राप्त हुआ, परन्तु 'लुलू' अंग के अन्त में 'इ' नहीं है।

(8) लुलुवुः
उस्—पूर्ववत्।

अनेका०—अनेकाच् अंग का जो इकार, उसे यण् होता है।

(9) नियौ
नी औ—अनेकाच् नहीं है, यण् नहीं हुआ, इयङ् हुआ।

(10) नियः
जस्—पूर्ववत्।

असंयोग०—संयोग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे इकार को यण् होता है—

(11) यवक्रियौ
यवक्री—अनेकाच् है, धातु है, परन्तु इवर्ण से पूर्व 'क्र्' संयोग है, यण् नहीं हुआ, इयङ् हुआ।

(12) यवक्रियः
जस्—पूर्ववत् इयङ्।

धातुना०—संयोग धातु का अवयव हो तो पूर्वोक्त यण् होता है।

(13) उन्न्यौ
उन्नी औ—'उन्नी' अनेकाच् है, 'नी' इवर्णान्त धातु है, वह अंग 'उन्नी' के अन्त में है, धातु के इवर्ण से पूर्व 'न्न्' यह संयोग है; परन्तु यह धातु का अवयव नहीं है, उपसर्ग से निष्पन्न है, अतः यण् का निषेध नहीं हुआ।

(14) उन्न्यः (पूर्ववत्)।

(15) प्रध्यौ
इसी प्रकार 'प्रधी' में संयोग उपसर्ग का अवयव है; धातु का नहीं।

गतिकारक०—जिस शब्द के पूर्व पद में गतिसंज्ञक या कारक से भिन्न शब्द हो तो पूर्वोक्त यण् नहीं होता है।

(16) परमनियौ
परमनी औ—'परम' की न गति संज्ञा है तथा न ही कारक। यण् नहीं हुआ, इयङ् हुआ।

(17) परमनियः (पूर्ववत्)।

(3084) ओः सुपि *83* (281)

धात्ववयवः संयोगः पूर्वो यस्मादुवर्णान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति। खलप्वौ, खलप्वः। शतस्वौ, शतस्वः। सकृल्ल्वौ, सकृल्ल्वः। सुपीति किम्। लुलुवतुः, लुलुवुः। 'अनेकाचः' इत्येव–लुवौ, लुवः। 'असंयोगपूर्वस्य' इत्येव–कटप्रुवौ, कटप्रुवः। 'गतिकारकाभ्यामन्यपूर्वस्य नेष्यते' इत्येव–परमलुवौ, परमलुवः।

अर्थ—धातु का अवयवसंयोग जिसके पूर्व में नहीं है, ऐसा उवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त अनेकाच् अंग को यण् आदेश होता है, अजादि सुप् परे रहते।

उदा० (1) खलप्वौ
खलं पुनाति—अन्येभ्योऽपि दृश्यते, क्विप्,
खलपू औ—इको यणचि, प्रथमयोः पूर्व०, दीर्घाज्जसि च, इको यणचि आदि लगकर 'अचि श्नु०' से उवङ् प्राप्त हुआ,
खलप्व् औ—अजादि सुप् 'औ' परे रहते उवङ् का बाध कर यण्।

(2) खलप्वः (पूर्ववत्)।

(3) शतस्वौ
शतं सूते—'सत्सूद्विष०' से क्विप्,
शत सू औ—पूर्ववत् उवङ् की प्राप्ति, प्रकृत सूत्र से यण्।

(4) शतस्वः
शत सू जस्—पूर्ववत् यण्।

(5) सकृल्ल्वौ
सकृत् लू—'तोर्लि' से परसवर्ण।
सकृल्लू औ—पूर्ववत् सभी सूत्र।

(6) सकृल्ल्वः
जस्—शेष पूर्ववत्।

सुपीति०—सुप् परे रहते पूर्वोक्त यण् होता है।

(7) लुलुवतुः
लू अतुस्—लिट्, तस्, द्वित्व,
लुलू अतुस्—अंगसंज्ञा, अजादि परे है; परन्तु सुप् नहीं है, यण् नहीं हुआ, उवङ् हुआ।

(8) लुलुवुः
उस्—पूर्ववत् यण् नहीं हुआ।

अनेकाचः—अनेकाच् अंग के उवर्ण को यण् होता है।

(9) लुवौ
लू औ—अनेकाच् अंग नहीं है, यण् नहीं हुआ।

(10) लुवः
लू जस्—पूर्ववत्।

असंयोग०—संयोग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे उवर्ण को यणादेश होता है।

(11) कटप्रुवौ
कटप्रू क्विप्—'क्विब्वचिप्रच्छ्यायत०', सर्वापहार लोप,
कटप्रू औ—'कटप्रू' अंग अनेकाच् है, अजादि सुप् परे है, उवर्ण से पूर्व संयोग 'प्र्' है, यण् नहीं हुआ।

(12) कटप्रुवः (पूर्ववत्)।

गति०—गति व कारक से भिन्न शब्द पूर्व में हो तो यण् नहीं होता है।

(13) परमलुवौ
यण् नहीं हुआ।

(14) परमलुवः (पूर्ववत्)।

(3085) वर्षाभ्वश्च *84* (282)

वर्षाभू-इत्येतस्याजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति। वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः। *'पुनर्भ्वश्चेति वक्तव्यम्*' (का० वा०) पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः। कारापूर्वस्यापीष्यते-काराभ्वौ, काराभ्वः।

अर्थ—अजादि सुप् परे रहते 'वर्षाभू' अंग को यण् आदेश होता है।

उदा० (1) वर्षाभ्वौ
वर्षाभू औ—इको यणचि, प्रथमयोः पूर्व०, दीर्घाज्जसि च, इको यणचि, अचि श्नुधातु०, ओः सुपि से यण् प्राप्त हुआ, 'न भूसुधियोः' से यण् का निषेध, पुनः उवङ् आदेश प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से यण्।

(2) वर्षाभ्वः
जस्—पूर्ववत्।

पुनर्भ्व०—पुनर्भू शब्द को 'यण्' होता है।

(3) पुनर्भ्वौ
पुनर् भवति—क्विप्,
पुनर्भू औ—यण् हुआ।

(4) पुनर्भ्वः
जस्—पूर्ववत्।

कारा०—कारा शब्द पूर्व में हो तो 'भू' को यण् होता है।

(5) काराभ्वौ
कारा भू औ—पूर्ववत् यण्।

(6) काराभ्वः
जस्—पूर्ववत्।

(3086) न भूसुधियोः *85* (273)

भू, सुधी-इत्येतयोर्यणादेशो न भवति। प्रतिभुवौ, प्रतिभुवः। सुधियौ, सुधियः।

अर्थ—भू और सुधी अंगों को यण् नहीं होता है, अजादि सुप् परे रहते।

उदा० (1) प्रतिभुवौ
प्रतिभू औ—इको यणचि, प्रथमयोः पूर्व०, दीर्घाज्जसि च, इको यणचि, अचि श्नुधातु०, ओः सुपि, न भूसुधियोः, पुनः उवङ् होकर रूप बनता है।

(2) प्रतिभुवः
प्रतिभू जस्—पूर्ववत्।

(3) सुधियौ
सुधी औ—इको यणचि, प्रथमयोः पूर्व०, दीर्घाज्जसि च, इकोः यणचि, अचि श्नुधातु०, एरनेकाच०, न भूसुधियोः से निषेध, उवङ् हुआ।

(4) सुधियः
सुधी जस्—पूर्ववत्।

(3087) छन्दस्युभयथा *86* (3548)

छन्दसि विषये भू, सुधी—इत्येतयोरुभयथा दृश्यते। 'वनेषु चित्रं विभ्वं विशे' (ऋ० 4.7.1), विशे विभुवम् (तै०सं० 1.5.5)। सुध्यो हव्यमग्ने, सुधियो हव्यमग्ने।

अर्थ—वेद के विषय में भू तथा सुधी अंगों को दोनों प्रकार से होता है अर्थात् कहीं यण् होता है तथा कहीं यण् दिखायी नहीं पड़ता है।

उदा० (1) विभ्वम् (ऋ० 4.7.1)
यण् हुआ।

(2) विभुवम् (तै०सं० 1.5.5.1)
उवङ् हुआ।

(3) सुध्यः (ऋ० 6.1.7)
यण् हुआ।

(4) सुधियः
इयङ् हुआ।

(3088) हुश्नुवोः सार्वधातुके *87* (2387)

'हु' इत्येस्याङ्गस्य श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽसंयोगपूर्वस्याजादौ सार्वधातुके परतो यणादेशो भवति। जुह्वति, जुह्वतु। जुह्वत्। सुन्वन्ति, सुन्वन्तु, असुन्वन्। हुश्नुवोरिति किम्? योयुवति। रोरुवति। इदमेव हुश्नुग्रहणं ज्ञापकम्—भाषायामपि यङ्लुगस्तीति। छन्दसि 'छन्दस्युभयथा' (6.4.86) इत्यार्धधातुकत्वादेव यणादेशस्याप्रसङ्गः। न च यङ्लुगन्तादन्यत् प्रत्युदाहरणम् उवर्णान्तमनेकाजसंयोगपूर्वं सार्वधातुके विद्यते। सार्वधातुक इति किम्? जुहुवतुः, जुहुवुः। 'असंयोगपूर्वस्य' इत्येव—आप्नुवन्ति। राध्नुवन्ति।

अर्थ—हु धातु तथा श्नु प्रत्ययान्त—इन अनेकाच् अंगों के असंयोग पूर्व (= संयोग नहीं है पूर्व में जिसके) उकार को यण् आदेश होता है अजादि सार्वधातुक परे रहते। 'असंयोगपूर्वस्य' पद 'ओः' का विशेषण है।

उदा० (1) जुह्वति
हु झि—लट्, प्र०पु० बहुवचन,
जु हु अति—शप्, जुहोत्यादिभ्यः श्लुः, द्वित्व, अदभ्यस्तात्,
जु ह् व् अति—'इको यणचि' से प्राप्त यण् को बाध कर 'अचिश्नु०' से उवङ् प्राप्त हुआ, प्रकृत सूत्र से यण्।

(2) जुह्वतु
हु झि—लोट्,
जुह्वति—पूर्ववत्,
जुह्वतु—एरुः।

(3) जुह्वत्
हु शतृ—लट्, शतृ आदेश, शप्, श्लु,
जु हु अत्—द्वित्व, पूर्ववत् यण्,
जुह्वत् सु—विभक्तिकार्य।

(4) सुन्वन्ति
षु → सु झि—धात्वादेः षः सः, लट्,
सु श्नु अन्ति—शप् को बाध कर श्नु, झोऽन्तः
सुन्वन्ति—यण्।

(5) सुन्वन्तु
सु झि—लोट्,
सुन्वन्ति—पूर्ववत्,
सुन्वन्तु—एरुः।

(6) असुन्वन्
सु झि—लङ्, झोऽन्तः, इतश्च,
सुन्वन्त्—संयोगान्तलोप,
असुन्वन्—अट् आगम।

हुश्नुवो०—हु धातु तथा श्नु प्रत्ययान्त अनेकाच् अंग को ही यण् होता है।

(7) योयुवति
यु यङ्—यङ्लुक्, यङोऽचि च, गुणो यङ्लुकोः,
यो यु अति—धातुसंज्ञा, झि,
यो युव् अति—यण् नहीं हुआ।

(8) रोरुवति
रु—यङ्लुक् होकर पूर्ववत् यण् का निषेध।

इदमेव०—यह हु तथा श्नु का ग्रहण ज्ञापक है कि भाषा में यङ्लुक् होता है। 'योयुवति'—इस स्थल पर वेद में 'छन्दस्युभयथा' (3.4.117) से आर्धधातुक होकर यण् प्राप्त ही नहीं होता है तथा यङ्लुगन्त से भिन्न अन्य प्रत्युदाहरण प्राप्त नहीं है, जहाँ असंयोगपूर्व वाला उवर्णान्त अनेकाच् से परे सार्वधातुक हो।

भाव यह है कि वेद में यङ्लुक् होता तो 'छन्दस्युभयथा' से 'योयुवति' जैसे स्थलों पर आर्धधातुक संज्ञा होकर यण् प्राप्त ही नहीं था। तब 'हुश्नुवोः सार्व०' से सार्वधातुक-प्रतिषेध की

आवश्यकता ही नहीं थी। अतः 'हुश्नुवो०' सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि वेद में यङ्लुक् नहीं होता है।

सार्वधातु०—सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते यण् होता है।

(9) जुहुवतुः
हु अतुस्—लिट्, तस्, आर्धधातुक संज्ञा,
जुहु अतुस्—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
जुहुव् अतुस्—'जुहु' अनेकाच् अंग से पर सार्वधातुक नहीं है, यण् नहीं हुआ।

(10) जुहुवुः
उस्—पूर्ववत्।

असंयोग०—संयोग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे उवर्ण को यण् होता है।

(11) आप्नुवन्ति
आप् श्नु अन्ति—लट्, झि, झोऽन्तः, श्नु,
आप्नुव् अन्ति—यण् नहीं हुआ।

(12) राध्नुवन्ति (पूर्ववत्)।

(3089) भुवो वुग्लुङ्लिटोः *88* (2174)

भुवो वुगागमो भवति लुङि लिटि चाजादौ परतः। अभूवन्। अभूवम्। लिट्-बभूव, बभूवतुः, बभूवुः।

अर्थ—'भू' अंग को 'वुक्' आगम होता है लुङ् व लिट्-सम्बन्धी अच् प्रत्यय परे हो तो। वुक् के ककार की इत् सञ्ज्ञा है। उकार मुखसुखार्थ है।

उदा० (1) अभूवन्
भू झि—लुङ् प्र०पु० बहुवचन, झोऽन्तः,
भू अन्त्—इतश्च, च्लि, सिच्,
भू स् अन्त्—गातिस्था० से सिच् का लुक्,
भू व् अन्त्—भुवो वुग्०,
अभूवन्—अट्, संयोगान्तलोप।

(2) अभूवम्
भू मिप्—लुङ्, अम् आदेश,
भू व् अम्—पूर्ववत्, वुक्,
अभूव् अम्—अट्।

(3) बभूव
भू णल्—परोक्षे लिट्, तिप्, परस्मैपदानां०,
भू व् अ—'अचो ञ्णिति' (7.2.115) से वृद्धि तथा प्रकृत सूत्र से वुक् आगम की युगपत् प्राप्ति, वुगागम नित्य[1] होने से वृद्धि को बाध कर वुक्,
भूव् भूव् अ—लिटि धातोरनभ्या०, अभ्यासकार्य,
भु भूव् अ—अभ्यासे चर्च, भवतेरः,
बभूव् अ—रूप।

(4) बभूवतुः
भू अतुस्—पूर्ववत् सभी कार्य।

(5) बभूवुः
भू झि—पूर्ववत्।

(3090) ऊदुपधाया गोहः *89* (2364)

गोहोऽङ्गस्य उपधाया ऊकारादेशो भवति अजादौ प्रत्यये परतः। निगूहयति। निगूहकः। साधु निगूही। निगूहं-निगूहम्। (निगूहन्ति)। निगूहो वर्त्तते। उपधाया इति किम्? अलोऽन्त्यस्य मा भूत्। 'गोहः' इति विकृतग्रहणं विषयार्थम् (म० भा०)। यत्रास्यैतद्रूपं तत्रैव यथा स्यात्, इह मा भूत्-निजुगुहतुः, निजुगुहुः। अयादेशप्रतिषेधार्थं च केचिदिच्छन्ति। निगूह्य गत इत्यूत्वस्यासिद्धत्वाद् 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (6.4.56) इत्ययादेशः स्यात्। व्याश्रयत्वादे-वासिद्धत्वमत्र नास्ति-णावूत्वम्, ण्यन्तस्य च ल्यप्ययादेश इति। अचीत्येव-निगोढा। निगोढुम्।

अर्थ—'गोह' अंग की उपधा को ऊकार आदेश होता है, अजादि प्रत्यय परे रहते। तकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) निगूहति
नि गुह् तिप्—लट्,
नि गोह् अ ति—शप्, लघूपधगुण,
निगूहति—ऊकार।

(2) निगूहकः
नि गुह् ण्वुल्—युवोरनाकौ,
निगोह् अक—लघूपधगुण,
निगूहकः—ऊकार, सु।

(3) निगूही

1. चूँकि 'वुक्' करने पर इगन्त अंग नहीं रहता है; अतः गुण तथा वृद्धि प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिए वुक् नित्य तथा गुण-वृद्धि अनित्य है। अनित्य की अपेक्षा नित्य बलवान् होता है। अतः वुक् आगम गुण व वृद्धि का बाधक है।

नि गुह् णिनि—'सुप्यजातौ णिनि०'
नि गोहिन्—ऊकार,
निगूही—सु।

(4) निगूहं निगूहम्
नि गुह् णमुल्—आभीक्ष्ण्ये०,
नि गोह् अम्—पूर्ववत् ऊकार, 'आभीक्ष्ण्ये०' (8.1.12—वा०) से द्विरुक्ति।

(5) निगूहन्ति
नि गुह् झि—पूर्ववत्।

(6) निगूहः
नि गुह् घञ्—पूर्ववत्।

उपधाया०—उपधा के स्थान पर ही ऊकार होता है। तब अलोऽन्त्य परिभाषा लागू नहीं होती है।

गोहः—'गोहः' इस प्रकार गुणयुक्त निर्देश विषय के नियमार्थ है। यह नियम करता है कि जहाँ 'गुह्' को लघूपधगुण होकर 'गोह्' ऐसा रूप मिलता है, वहाँ पर ही ऊकार होता है।

(7) निजुगुहतुः
गुह् अतुस्—लिट् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं हुआ, 'गोह्' न होने से ऊकार भी नहीं हुआ,
निजुगुहतुः—द्वित्वादि।

(8) निजुगुहुः (पूर्ववत्)।

अयादेश०—कुछ विद्वान् 'गोहः' निर्देश का प्रयोजन अयादेश का निषेध स्वीकार करते हैं।

(9) निगूह्य
नि गुह् णिच् ल्यप्—क्त्वा, ल्यप् आदेश, लघूपधगुण,
नि गोह् य—ऊकार,
नि गूह् य—यहाँ ऊत्व के 'असिद्धवदत्राभात्' से असिद्ध होने से 'ल्यपि लघुपूर्वात्' से णि को अयादेश प्राप्त है, इसके निषेध[1] के लिए 'गोहः' ऐसा निर्देश किया गया है।

अचीत्ये०—अजादि प्रत्यय परे रहते ही ऊकार होता है।

(10) निगोढा
नि गुह् तृच्—लघूपधगुण, ऊकार नहीं हुआ, हो ढः, झषस्त०,
नि गोढ्, ढृ—ष्टुत्व,
निगोढा—ढो ढे लोपः, सु।

(11) निगोढुम्
नि गुह् तुमुन्—पूर्ववत् ऊकार नहीं हुआ।

(3091) दोषो णौ *90* (2604)

दोष उपधाया ऊकार आदेशो भवति णौ परतः। दूषयति। दूषयतः। दूषयन्ति। विकृतग्रहणं प्रक्रमाभेदार्थम्। पूर्वत्र हि 'गोहः' इत्युक्तम्। णाविति किम्? दोषो वर्तते।

अर्थ—'णि' परे रहते 'दोष' अंग की उपधा के स्थान पर ऊकार होता है।

उदा० (1) दूषयति
दुष् णिच् तिप्—शप्, लघूपधगुण,
दूष य् अ ति—ऊकार।

(2) दूषयतः (पूर्ववत्)।

(3) दूषयन्ति (पूर्ववत्)।

विकृत०—'दोषः' यह विकृत निर्देश प्रकरण की समरूपता के लिए है। पिछले सूत्र में गुणयुक्त 'गोहः' ऐसा निर्देश किया गया है। प्रकरण में समरूपता बनी रहे, इसके लिए यह विकृत निर्देश किया गया है।

णौ—णि परे रहते ही ऊकार होता है।

(4) दोषः
यहाँ ऊकार नहीं हुआ।

(3092) वा चित्तविरागे *91* (2605)

चित्तविकारार्थे दोष उपधाया वा ऊकारादेशो भवति णौ परतः। चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति। प्रज्ञां दूषयति, प्रज्ञां दोषयति।

अर्थ—'दोष्' अंग की उपधा के स्थान पर ऊकार आदेश विकल्प से होता है, चित्तविकार अर्थ गम्यमान हो तो।

उदा० (1) दूषयति चित्तम्
दुष् णिच् शप् ति—लघूपधगुण,
दोषि अ ति—ऊकार।

1. णि परे रहते ऊकार होता है तथा ल्यप् परे रहते अय् होता है। इन दोनों की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न निमित्तों पर आश्रित होने से असिद्धभाव नहीं होता है। अय् आदेश नहीं होता है। तब 'गोहः' इस निर्देश का फल अयादेश-प्रतिषेध सिद्ध होता है।

(2) दोषयति चित्तम्
पक्ष में नहीं हुआ।

(3093) मितां ह्रस्वः *92* (2568)

मितो धातवः 'घटादयो मितः' (सि०कौ०) इत्येवमादयो ये प्रतिपादिताः, तेषामुपधाया ह्रस्वो भवति णौ परतः। घटयति। व्यथयति। जनयति। रजयति। शमयति। ज्ञपयति। केचिदत्र 'वा' इत्यनुवर्त्तयन्ति, सा च व्यवस्थितविभाषा, तेन उत्क्रामयति, संक्रामयतीत्येवमादि सिद्धं भवति।

अर्थ—'घटादयो मितः' से घट् आदि धातुओं की मित् संज्ञा होती है। घट् आदि जो प्रतिपदोक्त धातु हैं, उनकी उपधा को ह्रस्व होता है, णि परे रहते।

उदा० (1) घटयति
घट् णिच्—अत उपधायाः,
घाटि—उपधा को ह्रस्व, धातुसंज्ञा,
घटि शप् ति—गुण, अयादेश।

(2) व्यथयति (पूर्ववत्)।
(3) जनयति
पूर्ववत्। 'जनिवध्योश्च' वृद्धि-निषेध।

(4) रजयति
रञ्ज् णिच्—'रञ्जेर्णौ मृग०' (वा०) अनुनासिकलोप,
राजि—उपधाह्रस्व,
रजे शप् ति—पूर्ववत्।

(5) शमयति (पूर्ववत्)।
(6) ज्ञपयति (पूर्ववत्)।

केचिदत्र०—कुछ विद्वान् यहाँ 'वा' का अनुवर्तन स्वीकार करते हैं। यहाँ व्यवस्थित विभाषा है।

(7) उत्क्रामयति
उपधाह्रस्व नहीं हुआ।

(8) सङ्क्रामयति (पूर्ववत्)।

(3094) चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् *93* (2762)

चिण्परे णमुल्परे च णौ परतो मितामङ्गानामुपधाया दीर्घो भवति अन्यतरस्याम्। अशमि, अशामि। अतमि, अतामि। शमंशमम्, शामंशामम्। तमन्तमम्, तामन्तामम्। दीर्घग्रहणं किम्, न ह्रस्वविकल्प एव विधीयते? नैवं शक्यम्; शमयन्तं प्रयुक्ते—इति द्वितीये णिचि ह्रस्वविकल्पो न स्यात्। णिलोपस्य स्थानिवद्भावाद् दीर्घविधौ त्वजादेशो न स्थानिवत्। शमयन्तं प्रयुक्तवान्। अशमि, अशामि। शमंशमम्, शामंशामम्। शंशमयतेः–अशंशमि, अशंशामि। शंशमम्। शंशामम्। योऽसौ णौ णिर्लुप्यते, यश्च यङ्कारः, तयोर्दीर्घविधौ आदेशो न स्थानिवद्भवतीति अस्थानिवद्भावाद्दीर्घः सिद्धो भवति। ह्रस्वविकल्पे तु विधीयमाने स्थानिवद्भावः स्यात्। णिण्यन्ते यङ्ण्यन्ते त्वसिद्धिरेव। व्याश्रयत्वादसिद्धत्वमपि नास्ति। णौ हि णियङोर्लोपः, चिण्णमुल्परे णावङ्गस्य दीर्घत्वम्।

अर्थ—चिण् है परे जिसके तथा णमुल् है परे जिसके, ऐसे 'णि' प्रत्यय के परे रहते मित् अंग की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है।

उदा० (1) अशामि
शम् णिच् लुङ्—'त', च्लि, चिण्, चिण्भाव०,
शाम् इ चिण् त—दीर्घ, णेरनिटि,
अ शाम् इ—'त' का लोप, अट्, चिणो लुक्।

(2) अशमि
पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ।

(3) अतामि
पूर्ववत् दीर्घ।

(4) अतमि
दीर्घ नहीं हुआ।

(5) शामं शामम्
णमुल् हुआ, पाक्षिक दीर्घ।

(6) शमं शमम्
पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ।

(7) तामं तामम् (पूर्ववत्)।
(8) तमं तमम्
दीर्घ नहीं हुआ।

दीर्घ०—ह्रस्वविकल्प कर दिया जाय—यह सम्भव नहीं है। यथा—

शमयन्तं प्रयुङ्क्ते—यहाँ द्वितीय णिच् में ह्रस्वविकल्प नहीं होता है।

णिलोप०—जब दीर्घ किया जाता है तब अजादेश (= णिलोप) का स्थानिवद्भाव नहीं होता है। यथा—

उदाहरण मूल में देखें।

योऽसौ०—द्वितीय णिच् के परे रहते जो प्रथम णि का लोप होता है तथा जो यङ् के अकार का लोप होता है, उनके आदेश का दीर्घविधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। स्थानिवद्भाव न होने से दीर्घ सिद्ध होता है; परन्तु विधीयमान पाक्षिक ह्रस्व आदेश में स्थानिवद्भाव हो ही जायेगा।

णिण्यन्ते०—णिण्यन्त में तथा यङ्-ण्यन्त में दीर्घादेश की असिद्धि ही है। व्याश्रय अर्थात् निमित्तों के भिन्न-भिन्न होने से असिद्धभाव भी नहीं होता है। णि परे रहते प्रथम णि तथा यङ् का लोप होता है और चिण्परक तथा णमुल्परक णि परे होने पर अंग को दीर्घ होता है।

(3095) खचि ह्रस्वः *94* (2955)

खच्परे णौ परतो ह्रस्वो भवत्यङ्गस्योपधायाः। द्विषन्तपः। परन्तपः। पुरन्दरः।

अर्थ—खच् है परे जिसके, ऐसे 'णि' के परे रहते अंग की उपधा को ह्रस्व होता है।

उदा० (1) द्विषन्तपः
द्विषन्तं तापयति—द्विषत्परयोस्तापे,
द्विषत् तप् णिच् खच्—अरुर्द्विषद० से मुम्, अत उपधायाः,
द्विष म् त् तापि अ—अनुस्वार, परसवर्ण, उपधाह्रस्व,
दिषन्तप् अ सु—णिलोप, तकारलोप।

(2) परन्तपः
परान् तापयति
परम् तप् णिच् खच्—पूर्ववत्।

(3) पुरन्दरः
पुरं दारयति—पूःसर्वयोर्दा०, वाचंयमपुरन्दरौ,
पुरम् दर् अ—उपधाह्रस्व, णिलोप, सु।

(3096) ह्लादो निष्ठायाम् *95* (3073)

ह्लादोऽङ्गस्योपधाया ह्रस्वो भवति निष्ठायां परतः। प्रह्लन्नः। प्रह्लन्नवान्। निष्ठायामिति किम्? प्रह्लादयति। 'ह्लाद' इति योगविभागः क्रियते, क्तिन्यपि यथा स्यात्—प्रह्लत्तिरिति।

अर्थ—ह्लाद अंग की उपधा को ह्रस्वादेश होता है, निष्ठा संज्ञक प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) प्रह्लन्नः
प्र ह्लाद् क्त—रदाभ्यां निष्ठा०, श्वीदितो निष्ठा०,
प्र ह्लद् न—अनुनासिक,
प्रह्लन्न—सु।

(2) प्रह्लन्नवान्
क्तवतु—पूर्ववत्।

निष्ठाया०—निष्ठासंज्ञक प्रत्यय परे रहते उपधा को ह्रस्व होता है।

(3) प्रह्लादयति
निष्ठा परे नहीं है। ह्रस्व नहीं हुआ।

ह्लाद इति०—प्रकृत सूत्र का योगविभाग करना चाहिए—(क) ह्लादः तथा (ख) निष्ठायाम्।

योगविभाग करने से निम्नलिखित में भी ह्रस्व सिद्ध होता है—

(4) प्रह्लत्तिः
प्र ह्लाद् क्तिन्—ह्रस्व, खरि च।

(3097) छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य *96* (3297)

छादेरङ्गस्याद्व्युपसर्गस्य घप्रत्यये परत उपधाया ह्रस्वो भवति। उरश्छदः। प्रच्छदः। दन्तच्छदः। णिलोपस्य चासिद्धत्वं स्थानिवद्भावो वा वचनसामर्थ्यादत्र न भवतीति ह्रस्वभाविन्युपधा भवति। अद्व्युपसर्गस्येति किम्? समुपच्छादः। *अद्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्* (म०भा०)। समुपातिच्छादः। उत्तरा हि संख्या पूर्वसंख्याकृतं व्यपदेशं निवर्त्तयति, न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्र इति व्यपदिश्यते।

अर्थ—छादि अंग, जो दो उपसर्गों से युक्त नहीं है, उसकी उपधा को ह्रस्व होता है, घ प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) उरश्छदः
उरस् छद् णि घ—चुरादिलक्षण णिच्, पुंसि सञ्ज्ञायां घः०,
उरस् छाद् इ अ—अत उपधायाः,
उरस् छद् अ सु—उपधाह्रस्व, णिलोप।

(2) प्रच्छदः
प्र छाद् णि घ—पूर्ववत्, उपधाह्रस्व,
प्र त् छद् अ सु—छे च।

(3) दन्तच्छदः
पूर्ववत्—तुक्।

णिलोप०—यहाँ णिलोप का असिद्धभाव अथवा स्थानिवद्भाव इस वचन-सामर्थ्य से नहीं होता है। अतः ह्रस्व होने वाली उपधा हो जाती है।

अद्व्युप०—जो दो उपसर्गों से युक्त नहीं है, ऐसे अंग की उपधा को ह्रस्व होता है।

(4) समुपच्छादः
सम् उप छद् णि घ—दो उपसर्गों से युक्त होने से उपधा को ह्रस्व नहीं हुआ,
समुप छाद् अ सु—णिलोप।

अद्विप्रभृत्यु०—दो आदि उपसर्गों से रहित अंग की उपधा को ह्रस्व होता है।

(5) समुपातिच्छदः
सम् उप अति छाद् इ घ—यहाँ उपधाह्रस्व हुआ।

इसमें उत्तरवर्त्ती (अर्थात् त्रित्व) संख्या पूर्ववर्त्ती (अर्थात् द्वित्व) संख्या को मानकर होने वाले संख्यासम्बन्धी व्यवहार को निवृत्त कर देती है। यथा—

'त्रिपुत्र' व्यक्ति 'द्विपुत्र' नहीं होता है।

(3098) इस्मन्त्रन्क्विषु च *97* (2985)

इस्, मन्, त्रन्, क्वि-इत्येतेषु परतश्छादेरुपधाया ह्रस्वो भवति। छदिः। छद्म। छत्रम्। धामच्छत्। उपच्छत्।

अर्थ—छादि अंग की उपधा को ह्रस्व होता है, इस्, मन्, त्रन् तथा क्वि—इनके परे रहते।

उदा० (1) छदिः
छद् णिच् इस्—'अर्चिशुचि०' (उ०सू० 2.108),
छादि इ—उपधाह्रस्व, णि लोप,
छद् इ—सु।

(2) छद्म
छद् णिच् मन्—'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ०सू० 4.145),
छद् म सु—पूर्ववत् उपधाह्रस्व।

(3) छत्रम्
छद् णिच् ष्ट्रन्—'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ०सू० 4.159),
छाद् इ त्र—षः प्रत्ययस्य, हलन्त्यम्,
छद् त्र सु—उपधाह्रस्व, णिलोप, चर्त्व, सु।

(4) धामच्छत्
धामन् छाद् णिच् क्विप्—क्विप् च, सर्वापहार लोप,
धामन् छाद् इ—अत उपधायाः, उपधाह्रस्व,
छामन् छद्—णिलोप, नलोपः प्राति०, तुक्,
धाम त् छद् सु—श्चुत्व, सु, सुलुक्।

(5) उपच्छत् (पूर्ववत्)।

(3099) गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि *98* (2363)

गम, हन, जन, खन, घस—इत्येतेषामङ्गानामुपधाया लोपो भवत्यजादौ प्रत्यये क्ङित्यनङि परतः। जग्मतुः, जग्मुः। जघ्नतुः, जघ्नुः। (जज्ञतुः, जज्ञुः) जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। चख्नतुः, चख्नुः। जक्षतुः, जक्षुः। 'अक्षंन्न-मीमदन्त पि॒तरः॑' (वा०सं० 19.36)। क्ङितीति किम्? गमनम्। हननम्। अनङीति किम्? अगमत्। अघसत्। अचीत्येव—गम्यते, हन्यते।

अर्थ—अङ्वर्जित अजादि कित् व ङित् प्रत्यय परे रहते गम्, हन्, जन्, खन् तथा घस्—इन अंगों की उपधा का लोप होता है।

उदा० (1) जग्मतुः
गम् तस्—लिट्, परस्मैपदानां०, असंयोगाल्लिट्०,
गम् अतुस्—द्वित्व, अभ्यास कार्य,
जगम् अतुस्—उपधालोप,
ज ग् म् अतुस्—विसर्ग।

(2) जग्मुः
गम् उस्—लिट्, प्र०पु० बहुवचन,
ज ग् म् उस्—उपधालोप।

(3) जघ्नतुः
हन् अतुस्—पूर्ववत्,
ज हन् अतुस् —द्वित्व, अभ्यासकार्य, उपधालोप,
ज घ् न् अतुस्—अभ्यासाच्च।

(4) जघ्नुः
हन् उस्—लिट्,
ज ह् न् उस्—पूर्ववत्।

(5) जज्ञे
जन् त—लिटस्तझयो०,
ज जन् ए—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
ज ज् न् ए—उपधालोप,
ज ज् ञ् ए—श्चुत्व।

(6) जज्ञाते
जन् आताम्—लिट्,
ज ज् न् आताम्—पूर्ववत्।

(7) जज्ञिरे
जन् झ—लिटस्तझयोरेशिरेच्,
ज ज् न् इरेच्—पूर्ववत्।

(8) चख्नतुः
खन् अतुस्—द्वित्व,
ख खन् अतुस्—हलादिः शेषः,
च खन् अतुस्—कुहोश्चुः,
च ख् न् अतुस्—उपधालोप।

(9) चख्नुः
खन् उस्—पूर्ववत्।

(10) जक्षतुः
घस् अतुस्—लिट्यन्यतरस्याम्,
ज घस् अतुस्—द्वित्व, हलादि शेष, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,
ज घ् स् अतुस्— उपधालोप, खरि च,
ज क् स् अतुस्—शासिवसिघसी० से षत्व।

(11) जक्षुः
घस् उस्—पूर्ववत्।

(12) अक्षन्
घंस् झि—लुङ्, लुङ्सनो०, मन्त्रे घसह्वर०,
घस् अन्ति—झोऽन्तः, इतश्च,
घ् स् अन्त्—उपधालोप, संयोगान्तलोप,
क् स् अन्—खरि च, षत्व,
अक्षन्—अट् आगम।

क्ङितीति०—कित् व ङित् परे रहते पूर्वोक्त उपधालोप होता है।

(13) गमनम्
गम् ल्युट्—युवोरनाकौ,
गम् अन सु—उपधालोप नहीं हुआ।

(14) हननम् (पूर्ववत्)।

अनङीति०—अङ् परे रहते उपधालोप नहीं होता है।

(15) अगमत्
गम् च्लि त्—लुङ्, इतश्च,
गम् अङ् त्—पुषादिद्युता०,
अगम् अत्—उपधालोप नहीं हुआ।

(16) अघसत्
घस् अङ् त्—इतश्च, पूर्ववत् अङ् आदि,
अघस् अत्—उपधालोप नहीं हुआ।

अचीत्ये०—अजादि प्रत्यय परे रहते उपधालोप होता है।

(17) गम्यते
गम् यक् त—कर्मवाच्य, कित् परे है परन्तु अजादि नहीं है, उपधालोप नहीं हुआ।

(18) हन्यते
हन् यक् त—पूर्ववत्।

(3100) तनिपत्योश्छन्दसि *99* (3549)

तनि, पति—इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः। 'वितत्निरे कवयः' (ऋ० 1.164.5)। 'शंकुना इंव पप्तिम'। (ऋ० 1.104.20)। छन्दसीति किम्? वितेनिरे। पेतिम।

अर्थ—वेद के विषय में तन् तथा पत् अंग की उपधा का लोप होता है, अजादि कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते।

उदा० (1) वितत्निरे (ऋ० 1.164.5)
तन् झ—लिट्, इरेच् आदेश,
त तन् इरे—द्वित्व, हलादि शेष,
वि त त् न् इरे—उपधालोप।

(2) पप्तिम (ऋ० 9.107.20)
पत् मस्—लिट्, इट्, क्रादिनियम से द्वित्व, अभ्यासकार्य,
प पत् इ मस्—हलादि शेष,
प प् त् इ मस्—उपधालोप।

छन्दसी०—वेद में ही पूर्वोक्त उपधालोप होता है।

(3) वितेनिरे
त तन् इरे—लोक में एत्व, अभ्यासलोप, अत एकहल्म०,
वि तेन् इरे—रूप।

(4) पेतिम
लोक में पूर्ववत् एत्व, अभ्यासलोप।

(3001) घसिभसोर्हलि च *100* (3550)

घसि, भस-इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः। 'सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे' (वा०सं० 18.9)। 'बब्धां ते हरी धानाः' (नि० 5. 12)। सग्धिरिति-अदेः क्तिनि 'बहुलं छन्दसि' (2.4.39) इति घस्लादेशे उपधाया लोपे च कृते 'झलो झलि' (8.

2.26) इति सकारलोपः । धत्वं तकारस्य, जश्त्वं घकारस्य । ततः समाना ग्धिः-सग्धिरिति समासे कृते समानस्य सभावः । बब्धामिति-भसेर्लोटि तामि श्लौ द्विर्वचने कृते उपधालोपसलोपधत्वजश्त्वानि कर्त्तव्यानि । द्विर्वचनात्परत्वान्नित्यत्वाच्च उपधालोपः प्राप्नोति; छान्दसत्वात् स तथा न क्रियते । अजादौ-बप्सति । क्ङितीत्येव-'अशून् बभस्ति' (काठ०सं० 35.14) ।

अर्थ—वेद के विषय में घस् तथा भस्—इन अंगों के उपधा का लोप होता है, हलादि तथा अजादि कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते ।

उदा० (1) सग्धिः (मा०सं० 18.9)

सग्धिरिति—अद् क्तिन्—बहुलं छन्दसि, उपधालोप,
घ् स् ति—'झलो झलि' से सकारलोप,
घ् ति—झषस्तथो० से धत्व०
ग् धि—झलां जश् झशि, सु ।

समाना ग्धिः—पूर्वापरप्रथम० से समास, समानस्य च्छन्दसि से 'स' हुआ ।

(2) बब्धाम्
बब्धामि०—भस् ताम्—लोट्, तस्, ताम् आदेश,
भ भस् ताम्—शप्, श्लु, पर व नित्य होने से उपधालोप की प्राप्ति हुई, यदि प्रथम उपधालोप कर लिया जाय तो एकाच् का अभाव होने से द्वित्व नहीं हो पायेगा, अतः छान्दसत्व के अनुरोध से प्रथम द्वित्व हुआ, तब—
ब भ् स् ताम्—उपधालोप, झलो झलि, झषस्तथो०,
ब भ् धाम्—झलां जश् झशि,
बब्धाम्—रूप बना ।

अजादौ०—अजादि प्रत्यय परे रहते ही पूर्वोक्त उपधालोप होता है ।

(3) बप्सति
भस् झि—अत् अजादि परे है, उपधालोप,
ब भ् स् अति—खरि च ।

क्ङिती—कित् व ङित् परे रहते ही उपधालोप होता है ।

(4) बभस्ति
ब भस् ति—उपधालोप नहीं हुआ ।

(3102) हुझल्भ्यो हेर्धिः *101* (2425)

'हु' इत्येतस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हलादेर्हेः स्थाने धिरादेशो भवति । जुहुधि । झलन्तेभ्यः-भिन्धि । छिन्धि । हुझल्भ्य इति किम् ? क्रीणीहि । प्रीणीहि । हेरिति किम् ? जुहुताम् । हलीत्येव-रुदिहि । स्वपिहि । इह जुहुतात्, भिन्तात् त्वमिति परत्वात् तातङि कृते 'सकृद् गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' (चा०प० 60) इति पुनर्धिभावो न भवति । भिन्धकि, छिन्धकीत्यत्र परत्वाद् धिभावे कृते पुनःप्रसङ्गविज्ञानादकच् क्रियते ।

अर्थ—'हु' तथा झलन्त अंग से उत्तर हलादि 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश होता है ।

उदा० (क) हुधातोः—

(1) जुहुधि
हु सिप्—शप्, श्लु, द्वित्व, अभ्यासकार्य,
जु हु सि—सेर्ह्यपिच्च,
जुहुधि—'हि' को 'धि' ।

(ख) झलन्तेभ्यः—

(2) भिन्धि
भि श्नम् द् सि—लोट्, शप् को बाध कर 'श्नम्',
भिनद् हि—पूर्ववत् 'हि',
भि न् द् हि—श्नसोरल्लोपः,
भिन् द्धि—'धि' हुआ ।

(3) छिन्द्धि (पूर्ववत्) ।

हुझल्भ्य०—हु तथा झलन्त अंग से उत्तर 'हि' को 'धि' होता है ।

(4) क्रीणीहि
क्री श्ना सिप्—शप् को बाध कर श्ना,
क्रीणीहि—'हि', ई हल्यघोः ।

(5) प्रीणीहि (पूर्ववत्) ।

हेरिति०—हि को ही 'धि' होता है ।

(6) जुहुताम्
हु तस्—लोट्, श्लु, द्वित्व,
जु हु ताम्—'तस्' को 'ताम्',
जुहुताम्—'धि' नहीं हुआ ।

हली०—हलादि परे रहते ही 'धि' आदेश होता है ।

(7) रुदिहि
रुद् इ हि—सिप्, हि, रुदादिभ्यः सार्व०,

रुदि हि—हलादि न रहने से 'हि' को 'धि' नहीं हुआ।

(8) स्वपिहि

स्वप् इहि—इस दशा में झलन्त अंग (स्वप्) से उत्तर 'हि' को 'धि' नहीं होता है। इसके समाधान के लिए महाभाष्य में निम्नलिखित कारिका प्राप्त होती है—

(क) हलोऽनुवर्त्तनाद्वापि अर्थात् प्रकृत सूत्र में 'घसिभसोर्हलि च' से 'हलि' का अनुवर्त्तन होता है। तब 'स्वप्' अंग से उत्तर हलादि 'हि' न रहने से उसे 'धि' नहीं होता है।

(ख) निर्दिश्यमानतोऽथवा अर्थात् सूत्र में जिसका साक्षात् निर्देश होता है, उसी को कार्य होता है, अन्य को नहीं (द्र०-निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति)। चूँकि सूत्र में 'हि' के स्थान पर 'धि' कहा गया है। 'स्वप् इहि' यहाँ इदसहित 'हि' है। जिसे 'धि' नहीं है।

(ग) हस्य धत्वं भवेच्चेति अर्थात् सूत्रपठित 'हि' तथा 'धि' दोनों पदों में इकार मुखसुखार्थ है। वास्तव में यहाँ हकार के स्थान पर धकार का विधान किया गया है। 'स्वप् इहि' इस दशा में झलन्त अंग (स्वप्) से उत्तर अव्यवहित हकार नहीं है। अतः धकार नहीं होता है।

इस सम्बन्ध में भट्टोजिदीक्षित का वचन भी विशेष द्रष्टव्य है—

परत्वाद् इटि धित्वं न (वै०सि० कौ० भाग 2, सूत्र 1111)।

अर्थात्—'स्वप् हि' इस दशा में 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (6.4.101) के द्वारा धित्व तथा 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (7.2.76) से इट् युगपत् प्राप्त होते हैं। परकार्य होने से इट् हुआ। सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव—इस परिभाषा के बल पर धित्व की पुनः प्रवृत्ति नहीं होती है।

(9) जुहुतात्।

(10) भिन्तात्।

इह०—उपर्युक्त दोनों स्थलों पर पर होने से 'हि' को पाक्षिक तातङ् होता है। तातङ् के अभावपक्ष में भी 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे०' परिभाषा से 'धि' आदेश का निषेध हो जाता है।

(11) भिन्धकि, (12) छिन्धकि।

'भिन्धि' की टि के पहले 'अव्ययसर्वनाम्०' से 'अकच्' हुआ है। पर होने से प्रथम धिभाव होता है। तब पुनःप्रसंगवशात् अकच् होता है।

इसी प्रकार—छिन्धकि।

(3103) श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि *102*
(3551)

श्रु, शृणु, पॄ, कृ, वृ-इत्येतेभ्य उत्तरस्य हेर्धिरादेशो भवति छन्दसि विषये। 'श्रुधी हवमिन्द्र' (ऋ० 2.11.3)। 'शृणुधी गिरः' (ऋ० 8.13.7)। पूर्द्धि (ऋ० 8.78.10)। उरुणस्कृधि (ऋ० 8.57.11)। अपावृधि (ऋ० 1.7.6)। शृणुधीत्यत्र धिभावविधानसामर्थ्याद् 'उतश्च प्रत्ययात्' (6.4.104) इति हेर्लुग्न भवति। 'अन्येषामपि दृश्यते' (6.3.137) इति दीर्घत्वम्। अतोऽन्यत्र 'व्यत्ययो बहुलम्' (3.1.85) इति शप्, तस्य 'बहुलं छन्दसि' (2.4.73) इति लुक्।

अर्थ—श्रु, शृणु, पॄ, कृ तथा वृ—इन अंगों से उत्तर 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश होता है, वेद के विषय में।

उदा० (1) श्रुधी (ऋ० 1.2.1)
श्रु शप् सिप्—शप् का छान्दस लुक्,
श्रु हि—सेर्ह्यपिच्च,
श्रु धि—अन्येषामपि दृश्यते।

(2) शृणुधी (ऋ० 8.84.3)
श्रु सि—श्रुवः शृ च,
शृ श्नु हि—णत्व,
शृणुधी—दीर्घ।

(3) पूर्द्धिः
पॄ सिप्—उदोष्ठ्यपूर्व०,
पुर् सिप्—हलि च,
पूर् हि—'हि' आदेश, 'धि',
पूर् द् धि—अचो रहाभ्यां द्वे।

(4) उरुणस्कृधि (यजु० 5.41)
कृ सिप्—शप् छान्दस,
कृ सि—लोप,
कृ धि—हि, धि।

(5) अपावृधि (ऋ० 1.7.6)
वृ सिप्—छान्दस शप्,
वृ सिप्—शप् लुक्,
अपावृधि—पूर्ववत्।

'शृणुधी' में धिभाव के विधान-सामर्थ्य से 'उतश्च प्रत्ययात्' की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ होता है।

शेष में शप् 'व्यत्ययो बहुलं' से होता है तथा 'बहुलं छन्दसि' से लुक् होता है।

(3104) अङितश्च *103* (3553)

अङितश्च हेर्धिरादेशो भवति। 'वा छन्दसि' (3.4.88) इति पित्त्वेनास्याङित्त्वम्। 'सोमं रारन्धि' (ऋ० 1.91.13)। 'अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि' (ऋ० 3.36.9)। 'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः' (ऋ० 1.189.20)। अङित इति किम्? 'हव्यं प्रीणीहि' (काठ०सं० 40.94)। रारन्धीति-रमेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम्, शपः श्लुः, अभ्यासदीर्घत्वं छान्दसत्वात्। मलोपाभावस्तु अङित्त्वादेव। प्रयन्धीति-यमेः शपो लुक्। युयोधीति-यौतेः शपः श्लुः।

अर्थ—वेद के विषय में अङित् 'हि' को 'धि' होता है।

उदा० (1) रारन्धि
रम् सि—'व्यत्ययो बहुलम्' से सिप्,
रम् शप् सि—'बहुलं छन्दसि' से श्लुत्व,
र रम् हि—द्वित्व, अभ्यासकार्य, हि,
रा रम् हि—तुजादीनां०, 'वा छन्दसि' से 'हि' पाक्षिक अपिद्वत्, पित् पक्ष में 'हि' अङित् हुआ,
रारन्धि—धि, अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) प्रयन्धि (यजु० 40.16)
प्र यम् सि—सभी कार्य पूर्ववत्।

(3) युयोधि
यु सिप्—पूर्ववत्।

अङित०—अङित् 'हि' को ही 'धि' होता है।
प्रीणीहि (काठ० सं० 40.94),
प्री श्ना सिप्—'हि' आदेश,
प्रीणीहि—णत्व, ङित् होने से 'धि' नहीं हुआ।

रारन्धी०—'रारन्धि' में रम् से व्यत्यय से परस्मैपद, शप् को छान्दस श्लुभाव तथा अभ्यासदीर्घ होता है। ङित् न होने से 'अनुदात्तोपदेश०' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

'प्रयन्धि' में शप् का लुक् होता है।
'युयोधि' में शप् का श्लु होता है।

(3105) चिणो लुक् *104* (2329)

चिण उत्तरस्य प्रत्ययस्य लुग्भवति। अकारि। अहारि। अलावि। अपाचि। अकारितराम्, अहारितमामित्यत्र तलोपस्यासिद्धत्वात् तरप्तमपोर्न लुग्भवति; 'चिणो लुक्' इत्येतद्विषयभेदाद्भिद्यते।

अर्थ—चिण् से उत्तर जो प्रत्यय, उसका लुक् होता है।

उदा० (1) अकारि
कृ त—कर्मवाच्य,
कृ चिण् त—च्लि, चिण्,
कारि त—वृद्धि,
अकारि—लुक्, अट्।

(2) अहारि
हृ त—पूर्ववत्।

(3) अलावि
लू चिण् त—पूर्ववत्।

(4) अपाचि
पच् चिण् त—पूर्ववत्।

(5) अकारितराम्।

(6) अहारितराम्।

अकारि०—(इन दो स्थलों पर) तलोप के असिद्ध होने से 'तरप्' का लुक् नहीं होता है।

(3106) अतो हेः *105* (2202)

अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य हेर्लुग्भवति। पच। पठ। गच्छ। धाव। अत इति किम्? युहि। रुहि। तपरकरणं किम्? लुनीहि। पुनीहि। ईत्वस्यासिद्धत्वादाकार एव भवति।

अर्थ—अदन्त अंग से पर 'हि' का लुक् होता है।

'हि' के द्वारा अल् समुदायरूप (हकार + इकार) का ग्रहण नहीं होता, अपितु 'हि' स्वरूपात्मक प्रत्यय का ग्रहण होता है। अतः अलोऽन्त्य परिभाषा लागू नहीं होती है।

उदा० (1) पच
पच् सिप्—लोट्,
पच् शप् सिप्—कर्तरि शप्, अनुबन्धलोप,
पच—हि, हि का लुक्।

(2) पठ
पठ् सिप्—पूर्ववत्।

(3) गच्छ
गम् सिप्—इषुगमियमां छः, तुक्, शेष पूर्ववत्।

(4) धाव
धाव् सिप्—पूर्ववत्।

अत इति०—अदन्त अंग से पर 'हिं' का लुक् होता है।

(5) युहि
यु सिप्—लोट्, शप्, शप् का लुक्,
यु हि—अदन्त अंग न होने से 'हिं' का लुक् नहीं हुआ।

(6) रुहि (पूर्ववत्)।

तपरकर०—ह्रस्व अकारान्त अंग से उत्तर 'हिं' का लुक् होता है।

(7) लुनीहि
लूग श्ना सि—शप् को बाध कर श्ना,
लु ना हि—'हिं' आदेश, प्वादीनां ह्रस्वः,
लुनीहि—ह्रस्व अकारान्त अंग न होने से 'हिं' का लुक् नहीं हुआ, ई हल्यघोः।

(8) पुनीहि
पू सिप्—पूर्ववत्।

ईत्व०—ईकार आदेश के असिद्ध होने से आकार ही होता है।

(3107) उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् *106* (2334)

उकारो योऽसंयोगपूर्वस्तदन्तात्प्रत्ययादुत्तरस्य हेर्लुग्भवति। चिनु। सुनु। कुरु। उत इति किम्? लुनीहि। पुनीहि। प्रत्ययादिति किम्? रुहि। युहि। असंयोगपूर्वादिति किम्? प्राप्नुहि। राध्नुहि। तक्ष्णुहि। *उतश्च प्रत्ययाच्छन्दोवावचनम्* (म०भा०)। 'उतश्च प्रत्ययात्' इत्यत्र 'छन्दसि वा' इति वक्तव्यम्। आतनुहि यातुधानान्। 'धिनुहि यज्ञपतिम्' (काठ०सं० 1.6)। तेनं मा भृगिनं कृणुहि (अथ० 129.1)।

अर्थ—संयोग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसा प्रत्ययावयव जो उकार, उससे पर 'हिं' का लुक् होता है।

उदा० (1) चिनु
चि सिप्—लोट्,
चि श्नु सि—शप् को बाध कर श्नु, हि,
चिनुहि—'हिं' का लुक्।

(2) सुनु
षु → सु सिप्—पूर्ववत्।

(3) कुरु
कृ सिप्—लोट्,
कृ उ सि—तनादिकृञ्भ्य उः,
कुर् उ हि—पूर्ववत्।

उत इति०—ह्रस्व उकार से उत्तर ही 'हिं' का लुक् होता है।

(4) लुनीहि
लूग श्ना सिप्—शप् को बाध कर श्ना,
लु ना हि—प्वादीनां ह्रस्वः, हि,
लुनीहि—ई हल्यघोः, 'हिं' का लुक् नहीं हुआ।

(5) पुनीहि (पूर्ववत्)।

प्रत्यया०—प्रत्यय का अवयव जो उकार, उससे पर 'हिं' का लुक् होता है।

(6) रुहि
रु सिप्—शप् का लुक्,
रु हि—उकार से उत्तर 'हिं' है परन्तु वह प्रत्यय का अवयव नहीं है, धातु का है। अतः 'हिं' का लुक् नहीं हुआ।

(7) युहि (पूर्ववत्)।

असंयो०—संयोग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे उकार से उत्तर 'हिं' का लुक् होता है।

(8) प्राप्नुहि
प्र आप् श्नु सिप्—श्नु, हि आदेश,
प्राप्नु हि—'प्राप्नु' अंग, उकार प्रत्यय का अवयव है परन्तु इससे पूर्व 'प्न्' यह संयोग है, अतः इससे उत्तर 'हिं' का लुक् नहीं हुआ।

(9) राध्नुहि (पूर्ववत्)।
(10) तक्ष्णुहि (पूर्ववत्)।

उतश्च०—उकार से उत्तर विकल्प से 'हिं' का लोप होता है, वेद में।

(11) आतनुहि
आ तन् उ सिप्—शप् को बाध कर 'उ',
आतनुहि—'हिं' का लोप प्राप्त था।

(12) धिनुहि (पूर्ववत्)।
(13) कृणुहि (पूर्ववत्)।

(3108) लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः *107* (2333)

योऽयमुकारोऽसंयोगपूर्वः तदन्तस्य प्रत्ययस्यान्यतरस्यां लोपो भवति वकारमकारादौ प्रत्यये परतः। सुन्वः, सुनुवः। सुन्मः, सुनुमः। तन्वः, तनुवः। तन्मः, तनुमः। प्रत्ययस्येत्येव–युवः, युमः। असंयोगपूर्वस्येत्येव–शक्नुवः शक्नुमः। लुगिति वर्त्तमाने, लोपग्रहणमन्त्यलोपार्थम्।

अर्थ—संयोग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसा जो प्रत्ययावयव उकार, तदन्त प्रत्यय का विकल्प से लोप होता है, वकार व मकार प्रत्ययों के परे रहते।

उदा० (1) सुन्वः
षु → सु वस्—धात्वादेः षः सः, लट्,
सु श्नु वस्—शप् को बाध कर श्नु,
सुन्वः—उकार का लोप।

(2) सुनुवः
पक्ष में लोप नहीं हुआ।

(3) सुन्मः
लोप हुआ।

(4) सुनुमः
लोप नहीं हुआ।

(5) तन्वः
लोप हुआ।

(6) तनुवः
लोप नहीं हुआ।

(7) तन्मः
लोप हुआ।

(8) तनुमः
लोप नहीं हुआ।

प्रत्यय०—प्रत्यय का ही लोप होता है।

(9) युवः
यु शप् वस्—शप् का लुक्,
युवस्—उकार प्रत्यय का अवयव नहीं है, अतः लोप नहीं हुआ।

(10) युमः (पूर्ववत्)।

असंयोग०—संयोग नहीं है पूर्व में जिसके, ऐसे प्रत्यय का लोप होता है।

(11) शक्नुवः
शक् श्नु वस्—शप् को बाध कर श्नु,
शक्नुवस्—उकार से पूर्व संयोग 'क्न्' है। अतः लोप नहीं हुआ।

(12) शक्नुमः (पूर्ववत्)।

लुगिति०—'लुक्' का अनुवर्त्तन पूर्व शास्त्र से प्राप्त होने पर भी 'लोपः' का ग्रहण किया गया है, ताकि अलोऽन्त्य परिभाषा प्रवृत्त हो सके।

(3109) नित्यं करोतेः *108* (2548)

करोतेरुत्तरस्य उकारप्रत्ययस्य वकारमकारादौ प्रत्यये परतो नित्यं लोपो भवति। कुर्वः, कुर्मः। उकारलोपस्य दीर्घविधावस्थानिवद्भावाद् 'हलि च' (8.2.77) इति दीर्घत्वं प्राप्तम्, 'न भकुर्छुराम्' (8.2.79) इति प्रतिषिध्यते।

अर्थ—'कृ' से उत्तर प्रत्यय के उकार का नित्य लोप होता है, वकार और मकार के परे रहते।

उदा० (1) कुर्वः
कृ उ वस्—तनादिकृञ्भ्य उः,
कुर् उ वस्—उकार का विकल्प से लोप प्राप्त,
कुर् वस्—नित्य लोप।

(2) कुर्मः
कृ मस्—पूर्ववत्।

उकार०—उकारलोप की दीर्घविधि में स्थानिवद्भाव न होने से 'हलि च' से प्राप्त हुआ, 'न भकुर्छुराम्' से निषेध हुआ।

(3110) ये च *109* (2549)

यकारादौ च प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्योकारप्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति। कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः।

अर्थ—कृ धातु से उत्तर 'उ' का लोप होता है, यकारादि प्रत्यय परे रहते। यकार में अकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) कुर्यात्
कृ तिप्—विधिलिङ्
कृ उ यासुट् त्—इतश्च, तनादिकृञ्भ्य०, यासुट् पर०,

कुर् उ यास् त्—अत उत् सार्व०,
कुर् उ या त्—लिङः सलोपो०,
कुर्यात्—उकारलोप।

(2) कुर्याताम्
कृ ताम्—पूर्ववत्।

(3) कुर्युः
कृ उस्—पूर्ववत्।

(3111) अत उत्सार्वधातुके *110* (2467)

उकारप्रत्ययान्तस्य करोतेरकारस्य स्थाने उकार आदेशो भवति सार्वधातुके क्ङिति परतः। कुरुतः। कुर्वन्ति। सार्वधातुकग्रहणं किम्? भूतपूर्वेऽपि सार्वधातुके यथा स्यात्-कुरु। तपरकरणं लघूपधस्य गुणनिवृत्त्यर्थम्। क्ङितीत्येव-करोति। करोषि। करोमि।

अर्थ—उप्रत्ययान्त 'कृ' धातु के ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार होता है, सार्वधातुक कित् व ङित् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) कुरुतः
कृ उ तस्—लट्,
कर् उ तस्—'उ' प्रत्यय,
कुर् उ तस्—उकार हुआ,
कुरुतः—विसर्ग।

(2) कुर्वन्ति
कृ उ झि—झोऽन्तः,
कर् उ अन्ति—पूर्ववत्।

सार्वधातु०—सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते उकार होता है। पहले किये गये के स्थान पर भी आदेश होता है।

(3) कुरु

उत्व तथा हिलोप की युगपत् प्राप्ति हुई। नित्य होने से 'हि' का लोप हुआ। सार्वधातुक के न रहने पर भी उकार हुआ।

तपर०—लघूपधगुण की निवृत्ति के लिए 'उत्' को तपर किया गया है।

क्ङिति०—कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते ही उकार आदेश होता है।

(4) करोति
कृ उ तिप्—पूर्ववत् 'उ',
कर् उ तिप्—उकार नहीं हुआ। गुण।

(5) करोषि
कृ उ सिप्—पूर्ववत्।

(6) करोमि (पूर्ववत्)।

(3112) श्नसोरल्लोपः *111* (2469)

श्नस्यास्तेश्चाकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति परतः। रुन्धः, रुन्धन्ति (रुन्द्धः, रुन्द्धन्ति)। भिन्तः, भिन्दन्ति। अस्तेः-स्तः, सन्ति। क्ङितीत्येव-भिनत्ति। अस्ति। 'श्नसोः' इत्याकारस्य पररूपत्वं शकन्ध्वादिषु द्रष्टव्यम्।

अर्थ—'श्न' तथा 'अस्' के अकार का लोप होता है, सार्वधातुक कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते।

उदा० (1) रुन्द्धः
रुध् तस्—शप् को बाध कर 'श्नम्',
रु श्नम् ध् तस्—झषस्तथो०,
रु न ध् धस्—अकारलोप,
रु न् द् ध स्—झलां जश् झशि।

(2) रुन्धन्ति
रु श्नम् ध् अन्ति—झि, झोऽन्तः,
रु न् ध् अन्ति—अकारलोप।

(3) भिन्तः
भि श्नम् द् तस्—अकारलोप।

(4) भिन्दन्ति
भिद् झि—पूर्ववत्।

(5) स्तः
अस् तस्—शप् का लुक्, सार्वधातुकमपित्,
स्तस्—अकारलोप।

(6) सन्ति
अस् झि—पूर्ववत्।

क्ङिती०—कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते अकारलोप होता है।

(7) भिनत्ति
भिद् तिप्—पित् है,
भिन द् ति—श्नम्,
भिनत्ति—खरि च।

(8) अस्ति
अस् तिप्—अकारलोप नहीं हुआ।

श्नसो०—'श्ना अस्' इस दशा में 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' के द्वारा पररूप होता है।

(3113) श्नाभ्यस्तयोरातः *112* (2483)

'श्ना' इत्येतस्याभ्यस्तानां चाङ्गानामाकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति परतः। लुनते। लुनताम्। अलुनत। अभ्यस्तानाम्–मिमते। मिमताम्। अमिमत। सञ्जिहते। सञ्जिहताम्। समजिहत। श्नाभ्यस्तयोरिति किम्? यान्ति। वान्ति। आत इति किम्? बिभ्रति। क्ङितीत्येव–अलुनात्। अजहात्। आद्ग्रहणं स्पष्टार्थम्।

अर्थ—'श्ना' प्रत्यय के तथा अभ्यस्तसंज्ञक धातु के आकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते घुवर्जित धातु के आकार को ईकार होता है (ई हल्यघोः)। अतः यह सूत्र अजादि कित् ङित् सार्वधातुक में ही सावकाश है। इसके अतिरिक्त घुसंज्ञक धातु के विषय अजादि हलादि अर्थात् उभयविध सार्वधातुक कित् ङित् में प्रवृत्त होता है।

उदा० (1) लुनते
लू श्ना झ—शप् को बाध कर श्ना, ह्रस्व,
लु ना अत—आत्मनेपदेष्वनतः,
लु न् अत—आकारलोप, टि को एत्व।

(2) लुनताम्
लू श्ना झ—लोट्
लु न् त् आम्—आकारलोप, आमेतः।

(3) अलुनत
लू श्ना झ—लङ्,
अ लु न् अत—आकारलोप, अट्।

(4) पुनते
पू श्ना अ त—पूर्ववत्।

(5) पुनताम्
पू श्ना त—पूर्ववत्।

(6) अपुनत
अ पू श्ना झ—पूर्ववत्।

(7) मिमते
मा झ—शप्, श्लुत्व,
मा मा अ त—अदभ्यस्तात्,
मि म् अते—भृञामित्, आकारलोप।

(8) मिमताम्
मा मा श्ना ते—पूर्ववत्,
मि म् अ ते—आकारलोप,
मिम् अ ताम्—आमेतः।

(9) अमिमत
मा लङ्—पूर्ववत्।

(10) सञ्जिहते
हा झ—श्लु, द्वित्व,
ज हा झ—अभ्यासकार्य,
सम् जि ह् अते—आकारलोप, अनुस्वार, परसवर्ण।

(11) सञ्जिहताम्
हा लोट्—पूर्ववत्।

(12) समजिहत
हा लङ् → अजिहत—पूर्ववत्।

श्नाभ्यस्त०—श्ना प्रत्यय और **अभ्यस्तसंज्ञक** धातु के आकार का लोप होता है।

(13) यान्ति
या झि—शप्, लुक्,
या अन्ति—लोप नहीं हुआ।

(14) वान्ति (पूर्ववत्)।

आत०—दीर्घ आकार का ही लोप होता है।

(15) बिभ्रति
भृ झि—शप्, श्लु,
बिभृ अति—भृञामित्,
बिभ्र् अति—लोप नहीं हुआ, यणादेश।

क्ङिती०—कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते आकारलोप होता है।

(16) अलुनात्
लू श्ना तिप्—लङ्, पित् परे है, आकारलोप नहीं हुआ,
अलुनात्—इतश्च, अट्।

(17) अजहात्
हा लङ्—आकारलोप नहीं हुआ।

आद्ग्रह०—'श्नाभ्यस्तयोरातः' के स्थान पर 'श्नाऽभ्यस्तयोरतः' का पाठ करने से लाघव होता है; परन्तु 'आतः' का ग्रहण स्पष्टता के लिए है।

(3114) ई हल्यघोः *113* (2497)

श्नान्तानामङ्गानामभ्यस्तानां च घुवर्जितानामात ईकारादेशो भवति हलादौ सार्वधातुके क्ङिति परतः। लुनीतः, पुनीतः। लुनीथः, पुनीथः। लुनीते, पुनीते। अभ्यस्तानाम्-मिमीते। मिमीषे। मिमीध्वे। सञ्जिहीते। सञ्जिहीषे। सञ्जिहीध्वे। हलीति किम्? लुनन्ति। मिमते। अघोरिति किम्? दत्तः। धत्तः। क्ङितीत्येव-लुनाति। जहाति।

अर्थ—श्ना प्रत्यय तथा अभ्यस्तसंज्ञक धातु—इन अंगों के आकार के स्थान पर 'ई' आदेश होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते; परन्तु घुसंज्ञक धातु के आकार को नहीं होता है।

उदा० (1) लुनीतः
लू श्ना तस्—शप् को बाध कर श्ना,
लु नी तस्—ह्रस्व, ईत्व।

(2) पुनीतः
पू श्ना तस्—पूर्ववत्।

(3) लुनीथः
लू श्ना थस्—पूर्ववत्।

(4) पुनीथः (पूर्ववत्)।

(5) लुनीते
लू श्ना त—ह्रस्व, ईत्व, एत्व।

(6) पुनीते (पूर्ववत्)।

(7) मिमीते
मा त—श्लुत्व,
मि मी त—भृञामित्, ईत्व, एत्व।

(8) मिमीषे
मा थास्—थासः से,
मि मी से—पूर्ववत्, आदेशप्रत्यययोः।

(9) मिमीध्वे
मा ध्वम्—पूर्ववत्।

(10) सञ्जिहीते (पूर्ववत्)।

(11) सञ्जिंहीषे (पूर्ववत्)।

(12) सञ्जिहीध्वे (पूर्ववत्)।

हला०—हलादि परे रहते ईत्व होता है।

(13) लुनन्ति
लू श्ना झि—हलादि परे नहीं है, ईत्व नहीं हुआ,
लु न् अन्ति—आकारलोप।

(14) मिमते
मा झ—लट्,
मा मा अत—द्वित्व,
मि म् अते—आकारलोप।

अघो०—घुसंज्ञक को छोड़कर ईत्व होता है।

(15) दत्तः
दा तस्—श्लुत्व, ह्रस्वः,
दद् तस्—आकारलोप, खरि च। ईत्व नहीं हुआ।

(16) धत्तः
धा तस्—धा धा तस्—पूर्ववत्।

कित् व ङित् परे रहते ईत्व होता है।

(17) लुनाति
लू श्ना तिप्—पित् परे रहते ईत्व नहीं हुआ।

(18) जहाति
हा तिप्—श्लुत्व, द्वित्व, अभ्यासकार्य।

(3115) इद्दरिद्रस्य *114* (2482)

दरिद्रातेर्हलादौ सार्वधातुके क्ङिति परत इकारादेशो भवति। दरिद्रितः। दरिद्रिथः। दरिद्रिवः। दरिद्रिमः। हलीत्येव-दरिद्रति। क्ङितीत्येव-दरिद्राति। *दरिद्रातेरार्धधातुके लोपो वक्तव्यः* (का०वा०)। *सिद्धश्च प्रत्ययविधौ भवतीति वक्तव्यम्* (का०वा०)। दरिद्रातीति दरिद्रः। आकारान्तलक्षणो णप्रत्ययो न भवति, पचादित्वादजेव भवति।

न दरिद्रायके लोपो दरिद्राणे च नेष्यते।
दिदरिद्रासतीत्येके दिदरिद्रषतीति वा॥
(म०भा०)

***अद्यतन्यां वेति वक्तव्यम्* (का०वा०)। अदरिद्रीत्, अदरिद्रासीत्। 'दरिद्रस्य' इति निर्देशे छान्दसं ह्रस्वत्वं द्रष्टव्यम्।**

अर्थ—दरिद्रा अंग के आकार के स्थान पर इकार आदेश होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

इत् में तकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) दरिद्रितः
दरिद्रा तस्—लट्, जक्षित्यादयः षट्,

दरिद्र् इ तस्—इकार आदेश।

(2) दरिद्रिथः (पूर्ववत्)।

(3) दरिद्रिवः (पूर्ववत्)।

(4) दरिद्रिमः (पूर्ववत्)।

हलीत्ये०—हलादि प्रत्यय परे रहते ही इकार आदेश होता है।

(5) दरिद्रति
दरिद्रा झि—अजादि परे है, इकार नहीं हुआ,
दरिद्र् अति—आकारलोप।

क्ङिती०—कित् व ङित् परे रहते इकार होता है।

(6) दरिद्राति
दरिद्रा तिप्—पित् परे है, इकार नहीं हुआ,
दरिद्राति—रूप बना।

दरिद्रा०—आर्धधातुक परे रहते दरिद्रा के आकार का लोप होता है।

सिद्धश्च०—प्रत्यय की विधि में यह लोप सिद्ध होता है।

(7) दरिद्रः
दरिद्रा अच्—आकारलोप हुआ,
दरिद्र् अ—आकारलोप असिद्ध हुआ, 'आतो युक् चिण्०' से 'युक्' प्राप्त हुआ, प्रकृत वार्तिक से यह सिद्धवत् हुआ,
दरिद्रः—सु।

आकारा०—आकारान्तलक्षण (श्याद्व्यधास्रु०) 'ण' प्रत्यय नहीं होता है। पचादि होने से अच् ही होता है।

न दरिद्रा०—'दरिद्रायक' में लोप नहीं होता है।

(8) दरिद्रायकः
दरिद्रा ण्वुल्—आतो युक्०, लोप नहीं हुआ,
दरिद्राय् अक सु—विभक्तिकार्य।

दरिद्राणे०—'दरिद्राण' में भी लोप नहीं होता है।

(9) दरिद्राणः
दरिद्रा ल्युट्—युवोरनाकौ, लोप नहीं हुआ।

दिदरिद्रा०—कुछ विद्वानों के अनुसार सन् प्रत्यय में पाक्षिक लोप होता है।

(10) दिदरिद्रासति
दरिद्रा सन्—प्रथम एकाच् को द्वित्व,
दिदरिद्रास—लोप नहीं हुआ, धातुसंज्ञा,
दिदरिद्रासति—लकारकार्य।

(11) दिदरिद्रिषति
दि दरिद्रा सन्—लोप हुआ, 'तनिपतिदरिद्राणां वा' को व्यवस्थित विभाषा मानकर इट,
दिदरिद्रिषति—आदेशप्रत्यययोः, धातुसंज्ञा।

अद्यतन्यां०—लुङ् में आकारलोप विकल्प से होता है।

(12) अदरिद्रासीत्
दरिद्रा तिप्—लुङ्, तिप्, इतश्च,
दरिद्रा स् ई त्—सिच्, ईट्, लोप नहीं हुआ,
दरिद्रा सक् इ ई त्—'यमरमनमा०' से सक् व इट्, इट ईटि,
अदरिद्रास ई त्—सवर्णदीर्घ।

(13) अदरिद्रीत्
दरिद्रा इ स् ई त्—लोप हुआ, सिच् लोप,
अ दरिद्र् ई त्—सवर्णदीर्घ।

दरिद्रस्य०—सूत्र में 'दरिद्रस्य' पद आर्ष प्रयोग है। दरिद्रा ङस्—दरिद्रः (आलोप होकर)। 'दरिद्रा' के स्थान पर 'दरिद्र'—ऐसे ह्रस्वनिर्देश को आर्ष मानना चाहिए।

(3116) भियोऽन्यतरस्याम् *115* (2492)

'भी' इत्येतस्याङ्गस्यान्यतरस्यामिकारादेशो भवति हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः। बिभितः, बिभीतः। बिभिथः, बिभीथः। बिभिवः, बिभीवः। बिभिमः, बिभीमः। हलादावित्येव–बिभ्यति। क्ङितीत्येव–बिभेति। सार्वधातुक इत्येव–भीयते।

अर्थ—'भी' अंग को विकल्प से इकार आदेश होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातु परे रहते। अलोऽन्त्य परिभाषा के बल पर ईकार के स्थान पर इकार होता है।

उदा० (1) बिभीतः
भी तस्—शप्, श्लुत्व, द्वित्व,
बि भी तस्—द्वित्व, अभ्यासकार्य, झलां जश् झशि, ह्रस्वः,
बिभीतः—इकार नहीं हुआ।

(2) बिभितः
पक्ष में 'बिभी' अंग को इकार हुआ है।

(3) बिभीथः
इकार नहीं हुआ।

(4) बिभिथः

इकार हो गया।

(5) बिभीवः
इकार नहीं हुआ।

(6) बिभिवः
इकार हुआ।

(7) बिभीमः (पूर्ववत्)।

(8) बिभिमः (पूर्ववत्)।

हलादा०—हलादि प्रत्यय परे रहते ही इकार होता है।

(9) बिभ्यति
भी झि—पूर्ववत् द्वित्वादि,
बि भी अति—इकार नहीं हुआ।
बिभ्यति—एरनेकाचः० ।[1]

क्ङिती०—कित् और ङित् प्रत्ययों के परे रहते इकार होता है।

(10) बिभेति
बिभी तिप्—श्लुत्व, द्वित्व, पित् परे है,
बिभेति—सार्वधातुकार्धधातु०।

सार्वधा०—सार्वधातुक परे रहते ही इकार होता है।

(11) भीयते
भी यक् त—कर्मवाच्य, सार्वधातुक परे नहीं है,
भी य ते—इकार नहीं हुआ।

(3117) जहातेश्च *116* (2498)

जहातेश्च इकारादेशो भवति अन्यतरस्यां हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः। जहितः, जहीतः। जहिथः, जहीथः। हलादावित्येव-जहति। क्ङितीत्येव-जहाति। सार्वधातुक इत्येव-हीयते। जेहीयते। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्।

अर्थ—'हा' अंग के आकार को विकल्प से ह्रस्व इकार होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

1. काशिका के कुछ संस्करणों में 'हलादावित्येव·····बिभेति' इतना पाठ उपलब्ध नहीं होता है। अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'बिभी' हो या 'बिभि'—दोनों स्थितियों में एरनेकाच० से यण् हो जाता है। अत: 'हलादौ' का अनुवर्त्तन व्यर्थ है—सम्भवतः यह विचार प्रस्तुत पाठ की अनुपलब्धि के मूल में कारण रहा होगा। परन्तु यह भूल है। न्यासकार ने स्पष्ट लिखा है कि इत् विधान-सामर्थ्य से एरनेकाच० लक्षण यण् का प्रतिषेध होता है। अत: अजादि विभक्ति में इकार नहीं होता। तत्परिणामतया अजादि-प्रतिषेधार्थ 'हलादौ' का अनुवर्त्तन आवश्यक है। द्र०-न्यास।

उदा० (1) जहितः
हा तस्—शप्, श्लुत्व, सार्वधातुकमपित्,
हा हा तस्—द्वित्व, ह्रस्वः, कुहोश्चुः, अभ्यासे चर्च,
ज हा तस्—इकार आदेश[1]।

(2) जहीतः
पक्ष में इकार नहीं हुआ, ई हल्यघोः।

(3) जहिथः
हा थस्—इकार हुआ।

(4) जहीथः
पक्ष में इकार नहीं हुआ। ई हल्यघोः।

हलादा०—हलादि विभक्ति परे रहते इकार होता है।

(5) जहति
हा झि—द्वित्व, हलादि विभक्ति परे नहीं है,
ज हा अति—आकारलोप।

क्ङिती०—कित् व ङित् परे रहते इकार होता है।

(6) जहाति
हा तिप्—पित् परे है, इकार नहीं हुआ,
ज हा ति—द्वित्व।

सार्वधा०—सार्वधातुक परे रहते ही इकार होता है।

(7) हीयते
हा यक् त—कर्मवाच्य, आर्धधातुक संज्ञा, कित् परे है,
हीयते—इकार नहीं हुआ।

(8) जेहीयते
हा यङ् → जेहीय—ङित् हलादि परे है; परन्तु सार्वधातुक नहीं है, इकार नहीं हुआ,
जेहीयते—अभ्यासकार्य।

1. विशेष ध्यातव्य है कि द्वित्व के पश्चात् इकार आदेश होता है। यदि द्वित्व से पूर्व इत् आदेश कर लिया जायेगा तो 'जिहितः' ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। द्वित्व के पश्चात् इत् आदेश किये जाने के पक्ष में दो प्रमाण भी उल्लेखनीय हैं—

(क) 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से 'अभ्यस्तस्य' पद अनुवृत्त है। इस दशा में अर्थ होगा—अभ्यस्तसंज्ञक 'हा' अंग के आकार को इत् आदेश होता है। द्वित्व से पूर्व अभ्यस्त संज्ञा प्राप्त नहीं है; अत: द्वित्व के पश्चात् इत् होना चाहिए।

(ख) हा तस्—यहाँ द्वित्व तथा इत्व युगपत् प्रापत् होते हैं। द्वित्व अन्तरंग है तथा इत्व बहिरंग है। बहिरंग से अन्तरंग बलवान् होता है; अत: प्रथम द्वित्व होगा, तब इत्व होगा।

पृथग्यो०—पृथक् योग उत्तर शास्त्र के लिए है।

(3118) आ च हौ *117* (2499)

जहातेराकारश्चान्तादेशो भवति इकारश्चान्यतरस्यां हौ परतः। जहाहि, जहिहि, जहीहि।

अर्थ—'हि' परे रहते 'हा' अंग के आकार को आकार आदेश होता है तथा विकल्प से ह्रस्व इकार होता है। पक्ष में ईकार होता है।

उदा० (1) जहाहि
हा सिप्—लोट्, शप्, श्लुत्व,
ज हा सि—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
ज हा हि—आकार हुआ।

(2) जहिहि
जहा हि—इत् आदेश।

(3) जहीहि
पक्ष में 'ई हल्यघोः' से ईत्व हुआ।

(3119) लोपो यि *118* (2500)

लोपो भवति जहातेर्यकारादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः। जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः।

अर्थ—'हा' अंग के आकार का लोप होता है यकारादि सार्वधातुक परे रहते[1]।

उदा० (1) जह्यात्
ज हा यास् त्—विधिलिङ्, इतश्च, शप्, श्लु, आकारलोप,
ज ह् या त्—'जहातेश्च' से इकार आदेश तथा 'ई हल्यघोः' से ईकार आदेश प्राप्त था।

(2) जह्याताम्
जहा यास् ताम्—तस्, तामादेश, शेष पूर्ववत्।

(3) जह्युः
जहा उस्—आकारलोप।

(3120) घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च *119* (2471)

घुसंज्ञकानामङ्गानामस्तेश्च एकारादेशो भवति हौ परतोऽभ्यासलोपश्च। देहि। धेहि। अस्तेः—'श्नसोरल्लोपः' (6.4.111) इत्यकारलोपः, एधि। शिदयं लोपः, तेन सर्वस्याभ्यासस्य भवति।

अर्थ—कित् ङित् 'हि' परे रहते घुसंज्ञक धातु तथा अस् धातु—इन अंगों को एकार आदेश होता है तथा अभ्यास का लोप होता है।

घुसंज्ञक धातुओं के विषय में ही अभ्यास सम्भव है। यद्यपि 'लोपो यि' से लोपः पद का अनुवर्त्तन होता है, तदपि प्रकृत सूत्र में 'लोपः' पद का ग्रहण सिद्ध करता है कि सम्पूर्ण अभ्यास का लोप हो जाय। अलोऽन्त्य परिभाषा के द्वारा एकार आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है।

उदा० (1) देहि
दा सिप्—लोट्, शप्, श्लु,
द दा सि—द्वित्व, ह्रस्व,
द दा हि—सेर्ह्यपिच्च,
द् ए हि—अभ्यासलोप आदि।

(2) धेहि
धा सिप्—पूर्ववत्।

(3) एधि
अस् हि—लोट्, सिप्, शप् का लुक्,
अ ए हि—एकार आदेश, एत्व आभीय कार्य है, 'धि' आदेश (हुझल्भ्यो हेर्धिः—6.4.70) के प्रति असिद्ध है,
ए धि—'धि' आदेश, यह स्थानिवद्भाव से अपित् अर्थात् ङित् है, 'श्नसोरल्लोपः' से अकारलोप।

शिदयं०—अलोऽन्त्य परिभाषा से अभ्यास के अन्त्य वर्ण का लोप होना चाहिए। काशिकाकार इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं कि 'लोपश्च'—यहाँ दो शकार निर्दिष्ट है। प्रथम सकार प्रत्यय (सु) का स्थानापन्न है तथा दूसरा लोपसम्बन्धी है। लोप शित् हुआ। शित् होने से सर्वादेश हुआ।

(3121) अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि *120* (2260)

लिटि परत आदेश आदिर्यस्याङ्गस्य नास्ति तस्य एकहल्मध्ये असहाययोर्हलोर्मध्ये योऽकारस्तस्य एकारादेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतः। रेणतुः, रेणुः। येमतुः, येमुः। पेचतुः, पेचुः। देमतुः, देमुः। अत इति किम्? दिदिवतुः। दिदिवुः। तपरकरणं किम्?

1. काशिका में 'क्ङिति' की अनुवृत्ति प्रदर्शित की गई है। वस्तुतः 'हा' अंग से उत्तर अङित् व अकित् यकारादि सार्वधातुक सम्भव नहीं है। अतः 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन अनावश्यक प्रतीत होता है।

ररासे, ररासाते, ररासिरे। एकहल्मध्य इति किम्? (ररक्षतुः, ररक्षुः)। तत्सरतुः, तत्सरुः। अनादेशादेरिति किम्? चकणतुः, चकणुः। जगणतुः, जगणुः। बभणतुः, बभणुः। लिट आदेशविशेषणं किम्? इहापि यथा स्यात्–नेमतुः, नेमुः। सेहे, सेहाते, सेहिरे। अनैमित्तिके नत्वसत्वे, तदादिर्लिट्यादेशादिर्न भवति। इहाभ्यासजश्त्वचर्त्वयोरसिद्धत्वं नास्ति, तेन तदादिरप्यादेशादिर्भवति। तथा च फलिभजोरेत्वं विधीयते। रूपाभेदे चादेशादिर्नाश्रीयत इति शसिदद्योः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्, अन्यथा हि पेचतुः, पेचुः, देमतुः, देमुरित्येवमादीनामपि प्रकृतिजश्चरादीनामेत्वं न स्यात्। क्ङितीत्येव–अहं पपच। अहं पपठ। *दम्भेरेत्वं वक्तव्यम्* (का०वा०)। देभतुः। देभुः। नलोपस्यासिद्धत्वान्न प्राप्नोति। *नशिमन्योरलिट्येत्वं वक्तव्यम्* (का०वा०)। अनेशम्। मेनका। अनेशमिति नशेर्लुङि पुषादित्वादङ्। मेनकेति मनेः 'आशिषि च' इति वुन्। क्षिपकादिषु प्रक्षेपादित्वं न क्रियते। *छन्दस्यमिपचोरप्यलिटि एत्वं वक्तव्यम्* (म० भा०)। व्येमानम्। अमेर्विपूर्वस्य चानशि मुक् न क्रियते। लिङि–पेचिरन्। पेचिरन्नित्येतस्य छान्दसं ह्रस्वत्वम्। *यजिवप्योश्च* (म० भा०)। आयेजे। आवेपे। यजेर्वपेश्च लिङि इटि 'छन्दस्यपि दृश्यते' (6.4.73) इत्यनजादेरप्याडागमः।

अर्थ—लिट् को निमित्त मान कर जिसके आदि में कोई आदेश न हुआ हो, ऐसे अंग के अवयवभूत असंयुक्त हलों के मध्य में स्थित ह्रस्व अकार के स्थान पर एकार आदेश होता है तथा अभ्यास का लोप होता है, कित् लिट् परे रहते।

'लिटि' पद का आवर्त्तन किया जाता है। एक 'लिटि' पद में निमित्तसप्तमी है तथा दूसरे में परसप्तमी है।

ङित् लिट् सम्भव नहीं है। अतः कित् लिट् परे रहते—ऐसा अर्थ होता है।

तात्पर्य यह है कि लिट् को निमित्त मानकर जिसके आदि में कोई आदेश न हुआ हो, ऐसा जो अंग उसके अवयवभूत अत् अर्थात् ह्रस्व अकार को एकार आदेश होता है। कित् लिट् परे रहते। यदि उस अकार के दोनों ओर एक-एक अर्थात् असंयुक्त हल् हो। साथ ही पूर्वोक्त दशा में अभ्यासलोप भी होता है।

उदा० (1) रेणतुः
रण् अतुस्—लिट्, तस्, अतुस् आदेश,
र रण् अतुस्—द्वित्व, हलादि शेष[1],
रेणतुः—एत्व तथा अभ्यासलोप।

(2) रेणुः
रण् उस्—पूर्ववत्।

(3) येमतुः
यम् अतुस्।

(4) येमुः
यम् उस्।

(5) पेचतुः
पच् अतुस्।

(6) पेचुः
पच् उस्।

(7) देमतुः
दम् अतुस्।

(8) देमुः (पूर्ववत्) उस्।

अत इति०—ह्रस्व अकार के स्थान पर एकार आदेश होता है।

(9) दिदिवतुः
दिव् अतुस्—द्वित्व,
दि दिव् अतुस्—हलादि शेष, अंग के आदि में कोई आदेश नहीं हुआ, कित् लिट् (अतुस्) परे है, ह्रस्व अकार नहीं है, अतः एकार नहीं हुआ,
दिदिवतुः—रूप बना।

(10) दिदिवुः (पूर्ववत्)।

तपर०—ह्रस्व अकार के स्थान पर ही एकार आदेश होता है।

(11) ररासे
र रास् ए—लिटस्तझयोरे०,
ररासे—अवर्ण है परन्तु ह्रस्व न होने से एकार नहीं हुआ।

(12) ररासाते
र रास् आताम्—पूर्ववत्।

1. रण् रण् अतुस्—इस दशा में एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होता है। अकार के पश्चात् असंयुक्त हल् (ण्) है, परन्तु अकार से पूर्व संयुक्त हल् (ण् र्) है। सूत्र के अनुसार दोनों ओर असंयुक्त हल् होना चाहिए; तभी हलादि शेष के पश्चात् एत्वादि कार्य युक्त हैं।

(13) ररासिरे

र रास् झ—'इरेच्' हुआ, एत्व नहीं हुआ।

अत एक०—दोनों ओर असंयुक्त हल् हो तो एकार होता है।

(14) ररक्षतुः

र रक्ष् अतुस्—अकार से पूर्व असंयुक्त (रेफ) है तथा अकार से पश्चात् संयुक्त हल् (क्ष्) है, अतः एत्व नहीं हुआ।

(15) ररक्षुः

र रक्ष् उस्—पूर्ववत्।

(16) तत्सरतुः

त्सर् अतुस्—द्वित्व, हलादि शेष,

त त्सर् अतुस्—एत्व नहीं हुआ।

(17) तत्सरुः

त त्सर् उस्—पूर्ववत्।

अनादेशादे०—लिट् को **निमित्त** मानकर अंग के आदि में कोई **आदेश** न हो तो एकार व अभ्यासलोप होते हैं।

(18) चकणतुः

कण् अतुस्—द्वित्व, हलादि शेष,

च कण् अतुस्—कुहोश्चुः, लिट् को मान कर 'चकण्' अंग के आदि को आदेश (कुत्व) हुआ है, एत्व व अभ्यासलोप नहीं होते हैं।

(19) चकणुः

च कण् अतुस्—पूर्ववत्।

(20) जगणतुः

ज गण् अतुस्—पूर्ववत्।

(21) जगणुः

ज गण उस्—पूर्ववत्।

(22) बभणतुः

भ भण् अतुस्—द्वित्व,

ब भण् अतुस्—अभ्यासे चर्च, शेष पूर्ववत्।

(23) बभणुः

ब भण् उस्—पूर्ववत्।

लिट०—लिट् को निमित्त मानकर आदेश न हुआ हो तो एत्व होता है।

(24) नेमतुः

णम् → नम् अतुस्—णो नः,

न नम् अतुस्—'ननम्' अंग से पर कित् लिट् (अतुस्) है, इसके अवयव ह्रस्व अकार के दोनों ओर असंयुक्त हल् है, 'न-नम्' के आदि को लिण्निमित्तक आदेश नहीं हुआ है,

नेमतुः—अभ्यासलोप, एत्व।

(25) नेमुः

नम् उस्—पूर्ववत्।

(26) सेहे

षह् → सह् त—धात्वादेः षः सः, एश्,

स सह् ए—एत्व, अभ्यासलोप।

(27) सेहाते

षह् → सह् आताम्—पूर्ववत्,

स सह् आताम्—पूर्ववत्।

(28) सेहिरे

सह् इरेच्—'झ' को 'इरेच्' हुआ।

अनैमित्ति०—पूर्वोक्त स्थलों पर 'णो नः' तथा 'धात्वादेः षः सः' से होने वाले नत्व तथा सत्व निर्निमित्तक हैं तथा लिट् को निमित्त मान कर नहीं हुए हैं।

इहाभ्यास०—यहाँ अभ्यास के स्थान पर होने वाले जश्त्व व चर्त्व (अभ्यासे चर्च) असिद्ध नहीं होते हैं। इस प्रकार तदादि भी आदेशादि होता है। इसके परिणामस्वरूप 'तॄफलभजत्रपश्च' के द्वारा फल् व भज् धातुओं के अभ्यास का लोप तथा एकारादेश का विधान किया गया है।

रूपाभेदे०—सूत्रस्थ 'अनादेशादेः' पद का अर्थ है—लिट् को निमित्त मानकर अंग के आदि को आदेश नहीं हुआ हो, उसे अनादेशादि (अंग) कहते हैं। आदेश दो प्रकार से सम्भव है—

(क) **रूपभेद**—जहाँ रूप में परिवर्त्तन होता है, वहाँ रूपभेद कहलाता है। यथा—

बभाज—यहाँ अभ्यास में भकार के स्थान पर बकार हो गया है।

(ख) **रूपाभेद**—जहाँ रूप में परिवर्त्तन नहीं होता है, वहाँ रूपाभेद आदेश कहलाता है। यथा—

बबन्ध—यहाँ अभ्यास के बकार के स्थान पर बकार ही हुआ है। यहाँ (प्रकृत सूत्र के स्थल पर) उल्लेखनीय है कि रूप की अभिन्नता रहने पर होने वाला आदेश आदेश नहीं कहा जाता। इसमें 'न शसददवादि०' (6.4.126) सूत्र ज्ञापक है।

यदि रूप के परिवर्त्तन न होने की दशा में भी आदेश होना मान लिया जायेगा तो 'दद' धातु में 'अभ्यासे चर्च' से अभ्यास में 'द' के स्थान पर 'द' ही होता है—इस स्थल पर 'दद' अंग को आदेशादि हो जायेगा। तब प्रकृत सूत्र की प्राप्ति नहीं होगी। जहाँ प्राप्ति ही नहीं तो 'न शसदद०' से निषेध कैसा ? अत: 'न शसदद०' सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि आचार्य को 'आदेश' पद के द्वारा रूपभेद स्वीकार है।

चूँकि 'दद' इस स्थल पर स्वरूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, अत: इसे अनादेश मानकर प्रकृत सूत्र के द्वारा एत्व तथा अभ्यास-लोप प्राप्त हो जायेंगे; जिनकी निवृत्ति के लिए 'न शसदद०' सूत्र के द्वारा प्रतिषेध किया गया है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो निम्नलिखित स्थलों पर एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं हो सकेंगे—

(29) पेचतुः
पच् अतुस्—लिट्,
प पच् अतुस्—पूर्ववत्।

(30) पेचुः
प पच् उस्—पूर्ववत्।

(31) देमतुः
द दम् अतुस्—पूर्ववत्।

(32) देमुः
द दम् उस्—पूर्ववत्।

क्ङिती०—कित् व ङित् प्रत्ययों के परे रहते एत्व व अभ्यास, लोप होते हैं।

(33) पपच (अहम्)
प पच् णल्—'णल उत्तमो वा' से पाक्षिक णिद्वत्,
पपच—एत्व व अभ्यासलोप प्रसक्त नहीं हुए।

(34) पपठ (अहम्)—पूर्ववत्।

दम्भेरे०—दम्भ् धातु को एत्व तथा अभ्यासलोप होते हैं।

(35) देभतुः
दम्भ् अतुस्—लिट्, द्वित्व,
द दम्भ् अतुस्—हलादि शेष, अनुनासिक लोप,
द दभ् अतुस्—अनुनासिक लोप के असिद्ध होने से एत्वादि प्राप्त नहीं हैं, वार्त्तिक के द्वारा एत्व, अभ्यासलोप।

(36) देभुः
दम्भ् उस्—पूर्ववत्।

नशिमन्यो०—लिट् भिन्न प्रत्यय परे रहते नश् तथा मन् अंग को एत्व होता है।

(37) अनेशम्
नश् मिप्—लुङ्,
नश् अङ् मि—च्लि, पुषादिद्युता० से अङ्,
नश् अ अम्—अमादेश,
अनेशम्—अट्, एत्व।

(38) मेनका
मन् वुन्—'आशिषि च' (3.1.150)
मन् अक टाप्—युवोरनाकौ, स्त्रियाम्,
मेनका सु—एत्व।

अनेश०—नश् से लुङ् में अङ् हुआ है। 'आशिषि च' से मन् धातु से 'वुन्' हुआ है। इसका क्षिपकादिगण में पाठ होने से 'क्षिपकादीनां चोपसङ्ख्यानम्' (7.2.45 वा०) से इत्वनिषेध होता है।

छन्दस्य०—वेद के विषय में लिट् भिन्न प्रत्यय के परे रहते अम् व पच् अंग के अकार को एकार होता है।

(39) व्येमानम्
वि अम् चानश्—ताच्छील्यवयोवचन०,
वि अम् आन—'आने मुक्' से मुक् प्राप्त हुआ, 'अनित्यमागमशासनम्' से मुक् नहीं हुआ,
वि एम् आन सु—यण्।

(40) पेचिरन्
पच् झ—लिङ्, झस्य रन्,
पच् शप् सीयुट् रन्—सलोप,
पच् ईय् रन्—आद् गुणः,
पचेरन्—एत्व,
पेचेरन्—छान्दस ह्रस्व,
पेचिरन्—रूप।

यजिव०—यज् तथा वप् को भी एत्व होता है।

(41) आयेजे
यज् इट्—लङ्, आत्मनेपद उ०पु० एकवचन,
यज् शप् इ—एत्व,
येज् अ इ—'छन्दस्यपि दृश्यते' से आट्,
आयेजे—रूप।

(42) आवेपे

वप् इ—लङ्, पूर्ववत्।

(3122) थलि च सेटि *121* (2261)

थलि च सेटि परतोऽनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्यगतस्यातः स्थाने एकार आदेशो भवति अभ्यासलोपश्च। पेचिथ। शेकिथ। सेटीति किम्? पपक्थ। थल्ग्रहणं विस्पष्टार्थम्। अक्ङिदर्थमेतद्वचनमित्यन्यस्येटोऽसम्भवात्। अत इत्येव-दिदेविथ। 'एकहल्मध्यगतस्य' इत्येव-ततक्षिथ। ररक्षिथ। अनादेशादेरित्येव-चकणिथ। बभणिथ।

अर्थ—लिट् को निमित्त मानकर जिसके आदि को आदेश न हुआ हो, ऐसा जो अंग उसके अवयवभूत ह्रस्व अकार के स्थान पर एकार आदेश तथा अभ्यासलोप होता है, सेट् थल् परे रहते; यदि उस ह्रस्व अकार के दोनों ओर असंयुक्त हल् हों।

(सेट्) थल् कित् नहीं होता है। अतः विधान किया गया है।

उदा० (1) पेचिथ
पच् थल्—सिप्, थल्,
प पच् थ—उपदेशेऽत्वतः, ऋतो भारद्वाजस्य,
पेचिथ—एत्व, अभ्यासलोप।

(2) शेकिथ
शक् थल्—पूर्ववत्।

सेटीति०—सेट् लिट् परे रहते ही एत्व आदि होते हैं।

(3) पपक्थ
पच् थल्—'ऋतो भारद्वाजस्य' से पाक्षिक इट्,
प पच् थ—इट् निषेध पक्ष में,
पपक्थ—कुत्व। चोः कुः।

थल्ग्र०—'थल्' का ग्रहण स्पष्टता के लिए है। यह सूत्र अकित् व अङित् के लिए है। अतः थल् से अतिरिक्त किसी अन्य को इट् सम्भव नहीं है। तब 'सेटि' इतने पाठमात्र से ही इष्टसिद्धि हो जाती है। अतः 'थलि' का ग्रहण स्पष्टता के लिए है।

अत०—ह्रस्व अकार के स्थान पर ही एत्व होता है।

(4) दिदेविथ
दिव् थल्—थल् आदेश,
दि दिव् इ थ—सेट् थल् परे है, परन्तु अकार नहीं है, एत्व नहीं हुआ,
दिदेविथ—लघूपधगुण।

एकहल्०—दोनों ओर असंयुक्त हल् हों तो एत्व आदि होते हैं।

(5) ततक्षिथ
अकार से पर संयुक्त वर्ण 'क्ष्' है। एत्व नहीं हुआ।
(6) ररक्षिथ (पूर्ववत्)।

अनादे०—अनादेशादि अंग को ही एत्व व अभ्यासलोप होते हैं।

(7) चकणिथ
क कण् थ—द्वित्व, हलादि शेष,
च कण् इ थ—आदेश हुआ, अतः एत्वादि नहीं हुए।
(8) बभणिथ
भ भण् इ थ—पूर्ववत्,
ब भण् इ थ—अभ्यासे चर्च, पूर्ववत्।

(3123) तॄफलभजत्रपश्च *122* (2301)

तॄ, फल, भज, त्रप-इत्येतेषामङ्गानामत एकारादेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि। तेरतुः, तेरुः, तेरिथ। फेलतुः, फेलुः, फेलिथ। भेजतुः, भेजुः, भेजिथ। त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे। तरतेर्गुणार्थं वचनम्। फलिभजोरादेशाद्यर्थम्। त्रपेरनेकहल्मध्यार्थम्। *श्रन्थेश्चेति वक्तव्यम्*। श्रेथतुः। श्रेथुः।

अर्थ—तॄ, फल, भज तथा त्रप—इन अंगों के अकार के स्थान पर एकार आदेश तथा अभ्यासलोप होता है; कित् लिट् तथा सेट् थल् परे रहते।

उदा० (1) तेरतुः
तॄ अतुस्—लिट्,
तॄ तॄ अतुस्—द्वित्व,
त तॄ अतुस्—अभ्यासकार्य,
त तर् अतुस्—'ऋच्छत्यॄताम्' से गुण,
त तेर् अतुस्—'न शसदद०' से एत्व का निषेध तथा प्रकृत सूत्र से एत्व।

(2) तेरुः
तॄ उस्—पूर्ववत्।
(3) तेरिथ
तॄ थल्—सिप्, थल्, इट्, शेष कार्य पूर्ववत्।
(4) फेलतुः
फल् अतुस्—द्वित्व,

प फल् अतुस्—'अभ्यासे चर्च' (8.4.53) से चर्त्व हुआ।

पफल् अंग का अवयवभूत अकार के दोनों ओर असंयुक्त हल् हैं।

अंग से परे कित् लिट् (अतुस्) है।

परन्तु 'पफल्' अंग के आदि को लिट् निमित्तक आदेश हुआ है, परन्तु 'अभ्यासे चर्च' (8.4.53) सूत्र 'अत एकहल्मध्ये०' (6.4.120) की दृष्टि में असिद्ध है। अतः एत्व तथा अभ्यास-लोप की प्राप्ति होती है, परन्तु 'तॄफलभजत्रपश्च' सूत्र ज्ञापक है कि पा० 6.4.120 द्वारा विधीयमान एत्व व अभ्यासलोप की दृष्टि में पा० 8.4.53 द्वारा विहित जश्त्व, चर्त्व असिद्ध नहीं होता है।

यदि उक्त चर्त्व असिद्ध होता तो प्रकृत सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि एत्व तथा अभ्यासलोप की दृष्टि में जश्त्व व चर्त्व सिद्ध होते हैं।

पफल् अतुस्—यहाँ चर्त्व के सिद्ध रहने से एत्व व अभ्यास-लोप की प्राप्ति नहीं हुई। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा एत्व तथा अभ्यासलोप हुआ।

(5) फेलुः
फल् उस्—शेष पूर्ववत्।

(6) फेलिथ
फल् थल्—इट्, शेष पूर्ववत्।

(7) भेजतुः
भज् अतुस्—लिट्,
बभज् अतुस्—द्वित्व, अभ्यासकार्य, पूर्ववत् एत्व तथा अभ्यास-लोप।

(8) भेजुः
भज् उस्—पूर्ववत्।

(9) भेजिथ
भज् इट् थल्—पूर्ववत् एत्व, अभ्यासलोप।

(10) त्रेपे
त्रप् त—लिटस्तझयोरेशि०,
त त्रप् ए—द्वित्व, हलादि शेष,
त्रेपे—एत्व, अभ्यासलोप।

(11) त्रेपाते
त्रप् आताम्—शेष पूर्ववत्।

(12) त्रेपिरे
त्रप् इरेच्—'झ' को 'इरेच्'।

तरते०—'तॄ' का ग्रहण गुण के लिए है। 'त तर् अतुस्' इस दशा में 'न शसदद०' से निषेध हो जाता है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा एत्व आदि का विधान किया गया है।

फल् व भज् का आदेश के लिए पाठ है। 'पफल् अतुस्' तथा 'बभज् अतुस्'—इन स्थलों पर आदेश होने से एत्व आदि की प्राप्ति नहीं थी।

त्रप् का पाठ एकहल्मध्य के लिए है। 'तत्रप् अतुस्' इस दशा में एकहल्मध्य होने से एत्वादि प्राप्त नहीं था। प्रकृत सूत्र के द्वारा विधान कर दिया गया है।

श्रन्थे०—श्रन्थ् अंग के अकार को एकार तथा अभ्यासलोप होते हैं।

(13) श्रेथतुः
श्रन्थ् अतुस्—द्वित्व,
श श्रन्थ् अतुस्—हलादि शेष, अनुनासिकलोप,
श्रेथ् अतुस्—एत्व तथा अभ्यासलोप।

(14) श्रेथुः
श्रन्थ् उस्—पूर्ववत्।

(3124) राधो हिंसायाम् *123* (2532)

राधो हिंसायामर्थेऽवर्णस्य एकार आदेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि। अपरेधतुः, अपरेधुः, अपरेधिथ। हिंसायामिति किम्? रराधतुः, रराधुः, रराधिथ। अत–इत्येतदिहोपस्थितं तपरत्वकृतमपास्य कालविशेषमसम्भवादवर्णमात्रं प्रतिपादयति। अथ वा–'श्नाभ्यस्तयोरातः' (6.4.12)–'इत्यनुवर्त्तते' इति व्याख्येयम्। एकहल्मध्ये वा यः स स्थानी भविष्यति।

अर्थ—हिंसा अर्थ में वर्त्तमान राध् अंग के अवर्ण के स्थान पर एकार होता है तथा अंग के अभ्यास का लोप होता है कित् लिट् अथवा सेट् थल् परे रहते।

उदा० (1) अपरेधतुः
राध् अतुस्—लिट्, द्वित्व,
र राध् अतुस्—अभ्यासकार्य,
अपरेध् अतुस्—एत्वादि।

(2) अपरेधुः

अप राध् उस्—पूर्ववत्।

(3) अपरेधिथ

अप राध् थल्—इट्, द्वित्व, एत्वादि।

हिंसा०—हिंसा अर्थ में वर्त्तमान 'राध्' को एत्वादि होते हैं।

(4) रराधतुः

राध् अतुस्—हिंसा अर्थ नहीं है, एत्व नहीं हुआ।

(5) रराधुः

राध् उस्—पूर्ववत्।

(6) रराधिथ

राध् इट् थल्—पूर्ववत्।

अत इत्ये०—यहाँ 'अतः' यह उपस्थित होकर तपरत्व मान कर होने वाले एकमात्रिक ह्रस्व को असम्भव होने से हटाकर अवर्णमात्र का प्रतिपादन करता है।

अथवा०—अथवा 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से 'आतः' पद का अनुवर्त्तन कर लेना चाहिए। अथवा एकहल्मध्य में जो है, वह स्थानी होगा।

(3125) वा जॄभ्रमुत्रसाम् *124* (2356)

जॄ, भ्रमु, त्रस–इत्येतेषामङ्गानामतः स्थाने वा एकार आदेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि। जेरतुः, जेरुः, जेरिथ। जजरतुः, जजरुः, जजरिथ। भ्रेमतुः, भ्रेमुः, भ्रेमिथ। बभ्रमतुः, बभ्रमुः, बभ्रमिथ। त्रेसतुः, त्रेसुः, त्रेसिथ। तत्रसतुः, तत्रसुः, तत्रसिथ।

अर्थ—कित् लिट् या सेट् थल् परे रहते जॄ, भ्रम् और त्रस् अंग के अकार को एकार तथा (अंग के) अभ्यास का लोप विकल्प से होता है कित् लिट् या सेट् थल् परे रहते।

उदा० (1) जेरतुः

जॄ अतुस्—लिट्, द्वित्व,

ज जर् अतुस्—ॠच्छत्यॄताम्,

जेर् अतुस्—एत्व।

(2) जेरुः

जॄ उस्—पूर्ववत्।

(3) जेरिथ

जॄ इट् थल्—एत्व।

(4) जजरतुः

ज जर् अतुस्—पक्ष में एत्वाभाव।

(5) जजरुः

एत्वाभाव।

(6) जजरिथ

एत्वाभाव।

(7) भ्रेमतुः

भ्रम् अतुस्—लिट्,

बभ्रम् अतुस्—अभ्यासे चर्च,

भ्रेम् अतुस्—एत्व।

(8) भ्रेमुः

एत्व हुआ।

(9) भ्रेमिथ

भ्रम् इट् थल्—एत्व हुआ।

(10) बभ्रमतुः

पक्ष में एत्वाभाव।

(11) बभ्रमुः

पक्ष में एत्वाभाव।

(12) बभ्रमिथ

पक्ष में एत्वाभाव।

(13) त्रेसतुः

त्रस् अतुस्—लिट्

त त्रस् अतुस्—हलादि शेष,

त्रेस् अतुस्—एत्व, अभ्यासलोप।

(14) त्रेसुः

पूर्ववत् एत्व, अभ्यासलोप।

(15) त्रेसिथ

एत्व, अभ्यासलोप।

(16) तत्रसथुः

पक्ष में एत्वाभाव।

(17) तत्रसुः

पक्ष में एत्वाभाव।

(18) तत्रसिथ

पक्ष में एत्वाभाव।

(3126) फणां च सप्तानाम् *125* (2354)

फणादीनां सप्तानां धातूनामवर्णस्य स्थाने वा एकार

आदेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतः, थलि च सेटि ।

(1) फेणतुः, फेणुः, फेणिथ ।
पफणतुः, पफणुः, पफणिथ ।
(2) रेजतुः, रेजुः, रेजिथ ।
रराजतुः, रराजुः, रराजिथ ।
(3) भ्रेजे, भ्रेजाते, भ्रेजिरे ।
बभ्राजे, बभ्राजाते, बभ्राजिरे ।
(4) भ्रेशे, भ्रेशाते, भ्रेशिरे ।
बभ्राशे, बभ्राशाते, बभ्राशिरे ।
(5) भ्लेशे, भ्लेशाते, भ्लेशिरे ।
बभ्लाशे, बभ्लाशाते, बभ्लाशिरे ।
(6) स्येमतुः, स्येमुः, स्येमिथ ।
सस्यमतुः, सस्यमुः, सस्यमिथ ।
(7) स्वेनतुः, स्वेनुः, स्वेनिथ ।
सस्वनतुः, सस्वनुः, सस्वनिथ ।

सप्तानामिति किम् ? दध्वनतुः, दध्वनुः, दध्वनिथ ।

अर्थ—'फण्' आदि सात धातु—इनके अंग के अवयव ह्रस्व अकार के स्थान पर विकल्प से एकार तथा (अंग को) अभ्यास-लोप होता है कित् लिट् अथवा सेट् थल् परे रहते ।

'फणाम्' यहाँ बहुवचन-निर्देश के द्वारा 'आदि' अर्थ का ग्रहण किया जाता है ।

उदा० (1) फेणतुः
फण् अतुस्—लिट्,
पफण् अतुस्—हलादिः शेषः, अभ्यासे चर्च,
फेण् अतुस्—एत्व, अभ्यासलोप ।

(2) फेणुः
प फण् उस्—पूर्ववत् एत्वादि ।

(3) फेणिथ
पूर्ववत् एत्वादि ।

(4) पफणतुः
प फण् अतुस्—पक्ष में एत्वाभाव ।

(5) पफणुः
पक्ष में एत्वाभाव ।

(6) पफणिथ
पक्ष में एत्वाभाव ।

(7) रेजतुः
राज् अतुस्—लिट्,
र राज् अतुस्—ह्रस्वः,
रेज् अतुस्—एत्व, अभ्यासलोप ।

(8) रेजुः
एत्व, अभ्यासलोप ।

(9) रेजिथ
एत्व, अभ्यासलोप ।

(10) रराजतुः
पक्ष में एत्वाभाव ।

(11) रराजुः
पक्ष में एत्वाभाव ।

(12) रराजिथ
पक्ष में एत्वाभाव ।

(13) भ्रेजे
भ्राज् त—लिटस्तझयोरेशिरेच्, द्वित्व, ह्रस्वः,
ब भ्राज् ए—अभ्यासे चर्च,
भ्रेज् ए—एत्व, अभ्यासलोप ।

(14) भ्रजाते
भ्राज् आताम्—एत्व, अभ्यासलोप ।

(15) भ्रजिरे
भ्राज् इरेच्—'झ' को इरेच्,
भ्रेज् इरे—एत्व, अभ्यासलोप ।

(16) बभ्राजे
ब भ्राज् ए—पक्ष में एत्वाऽभाव,
बभ्राजे—रूप ।

(17) बभ्राजाते
ब भ्राज् आताम्—द्वित्वादि,
बभ्राजाते—पक्ष में एत्वाभाव ।

(18) बभ्राजिरे
बभ्राज् इरे—पक्ष में एत्वाभाव ।

(19) भ्रेशे
भ्राश् ए—'त' को 'एश्,
ब भ्राश् ए—हलादि शेष, अभ्यासे चर्च, ह्रस्वः,
भ्रेश् ए—एत्व, अभ्यासलोप ।

(20) भ्रेशाते
भ्राश् आताम्—एत्व, अभ्यासलोप।

(21) भ्रेशिरे
भ्राश् इरे—एत्व, अभ्यासलोप।

(22) बभ्राशे
पक्ष में एत्व अभाव।

(23) बभ्राशाते
पक्ष में एत्व अभाव।

(24) बभ्राशिरे
पक्ष में एत्व अभाव।

(25) भ्लेशे
भ्लाश् ए—'त' को 'ए',
भ्लेश् ए—द्वित्व, अभ्यासलोप, एत्व।

(26) भ्लेशाते
भ्लाश् आताम्—'भ्रेशाते' की तरह।

(27) भ्लेशिरे
'भ्रेशिरे' की तरह।

(28) बभ्लाशे
'बभ्राशे' की तरह।

(29) बभ्लाशाते
पक्ष में एत्वाभाव।

(30) बभ्लाशिरे
पक्ष में एत्वाभाव।

(31) स्येमतुः
स्यम् अतुस्—लिट्,
स स्यम् अतुस्—हलादि शेष,
स्येम् अतुस्—एत्व, अभ्यासलोप।

(32) स्येमुः
स्यम् उस्—पूर्ववत्।

(33) स्येमिथ
पूर्ववत् एत्वादि।

(34) सस्यमतुः
पक्ष में एत्वाभाव।

(35) सस्यमुः
एत्वाभाव।

(36) सस्यमिथ
पक्ष में एत्वाभाव।

(37) स्वेनतुः
स्वन् अतुस्—लिट्,
स स्वन् अतुस्—हलादि शेष,
स्वेन् अतुस्—एत्व, अभ्यासलोप।

(38) स्वेनुः
पूर्ववत् एत्वादि।

(39) स्वेनिथ
पूर्ववत् एत्वादि।

(40) सस्वनतुः
पक्ष में एत्वाभाव।

(41) सस्वनुः
पक्ष में एत्वाभाव।

(42) सस्वनिथ
पक्ष में एत्वाभाव।

फणां०—सूत्रोक्त सात धातुओं को एत्व व अभ्यासलोप होते हैं।

(43) दध्वनतुः
ध्वन् अतुस्—लिट्, द्वित्व,
द ध्वन् अतुस्—हलादि शेष, अभ्यासे चर्च,
दध्वनतुः—एत्वादि नहीं।

(44) दध्वनुः
ध्वन् उस्—एत्वाभाव।

(45) दध्वनिथ
पूर्ववत् एत्वाभाव।

(3127) न शसददवादिगुणानाम् *126* (2263)

शस, दद-इत्येतयोर्वकारादीनां च धातूनां गुण इत्येवमभिनिर्वृत्तस्य च योऽकारस्तस्य स्थाने एकारादेशो न भवति, अभ्यासलोपश्च। विशशसतुः, विशशसुः, विशशसिथ। ददधे, ददधाते, ददधिरे। वादीनाम्-ववमतुः, ववमुः, ववमिथ। गुणस्य-विशशरतुः, विशशरुः, विशशरिथ। लुलविथ, पुपविथ। गुणशब्दाभिनिर्वृत्तस्यार्शब्दस्यौकारस्य चायमकार इति एत्वं प्रतिषिध्यते।

अर्थ—शस्, दद्, वकारादि अंग के अत् के स्थान पर तथा गुणभावित अत् के स्थान पर एकार नहीं होता है तथा अंग के अभ्यास का लोप नहीं होता है कित् लिट् अथवा सेट् थल् परे रहते।

उदा० (1) विशशसतुः
शस् अतुस्—लिट्, द्वित्व,
श शस् अतुस्—हलादि शेष,
वि शशसतुस्—एत्वादि प्राप्त थे, निषेध हुआ।

(2) विशशसुः
पूर्ववत् एत्वादि का निषेध।

(3) विशशसिथ
एत्वादि का निषेध।

(4) ददद
दद् ए—लिटस्तझयो०,
द दद् ए—एत्वादि प्राप्त,
ददद—निषेध।

(5) दददाते
द दद् आताम्—पूर्ववत्।

(6) दददिरे
'इरेच्' में पूर्ववत् एत्वादि का निषेध।

(7) ववमतुः
व वम् अतुस्—द्वित्व, अभ्यासकार्य,
ववमतुस्—एत्वादि का निषेध।

(8) ववमुः (पूर्ववत्)।
(9) ववमिथ (पूर्ववत्)।

(10) विशशरतुः
शॄ अतुस्—'शॄदॄप्रां०' से पाक्षिक ह्रस्व,
श शर् अतुस्—ह्रस्व अभाव पक्ष, द्वित्व, गुण,
विशशरतुः—एत्वादि का निषेध।

(11) विशशरुः (पूर्ववत्)।
(12) विशशरिथ (पूर्ववत्)।
(13) लुलविथ
लू थल्—इट्, द्वित्व,
लु लो इ थ—ह्रस्वः, गुण, एत्वादि का निषेध,
लुल विथ—अवादेश।
(14) पुपविथ (पूर्ववत्)।

गुणश०—गुणविधायक सूत्रभावित गुण (= अकार, ओकार) का यहाँ ग्रहण किया जाता है। 'विशशरतुः' यहाँ 'ऋच्छत्यॄताम्' इस गुणविधायक सूत्र के द्वारा गुण (= अकार) भावित है। इसी प्रकार 'लुलविथ' यहाँ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस गुणविधायक सूत्र के द्वारा गुण (= ओकार) भावित है। अतः पूर्वोक्त स्थलों पर एत्वादि का निषेध हो गया है।

यदि '०गुणानाम्' पद के द्वारा सामान्यतः गुणसंज्ञक वर्णों (अकार, ओकार) का ग्रहण होता तो 'पेठतुः' रूप में एत्व तथा अभ्यासलोप प्रसक्त नहीं होते। कारण कि—पपठ् अतुस् यहाँ लिट् कित् (अतुस्) परे रहते 'पपठ्' अंग में गुणसंज्ञक वर्ण (अकार) है। अतः एत्व होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त प्रकृत सूत्र में 'शस्' व 'दद्' का पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'गुण' पद के द्वारा भावित गुणवर्ण (अकार, ओकार) का ग्रहण होता है। यदि ऐसा न होता तो '०गुणानाम्' इतने सूत्र मात्र से 'शस्' व 'दद्' अंग के अकार को एत्व का निषेध हो जाता। तब सूत्र में इनके पाठ की क्या आवश्यकता थी ?

(3128) अवर्णस्त्रसावनञः *127* (364)

अर्वन्नित्येतस्याङ्गस्य 'तृ' इत्ययमादेशो भवति, सुश्चेत्ततः परो न भवति, स च नञ उत्तरो न भवति। अर्वन्तौ, अर्वन्तः। अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः। अर्वता, अर्वद्भ्याम्, अर्वद्भिः। अर्वती। आर्वतम्। असाविति किम्? अर्वा। अनञ इति किम्? अनर्वाणौ, अनर्वाणः। 'अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम्' (ऋ० 1.190.1)।

अर्थ—नञ् से रहित अंगसंज्ञक 'अर्वन्' शब्द को 'तृ' आदेश होता है, परन्तु 'सु' परे रहते नहीं होता है।

अलोऽन्त्य परिभाषा से अन्त्य अल् (नकार) के स्थान पर होता है। तृ के ऋकार की इत् संज्ञा होती है। अतः यहाँ सर्वादेश नहीं होता है।

उदा० (1) अर्वन्तौ
अर्वन् औ—प्र० द्विवचन,
अर्वत् औ—'उगिदचां सर्व०' से नुम्,
अर्वन्तौ—अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) अर्वन्तः
अर्वन् जस्—पूर्ववत्।

(3) अर्वन्तम्
अर्वन् अम्—पूर्ववत्।

(4) अर्वन्तौ (पूर्ववत्)।
(5) अर्वतः
अर्वन् शस्—नुम् नहीं हुआ।
(6) अर्वता
'तृ' अन्तादेश।
(7) अर्वद्भ्याम्
अन्तादेश, झलां जशोऽन्ते।
(8) अर्वद्भिः
अन्तादेश, जश्त्व।
(9) अर्वती
अर्वन् ङीप्—उगितश्च,
(10) आर्वतम्
'तस्याऽपत्यम्' से 'अण्'।
अर्वत् अण्—अन्तादेश, आदिवृद्धि,
आर्वत सु—विभक्तिकार्य।

असावि—सु को छोड़कर अन्य विभक्ति के परे रहते अन्तादेश होता है।

(11) अर्वा
अर्वन् सु—उपधादीर्घ, हल्ङ्यादि लोप,
अर्वान्—नलोप: प्राति०।

अनञ०—नञ् से रहित अर्वन् को ही 'तृ' आदेश होता है।

(12) अनर्वाणौ
न अर्वा—अनर्वा,
अनर्वन् औ—'तृ' नहीं हुआ, उपधादीर्घ।
(13) अनर्वाणः
अनर्वन् जस्—अन्तादेश नहीं हुआ।
(14) अनर्वाणम्
'अम्' में पूर्ववत्।

(3129) मघवा बहुलम् *128* (360)

'मघवन्' इत्येतस्याङ्गस्य बहुलम् 'तृ' इत्ययमादेशो भवति। मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः। मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः। मघवता। मघवती। माघवतम्। न च भवति–मघवा, मघवानौ, मघवानः। मघवानम्, मघवानौ, मघोनः। मघोना, मघवभ्याम्, मघवभिः। 'मघोनीं'। (ऋ० 1.48.8) माघवनम्।

अर्थ—मघवन् शब्द को बहुलता से 'तृ' आदेश होता है।

उदा० (1) मघवान्
मघवन् सु—प्रथमा एकवचन,
मघवन् त् स्—'तृ' अन्तादेश, उगिदचां० से नुम्,

मघवान्—हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप, प्रत्ययलक्षण से सर्वनामस्थाने० के द्वारा उपधादीर्घ। 'सर्वनामस्थाने०' (6.4.8) सूत्र की दृष्टि में 'संयोगान्तस्य लोपः' (8.2.23) सूत्र असिद्ध है। अतः उपधादीर्घ नहीं होना चाहिए; परन्तु 'मघवा बहुलम्' में 'बहुलम्' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि उपधादीर्घ के विषय में संयोगान्तलोप असिद्ध नहीं होता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि 'बहुलम्' के ग्रहण का तात्पर्य 'इष्टासिद्धि' होता है अर्थात् इष्टसिद्धि में जो-जो व्यवधान हो, उन सभी का निवारण हो जाता है।

(2) मघवन्तौ
मघवन् त् औ—पूर्ववत्,
मघवन्तौ—अनुस्वार आदि।
(3) मघवन्तः
मघवत् जस्—अन्तादेश,
मघवन् त् अम्—नुम् आदि।
(4) मघवन्तम्
मघवन् त् अम्—पूर्ववत्।
(5) मघवन्तौ (पूर्ववत्)।
(6) मघवतः
मघवत् शस्—अन्तादेश,
मघवत स्—नुम् नहीं हुआ।
(7) मघवता
अन्तादेश।
(8) मघवती
मघवन् ङीप्—'छन्दसी वनिपौ वक्तव्यौ' से वनिप् होकर 'मघवन्' शब्द निष्पन्न होता है, अन्तादेश, 'उगितश्च' से ङीप्',
मघवत् ई—अनुबन्धलोप।
(9) माघवतम्
मघवन् अण्—अन्तादेश,
माघवत् अ सु—आदिवृद्धि।
(10) मघवा
मघवान् स्—अन्तादेश नहीं हुआ, हल्ङ्यादिलोप, उपधादीर्घ।

(11) मघवानौ

मघवन् औ—अन्तादेश अभाव।

(12) मघवानः

जस्—अन्तादेश अभाव।

(13) मघवानम्

अम्—अन्तादेश अभाव।

(14) मघवानौ

औ—पूर्ववत्।

(15) मघोनः

म घ व न् सु—'श्वयुवमघोनाम्' से सम्प्रसारण, पररूप, आद्-गुणः, अन्तादेश अभाव।

(16) मघोना

मघवन् टा—सम्प्रसारण।

(17) मघवभ्याम्

मघव न् भ्याम्,

मघव भ्याम्।

(18) मघवभिः

भिस्—पूर्ववत्।

(19) मघोनी

मघवन् ङीप्—सम्प्रसारण,

मघोन् ई—अन्तादेश अभाव।

(20) माघवनम्

मघवन् अण्—अन्तादेश अभाव,

माघवन् अ सु—आदिवृद्धि।

पाठकों की सुविधा के लिए 'मघवन्' शब्द की रूपमाला—

तृत्वपक्ष

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः
द्वितीया	मघवन्तम्	मघवन्तौ	मघवतः
तृतीया	मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः
चतुर्थी	मघवते	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
पञ्चमी	मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
षष्ठी	मघवतः	मघवतोः	मघवताम्
सप्तमी	मघवति	मघवतोः	मघवत्सु
सम्बोधन	हे मघवन्!	हे मघवन्तौ!	हे मघवन्तः

तृत्वाऽभावपक्ष

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	मघवा	मघवानौ	मघवानः
द्वितीया	मघवानम्	मघवानौ	मघोनः
तृतीया	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
चतुर्थी	मघोने	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
पञ्चमी	मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
षष्ठी	मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
सप्तमी	मघोनि	मघोनोः	मघवसु
सम्बोधन	हे मघवन्!	हे मघवानौ!	हे मघवानः

(3130) भस्य *129* (233)

'भस्य' इत्ययमधिकार आ अध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो भस्येत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति-'पादः पत्' (6.4.130)। द्विपदः पश्य। द्विपदा कृतम्। भस्येति किम्? द्विपादौ। द्विपादः।

अर्थ—इस अध्याय की समाप्तिपर्यन्त यह अधिकार है। यहाँ से आगे जो कहा जायेगा, वह भसंज्ञक के स्थान पर होता है। आगे कहा जायेगा—पादः पत्।

उदाहरण आगे देखें।

भस्येति०—भसंज्ञक को ही होता है।

(1) द्विपादौ

औ—यहाँ 'पत्' आदेश नहीं हुआ।

(2) द्विपादः

जस्—पूर्ववत्।

(3131) पादः पत् *130* (144)

'पादः' इति पादशब्दो लुप्ताकारो गृह्यते, तदन्तस्याङ्गस्य भस्य 'पत्' इत्ययमादेशो भवति। स च 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (व्या०प०) इति पाच्छब्दस्यैव भवति, न तदन्तस्य सर्वस्य। द्विपदः पश्य। द्विपदा। द्विपदे। द्विपदिकां ददाति। त्रिपदिकां ददाति। वैयाघ्रपद्यः।

अर्थ—'पादः' पद के द्वारा लुप्त अकार वाले 'पाद्' शब्द का ग्रहण होता है। 'पाद' शब्द है अन्त में जिसके, ऐसे अंगसंज्ञक व भसंज्ञक शब्द के स्थान पर 'पत्' आदेश होता है। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' से 'पात्' को ही यह आदेश होता है; तदन्त समग्र शब्द के स्थान पर नहीं होता है।

उदा० (1) द्विपदः
द्वौ पादावस्य—द्विपाद्।
द्विपाद् शस्—द्विपद् अस्।

(2) द्विपदा
द्विपाद् टा—पूर्ववत्।

(3) द्विपदे (पूर्ववत्)।

(4) द्विपदिकां ददाति
द्वौ द्वौ पादौ ददाति—'पादशतस्य' से 'वुन्',
द्विपाद् वुन् → द्विपद् अक टाप्।

(5) त्रिपदिका (पूर्ववत्)।

(6) वैयाघ्रपद्यः
व्याघ्रस्येव पादावस्य—व्याघ्रपाद,
पादस्यलोपोऽहस्त्या० से अकारलोप,
व्याघ्रपदोऽपत्यम्—गर्गादिभ्यो यञ्,
वैयाघ्रपद्य सु—ऐच् आगम।

(3132) वसोः सम्प्रसारणम् *131* (435)

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं भवति। विदुषः पश्य। विदुषा। विदुषे। पेचुषः पश्य। पेचुषा। पेचुषे। पपुषः पश्य। आकारलोपे कर्त्तव्ये वसुसम्प्रसारणस्य व्याश्रयत्वादसिद्धत्वं न भवति। वसुग्रहणे क्वसोरपि ग्रहणमिष्यते।

अर्थ—वसु प्रत्ययान्त भसंज्ञक अंग को सम्प्रसारण होता है।

उदा० (1) विदुषः
विद्वस् शस्—यचि भम्,
विदुस् अस्—सम्प्रसारण,
विदुष् अस्—आदेशप्रत्यययोः।

(2) विदुषा
विद्वस् टा—भसंज्ञा,
विदुस् आ—सम्प्रसारण।

(3) विदुषे
विद्वस् ङे—पूर्ववत्,
विदुस् ए—षत्व।

(4) पेचुषः
पच् क्वसु—लिट् के स्थान पर 'क्वसुश्च' से क्वसु, 'अत एकहल्म०' से एत्व,
पेचुस् शस्—प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण,
पेचुष् अस्—पूर्ववत्।

(5) पेचुषा
टा—पूर्ववत्।

(6) पेचुषे (पूर्ववत्)।

(7) पपुषः
शस्—पूर्ववत्।

आकार०—आकारलोप करने में 'वसु' के स्थान पर होने वाले सम्प्रसारण के व्याश्रय (अर्थात् भिन्न-भिन्न निमित्त) होने के कारण असिद्धभाव नहीं होता है। 'वसु' का ग्रहण करने में 'क्वसु' का भी ग्रहण होता है।

(3133) वाह ऊठ् *132* (329)

'वाहः' इत्येवमन्तस्य भस्य ऊठ् इत्येतत्सम्प्रसारणं भवति। प्रष्ठौहः। प्रष्ठौहा। प्रष्ठौहे। दित्यौहः। दित्यौहा। दित्यौहे। 'एत्येधत्यूठ्सु' (6.1.89) इति वृद्धिः। अथ किमर्थमूठ् क्रियते, सम्प्रसारण एव कृते गुणे च 'वृद्धिरेचि' (6.1.88) इति वृद्धौ सत्यां सिद्धं रूपं भवति—प्रष्ठौह इति, अनकारान्ते चोपपदे वहेण्विर्न दृश्यते? ज्ञापनार्थम्। एतज्ज्ञापयति—भवत्येषा परिभाषा 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (व्या०प०) इति। तस्यां हि सत्यां बहिरङ्गस्य सम्प्रसारणस्यासिद्धत्वाद् अन्तरङ्गो गुणो न स्यात्।

अर्थ—'वाह्' है अन्त में जिसके, ऐसे भसंज्ञक अंग को सम्प्रसारण के रूप में 'ऊठ्' होता है।

उदा० (1) प्रष्ठौहः
प्रष्ठवाह् शस्—यचि भम्,
प्रष्ठ ऊठ् आह् अस्—सम्प्रसारणाच्च,
प्रष्ठ ऊह् अस्—एत्येधत्यू०।

(2) प्रष्ठौहा
टा—पूर्ववत्।

(3) प्रष्ठौहे
ङे—पूर्ववत्।

(4) दित्यौहः
दित्यवाह् शस्—पूर्ववत्।

(5) दित्यौहा
टा—पूर्ववत्।

(6) दित्यौहे

ङे—पूर्ववत्।

अथ०—(शंका)—'प्रष्ठवाह् शस्'—इस दशा में सम्प्रसारण करने पर गुण होता है। प्रष्ठ उह् अस् → प्रष्ठ ओह् अस्। 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि करके 'प्रष्ठौहः' बन जाता है। तब 'ऊठ्' किसलिए किया गया है ? अनकारान्त उपपद 'वह्' धातु 'ण्वि' प्रत्यय प्राप्त नहीं है।

(समा०) यह 'ऊठ्' ज्ञापन के लिए है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा है। इस परिभाषा के हो जाने पर बहिरंग (सम्प्रसारण) के असिद्ध हो जाने से अन्तरंग (गुण) नहीं हो पाता है।

(3134) श्वयुवमघोनामतद्धिते *133* (362)

श्वन्, युवन्, मघवन्–इत्येतेषामङ्गानामतद्धिते प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति। शुनः, शुना, शुने। यूनः, यूना, यूने। मघोनः, मघोना, मघोने। अतद्धित इति किम्? शौवं मांसम्। यौवनं वर्त्तते। माघवनः स्थालीपाकः। शुनो विकारे 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (4.3.154), द्वारादित्वादैजागमः। श्वादीनामेतत्सम्प्रसारणं नकारान्तानामिष्यते (म०भा०)। इह न भवति–युवतीः पश्य। मघवतः, मघवता, मघवते। तदर्थमुत्तरत्र योगविभागं कुर्वन्ति–'अल्लोपः', 'अनः'; अन इत्युभयोः शेष इति।

अर्थ—भसंज्ञक श्वन्, युवन् और मघवन् अंगों को सम्प्रसारण होता है तद्धित से रहित प्रत्यय परे रहते।

'इग्यणः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण यण् वर्ण के स्थान पर ही होता है।

उदा० (1) शुनः
श्वन् शस्—यचि भम्,
शुन् अस्—सम्प्रसारण।

(2) शुना
टा—पूर्ववत्।

(3) शुने
ङे—पूर्ववत्।

(4) यूनः
युवन् शस्—पूर्ववत् सम्प्रसारण,
यु उन् अस्—सवर्णदीर्घ,
यून् अस्—रूप।

(5) यूना
टा—पूर्ववत्।

(6) यूने
ङे—पूर्ववत्।

(7) मघोनः
मघवन् शस्—पूर्ववत्,
मघोन अस्—गुण।

(8) मघोना
टा—पूर्ववत्।

(9) मघोने
ङे—पूर्ववत्।

अतद्धित—तद्धितभिन्न प्रत्यय परे रहते ही सम्प्रसारण होता है।

(10) शौवम् (मांसम्)
शुनो विकारः—'प्राणिरजतादि०' से तद्धित प्रत्यय,
श्वन् अञ्—सम्प्रसारण नहीं हुआ, 'नस्तद्धिते' से टिलोप,
शौव सु—द्वारादि होने से ऐच् आगम।

(11) यौवनम्
युवन् अण्—सम्प्रसारण नहीं हुआ,
यौवन सु—आदिवृद्धि।

(12) माघवनः
मघवा देवताऽस्य—'साऽस्य देवता' से 'अण्'।

श्वादीना०—महर्षि पतञ्जलि के अनुसार अन्नन्त मघवन् आदि को ही यह सम्प्रसारण होता है।[1] भट्टोजिदीक्षित ने अग्रिम सूत्र 'अल्लोपोऽनः' से 'अनः' का अपकर्षण करके महाभाष्यकार के वचन का समर्थन किया है।[2]

दीक्षित के अनुसार यदि 'अन्नन्त मघवन् आदि को सम्प्रसारण हो' ऐसा अर्थ नहीं करेंगे तो 'तृ' आदेशपक्ष में 'मघवत् आ' इस दशा में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (प०) के द्वारा इसे 'मघवन्' मानकर सम्प्रसारण प्राप्त होता है, जो अनिष्ट है। अतः 'अन्नन्त' को ही सम्प्रसारण हो—ऐसा अर्थ करने पर कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

(13) युवतीः

1. महा० 6.4.133 श्वादीनां····प्रतिषेधार्थम्।
2. वै० सि० कौ० सूत्र 362 अन्नन्तानां भसञ्ज्ञकानाम् एषां तद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्।

युवति शस्—सम्प्रसारण नहीं हुआ।

(14) मघवतः, (15) मघवता, (16) मघवते
यहाँ सम्प्रसारण नहीं हुआ।

तदर्थमु०—काशिकाकार ने अग्रिम सूत्र के योगविभाग का सुझाव दिया है।[1]

(3135) अल्लोपोऽनः *134* (234)

'अन्' इत्येवमन्तस्य भस्य अकारलोपो भवति। राज्ञः पश्य। राज्ञा। राज्ञे। तक्ष्णः पश्य। तक्ष्णा। तक्ष्णे। *अनो नकारान्तस्यायं लोप इष्यते*। इह न भवति—राजकीयमिति।

अर्थ—अन् है अन्त में जिसके, ऐसे भसंज्ञक अंग के अन् के अकार का लोप होता है।

उदा० (1) राज्ञः
राजन् शस्—भसंज्ञा,
राज् न् अस्—अकारलोप,
राज् ञ् अस्—श्चुत्व।

(2) राज्ञा
राजन् टा—पूर्ववत्।

(3) राज्ञे
ङे—पूर्ववत्।

(4) तक्ष्णः
तक्षन् शस्—अकारलोप।

(5) तक्ष्णा
टा—पूर्ववत्।

(6) तक्ष्णे
ङे—पूर्ववत्।

अनो०—नकारान्त अन् का यह लोप होता है।

(7) राजकीयम्
राज्ञ इदम्—'राज्ञः क च' से 'छ',
राजक् छ—ईयादेश,
राजकीय—सु हुआ।

(3136) षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि *135* (1160)

षकारपूर्वो योऽन् हनो धृतराज्ञश्च तस्याकारलोपो भवति अणि परतः। औक्ष्णः। ताक्ष्णः। भ्रौणघ्नः। धार्त्तराज्ञः। षपूर्वहन्धृतराज्ञामिति किम्? सामनः। वैमनः। 'अन्' इति प्रकृतिभावेनाल्लोपटिलोपावुभावपि न भवतः। अणीति किम्? ताक्षण्यः।

अर्थ—'ष' है पूर्व में जिसके, ऐसा जो अन्, तदन्त शब्द, हन् तथा धृतराजन् शब्द—इन भसंज्ञक अंगों के अकार का लोप होता है अण् परे रहते।

उदा० (1) औक्ष्णः
उक्ष्णोऽपत्यम्—'अण्' हुआ,
उक्ष् न् अ—अकारलोप, 'अन्' (6.4.167),
औक्ष् ण् अ सु—आदिवृद्धि, णत्व।

(2) ताक्ष्णः
तक्षन् अण्—पूर्ववत्,
तक्ष् न् अ—अकारलोप।

(3) भ्रौणघ्नः
भ्रूण हन् अण्—आदिवृद्धि, अकारलोप, कुत्व,
भ्रौण घ् न् अ—सु।

(4) वार्त्रघ्नः
वृत्र हन् अण्—पूर्ववत्।

(5) धार्त्तराज्ञः
धृतराजन् अण्—पूर्ववत्।

षपूर्व०—षपूर्वक अन्, तदन्त, हन्, तथा धृतराजन्—इन शब्दों के अकार का लोप होता है।

(6) सामनः
सामन् अण्—अकारलोप नहीं हुआ,
सामन सु—'सु' हुआ।

(7) वैमनः (पूर्ववत्)।

अन्०—'अन्' सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव के द्वारा अलोप तथा टिलोप दोनों नहीं होते हैं।

अणीति०—अण् परे रहते अकार का लोप होता है।

(8) ताक्षण्यः
तक्षन् ण्य—आदिवृद्धि, अकारलोप नहीं हुआ,
ताक्षन् य सु—णत्व।

(3137) विभाषा ङिश्योः *136* (237)

ङौ परतः शीशब्दे च अनो विभाषा अकारलोपो भवति। राज्ञि, राजनि। साम्नि, सामनि। साम्नी, सामनी।

1. काशिका० 6.4.133.

अर्थ—'ङि' या 'शी' परे हो तो अंग के अवयवस्वरूप भसंज्ञक जो अन्, उसके अकार का विकल्प से लोप होता है।

उदा० (1) राज्ञि
राजन् ङि—अकारलोप,
राज् न् इ—श्चुत्व,
राज्ञ् इ—रूप।

(2) राजनि
पक्ष में अकारलोप नहीं हुआ।

(3) साम्नि
सामन् ङि—अकारलोप।

(4) सामनि
अकारलोप नहीं हुआ।

(5) साम्नी
सामन् शी—'औ' को 'शी' आदेश,
साम् न् ई—अकारलोप।

(6) सामनी
पक्ष में—अकारलोप नहीं हुआ।

(3138) न संयोगाद्वमन्तात् *137* (355)

वकारमकारान्तात्संयोगादुत्तरस्यानोऽकारस्य लोपो न भवति। पर्वणा, पर्वणे। अथर्वणा, अथर्वणे। संयोगादिति किम्। प्रतिदीव्ना। प्रतिदीव्ने। साम्ना, साम्ने। वमन्तादिति किम्? तक्ष्णा। तक्ष्णे।

अर्थ—वकारान्त अथवा मकारान्त जो संयोग, उससे उत्तर भसंज्ञक 'अन्', उसके अकार का लोप नहीं होता है।

उदा० (1) पर्वणा
पर्वन् टा—यचि भम्, अल्लोपोऽनः,
पर्वणा—अकारलोप का निषेध, णत्व।

(2) पर्वणे
ङे—पूर्ववत्।

(3) अथर्वणा
अथर्वन् टा—पूर्ववत्।

(4) अथर्वणे
ङे—पूर्ववत्।

(5) चर्मणा (पूर्ववत्)।

(6) चर्मणे
ङे—पूर्ववत्।

संयोगा०—संयोग से उत्तर भसंज्ञक 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता है।

(7) प्रतिदीव्ना
प्रतिदीवन् टा—असंयोग से उत्तर वकार है, वकार से उत्तर 'अन्' है, अतः अकारलोप का निषेध नहीं हुआ,
प्रति दीव् न् आ—अकारलोप नहीं हुआ।

(8) प्रतिदीव्ने
प्रतिदीवन् ङे—पूर्ववत्।

(9) साम्ना
सामन् टा—पूर्ववत्।

(10) साम्ने
सामन् ङे—पूर्ववत्।

वमन्ता०—वकारान्त और मकारान्त जो संयोग, उससे उत्तर 'अन्' के आकार का लोप होता है।

(11) तक्ष्णा
तक्षन् टा—'क्ष्' संयोग है, इसके अन्त में न 'व्' है तथा न ही 'म्' है, अतः इससे उत्तर अन् के अकारलोप का निषेध नहीं हुआ,
तक्ष् न् आ—अकारलोप।

(12) तक्ष्णे
ङे—पूर्ववत्।

(3139) अचः *138* (416)

'अचः' इत्ययमञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते, तदन्तस्य भस्य अकारस्य लोपो भवति। दधीचः पश्य। दधीचा, दधीचे। मधूचः पश्य। मधूचा, मधूचे।

अर्थ—लुप्त नकार वाली 'अञ्च्' धातु के भसंज्ञक अकार का लोप होता है। 'अच्' के द्वारा लुप्त नकार वाली अञ्चु धातु का निर्देश है।

उदा० (1) दधीचः
दधि अञ्च् क्विन्—सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षण के द्वारा 'अनिदितां हल०' से नकारलोप,
दधि अच्—प्रातिपदिक संज्ञा,
दधि अच् शस्—विभक्ति, यचि भम्, अकारलोप,
दधि च् अस्—'चौ'।

(2) दधीचा
दधि अच् टा—पूर्ववत्।

(3) दधीचे
दधि अच् ङे—पूर्ववत्।

(4) मधूचः
शस्—पूर्ववत्।

(5) मधूचा
टा—पूर्ववत्।

(6) मधूचे
ङे—पूर्ववत्।

(3140) उद ईत् *139* (420)

उद उत्तरस्याच ईकारादेशो भवति। उदीचः। उदीचा। उदीचे।

अर्थ—उद् उपसर्ग से उत्तर लुप्त नकार वाले अञ्च् धातु के भसंज्ञक अकार के स्थान पर ईकार होता है।

'ईत्' में तकार मुखसुखार्थ है।

उदा० (1) उदीचः
उद् अञ्च् क्विन्—पूर्ववत्,
उद् अच् शस्—प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् हुआ,
उद् ईच् अस्—ईकार हुआ।

(2) उदीचा
टा—पूर्ववत्।

(3) उदीचे
ङे—पूर्ववत्।

(3141) आतो धातोः *140* (240)

आकारान्तस्य धातोर्भस्य लोपो भवति। कीलालपः पश्य। कीलालपा, कीलालपे। शुभंयः पश्य। शुभंया, शुभंये। आत इति किम्? निया, निये। धातोरिति किम्? खट्वाः पश्य। मालाः पश्य। 'आतः' इति योगविभागः, तेन 'क्त्वो ल्यप्' (7.1.37) 'हलः श्नः शानच्' (3.1.83)-इत्येवमादि सिद्धं भवति।

अर्थ—आकारान्त जो धातु, तदन्त भसंज्ञक अंग का लोप होता है।

अलोऽन्त्य परिभाषा से अन्त्य वर्ण (अकार) का लोप होता है।

उदा० (1) कीलालपः
कीलालपा शस्—'पा' आकारान्त धातु है, भसंज्ञा,
कीलालप् अस्—आकारलोप।

(2) कीलालपा
कीलालप् टा—पूर्ववत्।

(3) कीलालपे
ङे—पूर्ववत्।

(4) शुभंयः
शुभंया शस्—पूर्ववत्।

(5) शुभंया
टा—पूर्ववत्।

(6) शुभंये
ङे—पूर्ववत्।

आत इति०—आकारान्त जो धातु, तदन्त अंग का लोप होता है।

(7) निया
नी टा—धातु है परन्तु आकारान्त नहीं है, लोप नहीं हुआ,
निय् आ—इयङ् हुआ।

(8) निये
नी ङे—लोप नहीं हुआ, इयङ्।

धातोरि०—आकारान्त जो धातु, तदन्त अंग का लोप होता है।

(9) खट्वाः
खट्वा शस्—आकारान्त है, परन्तु धातु नहीं है,
खट्वास्—लोप नहीं हुआ, प्रथमयोः पूर्वसव०।

(10) मालाः
माला शस्—पूर्ववत्।

'आतः'—प्रकृत सूत्र का योगविभाग करना चाहिए। तब 'क्त्वो ल्यप्' तथा 'हलः श्नः शानच्०' इन स्थलों पर आकारलोप सिद्ध हो जाता है।

(3142) मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः *141* (3554)

मन्त्रेषु आङि परत आत्मन आदेर्लोपो भवति। त्मना देवेभ्यः। त्मना सोमेषु। मन्त्रेष्विति किम्? आत्मना कृतम्। आङीति किम्? यदात्मनस्तन्नो वरिष्ठा।

आङोऽन्यत्रापि दृश्यते । 'त्मन्यांसमञ्जन् मह्यम्' (ऋ० 10.110.10) ।

अर्थ—वेदमन्त्र के विषय में 'आङ्' परे रहते 'आत्मन्' शब्द के आदि का (अर्थात् आकार का) लोप होता है।

'आङ्' तृतीया एकवचन के लिए पूर्वाचार्यों की संज्ञा है। द्र०—न्यासटीका।

उदा० (1) त्मना (ऋ० 7.7.1)
आत्मन् टा—आदि आकार का लोप।

मन्त्रे०—मन्त्रसंहिता में ही आदि आकार का लोप होता है।

(2) आत्मना कृतम्
लोक में लोप नहीं हुआ।

आङीति०—आङ् विभक्ति परे रहते आदि का लोप होता है।

(3) आत्मनः
आत्मन् ङस्—यहाँ 'आङ्' परे नहीं है, आदि का लोप नहीं हुआ।

आङो०—आङ् से अतिरिक्त विभक्ति के परे रहते भी आदि आकार का लोप प्राप्त होता है।

(4) त्मन्या (ऋ० 10.110.10)
आत्मन् ङि[1]—'ङि' को छान्दस 'या' आदेश,
त्मन् या—आदिलोप।

अन्य उदाहरण जो काशिका में प्रदर्शित नहीं है।

(1) त्मनम् (ऋ० 7.63.6), (2) त्मने (ऋ० 4.29.4), (3) त्मनि (ऋ० 4.4.9)।

विशेष—(क) इस विषय में समाधान प्रस्तुत करते हुए न्यासकार लिखते हैं कि 'मन्त्रेषु' पद में बहुवचन के निर्देश[2] से सूचित होता है कि उक्त कार्य यथाविहित से अन्यत्र भी प्राप्त होता है। इस प्रकार न्यासकार के अनुसार बहुवचन-निर्देश के द्वारा आचार्य पाणिनि को उक्त लोपकार्य व्यापक विधि वाला अभिप्रेत है। इस विषय में महाभाष्य प्रमाण है[3]।

(ख) प्रकृत सूत्र में पूर्व शास्त्र से 'आतः' पद का अनुवर्तन

1. पदम० 6.4.141, न्यास० 6.4.141.
2. न्यास० 6.4.141 बहुविषयोऽयं निर्देशः।
3. महा० 1.4.44,67.

सहजलभ्य है। अतः पदमञ्जरीकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'आदेः' पद के ग्रहण के दो प्रयोजन बताये हैं[1]।

(क) उत्तर शास्त्र के लिए 'आदेः' पद का पाठ है।

(ख) दूसरा प्रयोजन यह है कि 'आत्मन्' के आदि आकार का ही लोप होता है।

यदि 'अतः' पद का अनुवर्तन किया जाता तो 'आत्मना' के अन्त्य आकार का लोप भी प्रसक्त होता।

(3143) ति विंशतेर्डिति *142* (844)

भस्य विंशतेस्तिशब्दस्य डिति प्रत्यये परतो लोपो भवति। विंशत्या क्रीतः विंशकः। विंशं शतम्। विंशतेः पूरणो विंशः। एकविंशः। डितीति किम्? विंशत्या।

अर्थ—भसंज्ञक 'विंशति' अंग के 'ति' का लोप होता है ड्ति् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) विंशकः
विंशत्या क्रीतः—'विंशतित्रिंशद्भ्यां०' से 'वुन्',
विंशति वुन्—लोप हआ,
विंश अक सु—विभक्तिकार्य।

(2) विंशम् (शतम्)
विंशतिरधिकाऽस्मिन्—'शदन्तविंशतेश्च',
विंशति ड—लोप हुआ,
विंश अ सु—पूर्ववत्।

(3) विंशः
विंशतेः पूरणः—पूरणे डट्, शेष पूर्ववत्।

(4) एकविंशः (पूर्ववत्)।

डितीति०—डित् परे रहते 'ति' का लोप होता है।

(5) विंशत्या
विंशति टा—यहाँ लोप नहीं हुआ।

(3144) टेः *143* (316)

टिसंज्ञकस्य डिति प्रत्यये परतो लोपो भवति। कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्। उपसरजः। मन्दुरजः। त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः। डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात् टिलोपो भवति।

अर्थ—भसंज्ञक अंग के 'टि' का लोप होता है डित् परे रहते।

1. पदम० 6.4.141 आदेरित्यपि शक्यमकर्त्तुम्।

उदा० (1) कुमुद्वान्
कुमुद ड्मतुप्—कुमुदनडवेत०,
कुमुद् मत्—टिलोप,
कुमुद्वत् सु—विभक्तिकार्य।

(2) नड्वान् (पूर्ववत्)।

(3) वेतस्वान् (पूर्ववत्)।

(4) उपसरजः
उपसर जन् ड—सप्तम्यां जनेर्डः,
उपसर ज् अ सु—टिलोप।

(5) मन्दुरजः
मन्दुरा जन् ड—'ङ्यापो सञ्ज्ञा०' से ह्रस्व,
मन्दुर ज् अ सु—टिलोप।

(6) त्रिंशकः
त्रिंशता क्रीतः—ड्वुन् हुआ।

डित्य०—'ड्मतुप्' तथा 'ड' प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की भसंज्ञा नहीं होती है। तब लोप कैसे होता है?

(समा०) डित् करणसामर्थ्य से टिलोप होता है।

(3145) नस्तद्धिते *144* (679)

नकारान्तस्य भस्य टेर्लोपो भवति तद्धिते परतः। आग्निशर्मिः। औडुलोमिः। बाह्वादित्वादिञ्प्रत्ययः। न इति किम्? सात्वतः। तद्धित इति किम्? शर्मणा। शर्मणे। *नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारिसपीठसर्पिकलापिकुथुमितैतिलिजाजलिलाङ्गलिशिलालिशिखण्डिसूकरसद्मसुपर्वणामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्* (का०वा०)। अत्र ये इन्नन्तास्तेषाम् 'इनण्यनपत्ये' (6.4.164) इति प्रकृतिभावः प्राप्तः, ये त्वन्नन्तास्तेषाम् 'अन्' (6.4.167) इति। सब्रह्मचारिण इमे साब्रह्मचाराः। पीठसर्पिणः-पैठसर्पाः। कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः। कुथुमिनः-कौथुमाः। तैतिलिजाजलिनावाचार्यौ, तत्कृतो ग्रन्थ उपचारात् तैतिलिजाजलिशब्दाभ्यामभिधीयते, तं ग्रन्थमधीयते तैतिलाः, जाजलाः। शैषिकेष्वर्थेषु वृद्धत्वादत्र छः प्राप्नोति। एवं लाङ्गलाः। शैलालाः। शिखण्डिनः-शैखण्डाः। सूकरसद्मनः-सौकरसद्माः। सुपर्वणः-सौपर्वाः। *अश्मनो विकार उपसंख्यानम्* (म०भा०)। अश्मनो विकारः आश्मः। आश्मनोऽन्यः। *चर्मणः कोश उपसंख्यानम्* (म०भा०)। चार्मः कोशः। चार्मणोऽन्यः। *शुनः सङ्कोच उपसंख्यानम्* (म०भा०)। शौवः सङ्कोचः। शौवनोऽन्यः। *अव्ययानां च सायम्प्रातिकाद्यर्थमुपसंख्यानम्* (म०भा०)। के पुनः सायम्प्रातिकादयः? येषामव्ययानामविहितष्टिलोपः, प्रयोगे च दृश्यते, ते सायम्प्रातिकप्रकारा ग्रहीतव्याः। सायम्प्रातर्भवः सायम्प्रातिकः। पौनःपुनिकः। बाह्यः। कौतस्कुतः। 'कालाट्ठञ्' (4.3.11) इति ठञ्प्रत्ययः। ट्युट्युलौ तु नेष्येते। आरातीयः, शाश्वतिकः, शाश्वतः-इत्येवमादिषु न दृश्यते टिलोपः।

अर्थ—नकारान्त भसंज्ञक अंग की 'टि' का लोप होता है तद्धित परे रहते।

उदा० (1) आग्निशर्मिः
अग्निशर्मणोऽपत्यम्—इञ् हुआ,
आग्निशर्मन् इ—आदिवृद्धि,
आग्निशर्म् इ सु—टिलोप।

(2) औडुलोमिः
उडुलोमन् इञ्—टिलोप, आदिवृद्धि।

न इति०—नकारान्त भसंज्ञक की टि का लोप होता है।

(3) सात्वतः
सत्वतोऽपत्यम्—टि का लोप नहीं हुआ।

तद्धित०—तद्धित प्रत्यय परे रहते टि का लोप होता है।

(4) शर्मणा
शर्मन् टा—भसंज्ञा, 'टा' तद्धित नहीं है,
शर्मणा—टि का लोप नहीं हुआ।

नान्तस्य०—(नकारान्त की टि का लोप करने के विषय में) निम्नलिखित शब्दों की टि का लोप होता है। यहाँ जो इन्नन्त शब्द हैं, उनको 'इनण्यनपत्ये' से प्रकृतिभाव प्राप्त है तथा जो अन्नन्त हैं, उन्हें 'अन्' से प्रकृतिभाव होता है।

(5) साब्रह्मचाराः
सब्रह्मचारिण इमे—'तस्येदम्' से प्रत्यय,
सब्रह्मचार् अण्—टिलोप,
साब्रह्मचार जस्—आदि वृद्धि।

(6) पैठसर्पाः
पीठसर्पिन् अण्—पूर्ववत्।

(7) कालापाः
कलापिना प्रोक्तमधीयते—अण् हुआ, शेष पूर्ववत्।

(8) कौथुमाः

कुथुमिन् अण्—पूर्ववत्।

(9) तैतिलाः

तैतिलिन् अण्—पूर्ववत्।

(10) जाजलाः (पूर्ववत्)।

शैषिक अर्थों में वृद्धसंज्ञा होने से 'छ' प्राप्त होता है।

(11) लाङ्गलाः (पूर्ववत्)।

(12) शैलालाः (पूर्ववत्)।

(13) शैखण्डाः

शिखण्डिन् अण्—पूर्ववत्।

(14) सौकरसद्माः

सूकरसद्मन् अण्—पूर्ववत्।

(15) सौपर्वाः

सुपर्वन् अण्—पूर्ववत्।

अश्मनो०—विकार अर्थ में 'अश्मन्' शब्द के टि का लोप होता है।

(16) आश्मः

अश्मनो विकारः → अश्म् अण्—टिलोप।

(17) आश्मन्यः

अश्मन् अण्—विकार अर्थ नहीं है। टिलोप नहीं हुआ।

चर्मणः०—कोश अर्थ में 'चर्मन्' शब्द के टि का लोप होता है।

(18) चार्मः कोशः

चर्मन् अण्—टिलोप।

(19) चार्मणः

कोश अर्थ नहीं है। टिलोप नहीं हुआ।

शुनः०—संकोच अर्थ में 'श्वन्' के टि का लोप होता है।

(20) शौवः

श्वन् अण्—शौव् अ सु—टिलोप, ऐच् आगम।

(21) शौवनः

अन्यत्र 'टि' का लोप नहीं हुआ।

अव्यया०—अव्यय के टि का लोप होता है। निम्नलिखित स्थलों पर सायम्प्रातिकादि शब्द कौन-से हैं? जिन अव्यय शब्दों के टिलोप का विधान नहीं किया गया है, परन्तु प्रयोग में टिलोप दृष्टिगोचर होता है, वे सायम्प्रातिक शब्द हैं।

(22) सायम्प्रातिक

सायम्प्रातो भवः—कालाट्ठञ्,

सायम्प्रातर् ठञ्—टिलोप, ठस्येकः, सु।

(23) पौनःपुनिकः

पुनः पुनर् भवति—ठञ्,

पौनःपुन् इक सु—आदिवृद्धि, टिलोप।

(24) बाह्यः

बहिर्भवः—'बहिषष्टिलोपो यञ् च' (वा०),

बह् य—टिलोप,

बाह् य सु—आदिवृद्धि।

(25) कौतस्कुतः

कुतः कुत आगतः—अण्, पूर्ववत् टिलोप।

ट्युट्युलौ०—'सायञ्चिरम्' से अव्यय शब्दों से ट्यु तथा ट्युल् होते हैं। ये प्रत्यय यहाँ नहीं होते हैं।

(26) आरातीयः

आरात् छ—टिलोप नहीं हुआ।

(27) शाश्वतिकः

शश्वत् ठ—'इसुसुक्तान्तात् कः' से प्राप्त 'क' आदेश नहीं होता है, 'येषां च विरोधः०' प्रमाण है।

(28) शाश्वतः

शश्वत् अण्—टिलोप नहीं हुआ।

(3146) अह्नष्टखोरेव *145* (789)

'अहन्' इत्येतस्य टखोरेव परतष्टिलोपो भवति। द्वे अहनी समाहृते द्व्यहः। त्र्यहः। द्वे अहनी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा द्व्यहीनः। त्र्यहीनः। अह्नां समूहः क्रतुः अहीनः। *अह्नः समूहे खो वक्तव्यः*। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः। इह मा भूत्-अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम्। एवकारकरणं विस्पष्टार्थम्। अह्न एव टखोः-इत्येवं नियमो न भविष्यति; 'आत्माध्वानौ खे' (6.4.169) इति प्रकृतिभावविधानात्।

अर्थ—'ट' अथवा 'ख' तद्धित प्रत्यय परे रहते ही 'अहन्' भसंज्ञक अंग का टिलोप होता है।

यह नियमसूत्र है।

उदा० (1) द्व्यहः

द्वे अहनी समाहृते → द्वि अहन् ट—

द्वि अह् अ सु—टिलोप।

(2) त्र्यहः
त्रि अहन् सु—पूर्ववत्।

(3) द्व्यहीनः
द्वे अहनी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा–
द्वि अहन् ख—अह्नः खः क्रतौ (वा०),
द्वि अह् ईन सु—टिलोप, यण्।

(4) त्र्यहीनः (पूर्ववत्)।

अह्नः समू०—समूह अर्थ में अहन् से 'ख' प्रत्यय होता है। यह नियम के लिए है।

(5) आह्निकम्
अह्ना निर्वृत्तम्—यहाँ टिलोप नहीं हुआ।

एवकार०—एवकार का ग्रहण स्पष्टता के लिए है। 'ट' तथा 'ख' परे रहते 'अहन्' के ही टि का लोप होता है—यह नियम नहीं होता। कारण कि, 'आत्माध्वानौ खः' से प्रकृतिभाव का विधान है।

(3147) ओर्गुणः *146* (847)

उवर्णान्तस्य भस्य गुणो भवति तद्धिते परतः। बाभ्रव्यः। माण्डव्यः। शङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पासः। कामण्डलव्या मृत्तिका। परशव्यमयः। औपगवः। कापटवः। 'ओरोत्' इति वक्तव्ये गुणग्रहणं 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यो' (व्या०प०) यथा स्यात्, तेन स्वायम्भुव इति सिद्धं भवति।

अर्थ—भसंज्ञक उवर्णान्त अंग को गुण होता है तद्धित परे रहते।

उदा० (1) बाभ्रव्यः
बभ्रु यञ्—मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मण०,
बाभ्रो य—आदिवृद्धि, गुण,
बाभ्रव् य सु—वान्तो यि प्रत्यये।

(2) माण्डव्यः
'गर्गादिभ्यो यञ्' से प्रत्यय।

(3) शङ्कव्यम्
शङ्कु यत्—तस्मै हितम्, उगवादिभ्यो यत्,
शङ्को य—पूर्ववत्।

(4) पिचव्यः
पिचु य—पूर्ववत्।

(5) कमण्डलव्या मृत्तिका
कमण्डलु य—पूर्ववत्। स्त्रीत्व में टाप्।

(6) परशव्यम् अयः (पूर्ववत्)।

(7) औपगवः
उपगोरपत्यम्—अण्,
उपगु अण्—आदिवृद्धि तथा गुण।

(8) कापटवः (पूर्ववत्)।

ओरोत्०—'ओरोत्' ऐसा कहने के प्रसंग में 'गुण' शब्द के पाठ का फल यह है कि 'संज्ञापूर्वक विधि अनित्य होती है'। यथा—

(9) स्वायम्भुवः
स्वयं भवति—क्विप् हुआ,
स्वयम्भू सु—सर्वापहार लोप,
स्वयम्भुव इदम्—अण् हुआ, गुण नहीं हुआ, उवङ् होता है। यदि 'ओरोत्' ऐसा पाठ मानेंगे तो गुण[1] की निवृत्ति सम्भव नहीं होगी।

(3148) ढे लोपोऽकद्र्वाः *147* (1142)

ढे परत उवर्णान्तस्य भस्याकद्र्वा लोपो भवति। कामण्डलेयः। शैतबाहेयः। जाम्बेयः। माद्रबाहेयः। अकद्र्वा इति किम्? काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत्।

अर्थ—'ढ' तद्धित प्रत्यय परे रहते उवर्णान्त भसंज्ञक अंग का लोप होता है, परन्तु 'कद्रू' शब्द को नहीं होता है।

उदा० (1) कामण्डलेयः
कमण्डलु ढञ्—चतुष्पाद्भ्यो ढञ्,
कामण्डल् एय सु—अन्त्यं लोप, आदिवृद्धि।

(2) शैतबाहेयः
शितिबाहु ढञ्—पूर्ववत्।

(3) जाम्बेयः
जम्बु ढञ्—पूर्ववत्।

(4) माद्रबाहेयः
मद्रबाहु ऊङ्—'बाह्वन्तात् सञ्ज्ञायाम्'
मद्रबाहू ढक्—स्त्रीभ्यो ढक्,
माद्रबाह् एय सु—पूर्ववत्।

---

1. गुण यह संज्ञा है। इसे मान कर प्रस्तुत विधि है। अतः यह अनित्य जानना चाहिए।

अकद्र्वा०—कद्रू शब्द को छोड़कर ही पूर्वोक्त अन्त्य लोप होता है।

(5) काद्रवेयः
कद्रू ढक्—'कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि सञ्ज्ञायाम्' से 'ऊङ्', तब 'स्त्रीभ्यो ढक्',
काद्रू एय—आदिवृद्धि,
काद्रो एय—ओर्गुणः,
काद्रवेय सु—अवादेश।

(3149) यस्येति च *148* (311)

इवर्णान्तस्यावर्णान्तस्य च भस्य ईकारे परे तद्धिते च लोपो भवति। इवर्णान्तस्य ईकारे-दाक्षी। प्लाक्षी। सखी। सवर्णदीर्घत्वे हि सत्यतिसखेरागच्छतीत्यत्र एकादेशस्यान्तवत्त्वादसखीति (1.4.7) घिसंज्ञायाः प्रतिषेधः स्यात्। इवर्णान्तस्य तद्धिते-दुलि, दौलेयः। वलि, वालेयः। अत्रि, आत्रेयः। अवर्णान्तस्य ईकारे-कुमारी। गौरी। शार्ङ्गरवी। अवर्णान्तस्य तद्धिते-दाक्षिः। प्लाक्षिः। चौडिः। बालाकिः। सौमित्रिः। *यस्येत्यौङः श्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः* (का०वा०)। काण्डे। कुड्ये। सौर्ये हिमवतः शृङ्गे। औङः शीभावे कृते 'यस्येति च' इति, 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' (6.4.159) इति च लोपः प्राप्नोति। *इयङुवङ्भ्यां लोपो भवति विप्रतिषेधेन* (का०वा०)। वत्सान्प्रीणाति वत्सप्रीः, तस्यापत्यं वात्सप्रेयः। 'चतुष्पाद्भ्यो ढञ्' (4.1.135) इति ढञ् प्रत्ययः। लेखाभ्रूः शुभ्रादिः, तस्या अपत्यं लैखाभ्रेयः।

अर्थ—भसंज्ञक इवर्ण तथा अवर्ण का लोप होता है ईकार तथा तद्धित के परे रहते।

उदा० (क) इवर्णान्तस्य ईकारे—
(1) दाक्षी
दाक्षि ङीप्—इतो मनुष्यजातेः,
दाक्ष् ई सु—इकारलोप।
(2) प्लाक्षी (पूर्ववत्)।
(3) सखी (पूर्ववत्)।

सवर्ण०—सवर्णदीर्घ होने पर तो 'अतिसखेरागच्छति' इसमें एकादेश का अन्तवद्भाव होने से 'शेषो घ्यसखि' से असखि इस पर्युदास के कारण घि-संज्ञा का प्रतिषेध होता है।

(ख) इवर्णान्तस्य तद्धिते—
(4) दौलेयः
दुलेरपत्यम्—'इतश्चानिञः' से 'ढक्',
दुलि एय—आदिवृद्धि,
दौल् एय—इकारलोप, सु।
(5) वालेयः (पूर्ववत्)।
(6) आत्रेयः
अत्रि ढक्—पूर्ववत्।

(ग) अवर्णान्तस्य ईकारे—
(7) कुमारी
कुमार ङीप्—वयसि प्रथमे,
कुमार् ई सु—अकारलोप।
(8) गौरी
गौर ङीष्—षिद्गौरादिभ्यश्च, शेष पूर्ववत्।
(9) शार्ङ्गरवी
शार्ङ्गरव ङीन्—शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्, शेष पूर्ववत्।

(घ) अवर्णान्तस्य तद्धिते—
(10) दाक्षिः
दक्ष इञ्—तस्याऽपत्यम्, अत इञ्।
(11) प्लाक्षि (पूर्ववत्)।
(12) चौडिः (पूर्ववत्)।
(13) वालाकिः (पूर्ववत्)।
(14) सौमित्रिः
सुमित्रा इञ्—पूर्ववत्।

यस्ये०—'औङ्' के स्थान पर 'शी' आदेश की दशा में सूत्रोक्त लोप नहीं होता है।

(15) काण्डे
काण्ड औ → काण्ड शी—नपुंसकाच्च,
काण्ड ई—'यस्येति च' से लोप प्राप्त हुआ, लोप का निषेध, 'आद्गुणः'।
(16) कुड्ये (पूर्ववत्)।
(17) सौर्ये

औङः शी०—औङ् के स्थान पर 'शी' आदेश करने पर 'यस्येति च' से अलोप कर देने पर 'सूर्यतिष्याऽगस्त्यमत्स्या०' से यकार का लोप प्राप्त होता है।

इयङुव०—इयङ् व उवङ् की अपेक्षा विप्रतिषेध से लोप होता है।

(18) वात्सप्रेय:
वत्सान् प्रीणाति → वत्सप्री:—क्विप् हुआ,
वत्सप्री ढञ्—तस्याऽपत्यम्, चतुष्पाद्भ्यो०,
वत्सप्री एय—'अचि श्नुधातु०' (6.4.77) से इयङ् तथा प्रकृत सूत्र (6.4.148) से लोप प्राप्त है। परत्व के कारण ईकार लोप,
वात्सप्रेय सु—आदिवृद्धि।

(19) लैखाभ्रेय:
लेखाभ्रुव: अपत्यम्—पूर्ववत्।

(3150) सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधाया: *149* (499)

सूर्य, तिष्य, अगस्त्य, मत्स्य—इत्येतेषां यकारस्य उपधाया भस्य लोपो भवति ईति परतस्तद्धिते च। सूर्येणैकदिक् सौरी बलाका। अणि यो यस्येति लोपस्तस्यासिद्धत्वं नास्ति; व्याश्रयत्वात्। ईकारे तु यस्तस्यासिद्धत्वाद् उपधायकारो भस्याणन्तस्य सूर्यस्य सम्बन्धीति लुप्यते। तिष्य–तैषमह:। तैषी रात्रि:। अगस्त्यस्यापत्यं स्त्री, ऋषित्वादणि कृते–आगस्ती। आगस्तीय:। मत्स्य–गौरादित्वान् ङीष्, मत्सी। उपधाया इति किम्? मत्स्यचरी। यग्रहणमुत्तरार्थम्। विषयपरिगणनमत्र कर्त्तव्यम्-*मत्स्यस्य ङ्यामिति वक्तव्यम्* (का०वा०)। इह मा भूत्—मत्स्यस्येदं मांसं मात्स्यम्। सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च* (का०वा०)। सौरीय:। सौरी। आगस्तीय:। आगस्ती। इह मा भूत्—सौर्यं चरुं निर्वपेत्। आगस्त्य:। *तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि* (का० वा०)। तिष्येण नक्षत्रेण युक्त: काल: तैष:। पौष:। *अन्तिकस्य तसि कादिलोप आद्युदात्तं च* (का०वा०)। अन्तिकशब्दस्य तसिप्रत्यये परत: ककारादे: शब्दस्य लोपो वक्तव्य:, आद्युदात्तं च। अन्तितो न दूराद्। *तमे तादेश्च* (म०भा०)। तमप्रत्यये अन्तिकशब्दस्य तकारादे: ककारादेश्च लोपो वक्तव्य:। तत्र तादिलोपे–अन्तम:। कादिलोपे–अन्तितम:। *कादिलोपे बहुलमिति वक्तव्यम्* (म०भा०)। अन्यत्रापि हि दृश्यते—अन्तिके सीदतीति अन्तिषत्। 'पूर्वपदात्' इति षत्वम्। *ये च* (म०भा०)। अन्तिय:।

अर्थ—ईकार तथा तद्धित परे रहते भसंज्ञक अंग के उपधाभूत यकार का होता है यदि वह यकार सूर्य, तिष्य, अगस्त्य तथा मत्स्य का हो।

उदा० (1) सौरी
सूर्य ङीप्—यस्येति च,
सूर्य् ई—'असिद्धवदत्राभात्' से अकारलोप असिद्ध है, अत: उपधाभूत यकार का लोप,
सूर् ई → सौरी सु—आदिवृद्धि।

अणि यो०—यहाँ अण् परे रहते जो 'यस्येति च' से इकार व अकार का लोप होता है, वह निमित्तों के भिन्न-भिन्न होने से असिद्ध नहीं होता। यहाँ दो बार अकार का लोप होता है।

(क) अण् परे रहते तथा
(ख) 'ई' प्रत्यय परे रहते।

प्रथम वाला अलोप असिद्ध नहीं होता है। अत: यलोप नहीं होता। द्वितीय बार होने वाला अलोप असिद्ध होता है। तब भसंज्ञक अण् प्रत्ययान्त सूर्य का सम्बन्धी उपधा यकार बन जाता है। फलत: यकार का लोप हो जाता है।

(2) तैषम् अह:
तिष्य अण् → तिष्य् अ–
तैस्य सु—विभक्तिकार्य।

(3) तैषि रात्रि:
तैष ङीप्—टिड्ढाऽण्०।

(4) आगस्ती
अगस्त्यस्याऽपत्यं स्त्री—इस अर्थ में प्रत्यय,
अगस्त्य अण्—अकारलोप,
आगस्त्य् अ—आदिवृद्धि, यकारलोप,
आगस्त् अ ङीप् सु—पूर्ववत्।

(5) आगस्तीय
आगस्त—पूर्ववत्,
आगस्त छ—वृद्धाच्छ:,
आगस्तीय सु—ईयादेश।

(6) मत्सी
मत्स्य ङीप्—अकारलोप, यकारलोप,
मत्स् ई सु—विभक्तिकार्य।

उपधाया०—उपधाभूत यकार का ही लोप होता है।

(7) मत्स्यचरी

मत्स्यचर—समास,
मत्स्यचर ङीप्—यकार का लोप नहीं हुआ, सु।

यग्रहण०—यकार का ग्रहण उत्तर शास्त्र के लिए है। यहाँ विषयों का परिगणन करना चाहिए।

मत्स्य०—'ङी' विभक्ति में ही 'मत्स्य' के उपधाभूत यकार का लोप होता है।

(8) मात्स्यम्
मत्स्यस्येदम्—अण् हुआ,
मात्स्य् अ सु—यकारलोप नहीं हुआ।

सूर्याग०—'छ' तथा 'ङी' प्रत्ययों में ही सूर्य तथा अगस्त्य शब्दों के उपधाभूत यकार का लोप होता है।

(9) सौरीयः
सूर्य अण्—आदिवृद्धि,
सौर्य् अ—अकारलोप,
सौर्य छ—वृद्धाच्छः,
सौर्य् छ → सौर् छ → सौरीय सु।

(10) सौरी
सूर्यो देवताऽस्य—साऽस्य देवता,
सूर्य अण्—अकारलोप,
सौर्य ङीप्—अकारलोप, यकारलोप,
सौर् ई सु—पूर्ववत्।

(11) आगस्तीयः
अगस्त्य अण् → आगस्त्य् अ,
आगस्त्य छ—अकारलोप,
आगस्त्य् ईय सु—यकारलोप।

(12) आगस्ती
अगस्त्य अण्—अकारलोप,
आगस्त्य ङीप्—अकारलोप, यकारलोप,
आगस्त् ई सु—पूर्ववत्।

इह मा०—छ तथा ङी परे रहते ही यकारलोप होता है।

(13) सौर्यम्
सूर्यस्येदम्—यहाँ यकारलोप नहीं हुआ।

(14) आगस्त्यः
अगस्त्यस्येदम्—यकारलोप नहीं हुआ।

तिष्य०—नक्षत्र अर्थ में ही तिष्य तथा पुष्य शब्दों के उपधाभूत यकार का लोप होता है।

(15) तैषः
तिष्येण नक्षत्रेण युक्तः कालः—प्रत्यय हुआ,
तिष्य अण् → तिष्य् अ-
तिष् अ → तैष सु—आदिवृद्धि।

(16) पौषः
पुष्येण युक्तः कालः—पूर्ववत्।

अन्ति०—'तस्' परे रहते 'अन्तिक' शब्द का कादिलोप तथा आद्युदात्त होता है।

(17) अन्तितः
अन्तिक तस्—अन्ति तस्—अन्तितः।

तमे०—'तम' परे रहते अन्तिक शब्द के तादि अंश (अर्थात् तकार है आदि में जिसके) तथा कादि (= ककार है आदि में जिसके) अंश का लोप होता है।

(18) अन्तमः
अन्तिक तम → अन् तम—तादि लोप,
अन्तम सु—पूर्ववत्।

(19) अन्तितमः
अन्तिक तम—कादि लोप,
अन्तितम सु—पूर्ववत्।

कादि०—अन्तिक के कादि अंश का लोप बहुलता से होता है अर्थात् 'तम' से भिन्न प्रत्यय के परे रहते भी यह लोप होता है।

(20) अन्तिषत्
अन्तिके सीदति → अन्तिक सद्,
अन्ति षत् सु—क्विप्, सर्वापहार लोप, कादि लोप, 'पूर्वपदात्०' से षत्व।

ये च०—य प्रत्यय परे रहते अन्तिक के कादि अंश का लोप होता है।

(21) अन्तियः
अन्तिक य → अन्ति य सु।

(3151) हलस्तद्धितस्य *150* (475)

'तद्धिते' इति निवृत्तम्। हल उत्तरस्य तद्धितयकारस्य उपधाया ईति परतो लोपो भवति। गार्गी। वात्सी। हल इति किम्? कारिकेयी। तद्धितस्येति किम्? वैश्यस्य भार्या वैश्यी।

अर्थ—'तद्धिते' का अनुवर्त्तन नहीं है। हल् से उत्तर भसंज्ञक अंग के उपधाभूत तद्धित यकार का लोप होता है, ईकार परे रहते।

उदा० (1) गार्गी
गर्गस्याऽपत्यम् → गार्ग्यः—गर्गादिभ्यो यञ्,
गार्ग्य ङीप्—स्त्रियाम्, यञश्च,
गार्ग्य् ई—अकारलोप, अकारलोप स्थानिवत्,
गार्ग् ई सु—यकारलोप।

(2) वात्सी
वत्स यञ्—गर्गादिभ्यो यञ्,
वात्स्य ङीप्—शेष पूर्ववत्।

हल०—हल् से उत्तर तद्धिते के यकार का लोप होता है।

(3) कारिकेयी
कारिका ढक्—स्त्रीभ्यो ढक्,
कारिक् एय—यस्येति च,
कारिकेय ङीप्—अकारलोप, तद्धित का यकार है, परन्तु हल् से उत्तर न होने से लोप नहीं हुआ,
कारिकेय् ई सु—पूर्ववत्।

तद्धित०—तद्धित के यकार का ही लोप होता है।

(4) वैद्यी
वैद्यस्य भार्या—'पुंयोगाख्यायाम्' से ङीप्,
वैद्य् ई—अकारलोप, यकार हल् दकार से उत्तर है; परन्तु तद्धित का न होने से इसका लोप नहीं हुआ,
वैद्यी सु—पूर्ववत्।

(3152) अपत्यस्य च तद्धितेऽनाति *151* (1082)

अपत्ययकारस्य हल उत्तरस्य तद्धिते अनाकारादौ यलोपो भवति। गर्गाणां समूहो गार्गकम्। वात्सकम्। आपत्यस्येति किम्? साङ्काश्यकः। काम्पिल्यकः। तद्धितग्रहणमीत्यनापत्यस्यापि लोपार्थम्–सौमी इष्टिः। अनातीति किम्? गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। हल इत्येव–कारिकेयस्यापत्यं कारिकेयिः।

अर्थ—हल् से उत्तर भसंज्ञक अंग के अपत्यसम्बन्धी यकार का लोप होता है यदि आकारादि तद्धित परे न हो।

उदा० (1) गार्गकम्
गर्गाणां समूहः—इस अर्थ में,
गर्ग यञ्—गार्ग्यः,
गार्ग्य वुञ्—गोत्रोक्षोष्ट्रो०,
गार्ग्य् अक—अकारलोप,
गार्ग् अक सु—यकारलोप।

(2) वात्सकम्
वात्स्य वुञ्—पूर्ववत्।

आपत्य०—**अपत्यसम्बन्धी** जो यकार, उसका लोप होता है।

(3) साङ्काश्यकः
साङ्काश्य वुञ्—धन्वयोपधाद् वुञ्,
साङ्काश्य् अक सु—अकारलोप, यकारलोप नहीं हुआ।

(4) काम्पिल्यकः (पूर्ववत्)।

तद्धित०—'तद्धित' का ग्रहण होने से आपत्य से अतिरिक्त में भी लोप होता है।

(5) सौमी इष्टिः
सोमो देवताऽस्य → सौम्यः—सोमाट्ट्यण्,
सौम्य ङीप्—टिड्ढाऽण्०,
सौम्य ई—अकारलोप,
सौम् ई सु—यकारलोप।

अनाती०—**आकारादि** तद्धित परे रहते यलोप नहीं होता है।

(6) गार्ग्यायणः
गर्ग यञ् → गार्ग्यः—गर्गादिभ्यो यञ्,
गार्ग्यस्य गोत्राऽपत्यम्—यञिञोश्च,
गार्ग्य फक्—आयन आदेश,
गार्ग्य् आयन सु—यकारलोप नहीं हुआ, णत्व।

(7) वात्स्यायनः (पूर्ववत्)।

हल०—हल् से उत्तर यकार का लोप होता है।

(8) कारिकेयिः
कारिकेयः—तस्याऽपत्यम्, स्त्रीभ्यो ढक्,
कारिकेय इञ्—अत इञ्,
कारिकेय् इ सु—यकारलोप नहीं हुआ।

(3153) क्यच्व्योश्च *152* (2119)

क्य, च्वि–इत्येतयोश्च परत आपत्ययकारस्य हल उत्तरस्य लोपो भवति। वात्सीयति। गार्गीयति। वात्सायते। गार्गायते। च्वौ–गार्गीभूतः। वात्सीभूतः। आपत्यस्येत्येव–साङ्काश्यायते। साङ्काश्यभूतः। हल इत्येव–कारिकेयीयति। कारिकेयीभूतः।

अर्थ—क्य अथवा च्वि परे रहते हल् से उत्तर अंग के अपत्य-सम्बन्धी यकार का लोप होता है।

उदा० (1) वात्सीयति
वत्सस्याऽपत्यम्—वात्स्यः,
वात्स्यम् आत्मन इच्छति—क्यच् हुआ,
वात्स्य य—अकारलोप, यकारलोप,
वात्सीय—क्यचि च, धातुसंज्ञा,
वात्सीयति—लकारकार्य।

(2) गार्गीयति (पूर्ववत्)।

(3) वात्सीयते
'कर्तुः०' क्यङ् हुआ, अकृत्सार्व० से दीर्घ।

(4) गार्गीयते (पूर्ववत्)।

(5) गार्गीभूतः
'अभूततद्भावे०' से 'च्वि' तथा 'अस्य च्वौ' से ईत्व होता है।

(6) वात्सीभूतः (पूर्ववत्)।

आपत्य०—अपत्यसम्बन्धी यकार का लोप होता है।

(7) साङ्काश्यायते
क्यङ्, शेष कार्य पूर्ववत्, परन्तु यलोप नहीं हुआ।

(8) साङ्काश्यभूतः
'च्वि' हुआ है। यलोप नहीं हुआ।

हल०—हल् से उत्तर यकार का लोप होता है।

(9) कारिकेयीयति
यहाँ अच् से पर तद्धित का यकार है। यलोप नहीं हुआ।

(10) कारिकेयीभूतः
पूर्ववत् यलोप नहीं हुआ।

(3154) बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् *153* (1311)

नडादिषु बिल्वादयः पठ्यन्ते। 'नडादीनां कुक्च' (4.2.91) इति कृतकुगागमा बिल्वकादयो भवन्ति, तेभ्य उत्तरस्य छस्य भस्य तद्धिते परतो लुग् भवति। बिल्वा यस्यां सन्ति बिल्वकीया, तस्यां भवाः बैल्वकाः। वेणुकीयाः, वैणुकाः। वेत्रकीयाः, वैत्रकाः। वेतसकीयाः, वैतसकाः। तृणकीयाः, तार्णकाः। इक्षुकीयाः, ऐक्षुकाः। काष्ठकीयाः, काष्ठकाः। कपोतकीयाः, कापोतकाः। *क्रुञ्चा-ह्रस्वत्वं च* (ग०सू० 92)। क्रुञ्चकीयाः, क्रौञ्चकाः। छग्रहणं किम्? छमात्रस्य लुग्यथा स्याद् कुको निवृत्तिर्मा भूदिति; अन्यथा हि 'सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभाव' (व्या०प०) इति कुगपि निवर्त्तेत। लुग्ग्रहणं सर्वलोपो यथा स्याद्, यकारमात्रस्य मा भूत्।

अर्थ—नडादिगण में बिल्वादि का पाठ है। 'नडादिनां कुक् च' से 'कुक्' होकर 'बिल्वक' शब्द निष्पन्न होता है। तद्धित प्रत्यय परे रहते बिल्वकादि शब्दों से उत्तर भसंज्ञक 'छ' का लुक् होता है।

उदा० (1) बैल्वकाः
बिल्वा यस्याम् → बिल्वकीया—'छ' हुआ उत्करादिभ्यश्छः, नडादीनां०,
बिल्वकीयायां भवाः—प्राग्दीव्यतोऽण्,
बिल्वक अण्—'छ' का लुक्,
बैल्वक् अ जस्—आदिवृद्धि।

(2) वैणुकाः
वेणुकीय अण्—पूर्ववत्।

(3) वैत्रकाः
वेत्रकीया अण्—पूर्ववत्।

(4) वैतसकाः
वेतसकीया अण्—पूर्ववत्।

(5) तार्णकाः
तृणकीया अण्—पूर्ववत्। आदि वृद्धि, रपर।

(6) ऐक्षुकाः
इक्षुकीया अण्—पूर्ववत्।

(7) काष्ठकाः
काष्ठकीया अण्—पूर्ववत्।

(8) कापोतकाः
कपोतकीय अण्—पूर्ववत्।

(9) क्रौञ्चकाः
क्रुञ्चकीय अण्—ह्रस्व हुआ, प्रत्यय का लुक्, आदिवृद्धि।

छग्रह०—छ का ग्रहण किया गया है, ताकि छमात्र का लुक् हो जाय तथा कुक् आदि की निवृत्ति न हो। यदि 'छस्य' ऐसा पाठ न किया जाता तो प्रत्यय तथा कुक् आगम—दोनों की निवृत्ति होकर अनिष्ट रूप बन जायेगा। अपि च, सन्नियोग से अनुशिष्ट

दो में से किसी एक के लुक् हो जाने पर दूसरे का भी लुक् हो जाता है।

लुग्ग्रह०—प्रकृत सूत्र में 'लुक्' पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि समग्र 'ईय' का लोप हो जाये तथा यकारमात्र का लोप न हो। 'छ' के स्थान पर 'ईय' आदेश होता है। यहाँ 'छ' के स्थान पर आदेशभूत समग्र 'ईय' का लोप करना ही 'लुक्' पद के ग्रहण का फल है।

(3155) तुरिष्ठेमेयस्सु *154* (2008)

इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन्–इत्येतेषु परतः तृशब्दस्य लोपो भवति। आसुतिं करिष्ठः। विजयिष्ठः। बहिष्ठः। दोहीयसी धेनुः। सर्वस्य तृशब्दस्य लोपार्थं वचनम्। अन्त्यस्य हि 'टेः' (6.4.155) इत्येव सिद्धः। लुगित्येतदत्र नानुवर्त्तते; तथा हि सति 'न लुमताङ्गस्य' (1.1. 63) इति प्रतिषेधाद् गुणो न स्यात्। इमनिज्ग्रहणमुत्तरार्थम्। इतरौ तु 'तुश्छन्दसि' (5.3.59) इति भवतः।

अर्थ—'तृ' का लोप होता है इष्ठन्, इमनिच् अथवा ईयसुन् परे रहते।

'इष्ठ' के द्वारा 'इष्ठन्' 'इम' के द्वारा 'इमनिच्' का तथा 'ईयस्' के द्वारा 'ईयसुन्' का ग्रहण होता है।

उदा० (1) करिष्ठः
कर्तृ इष्ठन् —'तृ' का लुक्,
कृ इष्ठन्—गुण,
करिष्ठ सु—सु।

(2) विजयिष्ठः (पूर्ववत्)।

(3) बहिष्ठः
वह् तृच्—हो ढः,
वह् तृ इष्ठन्—'तृ' शब्द का लोप करने में 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' से असिद्ध हुआ, तब पहले लोप किया जाता है,
वह् इष्ठ सु—विभक्तिकार्य।

(4) दोहीयसी
दुह् तृच्—'दाऽऽदेर्धातोर्घः' से घत्व प्राप्त,
पूर्ववत् प्रथम लोप हुआ,
दुह् ईयस् ङीप्—उगितश्च।

सर्वस्य०—सम्पूर्ण 'तृ' शब्द के लोप के लिए यह विधान है। अन्त्य (अर्थात् ऋकार) वर्ण का लोप तो टिलोप से भी सिद्ध है।

'लुक्' इसका अनुवर्त्तन यहाँ नहीं है। ऐसा होने पर 'न लुमताङ्गस्य' से प्रत्ययलक्षण का निषेध होता है। अतः गुण नहीं होता है। इमनिच् का ग्रहण उत्तर शास्त्र के लिए है। अन्य (अर्थात् इष्ठन् और ईयसुन्) तो 'तुश्छन्दसि' से होते हैं।

भाव यह है कि 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' तथा 'वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च' में 'तृ' शब्दान्त का ग्रहण न होने से तृशब्दान्त से 'इमनिच्' प्राप्त ही नहीं है।

अतः 'इमनिच्' का ग्रहण उत्तरवर्त्ती शास्त्र के लिए है।

(3156) टेः *155* (1786)

भस्य टेर्लोपो भवति इष्ठेमेयस्सु परतः। पटु–पटिष्ठः, पटिमा, पटीयान्। लघु–लघिष्ठः, लघिमा, लघीयान्। *णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य कार्यं भवतीति वक्तव्यम्* (का०वा०)। किं प्रयोजनम्? पुंवद्भावरभावटिलोपयणादिपरार्थम् (म०भा०)। पुंवद्भावः–एनीमाचष्टे एतयति। श्येतयति। 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' (6.3.35) इति इष्ठे पुंवद्भाव उक्तः। रभावः–पृथुमाचष्टे प्रथयति। म्रदयति। टिलोपः–पटुमाचष्टे पटयति। लघयति। यणादिपरम्–स्थूलमाचष्टे स्थवयति। भारद्वाजीयास्तु पठन्ति–'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य पुंवद्भावरभावटिलोपयणादिपरविन्मतोर्लुक्कनर्थम्' (म०भा०) इति। स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति। वसुमन्तमाचष्टे वसयति। युवानमाचष्टे यवयति। कनयति। एतदुभयमप्युदाहरणमात्रम्, न परिगणनम्। प्रादयोऽपि ह्रीष्यन्ते–प्रियमाचष्टे प्रापयति।

अर्थ—भसंज्ञक 'टि' का लोप होता है; इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते।

उदा० (1) पटिष्ठः
पटु इष्ठन्—टि का लोप,
पट् इष्ठ सु—'सु' हुआ।

(2) पटिमा
पटु इमनिच्—पूर्ववत् 'टि' का लोप,
पटिमन् सु—विभक्तिकार्य।

(3) पटीयान्
पटु ईयसुन् सु—पूर्ववत्।

(4) लघिष्ठः (पूर्ववत्)।

(5) लघिमा
लघु ईमनिच्—पूर्ववत्।

(6) लघीयान्
लघु ईयसुन्—पूर्ववत्।

णाविष्ठ०—णि परे रहते प्रातिपदिक को इष्ठवद्भाव होता है। अर्थात् 'इष्ठन्' के परे रहते जो कार्य होते हैं, वे सभी कार्य यहाँ भी होते हैं।

किं प्रयो०—ये कार्य निम्नलिखित हैं—

(क) **पुंवद्भाव**—'इष्ठन्' परे रहते पुँवद्भाव होता है।

(7) एतयति
एनीम् आचष्टे → एनी णिच्—तत्करोति तदाचष्टे,
एत णिच् तिप्—पुंवद्भाव, तसिलादिष्वाकृत्वसुचः,
एतयति—शप् आदि।

(8) श्येतयति
श्येनी णिच्—पूर्ववत्।

(ख) **रभाव**—'इष्ठन्' परे रहते रभाव होता है।

(9) प्रथयति
पृथुमाचष्टे—पूर्ववत् णिच्,
प्रथ् णिच् शप् तिप्—रभाव, लोप, ऋतो हलादे०।

(10) म्रदयति (पूर्ववत्)।

(ग) **टिलोप**—'इष्ठन्' परे रहते 'टि' का लोप होता है।

(11) पटयते
पटुमाचष्टे—पूर्ववत् णिच्, टिलोप हुआ।

(12) लघयति (पूर्ववत्)।

(घ) **यणादिपर**—'इष्ठन्' परे रहते यणादिपर होता है।

(13) स्थवयति
स्थूलम् आचष्टे—पूर्ववत् णिच् हुआ,
स्थू णिच्—स्थूलदूरयुवह्रस्व० से यणादिपर,
स्थवय् शप् तिप्—लकार।

(14) दवयति (पूर्ववत्)।

भारद्वाजी०—भारद्वाजीय ऐसा पाठ करते हैं—प्रातिपदिक के पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, यणादिपर, विन्, मतुप् का लुक् तथा कन् आदेश के लिए इष्ठवद्भाव होता है।

शेष उदाहरण इस प्रकार हैं—

(15) स्रजयति
स्रग्विणम् आचष्टे—णिच् हुआ,
स्रज् विनि—अस्मायामेधास्रजो० से 'विनि', इष्ठवत्, प्रत्यय का लुक्, संज्ञापूर्वक विधि अनित्य होती है, अतः 'अत उपधायाः' से वृद्धि नहीं होती है,
स्रज् णिच् अ ति—शप् आदि।

(16) वसयति
वसुमन्तम् आचष्टे—पूर्ववत् णिच्, इष्ठवत्। प्रत्यय का लुक्।

(17) यवयति
युवानम् आचष्टे—णिच् हुआ, शेष पूर्ववत्।

(18) कनयति
'युवाऽल्पयोः कनन्यतर०' से पक्ष में 'कन्' आदेश।

प्रादयो०—प्रादि आदेश भी इष्ट हैं।

(19) प्रापयति
प्रियम् आचष्टे—पूर्ववत्।

(3157) स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः *156* (2015)

स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र-इत्येतेषां यणादिपरं लुप्यते इष्ठेमेयस्सु परतः, पूर्वस्य च गुणो भवति। स्थूल-स्थविष्ठः, स्थवीयान्। दूर-दविष्ठः, दवीयान्। युवन्-यविष्ठः, यवीयान्। ह्रस्व-ह्रसिष्ठः, ह्रसीयान्, ह्रसिमा। क्षिप्र-क्षेपिष्ठः, क्षेपीयान्, क्षेपिमा। क्षुद्र-क्षोदिष्ठः, क्षोदीयान्, क्षोदिमा। ह्रस्वक्षिप्रक्षुद्रशब्दाः पृथ्वादिषु पठ्यन्ते। परग्रहणं किम्? यविष्ठः, यवीयान्; ह्रसिष्ठः, ह्रसीयान्-इत्यत्र पूर्वस्य यणादेर्लोपो मा भूत्। पूर्वग्रहणं विस्पष्टार्थम्।

अर्थ—स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र—इनके यणादिपर (अर्थात् यण् से पर) का लोप होता है तथा उससे पूर्व को गुणादेश होता है; इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् परे रहते।

उदा० (1) स्थविष्ठः
स्थूल इष्ठन्—यणादिपर,
स्थू इष्ठ—ओर्गुणः,
स्थव् इष्ठ सु—अव् आदेश।

(2) स्थवीयान्
स्थूल ईयसुन् सु—पूर्ववत्।

(3) दविष्ठः
दूर इष्ठन्—पूर्ववत्।

(4) दवीयान्
दूर ईयसुन्—पूर्ववत्।

(5) यविष्ठः
युवन् इष्ठन्।
(6) यवीयान्
युवन् ईयसुन्।
(7) ह्रसिष्ठः
ह्रस्व ईष्ठन्।
(8) ह्रसीयान्
ह्रस्व ईयसुन्।
(9) ह्रसिमा
ह्रस्व इमनिच्।
(10) क्षेपिष्ठः
क्षिप्र इष्ठन्।
(11) क्षेपीयान्
क्षिप्र ईयसुन्।
(12) क्षेपिमा
क्षिप्र इमनिच्
(13) क्षोदिष्ठः
क्षुद्र इष्ठन्।
(14) क्षोदीयान्
क्षुद्र ईयसुन्।
(15) क्षोदिमा
क्षुद्र इमनिच्।

ह्रस्व०—ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र शब्दों का पृथ्वादि में पाठ है।

परम्र०—'परम्' का फल यह है कि पूर्ववर्त्ती यण् का लोप न हो। परवर्त्ती जो यणादि शब्द, उसका लोप होता है। 'पूर्व' का ग्रहण स्पष्टता के लिए है।

(3158) प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः *157* (2016)

प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक–इत्येतेषां प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द–इत्येते यथासंख्यमादेशा भवन्ति इष्ठेमेयस्सु परतः। प्रिय–प्रेष्ठः। प्रेमा। प्रेयान्। स्थिर–स्थेष्ठः। स्थेयान्। स्फिर–स्फेष्ठः। स्फेयान्। उरु–वरिष्ठः। वरिमा। वरीयान्। बहुल–बंहिष्ठः। बंहिमा। बंहीयान्। गुरु–गरिष्ठः। गरिमा। गरीयान्। वृद्ध–वर्षिष्ठः। वर्षीयान्। तृप्र–त्रपिष्ठः। त्रपीयान्। दीर्घ–द्राघिष्ठः। द्राघीयान्। द्राघिमा। वृन्दारक—वृन्दिष्ठः। वृन्दीयान्। प्रियोरुगुरुबहुलदीर्घाः पृथ्वादिषु पठ्यन्ते, तेनान्येषामिमनिज् न भवतीति नोदाह्रियते।

अर्थ—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ तथा वृन्दारक—इन भसंज्ञक अंगों के स्थान पर यथासंख्य करके प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि तथा वृन्द आदेश होते हैं; इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् परे रहते। चूँकि प्रिय, उरु, गुरु, बहुल तथा दीर्घ शब्दों का पाठ पृथ्वादिगण में है; अतः इनसे ही इमनिच् होगा, अन्यों से नहीं।

उदा० (1) प्रेष्ठः
प्रिय इष्ठन्—'प्र' हुआ,
प्र इष्ठ सु—आद्गुणः।
(2) प्रेमा
प्रिय इमनिच् सु—पूर्ववत्।
(3) प्रेयान्
प्रिय ईयसुन्—पूर्ववत्।
(4) स्थेष्ठः
स्थिर इष्ठन् सु।
(5) स्थेयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।
(6) स्फेष्ठः
स्फिर इष्ठन् सु।
(7) स्फेयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।
(8) वरिष्ठः
उरु इष्ठन् सु।
(9) वरिमा
उरु इमनिच्।
(10) वरीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।
(11) बंहिष्ठः
बहुल इष्ठन् सु।
(12) बंहिमा
ईमनिच्—पूर्ववत्।

(13) बंहीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

(14) गरिष्ठः
गुरु इष्ठन् सु।

(15) गरिमा
गुरु इमनिच् सु।

(16) गरीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

(17) वर्षिष्ठः
वृद्धः इष्ठन् सु।

(18) वर्षीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

(19) त्रपिष्ठः
तृप्र इष्ठन् सु।

(20) त्रपीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

(21) द्राघिष्ठः
दीर्घ इष्ठन् सु।

(22) द्राघीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

(23) द्राघिमा
इमनिच्—पूर्ववत्।

(24) वृन्दिष्ठः
वृन्दारक इष्ठन् सु।

(25) वृन्दीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

प्रियोरु०—प्रिय, उरु, गुरु, बहुल तथा दीर्घ शब्दों का पृथ्वादि गण में पाठ है। तब अन्य शब्दों से इमनिच् नहीं होता है।

(3159) बहोर्लोपो भू च बहोः *158* (2017)

बहोरुत्तरेषामिष्ठेमेयसां लोपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने 'भू' इत्ययमादेशो भवति। भूयान्। भूमा। बहुशब्दः पृथ्वादिषु पठ्यते। 'बहोः' इति पुनर्ग्रहणं स्थानित्वप्रतिपत्त्यर्थम्; अन्यथा हि प्रत्ययानामेव भूभावः स्यात्।

अर्थ—'बहु' शब्द से उत्तर इष्ठन् , इमनिच् अथवा ईयसुन् का लोप होता है और 'बहु' के स्थान पर 'भू' आदेश होता है। अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है। पूर्वशास्त्र से अनुवृत्त 'इष्ठेमेयस्सु' पद का विभक्तिविपरिणाम होकर षष्ठ्यन्त 'इष्ठेमेयसाम्' बन जाता है।

उदा० (1) भूयान्
बहु ईयसुन् → भू यस् सु—विभक्तिकार्य।

(2) भूमा
बहु इमनिच् → भू मन् सु—पूर्ववत्।

(3) भूयिष्ठः
काशिका में इसे अगले सूत्र के अन्तर्गत दिखाया है।

बहु०—बहु शब्द का पाठ पृथ्वादिगण में प्राप्त होता है। 'बहोः' यह पुनः ग्रहण स्थानिवत् की प्रतिपत्ति के लिए है। अन्यथा प्रत्ययों के स्थान पर ही 'भू' आदेश होने लगेगा।

(3160) इष्ठस्य यिट् च *159* (2018)

बहोरुत्तरस्य इष्ठस्य यिडागमो भवति बहोश्च भूरादेशो भवति। भूयिष्ठः। लोपापवादो यिडागमः; तस्मिन्निकार उच्चारणार्थः।

अर्थ—'बहु' शब्द से उत्तर 'इष्ठन्' को 'यिट्' का आगम होता है तथा बहु शब्द को 'भू' आदेश होता है।

यिट् के इकार व टकार की इत् संज्ञा है।

उदा० (1) भूयिष्ठः
बहु इष्ठन् → भू इष्ठ–
भू यिट् इष्ठ सु—विभक्तिकार्य।

लोपाप०—यिट् में इकार उच्चारणार्थ है। यिट् आगम का प्रयोजन लोप का बाध करना है। टकार की इत्संज्ञा होती है।

इस प्रकार 'इष्ठन्' के लोप की आवश्यकता नहीं है[1]—

भू यिट् इष्टन्—भू य् इष्ठ—भूयिष्ठः

परन्तु पदमञ्जरीकार 'यिट्' को लोप का अपवाद मानने के साथ-साथ आगम व लोप—दोनों को भी स्वीकार करते हैं।[2]

उनके मत से यदि 'लोप' का अनुवर्त्तन किया जाय तो 'यिट्' के इकार को उच्चारणार्थ न माना जाय।

बहु इष्ठन्–'भू' आदेश, 'यिट्' आगम—
भू यिट् ष्ठन्—भूयिष्ठ–

1. काशिका० 6.4.159 लोपाऽपवादो यिडागमः।
2. पदम० 6.4.159 यदि तु.....नोच्चारणार्थः।

भूयिष्ठः।

महाभाष्यकार को दोनों पक्ष अभिमत है।

(3161) ज्यादादीयसः *160* (2012)

ज्यादुत्तरस्य ईयस आकार आदेशो भवति। ज्यायान्। लोपस्य यिटा व्यवहितत्वादादित्युच्यते। लोपे हि सति अकृद्यकार इति दीर्घत्वेन ज्यायानिति सिध्यति।

अर्थ—भसंज्ञक अंग 'ज्य' से उत्तर 'ईयस्' को आकार आदेश होता है। 'ईयस्' के द्वारा ईयसुन् का ग्रहण होता है। 'आदेः परस्य' परिभाषा के द्वारा यह आकार आदेश 'ईयसुन्' के आदि वर्ण (आ) के स्थान पर होता है।

उदा० (1) ज्यायान्

प्रशस्य ईयसुन् → ज्य ईयस्-

ज्य आयस्—'अकः सवर्णे दीर्घः' की प्राप्ति, इसे बाध कर 'टेः' से टिलोप की प्राप्ति, इसे बाध कर 'प्रकृत्यैकाच्' से प्रकृतिभाव, इसे बाध कर सवर्णदीर्घ,

ज्यायस् सु—विभक्तिकार्य।

लोपस्य०—लोप का यिट् से व्यवधान होने से 'आत्' ऐसा कहा गया है। कारण कि, लोप कर देने पर कृद्भिन्न यकार परे रहते दीर्घ आदेश होकर 'ज्यायाम्' रूप बनता है।

(3162) र ऋतो हलादेर्लघोः *161* (1785)

रशब्द आदेशो भवति ऋकारस्य हलादेर्लघोरिष्ठेमेयस्सु परतः। प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान्। प्रदिष्ठः, प्रदिमा, प्रदीयान्। ऋत इति किम्? पटिष्ठः, पटिमा, पटीयान्। हलादेरिति किम्? ऋजिष्ठः, ऋजिमा, ऋजीयान्। लघोरिति किम्? कृष्णिष्ठः, कृष्णीयान्, कृष्णिमा। परिगणनं कर्त्तव्यम्-

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत्॥

तत इह न भवति-कृतमाचष्टे कृतयति, मातरमाचष्टे मातयति, भ्रातयति।

अर्थ—इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् परे रहते हलादि भसंज्ञक अंग के लघु ऋकार के स्थान पर 'र' (सस्वर रेफ) आदेश होता है।

उदा० (1) प्रथिष्ठः

पृथु इष्ठन्—रेफादेश, 'टेः' से टिलोप,

प्रथ् इष्ठ सु—विभक्तिकार्य।

(2) प्रथिमा

पृथु इमनिच्—पूर्ववत्।

(3) प्रथीयान्

ईयसुन्—पूर्ववत्।

(4) प्रदिष्ठः

मृदु इष्ठन् सु।

(5) प्रदिमा

मृदु इमनिच् सु।

(6) प्रदीयान्

मृदु ईयसुन्—पूर्ववत्।

ऋत०—**ऋकार** के स्थान पर ही रेफ होता है।

(7) पटिष्ठः

पटु इष्ठन्—ऋकार नहीं है, अकार है। अतः रेफ नहीं हुआ।

(8) पटिमा

पटु इमनिच् सु।

(9) पटीयान्

पटु ईयसुन् सु।

हलादे०—हलादि अंग के ऋकार को रेफ होता है।

(10) ऋजिष्ठः

ऋजु इष्ठन्—हलादि अंग न होने से रेफ नहीं हुआ।

(11) ऋजिमा

ऋजु इमनिच् सु।

(12) ऋजीयान्

ऋजु ईयसुन् सु।

लघोरि०—लघुसंज्ञक ऋकार के स्थान पर रेफ होता है।

(13) कृष्णिष्ठः

कृष्ण इष्ठन्—'संयोगे गुरु' से ऋकार की गुरुसंज्ञा,

कृष्णिष्ठ सु—रेफ नहीं हुआ।

(14) कृष्णीयान्

ईयसुन्—पूर्ववत्।

(15) कृष्णिमा

इमनिच्—पूर्ववत्।

परिगण०—काशिका में ऐसे शब्दों को निम्नलिखित श्लोक में निबद्ध कर दिया है—

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशञ्च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत्॥

तत०—इसलिए निम्नलिखित में रेफादेश नहीं होता—

(16) कृतयति
कृतम् आचष्टे—णिच्, इष्ठवत्।

(17) मातयति
मातरम् आचष्टे—रेफ नहीं हुआ।

(18) भ्रातयति
भ्रातरम् आचष्टे—पूर्ववत्।

(3163) विभाषर्जोश्छन्दसि *162* (3555)

'ऋजु' इत्येतस्य ऋतः स्थाने विभाषा रेफ आदेशो भवति इष्ठेमेयस्सु परतश्छन्दसि विषये। रजिष्ठमेति पन्थानम् (रजिंष्ठ्मनुं नेषि पन्थाम् ऋ० 1.91.1)। त्वमृजिष्ठः।

अर्थ—'ऋजु' अंग के ऋकार के स्थान पर 'र' आदेश विकल्प से होता है वेद के विषय में; इष्ठन्, इमनिच् या ईयसुन् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) रजिष्ठम् (ऋ० 1.91.1)
ऋजु इष्ठन्—रजिष्ठ सु।

(2) ऋजिष्ठः
पक्ष में रेफ नहीं हुआ।

(3) ऋजीयः (शौ०सं० 5.14.12)[1]
ऋजु ईयसुन् सु—रेफादेश नहीं हुआ।

(3164) प्रकृत्यैकाच् *163* (2010)

एकाज् यद्भसंज्ञकं तदिष्ठेमेयस्सु परतः प्रकृत्या भवति। स्रग्विन्नित्येतस्य विन्नन्तस्य-स्रजिष्ठः, स्रजीयान्, स्रजयति। स्रुग्वदित्येतस्य मत्वन्तस्य-स्रुचिष्ठः, स्रुचीयान्, स्रुचयति। एकाजिति किम्? वसुमदित्येतस्य वसिष्ठः। वसीयान्। *प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः* (म०भा०)। अके प्रत्यये परतो राजन्य, मनुष्य, युवन्-इत्येते प्रकृत्या भवन्ति। राजन्यानां समूहो राजन्यकम्। मनुष्याणां समूहो मानुष्यकम्। 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (6.4.151) इति यलोपः प्रकृतिभावेन न भवति। यूनो भावः यौवनिका। मनोज्ञादित्वाद् वुञ्, तस्य 'नस्तद्धिते' (6.4.144) इति टिलोपो न भवति।

अर्थ—एक अच् वाले भसंज्ञक अंग को प्रकृतिभाव होता है; इष्ठन्, इमनिच् अथवा ईयसुन् प्रत्यय परे रहते।

उदा० (1) स्रजिष्ठः
स्रग्विन् इष्ठन्—(पा० 6.4.155) पर देखें।

(2) स्रजीयान्
स्रग्विन् ईयसुन् सु—पूर्ववत्।

(3) स्रजयति
स्रज् णिच्—पूर्ववत्।

(4) स्रुचिष्ठः
स्रुग्वत् इष्ठन्—मतुप् का लुक्, शेष पूर्ववत्।

(5) स्रुचीयान्
ईयसुन्—पूर्ववत्।

(6) स्रुचयति
स्रुच् णिच्—पूर्ववत्।

एकाजि०—एकाच् भसंज्ञक अंग को प्रकृतिभाव होता है।

(7) वसिष्ठः
वसुमत् इष्ठन् सु—प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

(8) वसीयान् (पूर्ववत्)।

प्रकृत्या०—अक प्रत्यय परे रहते राजन्य, मनुष्य तथा युवन् को प्रकृतिभाव होता है।

(9) राजन्यकम्
राजन्यानां समूहः—गोत्रोक्षोष्ट्रो० से प्रत्यय,
राजन्य वुञ् सु—युवोरनाकौ।

(10) मानुष्यकम् (पूर्ववत्)।

आपत्य०—आपत्यस्य च तद्धिते० से प्राप्त यलोप नहीं हुआ है।

(11) यौवनिका
यूनो भावः—मनोज्ञादि में पाठ होने से वुञ् हुआ, उसका 'नस्तद्धिते' से प्राप्त टिलोप भी नहीं होता है।

1. काशिका में अनुपलब्ध।

(3165) इनण्यनपत्ये *164* (1245)

इन्नन्तमनपत्यार्थेऽणि परतः प्रकृत्या भवति। साङ्कूटिनम्। सांराविणम्। साम्मार्जिनम्। 'अभिविधौ भावे इनुण्' (3.3.44), 'अणिनुण' (5.4.15) इत्यण्। स्राग्विण इदं स्राग्विणम्। अणीति किम्? दण्डिनां समूहो दाण्डम्। 'अनुदात्तादेरञ्' (4.2.44) इत्यञ्प्रत्ययः। अनपत्य इति किम्? मेधाविनोऽपत्यं मैधावः।

अर्थ—'इन्' को प्रकृतिभाव होता है; अपत्यार्थ से भिन्न अर्थ में विहित अण् के परे रहते।

उदा० (1) साङ्कूटिनम्
कूट इनुण्—धातुसंज्ञा, अभिविधौ भाव इनुण्,
सम् कूट् इन्—प्रातिपदिक संज्ञा, अणिनुणः,
सम् कूटिन् अण्—'नस्तद्धिते' से प्राप्त टिलोप का निषेध,
साम् कूटिन् सु—आदिवृद्धि, अनुस्वार, परसवर्ण।

(2) सांराविणन्
सांराविन् अण्—पूर्ववत्,
सांराविण सु—णत्व।

(3) साम्मार्जिनम् (पूर्ववत्)।
(4) स्राग्विणम्
स्रग्विण इदम्—पूर्ववत्।

अणीति०—अण् परे रहते प्रकृतिभाव होता है।

(5) दाण्डम्
दण्डिनां समूहः—'अनुदात्तादेरञ्' से 'अञ्' हुआ,
दण्डिन् अञ्—प्रकृतिभाव नहीं हुआ, नस्तद्धिते से टिलोप,
दाण्ड् अ सु—आदिवृद्धि।

अनपत्य०—अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में ही प्रकृतिभाव होता है।

(6) मैधावः
मेधाविनोऽपत्यम्—अपत्य अर्थ होने से प्रकृतिभाव नहीं हुआ,
मैधाव् अण् सु—टिलोप, आदिवृद्धि।

(3166) गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च *165* (1275)

गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन्–इत्येते चाणि प्रकृत्या भवन्ति। गाथिनोऽपत्यं गाथिनः। वैदथिनः। कैशिनः। गाणिनः। पाणिनः। अपत्यार्थोऽयमारम्भः।

अर्थ—गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन् तथा पणिन् अंगों के 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है, अण् परे रहते।

इन सभी शब्दों में मत्वर्थीय प्रत्यय 'इन्' (5.2.115) हुआ है।

उदा० (1) गाथिनः
गाथिनोऽपत्यम्—अण् हुआ,
गाथिन् अण्—प्रकृतिभाव हुआ,
गाथिन् अ सु—विभक्तिकार्य।

(2) वैदथिनः
विदथिन् अण्—पूर्ववत्।

(3) कैशिनः
केशिन् अण्—पूर्ववत्।

(4) गाणिनः
गणिन् अण्—पूर्ववत्।

(5) पाणिनः
पणिन् अण्—पूर्ववत्।
यह अपत्यार्थ के लिए विधान है।

(3167) संयोगादिश्च *166* (1156)

संयोगादिश्च इनणि प्रकृत्या भवति। शङ्खिनोऽपत्यं शाङ्खिनः। माद्रिणः। वाज्रिणः।

अर्थ—'अण्' परे रहते, संयोग है आदि में जिसके ऐसे 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है।

उदा० (1) शाङ्खिनः
शङ्खिनोऽपत्यम्—अण्, प्रकृतिभाव।

(2) माद्रिणः
मद्रिन् अण्—पूर्ववत्।

(3) वाज्रिणः
वज्रिन् अण्—पूर्ववत्।

(3168) अन् *167* (1155)

अन्नन्तमणि प्रकृत्या भवति अपत्ये चानपत्ये च। सामनः। वैमनः। सौत्वनः। जैत्वनः।

अर्थ—भसंज्ञक 'अन्' अंग को प्रकृतिभाव होता है अण् परे रहते।

उदा० (1) सामनः
साम्नोऽपत्यम्—अण्, प्रकृतिभाव।

(2) वैमनः
विमन्—पूर्ववत्।

(3) सौत्वनः
सुत्वन् अण्—पूर्ववत्।

(4) जैत्वनः (पूर्ववत्)।

(3169) ये चाभावकर्मणोः *168* (1154)

यकारादौ च तद्धितेऽभावकर्मणोरर्थयोरन् प्रकृत्या भवति। सामसु साधुः सामन्यः। वेमन्यः। अभावकर्मणोरिति किम्? राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम्। 'राजन्' इति पुरोहितादिषु (5.1.128) पठ्यते, ततोऽयं यक् प्रत्ययः।

अर्थ—यकारादि तद्धित के परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव होता है परन्तु भाव या कर्म अर्थ में विहित तद्धित परे रहते नहीं होता। यकार में अकार उच्चारणार्थ है।

उदा० (1) सामन्यः
सामसु साधुः—'तत्र साधुः' से 'यत्',
सामन् यत्—प्रकृतिभाव, सु।

(2) वेमन्यः (पूर्ववत्)।
(3) ब्राह्मण्यः (पूर्ववत्)।

अभाव०—भाव तथा **कर्म** अर्थों में विहित तद्धित के परे रहते प्रकृतिभाव होता है।

(4) राज्यम्
राज्ञो भावः कर्म वा—इस अर्थ में 'यक्',
राजन् यक्—टि का लोप।

(3170) आत्माध्वानौ खे *169* (1671)

आत्मन्, अध्वन्–इत्येतौ खे परतः प्रकृत्या भवतः। आत्मने हित आत्मनीनः। अध्वानमलङ्गामी अध्वनीनः। ख इति किम्? प्रत्यात्मम्। प्राध्वम्। प्रत्यात्मम्–इत्यव्ययीभावे 'अनश्च' (5.4.108) इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः। प्राध्वम्–इति 'उपसर्गादध्वनः' (5.4.85) इति अच्प्रत्ययः।

अर्थ—'ख' प्रत्यय परे रहते 'आत्मन्' तथा 'अध्वन्' शब्द को प्रकृतिभाव होता है।

उदा० (1) आत्मनीनः
आत्मने हितः—आत्मन्विश्वजन०,
आत्मन् ईन सु—प्रकृतिभाव।

(2) अध्वनीनः
अध्वानम् अलङ्गामी—अध्वनो यत्खौ,
अध्वन् ख सु—प्रकृतिभाव।

ख इति०—ख प्रत्यय के परे रहते प्रकृतिभाव होता है।

(3) प्रत्यात्मम्
आत्मानम् आत्मानं प्रति—अव्ययं विभक्ति० से समास,
प्रति आत्मन् टच्—अनश्च,
प्रत्यात्म् अ सु—प्रकृतिभाव नहीं हुआ।

(4) प्राध्वम्
प्रगतम् अध्वानम्—प्रादि समास,
प्र अध्वन् अच्—उपसर्गादध्वनः,
प्राध्व् अ सु—टिलोप।

(3171) न मपूर्वोऽपत्येऽवर्मणः *170* (1157)

मपूर्वोऽन् अवर्मणोऽणि परतोऽपत्येऽर्थे न प्रकृत्या भवति। सुषाम्णोऽपत्यं सौषामः। चान्द्रसामः। मपूर्व इति किम्? सौत्वनः। अपत्य इति किम्? चर्मणा परिवृतो रथः चार्मणः। अवर्मण इति किम्? चक्रवर्मणोऽपत्यं चाक्रवर्मणः। *मपूर्वप्रतिषेधे वा हितनाम्न इति वक्तव्यम्* (म०भा०)। हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः, हैतनामनः।

अर्थ—अपत्य अर्थ में वर्त्तमान 'अण्' के परे रहते मकार है पूर्व में जिसके, ऐसे 'अन्' को प्रकृतिभाव नहीं होता है, परन्तु 'वर्मन्' के 'अन्' को होता है।

उदा० (1) सौषामः
सुषाम्णोऽपत्यम्—तस्यापत्यम्,
सुषामन् अण्—प्राप्त प्रकृतिभाव का निषेध,
सौषाम् अ सु—टिलोप, आदिवृद्धि।

(2) चान्द्रसामः (पूर्ववत्)।

मपूर्व०—मकार है पूर्व में जिसके, ऐसे 'अन्' को प्रकृतिभाव का निषेध होता है।

(3) सौत्वनः
सु त्वन् अण्—प्रकृतिभाव हुआ।

अपत्य०—अपत्य अर्थ में ही प्रकृतिभाव का निषेध होता है।

(4) चार्मणः
चर्मणा परिवृतो रथः—प्रकृतिभाव हुआ।

अवर्म०—'वर्मन्' के 'अन्' को प्रकृतिभाव होता है।

(5) चाक्रवर्मणः

चक्रवर्मन् अण्—प्रकृतिभाव हुआ।

मपूर्व०—हितनामन् शब्द के 'अन्' को प्रकृतिभाव का निषेध विकल्प से होता है।

(6) हैतनामः

हितनाम्नोऽपत्यम्—प्रकृतिभाव का निषेध।

(7) हैतनामनः

पक्ष में प्रकृतिभाव हुआ।

(3172) ब्राह्मोऽजातौ *171* (1158)

योगविभागोऽत्र क्रियते। 'ब्राह्मः' इत्येतदपत्याधिकारेऽपि सामर्थ्यादपत्यादन्यत्राणि टेर्लोपार्थं निपात्यते। ब्राह्मो गर्भः। ब्राह्मं हविः। ततः 'जातौ', अपत्य इत्येव–अपत्ये जातावणि ब्रह्मणष्टिलोपो न भवति। ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः। अपत्य इत्येव–ब्राह्मी ओषधिः।

अर्थ—यहाँ योगविभाग किया जाता है। जाति अर्थ से अतिरिक्त अन्य अर्थ में अपत्य अर्थ में 'ब्राह्म' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) ब्राह्मः

ब्रह्मन् अण्—टिलोप,

ब्राह्म् अ सु—आदिवृद्धि।

इसी प्रकार—ब्राह्मम् अस्त्रम्।

ततः—'जाति' अर्थ को छोड़कर तथा अनपत्य अर्थ में टिलोप होता है।

(2) ब्राह्मणः

ब्रह्मणोऽपत्यम्—टिलोप नहीं हुआ।

अपत्य०—अपत्य अर्थ में ही टिलोप नहीं होता है।

(3) ब्राह्मी ओषधिः

टिलोप हुआ।

(3173) कार्मस्ताच्छील्ये *172* (1613)

'कार्मः' इति ताच्छील्ये टिलोपो निपात्यते। कर्मशीलः कार्मः। 'शीलम्' 'छत्रादिभ्यो णः' (4.4.61-62) इति णप्रत्ययः। यद्येवम्, किमर्थमिदम् 'नस्तद्धिते' (6.4.144) इत्येव टिलोपः सिद्धः? सत्यमेतत्; ज्ञापकार्थं तु; एतज् ज्ञापयति–ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्तीति। तेन चौरी, तापसीति णान्तादपीकारः सिद्धो भवति। ताच्छील्य इति किम्? कर्मण इदं कार्मणम्।

अर्थ—ताच्छील्य अर्थ में 'कार्म' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) कार्मः

कर्मन् ण—टिलोप, छत्रादिभ्यो णः,

कार्म् अ सु—आदिवृद्धि।

यद्येवम्०—यदि ऐसा है, यह किसलिए है? 'नस्तद्धिते' से ही टिलोप सिद्ध है। यह सत्य है। यह ज्ञापक के लिए है। इससे ज्ञापित होता है कि ताच्छीलिक 'ण' परे रहते अण्लक्षण कार्य होते हैं। यथा—

(2) चौरी

चोर ण—चौर ङीप् सु।

(3) तापसी (पूर्ववत्)।

ताच्छील्य०—ताच्छील्य अर्थ में ही टिलोप होता है।

(4) कार्मणम्

कर्मण इदम्—टिलोप नहीं हुआ।

(3174) औक्षमनपत्ये *173* (1159)

औक्षमित्यनपत्येऽणि टिलोपो निपात्यते। औक्षं पदम्। अनपत्य इति किम्? उक्ष्णोऽपत्यमौक्ष्णः, 'षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि' (6.4.135) इत्यलोपः।

अर्थ—अनपत्य अर्थ में 'औक्ष' शब्द निपातनसिद्ध है।

उदा० (1) औक्षम् (पदम्)

उक्षन् अण्—टिलोप निपातन से,

औक्ष् अ सु—आदिवृद्धि।

अनपत्य०—अनपत्य अर्थ में ही पूर्वोक्त निपातन होता है।

(2) औक्ष्णः

उक्ष्णोऽपत्यम्—षपूर्वहन्धृत० से अलोप,

उक्ष् न् अ—आदिवृद्धि,

औक्ष्ण सु—णत्व।

(3175) दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवासिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि *174* (1145)

दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वासिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय–इत्येतानि निपात्यन्ते। दण्डिन्, हस्तिन्–इत्येतौ नडादिषु (4.1.99) पठ्येते, तयोरायने परतः प्रकृतिभावो निपात्यते। केषाञ्चित्तु–हस्तिन्निति नडादिषु न पठ्यते, तेषामत एव निपातनात् फगपि भवति। दण्डिनोऽपत्यं दाण्डिनायनः। हस्तिनोऽपत्यं हास्तिनायनः। अथर्वन्–इति वसन्तादिषु (4.2.63) पठ्यते। अथर्वणा प्रोक्तो ग्रन्थोऽपि

उपचाराद् अथर्वन्नित्युच्यते, तमधीते यः स आथर्वणिकः। इके प्रकृतिभावो निपात्यते। जिह्माशिन्–इति शुभ्रादिषु (4.1.123) पठ्यते, तस्य ढे (एये) परतः प्रकृतिभावो निपात्यते। जिह्माशिनोऽपत्यं जैह्माशिनेयः। वासिनोऽपत्यम्, उदीचां वृद्धादगोत्रात्' (4.1.157) इति फिञ्, तत्र प्रकृतिभावो निपात्यते–वासिनायनिः। भ्रूणहन्, धीवन्–इत्येतयोः ष्यञि परतस्तकारादेशो निपात्यते। भ्रूणघ्नो भावः भ्रौणहत्यम्। धीव्नो भावो धैवत्यम्। 'हनस्तोऽचिण्णलोः' (7.3.32) इति यत्तत्वं तद्धातुप्रत्यय एवेति–भ्रौणघ्नः, वार्त्रघ्न इत्यत्र न भवति, अतो भ्रौणहत्ये तत्वं निपात्यते। सारव–इति 'सरयू' इत्येतस्य अणि परतोऽयूशब्दस्य 'व' इत्यादेशो निपात्यते। सरय्वां भवं सारवमुदकम्। ऐक्ष्वाक–इति स्वरसर्वनाम्ना एकश्रुत्या पठ्यते। ततोऽयमाद्युदात्तोऽन्तोदात्तश्च निपात्यते। इक्ष्वाकोरपत्यम्, 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' (4.1.166) इञ्, तत्र उकारलोपो निपात्यते। ऐक्ष्वाकः। इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः 'कोपधादण्' (4.2.132) इत्यण्। ऐक्ष्वाकः। मैत्रेय–इति, मित्रयुशब्दो गृष्ट्यादिषु (4.1. 136) पठ्यते, ततो ढञि कृते यादेरियादेशापवादो युशब्दलोपो निपात्यते। मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः। अथ किमर्थं मित्रयुशब्दो बिदादिष्वेव (4.1.104) न पठ्यते, तत्राञि कृते यादेरिति इयादेशेनैव सिद्धम्; एवं च युलोपार्थं निपातनं कर्त्तव्यं न भवति; यस्कादिषु (2.4.63) च बहुषु लुगर्थः पाठो न कर्त्तव्यो भवति, मित्रयव इत्यञो 'यञञोश्च' (2.4.64) इत्येव हि लुकः सिद्धत्वात्? नैतदस्ति; मित्रयूणां सङ्घ इत्यत्र गोत्रचरणाद् वुञं बाधित्वा मैत्रयकः सङ्घ इत्यत्र 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण्' (4.3.127) इत्यण् प्राप्नोति। हिरणमयम्–इति हिरण्यस्य मयटि यादिलोपो निपात्यते, हिरण्यस्य विकारः हिरणमयः।

अर्थ—दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वासिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय तथा हिरणमय—ये शब्द निपातनसिद्ध हैं।

उदा० (1) दाण्डिनायन:
दण्डिनोऽपत्यम्—निपातन से फक् प्रत्यय, प्रकृतिभाव,
दाण्डिन् आयन सु—आदिवृद्धि।

दण्डिन्०—दण्डिन् व हस्तिन् शब्दों का नडादि गण में पाठ है। 'आयन' परे रहते प्रकृतिभाव निपातन से होता है। कुछ लोगों के अनुसार 'हस्तिन्' का पाठ नडादि गण में नहीं है। इनसे निपातन से फक् भी होता है।

(2) हास्तिनायन:
पूर्ववत् प्रकृतिभाव।

अथर्वन्० 'अथर्वन्' शब्द का वसन्तादि गण में पाठ है। अथर्वणा प्रोक्तो ग्रन्थः—अथर्वा। 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में 'वसन्तादिभ्यष्ठक्' से 'ठक्' होता है। 'इक्' परे रहते प्रकृतिभाव निपातन से होता है।

(3) आथर्वणिक:
अथर्वन् ठक्—ठस्येकः,
आथर्वन् इक सु—आदिवृद्धि।

जिह्मा०—जिह्माशिन् शब्द का शुभ्रादि गण में पाठ है। इसे 'ण्य' परे रहते निपातन से प्रकृतिभाव होता है।

(4) जैह्माशिनेय:
जिह्माशिनोऽपत्यम्—शुभ्रादिभ्यश्च, शेष पूर्ववत्।

(5) वासिनायनि:
वासिनोऽपत्यम्—उदीचां वृद्धादगोत्रात्०
वासिन् फिञ्—निपातन से प्रकृतिभाव,
वासिन् आयनि सु—पूर्ववत्।

भ्रूणहन्०—भ्रूणहन् तथा धीवन्—इन शब्दों को निपातन से तकार आदेश होता है, ष्यञ् परे रहते।

(6) भ्रौणहत्यम्
भ्रूणघ्नो भावः—ष्यञ्,
भ्रौणहत् य—आदिवृद्धि, तकार आदेश,
भ्रौणहत्यम्—सु।

(7) धैवत्यम्
धीवन् ष्यञ्—पूर्ववत्।

हनस्तो०—(शंका) 'हनस्तोऽचिण्णलोः' से तकार आदेश सिद्ध है। प्रकृत सूत्र के द्वारा तकारादेश-विधान व्यर्थ है।

(समा०) हनस्तो० से होने वाला आदेश धातु प्रत्यय में ही होता है। यह निम्नलिखित स्थलों पर नहीं होता—

भ्रौणघ्नः, वार्त्रघ्नः। इसलिए 'भ्रौणहत्य' में तकारादेश का निपातन किया जाता है।

सारव०—'अण्' परे रहते 'सरयू' शब्द के 'अयू' अंश के स्थान पर 'व' आदेश निपातन से होता है।

(8) सारवम् उदकम्
सरय्वां भवम्—अण्, 'व' आदेश,

सार व अ सु—आदिवृद्धि।

ऐक्ष्वाक०—स्वर सर्वनाम से 'ऐक्ष्वाक' शब्द का एकश्रुति से पाठ होता है। तब यह आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त निपातित है। उकार का लोप निपातन से होता है।

(9) ऐक्ष्वाक:
इक्ष्वाकु अञ्—तस्याऽपत्यम्, जनपदशब्दात्०,
ऐक्ष्वाक् अ सु—'ओर्गुणः' से गुण प्राप्त था।
इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः—'कोपधादण्' से 'अण्' होकर भी यह शब्द निष्पन्न होता है।

मैत्रेय०—मित्रयु शब्द का गृष्ट्यादि गण में पाठ है। तब 'ढञ्' करने पर निपातन से इयादेशापवाद को बाध कर यु शब्द का लोप होता है।

(10) मैत्रेय:
मित्रयोरपत्यम्—ढञ्,
मि त्र एय—आदिवृद्धि, सु।

अथ०—(शंका) मित्रयु शब्द का पाठ बिदादि गण में कर दिया जाय, तब अञ् करने पर इयादेश करके रूप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार युलोप के निपातन की आवश्यकता नहीं है। बहुवचन के अर्थ में रूपसिद्धि के लिए यस्कादिगण में पाठ नहीं करना पड़ता है। 'यञञोश्च' से लोप करके 'मित्रयवः' सिद्ध हो जाता है।

(समा०) यह उचित नहीं है। 'मित्रयूणां सङ्घः' इस अर्थ में 'गोत्रचरण०' से वुञ् का बाध करके 'मैत्रयकः सङ्घः' इस दशा में 'सङ्घाङ्कलक्षणेष्व०' से 'अण्' प्राप्त होता है। इसी की निवृत्ति के लिए 'यु' शब्द के लोप आदि के निपातन की आवश्यकता है।

हिरण्य०—मयट् प्रत्यय परे रहते हिरण्य शब्द के यादि का लोप निपातन से होता है।

(11) हिरण्मय:
हिरण्यस्य विकारः—यादि का लोप, सु।

(3176) ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि *175* (3556)

ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय-इत्येतानि निपात्यन्ते छन्दसि विषये। ऋतु, वास्तु-इत्येतयोर्यति यणादेशो निपात्यते। ऋतौ भवम् ऋत्व्यम् (पै० 19.25.14)। वास्तौ भवं वास्त्व्यम्। वस्तुशब्दस्यापि यणादेशो निपात्यते। वस्तुनि भवो वास्त्वः। मधुशब्दस्यापि स्त्रियां यणादेशो निपात्यते-'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः' (ऋ० 1.90.6)। हिरण्यशब्दाद्विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते (म० भा०)। हिरण्ययम् (ऋ० 1.25.13)।

इति श्रीवामनविरचितायां काशिकायां वृत्तौ षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥
समाप्तश्चाऽयं षष्ठोऽध्यायः॥6॥

अर्थ—वेद के विषय में ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी तथा हिरण्यय शब्दों का निपातन किया जाता है।

ऋतु तथा वास्तु शब्दों को यणादेश निपातन से होता है। 'यत्' परे रहते।

उदा० (1) ऋत्व्यम्
ऋतौ भवम्—भवे छन्दसि,
ऋतु यत् → ऋत्व्य सु—यणादेश।

(2) वास्त्व्यम्
वास्तु यत्—पूर्ववत्।

वस्तु०—अण् प्रत्यय करने पर वस्तु शब्द को निपातन से यण् होता है।

(3) वास्त्व:
वस्तुनि भवः—'तस्येदम्' से 'अण्', यण्।

मधु०—अण् प्रत्यय में तथा स्त्रीत्व में मधु शब्द को यण् निपातन से होता है।

(4) माध्वी:
मधु अण् → माध्वः—यण् हुआ,
माध्व ङीप् सु—रूप बना।

हिरण्य०—हिरण्य शब्द से विहित 'मयट्' प्रत्यय के मकार का लोप निपातन से होता है।

(5) हिरण्ययम्
हिरण्य मयट्—मकारलोप,
हिरण्यय सु—पूर्ववत्।

इति पण्डितेश्वरचन्द्रविरचितायां काशिकायाः सोमलेखाऽऽख्यायां हिन्दीटीकायां षष्ठाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

समाप्तश्चाऽयं षष्ठोऽध्यायः॥6॥

